महाकवि सोमदेव भट्ट-विरचित

कथासरित्सागर

(तृतीय खण्ड)

(मूल संस्कृत के साथ द्वादश लम्बक से अष्टादश लम्बक तक)

अनुवादक

श्री जटाशंकर झा : श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
प्रथम संस्करण २,०००
द्वितीय संस्करण ११००, शकाब्द १९१९, खृष्टाब्द १९९८

मूल्य : ३५०.००

मुद्रक : तरुण प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

द्वितीय संस्करण की भूमिका

"कथा सरित्सागर' के तृतीय खंड का यह द्वितीय संस्करण एक अंतराल के बाद प्रकाशित हो रहा है। सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' अपने संपूर्ण आकार में एक विशाल कथा-ग्रंथ है जिसमें कुल 18 लंबक और 124 तरंग हैं। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने इसके तीन खंड पृथक्-पृथक् रूप में समश्लोकी हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित किये। प्रथम खंड में छह, द्वितीय खंड में पांच और तृतीय खंड में सात लंबक हैं।

विगत वर्षों में इसके दो खंडों का पुनर्मुद्रण हुआ। समाप्तप्राय प्रतियों के तीसरे बृहत् खंड का पुनर्मुद्रण होना शेष था।

'कथा सरित्सागर' भारतीय साहित्य का गौरव ग्रंथ है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा', क्षेमेंद्र की 'बृहत्कथा मंजरी', संघदासगणि की 'वसुदेवहिण्डी', बुधस्वामी के 'बृहत्कथा श्लोक संग्रह' आदि कथा-ग्रंथों की अनुपम शृंखला में सोमदेव कृत 'कथा सरित्सागर' मूल पैशाची भाषा का संस्कृत सार-संक्षेप है।

संपूर्ण भारतीय कथोद्गम में धर्मांश और नीतिपरकता प्राणाधायक तत्त्व रहे हैं। 'कथा सारित्सागर' में ये तत्त्व अपनी विद्यमानता तो दर्शाते ही हैं, इनके साथ-साथ अतीतकालीन सामाज के साक्ष्य भी प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक भारतीय कथा-साहित्य की अंतर्वस्तु का बहिरंग और शिल्प-विन्यास पाश्चात्य प्रेरित होने के बावजूद किस रूप में और कहां अपने मूल जातीय स्वरूप से संयुत् है, 'कथा सरित्सागर' इस जिज्ञासा का भी एक विस्मयकारी निक्षेप है।

जिज्ञासु पाठकों को 'कथासात्सिागर' के प्रथम खंड में प्रकाशित डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा लिखित भूमिका भी अवश्य पढ़नी चाहिए। भारतीय संस्कृति और साहित्य के अप्रतिम विद्वान डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी विद्वतापूर्ण इस भूमिका में 'कथसरित्सागर' के निहितार्थ का उसके संपूर्ण आसंगों-प्रसंगों के परिप्रेक्ष्य में गवेषणात्मक रूपायन किया है।

'कथासरित्सागर' के प्रस्तुत संस्करण में प्रथम संस्करण की डॉ. कुमार विमल की भूमिका भी दी जा रही है जिसकी उपदेयता असंदिग्ध है।

आशा है, पूर्व की भांति 'कथा सरित्सागर' के तृतीय खंड के इस द्वितीय संस्करण का सुधी पाठक स्वागत करेंगे।

२७ दिसम्बर १६६७

–रामधारी सिंह दिवाकर

निदेशक

वक्तव्य

सम्पूर्ण 'कथासरित्सागर' में १८ लम्बक और १२४ तरंग हैं। परिषद् ने अनुवादक की सुविधा के अनुसार इसे तीन खण्डों में प्रकाशित करने की योजना बनाई थी। इन तीन खण्डों में दो खण्ड कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुके थे। प्रथम खण्ड में छह लम्बकों का और द्वितीय खण्ड में पाँच लम्बकों का मूलसह समश्लोकी हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। अब यह तृतीय और अन्तिम खण्ड पाठकों के समक्ष उपस्थित है, जिसमें शेष सात लम्बकों— शशांकवती, मदिरावती, पंच, महाभिषेक, सुरतमंजरी, पद्मावती और विषमशील का मूलसह समश्लोकी हिन्दी-अनुवाद समाहित है। अतः, एक प्रतिश्रुत कार्य को पूर्ण करने पर जो अकूत प्रसन्नता होती है, उसका हम सहज अनुभव कर रहे हैं। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनुसार प्रारम्भ से ही इस कार्य में अनेक विघ्न और प्रत्यूह उपस्थित होते रहे। इस ग्रन्थ के अनुवादक पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत का देहावसान अचानक हो गया और सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद उनके जीवन-काल में पूरा नहीं हो सका। विधि की विडम्बना ऐसी रही कि उन्हें अपने अनुवाद के प्रथम खण्ड का प्रकाशित रूप देखने का अवसर भी नहीं मिल सका और उन्होंने इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका लिखने की जो योजना बनाई थी, वह उनके असमय देहावसान के कारण पूरी नहीं हो सकी। तब, परिषद् के आग्रह पर भारतीय साहित्य और संस्कृति के पारंगत विद्वान् (अब स्वर्गीय) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने प्रथम खण्ड में इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका लिखने की कृपा की, जिसकी ओर 'कथासरित्सागर' के जिज्ञासु पाठकों का ध्यान हम विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहते हैं। तृतीय खण्ड के प्रकाशन में इस अप्रत्याशित विलम्ब का मुख्य कारण सारस्वतजी का अचानक देहावसान और अनुवाद का अपूर्ण रह जाना ही है। इस खण्ड में जिन शेष सात लम्बकों का मूलसह समश्लोकी हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत है, उन्हें पूरा करने में संस्कृत के समादृत विद्वान् श्री जटाशंकर झा और हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्रीप्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' से सहायता ली गई है। तृतीय खण्ड के हिन्दी-अनुवाद को सजाने-सँवारने में संस्कृत-हिन्दी के सभाभ्यस्त कवि, शैलीकार और मनीषी आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने हमें जो सहयोग दिया है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

पाठकों को विदित ही है कि 'कथासरित्सागर' भारतीय कथा-साहित्य का मुकुट-मणि ग्रन्थ है, जो नीति-उपदेशपरक (एथिकोडिडैक्टिक) होने के साथ ही मनोरंजन, विडम्बन और काव्य-विनोद से भरा पड़ा है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा', क्षेमेन्द्र व्यासदास की 'बृहत्कथामंजरी', संघदासगणि की 'वसुदेवहिण्डी', बुधस्वामी का 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' इत्यादि कथा-ग्रन्थों की

परम्परा में ही सोमदेव का यह 'कथासरित्सागर' आता है। कथाकलन में निपुण सोमदेव कथा कहने की समास शैली, अर्थात् कथा के संक्षेपण में दक्ष थे। तभी तो 'बृहत्कथा' की पैशाची भाषा में कही गई मूल विस्तृत कथाओं को संक्षिप्त कर ये संस्कृत में 'कथासरित्सागर' के रूप में उपस्थित कर सके।

स्मृति-सौकर्य-सिद्धि के लिए, वैदग्ध्य-ख्याति के लोभ से नहीं, सोमदेव द्वारा किया गया 'बृहत्कथा' का यह संस्कृत संक्षेपण—'बृहत्कथायाः सारस्य सङ्ग्रहं रचयाम्यहम्'—कुछ नवीन काव्यांशों से संयुज होने पर भी, सोमदेव के अनुसार; मूलकथा में कोई रस-विघात पैदा नहीं करता—'यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।'

यद्यपि ग्रन्थ-नाम 'कथासरित्सागर' है, तथापि इसकी रचना पद्य में हुई है—तरंगों और लम्बकों में बाँटकर। पद्य में लिखित यह प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ सचमुच एक सागर है, जिसमें अनेक छोटी-बड़ी कहानियों की नदियाँ आकर मिली हैं। यहाँ यह लक्ष्य करने योग्य है कि क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' को छोड़कर ललित कथाओं की अन्य कृतियाँ—'पंचतन्त्र', 'वेतालपंचविंशति', 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' और 'शुकसप्तति' मुख्यतः गद्य में ही रची गई हैं।

केन्द्रोन्मुखी अनन्तरोद्भवता से युक्त 'कथांसरित्सागर' की कहानियों में विस्मय-तत्त्व अधिक है। बृहत्कथा-गोत्र की कहानियों में विस्मय-तत्त्व का अधिक रहना स्वाभाविक है—'हरिलीलैव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा'। चूँकि, 'कथासरित्सागर' 'बृहत्कथा' का ही नातिसंक्षिप्त और नातिविस्तीर्ण रूपान्तर है, इसलिए 'कथासरित्सागर' की कहानियों में भी विस्मय-तत्त्व का स्वभावतः आधिक्य है। प्राच्य किस्सागोई का एक और विशिष्ट लक्षण 'कथासरित्सागर' में अद्भुत विन्यास के साथ मिलता है। इसमें एक मुख्य या बड़ी कथा के कलेवर में उसके मुख्य सन्देश को समर्थित करनेवाली अनेक अन्तःकथाएँ, उपकथाएँ या प्रासंगिक कथाएँ साक्ष्य, उदाहरण, प्रागुक्ति अथवा प्रमाण की तरह जुड़ी हुई हैं और जिसमें बया के घोंसले के भीतरी भाग की नाईं अनेक वेश्म, वेश्मान्त, प्रकोष्ठ और प्राकार हैं।

'कथासरित्सागर' की कहानियों का अध्ययन कथारूढि (मोटिफ), धर्म-सम्प्रदाय, कथा-लालित्य में न्यस्त नैतिक मान्यताओं की प्रतिच्छवि, तत्कालीन सामाजिक प्रासंगिकता, मानवेतर पात्रों की योजना, कथाक्रम, लम्बक-पौर्वापर्य, कथाओं की बुनावट, संरचना, तन्तु-विन्यास (टेक्स्चर) इत्यादि की दृष्टि से भी किया जाना चाहिए। कथाक्रम और लम्बक-पौर्वापर्य की दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता इसलिए भी है कि क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' के कथाक्रम में अन्तर है, जबकि दोनों कृतियाँ गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' पर आधृत हैं और उसी का संघनित रूपान्तर हैं। इसी तरह तत्कालीन सामाजिक प्रासंगिकता की दृष्टि से अध्ययन करने पर 'कथासरित्सागर' की कहानियो से अनेक रोचक निष्कर्ष निकलते हैं। उदाहरणार्थ, कथासरित्सागर के 'अलंकारवती' नामक नवम लम्बक में 'रामसीता-कथा' आती है, जिसमें सीता के चरित्र के उस मलिन अंश को लोक-निन्दा के

सहारे बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया गया है, जिसका कोई औचित्यपूर्ण अथवा ऐतिह्य-सम्मत आधार नहीं मिलता और जिसके मूल में सम्भवतः धार्मिक-साम्प्रदायिक विद्वेष-भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अन्यथा, सीता को 'मिथ्यैव दूषिता साध्वी' टिटहरी की तरह टीटिमसर में अपनी निष्कलंकता का प्रमाण देने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि 'कथासरित्सागर' में नारी-निन्दा, विशेषकर नारी की अविश्वसनीयता, के अनगिन प्रसंग हैं, जिन्हें हम पुरुष-प्रधान या पितृसत्ताक समाज की देन कह सकते हैं। इसी प्रकार द्वादश लम्बक की पंचम तरंग में राजा विनीतमति और भिक्षु रत्नचन्द्रमति की कथा आती है, जिससे ब्राह्मणमत और बौद्धमत के तत्कालीन पारस्परिक संघर्ष-विद्वेष का पता चलता है। आशय यह कि अनुसन्धाताओं और विचारकों द्वारा 'कथासरित्सागर' की कथाओं का अध्ययन अभिप्राय और तत्कालीन सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से भी किया जाना चाहिए।

यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि 'कथासरित्सागर' के इस तृतीय खण्ड के मूल-सह समश्लोकी हिन्दी-अनुवाद के प्रकाशन के साथ ही हमारे एक संकल्पित सारस्वत अनुष्ठान की पूर्णाहुति होती है। आशा है, हमारे कथास्वाद-कोविद, सुधी और जिज्ञासु पाठक भारतीय वाङ्मय के इस ग्रन्थ-रत्न के हिन्दी-अनुवाद को अपनाकर ऐसे महत्कार्य के लिए परिषद् का वर्द्धापन करेंगे।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
श्रावण शुक्ला सप्तमी, २०३० वि०

(डा०) कुमार विमल
निदेशक

विषयानुक्रमणी

[प्रस्तुत विषयानुक्रमणी हिन्दी-अनुवाद के अनुसार है।]

शशांकवती नामक द्वादश लम्बक १–६८७

प्रथम तरंग १–११

मंगलाचरण ३; नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ३; शृगाली की कथा ५; वामदत्त की कथा ७।

द्वितीय तरंग १२–३७

मृगांकदत्त की कथा १५; राजा भद्रबाहु की कथा १९; पुष्कराक्ष की कथा २३; पुष्कराक्ष और विनयवती के पूर्वजन्म की कथा २९।

तृतीय तरंग ३८–५७

मृगांकदत्त का उज्जयिनी-गमन ३९; श्रुतधि की कथा ४३।

चतुर्थ तरंग ५७–९९

मृगांकदत्त और प्रतीहार का साहस ५९।

पंचम तरंग ९९–१५७

गुणाकर का वृत्तान्त १०१; विनीतमति की कथा १०१; पवित्र वराह की कथा ११५; देवभूति कथा १२७; दानपारमिता की कथा १२९; शीलपारमिता की कथा १३१; क्षमापारमिता की कथा १३५; धैर्यपारमिता की कथा १३७; ध्यानपारमिता की कथा १३९; प्रज्ञापारमिता की कथा १४३।

षष्ठ तरंग १५७–२२१

मृगांकदत्त की कथा (क्रमागत) १५७; विचित्रकथ की कथा १५९; श्रीदर्शन की कथा १५९; सौदामिनी की कथा १६१; मूनन्दन की कथा १६९; श्रीदर्शन और अनंगमंजरी की कथा २०३।

सप्तम तरंग २२१–२६५

मृगांकदत्त की कथा (क्रमागत) २२१; शंखदत्त की कथा २४७।

अष्टम तरंग २६६–२९१

वेतालपचीसी २६७; राजा त्रिविक्रमसेन की कथा २६९; प्रथम वेताल : पद्मावती की कथा २७३।

नवम तरंग २९२–२९७

द्वितीय वेताल : तीन तरुण ब्राह्मणों की कथा २९३।

दशम तरंग २९८–३११

तृतीय वेताल : शुक-सारिका की कथा २९९; सारिका के द्वारा कही हुई कथा ३०१; शुक के द्वारा कही हुई कथा ३०५।

एकादश तरंग ३११–३२९

चतुर्थ वेताल : वीरवर की कथा ३११।

द्वादश तरंग ३२९–३३५

पंचम वेताल : सोमप्रभा की कथा ३२९।

त्रयोदश तरंग ३३५–३४३

षष्ठ वेताल : रजक-कन्या की कथा ३३५।

चतुर्दश तरंग ३४३–३५९

सप्तम वेताल : सत्त्वशील की कथा ३४३।

पंचदश तरंग ३५९–३६७

अष्टम वेताल : तीन चतुर पुरुषों की कथा ३५९।

षोडश तरंग ३६७–३७१

नवम वेताल : राजकुमारी अनंगरति की कथा ३६७।

सप्तदश तरंग ३७२–३८१

दशम वेताल : मदनसेना की कथा ३७३।

अष्टादश तरंग ३८१–३८७

एकादश वेताल : राजा धर्मध्वज की कथा ३८१।

एकोनविंश तरंग ३८७–४०९

द्वादश वेताल : यशःकेतु की कथा ३८७।

विंश तरंग ४१०–४१९

त्रयोदश वेताल : ब्राह्मण हरिस्वामी की कथा ४११।

एकविंश तरंग ४१९–४२७

चतुर्दश वेताल : वणिक्पुत्री की कथा ४१९।

द्वाविंश तरंग ४२७–४४३

पंचदश वेताल : शशिप्रभा की कथा ४२७।

त्रयोविंश तरंग ४४३–४७१

षोडश वेताल : जीमूतवाहन की कथा ४४३।

चतुर्विंश तरंग ४७१–४७९

सप्तदश वेताल : उन्मादिनी की कथा ४१७।

पंचविंश तरंग ४७९–४९१

अष्टादश वेताल : ब्राह्मणकुमार की कथा ४७९ ।

षड्विंश तरंग ४९२–५०५

एकोनविंश वेताल : चन्द्रस्वामी की कथा ४९३ ।

सप्तविंश तरंग ५०६–५२५

विंश वेताल : राजा और ब्राह्मणपुत्र की कथा ५०७ ।

अष्टाविंश तरंग ५२५–५३७

एकविंश वेताल : अनंगमंजरी और मणिवर्मा की कथा ५२५ ।

एकोनत्रिंश तरंग ५३८–५४५

द्वाविंश वेताल : चार ब्राह्मण भाइयों की कथा ५३९ ।

त्रिंश तरंग ५४५–५५१

त्रयोविंश वेताल : परकाय-प्रवेश के पूर्व रोनेवाले तपस्वी की कथा ५४५ ।

एकत्रिंश तरंग ५५२–५६३

चतुर्विंश वेताल : एक अद्‌भुत कथा ५५३ ।

द्वात्रिंश तरंग ५६३–५७१

पंचविंश वेताल : भिक्षु क्षान्तिशील की कथा ५६३ (वेतालपचीसी समाप्त) ।

त्रयस्त्रिंश तरंग ५७१–५७९

मृगांकदत्त की कथा (क्रमागत) ५७१ ।

चतुस्त्रिंश तरंग ५८०–६३३

व्याघ्रसेन की कथा ५८१; सुन्दसेन और मन्दरावती की कथा ५८५ ।

पंचत्रिंश तरंग ६३३–६५३

मृगांकदत्त की कथा (क्रमागत) ६३३ ।

षट्त्रिंश तरंग ६५४–६८७

मृगांकदेव और शशांकवती की कथा ६५५ ।

मदिरावती नामक त्रयोदश लम्बक ६८९–७२१

प्रथम तरंग ६९२–७२१

मंगलाचरण ६९२; नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ६९२; मदिरावती की कथा ६९३ ।

पंच नामक चतुर्दश लम्बक ७२३–८११

प्रथम तरंग ७२५–७३७

मंगलाचरण ७२५; नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ७२५ ।

द्वितीय तरंग ७३७–७६३
नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ७३७।
तृतीय तरंग ७६३–७८१
नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ७६३।
चतुर्थ तरंग ७८२–८११
नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ७८३।
महाभिषेक नाम पंचदश लम्बक ८१३–८५७
प्रथम तरंग ८१५–८३५
मंगलाचरण ८१५; नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ८१५।
द्वितीय तरंग ८३६–८५७
नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ८३७।
सुरतमंजरी नामक षोडश लम्बक ८५९–९१७
प्रथम तरंग ८६१–८७५
मंगलाचरण नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ८६१।
द्वितीय तरंग ८७५–९०३
नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत); सुरतमंजरी के उद्धार की कथा ८७५।
तृतीय तरंग ९०३–९१७
नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत) ९०३।
पद्मावती नामक सप्तदश लम्बक ९१९–१०५५
प्रथम तरंग ९२०–९३९
मंगलाचरण, नरवाहनदत्त और मदनमंचुका की कथा ९२१।
द्वितीय तरंग ९३९–९६१
विद्युत्पुत्र के पुत्र विद्युद्ध्वज की कथा ९४१।
तृतीय तरंग ९६१–९७३
विद्युद्ध्वज की कथा (क्रमागत) ९६१।
चतुर्थ तरंग ९७४–९९९
पद्मावती की कथा ९७५।
पंचम तरंग ९९९–१०२५
पद्मावती की कथा (क्रमागत) ९९९।
षष्ठ तरंग १०२५–१०५५
मेरुध्वज और स्वयम्प्रभा की कथा १०२५।

विषमशील नामक अष्टादश लम्बक १०५७–१२०९
प्रथम तरंग १०५८–१०७७
मंगलाचरण, नरवाहनदत्त-मदनमंचुका की कथा १०५९।
द्वितीय तरंग १०७७–१११५
मदनमंजरी की कथा १०७७।
तृतीय तरंग १११५–११२९
राजा विक्रमादित्य की कथा १११५।
चतुर्थ तरंग ११२९–११७५
राजा विक्रमादित्य की कथा (क्रमागत) ११२९।
पंचम तरंग ११७६–१२०९
राजा विक्रमादित्य की कथा (क्रमागत) ११७७।
ग्रन्थकार की प्रशस्ति १२१०–१२१३

●

कथासरित्सागर

(तृतीय खण्ड)

शशाङ्कवती नाम द्वादशो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलनात्
पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते।।

शशांकवती नामक द्वादश लम्बक

नगेन्द्र-नन्दिनी पार्वती के प्रबल प्रणय-मन्दराचल के मन्थन द्वारा शिवजी के मुख-रूपी समुद्र से निकले हुए इस कथा-रूपी अमृत का जो लोग आदर और आग्रहपूर्वक पान करते हैं, वे शिवजी की कृपा से निर्विघ्न सिद्धियों को प्राप्त कर, दिव्य पद लाभ करते हैं।

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

अव्याद्वो विघ्नविध्वंसकीर्त्तिस्तम्भमिवोत्क्षिपन्।
करं गणपतिः क्रीडालीनभृङ्गाक्षरावलिम् ॥१॥
अरागमपि रागाढ्यरचनाचतुरं परम्।
हरं नवनवाश्चर्यसर्गचित्रकरं नुमः ॥२॥
जितं स्मरशरैर्येषु पौष्पेष्वपि पतत्स्विह।
वज्रादीन्यपि जायन्ते कुण्ठितान्येव तद्भृताम् ॥३॥

नरवाहनदत्तकथा (पूर्वानुवृत्ता)

एवं वत्सेश्वरसुतस्तां तां भार्यामिवाप्य सः।
नरवाहनदत्तोऽत्र कौशाम्ब्यामथ तस्थिवान् ॥४॥
वहुभार्योऽपि तामाद्यां दैवीं मदनमञ्चुकाम्।
प्राणेभ्योऽप्यधिकां मेने रुक्मिणीमिव माधवः ॥५॥
एकदा च निशि स्वप्ने नभसागत्य दिव्यया।
कयापि कन्ययात्मानं ह्रियमाणं ददर्श सः ॥६॥
प्रबुद्धश्च महाशैलसानौ सच्छायपादपे।
अपश्यत्स्थितमात्मानं तार्क्ष्यरत्नशिलातले ॥७॥
तां च कन्यां स्वपार्श्वस्थां निशि द्योतितकाननाम्।
ईक्षते स्म स्मरस्येव विश्वसंमोहनौषधिम् ॥८॥
अनयाहमिहानीत इति मत्वा च वीक्ष्य च।
लज्जाविलम्बितेच्छां तां कृत्वा चालीकसुप्तकम् ॥९॥
प्रलपन्निव जिज्ञासुरेवं धूर्त्तोऽथ सोऽब्रवीत्।
क्व त्वमालिङ्ग मामेहि प्रिये मदनमञ्चुके ॥१०॥
तच्छ्रुत्वेव तदुद्घातात्स्मृत्वा निर्व्रीडयन्त्रणम्।
रूपं तद्दयितायाः सा तस्याः कृत्वालिलिङ्ग तम् ॥११॥
ततः स नेत्रे उन्मील्य दृष्ट्वा तां स्वप्रियाकृतिम्।
अहो विज्ञानमित्युक्त्वा कण्ठे जग्राह सस्मितः ॥१२॥
साथ हित्वा त्रपां रूपं स्वं प्रदर्श्य जगाद तम्।
आर्यपुत्र गृहाणेमां मामिदानीं स्वयंवराम् ॥१३॥

प्रथम तरङ्ग

मंगलाचरण

विघ्नों का विध्वंस करने के कारण जो कीर्त्ति-स्तम्भ के समान है, अपनी उस सूँड़ को ऊपर उठाते हुए गणेश आपकी रक्षा करें, जिसपर क्रीडा करता हुआ भौंरों का समूह अक्षरों के समान जान पड़ता है ॥१॥

रागरहित होकर भी रागयुक्त रचना करने में अत्यन्त कुशल उन शंकर की हम वन्दना करते हैं, जो नित्य नवीन और आश्चर्यजनक सृष्टि के चित्र बनाया करते हैं ॥२॥

कामदेव के उन पुष्पबाणों की जय हो, जो जब (धनुष से) छूटते हैं, तब वज्रादि धारण करनेवालों के वे आयुध भी कुण्ठित हो जाते हैं ॥३॥

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

इस प्रकार, एक के बाद दूसरी पत्नी पाकर, वत्सराज का पुत्र वह नरवाहनदत्त, कौशाम्बी में रहने लगा ॥४॥

उसके अनेक पत्नियाँ थीं, फिर भी वह अपनी पहली और दैवी पत्नी मदनमंचुका को उसी प्रकार प्राणों से भी अधिक मानता था, जैसे श्रीकृष्ण रुक्मिणी को मानते थे ॥५॥

एक बार रात में उसने स्वप्न देखा कि आकाश से आकर कोई दिव्य कन्या उसे उठाये लिये जा रही है ॥६॥

एक बड़े पर्वत की चोटी पर जब उसकी नींद खुली, तब उसने देखा कि वृक्षों की घनी छायावाली तार्क्ष्यरत्न की एक शिला पर वह पड़ा हुआ है ॥७॥

उसने उस कन्या को अपने निकट देखा, जिसने (अपनी कान्ति से) रात के समय भी वन में उजाला कर रखा था और जो विश्व को सम्मोहित करनेवाली कामदेव की ओषधि के समान थी ॥८॥

नरवाहनदत्त ने सोचा कि यही मुझे यहाँ ले आई है। उसने यह भी देखा कि लज्जा के कारण वह अपनी इच्छा नहीं प्रकट कर रही है, अतः नींद का बहाना करके, सारी बातें जानने की इच्छा से, वह चतुर राजकुमार प्रलाप करता हुआ-सा बोला—'प्रिये मदनमंचुके! तुम कहाँ हो? आकर मेरा आलिंगन करो' ॥९-१०॥

उस कन्या ने ये बातें सुनीं। इनसे प्रेरित होकर उसने राजकुमार की पत्नी का रूप बनाया और लज्जा छोड़कर उसका आलिंगन किया ॥११॥

तब नरवाहनदत्त ने आँखें खोलीं। उस कन्या को अपनी पत्नी के रूप में देखकर उसने कहा—'यह कैसी चतुराई है!' और तब मुस्कराते हुए उसे गले से लगा लिया ॥१२॥

इसके बाद उस कन्या ने लज्जा का त्याग करके अपना असली रूप प्रकट किया। वह बोली—'आर्यपुत्र! अब आप मुझ स्वयंवरा को ग्रहण कीजिए' ॥१३॥

एवमुक्तवतीं तां च परिणिन्ये स कन्यकाम्।
नरवाहनदत्तोऽत्र गान्धर्वविधिना तदा॥१४॥
नीत्वाथ तत्र तां रात्रिं यथावत्स तया सह।
प्रातस्तां दयितां युक्त्या कुलजिज्ञासयाभ्यधात्॥१५॥
प्रिये शृणु कथामेतामपूर्वां कथयामि ते।

शृगाल्याः कथा

ब्रह्मसिद्धिरिति क्वापि मुनिरासीत्तपोवने॥१६॥
तस्याश्रमसमीपे च योगसिद्धस्य सन्मुनेः।
अभूच्छृगाली जरती गुहायां विहितास्पदा॥१७॥
तां दुर्दिने निराहारां भक्ष्यार्थं जातु निर्गताम्।
वशाविश्लेषसोन्मादो हन्तुमागाद्वनद्विपः॥१८॥
तद्दृष्ट्वा स मुनिर्ज्ञानी कृपालुस्तां शृगालिकाम्।
परेण करिणीं चक्रेऽनुग्रहायैतयोर्द्वयोः॥१९॥
ततः स हस्ती तां दृष्ट्वा करेणुं शान्तवैकृतः।
अनुरक्तोऽभवत्तस्यां सापि मृत्योरमुच्यत॥२०॥
ततो भ्रमंस्तया साकं स गजो जातु सत्कृते।
प्राविशत्पद्ममानेतुं शरत्पङ्काकुलं सरः॥२१॥
ममज्ज तत्र पङ्कान्तर्न शशाक विचेष्टितुम्।
तस्थौ कुलिशनिर्लूनपक्षो भ्रष्ट इवाचलः॥२२॥
दृष्ट्वा तथावसन्नं तं सा शृगालीकरेणुका।
तदैवान्यं समाश्रित्य वारणं क्वाप्यगात्ततः॥२३॥
तावच्च पूर्वविश्लिष्टा करिणी तस्य सा निजा।
अन्विष्यन्ती गजस्यागात्तं प्रदेशं विधेर्वशात्॥२४॥
सा भद्रजातिर्दृष्ट्वैव ग्रस्तं पङ्केन तं पतिम्।
अनुसर्त्तुं सरःपङ्कं तमेव प्राविशत्तदा॥२५॥
तत्काले स मुनिर्ब्रह्मसिद्धिस्तेनागतः पथा।
शिष्ययुक्तस्तदालोक्य वभूव करुणान्वितः॥२६॥
उद्धारयामास च तौ वशानागौ महातपाः।
शिष्यैर्वरोद्भूतवलैः सरःपङ्कान्तरात्ततः॥२७॥
ततस्तस्मिन्मुनौ याते दम्पती तौ वशागजौ।
मृत्योर्वियोगाच्चोत्तीर्णौ यथाकामं विजह्रतुः॥२८॥

ऐसा कहने पर नरवाहनदत्त ने गान्धर्व-विधि से उस कन्या से विवाह कर लिया ॥१४॥

नरवाहनदत्त ने उसके साथ उचित रीति से वह रात वहीं बिताई। सवेरा होने पर, युक्तिपूर्वक उस कन्या का कुल-परिचय जानने की इच्छा से, उसने कहा—॥१५॥

शृगाली की कथा

प्रिये ! मैं तुम्हें एक अनूठी कहानी सुनाता हूँ। इसे सुनो। किसी तपोवन में ब्रह्मसिद्धि नामक एक मुनि रहते थे। योगसिद्ध उन मुनि के आश्रम के पास ही, एक गुफा में स्थान बनाकर, एक बूढ़ी शृगाली रहती थी ॥१६-१७॥

दुर्दिन में, भूखी हुई वह शृगाली, एक बार भोजन की खोज में बाहर निकली। वहाँ, अपनी मादा से बिछुड़ने के कारण उन्मत्त, एक जंगली हाथी उसे मारने दौड़ा ॥१८॥

ज्ञानी और कृपालु उन मुनि ने यह देखा। उन दोनों पर कृपा करके, अपने तपोबल से, उन्होंने शीघ्र ही उस शृगाली को हथिनी बना दिया ॥१९॥

हथिनी को देखकर उस हाथी के विकार शान्त हो गये। वह उसपर अनुरक्त हो गया। शृगाली भी मरने से बच गई ॥२०॥

तब उसके साथ घूमता हुआ वह हाथी, उसके लिए कमल का फूल लाने को शरत्काल के पंकिल सरोवर में घुसा ॥२१॥

वहाँ वह कीचड़ में धँस गया और हिलने-डुलने से लाचार होकर वैसे ही खड़ा रह गया, जैसे वज्र से पंखों को काट देने पर गिरा हुआ पर्वत स्थिर हो जाता है ॥२२॥

वह हथिनी, जो पहले शृगाली थी, उस हाथी को इस प्रकार अवसन्न देखकर, तत्काल किसी दूसरे हाथी के साथ वहाँ से चली गई ॥२३॥

भाग्यवश उसी समय उसकी बिछुड़ी हुई अपनी हथिनी उसे ढूँढ़ती हुई उस जगह आ पहुँची ॥२४॥

उत्तम जाति की वह हथिनी अपने पति को कीचड़ में धँसा हुआ देखकर, उसका अनुसरण करने के लिए, स्वयं भी सरोवर के उस कीचड़ में घुसी ॥२५॥

उसी समय ब्रह्मसिद्धि नामक वह मुनि शिष्यों के सहित उस मार्ग से आये। यह दृश्य देखकर उनका मन दया से भर गया ॥२६॥

वर से अपने शिष्यों को बलशाली बनाकर, महातपस्वी उन मुनि ने, सरोवर के कीचड़ से हाथी के उस जोड़े का उद्धार कराया ॥२७॥

अनन्तर, उन मुनि के चले जाने पर, मृत्यु और वियोग से छुटकारा पाये हुए वे दोनों, इच्छानुसार विचरण करने लगे ॥२८॥

एवमुत्तमजन्मानस्तिर्यञ्चोऽप्यापदि प्रिये।
प्रभुं नोज्झन्ति मित्रं वा तारयन्ति ततः पुनः ॥२९॥
हीनजात्युद्‌भवा ये तु तेषां स्पृशति नाशयम्
कदाचिदपि सत्त्वं वा स्नेहो वा चञ्चलात्मनाम् ॥३०॥
एतद्वत्सेश्वरसुताच्छ्रुत्वा सा दिव्यकन्यका।
तमुवाचैवमेवैतत्संशयो नात्र विद्यते ॥३१॥
अभिप्रायश्च विज्ञातो मयैवंवादिनस्तव।
तदिमामपि मत्तस्त्वमार्यपुत्र कथां शृणु ॥३२॥

वामदत्तकथा

शूरदत्ताभिधानोऽभूत्कान्यकुब्जे द्विजोत्तमः।
महीपतेर्बाहुशक्तेर्मान्यो ग्रामशतेश्वरः ॥३३॥
भार्या वसुमती नाम तस्यासीत्पतिदेवता।
तस्यां स वामदत्ताख्यं भव्यं पुत्रमजीजनत् ॥३४॥
स वामदत्तो नचिरात्सर्वविद्यासु शिक्षितः।
भार्यां शशिप्रभां नाम परिणिन्ये पितृप्रियः ॥३५॥
कालेन पितरि स्वर्गं भार्ययानुगते गते।
प्रावर्त्तत च गार्हस्थ्ये स तया भार्यया सह ॥३६॥
सा च तस्याभवद्‌भार्या स्वेच्छाचारिण्यजानतः।
दैवात्कुतश्चित्सम्प्राप्तशाकिनीसिद्धिसंवरा ॥३७॥
एकदा राजसेवार्थं स्थितस्तत्कटके च सः।
गृहादेत्य पितृव्येन निजेन जगदे रहः ॥३८॥
नष्टमस्मत्कुलं पुत्र यतो भार्या मया तव।
दृष्टा महिषपालेन त्वदीयेनैव सङ्गता ॥३९॥
एतत्पितृव्यादाकर्ण्य कटके तं निवेश्य च।
स वामदत्तः खड्‌गैकसखः स्वगृहमाययौ ॥४०॥
तत्र गुप्तं स्थितो यावत्पुष्पारामे प्रविश्य सः।
नक्तमागात्स तत्रैव तावन्महिषपालकः ॥४१॥
क्षणाच्च तमुपागात्सा तत्रोपपतिमुत्सुका।
तद्‌भार्या विविधाहारहस्ता महिषपालकम् ॥४२॥

हे प्रिये ! इस प्रकार, उत्तम कुलवाले पशु भी आपत्ति के समय अपने स्वामी अथवा मित्र का त्याग न करके उनकी रक्षा करते हैं; लेकिन नीच कुल में उत्पन्न, चंचल बुद्धिवालों में, ऊँची भावनाओं का अथवा स्नेह का लेश भी नहीं होता ॥२९-३०॥

वत्सेश्वर के पुत्र से यह सुनकर उस दिव्य कन्या ने कहा कि 'आपका कहना ठीक है। इसमें कोई सन्देह नहीं है' ॥३१॥

आपके ऐसा कहने का अभिप्राय भी मैं समझ गई हूँ; अतः आर्यपुत्र ! आप भी मुझसे यह कथा सुनें ॥३२॥

वामदत्त की कथा

कान्यकुब्ज में शूरदत्त नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहता था। वह सौ गाँवों का स्वामी था और राजा बाहुदत्त उसका बड़ा आदर करते थे ॥३३॥

पति को देवता माननेवाली उसकी स्त्री का नाम वसुमती था। उससे उसे वामदत्त नाम का सुन्दर पुत्र हुआ ॥३४॥

पिता के प्रिय उस वामदत्त को थोड़े ही समय में सभी विद्याओं की शिक्षा दे दी गई। उसने शशिप्रभा नामक पत्नी से विवाह कर लिया ॥३५॥

समय पाकर जब उसके पिता स्वर्गवासी हुए और उनकी पत्नी ने भी उनका अनुगमन किया, तब वह अपनी पत्नी के साथ घर-गृहस्थी चलाने लगा ॥३६॥

उसके अनजानते में उसकी स्त्री स्वेच्छाचारिणी हो गई। दैववश उसने कहीं से अलौकिक सिद्धियोंवाली शाकिनी को सिद्ध कर लिया ॥३७॥

एक बार राजा की सेवा में नियुक्त वामदत्त, उसकी छावनी में रुक गया, जहाँ घर से आकर उसके चाचा ने एकान्त में उससे कहा—॥३८॥

"पुत्र ! हमारा कुल तो कलंकित हो गया; क्योंकि मैंने तुम्हारी स्त्री को, तुम्हारी भैंसों के रखवाले के साथ देखा है ॥३९॥

अपने चाचा से ऐसा सुनकर और उन्हें छावनी में रखकर वामदत्त केवल एक तलवार लेकर अपने घर गया ॥४०॥

वहाँ फुलवारी में जाकर वह छिप गया और रात होने पर उसका ग्वाला वहीं आया ॥४१॥

उपपति के लिए उत्सुक उसकी स्त्री, थोड़ी ही देर बाद उस ग्वाले के लिए अनेक प्रकार की भोजन-सामग्री हाथों में लेकर आई ॥४२॥

ततो भुक्तवता तेन साकं सा शयनं ययौ।
तद्दृष्ट्वा वामदत्तोऽसौ सोऽभ्यधावदुदायुधः ॥४३॥
आः पापौ गच्छथः क्वेति वदतस्तस्य गेहिनी।
स दृष्ट्वोत्थाय धिग्जालमेत्युत्वा धूलिं मुखे न्यधात् ॥४४॥
तदा स मानुषोऽप्याशु महिषः समपद्यत।
वामदत्तः स्मृतिस्त्वस्य तद्भावे न व्यलुप्यत ॥४५॥
ततो महिषमध्ये सा निक्षिप्य लगुडैः शठा।
भार्या महिषपालेन ताडयामास तेन तम् ॥४६॥
तदैव तं च कस्यापि वणिजो महिषार्थिनः।
विक्रीणीते स्म सा क्रूरा तिर्यक्त्वविवशीकृतम् ॥४७॥
तेनारोपितभारोऽथ महिषीभावपीडितः।
स वामदत्तो नीतोऽभूद्ग्रामं गङ्गासमीपगम् ॥४८॥
विश्वस्तस्य गृहे भार्या सद्वृत्ताप्यतर्किता।
कक्षान्तरप्रविष्टेव भुजगी कस्य शर्मणे ॥४९॥
इति तं चिन्तयन्तं च तत्रोद्बाष्पं सुदुःखितम्।
भारक्लेशास्थिशेषाङ्गमपश्यत्कापि योगिनी ॥५०॥
सा बुद्ध्वा ज्ञानतः सर्वं तद्वृत्तान्तं कृपाकुला।
मन्त्रतोयेन सिक्त्वा तं महिषत्वादमोचयत् ॥५१॥
प्राप्तमानुषरूपाय सैव नीत्वा निजं गृहम्।
तस्मै कान्तिमती नाम कन्यां दुहितरं ददौ ॥५२॥
एभिराहत्य दुर्भार्यामाद्यां तां वडवां कुरु।
इत्युक्त्वा प्रददौ चास्मै सर्षपानभिमन्त्रितान् ॥५३॥
ततः स तां कान्तिमतीं भार्यामादाय नूतनाम्।
स्वगृहं वामदत्तस्तदाजगाम ससर्षपैः ॥५४॥
हत्वा महिषपालं तं तत्र कृत्वा च सर्षपः।
वडवामाद्यभार्यां तां शालाबद्धां व्यधत्त सः ॥५५॥
दत्त्वा च प्रत्यहं तस्यै लगुडाहतिसप्तकम्।
स चक्रे भोजनं बद्धप्रतिज्ञो वैरशुद्धये ॥५६॥
एवं तत्र स्थितस्यास्य कान्तिमत्या समं पुनः।
भार्यया वामदत्तस्य कोऽप्यागादतिथिर्गृहे ॥५७॥
भोक्तुं तस्मिन्प्रवृत्ते च सोऽभुक्त्वा निर्ययौ द्रुतम्।
वामदत्तः स्मृतादत्तकुभार्यालगुडाहतिः ॥५८॥

ग्वाला जब भोजन कर चुका, तब वामदत्त की स्त्री उसके साथ सेज पर गई। यह देखकर वामदत्त तलवार उठाकर यह कहता हुआ उनकी ओर दौड़ा कि 'पापियो, तुम लोग कहाँ जा रहे हो?' यह देखकर उसकी स्त्री उठी और 'छि: नीच!' कहकर उसने वामदत्त के मुँह पर धूल फेंकी ॥४३-४४॥

तब शीघ्र ही वामदत्त मनुष्य से भैंसे के रूप में बदल गया, लेकिन वैसी दशा में भी उसकी स्मृति लुप्त नहीं हुई ॥४५॥

तब उस दुष्टा स्त्री ने उसे भैंसों के बीच रख दिया और उस ग्वाले के द्वारा उसे डण्डे से पिटवाया ॥४६॥

उसी समय उस क्रूर स्त्री ने भैंस खरीदने की इच्छा रखनेवाले किसी व्यापारी के हाथ, पशुयोनि में विवश किये गये उस वामदत्त को बेच दिया ॥४७॥

अनन्तर, उस भैंसे के रूप में दुःख पाता हुआ वह वामदत्त, जिस पर बोझ लाद दिया गया था, गंगा के निकटवर्त्ती ग्राम में ले जाया गया ॥४८॥

वामदत्त ने सोचा कि विश्वासी पुरुष के घर में यदि अचानक बुरे चरित्र की स्त्री आ जाय, तो उससे उसी प्रकार किसी का कल्याण नहीं हो सकता, जिस प्रकार कमरे के अन्दर सर्पिणी के आ जाने से ॥४९॥

ऐसा सोचता हुआ जब वह बहुत दुःखी होकर आँसू बहा रहा था तथा बोझ ढोने के कारण हड्डियों का ढाँचा-मात्र रह गया था, तब उसने एक योगिनी को देखा ॥५०॥

उस कृपालु योगिनी ने अपने ज्ञान से उसका सारा वृत्तान्त जानकर उसपर अभिमन्त्रित जल छिड़का और उसे भैंसे की स्थिति से छुटकारा दिलाया ॥५१॥

जब उसने मनुष्य का रूप पा लिया, तब वह उसे अपने घर ले गई और कान्तिमती नाम की अपनी कुमारी कन्या उसे दी ॥५२॥

उसने थोड़ी-सी अभिमन्त्रित सरसों देकर वामदत्त से कहा कि अपनी पहली दुष्टा स्त्री पर इसे छिड़ककर उसे घोड़ी बना दो ॥५३॥

तब वह वामदत्त कान्तिमती नाम की नई पत्नी को साथ लेकर, सरसों के साथ अपने घर आया ॥५४॥

उसने ग्वाले को मार डाला और सरसों के द्वारा पहली स्त्री को घोड़ी बनाकर घुड़साल में बाँध दिया ॥५५॥

वामदत्त ने वैर का बदला लेने के लिए ऐसी प्रतिज्ञा कर ली थी कि प्रतिदिन उस घोड़ी को सात डण्डे मारकर भोजन करता था ॥५६॥

इस प्रकार, जब वामदत्त कान्तिमती नाम की अपनी पत्नी के साथ रहने लगा, तब उसके घर एक अतिथि आया ॥५७॥

जब वह अतिथि भोजन करने लगा, तब वामदत्त विना कुछ खाये ही झटपट बाहर निकल गया; क्योंकि उसे स्मरण आया कि उसने अपनी दुष्टा भार्या को डण्डे से नहीं पीटा है ॥५८॥

दत्त्वा च तस्यै वडवारूपायै लगुडाहतीः।
नियतास्ताः प्रविश्यात्र बुभुजे जातनिर्वृतिः ॥५९॥
ततोऽतिथिर्विस्मितः स तं पप्रच्छ सकौतुकः।
त्यक्ताहारः क्व यातोऽभूत्सम्भ्रमेण भवानिति ॥६०॥
ततः स वामदत्तोऽत्र तस्मायतिथयेऽब्रवीत्।
तमा मूलात्स्ववृत्तान्तमथ सोऽपि तमभ्यधात् ॥६१॥
दुर्ग्रहेण किमेतेन पशुत्वं ते हृतं यया।
तामेवाराध्य स्वश्वश्रूं प्रकर्षं कञ्चिदाहर ॥६२॥
इत्युक्तोऽतिथिना तेन वामदत्तस्तथेति तत्।
श्रद्धाय सोऽतिथिं प्रातः सत्कृत्य विससर्ज तम् ॥६३॥
अथाकस्माद्गृहायातां श्वश्रूं तां सिद्धयोगिनीम्।
अनुग्रहार्थी सोऽभ्यर्च्य प्रार्थयामास यत्नतः ॥६४॥
साथ योगेश्वरी तस्मै सभार्याय यथाविधि।
कालसङ्कर्षिणीं विद्यां दीक्षापूर्वमुपादिशत् ॥६५॥
ततः श्रीपर्वतं गत्वा स विद्यां तामसाधयत्।
सा च सिद्धा सती साक्षात्तस्मै खड्गोत्तमं ददौ ॥६६॥
प्राप्तखड्गश्च सम्पन्नः स तया भार्यया सह।
कान्तिमत्या कृती वामदत्तो विद्याधरोत्तमः ॥६७॥
ततो रजतकूटाख्ये शृङ्गे मलयभूभृतः।
कृतं पुरवरं तेन निजसिद्धिप्रभावतः ॥६८॥
ततो विद्याधरेन्द्रस्य तत्र कालेन कन्यका।
तस्यां पत्न्यां समुत्पन्ना नाम्ना ललितलोचना ॥६९॥
जातमात्रैव या विद्याधरसच्चक्रवर्त्तिनः।
भार्या भवित्री निर्दिष्टा गगनोद्भूतया गिरा ॥७०॥
तामार्यपुत्र मां विद्धि विदितार्था स्वविद्यया।
अनुरक्तां तवानेत्रीमस्मिन्स्वे मलयाचले ॥७१॥
इत्याख्यातकुलां तां बुद्ध्वा विद्याधरीं स वहु मेने।
नरवाहनदत्तोऽथ प्रीतमना ललितलोचनां भार्याम् ॥७२॥
आस्त च तत्र तया सह सम्प्रति तं चास्य वत्सराजाद्याः।
रत्नप्रभादिविद्याविभवाद्वृत्तान्तमधिजग्मुः ॥७३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके प्रथमस्तरङ्गः।

घोड़ी-रूपिणी उस भार्या को नियत डण्डे लगाकर जब उसने अपना काम पूरा कर लिया, तब लौटकर भोजन किया ॥५९॥

तब उस अतिथि ने कौतूहल के कारण विस्मित होकर उससे पूछा कि भोजन छोड़कर ऐसी घबराहट में आप कहाँ गये थे ?॥६०॥

वामदत्त ने उस अतिथि से आरम्भ से अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब अतिथि ने उससे कहा—'इस रोज-रोज के वैर साधने से क्या लाभ है ?' जिस सास ने तुम्हें पशुता से छुटकारा दिलाया, उसे ही प्रसन्न करके अपने उत्कर्ष का कुछ उपाय करो ॥६१-६२॥

उस अतिथि के ऐसा कहने पर वामदत्त ने उसकी बात मान ली और सवेरे श्रद्धापूर्वक उसका सत्कार करके उसे विदा किया ॥६३॥

उसके बाद उसकी वह सिद्ध योगिनी सास अचानक उसके घर आई। उसके अनुग्रह की इच्छा रखनेवाले वामदत्त ने यत्नपूर्वक उसका स्वागत-सत्कार करके उससे अपनी अभिलाषा कही ॥६४॥

उस योगेश्वरी ने पत्नी के सहित वामदत्त को दीक्षा दी और तब विधिपूर्वक उन्हें कालसंकर्षिणी (आयु बढ़ाने की) विद्या सिखाई ॥६५॥

तब श्रीपर्वत पर जाकर उसने उस विद्या की साधना की। सिद्धि प्राप्त होने पर, उस विद्या ने प्रकट होकर उसे एक उत्तम खड्ग दिया ॥६६॥

खड्ग को पाकर सफलमनोरथ वह वामदत्त, अपनी पत्नी कान्तिमती के सहित, श्रेष्ठ विद्याधर हुआ ॥६७॥

तब अपनी सिद्धि के प्रभाव से उसने मलय पर्वत के रजतकूट नामक शिखर पर एक उत्तम नगर बसाया ॥६८॥

समय पाकर, उस विद्याधरेन्द्र को अपनी पत्नी से, ललितलोचना नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई ॥६९॥

ज्योंही उस कन्या का जन्म हुआ, ऐसी आकाशवाणी हुई कि 'यह कन्या विद्याधरों के चक्रवर्त्ती राजा की भार्या होगी'॥७०॥

आर्यपुत्र ! मैं वही ललितलोचना हूँ। अपनी विद्या के प्रभाव से सारी बातें जानकर, आप पर अनुरक्त होने के कारण, मैं आपको अपने इस मलय पर्वत पर ले आई हूँ ॥७१॥

इस प्रकार, उसके कुल का वर्णन उसके द्वारा सुनकर नरवाहनदत्त बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपनी पत्नी ललितलोचना को विद्याधरी जानकर, उसका बहुत सम्मान किया और उसके साथ वहीं रहा। शीघ्र ही रत्नप्रभा आदि की विद्या के प्रभाव से वत्सराज आदि ने भी यह संवाद सुना ॥७२-७३॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के द्वादश लम्बक का
प्रथम तरंग समाप्त।

द्वितीयस्तरङ्गः

ततस्तां नूतनां प्राप्य भार्यां ललितलोचनाम्।
नरवाहनदत्तः स तस्मिन्मलयपर्वते ॥१॥
मधुप्रवृत्तिसुभगे विजहार तया सह।
तेषु तेषु वनान्तेषु पुष्पितद्रुमशोभिषु ॥२॥
एकस्मिंश्च वने क्रीडाकुसुमावचयक्रमात्।
तस्यां प्रियायां गहने गतायां दृष्टिगोचरात् ॥३॥
सञ्चरन्स ददर्शैकं महदच्छजलं सरः।
सतारकमिवाकाशं पुष्पैस्तीरतरुच्युतैः ॥४॥
पुष्पाण्युच्चिन्वती यावन्न समभ्येति सा प्रिया।
तावत्स्नात्वा सरस्यस्मिन्क्षणमासे सरस्तटे ॥५॥
इति सञ्चिन्त्य स स्नात्वा कृतदेवार्चनोऽत्र च।
सचन्दनतरुच्छायमध्यास्ते स्म शिलातलम् ॥६॥
तत्रस्थो राजहंसीनां दृष्ट्वा तत्सदृशीं गतिम्।
श्रुत्वा तन्निभमालापं पिकीनां चूतवल्लिषु ॥७॥
विलोक्य हरिणीनां च तन्नेत्राभे विलोचने।
दूरस्थां तां स सस्मार प्रियां मदनमञ्चुकाम् ॥८॥
स्मृत्वैवोद्भूतकामाग्निसन्ततश्च मुमूर्च्छ सः।
तत्क्षणं चाययौ स्नातुं तत्रैको मुनिपुङ्गवः ॥९॥
स पिशङ्गजटो नाम तदवस्थमवेक्ष्य तम्।
असिञ्चत्स्वप्रियास्पर्शतुल्यैश्चन्दनवारिभिः ॥१०॥
ततः प्रबुद्धं प्रणतं दिव्यदृष्टिः स तं मुनिः।
उवाच पुत्र प्राप्नोषि यथेष्टं धैर्यमाप्नुहि ॥११॥
तेन हि प्राप्यते सर्वं तथा चैत्य मदाश्रमम्।
कथां मृगाङ्कदत्तीयां मत्तः शृणु न चेच्छ्रुता ॥१२॥
इत्युक्त्वा स मुनिः स्नात्वा निनाय निजमाश्रमम्।
नरवाहनदत्तं तं चक्रे च त्वरयाह्निकम् ॥१३॥
कृत्वातिथ्यं फलैस्तस्य तत्र भुक्तफलः स्वयम्।
स पिङ्गलजटो वक्तु कथां तस्मै प्रचक्रमे ॥१४॥

द्वितीय तरंग

अनन्तर, ललितलोचना नाम की उस नई पत्नी को पाकर नरवाहनदत्त, वसन्त के आगमन से सुन्दरता धारण किये हुए, उस मलय पर्वत के कुसुमित वृक्षों से शोभाशाली अनेक वनों में, उसके साथ विहार करने लगा ॥१-२॥

एक घने वन में खिलवाड़ से फूल चुनती हुई उसकी प्रिया, आँखों से ओझल हो गई ॥३॥

घूमते-फिरते उसने स्वच्छ जलवाले एक विशाल सरोवर को देखा, जो तटवर्त्ती वृक्षों से गिरे पुष्पों के कारण, तारों के सहित आकाश के समान जान पड़ता था ॥४॥

'फूल चुनती हुई मेरी प्रिया जबतक नहीं लौट आती, तबतक मैं इस सरोवर में स्नान करके इसके तट पर ठहरूँगा'॥५॥

ऐसा सोचकर, स्नान और देव-पूजन करने के अनन्तर, वह चन्दन-वृक्ष की छाया के नीचे, एक शिलाखण्ड पर बैठ गया ॥६॥

वहाँ बैठे-बैठे अपनी प्रिया मदनमंचुका के समान राजहंसिनियों की चाल देखकर, आम्र-कुंजों में कोकिलाओं की उसके जैसी बोली सुनकर और उसकी आँखों की समता करनेवाली हरिणियों की आँखें देखकर नरवाहनदत्त को दूरवासिनी अपनी प्रिया का स्मरण हो आया ॥७-८॥

प्रिया का स्मरण आते ही नरवाहनदत्त के मन में लालसा की जो अग्नि जल उठी, उससे सन्तप्त होकर वह मूर्च्छित हो गया। उसी समय वहाँ एक मुनिश्रेष्ठ स्नान करने के लिए आये ॥९॥

पिशंगजट नामक उन मुनि ने नरवाहनदत्त को वैसी स्थिति में देखकर, उसकी प्रिया के स्पर्श की समता करनेवाला चन्दन-जल उसपर छिड़का ॥१०॥

अनन्तर, चैतन्य लाभ करके प्रणाम करते हुए उस नरवाहनदत्त से, दिव्य दृष्टिवाले मुनि ने कहा कि 'पुत्र! धैर्य धारण करो। तुम जो चाहते हो, वह तुम्हें मिलेगा'॥११॥

'धैर्य से ही सब कुछ प्राप्त होता है। यदि तुमने अबतक न सुना हो, तो मेरे आश्रम में चलकर मुझसे मृगांकदत्त की कथा सुनो'॥१२॥

ऐसा कहकर मुनि ने स्नान किया और नरवाहनदत्त को अपने आश्रम में ले गये। वहाँ उन्होंने शीघ्रतापूर्वक सन्ध्या-वन्दन समाप्त किया ॥१३॥

वहाँ फलों से उसका आतिथ्य-सत्कार करके और स्वयं भी फल खाकर, पिंगलजट मुनि ने, उसे कथा सुनानी आरम्भ की ॥१४॥

मृगाङ्कदत्तकथा

अस्त्ययोध्येति नगरी भुवनत्रयविश्रुता ।
तस्याममरदत्ताख्यः पूर्वमासीन्महीपतिः ॥१५॥
तस्य नित्यानुरक्तैका प्रदीप्ततरतेजसः ।
भार्या वह्नेरिव स्वाहा बभूव सुरतप्रभा ॥१६॥
तस्यां मृगाङ्कदत्ताख्यः सुतस्तस्योदपद्यत ।
स्वकोदण्ड इवाभूद्यः कोटिप्राप्तगुणानतः ॥१७॥
तस्याभवंश्च सचिवा राजसूनोर्निजा दश ।
प्रचण्डशक्तिः स स्थूलबाहुर्विक्रमकेसरी ॥१८॥
दृढमुष्टिर्मेघबलस्तथा भीमपराक्रमः ।
तद्वद्विमलबुद्धिश्च व्याघ्रसेनगुणाकरौ ॥१९॥
विचित्रकथसंज्ञश्च दशमस्ते च सत्कुलाः ।
सर्वे युवानः शूराश्च प्राज्ञाः प्रभुहितैषिणः ॥२०॥
तैः समं स सुखं तिष्ठन्राजपुत्रः पितुर्गृहे ।
मृगाङ्कदत्तः सदृशीं न भार्यां तावदाप्तवान् ॥२१॥
एकदा च रहस्येको मन्त्री भीमपराक्रमः ।
तमाह श्रूयतां देव रात्रौ वृत्तं ममाद्य यत् ॥२२॥
अहं प्रासादसुप्तोऽद्य प्रबुद्धोऽशङ्कितं निशि ।
वज्रोग्रनखरं सिंहमपश्यमभिधावितम् ॥२३॥
उत्थिते छुरिकाहस्ते मयि सोऽथ पलायितुम् ।
सिंहः प्रावर्त्तताहं च तमेवान्वपतं जवात् ॥२४॥
स च गत्वा नदीपारं प्रसार्य रसानां मयि ।
आसीदहं च तामस्य दीर्घां छुरिकयाच्छिदम् ॥२५॥
तयैव सेतुपृथ्व्या च यावत्तीर्णोऽस्मि तां नदीम् ।
तावत्स सिंहः सुमहान्सम्पन्नो विकृतः पुमान् ॥२६॥
को भवानिति पृष्टश्च मया स पुरुषोऽब्रवीत् ।
वेतालोऽहं त्वया वीर सत्त्वेनास्मि च तोषितः ॥२७॥
तच्छ्रुत्वाहं तमप्राक्षं यद्येवं तत्त्वयोच्यताम् ।
भार्या मृगाङ्कदत्तस्य का भविष्यति मे प्रभोः ॥२८॥

मृगांकदत्त की कथा

तीनों लोकों में प्रसिद्ध अयोध्या नाम की एक नगरी हैं। पुराने समय में वहाँ अमरदत्त नामक एक राजा रहता था॥१५॥

जैसे अग्नि के प्रति स्वाहा अनुरक्त रहती है, अधिकाधिक प्रदीप्त तेजवाले उस राजा की सुरतप्रभा नाम की वैसी ही एक पत्नी थी, जो उसपर सतत अनुरक्त रहती थी॥१६॥

राजा को उस पत्नी से मृगांकदत्त नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जैसे उसका धनुष कोटि तक चढ़ी हुई प्रत्यंचा के खींचने से झुक जाता है, वैसे ही कोटि गुणों को प्राप्त करने पर वह राजकुमार विनय से झुका हुआ था॥१७॥

उस राजपुत्र के अपने दस सन्त्री थे—प्रचण्डशक्ति, स्थूलबाहु, विक्रमकेसरी, दृढमुष्टि, मेघबल, भीमपराक्रम, विमलबुद्धि, व्याघ्रसेन, गुणाकर और दसवाँ विचित्रकथ। वे सभी अच्छे कुल के थे, युवक थे, पराक्रमी और बुद्धिमान् थे तथा अपने स्वामी का हित चाहनेवाले थे॥१८—२०॥

राजपुत्र मृगांकदत्त उस सभी के साथ सुखपूर्वक पिता के घर में रहने लगा, लेकिन उसे अपने समान पत्नी नहीं मिली॥२१॥

एक दिन उसके मन्त्री भीमपराक्रम ने एकान्त में उससे कहा—'देव! आज की रात का मेरा वृत्तान्त सुनिए'॥२२॥

आज मैं महल में सोया हुआ था। रात में मेरी नींद खुल गई। मैंने वज्र के समान नखोंवाले एक निर्भय सिंह को अपनी ही ओर झपटते देखा॥२३॥

जब मैं हाथ में छुरा लेकर उठा, तब वह सिंह भाग चला। मैंने भी तेजी से उसका पीछा किया॥२४॥

नदी के पार जाकर उसने मेरी ओर अपनी जीभ फैला दी। मैंने अपने छुरे से उसकी लम्बी जीभ काट ली॥२५॥

सेतु की पृथ्वी के समान उसकी जीभ के सहारे ज्योंही मैंने उस नदी को पार किया, त्योंही वह सिंह एक विशाल 'कराल पुरुष' बन गया॥२६॥

जब मैंने पूछा कि 'आप कौन हैं?', तब उस पुरुष ने कहा कि—'हे वीर! मैं वेताल हूँ और तुम्हारे पराक्रम से प्रसन्न हूँ'॥२७॥

यह सुनकर मैंने उससे पूछा कि 'यदि एसा है, तो आप बतायें कि मेरे स्वामी मृगांकदत्त की पत्नी कौन होगी?'॥२८॥

एतन्मद्वचनं श्रुत्वा स वेतालोऽब्रवीत्तदा।
अस्त्युज्जयिन्यां नृपतिः कर्मसेन इति श्रुतः ॥२९॥
तस्यास्ति तनया राज्ञो लावण्यन्यक्कृताप्सराः।
निधानभूमिः सौन्दर्यसर्गस्येव प्रजापतेः ॥३०॥
सा शशाङ्कवती नाम भार्या तस्य भविष्यति।
त्वत्प्रभुस्तदवाप्त्या च पृथ्वीराज्यं करिष्यति ॥३१॥
इत्युक्त्वा स तिरोऽभून्मे वेतालोऽहं तथैव च।
आगतो गृहमित्येतन्निशि वृत्तं मम प्रभो ॥३२॥
एतन्मृगाङ्कदत्तोऽसौ श्रुत्वा भीमपराक्रमात्।
आहूय श्रावयामास सर्वांस्तान्निजमन्त्रिणः ॥३३॥
जगाद चैतञ्शृणुत स्वप्ने दृष्टं मया च यत्।
जाने महाटवीं काञ्चित्प्रविष्टा निखिला वयम् ॥३४॥
तत्राध्वतृषिताः कृच्छ्रात्प्राप्य तोयं पिपासवः।
रुद्धाः स्मः सायुधैः पुंभिस्तत उत्थाय पञ्चभि ॥३५॥
तान्हत्वा पुनरिच्छामः पातु यावत्तृषातुराः।
तावन्न तत्र पुंसस्तानपश्याम न तज्जलम् ॥३६॥
ततः कृच्छ्रां दशां प्राप्ताश्चन्द्रोज्ज्वलमशङ्कितम्।
वृषमारूढमायान्तमैक्षामहि महेश्वरम् ॥३७॥
सोऽस्मासु प्रणतेष्वक्ष्णो दक्षिणादश्रुणः कणम्।
भूमावपातयत्सोऽत्र समुद्रः समपद्यत ॥३८॥
तस्मान्मुक्तावलीं प्राप्तां शुभां बद्ध्वा मया गले।
पीतो रक्तानुलिप्तेन नृकपालेन सोऽम्बुधिः ॥३९॥
तत्क्षणं च प्रबुद्धोऽस्मि प्रयाता च विभावरी।
एवं मृगाङ्कदत्तेन स्वप्नाश्चर्ये निवेदिते ॥४०॥
मन्त्री विमलबुद्धिस्तं नन्दत्स्वन्येष्वभाषत।
त्वं देव धन्यो यस्यैवं विहितानुग्रहो हरः ॥४१॥
स्वप्ने मुक्तावलीं लब्ध्वा यत्पीतश्च त्वयाम्बुधिः।
तच्छशाङ्कवतीं प्राप्य भोक्तासि पृथिवीं ध्रुवम् ॥४२॥
अन्यन्मनाक्तु क्लेशायेत्युक्ते विमलबुद्धिना।
ततो मृगाङ्कदत्तस्तानुवाच सचिवान्पुनः ॥४३॥

तब मेरी यह बात सुनकर उस वेताल ने कहा—"उज्जयिनी में कर्मसेन नाम का एक राजा है। प्रजापति की सौन्दर्य-सृष्टि के पात्र के समान, उसकी एक कन्या है। जो अपने लावण्य से अप्सराओं को भी नीचा दिखाती है॥२९-३०॥

शशांकवती नाम की वही कन्या तुम्हारे स्वामी की पत्नी होगी और उसको पाकर तुम्हारा वह स्वामी समूची पृथ्वी का राज्य करेगा"॥३१॥

मुझसे ऐसा कहकर वह वेताल अन्तर्धान हो गया। मैं भी घर लौट आया। प्रभु, यही इतना रात का मेरा वृत्तान्त है॥३२॥

भीमपराक्रम से यह वृत्तान्त सुनकर मृगांकदत्त ने अपने सभी मन्त्रियों को बुलवा भेजा और उन्हें भी यह बात सुनवाकर उनसे कहा कि 'स्वप्न में मैंने जो देखा है, उसे भी सुनो। मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे हम सभी ने एक घने जंगल में प्रवेश किया है॥३३-३४॥

राह चलने से हम सभी को प्यास लग आई थी। बड़ी कठिनाई से जल पाकर हम ज्योंही उसे पीने चले, अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित पाँच पुरुषों ने वहाँ से उठकर, हमें रोक दिया॥३५॥

उन्हें मारकर, प्यास से व्याकुल हम लोगों ने, ज्यों ही फिर जल पीना चाहा, त्यों ही देखा कि न तो वहाँ वे पुरुष हैं और न जल ही है॥३६॥

तब बड़ी कष्टकर दशा में पड़े हुए हम सब ने, चन्द्रमा से उज्ज्वल और वृषभ पर आरूढ महादेव को निश्चिन्त आते हुए देखा॥३७॥

हम सबके प्रणाम करने पर, उन्होंने अपनी दाहिनी आँख से भूमि पर आँसू की एक बूंद गिरा दी, जिससे वहाँ एक समुद्र बन गया॥३८॥

उसमें से मुझे मोतियों की एक सुन्दर माला प्राप्त हुई, जिसे मैंने गले में बाँध लिया। उस समुद्र को भी मैंने रक्त लगे नरमुण्ड के द्वारा पी लिया॥३९॥

उसी समय मेरी नींद खुल गई। तबतक रात भी बीत चुकी थी। इस प्रकार जब मृगांकदत्त ने अपना आश्चर्यजनक स्वप्न सुनाया, तब अन्य मन्त्रियों के प्रसन्न होने पर भी, विमलबुद्धि नाम के मन्त्री ने उससे कहा—"देव! आप धन्य हैं, जिसे शिवजी की ऐसी कृपा प्राप्त हुई॥४०-४१॥

स्वप्न में आपने जो मोतियों की माला पाई और समुद्र का पान किया, इससे यह निश्चय है कि आप शशांकवती को पायेंगे और पृथिवी का भोग करेंगे, किन्तु इसके अतिरिक्त स्वप्न का जो अंश है, वह क्लेशकारक है।" विमलबुद्धि के ऐसा कहने पर मृगांकदत्त ने उन मन्त्रियों से फिर कहा—॥४२-४३॥

यथा फलं मे स्वप्नस्य यथा भीमपराक्रमः।
श्रुतवानिह वेतालात्तथा यद्यपि भावि तत् ।।४४।।
तथापि कर्मसेनस्य वलदुर्गाभिमानिनः।
प्रज्ञावलान्मया प्राप्या सा शशाङ्कवती सुता ।।४५।।
प्रज्ञावलं च सर्वेषु मुख्यं कार्येषु साधनम्।
तथा च श्रृणुतात्रैतां कथां वः कथाम्यहम् ।।४६।।

राज्ञः भद्रबाहोः कथा

भद्रवाहुरभून्नाम्ना मगधेषु महीपतिः।
तस्यासीन्मन्त्रगुप्ताख्यो मन्त्री बुद्धिमतां वरः ।।४७।।
स राजा तं निजामात्यं कदाचित्स्वैरमब्रवीत्।
अनङ्गलीलेति सुता राज्ञो वाराणसीपतेः ।।४८।।
अस्ति या धर्मगोपस्य जगत्त्रितयसुन्दरी।
तामर्थितोऽपि द्वेषान्मे न स राजा प्रयच्छति ।।४९।।
दन्तिनो भद्रदन्तस्य प्रभावात्स च दुर्जयः।
नोत्सहे जीवितुं चाहं तया तत्सुतया विना ।।५०।।
तदत्र नास्त्युपायो मे सखे किं कार्यमुच्यताम्।
इति तेनोदिते राज्ञा स मन्त्री निजगाद तम् ।।५१।।
किं देव विक्रमादेव सिद्धिरस्ति न बुद्धितः।
तदलं चिन्तयाहं ते स्वबुद्ध्या साधयाम्यदः ।।५२।।
इत्युक्त्वा नृपमन्येद्युः पञ्चसप्तानुगान्वितः।
महाव्रतिकवेषः सन्मन्त्री वाराणसीं ययौ ।।५३।।
तत्र तं शिष्यवेषास्ते सिद्धोऽयमिति सर्वतः।
स्वानुगाः ख्यापयामासुर्भक्तिप्रह्वमिलज्जनम् ।।५४।।
एकदा च निशि भ्राम्यन्कार्ययुक्त्युपलब्धये।
सानुगः स ददर्शात्र दूराद्गृहविनिर्गताम् ।।५५।।
गृहिणीं हस्तिपालस्य शंङ्कात्वरितगामिनीम्।
नीयमानां त्रिचतुरैः पुरुषैः क्वापि सायुधैः ।।५६।।
ध्रुवं व्युत्थाय यातेयं तत्पश्यामः क्व गच्छति।
इति सञ्चिन्त्य स स्वैरं सानुगोऽनुससार ताम् ।।५७।।

"यद्यपि मेरे स्वप्न का वही फल होगा, जो वेताल के द्वारा भीमपराक्रम ने सुना है, फिर अपने बल और दुर्गों के अभिमानी कर्मसेन से मुझे बुद्धिबल के द्वारा उसकी कन्या शशांकवती को पाना है॥४४-४५॥

सभी कार्यों के साधन के लिए बुद्धिबल ही मुख्य है। सुनो, मैं इसी सम्बन्ध की एक कथा तुम लोगों को सुनाता हूँ"॥४६॥

राजा भद्रबाहु की कथा

मगध में भद्रबाहु नाम का एक राजा था। मन्त्रगुप्त नामक उसका मन्त्री बुद्धिमानों में श्रेष्ठ था॥४७॥

एक बार उस राजा ने अपने मन्त्री से धीरे से कहा—"वाराणसी के राजा धर्मगोप की तीनों लोकों में सुन्दरी अनंगलीला नाम की एक कन्या है। याचना करने पर भी, द्वेष के कारण वह उसे मुझे नहीं देता॥४८-४९॥

भद्रदन्त नामक अपने हाथी के प्रभाव से यद्यपि वह दुर्जय है, तथापि उसकी उस कन्या के बिना मुझे जीवित रहने की इच्छा नहीं है॥५०॥

मित्र! इस तरह इस विषय में कोई उपाय नहीं है। अब मुझे क्या करना चाहिए, यह बतलाओ।" राजा के ऐसा कहने पर उस मन्त्री ने उनसे कहा—॥५१॥

"देव! क्या पराक्रम से ही सिद्धि मिलती है, बुद्धि से नहीं? आप चिन्ता न करें। मैं अपनी बुद्धि से ही आपका काम पूरा कर दूँगा।"५२॥

राजा से ऐसा कहकर अगले दिन वह मन्त्री, पाँच-सात अनुगामियों के सहित, शैव संन्यासी के वेष में, वाराणसी गया॥५३॥

वहाँ भक्तिपूर्वक चारों ओर से मिलने आये हुए लोगों में, शिष्यवेशवाले उसके अनुगामियों ने यह प्रसिद्धि फैलाई कि ये सिद्ध पुरुष हैं॥५४॥

एक बार कार्य साधन की युक्ति ढूँढ़ने के लिए अपने अनुचरों के साथ, वह मन्त्री रात में घूम रहा था। दूर से उसने घर से निकली हुई पीलवान की पत्नी को देखा, जो शंका के कारण तेजी से चल रही थी और जिसे शस्त्रधारी तीन चतुर पुरुष कहीं लिये जा रहे थे॥५५-५६॥

मन्त्री ने सोचा कि 'निश्चय ही यह कहीं भागी जा रही है, अतः हम देखें कि यह कहाँ जाती है।' ऐसा सोचकर वह अपने अनुचरों के साथ, उसके पीछे-पीछे चला॥५७॥

गत्वा प्रविष्टा सा यत्र तच्च गेहं विदूरतः।
दृष्ट्वा निवासस्थानं स्वमाजगाम तदैव सः ।।५८।।
प्रातश्च हस्तिपालस्य हृतार्थां तां गतां प्रियाम्।
चिन्वानस्यान्तिकं युक्त्या प्राहिणोद्भ्रमतोऽनुगान् ।।५९।
ते तं दृष्ट्वा तदप्राप्तिदुःखजग्धविषं तदा ।
निवारितविषं चक्रुः कृपयेव स्वविद्यया ।।६०।।
आगच्छास्मद्गुरोः पार्श्वं ज्ञानी सर्वं हि वेत्ति सः ।
इत्युक्त्वा च तमानिन्युर्निकटं तस्य मन्त्रिणः ।।६१।।
स च हस्तिपको दृष्ट्वा पादयोश्च प्रणम्य तम् ।
भार्याप्रवृत्ति पप्रच्छ व्रताकल्पोपशोभितम् ।।६२।।
सोऽपि मन्त्री मृषा ध्यात्वा साभिज्ञानं शशंस तत् ।
स्थानं तस्मै परैर्नीता पुरुषैर्यत्र सा निशि ।।६३।।
ततः प्रणम्यं तं गत्वा समं नगररक्षिभिः।
स हस्तिपालकः प्राप्य स्थानं तत्पर्यवेष्टयत् ।।६४।।
अवधीत्पुरुषांस्तांश्च पापान्दारापहारिणः।
प्राप साभरणां तां च सधनां निजयोषितम् ।।६५।।
द्वितीयेऽह्नि स च प्रातरेत्य नत्वा कृतस्थितिः।
चकार व्याजसिद्धस्य तस्याहारनिमन्त्रणम् ।।६६।।
गृहप्रवेशानिच्छोश्च नक्तभोजित्ववादिनः ।
प्रदोषे हस्तिशालायां तस्याहारमकल्पयत् ।।६७।।
सोऽपि मन्त्रबलात्सर्पं वंशनाडीनिवेशितम्।
गुप्तं गृहीत्वा गत्वात्र मन्त्री भुङ्क्ते स्म सानुगः ।।६८।।
ततो गते हस्तिपाले सुप्तेष्वन्येषु तत्र सः।
हस्तिनो भद्रदन्तस्य वंशनाड्या निवेश्य तम् ।।६९।।
कर्णे सुप्तस्य भुजगं रात्रिं नीत्वैव तत्र ताम्।
ययौ स्वदेशं मगधान्हस्ती तेन व्यपादि च ।।७०।।
हत्वा तं धर्मगोपस्य गजं दर्पमिवागते।
तस्मिन्मन्त्रिवरे राजा भद्रबाहुर्ननन्द सः ।।७१।।
ततो वाराणसीं तस्मै धर्मगोपाय याचितुम्।
अनङ्गलीलां कन्यां तां दूतं च विससर्ज सः ।।७२।।

जाकर वह जिस घर में घुसी, उसे दूर से ही देखकर, वह (मन्त्री) उसी समय अपने डेरे पर लौट आया ॥५८॥

सवेरे पीलवान अपनी उस स्त्री को ढूंढ़ता फिर रहा था, जो उसका धन लेकर चली गई थी। मन्त्री ने युक्तिपूर्वक अपने अनुचरों को उसके पास भेजा ॥५९॥

पत्नी को न पाने के दुःख से, तबतक उसने विष खा लिया था। यह देखकर उन लोगों ने, कृपापूर्वक, अपनी विद्या के प्रभाव से विष का निवारण किया ॥६०॥

उन्होंने पीलवान से कहा. कि हमारे गुरु के पास चलो, वे ज्ञानी हैं, और सब कुछ जानते हैं। ऐसा कहकर उसे मन्त्री के पास ले आये ॥६१॥

ब्रह्मचारी का वेश धारण करने के कारण अधिक शोभित हो रहे उनके (मन्त्री के) चरणों में प्रणाम करके, उस पीलवान ने, अपनी पत्नी के बारे में पूछा ॥६२॥

उस मन्त्री ने झूठा ध्यान लगाया और तब उस स्थान का पूरा पता बता दिया, जहाँ वह रात में अपरिचित पुरुषों के द्वारा ले जाई गई थी ॥६३॥

तब उन्हें प्रणाम करके वह पीलवान नगर-रक्षकों के साथ वहाँ गया और उसने उस स्थान को घेर लिया ॥६४॥

उसने अपनी स्त्री का अपहरण करनेवाले उन पापी पुरुषों को मार डाला और धन तथा आभूषणों के सहित अपनी पत्नी को पा लिया ॥६५॥

दूसरे दिन सवेरे ही, पीलवान ने वहाँ आकर और प्रणाम करके, उस ढोंगी सिद्ध को भोजन के लिए आमन्त्रित किया ॥६६॥

मन्त्री ने घर में प्रवेश करने की अनिच्छा प्रकट की और कहा कि वह केवल रात में ही भोजन करता है, अतः प्रदोषकाल में हथिसार में ही उसके भोजन का प्रबन्ध किया गया ॥६७॥

मन्त्री ने मन्त्र-बल से बाँस के खोल में एक साँप को छिपाकर साथ ले लिया और वहाँ जाकर अपने अनुचरों के साथ भोजन किया ॥६८॥

जब पीलवान वहाँ से चला गया और दूसरे लोग सो गये, तब बाँस के खोल के सहारे उसने साँप को, सोये हुए भद्रदन्त नामक हाथी के कान में डाल दिया। उसने वह रात वहीं बिताई और फिर अपने देश मगध चला गया। हाथी, साँप के काटने से मारा गया ॥६९-७०॥

धर्मगोप के अभिमान के समान उस हाथी को मारकर मन्त्रिश्रेष्ठ के लौटने पर, राजा भद्रबाहु बड़े प्रसन्न हुए ॥७१॥

अनन्तर, उसने धर्मगोप से उसकी कन्या अनंगलीला को माँगने के लिए, एक दूत को वाराणसी भेजा ॥७२॥

सोऽपि तां प्रददौ तस्मै तद्गजाभावदुर्बलः ।
भजन्ति वैतसीं वृत्तिं राजानः कालवेदिनः ॥७३॥
तदेवं प्रज्ञया तस्य मन्त्रगुप्तस्य मन्त्रिणः ।
अनङ्गलीलां सम्प्राप भद्रवाहुः स भूपतिः ॥७४॥
तस्मान्मयापि बुद्ध्या सा भार्या प्राप्येति वादिनम् ।
मृगाङ्कदत्तं सचिवस्तं विचित्रकथोऽब्रवीत् ॥७५॥
सर्वं सेत्स्यति ते हारात्स्वप्नदृष्टादनुग्रहात् ।
अमोघो देवतानां च प्रसादः किं न साधयेत् ॥७६॥

पुष्कराक्षकथा

तथा च शृणुतात्रैकां वर्ण्यमानां मया कथाम् ।
आसीत्तक्षशिलापुर्यां भद्राक्षो नाम भूपतिः ॥७७॥
स पुत्रकामः पद्मानां शतेनाष्टभिरेव च ।
सितानां पूजयामास खड्गे लक्ष्मीं दिने दिने ॥७८॥
एकदार्चयतस्तस्य राज्ञो मौनममुञ्चतः ।
ऊनमेकमभूत्पद्मं दैवाद्गणयतो धिया ॥७९॥
स हृत्पद्मं विपाट्य स्वं ददौ देव्यै ततश्च सा ।
तुष्टा तस्मै ददौ सार्वभौमपुत्रप्रदं वरम् ॥८०॥
कृत्वा चाक्षतदेहं तं नृपं प्रायाददर्शनम् ।
अथ तस्य सुतो राज्ञो महादेव्यामजायत ॥८१॥
हृत्पुष्करप्रसादेन जातोऽयमिति तं च सः ।
पुष्कराक्षं नृपश्चक्रे नाम्ना पुत्रं सुलक्षणम् ॥८२॥
क्रमाच्च यौवनप्राप्तं तनयं तं गुणान्वितम् ।
राज्येऽभिषिच्य भद्राक्षः स राजा शिश्रिये वनम् ॥८३॥
पुष्कराक्षोऽपि सम्प्राप्य राज्यं प्रतिदिनं हरम् ।
पूजयन्नेकदाभ्यर्च्य भार्यां तस्मादयाचत ॥८४॥
सर्वं सम्पत्स्यते पुत्र यथाभिलषितं तव ।
इति शुश्राव स गिरं गगनादुद्गतां तदा ॥८५॥
ततः प्रहृष्टो जातास्थः स तिष्ठञ्जातुचिन्नृपः ।
आखेटकविनोदाय जगाम मृगकाननम् ॥८६॥

उस हाथी के न रहने से बलहीन हुए राजा ने, अपनी कन्या उसे दे दी; क्योंकि समय को जाननेवाले राजा लोग बेंत का स्वभाव अपना लेते हैं, अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर झुक जाया करते हैं।।७३।।

"इस प्रकार, जैसे राजा भद्रबाहु ने अपने मन्त्री मन्त्रगुप्त के बुद्धिबल से अनंगलीला को प्राप्त किया, वैसे ही मैं भी, बुद्धिबल से उस पत्नी को प्राप्त करूँगा।" मृगांकदत्त के ऐसा कहने पर, उसके मन्त्री विचित्रकथ ने कहा––।।७४-७५।।

"स्वप्न में देखे हुए हार के अनुग्रह से आपके सब मनोरथ पूरे होंगे; क्योंकि देवताओं की अमोघ प्रसन्नता से क्या नहीं हो सकता?।।७६।।

पुष्कराक्ष की कथा

मैं इस सम्बन्ध में जो कथा कहता हूँ, उसे सुनिए।" तक्षशिला नगरी में भद्राक्ष नाम का एक राजा था।।७७।।

पुत्र की इच्छा रखनेवाला वह राजा, प्रतिदिन तलवार पर एक सौ आठ उज्ज्वल कमल रखकर लक्ष्मी की पूजा किया करता था।।७८।।

एक दिन मौन को तोड़े विना, लक्ष्मी का पूजन करते हुए, जब उसने मन ही-मन पद्म-पुष्पों को गिना, तो संयोग से, एक फूल कम हो गया।।७९।।

तब उसने अपना हृदय-कमल निकालकर देवी को चढ़ा दिया। इससे प्रसन्न होकर देवी ने उसे सार्वभौम पुत्र प्राप्त करने का वर दिया।।८०।।

राजा को अक्षतशरीर बनाकर देवी अन्तर्हित हो गई। अनन्तर, उस राजा को अपनी पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ।।८१।।

हृदय-पुष्कर (कमल) की कृपा से, उत्पन्न हुए, शुभ लक्षणोंवाले, उस पुत्र का नाम राजा ने पुष्कराक्ष रखा।।८२।।

समय पाकर वह गुणवान् पुत्र जब युवक हुआ, तब राजा भद्राक्ष उसका राज्याभिषेक करके वन चले गये।।८३।।

राज्य पाकर पुष्कराक्ष भी प्रतिदिन महादेव का पूजन करने लगा। एक दिन पूजा करने के अनन्तर, उसने उनसे पत्नी की याचना की।।८४।।

तभी उसने यह आकाशवाणी सुनी कि 'हे पुत्र! तुम जो कुछ चाहते हो, वह सब पूरा होगा'।।८५।।

उसके बाद वह प्रसन्नचित्त रहगे लगा। एक बार आखेट से मनोरंजन करने के लिए, वह जानवरों से भरे वन में गया।।८६।।

तत्र सम्भोगसंसक्तभुजङ्गमिथुनाशने ।
प्रवृत्तं करभं दृष्ट्वा शोकाक्रान्तो न्यपातयत् ॥८७॥
स निपातितमात्रः सन्मुक्त्वा तां करभस्तनुम् ।
भूत्वा विद्याधरः प्रीतः पुष्कराक्षं तमब्रवीत् ॥८८॥
भवान्कृतोपकारो मे तत्ते यद्वच्मि तच्छृणु ।
रङ्कुमालीति नाम्नास्ति राजन्विद्याधरोत्तमः ॥८९॥
तं रूपलुब्धा तरुणं वव्रे दृष्ट्वानुरागिणी ।
स्वयं तारावली नाम विद्याधरवरात्मजा ॥९०॥
तस्याः पिता च स्वेच्छातस्तयोः कृतविवाहयोः ।
कोपादपातयच्छापं कञ्चित्कालं वियोगदम् ॥९१॥
ततस्तारावलीरङ्कुमालिनौ तौ विजह्रतुः ।
दम्पती प्रसरत्प्रीती तासु तासु स्वभूमिषु ॥९२॥
कदाचित्तेन शापेन मिथो दृष्टिपथाच्च्युतौ ।
अन्योन्यविप्रयुक्तौ तौ जातौ क्वापि वनान्तरे ॥९३॥
ततस्तारावली सा तमन्विष्यन्ती पतिं क्रमात् ।
पश्चिमाब्धेरगात्पारे वनं सिद्धर्षिसेवितम् ॥९४॥
तत्र सापश्यदुत्फुल्लमेकं जम्बुमहातरुम् ।
आश्वासयन्तं प्रीत्येव मधुरैर्भ्रमरारवैः ॥९५॥
उपाविशच्च विश्रान्त्यै भृङ्गीरूपं विधाय सा ।
वृक्षे तस्मिन्नथैकस्मिन्कुसुमे मधुपायिनी ॥९६॥
क्षणाद्दैवात्तमत्रैव प्राप्तं दृष्ट्वा चिरात्पतिम् ।
हर्षच्युतेन वीर्येण सिक्तं पुष्पं तयाशु तत् ॥९७॥
त्यक्त्वा भृङ्गीवपुर्गत्वा सङ्गीताभूच्च तेन सा ।
ज्योत्स्नेव शशिना भर्त्रा चिन्वता रङ्कुमालिना ॥९८॥
ततस्तेन समं तस्यां गतायां स्वनिकेतनम् ।
तद्वीर्यसिक्ता तत्राभूज्जम्बुपुष्पात्ततः फलम् ॥९९॥
तस्य चान्तः फलस्यात्र कालयोगेन कन्यका ।
समभून्नहि दिव्यानां वीर्यं भजति मोघताम् ॥१००॥
कदाचित्फलमूलार्थं विजितास्वाभिधो मुनिः ।
तत्रागादपतत्तच्च पक्वं जम्बुतरोः फलम् ॥१०१॥

वहाँ उसने एक ऊँट को देखा, जो सम्भोग में लगे साँप के एक जोड़े को खाने जा रहा था। यह देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ और उसने ऊँट को मार डाला॥८७॥

ज्योंही वह मारा गया, ऊँट का शरीरछोड़कर वह विद्याधर बन गया और प्रसन्न होकर उसने पुष्कराक्ष से कहा—॥८८॥

"आपने मेरा उपकार किया है; अतः मैं जो कहता हूँ, उसे आप सुनें। राजन्! रंकुमाली नाम का एक श्रेष्ठ विद्याधर है। उस तरुण को देखकर, एक उत्तम विद्याधर की तारावली नाम की कन्या उसके रूप पर आकृष्ट होकर उसपर अनुरक्त हो गई और उसने रंकुमाली का वरण कर लिया॥८९-९०॥

उन दोनों ने अपनी इच्छा से विवाह कर लिया था, इससे कुपित होकर तारावली के पिता ने उन्हें कुछ समय के वियोग का शाप दिया॥९१॥

तब वे दोनों पति-पत्नी, रंकुमाली और तारावली, जिनका अनुराग बढ़ रहा था, अपने राज्य के विभिन्न स्थानों में विहार करने लगे॥९२॥

एक दिन उस शाप के प्रभाव से किसी वन में, एक दूसरे की आँखों से ओझल हो गये और बिछुड़ गये॥९३॥

अनन्तर पति को ढूँढ़ती हुई वह तारावली, क्रम से, पश्चिम समुद्र के पार, उस वन में पहुँची, जहाँ एक सिद्ध ऋषि रहते थे॥९४॥

वहाँ उसने फूले हुए जामुन के एक विशाल वृक्ष को देखा, जो भौरों की मधुर गुंजार से जैसे उसकी प्रसन्नता के लिए आश्वासन-सा दे रहा था॥९५॥

भ्रमरी का रूप धारण करके वह उस वृक्ष पर विश्राम करने के लिए बैठ गई और एक फूल का रस पीने लगी॥९६॥

क्षण-भर बाद ही अचानक वहाँ आये हुए अपने पति को उसने बहुत दिनों के बाद देखा। हर्ष के द्वारा गिरे हुए वीर्य से उसने शीघ्र ही उस फूल को सींच दिया॥९७॥

भ्रमरी का रूप छोड़कर वह अपने पति रंकुमाली से, जो उसे ढूँढ़ता हुआ वहाँ आया था, वैसे ही जा मिली, जैसे चन्द्रमा से चाँदनी मिलती है॥९८॥

इसके बाद वह पति के साथ अपने घर चली गई। उसके वीर्य से सिक्त जामुन के उस फूल से, एक फल पैदा हुआ॥९९॥

समय पाकर उस फल के भीतर से एक कन्या उत्पन्न हुई; क्योंकि अलौकिक लोगों का वीर्य निष्फल नहीं होता॥१००॥

एक बार फल-मूल के लिए विजितासु नामक मुनि वहाँ आये। जामुन के उस वृक्ष से एक पका फल उनके आगे आ गिरा॥१०१॥

तस्मात्पतितभग्नाच्च दिव्या निर्गत्य कन्यका।
अवन्दत मुनेस्तस्य चरणौ विनयानता ॥१०२॥
स दिव्यदृष्टिर्दृष्ट्वा तां बुद्ध्वा तत्त्वं सविस्मयः।
नीत्वाश्रमं स्वं विनयवतीं नाम्नाकरोन्मुनिः ॥१०३॥
तत्र कालेन सा वृद्धिं प्राप्ता तस्याश्रमे मुनेः।
दृष्ट्वा विनयवत्येषा नभसा गच्छंता मया ॥१०४॥
ततोऽहं रूपगर्वेण मदनेन च मोहिता।
उपेत्य तामनिच्छन्तीं हठाद्धर्तुं प्रवृत्तवान् ॥१०५॥
तत्क्षणं स मुनिः क्रुद्धः क्रन्दन्त्या श्रावितस्तया।
विजितासुरुपागत्य शापं मह्यमदान्नृप ॥१०६॥
रूपगर्वित सर्वाङ्गनिन्दितः करभो भव।
पुष्कराक्षान्नृपात्प्राप्ते वधे शापाद्विमोक्ष्यसे ॥१०७॥
भर्ता विनयवत्याश्च स एवास्या भविष्यति।
इत्यहं मुनिना शप्तो जातोऽस्यां करभो भुवि ॥१०८॥
जातश्च सोऽद्य शापान्तस्त्वत्तस्तत्पश्चिमाम्बुधेः।
पारस्थं तद्वनं गच्छ नाम्ना सुरभिमारुतम् ॥१०९॥
भार्यामाप्नुहि तां दिव्यां रूपदर्पहरां श्रियः।
इत्युक्त्वा पुष्कराक्षं स दिवं विद्याधरो ययौ ॥११०॥
पुष्कराक्षोऽपि गत्वा स्वां पुरीं विन्यस्य मन्त्रिषु।
राज्यं रात्रौ ततः प्रायादेकोऽश्वमधिरुह्य सः ॥१११॥
गच्छन्क्रमाच्च सम्प्राप्य पश्चिमाब्धेस्तटं पुनः।
कथं तरेयमम्भोधिमिति तत्र व्यचिन्तयत् ॥११२॥
ततो ददर्श तत्रैकं स शून्यं चण्डिकागृहम्।
प्रविश्य च ततः स्नात्वा देवीं तां प्रणनाम च ॥११३॥
केनापि निहितां तत्र वीणामादाय सादरः।
उपवीणयति स्मैतां देवीमत्र स्वगीतकैः ॥११४॥
उपवीणिततुष्टा च सुप्तं तत्रैव सा निशि।
भूतग्रामेण तं स्वेन पारमब्धेरनाययत् ॥११५॥
ततः प्रातः प्रबुद्धोऽब्धेस्तीरे राजा ददर्श सः।
वनान्तःस्थितमात्मानं न तस्मिंश्चण्डिकागृहे ॥११६॥

गिरकर फूटे हुए उस फल से, एक अलौकिक कन्या निकली, जिसने विनय से अवनत होकर मुनि के चरणों की वन्दना की॥१०२॥

दिव्यदृष्टिवाले उन मुनि ने उस कन्या को देखकर सारा वृत्तान्त जान लिया। इससे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उस कन्या को अपने आश्रम में ले जाकर उन्होंने उसका नाम विनयवती रखा॥१०३॥

मुनि के उस आश्रम में, समय पाकर, विनयवती सयानी हुई। एक बार नभोमार्ग से जाते हुए, मैंने उस विनयवती को देखा॥१०४॥

तब अपने रूप के गर्व और कामना से मोहित मैं, उसके पास गया। उसकी इच्छा के बिना ही अचानक, मैंने उसका हरण करने का प्रयत्न किया॥१०५॥

रोती हुई उस कन्या का स्वर सुनकर, तत्काल ही मुनि विजितासु वहाँ आये और क्रुद्ध होकर उन्होंने मुझे शाप दिया——॥१०६॥

'तुम्हें अपने रूप का अभिमान है, इसलिए तुम सभी अंगों से कुरूप ऊँट बन जाओ। राजा पुष्कराक्ष जब तुम्हारा वध करेंगे, तब तुम इस शाप से मुक्त होओगे। वे राजा ही इस विनयवती के पति होंगे।' इस प्रकार, मुनि के शाप से मैं इस धरती पर आकर ऊँट बन गया॥१०७-१०८॥

तुम्हारे द्वारा आज मेरे उस शाप का अन्त हो गया है; अतः तुम पश्चिम समुद्र के पारवाले सुरभिमारुत नाम के उस वन में जाओ और लक्ष्मी के रूप का गर्व हरण करनेवाली उस अलौकिक पत्नी को प्राप्त करो।" पुष्कराक्ष से ऐसा कहकर वह विद्याधर स्वर्ग चला गया॥१०९-११०॥

पुष्कराक्ष ने अपनी राजधानी में जाकर, मन्त्रियों को राज-काज सौंप दिया और उसके बाद एक घोड़े पर सवार होकर रात में प्रस्थान किया॥१११॥

चलते-चलते वह पश्चिम समुद्र के तट पर जा पहुँचा और वहाँ यह सोचने लगा कि इस समुद्र को कैसे पार करूँ?॥११२॥

वहाँ उसने चण्डिका का एक सूना मन्दिर देखा। स्नान करने के पश्चात् उसमें प्रवेश करके उसने देवी को प्रणाम किया॥११३॥

किसी के द्वारा वहाँ रखी गई वीणा को आदरपूर्वक उठाकर, वह अपने बनाये गीतों से देवी की स्तुति करने लगा॥११४॥

देवी ने उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर, वहीं सोये हुए उस राजा को, अपने अनुचरों के द्वारा समुद्र के पार पहुँचा दिया॥११५॥

समुद्र के तट पर जब सवेरे राजा की नींद खुली, तब उसने अपने को चण्डिका-मन्दिर के बदले एक वन में पाया॥११६॥

उत्थाय विस्मितश्चात्र भ्रमन्नाश्रममैक्षत ।
प्रणमन्तमिवातिथ्यात्फलभारानतैर्द्रुमैः ॥११७॥
कुर्वाणं स्वागतमिव क्वणितेन पतत्त्रिणम् ।
प्रविश्य तत्र चापश्यत्स्थितं शिष्यैर्वृतं मुनिम् ॥११८॥
उपेत्य च ववन्दे तमृषिं राजा स पादयोः ।
सोऽप्येनं विहितातिथ्यो ज्ञानवान्मुनिरब्रवीत् ॥११९॥
पुष्कराक्ष यदर्थं त्वमागतः सा क्षणं गता ।
इध्मादिहेतोर्विनयवती तत्तिष्ठ सम्प्रति ॥१२०॥
उपयच्छस्व तां पूर्वभार्यामद्यैव भूपते ।
इत्युक्तो मुनिना सोऽपि पुष्कराक्षो व्यचिन्तयत् ॥१२१॥
दिष्ट्या मुनिः स एवायं विजितासुस्तदेव च ।
वनमेतद् ध्रुवं देव्या तारितोऽहं महार्णवम् ॥१२२॥
चित्रं च पूर्वभार्यैषा ममोक्ता मुनिनामुना ।
इत्यालोच्यैव हृष्टस्तं स पप्रच्छ मुनिं नृपः ॥१२३॥
भगवन्पूर्वभार्यैषा कथं मे कथ्यतामिति ।
ततो जगाद स मुनिः श्रूयतां यदि कौतुकम् ॥१२४॥

पुष्कराक्षविनयवत्योः पूर्वजन्मकथा

वभूव धर्मसेनाख्यस्ताम्रलिप्त्यां पुरा वणिक् ।
विद्युल्लेखेति नाम्ना च भार्या तस्याभवच्छुभा ॥१२५॥
स दैवान्मुषितश्चौरैः शस्त्रैश्चाभ्याहतो वणिक् ।
मुमूर्षुर्निरगाद्वह्निं प्रवेष्टुं भार्यया सह ॥१२६॥
अपश्यतामकस्माच्च तावुभावपि दम्पती ।
आकाशेनागतं हंसमिथुनं रुचिराकृति ॥१२७॥
ततस्तद्गतचित्तौ तौ प्रविश्य दहनं मृतौ ।
राजहंसौ समुत्पन्नौ पुनर्भार्यापती उभौ ॥१२८॥
कदाचित्तौ च वर्षासु रात्रौ खर्जूरपादपे ।
नीडस्थितौ तमुन्मूल्य तरुं वात्या व्ययूयुजत् ॥१२९॥
प्रातः स हंसस्तां हंसीं चिन्वञ्शान्ते प्रभञ्जने ।
सरःस्वथ दिगन्तेषु न कुतश्चिदवाप्तवान् ॥१३०॥

आश्चर्य से भरा वह राजा उठकर इधर-उधर घूमने लगा। वहाँ उसने एक आश्रम देखा, जिसके फल-भार से झुके हुए वृक्ष मानों आतिथ्य में उसे प्रणाम कर रहे थे और पक्षियों के कूजन से उसका स्वागत कर रहे थे। उस आश्रम में प्रवेश करके, उसने शिष्यों से घिरे हुए एक मुनि को बैठा देखा ॥११७-११८॥

आगे बढ़कर राजा ने उन ऋषि के चरणों में प्रणाम किया। ज्ञानी मुनि ने भी राजा का आतिथ्य-सत्कार करके कहा—"पुष्कराक्ष, तुम जिस विनयवती के लिए यहाँ आये हो, वह थोड़ी ही देर पहले समिधा आदि लाने के लिए गई है, अतः तुम अभी ठहरो। राजन्! आज ही तुम अपने पूर्वजन्म की उस पत्नी से विवाह कर लो।" मुनि के ऐसा कहने पर पुष्कराक्ष ने सोचा—॥११९—१२१॥

"अरे! ये तो वही विजितासु मुनि हैं और यह वही वन है! निश्चय ही देवी ने मुझे समुद्र के पार पहुँचा दिया है। आश्चर्य की बात है कि इन्हीं मुनि ने कहा है कि विनयवती पूर्वजन्म की मेरी पत्नी है।" ऐसा सोचकर प्रसन्न होते हुए राजा ने मुनि से पूछा—॥१२२-१२३॥

"भगवन्! यह किस प्रकार पूर्वजन्म की मेरी पत्नी है, यह कहिए।" तब मुनि ने कहा—यदि तुम्हें कौतूहल है, तो सुनो ॥१२४॥

पुष्कराक्ष और विनयवती के पूर्वजन्म की कथा

पुराने समय में ताम्रलिप्ति में धर्मसेन नामक बनिया था। उसकी कल्याणी पत्नी का नाम विद्युल्लेखा था ॥१२५॥

संयोग से चोरों ने उसका सब कुछ चुरा लिया और हथियारों से उसे घायल कर दिया। जब वह मरने-मरने को हो रहा था, अपनी पत्नी के साथ अग्नि में प्रवेश करने के लिए बाहर निकला ॥१२६॥

अचानक उन दोनों (पति-पत्नी) ने, आकाश-मार्ग से आये, सुन्दर रूपवाले हंस के एक जोड़े को देखा ॥१२७॥

उसी हंस के जोड़े को देखते-देखते पति-पत्नी ने अग्नि में प्रवेश करके मरण प्राप्त किया। और फिर, राजहंस के जोड़े के रूप में नया जन्म लिया ॥१२८॥

एक बार बरसात की रात में, जब वे खजूर के वृक्ष पर, अपने घोसलें में थे, आँधी से वह वृक्ष उखड़ गया और वे दोनों एक दूसरे से बिछुड़ गये ॥१२९॥

सवेरे जब आँधी शान्त हो गई, वह हंस सरोवरों और दिशाओं में अपनी हंसी को ढूंढ़ता फिरा, लेकिन उसे न पा सका ॥१३०॥

ततस्तत्कालसंसेव्यं हंसानां मानसं सरः।
स्मरार्त्तः स ययौ हंस्या जनिताशोऽन्यया पथि॥१३१॥
तत्र तां प्राप्य हंसीं स्वां नीत्वा च जलदागमम्।
गिरिशृङ्गं जगामैकं विहर्त्तुं स तया सह॥१३२॥
तत्र तस्य हृता हंसी केनचिल्लुब्धकेन सा।
तद्दृष्ट्वा भयशोकार्त्तः स हंसः प्राद्रवत्ततः॥१३३॥
लुब्धकस्तां हृतां हंसीं मृतामादाय वीक्ष्य च।
दूरान्मार्गागतान्कांश्चित्पुरुषान्सायुधान्बहून् ॥१३४॥
द्रुतं छुरिकया छिन्नैस्तामाच्छाद्य तृणैर्भुवि।
हंसीं न्यधाद्विलोक्यैतां हरेयुर्जात्वमी इति॥१३५॥
गतेषु तेषु पुरुषेषूपगम्य जिघृक्षतः।
लुब्धकस्योद्धृततृणा हंसी सा तस्य पश्यतः॥१३६॥
तत्तृणान्तर्निकृत्ताया मृतसञ्जीवनौषधेः।
रसेन जीवितं प्राप्य खमुत्पत्य ततो ययौ॥१३७॥
तावत्स हंसस्तद्भर्त्ता गत्वैकस्मिन्सरस्तटे।
मूढोऽपतद्धंसयूथे पश्यंस्तामेव तन्मनाः॥१३८॥
तत्क्षणं धीवरः कोऽपि क्षिप्त्वा जालं निबध्य तान्।
हंसान्सर्वानुपाविक्षदाहारार्थं किल क्षणात्॥१३९॥
तावच्चागत्य तत्रैव सा हंसी चिन्वती पतिम्।
ददर्श जालबद्धं तं दिशश्चार्त्ता व्यलोकयत्॥१४०॥
ततः स्नातुं प्रवृत्तेन केनाप्यत्र सरस्तटे।
पुंसां वस्त्रोपरि न्यस्तामपश्यद्रत्नकण्ठिकाम्॥१४१॥
गत्वा चापश्यतस्तस्य तां गृहीत्वैव कण्ठिकाम्।
दाशाय दर्शयन्ती सा तस्मै व्योम्ना शनैर्ययौ॥१४२॥
दाशोऽपि सोऽन्वधावत्तां दृष्ट्वा चञ्चवात्तकण्ठिकाम्।
हंसी गृहीतलगुडः पक्षिजालं विहाय तत्॥१४३॥
हंसी च गत्वा शैलाग्रे दूरे तां कण्ठिकां न्यधात्।
धीवरोऽपि स तल्लोभात्तत्रारोढुं प्रचक्रमे॥१४४॥
तद्दृष्ट्वा सा द्रुतं गत्वा हंसी पत्युः समीपगे।
बद्धस्य वृक्षे संगुप्तं कपिं चञ्च्वाक्षण्यताडयत्॥१४५॥

'यह हंसों के मानस-सरोवर-निवास का समय है', ऐसा जानकर काम से पीड़ित वह हंस उसी ओर चला। मार्ग में उसे एक दूसरी हंसी मिली, जिसने उसे आशा बँधाई ॥१३१॥

मानस-सरोवर में उसे अपनी हंसी मिल गई। वहीं बरसात बिताकर वह उसके साथ विहार करने के लिए, एक पर्वत-शिखर पर चला गया ॥१३२॥

वहाँ किसी शिकारी ने उस हंसी को मार डाला, जिसे देख भय और शोक से विकल होकर हंस वहाँ से उड़ गया ॥१३३॥

शिकारी ने जब उस मरी हुई हंसी को जाकर उठाया, तब बहुत-से हथियारबन्द लोगों को दूर के रास्ते से आते हुए देखा ॥१३४॥

उन लोगों को देखकर, इस डर से कि कहीं वे उससे हंसी को छीन न लें, उसने जल्दी छुरी से घास काटी और उससे जमीन पर उसे ढक दिया ॥१३५॥

उन लोगों के चले जाने पर, शिकारी उस हंसी को लेने गया। लेकिन शिकारी ने जो घास काटकर हंसी पर डाली थी, उसमें मृतसंजीवनी ओषधि थी, जिसके रस से जीवित होकर वह हंसी शिकारी के देखते-देखते अपने ऊपर की घास हटाकर आकाश में उड़ी और वहाँ से चली गई ॥१३६-१३७॥

इस बीच उसका पति वह हंस एक सरोवर के तट पर गया और अपनी हंसी की वह दशा देखकर दुःखपूर्वक उसी की बात सोचता हुआ, हंसों के समूह में जा मिला ॥१३८॥

उसी समय एक धीवर ने जाल डालकर, उन सभी हंसों को फंसा लिया और थोड़ी देर के लिए भोजन करने बैठा ॥१३९॥

इतने में अपने पति को ढूँढ़ती हुई हंसी वहाँ आई। अपने पति को जाल में फँसा हुआ देख, विकल होकर वह चारों ओर देखने लगी ॥१४०॥

स्नान करने के लिए सरोवर में उतरे हुए किसी आदमी ने, तट पर रखे अपने कपड़ों के ऊपर रत्नों की एक माला रख दी थी। हंसी ने उसे देखा ॥१४१॥

हंसी ने जाकर रत्नों की वह माला इस तरह उठा ली कि वह मनुष्य उसे नहीं देख सका। फिर, वह उस माला को धीवर को दिखाती हुई धीरे-धीरे आकाश में उड़ने लगी ॥१४२॥

धीवर ने जब चोंच में माला लेकर उड़ती हुई हंसी को देखा, तब वह पक्षियों के जाल को छोड़, हाथ में डण्डा लेकर, उसके पीछे-पीछे दौड़ा ॥१४३॥

हंसी ने बहुत दूर, पर्वत के एक शिखर पर, उस माला को रख दिया। धीवर भी उसके लोभ से पर्वत पर चढ़ने लगा ॥१४४॥

यह देखकर हंसी झटपट वहाँ गई, जहाँ उसका पति जाल में फँसा हुआ था। उसने पास ही के वृक्ष पर सोये हुए एक बन्दर की आँख में अपनी चोंच से ठोकर मारी ॥१४५॥

स कपिस्ताडितस्त्रस्तः पतित्वोपर्यपाटयत् ।
जालं तत्तेन निर्जग्मुर्हंसाः सर्वेऽपि ते ततः ॥१४६॥
अथ तौ सङ्गतावुक्तस्ववृत्तान्तौ परस्परम् ।
हंसौ भार्यापती हृष्टौ यथाकामं विजह्रतुः ॥१४७॥
दाशं तं चागतं प्राप्तकण्ठिकं पक्षिलोभतः ।
लेभेऽत्र स पुमांश्चिन्वन्हृता सा यस्य कण्ठिका ॥१४८॥
स भीतिसूचितस्यास्य हस्तात्सम्प्राप्य कण्ठिकाम् ।
दाशस्य दक्षिणं पाणिं पुमांश्छुरिकयाच्छिनत् ॥१४९॥
तौ चापि जातु हंसौ द्वौ छत्रीकृत्यैकमम्बुजम् ।
मध्याह्नकाले सरसः प्रोत्थाय व्योम्नि चेरतुः ॥१५०॥
क्षणाच्च नद्याः कस्याश्चित्खगौ तौ तीरमापतुः ।
मुनिनाध्यासितं केनाप्यर्चाव्यग्रेण धूर्जटेः ॥१५१॥
तत्र व्याधेन केनापि यान्तौ तौ सह दम्पती ।
हतावेकेन युगपच्छरेण भुवि पेपतुः ॥१५२॥
आतपत्राम्बुजं तच्च तदीयमपतत्तदा ।
मुनेरर्चयतस्तस्य शिवलिङ्गस्य मूर्धनि ॥१५३॥
ततो व्याधः स दृष्ट्वा तौ हंसं स्वीकृत्य हंसिकाम् ।
तां ददौ मुनये तस्मै सोऽप्यानर्च शिवं तया ॥१५४॥
तल्लिङ्गमूर्ध्नि स्रस्तस्य तस्याब्जस्य प्रभावतः ।
स पुष्कराक्ष हंसस्त्वं जातो राजान्वयेऽधुना ॥१५५॥
हंसी च सैषा विनयवती विद्याधरान्वये ।
जाता विशेषतो ह्यस्या मांसैरभ्यर्चितो हरः ॥१५६॥
इत्थं ते पूर्वभार्यासावित्युक्तो विजितासुना ।
मुनिना पुष्कराक्षः स राजा तं पुनरब्रवीत् ॥१५७॥
कथमग्निप्रवेशस्य तस्याघौघविघातिनः ॥
पक्षियोनावभूज्जन्म भगवन्फलमावयोः ॥१५८॥
इत्युक्तवन्तं राजानं तं स प्रत्यब्रवीन्मुनिः ।
यद्भावितात्मा म्रियते जन्तुस्तद्रूपमश्नुते ॥१५९॥
तथा ह्युज्जयिनीपुर्यां नैष्ठिकी ब्रह्मचारिणी ।
लावण्यमञ्जरी नाम कुमारी ब्राह्मणी पुरा ॥१६०॥

चोट लगने से तिलमिलाये हुए उस बन्दर ने, झपटकर उस जाल को उखाड़ फेंका, जिससे ये सभी हंस निकल भागे ॥१४६॥

हंस का वह जोड़ा जब परस्पर मिला, तब एक ने दूसरे को अपना वृत्तान्त सुनाया और फिर प्रसन्नतापूर्वक इच्छानुसार यहाँ-वहाँ विहार करने लगा ॥१४७॥

रत्नों की माला पाकर धीवर भी पक्षियों के लोभ से फिर वहाँ आया, जहाँ वह मनुष्य खोई हुई माला को ढूँढ़ रहा था ॥१४८॥

धीवर की घबराहट से उस मनुष्य ने सारी बात ताड़ ली और उसके हाथ से माला ले ली। अनन्तर, उसने अपनी छुरी से उस धीवर का दाहिना हाथ काट डाला ॥१४९॥

एक बार, मध्याह्न काल में वे दोनों हंस, एक कमल की छतरी बनाकर, सरोवर से उड़े और आकाश में विचरण करने लगे ॥१५०॥

शीघ्र ही वे दोनों हंस, एक नदी के तट पर पहुँचे, जहाँ एक मुनि भगवान् शिव की आराधना में लीन थे ॥१५१॥

उड़ते हुए उन दोनों हंसों को, किसी व्याध ने एक बाण मारकर, साथ ही भूमि पर गिरा दिया ॥१५२॥

हंसों ने छतरी के रूप में जो कमल ओढ़ रखा था, वह पूजा करते हुए मुनि के शिवलिंग के ऊपर जा गिरा ॥१५३॥

व्याध ने उन्हें देखकर हंस को तो स्वयं रख लिया और हंसी को उन्हीं मुनि को दे दिया। मुनि ने उसको शिवजी पर चढ़ा दिया ॥१५४॥

हे पुष्कराक्ष! तुम वही हंस हो, जो शिवलिंग पर गिरे उस कमल के प्रभाव से, अब राजवंश में उत्पन्न हुए हो ॥१५५॥

और, वह हंसी ही यह विनयवती है, जो विद्याधरों के कुल में उत्पन्न हुई है; क्योंकि उसके मांस से शिवजी की विशेष रूप से पूजा की गई थी ॥१५६॥

इस प्रकार, यह तुम्हारे पूर्वजन्म की पत्नी है। मुनि विजितासु ने जब ऐसा कहा, तब राजा पुष्कराक्ष ने फिर उनसे पूछा—॥१५७॥

"भगवन्! जब हम दोनों ने समस्त पापों को नष्ट करनेवाली अग्नि में प्रवेश कर लिया था, तब फिर हमें पक्षियोनि में जन्म पाने का फल कैसे मिला?"॥१५८॥

राजा के ऐसा पूछने पर, मुनि ने उनसे फिर कहा—मरते समय मनुष्य की जैसी भावना रहती है, अगले जन्म में वह वही रूप पाता है—॥१५९॥

उज्जयिनी नाम की नगरी में, प्राचीन काल में, निष्ठा रखने और ब्रह्मचर्य पालन करनेवाली लावण्यमंजरी नाम की एक ब्राह्मण-कुमारी रहती थी ॥१६०॥

युवानं ब्राह्मणं दृष्ट्वा कमलोदयसंज्ञकम्।
सहसा तद्गतस्वान्ता दह्यमाना स्मराग्निना ॥१६१॥
अमुञ्चन्ती स्वनियमं तद्भोगध्यानभाविता।
गत्वा गन्धवतीतीरं तीर्थे तत्याज जीवितम् ॥१६२॥
तया भावनया किं न जाताभूद्भोगसङ्गिनी।
नगर्यामिकलव्यायां वेश्या रूपवतीति सा ॥१६३॥
तीर्थव्रतप्रभावाच्च सैव जातिस्मरा सती।
प्रसङ्गाच्चोडकर्णाय जापकाय द्विजन्मने ॥१६४॥
स्वपूर्वजन्मवृत्तान्तरहस्यं तदवर्णयत्।
जपकर्मैकचित्तत्वे कुर्वाणस्यानुशासनम् ॥१६५॥
अन्ते च शुद्धसङ्कल्पा ययौ वेश्यापि सद्गतिम्।
तद्राजन्योऽत्र यच्चित्तस्तन्मयत्वमुपैति सः ॥१६६॥
एवमुक्त्वा स राजानं स्नानाय विससर्ज तम्।
मुनिर्मध्याह्नसवनं स्वयं च निरवर्त्तयत् ॥१६७॥
राजा स पुष्कराक्षोऽपि गतो वननदीतटम्।
तां ददर्शात्र विनयवतीं पुष्पाणि चिन्वतीम् ॥१६८॥
भासमानां स्ववपुषा प्रभामिव विवस्वतः।
अदृष्टपूर्वं गहनं प्रविष्टां कौतुकाद्वनम् ॥१६९॥
केयं स्यादिति यावच्च स चिन्तयति सोत्सुकः।
तावत्कथां निषण्णा सा विस्रब्धामवदत्सखीम् ॥१७०॥
सखि विद्याधरो यो मां हर्त्तुमैच्छत्पुरा स मे।
आगत्य शापमुक्तोऽद्य भर्त्तृप्राप्तिमिहोक्तवान् ॥१७१॥
तच्छ्रुत्वा प्रत्यवोचत्तां सा सखी मुनिकन्यकाम्।
अस्त्येतन्मयि शृण्वत्यां मुञ्जकेशोऽद्य हि प्रगे ॥१७२॥
इत्थमुक्तो निजः शिष्यो मुनिना विजितासुना।
गच्छ तारावलीरङ्कुसालिनावानय द्रुतम् ॥१७३॥
कामं विनयवत्या हि वत्सेह दुहितुस्तयोः।
राज्ञश्च पुष्कराक्षस्य विवाहोऽद्य भविष्यति ॥१७४॥
इत्युक्तो गुरुणा मुञ्जकेशो यातस्तथेति सः।
अत एह्याश्रमपदं गच्छावः सखि सम्प्रति ॥१७५॥

एक बार कमलोदय नामक एक तरुण ब्राह्मण को देखकर वह उसपर अनुरक्त हो गई और काम की ज्वाला में जलने लगी॥१६१॥

फिर भी, उसने अपने नियम नहीं छोड़े, और उस तरुण के प्रेम के ध्यान में डूबी हुई गन्धवती नदी के तट पर जाकर, उसने उस तीर्थ में अपना शरीर छोड़ दिया॥१६२॥

मरते समय उसका चित्त विषय-वासना में लगा हुआ था, इसलिए वह एकलव्या नगरी में रूपवती नाम की वेश्या हुई॥१६३॥

तीर्थों और व्रतों के प्रभाव से, उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण रह गया था। प्रसंगवश उसने मन्त्रों का जप करनेवाले चोडकर्ण नामक एक ब्राह्मण से अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त का रहस्य कह सुनाया। उस ब्राह्मण ने उसे मन लगाकर जप करने की सलाह दी॥१६४-१६५॥

अन्त में, वेश्या होने पर भी, पवित्र संकल्पोंवाली होने के कारण, उसे सद्गति मिली। अतः, हे राजन्! जिसका चित्त जिसमें लगा रहता है, वह उसी के अनुरूप फल पाता है॥१६६॥

ऐसा कहकर उन मुनि ने राजा को स्नानादि करने को कहा और स्वयं उन्होंने भी मध्याह्न के कृत्य पूरे किये॥१६७॥

वननदी के तट पर जाकर राजा पुष्कराक्ष ने फूल चुनती हुई विनयवती को देखा॥१६८॥

जिसको पहले नहीं देखा था, ऐसे घने वन में कौतुक से आई हुई विनयवती का शरीर सूर्य की प्रभा के समान दमक रहा था॥१६९॥

जबतक पुष्कराक्ष ने उत्सुक होकर सोचा कि 'यह कौन है?' तबतक अपनी विश्वासिनी सखी के साथ बातचीत में लगी विनयवती ने उससे कहा—॥१७०॥

"सखी! जिस विद्याधर ने पहले बलपूर्वक मेरा हरण करना चाहा था, आज वह शाप से मुक्त होकर आया था, उसने कहा है कि आज मुझे पति की प्राप्ति होगी॥१७१॥

यह सुनकर उसकी सखी ने उस मुनिकन्या से कहा—तुम ठीक कहती हो। आज सबेरे मुनि विजितासु ने, मेरे सामने ही, अपने शिष्य मंजुकेश से कहा था—"जाओ और जल्दी ही तारावली और रंकुमाली को बुला लाओ; क्योंकि आज निश्चय ही उनकी कन्या विनयवती का विवाह राजा पुष्कराक्ष से होगा॥१७२—१७४॥

गुरु के ऐसा कहने पर, 'जो आज्ञा' कहकर मंजुकेश वहाँ से चला गया। अतः सखी! अब हम भी आश्रम में चलें॥१७५॥

एवं तयोक्ते विनयवती साथ ततो ययौ।
पुष्कराक्षश्च शुश्राव स तद्दूरादलक्षितः ॥१७६॥
ज्वलत्कामाग्निसन्तापादिव नद्यां निमज्ज्य च।
जगाम विजितासोस्तमाश्रमं स पुनर्नृपः ॥१७७॥
तत्र तारवलीरङ्कमालिनौ तौ समागतौ।
आनर्चतुस्तं प्रणतं परिवव्रुश्च तापसाः ॥१७८॥
ततो वेद्यां स्वतेजोभिर्भासितायां महर्षिणा।
द्वितीयेनेव मूर्त्तेन वह्निना विजितासुना ॥१७९॥
तस्मै स राज्ञे विनयवतीं तां प्रत्यपादयत्।
रङ्कमाली ददौ चास्मै रथं दिव्यं नभश्चरम् ॥१८०॥
चतुःसमुद्रां पृथिवीं प्रशाधि सममेतया।
इत्येतस्मै वरं चादाद्विजितासुर्महामुनिः ॥१८१॥
अथैष तदनुज्ञया नववधूमुपादाय तां।
नृपो गगनगामिनं तमधिरुह्य दिव्यं रथम्।
विलङ्घ्य च पयोनिधिं सपदि पुष्कराक्षस्ततो।
जगाम नगरीं निजां प्रकृतिनेत्रचन्द्रोदयः ॥१८२॥
तत्र च जित्वा पृथिवीं रथप्रभावादवाप्तसाम्राज्यः।
आस्ते स्म विनयवत्या सहितो भोगांश्चिराय भुञ्जानः ॥१८३॥
इत्थं सुदुष्करमपि स्वरसेन कार्यं
सिद्ध्यत्यनुग्रहवतीष्विह देवतासु।
तत्स्वप्नदृष्टगिरिजादयितप्रसादा-
त्सेत्स्यत्यभीष्टमचिरेण तवापि देव ॥१८४॥

एतां निशम्य स विचित्रकथाममात्या-
दौत्सुक्यवानधिगमाय शशाङ्कवत्याः।
राजात्मजः स्वसचिवैः सममुज्जयिन्यां
बुद्धिं बबन्ध गमनाय मृगाङ्कदत्तः ॥१८५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके
द्वितीयस्तरङ्गः।

उसके ऐसा कहने पर विनयवती वहाँ से चल पड़ी। छिपकर दूर खड़े पुष्कराक्ष ने सारी बातें सुन लीं॥१७६॥

कामाग्नि की ज्वाला में जलते हुए-से राजा ने नदी में स्नान किया और फिर वह विजितासु मुनि के आश्रम में आया॥१७७॥

वहाँ तारावली और रंकुमाली आ पहुँचे थे। पुष्कराक्ष के प्रणाम करने पर उन दोनों ने उसकी अभ्यर्थना की और मुनियों ने उसे चारों ओर से घेर लिया॥१७८॥

अनन्तर, मूर्त्तिमान् द्वितीय अग्नि के समान महर्षि विजितासु के तेज से भासित वेदी पर, रंकुमाली ने अपनी कन्या विनयवती राजा पुष्कराक्ष को दे दी। उसने आकाशगामी एक उत्तम रथ भी उसे दिया॥१७९-१८०॥

महामुनि विजितासु ने भी राजा को यह वर दिया कि तुम इस कन्या के साथ, चार समुद्रोंवाली पृथ्वी का शासन करो॥१८१॥

अनन्तर, उनकी आज्ञा से, नववधू को साथ लेकर, पुष्कराक्ष उस गगनगामी दिव्य रथ पर सवार हुआ और समुद्र को लाँघकर, अपनी प्रजा की आँखों के लिए चन्द्रोदय के समान शीघ्र ही अपनी नगरी में आया॥१८२॥

उसके बाद, उस रथ के प्रभाव से, पुष्कराक्ष ने पृथ्वी को जीतकर साम्राज्य स्थापित किया और विनयवती के साथ, बहुत दिनों तक, वैभव का भोग करता रहा॥१८३॥

महाराज! इसी प्रकार, काम चाहे जितना भी कठिन हो, दैव की अनुकूलता होने पर वह अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है। अतः, स्वप्नदृष्ट भगवान् शंकर की कृपा से आपका मनोरथ भी शीघ्र ही पूरा होगा॥१८४॥

राजपुत्र शशांकदत्त ने जब अपने मन्त्री से यह विचित्र कथा सुनी, तब वह शशांकवती से मिलने के लिए बहुत उत्सुक हो उठा और उसने अपने मन्त्रियों के साथ उज्जयिनी जाने का निश्चय कर लिया॥१८५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के द्वादश लम्बक का
द्वितीय तरंग समाप्त।

तृतीयस्तरङ्गः

मृगाङ्कदत्तस्योज्जयिनीगमनम्

एवं मृगाङ्कदत्तोऽत्र कर्मसेननृपात्मजाम्।
तां शशाङ्कवतीं प्राप्तुकामो वेतालवर्णिताम् ॥१॥

गन्तुमुज्जयिनीं गुप्तं स्वनगर्या विनिर्गमम्।
महाव्रतिकवेषेण सोऽमन्त्रयत मन्त्रिभिः ॥२॥

आदिदेश च खट्वाङ्गकपालादिसमाहृतौ।
स राजपुत्रः सचिवं स्वैरं भीमपराक्रमम् ॥३॥

तेन तच्चाहृतं स्वस्मिन् गृहे चारादबुध्यत।
मृगाङ्कदत्तस्य पितुर्मन्त्री मुख्योऽत्र भूपतेः ॥४॥

तत्कालं चाऽत्र सोऽकस्मात् सञ्चरन् हर्म्यपृष्ठतः।
मृगाङ्कदत्तस्ताम्बूलनिष्ठीवनरसं जहौ ॥५॥

स च तस्यापतन्मूर्ध्नि दैवात्तत्पितृमन्त्रिणः।
अदृष्टस्य किलाधस्तात् तेन मार्गेण गच्छतः ॥६॥

बुद्ध्वा मृगाङ्कदत्तेन मुक्तं निष्ठीवनं स तत्।
मन्त्री परिभवक्रोधं कृतस्नानो हृदि न्यधात् ॥७॥

अथाऽत्राऽमरदत्तस्य राज्ञो दैवाद्विषूचिका।
मृगाङ्कदत्तजनकस्यान्येद्युरुदपद्यत ॥८॥

ततः सोऽवसरं लब्ध्वा मन्त्री तं विजने नृपम्।
सहसोद्भूतरोगार्त्तमवदद्याचिताभयः ॥९॥

अभिचारः प्रभो भीमपराक्रमगृहे तव।
मृगाङ्कदत्तेनारब्धः कर्त्तुं तेनासि पीडितः ॥१०॥

मया चारमुखाज्ज्ञातं प्रत्यक्षं तच्च दृश्यते।
तन्निराकुरु देशात्तं देहाद्व्याधिमिवात्मजम् ॥११॥

तच्छ्रुत्वा स समुद्भ्रान्तः प्राहिणोत्तदवेक्षणे।
निजं सेनापतिं भीमपराक्रमगृहं नृपः ॥१२॥

स च केशकपालादि लब्ध्वा सेनापतिस्ततः।
आनीय तत्क्षणं तस्मै राज्ञे साक्षाददर्शयत् ॥१३॥

तृतीय तरंग

मृगांकदत्त का उज्जयिनी-गमन

वेताल के द्वारा वर्णित, राजा कर्मसेन की कन्या शशांकवती को पाने की इच्छा से, मृगांकदत्त ने अपने मन्त्रियों से साथ सलाह की कि वे सभी महाव्रतियों (ब्रह्मचारियों) के वेश में अपने नगर से गुप्त रूप से बाहर निकलकर उज्जयिनी जायँ॥१-२॥

तब राजकुमार ने अपने मन्त्री भीमपराक्रम को आज्ञा दी कि वह खाट के पावे और नरमुण्ड आदि इकट्ठा करे॥३॥

मृगांकदत्त के पिता के मुख्यमन्त्री ने, गुप्तचर के द्वारा, यह संवाद पा लिया कि भीमपराक्रम ने ये चीजें अपने घर में ला रखी हैं॥४॥

अपने महल की छत पर टहलते हुए मृगांकदत्त ने अचानक पान की पीक फेंकी॥५॥

संयोग से, उसी समय उसके पिता का मन्त्री, उसी महल के नीचे से जा रहा था, जिसे मृगांकदत्त ने नहीं देखा था, पान की पीक उसी मन्त्री के माथे पर गिर पड़ी॥६॥

यह जानकर कि पान की पीक मृगांकदत्त ने फेंकी है, मन्त्री ने स्नान किया, लेकिन राजकुमार से नीचा देखने का क्रोध उसके हृदय में घर कर गया॥७॥

संयोग से, अगले दिन मृगांकदत्त के पिता राजा अमरदत्त को हैजा हो गया॥८॥

अवसर पाकर, इस आकस्मिक रोग से पीडित राजा से अभय-वचन माँगकर, मन्त्री ने एकान्त में उनसे कहा—॥९॥

"प्रभो! राजकुमार मृगांकदत्त ने भीमपराक्रम के घर में अभिचार (मारण-मन्त्र का प्रयोग) आरम्भ किया है। इसी से आप बीमार पड़े हैं॥१०॥

यह बात मुझे गुप्तचर के द्वारा मालूम हुई है और उसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही दीख रहा है, अतः जैसे शरीर से व्याधि को दूर किया जाता है, वैसे ही आप अपने पुत्र को देश से निकाल दें"॥११॥

यह सुनकर राजा घबरा गया। इस बात की जाँच के लिए उसने अपने सेनापति को भीमपराक्रम के घर भेजा॥१२॥

वहाँ जाकर सेनापति ने केश, खोपड़ी आदि चीजें पाईं और उन्हें लाकर उसी समय राजा को साक्षात् दिखला दिया॥१३॥

राज्यलुब्धः स पुत्रो मे द्रोही निर्वास्यतामितः।
नगर्याः सहितोऽमात्यैस्त्वयाद्यैवाविलम्बितम् ॥१४॥
इत्यादिशत् स तं क्रुद्धो राजा सेनापतिं ततः।
आश्वस्तो वेत्ति कुसृतिं प्रभुः को हि स्वमन्त्रिणाम् ॥१५॥
सोऽथ सेनापतिर्गत्वा राजादेशं निवेद्य तम्।
मृगाङ्कदत्तं सामात्यं नगर्या निरकालयत् ॥१६॥
सोऽप्यपेक्षितसम्पत्तिर्हृष्टोऽर्चितविनायकः ।
मृगाङ्कदत्तो मनसा प्रणम्य पितरौ ततः ॥१७॥
अयोध्यातो विनिर्गत्य दूरं तान् सहयायिनः।
प्रचण्डशक्तिप्रमुखान् उवाच दश मन्त्रिणः ॥१८॥
शक्तिरक्षितनामास्ति किराताधिपतिर्महान्।
सब्रह्मचारी विद्यासु स च वाल्यसुहृन्मम ॥१९॥
युद्धवन्दीकृतेन प्राक् स हि पित्रात्ममुक्तये।
नियमाय प्रतिनिधिस्तातस्येह समर्प्यत ॥२०॥
मृते पितरि चोद्भूतगोत्रजः स्ववलेन सः।
मद्विज्ञप्तेन तातेन पित्र्ये राज्येऽधिरोपितः ॥२१॥
तत्तस्य निकटं तावद्गच्छामः सुहृदस्ततः।
क्रमेणोज्जयिनीं यामस्तां शशाङ्कवतीं प्रति ॥२२॥
इत्युक्तवांस्तथेत्युक्तवद्भिस्तैः सचिवैः सह।
प्रययौ स ततः प्राप सायं चैकां महाटवीम् ॥२३॥
तस्यां निर्वृक्षतोयायां कृच्छ्रादेकमवाप सः।
तीरोपान्तप्ररूढैकशुष्कपादपकं सरः ॥२४॥
तस्मिन् सान्ध्यमनुष्ठाय विधिं पीत्वा जलानि सः।
श्रान्तः सुष्वाप सामात्यस्तस्य शुष्कतरोरधः ॥२५॥
रात्रौ च चन्द्रशुभ्रायां प्रबुद्धः स ददर्श तम्।
शुष्कवृक्षं दलैः पुष्पैः फलैश्चापूरितं क्रमात् ॥२६॥
पक्वानि च फलान्यस्य पतन्त्यालोक्य तत्क्षणम्।
प्रबोध्य दर्शयामास सचिवेभ्यस्तदद्भुतम् ॥२७॥
ततस्तैर्विस्मयाविष्टैः क्षुधितैः सह तानि सः।
फलानि तस्य सुस्वादुरसानि बुभुजे तरोः ॥२८॥

राजा ने क्रुद्ध होकर सेनापति को आदेश दिया कि राज्य के लोभ से मेरा यह पुत्र विद्रोही हो गया है, अतः मन्त्रियों के सहित अविलम्ब उसे नगरी से निर्वासित कर दो। मन्त्रियों पर विश्वास रहनेवाला कौन राजा अपने मन्त्रियों के दुष्कृत्य जान सकता है॥१४-१५॥

उस सेनापति ने जाकर मृगांकदत्त को राजाज्ञा सुनाई और मन्त्रियों के साथ उसे नगर से निकाल दिया॥१६॥

मुँहमाँगी मुराद मिलने के कारण मृगांकदत्त ने प्रसन्न होकर गणेशजी की पूजा की और मन-ही-मन माता-पिता को प्रणाम किया॥१७॥

अयोध्या से कुछ दूर चले जाने के बाद, मृगांकदत्त ने, साथ जानेवाले प्रचण्डशक्ति प्रभृति अपने दस मन्त्रियों से कहा—॥१८॥

"यहाँ शक्तिरक्षित नामक किरातों का बहुत बड़ा राजा रहता है। वह ब्रह्मचारी है, विद्याओं का ज्ञाता है और मेरा बाल-सखा है। बहुत पहले जब उसका पिता युद्ध में बन्दी बना लिया गया था, तब उसने अपने छुटकारे के लिए अपनी एवज में शक्तिरक्षित को मेरे पिता के हाथों सौंप दिया था॥१९-२०॥

पिता की मृत्यु के बाद उसके कुल के लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए, फिर मेरे कहने पर पिताजी ने, अपनी सेना की सहायता से उसे राजपद पर बैठाया॥२१॥

इसलिए, अब हम लोग अपने उस मित्र के पास चलें––क्रमशः फिर हम शशांकवती के लिए उज्जयिनी जायेंगे"॥२२॥

ऐसा कहने पर उसके सभी मन्त्रियों ने कहा कि 'ऐसा ही करें'। तब उन सभी के साथ चलकर वह सन्ध्या के समय एक बहुत बड़े मैदान में पहुँचा॥२३॥

वहाँ न तो वृक्ष थे, न जल ही था। बड़ी कठिनाई से उन्हें एक सरोवर मिला, जिसके तट पर एक सूखा-सा पेड़ खड़ा था॥२४॥

वहीं उसने सन्ध्या-वन्दन किया, जल पिया, और थके होने के कारण, मन्त्रियों के साथ उस सूखे वृक्ष के नीचे सो गया॥२५॥

चाँदनी रात में जगने पर उसने देखा कि वह सूखा वृक्ष क्रमशः पत्तों, फूलों और फलों से भर गया है॥२६॥

उसके पके हुए फलों को नीचे गिरता देख राजकुमार ने अपने मन्त्रियों को जगाकर उन्हें भी यह अद्भुत दृश्य दिखलाया॥२७॥

अनन्तर, अचरज में पड़े और भूखे उन मन्त्रियों के साथ उसने उस वृक्ष के स्वादिष्ठ फलों को खाया॥२८॥

भुक्तवत्सु च तेष्वत्र पश्यत्स्वेवाखिलेषु सः।
शुष्कवृक्षः क्षणाद्विप्रकुमारः समपद्यत ॥२९॥

श्रुतधिकथा

पृष्टो मृगाङ्कदत्तेन विस्मितेनाथ सोऽब्रवीत्।
दमधिर्नाम कोऽप्यासीदयोध्यायां द्विजोत्तमः ॥३०॥
तस्याहं श्रुतधिर्नाम पुत्रः स च मया सह।
दुर्भिक्षे मृतजानिः सन् भ्रमन् प्रापदिमां भुवम् ॥३१॥
इह केनापि दत्तानि प्राप्य पञ्च फलानि सः।
क्षुत्क्षामस्त्रीणि मे प्रादाद् द्वे चास्थापयदात्मने ॥३२॥
ततः स्नातुं सरस्तोयं गते तस्मिन् फलान्यहम्।
तानीह भुक्त्वा निःशेषाण्यकार्षं व्याज सुप्तकम् ॥३३॥
सोऽथ स्नात्वागतो बुद्ध्वा छद्मतः काष्ठवत्स्थितम्।
मां शप्तवान् भवेहैव शुष्कवृक्षः सरस्तटे ॥३४॥
रात्रौ च ते पुष्पफलं चन्द्रवत्यां भविष्यति।
तर्पयित्वातिथीञ्जातु फलैः शापाद्विमोक्ष्यसे ॥३५॥
इति पित्राभिशप्तोऽहं सद्यः शुष्कद्रुमोऽभवम्।
युष्मद्भुक्तफलश्चाद्य चिरान्मुक्तोऽस्मि शापतः ॥३६॥
इत्युक्त निजवृत्तान्तं पृच्छन्तं श्रुतधिं ततः।
मृगाङ्कदत्तोऽपि स तं स्ववृत्तान्तमबोधयत् ॥३७॥
ततः सोऽबान्धवो नीतावधीती श्रुतधिर्द्विजः।
मृगाङ्कदत्ताद्वृतवान् वरं तदनुयायिताम् ॥३८॥
ततो नीत्वा निशां प्रातस्तेन श्रुतधिना सह।
मृगाङ्कदत्तः स ततः प्रतस्थे सचिवान्वितः ॥३९॥
गच्छंश्च स प्राप्य वनं करिमण्डितसंज्ञकम्।
ददर्श पुरुषान् पञ्च भूरिकेशान् दुराकृतीन् ॥४०॥
उपेत्य प्रश्रयात्ते च तमूचुर्जातविस्मयम्।
काशिपुर्यां वयं जाता विप्रा धेनूपजीविनः ॥४१॥
तेऽवग्रहप्लुष्टतृणात्ततो देशादिदं वनम्।
आगताः स्मो बहुतृणं दुर्भिक्षे सह धेनुभिः ॥४२॥

ज्योंही उन्होंने फल खाये, त्योंही उनके देखते-ही-देखते, पल-भर में वह सूखा वृक्ष एक ब्राह्मणकुमार बन गया ॥२९॥

श्रुतधि की कथा

विस्मित मृगांकदत्त के पूछने पर उसने कहा—अयोध्या में दमधि नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे ॥३०॥

मैं श्रुतधि नाम का उन्हीं का पुत्र हूँ। अकाल में मेरे साथ भटकते हुए, वे मृतप्राय होकर इस स्थान पर पहुँचे ॥३१॥

क्षुधा से दुर्बल हुए मेरे पिता को किसी ने पाँच फल दिये थे। उनमें से तीन उन्होंने मुझे दिये और दो अपने लिए रख लिये ॥३२॥

अनन्तर, जब तालाब के जल में स्नान करने गये, तब मैंने उन सभी फलों को खा लिया और नींद का बहाना बनाकर पड़ रहा ॥३३॥

वे जब स्नान करके आये और मुझे बहाने से लकड़ी की तरह पड़ा देखा, तब सारी बातें समझ गये। उन्होंने मुझे शाप दिया कि तुम इसी तालाब के तट पर सूखे वृक्ष बन जाओ ॥३४॥

चाँदनी रात में तुममें फूल और फल लगेंगे। उस समय अपने फलों से जब तुम अतिथियों को तृप्त करोगे, तब शाप से छुटकारा पा सकोगे ॥३५॥

इस प्रकार, पिता के शाप से मैं शीघ्र ही सूखा हुआ वृक्ष बन गया। बहुत दिनों के बाद, आज जब आपलोगों ने मेरा फल खाया है, तब मैं शाप से मुक्त हुआ हूँ ॥३६॥

इस प्रकार, अपना वृत्तान्त सुना देने के पश्चात् श्रुतधि ने मृगांकदत्त के बारे में पूछा। तब उसने भी अपना सारा हाल कह सुनाया ॥३७॥

नीति-निपुण और सगे-सम्बन्धियों से रहित उस ब्राह्मण श्रुतधि ने मृगांकदत्त से उनका अनुगमन करने का वर प्राप्त कर लिया ॥३८॥

अनन्तर, वह रात वहीं बिताकर, सवेरा होने पर मृगांकदत्त ने श्रुतधि को साथ लेकर अपने मन्त्रियों के साथ वहाँ से प्रस्थान किया ॥३९॥

चलते-चलते करिमण्डित नामक वन में पहुँचे। जहाँ उन्होंने घने केशों और भयानक आकृतिवाले पाँच पुरुषों को देखा ॥४०॥

विनयपूर्वक निकट आकर, आश्चर्य में पड़े हुए मृगांकदत्त से उन्होंने कहा—"हम काशीपुरी में जनमे हैं। गाएँ पालकर हम अपनी जीविका चलाते हैं ॥४१॥

अनावृष्टि के कारण वहाँ अकाल पड़ गया और घास-दूब तक जल गई। तब हम अपनी गायों के साथ वहाँ से बहुत घासवाले इस वन में चले आये हैं ॥४२॥

इह च प्राप्तमस्माभिर्वापीवारि रसायनम्।
तीररूढद्रुमभ्रश्यत्त्रिफलानित्यभावितम् ॥४३॥
पिबतां तत्सदास्माकमेषां क्षीरभुजां सताम्।
पञ्च वर्षशतान्यन्मिन् व्यतीतान्यजने वने ॥४४॥
तेनेदृशा वयं देव यूयं चातिथयोऽधुना।
अस्माभिर्दैवतः प्राप्तास्तदेतास्माकमाश्रमम् ॥४५॥
इति तैरर्थितो गत्वा सानुगः स तदाश्रमम्।
मृगाङ्कदत्तः क्षीरादिभोजी तदनयद्दिनम् ॥४६॥
प्रस्थितश्च ततः प्रातरन्यान्यपि विलोकयन्।
कौतुकानि स सम्प्राप किरातविषयं क्रमात् ॥४७॥
प्राहिणोच्छ्रुतधिं चाऽत्र स्वागमावेदनाय सः।
तं किरातपतिं मित्त्रं शक्तिरक्षितकं प्रति ॥४८॥
सोऽपि बुद्ध्वा किरातेशो निर्गत्याग्रे तमानतः।
मृगाङ्कदत्तं सामात्यं पुरं प्रावेशयन्निजम् ॥४९॥
ततस्तेनापचरितस्तस्थौ तत्र स कांश्चन।
मृगाङ्कदत्तो दिवसानुक्तागमनकारणः ॥५०॥
स्वकार्ये प्राप्तकालं च साहाय्ये शक्तिरक्षितम्।
स्थापयित्वाऽत्र सज्जं तमामन्त्र्य च नृपात्मजः ॥५१॥
प्रातिष्ठत स पुण्याहे पुनरुज्जयिनीं प्रति।
शशाङ्कवत्या हृतधीरात्मना द्वादशस्ततः ॥५२॥
गच्छंश्च सोऽटवीं प्राप्य शून्यां तरुतलस्थितम्।
तपस्विनं ददर्शैकं भस्माजिनजटाभृतम् ॥५३॥
निराश्रमपदेऽरण्ये किमेकाकीह तिष्ठसि।
भगवन्नित्युपागम्य स तं पप्रच्छ सानुगः ॥५४॥
सोऽथ तं तापसोऽवादीदहं शिष्यो महागुरोः।
शुद्धकीर्त्यभिधानस्य नानामन्त्रौघसिद्धिमान् ॥५५॥
सोऽहं कदाप्यकरवं स्वस्थावेशं प्रसङ्गतः।
शुभलक्षणमासाद्य कञ्चित् क्षत्रकुमारकम् ॥५६॥
स कुमारः समाविष्टः पृष्टो नानाविधानि मे।
सिद्धौषधिरसक्षेत्राण्युदीर्येदमथाब्रवीत् ॥५७॥

यहाँ आकर हमने एक बावली देखी, जिसका जल रसायन के समान था; क्योंकि उसके किनारे उगे त्रिफला के फल नित्य उस जल में गिरा करते थे।।४३।।

उस बावली का जल और गायों का दूध पीते हुए हमने इस निर्जन वन में पाँच सौ वर्ष बिता दिये हैं।।४४।।

देव! इसी से हम लोगों का रूप ऐसा हो गया है, किन्तु आज दैववशात् आप लोगों जैसे अतिथि आ गये हैं, अतः आप सभी हमारे आश्रम में चलें।।४५।।

उनका यह निवेदन सुनकर मृगांकदत्त अपने अनुगामियों के सहित उनके आश्रम में गये और दूध आदि का भोजन करके उन सभी ने वह दिन वहीं बिताया।।४६।।

अगले दिन सवेरे वहाँ से चलकर, अन्य अनेक कौतुकों को देखते हुए वे क्रमशः किरात की राजधानी में पहुँचे।।४७।।

अपने मित्र, भीलों के राजा शक्तिरक्षित के पास मृगांकदत्त ने अपने आगमन की सूचना देने के लिए श्रुतधि को भेजा।।४८।।

मृगांकदत्त के आने का संवाद पाकर किरातराज नगर के बाहर आया और आगे बढ़कर प्रणामपूर्वक उन्हें तथा उनके मन्त्रियों को अपने नगर में ले गया।।४९।।

मृगांकदत्त ने अपने आने का कारण बतलाया और किरातराज का स्वागत-सत्कार पाकर कुछ दिनों तक वह वहीं ठहर गये।।५०।।

मृगांकदत्त ने शक्तिरक्षित से परामर्श करके यह निश्चय कर लिया कि आवश्यकता पड़ने पर वह उनके काम में सहायता देगा।।५१।।

अनन्तर, मृगांकदत्त ने, जिसका हृदय शशांकवती ने चुरा लिया था, एक शुभ दिन में उज्जयिनी की ओर प्रस्थान किया। इस प्रकार, अपने मन्त्रियों और श्रुतधि के साथ उनकी संख्या बारह थी।।५२।।

जाते-जाते वे एक जनहीन वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने भस्म लगाये मृगचर्म पहने और जटा धारण किये हुए एक तपस्वी को एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए देखा।।५३।।

अपने अनुचरों के साथ उस तपस्वी के निकट जाकर मृगांकदत्त ने पूछा कि 'हे भगवन्! आश्रम-रहित इस वन में आप अकेले क्यों बैठे हैं?' ।।५४।।

उत्तर में उस तपस्वी ने कहा—अनेक मन्त्र-समूहों की सिद्धि पाये हुए शुद्धकीर्त्ति नामक महान् गुरु का मैं शिष्य हूँ।।५५।।

एक बार मुझे शुद्ध लक्षणोंवाला एक क्षत्रियकुमार मिला। प्रसंगवश मैंने उसके शरीर में अपना आवेश किया।।५६।।

आविष्ट होने के बाद मैंने उससे अनेक प्रकार के प्रश्न किये। उसने सिद्ध ओषधियों और रसों के स्थानों का पता बतलाने के बाद मुझसे यह कहा—।।५७।।

अस्तीहोत्तरदिग्भागे केवलः शिंशपातरुः।
विन्ध्याटव्यामधश्चास्य नागेन्द्रभवनं महत् ॥५८॥
तच्चार्द्रधूलिप्रच्छन्नजलं सदुपलक्ष्यते।
मध्याह्ने हंसमिथुनैः क्रीडद्भिः साम्बुसारसैः ॥५९॥
तत्र पारावताख्योऽस्ति नाम्ना नागवरो वली।
तस्य देवासुररणात् प्राप्तः खड्गोऽस्त्यनुत्तमः ॥६०॥
वैदूर्यकान्तिर्नाम्ना तं खड्गं प्राप्नोति यो नरः।
स सिद्धाधिपतिर्भूत्वा विचरत्यपराजितः ॥६१॥
स चासिः प्राप्यते वीरैः सहायैरित्युदीरिते।
तेनाविष्टेन तस्याहमथाकार्षं विसर्जनम् ॥६२॥
ततोऽन्यविमुखः खड्गं प्रेप्सुस्तं पृथिवीमहम्।
भ्रान्त्वा सहायानप्राप्य खिन्नो मर्त्तुमिहागतः ॥६३॥
एतन्मृगाङ्कदत्तोऽत्र श्रुत्वा तस्मात् स तापसात्।
अहं सहायः समात्यस्तवेति तमभाषत ॥६४॥
स चाभिनन्द्य तत्तेन सानुगेन समं ययौ।
तस्य नागस्य भवनं पादलेपेन तापसः ॥६५॥
तत्राभिज्ञानसम्प्राप्तं मन्त्रवद्धासु दिक्षु च।
रात्रौ मृगाङ्कदत्तादीन् स्थापयित्वाभिमन्त्रितैः ॥६६॥
सर्षपैः प्रकटीकृत्य क्षिप्तैस्तद्धूलितो जलम्।
स नागदमनैर्मन्त्रैर्होमं कर्त्तुं प्रचक्रमे ॥६७॥
विघ्नांश्चोत्पातमेघादीन् मन्त्रशक्त्या जिगाय सः।
ततोऽत्र निर्ययौ तस्माद्दिव्या स्त्री शिंशपातरोः ॥६८॥
मोहमन्त्रं पठन्तीव सा रत्नाभरणारवैः।
उपेत्य तं क्षणाच्चक्रे कटाक्षक्षतमानसम् ॥६९॥
हृतधैर्या च सा तस्य समालिङ्ग्य घनस्तनी।
हस्ताद्विस्मृतमन्त्रस्य होमभाण्डमपातयत् ॥७०॥
लब्धान्तरश्च तत्कालं स नागो भवनात्ततः।
पारावताख्यः कल्पान्तघनाघन इवोद्गात् ॥७१॥
तं दृष्ट्वा नयनज्वालाघोरं गर्जितदारुणम्।
स नष्टदिव्यनारीको हृत्स्फोटं प्राप तापसः ॥७२॥

'यहाँ से उत्तर की ओर, विन्ध्यारण्य में एक अकेला शीशम का पेड़ है। उसके नीचे नागराज का एक विशाल भवन है॥५८॥

दोपहर में वहाँ का जल गीली धूल से ढका रहता है। सारसों के साथ क्रीडा करते हुए हंस के जोड़ों से ही उसका आभास मिलता है॥५९॥

वहाँ पारावत नाम का एक बलवान् और श्रेष्ठ नाग रहता है। उसे देवासुर-संग्राम में एक उत्तम खड्ग प्राप्त हुआ था॥६०॥

वैदूर्यकान्ति नामक उस खड्ग को जो मनुष्य प्राप्त कर लेगा, वह सिद्धों का अधिपति होकर रहेगा। उसे कोई परास्त न कर सकेगा॥६१॥

'वह खड्ग वीरों की सहायता से ही प्राप्त हो सकता है।' क्षत्रियकुमार के इतना कहने पर मैंने उसमें से अपना आवेश हटाकर उसे विदा कर दिया॥६२॥

अनन्तर, अन्य सभी विषयों से विमुख होकर, उस खड्ग को प्राप्त करने की इच्छा से मैं पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा, किन्तु कहीं कोई सहायक न पाकर मैं दुःखी हो गया और मरने के लिए यहाँ आया हूँ॥६३॥

उस तपस्वी से यह सब सुनकर मृगांकदत्त ने कहा कि 'अपने मन्त्रियों-सहित मैं आपकी सहायता करूँगा'॥६४॥

उस तपस्वी ने मृगांकदत्त का यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार किया और उनके तथा उनके मन्त्रियों के तलवों में एक प्रकार का लेप लगाकर और उन्हें साथ लेकर नागराज के भवन में गया। ॥६५॥

पहचान के संकेत से उस जगह पहुँचकर तपस्वी ने दिशाओं को मन्त्र से बाँध लिया और रात में साथियों के सहित मृगांकदत्त को वहीं ठहराया। फिर मन्त्र-पढ़े सरसों के दाने छिड़ककर उस धूल से उसने जल प्रकट किया और नागों का दमन करनेवाले मन्त्र पढ़कर होम करने लगा ॥६६-६७॥

मेघादि के उत्पात-रूपी विघ्नों को मन्त्र की शक्ति से जीतकर वह तपस्वी होम करता रहा। तब उस शीशम के पेड़ से एक दिव्य स्त्री निकली॥६८॥

रत्नाभूषणों के झंकार से मोहन-मन्त्र पढ़ती हुई-सी वह तपस्वी के निकट आई और पलक मारते उसने अपने कठिन कटाक्षों से तपस्वी के हृदय को छेद डाला॥६९॥

बड़े-बड़े स्तनोंवाली उस स्त्री ने उस तपस्वी का गाढ आलिंगन किया, जिससे उसका धीरज छूट गया। मन्त्रों के भूल जाने के कारण उसके हाथ से होम का घड़ा गिर गया॥७०॥

इसी समय, अवसर पाकर, कल्पान्त के बादलों के समान, पारावत नामक वह नाग अपने भवन से बाहर आया॥७१॥

तभी वह दिव्य नारी अदृश्य हो गई। उस नाग की आँखों से भयानक ज्वाला निकल रही थी और वह घोर गर्जन कर रहा था। उसे देखकर तपस्वी का हृदय फट गया॥७२॥

तस्मिन् विनष्टे तस्यात्र कृतसाहायकान् स तान्।
नागो मृगाङ्कदत्तादीनशपच्छान्तवैकृतः ॥७३॥
युष्माभिरेतत् सङ्घातात् कृतं निष्कारणं यतः।
विप्रयुक्तास्ततोऽन्योऽन्यं कञ्चित्कालं भविष्यथ ॥७४॥
इत्युक्त्वाऽन्तर्हिते नागे सर्वे ते तत्र तत्क्षणम्।
ध्वान्तरुद्धदिशो ध्वस्तशब्दश्रवणशक्तयः ॥७५॥
जग्मुमृगाङ्कदत्ताद्या विप्रयुक्ता यतस्ततः।
शापप्रभावात् क्रोशन्तचिन्वन्तश्च परस्परम् ॥७६॥
शशाङ्कदत्तश्च ततः स गते रात्रिविभ्रमे।
भ्राम्यन्नितस्ततोऽटव्यां तत्रासीत् सचिवैर्विना ॥७७॥
गतेष्वेवं स मासेषु द्वित्रेष्वत्राथ तस्य सः।
अकस्माच्छ्रुतधिर्विप्रो विचिन्वन् प्रापदन्तिकम् ॥७८॥
स पादपतितः साश्रुः श्रुतधिस्तं कृतादरम्।
स्वमन्त्रिवार्त्तां पृच्छन्तं समाश्वस्यैवमभ्यधात् ॥७९॥
न दृष्टास्ते मया किन्तु जाने यास्यन्ति ते प्रभो।
पुरीमुज्जयिनीं सैव गन्तव्या वर्त्तते हि वः ॥८०॥
इत्याद्युक्तवता तेन प्रेरितस्तद्युतोऽथ सः।
मृगाङ्कदत्तः शनकैः प्रायादुज्जयिनीं प्रति ॥८१॥
गच्छन्स्तोकैश्च दिवसैर्मार्गेणाशङ्कितागतम्।
हृष्टो विमलबुद्धिं स सम्प्राप निजमन्त्रिणम् ॥८२॥
तद्दर्शनोद्बाष्पदृशं प्रणतं परिरभ्य सः।
उपवेश्य च पप्रच्छ वार्त्तामितरमन्त्रिणाम् ॥८३॥
ततो विमलबुद्धिस्तं भृत्यप्रियमुवाच सः।
न जाने देव कस्तेषु क्व गतो नागशापतः ॥८४॥
त्वं तु तान् प्राप्स्यसीत्येतद्यथा जाने तथा शृणु।
तदाहं नागशापेन दूराकृष्टः परिभ्रमन् ॥८५॥
अटव्याः पूर्वदिग्भागे क्लान्तः केनापि साधुना।
आश्रमं प्रापितोऽभूवं महर्षेर्ब्रह्मदण्डिनः ॥८६॥
तत्र तेनर्षिणा दत्तैः फलाम्भोभिर्गतक्लमः।
पर्यटन्नाश्रमादाराददाक्षं बृहतीं गुहाम् ॥८७॥

उसके मर जाने पर नाग के विकार शान्त हो गये। तत्पश्चात् उसने मृगांकदत्त आदि को, जो उस तपस्वी के सहायक थे, शाप दिया॥७३॥

"तुम लोगों ने विना कारण ही इसका साथ दिया है, अतः कुछ समय के लिए तुम लोग एक दूसरे से विछुड़ जाओगे"॥७४॥

इतना कहकर वह नाग ज्योंही अन्तर्हित हुआ, त्योंहीं शाप के प्रभाव से और अन्धकार से उन सबकी आँखें धुंधली हो आईं और उनकी आवाज सुनने की शक्ति जाती रही। मृगांकदत्त आदि एक दूसरे से बिछुड़कर इधर-उधर चले गये और एक दूसरे को पुकारने तथा ढूँढ़ने लगे॥७५–७६॥

रात्रि का भ्रम दूर हो जाने पर मृगांकदत्त उस जंगल में इधर-उधर भटकने लगा और अपने मन्त्रियों से बिछुड़कर वहीं रहने लगा॥७७॥

इस तरह दो-तीन महीने बीत जाने पर, एक दिन 'श्रुतधि' नाम का वह ब्राह्मण उन्हें ढूँढ़ता हुआ अचानक पास आया॥७८॥

मृगांकदत्त ने आदरपूर्वक उससे अपने मंत्रियों का हाल पूछा। श्रुतधि आँखों में आँसू भरकर उनके पैरों पर गिर पड़ा और उन्हें दिलासा देता हुआ यों बोला—॥७९॥

"मैंने उन्हें देखा तो नहीं, लेकिन इतना जानता हूँ कि वे सभी उज्जयिनी जायेंगे, क्योंकि हम सबका गंतव्य स्थान वही है"॥८०॥

इस तरह की बातें कहकर श्रुतधि ने मृगांकदत्त को उज्जयिनी जाने की प्रेरणा दी। वह धीरे-धीरे उज्जयिनी की ओर चला॥८१॥

कई दिनों तक चलने के बाद अचानक राह में उसे अपना मंत्री विमलबुद्धि मिला, जिसे देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ॥८२॥

मृगांकदत्त को देखकर विमलबुद्धि की आँखों में आँसू भर आये। उसने प्रणाम किया। मृगांकदत्त ने उसे गले लगाकर बैठाया और उससे अपने अन्य मंत्रियों का हाल पूछा॥८३॥

अपने सेवकों पर प्रीति रखनेवाले मृगांकदत्त से विमलबुद्धि ने कहा—"देव! नाग के शाप से सब कहाँ चले गये, यह मैं नहीं जानता; किंतु सभी आपसे मिलेंगे अवश्य। यह बात मैं जिस प्रकार जानता हूँ, उसे आप सुनें। नाग के शाप से भटकता हुआ मैं जंगल के पूर्वी भाग में बहुत दूर चला गया। थका-माँदा जानकर एक साधु मुझे महर्षि ब्रह्मदण्डी के आश्रम में ले गया॥८४-८६॥

आश्रम में ऋषि के दिये हुए फल और जल से मेरी थकावट जाती रही। आश्रम के आस-पास घूमते हुए मैंने एक बहुत बड़ी गुफा देखी॥८७॥

प्रविश्य कौतुकात् तस्यां दृष्ट्वान्तर्मणिमन्दिरम्।
प्रवृत्तवानहं जालगवाक्षैस्तत्र वीक्षितुम् ॥८८॥
तावत्स्थितान्तश्चक्रं स्त्री भ्रामयन्ती सभृङ्गकम्।
भृंगास्तेऽथाश्रिता भेदेनात्रस्थौ वृषगर्दभौ ॥८९॥
ताभ्यां च वान्तौ क्षीरासृक्फेनौ पीत्वा यथाश्रयम्।
द्वये सितासिता भूत्वा जातास्ते जालकारकाः ॥९०॥
स्वविष्ठाभिस्ततस्तैश्च द्विविधैर्विविधाः कृताः।
जालपाशाः सुपुष्पैश्च विषपुष्पैश्च सङ्गताः ॥९१॥
तेषु पाशेषु ते सक्ता जालकारा यथासुखम्।
श्वेतकृष्णोभयमुखेनैत्य दष्टा महाहिना ॥९२॥
नानाघटेष्वथ क्षिप्तास्तया नार्या समुत्थिताः।
पुनस्तथैव तानेव पाशाञ्श्लिष्ट्वा यथातथम् ॥९३॥
विषोद्वेगाच्च तत्पुष्पजालस्थेष्वारटत्स्वथ।
अन्येऽपि तेऽन्यजालस्थाः प्रवृत्ताः क्रन्दितुं तदा ॥९४॥
तच्छब्दभग्नध्यानेन तत्रस्थेन कृपालुना।
केनापि भालतो मुक्ता ततो ज्वाला तपस्विना ॥९५॥
तया निर्दग्धपाशास्ते दण्डं सुषिरवैद्रुमम्।
प्रविश्यैव तदूर्ध्वस्थे लीना ज्योतिषि भास्वरे ॥९६॥
तावत् क्वापि गता सा स्त्री सचक्रवृषगर्दभा।
तदृष्ट्वा विस्मितो यावत् स्थितोऽहं तत्र पर्यटन् ॥९७॥
तावत्पुष्करिणीं हृद्यामपश्यंभृंगनादितैः।
इहाप्यागत्य वीक्षस्वेत्या ह्वयन्तीमिवाम्बुजैः ॥९८॥
तीरोपविष्टस्तस्याश्च वीक्षे यावद्वनं महत्।
जालान्तरे वने चैको लुब्धकस्तत्र तेन च ॥९९॥
दशबाहुरवाप्यैकः सिंहपोतो विवर्ध्य च।
अनायत्त इति क्रोधाद्वनात्तस्मात् प्रवासितः ॥१००॥
सोऽपि सिंहः समाकर्ण्य सिंह्या शब्दं वनान्तरे।
तत्र गच्छन् महावातेनावकीर्णभुजः कृतः ॥१०१॥
ततो लम्बोदरेणैत्य पुंसां रोपितबाहुकः।
संपादितः स यातस्तद्वनं केसरिणीकृते ॥१०२॥

कौतुक से उसमें प्रवेश करके मैंने उसके अंदर एक मणि-निर्मित भवन देखा। मैं उस भवन के झँझरीदार झरोखे से झांकने लगा ॥८८॥

वहाँ एक स्त्री बैठी थी, जो मधुमक्खियों से भरी एक चर्खी को घुमा रही थी। वहीं पर एक बैल खड़ा था और एक गधा भी, जिनपर मधुमक्खियाँ बँटकर बैठ गई थीं ॥८९॥

जो मधुमक्खियाँ बैल पर बैठी थीं, वे उसके द्वारा उगला हुआ दूध का फेन और जो गधे पर बैठी थीं, वे उसके उगले खून का फेन पीकर सफेद और काली हो गईं और फिर वे मकड़ियाँ बन गईं ॥९०॥

अनंतर दो रंग की उन मकड़ियों ने अच्छे पुष्पों और विषैले पुष्पों पर अपनी राल से अनेक जाले बनाये ॥९१॥

उन जालों में वे मकड़ियाँ अपनी इच्छा के अनुसार लटकी हुई थीं। इसी समय एक बहुत बड़े सर्प ने, जिसके काले और सफेद दो मुँह थे, आकर उन्हें डँस लिया ॥९२॥

तब उस स्त्री ने उठकर उन्हें अनेक घड़ों में डाल दिया; किंतु वे फिर उसी प्रकार उन्हीं जालों में ज्यों-की-त्यों जा लटकीं ॥९३॥

विष की ज्वाला से एक फूल के जालों में लटकी हुई मकड़ियाँ रोने लगीं, तब दूसरे फूलों के जालों में लटकी हुई मकड़ियों ने भी रोना आरंभ किया ॥९४॥

वहाँ एक कृपालु तपस्वी ध्यान लगाये हुए बैठे थे। मकड़ियों के रोने चिल्लाने की आवाज से उनका ध्यान भंग हो गया। उन्होंने अपने ललाट से ज्वाला छोड़ी ॥९५॥

उस ज्वाला से उन मकड़ियों के जाले जल गये और मूँगे के डंडे के छेद में घुसकर उसके ऊपर की प्रखर ज्योति में वे लीन हो गईं ॥९६॥

इसी बीच अपने चक्र, बैल और गधे के साथ वह स्त्री जाने कहाँ चली गई। यह देखकर अचरज में पड़ा हुआ मैं कुछ देर वहाँ घूमता-फिरता रहा। घूमते-घामते मैंने एक रमणीक तालाब देखा। उस तालाब में कमल खिले हुए थे। उनपर भौंरें गूँज रहे थे। वह तालाब मानों मुझको आमंत्रित-सा कर रहा था कि 'जरा यहाँ आकर भी देखो' ॥९७-९८॥

उस तालाब के किनारे बैठकर मैं उस विशाल वन की शोभा देखने लगा। तालाब के पानी में मैंने एक वन देखा। उस वन में एक शिकारी था, जिसने दस हाथोंवाले एक सिंह-शावक को पाला-पोसा था। वह सिंह-शावक उसके वश में नहीं हुआ, इससे क्रोधित होकर शिकारी ने उसे वन से निकाल दिया ॥९९-१००॥

वह सिंह दूसरे वन में एक सिंहिनी की आवाज सुनकर उधर ही चल पड़ा। मार्ग में भयानक आँधी के चलते उसके सब हाथ टूट गये ॥१०१॥

तब गणेशजी ने आकर उसके शरीर में मनुष्य के हाथ जोड़ दिये। अनंतर सिंहिनी की टोह में वह सिंह दूसरे वन में चला गया ॥१०२॥

तत्र तस्याः कृते क्लेशमनुभूय वनान्तरे।
प्रागात् तां प्राप्य तद्युक्तः स निजं वनमागतः॥१०३॥
सभार्यमागतं तं च दृष्ट्वैव करिमर्दिनम्।
वनं समर्प्य तत्तस्मै लुब्धकः स ततो गतः॥१०४॥
एतदप्यहमालोक्य गत्वाऽश्रमपदं ततः।
उभयं तन्महाश्चर्यमवोचं ब्रह्मदण्डिने॥१०५॥
सोऽथ प्रीत्या त्रिकालज्ञो मुनिर्मामेवमभ्यधात्।
धन्योऽसि दर्शितं सर्वं प्रसन्नेनेश्वरेण ते॥१०६॥
या दृष्टा स्त्री त्वया तत्र सा माया भ्रामितं च यत्।
तया संसारचक्र तद्ये भृङ्गास्ते च जन्तवः॥१०७॥
वृषगर्दभरूपौ तौ धर्माधर्मौ पृथक् पृथक्।
श्रितास्तद्वान्तदुग्धासृग्रूपे सुकृतदुष्कृते॥१०८॥
स्वस्वाश्रयोत्थं संसेव्य भूत्वा च श्वेतकल्मषाः।
द्विविधा जालकाराभा विष्टब्धा निजवीर्यतः॥१०९॥
निर्माय द्विविधानेव जालपाशान् सुतादिकान्।
सत्पुष्पविषपुष्पाभसुखदुःखानुषंगिणः॥११०॥
यथास्वं तेषु संसक्ताः कालेनोरगरूपिणा।
शुभाशुभाभ्यां वक्त्राभ्यां हताः पुत्र! यथोचितम्॥१११॥
ततो घटकरूपासु नानायोनिषु मायया।
स्त्रीरूपया तया क्षिप्तास्तथैवोत्थाय ते पुनः॥११२॥
तुल्यासु वर्तिताः श्वेतकृष्णाकृतिषु द्विधा।
पुत्रादिजालपाशेषु सुखदुःखानुबन्धिषु॥११३॥
ततः कृष्णा निजैर्जालैर्बद्धा दुःखविषादिताः।
प्रवृत्ताः क्रन्दितुं विग्नाः शरणं परमेश्वरम्॥११४॥
तदृष्ट्वा जातवैराग्यास्ते श्वेता अपि जन्तवः।
प्रारब्धा निजजालस्थास्तमेवाक्रन्दितुं प्रभुम्॥११५॥
ततः प्रबुध्य देवेन तेन तापसरूपिणा।
ज्ञानाग्निज्वालयादग्धपाशाः सर्वेऽपि ते कृताः॥११६॥
तेन विद्रुमसद्दण्डरूपमादित्यमण्डलम्।
प्रविश्य तत्तदूर्ध्वस्थं परमं धाम ते श्रिताः॥११७॥

उस वन में सिंहिनी को ढूंढ़ने में उसे बहुत कष्ट उठाना पड़ा था, इसलिए उससे मिलने पर वह सिंह उसे साथ लेकर फिर अपने वन में चला आया ॥१०३॥

सिंहिनी के साथ उस सिंह को वहाँ आया हुआ देखकर शिकारी ने वह वन उसे सौंप दिया और स्वयं वहाँ से चला गया ॥१०४॥

यह देखकर मैं वहाँ से आश्रम में चला आया और बड़े आश्चर्य की ये दोनों बातें मैंने ब्रह्मदण्डी को सुनाईं ॥१०५॥

उन त्रिकालज्ञ मुनि ने प्रसन्न होकर मुझसे कहा कि 'तुम धन्य हो, जिसे शिवजी ने प्रसन्न होकर सबकुछ दिखला दिया है ॥१०६॥

तुमने जिस स्त्री को देखा, वह माया थी। उसके द्वारा घुमाया जानेवाला चक्र संसार-चक्र था और वे मधुमक्खियाँ विभिन्न प्राणी थीं ॥१०७॥

वे दोनों बैल और गधा, अलग-अलग धर्म और अधर्म थे तथा उनके मुँह से निकलनेवाले दूध और खून के फेन को वे प्राणी अपने सुकर्मों और दुष्कर्मों के अनुसार पी रहे थे ॥१०८॥

अपने आश्रय से उत्पन्न दूध और खून के झाग को पीकर से प्राणी (मधुमक्खियाँ) सफेद और काले दो रंगों के मकड़े बन गये। फिर अपने-अपने जाल के पाश में फंसे हुए उन प्राणियों ने दो प्रकार की संततियाँ उत्पन्न कीं, जिन्होंने अपनी राल से सुख और दुःख के प्रतीक के रूप में अच्छे और विषैले फूलों पर जाले बनाये ॥१०९-११०॥

अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उन दो प्रकार के फूलों पर बैठे हुए प्राणियों को सर्परूपी काल ने अपने शुभ और अशुभ दो मुखों से डँसकर मार डाला ॥१११॥

अनंतर स्त्री रूपी उस माया ने उन सबको घड़े रूपी अनेक योनियों में डाल दिया; किंतु वहाँ से उठकर अपनी सफेद और काली आकृति के अनुकूल, सुख-दुःख रूपी परिणामवाले पुत्र-कलत्रादि के जाल-पाश में फँस गये ॥११२-११३॥

तब अपने जाल में बँधे हुए काले रंग के उन प्राणियों ने दुःख रूपी विष से पीड़ित होकर परमेश्वर की शरण पाने के लिए रोना आरंभ कर दिया ॥११४॥

यह देखकर सफेद रंगवाले उन प्राणियों के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और अपने जाल में लिपटे हुए वे भी, उन्हीं प्रभु के लिए विलाप करने लगे ॥११५॥

तब अपनी योग-निद्रा से जागकर उस तपस्वी के रूप में प्रभु ने ज्ञानाग्नि की ज्वाला से उन सबके बंधन काट दिये ॥११६॥

इससे उन सबने मूँगे के डंडे के समान आदित्य-लोक में प्रवेश किया और उससे ऊपर जाकर परम धाम में स्थान पाया ॥११७॥

नष्टा च चक्राकारेण संसारेणैव सहैव सा।
माया वृषखराकारधर्माधर्मसमन्विताः ॥११८॥

एवं भ्रमन्ति संसारे शुक्लकृष्णाः स्वकर्मभिः।
ईश्वराराधनादेव विमुच्यन्ते च जन्तवः ॥११९॥

इति ते मोहशान्त्यर्थमीश्वरेण प्रदर्शितम्।
वापीजले च यद्दृष्टं भवता तदिदं शृणु ॥१२०॥

मृगांकदत्तभाव्यर्थप्रदर्शनमिदं जले।
प्रतिविम्वमिवोत्पाद्य कृतं भगवता तव ॥१२१॥

स हि बालमृगारातिपोततुल्यो भुजोपमैः।
सचिवैर्दंशभिर्युक्तो वर्धितो वनसन्निभात् ॥१२२॥

देशाल्लुब्धकतुल्येन पित्रा कोपात् प्रवासितः।
अवन्तिदेशादुद्भूतां ख्यातिमन्यवनोपमात् ॥१२३॥

शशांकवत्यास्तर्त्सिह्या इव श्रुत्वा प्रधावितः।
नागपाशेन वातेन भ्रष्टमन्त्रिभुजः कृतः ॥१२४॥

ततो विनायकेनात्र स लम्बोदररूपिणा।
संघाटितामात्यभुजः प्रकृतिस्थः पुनः कृतः ॥१२५॥

ततो गत्वानुभूयातिक्लेशं प्राप्तां ततोन्यतः।
तां शशांकवतीं सिंहीमादायात्रागतश्च सः ॥१२६॥

ततश्च निकटं प्राप्तं विद्युतारातिवारणम्।
मृगांकदत्तसिंहं तं दृष्ट्वा भार्यासमन्वितम् ॥१२७॥

तत् स्वदेशवनं तस्मै समर्प्य सकलं स्वतः।
तत्पिता लुब्धकनिभः स प्रयात् तपोवनम् ॥१२८॥

इति संपन्नवद्भावि दर्शितं विभुना तव।
तद्युष्मान् मन्त्रिणो भार्यां राज्यं चाप्स्यति वः प्रभुः ॥१२९॥

इत्यहं मुनिवरेण बोधितस्तेन लब्धवृत्तिराश्रमात्ततः।
निर्गतोऽथ शनकैरुपाव्रजन्नद्य देव ! मिलितस्त्वया सह ॥१३०॥

तस्मादभिमतमाप्स्यसि सचिवान् लब्ध्वा प्रचण्डमुखान्।
प्रस्थानकालपूजाप्रसन्नविघ्नेश्वरो नियतम् ॥१३१॥

साथ-ही-साथ चक्र रूपी संसार के सहित मायारूपिणी वह स्त्री और धर्म तथा अधर्म रूप वह बैल और गधा, ये सभी अदृश्य हो गये॥११८॥

इसी प्रकार सभी प्राणी अपने कर्मों के द्वारा सफेद और काले रंगों में भटकते रहते हैं। ईश्वर की आराधना से ही उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है॥११९॥

तुम्हारे मोह की शांति के लिए ईश्वर ने तुम्हें सब दिखलाये हैं। अब तुमने तालाब के पानी में जो कुछ देखा है, उसके बारे में सुनो॥१२०॥

मृगांकदत्त पर भविष्य में जो कुछ बीतनेवाला है, भगवान् ने तालाब के पानी में उसे ही प्रतिबिंब रूप में प्रकट करके दिखलाया है॥१२१॥

सिंह-शावक के दस-हाथों के समान मृगांकदत्त के दस मंत्री हैं। वन के समान उनका देश है, जहाँ उनका लालन-पालन हुआ है। शिकारी के समान उनके पिता ने क्रोध से उन्हें वहाँ से निकाल दिया है। दूसरे वन से जैसे सिंहिनी की आवाज सुनकर सिंह-शावक दौड़ा था, वैसे ही अवंति देश से आई हुई शशांकवती की ख्याति सुनकर मृगांकदत्त जा रहे हैं, और आँधी से जैसे सिंह-शावक की भुजाएँ टूट गई थीं, वैसे ही मृगांकदत्त के मंत्री उनसे बिछुड़ गये हैं॥१२२-१२५॥

अनंतर जैसे लंबोदर विनायक ने सिंह के दसों हाथ जुटा दिये थे, वैसे ही मृगांकदत्त को भी अपने दसो मंत्री मिल जायेंगे और उनका चित्त स्थिर हो जायगा॥१२त॥

वहाँ से दूसरी जगह जाकर और बहुत कष्ट उठाकर जैसे वह सिंह-शावक सिंहिनी को लेकर लौट आया था, वैसे ही मृगांकदत्त भी शशांकवती को लेकर फिर यहाँ लौट आवेंगे॥१२६॥

तब अपने शत्रुओं में हाथी के समान सिंहरूपी मृगांकदत्त को पत्नी के सहित वनरूपी अपने देश के निकट आया हुआ देखकर, शिकारी के समान उनके पिता अपना सब-कुछ उन्हें सौंपकर वन चले जायेंगे॥१२७-१२८॥

इस प्रकार भगवान् शिव ने बीती हुई के समान तुम्हें भावी घटनाएं दिखला दी हैं, अतः तुम्हारे स्वामी मृगांकदत्त अपने मंत्रियों को, पत्नी को और राज्य को भी प्राप्त करेंगे॥१२६॥

इस प्रकार उन मुनि श्रेष्ठ के समझाने पर मुझे धीरज हुआ और तब उनके आश्रम से निकलकर धीरे-धीरे चलता हुआ आज मैं आपसे आ मिला हूँ॥१३०॥

प्रस्थान के समय की हुई पूजा से निश्चय ही भगवान् गणपति आपपर प्रसन्न हैं, अतः आप प्रचंडशक्ति आदि अपने मंत्रियों को प्राप्त कर लेंगे और आपके मनोरथ भी पूरे होंगे॥१३१॥

इति स्वसचिवात् क्षणं विमलबुद्धितः सोद्भुतम्।
निशम्य परितोषवानपि मृगांकदत्तः पुनः॥
विचार्य सह तेन तामपरमन्त्र्यवाप्त्यै क्रमा-
दवन्तिनगरीं प्रति व्रजितवान् स्वकार्याय च॥१३२॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशांकवतीलम्बके तृतीयस्तरङ्गः॥

चतुर्थस्तरङ्गः

ततः श्रुतधियुक्तेन समं विमलबुद्धिना।
स शशांकवती हेतोर्गच्छन्नुजयिनीं प्रति॥१॥
मृगाङ्कदत्तः संप्रापदन्तरा नर्मदानदीम्।
वीचिवेल्लद्भुजलतां विलसत्फेनपाण्डुराम्॥२॥
दिष्ट्या मिलदमात्योऽयं संवृत्त इति वीक्ष्य तम्।
हर्षादिव प्रनृत्यन्तीं हसन्तीं चपलाशयाम्॥३॥
तस्यां स्नानावतीर्णं च तस्मिन्कश्चिदुपाययौ।
तत्र मायावटुर्नाम स्नातुं शवरभूपतिः॥४॥
तं स्नान्तं सहसोत्थाय त्रयोऽत्र जलमानुषाः।
युगपज्जगृहुर्भिल्लं भीतिनश्यत्परिच्छदम्॥५॥
तद्दृष्ट्वाकृष्टखङ्गोऽन्तः प्रविश्य जलमानुषान्।
हत्वा मृगांकदत्तस्तान्भिल्लेन्द्रं तममोचयत्॥६॥
स तद्ग्रहभयान्मुक्तो भिल्लराजो जलोत्थितः।
तं राजपुत्रं पप्रच्छ पतित्वा पादयोस्ततः॥७॥
धात्रा कस्त्वमिहानीतः प्राणत्राणाय मे वद।
कस्य चालंकृतो वंशस्त्वया सुकृतिनः पितुः॥८॥
को वा कटाक्षितः पुण्यैर्देशो यत्र गमिष्यसि।
इत्युक्त्वा श्रुतधेः श्रुत्वा तद्वृत्तान्तमशेषतः॥९॥
सुतरां प्रणतस्तं स शवरेन्द्रोऽब्रवीत्पुनः।
तर्ह्यहं ते यथादिष्टे सहायोऽत्राभिवांछिते॥१०॥
सख्या दुर्गपिशाचेन मातंगपतिना सह।
तत्प्रसादं कुरुस्वैहि गृहान्भृत्यस्य मे प्रभो॥११॥

अपने मन्त्री विमलबुद्धि से यह अद्‌भुत कथा सुनकर मृगांकदत्त को सन्तोष हुआ, और तब उसके साथ परामर्श करके अपने अन्य मन्त्रियों को ढूँढ़ने तथा अपना कार्य सिद्ध करने के लिए वे अवन्तिनगरी की ओर चल पड़े ॥१३२॥

कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का तृतीय तरंग समाप्त।

चतुर्थ तरंग

मृगांकदत्त श्रुतधि तथा विमलबुद्धि के साथ शशांकवती के लिए उज्जयिनी की ओर चला। मार्ग में उसे नर्मदा नदी मिली, जो अपनी तरंग-भुजाओं को उछाल रही थी और अपने सुन्दर फेन से गोरी-सी लग रही थी ॥१–२॥

अपने मन्त्रियों से उसका मिलन हो गया है, यह देखकर वह चंचल नदी मानों प्रसन्नता से अपनी लहरियों को उछालकर नृत्य करती और अपने फेन की निर्मलता से हँसती-सी लगी ॥३॥

मृगांकदत्त जब नदी में स्नान करने उतरा, तब 'मायाबटु' नाम का शबरों का कोई राजा भी स्नान करने के लिए वहीं आया ॥४॥

जब वह राजा स्नान कर चुका, तब सहसा ही तीन जल-मानव पानी में से निकले और उन्होंने उस भील-राजा को एक साथ पकड़ लिया। यह देखकर भयभीत हो, उसके अनुचर भाग गये ॥५॥

यह देखकर मृगांकदत्त अपनी तलवार निकालकर पानी में घुस गया और उन जल-मानवों को मारकर उस भील-राजा को छुड़ा लाया ॥६॥

उन जल-मानवों के भय से छुटकारा पाकर वह भिल्लराज जल से बाहर आया और मृगांकदत्त के पैरों पर गिरकर बोला—॥७॥

"यह बतलाइए कि आप कौन हैं, जिसे विधाता ने मेरी प्राण-रक्षा के लिए यहाँ भेजा है ? आपने किस पुण्यवान् पिता के वंश को अलंकृत किया है। वह कौन-सा पुण्यवान् देश है, जहाँ आप जा रहे हैं ?" उसके ऐसा पूछने पर श्रुतधि ने मृगांकदत्त का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब उस भीलराज ने बहुत नम्रता दिखाते हुए फिर कहा—"तब आपके इस वांछित कार्य में, आपकी आज्ञा के अनुसार, अपने मित्र मातंगराज दुर्गपिशाच के सहित मैं आपकी सहायता करूँगा। अतः प्रभो, आइए, इस दास के घर पधारिए" ॥८–११॥

इति सप्रणयैस्तैस्तैर्वचोभिः प्रार्थ्य तं ततः।
मृगाङ्कदत्तं पल्लीं स्वां शबरेन्द्रो निनाय सः ॥१२॥
उपाचरच्च तं तत्र यथावत्स्वविभूतिभिः।
राजपुत्रमशेषेण पल्लीलोकेन पूजितम् ॥१३॥
सोऽपि मातङ्गराजोऽत्र समेत्याभिननन्द तम्।
दासीभूय सुहृत्प्राणप्रदं न्यस्तशिरा भुवि ॥१४॥
ततो मायाबटोस्तस्य भिल्लेन्द्रस्यानुरोधतः।
मृगाङ्कदत्तस्तत्रैव तस्थौ काँश्चित्स वासरान् ॥१५॥
एकदा च स्थिते तस्मिन् द्यूतं स शबरेश्वरः।
समं निजप्रतीहारेणारेभे चण्डकेतुना ॥१६॥
तावन्नभसि मेघेषु गर्जत्सु गृहबर्हिणः।
प्रनृत्तान्द्रष्टुमुत्तस्थौ स मायाबटुभूपतिः ॥१७॥
ततः स द्यूतरसिकः प्रतीहारस्तमभ्यधात्।
किमेभिः प्रेक्षितैः राजन्नसुशिक्षिततताण्डवैः ॥१८॥
स मयूरो गृहे मेऽस्ति नास्ति योऽन्यत्र भूतले।
दर्शयिष्यामि तं प्रातस्तुभ्यं तद्रसिकोऽसि चेत् ॥१९॥
तच्छ्रुत्वा दर्शनीयो मे सर्वथा स त्वयेति च।
उक्त्वा स तं प्रतीहारं दिनकृत्यं व्यधान्नृपः ॥२०॥
मृगाङ्कदत्तोऽप्याकर्ण्य सर्वं तत्तत्र सानुगः।
तथैवोत्थाय विदधे स्नानाहारादिकाः क्रियाः ॥२१॥
ततो रात्रावुपेतायामन्धे तमसि जम्भिते।
कस्तूरिकानुलिप्ताङ्गो बसानो नीलवाससी ॥२२॥
स राजपुत्रः स्वोद्देशाद्वीरचर्यार्थमेककः।
सुप्तानुगाद्वासगृहात्खड्गपाणिर्विनिर्ययौ ॥२३॥

मृगाङ्कदत्तप्रतिहारयोः साहसम्

भ्रमँश्च तत्र केनापि पुंसा मार्गागतेन सः।
अपश्यता ध्वान्तवशादंसेनांसेऽभ्यहन्यत ॥२४॥
ततः सोऽभ्यभवत्क्रुद्धो युद्धायाह्वयति स्म तम्।
स चाहतः पुमान्प्रौढस्तत्कालोचितमभ्यधात् ॥२५॥

इस प्रकार, अनेक प्रेमपूर्ण बातों से प्रार्थना करने के बाद वह भिल्लराज मृगांकदत्त को अपने गाँव में ले गया ॥१२॥

वहाँ मायाबटु ने अपने वैभव के अनुरूप मृगांकदत्त का यथायोग्य सत्कार किया और उसके गाँव के सभी लोगों ने भी उनके प्रति आदर प्रकट किया ॥१३॥

यहाँ आकर उस मातंगराज ने भी भूमि पर मस्तक डालकर और दासभाव ग्रहण करके अपने मित्र का प्राण बचानेवाले मृगांकदत्त का अभिनन्दन किया ॥१४॥

अनन्तर, भीलों के राजा उस मायाबटु के अनुरोध से मृगांकदत्त कई दिनों तक वहीं रुक गया ॥१५॥

मृगांकदत्त जब वहाँ ठहरा हुआ था, तभी एक दिन वह भीलराज अपने प्रतीहार चण्डकेतु के साथ जूआ खेलने लगा ॥१६॥

उसी समय आकाश में मेघों का गर्जन सुनकर पालतू मोर नाचने लगे और राजा मायाबटु उन्हें देखने के लिए उठ खड़ा हुआ ॥१७॥

यह देखकर द्यूत का रसिक वह प्रतीहार राजा से बोला—"राजन्, इन मोरों को देखने से क्या लाभ है, जिन्हें अच्छी तरह नाचना भी नहीं आता। अगर आपको मोरों के नाच देखने का शौक है, तो कल सवेरे मैं आपको अपना वह मोर दिखलाऊँगा, जो मेरे घर में है और जिसकी बराबरी का दूसरा मोर संसार में नहीं है ॥१८-१९॥

यह सुनकर राजा ने प्रतीहार से कहा कि उसे तुम अवश्य मुझे दिखलाना और फिर वह अपने दैनिक कृत्य में लग गया ॥२०॥

अपने अनुचरों के सहित मृगांकदत्त भी वहीं था, इसलिए उसने भी सारी बातें सुनीं। फिर उसने भी उठकर स्नानाहार आदि कार्य किये ॥२१॥

जब रात हुई और चारों ओर गहरा अँधेरा फैल गया, तब मृगांकदत्त ने शरीर पर कस्तूरी का लेप किया और नीले कपड़े पहन लिये। अनन्तर, हाथ में तलवार लेकर, अपने काम के लिए वीरचर्या करने की इच्छा से, अकेले ही उस घर से बाहर निकला, उस समय उसके सभी अनुचर सोये हुए थे ॥२२-२३॥

मृगाङ्कदत्त और प्रतीहार का साहस

वहाँ घूमते हुए, अँधेरा होने से दिखाई न पड़ने के कारण, राह में चलते हुए किसी मनुष्य के कन्धे से मृगांकदत्त का कन्धा टकरा गया ॥२४॥

मृगांकदत्त ने क्रुद्ध होकर उस आदमी को युद्ध के लिए ललकारा। इसपर उस प्रौढ़ मनुष्य ने समयोचित उत्तर दिया—॥२५॥

किं ताम्यस्यविचार्यैव विचारयसि चेत्ततः।
वाच्यो निशापतिर्येन निशैषा न प्रकाशिता ॥२६॥
धाता वा येन पूर्णोऽस्य नाधिकारोऽत्र निर्मितः।
येन वैराणि जायन्ते तमसीदृश्यकारणम् ॥२७॥
तच्छ्रुत्वा सत्यमित्युक्त्वा तुष्टो नागरिकोक्तितः।
मृगाङ्कदत्तः कोऽसीति स तं पप्रच्छ पूरुषम् ॥२८॥
चौरोऽहमिति तेनोक्तः पुंसा सोऽप्यवदन्मृषा।
हस्तमानय सब्रह्मचारी मम भवानिति ॥२९॥
कृत्वा च सख्यं जिज्ञासुः स तेनैव सह व्रजन्।
मृगाङ्कदत्तः सम्प्राप जीर्णकूपं तृणावृतम् ॥३०॥
तत्र तेन प्रविष्टेन पुंसा सह सुरुङ्गया।
गत्वा मायाबटोस्तस्य राज्ञोऽन्तःपुरमाप्तवान् ॥३१॥
तत्र दीपेन दृष्ट्वा तं परिजज्ञे स पूरुषम्।
यावत्सोऽत्र प्रतीहारश्चण्डकेतुर्न तस्करः ॥३२॥
प्रतीहारस्तु न स तं मन्दालोकैककोणगम्।
परिजज्ञेऽन्यवेषस्थं राजस्त्रीछन्नकामुकः ॥३३॥
राजवध्वा च स तया प्राप्त एवानुरक्तया।
उत्थाय कण्ठे जगृहे मञ्जुमत्यभिधानया ॥३४॥
उपवेश्य च पर्यङ्के स पृष्ठोभूत्तया तदा।
अद्यैव भवता कोऽयमिहानीतः पुमानिति ॥३५॥
सुहृन्ममायं विश्वस्ता भवेत्युक्ता च तेन सा।
प्रतीहारेण सोद्वेगा मञ्जुमत्येवमब्रवीत् ॥३६॥
कुतो मे मन्दभाग्याया विश्वासो यदसौ नृपः।
मृत्योर्मृगाङ्कदत्तेन मुखं प्राप्तोऽपि रक्षितः ॥३७॥
तच्छ्रुत्वा स प्रतीहारस्तामवादीदलं शुचा।
नृपं मृगाङ्कदत्तं च हनिष्याम्यचिरात्प्रिये ॥३८॥
इत्युक्तवन्तं तं दैवात्साब्रवीत्किं विकत्थसे।
आक्रान्तोऽभूद्यदा ग्राहैर्नृपोऽसौ नर्मदाम्भसि ॥३९॥
मृगाङ्कदत्त एवैकस्तदा तद्रक्षणोद्यतः।
त्वया किं न हतस्तत्र भीतो हि त्वं पलायितः ॥४०॥
तत्तूष्णीं भव मा कश्चिदेतच्छ्रोष्यति ते वचः।
ततो मृगाङ्कदत्तात्त्वं शूरादशिवमाप्स्यसि ॥४१॥

"तुम विना विचारे ही क्यों क्रुद्ध हो रहे हो ? यदि विचार करो, तो तुम्हें चन्द्रमा को दोष देना चाहिए, जिसने इस रात को प्रकाशित नहीं किया, अथवा विधाता को दोष देना चाहिए, जिसने इस बारे में उसे पूरा अधिकार नहीं दिया, जिससे अँधेरे में अकारण ही विरोध पैदा होता है ॥२६–२७॥

नागरिक की यह बात सुनकर मृगांकदत्त को सन्तोष हुआ। 'तुम्हारा कहना सच है', ऐसा कहकर उसने पूछा कि तुम कौन हो ?॥२८॥

उस मनुष्य ने कहा—'मैं तो चोर हूँ।' इसपर मृगांकदत्त ने भी झूठमूठ ही कहा—'आओ, हाथ मिलाओ। तुम तो मेरे ही पेशे के आदमी निकले'॥२९॥

सारा हाल जानने की इच्छा से मृगांकदत्त ने उस आदमी से मित्रता कर ली और उसके साथ घूमने लगा। घूमते-फिरते वे घास-फूस से ढके हुए एक कुएँ के पास पहुँचे ॥३०॥

उस कुएँ की सुरंग से होकर वे दोनों, मायाबटु के अन्तःपुर में जा पहुँचे। वहाँ मृगांकदत्त ने दिये की रोशनी में उस आदमी को पहचान लिया; क्योंकि वह चोर नहीं था, प्रतीहार चण्डकेतु था ॥३१-३२॥

किन्तु, रानी के गुप्त प्रेमी प्रतीहार ने मृगांकदत्त को नहीं पहचाना; क्योंकि यह उस कोने में चला गया था, जहाँ दीपक का क्षीण प्रकाश था और उसने अपना वेश भी बदल रखा था ॥३३॥

मायाबटु की रानी का नाम मंजुमती था। वह प्रतीहार पर अनुरक्त थी। प्रतीहार के वहाँ पहुँचते ही उसने उठकर उसे गले से लगा लिया और पलंग पर बैठाकर उससे पूछा कि 'यह कौन आदमी है, जिसे आज आप अपने साथ ले आये हैं ?' ॥३४–३५॥

प्रतीहार ने कहा—'यह मेरा विश्वासी मित्र है। तुम भरोसा रखो।' इसपर मंजुमती ने चिन्तित होकर कहा—"मुझ मन्दभागिनी को भरोसा कैसे हो सकता है, जब मृत्यु के मुख में जाने पर भी मृगांकदत्त ने उसे बचा लिया ?"॥३६-३७॥

यह सुनकर प्रतीहार ने उससे कहा—"प्रिये, तुम चिन्ता मत करो। मैं शीघ्र ही राजा और मृगांकदत्त को मार डालूँगा" ॥३८॥

उसके ऐसा कहने पर, दैवयोग से, रानी ने कहा—"व्यर्थ क्यों डींग मारते हो ? नर्मदा के जल में जब ग्राहों ने राजा पर आक्रमण किया था, तब अकेला मृगांकदत्त ही उसकी रक्षा करने को उद्यत हुआ था। तुमने उसे वहीं क्यों नहीं मार डाला ? तब तो तुम डरकर भाग निकले थे। इसलिए, तुम चुप ही रहो। कहीं कोई तुम्हारी बात सुन लेगा, तो मृगांकदत्त के हाथों तुम्हारा अमंगल ही होगा; क्योंकि वह वीर पुरुष है" ॥३९–४१॥

एवमुक्तवतीं तां च जारः क्षत्ता न चक्षमे।
पापे मृगाङ्कदत्ते त्वं बद्धभावाधुना ध्रुवम् ॥४२॥

तदस्यानुभवेदानीमधिक्षेपस्य मे फलम्।
इत्युक्त्वा च स हन्तुं तामुत्तस्थौ सासिधेनुकः ॥४३॥

ततो रहस्यधारिण्या तत्र चेटिकयैकया।
धावित्वा छुरिका तस्यावष्टब्धाभूत्करेण सा ॥४४॥

तावद्ययौ मञ्जुमती ततो निर्गत्य सान्यतः।
क्षत्ता च तस्याश्चेट्यास्तां निकृत्ताङ्गुलितः करात् ॥४५॥

आक्षिप्य छुरिकां प्रायात्स्वगृहं स यथागतम्।
मृगाङ्कदत्तेन सममाकुलो विस्मितात्मना ॥४६॥

गच्छाम्यहं भवान्प्राप्तो गृहानिति च तत्र तम्।
मृगाङ्कदत्तः क्षत्तारं तमस्यप्रकटोऽब्रवीत् ॥४७॥

इह निद्रां भज क्षिप्रं परिश्रान्तो भृशं ह्यसि।
इति सोऽपि प्रतीहारो राजपुत्रं तमभ्यधात् ॥४८॥

ततस्तथेति तनोक्ते तच्चेष्टालोकनैषिणा।
क्षत्ता स्वभृत्यमत्रैकं समाहूय जगाद सः ॥४९॥

स मयूरः स्थितो यत्र तत्रैनं नय वासकम्।
पुरुषं विश्रमायास्मै शयनीयं प्रयच्छ च ॥५०॥

तथेति च स तद्भृत्यस्तस्मिन्प्रावेशयद्गृहे।
नीत्वा मृगाङ्कदत्तं तं दत्तशय्यं सदीपके ॥५१॥

गते तस्मिन्बहिर्द्वारं बद्ध्वा शृङ्खलयात्र सः।
मृगाङ्कदत्तोऽपश्यत्तं मयूरं पञ्जरस्थितम् ॥५२॥

सोऽयमुक्तोऽमुना क्षत्त्रा शिखीत्यालोच्य कौतुकात्।
तस्य चोद्घाटयामास मयूरस्य च पञ्जरम् ॥५३॥

मयूरः स च निर्गत्य निपुणं वीक्ष्य पादयोः।
मृगाङ्कदत्तस्य मुहुर्निपपात लुलोठ च ॥५४॥

उसके ऐसा कहने पर प्रतीहार बहुत क्रुद्ध हो गया। उसने कहा—"निश्चय ही तू अब पापी मृगांकदत्त पर आसक्त हो गई है और मेरा तिरस्कार कर रही है। तो अब उसका फल भोग।" ऐसा कहकर और हाथ में तलवार लेकर वह उसे मारने दौड़ा ॥४२–४३॥

रानी के गुप्त भेदों को जाननेवाली एक दासी ने दौड़कर उसके हाथ से छुरी छीन ली। इस बीच मंजुमती वहाँ से निकलकर दूसरी जगह चली गई। छीना-झपटी में जिसकी उँगलियाँ कट गई थीं, उस दासी के हाथ से छुरी छीनकर प्रतीहार ने फेंक दी और विस्मित तथा व्याकुल मृगांकदत्त के साथ, जिस तरह आया था उसी तरह, वहाँ से चला गया ॥४४–४६॥

प्रतीहार के घर पहुँचकर, अपने को अँधेरे में छिपाये हुए, मृगांकदत्त ने कहा—"तुम तो अपने घर पहुंच गये, अब मैं भी जाता हूँ"॥४७॥

उस प्रतीहार ने राजकुमार मृगांकदत्त से कहा—"आप बहुत थक गये हैं, अतः आप भी यहीं सो जाइए" ॥४८॥

प्रतीहार का कार्य-कलाप जानने की इच्छा रखनेवाले मृगांकदत्त ने जब 'अच्छा, ऐसा ही सही' कहा, तब प्रतीहार ने अपने एक नौकर को पुकारकर कहा—"जहाँ वह मोर रखा हुआ है, वहीं इनको विश्राम के लिए ले जाओ और एक बिछावन भी दे दो" ॥४९–५०॥

'जैसी आज्ञा' कहकर वह नौकर मृगांकदत्त को उस कमरे में ले गया और वहाँ बिस्तरा लगाकर एक दीपक भी जला दिया ॥५१॥

नौकर के चले जाने पर मृगांकदत्त ने कमरे के बाहरवाले दरवाजे की साँकल लगा दी। अनन्तर, उसने पिंजड़े में रखे मोर को देखा ॥५२॥

मृगांकदत्त ने सोचा कि यह वही मोर है, जिसके बारे में प्रतीहार ने राजा से कहा था। उसने कौतूहल से पिंजड़े का दरवाजा खोल दिया ॥५३॥

मोर ने पिंजड़े से बाहर निकलकर अच्छी तरह चारों ओर देखा और तब बार-बार मृगांकदत्त के पैरों पर गिरने तथा लोटने लगा ॥५४॥

लुठतस्तस्य दृष्ट्वा च कण्ठबद्धं स सूत्रकम्।
राजपुत्रो मुमोचाशु मत्वा तं तेन पीडितम् ॥५५॥
स मुक्तकण्ठसूत्रश्च मयूरस्तस्य पश्यतः।
सम्पन्नोऽभूत्तदा तस्य मन्त्री भीमपराक्रमः ॥५६॥
ततो मृगाङ्कदत्तस्तमाश्लिष्योत्सुकमानतम्।
सखे कथय किन्वेतदिति प्रपच्छ विस्मयात् ॥५७॥
अवोचदथ संहृष्टः स तं भीमपराक्रमः।
शृणु देव स्ववृत्तान्तमामूलात्कथयामि ते ॥५८॥
तदाहं नागशापेन विभ्रष्टो भवदन्तिकात्।
भ्रमन्नटव्यां सम्प्रापमेकं शाल्मलिपादपम् ॥५९॥
तस्मिन्निखातरूपां च गणेशप्रतिमामहम्।
दृष्ट्वा प्रणम्य तन्मूले परिश्रान्त उपाविशम् ॥६०॥
अचिन्तयञ्च धिक् सर्वमिदं पापं मया कृतम्।
रात्रिवेतालवृत्तान्तमावेद्य स्वामिने तदा ॥६१॥
तदिहैव त्यजाम्येतमात्मानमपराधिनम्।
इत्यालोच्यात्र देवाग्रे स्थितोऽभूवमभोजनः ॥६२॥
गते कतिपयाहे च कोऽपि तेनागतः यथा।
वृद्धपान्थस्तरोस्तस्य च्छायायां समुपाविशत् ॥६३॥
एवं म्लानमुखः पुत्र किं स्थितोऽसीह निर्जने।
इति दृष्ट्वा च सोऽपृच्छत् साधुर्मामनुबन्धतः ॥६४॥
ततो मया स्ववृत्तान्ते यथावद्विनिवेदिते।
स वृद्धपथिकः प्रीत्या धीरयन्मामभाषत ॥६५॥
आत्मानं हंसि वीरोऽपि कथं स्त्रीवत् स्त्रियोऽपि वा।
धैर्यमापदि नोज्झन्ति तथा चेमां कथां शृणु ॥६६॥
नगर्यां कोशलाख्यायां विमलाकर इत्यभूत्।
राजा तस्य च पुत्रोऽभूत् कमलाकरसंज्ञकः ॥६७॥
यस्तेजोरूपदातृत्वगुणैः श्लाघ्यो विनिर्ममे।
धात्रेव स्कन्दकन्दर्पकल्पद्रुमजिगीषया ॥६८॥
तस्यैकदा कुमारस्य दिक्षु स्तुत्यस्य बन्दिभिः।
गाथामेकां पपाठैको बन्दी परिचितः पुरः ॥६९॥

मृगांकदत्त ने लोटते हुए उस मोर के गले में एक रस्सी बँधी हुई देखी। उसने यह सोचकर रस्सी खोल दी कि इससे उसको कष्ट हो रहा है॥५५॥

गले की रस्सी खुल जाने पर मृगांकदत्त के देखते-ही-देखते वह मोर उसका मन्त्री भीम-पराक्रम बन गया॥५६॥

मृगांकदत्त ने पैरों पर झुके हुए भीमपराक्रम का आलिंगन करके अचरज से उससे पूछा कि यह सब क्या है? ॥५७॥

भीमपराक्रम ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"अपना वृत्तान्त मैं आरम्भ से ही कहता हूँ, सुनिए" ॥५८॥

नाग के शाप से जब मैं वहाँ आपसे बिछड़ गया, तब वन में भटकता हुआ सेमल के एक पेड़ के पास पहुँचा॥५९॥

मैंने उस वृक्ष में गणेश की प्रतिमा खुदी हुई देखकर उसे प्रणाम किया और थका हुआ होने के कारण उसके नीचे बैठ गया॥६०॥

मैं सोचने लगा कि मुझ पापी को धिक्कार है, जिसने रात को देखा हुआ वेताल का वृत्तान्त अपने प्रभु को बतला दिया। अतः, मैं यहीं अपने अपराधी शरीर का त्याग कर दूंगा। ऐसा सोचकर और भोजन का त्याग करके मैं देव-प्रतिमा के सामने बैठ गया॥६१–६२॥

कुछ दिन बीतने पर उसी राह से एक वृद्ध पथिक आया और उस वृक्ष की छाया में बैठ गया॥॥६३॥

मुझे देखकर उस सज्जन पुरुष ने आग्रहपूर्वक पूछा—'बेटा, तुम इस निर्जन स्थान में, इस तरह म्लान मुँह से क्यों बैठे हो?'॥६४॥

तब मैंने अपना सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों उसे सुना दिया। सुनकर उस वृद्ध पथिक ने प्रसन्नतापूर्वक मुझे धीरज बँधाते हुए कहा—॥६५॥

"वीर होकर भी तुम स्त्रियों की तरह अपनी हत्या क्यों कर रहे हो? आपत्ति पड़ने पर स्त्रियाँ भी तो इस तरह धैर्य नहीं छोड़तीं। लो, यह कहानी सुनो'॥६६॥

कोशला नाम की नगरी में विमलाकर नाम का एक राजा था, उसके पुत्र का नाम कमलाकर था॥६७॥

ब्रह्मा ने ही मानों उसको कार्तिकेय, कामदेव और कल्पवृक्ष को जीतने की इच्छा से तेज, रूप, दानशीलता आदि गुणों के द्वारा श्लाघ्य बनाया था॥॥६८॥

एक दिन दिशाओं में बन्दिजनों के द्वारा स्तुत्य उस राजकुमार के सम्मुख, उसके एक परिचित बन्दी ने एक गाथा यों सुनाई॥६९॥

"पद्मासादनसोत्सवानामुखरद्विजालिपरिगीतम् ।
कमलाकरमप्राप्ता क्व रतिं हंसावली लभताम्" ॥७०॥

एवं मुहुः पठन्पृष्ठस्तेन वन्दी जगाद तम् ।
स मनोरथसिद्ध्याख्यः कुमारं कमलाकरम् ॥७१॥

देव भ्राम्यन्गतोऽभूवं राज्ञोऽहं मेघमालिनः ।
नगरीं विदिशां नाम लीलोद्यानभुवं श्रियः ॥७२॥

तत्र दर्दुरकाख्यस्य गीताचार्यस्य वेश्मनि ।
अहमासं स चैवं मां प्रसङ्गेनैकदाब्रवीत् ॥७३॥

इह हंसावली नाम दुहिता नृपतेः पुरः ।
नवीनशिक्षितं प्रातः स्वनृत्तं दर्शयिष्यति ॥७४॥

तच्छ्रुत्वा कौतुकाद्युक्त्या समं तेनापरेऽहनि ।
अहं राजकुलं गत्वा प्राविशं रङ्गमण्डपम् ॥७५॥

तत्राहतमहातोद्ये तामपश्यं सुमध्यमाम् ।
हंसावलीं राजकन्यां नृत्यन्तीं पितुरग्रतः ॥७६॥

आलोलपुष्पाभरणां पाणिप्रेङ्खितपल्लवाम् ।
वल्लीमिव स्मरतरोर्यौवनानिलघूर्णिताम् ॥७७॥

ततश्चाचिन्तयमहं नैवास्या हरिणीदृशः ।
भर्तास्ति कश्चिद्योग्योऽन्यः कुमारात्कमलाकरात् ॥७८॥

तेन चेत्तादृशेनेयं युज्यते नेदृशी ततः ।
कामस्य किं कृते पुष्पकार्मुकारोपणग्रहः ॥७९॥

तदुपायं करोम्यत्र तावदित्यनुचिन्तयन् ।
प्रेक्षणान्ते ततो राजकुलद्वारमगामहम् ॥८०॥

चित्रं लिखतु योऽत्रास्ति चित्रकृत्सदृशो मया ।
अभिलिख्येति तत्राहं चीरिकामुदलम्बयम् ॥८१॥

अपाटितायामन्येन तस्यां बुद्ध्वा नृपोऽत्र तत् ।
आहूय स्वसुतावासे चित्रकृत्ये न्ययुङक्त माम् ॥८२॥

ततो वासगृहे तस्या हंसावल्याः सभृत्यकः ।
भित्तौ मयाभिलिखितस्त्वं देव कमलाकर ॥८३॥

"कमलों को पाकर जिसका उत्सव होता है और जिसके आसपास चहकनेवाली चिड़ियों का समूह गीत गाता रहता है, उस कमलाकर (तालाब) को पाये विना हंसावली (हंसों की पंक्ति) कैसे सुखी हो सकती है ?"॥७०॥

इस गाथा को जब वह बन्दी बार-बार दुहराने लगा, तब राजकुमार कमलाकर ने इसका कारण पूछा। तब मनोरथसिद्धि नाम के उस बन्दी ने राजकुमार से कहा—॥७१॥

"देव, घूमता-फिरता मैं मेघमाली नामक राजा की विदिशा नगरी में जा पहुँचा था। वह नगरी मानों लक्ष्मी की क्रीडा-वाटिका थी। ॥७२॥

वहाँ मैं दर्दुरक नामक संगीताचार्य के घर पर ठहरा हुआ था। एक दिन बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा—'राजा की हंसावली नाम की बेटी ने मुझसे एक नया नृत्य सीखा है। कल सवेरे वह पिता के सामने उसका प्रदर्शन करेगी' ॥७३–७४॥

यह सुनकर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। दूसरे दिन युक्तिपूर्वक उनके साथ राज-परिवार में जाकर मैं रंग-मण्डप में प्रविष्ट हो गया॥७५॥

वहाँ तबले पर पड़ती हुई थाप के साथ पिता के सम्मुख नृत्य करती हुई, पतली कमरवाली, हंसावली नाम की उस राजकुमारी को मैंने देखा॥७६॥

नाचती हुई उस राजकन्या के पुष्पाभरण डोल रहे थे, पाणिपल्लव ऊपर-नीचे उठ-गिर रहे थे। वह मानों कामदेव के वृक्ष की लता थी और यौवन-रूपी वायु से झोंके खा रही थी ॥७७॥

तब मैंने सोचा कि हरिणी के समान आँखोंवाली इस कन्या के योग्य कुमार कमलाकर के अतिरिक्त दूसरा पति कोई नहीं है ॥७८॥

यदि ऐसी यह कन्या वैसे अनुपम राजकुमार को न मिले, तो फिर कामदेव का पुष्पबाण धारण करना किस काम का ?॥७९॥

'मैं इस सम्बन्ध में कोई उपाय करूँगा', ऐसा सोचता हुआ, नृत्य देखने के अनन्तर, मैं राजभवन के द्वार पर आया ॥८०॥

वहाँ एक कपड़ा टाँगकर उसपर मैंने लिख दिया कि 'यहाँ जो चित्रकार हो, वह इस पर एक चित्र बना दे' ॥८१॥

जब उस कपड़े को किसी ने नहीं फाड़ा और यह समाचार राजा को मिला, तब मुझे बुलाकर उन्होंने अपनी कन्या के भवन में चित्र बनाने के लिए नियुक्त कर दिया॥८२॥

मैंने उस हंसावली के निवास-गृह की भीत (भित्ति या दीवार) पर आपके सहित आपके सेवक का चित्र अंकित कर दिया॥८३॥

स्पष्टं चेत् ख्यापयाम्येतत्तद्धूर्त्तं वेत्ति मामियम् ।
तदेतां राजतनयां युक्त्यैतद्बोधयाम्यहम् ॥८४॥
इति सञ्चिन्त्य सुहृदं विश्वस्तं कृतसंविदम् ।
तत्रैकमहमुन्मत्तरूपं रम्यमकारयम् ॥८५॥
स उन्मत्तो भ्रमन्गायन्नृत्यंश्चालोक्य दूरतः ।
आनाय्यत क्रीडनको राजपुत्र्यैर्निजान्तिकम् ॥८६॥
ततः क्रीडावशाद् दृष्ट्वा हंसावल्या स्ववासकम् ।
प्रवेशितश्च सम्पश्यन्स चित्रं त्वत्स्तुतिं व्यधात् ॥८७॥
दिष्ट्या दृष्टोऽब्जशङ्खाङ्कपाणिर्लक्ष्मीविलासभूः ।
सोऽयं हरिरिवानन्तगुणौघः कमलाकरः ॥८८॥
इत्यादि नृत्यतस्तस्माद् राजकन्या निशम्य सा ।
मामपृच्छत्किमाहायं कश्चैष लिखितस्त्वया ॥८९॥
इति तामनुबन्धेन पृच्छन्तीमहमुक्तवान् ।
दृष्टपूर्वोऽमुना नूनमुन्मत्तेनैष सुन्दरि ॥९०॥
राजपुत्रो मया योऽयं लिखितो रूपगौरवात् ।
इत्युक्त्वा त्वं मया तस्यै गुणैर्नाम्ना च वर्णितः ॥९१॥
ततः स्फूर्जद्भवत्प्रेमरसासेकाप्लुते हृदि ।
सम्भूतोऽभिनवस्तस्या हंसावल्याः स्मरद्रुमः ॥९२॥
अथागतेन राज्ञात्र पित्रा तस्या विलोक्य सः ।
नृत्यन्नुन्मत्तकोऽहं च क्रोधान्निष्कालितौ ततः ॥९३॥
ततः प्रभृति चोत्का सा क्षीयमाणा दिने दिने ।
कृष्णपक्षेन्दुलेखेव याता लावण्यशेषताम् ॥९४॥
मान्द्यव्याजाच्च पापघ्नमाश्रित्यायतनं हरः ।
विजनासेविनी युक्त्या जाता सानुज्ञया पितुः ॥९५॥
भवच्चिन्ता विनिद्रा च चन्द्रचन्द्रातपासहा ।
स्थिता निशावासरयोरत्र भेदमजानती ॥९६॥
तत्र चायतनोद्देशात् प्रविष्टं मां विलोक्य सा ।
आहूय वस्त्राभरणः सगौरवमपूजयत् ॥९७॥
पूजितो निर्गतश्चाह तद्दत्तवसनाञ्चले ।
गाथामपश्यं लिखितां त्वत्कृते शृणु तां पुनः ॥९८॥

मैंने सोचा कि यदि मैं स्पष्ट रूप से इससे सारी बातें कह दूँ, तो यह मुझे धूर्त समझेगी, अतः इस राजकन्या को मैं युक्तिपूर्वक यह बात बताऊँगा। यह सोचकर मैंने वहाँ एक ऐसा मित्र बनाया, जो विश्वासी था, सुन्दर था और पागल-जैसा था। उसके साथ मैंने सारी बातें तय कर लीं। ॥८४–८५॥

वह पागल घूमता, गाता और नाचता आ रहा है, दूर से ही यह देखकर राजकुमारी ने खिलवाड़ करने के लिए उसे अपने पास बुलवाया॥८६॥

उसे देखकर खेल करने के लिए हंसावली ने उसे अपने भवन में बुलवाया। वहाँ जाकर और वहाँ बने हुए आपके चित्र को देखकर वह आपकी प्रशंसा करने लगा॥८७॥

"कैसे सौभाग्य की बात है कि मैंने उन कमलाकर को यहाँ देखा, जिनके हाथों में कमल और शंख का चिह्न है, जो लक्ष्मी की विलास-भूमि हैं और जो विष्णु के समान अनन्त गुणों के आगार हैं" ॥८८॥

नाचते हुए उस पगले के मुँह से ऐसी बातें सुनकर राजकुमारी ने मुझसे पूछा कि यह क्या कह रहा है और यह किसका चित्र तुमने यहाँ बनाया है ? ॥८९॥

जब उसने बहुत अनुरोध करके पूछा, तब मैंने उससे कहा—"जिस राजकुमार के रूप-गौरव से आकृष्ट होकर मैंने यह चित्र बनाया है, इस पगले ने अवश्य ही उन्हें कहीं पहले देखा है।" इतना कह मैंने उसे आपका नाम बतलाया और आपके गुणों का भी वर्णन किया॥९०-९१॥

उसके बाद हंसावली के हृदय में कामना का नया अंकुर फूट निकला, जिसे आपके छलकते हुए प्रेम-रस ने अच्छी तरह से सींच दिया था। ॥९२॥

इसी समय उसके पिता वहाँ आ गये। उस पगले को इस तरह नाचता-गाता देखकर वे क्रुद्ध हुए और उन्होंने उसके साथ मुझे भी वहाँ से निकलवा दिया॥९३॥

उसके बाद से आपके लिए उत्कण्ठित रहती हुई वह दिन-पर-दिन कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की तरह क्षीण होती गई। अब केवल उसका लावण्य-भर शेष रह गया है॥९४॥

अस्वस्थता के बहाने युक्तिपूर्वक पिता की आज्ञा लेकर वह, पापों का नाश करनेवाले भगवान् विष्णु के मन्दिर में आश्रय लेकर, एकान्तवास करने लगी॥९५॥

आपकी सुधि में डूबी रहने के कारण उसकी नींद जाती रही। चन्द्रमा और चाँदनी उसके लिए असह्य हो गई और वह दिन-रात का भेद जाने बिना ही वहाँ रहने लगी॥९६॥

उस मन्दिर में प्रवेश करते हुए मुझको देखकर उसने पास बुलाया और वस्त्राभूषणों के द्वारा आदरपूर्वक मेरा सत्कार किया॥९७॥

उसका सत्कार पाकर मैं मन्दिर के बाहर चला आया। उसने मुझे जो वस्त्र दिया था, उसके आँचल में आपके लिए एक गाथा लिखी हुई थी, जिसे आप फिर सुनिए॥९८॥

"पद्मासादनसोत्सवानामुखरद्विजालिपरिगीतम्
कमलाकरमप्राप्ता क्व रतिं हंसावली लभताम्" ॥९९॥

वाचयित्वाहमेताञ्च लब्धतच्चित्तनिश्चयः।
त्वद्बोधनार्थमागत्य तवैनां पुरतोऽपठम् ॥१००॥

इदं वस्त्रं च तद्त्रय गाथैषा लिखिता तया।
इति वन्दिवचः श्रुत्वा गाथां तां प्रविलोक्य च ॥१०१॥

स श्रोत्रेणोत नेत्रेण प्रविष्टामिव तां हृदि।
तदा हंसावलीं ध्यायञ्जहर्ष कमलाकरः ॥१०२॥

तत् प्राप्त्युपायं यावच्च स चिन्तयति सूत्सुकः।
तावत्पिता तमाहूय राजा दैवादभाषत ॥१०३॥

अलसाः पुत्र राजानो मन्त्रवद्धा इवोरगाः।
नश्यन्त्यन्ये तु नष्टा अप्युदयन्ते कथं पुनः ॥१०४॥

त्वया च दृष्टा नाद्यापि जिगीषा सुखसङ्गिना।
तदुद्युक्तो भवालस्यमुत्सृज्य मयि तिष्ठति ॥१०५॥

विजयस्वाग्रतो गत्वा त्वमङ्गाधिपतिं रिपुम्।
अस्मान्प्रतिकृतारम्भं निजदेशाद्विनिर्गतम्। १०६॥

एतत्पितृवचो हृष्टः प्रतिपेदे तथेति सः।
शूरः प्रियां प्रति च तां यियासुः कमलाकरः ॥१०७॥

ततः पित्रा समादिष्टः प्रतस्थे स वलैः सह।
आकम्पयन्महीपृष्ठं हृदयानि च विद्विषाम् ॥१०८॥

अथ प्रयाणकैः कैश्चित् प्राप्याङ्गाधिपतेश्चमूम्।
प्रत्यवस्कन्दभग्नेन सहायुध्यत तेन सः ॥१०९॥

अब्धेर्जलमिवागस्त्यस्तेजस्वी तस्य च द्विषः।
वलं पपौ स जग्राह जीवग्राहं च तं जयी ॥११०॥

प्रजिघाय च संयम्य पितुः पार्श्वममुं रिपुम्।
प्रतीहारस्य धुर्यस्य हस्ते दत्त्वानुयात्रिकान् ॥१११॥

अहमन्यान् रिपूञ्जेतुमितस्तात गतोऽधुना।
इति क्षत्तुर्मुखेनास्मै पित्रे सन्दिशति स्म सः ॥११२॥

"कमलों को पाकर जिसका उत्सव होता है और जिसके आसपास चहकनेवाली चिड़ियों का समूह गीत गाता रहता है, उस कमलाकर (तालाब) को पाये विना हंसावली (हंसों की पंक्ति) कैसे सुखी हो सकती है?" ॥९९॥

इस गाथा को पढ़कर मुझे उसके मन का हाल मालूम हो गया। उसे आपको बतलाने के लिए ही यहाँ आकर मैंने आपके सामने यह गाथा पढ़ सुनाई है ॥१००॥

यही वह वस्त्र है, जिसपर उसने यह गाथा लिखी है। उस चारण के ऐसा कहने पर, राजकुमार ने वह गाथा देखी और उसे देखते ही मानों हंसावली कान और नेत्रों के द्वारा उसके हृदय में प्रविष्ट-सी हो गई। फिर उसका ध्यान करते हुए कमलाकर प्रसन्न हुआ ॥१०१–१०२॥

जब वह उत्सुक होकर उसको पाने का उपाय सोच ही रहा था, तभी दैवयोग से उसके पिता ने उसे बुलाकर कहा—॥१०३॥

"हे पुत्र, आलसी राजा मन्त्र से अभिभूत सर्प की तरह नष्ट हो जाते हैं और नष्ट हो जाने के बाद फिर उनका अभ्युदय कैसे हो सकता है? ॥१०४॥

सुख भोगते हुए तुमने अबतक विजय की इच्छा नहीं की; अतः मेरे रहते-रहते, आलस्य छोड़कर तुम इसके लिए उद्योगी बनो। तुम आगे बढ़कर हमारे शत्रु, अंग के राजा पर विजय प्राप्त करो, जो हमपर चढ़ाई करने के लिए अपने देश से बाहर निकल चुका है ॥१०५–१०६॥

पिता की यह बात सुनकर वीर और अपनी प्रिया की ओर जाने की इच्छा रखनेवाले कमलाकर ने 'तथास्तु' कहकर पिता की बात का समर्थन किया ॥१०७॥

अनन्तर, पिता की आज्ञा से, सेना-सहित, धरती की पीठ और शत्रुओं के हृदय को कँपाता हुआ वह वहाँ से प्रस्थित हुआ ॥१०८॥

कई पड़ावों के बाद वह अंगराज की सेना के पास जा पहुँचा और जब उसकी सेना प्रत्याक्रमण के लिए लौटी, तब कमलाकर ने उसके साथ युद्ध किया ॥१०९॥

उस तेजस्वी राजकुमार ने शत्रुओं के बल को उसी तरह पी लिया, जैसे अगस्त्य ने समुद्र का पान किया था और इस प्रकार शत्रु को जीतकर उसने अंगराज को जीवित ही बन्दी बना लिया ॥११०॥

बन्दी अंगराज को बाँधकर और उसकी सेना को अपने मुख्य प्रतीहार के हाथों सौंपकर राजकुमार कमलाकर ने अपने पिता के पास भेज दिया और उस प्रतीहार के मुँह से ही पिता के पास यह सन्देश भी भेज दिया कि मैं अब दूसरे शत्रुओं को जीतने के लिए जा रहा हूँ ॥१११–११२॥

ततो जयन्क्रमेणान्यान्नृपानुपचितो वलः।
स प्राप विदिशापुर्या निकटं कमलाकरः ॥११३॥
तत्र स्थितश्च व्यसृजत्स दूतं मेघमालिने।
राज्ञे हंसावलीं पित्रे याचितुं तां तदात्मजाम् ॥११४॥
सोऽपि दूताददुष्टं तं बुद्ध्वा कन्यार्थमागतम्।
मेघमाली नृपः प्रीत्या तत्पार्श्वं स्वयमाययौ ॥११५॥
कृतातिथ्योऽब्रवीच्चैनं राजपुत्रं कृतादरम्।
स्वयं परिश्रमो दूतसाध्येऽर्थे किं कृतस्त्वया ॥११६॥
ममाभिवाञ्छितं ह्येतत्कारणं शृणु चात्र यत्।
एतां हंसावलीं वाल्येऽप्यच्युतार्चनतत्पराम् ॥११७॥
शिरीषसुकुमाराङ्गीं दृष्ट्वा चिन्ता ममोदभूत्।
ईदृग्गुणायाः सदृशो वरः कोऽस्या भवेदिति ॥११८॥
अपश्यतश्च सदृशं वरमस्यास्ततो मम।
तच्चिन्तया विनिद्रस्य ह्युपपादि महाञ्ज्वरः ॥११९॥
तत्प्रशान्त्यै च सम्पूज्य कृतविज्ञप्तिमार्त्तितः।
रात्रावीषत्सनिद्रं मां हरिः स्वप्ने समादिशत् ॥१२०॥
यत्कृते पुत्र जातोऽयं ज्वरस्ते सैव पाणिना।
हंसावली त्वां स्पृशतु ततः शाम्यति ते ज्वरः ॥१२१॥
मत्पूजा पावनेनैषा यं यं हस्तेन संस्पृशेत्।
तस्य तस्य ह्यसाध्योऽपि ज्वरो नश्येदसंशयम् ॥१२२॥
एतद्विवाहचिन्ता च न कार्या भवता पुनः।
राजपुत्रः पतिर्भावी यतोऽस्याः कमलाकरः ॥१२३॥
कालं तु कञ्चिदेतस्या मनाक् क्लेशो भविष्यति।
इति शार्ङ्गभृतादिष्टः प्रबुद्धोऽस्मि निशाक्षये ॥१२४॥
ततो हंसावलीहस्तस्पर्शाज्जातोऽस्मि विज्वरः।
तदैवं युवयोरेष संयोगो देवनिर्मितिः ॥१२५॥
तत्ते हंसावली दत्ता मयेत्युक्त्वा प्रकल्प्य च।
लग्नं स राजधानीं स्वां मेघमाली नृपो ययौ ॥१२६॥
तत्रोक्तं तेन तत्सर्वं श्रुत्वा हंसावली रहः।
सखीमाह रहस्यज्ञां नाम्ना कनकमञ्जरीम् ॥१२७॥

अनन्तर, एक के बाद दूसरे राजाओं को जीतता और उनकी सेनाओं से अपना बल बढ़ाता हुआ कमलाकर विदिशा नगरी के पास जा पहुँचा ॥११३॥

वहाँ रुककर उसने हंसावली के पिता राजा मेघमाली के पास उसकी कन्या को माँगने के लिए अपना दूत भेजा ॥११४॥

दूत के मुँह से यह जानकर कि कमलाकर सज्जन पुरुष हैं और हमारी कन्या की याचना के लिए आये हैं, राजा मेघमाली प्रसन्न हुआ और स्वयं उनके निकट आया ॥११५॥

राजा मेघमाली ने राजकुमार कमलाकर का आतिथ्य-सत्कार किया और राजकुमार ने भी उसका आदर किया। अनन्तर राजा ने कहा—"जो काम एक दूत के द्वारा हो सकता था, उसके लिए आपने इतना कष्ट क्यों किया ? ॥११६॥

मैं स्वयं भी यही चाहता था कि आप दोनों का मिलन हो। इसका कारण क्या है, यह भी सुन लीजिए। बचपन में यह हंसावली भगवान् की पूजा-अर्चा में रत रहा करती थी। शिरीष-कुसुमों के समान कोमल अंगोंवाली इस कन्या को देखकर मुछे चिन्ता होने लगी कि ऐसे गुणोंवाली इस कन्या के अनुरूप वर कौन होगा। ॥११७–११८॥

जब इसके अनुरूप वर मुझे कहीं नहीं दीख पड़ा, तब इस चिन्ता से मेरी नींद जाती रही और मुझे कठिन ज्वर हो आया ॥११९॥

इसकी शान्ति के लिए मैंने भगवान् का पूजन किया और आर्त होकर उनसे अपना कष्ट दूर करने की प्रार्थना की। एक रात जब मुझे हल्की-सी नींद आई, तब भगवान् ने स्वप्न में मुझे यह आदेश दिया ॥१२०॥

हे पुत्र, जिसके लिए तुम्हें यह ज्वर हुआ है, वही हंसावली जब तुम्हें अपने हाथों से छूयेगी, तभी तुम्हारा ज्वर दूर होगा ॥१२१॥

मेरी पूजा से पवित्र हुए अपने हाथों से वह जिस किसी को भी छूयेगी, उसका असाध्य ज्वर भी निश्चय ही दूर हो जायगा ॥१२२॥

आपको इसके विवाह की चिन्ता भी न करनी चाहिए; क्योंकि इसका पति राजकुमार कमलाकर होगा, यही भवितव्य है ॥१२३॥

किन्तु कुछ समय तक इसे थोड़ा कष्ट होगा।' भगवान् विष्णु के ऐसा कहने पर, रात्रि के अन्त में मेरी नींद खुल गई ॥१२४॥

अनन्तर, हंसावली के हाथों के स्पर्श से मेरा ज्वर जाता रहा। इस प्रकार, आप दोनों का संयोग तो विधाता का ही विधान है ॥१२५॥

अतः, हंसावली को मैं आपके हाथों में सौंपता हूँ।" ऐसा कहकर और विवाह का निश्चय करके राजा मेघमाली अपनी राजधानी में चला गया। वहाँ उसने यह सारा वृत्तान्त कह सुनाया। हंसावली ने भी उसकी बातें छिपकर सुनीं। तब उसने अपनी विश्वसनीया सखी कनकमंजरी से कहा— ॥१२६–१२७॥

त्वयासौ दृश्यतां गत्वा राजपुत्रः स एव किम् ।
चित्रकृल्लिखितेनेह येन मे हृदयं हृतम् ॥१२८॥
तातः कदाचिदन्यस्मै सबलायागताय माम् ।
दद्यात्तन्नामधेयाय भयाद्धि प्राभृतीकृताम् ॥१२९॥
इत्युक्त्वा प्रेषिता स्वैरं तया कनकमञ्जरी ।
साक्षसूत्राजिनजटं तापसीवेषडम्बरम् ॥१३०॥
विधाय गत्वा कटकं राजपुत्रस्य तस्य सा ।
आवेदिता परिजनैः प्रविश्यैव विलोक्य तम् ॥१३१॥
कामस्यैव जगज्जैत्रमोहनास्त्राधिदैवतम् ।
तद्रूपहृतचित्ताभूत् समाधिस्थेव तत्क्षणम् ॥१३२॥
सोत्का चाचिन्तयत्स्यान्मे सङ्गमो नेदृशेन चेत् ।
धिग्जन्म तर्हि युक्तं तत् करिष्येऽत्र यदस्त्विति ॥१३३॥
अथोपसृत्य दत्ताशीस्तस्मै मणिमुपानयत् ।
उवाच चोपविष्टा तमात्तरत्नं कृतादरम् ॥१३४॥
मयायमसकृद्दृष्टप्रत्ययो मणिरुत्तमः ।
धारितेनामुना शत्रोः स्तम्भ्यते शस्त्रमुत्तमम् ॥१३५॥
गुणानुरागाच्च मया तुभ्यमेष समर्पितः ।
यथा तवोपयुक्तोऽयं राजपुत्र न मे तथा ॥१३६॥
एवमुक्तवती तेन व्याहृता राजसूनुना ।
एकभिक्षाव्रतव्याजात् सा निषिध्य ययौ ततः ॥१३७॥
विमुच्य तापसीवेषं कृत्वोद्विग्नमिवाननम् ।
हंसावलीमुपागात्सा पृष्टा ताञ्च मृषाब्रवीत् ॥१३८॥
अवाच्यमपि ते राजरहस्यं वच्मि भक्तितः ।
इतो मां तापसीवेषां राजपुत्रस्य तस्य तम् ॥१३९॥
गतां कटकमभ्येत्य स्वैरमेकोऽभ्यधात्पुमान् ।
भगवत्यपि जानासि भूततन्त्रविधिक्रमम् ॥१४०॥
तच्छ्रुत्वा तं प्रतीहारमिव दृष्ट्वाहमब्रवम् ।
सृष्ठ जानामि किं नाम ममैतत्किल वस्त्विति ॥१४१॥

"तुम जाकर देख आओ कि यह वही राजकुमार है या नहीं, जिसका चित्र हमारे यहाँ बना हुआ है और जिसने मेरा हृदय चुरा लिया है; क्योंकि सम्भव है, उसी नाम का कोई दूसरा आदमी सेना लेकर आया हो और पिताजी भय के कारण उसे उपहार के रूप में मुझे दे दें ॥१२८-१२९॥

ऐसा कहकर अपनी इच्छा से उसने कनकमंजरी को भेज दिया। उसने भी माला, जनेऊ, मृगचर्म और जटा धारण करके तापसी का वेश बनाया। इस वेश में राजकुमार कमलाकर की छावनी में जाकर उसने अपने आने की सूचना भिजवाई। अन्दर जाकर जब उसने संसार को जीतनेवाले कामदेव के दैवी अस्त्र के समान राजकुमार को देखा, तब उसकी सुन्दरता ने उसके चित्त का हरण कर लिया और वह उसी समय समाधिस्थ-सी हो गई ॥१३०–१३२॥

उत्कण्ठित होकर उसने सोचा कि यदि ऐसे पुरुष के साथ मेरा मिलन नहीं होगा, तो मेरे जन्म को धिक्कार है; अतः इसके लिए मैं उचित उपाय करूँगी, चाहे परिणाम कुछ भी हो ॥१३३॥

आगे बढ़कर कनकमंजरी ने राजकुमार को आशीर्वाद दिया और एक मणि भेंट की। राजकुमार ने मणि लेकर उस तापसी का आदर-सत्कार किया। इसके बाद तापसी ने बैठकर कहा — ॥१३४॥

"इस उत्तम मणि के चमत्कार मैं अनेक बार देख चुकी हूँ। जो इसको धारण करता है, उसपर शत्रु के अच्छे अस्त्र भी विफल हो जाते हैं॥ १३५॥

आपके गुणों के प्रति अनुराग होने के कारण मैं इसे आपको सौंपती हूँ। यह आपके लिए जितना उपयोगी है, उतना मेरे लिए नहीं है" ॥१३६॥

तापसी के ऐसा कहने पर, राजकुमार ने उससे भिक्षा लेने को कहा, परन्तु एकभिक्षाव्रत का बहाना करके, उसने भिक्षा लेना अस्वीकार कर दिया और वहाँ से चली गई ॥१३७॥

इसके बाद उसने तापसी का वेश उतार दिया और घबराया हुआ-सा चेहरा बनाकर वह हंसावली के पास पहुँची। हंसावली के पूछने पर उसने झूठमूठ कहा—॥१३८॥

राजा का रहस्य यद्यपि कहने के योग्य नहीं है, तथापि तुम्हारे प्रति अनुराग होने के कारण मैं तुमसे कहती हूँ। तापसी का वेश बनाकर मैं यहाँ से उस राजकुमार की छावनी में गई। वहाँ पहुँचते ही एक आदमी ने आकर अपने-आप ही मुझसे पूछा—"क्या आप भी भूत-प्रेतों की तन्त्रक्रिया को जानती हैं?" ॥१३९-१४०॥

उसकी यह बात सुनकर और उसे प्रतीहार के जैसा देखकर मैंने कहा—"मैं भली भाँति जानती हूँ; क्योंकि एसी बातें मेरे लिए किस गिनती में हैं?" ॥१४१॥

ततोऽहं तेन तस्यैव सकाशं देवि तत्क्षणम्।
राजपुत्रस्य कमलाकरस्यात्र प्रवेशिता ॥१४२॥
स च दृष्टो मया रुग्णो भूताविष्टो विषण्णया।
संयम्यमानः पार्श्वस्थैराबद्धौषधिसन्मणिः ॥१४३॥
रचितालीकरक्षा च निर्गताहं ततः क्षणात्।
प्रातरेत्यापनेष्यामि दोषमस्येतिवादिनी ॥१४४॥
ततोऽशङ्कितदृष्टेदृगनिष्टात्यर्थं दुःखिता।
आगतास्मि तवाख्यातुं प्रमाणं त्वमतः परम् ॥१४५॥
श्रुत्वैतद्रचितं तस्या वचो निर्घातदारुणम्।
ऋज्वी हंसावली क्षिप्रं सम्मुह्यैव जगाद ताम् ॥१४६॥
गुणवत्यां स्वसृष्टावप्यहो धिङ्मत्सरो विधेः।
इन्दोः कलङ्को दोषश्च तस्य येनैष निर्मितः ॥१४७॥
वृतश्च स मया भर्त्ता न शक्यश्चोपलक्षितुम्।
तस्मान्मे मरणं श्रेयो वने वा गमनं क्वचित् ॥१४८॥
तदत्र वद किं कार्यमित्युक्ता मुग्धया तया।
मायिनी तामवादीत्सा पुनः कनकमञ्जरी ॥१४९॥
विवाहे विनिधायैकां त्वद्वेषामिह चेटिकाम्।
निर्गत्य क्वापि यास्यावस्तत्कालं व्याकुले जने ॥१५०॥
तच्छ्रुत्वा राजपुत्री सा कुसखीं तामभाषत।
त्वमेव तर्हि मद्वेषं कृत्वात्मानं विवाहय ॥१५१॥
तेन राजसुतेनान्या का ममाप्ता भवादृशी।
इत्युक्ता सा तया पापावोचत्कनकमञ्जरी ॥१५२॥
एवं करिष्ये युक्त्याहं भवाश्वस्ता यदस्तु मे।
तत्कालं तु यथा वक्ष्ये कुर्वीथास्त्वं तथैव तत् ॥१५३॥
इत्याश्वास्यैव तां गत्वाशोककर्यै शशंस सा।
विश्वासभूभये सख्यै स्वरहस्यं चिकीर्षितम् ॥१५४॥
तयैव सहिता तान्त्र तान्यहान्यन्वसेवत।
हंसावलीं विमनसं कृतकर्त्तव्यसंविदम् ॥१५५॥
प्राप्ते च्चोद्वाहदिवसे वरे सायमुपागते।
तस्मिन्गजाश्वपादातसहिते कमलाकरे ॥१५६॥
सर्वस्मिन्नुत्सवव्यग्रे जने युक्त्यान्यचेटिकाः।
निवार्य वासकं गुप्तं प्रसाधननिभाद्द्रुतम् ॥१५७॥
हंसावलीं प्रवेश्यैव कृत्वा तद्वेषमात्मनः।
चक्रेऽशोककरीवेषां तां सा कनकमञ्जरी ॥१५८॥
अशोककर्याः स्वं वेषं सहचर्या विधाय च।
प्राप्ते निशागमे हंसावलीमेतामुवाच सा ॥१५९॥

अनन्तर, मैं उसी समय उसके साथ कमलाकर के समक्ष ले जाई गई। वहाँ जाकर मैंने देखा कि वह बीमार है, उसे प्रेत लगा हुआ है और उसके आसपास के लोग उसे सँभाल रहे हैं। इसके अतिरिक्त, उसने ओषधियों से युक्त एक मणि भी बाँध रखी थी ॥१४२-१४३॥

मैंने झूठमूठ उसकी प्रेत-बाधा दूर करने का उपाय किया और यह कहकर तुरत ही वहाँ से बाहर निकल आई कि मैं कल सवेरे आकर इनकी सब बाधाएँ दूर कर दूँगी ॥१४४॥

ऐसे अकल्पित अनिष्ट को देखकर मैं बहुत दुःखित हुई और तुमसे सारी बात कहने के लिए आई हूँ। अब तुम जैसा समझो, वैसा करो ॥१४५॥

वज्राघात के समान कठोर उसकी ये बातें सुनकर सीधी-सादी हंसावली घबरा गई। शीघ्रतापूर्वक उसने कहा—"गुणों से भरी अपनी ही सृष्टि के प्रति विधाता की यह ईर्ष्या धिक्कार के योग्य है। चन्द्रमा का कलंक भी उसी का दोष है, जिसने उसे बनाया है ॥१४६-१४७॥

उन्हें मैंने अपने पति के रूप में वरण किया था, किन्तु अब उनकी ओर देखना भी सम्भव नहीं रहा। अब या तो मेरा मर जाना अच्छा है या किसी वन में चला जाना ॥१४८॥

अब तुम्हीं बतलाओ कि मैं इस सम्बन्ध में क्या करूँ ?" जब कम्परहित हंसावली ने ऐसा कहा, तब मायाविनी कनकमंजरी उससे फिर यों बोली—"अपने वस्त्र पहनाकर तुम किसी दासी से उनका विवाह करा दो। लोग जब विवाह के झमेले में रहेंगे, तभी हम लोग निकलकर कहीं चले जायेंगे।" ॥१४९-१५०॥

यह सुनकर राजकुमारी ने अपनी उस दुष्टा सखी से कहा—"तब तुम्हीं मेरा वेष बनाकर राजकुमार से विवाह कर लो। मेरे लिए तुम्हारे-जैसी विश्वासिनी और कौन है ?" उसके ऐसा कहने पर पापिनी कनकमंजरी बोली—"तुम निश्चिन्त रहो। मैं युक्तिपूर्वक ऐसा ही करूँगी। फिर मेरा जो होना होगा, वह होगा। किन्तु, समय पर मैं जैसा कहूँगी, तुम वैसा ही करना।" ॥१५१–१५३॥

इस प्रकार, उसे धैर्य बँधाकर वह अशोककरी नाम की अपनी विश्वासिनी सखी के पास गई। उससे उसने अपना सारा रहस्य कह सुनाया ॥१५४॥

उसके साथ ही वह उन दिनों उदास हंसावली के पास रही, जो इस बात के लिए राजी हो गई थी कि वे जैसा कहेंगे, वह वैसा ही करेगी ॥१५५॥

जब विवाह का दिन आया, तब सायंकाल हाथी, घोड़े और पैदल सेना के सहित कमलाकर वर के वेश में पधारे ॥१५६॥

सभी लोग जब विवाह की हलचल में लगे हुए थे, शृंगार करने के बहाने सभी दासियों को शीघ्रतापूर्वक हटाकर कनकमंजरी, हंसावली को एक गुप्त कमरे में ले गई। वहाँ स्वयं उसने तो हंसावली का वेश बनाया और हंसावली को अशोककरी का वेश पहना दिया। अपनी सखी अशोककरी को, उसने अपने वेश में सजा दिया। फिर जब रात हुई, तब उसने हंसावली से कहा—॥१५७—१५९॥

पश्चिमेन विनिर्गत्य द्वारेणास्याः पुरो बहिः।
क्रोशमात्रे पुराणोऽस्ति सुषिरः शाल्मलिद्रुमः ॥१६०॥
गत्वा तस्यान्तरे स्थित्वा प्रतीक्षस्व मदागमम्।
कृते कार्ये च तत्राहं त्वामुपैष्यामि निश्चितम् ॥१६१॥
इत्युक्ता सा तया व्याजसख्या हंसावली तदा।
निरगात् तत्सखीवेषा तथेत्यन्तःपुरान्निशि ॥१६२॥
प्रायाच्च जन्याकीर्णेन पुरीद्वारेण तेन सा।
निर्गत्यालक्षिता तस्य मूलं शाल्मलिशाखिनः ॥१६३॥
दृष्ट्वान्धकारगहनं तद्गर्भं नाविशच्च सा।
बिभ्यती तत्समीपस्थं त्वारुरोहवटद्रुमम् ॥१६४॥
तत्रासीत्पल्लवच्छन्ना कुसखीमार्गदर्शिनी।
बुबुधे न तु तस्यास्तां कुसृतिं सरलाशया ॥१६५॥
तावद्राजकुले तत्र लग्नकालेऽभ्युपस्थिते।
धृतहंसावलीवेषां स्थितां कनकमञ्जरीम् ॥१६६॥
आनाय्यारोपितां वेदीं राज्ञा तां कमलाकरः।
उपयेमे सनीरङ्गीं निशि केनाप्यलक्षिताम् ॥१६७॥
कृतोद्वाहो गृहीत्वा च व्याजहंसावलीं द्रुतम्।
मायाकनकमञ्जर्याद्वितीकर्या युतां सताम् ॥१६८॥
अद्यैव शुभनक्षत्रवशात्स्वकटकं प्रति।
तेन प्रत्यक्पुरीद्वारमार्गेण प्रययौ ततः ॥१६९॥
गच्छंश्च शाल्मलितरोनिर्कटं प्राप तस्य सः।
यस्यान्तिके विप्रलब्धा स्थिता हंसावली वटे ॥१७०॥
प्राप्तं चात्र तमालिङ्ग्य त्रस्तेव कमलाकरम्।
कूटहंसावली साशु तदारूढेभपृष्ठगा ॥१७१॥
सम्भ्रमात्तेन पृष्टा च कैतवात्साश्रुरब्रवीत्।
आर्यपुत्राद्य जानेऽहं स्वप्नेऽस्माच्छाल्मलिद्रुमात् ॥१७२॥
निर्गत्य राक्षसीव स्त्री मां भक्षयितुमग्रहीत्।
ततः प्रधाव्य केनापि ब्राह्मणेनास्मि मोचिता ॥१७३॥
तेनैवाश्वास्य चोक्ताहं पुत्र्यमुं दाहयेस्तरुम्।
एतस्मान्निरियात्स्त्री चेत् क्षेप्तव्यात्रैव सा पुनः ॥१७४॥

"इस नगर के पच्छिमी द्वार से बाहर निकलकर एक कोस जाने पर सेमल का एक पुराना और खोखला वृक्ष मिलेगा। वहीं जाकर और उसके अन्दर छिपकर तुम मेरे आने की प्रतीक्षा करो। काम पूरा हो जाने पर मैं अवश्य ही वहाँ आकर तुमसे मिलूंगी" ॥१६०-१६१॥

हंसावली ने अपनी सखी की सारी बातें स्वीकार कर लीं और रात होने पर, उसने उसी का वेश बनाकर प्रस्थान किया। भीड़-भरी नगरी के द्वार से छिपकर निकलती हुई वह उस शाल्मली-वृक्ष के नीचे जा पहुँची ॥१६२-१६३॥

गहरा अँधेरा देखकर वह वृक्ष के खोखले में नहीं घुसी, बल्कि डरती हुई, पास के बरगद के वृक्ष पर चढ़ गई ॥१६४॥

पत्तों की आड़ में छिपकर वह अपनी कपटी सखी की बाट जोहने लगी; क्योंकि सरल-हृदया होने के कारण, वह उसका बुरा अभिप्राय ताड़ नहीं पाई थी ॥१६५॥

इधर राजभवन में जब विवाह का लग्न आया, तब हंसावली का वेश धारण करनेवाली कनकमंजरी को वेदी पर लाकर, राजा ने कमलाकर से उसका विवाह कर दिया। उसने मुँह पर घूंघट डाल रखा था, इसलिए कोई उसे पहचान नहीं सका ॥१६६-१६७॥

विवाह हो जाने पर, तत्काल ही शुभ नक्षत्र होने के कारण, वह राजकुमार नकली हंसावली और कनकमंजरी के वेश में अशोककरी को साथ लेकर, नगर के उसी पच्छिमी द्वार के रास्ते से, अपने पड़ाव की ओर चला ॥१६८-१६९॥

जाते-जाते वह उस सेमल वृक्ष के निकट पहुँचा, जिसके पास वट के वृक्ष पर धोखे में डाली गई हंसावली बैठी हुई थी ॥१७०॥

कमलाकर के साथ एक ही हाथी की पीठ पर बैठी हुई बनावटी हंसावली जब वहाँ पहुँची, तब, घबराकर उसने कमलाकर का आलिंगन कर लिया। कमलाकर ने जब इस घबराहट का कारण पूछा, तब उसने झूठे आँसू बहाते हुए कहा—"आर्यपुत्र, मैंने सपने में देखा था कि उस सेमल के पेड़ से राक्षसी के समान एक स्त्री ने निकलकर मुझे खाने के लिए पकड़ लिया। तब एक ब्राह्मण ने दौड़कर मुझे बचाया ॥१७१—१७३॥

उसी ब्राह्मण ने मुझे ढाढ़स बँधाते हुए कहा कि बेटी, तुम इस वृक्ष को जलवा दो। यदि इसमें से कोई स्त्री निकले, तो उसे भी आग में डाल दो" ॥१७४॥

एवं शिवं स्यादित्युक्त्वा द्विजे तस्मिंस्तिरोहिते ।
प्रबुद्धाहं स्मृतं चैतद् दृष्ट्वा तरुममु मया ॥१७५॥
तेन भीताहमित्युक्तस्तया स कमलाकरः ।
आदिदेशाशु भृत्यान्स्वांस्तयोर्दाहे तरुस्त्रियोः ॥१७६॥
अधाक्षुस्ते च तं वृक्षं कूटहंसावली च सा ।
दग्धां हंसावलीमत्र मेने तस्मादनिर्गताम् ॥१७७॥
ततस्तया स कमलाकरो निर्वृतया सह ।
सत्यहंसावलीलाभं मन्वानः कटकं ययौ ॥१७८॥
ततोऽपि त्वरितं यातः प्रातः स्वां कोशलां पुरीम् ।
कृतकार्यत्वतुष्टेन पित्रा राज्येऽभ्यषिच्यत ॥१७९॥
वनं पितरि याते च सोऽनुशास्ति स्म मेदिनीम् ।
व्याजहंसावलीं भार्यां बिभ्रत्कनकमञ्जरीम् ॥१८०॥
स मनोरथसिद्धिस्तु दूरे राजकुलादभूत् ।
वन्दी तया परिज्ञानाच्छरीरभयशङ्कया ॥१८१॥
सापि हंसावली तस्यां रात्रौ तत्र वटे स्थिता ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च तत्सर्वं वञ्चितास्मीत्यबुध्यत ॥१८२॥
अचिन्तयत्तु तत्कालं प्रयाते कमलाकरे ।
अहो ममैतया कान्तः कुसख्या छद्मना हृतः ॥१८३॥
अहो दग्ध्वैव मामस्मान्निर्वृतिं प्राप्तुमीप्सति ।
अश्रेयसे न वा कस्य विश्वासो दुर्जने जने ॥१८४॥
तदस्य मत्कृते दग्धस्याङ्गारार्चिषि शाल्मलेः ।
क्षिपाम्यभव्यमात्मानं भवस्याम्यानृणा तरोः ॥१८५॥
इत्यालोच्यावरुह्याथ वटात्प्राणव्ययोन्मुखी ।
जातबुद्धिर्विधेर्योगादित्यन्तर्विममर्श सा ॥१८६॥
किं त्यजामि वृथात्मानं जीवन्ती नचिरादहम् ।
मन्युप्रतिक्रियां तस्याः करिष्यामि सखीद्रुहः ॥१८७॥
तातस्य हि तदा स्वप्ने ज्वराक्रान्तस्य शौरिणा ।
तच्छान्तिं मत्करस्पर्शादादिश्योक्तमभूदिदम् ॥१८८॥
हंसावली पतिं प्राप्स्यत्युचितं कमलाकरम् ।
कालं कमपि तु क्लेशो भवितास्या मनागिति ॥१८९॥

अनन्तर, 'कल्याण हो' कहकर वह ब्राह्मण अन्तर्धान हो गया और मेरी नींद खुल गई। इस वृक्ष को देखकर अब मुझे उसकी याद हो आई है और इसी से मैं डर गई हूँ। उसके ऐसा कहने पर कमलाकर ने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि वे उस वृक्ष के साथ उस स्त्री को भी जला दें॥१७५-१७६॥

नौकरों ने उस वृक्ष को जला दिया। उसमें से हंसावली नहीं निकली, इसलिए उस बनावटी हंसावली ने समझा कि हंसावली उसी आग में जल मरी॥१७७॥

हंसावली को जली हुई जानकर उसको सन्तोष हो गया। कमलाकर भी उसको असली हंसावली जानकर उसके साथ अपनी छावनी में चला गया॥१७८॥

दूसरे दिन सवेरे वहाँ से भी चलकर, वह अपनी कोशलापुरी में जा पहुँचा। उसकी सफलता से सन्तुष्ट होकर पिता ने उसे राजपाट सौंप दिया॥१७६॥

पिता के वन चले जाने पर, वह राजकुमार बनावटी हंसावली के रूप में कनकमंजरी के साथ सुख-भोग करते हुए धरती का शासन करने लगा॥१८०॥

कनकमंजरी को पहचानने के कारण मनोरथसिद्धि नाम के उस बन्दी को शरीर का भय था, इसलिए वह राजभवन से दूर-ही-दूर रहता था॥१८१॥

उधर उस हंसावली ने भी, जो रात को बरगद के वृक्ष पर बैठी थी, सारी बातें सुन और देखकर समझ लिया कि मुझे धोखा दिया गया है॥१८२॥

उस समय कमलाकर के चले जाने पर उसने सोचा कि हाय, मेरी इस कपटी सखी ने धोखे से मेरे प्रिय को मुझसे छीन लिया है॥१८३॥

यहाँतक कि वह मुझे जलाकर इस सम्बन्ध में निश्चिन्त होना चाहती है। सच है कि दुर्जन मनुष्यों पर विश्वास करना किसके लिए हानिकारक नहीं होता है॥१८४॥

मेरे ही कारण सेमल का यह वृक्ष जलाया गया है, अतः मैं इसके अंगारों की ज्वाला में अभागिनी अपने को डालकर, इस वृक्ष से उऋण हो जाऊँ॥१८५॥

ऐसा सोचकर वह बरगद के पेड़ पर से उतर आई और अपना शरीर-त्याग करने को उद्यत हो गई। विधि के विधान से उसके मन में सद्बुद्धि उपजी और उसने सोचा कि व्यर्थ ही मैं अपने प्राण क्यों दूं? यदि मैं जीवित रहूँगी, तो सखी का द्रोह करनेवाली उस कनकमंजरी से इस दुर्दशा का बदला ले सकूँगी॥१८६–१८७॥

जब पिताजी को ज्वर आया था और भगवान् विष्णु ने स्वप्न में उन्हें यह बतलाया कि मेरे हाथों के स्पर्श से उसकी शान्ति होगी, उसी समय उन्होंने यह भी कहा था कि हंसावली के लिए उपयुक्त पति कमलाकर हैं और वह उन्हें प्राप्त भी करेगी, लेकिन उसे कुछ समय तक थोड़ा कष्ट होगा॥१८८–१८९॥

तद्गत्वा क्वापि पश्यामि तावदित्यवधार्य सा।
हंसावली ततः प्रायान्निर्जनामटवीं प्रति।।१९०।।
दूरं गतायास्तस्याश्च क्लान्तायाः प्रस्खलद्गतेः।
मार्गप्रकटनायेव दयया सा ययौ क्षपा।।१९१।।
तद्दर्शनसमुद्भूतकृपावेशवशादिव ।
मुमोच द्यौरवश्यायबाष्पवारिकणोत्करम्।।१९२।।
तदश्रुमार्जनायेव प्रसारितकरो रविः।
दर्शिताशाकृताश्वासमुदगाद्गुणिबान्धवः ।।१९३।।
ततः सा किञ्चिदुच्छ्वस्ता निरस्तजनदर्शना।
उत्पथैः क्रमशो यान्ती कुशकण्टकविक्षता।।१९४।।
राजपुत्री चिरात्प्राप वनमेकं विहङ्गमैः।
गुञ्जद्भिरित एहीति वदद्भिरिव राजितम्।।१९५।।
तत्र सा प्राविशच्छ्रान्ता वीज्यमानेव सादरम्।
वातवेल्लल्लताजालतालवृन्तैरनोकहैः ।।१९६।।
ददर्श च वनं सा तन्मधुस्फीतं प्रियोत्सुका।
प्रफुल्लसहकारस्थकलकूजितकोकिलम् ।।१९७।।
विग्ना च चिन्तयामास मां दहत्यत्र यद्यपि।
पुष्परेणुपिशङ्गोऽयं मलयानिलपावकः।।१९८।।
तरुभ्यो निपतन्तश्च कुसुमप्रकरा इमे।
नदत्स्वलिषु निघ्नन्ति कामबाणोत्करा इव।।१९९।।
तथापि कुसुमैरेभिः पूजयन्ती रमापतिम्।
इहैव तावत्तिष्ठामि क्षपयन्ती स्वदुष्कृतम्।।२००।।
इति सञ्चिन्त्य वापीषु स्नान्ती तस्थौ फलाशना।
तत्र पूजापरा शौरेः प्रेप्सुः सा कमलाकरम्।।२०१।।
अत्रान्तरे कोशलायां विधियोगाज्ज्वरेण सः।
चातुर्थिकेन दीर्घेण जगृहे कमलाकरः।।२०२।।
तद्दृष्ट्वा तत्र सा पापा कूटहंसावली तदा।
भीता व्यचिन्तयच्चैतस्यैवं कनकमञ्जरी।।२०३।।
एकं तावद्भयं मेऽन्तः सदाशोककरीकृतम्।
मन्त्रभेदात्तदुपरि द्वितीयमिदमागतम् ।।२०४।।

इसलिए, मैं कहीं जाकर देखूँ कि आगे क्या होता है। ऐसा निश्चय करके हंसावली निर्जन वन की ओर चल पड़ी ॥१९०॥

बहुत दूर चलने के कारण वह थक गई और उसके पैर लड़खड़ाने लगे, तब मानों उसपर दया करके, उसको मार्ग दिखलाने के लिए ही रात बीत गई ॥१९१॥

उसको उस हालत में देखकर, दया-परवश होकर, आकाश मानों ओस के आँसू गिराने लगा ॥१९२॥

गुणियों के बन्धु सूर्य ने मानों उसके आँसू पोंछने के लिए ही अपनी किरणें फैलाईं और ऊपर उठकर, उसे दिलासा देते हुए, उसके सम्मुख दिशाओं को प्रकट किया ॥१९३॥

इस तरह कुछ आश्वासन पाकर, किसी मनुष्य को देखने की इच्छा न रखती हुई, कुश-कंटकों से क्षत-विक्षत वह राजकुमारी, पगडण्डियों पर चलती हुई एक वन में पहुँची, जो मानों 'यहाँ आओ', 'यहाँ आओ' कहकर गुंजार करते हुए पक्षियों से शोभित हो रहा था ॥१९४–१९५॥

थकी हुई हंसावली ने जब वहाँ प्रवेश किया, तब मानों वायु से हिलाये गये वृक्ष अपनी डालियों और लताओं के द्वारा उसको पंखा झलने लगे ॥१९६॥

अपने प्रियतम के लिए उत्सुक हंसावली ने उस वन को देखा, जहाँ भरे मधुमास में मंजरित आम्रवृक्षों पर, कोकिल कल-कूजन कर रहे थे ॥१९७॥

उदास होकर उसने सोचा कि यद्यपि यहाँ पुष्प-पराग से पीली पड़ी मलयानिल की आग मुझे जलायगी और भौंरों के गुंजार के बीच वृक्षों से गिरते हुए ये फूलों के गुच्छे कामदेव के बाण-समूहों की भाँति घायल करेंगे, फिर भी मैं इन्हीं फूलों से भगवान् विष्णु की पूजा करती हुई और पापों का प्रक्षालन करती हुई यहीं रहूँगी ॥१९८–२००॥

ऐसा सोचकर कमलाकर को पाने की इच्छा रखनेवाली हंसावली वापी में स्नान करती, फलों का भोजन करती और भगवान् विष्णु के पूजन में लगी हुई वहीं रहने लगी ॥२०१॥

इस बीच कोशला नगरी में, संयोगवश, कमलाकर को मियादी चौथिया बुख़ार ने पकड़ लिया। यह देखकर हंसावली के वेश में रहनेवाली पापिनी कनकमंजरी बहुत घबरा गई। उसने सोचा कि एक तो मुझे अशोककरी का भय बराबर बना ही हुआ था कि कहीं वह सारा भेद न खोल दे, उसपर से यह दूसरी विपत्ति आ गई ॥२०२–२०४॥

यदस्य मत्प्रभोः पूर्वं कथितो ज्वरनाशनः।
हंसावलीकरस्पर्शस्तत्पित्रा जनसन्निधौ ।।२०५।।
तच्चाधुना ज्वराक्रान्तो यदैवैष स्मरिष्यति।
अतत्प्रभावा नङ्क्ष्यामि तदैवोद्घाटिता सती ।।२०६।।
तन्मे कयापि योगिन्या यः पूर्वं ज्वरचटेकः।
प्रोक्तो विधिवदस्यार्थे ज्वरघ्नं साधयामि तम् ।।२०७।।
तस्यैवाग्रे च हन्म्येतां युक्तत्याशोककरीं यतः।
मानुषाङ्गैः कृतार्घादिः स सिद्धोऽभीष्टकृद्भवेत् ।।२०८।।
एवं राज्ञो ज्वरे नष्टेऽशोककर्यानया सह।
उभे भये मे शाम्येतां न पश्याम्यन्यथा शिवम् ।।२०९।।
इत्यालोच्याविरुद्धं यत्तत्तस्यै स्वमनीषितम्।
शशंसाशोककर्यै सा मानुषाघातवर्जितम् ।।२१०।।
ततो दत्तानुमतया सम्भारे ढौकिते तया।
तद्द्वितीया स्वया युक्त्या वहिः कृत्वा परिच्छदम् ।।२११।।
द्वारान्तरेण निर्गत्य गुप्तमन्तःपुरान्निशि।
ययौ शून्यैकलिङ्गं सा खड्गहस्ता शिवालयम् ।।२१२।।
तत्र खड्गहतच्छागशोणितस्नानरञ्जितम्।
तदस्रकल्पितार्घञ्च तदन्त्रस्रग्विवेष्टितम् ।।२१३।।
आनर्च शिवलिङ्गं सा तद्धृतपद्मेन मूर्धनि।
धूपं दत्वा तदक्षिभ्यां तच्छिरोऽस्मै वलिं ददौ ।।२१४।।
ततस्तदग्रवेद्याञ्च लिप्तायां रक्तचन्दनैः।
लिलेख गोरोचनया कमलं साष्टपल्लवम् ।।२१५।।
तत्कर्णिकायां सास्रेण पिष्टेन रचितं ज्वरम्।
भस्ममुष्टिप्रहरणं त्रिपादं त्रिमुखं न्यधात् ।।२१६।।
पल्लवेषु निवेश्यात्र परिवारं यथाविधि।
ज्वरस्य निजमन्त्रेण तस्याह्वानं व्यधत्त सा ।।२१७।।
ततः पूर्वोक्तवत्सस्य स्नानार्घ्याद्योपहारिकम्।
चिकीर्षुर्मानुषाङ्गास्रैः प्राहाशोककरीं स्म ताम् ।।२१८।।
भूतल न्यस्तसर्वाङ्गं देवस्य सखि साम्प्रतम्।
कुरु प्रणाममेवं हि श्रेयस्तव भविष्यति ।।२१९।।

हंसावली के पिता ने बहुत-से लोगों के सामने मेरे पति से कहा था कि हंसावली के हाथ के स्पर्श में बुखार उतार देने की शक्ति है। ज्वर में पड़े हुए कमलाकर को अब जो कहीं उस बात का स्मरण आ गया, तो मुझमें वह प्रभाव न होने के कारण, मेरा सारा भेद खुल जायगा और मैं कहीं की न रह जाऊँगी ॥२०५–२०६॥

अतः, इसके लिए मैं विधिपूर्वक उस ज्वरचेटक की साधना करूँगी, जो ज्वर का नाश करनेवाला है, और जिसे बहुत पहले किसी योगिनी ने मुझे बताया था ॥२०७॥

फिर, मैं युक्तिपूर्वक उसी के सम्मुख अशोककरी को मार डालूँगी; क्योंकि मनुष्य-शरीर का अर्घ्य देकर उसे सिद्ध करने से, वह मेरी इच्छा के अनुसार आचरण करेगा ॥२०८॥

इस प्रकार, राजा का ज्वर छूट जाने और अशोककरी से छुटकारा मिल जाने पर मेरे दोनों ही भय जाते रहेंगे। अन्यथा मैं अपना कल्याण नहीं देखती ॥२०९॥

यह सोचकर उसने अशोककरी को वे सारी बातें बतला दीं, जो उसे बतलाने लायक थीं। वह उसको भी मारना चाहती है, यह बात उसने छिपा रखी ॥२१०॥

अशोककरी ने भी उसकी हाँ में हाँ मिलाई और सारा सामान स्वयं ही इकट्ठा किया। नकली हंसावली ने उसको छोड़कर और सब दासियों को युक्तिपूर्वक वहाँ से हटा दिया ॥२११॥

जब रात हुई, तब वह छिपकर दूसरे दरवाजे से निकल गई और हाथ में तलवार लेकर एक सूने शिवालय में गई, जिसमें केवल एक शिवलिंग स्थापित था ॥२१२॥

वहाँ उसने तलवार से एक बकरे को मार डाला और उसके रक्त से शिवलिंग को स्नान कराया, रक्त का ही अर्घ्य दिया, अँतड़ियों की माला चढ़ाई, उसके हृदय-कमल को शिवलिंग के माथे पर चढ़ाया, उसकी आँखों का धूप दिया और उसके सिर की बलि देकर शिवलिंग का पूजन किया ॥२१३-२१४॥

अनन्तर, उसने रक्त-चन्दन से लिपी हुई अग्रवेदी पर गोरोचन से अष्टदल कमल बनाया। उसके कोने पर रक्त की पिट्ठी की, तीन पैरों और तीन मुखोंवाली ज्वर की मूर्त्ति बनाई तथा उसके हाथों में भस्ममुष्टि नामक शस्त्र दिया ॥२१५-२१६॥

उस कमल के दलों पर विधिपूर्वक ज्वर के परिवार को अंकित करके, उसने अपने मन्त्र के द्वारा उस ज्वर का आह्वान किया ॥२१७॥

अनन्तर, पहले कहे हुए के समान ही, मनुष्य के रक्त से स्नानार्घ्य देने की इच्छा रखनेवाली कनकमंजरी ने, अशोककरी से कहा कि सखी, तुम देवता के सामने जमीन पर लेटकर प्रणाम करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा ॥२१८-२१९॥

ततस्तथेति धरणौ प्रणताया दुराशया।
तस्याः खड्गप्रहारं सा ददौ कनकमञ्जरी ॥२२०॥

तेन दैवान्मनाक् स्कन्धे क्षता सत्रासमुत्थिता।
विद्रुता सानुयान्तीं तां दृष्ट्वा कनकमञ्जरीम् ॥२२१॥

त्रायध्वमिति चक्रन्द यदाशोककरी मुहुः।
तेनाभ्यधावन्नगरीरक्षिणोऽत्राभितो जनाः ॥२२२॥

ते दृष्ट्वाकृष्टखड्गां तां भीमां कनकमञ्जराम्।
मृतकल्पां व्यधुः शस्त्रप्रहारै राक्षसीधिया ॥२२३॥

बुद्ध्वाशोककरी वक्त्राद्यथातत्त्वं ततश्च ते।
द्वे ते राजकुलं निन्युः पुरस्कृत्य पुराधिपम् ॥२२४॥

विज्ञप्तस्तत्र तै राजा सम्भ्रान्तः कमलाकरः।
आनाययत्कुभार्यां तां स्वान्तिकं ताञ्च तत्सखीम् ॥२२५॥

तयोश्चानीतयोर्भीत्या प्रहारव्यथया च सा।
तीव्रयोत्क्रान्तजीवाभूत् सद्यः कनकमञ्जरी ॥२२६॥

ततोऽशोककरीं राजा व्रणितां तां स तत्सखीम्।
किमिदं निर्भया ब्रूहीत्यपृच्छदतिदुर्मनाः ॥२२७॥

सा च तस्मै तदा मूलात्तथा सर्वमवर्णयत्।
यथा कनकमञ्जर्या कृतं तद्व्याजसाहसम् ॥२२८॥

ततोऽधिगततत्त्वार्थः स राजा कमलाकरः।
एवं शुशोच तत्कालमात्मानं भृशदुःखितः ॥२२९॥

विप्रलब्धोऽस्म्यहं कूटहंसावल्या वर्तेतया।
मूढेन यत्स्वहस्तेन दग्धा हंसावली मया ॥२३०॥

स्वदुष्कृतफलं तावत्पापया लब्धमेतया।
यद्राजमहिषी भूत्वा प्राप्तैषा वधमीदृशम् ॥२३१॥

कथं तु रूपमात्रेण सम्मोह्याहं शिशुर्यथा।
हृतरत्नेन मुषितो दत्त्वा काचं कुवेधसा ॥२३२॥

ज्वरशान्त्यै मया सोऽपि ज्ञप्तिकृद्वत न स्मृतः।
हंसावलीकरस्पर्शस्तत्पितुर्विष्णुनोदितः ॥२३३॥

'जो आज्ञा' कहकर जब अशोककरी जमीन पर लेटी, तब दुष्टा कनकमंजरी ने उस पर तलवार चलाई ॥२२०॥

संयोगवश तलवार के उस वार से अशोककरी के कन्धे पर हलकी-सी ही चोट आई। वह घबराकर उठ खड़ी हुई और भागने लगी। उसने जब कनकमंजरी को अपने पीछे आते हुए देखा, तब 'बआओ-बचाओ' कहकर बार-बार चिल्लाने लगी। यह सुनकर नगर की रक्षा करनेवाले सिपाही, जो पास ही थे, दौड़ आये ॥२२१-२२२॥

उन्होंने जब तलवार खींचकर आई हुई भयावनी कनकमंजरी को देखा, तब राक्षसी समझकर तलवार की मार से उसे मरी हुई-सी बना दिया ॥२२३॥

अशोककरी के मुँह से सारी बातें जानकर वे लोग उन दोनों को राजभवन की ओर ले चले। उनके आगे-आगे नगर-कोतवाल चल रहा था ॥२२४॥

उन्होंने जब राजा को सारा वृत्तान्त बतलाया, तब राजा कमलाकर अचरज में पड़ गये। उन्होंने अपनी दुष्टा भार्या और उसकी सखी को अपने पास बुलवाया ॥२२५॥

जब वे दोनों राजा के सम्मुख ले आई गईं, तब प्रहार की कठिन पीडा से और भय से शीघ्र ही कनकमंजरी के प्राण जाते रहे ॥२२६॥

कनकमंजरी के मर जाने पर दुःखी होकर राजा ने उसकी घायल सखी अशोककरी से पूछा—"यह कैसी बात है? निर्भय होकर मुझसे सब कुछ कहो।" ॥२२७॥

तब उसने आरम्भ से सब कुछ बतला दिया कि किस प्रकार कनकमंजरी ने हंसावली बनने का साहस किया था ॥२२८॥

इस प्रकार, असली बातें जानकर राजा कमलाकर बड़ा दुःखी हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगा—"हाय, मैं मूढ इस झूठी हंसावली के द्वारा ठगा गया, जिसने अपने ही हाथों से हंसावली को जला दिया ॥२२९-२३०॥

इस पापिनी ने तो अपने पापों का फल पा लिया कि जिसने राजा की पटरानी होकर भी ऐसी मृत्यु पाई ॥२३१॥

दुष्ट विधाता ने मुझे बच्चों की तरह केवल रूप से लुभाकर मेरा रत्न छीन लिया और मुझे काँच देकर ठग लिया ॥२३२॥

भगवान् विष्णु ने उसके पिता को जो यह बतलाया था कि उसके हाथ के स्पर्श से ज्वर की शान्ति हो जाती है, इस बात को जानते हुए भी मुझको उसका ध्यान नहीं आया" ॥२३३॥

एवं स विलपन्स्मृत्वा व्यमृशत्कमलाकरः।
हंसावली पतिं प्राप्स्यत्येषा क्लेशो मनाक्पुनः ॥२३४॥
भवितास्या इति वचो वैष्णवं मेघमालिना।
तत्पित्रोक्तं हि मे तच्च प्रसिद्धं न भवेन्मृषा ॥२३५॥
तत्सा कथञ्चिदन्यत्र गता जीवेत्कदाचन।
स्त्रीचित्तस्येव दैवस्य को वेत्ति गहनां गतिम् ॥२३६॥
तन्मनोरथसिद्धिः स वन्दी मेऽत्र गतिः पुनः।
इत्यालोच्य स तं वन्दिवरमानाययन्नृपः ॥२३७॥
अब्रवीच्च कथं भद्र भवान्नैवेह दृश्यते।
क्व मनोरथसिद्धिर्वा तेषां ये धूर्त्तवञ्चिताः ॥२३८॥
तच्छ्रुत्वा। सोऽवदद्वन्दी मन्त्रभेदभयाहृता।
एषैवाशोककर्यत्र महाराज ममोत्तरम् ॥२३९॥
न च हंसावलीहेतोः कार्या तेऽत्र विषादिता।
आदिष्टा हरिणैवास्याः कञ्चित्कालं हि दुःस्थितिः ॥२४०॥
तन्नित्याराधनोद्योगान्निश्चितं तां स रक्षति।
प्रभवत्येव धर्मो हि नेह दृष्टं तथा च किम् ॥२४१॥
तदहं देव यास्यामि तत्प्रवृत्त्युपलब्धये।
इति तेन स विज्ञप्तो वन्दिना क्षितिपोऽब्रवीत् ॥२४२॥
आत्मनाहं प्रयास्यामि तामन्वेष्टुं त्वया सह।
अन्यथा नैव मे चेतः क्षणमप्यवतिष्ठत ॥२४३॥
एवमुक्त्वा विनिश्चित्य प्रज्ञाढ्याख्यस्य मन्त्रिणः।
हस्तेऽन्येद्युर्निचिक्षेप राज्यं स कमलाकरः ॥२४४॥
वार्यमाणोऽप्यलं तेन नगर्या प्रययौ ततः।
निर्गत्यालक्षितः साकं स मनोरथसिद्धिना ॥२४५॥
वभ्राम च विचिन्वानः क्षेत्राश्रमवनानि सः।
अनपेक्षितदेहार्त्तिगुर्वी ह्याज्ञा मनोभुवः ॥२४६॥
क्रमेण प्राप दैवात्तत्काननं यत्र सा स्थिता।
हंसावली तपस्यन्ती स मनोरथसिद्धिकः ॥२४७॥
तत्रापश्यच्च तां मूले रक्ताशोकस्य भास्वतः।
अन्त्यामिव कलामिन्दोः क्षामां पाण्डुमनोरमाम् ॥२४८॥

इस प्रकार विलाप करते हुए कमलाकर ने सोचा कि हंसावली के पिता मेघमाली ने, भगवान् विष्णु की कही हुई और सबकी जानी हुई यह बात मुझसे कही थी कि हंसावली ने कमलाकर को, पति के रूप में पायगी; किन्तु थोड़े दिनों तक उसे कष्ट उठाना पड़ेगा। उनकी यह बात मिथ्या नहीं हो सकती ॥२३४-२३५॥

हो सकता है कि वह कहीं और चली गई हो और अभी जीवित हो; क्योंकि स्त्री के हृदय और दैव की गहन गति को कौन जान सकता है? ॥२३६॥

इस सम्बन्ध में मनोरथसिद्धि नामका वह बन्दी ही सहायता कर सकता है। ऐसा सोचकर राजा ने उस श्रेष्ठ बन्दी को बुलवाया ॥२३७॥

राजा ने कहा—"क्या बात है कि आजकल तुम यहाँ नहीं दीख पड़ते? मैं धूर्तों के द्वारा ठगा गया हूँ। मेरी मनोरथ-सिद्धि कैसे होगी?" ॥२३८॥

यह सुनकर उस बन्दी ने कहा कि, महाराज, अपना भेद खुल जाने के भय से, कनकमंजरी द्वारा यहाँ आहत हुई यह अशोककरी ही मेरा उत्तर है ॥२३९॥

अतः, हंसावली के लिए आपको खेद नहीं करना चाहिए; क्योंकि भगवान् विष्णु ने ही कहा है कि कुछ समय तक उन्हें कष्ट उठाना पड़ेगा ॥२४०॥

हंसावली नित्य नियमपूर्वक उनकी आराधना करती है, अतः वे निश्चय ही उनकी रक्षा करेंगे। धर्म की ही विजय होती है, क्या इस बात को आपने इसी (अशोककरी) के सम्बन्ध में सच होते नहीं देखा है? ॥२४१॥

इसलिए, मैं हंसावली का पता लगाने के लिए जा रहा हूँ। उस बन्दी के ऐसा कहने पर राजा उससे बोले—"मैं स्वयं भी उसे ढूँढ़ने के लिए तुम्हारे साथ चलूँगा; क्योंकि ऐसा न करने से मुझे क्षणभर भी शान्ति नहीं मिलेगी ॥२४२-२४३॥

ऐसा कहकर और हंसावली का पता लगाने के लिए जाने का निश्चय करके, कमलाकर ने अगले दिन प्रज्ञाढ्य नामक मन्त्री को राज्य सौंप दिया ॥२४४॥

मन्त्री के बहुत रोकने पर भी राजा चुपचाप नगर से बाहर निकलकर मनोरथसिद्धि के साथ चले गये ॥२४५॥

शरीर-कष्ट की ओर ध्यान दिये विना वे हंसावली को ढूँढ़ते हुए क्षेत्र, आश्रम और वनों में घूमने-फिरने लगे: सच है कि कामदेव की आज्ञा सबसे बड़ी होती है ॥२४६॥

घूमते-फिरते संयोग से वे मनोरथसिद्धि के साथ उसी वन में जा पहुँचे, जहाँ हंसावली तपस्या कर रही थी ॥२४७॥

वहाँ उन्होंने एक तेजस्वी रक्ताशोक-वृक्ष के नीचे, चन्द्रमा की अन्तिम कला के समान क्षीण, पीली पड़ी हुई और सुन्दर हंसावली को देखा ॥२४८॥

उवाच वन्दिनं तं स कथं निःशब्दनिश्चला ।
ध्यानस्था देवता किं स्याद्रूपमस्या ह्यमानुषम् ॥२४९॥
तच्छ्रुत्वा वीक्ष्य सोऽवादीद् बन्दी दिष्ट्याभिवर्धसे ।
देव हंसावलीप्राप्त्या सैव ह्येषात्र तिष्ठति ॥२५०॥
श्रुत्वा तत्प्रेक्ष्य तौ तं च प्रत्यभिज्ञाय वन्दिनम् ।
चक्रन्द सा नवीभूतदुःखा हसावली तदा ॥२५१॥
हा तात हा हतास्म्यार्यपुत्र हा कमलाकर ।
हा मनोरथसिद्धे हा विपरीतविधे विधे ॥२५२॥
इत्येवं विलपन्ती सा मुमूर्च्छ भूवि सोऽपि ताम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वापतद्भूमौ दुःखार्त्तः कमलाकरः ॥२५३॥
आश्वासिता ततस्तेन तौ मनोरथसिद्धिना ।
उभौ निश्चितविज्ञातपरस्परसुनिर्वृतौ ॥२५४॥
विषयोगार्णवोत्तीर्णौ काञ्चिन्मुदमवापतुः ।
अन्योन्यं च क्रमात्सर्वं स्वं स्वं वृत्तान्तमूचतुः ॥२५५॥
ततो हंसावलीं तां स गृहीत्वा कमलाकरः ।
वन्दिना सहितस्तेन ययौ स्वां कोशलां पुरीम् ॥२५६॥
तत्रामयहरं तस्याः पाणिं विधिवदग्रहीत् ।
आनायिते तत्पितरि प्रतीते मेघमालिनि ॥२५७॥
तदा तया समं युवतो विशुद्धोभयपक्षया ।
हंसावल्यातिविमलः शुशुभे कमलाकरः ॥२५८॥
अरंस्त च तया साकं कृती फलितधैर्यया ।
शासन्महीमवियुतः स मनोरथसिद्धिना ॥२५९॥
एवमापद्य सन्त्यक्तधैर्यैः सर्वमवाप्यते ।
तद्वत्स मा तनुं त्याक्षीर्जीवन्प्राप्स्यसि तं प्रभुम् ॥२६०॥
इत्थं स वृद्धपथिकः कथामाख्याय देव मे ।
निवार्य मरणान्माञ्च यथाकामं ययौ ततः ॥२६१॥
इत्युक्त्वा तत्र रात्रौ स चण्डकेतुगृहे तदा ।
मृगाङ्कदत्तमवदत् पुनर्भीमपराक्रमः ॥२६२॥

कमलाकर ने बन्दी से पूछा—"मौन और निश्चल होकर ध्यान में डूबी हुई यह कौन है? क्या यह कोई वनदेवी है? इसका रूप तो मनुष्यों का-सा नहीं है" ॥२४९॥

यह सुनकर बन्दी ने उसकी ओर देखा, फिर कहा—"देव, हंसावली को पाने से आपकी अभिवृद्धि हो; क्योंकि वही हंसावली आपके सामने है" ॥२५०॥

बन्दी की बात सुनकर हंसावली ने उसकी ओर देखा। उसने बन्दी को पहचान लिया। उन्हें देखकर उसका दुःख नया-सा हो गया और वह रोने लगी ॥२५१॥

"हा तात, हा आर्यपुत्र कमलाकर, हा मनोरथसिद्धि, हा विपरीत काम करनेवाले विधाता, मैं मारी गई!" इस प्रकार विलाप करती हुई हंसावली मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ी। कमलाकर भी उसकी बातें सुनकर तथा उसे देखकर दुःख से विह्वल हो गये और धरती पर गिर पड़े ॥२५२-२५३॥

अनन्तर, मनोरथसिद्धि ने उन दोनों को धीरज बँधाया। उन दोनों ने भी एक दूसरे के मन का हाल जानकर आनन्द पाया ॥२५४॥

विरह का समुद्र पार कर लेने के कारण उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। क्रमशः उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त एक दूसरे से कह सुनाया ॥२५५॥

अनन्तर, राजा कमलाकर हंसावली को लेकर, बन्दी के सहित, अपनी कोशलापुरी को लौट गये ॥२५६॥

वहाँ हंसावली के प्रसिद्ध पिता मेघमाली को बुलवाकर कमलाकर ने विधिपूर्वक उसके रोगनाशक हाथों को ग्रहण किया, अर्थात् उसके साथ विवाह किया ॥२५७॥

अनन्तर, अत्यन्त निर्मल कमलाकर दोनों कुलों से शुद्ध हंसावली के साथ बहुत शोभित होने लगे ॥२५८॥

कृती कमलाकर, उस हंसावली के साथ, जिसका धैर्य सफल हुआ था, सुखपूर्वक रहते हुए और मनोरथसिद्धि को अपने निकट रखते हुए, धरती का शासन करने लगे ॥२५९॥

"इस प्रकार, विपत्ति में धैर्य का त्याग न करने से, मनुष्य के सारे मनोरथ पूरे होते हैं। अतः वत्स, तुम शरीर का त्याग मत करो। जीवित रहोगे, तो तुम अपने राजा से अवश्य मिल सकोगे" ॥२६०॥

हे देव, वह वृद्धपथिक मुझे यह कथा सुनाकर और मरने से रोककर, जहाँ उसे जाना था, वहाँ चला गया ॥२६१॥

चण्डकेतु के घर में रात के समय मृगांकदत्त से इतना कहने के बाद, भीमपराक्रम ने फिर कहा—॥२६२॥

अथ लब्धोपदेशः संस्ततोऽटव्यास्त्वदाप्तये ।
गन्तुं तवाभिलषितामगामुज्जयिनीमहम् ॥२६३॥
तत्र युष्मानसम्प्राप्य श्रान्तः कस्याश्चन स्त्रियः ।
दत्तभोजनमूल्योऽहं वासाय प्राविशं गृहम् ॥२६४॥
तत्र तद्दत्तशयनः क्षणं सुप्तः श्रमादहम् ।
प्रबुध्य यावत्पश्यामि कौतुकान्निभृतः स्थितः ॥२६५॥
तावत्सा स्त्री गृहीत्वैव यवमुष्टिं गृहान्तरे ।
समन्तादावपत्तत्र मन्त्रेण स्फुरिता धरा ॥२६६॥
तैर्यवैस्तत्क्षणे जातः फलितः पक्वतां गतः ।
लूनैर्भृष्टैश्च पिष्टैश्च सक्तवो विहितास्तया ॥२६७॥
तान्सक्तून्कांस्यपात्र्यां सा निधायाद्भिः समुक्षितान् ।
पूर्वावस्थं गृहं कृत्वा स्नानाय निरगाद्द्रुतम् ॥२६८॥
ततस्तां शाकिनीं मत्वा स्वैरमुत्थाय सत्वरम् ।
अन्यत्र सक्तुभाण्डे तान् पात्र्यां सक्तून्यधाम्यहम् ॥२६९॥
सक्तुभाण्डात्ततश्चान्यान्सक्तूनुद्धृत्य तावतः ।
तस्यां स्थापितवानस्मि पात्र्यां रक्षितसङ्करः ॥२७०॥
ततो मय्याश्रिते भूयः शयनं स्त्री प्रविश्य सा ।
उत्थाप्य मामदात्पात्र्यास्तान्सक्तून्भोजनाय मे ॥२७१॥
स्वयं च बुभुजे तस्माद्गृहीत्वा सक्तुभाण्डतः ।
तान्सिद्धसक्तूनज्ञातमत्कृतव्यत्यया सती ॥२७२॥
भुक्तैस्तैः सक्तुभिच्छागी समपद्यत सा तदा ।
ततो नीत्वा मयामर्षाद्विक्रीता सौनिकस्य सा ॥२७३॥
ततः सौनिकभार्या मामुपेत्यावोचत क्रुधा ।
मत्सखी विप्रलब्धेयं त्वया तल्लप्स्यसे फलम् ॥२७४॥
इति तर्त्तजितो गत्वा ततो गुप्तं वहिः पुरः ।
श्रान्तः शयितवानस्मि मूले न्यग्रोधशाखिनः ॥२७५॥
तथाभूतस्य मे तत्र तया सौनिकभार्यया ।
आगत्य दुष्टयोगिन्या गलेऽवध्यत सूत्रकम् ॥२७६॥

इस प्रकार, उपदेश पाकर मैं उस वन से निकला और आपको पाने की इच्छा से आपकी अभिलषित उज्जयिनी नगरी की ओर चला ॥२६३॥

वहाँ आपको न पाकर, थका हुआ होने के कारण, मैं एक स्त्री के घर गया और भोजन का मूल्य देकर वहाँ ठहरा ॥२६४॥

वहाँ उसके दिये हुए बिछावन पर लेटते ही, थका हुआ होने के कारण, मैं पलभर में सो गया। जब मेरी नींद खुली, कौतूहल के कारण मैंने एकान्त में रहकर देखा कि दूसरे कमरे में वह स्त्री एक मुट्ठी जौ लेकर चारों ओर बो रही थी। वह कुछ मन्त्र भी पढ़ रही थी, जिसके कारण उसके होंठ काँप रहे थे ॥२६५-२६६॥

बोये गये वे जौ, बात-की-बात में पौधे बन गये, फल गये और पक भी गये। उसने जौ के दाने तोड़कर पकाये और उन्हें पीसकर सत्तू बना लिया ॥२६७॥

उस सत्तू को उसने काँसे के बरतन में रखा, उसपर पानी छिड़का और फिर घर को ज्यों-का-त्यों व्यवस्थित करके झटपट स्नान करने के लिए निकल पड़ी ॥२६८॥

तब मैंने समझ लिया कि वह डायन है। मैं झटपट दबे पाँवों उठा और उस बरतन के सत्तू को, सत्तू की हँड़िया में रख दिया और हँड़िया में से उतना ही सत्तू निकालकर उस बरतन में रख दिया ॥२६९-२७०॥

इसके बाद मैं फिर जाकर अपने बिछावन पर सो गया। वह स्त्री मेरे कमरे में आई। मुझे उठाकर उसने उस बरतन का सत्तू मुझे खाने के लिए दिया और हँड़िया में से मन्त्र-सिद्ध सत्तू निकालकर उसे उसने स्वयं खाया। परन्तु, उसे इस बात का पता न चला कि मैंने उसमें उलट-पलट कर दी है ॥२७१-२७२॥

उस सत्तू को खाकर वह बकरी बन गई। क्रोध के कारण मैंने उसे ले जाकर एक खटिक के हाथों बेच दिया ॥२७३॥

तब उस खटिक की स्त्री मेरे पास आई और उसने क्रुद्ध होकर मुझसे कहा—"तुमने मेरी इस सखी को धोखा दिया है। इसका फल तुम पाओगे" ॥२७४॥

उसके द्वारा इस तरह धमकाया जाने पर, मैं छिपकर नगर से बाहर चला गया और थका होने के कारण, एक बरगद के पेड़ के नीचे सो गया। मेरे सो जाने पर, वह खटिक की स्त्री वहाँ आई और उस दुष्ट डायन ने मेरे गले में एक डोरी बाँध दी ॥२७५-२७६॥

तस्यां गतायां पापायां प्रबुद्धोऽहं च तत्क्षणम् ।
पश्यामि यावत्प्राप्तोऽस्मि मयूरत्वं स्थितस्मृतिः ॥२७७॥

ततो दिनानि कतिचिद्विग्नो भ्राम्यन्नितस्ततः ।
जीवञ्शाकुनिकेनाहं गृहीतोऽभूवमेकदा ॥२७८॥

स चानीय ददाति स्म मामस्मै चण्डकेतवे ।
भिल्लराजप्रतीहारमुख्याय प्राभृतीकृतम् ॥२७९॥

प्रतीहारोऽप्ययं प्रादात्स्वभार्यायै तदैव ताम् ।
तयाहं स्थापितश्चास्मि मण्डपे क्रीडनीयकः ॥२८०॥

अद्येह दैवानीतेन त्वया मे कण्ठसूत्रके ।
मुक्ते प्राप्तोऽस्मि तां देव पुनः स्वां मानुषाकृतिम् ॥२८१॥

तदितो मङक्षु गच्छावः प्रतीहारो हि हन्त्यसौ ।
रात्रिचर्यासखीन्पापः प्रतिभेदभयात्सदा ॥२८२॥

त्वं चानीतोऽमुना रात्रिचर्याद्रष्टाद्य तत्प्रभो ।
योगिनीनिर्मितं वद्ध्वा कण्ठे सूत्रमिदं भवान् ॥२८३॥

मयूरीभूय निर्यातु गवाक्षेणामुना वहिः ।
ततः प्रसारितभुजः सूत्रं कण्ठात्तवोच्छितात् ॥२८४॥

मुक्त्वा वद्ध्वात्मनः कण्ठे तद्वन्निर्याम्यहं द्रुतम् ।
त्वयाथ मुक्ते मे सूत्रे भवावः प्रकृतिस्थितौ ॥२८५॥

वहिरर्गलितेनास्ति द्वारेण च विनिर्गमः ।
एवमुक्तवति प्राज्ञे तस्मिन्भीमपराक्रमे ॥२८६॥

मृगाङ्कदत्तस्तद्युक्तस्तथेति निरगात्ततः ।
जगाम च स्वनिलयं स्थितान्यसचिवद्वयम् ॥२८७॥

तत्र सर्वेऽपि तेऽन्योन्यकृत्स्नवृत्तान्तवर्णनैः ।
निन्युर्मृगाङ्कदत्ताद्याः प्रहृष्टास्तां विभावरीम् ॥२८८॥

प्रातर्मृगाङ्कदत्तस्य पार्श्वं तस्याजगाम सः ।
मायावटुर्भिल्लराजस्तस्यां पल्ल्यामधीश्वरः ॥२८९॥

स पृष्टरात्रिसौख्यस्तं राजपुत्रं विनोदयन् ।
अक्षैः क्रीडाम एहीति मायावटरभाषत ॥२९०॥

उस पापिनी के चले जाने पर शीघ्र ही मैं जाग गया। मैंने देखा कि मैं मोर बन गया हूँ, यद्यपि मेरी स्मृति ज्यों-की-त्यों बनी हुई है ॥२७७॥

इसके बाद मैं उदास होकर कुछ दिनों तक इधर-उधर भटकता रहा। एक दिन एक बहेलिये ने मुझे जीवित ही पकड़ लिया ॥२७८॥

उसने मुझे लाकर भिल्लराज के प्रधान प्रतीहार इस चण्डकेतु को उपहार के रूप में दे दिया ॥२७९॥

प्रतीहार ने उसी समय मुझे अपनी स्त्री को दे दिया, जिसने मुझे पालतू बनाकर इस मण्डप में रख दिया था ॥२८०॥

दैवयोग से आज आपने यहाँ आकर मेरे गले की डोरी खोल दी, जिससे मैं फिर अपना मनुष्य-शरीर पा सका हूँ ॥२८१॥

इसलिए, हमलोग शीघ्र ही यहाँ से बाहर निकल जायँ, क्योंकि यह पापी प्रतीहार, भेद खुल जाने के भय से, सदा अपनी रात्रिचर्या के साथियों को मार डालता है ॥२८२॥

आपने तो इसकी रात्रिचर्या को अपनी आँखों देखा है और उसके बाद वह आपको यहाँ ले आया है; अतः प्रभो, आप डायन की बनाई हुई इस डोरी को गले में बाँधकर मोर बन जायँ और इस खिड़की से बाहर निकल जायँ। उसके बाद मैं हाथ बढ़ाकर आपके गले से यह डोरी खोल लूँगा और उसे अपने गले में बाँधकर उसी तरह शीघ्र ही बाहर निकल जाऊँगा। फिर, आप भी मेरे गले से उस डोरी को खोल देंगे और इस तरह हम दोनों ही, पुनः ज्यों-के-त्यों हो जायेंगे ॥२८३-२८५॥

हमलोग दरवाजे से नहीं निकल सकते; क्योंकि उसमें बाहर से जंजीर बन्द है। बुद्धिमान् भीमपराक्रम के ऐसा कहने पर मृगांकदत्त ने उसकी बात स्वीकार कर ली। फिर उसकी बताई युक्ति से वे दोनों बाहर निकलकर उस स्थान पर गये, जहाँ उनके अन्य दोनों मन्त्री ठहरे हुए थे ॥२८६-२८७॥

वहाँ मृगांकदत्त आदि सब लोगों ने प्रसन्न होकर अपना-अपना सारा वृत्तान्त एक-दूसरे से कहते-सुनते वह रात बिता दी ॥२८८॥

सबेरा होने पर उस गाँव के स्वामी, भिल्लराज मायाबटु, मृगांकदत्त के पास आया। राजपुत्र मृगांकदत्त को प्रसन्न करते हुए उसने रात का कुशल-क्षेम पूछने के अनन्तर कहा कि आइए, हम लोग पासा खेलें ॥२८९-२९०॥

ततस्तं सप्रतीहारं वीक्ष्य भिल्लं समागतम्।
सखा मृगाङ्कदत्तस्य सोऽथ श्रुतधिरभ्यधात्॥२९१॥
किमक्षैर्विस्मृतं किं वा दृश्यमद्य हि वर्त्तते।
प्रतीहारमयूरस्य नृत्यमुक्तं हृद्य एव यत्॥२९२॥
श्रुत्वैतच्छ्रुतधेः स्मृत्वा कौतुकाच्छबरेश्वरः।
प्राहिणोत्स प्रतीहारं मयूरानयनाय तम्॥२९३॥
कथं प्रमादाद्विस्मृत्य न स चौरो मया हतः।
साक्षी रात्रिरहस्यस्य क्षिप्तोऽपि शिखिवेश्मनि॥२९४॥
तद्यामि शीघ्रमभयं करोमीति विचिन्तयन्।
स्मृत्वोद्घातात्प्रतीहारः सोऽप्यगात्सत्वरं गृहम्॥२९५॥
तत्र यावत्प्रविश्यैव वीक्षते शिखिवेश्मनि।
तावन्न चौरं नाप्यत्र स मयूरं ददर्श तम्॥२९६॥
अथ भीतविषण्णः स गत्वा स्वं नृपमब्रवीत्।
निशि चौरेण मे नीतः स मयूरः प्रभो इति॥२९७॥
प्रसिद्धः स महाचौरो येन वर्ही हृतः स ते।
इति तत्र स्मितमुखेनोक्ते श्रुतधिना ततः॥२९८॥
दृष्ट्वा मृगाङ्कदत्तादीन् हसतोऽन्योन्यदर्शिनः।
मायाबटुस्तान्निर्बन्धात् किमेतदिति पृष्टवान्॥२९९॥
ततः क्षत्त्रा यथा तेन रात्रौ मेलो यथा च सः।
राजपत्न्या गृहं कामी गत्वा शस्त्रकलिं० यधात्॥३००॥
यथा क्षतृगृहप्राप्तिर्यथा भीमपराक्रमः।
मोचितोऽत्र मयूरत्वान्निर्गमश्च यथा ततः॥३०१॥
तथा मृगाङ्कदत्तः स्वं क्षप्तुः सम्वन्धिनञ्च तम्।
वृत्तान्तं शवरेन्द्राय तस्मै सर्वं शशंस सः॥३०२॥
तद्बुध्वा छुरिकापरिक्षतकरामन्तःपुरे चेटिकाम्
दृष्ट्वा तामथ वीक्ष्य कण्ठरचिते तस्मिन्क्षणं सूत्रके।
भूयो भीमपराक्रमस्य शिखितां शुद्धान्तविध्वंसिनं
क्षत्तारं शबरेश्वरः सपदि तं मायाबटुं सोऽवधीद्॥३०३॥
तां त्वविनीतां राज्ञीं मृगाङ्कदत्तेन रक्षितां वधतः।
दूरस्थितां चकार म मञ्जुमतीं परिहृतस्पर्शाम्॥३०४॥

मृगांकदत्त के मित्र श्रुतधि ने प्रतीहार के साथ भिल्लराज को आया हुआ देखकर कहा— "पासा खेलने का क्या काम है ? आपने कहा था कि आज प्रतीहार के मयूर का नृत्य देखा जायगा, उसे क्या आप भूल गये ?" ॥२९१-२९२॥

श्रुतधि की बात सुनकर भिल्लराज को अपना कहा याद आ गया। कौतूहलपूर्वक उसने प्रतीहार से कहा कि वह अपना मयूर ले आये ॥२९३॥

प्रतीहार को झटके से रात की सारी बातें याद आ गईं। उसने सोचा कि मुझसे कैसी भूल हुई कि रात का मेरा रहस्य जाननेवाले उस चोर को मयूर के मण्डप (पिंजड़े) में डालकर भी, सवेरे मैंने उसे मारा नहीं। तो आज शीघ्र चलकर मैं दोनों ही काम कर डालूँ। यह सोचकर वह जल्दी-जल्दी घर आया ॥२९४-२९५॥

घर पहुँचकर जब उसने मयूर-मण्डप में देखा, तब न वहाँ चोर था और न मयूर ही ॥२९६॥

डरता और घबराता हुआ वह वापस आया। उसने राजा से कहा— "प्रभो, रात में कोई चोर मेरा मोर चुरा ले गया" ॥२९७॥

इसपर श्रुतधि ने मुस्कराते हुए कहा कि जिसने तुम्हारा मोर चुराया है, वह महाचोर तो प्रसिद्ध है ॥२९८॥

मृगांकदत्त आदि एक-दूसरे की ओर देखकर हँस रहे हैं, यह देखकर मायाबटु ने अनुरोधपूर्वक उनसे पूछा कि क्या बात है ? ॥२९९॥

तब मृगांकदत्त ने अपने और उस प्रतीहार के सम्बन्ध की सारी बातें भिल्लराज को बतला दीं कि रात में कैसे प्रतीहार से उसकी भेंट हुई, कैसे वह कामी प्रतीहार रानी के महल में गया, कैसे उसने वहाँ छुरा निकाला, कैसे वे स्वयं प्रतीहार के घर पहुँचे, कैसे उन्होंने भीमपराक्रम को मयूर-शरीर से छुटकारा दिलाया और फिर कैसे वे दोनों वहाँ से निकल सके ॥३००—३०२॥

सारा वृत्तान्त जानकर भिल्लराज ने अन्तःपुर में जाकर दासी का कटा हुआ हाथ देखा। उसने भीमपराक्रम के गले में वह डोरी बाँधकर उसे फिर मोर बन जाते देखा। तब अपने अन्तःपुर को कलंकित करनेवाले उस प्रतीहार को भिल्लराज मायाबटु ने शीघ्र ही मार डाला ॥३०३॥

मायाबटु उस अविनयी रानी को भी मारने जा रहा था, लेकिन मृगांकदत्त ने उसे रोक दिया। तब उसने उस मंजुमती का स्पर्श तक न करने का निश्चय करके उसे दूर भेज दिया ॥३०४॥

तत्पूजितः स च ततोऽत्र पुलिन्दपल्ल्या-
मासीद्दिनानि किल तानि मृगाङ्कदत्तः।
वद्धोद्यमोऽप्यधिगमाय शशाङ्कवत्याः
सम्प्राप्तशेषसखिसङ्गमसव्यपक्षः ॥३०५॥

इतिमहाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः।

पञ्चमस्तरङ्गः

एवं विमलबुद्ध्यादियुतो यावत् स तिष्ठति।
मृगाङ्कदत्तो भिल्लाधिपतेर्मायावटोर्गृहे ॥१॥
तावत् तत्सन्निधावेत्य तमात्मीयश्चमूपतिः।
एकदा शबराधीशं ससंरम्भो व्यजिज्ञपत् ॥२॥
त्वदादेशाद्विचिन्वद्भिर्भगवत्याः कृते प्रभो।
उपहाराय पुरुषः प्राप्तोऽस्माभिः स तादृशः ॥३॥
येनास्मद्वीरयोधानां खण्डितं शतपञ्चकम्।
आनीतश्च स भूयिष्ठप्रहारविवशीकृतः ॥४॥
तच्छ्रुत्वा स पुलिन्देन्द्रः सेनापतिमुवाच तम्।
प्रवेश्यतामिहैवाशु सोऽस्माकं दर्श्यतामिति ॥५॥
ततः प्रवेशितस्तेन यावत् सर्वैः स दृश्यते।
शस्त्रक्षतोद्यद्रक्ताक्तरणधूलीकलङ्कितः ॥६॥
गण्डसिन्दूरसम्पृक्तस्रवद्दानाम्बुपङ्किलः।
पाशैर्विवेष्टितो घूर्णन् मत्तो वद्ध इव द्विपः ॥७॥
तावत्तं प्रत्यभिज्ञाय मन्त्रिणं स्वं गुणाकरम्।
मृगाङ्कदत्तो धावित्वा कण्ठे प्ररुदितोऽग्रहीत् ॥८॥
बुद्ध्वाथ तत्सखिभ्यस्तं स भिल्लेन्द्रो गुणाकरम्।
प्रह्वस्तमाश्वासितवान् पादलग्नं निजप्रभोः ॥९॥
प्रवेश्य च गृहं स्नातं तं वद्धव्रणपट्टकम्।
उपाचरद्भिषक् प्रोक्तैः स पथ्यैः पानभोजनैः ॥१०॥
ततो मृगाङ्कदत्तस्तं समाश्वस्तं स्वमन्त्रिणम्।
सखे कथय वृत्तान्तः कस्तवेति स पृष्टवान् ॥११॥

यद्यपि मृगांकदत्त शशांकवती को पाने के लिए बहुत उत्सुक थे, फिर भी मायाबटु के अनुरोध और आदर-सत्कार से, वे कुछ दिन भीलों की उस नगरी में टिक गये और अपने अन्य साथियों के मिलने की प्रतीक्षा करने लगे ॥३०५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक का चतुर्थ तरंग समाप्त।

पंचम तरंग

इस प्रकार, जब भिल्लराज मायाबटु के यहाँ, अपने विमलबुद्धि आदि मन्त्रियों के साथ मृगांकदत्त ठहरे हुए थे, तभी एक दिन मृगांकदत्त के सामने आकर, मायाबटु के मन्त्री ने बहुत उत्तेजित होते हुए कहा—"प्रभो, आपके आदेश के अनुसार भगवती को बलि चढ़ाने के लिए एक आदमी की खोज करते हुए हमने वैसा एक पुरुष पा लिया है। उसने हमारे पाँच सौ वीर योद्धाओं को मार डाला है। बहुत घायल हो जाने पर उसे विवश करके हम ले आये हैं" ॥१–४॥

यह सुनकर भिल्लराज ने सेनापति से कहा कि शीघ्र ही उसे यहाँ ले आकर हम लोगों को दिखलाइए ॥५॥

सेनापति जब उसे ले आया, तब सब लोगों ने उसे देखा। शस्त्रों के आघात से उसका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था और उससे रक्त गिर रहा था। उसके शरीर में रणक्षेत्र की धूल लगी हुई थी। वह ऐसा दीख पड़ता था, मानों कोई हाथी हो, जिसके कपोलों पर लगे हुए सिन्दूर के साथ उसके माथे से झरता हुआ मद मिलकर कीचड़-सा बन गया हो और वह पागल के समान झूमता-झामता, जंजीरों से बँधा हुआ, चला आ रहा हो ॥६-७॥

इसी बीच मृगांकदत्त ने पहचाना कि वह उनका मन्त्री गुणाकर है। रोते हुए उन्होंने दौड़कर उसे गले से लगा लिया ॥८॥

भिल्लराज ने मृगांकदत्त के मित्रों के द्वारा जब यह जाना कि वह गुणाकर है, तब अपने स्वामी के चरणों में गिरे हुए गुणाकर का उसने अभिवादन किया और उसे अपने महल में ले जाकर स्नान कराया तथा उसके घावों पर पट्टियाँ बँधवाई। अनन्तर, वैद्य के आदेशानुसार अनुकूल भोजन-पान से उसका उपचार कराया ॥९-१०॥

अपने मन्त्री गुणाकर को कुछ सँभला हुआ देखकर मृगांकदत्त ने उससे पूछा—"मित्र, अब अपना सारा हाल हमें बतलाओ" ॥११॥

अथ सर्वेषु शृण्वत्सु स जगाद गुणाकरः।
श्रूयतां देव वृत्तान्तमात्मीयं कथयामि वः॥१२॥

गुणाकरवृत्तान्तः

ततो नागस्य शापेन भवद्भ्योऽहं नियोजितः।
न किञ्चिदविदं मोहाद् दूरां तामटवीं भ्रमन्॥१३॥
चिरात् सम्प्राप्तबुद्धिश्च दुःखितोऽहमचिन्तयम्।
अहो दुःशिक्षितस्यैष विलासः कोऽपि वेधसः॥१४॥
मृगाङ्कदत्तः खिद्येत स्थितो हर्म्यतलेऽपि यः।
सोऽस्यामटव्यां सन्तप्तसिकतायां कथं भवेत्॥१५॥
कथं च ते वयस्याः स्युरित्यन्तर्विमृशन् मुहुः।
दैवात् सम्प्राप्तवानस्मि पर्यटन्विध्यवासिनीम्॥१६॥
तस्या उपाहृतानेकनानाजीवमहर्निशम्।
प्राविशं भवनं देव्याः कृतान्तसदनोपमम्॥१७॥
तत्र देवीं प्रणम्याहमपश्यं पुरुषं शवम्।
कण्ठान्तर्गतनिस्त्रिंशहस्तमात्मोपहारिणम्॥१८॥
तं दृष्ट्वैव पुनर्दुःखहेतोर्मे त्वद्वियोगिनः।
अभूदात्मोपहारेण देवीं तोषयितुं मतिः॥१९॥
तत्खड्गमेव धावित्वा यावदस्मि गृहीतवान्।
तावन्निवारयन्तीव दूराद्वार्धककम्पिना॥२०॥
शिरसा समुपेत्यैव सकृपा कापि तापसी।
निवार्य मरणात् पृष्ट्वा वृत्तान्तं निजगाद माम्॥२१॥
मैवं कृथाः पुनर्दृष्टो मृतानामपि सङ्गमः।
किं पुनर्जीवतां पुत्र तथा चैतां कथां शृणु॥२२॥

विनीतमतेः कथा

अहिच्छलेति नाम्नास्ति विख्याता नगरी भुवि।
तस्यामुदयतुङ्गाख्यः पुराभूद्राजकुञ्जरः॥२३॥
तस्य क्षत्ता च कमलमतिर्नाम महानभूत्।
विनीतमतिरित्यासीत्तस्याप्यसदृशः सुतः॥२४॥
समाहृतगुणेनापि प्रापि यस्य न तुल्यता।
सच्छिद्रेण मृणालेन चापेन कुटिलेन च॥२५॥
स कदाचित् सुधाधौतप्रासादोपरि मञ्चके।
स्थितो ददर्श शीतांशुमुद्गच्छन्तं निशामुखे॥२६॥

तब सब लोगों के सुनते हुए गुणाकर ने कहा—"देव, मैं अपना सारा वृत्तान्त आप लोगों से कहता हूँ। आप सुनें" ॥१२॥

गुणाकर का वृत्तान्त

नाग के शाप के कारण जब मैं आप से अलग हो गया, तब घबराहट के कारण कुछ समझ नहीं सका और दूर-दूर तक फैले हुए उस वन में देर-देर तक भटकता रहा ॥१३॥

आखिर जब होश सँभाला, तब दुःखी होकर मैंने सोचा—'बुरी सीख पाये हुए विधाता का यह कैसा खिलवाड़ है ! जो मृगांकदत्त राजमहलों में भी कुम्हला जाते थे, उनका तपी हुई रेतवाले इस वन में क्या हाल होगा ? उनके मित्रों का क्या हाल होगा ? इस प्रकार मैं बार-बार बहुत सोच-विचार करने लगा। संयोगवश, घूमता-फिरता मैं विन्ध्यवासिनी देवी के मन्दिर में जा पहुँचा ॥१४—१६॥

वहाँ बलिदान के लिए अनेक प्रकार के बहुत-से जीव रात-दिन लाये जाते थे, इसलिए, काल के भवन के समान जान पड़नेवाले, देवी के उस सन्दिर में, मैंने प्रवेश किया ॥१७॥

देवी को प्रणाम करके मैंने एक पुरुष का शव वहाँ पड़ा हुआ देखा। उसके हाथ में एक तलवार थी, जिसे उसने अपने गले में गहरा घुसाकर देवी को स्वयं ही अपना बलिदान दिया था ॥१८॥

उसे देखकर आपके वियोग का मेरा दुःख फिर ताजा हो गया, अतः मेरी भी ऐसी इच्छा हुई कि अपना बलिदान देकर मैं देवी को प्रसन्न करूँ ॥१९॥

ज्यों ही मैंने दौड़कर वह तलवार उठाई, त्यों ही दूर से मुझे मना करती हुई-सी, बुढ़ापे के कारण काँपते सिरवाली, एक दयालु तापसी वहाँ आई। उसने मुझे मरने से रोककर मेरा वृत्तान्त पूछा और फिर मुझसे कहा—॥२०—२१॥

"बेटा, ऐसा मत करो। मरे हुओं का भी फिर से मिलन देखा जाता है। जो जीवित हैं, उनकी तो बात ही क्या है ! इस सम्बन्ध की यह कथा तुम सुनो" ॥२२॥

विनीतमति की कथा

धरती पर अहिच्छत्र नाम की एक प्रसिद्ध नगरी है। प्राचीन काल में वहाँ उदयतुंग नाम के एक श्रेष्ठ राजा रहते थे। ॥२३॥

उनके महान् प्रतीहार का नाम कमलमति था। कमलमति के पुत्र का नाम विनीतमति था, जो अतुलनीय था ॥२४॥

यद्यपि मृणाल और धनुष ने उसके गुण चुरा लिये थे, फिर भी उनसे उसकी तुलना नहीं हो सकती थी; क्योंकि मृणाल में छेद होते हैं और धनुष टेढ़ा होता है ॥२५॥

एक बार वह अपने श्वेत महल के ऊपर, सन्ध्या के समय, एक मंच पर बैठा हुआ, उगते हुए चन्द्रमा को देख रहा था ॥२६॥

कामकल्पद्रुमोत्थेन पल्लवेन विनिर्मितम् ।
रजन्या वासवदिशः कर्णपूरमिवोज्ज्वलम् ॥२७॥

क्रमात्तद्रश्मिजालैश्च जगद्वीक्ष्य विराजितम् ।
स विनीतमतिर्जातहृदुल्लासो व्यचिन्तयत् ॥२८॥

अहो चन्द्रिकया मार्गाः सुधयेवावभासिताः ।
दृश्यन्ते तदमीष्वेको गत्वा न विहरामि किम् ॥२९॥

इति ध्यात्यैव स धनुर्धरो निर्गत्य पर्यटन् ।
क्रोशमात्रं गतो कस्माच्छुश्राव रुदितध्वनिम् ॥३०॥

गत्वा तदनुसारेण ददर्शैकां स कन्यकाम् ।
दिव्यरूपां प्ररुदतीं तरुमूलसमाश्रयाम् ॥३१॥

पप्रच्छ च शुभे का त्वं किं चायं नीयते तुलाम् ।
मुखेन्दुः समलस्येन्दोस्त्वयाश्रुमलिनीकृतः ॥३२॥

इत्युक्त्वा तेन सावोचत् सुता नागपतेरहम् ।
कन्या विजयवत्याख्या महात्मन्गन्धमालिनः ॥३३॥

स मे पिता रणान्नष्टः शप्तो वासुकिनैकदा ।
यास्यसि त्वं रिपोः पाप जितः सन्दासतामिति ॥३४॥

तच्छापात् स च यक्षेण कालजिह्वेन वैरिणा ।
जित्वा मनोनुगः पुष्पभारवाही कृतः सदा ॥३५॥

तद्दुःखात्तत्कृते गौरीं तपसाहमतोषयम् ।
प्रत्यक्षीभूय मे सा च भगवत्येवमब्रवीत् ॥३६॥

वत्से शृण्वस्ति सरसो मानसस्यान्तरे महत् ।
सहस्रदलविस्तीर्णं स्फाटिकं दिव्यमम्बुजम् ॥३७॥

यदर्ककरसंस्पर्शकीर्णतेजो विराजते ।
शेषस्येव शिरो भूरिफणं रत्नांशुपिञ्जरम् ॥३८॥

तदेकदा वैश्रवणो दृष्ट्वा स्नात्वाऽत्र मानसे ।
जातश्रद्धोऽम्बुजे तस्मिन् हरस्यारभतार्चनम् ॥३९॥

तत्कालं चानुगास्तस्य यक्षास्तत्र सरोन्तरे ।
विजह्रुश्चक्रहंसादिरूपैर्वारिचरोचितैः ॥४०॥

उगता हुआ वह चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता था, मानों रजनी ने कामदेव के कल्पद्रुम के पल्लवों से, पूर्व दिशा के लिए उजला कर्णफूल बनाया हो ॥२७॥

धीरे-धीरे चन्द्रमा की किरणों से सारा संसार शोभित होने लगा। यह देखकर विनीतमति के हृदय में भी उल्लास उत्पन्न हुआ। उसने सोचा–"अहा, चाँदनी से सभी रास्ते अमृत के समान उजले दीख रहे हैं। तो मैं भी इनमें से किसी रास्ते पर जाकर क्यों न विहार करूँ?" ॥२८–२९॥

ऐसा सोचते ही धनुष-बाण लेकर वह निकल पड़ा। घूमता-फिरता वह अभी एक कोस गया होगा कि अचानक उसे किसी के रोने की आवाज सुन पड़ी ॥३०॥

जिस ओर से आवाज आ रही थी, उधर जाकर उसने वृक्ष के नीचे बैठी हुई, दिव्य रूपवाली एक रोती हुई कन्या को देखा ॥३१॥

विनीतमति ने पूछा—"शुभे, तुम कौन हो और अपने मुखचन्द्र को आँसुओं से मलिन बनाकर धब्बोंवाले चन्द्रमा के तुल्य क्यों हो रही हो?" ॥३२॥

यह पूछे जाने पर उसने कहा—"महात्मन्, मैं नाग के स्वामी गन्धमाली की कन्या हूँ। मेरा नाम विजयवती है। एक बार मेरे पिता युद्ध से भाग आये। तब वासुकि ने उन्हें शाप देते हुए कहा—'रे पापी, तू अपने शत्रु से हार जायगा और उसकी दासता करेगा' ॥३३–३४॥

उसके शाप से वे अपने वैरी कालजिह्व नामक यक्ष के द्वारा पराजित हुए और उसके दास बने। वह उनसे अपने लिए फूलों का बोझ ढुलवाया करता है ॥३५॥

उनका दुःख देखकर, उनके लिए, मैंने अपनी तपस्या से गौरी को प्रसन्न किया। उन भगवती ने प्रत्यक्ष होकर मुझसे यों कहा—॥३६॥

"बेटी, सुनो। मानस-सरोवर में सहस्र दलोंवाला, स्फटिक का एक बहुत बड़ा दिव्य कमल है। सूर्य-किरणों के स्पर्श से, उसमें से वैसा ही तेज निकलता है, जैसा रत्नकिरणों से दमकते हुए अनेक फणोंवाले शेष के मस्तक से निकलता है ॥३७–३८॥

एक बार उस कमल को देखकर, कुबेर के मन में उसे लेने की इच्छा हुई। मानस-सरोवर में स्नान करके वे, उसे प्राप्त करने की इच्छा से, भगवान् विष्णु की आराधना करने लगे ॥३९॥

उस समय उनके अनुगामी यक्ष, उस सरोवर में, चक्रवाक और हंस आदि जलचरों के रूप में, विहार कर रहे थे ॥४०॥

तत्र युष्मद्रिपोस्तस्य कालजिह्वस्य दैवतः।
विद्युज्जिह्व इति ज्येष्ठो भ्राता यक्षः प्रियासखः ॥४१॥

क्रीडंश्चक्राह्वरूपेण पक्षविक्षेपघट्टनात्।
कुबेरस्य कराग्रस्थमर्घ्यपात्रमपातयत् ॥४२॥

ततः स धनदः क्रुद्धः शापेनात्रैव मानसे।
चक्राह्वमेव तं चक्रे विद्युज्जिह्वं सभार्यकम् ॥४३॥

तथाकृतं च सम्प्रीत्या रात्रौ रात्रौ विनोदयन्।
कृततत्प्रेयसीरूपो विरहातुरमग्रजम् ॥४४॥

कालजिह्वोऽद्य तत्रास्ते स दिवा निजरूपभृत्।
दासीकृतेन त्वत्पित्रा सहितो गन्धमालिनः ॥४५॥

तत्तत्र प्रेर्यतां पुत्रि प्रतीहारसुतस्त्वया।
अहिच्छत्रो महावीरो विनीतमतिरुद्यमी ॥४६॥

इममश्वं च खड्गं च गृहाणाभ्यां विजित्य तम्।
यक्षं स हि प्रवीरस्ते जनकं मोचयिष्यति ॥४७॥

खड्गरत्नस्य चैतस्य स्वामी भवति यः पुमान्।
स जित्वा निखिलान् शत्रून् राजा भवति भूतले ॥४८॥

एवमुक्त्वाश्वखड्गौ मे देवी दत्त्वा तिरोभवत्।
अथ त्वत्प्रेरणायाद्य क्रमेणाहमिहागता ॥४९॥

देवीप्रसादसहितं वीक्ष्य त्वां निर्गतं निशि।
युक्त्या चानीतवत्यस्मि संश्राव्य रुदितध्वनिम् ॥५०॥

तदेतत् साधयेष्टं मे सुभगेति तथार्थितः।
स विनीतमतिस्तस्याः प्रतिपेदे तथेति तत् ॥५१॥

ततो गत्वैव सा नागकन्या तत्क्षणमेव तम्।
वाजिनं जवनं श्वेतं पिण्डीभूतमिवैन्दवम् ॥५२॥

रश्मिजालं दिगन्तेषु तमो हन्तुं प्रधावितम्।
तच्च वीरावलोकिन्या विप्रेक्षितमिव श्रिया ॥५३॥

खड्गरत्नमुपानीय सतारगगनच्छवि।
तस्मै विनीतमतये समर्पयत ते उभे ॥५४॥

वहाँ तुम्हारे शत्रु कालजिह्व नामक यक्ष का बड़ा भाई विद्युज्जिह्व भी चक्रवाक के रूप में अपनी स्त्री के साथ क्रीडा कर रहा था। उसने अपने पंख फड़फड़ाकर, कुबेर के कराग्र में स्थित अर्घ्य के पात्र को गिरा दिया ॥४१-४२॥

इससे क्रुद्ध होकर कुबेर ने अपने शाप से, स्त्री के सहित उस विद्युज्जिह्व को, मानस-सरोवर में ही, चक्रवाक बना दिया ॥४३॥

चक्रवाक बना दिये जाने के बाद, अपने विरहातुर बड़े भाई का मनोरंजन करने के लिए, कालजिह्व हर रात को उसकी प्रेयसी का रूप धारण करके तुम्हारे पिता गन्धमाली के साथ वहाँ आता है और दिन में अपना असली रूप धारण कर लेता है ॥४४-४५॥

इसलिए बेटी, तुम अहिच्छत्र के प्रतीहार के पुत्र, उद्यमी और महावीर विनीतमति को वहाँ भेजो। इस घोड़े और इस तलवार को भी ले जाओ। इनके द्वारा वह पराक्रमी, उस यक्ष को जीतकर, तुम्हारे पिता को छुड़ा देगा ॥४६-४७॥

जो मनुष्य इस खड्गरत्न का स्वामी होगा, वह सभी शत्रुओं को जीतकर धरती का राजा होगा" ॥४८॥

यह कहकर और तलवार तथा घोड़ा मुझे देकर, देवी अन्तर्हित हो गईं। आज मैं तुम्हें इस काम में प्रेरित करने के लिए यहाँ आई हूँ ॥४९॥

देवी की कृपा से इस रात में तुम्हें बाहर निकला हुआ देखकर, मैंने युक्तिपूर्वक रुलाई की आवाज सुनाकर तुम्हें यहाँ बुलाया है। हे सुदर्शन, मेरा यह काम तुम पूरा कर दो। विजयवती के द्वारा ऐसा अनुरोध करने पर विनीतमति ने कहा कि ऐसा ही होगा ॥५०-५१॥

तब वह नागकन्या तुरन्त ही जाकर उस घोड़े को ले आई। वह बड़ा वेगवान् था, सफेद था और चाँदनी के पिण्ड के समान था, जो मानों अपनी किरणों के समूह से दिशाओं का अन्धकार नष्ट करने के लिए दौड़ा जा रहा था। वह उस उत्तम तलवार को भी ले आई, जो वीरों को ढूँढ़नेवाली लक्ष्मी की चितवन के समान थी और तारों से भरे आकाश के समान शोभावाली थी। उसने उन दोनों को लाकर विनीतमति को दे दिया ॥५२-५४॥

सोऽप्यात्तखड्गस्तुरगं तमारुह्य तया सह।
प्रस्थितोऽश्वप्रभावेण तदैव प्राप मानसम् ।।५५।।

वातोद्भूताम्बुजकरं चक्रवाकार्त्तकूजितैः ।
निषेधदिव मा मेति कालजिह्वानुकम्पया ।।५६।।

दृट्ष्वा स तत्र यक्षाणां वशे तं गन्धमालिनम् ।
मुक्तये तस्य तान् क्षुद्रान् व्यद्रावयदसिक्षतान् ।।५७।।

तद्दृष्ट्वा स सरोमध्यान्मुक्तचक्राङ्गनावपुः ।
कालजिह्वः समुत्तस्थौ प्रावृण्मेघ इवोन्नमन् ।।५८।।

प्रवृत्ते चाहवे व्योम्नि कालजिह्वं तमुत्प्लुतम् ।
विनीतमतिरुत्प्लुत्य साश्वः केशेषु सोऽग्रहीत् ।।५९।।

छेत्तुमिच्छति यावच्च शिरः खड्गेन तस्य सः ।
तावत् स कृपणं जल्पन् यक्षस्तं शरणं ययौ ।।६०।।

ददौ च तस्मै मुक्तः सन्नीतिघ्नं स्वाङ्गुलीयकम् ।
प्रह्वो मुमोच दास्याच्च नागं तं गन्धमालिनम् ।।६१।।

गन्धमाली च मुदितो विनीतमतये तदा ।
तस्मै सुतां तां विजयवतीं दत्त्वा गृहानगात् ।।६२।।

ततः खड्गाङ्गुलीयाश्वकन्यारत्नयुतः कृती ।
स विनीतमतिर्जाते प्रभाते गृहमाययौ ।।६३।।

तत्राभिनन्दतः पित्रा पृष्टवृत्तान्ततोषिणा ।
राज्ञा च स्वेन तां नागकन्यां स परिणीतवान् ।।६४।।

अथ रत्नश्चतुर्भिस्तैर्गुणैः स्वैश्चोपबृंहितम् ।
पिता कदाचित्कमलमतिः प्रोवाच तं रहः ।।६५।।

इहास्योदयतुङ्गस्य सुतैषा यास्ति भूपते ।
पुत्रोदयवंती नाम सर्वविद्यासु शिक्षिता ।।६६।।

तस्यां पणः कृतोऽनेन यो विप्रः क्षत्रियोऽपि वा ।
वादे पराजयेतैतां तस्मै दद्यामिमामिति ।।६७।।

पराजिताश्च वादेन वादिनोऽन्येऽनयाखिलाः ।
जगदाश्चर्यरूपेण रूपेणेवामराङ्गनाः ।।६८।।

विनीतमति उस घोड़े और तलवार को पाकर घोड़े पर सवार हो गया और तलवार को साथ लेकर उस घोड़े के प्रभाव से, बात-की-बात में मानस-सरोवर पहुँच गया ॥५५॥

वह सरोवर मानों कालजिह्व पर दया करके, वायु के द्वारा आन्दोलित कमल-दलों और चक्रवाकों के आर्त्त कूजन से 'नहीं, नहीं' कहकर, विनीतमति को मना-सा कर रहा था ॥५६॥

वहाँ उस गन्धमाली को यक्षों के वश में देखकर, उसको छुटकारा दिलाने के लिए, विनीतमति उन क्षुद्र यक्षों को तलवार से घायल करने लगा ॥५७॥

यह देखकर अपना चकवी का शरीर छोड़कर वर्षा के मेघ की तरह गर्जन करता हुआ कालजिह्व, उस सरोवर में से निकला ॥५८॥

युद्ध आरम्भ होने पर कालजिह्व आकाश में उड़ गया। विनीतमति ने भी अपने घोड़े के सहित आकाश में उड़कर उसकी चोटी पकड़ ली ॥५९॥

विनीतमति ज्योंही उसका सिर काटने चला, त्यों ही वह यक्ष, दीन वचन बोलता हुआ, उनका शरणागत हुआ ॥६०॥

जब विनीतमति ने उसे छोड़ दिया, तब उसने अपनी वह अंगूठी उन्हें दी, जो समस्त ईतियों[1] का नाश करनेवाली थी। उसने विनयपूर्वक गन्धमाली नामक नाग को भी अपनी दासता से मुक्त कर दिया ॥६१॥

गन्धमाली ने भी प्रसन्न होकर विनीतमति को अपनी कन्या विजयवती सौंप दी और तब वह अपने घर चला गया ॥६२॥

अनन्तर, तलवार, अंगूठी, घोड़ा और कन्यारत्न के सहित कृती विनीतमति, सवेरा होने पर, अपने घर गया ॥६३॥

विनीतमति से पूछकर जब उसके पिता ने सारा वृत्तान्त जाना, तब वे सन्तुष्ट हुए और उन्होंने स्वयं ही उस नागकन्या के साथ अपने पुत्र का विवाह कर दिया ॥६४॥

उन चार रत्नों और अपने गुणों से आनन्दित होते हुए विनीतमति से एक बार उनके पिता कमलमति ने एकान्त में कहा—॥६५॥

"पुत्र, यहाँ राजा उदयतुंग की उदयवती नाम की एक कन्या है, जो सब विद्याओं की शिक्षा प्राप्त कर चुकी है ॥६६॥

राजा ने यह प्रतिज्ञा की है कि वाद-विवाद में जो कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय इसे पराजित कर देगा, उसी के साथ मैं इसका विवाह कर दूँगा ॥६७॥

वह कन्या रूप में देवकन्याओं के समान है। अपने आश्चर्यजनक तर्कों से उसने संसार के सभी तर्कशास्त्रियों को पराजित कर दिया है ॥६८॥

---

[1] ईतियां छह कही गई हैं—क. अतिवृष्टि, ख. अनावृष्टि, ग. टिड्डियों का आक्रमण, घ. चूहों का उत्पात, ङ. तोतों का उपद्रव और व. राजाओं की चढ़ाई या उनका दौरा।

त्वं चैकवीरः स्वक्षत्रवादे तूष्णीं च तत्कथम्।
स्थितोऽसि विजयस्वैनां वादे परिणयस्व च ॥६९॥

इत्युक्तास्तेन पित्रा स विनीतमतिरब्रवीत्।
पेशलाभिः सह स्त्रीभिर्वादः कस्तात मादृशाम् ॥७०॥

तथाप्येतं त्वदादेशं करिष्यामीत्युदीरिते।
प्रौढेन तेन स ययौ तत्पिता क्षितिपान्तिकम् ॥७१॥

राजपुत्र्या समं वादः प्रातर्देव करिष्यते।
विनीतमतिनेत्यत्र स तं भूपं व्यजिज्ञपत् ॥७२॥

भूपेन प्रतिपन्नार्थो गृहमेत्य च सूनवे।
विनीतमतये तस्मै तत्तथैव शशंस सः ॥७३॥

ततः प्रातः [illegible] तेन राजहंसेन संश्रिताम्।
विनीतमतिरागत्य वादी विद्वत्सभाब्जिनीम् ॥७४॥

भास्वान् स भासयामास लोललोचनषट्पदैः।
विलोक्यमानोऽभिमुखैर्गुणिवृन्दैस्तदाश्रितैः ॥७५॥

क्षणान्तरे चाययौ सा तत्रोदयवती शनैः।
राजपुत्री गुणाकृष्टा कानस्येव धनुर्लता ॥७६॥

शोभिता गुणवद्भिः स्वैश्चारुशब्दैर्विभूषणैः।
तत्पूर्वपक्षोपक्षेपमिव कुर्वद्भिरादितः ॥७७॥

निर्दोषे निर्मला चेत्स्यादिन्दुलेखाम्बरे ततः।
भजेत्साम्यं निषण्णायास्तस्या मरकतासने ॥७८॥

चक्रेऽथ पूर्वपक्षं सा स्फुरद्दन्तांशुतन्तुषु।
गुम्फयन्तीव सुश्लक्ष्णपदरत्नमयीं स्रजम् ॥७९॥

तमवद्यार्थसिद्धान्तं स विनीतमतिर्व्यधात्।
क्षणान्निरुत्तरीकृत्य सुमुखीं तां पदे पदे ॥८०॥

ततः सभ्यैः स्तुते तस्मिन् सात्मनो राजपुत्रिका।
पराजयेऽपि सद्भर्तृलाभाज्जयममन्यत ॥८१॥

स चाप्युदयतुङ्गोऽथ राजा हृष्टोऽत्र तां सुताम्।
तस्मै विनीतमतये ददौ वादपणार्जिताम् ॥८२॥

तुम अपने क्षत्रिय-कर्म में एकमात्र वीर हो। तुम चुपचाप कैसे बैठे हो? तुम उसे तर्क में पराजित करो और उसके साथ विवाह करो ॥६९॥

पिता के ऐसा कहने पर विनीतमति बोला—"भला कोमलांगी नारियों के साथ मुझ-जैसों का तर्क कैसा होगा? फिर भी, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" प्रौढ पुत्र के ऐसा कहने पर उसके पिता राजा के पास गये ॥७०-७१॥

उन्होंने राजा को सूचना दी कि कल सवेरे विनीतमति, राजकुमारी से शास्त्रार्थ करेगा ॥७२॥

राजा ने जब इसकी स्वीकृति दे दी, तब उन्होंने घर आकर पुत्र से उनकी स्वीकृति की बात कही ॥७३॥

विद्वानों की सभा-रूपी कमलिनियों के बीच जब राजहंस-रूपी राजा ने स्थान ग्रहण किया, तब वादी विनीतमति सूर्य के समान दमकते हुए उस सभा में आये। राजा का आश्रित गुणियों का समूह, अपनी चंचल आँखों से, जो भौंरों के समान जान पड़ती थीं, उन्हें देखने लगा ॥७४-७५॥

कुछ ही देर बाद राजपुत्री उदयवती वहाँ धीरे-धीरे आई। वह अपने गुणों से उसी प्रकार झुकी हुई थी, जिस प्रकार कामदेव का धनुष लता के गुण (प्रत्यंचा) से झुका रहता है ॥७६॥

उसने अनूठे गहने पहन रखे थे, जिनसे उसकी शोभा बढ़ गई थी। उन गहनों का मधुर शब्द मानों आरम्भ से ही अपने प्रतिपक्षी का विरोध कर रहा था ॥७७॥

वह जब मरकत के आसन पर बैठ गई, तब ऐसी जान पड़ने लगी, मानों स्वच्छ आकाश में निर्मल इन्दुलेखा हो ॥७८॥

जब उस कन्या ने पूर्व पक्ष की स्थापना की, तब मानों अपने चमकीले दाँतों की किरणों के धागे में, अपने मनोहर वाक्यों के रत्नों की माला-सी गूँथती जान पड़ी ॥७९॥

किन्तु विनीतमति ने एक-एक पद पर, उसके सिद्धातों का दोष दिखलाते हुए, उसे पल-भर में निरुत्तर कर दिया ॥८०॥

यह देखकर सभी सभासद विनीतमति की प्रशंसा करने लगे; किन्तु राजकन्या ने इस. पराजय को भी, उत्तम पति प्राप्त करने के कारण, विजय ही समझा ॥८१॥

विनीतमति ने शास्त्रार्थ की बाजी में जिस कन्या को जीत लिया था, राजा उदयतुंग ने प्रसन्न होकर उससे उसका विवाह कर दिया ॥८२॥

तद्दत्तरत्नपूर्णोऽत्र स विनीतमतिस्ततः ।
ताभ्यां नागसुताराजसुताभ्यां सह तस्थिवान् ॥८३॥
एकदा जीयमानोऽन्यैर्द्यूतस्थो व्याकुलाशयः ।
निर्बन्धाद् ब्राह्मणेनैत्य स भोजनमयाच्यत ॥८४॥
ततः स कर्णे भृत्यस्य कथयित्वा क्रुधा वृतः ।
वस्त्रेणाच्छाद्य सिकतापात्रमस्मायदापयत् ॥८५॥
स तद्विप्रो गृहीत्वैव गुरुत्वात् सहिरण्यकम् ।
मत्वा प्रहर्षादिकान्तमृजुर्गत्वोदघाटयत् ॥८६॥
दृष्ट्वा च वालुकापूर्णमुत्सार्य धरणीतले ।
विप्रलब्धोऽस्मि तेनेति विषण्णः स्वगृहं ययौ ॥८७॥
विनीतमतिरप्येतदविचिन्त्य विमुच्य तत् ।
द्यूतं तस्थौ यथाकामं स्वगृहेषु प्रियासखः ॥८८॥
याति काले च जरसा विश्लिष्यत् सन्धिविग्रहः ।
सोऽभूदुदयतुङ्गोऽत्र राजा राज्यभराक्षमः ॥८९॥
ततो जामातरं राज्ये विनीतमतिमेव तम् ।
सोऽभिषिच्य ययौ गङ्गामपुत्रो देहमुक्तये ॥९०॥
प्राप्तराज्यश्च नचिरात् स विनीतमतिस्ततः ।
अश्वखड्गप्रभावेण जिगायापि दिशो दश ॥९१॥
ईतिघ्नस्याङ्गुलीयस्य प्रभावादस्य चाभवत् ।
राष्ट्रं नीरोगदुर्भिक्षं राज्ञो रघुपतेरिव ॥९२॥
एकदाभ्याययौ तं च भिक्षुर्देशान्तरान्नृपम् ।
रत्नचन्द्रमतिर्नाम वादिद्विरदकेसरी ॥९३॥
स च भिक्षुः कृतातिथ्यो राजानं तं गुणप्रियम् ।
प्रार्थयामास वादार्थमीदृशं च पणं जगौ ॥९४॥
त्वया जितेन राजेन्द्र ग्राह्यं सुगतशासनम् ।
मया जितेन शुश्रूष्या विप्राः सन्त्यज्य चीवरम् ॥९५॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा वादं तेन सहाकरोत् ।
स विनीतमती राजा भिक्षुणा दिनसप्तकम् ॥९६॥

राजा से बहुत-सा रत्न पाकर विनीतमति, नाग की कन्या और राजा की कन्या के साथ रहने लगा ॥८३॥

एक बार जूआ खेलते हुए, वह दूसरों से हारने के कारण बेचैन हो रहा था। उसी समय एक ब्राह्मण ने आकर हठपूर्वक उससे भोजन माँगा ॥८४॥

इससे विनीतमति क्रुद्ध हो गया और चुपचाप अपने नौकर के कान में कहकर, कपड़े से ढका, बालू का एक बरतन उसे दिलवा दिया ॥८५॥

उस सीधे-सादे ब्राह्मण ने वह बरतन लेकर, उसके भारीपन से समझा कि इसमें सोना है, ऐसा समझकर, वह एकान्त में गया और उसने प्रसन्नतापूर्वक उसे खोला ॥८६॥

बरतन को बालू से भरा देखकर, उसने उसे जमीन पर डाल दिया और दुःखी होकर कहा कि 'मैं ठगा गया हूँ।' ऐसा कहकर वह अपने घर चला गया ॥८७॥

किन्तु, विनीतमति ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया और जूआ खेलना छोडकर, अपनी पत्नियों के साथ, इच्छानुसार अपने घर में रहा ॥८८॥

कुछ समय बाद, राजा उदयतुंग, राज्य का शासन करने में असमर्थ हो गये; क्योंकि बुढ़ापे के कारण, सन्धि और विग्रह करने को उनकी शक्ति शिथिल हो गई थी ॥८९॥

तब पुत्रहीन वे राजा, अपने दामाद विनीतमति को राज्य सौंपकर, शरीर-त्याग करने के लिए गंगा के तट पर चले गये ॥९०॥

राज्य पाकर, विनीतमति ने शीघ्र ही अपने घोड़े और तलवार के प्रभाव से, दसों दिशाओं को जीत लिया ॥९१॥

ईतिघ्न अंगूठी के प्रभाव से उनका राष्ट्र रामचन्द्र के राज्य के समान, रोग और दुर्भिक्ष से रहित हो गया ॥९२॥

एक बार किसी दूसरे देश से रत्नचन्द्रमति नाम का एक भिक्षु उनके पास आया। वादी-रूपी हाथियों के लिए वह सिंह के समान था ॥९३॥

गुणियों का आदर करनेवाले राजा विनीतमति ने, जब उसका उचित आदर-सत्कार किया, तब उसने उनसे शास्त्रार्थ करने का निवेदन किया। उसने कहा कि मेरी ऐसी ही प्रतिज्ञा है ॥९४॥

उसने यह भी कहा कि यदि आप हार जायेंगे, तो आपको बौद्ध धर्म ग्रहण करना पड़ेगा और अगर मैं हार जाऊँगा, तो चीवर का त्याग करके ब्राह्मणों की सेवा करूँगा ॥९५॥

यह सुनकर विनीतमति ने भिक्षु का अनुरोध स्वीकार कर लिया; फिर उसने सात दिनों तक उसके साथ शास्त्रार्थ किया ॥९६॥

अष्टमेऽहनि भिक्षुस्तं स जिगाय महीपतिम्।
येनोदयवती वादिमुण्डमुद्गरिका जिता ॥९७॥
ततस्तेनोपदिष्टं स भिक्षुणा सौगतं मतम्।
सत्त्वोपकारपुण्याढ्यं जातश्रद्धोऽग्रहीन्नृपः ॥९८॥
भिक्षूणां ब्राह्मणादीनां सर्वेषां च चकार सः।
विहारसत्त्रवसतीर्जिनपूजापरायणः ॥९९॥
तदभ्यासोपशान्तश्च भिक्षोस्तस्मादयाचत।
स बोधिसत्त्वचर्यायामाज्ञां सत्त्वोपकारिणीम् ॥१००॥
सोऽथ भिक्षुस्तमाह स्म राजन् विगतकल्मषैः।
बोधिसत्त्वमहाचर्या चरितव्येह नेतरैः ॥१०१॥
तव चास्मादृशैर्लक्ष्यं स्थूलं नास्त्येव किल्विषम्।
किं तु त्वं सूक्ष्ममनया युक्त्यान्विष्य शमं नय ॥१०२॥
इत्युक्त्वोपादिशत्तस्मै स भिक्षुः स्वप्नमाणवम्।
सोऽपि तेन नृपः स्वप्नं दृष्ट्वास्मै प्रातरभ्यधात् ॥१०३॥
आचार्य जाने स्वप्नेऽद्य परलोकमहं गतः।
तत्र क्षुधार्थितान्नं मां पुरुषा दण्डिनोऽब्रुवन् ॥१०४॥
भुङ्क्ष्वैता भूयसी राजन्नर्जितास्तप्तवालुकाः।
या दत्ताः क्षुधिताय प्राग्ब्राह्मणायार्थिने त्वया ॥१०५॥
दत्त्वा दश स्वर्णकोटीः पापादस्माद्विमोक्ष्यसे।
इत्युक्तो दण्डहस्तैस्तैः प्रबुद्धोऽहं निशाक्षये ॥१०६॥
एवमुक्त्वा तदाख्याय मूलं दत्त्वा च ता दश।
स्वर्णकोटीः पुनश्चक्रे स राजा स्वप्नमाणवम् ॥१०७॥
दृष्ट्वा पुनश्च स स्वप्नमुत्थायोषस्यवर्णयत्।
अद्यापि दत्तं स्वप्ने तैः क्षुधितस्य, परत्र मे ॥१०८॥
वालुकाभोजनं पुंभिः पृष्टास्ते च ततो मया।
दत्तेऽपि दाने भोक्ष्यामि किमिमाः सिकता इति ॥१०९॥
ततस्ते मां रुदन्ति स्म तद्दानं तव निष्फलम्।
तत्रैकं विप्रसम्बन्धि सुवर्णमभवद्यतः ॥११०॥
एतच्छ्रुत्वा प्रबुद्धोऽहमिति स्त्रप्नमुदीर्य सः।
राजा प्रायच्छदर्थिभ्यः स्वर्णकोटीः पुनर्दश ॥१११॥

आठवें दिन, भिक्षु ने उन राजा को जीत लिया, जिन्होंने तार्किकों के मस्तक झुका देनेवाली उदयवती को जीता था ॥९७॥

अनन्तर, उस भिक्षु ने राजा विनीतमति को समस्त प्राणियों का उपकार करनेवाले और पुण्यदायक बौद्ध धर्म की शिक्षा दी। विनीतमति ने भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया ॥९८॥

भगवान् 'जिन' की पूजा करनेवाले विनीतमति ने भिक्षुओं, ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों के लिए विहार, अन्नसत्र तथा रहने के स्थान आदि बनवाये ॥९९॥

उस धर्म के अभ्यास से उसकी वृत्तियाँ शान्त हो गईं। तब विनीतमति ने उस भिक्षु से बोधिसत्त्व के आचरणों का उपदेश देने को कहा ॥१००॥

भिक्षु ने कहा—"राजन्, वे ही लोग बोधिसत्त्व का महान् आचरण कर सकते हैं, जिनके सभी पाप नष्ट हो गये हैं, दूसरे लोग नहीं ॥१०१॥

आपके पाप इतने स्थूल नहीं कि मुझ-जैसों के द्वारा देखे जा सकें। अतः, आपको सूक्ष्म मन से, युक्तिपूर्वक, उनका पता लगाना चाहिए और शान्ति प्राप्त करनी चाहिए" ॥१०२॥

यह कहकर भिक्षु ने विनीतमति को स्वप्न देखने की सूक्ष्म रीति बतलाई। उस रीति से स्वप्न देखकर राजा ने सवेरे उससे कहा—॥१०३॥

"आचार्य, स्वप्न में मानों मैं परलोक चला गया था। वहाँ भूख लगने पर, जब मैंने भोजन माँगा, तब दण्डधारी कुछ पुरुषों ने मुझसे कहा—'राजन्, गरम-गरम यह बहुत-सी रेत तुम खा जाओ, क्योंकि पहले एक भूखे ब्राह्मण को तुमने यही दिया था; अतएव यही तुमने अपने लिये अर्जित किया है। दस करोड़ स्वर्ण-मुद्रा दान करने पर इस पाप से तुम्हारा छुटकारा हो सकेगा। जब उन दण्डधारियों ने मुझसे ऐसा कहा, तब रात बीत जाने पर, मेरी नींद खुल गई" ॥१०४–१०६॥

ऐसा कहकर, भिक्षु की आज्ञा से, विनीतमति ने दस करोड़ स्वर्णमुद्राओं का दान किया। उसके बाद उसने फिर स्वप्न देखने की सूक्ष्म क्रिया की ॥१०७॥

विनीतमति ने फिर सपना देखा और उषःकाल में उठकर भिक्षु से उसका वर्णन किया। उन्होंने कहा—"परलोक में आज भी उन पुरुषों ने मुझ भूखे को रेत का भोजन दिया और जब मैंने उनसे पूछा कि दान देने के बाद भी मैं रेत क्यों खाऊँ, तब उनलोगों ने कहा कि 'तुम्हारा वह दान तो निष्फल हो गया; क्योंकि उसमें एक स्वर्ण-मुद्रा ब्राह्मण की थी।' यह सुनकर मेरी नींद खुल गई।" इस प्रकार, भिक्षु से अपना स्वप्न कहकर राजा ने गरीबों को फिर दस करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दान में दीं ॥१०८–१११॥

चक्रे ततश्च भूयोऽपि निशायां स्वप्नमाणवम्।
दृष्ट्वा पुनश्च स स्वप्नमुत्थायोषस्यवर्णयत्॥११२॥

अद्याप्यहो तैः पुरुषैस्तदेव सिकताशनम्।
दत्तं परत्र मे स्वप्ने पृष्टश्चोक्तोऽस्मि तैरिदम्॥११३॥

राजंस्तदपि ते दानं निष्फलं दस्युभिर्यतः।
अटव्यां तव देशेऽद्य मुषित्वा निहतो द्विजः॥११४॥

न च रक्षा त्वदीयाभूदरक्षाविफलं ततः।
तत्तवाद्यतनं दानं तद्देहि द्विगुणं पुनः॥११५॥

श्रुत्वैवेह प्रबुद्धोऽहमित्याख्याय च भिक्षवे।
गुरवे नृपतिः स्वप्नं दानं तद्द्विगुणं ददौ॥११६॥

ततो जगाद तं भिक्षुमाचार्यं कथमीदृशः।
वहुच्छिद्रोऽनुपाल्यः स्याद्धर्मो जगति मादृशैः॥११७॥

तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद् भिक्षुर्देव नैतावता बुधैः।
धर्मस्य रक्षणविधौ कार्यानुत्साहिनी मतिः॥११८॥

धीरानुत्साहसम्पन्नान् स्वधर्मानवमानिनः।
देवता अभिरक्षन्ति पुष्णन्त्येषां च वाञ्छितम्॥११९॥

तथा चेदं भगवतो बोधिसत्त्वस्य जातकम्।
वाराहं न श्रुतं राजन् यदि तच्छ्रूयतां त्वया॥१२०॥

पवित्रवराहकथा

पुरा गुहायां विन्ध्याद्रावासीद् बुद्धांशसम्भवः।
वराहः कोऽपि सुहृदा मर्कटेन समं सुधी॥१२१॥

स सर्गसत्त्वहितकृत्सख्या तेन युतः सदा।
अतिथीन् पूजयन् कालं निनाय स्वोचितैः क्रमैः॥१२२॥

एकदा चोदभूत्तत्र दुर्दिनं पञ्च वासरान्।
अच्छिन्नधाराविच्छिन्नप्राणिसञ्चारदारुणम्॥१२३॥

पञ्चमेऽह्नि वराहस्य सुप्तस्य सकपेर्निशि।
आगात्तस्य गुहाद्वारं सिंहो भार्यासुतान्वितः॥१२४॥

स सिंहस्तत्र भार्यां तामवादीद्दुर्दिने ध्रुवम्।
मरिष्यामोऽद्य दीर्घेऽस्मिन्नप्राप्तप्राणिनः क्षुधा॥१२५॥

अनन्तर, रात में उन्होंने फिर स्वप्न देखनेवाली क्रिया की और फिर स्वप्न देखा। सवेरे उठकर उन्होंने उसका वर्णन किया ॥११२॥

"आश्चर्य है कि परलोक में आज भी उन पुरुषों ने मुझे रेत खाने को दी और पूछने पर कहा कि 'राजन्, तुम्हारा दान तो फिर निष्फल गया; क्योंकि तुम्हारे राज्य के अन्दर, एक जंगल में, लुटेरों ने एक ब्राह्मण को लूट लिया और उसकी हत्या भी कर दी। तुम उसकी रक्षा नहीं कर सके; अतः अपनी प्रजा की रक्षा न कर सकने के कारण, तुम्हारा यह दान भी निष्फल हो गया। इसलिए, आज तुम उससे दूना दान करो।' उनकी यह बात सुनकर मेरी नींद खुल गई।" भिक्षु से इस प्रकार अपने स्वप्न की बात कहकर राजा ने उससे दूना दान दिया ॥११३-११६॥

अनन्तर, राजा ने भिक्षु से कहा—"संसार में इस छिद्रबहुल धर्म का पालन हम-जैसे लोग किस प्रकार कर सकते हैं?" ॥११७॥

यह सुनकर उस भिक्षु ने कहा—"महाराज, विद्वान् लोग इतनी-सी बात पर धर्म-पालन के कार्यों में निरुत्साहित नहीं होते ॥११८॥

जो लोग धीर और उत्साह-सम्पन्न होते हैं और अपने धर्म की अवमानना नहीं करते, देवता लोग उनकी रक्षा करते हैं और उनकी मनःकामनाएँ पूरी करते हैं। यदि आपने भगवान् बोधिसत्त्व का 'वाराह जातक' न सुना हो, तो सुनिए" ॥११९-१२०॥

पवित्र वराह की कथा

प्राचीन काल में, विन्ध्य पर्वत की एक गुफा में, बुद्ध के अंश से उत्पन्न, एक बुद्धिमान् वराह, अपने एक वानर मित्र के साथ रहता था ॥१२१॥

वह अपने मित्र के सहित अपने ढंग से सब प्राणियों की भलाई करता हुआ और सब अतिथियों का सम्मान करता हुआ, अपना समय बिताता था ॥१२२॥

एक बार लगातार पाँच दिनों तक मुसलाधार वर्षा होती रही और प्राणियों का एक से दूसरी जगह आना-जाना कठिन हो गया। पाँचवें दिन रात में, जब वराह अपने मित्र वानर के साथ सो रहा था, उसकी गुफा के द्वार पर एक सिंह, अपनी मादा तथा बच्चे के साथ आया ॥१२३-१२४॥

वहाँ उस सिंह ने अपनी मादा से कहा कि इस लम्बे दुर्दिन में, हमें भोजन के लिए कोई प्राणी नहीं मिल सका है; अतः यह निश्चय है कि आज हम सब भूख के मारे मर जायेंगे ॥१२५॥

तच्छ्रुत्वा साब्रवीत् सिंही सर्वे तावत् क्षुधा वयम्।
न भवामस्तदेकां मां भुक्त्वा द्वौ जीवतां युवाम्॥१२६॥
त्वं हि प्रभुरयं पुत्रः प्राणसर्वस्वमावयोः।
मादृशी भवितान्या ते तन्मयैवास्तु वां शिवम्॥१२७॥
एवमन्योन्यसंलापो जायापत्योस्तयोस्तदा।
दैवात् प्रबुद्धः शुश्राव स वराहो महाशयः॥१२८॥
प्रीतश्चाचिन्तयद्दिष्ट्या क्व निशेयं क्व दुर्दिनम्।
क्व चेदृगतिथिप्राप्तिरहो पुण्योदयोऽद्य मे॥१२९॥
तद्विघ्नो न भवेद्यावत् तावत्क्षणविनाशिना।
किमनेन न देहेन तर्पयाम्यतिथीनमून्॥१३०॥
इत्युत्थाय स निर्गत्य वराहः स्निग्धया गिरा।
सिंहं जगाद तं भद्र मा गमस्त्वं विषादिताम्॥१३१॥
अयं ससुतदारस्य भक्ष्यः प्राप्तोऽस्म्यहं तव।
तद् भुङ्क्ष्व मामिति क्रोडेनोक्ते तेन स केसरी॥१३२॥
हृष्टस्तामब्रवीद् भार्यां पूर्वं भुङ्क्तामयं शिशुः।
अनन्तरमहं भोक्ष्ये भोक्ष्यसे त्वमतः परम्॥१३३॥
तथेत्युक्ते तया पूर्वं सिंहपोतेन भक्षिते।
क्रोडस्य तस्य मांसेऽथ सिंहो भोक्तुं प्रचक्रमे॥१३४॥
भुञ्जानं च तमाह स्म महासत्त्वः स सूकरः।
शीघ्रं पिबैतद्रक्तं मे यावद् भूमौ न लीयते॥१३५॥
कुरु तृप्ति च मन्मांसैः शेषमश्नातु ते प्रिया।
इति जल्पन् क्रमात्तेन स सिंहेनास्थिशेषताम्॥१३६॥
नीतोऽपि सूकरः प्राणैः सत्त्वस्थो न व्यमुच्यत।
तत्र तद्धैर्यपर्यन्तमवेक्षितुमिव स्थितैः॥१३७॥
तावच्च सा क्षुधाक्लान्ता सिंही तत्र व्यपद्यत।
स सुतः क्वाप्यगात् सिंहः क्षीयते स्म च यामिनी॥१३८॥
अत्रान्तरे प्रबुद्धः स सखा निर्गत्य मर्कटः।
वराहं तं तथाभूतं दृष्ट्वा पप्रच्छ सम्भ्रमात्॥१३९॥
केनावस्था कृतेयं ते ब्रूहि शक्नोषि चेत् सखे।
तच्छ्रुत्वा स यथावृत्तं धीरोऽस्मै सूकरोऽभ्यधात्॥१४०॥

यह सुनकर सिंहिनी ने कहा—"यह ठीक है कि भूख के कारण हममें से एक भी नहीं बच सकेगा; अतः मुझ एक को खाकर तुम दोनों जीवित रहो। तुम मेरे स्वामी हो और यह बच्चा हम दोनों के लिए प्राणों से भी बढ़कर है। तुमको तो मेरे समान दूसरी मिल जायगी, इसलिए मुझसे ही तुम दोनों अपनी रक्षा करो ॥१२६-१२७॥

इसी बीच संयोग से, उस उदार चित्तवाले वराह की नींद टूट गई और उसने वे बातें सुन लीं, जो सिंह और सिंहिनी आपस में कर रहे थे ॥१२८॥

प्रसन्न होकर उसने सोचा कि यह मेरा सौभाग्य है कि ऐसे दुर्दिन और ऐसी भयावनी रात में, मेरे यहाँ ऐसे अतिथि आये हैं। निश्चय ही आज मेरे पुण्य उदित हुए हैं। अतः, कोई विघ्न उपस्थित होने से पहले ही, क्षणमात्र में, नष्ट हो जानेवाले इस शरीर के द्वारा, मैं इन अतिथियों को सन्तुष्ट करूँ ॥१२९-१३०॥

ऐसा सोचकर वह वराह उठकर बाहर आया। उसने मीठी बोली में सिंह से कहा—"भद्र, तुम दुःख न करो। मैं तुम्हारे, तुम्हारी मादा के और तुम्हारे बच्चे के भोजन के रूप में यहाँ आ गया हूँ, इसलिए तुम मुझे खा लो।" वराह के ऐसा कहने पर, सिंह ने प्रसन्न होकर अपनी मादा से कहा—"पहले यह बच्चा खा ले, तब मैं खाऊँगा और उसके बाद तुम खाना" ॥१३१-१३३॥

सिंहिनी ने उसकी बात मान ली। तब पहले सिंह के बच्चे ने वराह को खाया, उसके बाद सिंह उसका मांस खाने लगा ॥१३४॥

जब सिंह उसे खा रहा था, तभी उस महाप्राण वराह ने कहा—"धरती पर सूख जाने के पहले ही तुम मेरा रक्त पी लो और मेरे मांस से अपनी भूख बुझा लो और बाकी बचे मांस को तुम्हारी मादा खा ले।" वराह यह कह ही रहा था कि सिंह ने धीरे-धीरे उसका सारा मांस खा लिया। हड्डियों के सिवा और कुछ न बच रहा; फिर भी अपनी प्रकृति में स्थित उस वराह ने अपने प्राणों का त्याग नहीं किया, मानों वे उसके धैर्य की अन्तिम सीमा देखने के लिए वहाँ ठहरे रह गये ॥१३५-१३७॥

इसी बीच भूख से व्याकुल वह सिंहिनी वहीं मर गई। सिंह और उसका बच्चा कहीं चला गया। रात भी बीतने को आई ॥१३८॥

तबतक वराह का मित्र वह वानर जागकर बाहर आया। उसने जब वराह को उस रूप में देखा, तब आदर के साथ पूछा—"मित्र, अगर हो सके, तो बतलाओ कि तुम्हारी यह हालत किसने की?" यह सुनकर उस धीर वराह ने उसे सारा वृत्तान्त बतला दिया ॥१३९-१४०॥

ततो रुदन् स तं नत्वा पादयोः कपिरब्रवीत् ।
त्वं देवतांशो येनात्मा तिर्यक्त्वान्मोचितोऽमुतः ॥१४१॥
तत्कञ्चिदभिलाषं मे ब्रूहि संसाधयामि ते ।
इत्युक्तस्तेन कपिना स वराहो जगाद तम् ॥१४२॥

यो वयस्याभिलाषो मे दुःसाध्यो विधिनापि सः ।
पश्यतो मे मृता येयं क्षुधा सिंही तपस्विनी ॥१४३॥
एषा सम्प्राप्तपूर्वाङ्गं पुनर्मां प्राप्तजीविता ।
भुक्त्वा तृप्यत्विति सखे चेतो हि मम वाञ्छति ॥१४४॥
इति तं वादिनं क्रोडं प्रत्यक्षीभूय पाणिना ।
परामृश्य व्यधाद्धर्मो मुनीन्द्रं दिव्यविग्रहम् ॥१४५॥
उवाच च मयैवेयं माया सिंहादिरूपिणा ।
कृताभूत्त्वां परार्थैकबद्धलक्ष्यं जिगीषता ॥१४६॥
त्वया त्वखण्डसत्त्वेन परार्थे प्राणदायिना ।
विजित्य मामिमं धर्मं प्राप्तैवाद्य मुनीन्द्रता ॥१४७॥

तच्छ्रुत्वा धर्ममालोक्य पुरःस्थं सोऽब्रवीन्मुनिः ।
सख्यावस्मिन्नसन्त्यक्ततिर्यक्त्वे मर्कटेऽधुना ॥१४८॥

न मां प्रीणाति भगवन् प्राप्ताप्येषा मुनीन्द्रता ।
श्रुत्वैतत् स मुनिं चक्रे धर्मस्तमपि मर्कटम् ॥१४९॥
ध्रुवं फलाय महते महद्भिः सह सङ्गमः ।
अथ धर्मस्तिरोऽभूत् स सिंही चान्तर्दधे मृता ॥१५०॥

एवं सत्त्वबलात्त्यक्तधर्मोत्साहैरदुर्लभाः ।
देवताकृतसाहाय्यै राजन् वाञ्छितसिद्धयः ॥१५१॥

इति भिक्षोर्वचः श्रुत्वा स विनीतमतिः पुनः ।
दानशूरो नृपश्चक्रे रात्रौ तं स्वप्नमाणवम् ॥१५२॥

दृष्ट्वा शशंस स स्वप्नं प्रातस्तस्मै च भिक्षवे ।
जाने स्वप्नेऽद्य मामेवं दिव्यः कोऽप्यवदन्मुनिः ॥१५३॥
पुत्र निष्कल्मषो बोधिसत्त्वचर्या चराधुना ।
तच्छ्रुत्वैव स तद्वाक्यं प्रबुद्धोस्म्यद्य निर्वृतः ॥१५४॥

इसपर रोता हुआ वह वानर उसके पैरों पर गिरकर कहने लगा––"तुम किसी देवता के अंश हो, जिसने इस प्रकार अपने शरीर को पशुयोनि से मुक्त किया है। यदि तुम्हारी कोई अभिलाषा शेष रह गई हो, तो मुझसे कहो। मैं उसे पूरा करूँगा।" वानर के ऐसा कहने पर वराह ने उससे कहा—"मित्र, मेरी जो अभिलाषा है, वह विधाता के लिए भी दुःसाध्य है। मेरा जी चाहता है कि मेरे देखते-देखते यह जो तपस्विनी सिंहिनी भूख मे मर गई है, वह फिर से जी उठे, मेरा शरीर भी जैसे का तैसा हो जाय, और मुझे खाकर यह अपनी भूख बुझा सके॥१४१-१४४॥

वराह जब ये बातें कह रहा था, तभी धर्म ने प्रत्यक्ष होकर अपने हाथ के स्पर्श से, उसे दिव्य शरीरवाला श्रेष्ठ मुनि बना दिया और कहा––"एकमात्र परोपकार ही जिसका लक्ष्य है, ऐसे तुमको जीतने के लिए मैंने ही अपनी माया के द्वारा सिंह आदि का रूप बनाया था॥१४५-१४६॥

किन्तु, तुमने अपनी अखण्ड उदारता से, दूसरे के लिए अपने प्राणों का त्याग करके, मुझे जीत लिया है और आज मुनीन्द्र का यह पद पाया है" ॥१४७॥

यह सुनकर और धर्म को अपने सम्मुख देखकर, उस मुनि ने कहा––"अपने इस मित्र वानर को पशुयोनि में छोड़कर मुझे मुनीन्द्र का यह पद पाना भी अच्छा नहीं लगता।" यह सुनते ही धर्म ने उस वानर को भी मुनि बना दिया॥१४८-१४९॥

महज्जनों का साथ महान् फल देनेवाला होता है, इसमें सन्देह नहीं। इसके बाद धर्म और मरी हुई वह सिंहिनी, दोनों ही अन्तर्हित हो गये॥१५०॥

राजन्, जो लोग अपने प्रकृति-गुण से धर्म के प्रति अपने उत्साह को शिथिल नहीं करते, वे देवताओं की सहायता से, अपने मनोरथ सहज ही पूरे कर पाते हैं" ॥१५१॥

भिक्षु की यह बात सुनकर दानशूर राजा विनीतमति ने रात में फिर स्वप्न देखने की क्रिया की॥१५२॥

स्वप्न देखकर राजा ने सबेरे भिक्षु से कहा––"आज स्वप्न में ऐसा प्रतीत हुआ, मानों कोई दिव्य मुनि मुझसे कह रहे हैं––'पुत्र, तुम्हारे पाप नष्ट हो गये हैं। अब तुम बोधिसत्त्व-पद प्राप्त करने के लिए, उसके आचार का पालन करो।' उनकी यह बात सुनकर मुझे शान्ति मिली और मैं जग गया" ॥१५३-१५४॥

एवं निवेद्य गुरवे भिक्षवे स महीपतिः।
जग्राह तां महाचर्यां शुभेऽह्नि तदनुज्ञया ॥१५५॥
तस्थौ च कामानर्थिभ्यो वर्षन्नविरतं ततः।
धनं चास्याक्षयं जज्ञे धर्ममूला हि सम्पदः ॥१५६॥

अथैकदा तमभ्यैत्य ब्राह्मणोऽर्थी व्यजिज्ञपत्।
विप्रोऽहं देव वास्तव्यः पुरे पाटलिपुत्रके ॥१५७॥
तत्राग्निशालामावृत्य पुत्रोऽपि ब्रह्मरक्षसा।
आवृतो मे न चैतस्मिन्नुपायः क्रमते मम ॥१५८॥
अतोऽर्थिकल्पवृक्षं त्वामागतोऽस्मीह याचितुम्।
देहोतत् सर्वदोषघ्नमङ्गलीयं शिवाय मे ॥१५९॥
इत्यर्थितः स विप्रेण तेन राजाङ्गुलीयकम्।
कालजिह्वादवाप्तं तत्तस्मै प्रादादविह्वलः ॥१६०॥
आदाय तद्गते तस्मिन् विप्रे तस्य च भूपतेः।
बोधिसत्त्वव्रतयशो दिगन्तेष्वपि पप्रथे ॥१६१॥

ततः कदाचिदपरस्तस्यागादुत्तरापथात्।
कोऽपीन्दुकलशो नाम राजपुत्रोऽतिथिः प्रभोः ॥१६२॥

स कृतप्रश्रयस्तेन राज्ञा ज्ञातोत्तमान्वयः।
पृष्टकामश्च धीरेण राजपुत्रस्तमब्रवीत् ॥१६३॥
त्वं तावदर्थिसार्थस्य ख्यातश्चिन्तामणिर्भुवि।
प्राणानामपि ते ह्यर्थी न प्रयाति पराङ्मुखः ॥१६४॥

अहं चास्कन्द्य कनककलशाख्येन राज्यतः।
भ्रात्रा निर्वासितः पित्र्यादर्थित्वात्त्वमुपागतः ॥१६५॥
तदश्वखड्गरत्ने ते ये स्तस्ते वीर देहि मे।
यत्प्रभावेण दायादं जित्वा राज्यमवाप्नुयाम् ॥१६६॥

तच्छ्रुत्वैवाश्वखड्गौ तौ राज्यरक्षामणी अपि।
ददौ राजसुतायास्मै स विनीतमतिर्नृप ॥१६७॥
न च तस्याभवत् कश्चित् विकल्पो धीरचेतसः।
अधोमुखेषु मुञ्चत्सु निःश्वासानपि मन्त्रिषु ॥१६८॥

अपने गुरु उन भिक्षु से ऐसा निवेदन करके, उनकी आज्ञा से, राजा ने शुभ दिन देखकर उस महाचर्या को ग्रहण किया ॥१५५॥

अनन्तर, वे निरन्तर याचकों की कामनाएँ पूरी करते हुए समय बिताने लगे। इससे उनका धन भी अक्षय होता गया; क्योंकि धर्म करने से ही सम्पत्ति बढ़ती है ॥१५६॥

एक बार एक याचक ब्राह्मण ने उनके पास आकर निवेदन किया––"देव, मैं ब्राह्मण हूँ। पाटलिपुत्र का निवासी हूँ। वहाँ एक ब्रह्मराक्षस ने मेरी अग्निशाला पर अधिकार कर लिया है और मेरे पुत्र को भी छिपा दिया है। उसपर मेरा कोई उपाय नहीं चल पाता है। अतः, याचकों के लिए कल्पवृक्ष के समान आपके पास, मैं एक माँग लेकर आया हूँ। समस्त उपद्रवों का नाश करनेवाली वह अंगूठी आप मुझे दे दें, जिससे मेरा कल्याण हो" ॥१५७––१५९॥

ब्राह्मण की यह याचना सुनकर, राजा ने बिना किसी हिचकिचाहट के, कालजिह्व से पाई हुई वह अंगूठी उसे दे दी ॥१६०॥

अंगूठी लेकर जब वह ब्राह्मण चला गया, तब राजा के बोधिसत्वव्रत का यश दिगन्तों में फैल गया ॥१६१॥

अनतन्र, एक बार उत्तरापथ से एक दूसरा अतिथि, इन्दुकलश नाम का राजकुमार, राजा के यहाँ आया ॥१६२॥

उसे उत्तम वंश का जानकर राजा विनीतमति ने उसका सम्मान किया और उसका मनोरथ पूछा। तब उस राजकुमार ने कहा––"आप याचकों के लिए चिन्तामणि के समान सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। आपके प्राणों का याचक भी आपके यहाँ से विफलमनोरथ होकर नहीं जायगा ॥१६३-१६४॥

कनककलश नाम के मेरे भाई ने, आक्रमण करके, मुझे मेरे पिता के राज्य से निकाल दिया है। अतः, मैं आपसे आपका उत्तम घोड़ा और तलवार माँगने के लिए आया हूँ, जिसके प्रभाव से अपने भाई को जीतकर मैं अपना राज्य पा सकूँ" ॥१६५-१६६॥

यह सुनते ही राजा विनीतमति ने अपना घोड़ा और खड्ग, जो उनकी राज्य-रक्षा की मणि के समान थे, उस राजकुमार को दे दिया। यद्यपि उनके मन्त्री सिर झुकाकर उसासें लेते रहे, किन्तु उन धीर स्वभाववाले राजा के मन में तनिक भी दुविधा नहीं हुई ॥१६७-१६८॥

सोऽथ प्राप्ताश्वखड्गः सन् गत्वा राजसुतस्ततः।
तत्प्रभावेण जित्वा तं भ्रातरं राज्यमाप्तवान्॥१६९॥
तद्भ्राता सोऽपि कनककलशो राज्यतश्च्युतः।
तस्य तां नगरीमागाद् विनीतमतिभूपतेः॥१७०॥
अग्निप्रवेशं कर्त्तुं च दुःखेनारभतात्र सः।
तद् बुद्ध्वा स नृपोऽमात्यान् विनीतमतिरब्रवीत्॥१७१॥
एष साधुरिमां प्राप्तो दशां मदपराधतः।
तत्स्वराज्यप्रदानेन भवाम्यस्यानृणोऽधुना॥१७२॥
परार्थानुपयुक्तेन किं राज्येनामुना च मे।
एष एवानपत्यस्य पुत्रो मेऽस्तु च राज्यभृत्॥१७३॥
इत्याहूय कनककलशाय स तद्ददौ।
तस्मै स्वराज्यं सचिवेष्वनिच्छत्स्वपि भूपतिः॥१७४॥
दत्तराज्यश्च निरगान्नगर्यास्तत्क्षणं ततः।
भार्याभ्यां सहितो द्वाभ्यां निर्विकल्पेन चेतसा॥१७५॥
हा हा धिग् जगदाप्यायी सम्पूर्णोऽमृतदीधितिः।
जातश्चान्तरितश्चैत्य मेघेनाकाण्डपातिना॥१७६॥
प्रवृत्तश्चैष सर्वाशापूरणे सर्वदेहिनाम्।
नीतश्च विधिना क्वापि प्रजाकल्पद्रुमो नृपः॥१७७॥
इत्याद्याक्रन्दमुखरास्तद्दृष्ट्वा विह्वलास्तदा।
वाष्पाम्बुसिक्तवसुधाः पौरास्तमनु निर्ययुः॥१७८॥
निवर्त्त्य च कथं चित्तान् सभार्योऽकम्पितस्ततः।
स विनीतमतिः प्रायादरण्यं प्रत्यवाहनः॥१७९॥
क्रमात् प्रापार्कसन्तप्तसिकतां निर्जलद्रुमाम्।
मरुभूमिं स विधिना सृष्टां धैर्यमवेक्षितुम्॥१८०॥
तदेकदेशे तृष्णार्त्तो दूराध्वक्लमविक्लवः।
निषण्णः स क्षणं जह्ने सपत्नीकोऽपि निद्रया॥१८१॥
प्रबुद्धो वीक्षते यावत्तावत्तत्र ददर्श सः।
स्वसत्त्वोत्कर्षनिष्पन्नं महदुद्यानमद्भुतम्॥१८२॥

वह राजकुमार घोड़ा और खड्ग पाकर चला गया और उनके प्रभाव से अपने भाई को जीतकर उसने राज्य प्राप्त कर लिया ॥१६९॥

राज्य से हटाया गया उसका भाई कनककलश भी राजा विनीतमति की राजधानी में आया और दुःख के कारण, उसने अग्निप्रवेश करने का आयोजन किया। राजा विनीतमति को जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने अपने मन्त्रियों से कहा—॥१७०-१७१॥

"मेरे ही अपराध से इस सत्पुरुष की यह दशा हुई है, अतः मैं इसे अपना राज्य देकर इसके ऋण से उऋण होऊँगा। जो परोपकार में न लगे, वैसे राज्य को लेकर मुझे क्या करना है ? मैं पुत्र-रहित भी हूँ, अतः यह मेरा पुत्र बनकर राजकाज चलाये" ॥१७२-१७३॥

यह कहकर राजा विनीतमति, कनककलश को बुलवाया और मन्त्रियों की इच्छा न रहने पर भी, उसे अपना राज्य सौंप दिया ॥१७४॥

राज्य देकर वे तत्काल ही, निर्विकल्प चित्त से, अपनी दोनों पत्नियों के सहित, उस नगरी से बाहर निकल गये ॥१७५॥

यह देखकर राजा विनीतमति के पुरवासी विह्वल हो गये। वे अपने आँसुओं से धरती भिगोने लगे। वे रो-रोकर कहने लगे—"हाय, हाय, संसार को प्रसन्न करनेवाले पूर्णचन्द्र को, अचानक मेघ ने आकर छिपा लिया। प्रजाजनों के लिए जो राजा कल्पवृक्ष के समान था, और जो सब प्राणियों की सभी आशा पूरी करने में लगा रहता था, उसे विधाता न जाने कहाँ ले चले। ऐसा कहते हुए वे पुरवासी भी उनके पीछे-पीछे चले ॥१७६—१७८॥

उन लोगों को किसी प्रकार लौटाकर विनीतमति, अविचलित चित्त से और विना किसी वाहन के, वन की ओर चले ॥१७९॥

चलते-चलते वे एक ऐसी मरुभूमि में पहुँचे, जहाँ की रेत सूर्य-किरणों से धधक रही थी और जहाँ न तो जल था, न वृक्ष ही। जान पड़ता था, मानों राजा के धैर्य की परीक्षा लेने के लिए ही विधाता ने उसे सिरजा हो ॥१८०॥

लम्बी राह चलने के कारण, थकावट से विकल और प्यास से विह्वल वे, वन में एक जगह बैठे ही थे कि पत्नियों के सहित उन्हें नींद ने आ घेरा ॥१८१॥

जगकर जब उन्होंने देखा, तब उनके सत्य-बल से निर्मित एक अद्‌भुत और बहुत बड़ा बगीचा उन्हें दीख पड़ा ॥१८२॥

फुल्लाब्जशीतलस्वच्छसलिलापूर्णवापिकम् ।
नीलशाद्वलसंछन्नं फलभारानतद्रुमम् ॥१८३॥
प्रच्छायगतसुश्लक्ष्णपृथुतुङ्गशिलातलम् ।
दानप्रभावेणाकृष्टं त्रिदिवादिव नन्दनम् ॥१८४॥
स्वप्नः किन्नु भ्रमो वायं देवतानुग्रहोऽथ मे ।
इति तद्वीक्ष्य वीक्ष्यैष यावच्चित्रीयते नृपः ॥१८५॥

तावद्द्युचारिणा हंसद्वन्द्वरूपेण केनचित् ।
सिद्धद्वयेन गगनादीरितामशृणोद्गिरम् ॥१८६॥
राजन् स्वसत्त्वमाहात्म्ये तव कोऽत्रातिविस्मयः ।
तदस्मिन् कानने स्वेच्छं सदापुष्पफले वस ॥१८७॥
इति सिद्धवचः श्रुत्वा निर्वृतस्तत्र कानने ।
तपस्यन् सह पत्नीभ्यां विनीतमतिरास्त सः ॥१८८॥

एकदा च ददर्शाराच्छिलातलगतोऽत्र सः ।
उद्वन्धनेन पुरुषं कमप्यात्मवधोद्यतम् ॥१८९॥
द्रुतं गत्वा प्रियैर्वाक्यैरनुनीय निवार्य च ।
मरणात् कारणं तत्र पुरुषं तं स पृष्टवान् ॥१९०॥

ततः स पुरुषोऽवादीदामूलं शृणु वच्मि ते ।
नागशूरसुतो नाम्ना सोमशूरोऽस्मि सोमकः ॥१९१॥
सोऽहं जातकनिर्दिष्टचौर्यस्तच्छास्त्रवेदिभिः ।
तद्भीत्याध्यापितः पित्रा धर्मशास्त्रं प्रयत्नतः ॥१९२॥

तदधीत्यापि चौर्येऽहं प्रवृत्तो दुष्टसङ्गतेः ।
कस्य प्राक् कर्म केनेह शक्यते कर्त्तुमन्यथा ॥१९३॥
अथैकदा चौरमध्याद् गृहीत्वा पुररक्षिभिः ।
शूलाधिरोपणस्थानं वधाय प्रापितो भवम् ॥१९४॥

तत्क्षणं राजसम्बन्धी भग्नालानो महाद्विपः ।
मत्तो व्यापादयज्जन्तूंस्तदैव स्थानमागमत् ॥१९५॥
तत् त्रासान्मां परित्यज्य क्वापि ते वधका गताः ।
अहं च तुमुले तस्मिन् पलाय्यैव ततो गतः ॥१९६॥

उस वन में शीतल और स्वच्छ जल से भरी बावलियाँ थीं, जिनमें कमल खिले हुए थे; वहाँ हरी घास फैली हुई थी, फलों के भार से वृक्ष झुके हुए थे, छायादार जगहों में चिकने मोटे, और ऊँचे शिलाखण्ड पड़े हुए थे। ऐसा जान पड़ता था, मानों राजा के दान के प्रभाव से स्वर्ग से नन्दन बन ही वहाँ उतर आया हो॥१८३-१८४॥

यह सब देख-देखकर, राजा अचरज में पड़ गये और सोचने लगे कि यह स्वप्न है या भ्रम अथवा किसी देवता की कृपा है। इसी समय हंस-मिथुन के रूप में, आकाश में उड़ते हुए, दो सिद्धों की आकाशवाणी उन्हें सुन पड़ी॥१८५-१८६॥

"राजन्, यह सब तुम्हारे पुण्य का प्रताप है। इसमें बहुत अचरज की क्या बात है। अब तुम फल-फूल से सदा भरे रहनेवाले इस वन में इच्छानुसार निवास करो"॥१८७॥

सिद्धों की यह बात सुनकर विनीतमति निश्चिन्त हुए और अपनी पत्नियों के साथ, तपस्या करते हुए, उस वन में रहने लगे॥१८८॥

एक बार जब वे एक शिलाखण्ड पर बैठे हुए थे, उन्होंने एक आदमी को फाँसी लगाकर मरने के लिए उद्यत देखा॥१८९॥

उन्होंने झटपट जाकर मीठी बातों से समझा-बुझाकर उसे मरने से रोका और उस आदमी से उसके मरने का कारण पूछा॥१९०॥

तब उस आदमी ने कहा—"सुनिए, मैं आरम्भ से ही सारी बातें कहता हूँ। मैं सोमवंश के नागशूर का पुत्र सोमशूर हूँ॥१९१॥

मेरे जन्म के समय ज्योतिषियों ने बतलाया था कि मैं चोर होऊँगा। इस भय से मेरे पिता ने चेष्टापूर्वक मुझे धर्मशास्त्रों की शिक्षा दिलवाई॥१९२॥

किन्तु, धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी, दुष्टों की संगति में पड़कर, मैं चोरी करने लगा। किसी के पूर्वकृत कर्मों को भला कौन अन्यथा कर सकता है?॥१९३॥

एक बार नगररक्षकों ने मुझे चोरों के बीच से पकड़ा और मेरा वध करने के लिए, वे मुझे शूली देने की जगह पर ले गये॥१९४॥

उसी समय राजा का एक बड़ा हाथी, जो पागल हो गया था, जंजीर तोड़कर, प्राणियों की हत्या करता हुआ, उस जगह आ पहुँचा॥१९५॥

उसके डर से वे वधिक मुझे छोड़कर कहीं भाग गये। मैं भी उस हलचल में वहाँ से भाग निकला॥१९६॥

वधाय नीयमानं मां श्रुत्वैवोत्क्रान्तजीवितम्।
पितरं लोकतोऽश्रौषं मात्रा मेऽनुगतं ततः ॥१९७॥
अथ शोकातुरो भ्राम्यन् खिन्नो देहव्ययोन्मुखः।
क्रमादिदमहं प्राप्तो विजनं काननं महत् ॥१९८॥
इह प्रविष्टमात्रं मामकस्मात् दत्तदर्शना।
उपेत्य कापि दिव्या स्त्री कृताश्वासाभ्यभाषत ॥१९९॥
त्वं विनीतमतेः पुत्र राजर्षेरिममाश्रमम्।
प्राप्तो गतं च ते पापं ज्ञानं तस्माच्च लप्स्यसे ॥२००॥
इदमुक्त्वा तिरोऽभूत् सा भ्राम्यंश्चाहमनाप्नुवन्।
राजर्षिं तं शुचात्मानं त्यक्तुमिच्छंस्त्वयेक्षितः ॥२०१॥
इत्युक्तवन्तं नीत्वा तं सोमशूरं निजोटजम्।
आवेद्यात्मानमतिथिं स राजर्षिरपूजयत् ॥२०२॥
कृताहारश्च तं प्रह्वं नानाधर्मकथान्तरे।
निवारयिष्यन्नज्ञानात् स राजमुनिरब्रवीत् ॥२०३॥
अज्ञानं वत्स हातव्यं विपर्यस्तधियां हि तत्।
लोकद्वयेऽपि दोषाय शृणु चात्रागमश्रुतिम् ॥२०४॥

देवभूतिकथा

पाञ्चालेषु पुरा देवभूतिनामाभवद्द्विजः।
तस्याभूद्भोगवत्याख्या भार्या वेदवतः सती ॥२०५॥
सा स्नानाय गते तस्मिञ्शाकार्थं शाकवाटिकाम्।
प्रविष्टा धावकखरं खादन्तं शाकमैक्षत ॥२०६॥
गृहीतलगुडा तं च साभ्यधावत् खरश्च सः।
पलायमानः पतितः श्वभ्रे भग्नखुरोऽभवत् ॥२०७॥
तद्बुद्ध्वा सोऽत्र तत्स्वामी क्रोधादागत्य धावकः।
लगुडैः पादघातैश्च ब्राह्मणीं तामताडयत् ॥२०८॥
तेन साकाण्डविभ्रष्टगर्भाभूद्गर्भिणी सती।
ततः स खरमादाय धावकः स्वगृहं ययौ ॥२०९॥
स्नात्वा गतोऽथ तद्भर्त्ता तद्बुद्ध्वा वीक्ष्य तां च सः।
भार्यां विप्रः पुराध्यक्षं गत्वोद्विग्नो व्यजिज्ञपत् ॥२१०॥

बाद में मैंने लोगों से सुना कि मेरे पिता ने यह जानकर शरीर-त्याग कर दिया कि मैं वध करने के लिए ले जाया गया हूँ। अनन्तर, मेरी माता ने भी उन्हीं का अनुगमन किया ॥१९७॥

शोक से आतुर होकर, छिन्न मन से, मैं इधर-उधर भटक रहा था। मैं शरीर का त्याग करने को तैयार था। इसी तरह मैं इस विशाल और निर्जन वन में आ पहुँचा ॥१९८॥

इस वन में प्रवेश करते ही, अचानक एक दिव्य स्त्री ने मुझे दर्शन दिये। निकट आकर मुझे दिलासा देते हुए उसने कहा—"पुत्र, तुम राजर्षि विनीतमति के इस आश्रम में आ गये हो, अतः तुम्हारे पाप नष्ट हो गये हैं। अब उन्हीं से तुम ज्ञान प्राप्त करोगे" ॥१९९-२००॥

यह कहकर वह तिरोहित हो गई। वन में भटकते हुए मैंने जब उन पवित्रात्मा राजर्षि को नहीं पाया, तब शरीर त्यागने को उद्यत हुआ। इसी समय आपने मुझे देख लिया ॥२०१॥

सोमशूर के ऐसा कहने पर, वे राजर्षि, उसे अपनी कुटिया में ले गये। अतिथि को अपना परिचय देकर उन्होंने उसका सत्कार किया। ॥२०२॥

जब उस विनयी सोमशूर ने भोजन कर लिया, तब अनेक प्रकार की धर्मकथाएँ कहते हुए राजर्षि विनीतमति ने, उसका अज्ञान दूर किया और उससे कहा—"वत्स, अज्ञान का त्याग करना ही उचित है; क्योंकि उससे बुद्धि विपरीत हो जाती है और दोनों लोकों में दुःख मिलता है। इस सम्बन्ध में शास्त्र की एक कथा सुनो ॥२०३-२०४॥

देवभूति की कथा

प्राचीन काल में, पांचाल देश में, देवभूति नाम का एक वेदज्ञ ब्राह्मण रहता था। उसकी सती स्त्री का नाम भोगवती था ॥२०५॥

एक दिन ब्राह्मण जब स्नान करने गया, तब उसकी स्त्री शाक चुनने के लिए बगीचे में गई। वहाँ जाकर उसने धोबी के गधे को शाक खाते हुए देखा ॥२०६॥

वह जब डण्डा लेकर उसके पीछे दौड़ी, तब गधा भागा और एक गढ़े में गिर गया। इससे उसका खुर उखड़ गया ॥२०७॥

जब गधे के मालिक धोबी को इसका पता चला, तब वह क्रुद्ध होकर आया और उसने डण्डे और लातों से ब्राह्मणी को मारा ॥२०८॥

इससे उस गर्भवती ब्राह्मणी का गर्भ गिर गया। अनन्तर, वह धोबी अपने गधे को लेकर घर चला गया ॥२०९॥

ब्राह्मणी का पति जब स्नान करके आया, तब उसे सारा हाल मालूम हुआ। उसने अपनी पत्नी को भी देखा और उद्विग्न होकर नगरपाल से सारा हाल जा कह सुनाया ॥२१०॥

स बलासुरनामानं तदैवानीय धावकम्।
श्रुत्वा तयोर्द्वयोर्वादं मूर्खो विवृतवानिदम् ॥२११॥
खुरभङ्गात् खरस्यास्य धावकस्य वहत्वयम्।
खरभारं द्विजो यावत् प्रकृतिस्थो भवेत् खरः ॥२१२॥
धावकोप्ययमेतस्य भार्यायामग्रजन्मनः।
गर्भं प्रजनयत्वन्यं तस्यां तद्गर्भपातनात् ॥२१३॥
एषोऽनयोर्द्वयोर्दण्ड इत्युक्ते तेन स द्विजः।
सन्तापाद् भक्षितविषः सभार्योऽपि जहावसून् ॥२१४॥
तद्बुद्ध्वा तत्र निहतो राजा दुरवधारकः।
ब्रह्महा स पुराध्यक्षस्तिर्यग्योनिं गतश्चिरम् ॥२१५॥
इत्यज्ञानतमश्छन्नाः स्वदोषोन्मार्गगामिनः।
अपुरस्कृतसच्छास्त्रदीपा भ्रश्यन्ति निश्चितम् ॥२१६॥
एवमुक्त्वा स राजर्षिरुपदेशार्थिनं पुनः।
सोमशूरं विनेतुं तं विनीतमतिरभ्यधात् ॥२१७॥

दानपारमिताकथा

वत्स पारमितार्थं ते वच्मि तावत् क्रमाच्छृणु।
पूर्वं राजा कुरुक्षेत्रे मलयप्रभ इत्यभूत् ॥२१८॥
तं कदाचित् प्रजाभ्योऽर्थं दुर्भिक्षे ददतं नृपम्।
मन्त्रिभिर्वारितं लोभाज्जगादेन्दुप्रभः सुतः ॥२१९॥
उपेक्षसे प्रजास्तात कथं दुर्मन्त्रिणां गिरा।
त्वं हि कल्पद्रुमस्तासां ताश्च ते कामधेनवः ॥२२०॥
निर्बन्धादिति जल्पन्तं पुत्रं मन्त्रिवशो नृपः।
खेदात्तं सोऽब्रवीत् वत्स किं मेऽस्ति धनमक्षयम् ॥२२१॥
विना तेन प्रजाकल्पपादपश्चेद् भवाम्यहम्।
तत् त्वमेव किमेतासां न धत्से कल्पवृक्षताम् ॥२२२॥
एतच्छ्रुत्वा पितुश्चक्रे प्रतिज्ञां स नृपात्मजः।
मर्त्तव्यं कल्पवृक्षत्वं साध्यं वा तपसा मया ॥२२३॥
इति निश्चित्य स प्रायामहासत्त्वस्तपोवनम्।
आरूढ एव तस्मिश्च स दुर्भिक्षो न्यवर्त्तत ॥२२४॥

नगरपाल ने उसी समय बलासुर नाम के उस धोबी को बुलवाया और उन दोनों के अभियोग सुनकर उस मूर्ख ने कहा—"गधे का खुर उखड़ जाने के कारण यह ब्राह्मण तबतक धोबी के गधे का बोझ ढोये, जबतक गधा अच्छा न हो जाय। इसी तरह धोबी भी ब्राह्मण की स्त्री को फिर से गर्भ धारण कराये; क्योंकि उसी के चलते उसका गर्भपात हुआ है। यही इन दोनों को दण्ड दिया जाता है।" नगरपाल के ऐसा कहने पर, उस ब्राह्मण ने दुःख के कारण विष खाकर अपनी पत्नी के साथ प्राणत्याग कर दिया॥२११—२१४॥

राजा ने यह समाचार पाकर, उस नासमझ और ब्रह्मघाती नगरपाल को, प्राणदण्ड दिया तथा उसे चिरकाल तक पशुयोनि में रहना पड़ा॥२१५॥

इस प्रकार, अज्ञान के अन्धकार से ढके हुए और अपने ही दोष से बुरे मार्ग पर जानेवाले लोग, उत्तम शास्त्रों का दीपक सम्मुख न रखने के कारण, निश्चय ही भ्रष्ट हो जाते हैं। राजर्षि विनीतमति ने, उपदेश की इच्छा रखनेवाले सोमशूर से ऐसा कहकर, उसका मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए फिर कहा—॥२१६-२१७॥

दानपारमिता की कथा

वत्स, तुम्हारे पूर्ण ज्ञान के लिए मैं क्रमशः जो कथाएँ कहता हूँ, उन्हें तुम सुनो। प्राचीन समय में, कुरुक्षेत्र में, मलयप्रभ नाम का एक राजा था। एक बार उसके राज्य में अकाल पड़ा। राजा अपनी प्रजा को धन देने को तत्पर हुआ, लेकिन उसके मन्त्रियों ने, लोभ के कारण, उसे ऐसा करने से रोका। यह देखकर उसके पुत्र इन्दुप्रभ ने, अपने पिता से कहा—"पिताजी, आप बुरे मन्त्रियों के कहने में पड़कर प्रजा की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं? आप उनके लिए कल्पवृक्ष हैं और वे आपकी कामधेनु हैं"॥२१८—२२०॥

आग्रहपूर्वक पुत्र के ऐसा कहने पर भी, मन्त्रियों के वश में होने के कारण, राजा ने उदासीन होकर कहा—"बेटा, क्या मेरे पास अक्षय धन है? विना अक्षय धन के यदि मैं प्रजा के लिए कल्पवृक्ष हो सकता हूँ, तो इनके लिए तुम्हीं कल्पवृक्ष क्यों नहीं बन जाते?"॥२२१-२२२॥

पिता की यह बात सुनकर राजकुमार ने प्रतिज्ञा की कि या तो मैं तपस्या के द्वारा कल्पवृक्ष बनूँगा या फिर प्राणत्याग कर दूँगा॥२२३॥

ऐसा निश्चय करके, वह महासत्त्व राजकुमार, तपोवन में गया। उसके वहाँ पहुँचते ही दुर्भिक्ष जाता रहा॥२२४॥

ततोऽर्थितवरस्तीव्रतपस्तुष्टान्महेन्द्रतः ।
स्वस्मिन्नेव स संजज्ञे नगरे कल्पपादपः ॥२२५॥
आकर्षन्निव दूरस्थानाह्वयन्निव चार्थिनः ।
प्रसारिताभिः शाखाभिर्दिक्षु शब्दैश्च पक्षिणाम् ॥२२६॥
ददौ च कामानर्थिभ्यो दुष्प्रापानपि सोऽन्वहम् ।
चक्रे च ता निराकाङ्क्षाः प्रजाः स्वर्गस्थिता इव ॥२२७॥
कालेन च महेन्द्रस्तमागत्योवाच लोभयन् ।
पूर्णः परोपकारस्ते स्वर्गायागम्यतामिति ॥२२८॥
ततः कल्पद्रुमीभूतस्तं स राजसुतोऽभ्यधात् ।
यत्र पुष्पैः फलै रम्यैरप्यन्यतरवोऽप्यमी ॥२२९॥
पारार्थ्यमेव सततं भजन्ति स्वार्थनिःस्पृहाः ।
तत्र कल्पतरुर्भूत्वा स्वसुखाय कथं दिवम् ॥२३०॥
इयतोऽस्य जनस्याशाच्छेदं कृत्वा व्रजाम्यहम् ।
इत्युदारं वचस्तस्य श्रुत्वा शक्रोऽब्रवीत् पुनः ॥२३१॥
तर्हि प्रजापि ते कृत्स्ना स्वर्गमायात्वसाविति ।
ततस्तमवदद्राजसूनुः कल्पद्रुमोऽपि सः ॥२३२॥
तुष्टोऽसि चेन्नय स्वर्गं प्रजा नार्थोऽस्ति तेन मे ।
अहं परोपकारैकसिद्ध्यै तप्स्ये तपो महत् ॥२३३॥
इत्युक्तवन्तं स्तुत्वा तं सुगतांशं तथेति सः ।
आदाय च प्रजास्तुष्टः सुरेन्द्रस्त्रिदिवं ययौ ॥२३४॥
सोऽपि तां तरुतां त्यक्त्वा राजपुत्रः स्वरूपभृत् ।
तपसेन्दुप्रभः प्राप वनस्थो बोधिसत्त्वताम् ॥२३५॥
एवं स्याद्दानसक्तानां सिद्धिरित्युदिता मया ।
दानपारमितैषा ते शीलपारमितां शृणु ॥२३६॥

शीलपारमिताकथा

पुरा शुकानां राजाभूद्विन्ध्याद्रौ सुगतांशजः ।
प्राग्जन्माभ्यस्तशीलाढ्यो नाम्ना हेमप्रभो वशी ॥२३७॥
तस्य जातिस्मरस्यासीदपि धर्मोपदेशिनः ।
रागिमूर्खः प्रतीहारो नाम्ना चारुमतिः शुकः ॥२३८॥

ततोऽर्थितवरस्तीव्रतपस्तुष्टान्महेन्द्रतः ।
स्वस्मिन्नेव स संजज्ञे नगरे कल्पपादपः ॥२२५॥
आकर्षन्निव दूरस्थानाह्वयन्निव चार्थिनः ।
प्रसारिताभिः शाखाभिर्दिक्षु शब्दैश्च पक्षिणाम् ॥२२६॥
ददौ च कामानर्थिभ्यो दुष्प्रापानपि सोऽन्वहम् ।
चक्रे च ता निराकाङ्क्षाः प्रजाः स्वर्गस्थिता इव ॥२२७॥
कालेन च महेन्द्रस्तमागत्योवाच लोभयन् ।
पूर्णः परोपकारस्ते स्वर्गायागम्यतामिति ॥२२८॥
ततः कल्पद्रुमीभूतस्तं स राजसुतोऽभ्यधात् ।
यत्र पुष्पैः फलै रम्यैरप्यन्यतरवोऽप्यमी ॥२२९॥
पारार्थ्यमेव सततं भजन्ति स्वार्थनिःस्पृहाः ।
तत्र कल्पतरुर्भूत्वा स्वसुखाय कथं दिवम् ॥२३०॥
इयतोऽस्य जनस्याशाच्छेदं कृत्वा व्रजाम्यहम् ।
इत्युदारं वचस्तस्य श्रुत्वा शक्रोऽब्रवीत् पुनः ॥२३१॥
तर्हि प्रजापि ते कृत्स्ना स्वर्गमायात्वसाविति ।
ततस्तमवदद्राजसूनुः कल्पद्रुमोऽपि सः ॥२३२॥
तुष्टोऽसि चेन्नय स्वर्गं प्रजा नार्थोऽस्ति तेन मे ।
अहं परोपकारैकसिद्ध्यै तप्स्ये तपो महत् ॥२३३॥
इत्युक्तवन्तं स्तुत्वा तं सुगतांशं तथेति सः ।
आदाय च प्रजास्तुष्टः सुरेन्द्रस्त्रिदिवं ययौ ॥२३४॥
सोऽपि तां तरुतां त्यक्त्वा राजपुत्रः स्वरूपभृत् ।
तपसेन्दुप्रभः प्राप वनस्थो बोधिसत्त्वताम् ॥२३५॥
एवं स्याद्दानसक्तानां सिद्धिरित्युदिता मया ।
दानपारमितैषा ते शीलपारमितां शृणु ॥२३६॥

शीलपारमिताकथा

पुरा शुकानां राजाभूद्विन्ध्याद्रौ सुगतांशजः ।
प्राग्जन्माभ्यस्तशीलाढ्यो नाम्ना हेमप्रभो वशी ॥२३७॥
तस्य जातिस्मरस्यासीदपि धर्मोपदेशिनः ।
रागिमूर्खः प्रतीहारो नाम्ना चारुमतिः शुकः ॥२३८॥

उसकी कठोर तपस्या से इन्द्र प्रसन्न हुए। उनसे वर प्राप्त करके, वह अपने ही नगर में कल्पवृक्ष बन गया ॥२२५॥

दिशाओं में फैली हुई अपनी शाखाओं से, दूर रहनेवाले को आकृष्ट करता हुआ और पक्षियों के शब्दों से याचकों को बुलाता हुआ-सा वह वृक्ष, प्रतिदिन याचकों के दुर्लभ मनोरथ भी पूरे करने लगा। उसने प्रजा को ऐसा सुखी बना दिया, मानो वे स्वर्ग में रहते हों, उनके मन में कोई अभिलाषा बाकी ही नहीं रह गई ॥२२६-२२७॥

समय पाकर इन्द्र फिर वहाँ आये और उसे लुभाते हुए बोले—"परोपकार का तुम्हारा काम पूरा हो गया है। अब तुम स्वर्ग में जाओ" ॥२२८॥

तब कल्पद्रुम बने हुए उस राजकुमार ने उनसे कहा—"जहाँ ये दूसरे वृक्ष स्वार्थरहित होकर अपने मनोहर फल-फूलों से सदा परोपकार करते रहते हैं, वहाँ कल्पवृक्ष होकर मैं, इतने लोगों की आशा तोड़कर, अपने सुख के लिए, स्वर्ग कैसे जाऊँगा?" उसके ऐसे उदार वचन सुनकर इन्द्र ने फिर कहा—॥२२९—२३१॥

"तब तुम्हारी यह सारी प्रजा भी स्वर्ग चले।" अनन्तर, कल्पवृक्ष बने हुए उस राजकुमार ने उनसे कहा—"यदि आप प्रसन्न हैं, तो आप प्रजा को स्वर्ग ले जायँ। उससे मुझे कोई मतलब नहीं है। मैं एकमात्र परोपकार की सिद्धि के लिए कड़ी तपस्या करूँगा ॥२३२-२३३॥

जिसमें सुगत का अंश था, उस इन्दुप्रभ के ऐसा कहने पर, इन्द्र ने उसकी प्रशंसा की और कहा कि ऐसा ही होगा। सन्तुष्ट होकर वे उसकी प्रजा को लेकर स्वर्ग चले गये ॥२३४॥

उस राजपुत्र इन्दुप्रभ ने भी, वृक्ष का स्वरूप छोड़कर, अपना रूप धारण किया और वन में जाकर तपस्या करने लगे। तपस्या के द्वारा उसने बोधिसत्त्व का पद प्राप्त किया ॥२३५॥

मैंने दानपारमिता की यह कथा तुम्हें सुनाई कि दान करनेवालों को इस प्रकार की सिद्धि मिलती है। अब शीलपारमिता की कथा सुनो ॥२३६॥

शीलपारमिता की कथा

प्राचीन काल में, विन्ध्याद्रि में, हेमप्रभ नाम का शुकों का एक राजा था। वह सुगत के अंश से उत्पन्न था, उसने इन्द्रियों को वश में कर रखा था और पूर्वजन्मों के अभ्यास से शील-वाला था ॥२३७॥

धर्म का उपदेश करनेवाले उस तोते को अपना पूर्ववृत्तान्त स्मरण था। चारुमति नाम का एक तोता उसका प्रतीहार था, जो सांसारिक विषयों में आसक्त रहनेवाला और मूर्ख था ॥२३८॥

स जातु पाशिना भार्यां व्याधेन निहितां शुकीम्।
शोचन्नवस्थां करुणां तद्वियोगातुरो ययौ॥२३९॥
ततः स शुकराजस्तं युक्त्या शोकं निवारयन्।
हेमप्रभो हितायैवमुवाच मतिमान् मृषा॥२४०॥
न सा तव मृता भार्या पाशाच्छाकुनिकस्य सा।
गता पलाय्य दृष्टा हि जीवन्त्येव मयाधुना॥२४१॥
दर्शयाम्येहि तुभ्यं तामित्युक्त्वा स निनाय तम्।
राजा चारुमतिं व्योममार्गेणैकं जलाशयम्॥२४२॥
तत्र सन्दर्श्य तस्यैव प्रतिबिम्बं जलान्तरे।
तमब्रवीदियं सा ते भार्या पश्येह तिष्टति॥२४३॥
तच्छ्रुत्वा वीक्ष्य चात्रात्मप्रतिबिम्बं स मूढधीः।
हृष्टः प्रविश्य तोये तामालिलिङ्ग चुचुम्ब च॥२४४॥
अप्राप्नुवन् प्रियास्पर्शमश्रृण्वंस्तद्वचश्च सः।
स्पर्शालापौ प्रिया किं मे न ददातीत्यचिन्तयत्॥२४५॥
कोपाशङ्की ततो गत्वैवानीयामलकं ततः।
चाट्वर्थं दयिताबुद्ध्या न्यधात् स्वे प्रतिबिम्बके॥२४६॥
तन्मग्नोत्पतितं कान्ताप्रतिक्षिप्तमवेत्य च।
गत्वा सखेदो राजानं तं हेमप्रभमभ्यधात्॥२४७॥
देव भार्या न सा स्पर्शमालापं वा ददाति मे।
किं चैतया प्रतिक्षिप्तं दत्तमामलकं मया॥२४८॥
एतच्छ्रुत्वा स राजा तं शनैः कृच्छ्रादिवाब्रवीत्।
न युक्तमेतद्वक्तुं मे वच्मि स्नेहात्तथापि ते॥२४९॥
अन्यानुरक्ता ह्यद्यैषा त्वयि प्रीतिं कथं भजेत्।
दर्शयामि च ते साक्षादेह्यत्रैव जलान्तरे॥२५०॥
इत्युक्त्वा तत्र नीत्वा तं स्वं तदीयं च वारिणि।
प्रतिबिम्बे उभे राजा तस्मै श्लिष्टे अदर्शयत्॥२५१॥
ते दृष्ट्वैव स तां भार्यां मूढो मत्वान्यसङ्गताम्।
संनिवृत्य विरक्तस्तं स्वं राजानं व्यजिज्ञपत्॥२५२॥
देव त्वदुपदेशो यन्मया मूढेन न श्रुतः।
तस्यैष पाकस्तन्मेऽत्र कर्त्तव्यमधुनादिश॥२५३॥

एक बार व्याव ने जाल में फँसाकर उसकी स्त्री शुकी को मार डाला। उसके वियोग से आतुर होकर, उसके लिए शोक करते हुए, चारुमति की अवस्था बड़ी दयनीय हो गई ॥२३९॥

तब तोतों के बुद्धिमान् राजा हेमप्रभ ने, उसके शोक का निवारण करते हुए, उसके हित के लिए, झूठ ही कहा—"तुम्हारी वह स्त्री मरी नहीं है। वह व्याध के जाल से भाग निकली है। मैंने अभी उसे जीवित देखा है। आओ, तुमको मैं उसे दिखला दूँ।" ऐसा कहकर राजा हेमप्रभ चारुमति को आकाश-मार्ग से एक जलाशय के किनारे ले गये ॥२४०—२४२॥

वहाँ उसे जल के भीतर उसका ही प्रतिबिम्ब दिखलाकर राजा ने कहा—"देखो, वह तुम्हारी स्त्री बैठी है" ॥२४३॥

यह सुनकर तथा अपना प्रतिबिम्ब देखकर, वह मूर्ख प्रसन्न होकर जल में घुस गया और उसका आलिंगन तथा चुम्बन करने लगा ॥२४४॥

अपनी स्त्री का स्पर्श न पाकर और उसकी बोली न सुनकर, वह सोचने लगा कि मेरी स्त्री बोलती क्यों नहीं और मैं उसका स्पर्श क्यों नहीं कर पाता ? ॥२४५॥

'शायद वह नाराज हो गई है', ऐसा सोचकर वह जाकर आँवला ले आया और अपने प्रतिबिम्ब को ही अपनी स्त्री जानकर, उसकी खुशामद करने के लिए, उसने उसमें आँवले को डाल दिया ॥२४६॥

आँवला पहले तो पानी में डूबा, फिर उतरा गया, इससे उसने समझा कि मेरी स्त्री ने उसे फेंक दिया है। तब वह दुःखी होकर राजा हेमप्रभ के पास गया और बोला—"देव, मेरी स्त्री न तो मुझसे बोलती है, न मैं उसका स्पर्श ही कर पाता हूँ। और तो और, उसने मेरा दिया हुआ आँवला भी फेंक दिया" ॥२४७-२४८॥

यह सुनकर राजा ने धीरे-धीरे, जैसे बड़ी मुश्किल से, उससे कहा—"यह बात मुझे कहनी तो न चाहिए, लेकिन मैं तुम्हारे स्नेह से कह रहा हूँ। दूसरे पर अनुरक्त होने के कारण, वह तुम्हारे प्रति प्रेम कैसे रख सकती है ? आओ, यह बात मैं तुम्हें पानी में साक्षात् दिखला दूँ ॥२४९-२५०॥

यह कहकर राजा उसे वहाँ ले गया और अपने तथा उसके प्रतिबिम्ब को सटा हुआ दिखला दिया ॥२५१॥

यह देखकर उस मूर्ख ने समझा कि मेरी स्त्री, दूसरे के साथ चली गई है। इससे उसके मन में विरक्ति उत्पन्न हुई और उसने लौटकर अपने राजा से कहा—"देव, मुझ मूर्खने जो आपका कहना नहीं माना, मुझे उसी का यह फल मिला है। अब मैं क्या करूँ, यह बतलाइए" ॥२५२- २५३॥

इति तं कृतविज्ञप्तिं राजा हेमप्रभोऽथ सः।
लब्धोपदेशावसरः प्रतीहारमभाषत ॥२५४॥
वरं हालाहलं भुक्तमहिर्बद्धो वरं गले।
न पुनः स्त्रीषु विश्वासो मणिमन्त्राद्यगोचरः ॥२५५॥
कलङ्कयन्ति सन्मार्गजुषः परिभवन्त्यलम्।
वात्या इवातिचपलाः स्त्रियो भूरिरजोभृतः ॥२५६॥
तत्तासु न प्रसक्तव्यं धीरसत्त्वैः सुबुद्धिभिः।
शीलमभ्यसनीयं तु वीतरागपदाप्तये ॥२५७॥
इति तेनानुशिष्टः स राज्ञा चारुमतिः स्त्रियः।
परिहृत्य बभूवोर्ध्वरेता बुद्धसमः क्रमात् ॥२५८॥
इत्यन्यानपि शीलाढ्यास्तारयन्तीति ते मया।
शीलपारमिता प्रोक्ता क्षमापारमितां शृणु ॥२५९॥

क्षमापारमिताकथा

आसीच्छुभनयो नाम केदाराद्रौ महामुनिः।
सदा मन्दाकिनीतोयस्नायी दान्तस्तपः कृशः ॥२६०॥
निशि तत्रैकदा पूर्वनिखातं भुवि काञ्चनम्।
अन्वेष्टुमाययुश्चौरा न च प्रापुः कुतोऽपि तत् ॥२६१॥
ततोऽत्र विजने मत्वा तेन तन्मुनिना हृतम्।
प्रविश्य मठिकां तस्य चौरास्ते ब्रुवते स्म तम् ॥२६२॥
अरे दम्भमुने मुञ्च नीतं नः काञ्चनं क्षितेः।
चौराणामप्यहो चौरस्त्वमस्माकमुपस्थितः ॥२६३॥
इत्याक्षिप्तः स तैः पापैरहृतार्थो मृषा मुनिः।
न नीतं तन्मया किञ्चित् न दृष्टं चेत्यभाषत ॥२६४॥
ततस्तैर्लगुडैर्दुष्टैस्ताडितोऽपि स दस्युभिः।
यदा तदेव वक्ति स्म सत्यवाङ्मुनिसत्तमः ॥२६५॥
तदा ते चिच्छिदुस्तस्य क्रूरोऽयमिति तस्कराः।
क्रमाद्धस्तौ च पादौ च नयने चोदपाटयन् ॥२६६॥
तथाप्यनन्यवचनं निर्विकारमवेत्य तम्।
मत्वान्यलुप्तं स्वर्णं ते जग्मुश्चौरा यथागतम् ॥२६७॥

उसके ऐसा कहने पर, राजा हेमप्रभ ने समझा कि अब इसे उपदेश देने का समय आ गया है, अतः उन्होंने कहा—॥२५४॥

"विष खा लेना अच्छा है, सर्प को गले में लपेट लेना भी अच्छा है, पर स्त्री का विश्वास करना अच्छा नहीं है, जिनपर कोई जादू-मन्त्र नहीं चल पाता॥२५५॥

बहुत धूलवाले बवण्डर की तरह स्त्रियाँ बड़ी चपल होती हैं। वे अच्छे मार्ग पर चलनेवालों को कलंकित करके, उन्हें नष्ट कर देती हैं॥२५६॥

अतः, धीरसत्त्व और अच्छी बुद्धिवालों को उनमें आसक्त न होना चाहिए, बल्कि वीतराग का पद पाने के लिए, शील का अभ्यास करना चाहिए"॥२५७॥

राजा से इस प्रकार उपदेश पाकर, चारुमति ने स्त्रियों का संग त्याग दिया और क्रमशः बुद्ध के समान ऊर्ध्वरेता बन गया॥२५८॥

इस तरह शीलवान् लोग, दूसरों का भी उद्धार कर देते हैं, यही बतलाने के लिए, मैंने तुमसे शीलपारमिता की कथा कही है। अब क्षमापारमिता की कथा सुनो॥२५९॥

क्षमापारमिता की कथा

केदार पर्वत पर, शुभनय नामक एक महामुनि थे। वे सदा मन्दाकिनी के जल में स्नान करते थे, उन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया था और तपस्या के कारण वे कृश हो गये थे॥२६०॥

एक रात को, कुछ चोर उस सोने को ढूंढ़ने के लिए आये, जिसे वे पहले जमीन में गाड़ गये थे; लेकिन वह कहीं नहीं मिला॥२६१॥

तब उन्होंने सोचा कि इस निर्जन में रहनेवाले इस मुनि ने ही वह सोना ले लिया है। चोरों ने उनकी कुटिया में प्रवेश करके कहा—॥२६२॥

"अरे, बने हुए मुनि, तुमने जमीन में गड़ा हुआ हमारा जो सोना ले लिया है, उसे दे दो। तुम तो हम चोरों से भी बढ़कर चोर यहाँ आ पहुँचे हो"॥२६३॥

मुनि ने उन चोरों का धन नहीं लिया था, फिर भी जब उन्होंने झूठ ही उनपर ऐसा आक्षेप किया, तब उन्होंने कहा—"न तो मैंने यह चीज ली है और न मैंने कुछ देखा है"॥२६४॥

तब वे दुष्ट चोर, उन्हें लाठियों से मारने लगे, फिर भी जब वे सत्यवादी और श्रेष्ठ मुनि वही कहते रहे, तब उन क्रूर चोरों ने, उनके हाथ और पाँव काट डाले तथा उनकी आँखें भी निकाल लीं॥२६५-२६६॥

इतने पर भी मुनि अपनी बात पर अड़े रहे और निर्विकार बने रहे। यह देखकर चोरों ने माना कि उनका धन किसी और ने लिया है, तब वे जहाँ से आये थे, वहाँ चले गये॥२६७॥

प्रातश्च शेखरज्योतिर्नाम राजात्र तं मुनिम्।
पश्यति स्म तथाभूतं शिष्यस्तद्दर्शनागतः ॥२६८॥
ततः स गुरुशोकार्त्तस्तं दृष्ट्वा तदवेत्य च।
अन्विष्यानाययच्चौरांस्तांस्तत्रैव तदा प्रभुः ॥२६९॥
तेषां वधे प्रवृत्तं च नृपं तं सोऽब्रवीन्मुनिः।
राजन् यदि निहंस्येतांस्तदात्मानं निहन्म्यहम् ॥२७०॥
शस्त्रेणेदं कृतं चेन्मे तदेषां कापराधिता।
तस्य वा प्रेरका ह्येते तर्ह्येतेषामपि क्रुधः ॥२७१॥
तासामपि स्वर्णनाशस्तस्य मत्पूर्वदुष्कृतम्।
तस्यापि स्वं ममाज्ञानं तस्मात्तदपकारि मे ॥२७२॥
ततस्तदेव मे घात्यं किं च यद्यपकारतः।
वध्या एते कथं नात्र रक्ष्याः स्युरुपकारतः ॥२७३॥
नैते कुर्युरिदं चेन्मे क्षमां मोक्षफलामहम्।
कस्य कुर्यां तदेतैर्मे पूर्णैवोपकृतिः कृता ॥२७४॥
इत्यादिभिः स वहुभिर्वाक्यैः क्षान्तिपरो मुनिः।
प्रबोध्य तं नृपं चौरान्निग्रहात् तानमोचयत् ॥२७५॥
तपसश्चास्य माहात्म्यात्तत्क्षणं प्राग्वदक्षतम्।
शरीरमभवत्तस्य सिद्धिश्चाविरभूत्तदा ॥२७६॥
एवं तरन्ति क्षमिणः संसारमिति वर्णिता।
क्षमापारमिता तुभ्यं धैर्यपारमितां शृणु ॥२७७॥

धैर्यपारमिताकथा

आसीन्मालाधरो नाम पूर्वं ब्राह्मणपुत्रकः।
सोऽपश्यदेकदा सिद्धकुमारं व्योमगामिनम् ॥२७८॥
तत्स्पर्धया तृणमयान् पक्षानाबध्य पार्श्वयोः।
उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गगने गत्यभ्यासमशिक्षत ॥२७९॥
प्रत्यहं च तथा कुर्वन्परिश्रममपार्थकम्।
ददृशे स कुमारेण कदाचिद्व्योमचारिणा ॥२८०॥

अगले दिन सवेरे, मुनि के शिष्य शेखरज्योति नाम के राजा, उनका दर्शन करने के लिए आये। उन्हें उस हालत में देखकर, राजा को बड़ा दुःख हुआ। अनन्तर, गुरु से सारा वृत्तान्त जानकर, उनका पता लगवाकर, उन्होंने चोरों को वहीं बुलवाया ॥२६८-२६९॥

राजा जब उन्हें प्राणदण्ड देने लगे, तब मुनि ने कहा—"राजन्, यदि तुम इन्हें प्राणदण्ड दोगे, तो मैं भी आत्मघात कर लूँगा ॥२७०॥

मेरी यह दशा तो शस्त्रों ने की है, इसमें इनका क्या अपराध है? अगर कहो कि शस्त्रों को चलानेवाले तो ये ही थे, तो उसका उत्तर यह है कि शस्त्र चलाने की प्रेरणा इन्हें क्रोध ने दी। स्वर्ण के खो जाने से इन्हें क्रोध आया। इनके स्वर्ण के खोने का कारण मेरा ही पूर्वकृत अपराध था। मेरे अपराध का कारण, मेरा अज्ञान था। अतः, मेरा अपकार करनेवाला तो मेरा अज्ञान ही था ॥२७१-२७२॥

अतः, मेरे लिए उस अज्ञान को ही मारना उचित है। और, अगर अपकार करने के कारण, ये चोर वध करने योग्य हैं, तो उपकार करने के कारण रक्षा करने योग्य क्या नहीं हैं? ॥२७३॥

यदि इन्होंने मेरी यह हालत न की होती, तो मोक्षफल देनेवाली क्षमा मैं किसको करता? अतः, इन्होंने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है" ॥२७४॥

क्षमाशील मुनि ने, इस प्रकार की अनेक बातों से राजा को समझाकर, उन चोरों को बन्धन से मुक्त कराया ॥२७५॥

उसी समय अपनी तपस्या के बल से तथा अपने माहात्म्य से, उनका शरीर फिर पहले की ही तरह अक्षत हो गया और उसके बाद उन्हें सिद्धि भी प्राप्त हो गई ॥२७६॥

जो क्षमाशील पुरुष होते हैं, वे इस प्रकार संसार-सागर को पार कर जाते हैं, ऐसी क्षमापारमिता की कथा मैंने तुमसे कहीं। अब धैर्यपारमिता की कथा सुनो ॥२७७॥

धैर्यपारमिता की कथा

प्राचीन समय में मालाधर नाम का एक ब्राह्मणकुमार था। उसने एक दिन आकाशमार्ग से जाते हुए एक सिद्धकुमार को देखा ॥२७८॥

उसकी होड़ में उसने भी अपने कन्धों पर तृण-पात के पंख बाँध लिये और आकाश में लुढ़क-पुढ़ककर वह उड़ने का अभ्यास करने लगा ॥२७९॥

प्रतिदिन इस प्रकार निष्फल प्रयत्न करते हुए उसको, एक दिन, आकाशगामी गन्धर्वकुमार ने देखा ॥२८०॥

धैर्ययुक्तः परिश्राम्यन् दुष्प्रापेऽर्थेऽपि्ऽसोद्यमः।
बालोऽयमनुकम्प्यो मे मम ह्येष परिग्रहः॥२८१॥
इति सञ्चिन्त्य तुष्टेन नीत्वा तेन स्वशक्तितः।
स्कन्देन द्विजमुख्योऽसावात्मनोऽनुचरः कृतः॥२८२॥
इत्थं धैर्येण तुष्यन्ति देवता अपि ते मया।
धैर्यपारमिता प्रोक्ता ध्यानपारमितां शृणु॥२८३॥

ध्यानपारमिता कथा

आसीद्विजयमालीति कर्णाटेषु पुरा वणिक्।
अभून्मलयमालीति महर्द्धेस्तस्य चात्मजः॥२८४॥
स तेन पित्रा सहितो जातु राजकुलं गतः।
राज्ञस्तस्य युवापश्यदिन्दुकेसरिणा सुताम्॥२८५॥
सा तस्येन्दुयशा नाम मारवल्लीव मोहिनी।
वणिक्पुत्रस्य दृष्ट्वैव विवेश हृदि कन्यका॥२८६॥
ततः स गृहमागत्य विनिद्रो निशि पाण्डुरः।
दिवा सङ्कुचितस्तस्थावालम्ब्य कुमुदव्रतम्॥२८७॥
तामेव चान्वहं ध्यायन्नाहारादिपराङ्मुखः।
पृष्टोऽपि स्वजनैर्नैव मूकवत्किञ्चिदभ्यधात्॥२८८॥
अथैकान्ते तथारूपं तमाप्तो विरहातुरम्।
सुहृन्मन्थरको नाम राजा चित्रकरोऽब्रवीत्॥२८९॥
सखे कि भित्तिसक्तस्त्वं तिष्ठस्यालिखितो यथा।
रूपैकसारोऽनाश्वासी न शृणोषि न पश्यसि॥२९०॥
इति निर्बन्धतस्तस्मै पृच्छते स वणिक्सुतः।
सख्यं मलयमाली स्वमभिप्रायं शशंस तम्॥२९१॥
युक्ता न ते वणिक्पुत्र राजपुत्रीं प्रति स्पृहा।
हंसो वाञ्छतु नामान्यसरोम्बुजसुखश्रियम्॥२९२॥
हरिनाभीह्लदाभोजभोगलक्ष्म्याः स कः पुनः।
इति ब्रुवन् स च यदा चित्रकृन्न शशाक तम्॥२९३॥
प्रतिषेद्धुं तदा तस्मै तामुत्कण्ठाविनोदिनीम्।
कालातिवाहायालिख्य राजपुत्रीं पटे ददौ॥२९४॥

उसने सोचा कि "जो काम न होने लायक है, उसमें भी परिश्रम करता हुआ यह धैर्यपूर्वक लगा हुआ है। मुझे इसपर दया करनी चाहिए और इसे सहारा देना चाहिए।" सन्तुष्ट होकर उस गन्धर्वकुमार ने ऐसा सोचा और अपनी शक्ति से ऊपर उछालकर उस ब्राह्मणकुमार को अपने पास बुला लिया और उसे अपना अनुचर बना लिया ॥२८१-२८२॥

इस प्रकार, धैर्य से देवता भी सन्तुष्ट होते हैं। ऐसी धैर्यपारमिता की कथा मैंने तुमको सुनाई। अब ध्यानपारमिता की कथा सुनो ॥२८३॥

ध्यानपारमिता की कथा

प्राचीन समय में, कर्नाटक में, विजयमाली नामक एक बहुत धनी वणिक् था। उसे मलयमाली नामक एक पुत्र हुआ। ॥२८४॥

एक बार वह अपने पिता के साथ राजभवन में गया। वहाँ उस युवक ने, कामदेव की लता के समान मोहिनी, उस राजा इन्दुकेसरी की कन्या इन्दुयशा को देखा। देखने के साथ ही वह उसके हृदय में पैठ-सी गई ॥२५८-२५६॥

अनन्तर, वह घर आया। रात में नींद न आने के कारण, वह पीला पड़ गया और दिन में संकुचित होकर रहने लगा, मानों उसने कुमुद का व्रत धारण कर रखा हो ॥२८७॥

वह दिन-रात उसी की बात सोचा करता। आहारादि उसने छोड़ दिया था। स्वजनों के पूछने पर भी वह गूँगे की तरह, चुप ही रहता––कुछ बोलता न था ॥२८८॥

एक बार जब वह विरहातुर, इसी प्रकार एकान्त में बैठा हुआ था, मन्थरक नामक उसका एक विश्वासी मित्र, जो राजा का चित्रकार था, बोला––"मित्र, तुम दीवार से लगे हुए चित्रलिखे-से क्यों बैठे रहते हो? प्राणहीन मूर्त्ति की तरह, न तो तुम खाते हो, न सुनते हो और न देखते ही हो" ॥२८९-२९०॥

इस तरह आग्रहपूर्वक पूछने पर, उस वणिक्-पुत्र मलयमाली ने, अपने मित्र को सारी बातें बतला दीं ॥२९१॥

चित्रकार ने कहा––"राजकुमारी की कामना करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। हंस ऐसे-वैसे सरोवरों के कमलों की सुख-शोभा की कामना भले ही करे, वह भगवान् विष्णु के नाभि-सरोवर के कमल की वैभव-लक्ष्मी की कामना कैसे कर सकता है?" इतना कहकर भी, जब चित्रकार उसे विमुख नहीं कर सका, तब उसने एक कपड़े पर राजकुमारी का एक चित्र बनाकर उसे दे दिया, जिससे वह अपनी उत्कण्ठा को बहला सके और समय काट सके ॥२९२-२९४॥

सोऽपि चित्रस्थितां प्राप्य पश्यन्ननुनयन् स्पृशन्।
आसीन्मलयमाली तां भूषयंश्च वणिक्सुतः ॥२९५॥
सेयमिन्दुयशा राजपुत्रीत्येवं स भावयन्।
क्रमात्तन्मयतां प्राप्य तया वृत्याकरोत्क्रियाः ॥२९६॥
शनैश्च तामालपन्तीं चुम्बनादि च कुर्वतीम्।
तद्भावनाभावितः सन्नपश्यँल्लिखितामपि ॥२९७॥
ततः स भावनासिद्धकान्तासम्भोगसुस्थितः।
तस्थौ चित्रपटस्थैककृत्स्नसंसारनिर्वृतः ॥२९८॥
एकदादाय तं चित्रपटं चन्द्रोदयेऽथ सः।
निर्गत्योद्यानमगमद्विहर्त्तुं प्रियया सह ॥२९९॥
तत्रैकस्य तरोर्मूले तं निवेश्य पटं च सः।
विप्रकृष्टं ययौ पुष्पाण्यवचेतुं प्रियाकृते ॥३००॥
तत्कालं विनयज्योतिर्नामाम्बरतलान्मुनिः।
दृष्ट्वा तं कृपया मोहादुद्धरिष्यन्नवातरत् ॥३०१॥
सोऽत्र चित्रपटस्यैकदेशे तस्य स्वशक्तितः।
सजीवं सर्पमालिख्य कृष्णं तस्थावलक्षितः ॥३०२॥
तावन्मलयमाली च पुष्पाण्युच्चित्य तत्र सः।
आगत्य कृष्णसर्पं तं पटे दृष्ट्वा व्यचिन्तयत् ॥३०३॥
सर्पः कुतोऽधुनात्रैषो विधिना किं नु निर्मितः।
निधानभूतां रूपस्य रक्षितुं सुन्दरीमिमाम् ॥३०४॥
इति सञ्चित्य पुष्पैस्तामलङ्कृत्य प्रियां पटे।
भावनोपनतां यावदालिङ्ग्यैतत् स पृच्छति ॥३०५॥
तावद्ददर्श तस्यात्र मुनेर्मायाप्रभावतः।
एतां कृष्णाहिना तेन दष्टां विगतजीविताम् ॥३०६॥
ततः स विस्मृतपटो हाहेत्युक्त्वैव मोहितः।
पपात पटसंसिद्धविद्याधर इव क्षितौ ॥३०७॥
क्षणाच्च संज्ञां सम्प्राप्य विलपन्मरणोन्मुखः।
उत्थायारुह्य वृक्षाग्रात्तुङ्गादात्मानमक्षिपत् ॥३०८॥

चित्रलिखित उस राजकुमारी को पाकर, वह वणिक-पुत्र मलयमाली उसे देखने, विनती करने, छूने और सजाने-सँवारने लगा ।।२९५।।

मलयमाली उस चित्र को ही राजकुमारी इन्दुयशा मानकर, उसमें तन्मय हो गया और उसी भावना से सब काम करने लगा ।।२९६।।

समय पाकर वह इस भावना में इस तरह डूब गया कि चित्र में लिखी हुई होने पर भी उसे वह राजकुमारी बातचीत करती हुई और चुम्बन आदि करती हुई दीखने लगी ।।२९७।।

भावना से सिद्ध, चित्रपट में लिखी अपनी प्रिया का सहवास पाकर और सारे संसार से अलग होकर वह प्रसन्न हुआ ।।२९८।।

एक बार चाँदनी रात में, वह उस चित्रपट को लेकर, अपनी प्रिया के साथ विहार करने के लिए निकला और बगीचे में आया ।।२९९।।

वहाँ एक वृक्ष के नीचे उस चित्रपट को रखकर, अपनी प्रिया के लिए फूल चुनने की इच्छा से वह दूर निकल गया ।।३००।।

इसी समय उसे देख, विनयज्योति नाम के एक मुनि, कृपा-परवश, होकर मोह से उसका उद्धार करने के लिए, आकाश से उतरे ।।३०१।।

अपनी शक्ति से उन्होंने चित्रपट के एक किनारे, सजीव कृष्ण सर्प बना दिया और छिपकर खड़े हो गये ।।३०२।।

तबतक फूल चुनकर मलयमाली भी वहाँ आ पहुँचा। पट पर कृष्ण सर्प को देखकर उसने सोचा––"अरे, यहाँ यह सर्प कहाँ से आ गया ? रूप की आगार इस सुन्दरी की रक्षा करने के लिए ही, क्या इसे विधाता ने बनाया है ?।।३०३-३०४।।

ऐसा सोचकर, उसने पट पर अपनी प्रिया का श्रृंगार किया और भावना में उसे अपने निकट जानकर, उसका आलिंगन करता हुआ, वह ज्योंही उससे कुछ पूछने चला कि मुनि की माया के प्रभाव से, उसने देखा कि उसे काले साँप ने काट खाया है और वह मर गई है ।।३०५-३०६।।

वह भूल गया कि यह चित्रफलक है और हाय- हाय करता हुआ, चित्रपट पर लिखे विद्याधर के समान, चेतनाहीन होकर भूमि पर गिर पड़ा ।।३०७।।

कुछ देर बाद, जब उसकी चेतना लौटी, तब वह विलाप करता हुआ मरने को उद्यत हुआ। वह उठकर एक ऊँचे वृक्ष की चोटी पर चढ़ गया और वहाँ से कूद पड़ा ।।३०८।।

चित्रलिखित उस राजकुमारी को पाकर, वह वणिक-पुत्र मलयमाली उसे देखने, विनती करने, छूने और सजाने-सँवारने लगा ॥२९५॥

मलयमाली उस चित्र को ही राजकुमारी इन्दुयशा मानकर, उसमें तन्मय हो गया और उसी भावना से सब काम करने लगा ॥२९६॥

समय पाकर वह इस भावना में इस तरह डूब गया कि चित्र में लिखी हुई होने पर भी उसे वह राजकुमारी बातचीत करती हुई और चुम्बन आदि करती हुई दीखने लगी ॥२९७॥

भावना से सिद्ध, चित्रपट में लिखी अपनी प्रिया का सहवास पाकर और सारे संसार से अलग होकर वह प्रसन्न हुआ ॥२९८॥

एक बार चाँदनी रात में, वह उस चित्रपट को लेकर, अपनी प्रिया के साथ विहार करने के लिए निकला और बगीचे में आया ॥२९९॥

वहाँ एक वृक्ष के नीचे उस चित्रपट को रखकर, अपनी प्रिया के लिए फूल चुनने की इच्छा से वह दूर निकल गया ॥३००॥

इसी समय उसे देख, विनयज्योति नाम के एक मुनि, कृपा-परवश, होकर मोह से उसका उद्धार करने के लिए, आकाश से उतरे ॥३०१॥

अपनी शक्ति से उन्होंने चित्रपट के एक किनारे, सजीव कृष्ण सर्प बना दिया और छिपकर खड़े हो गये ॥३०२॥

तबतक फूल चुनकर मलयमाली भी वहाँ आ पहुँचा। पट पर कृष्ण सर्प को देखकर उसने सोचा––"अरे, यहाँ यह सर्प कहाँ से आ गया ? रूप की आगार इस सुन्दरी की रक्षा करने के लिए ही, क्या इसे विधाता ने बनाया है ? ॥३०३-३०४॥

ऐसा सोचकर, उसने पट पर अपनी प्रिया का शृंगार किया और भावना में उसे अपने निकट जानकर, उसका आलिंगन करता हुआ, वह ज्योंही उससे कुछ पूछने चला कि मुनि की माया के प्रभाव से, उसने देखा कि उसे काले साँप ने काट खाया है और वह मर गई है ॥३०५-३०६॥

वह भूल गया कि यह चित्रफलक है और हाय- हाय करता हुआ, चित्रपट पर लिखे विद्याधर के समान, चेतनाहीन होकर भूमि पर गिर पड़ा ॥३०७॥

कुछ देर बाद, जब उसकी चेतना लौटी, तब वह विलाप करता हुआ मरने को उद्यत हुआ। वह उठकर एक ऊँचे वृक्ष की चोटी पर चढ़ गया और वहाँ से कूद पड़ा ॥३०८॥

पतन्तमेव तस्माच्च पाणिभ्यां स तमग्रहीत्।
मुनीन्द्रः प्रकटीभूय समाश्वास्य जगाद च॥३०९॥
मूढ वेत्सि न किं यत् सा राजपुत्री स्वमन्दिरे।
स्थिता चित्रपटे चैषा निर्जीवा चिरपुत्रिका॥३१०॥
तदालिङ्गसि कां का वा तव दष्टा महाहिना।
रागिणस्ते स्वसङ्कल्पभावना भ्रम एष कः॥३११॥
एतावद्ध्यानदार्ढ्येन तत्त्वं जिज्ञाससे न किम्।
येनेदृशानां दुःखानां न पुनर्यासि पात्रताम्॥३१२॥
इत्युक्तस्तेन मुनिना जातमोहनिशाक्षयः।
प्रबुद्धः स वणिक्पुत्रः प्रणिपत्य जगाद तम्॥३१३॥
त्वत्प्रसादेन भगवन्नेतां तीर्णोऽहमापदम्।
यथा तरेयं संसारं प्रसादं मे तथा कुरु॥३१४॥
एवं सोऽभ्यर्थितो बोधिसत्त्वो मलयमालिना।
मुनिस्तस्मै स्वविज्ञानमुपदिश्य तिरोदधे॥३१५॥
ततो मलयमाली स वनं गत्वा तपोवलात्।
सहेतुहेयोपादेयतत्त्वज्ञोर्हत्वमाप्तवान्॥३१६॥
आगत्य च कृपालुस्तमिन्दुकेसरिणं नृपम्।
चक्रे ज्ञानोपदेशेन सपौरं मुक्तिभागिनम्॥३१७॥
इत्यसत्यमपि ध्यानबलिनामेति सत्यताम्।
ध्यानपारमितैषोक्ता प्रज्ञापारमितां शृणु॥३१८॥

प्रज्ञापारमिता कथा

चौरः प्राक् सिंहलद्वीपे सिंहविक्रम इत्यभूत्।
आजन्मपोषिततनुः परस्वैः सर्वतो हृतैः॥३१९॥
वृद्धिभूतः स कालेन विरम्यैतदचिन्तयत्।
परत्र कोऽभ्युपायो मे कं तत्र शरणं श्रये॥३२०॥
यदि व्रजामि शरणं शम्भुं शौरिमथात्र तम्।
कोऽहं तयोर्ययोर्देवा मुनयोऽन्ये च सेवकाः॥३२१॥
तद्यो लिखति जन्तूनामेकः सुकृतदुष्कृते।
तं चित्रगुप्तं सेवेऽहं स रक्षेन्मां स्वयुक्तितः॥३२२॥

उन मुनिश्रेष्ठ ने प्रकट होकर, गिरते हुए मलयमाली को हाथों में ले लिया और उसे आश्वासन देते हुए कहा––"अरे मूर्ख, तू क्या यह नहीं जानता कि जो राजपुत्री है, वह तो अपने महल में है, और यह जो चित्र में है, यह तो निर्जीव चित्रकन्या है। फिर किसका तुम आलिंगन करते हो और भला किसे काले नाग ने डँसा है? अनुरागी होने के कारण तुम्हें अपने संकल्प की भावना का यह कैसा भ्रम हुआ है?॥३०६-३११॥

ध्यान की इसी दृढता से तुम सत्य की खोज क्यों नहीं करते, जिससे तुम्हें फिर इस तरह के दुःखों का सामना न करना पड़े॥३१२॥

मुनि के ऐसा कहने पर, उसके मोह की रात कट गई। सचेत होकर उसने मुनि को प्रणाम किया और कहा––"भगवन्, आपकी कृपा से मैंने इस आपत्ति को पार कर लिया है। अब ऐसा कीजिए, जिससे मैं संसार-सागर को भी पार कर सकूँ॥"३१३-१३४॥

मलयमाली ने जब उन बोधिसत्त्व मुनि से. इस प्रकार निवेदन किया, तब वे, उसे अपने ज्ञान का उपदेश देकर अन्तर्हित हो गये॥३१५॥

अनन्तर, मलयमाली ने, वन में जाकर, अपने तपोबल से, कारण के सहित, त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तुओं का सत्य ज्ञान प्राप्त किया और अर्हत् का पद पाया॥३१६॥

वह कृपालु राजा, इन्दुकेसरी के पास आया और पुरजनों के सहित उन्हें ज्ञान का उपदेश देकर, मुक्ति का भागी बनाया॥३१७॥

इस प्रकार, जो लोग ध्यान के बली होते हैं, उनके लिए असत्य भी सत्य बन जाता है। यह ध्यानपारमिता की कथा मैंने सुनाई। अब प्रज्ञापारमिता की कथा सुनो॥३१८॥

प्रज्ञापारमिता की कथा

प्राचीन समय में सिंहलद्वीप में सिंहविक्रम नाम का एक चोर था। जन्मकाल से ही उसने, सब जगह से चुराये हुए दूसरों के धन से, अपने शरीर का पोषण किया था॥ ३१९॥

समय पाकर जब वह बूढ़ा हुआ, तब इस काम को छोड़कर उसने सोचा––"दूसरे लोक में मेरा क्या उपाय होगा? वहाँ मैं किसकी शरण लूँगा?॥३२०॥

यदि मैं शम्भु अथवा विष्णु की शरण में जाऊँ भी, तो उनके लिए मैं किस गिनती में होऊँगा; क्योंकि उनके सेवक तो देवता और मुनिगण भी हैं। तब मैं उन चित्रगुप्त की ही सेवा करूँ, जो सब प्राणियों के पाप-पुण्य लिखा करते हैं। वह अपनी युक्ति से मेरी रक्षा करेंगे॥३२१-३२२॥

कायस्थो हि करोत्येको व्यापारं ब्रह्मरुद्रयोः।
लिखत्युत्पुंसयति च क्षणाद्विश्वं करस्थितम् ॥३२३॥

इति सञ्चिन्त्य तस्यैव भक्तिमारभते स्म सः।
तमेवानर्च तत्प्रीत्यै विप्रान्नित्यमभोजयत् ॥३२४॥

एवमाचरतस्तस्य चित्तं चौरस्य वीक्षितुम्।
चित्रगुप्तो गृहानागादेकदातिथिरूपभृत् ॥३२५॥

सोऽथ चौरस्तमभ्यर्च्य भाजितं दत्तदक्षिणम्।
उवाच चित्रगुप्तस्ते प्रीतोऽस्त्वित्युच्यतामिति ॥३२६॥

ततः स चित्रगुप्तस्तमवोचद् ब्राह्मणाकृतिः।
मुक्त्वा हरिहरादींस्ते चित्रगुप्तेन किं वद ॥३२७॥

तच्छ्रुत्वा सोऽप्यवादीत्तं तस्करः सिंहविक्रमः।
किं तवानेन नार्थो मे तदन्यैर्दैवतैरिति ॥३२८॥

अथ स द्विजरूपी तं चित्रगुप्तोऽब्रवीत् पुनः।
तर्हि मे यदि भार्यां स्वां ददास्येव वदामि तत् ॥३२९॥

श्रुत्वैतत् स प्रहृष्टस्तमवादीत् सिंहविक्रमः।
अभीष्टदैवतप्रीत्यै भार्या दत्तैव ते मया ॥३३०॥

चित्रगुप्तोऽथ तच्छ्रुत्वा प्रदर्श्यात्मानमब्रवीत्।
सैष तुष्टोऽस्मि तत्किं ते करवै कथ्यतामिति ॥३३१॥

ततो हृष्टोऽभ्यधात्तं स विशेषात् सिंहविक्रमः।
भगवन्न यथा मृत्युर्भवेन्मम तथा कुरु ॥३३२॥

ततोऽब्रवीच्चित्रगुप्तो मृत्युः शक्यो न रक्षितुम्।
तथापि तावद्युक्तिं ते करिष्ये तां च मे शृणु ॥३३३॥

ततः प्रभृति निर्दग्धः कालः श्वेतनिमित्ततः।
कुपितेनेश्वरेणेह पुनः कार्याच्च निर्मितः ॥३३४॥

ततः प्रभृति यत्रैव श्वेतो वसति तत्र सः।
न जन्तून् वाधतेऽन्यानप्याज्ञया यन्त्रितः प्रभोः ॥३३५॥

वह अकेला ही कायस्थ, ब्रह्मा और शिव का काम करता है, वह क्षण-भर में सारे संसार को लिख अथवा मिटा सकता है; क्योंकि सारा संसार उसके हाथ में है ॥३२३॥

यह सोचकर वह चित्रगुप्त की ही भक्ति करने लगा। वह उन्हीं की पूजा करता और उनकी प्रसन्नता के लिए, प्रतिदिन ब्राह्मणों को भोजन कराता ॥३२४॥

ऐसा आचरण करते हुए उस चोर का मन जाँचने के लिए, चित्रगुप्त एक बार अतिथि के रूप में उसके घर आये ॥३२५॥

उस चोर ने उनका आदर-सत्कार किया और उन्हें भोजन कराया। फिर, दक्षिणा देकर कहा—"आप यह कहिए कि चित्रगुप्त तुमपर प्रसन्न हों"॥३२६॥

तब ब्राह्मण बने हुए चित्रगुप्त ने उससे कहा—"विष्णु और शिव को छोड़कर तुमको चित्रगुप्त से क्या लेना-देना है ?"॥३२७॥

यह सुनकर सिंहविक्रम नामक उस चोर ने कहा—"आपको इससे क्या मतलब है ? मुझे और देवताओं से क्या प्रयोजन है ?" ॥३२८॥

तब ब्राह्मण-रूपी चित्रगुप्त ने फिर कहा–"यदि तुम अपनी स्त्री मुझे दे दो, तो मैं ऐसा कहूँगा" ॥३२९॥

यह सुनकर सिंहविक्रम प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"अभीष्ट देवता की प्रसन्नता के लिए, मैं अपनी स्त्री आपको देता हूँ"॥३३०॥

यह सुनकर चित्रगुप्त ने अपना असली रूप प्रकट किया और कहा—"मैं ही चित्रगुप्त हूँ। कहो, मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ ?"॥३३१॥

तब बहुत प्रसन्न होकर सिंहविक्रम बोला—"भगवन्, ऐसा कीजिए कि कभी मेरी मृत्यु ही न हो" ॥३३२॥

चित्रगुप्त ने कहा—"मृत्यु से छुटकारा पाना तो सम्भव नहीं है, फिर भी मैं तुम्हारे लिए उपाय बतलाता हूँ, उसे सुनो—॥३३३॥

जबसे भगवान् शिव ने, क्रुद्ध होकर, श्वेत के निमित्त काल को जला डाला और उसकी आवश्यकता जानकर फिर उसे जीवित कर दिया, तबसे जहाँ कहीं श्वेत निवास करते हैं, काल वहाँ किसी प्राणी को, ईश्वर की आज्ञा से बँधे रहने के कारण, हानि नहीं पहुँचाता ॥३३४-३३५॥

स चाधुना श्वेतमुनिः पारे पूर्वाम्बुधेः स्थितः।
तरङ्गिणीं नाम नदीं समुत्तीर्य तपोवने ।।३३६।।

तत्र मृत्योरनाक्रम्ये नीत्वा त्वां स्थापयाम्यहम्।
तरङ्गिण्या इदं पारमागन्तव्यं च न त्वया ।।३३७।।

आगतं वा प्रमादात्त्वां मृत्युर्बाधिष्यते यदि।
तदुपायं करिष्यामि परलोकागतस्य ते ।।३३८।।

इत्युक्त्वा चित्रगुप्तस्तं प्रहृष्टः सिंहविक्रमम्।
नीत्वा श्वेताश्रमे तस्मिन्निधायादर्शनं ययौ ।।३३९।।

ततः कालेन तत्रस्थं नेतुं तं सिंहविक्रमम्।
कालस्तस्यास्तरङ्गिण्या इदं पारमुपाययौ ।।३४०।।

तत्र स्थितो ददर्शान्यमुपायं न यदा तदा।
स तस्मै प्राहिणोद्दिव्यां स्त्रियं निर्माय मायया ।।३४१।।

सा गत्वोपेत्य तं युक्त्या वशीचक्रे विलासिनी।
मोहयित्वा स्वलावण्यसम्पदा सिंहविक्रमम् ।।३४२।।

गतेष्वहःसु सा वन्धुदिदृक्षाव्यपदेशतः।
सतरङ्गां तरीतुं तां प्रविवेश तरङ्गिणीम् ।।३४३।।

वीक्ष्यमाणेऽन्वगायाते तीरस्थे सिंहविक्रमे।
मध्येनदि च सा चक्रे परिस्खलितमात्मनः ।।३४४।।

ओघेन ह्रियमाणेव तारं चक्रन्द तत्र सा।
वीक्षसे म्रियमाणां मामार्यपुत्र न रक्षसि ।।३४५।।

शृगालविक्रमः किं त्वं न पुनः सिंहविक्रमः।
तच्छुत्वैवावतीर्णोऽभूत्स नद्यां सिंहविक्रमः ।।३४६।।

माऽपि स्त्री वारिवेगेन नीयमानेव तत्र तम्।
त्रातुं तमनुगच्छन्तं तत्पारमनयत्क्षणात् ।।३४७।।

तत्र प्राप्तं गलक्षिप्तपाशः कालस्तमब्रवीत्।
अपायो मस्तकस्थो हि विषयग्रस्तचेतसाम् ।।३४८।।

वह श्वेतमुनि आजकल पूर्व समुद्र के पार, तरंगिणी नदी के परले किनारे, तपोवन में रहते हैं। मैं तुम्हें वहाँ, जहाँ मृत्यु आक्रमण नहीं कर सकती, ले जाकर छोड़ आऊँगा; लेकिन तुम तरंगिणी नदी के इस पार मत आना। यदि भूल से कभी तुम इस पार आ गये और मृत्यु ने तुमपर आक्रमण कर ही दिया, तो परलोक में आने पर भी मैं तुम्हारे लिए उपाय करूँगा"॥३३६—३३८॥

चित्रगुप्त की यह बात सुनकर, सिंहविक्रम बहुत प्रसन्न हो गया। चित्रगुप्त उसे लेकर श्वेतमुनि के आश्रम में गये और उसे वहाँ छोड़कर अदृश्य हो गये॥३३९॥

समय पाकर वहाँ रहनेवाले सिंहविक्रम को लेने के लिए, काल, तरंगिणी नदी के इस पार आया॥३४०॥

वहाँ रहकर जब काल को दूसरा कोई उपाय नहीं दीखा, तब उसने अपनी माया से निर्मित एक दिव्य स्त्री को, उसके पास भेजा॥३४१॥

वहाँ पहुँचकर वह विलासिनी, सिंहविक्रम के पास गई और उसने अपने लावण्य की सम्पदा से मोहित करके, उसे अपने वश में कर लिया॥३४२॥

कुछ दिनों के बाद, अपने सम्बन्धियों से मिलने के बहाने, तरंगोंवाली तरंगिणी को पार करने के लिए, वह नदी में पैठी॥३४३॥

सिंहविक्रम भी उसके पीछे-पीछे चला, और नदी के किनारे ठहरकर, उसे देखने लगा। बीच नदी में पहुँचकर उसने अपने-आपको फिसला दिया॥३४४॥

वहाँ, धारा में बही जाती-सी, वह ऊँचे स्वर में रोकर कहने लगी—"आर्यपुत्र, मुझको मरती हुई देखकर भी, तुम मेरी रक्षा नहीं करते? तुम क्या सिंहविक्रम न होकर शृंगालविक्रम हो?" यह सुनते ही सिंहविक्रम नदी में उतर गया॥३४५-३४६॥

वह स्त्री मानों पानी की धारा में बहती हुई-सी, अपने को बचाने के लिए आते हुए उस चोर को, तत्काल ही इस पार ले आई॥३४७॥

वहाँ पहुँचने पर काल ने उसके गले में फन्दा डाल दिया और कहा—"जिनका मन विषयों में लगा रहता है, उनके मस्तक पर सर्वनाश नाचता ही रहता है"॥३४८॥

ततो यमसभां नीतं कालेनैतं प्रमादिनम्।
चित्रगुप्तोऽब्रवीद्दृष्ट्वा प्राक्प्रसन्नो जनान्तिकम्॥३४९॥
पूर्वं किं नरकं भुङ्क्षे किं वा स्वर्गमितीह चेत्।
पृच्छ्यसे प्रार्थयेथास्तत् स्वर्गवासं त्वमग्रतः॥३५०॥
स्वर्गे वसंश्च कुर्वीथाः पुण्यं तद्दार्ढ्यसिद्धये।
ततः कुर्यास्तपस्तत्र कृत्स्नपापापनुत्तये॥३५१॥
इत्युक्तश्चित्रगुप्तेन स स्वैरं सिंहविक्रमः।
विलक्षोऽधोमुखो भीतः प्रतिपेदे तथेति तत्॥३५२॥
क्षणाच्च धर्मराजोऽत्र चित्रगुप्तमभाषत।
कच्चित् कोऽप्यस्य पुण्यांशश्चौरस्यास्त्यत्र किं न वा॥३५३॥
चित्रगुप्तस्ततोऽवादीदस्त्यसावतिथिप्रियः।
प्रादाद्दारानपि स्वेष्टदेवताप्रीतयेऽर्थिने॥३५४॥
ततोऽस्य दिवसं दिव्यमस्ति स्वर्गगतिः प्रभो।
श्रुत्वैतत् धर्मराजस्तमपश्यत् सिंहविक्रमम्॥३५५॥
रे शुभाशुभयोः पूर्वं भुङ्क्षे किं कथ्यतामिति।
ततः प्रार्थितवान् पूर्वं सशुभं सिंहविक्रमः॥३५६॥
तेनाज्ञया धर्मराजस्यागतं स विमानकम्।
आरुह्य त्रिदिवं प्रायाच्चित्रगुप्तवचः स्मरन्॥३५७॥
तत्र व्योमसरित्स्नानजपव्रतपरायणः।
द्वितीयं दिवसं प्राप स स्वर्गं भोगनिःस्पृहः॥३५८॥
एवं क्रमेण चासाद्य स्वर्गं तीव्रतपोबलात्।
आराध्य शङ्करं प्राप ज्ञानं निर्दग्धकिल्विषः॥३५९॥
ततोऽस्य नारका दूता न शेकुर्मुखमीक्षितुम्।
चित्रगुप्तो ममार्जाघं भूर्जे तूष्णीमभूद्यमः॥३६०॥
इत्थं चौरोऽपि सत्प्रज्ञाबलात् सिद्धिमवाप सः।
सिंहविक्रम इत्येषा प्रज्ञापारमितोदिता॥३६१॥
एवं चारुह्य नौतुल्यां तरन्त्यैव भवाम्बुधिम्।
वत्स बुद्धोक्तदानादिषट्कपारमितां बुधाः॥३६२॥

अनन्तर, काल उस प्रमादी को, यमराज की सभा में ले गया। चित्रगुप्त ने, जो पहले ही से उसपर प्रसन्न था, उसे देखकर कहा—"जब तुमसे यह पूछा जाय कि पहले तुम स्वर्ग भोगोगे या नरक, तो तुम पहले स्वर्ग में ही रहने की प्रार्थना करना। स्वर्ग में रहते हुए, वहाँ अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए, पुण्य करना और तब अपने समस्त पापों के नाश के लिए, तपस्या करना" ॥३४९—३५१॥

चित्रगुप्त ने जब उससे धीमे-धीमे यह बात कही, तब मुँह झुकाकर खड़े, विकल और डरे हुए सिंहविक्रम ने 'ऐसा ही करूँगा' कहकर, उनकी बात स्वीकार की ॥३५२॥

क्षण-भर में धर्मराज ने चित्रगुप्त से पूछा कि इस चोर का क्या कोई क्षीण पुण्य भी है या नहीं?॥३५३॥

तब चित्रगुप्त ने कहा—"यह अतिथिप्रिय है। इसने अपने इष्टदेव की प्रसन्नता के लिए, याचक को अपनी स्त्री भी दे दी थी। अतः स्वामी, इसे देवताओं के एक दिवस-पर्यन्त, स्वर्ग में रहने का अधिकार है।" यह सुनकर धर्मराज ने उस सिंहविक्रम की ओर देखा—"अरे, तू यह बतला कि अपने शुभाशुभ कर्मों में से पहले किसका फल भोगेगा?" तब उस सिंहविक्रम ने पहले शुभ कर्मों का ही फल भोगने की प्रार्थना की ॥३५४—३५६॥

अनन्तर, धर्मराज की आज्ञा से विमान आया और उसपर बैठकर वह, चित्रगुप्त की बातों का स्मरण करता हुआ, स्वर्ग गया ॥३५७॥

वहाँ आकाश-गंगा में स्नान करता तथा जप और व्रत में लगा हुआ वह, स्वर्गसुखों के प्रति उदासीन रहा और इस प्रकार, उसने स्वर्गलोक का दूसरा दिवस भी प्राप्त किया ॥३५८॥

इसी प्रकार, वह अपने कठोर तपोबल से स्वर्ग प्राप्त करता गया और भगवान् शंकर की आराधना करते हुए, अपने समस्त पापों का नाश करके, उसने ज्ञान प्राप्त किया। ॥३५९॥

इसके बाद नरक के दूत उसका मुँह देखने में भी समर्थ नहीं हुए। भोजपत्र पर लिखे हुए उसके पापों को, चित्रगुप्त ने मिटा दिया और यमराज भी चुप मार बैठे ॥३६०॥

इस प्रकार, सिंहविक्रम नाम के उस चोर ने भी सत्यप्रज्ञा के बल से सिद्धि पाई, ऐसी प्रज्ञा-पारमिता की कथा मैंने तुम्हें सुनाई। इस प्रकार, बुद्धिमान् लोग, नौका के समान, भगवान् बुद्ध के द्वारा कही हुई छह पारमिताओं का आचरण करके, संसार-सागर को पार कर जाते हैं ॥३६१-२६२॥

इति तस्मिन् वने सोमशूरं तस्यानुशासतः।
बोधिसत्त्वपदस्थस्य विनीतमतिभूपतिः ॥३६३॥
भास्करस्ता निशम्यैव प्रशाम्यन् धर्मदेशनाः।
सन्ध्यारागात्तकाषायो विवेशास्ताद्रिकन्दरम् ॥३६४॥
ततः सन्ध्यामुपस्थाय यथावत्तत्र तां निशाम्।
स विनीतमती राजा सोमशूरश्च निन्यतुः ॥३६५॥
अन्येद्युश्च क्रमात् तस्मै सोमशूराय शासनम्।
स विनीतमतिर्बौद्धं सरहस्यमुपादिशत् ॥३६६॥
ततः स सोमशूरस्तमुपासीनो गुरुं वने।
तस्थौ समाधिनिष्ठोऽत्र वृक्षमूले कृतोटजः ॥३६७॥
क्रमाच्च तौ समं तत्र गुरुशिष्यावुभावपि।
लब्धयोगमहासिद्धी परां बोधिमवापतुः ॥३६८॥
अत्रान्तरे स कनककलशो मत्सरान्नृपः।
तेनेन्दुकलशेनैत्यं तत्खड्गाश्वप्रभावतः ॥३६९॥
भ्रात्रा निर्वासितस्तस्मादप्यहिच्छत्रराज्यतः।
यद्विनीतमतिस्तस्मै तदुत्खाताय दत्तवान् ॥३७०॥
स राजविच्युतो भ्राम्यन् द्वित्रस्वसचिवान्वितः।
तद्विनीतमतेः प्राप दैवादाश्रमकाननम् ॥३७१॥
तत्र यावत्स दुर्वारक्षुत्तृषणार्त्तोऽभिवाञ्छति।
फलमूलाम्बु तावत्तन्माययेन्द्रेण काननम् ॥३७२॥
दग्ध्वा मरूकृतं प्राग्वत्तं वञ्चयितुमिच्छता।
विनीतमतिमेतादृगध्वगातिथ्यलाभतः ॥३७३॥
सोऽप्यकस्मात् मरूभूतमात्माश्रममवेक्ष्य तम्।
विनीतमतिरुद्भ्रान्तो बभ्रामेतस्ततः क्षणम् ॥३७४॥
ददर्श तं च कनककलशं भ्रान्तमागतम्।
क्षुधा कण्ठगतप्राणमतिथिं सानुगं ततः ॥३७५॥
उपेत्य तादृशं तं च वृत्तान्तं परिपृच्छ्य च।
आतिथेयः कृतप्रश्नो बोधिसत्त्वो जगाद सः ॥३७६॥

उस वन में, बोधिसत्त्व-पद पर आसीन, राजा विनीतमति ने जब सोमशूर को इस प्रकार समझाया, तब उस धर्मोपदेश को सुनकर, सन्ध्या की लालिमा का काषाय वस्त्र पहनकर सूर्य अस्ताचल की कन्दरा में चले गये ॥३६३-३६४॥

अनन्तर, विनीतमति और सोमशूर ने उचित रीति से सायंकृत्य समाप्त करके, वह रात वहीं बिताई ॥३६५॥

अगले दिन विनीतमति ने रहस्य के सहित सोमशूर को क्रमशः बौद्ध धर्म का उपदेश दिया ॥३६६॥

तब उस वन में एक वृक्ष के नीचे कुटिया बनाकर, गुरु की सेवा करता हुआ वह सोमशूर समाधि में लीन रहने लगा ॥३६७॥

क्रमशः उन दोनों गुरु-शिष्यों ने, समान रूप से योग की महासिद्धि पाकर, परम ज्ञान प्राप्त किया ॥३६८॥

इस बीच इन्दुकलश ने, ईर्ष्या से वशीभूत होकर, उस घोड़े और तलवार के प्रभाव से, कनककलश को उस अहिच्छत्र राज्य से भी निकाल दिया, जो राज्य, भाई के द्वारा निकाले जाने पर, उसे विनीतमति ने दिया था ॥३६९-३७०॥

राज्यच्युत कनककलश, अपने दो-तीन मन्त्रियों के साथ भटकता हुआ, संयोग से उस वन में पहुँचा, जहाँ विनीतमति का आश्रम था ॥३७१॥

बहुत भूखे और प्यासे होने के कारण, ज्योंही उन लोगों ने फल-मूल और जल लेना चाहा, त्यों ही ऐसे पथिकों का आतिथ्य सत्कार करने की इच्छा रखनेवाले विनीतमति को ठगने की इच्छा से, इन्द्र ने, अपनी माया के द्वारा, उस वन को जलाकर फिर पहले की ही तरह मरुभूमि बना दिया ॥३७२-३७३॥

विनीतमति ने जब अचानक अपने आश्रम को मरुभूमि के रूप में बदलते देखा, तब उद्भ्रान्त होकर वे कुछ देर इधर-उधर भटकते रहे ॥३७४॥

तब उन्होंने, भटककर अपने अनुगामियों के साथ आये हुए अतिथि कनककलश को देखा, जिसके प्राण भूख के मारे कण्ठगत हो रहे थे ॥३७५॥

बोधिसत्त्व विनीतमति उनके पास गये और उनकी यह हालत कैसे हुई, यह सारा वृत्तान्त पूछकर उन्होंने कुशल-प्रश्नों के द्वारा उनका आतिथ्य-सत्कार किया और कहा—॥३७६॥

अरण्येऽस्मिन्निरातिथ्ये मरुभूमित्वमागते।
जीवितोपायमप्येतं क्षुधितानां वदामि वः ॥३७७॥

इतोऽर्धक्रोशमात्रेऽत्र पतित्वा खातके मृतः।
मृगस्तिष्ठति तन्मांसैः प्राणान् रक्षत गच्छत ॥३७८॥

तथेत्यार्त्तेऽतिथौ तत्र सानुगे गन्तुमुद्यते।
स विनीतमतिर्बोधिसत्त्वः पूर्वं ततो ययौ ॥३७९॥

प्राप्य तत्खातकं कृत्वा मृगरूपं च योगतः।
निक्षिप्य तत्र चात्मानं सोऽर्थिहेतो र्जहावसून् ॥३८०॥

ततः शनैस्ते कनककलशाद्याः समाययुः।
खातं त्तं ददृशुश्चात्र तं विपन्नस्थितं मृगम् ॥३८१॥
उद्धृत्य तमथोत्पाद्य ज्वलनं तृणकण्टकैः।
भृष्ट्वा च तस्य मांसानि ते निःशेषाण्यभक्षयन् ॥३८२॥

तावच्च तस्य भार्ये द्वे बोधिसत्त्वस्य विह्वले।
पश्यन्त्यावाश्रमध्वंसमपश्यन्त्यौ च तं पतिम् ॥३८३॥

गत्वा नागसुताराजसुते तस्मै तदूचतुः।
सोमशूराय निबिडाच्चलिताय समाधितः ॥३८४॥

सोऽपि तत्प्रणिधानेन विज्ञाय गुरुचेष्टितम्।
शशंस गुंरुपत्नीभ्यां ताभ्यां दुःखप्रदाय्यपि ॥३८५॥

ताभ्यामेव समं चाशु तत्खातनिकटं ययौ।
यत्रातिथिभ्यस्तेनात्मा दत्तोऽस्य गुरुणा तथा ॥३८६॥

तत्र ते नागतनयाराजपुत्र्यौ मृगाकृतिम्।
शृङ्गास्थिमात्रशेषं तं पतिं दृष्ट्वान्वशोचताम् ॥३८७॥

तच्छृङ्गास्थीनि चादाय स्वाश्रमाद्दारुसञ्चयम्।
आनीयाग्निप्रवेशं ते कुरुतः स्म पतिव्रते ॥३८८॥

ततस्तत्र स्थितः सोऽपि ज्ञातवृत्तान्तदुःखितः।
अग्निप्रवेशं कनककलशः सानुगो व्यधात् ॥३८९॥

एवं गते सोमशूरो गुरुदुःखासहोऽत्र सः।
दर्भसंस्तरमध्यास्त प्राणोत्क्रान्तिविधित्सया ॥३९०।

"यह वन तो मरुभूमि बन गया है, यहाँ आतिथ्य करने योग्य कोई वस्तु नहीं है, फिर भी भूखे हुए आप लोगों की प्राणरक्षा का उपाय मैं बतलाता हूँ ॥३७७॥

यहाँ से आध कोस की दूरी पर, खन्दक में गिरकर एक हिरन मर गया है। आपलोग जाइए और उसी के मांस से अपने प्राणों की रक्षा कीजिए ॥३७८॥

'ठीक है' कहकर अपने अनुचरों के साथ जब वह अतिथि वहाँ जाने को उद्यत हुआ,

उस खन्दक में पहुँचकर, उन्होंने योगबल से मृग का रूप बनाया और अपने को उस खन्दक में डालकर, उन्होंने याचकों के लिए अपने प्राण त्याग दिये ॥३७०॥

उसके बाद कनककलश आदि उस खन्दक के पास पहुँचे और वहाँ उन्होंने मरे हुए मृग को देखा ॥३८१॥

उसे उठाकर उन लोगों ने तृण और कण्टकों से आग पैदा की और उसका मांस भूनकर सारा-का-सारा खा लिया ॥३८२॥

इसी बीच विनीतमति की दोनों पत्नियाँ, जो नागकन्या और राजकन्याएँ थीं, अपने आश्रम को उजाड़ देखकर और अपने पति को वहाँ न पाकर, सोमशूर के पास गईं। तबतक सोमशूर भी अपनी गहरी समाधि से जाग उठा था। उन दोनों ने उससे सारा हाल कहा ॥३८३-३८४॥

सोमशूर ने समाधि के द्वारा गुरु के सब काम जान लिये और यद्यपि वह गुरुपत्नियों के लिए दुःखद था, फिर भी सारा हाल उन्हें सुनाया ॥३८५॥

शीघ्र ही वह उन दोनों के साथ उस खन्दक के निकट गया, जहाँ उसके गुरु ने अतिथियों के लिए अपना शरीर त्यागा था ॥३८६॥

वहाँ वे नाग और राजकन्याएँ, मृगरूप धारण किये हुए अपने उस पति को, जिसकी सींग और हड्डियाँ-भर ही बच रही थीं, देखकर शोक करने लगीं ॥३८७॥

उसके सींग और हड्डियाँ लेकर तथा अपने आश्रम से लकड़ियाँ लाकर, उन दोनों पतिव्रताओं ने अग्नि में प्रवेश किया ॥३८८॥

तबतक कनककलश आदि भी वहीं थे। उन्हें जब यह सारा हाल मालूम हुआ, तब वे बहुत दुःखी हुए। कनककलश भी अपने अनुचरों के सहित उसी आग में जल मरा॥ ३८९॥

यह सब होने पर, गुरु का दुःख न सह सकने के कारण, सोमशूर भी अपना प्राणत्याग करने के लिए, तिनकों के बिछावन पर जा बैठा ॥३९०॥

तत्क्षणं च तमागत्य साक्षादिन्द्रोऽभ्यभाषत।
मैवं कृथा मया ह्येष गुरुस्तव परीक्षितः॥३९१॥
अस्थिभस्मावशेषोऽपि जीवन्नुत्थापितो ह्यसौ।
सिक्त्वैवामृतवर्षेण सभार्यः सातिथिर्मया॥३९२॥
इतीन्द्रवचनं श्रुत्वा तं प्रणम्योत्थितो मुदा।
गत्वा स वीक्षते सोमशूरो यावत्स तद्गुरुः॥३९३॥
बोधिसत्त्वः पुनर्जीवन् विनीतमतिरुत्थितः।
भार्याभ्यां तैश्च कनककलशप्रमुखैः सह॥३९४॥
ततः स तं सपत्नीकं परलोकगतं गुरुम्।
मूर्ध्नावन्दत वाक्पुष्पैरर्चयच्चक्षुषा पपौ॥३९५॥
भक्तिप्रह्वेषु कनककलशादिषु तेषु च।
ब्रह्मविष्णुमुखा देवाः सर्वे तत्रcraft यस्तदा॥३९६॥
सत्त्वात्तुष्टाश्च ते तस्मै विनीतमतये वरान्।
दिव्यानुभावान् पारार्थ्यवृत्तान् दत्वा तिरोदधुः॥३९७॥
सोऽपि तैरुक्तवृत्तान्तैर्विनीतमतिरन्वितः।
सोमशूरादिभिः प्रायाद्दिव्यमन्यत्तपोवनम्॥३९८॥
एवं मिलन्तीह पुनर्भस्मीभावं गता अपि।
किं पुनस्तात जीवन्तः स्वच्छन्दगतयो नराः॥३९९॥
तदलं देहमुत्सृज्य वत्स वीरो ह्यसि व्रज।
भावी मृगाङ्कदत्तेन तवावश्यं समागमः॥४००॥
इत्येतां वृद्धतापस्या मुखाच्छ्रुत्वा कथामहम्।
जातास्थः खड्गहस्तस्तां नत्वा प्रस्थितवांस्ततः॥४०१॥
क्रमात् प्राप्तोऽटवीमेतामेभिर्लब्धोऽस्मि दैवतः।
उपहारं विचिन्वद्भिः शबरैश्चण्डिकाकृते॥४०२॥
वष्टभ्य चैतैरानीतः प्रयुद्धेऽहं व्रणार्दितः।
शबराधिपतेरस्य पार्श्वं मायाबटोरिह॥४०३॥
अत्र लब्धो मया द्वित्रमन्त्रियुक्तो भवान् प्रभो।
त्वत्प्रसादाच्च जाता मे निर्वृतिः स्वगृहे यथा॥४०४॥

तत्काल इन्द्र वहाँ साक्षात् होकर उपस्थित हुए और बोले—'ऐसा मत करो।' मैंने तुम्हारे गुरु की परीक्षा ली थी। उनकी जो हड्डियाँ और राख बच रही थीं, उसपर अमृत छिड़ककर, मैंने उन्हें उनके अतिथियों और पत्नियों के सहित, फिर से जीवित कर दिया है।।३६१-३६२।।

इन्द्र की यह बात सुनकर, सोमशूर ने उन्हें प्रणाम किया और प्रसन्नतापूर्वक उठकर गया, तो उसने देखा कि उसके गुरु बोधिसत्व विनीतमति, अपनी दोनों पत्नियों तथा कनककलश आदि के साथ फिर से जीवित हो उठे हैं।।३६३-३६४।।

पत्नियों के सहित परलोक से आये हुए अपने गुरु को, उसने सिर झुकाकर प्रणाम किया, बातों के पुष्प से उनकी पूजा की और आँखों से उन्हें पीने लगा।।३६५।।

कनककलश आदि यह देखकर भक्ति से नतमस्तक थे। इसी समय ब्रह्मा और विष्णु के सहित सभी देवता वहाँ आ पहुँचे।।३६६।।

उनके दान-धर्म से सन्तुष्ट, सभी देवताओं ने उन्हें दिव्य शक्तिवाले और परोपकार करने के लिए, चुने गये वर देकर, अन्तर्धान हो गये।।३६७।।

सोमशूर आदि जब अपना वृत्तान्त सुना चुके, तब विनीतमति उन सभी को साथ लेकर, एक दूसरे दिव्य तपोवन में चले गये।।३६८।।

हे तात, इस प्रकार उनका भी मिलन होता है, जो जलकर भस्म हो जाते हैं, फिर उन लोगों की तो बात ही क्या है, जो जीवित हैं और इच्छानुसार चल-फिर सकते हैं। इसलिए, वत्स, शरीर त्याग करने का विचार छोड़ दो। तुम वीर हो, आगे बढ़ो। मृगांकदत्त के साथ तुम्हारा मिलन अवश्यम्भावी है।।३६९-४००।।

उस वृद्धा तापसी के मुँह से यह कथा सुनकर, मेरे मन में आशा जागी और हाथ में तलवार लेकर तथा उसे प्रणाम करके मैं वहाँ से चल पड़ा।।४०१।।

चलते-चलते मैं इस वन में आ पहुँचा, जहाँ संयोग से, चण्डिका के लिए उपहार ढूँढ़ते हुए इन भीलों के हाथ में पड़ गया।।४०२।।

इन लोगों ने मुझे युद्ध में घायल करके बाँधा और फिर ये मुझे भिल्लराज मायाबटु के पास ले आये।।४०३।।

प्रभो, यहाँ, दो-तीन मन्त्रियों के साथ मैंने आपको देखा। आपकी कृपा से मुझे ऐसी शान्ति मिली, जैसी घर में मिलती है।।४०४।।

इति तेन गुणाकरेण सख्या निजवृत्तान्तमुदीरितं निशम्य।
शबरेशगृहस्थितः स भेजे परितोषं परमं मृगाङ्कदत्तः ॥४०५॥

समवेक्ष्य च तस्य सङ्गरे तां व्रणितस्योचितपथ्यदेहचर्याम्।
अहनि वलति सोऽपरैर्वयस्यैः समुत्थाय निजाह्निकं चकार ॥४०६॥

आसीच्च तत्राथ गुणाकरं तमुल्लाघयन् सम्प्रति तान्यहानि।
शेषान् सखीन् प्राप्तुमसौ शशाङ्कवत्याप्तये चोज्जयिनीं यियासुः ॥४०७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके पञ्चमस्तरङ्गः।

षष्ठस्तरङ्गः

मृगाङ्कदत्तकथा

अथ रूढव्रणे स्वस्थे जाते तस्मिन्गुणाकरे।
शुभेऽहनि तमापृच्छ्य सुहृदं शबराधिपम् ॥१॥

सुदूरमन्वगायातं कार्याय कृतसंविदम्।
सख्या दुर्गपिशाचेन मातङ्गपतिना युतम् ॥२॥

मायाबटुं सानुचरं स शशाङ्कवतीकृते।
मृगाङ्कदत्तस्तत्पल्ल्याः प्रायादुज्जयिनीं प्रति ॥३॥

गच्छंश्च स श्रुतधिना तदा विमलबुद्धिना।
गुणाकरेण च समं सहभीमपराक्रमः ॥४॥

चिन्वन्नन्यान्सखींस्तस्यां विन्ध्याटव्यामथैकदा।
समात्यः पथि सुष्वाप रात्रौ क्वापि तरोस्तले ॥५॥

अकस्माच्च प्रबुद्धः सन्यावदुत्थाय वीक्षते।
तावत्तत्र ददर्शैकं सुप्तस्थं मानषं परम् ॥६॥

विवृणोति मुखं यावत्तस्य तावत्स्वमन्त्रिणम्।
प्रत्यभिज्ञातवान्प्राप्तं विचित्रकथसंज्ञकम् ॥७॥

इस प्रकार, अपने मित्र गुणाकर के द्वारा कहा गया उसका वृत्तान्त सुनकर, भिल्लराज के घर में ठहरे हुए मृगांकदत्त, बहुत सन्तुष्ट हुए ॥४०५॥

युद्ध में घायल हुए गुणाकर की मरहम-पट्टी ठीक तौर से हो गई है, यह देखकर और दिन को बीतता हुआ देखकर, मृगांकदत्त ने अपने अन्य मित्रों के साथ उठकर सन्घ्या-आह्निक किया ॥४०६॥

अपने अन्य मित्रों से मिलने तथा शशांकवती को प्राप्त करने के लिए उज्जयिनी जाने की इच्छा रखते हुए भी, गुणाकर के अच्छे होने की प्रतीक्षा में, मृगांकदत्त कुछ दिनों तक वहीं रहे ॥४०७।

कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक का पाँचवाँ तरंग समाप्त।

षष्ठ तरंग

मृगांकदत्त की कथा

जब गुणाकर के घाव सूख गये और वह स्वस्थ हो गया, तब शुभ दिन देखकर और भिल्लराज की आज्ञा लेकर, मृगांकदत्त शशांकवती को प्राप्त करने के लिए, उसके गाँव से उज्जयिनी की ओर चले। भिल्लराज अपने मित्र मातंगपति दुर्गपिशाच तथा अनुचरों के सहित दूर तक उन्हें विदा करने आये और उन्होंने उनके कार्य में सहायता देने का वचन दिया ॥१—३॥

श्रुतधि, विमलबुद्धि, गुणाकर तथा भीमपराक्रम के सहित जाते और अनेक अन्य मित्रों को विन्ध्याटवी में ढूंढ़ते हुए मृगांकदत्त, एक दिन रात्रि के समय, अपने मन्त्रियों के सहित, किसी वृक्ष के नीचे सोये ॥४-५॥

अचानक उसकी नींद टूट गई। उन्होंने उठकर देखा, तो वहाँ एक दूसरे आदमी को भी सोया हुआ देखा ॥६॥

जब उन्होंने उसके मुँह पर का कपड़ा हटाया, तब वहाँ आये हुए विचित्रकथ नामक अपने मन्त्री को पहचाना ॥७॥

साऽपि प्रबुद्धो दृष्ट्वैव तं विचित्रकथः प्रभुम्।
मृगाङ्कदत्तं सानन्दं साधुर्जग्राह पादयोः॥८॥
तेनाप्यालिङ्गितोऽकाण्डदर्शनोत्फुल्लचक्षुषा।
तन्मन्त्रिभिश्च तैः सर्वैः प्रबुद्धैरभ्यनन्द्यत॥९॥
अथोक्तस्वस्ववृत्तान्तैः पृष्टस्तैरखिलैः क्रमात्।
स विचित्रकथो वक्तुं स्ववृत्तान्तं प्रचक्रमे॥१०॥

विचित्रकथकथा

तदा पारावताख्यस्य शापाद्युष्मास्वितस्ततः।
विभ्रष्टेष्वहमेकाकी मोहात्तत्राभ्रमं चिरम्॥११॥
दूरभ्रान्तोऽपरेद्युश्च नष्टसंज्ञोऽहमाप्तवान्।
अकस्मादटवीप्रान्ते क्लान्तो दिव्यं महत्पुरम्॥१२॥
तत्र दिव्यः पुमानेको दिव्यनारीद्वयान्वितः।
मामाश्वासितवान्दृष्ट्वा स्नपितं शीतलैर्जलैः॥१३॥
प्रवेश्य चान्तः प्रादान्मे यत्नाद्दिव्यं स भोजनम्।
ततोऽभुङ्क्त स्वयं नार्याविभुञ्जातां ततोऽपि ते॥१४॥
भुक्तोत्तरं च तमहं विश्रान्तोऽत्र व्यजिज्ञपम्।
को भवान्किं च मामेवं मुमूर्षुं त्रातवानसि॥१५॥
मया ह्यवश्यं त्यक्तव्यं शरीरं स्वप्रभुं विना।
इत्युक्त्वा वर्णितस्तस्मै स्ववृत्तान्तोऽखिलो मया॥१६॥
ततश्च स महात्मा मां प्रीतिमानेवमब्रवीत्।
यक्षोऽहमेते मद्भार्ये त्वं च प्राप्तोऽद्य मेऽतिथिः॥१७॥
यथाशक्त्यतिथेः पूजा धर्मो हि गृहमेधिनाम्।
मयार्चितोऽस्यतः किं च प्राणन्कस्मान्मुमुक्षसि॥१८॥
वियोगो नागशापेन कञ्चित्कालमयं हि वः।
अवश्यं क्षीणशापानां युष्माकं स्यात्समागमः॥१९॥
निर्दुःखो नाम कश्चात्र संसारे भद्र जायते।
यक्षेणापि मया दुःखं यद्दृष्टं वच्मि तच्छृणु॥२०॥

श्रीदर्शनकथा

अस्त्यस्या वसुधावध्वा मौलिमण्डनमालिका।
त्रिगर्ता नामनगरी सुमनोगुणगुम्फिता॥२१॥

इस बीच विचित्रकथ की नींद भी खुल गई। अपने स्वामी मृगांकदत्त को देखते ही उसने आनन्दपूर्वक उनके पैर पकड़ लिये ॥८॥

इस अनहोने मिलन से, मृगांकदत्त की आँखें खिल उठीं। उन खिली हुई आँखों से उन्होंने विचित्रकथ का आलिंगन किया। तबतक दूसरे मन्त्री भी जग उठे और उन सबने उनका अभिनन्दन किया ॥९॥

एक के बाद दूसरे, जब सब लोग अपना-अपना सारा वृत्तान्त कह चुके, तब पूछने पर विचित्रकथ ने भी अपना वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥१०॥

विचित्रकथ की कथा

पारावत के शाप से जब आप सब लोग इधर-उधर बिखर गये, तब घबराहट में पड़ा हुआ मैं भी, देर तक वहाँ भटकता रहा ॥११॥

भटकता हुआ मैं दूर चला गया। मेरा ज्ञान जाता रहा था। अगले दिन थका हुआ मैं उस वन की सीमा पर स्थित, एक दिव्य और विशाल नगर के पास पहुँचा ॥१२॥

वहाँ दो दिव्य स्त्रियों के सहित एक दिव्य पुरुष ने मुझे देखा। उसने मुझे दिलासा दिया और शीतल जल से स्नान कराया ॥१३॥

उसने मुझे अन्दर ले जाकर यत्नपूर्वक दिव्य भोजन दिया। मेरे बाद उसने स्वयं भोजन किया और तब उन दोनों स्त्रियों ने भी भोजन किया ॥१४॥

भोजन के बाद जब मेरी थकावट दूर हुई, तब मैंने उससे पूछा—"आप कौन हैं और इस प्रकार मुझे मरते हुए की आपने क्यों रक्षा की है? मुझे तो अपने स्वामी के विना अवश्य ही अपना शरीर त्यागना है।" यह कहकर मैंने अपना सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया ॥१५-१६॥

अनन्तर, उस विशाल हृदयवाले पुरुष ने प्रेमपूर्वक मुझसे यों कहा—"मैं यक्ष हूँ। ये दोनों मेरी पत्नियाँ हैं। आज तुम मेरे अतिथि होकर आये हो। गृहस्थों का यह धर्म है कि वे यथाशक्ति अतिथि का सत्कार करें। इसी से मैंने तुम्हारी सेवा की है। किन्तु, तुम प्राणों का त्याग क्यों करोगे? नाग के शाप से तुम लोगों का यह वियोग कुछ ही समय के लिए है। शाप का अन्त हो जाने पर, तुम लोगों का मिलन अवश्य ही होगा। भद्र, इस संसार में ऐसा कौन जन्म लेता है, जिसे कोई दुःख न हो? यक्ष होते हुए भी मैंने जो दुःख देखे हैं, उन्हें कहता हूँ। तुम सुनो" ॥१७—२०॥

श्रीदर्शन की कथा

इस वसुधा-वधू के मस्तक को शोभित करनेवाली, सुमन-गुण[1] से गुम्फित माला के समान त्रिगर्त्ता नाम की एक नगरी है ॥२१॥

---

[1] सुमन = गुणी या विद्वान्।

तस्यां द्विजयुवा कोऽपि पवित्रधर इत्यभूत्।
धनैर्दरिद्रः स्वजनैरदरिद्रः कुलादिभिः॥२२॥
स वसञ्श्रीमतां मध्ये द्विजो मानी व्यचिन्तयत्।
एषामर्थवतां मध्ये वृत्तस्थोऽपि न भाम्यहम्॥२३॥
एकः सत्काव्यशब्दानामिव शब्दो निरर्थकः।
मनस्वी च न शक्नोमि सेवां नापि प्रतिग्रहम्॥२४॥
तद्गत्वा क्वचिदेकान्ते यक्षिणीं साधयाम्यहम्।
अस्ति मन्त्रोपदशो हि तत्र मे गुरुवक्त्रतः॥२५॥
इति सङ्कल्प्य विधिवद्गत्वारण्याय यक्षिणीम्।
भार्यात्वे साधयामास स पवित्रधरो द्विजः॥२६॥
सिद्धया च तया युक्तः सौदामिन्यभिधानया।
तस्थौ घोरहिमोत्तीर्णो विटपीव मधुश्रिया॥२७॥
एकदा तं सुतोत्पत्तिं विना दुःखितचेतसम्।
दृष्ट्वा सा यक्षिणी भार्या पवित्रधरमब्रवीत्॥२८॥
मार्यपुत्र कृथाश्चिन्तां सूनुरुत्पद्यते हि नौ।
इमं च शृणु वृत्तान्तमत्राहं कथयामि ते॥२९॥

सौदामिन्याः कथा

अस्ति दक्षिणदिक्प्रान्ते प्रावृषो जन्मभूरिव।
पिहितार्का घनश्यामा तमालवनवीथिका॥३०॥
तस्यां पृथूदरो नाम यक्षो वसति विश्रुतः।
तस्याहमियमेकैव नाम्ना सौदामिनी सुता॥३१॥
सा स्नेहात्तेन पित्राहं नीयमाना कुलाद्रिषु।
तेषु तेषु सदाक्रीडं दिव्योपवनभूमिषु॥३२॥
एकदा च समं सख्या क्रीडन्ती कपिशभ्रुवा।
अद्राक्षमट्टहासाख्यं कैलासे यक्षपुत्रकम्॥३३॥
सोऽपि मां सखिमध्यस्थो दृष्टवानथ तत्क्षणम्।
जातावावां किलान्योन्यरूपाकृष्टविलोचनौ॥३४॥
तद्दृष्ट्वा तुल्यसंयोगमवेत्याहूय चात्र तम्।
सद्योऽट्टहासं तातेन विवाहो नौ विनिश्चितः॥३५॥

वहाँ पवित्रधर नाम का एक ब्राह्मण युवक था, जो धन से तो दरिद्र था, पर कुटुम्ब और कुल से दरिद्र नहीं था॥२२॥

धनी लोगों के बीच रहते हुए उस मानी ब्राह्मण ने सोचा —"इन धनी लोगों के बीच अपने आचरण पर स्थित रहता हुआ (वृत्तस्थ[1]) भी मैं उसी प्रकार शोभित नहीं होता, जैसे किसी अच्छे काव्य के शब्दों में एक निरर्थक[2] शब्द शोभित नहीं होता। फिर मैं मनस्वी भी हूँ। न तो मुझसे सेवा हो सकती है और न मैं दान ही ले सकता हूँ। तो मैं कहीं एकान्त में जाकर यक्षिणी सिद्ध करूँ—गुरु के मुख से मुझे इसका मन्त्र मिल ही चुका है"॥२३—२५॥

ऐसा निश्चय करके पवित्रधर नाम का वह ब्राह्मण, वन में जाकर विधिपूर्वक पत्नी के रूप में यक्षिणी की साधना करने लगा॥२६॥

सिद्धि मिलने पर, वह सौदामिनी नाम की यक्षिणी के साथ वैसे ही शोभित होने लगा, जैसे कठोर शीत के बीत जाने पर, वसन्त विटपी (वृक्ष) के सहित शोभित होता है॥२७॥

एक दिन पवित्रधर को, सन्तान न होने के कारण, दुःखी देखकर उसकी यक्षिणी पत्नी ने कहा—"आर्यपुत्र, आप चिन्ता न करें। हमलोगों को पुत्र अवश्य होगा। इस सम्बन्ध का एक वृत्तान्त मैं कहती हूँ, जिसे आप सुनें"॥२८-२९॥

सौदामिनी की कथा

दक्षिण दिशा की सीमा पर, बरसात की जन्मभूमि के समान, बादलों से अँधेरी बनी हुई तमालवन की एक शृंखला है, जिसने सूर्य को भी छिपा रखा है॥३०॥

वहाँ पृथूदर नामके एक प्रसिद्ध यक्ष रहते हैं, जिनकी मैं सौदामिनी नाम की एकमात्र कन्या हूँ॥३१॥

मेरे पिता स्नेह के कारण मुझे कुल-पर्वतों और दिव्य उपवनों में अपने साथ ले जाया करते थे और उन स्थानों पर मैं सदा विहार किया करती थी॥३२॥

एक बार अपनी सखी कपिशभ्रू के साथ कैलाश पर्वत पर क्रीडा करती हुई मैंने अट्टहास नामक एक यक्षपुत्र को देखा॥३३॥

अपने मित्रों के बीच खड़े उस यक्षकुमार ने भी मुझे देख लिया और बात-की-बात में, हम दोनों की आँखें, एक दूसरे के रूप के प्रति आकृष्ट हो गईं॥३४॥

यह देखकर और हम दोनों का मिलन योग्य जानकर, पिताजी ने अट्टहास को अपने पास बुलाया और हम दोनों का विवाह निश्चित कर दिया॥३५॥

---

[1] संस्कृत में छन्द को वृत्त कहते हैं।

[2] निरर्थक=अर्थात् धनरहित।

स्थापिते लग्नदिवसे ताते मामनयद्गृहम्।
अट्टहासोऽपि मुदितः समित्रः स्वगृहानगात्॥३६॥
अन्येद्युश्च विषण्णेव कपिशभ्रूः सखी मम।
आगात्समीपं पृष्टा च कृच्छ्रादेवमभाषत॥३७॥
अनाख्येयमपीदं ते कथयाम्यप्रियं सखि।
अद्यायान्त्या मया दृष्टः सोऽट्टहासो वरस्तव॥३८॥
चित्रस्थलाख्ये हिमवत्सानूद्याने त्वदुत्सुकः।
विनोदयद्भिः सखिभिः क्रीडया यक्षराट् कृतः॥३९॥
भ्राता दीप्तशिखस्तस्य तत्पुत्रो नलकूबरः।
कल्पितस्तैः स्वयं ते च तस्य साचिव्यमाश्रयन्॥४०॥
एवं कृतविनोदं तं वयस्यैस्त्वत्प्रियं तदा।
व्योम्ना यदृच्छया गच्छन्नपश्यन्नडकूबरः॥४१॥
स तमाहूय संक्रुद्धो धनाधिपसुतोऽशपत्।
भृत्यो भूत्वा प्रभोर्लीलामभिवाञ्छसि यत्ततः॥४२॥
दुर्मते भव मर्त्यस्त्वमूर्ध्वमिच्छन्नधो व्रज।
इत्युक्तस्तेन विग्नस्तं सोऽट्टहासो व्यजिज्ञपत्॥४३॥
औत्सुक्यं नुदता देव मूर्खेणेदं मया कृतम्।
नाधिकाराभिमानेन तत्क्षमां कुरु मे प्रभो॥४४॥
इत्यात्तं तद्वचः श्रुत्वा प्रणिधानात्तथैव तत्।
बद्ध्वा शापान्तहेतोस्तं सोऽब्रवीन्नडकूबरः॥४५॥
यस्यां त्वमुत्सुकस्तस्यां यक्षिण्यां मानषो भवन्।
जनयित्वानुजं दीप्तशिखमेवैतमात्मजम्॥४६॥
शापाद्विमुक्ताः स्वपदं तया पत्न्या सहाप्स्यसि।
भ्राता तु ते सुतो भूत्वा कृत्वा राज्यमसौ भुवि॥४७॥
शापान्मोक्ष्यत इत्युक्ते तेन वित्तेशसूनुना।
सोऽट्टहासस्तिरोभूतः क्वापि शापप्रभावतः॥४८॥
तद्दृष्ट्वाहमिहायाता पार्श्वं ते सखि दुःखिता।
इत्युक्ताहं तया सख्या दुःखात्कामप्यगां दशाम्॥४९॥
आत्मानमनुशोच्याथ गत्वा पित्रोर्निवेद्य तत्।
अनैषं तमहं कालं पुनः सङ्गमवाञ्छया॥५०॥

जब विवाह का दिन निश्चित हो मया, तब पिताजी मुझे घर ले आये। प्रसन्न होता हुआ अट्टहास भी अपने मित्रों के साथ घर गया ॥३६॥

अगले दिन मेरी सखी कपिशभ्रू उदास-सी मेरे पास आई और पूछने पर बड़ी कठिनाई से बोली—"सखि, यद्यपि यह अप्रिय बात कहने योग्य नहीं है, फिर भी मैं कहती हूँ। आज यहाँ आते हुए मैंने तुम्हारे पति अट्टहास को देखा था ॥३७-३८ ॥

वह तुम्हारे लिए उत्सुक था और हिमालय की चित्रस्थल नामक चोटी पर अपने मित्रों के साथ यक्षराज बनकर खेल रहा था ॥३९॥

मित्रों ने उसके भाई दीप्तशिख को यक्षराज का पुत्र नडकूबर बनाया था और स्वयं वे उसके मन्त्री बने थे ॥४०॥

तुम्हारे पति जब इस प्रकार अपने मित्रों के साथ विनोद कर रहे थे, उन्होंने आकाश में, इच्छानुसार जाते हुए, नडकूबर को देखा ॥४१॥

यह देखकर कुबेर का पुत्र नडकूबर क्रुद्ध हो गया और उसने तुम्हारे पति को बुलाकर शाप दिया—'दुर्बुद्धि, दास होकर तुम जो स्वामी का स्वांग बनाना चाहते हो, तो मनुष्य बनकर धरती पर जाओ। ऊँचे उठना चाहते थे, इसलिए नीचे जाओ।' उसकी यह बात सुनकर अट्टहास उद्विग्न हो गये। उन्होंने कहा—'देव, उत्सुकता से प्रेरित होकर ही मैंने ऐसा किया है, अधिकार के अभिमान से नहीं, इसलिए प्रभो, आप मुझे क्षमा करें'॥४२—४४॥

अट्टहास के ये आर्त्त वचन सुनकर नडकूबर ने उसी समय ध्यान लगाया और यह जानकर कि उसने जो कहा है, वह ठीक है, शाप का अन्त करने के लिए कहा—"तुम मनुष्य होकर उस यक्षिणी से विवाह करोगे, जिसके लिए तुम उत्सुक हो। फिर, उससे जब तुम अपने भाई नडकूबर को पुत्र-रूप में उत्पन्न करोगे, तब शाप से मुक्त होकर, अपनी पत्नी के सहित, फिर अपना पद पाओगे। तुम्हारा भाई तुम्हारा पुत्र बनकर जब धरती का राज्य कर लेगा, तब वह भी शाप से छुटकारा पा सकेगा।' कुबेर के पुत्र के ऐसा कहने पर, शाप के प्रभाव से अट्टहास जाने कहाँ गायब हो गया ॥४५—४८॥

सखि, यह देखकर मैं बहुत दुःखी हुई और यहाँ तुम्हारे पास, चली आई।" उस सखी के ऐसा कहने पर मेरी दशा विचित्र हो गई। बहुत शोक करने के बाद मैंने जाकर माता-पिता से सारा हाल कहा और फिर से अपने पति से मिलने की इच्छा रखती हुई, मैं समय व्यतीत करने लगी ॥४९-५०॥

सोऽट्टहासस्त्वमुत्पन्नः सा चाह मिलितावुभौ।
अद्येहावां तदेवं नौ जनितैवाचिरात्सुतः ॥५१॥

एवं तयोक्ते ज्ञानिन्या सौदामिन्या प्रहर्षवान्।
अभूदुत्पन्नपुत्रास्थः स पवित्रधरो द्विजः ॥५२॥

कालेन तस्य यक्षिण्यां तस्यां सूनुरजायत।
गृहं चित्तं च जातेन तयोर्येन प्रकाशितम् ॥५३॥

दृष्ट्वा च तस्य पुत्रस्य स पवित्रधरो मुखम्।
सम्पेदे सोऽट्टहासोऽत्र यक्षो दिव्याकृतिः क्षणात् ॥५४॥

उवाच यक्षिणीं चैतां प्रिये शापो गतः स नौ।
जातः सैषोऽट्टहासोऽहमेहि यावो निजां गतिम् ॥५५॥

इत्युक्तवन्तं ते भार्या सावादीच्छिशुरेव ते।
भ्राता शापात्सुतीभूता कथं स्यादिति चिन्त्यताम् ॥५६॥

तच्छ्रुत्वा ध्यानतोऽवेक्ष्य सोऽट्टहासो जगाद ताम्।
देवदर्शन इत्यस्ति ब्राह्मणोऽस्यां पुरि प्रिये ॥५७॥

पञ्चाग्नेस्तस्य चान्यौ द्वावधिकं ज्वलतः क्षुधा।
जठराग्नी सभार्यस्य दरिद्रस्य प्रजाधनैः ॥५८॥

धनपुत्रार्थिनं तं च तपसि स्थितमेकदा।
आराधयन्तं भगवानग्निः स्वप्नं समादिशत् ॥५९॥

औरसो नास्ति पुत्रस्ते कृत्रिमस्तु भविष्यति।
तद्वशादेव च ब्रह्मन्दारिद्र्यं ते निवर्त्स्यति ॥६०॥

इत्यग्न्यादेशतो विप्रस्तत्प्रतीक्षोऽद्य संस्थितः।
तस्मै शिशुरयं देयो भवितव्यमिदं हि तत् ॥६१॥

इत्युक्त्वा तां प्रियां स्वर्णपूर्णकुम्भोपरि स्थितम्।
कृत्वा च तं गलावद्धदिव्यरत्नस्रजं शिशुम् ॥६२॥

क्षिप्त्वा तस्य गृहे रात्रौ प्रसुप्तस्य द्विजन्मनः।
सभार्यस्य सभार्यः स्वां सोऽट्टाहासो ययौ गतिम् ॥६३॥

सोऽपि प्रबुध्य विप्रोऽत्र विस्फुरद्रत्नतारकम्।
अपश्यद्बालचन्द्रं तं सभार्यो देवदर्शनः ॥६४॥

आप वही अट्टहास हैं, जो यहाँ आकर उत्पन्न हुए हैं। मैं भी वही हूँ, जो यहाँ आकर आपसे मिली हूँ। अतः, हम लोगों को शीघ्र ही पुत्र उत्पन्न होगा ॥५१॥

बुद्धिमती सौदामिनी के ऐसा कहने पर, पवित्रधर नाम का वह ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे पुत्रजन्म का विश्वास भी हुआ ॥५२॥

समय पाकर उसे उस यक्षिणी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके जन्म से उन दोनों का घर और चित्त आलोकित हो उठा ॥५३॥

उस पुत्र का मुँह देखते ही, पल-भर में, पवित्रधर ने यक्ष अट्टहास का दिव्य स्वरूप पा लिया ॥५४॥

उसने यक्षिणी से कहा—'प्रिये, हम दोनों शाप से मुक्त हो गये हैं। मैं फिर वही अट्टहास बन गया हूँ। चलो, हम अपने लोक में लौट चलें' ॥५५॥

ऐसा कहने पर उसकी स्त्री ने कहा—"शाप के कारण तुम्हारा भाई जो इस पुत्र के रूप में जनमा है, इस छोटे-से बच्चे का क्या होगा, यह तो सोचिए" ॥५६॥

यह सुनकर अट्टहास ने ध्यान करके देखा और अपनी स्त्री से कहा—"इस नगर में देवदर्शन नाम का एक ब्राह्मण रहता है। उसको पुत्र न है और न धन ही। यद्यपि वह पंचाग्नि का सेवन करता है, किन्तु भूख की ज्वाला उसके यहाँ दो अग्नियाँ और जलाती है—उसके और उसकी पत्नी के पेट की आग ॥५७-५८॥

धन और पुत्र के लिए भगवान् अग्नि की आराधना करता हुआ वह तपस्या करने लगा। एक दिन अग्नि ने उसे स्वप्न में आदेश दिया—'तुम्हें औरस पुत्र तो नहीं होगा, लेकिन तुम दत्तक पुत्र प्राप्त करोगे और उसी के चलते तुम्हारी दरिद्रता भी नष्ट होगी' ॥५९-६०॥

अग्नि के इस आदेश के अनुसार वह ब्राह्मण आजतक पुत्र की प्रतीक्षा कर रहा है, अतः हम इस पुत्र को उसे ही दे दें; क्योंकि यही भवितव्य है" ॥६१॥

अपनी स्त्री से ऐसा कहकर अट्टहास ने उस बच्चे के गले में दिव्य रत्नों की एक माला पहनाई और उसे स्वर्ण से भरे एक घड़े के ऊपर रखकर उस ब्राह्मण के घर में छोड़ आया, जहाँ वह और उसकी पत्नी सोई हुई थी। फिर, वह अपनी पत्नी के साथ अपने लोक में चला गया ॥६२-६३॥

वह ब्राह्मण देवदर्शन जब जगा, तब उसने चमकते हुए रत्न-नक्षत्रों से शोभित उस बालकरूपी चन्द्रमा को देखा ॥६४॥

किमेतदिति विस्मित्य हेमकुम्भं विलोक्य तम्।
स स्वप्नादेशमाग्नेयं सस्मार च ननन्द च॥६५॥

जग्राह बालकं तं च पुत्रं विधिसमर्पितम्।
धनं च तत्प्रभाते च विदधे स महोत्सवम्॥६६॥

एकादशे च दिवसे तस्य पुत्रस्य तत्र सः।
बालस्य स्वोचितं नाम श्रीदर्शन इति व्यधात्॥६७॥

ततो महाधनी भूत्वा तस्थौ क्रत्वादिकाः क्रियाः।
कुर्वंन्भोगांश्च भुञ्जानः स विप्रो देवदर्शनः॥६८॥

सोऽपि श्रीदर्शनस्तत्र वृद्धिं प्राप्तः पितुर्गृहे।
प्रकर्षं वेदविद्यासु प्रापास्त्रेषु च वीर्यवान्॥६९॥

कालेन यौवनस्थस्य स पिता देवदर्शनः।
तीर्थयात्रागतस्तस्य प्रयागे प्रशमं ययौ॥७०॥

तद्बुद्ध्वा तस्य मातापि प्रविष्टाग्निं ततश्च सः।
व्यधाच्छ्रीदर्शनः शोचंस्तयोः शास्त्रोदिताः क्रियाः॥७१॥

शनैश्च स तनूभूतशोकोऽकृतपरिग्रहः।
द्यूतक्रीडाप्रसक्तोऽभूद्दैवात्प्राज्ञोऽप्यबान्धवः ॥७२॥

अचिरेण च कालेन तस्य क्षीणार्थसम्पदः।
तेन दुर्व्यसनेनासीद्भोजनेऽपि कदर्थना॥७३॥

एकदा द्यूतशालायां निराहारस्थितं त्र्यहम्।
अशक्नुवन्तं निर्गन्तुं लज्जयानुचिताम्बरम्॥७४॥

अन्यैर्दत्तमभुञ्जानं दुःखितं कितवः सखा।
कश्चिन्मुखरको नाम तं श्रीदर्शनमभ्यधात्॥७५॥

किं मुह्यसीदृगेवेदं द्यूतव्यसनपातकम्।
अश्रीकटाक्षपाताः किमक्षा न विदितास्तव॥७६॥

बाहू प्रावरणं शय्या पांसवश्चत्वरं गृहम्।
भार्या विध्वस्तता धात्रा कितवस्य हि निर्मितम्॥७७॥

किं तन्न भुङ्क्षे विद्वानप्यात्मानं किमुपेक्षसे।
जीवन्हि धीरोऽभिमतं किं नाम न यदाप्नुयात्॥७८॥

आश्चर्य से उसने सोचा कि यह क्या है, किन्तु स्वर्ण से भरे उस घड़े को देखकर उसे स्वप्न में दिया हुआ अग्नि का आदेश याद आया और वह प्रसन्न हुआ ।।६५।।

उसने भाग्य के द्वारा दिये हुए उस बालक और धन को ग्रहण किया और सवेरा होने पर महोत्सव किया ।।६६।।

ग्यारहवें दिन देवदर्शन ने उस बालक पुत्र का, अपने अनुकूल, श्रीदर्शन नाम रखा ।।६७।।

अनन्तर, देवदर्शन नाम का वह ब्राह्मण अत्यन्त धनी होकर सुख-भोगों को भोगता हुआ और यज्ञ आदि करता हुआ रहने लगा ।।६८।।

श्रीदर्शन पिता के घर में सयाना होकर बड़ा बलवान् हुआ और उसने वेद-विद्या तथा शस्त्र-विद्या में श्रेष्ठता पाई ।।६९।।

समय पाकर श्रीदर्शन जब युवक हुआ, तब उसके पिता देवदर्शन तीर्थयात्रा के लिए निकले। तीर्थाटन करते हुए प्रयाग में उनका देहावसान हो गया ।।७०।।

यह जानकर उसकी माता ने भी अग्नि में प्रवेश किया। तब श्रीदर्शन ने बहुत शोक किया और शास्त्रोक्त क्रियाएँ कीं ।।७१।।

धीरे-धीरे उसका शोक कम हो गया। उसने विवाह नहीं किया था। उसके परिवार में दूसरा भी कोई नहीं था। अतः, बुद्धिमान् होते हुए भी, दैवयोग से, वह जूए के व्यसन में पड़ गया ।।७२।।

थोड़े ही दिनों में उसकी धन-सम्पत्ति जाती रही। इस दुर्व्यसन के चलते, उसे भोजन के लाले पड़ने लगे ।।७३।।

एक बार वह द्यूतशाला में तीन दिनों का भूखा-प्यासा पड़ा हुआ था। पहनने के लिए उचित कपड़े न होने की लज्जा से, वह वहाँ से निकल भी न पाता था ।।७४।।

वह दूसरों का दिया हुआ भोजन भी नहीं करता था। इस तरह उस श्रीदर्शन को दुःखी देखकर, मुखरक नामक उसके एक द्यूत-व्यसनी मित्र ने, उससे कहा—"तुम इतना उद्विग्न क्यों होते हो? क्या तुम नहीं जानते कि जूए के पाप का व्यसन ऐसा ही होता है? क्या तुम यह नहीं जानते कि पासे दरिद्रता को निमन्त्रण देते हैं? जूआ खेलनेवालों के हाथ ही उनके शरीर ढकने के वस्त्र हैं, धूल ही बिछौना है, चौराहा ही घर है और सर्वनाश ही उनकी स्त्री है, ऐसी व्यवस्था विधाता ने ही की है। फिर विद्वान् होकर भी तुम भोजन क्यों नहीं करते? अपनी उपेक्षा क्यों करते हो? जीवित रहकर धीर पुरुष कौन-सी इच्छित वस्तु नहीं प्राप्त कर सकते? ।।७५—७८।।

किमेतदिति विस्मित्य हेमकुम्भं विलोक्य तम्।
स स्वप्नादेशमाग्नेयं सस्मार च ननन्द च ॥६५॥

जग्राह बालकं तं च पुत्रं विधिसमर्पितम्।
धनं च तत्प्रभाते च विदधे स महोत्सवम् ॥६६॥

एकादशे च दिवसे तस्य पुत्रस्य तत्र सः।
बालस्य स्वोचितं नाम श्रीदर्शन इति व्यधात् ॥६७॥

ततो महाधनी भूत्वा तस्थौ क्रत्वादिकाः क्रियाः।
कुर्वन्भोगांश्च भुञ्जानः स विप्रो देवदर्शनः ॥६८॥

सोऽपि श्रीदर्शनस्तत्र वृद्धिं प्राप्तः पितुर्गृहे।
प्रकर्षं वेदविद्यासु प्रापास्त्रेषु च वीर्यवान् ॥६९॥

कालेन यौवनस्थस्य स पिता देवदर्शनः।
तीर्थयात्रागतस्तस्य प्रयागे प्रशमं ययौ ॥७०॥

तद्बुद्ध्वा तस्य मातापि प्रविष्टाग्निं ततश्च सः।
व्यधाच्छ्रीदर्शनः शोचंस्तयोः शास्त्रोदिताः क्रियाः ॥७१॥

शनैश्च स तनूभूतशोकोऽकृतपरिग्रहः।
द्यूतक्रीडाप्रसक्तोऽभूद्दैवात्प्राज्ञोऽप्यवान्धवः ॥७२॥

अचिरेण च कालेन तस्य क्षीणार्थसम्पदः।
तेन दुर्व्यसनेनासीद्भोजनेऽपि कदर्थना ॥७३॥

एकदा द्यूतशालायां निराहारस्थितं त्र्यहम्।
अशक्नुवन्तं निर्गन्तुं लज्जयानुचिताम्बरम् ॥७४॥

अन्यैर्दत्तमभुञ्जानं दुःखितं कितवः सखा।
कश्चिन्मुखरको नाम तं श्रीदर्शनमभ्यधात् ॥७५॥

किं मुह्यसीदृगेवेदं द्यूतव्यसनपातकम्।
अश्रीकटाक्षपाताः किमक्षा न विदितास्तव ॥७६॥

बाहू प्रावरणं शय्या पांसवश्चत्वरं गृहम्।
भार्या विध्वस्तता धात्रा कितवस्य हि निर्मितम् ॥७७॥

किं तन्न भुङ्क्षे विद्वानप्यात्मानं किमुपेक्षसे।
जीवन्हि धीरोऽभिमतं किं नाम न यदाप्नुयात् ॥७८॥

आश्चर्य से उसने सोचा कि यह क्या है, किन्तु स्वर्ण से भरे उस घड़े को देखकर उसे स्वप्न में दिया हुआ अग्नि का आदेश याद आया और वह प्रसन्न हुआ ॥६५॥

उसने भाग्य के द्वारा दिये हुए उस बालक और धन को ग्रहण किया और सवेरा होने पर महोत्सव किया ॥६६॥

ग्यारहवें दिन देवदर्शन ने उस बालक पुत्र का, अपने अनुकूल , श्रीदर्शन नाम रखा ॥६७॥

अनन्तर, देवदर्शन नाम का वह ब्राह्मण अत्यन्त धनी होकर सुख-भोगों को भोगता हुआ और यज्ञ आदि करता हुआ रहने लगा ॥६८॥

श्रीदर्शन पिता के घर में सयाना होकर बड़ा बलवान् हुआ और उसने वेद-विद्या तथा शस्त्र-विद्या में श्रेष्ठता पाई ॥६९॥

समय पाकर श्रीदर्शन जब युवक हुआ, तब उसके पिता देवदर्शन तीर्थयात्रा के लिए निकले। तीर्थाटन करते हुए प्रयाग में उनका देहावसान हो गया ॥७०॥

यह जानकर उसकी माता ने भी अग्नि में प्रवेश किया। तब श्रीदर्शन ने वहुत शोक किया और शास्त्रोक्त क्रियाएँ कीं ॥७१॥

धीरे-धीरे उसका शोक कम हो गया। उसने विवाह नहीं किया था। उसके परिवार में दूसरा भी कोई नहीं था। अतः, बुद्धिमान् होते हुए भी, दैवयोग से, वह जूए के व्यसन में पड़ गया ॥७२॥

थोड़े ही दिनों में उसकी धन-सम्पत्ति जाती रही। इस दुर्व्यसन के चलते, उसे भोजन के गले पड़ने लगे ॥७३॥

एक बार वह द्यूतशाला में तीन दिनों का भूखा-प्यासा पड़ा हुआ था। पहनने के लिए उचित कपड़े न होने की लज्जा से, वह वहाँ से निकल भी न पाता था ॥७४॥

वह दूसरों का दिया हुआ भोजन भी नहीं करता था। इस तरह उस श्रीदर्शन को दुःखी देखकर, मुखरक नामक उसके एक द्यूत-व्यसनी मित्र ने, उससे कहा––"तुम इतना उद्विग्न क्यों होते हो ? क्या तुम नहीं जानते कि जूए के पाप का व्यसन ऐसा ही होता है ? क्या तुम यह नहीं जानते कि पासे दरिद्रता को निमन्त्रण देते हैं ? जूआ खेलनेवालों के हाथ ही उनके शरीर ढकने के वस्त्र हैं, धूल ही बिछौना है, चौराहा ही घर है और सर्वनाश ही उनकी स्त्री है, ऐसी व्यवस्था विधाता ने ही की है। फिर विद्वान् होकर भी तुम भोजन क्यों नहीं करते ? अपनी उपेक्षा क्यों करते हो? जीवित रहकर धीर पुरुष कौन-सी इच्छित वस्तु नहीं प्राप्त कर सकते ? ॥७५––७८॥

भूनन्दनस्य कथा

तथा च चित्रामत्रैतां भूनन्दनकथां शृणु।
अस्तीहाभरणं भूमेः कश्मीरा इति मण्डलम् ॥७९॥

दृश्यभोगं विधायैकं त्रिदिवं सुकृतां कृते।
भोग्यभोगं विधाता यद्द्वितीयमिव निर्ममे ॥८०॥

अहमत्राधिका नाहमित्यन्योन्यमिवेर्ष्यया।
प्रविष्टाभ्यां श्रितं द्वाभ्यां सरस्वत्या श्रिया च यत् ॥८१॥

धर्मद्रुहः प्रवेशोऽत्र कलेर्मा भूदितीव यत्।
स्वदेहपरिवेषेण रक्ष्यते तुहिनाद्रिणा ॥८२॥

देवतीर्थमयाद्दुरमितो याहीति कल्मषम्।
वीचिहस्तैर्नुदन्त्येव भूषितं यद्वितस्तया ॥८३॥

यस्मिन्सितसुधाधौतास्तुङ्गाः प्रासादपङ्क्तयः।
कुर्वन्त्यासन्नहिमवत्पादशैलावलीभ्रमम् ॥८४॥

तस्मिन्वर्णाश्रमगुरुः प्रजानन्दनचन्द्रमाः।
अभूद्विद्यागमबुधो नाम्ना भूनन्दनो नृपः ॥८५॥

नखराजिनियुक्तेषु विरेजे यस्य विक्रमः।
कामिनीकुचयुग्मेषु मण्डलेषु च विद्विषाम् ॥८६॥

यस्य नीतिमतोऽप्यासन्प्रजाः शश्वदनीतयः।
कृष्णैका सक्तचित्तस्याप्यकृष्णतरमानसाः ॥८७॥

स जातु राजा द्वादश्यां विधिवत्पूजिताच्युतः।
स्वप्ने कामप्युपायातामपश्यद्दैत्यकन्यकाम् ॥८८॥
तया सम्प्राप्य संयोगं प्रबुद्धो न ददर्श ताम्।
व्यक्तं ददर्श सम्भोगचिह्नमङ्गे तु विस्मितः ॥८९॥

नायं स्वप्नः स्फुटो ह्येष सम्भोगस्तर्कयाम्यहम्।
विप्रलब्धस्तया नूनं नार्या किमपि दिव्यया ॥९०॥
इत्यवेत्य च तच्चित्तस्तथाभूद्विरहातुरः।
यथा स राजकार्याणि जहौ सर्वाण्यपि क्रमात् ॥९१॥

भूनन्दन की कथा

इस सम्बन्ध की भूनन्दन की विचित्र कथा सुनो। यहाँ भूमि के आभरण जैसा कश्मीर-मण्डल है। जहाँ सुख-भोगों को देखा भर जा सकता है, वैसे एक स्वर्ग का निर्माण करने के बाद, मानों विधाता ने पुण्यात्मा लोगों के लिए यह दूसरा स्वर्ग बनाया है, यहाँ सुख-भोगों को भोगा भी जा सकता है ॥७९-८०॥

लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही एक दूसरी से ईर्ष्या करती हुई-सी 'यहाँ मेरी प्रधानता है, नहीं, मेरी है' ऐसा कहती हुई, यहाँ आकर निवास करती हैं ॥८१॥

धर्मद्रोही कलि का यहाँ प्रवेश न होने पाये, इसीलिए हिमालय पर्वत अपने शरीर के घेरे से इसकी रक्षा करता है ॥८२॥

'यह देवतीर्थ है, यहाँ से दूर जाओ,' ऐसा कहकर अपनी लहरों के हाथों से पापों को रोकती हुई-सी, वितस्ता नदी से यह शोभित है ॥८३॥

यहाँ के चूने से पुते हुए सफेद और ऊँचे मकानों की श्रेणियाँ, हिमालय के चरणों में स्थित पर्वत-समूहों की तरह जान पड़ते हैं।

वहाँ भूनन्दन नाम के एक राजा थे, जो चारों आश्रमों और चारों वर्णों के गुरु थे, प्रजा को प्रसन्नता देनेवाले चन्द्रमा थे तथा विद्या और आगम में निष्णात थे ॥८५॥

उनका पराक्रम कामिनियों के नखक्षतयुक्त कुचों पर और शत्रुसमूहों पर समान रूप से शोभित होता था ॥८६॥

वह राजा नीतिपरायण था। उसकी प्रजा सब संकटों से मुक्त थी। राजा का चित्त एकमात्र कृष्ण में ही आसक्त था। उसकी पूजा भी निर्मल हृदयवाली थी ॥८७॥

एक बार द्वादशी के दिन , भगवान् की विधिवत् पूजा करने के बाद, उसने स्वप्न में स्वेच्छा से आई हुई एक दैत्यकन्या को देखा ॥८८॥

उसके साथ विहार करने के बाद, जगने पर, राजा ने उसे नहीं देखा, किन्तु अपने अंगों पर सम्भोगके चिह्न देखकर वह विस्मित हुआ ॥८९॥

उसने सोचा कि यह स्वप्न नहीं है। मैं समझता हूँ कि सचमुच मैंने उसके साथ सम्भोग किया है। निश्चय ही किसी दिव्य नारी ने मुझे ठगा है ॥९०॥

ऐसा सोचकर उसका मन उसी में रम गया। वह ऐसा विरहातुर हो गया कि धीरे-धीरे उसने सारा राज-काज छोड़ दिया ॥९१॥

अपश्यन्प्राप्त्युपायं च तस्याः सोऽचिन्तयन्नृपः।
हरेः प्रसादात्सोऽभून्मे तथा तत्सङ्गमक्षणः ॥९२॥

आराधयामि तत्प्राप्त्यै गत्वैकान्ते तमेव तत्।
राज्यपाशं विमुच्येमं हा तद्विरहनीरसम् ॥९३॥

इति सङ्कल्प्य सम्बोध्य सचिवाननुजाय सः।
सुनन्दनाभिधानाय राज्यं भूनन्दनो ददौ ॥९४॥

त्यक्तराज्यश्च स ययौ पादन्यासोद्भवं हरेः।
तीर्थं क्रमसरो नाम त्रिविक्रमकृतं पुरा ॥९५॥

यदध्यासितमभ्यर्णपर्वताग्रनिवेशिभिः ।
शृङ्गाकारैस्त्रिभिर्देवैर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैः ॥९६॥
येन विष्णुपदेनान्या काश्मीरेषु सुरापगा।
सृष्टा विषुवती नाम वितस्ता मत्सरादिव ॥९७॥

तत्रासीत्स तपः कुर्वन्राजान्यरसनिःस्पृहः।
क्लाम्यन्नन्यरसाकाङ्क्षी निदाघ इव चातकः ॥९८॥

व्यतीतद्वादशाब्दे च तस्मिंस्तत्र तपःस्थिते।
आगात्तेन पथा कोऽपि तपस्वी ज्ञानिनां वरः ॥९९॥

पिङ्गलाग्रजटश्चीरवासाः शिष्यगणान्वितः।
तत्तीर्थशैलशिखरादवतीर्ण इवेश्वरः ॥१००॥

स तं दृष्ट्वैव राजानं जातप्रीतिरुपेत्य च।
प्रह्वः पृष्ट्वा च वृत्तान्तं ध्यात्वा क्षणमिवाब्रवीत् ॥१०१॥

राजन्सा दैत्यकन्या ते प्रिया पातालवासिनी।
तदाश्वसिहि तस्यास्त्वामन्तिकं प्रापयाम्यहम् ॥१०२॥

अहं हि दाक्षिणात्यस्य यज्ञसंज्ञस्य यज्वनः।
पुत्रो भूतिवसुर्नाम ब्राह्मणो योगिनां गुरुः ॥१०३॥

सोऽहं सङ्क्रमितज्ञानः पित्रा पातालशास्त्रतः।
शिक्षित्वा हटकेशानमन्त्रतन्त्रविधिक्रमम् ॥१०४॥

उसको पाने का कोई उपाय न देखकर राजा ने सोचा, भगवान् की कृपा से ही मुझे उसके सहवास का एक क्षण प्राप्त हुआ था। तो मैं उसकी प्राप्तिं के लिए, एकान्त में जाकर, उन्हीं की आराधना करूँ। इस राजपाट का त्याग कर दूँ; क्योंकि उसके विरह में यह मुझे नीरस लग रहा है॥९२-९३॥

ऐसा निश्चय करके और अपने मन्त्रियों को इसकी सूचना देकर राजा भूनन्दन ने सुनन्दन नाम के अपने छोटे भाई को राज्य सौंप दिया॥९४॥

राज्य का त्याग करने के अनन्तर वह राजा, क्रमसर नामक उस तीर्थ में गया, जिसे प्राचीन समय में भगवान् वामन ने अपने पग रखकर पवित्र किया था॥९५॥

वहाँ पर्वतों के अग्रभाग में निविष्ट, शिखरों के रूप में, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, ये तीनों देवता निवास करते हैं॥९६॥

उस कश्मीर में, विष्णु के चरणों ने, मानों वितस्ता की ईर्ष्या से, विषुवती नाम की दूसरी गंगा बहाई है॥९७॥

वहाँ, अन्य सुख-भोगों से नाता तोड़कर, वह राजा तपस्या करने लगा, जैसे ग्रीष्मकाल में नये जल की आशा से चातक कष्ट उठाता है॥९८॥

जब उसको वहाँ तपस्या करते हुए बारह वर्ष बीत गये, तब उस मार्ग से ज्ञानियों में श्रेष्ठ कोई तपस्वी पधारे॥९९॥

उनकी जटा का अगला भाग पीला पड़ गया था, उन्होंने छाल के वस्त्र पहन रखे थे और उनके साथ अनेक शिष्य भी थे। वे उस तीर्थ के पर्वत-शिखर से उतरे हुए शिवजी के समान जान पड़ते थे॥१००॥

राजा को देखते ही उनके मन में प्रीति उपजी। राजा के पास आकर उन्होंने नम्रतापूर्वक सारा वृत्तान्त पूछा। अनन्तर, ध्यान करके क्षणभर बाद बोले—"राजन्, तुम्हारी प्रिया वह दैत्यकन्या पाताल में निवास करती है। लेकिन तुम धीरज रखो। मैं तुम्हें उसके पास ले चलूँगा॥१०१-१०२॥

मैं दक्षिण के रहनेवाले यज्ञ नामक याज्ञिक ब्राह्मण का पुत्र हूँ। मैं योगियों का गुरु हूँ और मेरा नाम भूतिवसु है॥१०३॥

पिता ने मुझे अपना ज्ञान दिया और मैंने हटकेशान[1] को प्रसन्न करने के लिए पाताल-शास्त्र से तन्त्र-मन्त्रों की विधि सीखी॥१०४॥

---

१. ह (हा)टकेशान=शिव का एक नाम। स्वर्णशिव, स्वर्णाभ शिव।

गत्वा श्रीपर्वतेऽकार्षं त्र्यम्बकाराधनं तपः।
तेन तुष्टोऽथ मां तत्र साक्षादित्यादिशच्छिवः ॥१०५॥
गच्छ दैत्याङ्गनायुक्तो भुक्त्वा भोगान्रसातले।
मामुपैष्यस्युपायं च तत्प्राप्तौ शृणु वच्मि ते ॥१०६॥
सन्ति भूयांसि* पातालविवराण्यत्र भूतले।
प्रकाशं त्वस्ति कश्मीरेष्वेकं मयकृतं महत् ॥१०७॥
येन प्रवेश्य गुप्तासु दानवोद्यानभूमिषु।
उषा बाणसुता कान्तमनिरुद्धं व्यनोदयत् ॥१०८॥
प्रद्युम्नश्च तदा पुत्रं रक्षितुं तं व्यधत्त यत्।
प्रकटं गिरिशृङ्गेण प्रकल्प्य द्वारमेकतः ॥१०९॥
तद्द्वाररक्षाहेतोश्च यत्र दुर्गां न्यवेशयत्।
आराध्य स स्तुतिशतैः शारिकानामधारिणीम् ॥११०॥
येन प्रद्युम्नशिखरं शारिकाकूटमित्यपि।
नामद्वयेन तत्तत्र स्थानमद्याभिधीयते ॥१११॥
गच्छ तेन बिलाग्रेण प्रविश्यानुचरैः सह।
पातालं मत्प्रसादाच्च सिद्धिस्तेऽत्र भविष्यति ॥११२॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते देवे तत्प्रसादप्रभावतः।
उत्पन्नाखिलविज्ञानः कश्मीरानागतोऽस्म्यमून् ॥११३॥
तदस्माभिः समं राजञ्शारिकाकूटमेहि तत्।
यावदिष्टाङ्गनापार्श्वं पातालं त्वां नयाम्यहम् ॥११४॥
एवमुक्तवता तेन तथेति स तपस्विना।
समं तच्छारिकाकूटं ययौ भूनन्दनो नृपः ॥११५॥
तत्र स्नात्वा वितस्तायामर्चयित्वा विनायकम्।
सम्पूज्य शारिकां देवीं दिग्बन्धादिपुरःसरम् ॥११६॥
विधिवत्सर्षपक्षेपाद्धरानुग्रहशालिना ।
महातपस्विना तेन विवरे प्रकटीकृते ॥११७॥
प्रविश्य तेनैव समं सशिष्येण स भूपतिः।
जगाम पातालपथं पञ्चाहानि दिवानिशम् ॥११८॥

मैंने श्रीपर्वत पर जाकर भगवान् शिव की आराधना के लिए तस्पस्या की। भगवान् शिव सन्तुष्ट होकर प्रकट हुए और उन्होंने मुझे यह आदेश दिया—॥१०५॥

"तुम रसातल में जाओ और वहाँ दैत्यांगनाओं से मिलकर सुखों का भोग करो। उसके बाद तुम मुझे प्राप्त करोगे। उसकी प्राप्ति का उपाय भी मैं तुम्हें बता देता हूँ। सुनो" ॥१०६॥

इस भूतल पर पाताल के लिए बहुत से विवर हैं, पर कश्मीर में एक विशाल और प्रकट विवर है, जिसे मय दानव ने बनाया है॥१०७॥

बाण की कन्या उषा, उसी मार्ग से, अपने प्रेमी अनिरुद्ध को दानवों की गुप्त उद्यानभूमि में ले जाकर प्रसन्न करती थी॥१०८॥

तब प्रद्युम्न ने अपने उस पुत्र की रक्षा करने के लिए, पर्वत-शिखर पर एक प्रकट द्वार बनवा दिया॥१०९॥

उस द्वार की रक्षा के लिए, उन्होंने सैकड़ों स्तुतियों से शारिका नामधारिणी दुर्गा की आराधना करके, उन्हें वहाँ बैठा दिया॥११०॥

इसी से आज भी वह स्थान प्रद्युम्नशिखर और शारिकाकूट इन दो नामों से पुकारा जाता है॥१११॥

तुम अपने अनुचरों के साथ उसी विवर से पाताल में जाओ। मेरी कृपा से वहाँ तुम्हें सफलता मिलेगी॥११२॥

यह कहकर जब भगवान् शंकर अन्तर्हित हो गये, तब उनकी कृपा के प्रभाव से, मुझमें समस्त ज्ञान उत्पन्न हुए और मैं इस कश्मीर में आया॥११३॥

अतः, राजन्, आप हम लोगों के साथ शारिका-कूट पर चलिए, वहाँ से मैं आपको पाताल में, आपकी मनचाही स्त्री के पास ले चलूँगा"॥११४॥

उस तपस्वी के ऐसा कहने पर, राजा भूनन्दन ने उसकी बात मान ली और वे उसके साथ शारिकाकूट पर गये॥११५॥

वहाँ उन्होंने वितस्ता में स्नान कया, गणपति की पूजा की और दिग्बन्धादि के सहित शारिका देवी का भी पूजन किया॥११६॥

भगवान् शिव का अनुग्रह पाये हुए उस महातपस्वी ने, विधिपूर्वक सरसों छींटकर, उस विवर को प्रकट किया॥११७॥

शिष्यों के सहित उस तपस्वी के साथ राजा ने उसमें प्रवेश किया और पाँच दिन तथा पाँच रातों तक उस पाताल-मार्ग में चलते रहे॥११८॥

षष्ठेऽह्नि सर्वेऽप्युत्तीर्य गङ्गां पातालवाहिनीम् ।
भूमौ रजतमय्यां ते दिव्यमैक्षन्त काननम् ॥११९॥
स्थलप्रफुल्लसौवर्णकमलामोदवासितम् ।
उद्यत्प्रवालकर्पूरचन्दनागुरुपादपम् ॥१२०॥
तन्मध्ये सुमहाभोगं रत्नसोपानसुन्दरम् ।
सौवर्णभित्तिमाणिक्यस्तम्भसम्भारभासरम् ॥१२१॥
चन्द्रकान्तशिलावद्धविशालामलसारकम् ।
प्रहृष्टा ददृशुः प्रांशु शैवमायतनञ्च ते ॥१२२॥
ततश्च स तपस्वी तान्स्वशिष्यांस्तं च भूपतिम् ।
भूनन्दनं ज्ञानिवरो जाताश्चर्यानिभापत ॥१२३॥
अयं स देवः पातालनिलयो हाटकेश्वरः ।
गीयते त्रिषु लोकेषु तदसौ पूज्यतामिति ॥१२४॥
ततः सर्वेऽपि ते तैस्तैः पुष्पैः पातालसम्भवैः ।
तद्गङ्गाम्भः प्लुताः शम्भुं पूजयामासुरत्र तम् ॥१२५॥
तत्पूजाक्षणविश्रान्ता गत्वा प्रापुस्ततश्च ते ।
पतत्पक्वफलं दिव्यमेकं जम्बुमहाद्रुमम् ॥१२६॥
तं प्रेक्ष्य स तपस्वी तानवोचन्न फलानि वः ।
भक्ष्याण्येतस्य विघ्नं हि भुक्तान्येतानि कुर्वते ॥१२७॥
तच्छ्रुत्वापि चखादैकस्तच्छिष्यस्तत्फलं क्षुधा ।
खादित्वैव च सम्पेदे निश्चेष्टः स्थावराकृतिः ॥१२८॥
ततस्तद्दर्शनत्रासपरित्यक्तफलस्पृहैः ।
स तपस्वी सहान्यैस्तैः शिष्यैर्भूनन्दनान्वितः ॥१२९॥
क्रोशमात्रमतिक्रम्य हेमप्राकारमुच्छ्रितम् ।
सद्रत्नरचितद्वारमत्रावस्थितमैक्षत ॥१३०॥
तद्द्वारपार्श्वयोर्लोहमयाङ्गावुभयोरुभौ ।
प्रवेशरोधिनौ मेषौ दृष्ट्वा शृङ्गप्रहारिणौ ॥१३१॥
हत्वा सपदि दण्डेन न्यस्तमन्त्रेण मूर्धनि ।
विद्रावयामास स तौ क्वापि वज्रहताविव ॥१३२॥

छठे दिन उन सबने पातालवाहिनी गंगा को पार करके, चाँदी की भूमि पर एक दिव्य वन देखा ॥११९॥

वह स्थान खिले हुए सुवर्ण-कमलों के सुवास से आमोदित था; वहाँ मूँगा, कपूर, चन्दन, और अगुरु वृक्ष उगे हुए थे। उसके बीच एक विशाल शिवमन्दिर था, जिसमें रत्न की सुन्दर-सी सीढ़ियाँ थीं, सुवर्ण की दीवारें थीं और माणिक्य के खम्भे थे। इन सबसे वह मन्दिर जगमगा रहा था। उसमें चन्द्रकान्त मणि की शिलाएँ बँधी थीं, जिससे वह निर्मल और दृढ जान पड़ता था। उन लोगों ने प्रसन्न होकर यह सब देखा ॥१२०—१२२॥

अनन्तर, उस ज्ञानी-श्रेष्ठ तपस्वी ने अपने उन शष्यों और राजा भूनन्दन को आश्चर्य में पड़ा हुआ देखकर कहा—"यही वह पातालवासी हाटकेश्वर हैं, जिनकी तीनों लोकों में प्रसिद्धि है; अतः आप लोग इनका पूजन करें"॥१२३—१२४॥

तब उन सभी ने पातालगंगा में स्नान किया और पाताल से उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकार के पुष्पों से भगवान् शंकर का पूजन किया ॥१२५॥

पूजा के बाद कुछ देर विश्राम करके जब वे फिर चले, तब उन्हें पके फलोंवाला एक विशाल और दिव्य जामुन का वृक्ष दीख पड़ा ॥१२६॥

उस वृक्ष को देखकर तपस्वी ने सब लोगों से कहा कि इस फल को आपलोग न खायें; क्योंकि खा लेने पर ये विघ्नकारक होते हैं ॥१२७॥

यह सुनकर भी, भूखा होने के कारण, उनके एक शिष्य ने वह फल खा लिया और खाते ही वह निश्चेष्ट और स्थावर आकृति का बन गया ॥१२८॥

यह देखकर उस तपस्वी के दूसरे शिष्य भयभीत हो गये। उस फल को खाने की उनकी इच्छा जाती रही। उन शिष्यों और भूनन्दन के साथ एक कोस आगे जाकर, तपस्वी ने अच्छे रत्नों से रचित, एक सोने की चहारदीवारी देखी ॥१२९—१३०॥

उस दीवार के फाटक के दोनों किनारों पर, उन्होंने लोहे के शरीरवाले दो मेढ़े देखे, जो उसके अन्दर प्रवेश करनेवालों को सींग मारने के लिए उद्यत थे ॥१३१॥

तब उस तपस्वी ने उनके माथे पर मन्त्रयुक्त डण्डा मारा। वे दोनों वज्र की चोट खाये हुए के समान, जाने कहाँ भाग गये ॥१३२॥

ततः स तेन द्वारेण तच्छिष्याश्च नृपश्च सः।
प्रविश्य ददृशुर्दिव्यान्हेमरत्नमयान्गृहान् ॥१३३॥
द्वारि द्वारि च तेषां ते दन्तदष्टाधरोत्कटान्।
गृहीतलोहमुसलानपश्यन्द्वाररक्षिणः ॥१३४॥
ततश्चोपाविशन्सर्वे तत्रैकस्य तरोस्तले।
स तपस्वी तु दुष्टघ्नीमवध्नाद्योगधारणाम् ॥१३५॥
तद्धारणाप्रभावेण रौद्रास्ते द्वाररक्षकाः।
सर्वेऽपि सर्वद्वारेभ्यः पलाय्यादर्शनं ययुः ॥१३६॥
क्षणाच्च तेभ्यो द्वारेभ्यो दिव्याभरणवाससः।
दैत्यकन्यापरीवारवारनार्यो विनिर्ययुः ॥१३७॥
ताः पृथक्पृथगभ्येत्य तान्सर्वानातपस्विनः।
प्रवेशायार्थयामासुर्यथास्वं स्वामिनीगिरा ॥१३८॥
अन्तः प्रविष्टैर्युष्माभिर्नोल्लङ्घ्यं स्वप्रियावचः।
इति तानपरानुक्त्वा स तपस्वी कृती ततः ॥१३९॥
कतिभिश्च समं ताभिः प्रविश्य वरमन्दिरम्।
एकां प्रापोत्तमां दैत्यकन्यां भोगांश्च वाञ्छितान् ॥१४०॥
अन्येऽप्येकैकशोऽन्याभिस्ताभिस्ते दिव्यवेश्मसु।
प्रवेशिता ययुर्दैत्यसुतासम्भोगपात्रताम् ॥१४१॥
राजा भूनन्दनः सोऽपि नीतोऽभूदेकया तदा।
प्रश्रयानतया तत्र वहिर्मणिमयं गृहम् ॥१४२॥
परीवारवरस्त्रीणां प्रतिविम्बैः समन्ततः।
सजीवचित्रविन्यासमिव यद्रत्नभित्तिषु ॥१४३॥
यत्सुश्लक्ष्णमहानीलमयभूभागनिर्मितम् ।
दिवः पृष्ठमिवारूढं विमानविजिगीषया ॥१४४॥
मदाकुललसद्रामं हृद्यप्रद्युम्नविभ्रमम् ।
यदच्युतप्रभावाढ्यं वृष्णीनामिव केतनम् ॥१४५॥
बालातपसहं पुष्पमपि यत्र न योषिताम्।
वपुषः सुकुमारत्वे प्राप्नुयादुपमानताम् ॥१४६॥

तब उस तपस्वी, उसके शिष्यों तथा राजा ने उस द्वार से अन्दर जाकर स्वर्ण और रत्नों से बने दिव्यगृह देखे॥१३३॥

उन्होंने प्रत्येक द्वार पर लोहे का मूसल हाथ में लिये हुए द्वारपाल को देखा, जो अपने दाँतों से निचले होंठों को दबाये रखने के कारण भयानक दीख रहे थे॥१३४॥

तब वे सभी एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। वह तपस्वी दुष्टों का नाश करनेवाली योगविद्या का ध्यान करने लगा॥१३५॥

उसके ध्यान के प्रभाव से वे सभी द्वारपाल सभी दरवाजों से भागकर अदृश्य हो गये ॥१३६॥

क्षणभर बाद ही उन दरवाजों से दिव्य आभूषण और वस्त्र पहने कई वारांगनाएँ निकलीं, जो दैत्यकन्याओं की सेविकाएँ थीं॥१३७॥

अपने साथ लाये हुए उपहारों-सहित, वे सभी अलग-अलग उन सबके पास गईं और अपनी स्वामिनियों के कहने के अनुसार उनसे उनके महलों में चलने की प्रार्थना करने लगीं॥१३८॥

अनन्तर, उस कृती तपस्वी ने अन्य सब लोगों से कहा कि तुमलोग अन्दर जाकर अपनी प्रिया की कोई बात न टालना। ऐसा कहकर वह कई वारांगनाओं के साथ एक उत्तम भवन में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसे एक श्रेष्ठ दैत्यकन्या मिली और उसने वांछित सुखभोग भी प्राप्त किये॥१३९-१४०॥

अन्य वारांगनाओं में से एक-एक के साथ, तपस्वी के सब शिष्य भी दिव्य भवनों में गये और दैत्यकन्याओं के साथ सुख-भोग करने लगे॥१४१॥

विनय से झुकी हुई एक वारांगना राजा भूनन्दन को भी एक ऐसे घर में ले गई, जिसके बाहर मणियाँ लगी हुई थीं। अन्दर जो रत्न की दीवारें थीं, उनपर चारों ओर दैत्यकन्याओं का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, जिससे ऐसा जान पड़ता था, मानों उनपर सजीव चित्र बने हुए हों॥१४२-१४३॥

उस मकान का महानील मणि का बना हुआ चिकना फर्श ऐसा जान पड़ता था, मानों वह आकाश में जाकर वहाँ के विमानों को जीतने की इच्छा कर रहा हो॥१४४॥

वह वृष्णियों के भवन के समान जान पड़ता था, जो भगवान् विष्णु के प्रभाव से सम्पन्न था, कामदेव की शोभा से मनोहर था और जहाँ मदिरा पीकर बलराम शोभित होते थे॥१४५॥

बाल-सूर्य का आतप सहनेवाले पुष्प भी, सुकुमारता में, वहाँ की स्त्रियों के शरीर के उपमान नहीं बन सकते थे॥१४६॥

तत्र प्रविष्टः सोऽपश्यद्दिव्यसङ्गीतनादिनि।
राजा प्राक्स्त्रमदृष्टां तां कान्तामसुरकन्यकाम् ।।१४७।।
यस्याः प्रकाशिते कान्त्या पातालेऽर्कादिवर्जिते।
रत्नाद्यालोकनिर्माणं पुनरुक्तं प्रजापतेः ।।१४८।।
तां स पश्यन्ननिर्वाच्यरूपां हर्षाश्रुणा नृपः।
अन्यावलोकनमलं चक्षुषोर्धौतवानिव ।।१४९।।
सापि तं वीक्ष्य राजेन्द्रं ख्याप्यमानालिगीतिभिः।
वाला कुमुदिनी नाम कमपि श्रमदं दवौ ।।१५०।।
उत्थाय पाणावादाय क्लेशितोऽसि मयेति च।
ब्रुवती सादरा सा तमुपावेशयदासने ।।१५१।।
क्षणमात्रं च विश्रान्तं न सतं वस्त्राद्यलङ्कृतम्।
सा निनाय तमुद्यानमापानायासुराङ्गना ।।१५२।।
तत्र तीरतरूल्लम्बिशवरक्तवसासवैः।
पूर्णायाः सा तटे वाप्यास्तेन साकमुपाविशत् ।।१५३।।
तद्वसासवपूर्णं च पात्रं तस्मै नृपाय सा।
ददौ पानाय स च तन्न जग्राह जुगुप्सितम् ।।१५४।।
न ते क्षेमं भवेदेतदस्मत्पानं निषेधतः।
इति निर्बन्धतस्तां च ब्रुवाणां सोऽब्रवीन्नृपः ।।१५५।।
अपेयं निश्चितं नैव पास्याम्येतद्यदस्त्विति।
ततः सा तस्य तन्मूर्ध्नि पात्रं क्षिप्त्वान्यतो ययौ ।।१५६।।
स च कूणितनेत्रास्यो राजान्यस्यां जलान्तरे।
तच्चेटिकाभिरादाय दीर्घिकायां निचिक्षिपे ।।१५७।।
क्षिप्त एव च तत्कालं तस्मिन्पूर्वं तपोवने।
तीर्थे क्रमसरस्येव प्राप्तमात्मानमैक्षत ।।१५८।।
पश्यंश्च स हिमं तत्र हसन्तमिव तं नगम्।
विषण्णविस्मितोद्भ्रान्तो वञ्चितः स व्यचिन्तयत् ।।१५९।।
क्व तद्दैत्यसुतोद्यानं क्वायं क्रमसरो गिरिः।
अहो किमिदमाश्चर्यं किं माया किं मतिभ्रमः ।।१६०।।
किमन्यद्वा ध्रुवं तस्या यन्मयोल्लङ्घितं वचः।
तपस्विवाक्यं श्रुत्वापि तस्येदं मे विजृम्भितम् ।।१६१।।

वहाँ दिव्य संगीत प्रतिध्वनित हो रहा था। उस भवन में प्रवेश करके राजा भूनन्दन ने उस सुन्दरी असुरकन्या को देखा, जिसे उन्होंने पहले स्वप्न में देखा था॥१४७॥

सूर्य के प्रकाश से रहित पाताल में, उस दैत्यकन्या की कान्ति का प्रकाश फैल रहा था। ब्रह्मा के द्वारा रत्न आदि के आलोक का निर्माण वहाँ फिर कही गई बात-सा व्यर्थ लग रहा था॥१४८॥

उस दैत्यकन्या को देखते हुए राजा ने हर्ष के आँसुओं से आँखों की वह मलिनता धो डाली, जो दूसरों को देखने से उत्पन्न हुई थी॥१४६॥

कुमुदिनी नाम की वह बाला थी, जिसका गुणगान उसकी सखियाँ अपने गीतों से कर रही थीं, उन श्रेष्ठ राजा को देखकर आनन्द से मतवाली हो उठी॥१५०॥

उसने उठकर राजा के हाथ पकड़े और कहा—'मैंने आपको बडा कष्ट दिया।' ऐसा कहती हुई उसने आदरपूर्वक उन्हें आसन पर बैठाया॥१५१॥

कुछ देर विश्राम करने के बाद राजा ने जब स्नान कर लिया और वस्त्रादि धारण कर लिये, तब वह दैत्यकन्या उन्हें पान कराने के लिए उद्यान में ले गई॥१५२॥

अनन्तर, वह जाकर उस बावली के किनारे बैठीं, जिसके तट-वृक्षों पर शव लटक रहे थे। उन शवों के रक्त और चरबी की मदिरा से वह बावली भरी हुई थी॥१५३॥

उसने उस चरबी की मदिरा से भरा एक पात्र राजा को पीने के लिये दिया, किन्तु राजा ने वह घृणित पेय स्वीकार नहीं किया॥१५४॥

दैत्यकन्या ने आग्रहपूर्वक कहा—"हमारे इस पेय को अस्वीकार करने से आपका भला नहीं होगा।" राजा ने उत्तर दिया—"इस न पीने योग्य वस्तु को मैं नहीं पीऊँगा, फिर चाहे जो भी हो।" तब वह दैत्यकन्या उस पात्र को उनके मस्तक पर डालकर वहाँ से अन्यत्र चली गई॥१५५-१५६॥

उस दैत्यकन्या की चेरियों ने आँख और मुँह मूँदे हुए राजा को उठाकर एक दूसरी बावली के जल में डाल दिया॥१५७॥

जल में डाले जाने के साथ ही उन्होंने फिर अपने को क्रमसर तीर्थ के उसी तपोवन में देखा, जहाँ वे पहले थे॥१५८॥

राजा ने उस पर्वत के हिम को हँसता हुआ-सा देखा। तब विस्मित, विषण्ण, उद्भ्रान्त और वंचित राजा ने सोचा—"कहाँ दैत्यकन्या का वह उद्यान और कहाँ यह क्रमसर पर्वत! अरे, यह कैसा आश्चर्य है! यह कोई माया है अथवा मेरी बुद्धि का भ्रम है? उस तपस्वी की बात सुनने के बाद भी मैंने दैत्यकन्या का कहना नहीं माना, निश्चय ही यह उसी का प्रत्यक्ष फल है॥१५६—१६१॥

न च तन्निन्दितं पानं सा ममैव परीक्षिणी।
मूर्ध्नि च्युतेन यत्तेन दिव्यमायाति सौरभम्॥१६२॥
तत्सर्वथा ह्यभव्यानां कृतः क्लेशो महानपि।
न फलाय विधिस्तेषु तथा वामो हि वर्त्तते॥१६३॥
इत्येवं चिन्तयन्नेत्य भृङ्गैर्भूनन्दनोऽत्र सः।
अवेष्ट्यतासुरसुतापानसिक्ताङ्गगन्धतः ॥१६४॥
कष्टमिष्टफलो माभूज्जातोऽनिष्टफलस्तु मे।
परिक्लेशोऽल्पसत्त्वस्य वेतालोत्थापनं यथा॥१६५॥
इति तैर्दंश्यमानश्च भृङ्गैः स विमृशंस्तदा।
जातोद्वेगो मतिं चक्रे देहत्यागाय भूपतिः॥१६६॥
तावच्च तेन मार्गेण कोऽपि दैवात्समागतः।
मुनिपुत्रः क्षितिपतिं तथाभूतं ददर्श तम्॥१६७॥
सोऽभ्युपेत्य निवार्याशु भ्रमरान्करुणार्द्रधीः।
ऋषिः पृष्ट्वा च वृत्तान्तं नृपमेतमभाषत॥१६८॥
राजन्यावदयं देहस्तावद्दुःखक्षयः कुतः।
तदनद्वेगतः साध्यः पुरुषार्थः सदा बुधैः॥१६९॥
यावच्च नाच्युतेशानविरिञ्चिष्वेकतामतिः।
भेदोपासनजास्तावद्भङ्गुरा एव सिद्धयः॥१७०॥
तदभेदधिया ध्यायन्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान्।
धैर्येण द्वादशान्यानि वर्षाणीह तपः कुरु॥१७१॥
ततः प्राप्स्यसि कान्तां तामन्ते सिद्धिं च शाश्वतीम्।
देहस्तु तावत्सिद्धस्ते पश्यायं दिव्यसौरभः॥१७२॥
समन्त्रं च गृहाणेदं मम कृष्णमृगाजिनम्।
कृतावगुण्ठनो येन भ्रमरैर्नहि वाध्यसे॥१७३॥
इत्युक्त्वाजिनमन्त्रौ स तस्मै दत्त्वा मुनिर्ययौ।
तथेत्यात्तधृतिः सोऽपि तीर्थे तत्रावसन्नृपः॥१७४॥
द्वादशाब्दोषितं तं च तपसाराधितेश्वरम्।
भूपं कुमुदिनी दैत्यकन्या सा स्वयमभ्यगात्॥१७५॥

वह पेय शायद वैसा घृणित था भी नहीं। वह दैत्यकन्या मेरी परीक्षा ले रही थी; क्योंकि सिर पर डाले गये उस पेय से अब भी एक दिव्य सुगन्ध आ रही थी। जो भाग्यहीन होते हैं, वे बहुत कष्ट उठाकर भी कोई फल नहीं पाते; क्योंकि विधाता ही उनके प्रतिकूल होते हैं" ॥१६२-१६३॥

राजा भूनन्दन यह सब सोच ही रहे थे कि असुरकन्या ने उनके शरीर पर जो पेय छिड़क दिया था, उसकी गन्ध से आकृष्ट भौंरों ने उन्हें घेर लिया ॥१६४॥

हाय, जैसे वेताल को जगा देने का दुःखद फल अल्पपराक्रमी को भोगना पड़ा था, वैसे ही इतना कष्ट उठाने के बाद, कहाँ तो मुझे इष्ट फल मिलता, कहाँ यह अनिष्ट परिणाम भुगतना पड़ रहा है ॥१६५॥

इस प्रकार सोचते हुए राजा को जब भौंरे डंक मारने लगे, तब दुःखी होकर उन्होंने शरीरत्याग करने का विचार किया ॥१६६॥

संयोग से, उसी समय उस मार्ग से कोई मुनिपुत्र आये और उन्होंने राजा को उस स्थिति में देखा ॥१६७॥

दया से द्रवित होकर वे ऋषि राजा के पास आये। उन्होंने भौंरों को हटा दिया और राजा से उनका वृत्तान्त पूछने के बाद कहा—"राजन् जबतक यह शरीर है, तबतक दुःखों का अन्त कैसे हो सकता है? अतः, बुद्धिमान् पुरुषों को अविचलित होकर सदा पुरुषार्थ करते रहना चाहिए ॥१६८-१६९॥

जबतक विष्णु, शिव और ब्रह्मा के प्रति मनुष्य में एकता की बुद्धि नहीं होती, तबतक भेद-बुद्धि से की गई उपासना की सिद्धियाँ क्षणिक ही होती हैं। अतः, तुम अभेद बुद्धि से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर का ध्यान करते हुए, धैर्यपूर्वक, वहाँ बारह वर्षों तक तपस्या करो ॥१७०-१७१॥

तब तुम अपनी उस प्रिया को पाओगे और अन्त में तुम्हें अक्षय सिद्धि भी मिलेगी। दिव्य सौरभवाला तुम्हारा यह शरीर तो सिद्ध हो ही चुका है। मन्त्र के सहित मेरा यह काले मृग का चर्म लो, जिसे ओढ़ लेने पर भौंरे तुम्हें तंग न कर सकेंगे ॥१७२-१७३॥

यह कहकर तथा मृगचर्म और मन्त्र उन्हें देकर वे मुनि चले गये। उनकी आज्ञा मानकर राजा धैर्यपूर्वक वहीं रहे ॥१७४॥

राजा ने वहाँ बारह वर्षों तक रहकर, अपनी तपस्या से भगवान् शिव की आराधना की। तब वह दैत्यकन्या कुमुदिनी स्वयं ही राजा के पास आई ॥१७५॥

तया साकं स पातालं गत्वा दयितया चिरम्।
राजा भूनन्दनो भोगान्भुञ्जानः सिद्धिमाप्तवान् ॥१७६॥
इत्यनुद्वेगशीला ये भव्या धैर्यावलम्बिनः।
दूरभ्रष्टामपि निजां भूमिं सम्प्राप्नुवन्ति ते ॥१७७॥
त्वं चेह भाविकल्याणः श्रीदर्शन सुलक्षणः।
तदाहारं विनात्मानं किमुद्वेगादुपेक्षसे ॥१७८॥
इत्युक्तो द्यूतशालान्तः सख्या मुखरकेण सः।
तेन श्रीदर्शनो रात्रौ निराहारो जगाद तम् ॥१७९॥
यथात्थ त्वं कुलीनः सन्किन्त्वस्यां पुरि लज्जया।
निर्गन्तुं न वहिः शक्नोमीदृशो द्यूतदुर्गतः ॥१८०॥
तदस्यामेव चेद्रात्रौ विदेशे गमनं क्वचित्।
न निषेधसि मे मित्र तदाहारं करोम्यहम् ॥१८१॥
तच्छ्रुत्वैव तथेत्युक्त्वा तस्मै मुखरकोऽथ सः।
आनीय भोजनं प्रादात्सोऽपि तद्बुभुजे तदा ॥१८२॥
भुक्त्वैव च स तेनैव सह श्रीदर्शनस्ततः।
प्रायात्स्नेहानुयातेन सख्या देशान्तरं प्रति ॥१८३॥
गच्छन्तं चात्र तं मार्गे यक्षौ दैवादपश्यताम्।
यदृच्छयागतो व्योम्ना जननीजनकौ निशि ॥१८४॥
सौदामिन्यट्टहासौ तौ याभ्यां विप्रस्य वेश्मनि।
स देवदर्शनस्यात्र जातमात्रो न्यधीयत ॥१८५॥
तौ विज्ञाय तमापन्नं द्यूतव्यसननिर्धनम्।
विदेशप्रस्थितं स्नेहाददृश्यावूचतुर्दिवः ॥१८६॥
भोः श्रीदर्शन मात्रा ते देवदर्शनभार्यया।
भूमावाभरणान्यन्तः स्थापितानि स्ववासके ॥१८७॥
तानि गत्वा गृहीत्वा त्वं निश्चिन्तं मालवं व्रज।
ऊर्जितश्रीर्हि तत्रास्ति श्रीसेन इति भूपतिः ॥१८८॥
स च द्यूतविपत्क्लिष्टः कुमारत्वे भृशं यतः।
अतस्तेन कृतः स्फीतः कितवानां महामठः ॥१८९॥
लभन्ते कितवास्तत्र वसन्तोऽभीष्टभोजनम्।
तद्वत्स तत्र गच्छ त्वं भद्रं तव भविष्यति ॥१९०॥

उस स्त्री के पास पाताल में आकर राजा भूनन्दन ने चिरकाल तक सुख-भोग किया और अन्त में उन्होंने सिद्धि पाई ॥१७६॥

इस प्रकार, जो भाग्यशाली पुरुष, उद्वेगरहित होकर, धैर्य धारण करते हैं, वे अपने पद से दूर हट जाने पर भी, फिर उस पद को प्राप्त कर लेते हैं ॥१७७॥

"हे श्रीदर्शन, तुम उत्तम लक्षणों से युक्त हो, तुम्हारा कल्याण होनेवाला है, फिर तुम उद्वेग के कारण, आहार छोड़कर, इस तरह अपने शरीर की उपेक्षा क्यों करते हो?" ॥१७८॥

द्यूतशाला में जब श्रीदर्शन के मित्र मुखरक ने यह कहा, तब रात का भूखा-प्यासा श्रीदर्शन उससे बोला—"तुमने ठीक ही कहा है, लेकिन मैं कुलीन हूँ। जूए ने मेरी ऐसी दुर्गति कर दी है, अतः लज्जा के कारण मैं नगर में बाहर नहीं निकल पाता। इसलिए, मैं आज ही की रात कहीं विदेश जाना चाहता हूँ। यदि तुम मुझे न रोको, तो मैं भोजन कर सकता हूँ" ॥१७६—१८१॥

यह सुनकर मुखरक ने कहा कि ऐसा ही होगा। फिर, उसने भोजन लाकर दिया और श्रीदर्शन ने भोजन कर लिया ॥१८२॥

भोजन करने के बाद ही श्रीदर्शन ने दूसरे देश के लिए प्रस्थान किया। स्नेह के कारण उसका मुखरक भी उसके साथ ही चला ॥१८३॥

रात्रि के समय, मार्ग में जाते हुए, संयोग से उसने दो यक्षों को स्वेच्छापूर्वक आकाश में आया हुआ देखा। वे उसके पिता-माता, अट्टहास और सौदामिनी थे, जिन्होंने जन्म के समय ही उसे देवदर्शन नामक ब्राह्मण के घर पर रख दिया था ॥१८४-१८५॥

अट्टहास और सौदामिनी ने श्रीदर्शन को आपत्ति में पड़ा, जूए के व्यसन से निर्धन बना तथा विदेश जाता हुआ, देखकर अदृश्य रहते हुए ही, आकाश से कहा—"हे श्रीदर्शन, तुम्हारी माँ ने जो देवदर्शन की स्त्री थी, अपने घर में जमीन के अन्दर आभूषण गाड़ रखे हैं। तुम जाकर उन्हें ले लो और निश्चिन्त होकर मालव चले जाओ। वहाँ अत्यन्त धनशाली श्रीसेन नामक राजा है ॥१८६—१८८॥

कुमारावस्था में उसने जूए की विपत्ति में पड़कर बड़ा कष्ट उठाया था, अतः उसने जुआड़ियों के लिए एक बहुत बड़ा मठ बनवा दिया है। यहाँ रहनेवाले जुआड़ी अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन पाते हैं। इसलिए वत्स, तुम वहीं चले जाओ। वहाँ तुम्हारा कल्याण होगा ॥१८६-१६०॥

इति वाचं दिवः श्रुत्वा गत्वा श्रीदर्शनो गृहम्।
भुवः खातात्समित्रस्तान्यादत्ताभरणानि सः ॥१९१॥

ततो हृष्टः समं तेन सख्या मुखरकेण सः।
देवतानुग्रहं मत्वा प्रतस्थे मालवं प्रति ॥१९२॥

गत्वा सुदूरमध्वानं तया रात्र्या दिनेन च।
सायं स वहुसस्याख्यं ग्रामं तेन सहाप्तवान् ॥१९३॥

श्रान्तश्च तस्य ग्रामस्य नातिदूरे सुहृत्सखः।
उपाविशत्तडागस्य तीरे विमलपाथसः ॥१९४॥

तत्र तस्मिन्क्षणं धौतपादे पीताम्भसि स्थिते।
काप्यनन्यसमा रूपे कन्या तोयार्थमाययौ ॥१९५॥

नीलोत्पलसवर्णाङ्गलेखा रतिरिवैकिका।
हरदग्धस्य कामस्य धूमेन श्यामलीकृता ॥१९६॥

सा तं श्रीदर्शनं दृष्ट्वा प्रेमनिर्भरया दृशा।
उपेत्य दर्शनप्रीतं सवयस्यमभाषत ॥१९७॥

कुत्रागतौ महाभागौ यवामिह विपत्तये।
किमज्ञानाज्ज्वलत्यग्नौ पतितौ स्थः पतङ्गवत् ॥१९८॥

एतच्छ्रुत्वा स सम्भ्रान्तः कन्यां मुखरकोऽत्र ताम्।
पप्रच्छ का त्वं किं चैतत्त्वयोक्तं कथ्यतामिति ॥१९९॥

ततोऽब्रवीत्सा संक्षेपाद्वच्म्येतच्छृणुतं युवाम्।
अस्त्यग्रहारः सुमहान्सुघोषो नाम विश्रुतः ॥२००॥

तत्राभूत्पद्मगर्भाख्यो ब्राह्मणो वेदवित्तमः।
तस्योत्तमकुला भार्या नाम्ना शशिकलाभवत् ॥२०१॥

तस्यां च तस्यापत्ये द्वे जाते आस्तां सजन्मनः।
सुतो मुखरको नाम पद्मिष्ठेति सुताप्यहम् ॥२०२॥

स मे मुखरको भ्राता द्यूतव्यसनविप्लुतः।
बाल्येऽपि निर्गत्य गृहात्क्वापि देशान्तरं गतः ॥२०३॥

आकाश से ये बातें सुनकर श्रीदर्शन घर लौट गया। वहाँ धरती खोदकर उसने उन आभूषणों को, मित्र के साथ मिलकर, निकाल लिया ॥१६१॥

इसे देवता का अनुग्रह मानकर प्रसन्न होता हुआ श्रीदर्शन, अपने मित्र मुखरक के साथ, मालव की ओर चला ॥१६२॥

सारी रात और सारे दिन अपने मित्र के साथ चलकर, उसने लम्बा रास्ता पार किया। सन्ध्या समय वे 'बहुसस्य' नामक गाँव में पहुँचे ॥१६३॥

उस गाँव से थोड़ी ही दूर पर, निर्मल जलवाला एक तालाब था। थके हुए होने के कारण, श्रीदर्शन अपने मित्र के साथ उसी के किनारे जा बैठा ॥१६४॥

हाथ-मुंह धोकर और जल पीकर वे लोग अभी थोड़ी ही देर ठहरे होंगे कि एक अनन्य सुन्दरी कन्या वहाँ जल के लिए आई ॥१६५॥

उसके शरीर की शोभा नीलकमल के समान थी। वह भगवान् शिव के द्वारा जलाये गये कामदेव के शरीर से निकले धुएँ से साँवली पड़ी, अकेली रति के समान, जान पड़ती थी ॥१६६॥

उसने श्रीदर्शन को प्रेमभरी आँखों से देखा। उसे देखकर अपने मित्र के सहित श्रीदर्शन भी प्रसन्न हो गये थे। वह उन लोगों के पास जाकर बोली—"महाभाग, यहाँ विपत्ति में पड़ने के लिए आपलोग कहाँ से आये हैं? आप लोग अज्ञान के कारण जलती हुई आग में, पतंग की तरह, क्यों आ पड़े हैं?" ॥१६७-१६८॥

यह सुनकर भी मुखरक घबराया नहीं। उसने उस कन्या से पूछा कि आप कौन हैं और आपने जो कुछ कहा, उसका क्या अभिप्राय है? ॥१६६॥

उसने उत्तर में कहा कि मैं संक्षेप में यह वृत्तान्त कहती हूँ। आपलोग सुनें। सुघोष नामक एक बहुत बड़ा और प्रसिद्ध अग्रहार ब्राह्मण को दान में मिला गाँव है ॥२००॥

वहाँ पद्मगर्भ नाम के एक वेदज्ञ ब्राह्मण थे। उत्तम कुल में उत्पन्न उनकी स्त्री का नाम शशिकला था ॥२०१॥

उन सुजन्मा ब्राह्मण को अपनी पत्नी से दो सन्तानें हुईं—मुखरक नाम का एक पुत्र और घिष्ठा नाम की कन्या मैं ॥२०२॥

मुखरक नाम का मेरा वह भाई, जुए के व्यसन में पड़कर बचपन में ही बरबाद हो गया और घर छोड़कर किसी दूसरे देश में चला गया ॥२०३॥

तेन शोकेन पञ्चत्वं गतायां मम मातरि।
मत्पितोभयदुःखार्त्तस्त्यक्तवान्स गृहस्थितिम् ॥२०४॥
एकाकी च गृहीत्वा मां तं गवेषयितुं सुतम्।
भ्राम्यन्नितस्ततः प्रापदिमं ग्रामं विधेर्वशात् ॥२०५॥

इह चास्ति महान्ग्रामे चौरश्चौरचमूपतिः।
वसुभूतिरिति ख्यातो ब्राह्मणो नाममात्रतः ॥२०६॥
तेनेह प्राप्य पापेन सभृत्येन पितुर्मम।
तस्य प्राणाः सुवर्णञ्च शरीरान्तर्गतं हृतम् ॥२०७॥

अहं च तेन नीत्वैव गृहं बन्दीकृता सती।
सुभूतिनाम्ने पुत्राय प्रदातुं परिकल्पिता ॥२०८॥
स चास्य पुत्रो मुषितं सार्थं क्वापि गतः स्थितः।
नायात्यद्यापि मत्पुण्यैः प्रमाणं मेऽधुना विधिः ॥२०९॥
तदेष चौरो दृष्ट्वा वां कुर्यादित्याहितं ध्रुवम्।
विमुच्येथे यथैतस्मादुपायं कुरुतं तथा ॥२१०॥
एवमुक्तवतीं जातप्रत्यभिज्ञस्तदैव ताम्।
कन्यां कण्ठे समालम्ब्य रुदन्मुखरकोऽब्रवीत् ॥२११॥

हा पद्मिष्ठे स एषोऽहं भ्राता मुखरकस्तव।
बन्धुद्रोहो भगिनिके मन्दभाग्यो हतोऽस्मि हा ॥२१२॥
तच्छ्रुत्वा सापि पद्मिष्ठा विग्ना दृष्टेऽग्रजे तथा।
कृपयेवाखिलैर्दुःखैः परिवव्रे जवाद्यथा ॥२१३॥

ततस्तौ पितरावार्त्या शोचन्तौ भ्रातरावुभौ।
श्रीदर्शनः समाश्वास्य कालोचितमभाषत ॥२१४॥
शोकस्यावसरो नायं रक्ष्यो ह्यात्मैव साम्प्रतम्।
त्यक्त्वाप्यर्थं ततः कार्या चौरस्यास्य प्रतिक्रिया ॥२१५॥

एवं श्रीदर्शनेनोक्ते दुःखं संहृत्य धैर्यतः।
कर्त्तव्यसंविदं चक्रुस्ते त्रयोऽपि परस्परम् ॥२१६॥
ततः श्रीदर्शनो मान्द्यं विधायासीन्निपत्य सः।
तीरे तस्य तडागस्य कृशः पूर्वैरभोजनैः ॥२१७॥

इस शोक से मेरी माता की मृत्यु हो गई। पुत्र और स्त्री के दुःख से विकल होकर मेरे पिता ने गृहत्याग कर दिया। पुत्र का पता लगाने के लिए वे मुझे साथ लेकर इधर-उधर भटकते हुए, दैवयोग से, इस गाँव में पहुँचे ॥२०४-२०५॥

इस बड़े गाँव में वसुभूति नाम से प्रसिद्ध, चोरों का एक सरदार रहता है, जो नाममात्र के लिए ही ब्राह्मण है ॥२०६॥

उस पापी ने अपने अनुचरों के साथ यहाँ आकर, मेरे पिता को मार डाला और उन्होंने शरीर पर जो सोना पहन रखा था, उसे छीन लिया ॥२०७॥

उसने मुझे पकड़कर घर में कैद कर रखा है और अपने पुत्र सुभूति से मेरा विवाह करने का निश्चय किया है ॥२०८॥

उसका वह पुत्र व्यापारियों के एक दल को लूटने के लिए गया हुआ है और मेरे पुण्य से अभी तक लौटा नहीं है। अब मेरे भाग्य में जो होगा, सो होगा ॥२०९॥

वह चोर यदि आपलोगों को देख लेगा, तो निश्चय ही आपको भारी विपत्ति में डालेगा, अतः उससे छुटकारा पाने का आप जो उपाय कर सकें, वह करें ॥२१०॥

ऐसा कहने पर मुखरक ने उस कन्या को पहचान लिया और उसे गले से लगाकर रोते हुए कहा—"हाय बहन पद्मिष्ठा, मैं ही तुम्हारा वह अभागा भाई हूँ, जिसने माता-पिता का द्रोह किया है। हाय, मैं कहीं का नहीं रह गया" ॥२११-२१२॥

यह सुनकर और अपने बड़े भाई को देखकर पद्मिष्ठा का मन करुणा से भर आया और शीघ्र ही शोक ने चारों ओर से उसके मन को घेर लिया ॥२१३॥

तब श्रीदर्शन ने माता-पिता के लिए शोक करते हुए उन भाई-बहनों को दिलासा दिया और समयोचित बात कही ॥२१४॥

"यह शोक करने का अवसर नहीं है। इस समय तो हमें धन का त्याग करके भी अपनी रक्षा और उस चोर का प्रतीकार करना चाहिए" ॥२१५॥

श्रीदर्शन के यह कहने पर उन्होंने धैर्यपूर्वक अपने दुःख को रोका और फिर उन तीनों ने परस्पर अपने कर्त्तव्य का निश्चय किया ॥२१६॥

पिछले दिनों उपवास करने के कारण श्रीदर्शन दुबला पड़ गया था। वह बीमारी का बहाना करके ,उसी तालाब के किनारे पड़ गया ॥२१७॥

पादौ तस्य गृहीत्वा च तस्थौ मुखरको रुदन्।
पद्मिष्ठा च ययौ तस्य पार्श्वं चौरपतेर्द्रुतम् ॥२१८॥

अब्रवीच्च तडागान्ते मन्दः कोऽप्यागतः स्थितः।
पान्थस्तस्य द्वितीयश्च तत्रास्ते परिचायकः ॥२१९॥

तच्छ्रुत्वैव स चौरोऽत्र भृत्यांश्चौरान्विसृष्टवान्।
ते गत्वा तौ तथारूपौ दृष्ट्वा मुखरकं तयोः ॥२२०॥

अपृच्छन्नस्य किं भद्र कृते रोदिषि यद्भृशम्।
एतच्छ्रुत्वा कृतार्त्तिस्तांश्चौरान्मुखरकोऽब्रवीत् ॥२२१॥

अग्रजो ब्राह्मणोऽयं मे तीर्थयात्राप्रवासतः।
रोगाक्रान्तः शनैर्भ्राम्यन्निह प्राप्तोऽद्य मत्सखः ॥२२२॥

प्राप्त एव च निश्चेष्टीभूतो मामयमुक्तवान्।
उत्तिष्ठ वत्स मे दर्भसंस्तरं कुरु सत्वरम् ॥२२३॥

ब्राह्मणं कञ्चिदस्माच्च ग्रामाद्गुणिनमानय।
तस्मै ददामि सर्वस्वं नाद्य जीवाम्यहं निशि ॥२२४॥

इत्युक्तोऽहमनेनेह विदेशेऽस्तं गते रवौ।
कर्त्तव्यमूढो दुःखार्त्तो रोदनं शरणं श्रितः ॥२२५॥

तद्यूयं ब्राह्मणं कञ्चिदस्यानयत जीवतः।
यावद्ददात्ययं तस्मै स्वहस्तेन यदस्ति नौ ॥२२६॥

एष ह्यद्य ध्रुवं रात्रौ नभविष्यत्यहञ्च तत्।
दुःखं सोढुं न शक्नोमि श्वः प्रवेक्ष्यामि पावकम् ॥२२७॥

तदस्मदर्थनामेतां कुरुध्वं यत्कृपालवः।
मिलिता यूयमस्माकमिहाकारणबान्धवाः ॥२२८॥

तच्छ्रुत्वा जातकरुणाश्चौरा गत्वा तथैव तत्।
उक्त्वा तं वसुभूतिं ते स्वामिनं पुनरब्रुवन् ॥२२९॥

तदागच्छ गृहाण त्वं स्वयं तस्मात्प्रयच्छतः।
प्रतिग्रहेण विप्रात्तद्धनं ग्राह्यं निपात्य यत् ॥२३०॥

मुखरक उसका पैर पकड़कर बैठ गया और रोने लगा। पद्मिष्ठा जल्दी-जल्दी चोरों के सरदार के पास चली गई॥२१८॥

पद्मिष्ठा ने जाकर चोरों के सरदार से कहा कि तालाब के किनारे कोई राही बीमार होकर पड़ा है। उसके साथ उसका एक परिचारक भी है॥२१९॥

यह सुनते ही उस चोर ने अपने चोर नौकरों को वहाँ भेजा। वहाँ जाकर उन्होंने उन दोनों को उस हालत में देखकर पूछा कि "भद्र, क्या हुआ है और तुम इस तरह इतना क्यों रो रहे हो?" यह सुनकर और भी आर्त्त होकर मुखरक ने कहा—॥२२०-२२१॥

यह ब्राह्मण मेरा बड़ा भाई है। तीर्थयात्रा के लिए बाहर निकलकर धीरे-धीरे घूमता-फिरता यह बीमार पड़ गया और आज मेरे साथ यहाँ आया है॥२२२॥

यहाँ आते ही यह निश्चेष्ट हो गया और मुझसे बोला—"वत्स, उठो और झटपट मेरे लिए कुश का बिछौना बिछा दो। इसके बाद गाँव में से किसी गुणी ब्राह्मण को बुला लाओ, जिसे मैं अपनी सारी धन-दौलत दे दूँ; क्योंकि आज की रात मैं जीवित नहीं रह सकूँगा" ॥२२३-२२४॥

इसके ऐसा कहने पर, इस विदेश में, सूर्य के अस्त हो जाने के कारण, मैं समझ नहीं पाया कि क्या करूँ और इसीलिए दुःख से विकल होकर रोने लगा॥२२५॥

इसलिए, आप इसके जीते-जी किसी ब्राह्मण को बुला लाइए, जिससे हमलोगों के पास जो कुछ है उसे, मेरा यह भाई, उस ब्राह्मण को दे सके; क्योंकि आज रात को निश्चय ही इसकी मृत्यु हो जायगी और मैं भी यह दुःख न सह सकने के कारण, कल अग्नि में प्रवेश करूँगा। आप कृपालु हैं और अचानक आकर हमारे मित्र बन गये हैं, अतः आप हमारा इतना काम कर दीजिए" ॥२२६—२२८॥

यह सुनकर चोरों को दया आ गई। उन्होंने लौटकर सारा हाल अपने स्वामी वसुभूति को ज्यों-का-त्यों सुनाया और कहा—"ब्राह्मण अपना धन स्वयं देना चाहता है। जो धन हमें हत्या करके लेना चाहिए, उसे आप चलकर दान में ले लें॥२२९-२३०॥

इत्युक्तो वसुभूतिस्तैरवादीदेप कः क्रमः।
अनिपात्य धनादानमस्माकमनयः परः ॥२३१॥
कुर्वीत निश्चयं दोषं हृतस्वौ ह्यनिपातितः।
इत्युक्तवन्तं तं पापं भृत्याः प्रत्यूचुरत्र ते ॥२३२॥
क्वेयं शङ्का क्व हरणं क्व मुमूर्षोः प्रतिग्रहः।
प्रातर्वा तौ हनिष्यामो द्विजौ जीविष्यतो यदि ॥२३३॥
अन्यथा तु वृथा ब्रह्महत्यापापेन किं फलम्।
श्रुत्वैतत्प्रतिपेदे स वसुभूतिस्तथेति तत् ॥२३४॥
आगात्प्रतिग्रहार्थं च नक्तं श्रीदर्शनान्तिकम्।
श्रीदर्शनोऽप्यवच्छाद्य किञ्चित्किञ्चिद्ददौ श्वसन् ॥२३५॥
मात्राभरणमस्मै तत्कृत्वा ग्रस्ताक्षरां गिरम्।
ततः कृतार्थश्चौरोऽसौ सानुगोऽपि गृहान्ययौ ॥२३६॥
अथ सुप्तेषु चौरेषु रात्रौ श्रीदर्शनस्य सा।
पद्मिष्ठोपाययौ तस्य पार्श्वं मुखरकस्य च ॥२३७॥
ततस्त्रयोऽपि ते तूर्णं मन्त्रयित्वा ययुस्ततः।
पथा चौरविहीनेन मालवं प्रति तं पुनः ॥२३८॥
तया रात्र्या च दूरं ते गत्वा प्रापुर्महाटवीम्।
नित्यं कण्टकितां भ्राम्यत्कृष्णसारमृगेक्षणाम् ॥२३९॥
शुष्यत्तनुलतां तारचीरचीत्काररोदिनीम्।
उन्नदद्व्याघ्रसिंहादिप्राणिभ्यो विभ्यतीमिव ॥२४०॥
तस्यां च गच्छतां तेषां क्लेशं दृष्ट्वाखिलं दिनम्।
कृपयेवोपसंहृत्य भासमस्तं ययौ रविः ॥२४१॥
ततः श्रान्ताः क्षुधार्त्तास्ते वृक्षमूलमुपाश्रिताः।
प्रदोषेऽग्निरिवि ज्वालां ददृशुस्तत्र दूरतः ॥२४२॥
ग्रामोऽयमत्र जातु स्यात्तद्गत्वालोकयाम्यहम्।
इत्युक्त्वानुसरञ्ज्वालां सोऽथ श्रीदर्शनो ययौ ॥२४३॥
प्राप्तोऽत्र वीक्षते यावत्तावद्रत्नमयं गृहम्।
स ददर्श महत्तां च तस्य ज्वालामिव प्रभाम् ॥२४४॥

चोरों के ऐसा कहने पर वसुभूति बोला—"यह क्या तरीका है? विना हत्या किये धन लेना हमारे लिए नीति-विरुद्ध है। विना उसे मार गिराये, यदि हम उसका धन ले लें, तो निश्चय ही वह हमारा अपकार करेगा।" उस पापी के ऐसा कहने पर उसके अनुचर फिर बोले—"आपकी यह शंका कैसी है? कहाँ बलपूर्वक धन छीन लेना और कहाँ एक मरते हुए व्यक्ति से धन का दान लेना! फिर भी यदि कल सवेरे तक वे जीवित रहेंगे, तो हम उन्हें मार डालेंगे। नहीं तो व्यर्थ ही ब्रह्महत्या करने से क्या लाभ है?" यह बात सुनकर वसुभूति ने 'अच्छा, ऐसा ही होगा' कहकर उनकी बात मान ली॥२३१–२३४॥

रात होने पर वह दान लेने के लिए श्रीदर्शन के पास आया। उसाँसें लेते हुए श्रीदर्शन ने भी टूटे-फूटे शब्दों में बातें करते हुए, कुछ गहने अपने पास छिपा रखे और कुछ उसे दे दिये। अपना काम बना हुआ जानकर वह चोर अपने अनुचरों के सहित घर लौट गया॥२३५-२३६॥

रात में जब सभी चोर सो गये, तब पद्मिष्ठा, श्रीदर्शन और मुखरक के पास आई ॥२३७॥

तब उन तीनों ने शीघ्रतापूर्वक परामर्श किया और चोरों से रहित मार्ग से मालवा की ओर प्रस्थान किया॥२३८॥

रात को दूर तक चलकर, वे एक बहुत बड़े वन में पहुँचे। उस वन की शरीर-लता सूख-सी गई थी, वह सदा सिहरता-सा रहता था। इधर-उधर घूमने-फिरनेवाले कृष्णसार मृग उसकी आँखों के समान थे, वह ऊँचे स्वर में चीत्कार करके रो-सा रहा था, और गर्जन करते हुए बाघ-सिंह आदि प्राणियों से जैसे वह डर-सा रहा था॥२३९-२४०॥

सारे दिन मार्ग में चलते हुए उन लोगों का कष्ट देखकर, मानों कृपा-परवश होकर सूर्य ने अपनी किरणें समेट लीं और वे अस्त हो गये॥२४१॥

थके और भूखे हुए वे लोग एक वृक्ष के नीचे आ बैठे। प्रदोष काल में उन्होंने दूर पर अग्नि की ज्वाला के समान प्रकाश देखा॥२४२॥

"निश्चय ही यह कोई गाँव है, अतः मैं जाकर इसे देखूँ", ऐसा कहकर श्रीदर्शन उस प्रकाश को लक्ष्य करके चला॥२४३॥

वहाँ पहुँचकर उसने रत्न-निर्मित एक विशाल भवन देखा, जिससे अग्नि के समान वह प्रकाश निकल रहा था॥२४४॥

तदन्तर्दिव्यरूपाञ्च यक्षिणीं बहुभिर्वृताम् ।
विपरीताङ्घ्रिभिर्यक्षैराकेकरविलोचनैः ॥२४५॥

विविधं चान्नपानं तैराहृतं तत्र वीक्ष्य सः ।
उपेत्यातिथिभागं तां वीरोऽयाचत यक्षिणीम् ॥२४६॥

सत्त्वतुष्टा च सा तस्मै यथार्थितमदापयत् ।
अन्नमात्मतृतीयस्य सन्तृप्त्यै तस्य वारि च ॥२४७॥

तद्गृहीत्वा तदादिष्टयक्षस्कन्धाधिरोपितम् ।
आययौ स तयोः पार्श्वं पद्मिष्ठास्ववयस्ययोः ॥२४८॥

विसृज्य यक्षं बुभुजे ताभ्यां सह च तत्र सः ।
तदन्नं विविधं दिव्यं पपौ शीताच्छमम्बु च ॥२४९॥

ततः सत्त्वप्रभावाढ्यं देवांशं तमवेत्य सः ।
आत्मनो धन्यतां वाञ्छंस्तुष्टो मुखरकोऽब्रवीत् ॥२५०॥

त्वं तावत्कोऽपि देवांशः पद्मिष्ठेयं च मत्स्वसा ।
लोकैकसुन्दरी तत्ते दत्तैषाद्य मयोचिता ॥२५१॥

तच्छ्रुत्वा सुहृदं तं सानन्दः श्रीदर्शनोऽभ्यधात् ।
मयाभिनन्दितमिदं त्वद्वाक्यं पूर्वकाङ्क्षितम् ॥२५२॥

एतां तु परिणेष्यामि स्थानं प्राप्य यथाविधि ।
इत्यूचिवान्स तौ चोभौ हृष्टास्तामनयन्निशाम् ॥२५३॥

प्रातश्च प्रस्थिताः सर्वे ततः प्रापुः क्रमेण ते ।
नगरं मालवेन्द्रस्य तस्य श्रीसेनभूपतेः ॥२५४॥

तत्र प्रविविशुस्तेऽथ सद्यः श्रान्तागता गृहम् ।
विश्रान्तिहेतोः कस्याश्चिद् वृद्धाया द्विजयोषितः ॥२५५॥

तत्र तैश्च प्रसङ्गोक्तनिजवृत्तान्तनामभिः ।
विग्नेव दृष्टा पृष्टा सा वृद्धयोषिदुवाच तान् ॥२५६॥

अहं यशस्वती नामराजसेवोपजीविनः ।
भार्या सत्यव्रताख्यस्य विप्रस्येहामलान्वया ॥२५७॥

मृते भर्तर्यपुत्रायास्तस्या मे वृत्तयेऽमुना ।
तज्जीवनचतुर्भागो दत्तो राज्ञा दयालुना ॥२५८॥

भवन में, उलटे पैरों और टेढ़ी आँखोंवाले बहुत से यक्षों से घिरी हुई, दिव्य रूपवाली एक यक्षिणी को देखा, जिसके लिए वे यक्ष अनेक प्रकार के भोजन और पेय पदार्थ ले आये थे। वीर श्रीदर्शन ने आगे बढ़कर उस यक्षिणी से अपने लिए उस भोजन में से अतिथि का भाग माँगा ॥२४५-२४६॥

उसकी वीरता से प्रसन्न होकर, उस यक्षिणी ने श्रीदर्शन के सहित तीनों के सन्तोष के लिये, माँगने के अनुसार, अन्न और जल दिया ॥२४७॥

यक्षिणी की आज्ञा से वह अन्न-जल एक यक्ष के कन्धे पर रखकर श्रीदर्शन पद्मिष्ठा और अपने मित्र के पास पहुँचा ॥२४८॥

श्रीदर्शन ने यक्ष को विदा कर दिया और उन दोनों के साथ वह दिव्य अन्न खाया, जो अनेक प्रकार का था। फिर उन लोगों ने शीतल तथा स्वच्छ जल पिया ॥२४९॥

श्रीदर्शन में देवता का अंश जानकर और उसकी वीरता तथा प्रभाव देखकर, मुखरक ने अपने को धन्य मानते हुए, सन्तुष्ट होकर कहा—"तुम कोई देवांशी जान पड़ते हो, अतः आज मैं तुम्हें अपनी यह बहन देता हूँ, जो तुम्हारे योग्य है और इस लोक में एकमात्र सुन्दरी है" ॥२५०-२५१॥

यह सुनकर श्रीदर्शन बहुत आनन्दित हुआ। उसने मुखरक से कहा—"तुम्हारी यह बात मैं स्वीकार करता हूँ। मैं पहले से ही इसकी इच्छा रखता था। अपने स्थान पर पहुँचकर मैं इससे विधिपूर्वक विवाह करूँगा।" श्रीदर्शन के ऐसा कहने पर, उन दोनों ने प्रसन्नतापूर्वक वह रात बिताई ॥२५२-२५३॥

सवेरा होने पर उन सभी ने वहाँ से प्रस्थान किया और क्रमशः वे मालवराज महाराज श्रीसेन के नगर में जा पहुँचे ॥२५४॥

वहाँ, थककर आये हुए उन लोगों ने, विश्राम करने के लिए, एक वृद्धा ब्राह्मणी के घर में प्रवेश किया ॥२५५॥

बातचीत के सिलसिले में उन लोगों ने अपने नाम और अपना सारा हाल कह सुनाया। उनका वृत्तान्त सुनकर वह वृद्धा उद्विग्न दीख पड़ी और कारण पूछने पर उसने उन लोगों से कहा—॥२५६॥

"सत्यव्रत नाम के एक ब्राह्मण यहाँ रहते थे। वे राजा के यहाँ नौकरी करते थे। कुलीन वंश में उत्पन्न, यशस्वती नाम की मैं उन्हीं की पत्नी हूँ ॥२५७॥

मेरे पति के मर जाने पर, दयालु राजा मेरे निर्वाह के लिए उनकी वृत्ति (वेतन) का चौथा भाग मुझे देने लगे; क्योंकि मेरे कोई पुत्र नहीं था ॥२५८॥

अद्य चैष ममापुण्यैर्विश्वाप्यायकरोऽपि सन्।
गृहीतो राजशशभृद्वैद्यासाध्येन यक्ष्मणा ॥२५९॥
मन्त्राश्चौषधयश्चास्मिन्क्रमन्ते नैव तद्विदाम्।
एकेन तु प्रतिज्ञातमस्याग्ने मन्त्रवादिना ॥२६०॥
यदि वीरः सहायो मे तादृग्भवति कोऽपि तत्।
वेतालसाधनेनाहं रुजं हन्यामिमामिति ॥२६१॥
ततो हतेऽपि पटहे यदा प्राप्तो न तादृशः।
वीरः कोऽपि तदा राजा सचिवानेवमादिशत् ॥२६२॥
कितवानां कृते योऽयमिह ख्यातो महामठः।
आगन्तुकोऽत्र कितवो वीरश्चिन्त्यः स कश्चन ॥२६३॥
कितवा निरपेक्षा हि दारबन्धुधनोज्झिताः।
निर्भया वृक्षमूलादिशायिनो योगिनो यथा ॥२६४॥
इति राज्ञा समादिष्टैर्मन्त्रिभिस्तन्मठाधिपः।
तथैवोक्तो विचिनुते वीरमागन्तुकं सदा ॥२६५॥
यूयं च कितवास्त्वं च तस्मिन्कर्मणि चेत्क्षमः।
तन्नयाम्यहमेवाद्य त्वां श्रीदर्शन तं मठम् ॥२६६॥
सत्कारं प्राप्नुयास्त्वं च राजतो मम च त्वया।
कृता भवेदुपकृतिर्दुःखं प्राणान्तकृद्धि मे ॥२६७॥
एवमुक्तवतीं तां च वृद्धां श्रीदर्शनोऽब्रवीत्।
बाढं शक्तोऽस्मि तत्कार्यं कर्त्तुं तन्नय मां मठम् ॥२६८॥
एतच्छ्रुत्वा सपञ्चिष्ठं सा तं मुखरकान्वितम्।
नीत्वा वृद्धामठे तत्र मठाधिपतिमभ्यधात् ॥२६९॥
ब्राह्मणो द्यूतकारोऽयं राजार्थे मन्त्रवादिनः।
तस्य साहायके शक्तो वीरो देशान्तरागतः ॥२७०॥
तच्छ्रुत्वा मठपः पृष्ट्वा तं तथेत्येव वादिनम्।
श्रीदर्शनं स सत्कृत्य निनायाशु नृपान्तिकम् ॥२७१॥
तत्र चावेदितस्तेन राजानं स ददर्श तम्।
श्रीदर्शनः पाण्डुकृशं शशाङ्कमिव पार्वणम् ॥२७२॥

हमारे पाप के कारण आज वह राजचन्द्र, जो समस्त संसार का पोषण करनेवाला है, वैद्यों के लिए भी असाध्य, क्षयरोग[1] से ग्रस्त है ॥२५९॥

मन्त्र जाननेवालों के मन्त्रों और ओषधि जाननेवालों की औषधियों से इस रोग में कोई लाभ नहीं हुआ; किन्तु एक मन्त्रवादी ने राजा से प्रतिज्ञा की है कि यदि कोई वीर मेरी सहायता करने के लिए तैयार हो, तो मैं वेताल की साधना करके इस रोग को दूर कर दूँगा ॥२६०-२६१॥

ढिंढोरा पिटवाने पर भी जब वैसा कोई वीर न मिला, तब राजा ने अपने मन्त्रियों से कहा—'यहाँ जुआड़ियों के लिए जो प्रसिद्ध मठ है, उसमें जाकर कोई वीर जुआड़ी ठहरे, तो उसपर आप लोग नजर रखें; क्योंकि जुआड़ी लोग स्त्री, सम्बन्धी तथा धन का त्याग करके निरपेक्ष रहते हैं, वे निर्भय होते हैं और योगियों के समान पेड़ों के नीचे सो जाते हैं।' ॥२६२--२६४॥

राजा का ऐसा आदेश पाकर मन्त्रियों ने यह बात मठ के अधिकारी को बतला दी और तब से वहाँ आकर ठहरनेवाले वीरों पर वह नजर रखता है ॥२६५॥

तुम लोग भी जुआड़ी हो; श्रीदर्शन, यदि तुमसे यह काम हो सके, तो मैं आज ही तुम्हें उस मठ में ले चलूँ ॥२६६॥

इसके लिए तुम राजा से सत्कार पाओगे और मैं भी तुम्हारा उपकार मानूँगी, क्योंकि यह दुःख मेरे लिए प्राणान्तक हो रहा है" ॥२६७॥

वृद्धा के ऐसा कहने पर श्रीदर्शन बोला—"ठीक है। मैं यह काम कर सकूँगा। तुम मुझे मठ में ले चलो" ॥२६८॥

यह सुनकर वृद्धा, पद्मिष्ठा तथा मुखरक के सहित श्रीदर्शन को मठ में ले गई और उसने मठ के अधिकारी से कहा कि "यह ब्राह्मण जुआड़ी है, वीर है, देशान्तर से आया है और राजा के लिए मन्त्रवादी की सहायता करने में समर्थ है" ॥२६९-२७०॥

वृद्धा की बात सुनकर, मठ के अधिकारी के पूछने पर, जब श्रीदर्शन ने इस बात की स्वीकृति दी, तब उसका सत्कार करके वह शीघ्र ही उसे राजा के पास ले गया ॥२७१॥

उसने जब श्रीदर्शन को राजा के सम्मुख उपस्थित किया, तब श्रीदर्शन ने नये चन्द्रमा के समान पीले और दुर्बल उस राजा को देखा ॥२७२॥

---

[1] दक्ष के शाप के कारण चन्द्रमा के क्षय की कथा प्रसिद्ध है।—अनु०

राजापि प्रणतं भव्यमुपविष्टं विलोक्य तम्।
आकारतुष्टः श्रीसेनो जाताश्वासो जगाद सः ॥२७३॥

त्वद्यत्नादेष मे रोगो नाशमेष्यत्यसंशयम्।
एतत्त्वद्दर्शनध्वस्तपीडा वक्ति हि मे तनुः ॥२७४॥

तत्कुरुष्वार्य साहाय्यमित्युक्ते तेन भूभृता।
देव किं नाम वस्त्वेतदिति श्रीदर्शनोऽब्रवीत्॥२७५॥

अथानाय्य स राजा तं मन्त्रवादिनमभ्यधात्।
अयं वीरः सहायस्ते यत्त्वयोक्तं कुरुष्व तत् ॥२७६॥

तच्छ्रुत्वा मन्त्रवादी तं श्रीदर्शनमुवाच सः।
वेतालाह्वानसाहाय्ये समर्थो भद्र चेदसि ॥२७७॥

तत्त्वं कृष्णचतुर्दश्यामद्यैवास्यां निशागमे।
इह श्मशानमागच्छेरन्तिकं मम सिद्धये ॥२७८॥

इत्युक्त्वा स ततोऽयासीत्तपस्वी मन्त्रसाधकः।
श्रीदर्शनोऽप्यगच्छत्तं मठमामन्त्र्य भूपतिम् ॥२७९॥

तत्र पद्मिष्ठया साकं भुक्त्वा मुखरकेण च।
एकः कृपाणभृद्रात्रौ श्मशानं तज्जगाम सः ॥२८०॥

भूरिभूताकुलं शून्यमशिवं निनदच्छिवम्।
गाढान्धकारमालोकं कमप्युपचितं दधत् ॥२८१॥

तत्रास्पदे विरुद्धानां वीरो भ्रान्त्वा ददर्श सः।
श्रीदर्शनो मध्यभागस्थितं तं मन्त्रसाधकम् ॥२८२॥

भस्मानुलिप्तसर्वाङ्गं धृतकेशोपवीतकम्।
प्रेतवस्त्रकृतोष्णीषं संवीतासितवाससम् ॥२८३॥

उपेत्यावेदितात्मा च स तं श्रीदर्शनस्ततः।
आवद्धकक्ष्यः पप्रच्छ ब्रूहि किं करवाणि ते ॥२८४॥

गच्छार्धक्रोशमात्रेऽस्ति पश्चिमायामितो दिशि।
चिताग्नितापनिर्दग्धपल्लवः शिंशपातरुः ॥२८५॥

तस्य स्थितः शवो मूले तमक्षतमिहानय।
इति सोऽपि तमाह स्म साधको हृष्टमानसः ॥२८६॥

राजा श्रीसेन ने भी झुककर बैठे हुए भव्य रूपवाले श्रीदर्शन को देखा। उसका रंग-रूप देखकर राजा सन्तुष्ट हुए। उन्हें भरोसा हुआ। उन्होंने कहा—"निश्चय ही तुम्हारे प्रयत्न से मेरा रोग नष्ट हो जायगा। यह बात मेरा शरीर भी कह रहा है; क्योंकि तुम्हें देखने भर से ही उसकी पीड़ा जाती रही है; अतः आर्य, तुम मेरी सहायता करो।" राजा के ऐसा कहने पर श्रीदर्शन बोला—"महाराज, यह ऐसी कौन-सी बड़ी बात है"॥२७३-२७५॥

अब राजा ने उस मन्त्रवादी को बुलाकर कहा—"यह पराक्रमी तुम्हारी सहायता करेगा, इसलिए तुमने जो कहा था, वह करो"॥२७६॥

यह सुनकर मन्त्रवादी ने श्रीदर्शन से कहा—"भद्र, यदि वेताल के आवाहन में तुम मेरी सहायता कर सकते हो, तो आज, कृष्ण-चतुर्दशी को, रात पड़ने पर, इस कार्य की सिद्धि के लिए, मेरे पास श्मशान में आओ"॥२७७-२७८॥

यह कहकर मन्त्र-साधक उस तपस्वी के चले जाने पर, राजा की आज्ञा लेकर श्रीदर्शन भी मठ में गया॥२७९॥

वहाँ पद्मिष्ठा और मुखरक के साथ भोजन करने के बाद, रात के समय, वह एक कृपाण लेकर अकेला श्मशान में गया॥ २८०॥

वह स्थान बहुत से भूतों से आकुल था, सूना था, अपवित्र था और वहाँ सियार रो रहे थे। वहाँ गाढ़ा अँधेरा फैला हुआ था, जिसके बीच जलती हुई चिताओं का मद्धिम प्रकाश कहीं-कहीं दीख पड़ता था॥२८१॥

श्रीदर्शन ने उस भयानक स्थान में घूमते हुए, श्मशान के बीच में बैठे मन्त्र-साधक को देखा॥२८२॥

उसने सारे शरीर में भस्म लगा रखा था, केश और यज्ञोपवीत धारण किया था, शव के वस्त्र की पगड़ी बाँधी थी और काले वस्त्र धारण किये थे॥२८३॥

श्रीदर्शन ने उसके पास जाकर अपना परिचय दिया और कमर कसकर पूछा कि मुझे आपके लिए क्या करना है?॥२८४॥

उस साधक ने प्रसन्न मन से श्रीदर्शन से कहा—"यहाँ से पश्चिम दिशा की ओर आध कोस तक चले जाओ। वहाँ अशोक का एक वृक्ष है, जिसके पल्लव चिता की अग्नि के ताप से जल गये हैं। उसके नीचे एक शव पड़ा है। उसे तुम ज्यों-का-त्यों उठा लाओ"॥२८५-२८६॥

ततस्तथेति स गतस्तत्र श्रीदर्शनो द्रुतम् ।
अन्येन नीयमानं तं केनापि शवमैक्षत ॥२८७॥
धावित्वा तस्य च स्कन्धाच्चकर्ष तममुञ्चतः ।
मुञ्च दाह्यं क्व मे मित्त्रं नयस्येतमिति ब्रुवन् ॥२८८॥
ततः सोऽपि द्वितीयोऽत्र तं श्रीदर्शनमब्रवीत् ।
न मोक्ष्यामि मम ह्येष मित्त्रं कोऽस्य भवानिति ॥२८९॥
एवं तयोरुभयतः स्कन्धयोः कर्षतोः शवः ।
वेतालानुप्रविष्टः सन्नमुञ्चद्भैरवं रवम् ॥२९०॥
तेन त्रस्तो द्वितीयः स हृत्स्फोटेन व्यपद्यत ।
श्रीदर्शनश्चचालाथ स गृहीत्वैव तं शवम् ॥२९१॥
तावच्चात्र द्वितीयः स मृतोऽप्युत्थाय पूरुषः ।
वेतालाधिष्ठितो रुन्धंस्तं श्रीदर्शनमुक्तवान् ॥२९२॥
तिष्ठ स्कन्धार्पितं कृत्वा मित्रं मे मा स्म गा इति ।
ततः स भूताविष्टं तं मत्वा श्रीदर्शनोऽभ्यधात् ॥२९३॥
किं प्रमाणं तवैतस्य मित्त्रत्वे मित्त्रमेष मे ।
तच्छ्रुत्वा सोऽपरोऽवादीत्प्रमाणमयमेव नौ ॥२९४॥
श्रीदर्शनस्ततोऽवोचन्मित्त्रं स्वं तर्हि वक्त्यसौ ।
ततस्तत्स्कन्धवर्त्ती स सवेतालः शवोऽब्रवीत् ॥२९५॥
अहमेवं ब्रुवे मह्यमाहारं यः प्रयच्छति ।
क्षुधिताय स मे मित्त्रं स्वेच्छं नयतु मां च सः ॥२९६॥
एतच्छ्रुत्वा स वेतालो द्वितीयः सोऽवदच्छवः ।
मम नास्त्यस्य चेदस्ति तदाहारं ददातु ते ॥२९७॥
तच्छ्रुत्वाहं ददामीति वदन्यावत्तमेव सः ।
श्रीदर्शनो निजांसस्थवेतालाहारसिद्धये ॥२९८॥
हन्ति खड्गेन तावत्स हन्यमानः स्वसिद्धितः ।
अन्तर्दधे द्वितीयोऽत्र सवेतालः शवस्तदा ॥२९९॥
अथ श्रीदर्शनं तं स वेतालोंऽसस्थितोऽब्रवीत् ।
प्रतिपन्नमिदानीं मे भोजनं दीयतामिति ॥३००॥

'अच्छी बात है' कहकर श्रीदर्शन शीघ्रतापूर्वक वहाँ से चल पड़ा। वहाँ जाकर उसने देखा कि उस शव को कोई दूसरा आदमी लिये जा रहा है। श्रीदर्शन ने दौड़कर उसके कन्धे से शव को खींचते हुए कहा—"इसे छोड़ दो। मुझे इस मित्र का दाह-संस्कार करना है। तुम इसे कहाँ लिये जा रहे हो?" ॥२८७-२८८॥

तब उस दूसरे आदमी ने भी श्रीदर्शन से कहा—"यह मेरा मित्र है। मैं इसे न छोड़ूँगा। आप इसके कौन हैं?" ॥२८९॥

उस शव में वेताल प्रवेश कर गया था। इस प्रकार, जब वे दोनों उस शव को दो ओर से खींच रहे थे, तब उसने बड़ा भयानक शब्द किया ॥२९०॥

इससे दूसरा आदमी डर गया। हृदय फट जाने से उसकी मृत्यु हो गई और श्रीदर्शन उस शव को लेकर चल पड़ा ॥२९१॥

किन्तु इसी बीच, मरा हुआ वह दूसरा आदमी भी उठ खड़ा हुआ; क्योंकि उसमें भी वेताल ने प्रवेश पा लिया था। उसने श्रीदर्शन को रोकते हुए कहा—"ठहरो, मेरे मित्र को कन्धे पर लेकर मत जाओ।" श्रीदर्शन उसे प्रेत से आविष्ट जानकर बोला—"यह तुम्हारा मित्र है, इस बात का तुम्हारे पास क्या प्रमाण है? यह तो मेरा मित्र है।" यह सुनकर दूसरे ने कहा—'हम दोनों का प्रमाण यही है' ॥२९२—२९४॥

तब श्रीदर्शन ने कहा कि यही बतलाओ कि इसका मित्र कौन है। इसपर उसके कन्धे पर पड़े हुए उस शव ने, जिसमें वेताल का निवास हो गया था, कहा—"यह बात मैं बतलाता हूँ। जो मुझ भूखे को भोजन दे दे, वही मेरा मित्र है, वही अपने इच्छानुसार मुझे ले जाय" ॥२९५-२९६॥

यह सुनकर दूसरे शव का वेताल बोला—"मेरे पास तो खाने को कुछ नहीं है। यदि इसके पास हो, तो यह दे" ॥२९७॥

यह सुनकर श्रीदर्शन ने कहा कि 'मैं देता हूँ'। ऐसा कहकर, अपने कन्धे पर स्थित वेताल का आहार जुटाने के लिए, श्रीदर्शन ज्यों ही अपनी तलवार से उस दूसरे शव को मारने चला, त्यों ही अपनी सिद्धि के द्वारा, वेताल के सहित वह शव, वहाँ से अन्तर्हित हो गया ॥२९८-२९९॥

अब श्रीदर्शन के कन्धे पर स्थित वेताल ने श्रीदर्शन से कहा—"अब तुम अंगीकार किया हुआ भोजन मुझे दो" ॥३००॥

ततो यदा न लेभेऽन्यन्मांसं श्रीदर्शनोऽत्र सः।
भोजनाय ततस्तस्मै स्वमुत्कृत्यासिना ददौ॥३०१॥

तेन तुष्टः स वेतालस्तमेवमवदत्तदा।
प्रीतोऽस्मि ते महासत्त्व देहस्तेऽस्त्वयमक्षतः॥३०२॥

नय मामधुना कार्यं तवैवेदं हि सेत्स्यति।
स साधकस्तपस्वी तु स्वल्पसत्त्वो विनङ्क्ष्यति॥३०३॥

इत्युक्तस्तेन भूत्वैव स स्वस्थाङ्गस्तदैव तम्।
नीत्वा श्रीदर्शनस्तस्मै साधकाय समर्पयत्॥३०४॥

स चाभिनन्द्य सम्पूज्य रक्तमाल्यानलेपनैः।
नरास्थिचूर्णलिखिते कोणन्यस्तास्रकुम्भके॥३०५॥

महातैलज्ज्वलद्दीपे मण्डले विपुलान्तरे।
वेतालं तं तदोत्तानमात्तप्रेततनुं व्यधात्॥३०६॥

वक्षस्थलोपविष्टश्च तस्यास्यकुहरेऽथ सः।
नरास्थिस्रुवस्रुवकरो होमं कर्त्तुं प्रचक्रमे॥३०७॥

क्षणाच्च तस्य वेतालस्यास्याज्ज्वालोदभूत्तदा।
यथा स साधकस्त्रासादुत्थायापासरत्ततः॥३०८॥

सत्त्वच्युतं च तं स्रस्तस्रुवस्रुवं परिधाव्य सः।
वेतालो व्यात्तवदनः साङ्गोपाङ्गं निगीर्णवान्॥३०९॥

तद्दृष्ट्वा खड्गमुद्यम्य यावच्छ्रीदर्शनः स तम्।
अभिधावति तावत्स वेतालस्तमभाषत॥३१०॥

भोः श्रीदर्शन धैर्येण तुष्टोऽस्म्येवंविधेन ते।
तत्सर्षपान्गृहाण त्वमिमान्मन्मुखसम्भवान्॥३११॥

एभिः शिरोनिबद्धैश्च पाणिस्थैश्चैष भूपतिः।
निवृत्तयक्ष्मदोषार्त्तिः सद्य एव भविष्यति॥३१२॥

त्वं चाचिरेण सर्वस्याः पृथ्व्या राजा भविष्यसि।
इति तद्वचनं श्रुत्वा तं स श्रीदर्शनोऽभ्यधात्॥३१३॥

साधकेन विनैतेन तत्र यास्याम्यहं कथम्।
अनेन स हतः स्वार्थलोभादिति वदेन्नृपः॥३१४॥

श्रीदर्शन को जब वहाँ दूसरा कोई मांस नहीं मिला, तब उसने तलवार से अपने ही शरीर का मांस काटकर उसे खाने को दिया ॥३०१॥

इससे वेताल सन्तुष्ट हुआ। उसने श्रीदर्शन से कहा—"वीरश्रेष्ठ! मैं तुमसे प्रसन्न हुआ। तुम्हारा शरीर फिर पहले ही जैसा हो जाय। अब तुम मुझे ले चलो। तुम्हारा काम पूरा होगा; किन्तु वह तपस्वी साधक, थोड़े साहसवाला होने के कारण, नष्ट हो जायगा" ॥३०२-३०३॥

वेताल के ऐसा कहने पर श्रीदर्शन के कटे हुए अंग फिर भर गये और उस शव को ले जाकर, उसने साधक को दे दिया ॥३०४॥

प्रसन्नतापूर्वक उस शव को लेकर उसने रक्तचन्दन और लाल फूलों से उसकी पूजा की; तब प्रेत का शरीर पाये हुए उस वेताल को उसने एक बड़े मण्डल के ऊपर चित लिटा दिया। वह मण्डल मनुष्य की हड्डियों के चूरे से बनाया गया था, उसके कोनों पर रक्त से भरे घड़े रखे हुए थे और चरबी के दीपक जल रहे थे ॥३०५-३०६॥

अनन्तर, उसकी छाती पर बैठकर, हड्डियों की स्रुवा से, वह उस शव के मुख में होम करने लगा ॥३०७॥

पल भर में उस वेताल के मुँह से ऐसी ज्वाला निकली कि वह साधक डरकर उठ खड़ा हुआ और भाग निकला ॥३०८॥

उसका साहस जाता रहा और उसके हाथ से स्रुवा छूट पड़ी। वेताल भी उसके पीछे दौड़ा और उसने मुंह फैलाकर उस साधक को पूरा-का-पूरा निगल लिया ॥३०९॥

यह देख श्रीदर्शन ज्यों ही अपनी तलवार उठा उसकी ओर दौड़ा, त्यों ही उस वेताल ने कहा—"श्रीदर्शन! तुम्हारा ऐसा साहस देखकर मैं प्रसन्न हूँ। अतः, मेरे मुख से उत्पन्न सरसों के इन दानों को तुम ले लो। इन्हें तुम राजा के सिर में बाँध देना और हाथों में दे देना। इससे शीघ्र ही उनका क्षयरोग का कष्ट दूर हो जायगा। तुम भी शीघ्र ही समस्त पृथिवी के राजा बनोगे।" वेताल की ये बातें सुनकर श्रीदर्शन ने कहा—॥३१०-३१३॥

"इस साधक के विना मैं यहाँ से कैसे जाऊँ? राजा कहेंगे कि स्वार्थ के लोभ से मैंने ही उसे मार डाला है" ॥३१४॥

एवं श्रीदर्शनेनोक्ते वेतालः स जगाद तम्।
वच्मि ते प्रत्ययं येन शुद्धिस्तव भविष्यति॥३१५॥
इमं मृतं मन्त्रिगीर्णमिहास्यैव शवस्य हि।
उदरं पाटयित्वा त्वमन्तःस्थं दर्शयिष्यसि॥३१६॥
इत्युक्त्वा स ययौ क्वापि वेतालोऽर्पितसर्षपः।
निर्गत्यैव शवात्तस्माच्छवः सोऽप्यपतद्भुवि॥३१७॥
स्वीकृत्य सर्षपान्सोऽपि गत्वा श्रीदर्शनस्ततः।
सहायाध्युषिते तस्मिन्मठे रात्रिं निनाय ताम्॥३१८॥
प्रगे राज्ञोऽन्तिकं गत्वा रात्रिवृत्तं निवेद्य तत्।
मन्त्रिभ्योऽदर्शयन्नीत्वा साधकं तं शवोदरात्॥३१९॥
ततो बवन्ध राज्ञस्तान्पाणौ मूर्ध्नि च सर्षपान्।
तेन सोऽभून्नृपो नष्टनिःशेषव्याधिनिर्वृतः॥३२०॥
अथ तुष्टः स नृपतिः श्रीसेनः प्राणदायिनम्।
अनपत्यः सुतत्वेन तं श्रीदर्शनमग्रहीत्॥३२१॥
अभ्यषिञ्चच्च तं वीरं यौवराज्ये तदैव सः।
उप्तं सुकृतबीजं हि सुक्षेत्रेषु महाफलम्॥३२२॥
ततः श्रीदर्शनः श्रीमानुपयेमे स तत्र ताम्।
पद्मिष्ठां पूर्वसेवार्थं लक्ष्मीमिव सहागताम्॥३२३॥
तया समं स भुञ्जानो भोगान्मुखरकेण च।
तद्भ्रात्रा सोऽथ तत्रासीत्पृथ्वीं वीरोऽनुपालयन्॥३२४॥

श्रीदर्शनानङ्गमञ्जर्योः कथा

एकदा जलधेस्तीरात्प्राप्य रत्नविनायकम्।
उपेन्द्रशक्तिरानीय ददौ तस्मै महावणिक्॥३२५॥
तमनर्घं समालोक्य युवराजः स भक्तितः।
तत्र प्रतिष्ठापितवान्विभवेनातिभूयसा॥३२६॥
ददौ ग्रामसहस्रं च नित्यभोगाय तत्र सः।
यात्रोत्सवं च विदधे मिलिताखिलमानवम्॥३२७॥
नृत्तवादित्रगीतैश्च तत्र सातिशयैर्निशि।
परितुष्टो गणानेवमादिदेश गणाधिपः॥३२८॥

श्रीदर्शन के ऐसा कहने पर वेताल बोला—"मैं तुम्हें विश्वास दिलाने का एक ऐसा उपाय बतलाता हूँ, जिससे तुम दोषी नहीं माने जाओगे। मैंने जिसे निगल लिया है, उस शव का पेट चीरकर तुम उसे, उसके अन्दर दिखला देना" ॥३१५-३१६॥

यह कहकर और श्रीदर्शन को सरसों देकर, वह वेताल उस शव में से निकलकर कहीं चला गया और शव जमीन पर पड़ा रहा ॥३१७॥

सरसों के दाने लेकर श्रीदर्शन भी उस मठ में चला गया, जहाँ उसके और साथी ठहरे थे। रात उसने वहीं बिताई ॥३१८॥

सवेरा होने पर वह राजा के पास गया। उसने रात का सारा वृत्तान्त राजा से कह सुनाया। मन्त्रियों को ले जाकर उसने शव के पेट में से साधक को भी दिखला दिया ॥३१९॥

अनन्तर, राजा ने सरसों के दानों को अपने हाथों और सिर में बाँध लिया। इससे राजा के रोग की सारी पीडा जाती रही ॥३२०॥

राजा इससे बहुत सन्तुष्ट हुए। वे पुत्रहीन थे। उन्होंने जीवन देनेवाले श्रीदर्शन को अपने पुत्र के रूप में ग्रहण किया ॥३२१॥

राजा ने उसी समय उसे युवराज का पद भी दे दिया। कहा है कि, अच्छी मिट्टी में डाला गया पुण्य का बीज, महान् फल देनेवाला होता है ॥३२२॥

अनन्तर, भाग्यशाली श्रीदर्शन ने उस पद्मिष्ठा के साथ विवाह किया, जो उनकी पूर्वकृत सेवाओं के चलते, लक्ष्मी के समान, उनके साथ आई थी ॥२२३॥

वीर श्रीदर्शन अपनी स्त्री पद्मिष्ठा तथा उसके भाई मुखरक के साथ, भोगों का सुख प्राप्त करते हुए, धरती का पालन करने लगे ॥३२४॥

श्रीदर्शन और अनंगमंजरी

एक दिन उपेन्द्रशक्ति नामके महासेठ ने, समुद्र के किनारे रत्ननिर्मित गणेश की एक मूर्त्ति पाई और उसे लाकर युवराज श्रीदर्शन को दिया ॥३५॥

उस बहुमूल्य मूर्त्ति को देखकर श्रीदर्शन ने भक्तिपूर्वक, बहुत-साधन लगाकर, उसकी प्रतिष्ठा की ॥२६॥

उसने नित्य-भोग के लिए एक हजार गाँव भी दिये और यात्रा का उत्सव भी किया, जिसमें वहाँ के सभी लोग सम्मिलित हुए ॥३२७॥

उस रात को वहाँ नृत्य का और गाने-बजाने का बड़ा भारी आयोजन हुआ, जिससे प्रसन्न होकर गणपति ने अपने गणों को ऐसी आज्ञा दी— ॥३२८॥

मत्प्रसादादयं भावी सम्राट् श्रीदर्शनो भुवि।
तदिहास्त्यपराम्भोधौ हंसद्वीपमिति श्रुतम् ॥३२९॥

द्वीपं तत्रास्ति च क्ष्माभृदनङ्गोदयसंज्ञकः।
अनङ्गमञ्जरीत्यस्ति स्त्रीरत्नं तस्य चात्मजा ॥३३०॥

मद्भक्ता सा च कन्या मामर्चित्वा याचते सदा।
सर्वपृथ्वीश्वरं देहि पतिं मे भगवन्निति ॥३३१॥

अतः श्रीदर्शनेनैतां पत्या संयोजयाम्यहम्।
उभयोरेतयोरेवं दत्तं भक्तिफलं भवेत् ॥३३२॥

तस्माच्छ्रीदर्शनस्तत्र नीत्वा युष्माभिरेतयोः।
अन्योन्यदर्शनं युक्त्या सम्पाद्यानीयतां द्रुतम् ॥३३३॥

संयोगस्तु शनैः सम्यक्क्रमेण भवितानयोः।
अद्यैव तु स नास्त्येव भवितव्यं हि तत्तथा ॥३३४॥

किं चैवं वणिजोऽप्यस्य प्रतिमाप्रापकस्य मे।
उपेन्द्रशक्तेरस्त्येव विहिता काप्युपक्रिया ॥३३५॥

एवं गणेशेनादिष्टा गणा रात्रौ तदैव तम्।
सुप्तं श्रीदर्शनं निन्युर्हंसद्वीपं स्वसिद्धितः ॥३३६॥

तत्र चानङ्गमञ्जर्यास्तं प्रवेश्यैव वासके।
सुप्तायाः शयने तस्या राजपुत्र्या न्यवेशयन् ॥३३७॥

प्रबुद्धः स क्षणात्तत्र ज्वलद्रत्नप्रदीपके।
द्योतमानवितानादिनानानर्घमहामणौ ॥३३८॥

राजावर्त्तोपलश्यामतले सद्वासवेश्मनि।
पर्यङ्कशयने धौतसितपट्टोत्तरच्छदे ॥३३९॥

शयानाममृतस्यन्दसुन्दरप्रसरद्युतिम्।
सर्वतः प्रस्फुरत्तारतारावलिमनोरमे ॥३४०॥

गगने धवलाम्भोदशकलोत्सङ्गवर्त्तिनीम्।
शरच्छशभृतो मूर्त्तिमिवानन्दकरीं दृशोः ॥३४१॥

श्रीदर्शनस्तां सहसा ददर्शानङ्गमञ्जरीम्।
हृष्टविस्मितविभ्रान्तश्चिन्तयामास च क्षणम् ॥३४२॥

"मेरी कृपा से यह श्रीदर्शन संशार का भावी सम्राट् होगा। सुना है कि पश्चिम समुद्र में हंसद्वीप नाम का एक द्वीप है। उस द्वीप में अनंगोदय नाम का राजा राज्य करता है। अनंगमंजरी नाम की उसकी कन्या, स्त्रियों में रत्न के समान है॥३२६-३३०॥

वह कन्या मुझमें भक्ति रखकर, मेरी पूजा करती हुई सदा यह याचना करती है कि 'हे भगवान्! मुझे पति के रूप में समस्त पृथ्वी का स्वामी दो'॥३३१॥

अतः, श्रीदर्शन को मैं उसका पति बनाता हूँ। इस प्रकार, मैं उन दोनों की ही भक्ति का फल दे सकूंगा॥३३२॥

अतः, तुम लोग श्रीदर्शन को यहाँ से ले जाकर, किसी युक्ति से उन्हें एक दूसरे को दिखा दो और फिर श्रीदर्शन को शीघ्र ही वापस ले आओ॥३३३॥

इन दोनों का मिलन तो कुछ समय बाद, उचित रीति से होगा। यह काम आज ही नहीं हो सकता; क्योंकि भवितव्य ऐसा ही है॥३३४॥

इसके अतिरिक्त मेरी प्रतिमा पानेवाले उस वणिक् उपेन्द्रशक्ति का भी कुछ उपकार मुझे करना है"॥३३५॥

श्रीगणेश से ऐसा आदेश पाकर उनके गण, उसी रात को, सोये हुए श्रीदर्शन को, अपनी सिद्धि के द्वारा, हंसद्वीप ले गये॥३३६॥

वहाँ राजकुमारी अनंगमंजरी के भवन में ले जाकर, उन्होंने उसे उसी पलंग पर सुला दिया, जिसपर वह स्वयं सोई हुई थी॥३३७॥

पलभर बाद ही श्रीदर्शन जग उठा। अचानक उसने स्वच्छ रेशमी बिछौनेवाले पलंग पर सोई हुई अनंगमंजरी को, उस सुन्दर भवन में देखा, जहाँ रत्नों के दीपक जल रहे थे। अनेक प्रकार की बहुमूल्य मणियों के वितान तने हुए थे और भूमि पर श्याम रंग के राजावर्त पत्थर जड़े हुए थे। उसकी सुन्दरता की शोभा, अमृत के फव्वारे के समान, सब ओर फैल रही थी। चारों ओर फैले हुए तारों से मनोरम आकाश में, सफेद बादलों की गोद में पड़ी हुई, शरत्कालीन चन्द्रमा की मूर्ति के समान वह राजकन्या, आँखों को आनन्द दे रही थी। उसे देखकर प्रसन्न, चकित और घबराया हुआ श्रीदर्शन थोड़ी देर (इस प्रकार) सोचता रह गया॥३३८—३४२॥

क्व सुप्तः क्व प्रबुद्धोऽस्मि किमिदं केयमङ्गना।
स्वप्नो ध्रुवमसौ सोऽपि वरमस्त्वयमीदृशः॥३४३॥
प्रबोध्य तदिमां तावत्पश्यामीति विविच्य सः।
नुदति स्म शनैरंसे पाणिनानङ्गमञ्जरीम्॥३४४॥
सापि तस्य करस्पर्शादिन्दोरिव कुमुद्वती।
व्यालोलनेत्रभ्रमरा प्रबोधं प्राप तत्क्षणम्॥३४५॥

दृष्ट्वा च तं क्षणं दध्यौ कोऽयं दिव्याकृतिर्भवेत्।
दुष्प्रवेशे प्रविष्टोऽत्र देवो नूनमसाविति॥३४६॥

उत्थाय चैतं पप्रच्छ सम्भ्रमप्रश्रयाकुला।
कस्त्वं कस्मात्कथं चेह प्रविष्टोऽह्युच्यतामिति॥३४७॥
ततः श्रीदर्शनेनोक्ते स्वोदन्ते साप्यवोचत।
तत्पृष्टा सन्दरी चास्मै देशनामान्वयान्निजान्॥३४८॥
सोत्कावन्योन्यसन्त्यक्तस्वप्नभ्रान्ती ततश्च तौ।
भूषणानां विनिमयं चक्रतुर्निश्चयाप्तये॥३४९॥

अथोभावपि गन्धर्वविवाहोत्सुकमानसौ।
ते गणा मोहयित्वा तौ निन्युर्निद्रावशं तदा॥३५०॥

जातिनिद्रं गृहीत्वा च तं तु श्रीदर्शनं ततः।
स्वगृहं प्रापयामासुस्तदैवाप्राप्तवाञ्छितम्॥३५१॥
तत्रापगतनिद्रश्च धाम्नि श्रीदर्शनो निजे।
स्थितः स्त्र्याभरणैर्युक्तं दृष्ट्वात्मानं व्यचिन्तयत्॥३५२॥
अहो किमेतत्क्व नु सा हंसद्वीपेश्वरात्मजा।
क्व तद्वासगृहं दिव्यं क्वाहं पुनरिहैव च॥३५३॥
न च स्वप्नः स यत्तानि तदीयाभरणानि मे।
तिष्ठन्त्येतानि तन्नूनं विलासः कोऽप्ययं विधेः॥३५४॥

इत्यादि चिन्तयन्पत्न्या पृष्टः सुप्तप्रबुद्धया।
पद्मिष्ठया धीर्यमाणः साध्व्या तां सोऽनयन्निशाम्॥३५५॥
प्रातश्च सर्वं राज्ञेऽपि श्रीसेनाय तदब्रवीत्।
अनङ्गमञ्जरीनामचिह्निताभरणान्वितः॥३५६॥

"मैं सोया कहाँ था और अब जगा कहाँ पर हूं ? यह क्या बात है ? यह स्त्री कौन है ? निश्चय ही यह स्वप्न है; किन्तु ऐसा यह स्वप्न भी मेरे लिए भला ही है। अब मैं इसे जगाकर देखूं तो सही।" ऐसा सोचकर श्रीदर्शन ने अपने हाथ से हौले-हौले उसका कन्धा हिलाया।।३४३-३४४।।

चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से जैसे कुमुदिनी खिल उठती है और भ्रमर उसपर मँडराने लगते हैं, वैसे ही श्रीदर्शन के स्पर्श से अनंगमंजरी जग उठी और उसकी आँखों के भ्रमर नाचने लगे, अर्थात् वह श्रीदर्शन को देखने लगी।।३४५।।

श्रीदर्शन को देखकर वह क्षण-भर के लिए विचार में पड़ गई। वह सोचने लगी—"दिव्य आकृतिवाला यह पुरुष कौन है ? इस भवन में प्रवेश करना बड़ा कठिन है, फिर भी यह यहाँ आ गया है, अतः निश्चय ही यह कोई देवता है।"।।३४६।।

सम्भ्रम और विनय से आकुल होकर वह उठ बैठी। उसने श्रीदर्शन से पूछा कि आप कौन हैं ? आप किस प्रकार और क्यों यहाँ आये हैं, यह बतलाइए।।३४७।।

श्रीदर्शन ने अपना सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया। फिर उसके पूछने पर, उस सुन्दरी ने भी अपने देश का तथा अपना नाम बतलाया और अपना वंश-परिचय भी दिया।।३४८।।

एक दूसरे के प्रति अनुरक्त होकर, उन्होंने स्वप्न की भ्रान्ति छोड़ दी और निश्चय पर पहुँचने के लिए, उन्होंने अपने गहने बदल लिये।।३४९।।

ज्यों ही उनका मन गान्धर्व विवाह कर लेने के लिए उत्सुक हुआ, गणपति के गणों ने उन्हें मोहित करके, नींद में सुला दिया।।३५०।।

जब श्रीदर्शन को नींद आ गई, तब उन्होंने तत्काल उसे उसके घर पहुँचा दिया। उसकी मनःकामना अधूरी ही रह गई।।३५१।।

वहाँ, अपने भवन में, जब श्रीदर्शन की नींद खुली, तब अपने शरीर पर स्त्रियों के गहने देखकर वह सोचने लगा—"अरे, यह सब क्या है ? हंसद्वीप के राजा की वह कन्या कहाँ गई ? उसका वह दिव्य भवन क्या हुआ ? और फिर, मैं यहीं कैसे आ पहुँचा ? यह स्वप्न तो नहीं है; क्योंकि उसके ये गहने मेरे शरीर पर विद्यमान हैं; अतः निश्चय ही यह भाग्य का कोई खिलवाड़ है।"।।३५२—३५४।।

श्रीदर्शन इस प्रकार सोच ही रहा था कि उसकी साध्वी पत्नी पद्मिष्ठा की नींद खुल गई। उसने पति से पूछकर सारा वृत्तान्त जाना और उसे धीरज बँधाया। इस तरह वह रात बीत गई।।।३५५।।

अनंगमंजरी के नाम से चिह्नित आभूषणों को धारण किये हुए श्रीदर्शन ने, सवेरा होने पर, राजा श्रीसेन से सारी बातें कह सुनाईं।।३५६।।

राजापि तत्प्रियैषी स हंसद्वीपं गवेषयन् ।
मार्गं दत्त्वापि पटहं नोपलेभे कुतश्चन ॥३५७॥
ततः श्रीदर्शनस्तत्र स विनानङ्गमञ्जरीम् ।
आसीत्स्मरज्वराक्रान्तः सर्वभोगपराङ्मुखः ॥३५८॥
नाहारं श्रद्धधे पश्यन्नाहारं तदलङ्कृतीः ।
स्वापं जहावपश्यंस्तु स्वापं तन्मुखपङ्कजम् ॥३५९॥

अत्रान्तरे च सा तत्र हंसद्वीपे नृपात्मजा ।
तूर्यशब्दैः प्रबुबुधे प्रभातेऽनङ्गमञ्जरी ॥३६०॥
स्मृत्वा तद्रात्रिवृत्तं सा दृष्टवा चालङ्कृता तनुम् ।
श्रीदर्शनालङ्करणैश्चिन्तामौत्सुक्यतो ययौ ॥३६१॥
स्वप्नभ्रान्तिहरैर्दत्तप्रेमभिर्दुर्लभे जने ।
एभिराभरणैर्नीतास्म्यहं जीवितसंशयम् ॥३६२॥
इत्यादि चिन्तयन्तीं तां पुरुषाभरणैर्युताम् ।
पितानङ्गोदयोऽकस्मात्प्रविश्यात्र व्यलोकयत् ॥३६३॥
वाससाच्छादिताङ्गीं च लज्जयावनतां ततः ।
पप्रच्छोत्सङ्गमारोप्य स तां राजातिवत्सलः ॥३६४॥
किमयं पुत्रि पुंवेषः किं त्रपा चेदृशी वद ।
मा कृथा मय्यविश्वासं बद्धाः प्राणा हि मे त्वयि ॥३६५॥
इत्यादिभिः प्रियालापैस्तेन मन्दीकृतत्रपा ।
पित्रा शनैस्तं वृत्तान्तं कृत्स्नं तस्मै शशंस सा ॥३६६॥
ततः सोऽस्याः पिता राजा तदमानुषगोचरम् ।
इन्द्रजालमिवावेत्य ययौ कर्त्तव्यसंशयम् ॥३६७॥
गत्वैव तच्च पप्रच्छ सुप्रीतं सिद्धयोगिनम् ।
महाव्रतधरं ब्रह्मसोमं नाम स्वदेशकम् ॥३६८॥
स वीक्ष्य, प्रणिधानेन नृपं तं तापसोऽभ्यधात् ।
मालवात्सत्यमानिन्ये गणैः श्रीदर्शनो नृपः ॥३६९॥
गणेश्वरः प्रसन्नो हि त्वत्पुत्र्यास्तस्य चोभयोः ।
तत्प्रसादाच्च राजा स सार्वभौमो भविष्यति ॥३७०॥

उसको प्रसन्न करने की इच्छा रखनेवाले राजा ने, हंसद्वीप का पता लगाने के लिए ढिंढोरा पिटवाया, लेकिन कहीं से भी उस द्वीप के मार्ग का पता नहीं चल सका ॥३५७॥

श्रीदर्शन ने अनंगमंजरी को न पाकर, काम-ज्वर से पीडित होकर, सब तरह के सुख-भोगों से मुँह मोड़ लिया ॥३५८॥

अनंगमंजरी के हार तथा अन्य आभूषणों को देखते हुए श्रीदर्शन की आहार की इच्छा जाती रही। नींद में अपनी प्रिया का मुख-कमल न देख पाने के कारण उसने निद्रा का त्याग कर दिया ॥३५९॥

इस बीच, हंसद्वीप में सवेरा होने पर तुरही का शब्द सुनकर, राजकन्या अनंगमंजरी की नींद खुली ॥३६०॥

रात का वृत्तान्त स्मरण करके और अपने शरीर को श्रीदर्शन के आभूषणों से अलंकृत देखकर, उत्सुकता के कारण, वह चिन्ता में पड़ गई ॥३६१॥

उसने सोचा—"मैंने सपना देखा था, इस भ्रम को ये आभूषण दूर करते हैं, पर जिसने ये आभूषण दिये हैं, उस दुर्लभ पुरुष के प्रेम के कारण, मेरा जीवन संशय में पड़ गया है" ॥३६२॥

अनंगमंजरी जब ये बातें सोच रही थी, तभी, सहसा उसके पिता अनंगोदय ने वहाँ आकर, उसे पुरुषों के आभूषण पहने हुए देखा ॥३६३॥

अनंगमंजरी लज्जा से झुक गई, उसने वस्त्र से अपने अंगों को ढक लिया। सन्तान-वत्सल राजा ने उसे गोद में भरकर पूछा—॥३६४॥

"बेटी ! तुम्हारा यह पुरुष का वेश क्यों है ? और तुम इस तरह लज्जित क्यों हो रही हो ? मुझपर व्यर्थ अविश्वास मत करो और सारी बातें बतला दो; क्योंकि मेरे प्राण तुम्हीं से बंधे हुए हैं" ॥३६५॥

राजा की इस प्रकार की मधुर बातों से जब उसकी लज्जा कम हुई, तब धीरे-धीरे उसने सारा वृत्तान्त पिता से कह दिया ॥३ . ५॥

सारी बातें सुनकर उसके पिता ने इस घटना को मनुष्य के लिए अगोचर इन्द्रजाल के सम्बन्ध समान समझा और दुविधा में पड़ गया कि इस सम्बन्ध में क्या करना चाहिए ॥३६७॥

तब वह अपने यहाँ के महाव्रतधारी और सिद्ध योगी ब्रह्मसोम के पास गया, जो उससे बहुत प्रसन्न था, और उसने पूछा कि यह सब क्या है ॥३६८॥

समाधि के द्वारा सत्य को जानकर उस तपस्वी ने राजा से कहा—"श्रीगणेश के गण सचमुच ही मालवा से राजा श्रीदर्शन को ले आये थे। भगवान् गणेश तुम्हारी कन्या और उस राजा, दोनों ही पर प्रसन्न हैं। उन्हीं की कृपा से श्रीदर्शन सार्वभौम राजा होगा। अतः, तुम्हारी कन्या के लिए इस प्रकार का पति सराहने-योग्य है।" उस ज्ञानी के ऐसा कहने पर आदर से झुका हुआ राजा बोला—॥३६९-३७१॥

तच्छ्लाघनीयो दुहितुस्तव भर्त्ता स तादृशः।
इत्युक्ते ज्ञानिना तेन प्रह्वो राजा जगाद तम् ॥३७१॥

क्व मालवः क्व भगवन्हंसद्वीपो महानयम्।
पन्था दुर्गश्च कार्यं च नेदं कालान्तरक्षमम् ॥३७२॥

तत्प्रसादपरो नित्यं त्वमेवात्र गतिर्मम।
इति राज्ञा स विज्ञप्तस्तपस्वी भक्तवत्सलः ॥३७३॥

एषोऽहं साधयाम्येतदित्युक्त्वान्तर्दधे ततः।
क्षणाच्च मालवं प्राप पुरं श्रीसेनभूभृतः ॥३७४॥

तत्र तस्मिन्प्रविश्यैव श्रीदर्शनविनिर्मिते।
देवागारे गणाधीशं प्रणम्योपविवेश सः ॥३७५॥

नमोऽस्तु तुभ्यं नक्षत्रमालामण्डितमूर्धने।
सुमेरुशिखराभाय कल्याणमयमूर्त्तये ॥३७६॥

नौमि नृत्तोत्सवोत्क्षिप्तसरलाभ्रलिहं तव।
करं त्रिभुवनागारधारणस्तम्भसन्निभम् ॥३७७॥

निधानं सर्वसिद्धीनां विघ्नान्तक नमाम्यहम्।
पृथुलोदरकुम्भं ते पन्नगाभरणं वपुः ॥३७८॥

इति तत्र स यावच्च गणेशं स्तौति तापसः।
तावत्तत्प्रतिमानेतुः पुत्रस्तस्य वणिक्पतेः ॥३७९॥

उपेन्द्रशक्तेरुद्दामचिरोन्मादविशृङ्खलः।
भ्राम्यन्महेन्द्रशक्त्याख्यो विवेशात्रैव दैवतः ॥३८०॥

अभ्यधावद्ग्रहीतुं च तमेव स तपस्विनम्।
ततः स पाणिना तत्र तपस्वी तमताडयत् ॥३८१॥

स तेन न्यस्तमन्त्रेण पाणिना तस्य ताडितः।
शान्तोन्मादस्तथैवाभूत्स्वस्थबुद्धिर्वणिक्सुतः ॥३८२॥

जातलज्जश्च स ततो निर्गत्यैव दिगम्बरः।
हस्ताच्छादितकौपीनो जगाम स्वगृहं प्रति ॥३८३॥

"भगवन्! इस महान् हंसद्वीप से मालवा बहुत दूर है। वहाँ का मार्ग भी दुर्गम है। और, यह कार्य विलम्ब करने के योग्य नहीं है। मैं सदा आपकी ही कृपा पर निर्भर हूँ, इस सम्बन्ध में मुझे केवल आपका ही भरोसा है।" राजा के ऐसा कहने पर उस तपस्वी ने उत्तर दिया कि 'मैं इसका उपाय करता हूँ' और वह वहाँ से अन्तर्हित हो गया। पल-भर बाद ही वह राजा श्रीसेन के नगर मालवा में पहुँच गया ॥३७२—३७४॥

वहाँ पहुँचकर वह तपस्वी, श्रीदर्शन के बनवाये हुए मन्दिर में गया और गणेशजी को प्रणाम करके बैठ गया ॥३७५॥

"आपके मस्तक पर नक्षत्रों की माला शोभित होती है, जिससे आप सुमेरु पर्वत के शिखर की आभा धारण करते हैं। आपकी कल्याणमयी मूर्त्ति को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३७६॥

मैं आपकी उस सूँड़ को नमस्कार करता हूँ जो, नृत्तोत्सव में ऊपर उठकर बादलों का स्पर्श-करती-सी त्रिभुवन-रूपी भवन को धारण करनेवाले स्तम्भ के समान जान पड़ती है ॥३७७॥

हे विघ्ननाशक, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपका विशाल उदर-रूपी घड़ा, समस्त सिद्धियों के भाण्डार के समान है और आपके शरीर पर सर्पों के आभूषण हैं" ॥३७८॥

इस प्रकार, जब वे गणेश की स्तुति कर रहे थे, तभी उस प्रतिमा को ले आनेवाले उपेन्द्र-शक्ति नामक महासेठ का महेन्द्रशक्ति नामक पुत्र, जो प्रबल और पुराने उन्माद रोग के कारण विक्षिप्त-सा था, संयोग से घूमता-फिरता वहाँ आ पहुँचा ॥३७९-३८०॥

ज्यों ही वह उन तपस्वी को पकड़ने के लिए दौड़ा, उन्होंने उसे अपने हाथ से थप्पड़ मारा ॥३८१॥

जब उन्होंने अपने मन्त्रयुक्त हाथों से उसे मारा, तब उसका उन्माद शान्त हो गया और वह स्वस्थ वुद्धिवाला हो गया ॥३८२॥

अपने को नंगा देखकर वह लज्जित हुआ। वहाँ से निकलकर, हाथों के कौपीन से ही अपने को ढककर, वह अपने घर की ओर चला ॥३८३॥

तत्कालं लोकतो बुद्ध्वा समेत्यानन्दनिर्भरः।
उपेन्द्रशक्तिः स्वपिता तमनैषीन्निजं गृहम्॥३८४॥
तत्र तं स्नपयित्वा च कृत्वा वस्त्राद्यलङ्कृतम्।
तद्युक्तस्तापसं तं स ब्रह्मसोममुपाययौ॥३८५॥
उपानयच्च बह्वस्मै धनं पुत्रप्रदायिने।
स तु तन्नैव जग्राह तापसो दिव्यसिद्धिभृत्॥३८६॥
अत्रान्तरे च तद्बुद्ध्वा तमुपागात्तपस्विनम्।
श्रीदर्शनान्वितो भक्त्या श्रीसेननृपतिः स्वयम्॥३८७॥
प्रणिपत्य स्तुतिं कृत्वा तं स राजा व्यजिज्ञपत्।
सम्पन्ना वणिजस्तावत्पुत्रस्वास्थ्यादुपक्रिया॥३८८॥
युष्मदागमनादस्य तन्ममापि तथा कुरु।
यथा श्रीदर्शनस्यास्य मत्सूनोः कुशलं भवेत्॥३८९॥
इति तेनार्थितो राज्ञा तापसः सोऽब्रवीद्धसन्।
राजन्किमस्य चौरस्य करोम्यहमभीप्सितम्॥३९०॥
यो राजपुत्र्या हृदयं मुषित्वाभरणानि च।
रात्रावनङ्गमञ्जर्या हंसद्वीपादिहागतः॥३९१॥
तथापि त्वद्वचः कार्यं मयेत्युक्त्वा प्रकोष्ठतः।
श्रीदर्शनं तमादाय तापसोऽन्तर्दधेऽथ सः॥३९२॥
स प्राप्य हंसद्वीपं च राज्ञोऽनङ्गोदयस्य तम्।
प्रावेशयद्राजधानीं तत्सुताभरणैर्युतम्॥३९३॥
सोऽप्यभ्यनन्दत्तं राजा प्राप्तं श्रीदर्शनं तदा।
हृष्टः पूर्वं तमभ्यर्च्य पादनम्रस्तपस्विनम्॥३९४॥
ददौ च तां सुतां तस्मै पुण्याहेऽनङ्गमञ्जरीम्।
श्रीदर्शनाय रत्नौघमालिनीं वसुधामिव॥३९५॥
तया वद्ध्वा समेतं च तं स जामातरं पुनः।
मालवं प्रापयामास शक्त्या तस्य तपस्विनः॥३९६॥
तत्र प्राप्तश्च स ततः कान्ताद्वितयसङ्गतः।
श्रीदर्शनः सुखं तस्थौ हृष्टराजाभिनन्दितः॥३९७॥

उसके पिता उपेन्द्रशक्ति ने जब लोगों के द्वारा यह संवाद सुना, तब वह बड़ा प्रसन्न हुआ। वह जाकर अपने पुत्र को घर ले आया ॥३८४॥

घर लाकर उसने पुत्र को नहलाया-धुलाया, कपड़े-लत्ते पहनाये और फिर उसे साथ लेकर, वह उस ब्रह्मसोम तपस्वी के समीप गया ॥३८५॥

पुत्र को स्वस्थ कर देनेवाले उन तपस्वी के लिए वह बहुत-सा धन भी ले गया, लेकिन दिव्य सिद्धियोंवाले उन तपस्वी ने उसे नहीं लिया ॥३८६॥

इसी बीच यह सब वृत्तान्त जानकर, श्रीदर्शन के सहित, स्वयं राजा श्रीसेन भक्तिपूर्वक उन तपस्वी के पास गये ॥३८७॥

राजा ने उन्हें प्रणाम किया और उनकी स्तुति करके कहा—"आपके आने से इन वणिक् के पुत्र को स्वास्थ्य-लाभ हुआ है, तो अब इतना उपकार मेरा भी कीजिए कि मेरे इस पुत्र श्रीदर्शन का कल्याण हो" ॥३८८-३८९॥

राजा ने जब ऐसी याचना की, तब तपस्वी ने हँसते हुए कहा—"राजन् इस चोर का मैं क्या अभीप्सित करूँ? रात में राजकुमारी अनंगमंजरी का हृदय और उसके आभूषण चुराकर यह हंसद्वीप से यहाँ आया है। फिर भी, मुझे आपकी बात रखनी ही है।" यह कहकर और श्रीदर्शन का हाथ पकड़कर वह तपस्वी अन्तर्धान हो गया ॥३९०—३९२॥

हंसद्वीप में पहुँचकर वह तपस्वी राजा अनंगोदय की कन्या के आभूषणों के सहित, श्रीदर्शन को उसकी राजधानी में ले गया ॥३९३॥

राजा ने श्रीदर्शन को आया हुआ देखकर, पहले तपस्वी के चरणों में झुककर उनकी अर्चना की और फिर प्रसन्न होकर श्रीदर्शन का अभिनन्दन किया ॥३९४॥

अनन्तर, शुभ दिन देखकर, उस राजा ने, रत्नसमूह से युक्त पृथिवी के समान अपनी कन्या अनंगमंजरी, श्रीदर्शन को ब्याह दी ॥३९५॥

इसके वाद राजा ने, उस तपस्वी की शक्ति से, अपने जामाता को पत्नी के सहित, मालवा पहुँचवा दिया ॥३९६॥

वहाँ पहुँचने पर राजा श्रीसेन ने प्रसन्न होकर उनका स्वागत किया और श्रीदर्शन अपनी दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक रहने लगा ॥३९७॥

कालेन तस्मिञ्श्रीसेने राज्ञि लोकान्तरं गते।
तद्राज्यं प्राप्य पृथिवीं कृत्स्नां वीरो जिगाय सः ॥३९८॥
समासादितसाम्राज्यः स तयोर्भार्ययोर्द्वयोः।
पद्मिष्ठानङ्गमञ्जर्योस्तनयौ द्वावजीजनत् ॥३९९॥
एकं तयोः पद्मसेनं नाम्ना स कृतवान्नृपः।
अनङ्गसेनमपरं वृद्धिं तौ चात्र नीतवान् ॥४००॥
याति काले च देवीभ्यां सह सोऽभ्यन्तरे स्थितः।
श्रीदर्शनोऽशृणोद्राजा विप्रस्याक्रन्दितं वहिः ॥४०१॥
प्रवेश्य तं च पप्रच्छ विप्रमाक्रन्दकारणम्।
ततः स दर्शितोद्वेगो विप्रस्तमिदमब्रवीत् ॥४०२॥
योऽभूद्दीप्तशिखोऽग्निर्मे सोऽट्टहासमुचाधुना।
सज्योतिर्धूमलेखोऽपि कालमेघेन नाशितः ॥४०३॥
इत्युक्त्वा दृष्टनष्टोऽभूद्ब्राह्मणः सोऽत्र तत्क्षणम्।
किमेतदुक्तमेतेन क्व गतश्चेति विस्मयात् ॥४०४॥
यावत्स राजा ब्रूते च तावद्देव्यावशङ्कितम्।
धाराश्रुणा रुदन्त्यौ ते तस्य पञ्चत्वमापतुः ॥४०५॥
तद्दृष्ट्वाशनिपातोग्रं सहसा स महीपतिः।
हा हा किमिदमित्यार्त्तो विलपन्नपतद्भुवि ॥४०६॥
पतितं च तमादाय पार्श्वगा निन्युरन्यतः।
देव्योश्च वह्निसंस्कारं नीत्वा मुखरको व्यधात् ॥४०७॥
लब्धसंज्ञोऽनुशोच्याथ भार्ये ते सुचिरं नृपः।
तयोर्निर्वर्त्तयामास स स्नेहादौर्ध्वदैहिकम् ॥४०८॥
वाष्पदुर्दिनवद्धान्धकारं नीत्वा च वत्सरम्।
द्वाभ्यां विभज्य पुत्राभ्यां पृथ्वीराज्यं ददौ द्विधा ॥४०९॥
ततो निर्गत्य नगरात्प्रकृतीरनुयायिनीः।
निवर्त्त्य जातवैराग्यः शिश्रिये तपसे वनम् ॥४१०॥
फलमूलाशनस्तत्र वसञ्जातु यदृच्छया।
भ्रमन्सोऽन्तिकमेकस्य प्राप न्यग्रोधशाखिनः ॥४११॥

समय पाकर जब राजा श्रीसेन परलोक गये, तब श्रीदर्शन ने उनका राज्य पाया, फिर उस वीर ने समस्त पृथिवी जीत ली ॥३६८॥

इस प्रकार, साम्राज्य पाकर उसने पद्मिष्ठा और अनंगमंजरी नाम की अपनी दोनों पत्नियों से दो पुत्र उत्पन्न किये ॥३६६॥

उनमें से एक का नाम पद्मसेन और दूसरे का नाम अनंगसेन रखकर वह उनका लालन-पालन करने लगा ॥४००॥

समय बीतने पर, एक बार राजा श्रीदर्शन जब अपनी पत्नियों के साथ अन्तःपुर में बैठा था, उसने बाहर किसी ब्राह्मण के रोने की आवाज सुनी ॥४०१॥

उसे अन्दर बुलाकर जब राजा ने उसके रोने का कारण पूछा, तब उस ब्राह्मण ने घबराहट दिखलाते हुए कहा—"मेरी दीप्तशिखा अग्नि को, उसकी ज्योतिलेखा[1] और धूमलेखा[1] के सहित, अट्टहास[1] करते हुए कालमेघ ने बुझा दिया है" ॥४०२-४०३॥

यह कहकर वह ब्राह्मण, बात-की-बात में, वहीं अदृश्य हो गया। जबतक राजा ने विस्मय से कहा कि 'इस ब्राह्मण ने क्या कहा और वह कहाँ चला गया', तबतक आँसुओं की धाराएं बहाकर रोती हुई उसकी दोनों स्त्रियाँ, सहसा मृत्यु को प्राप्त हुईं ॥४०४-४०५॥

वज्रपात से भी कठोर यह दृश्य देखकर, आर्त्त होकर, 'हाय-हाय, यह क्या हुआ ?' ऐसा कहकर विलाप करता हुआ वह राजा, अचानक भूमि पर गिर पड़ा ॥४०६॥

गिरे हुए उन राजा को उनके परिचारक उठाकर दूसरी जगह ले गये। मुखरक ने उन रानियों के शव को ले जाकर, उनका दाह-संस्कार किया ॥४०७॥

होश आने पर राजा ने बहुत देर तक अपनी पत्नियों के लिए शोक किया, फिर स्नेह के कारण, उनके पारलौकिक संस्कार भी किये ॥४०८॥

आँसुओं की आँधी से, जिसमें अँधेरा भर गया था, ऐसा एक वर्ष बिताकर, राजा ने पृथिवी के राज्य के दो भाग करके, अपने दोनों पुत्रों को बाँट दिया ॥४०६॥

अनन्तर, वैराग्य उत्पन्न होने के कारण, वे नगर से बाहर निकल पड़े। अपने पीछे-पीछे आनेवाली प्रजा को उन्होंने लौटा दिया और तपस्या करने के लिए वे वन में चले गये ॥४१०॥

वहाँ फल-मूल का आहार करते हुए वे रहने लगे। एक बार इच्छानुसार घूमते-फिरते वे एक वट-वृक्ष के निकट पहुँचे ॥४११॥

---

[1] इन नामों का अभिप्राय आगे प्रकट होगा।—अनु०

तत्र प्राप्तमकस्मात्तं निर्गत्यैव तरोस्ततः ।
ऊचतुर्दिव्यरूपे द्वे फलमूलकरे स्त्रियौ ॥४१२॥

राजन्नेहि गृहाणैतान्यद्य मूलफलानि नौ ।
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्ब्रूतं तावन्मे के युवामिति ॥४१३॥

ततस्ते दिव्यनार्यौ तमूचतुस्तर्हि नौ गृहम् ।
एहि प्रविश्य तत्रैतद्वक्ष्यामस्ते यथातथम् ॥४१४॥

तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा ताभ्यां श्रीदर्शनः सह ।
प्रविष्टोऽत्र ददर्शान्तर्दिव्यं हेममयं पुरम् ॥४१५॥

विश्रान्तस्तत्र दिव्यानि भुक्तवांश्च फलानि सः ।
नारीभ्यां जगदे ताभ्यामिदानीं नृपते शृणु ॥४१६॥

आसीत्कमलगर्भाख्यः प्रतिष्ठाने पुरा द्विजः ।
तस्याभूतां च भार्ये द्वे एका पथ्या बलापरा ॥४१७॥

जराक्रान्ताश्च कालेन ते भार्यापतयस्त्रयः ।
पर्यन्ते विविशुर्वह्निं सहान्योन्यानुरागिणः ॥४१८॥

भार्यापतित्वं सर्वस्मिन्भूयाज्जन्मनि नः प्रभो ।
इति प्रार्थ्यत तस्मिंश्च काले तैरनलाद्वरः ॥४१९॥

ततः कमलगर्भोऽसौ यक्षयोनावजायत ।
प्रदीप्ताक्षस्य यक्षस्य पुत्रो दीप्तशिखाभिधः ॥४२०॥

कनीयानट्टहासस्य भ्राता तीव्रतपोवलात् ।
तद्भार्ये अपि ते पथ्यावले यक्षपतेः सुते ॥४२१॥

धूमकेत्वभिधानस्य जज्ञाते यक्षकन्यके ।
ज्योतिर्लेखाभिधानैका धूमलेखेति चापरा ॥४२२॥

कालेन च भगिन्यौ ते कन्यके प्राप्तयौवने ।
भर्त्रर्थं तपसा गत्वारण्येऽतोषयतां हरम् ॥४२३॥

वहाँ पहुँचते ही, हाथों में फल-मूल लिये, अकस्मात् उस वृक्ष से दिव्य रूपवाली दो स्त्रियों ने निकलकर कहा—"राजन् आइए, आज हमारे इन फल-मूलों को ग्रहण कीजिए।" यह सुनकर राजा श्रीदर्शन बोले—"पहले मुझे यह बतलाइए कि आपलोग कौन हैं?" ॥४१२-४१३॥

तब उन दिव्य स्त्रियों ने उनसे कहा—"तो आइए, हमारे घर में चलिए। क्यों न हम वहीं आपको सारा वृत्तान्त सुनायें? ॥४१४॥

यह सुनकर श्रीदर्शन ने कहा—'अच्छी बात है।' और फिर, उन दोनों के साथ अन्दर जाकर, उसने एक दिव्य, सुवर्ण-निर्मित नगर देखा ॥४१५॥

वहाँ विश्राम करके जब राजा ने दिव्य फलों का भोजन किया, तब उन स्त्रियों ने कहा—"राजन् अब सुनिए ॥४१६॥

पुराने समय में, प्रतिष्ठानपुर में कमलगर्भ नामक एक ब्राह्मण था। उसके दो स्त्रियाँ थीं। एक का नाम पथ्या था और दूसरी का अबला ॥४१७॥

समय पाकर जब वे बूढ़े हुए, तब उन तीनों पति और पत्नियों ने, एक दूसरे में अनुराग होने के कारण, एक साथ अग्नि में प्रवेश किया ॥४१८॥

उस समय उन्होंने अग्निदेव से वर माँगा कि 'हे प्रभो! हम लोग सभी जन्मों में पति-पत्नी होकर उत्पन्न हों' ॥४१९॥

अनन्तर, अपने तीव्र तपोबल से वह कमलगर्भ यक्षयोनि में उत्पन्न हुआ। दीप्तशिख नाम से वह प्रदीप्ताक्ष नामक यक्ष का पुत्र और अट्टहास का छोटा भाई हुआ। पथ्या और अबला नाम की उसकी दोनों स्त्रियाँ भी, यक्षराज धूमकेतु के यहाँ, यक्षकन्या होकर जनमीं। उनमें एक का नाम ज्योतिर्लेखा और दूसरी का नाम धूमलेखा हुआ ॥४२०—४२२॥

समय पाकर वे दोनों बहनें युवतीं हुईं। पति के लिए वन में तपस्या करने जाकर, उन्होंने भगवान् शिव को प्रसन्न किया ॥४२३॥

स तुष्टो दर्शनं दत्त्वा देवस्ते द्वे समादिशत्।
सममेव प्रविश्याग्निं यवाभ्यां पूर्वजन्मनि ॥४२४॥

येन साकं वृतं भार्यापतित्वं सर्वजन्मसु।
स वां यक्षोऽट्टहासस्य भ्राता दीप्तशिखाभिधः ॥४२५॥

जातः स स्वामिशापेन पुनर्मर्त्त्यत्वमागतः।
जातः श्रीदर्शनो नाम तद्युवामपि गच्छतम् ॥४२६॥

भवेतां मर्त्त्यलोकेऽस्य भार्ये शापक्षये पुनः।
यूयं च भार्यापतयो यक्षाः सर्वे भविष्यथ ॥४२७॥

इति गौरीपतेर्वाक्यादुभे ते यक्षकन्यके।
पश्चिष्ठानङ्गमञ्जयविजायेतां भुवस्तले ॥४२८॥

श्रीदर्शनस्य भार्यात्वं प्राप्ते सत्यौ च तेऽचिरात्।
एत्य तेनाट्टहासेन युक्त्या ब्राह्मणरूपिणा ॥४२९॥

श्लिष्टोक्त्या स्मरिते दैवाज्जातिं नामान्युदीर्य यत्।
तेन ते तां तनुं त्यक्त्वा यक्षिणीत्वमुपागते ॥४३०॥

ते चावां त्वमिमे विद्धि भवान्दीप्तशिखश्च सः।
इत्युक्त एव ताभ्यां तां जातिं श्रीदर्शनोऽस्मरत् ॥४३१॥

सम्पन्नश्च ततः सद्यो यक्षो दीप्तशिखोऽत्र सः।
प्राप्तश्च ताभ्यां भार्याभ्यां संयोगं विधिवत्पुनः ॥४३२॥

तमिमं विद्धि मां यक्षं विचित्रकथ ते इमे।
ज्योतिर्लेखां तथा धूमलेखां जानीहि मे प्रिये ॥४३३॥

तदेवं मादृशां देववंशजानामपीदृशम्।
सुखदुःखं भवेत्कामं मानुषाणां कथैव का ॥४३४॥

युष्माकं चाचिराद्वत्स भविष्यति समागमः।
भर्त्रा मृगाङ्कदत्तेन मा विषादमतः कृथाः ॥४३५॥

अहं चेह तवातिथ्यहेतोरास्थामिदं हि मे।
भौमं धाम तदास्स्वेह करिष्येऽभिमतं तव ॥४३६॥

ततो यास्यामि कैलासं स्वं धामेति निजां कथाम्।
उक्त्वा स यक्षो मां तत्र कञ्चित्कालमुपाचरत् ॥४३७॥

शिवजी ने प्रसन्न होकर उन दोनों को दर्शन दिया और कहा—'पूर्वजन्म में तुम दोनों ने जिसके साथ अग्नि-प्रवेश करके, सभी जन्मों में पति-पत्नियाँ होने का वर माँगा था, तुम दोनों का दीप्तशिख नाम का वह यक्ष, अट्टहास का छोटा भाई होकर जनमा है, किन्तु स्वामी के शाप से फिर मर्त्यलोक में श्रीदर्शन नाम से उसका जन्म हुआ है। अतः, तुमलोग भी वहीं जाओ। मर्त्यलोक में भी तुम दोनों उसी की पत्नी होओगी। फिर, शाप के नष्ट हो जाने पर तुम तीनों को पुनः यक्ष-रूप प्राप्त होगा ॥४२४—४२७॥

शिवजी के ऐसा कहने पर, वे दोनों यक्षकन्याएँ, पद्मिष्ठा और अनंगमंजरी के रूप में धरती पर जनमीं और श्रीदर्शन की पत्नियाँ बनीं। कुछ समय बाद, ब्राह्मण के रूप में वह अट्टहास आया और श्लेष-वचनों से उनके नाम लेकर उसने उन्हें उनके पूर्वजन्म का स्मरण दिलाया। इससे वे दोनों, उस शरीर का त्याग करके यक्षिणी बन गईं ॥४२८—४३०॥

हम दोनों वही स्त्रियाँ हैं और तुम दीप्तशिख हो।' उन स्त्रियों के ऐसा कहते ही श्रीदर्शन को भी अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मरण हो आया और वह शीघ्र ही दीप्तशिख नाम का यक्ष बन गया। अनन्तर वह अपनी उन पत्नियों से विधिपूर्वक जा मिला ॥४३१-४३२॥

तो विचित्रकथ, तुम मुझे वही यक्ष जानो और मेरी इन दोनों प्रियतमाओं को ज्योतिर्लेखा तथा धूमलेखा समझो ॥४३३॥

जब मुझ-जैसे देववंश में उत्पन्न होनेवालों को भी इस प्रकार सुख-दुःख की हेराफेरी देखनी पड़ती है, तब भला सामान्य मनुष्यों की बात ही क्या है ? ॥४३४॥

वत्स, शीघ्र ही अपने स्वामी मृगांकदत्त से तुम्हारा भी मिलन होगा, अतः तुम दुःखी न होओ ॥४३४॥

मैं तुम्हारा आतिथ्य करने के लिए ही यहाँ ठहरा हुआ था। यह मेरा सांसारिक निवास है। तुम यहाँ ठहरो। मैं तुम्हारा मनचाहा करूँगा और उसके बाद अपने धाम, कैलास, पर चला जाऊँगा।" इन शब्दों में अपनी कथा कहकर उस यक्ष ने कुछ समय तक मेरा स्वागत-सत्कार किया ॥४३६-४३७॥

अद्य युष्मानिह प्राप्ताञ्ज्ञात्वा रात्रौ स सन्मतिः।
सुप्तानां भवतां मध्ये सुप्तमानीय मां न्यधात् ॥४३८॥
ततो दृष्टोऽस्मि युष्माभिर्यूयं दृष्टा मयापि च।
इत्येष युष्मद्विश्लेषे वृत्तान्तो देव मामकः ॥४३९॥
इति निजसचिवान्निशम्य तस्मा-
न्निशि स विचित्रकथाद्यथार्थनाम्नः।
सुखमभजदतीव राजपुत्रः
सममपरैः सचिवैर्मृगाङ्कदत्तः ॥४४०॥
नीत्वात्र रात्रिमटवीभुवि नागशाप-
विश्लेषितान्मिलितशेषसखीन्विचिन्वन् ।
अभ्युज्जयिन्युदचलच्च शशाङ्कवत्या
लाभाय मोऽर्पितमतिः सह तैर्वयस्यैः ॥४४१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके षष्ठस्तरङ्गः

सतमस्तरङ्गः

क्रमागता मृगाङ्कदत्तकथा

ततस्तैः सचिवैर्युक्तः क्रमाच्छुतधिपञ्चमैः।
मृगाङ्कदत्तस्तस्यां स गच्छन्विन्ध्याटवीभुवि ॥१॥
सम्प्राप सफलस्निग्धतरुच्छायमनोरमम्।
एकं काननमच्छाच्छस्वादुशीतजलाशयम् ॥२॥
तत्र स्नातः ससचिवो भुक्तनानाफलश्च सः।
एकदेशे लताच्छन्ने समालापमिवाश्रृणोत् ॥३॥
गत्वा ददाति यावच्च दृष्टिं तत्र लतान्तरे।
तावद्ददर्श तत्रान्तर्महान्तं वरवारणम् ॥४॥
आश्वासयन्तं पुरुषं पथि श्रान्तमचक्षुषम्।
करेणोपाहृतैस्तोयैः फलैः कर्णानिलैस्तथा ॥५॥
कच्चित्किञ्चित्समाश्वस्तो भवानिति च तं मुहुः।
साधुमानुषवत्प्रीत्या वदन्तं व्यक्तया गिरा ॥६॥

आज आपलोगों को यहाँ आया हुआ जानकर, वह भली बुद्धिवाला यक्ष, रात में मुझ सोते हुए को उठा लाया और सोये हुए आपलोगों के बीच रख गया। तब आपलोगों ने मुझे देखा और मैंने आपलोगों को देखा। देव, आपसे बिछुड़ने के बाद से अबतक का यही मेरा वृत्तान्त है ॥४३८-४३६॥

इस प्रकार, उस रात को, यथार्थ नामवाले अपने मन्त्री विचित्रकथ से उसकी, अद्भुत कथा सुनकर, अपने अन्य मन्त्रियों के सहित राजकुमार मृगांकदत्त ने अपार सुख पाया ॥४४०॥

वह रात उसी वनभूमि में बिताकर राजकुमार मृगांकदत्त अपने मित्रों के सहित उज्जयिनी की ओर चल पड़े। नाग के शाप के कारण उनके जो मित्र अब भी बिछुड़े रह गये थे, उन्हें वे ढूँढ़ते जा रहे थे और शशांकवती को प्राप्त करने के लिए उनका मन लगा हुआ था ॥४४१॥

कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का छठा तरंग समाप्त।

सप्तम तरंग

मृगांकदत्त की कथा (क्रमागत)

श्रुतधि आदि अपने पाँचों मन्त्रियों के सहित, विन्ध्यप्रदेश की ओर जाते हुए मृगांकदत्त, एक ऐसे वन में पहुँचा, जो फलवाले स्निग्ध वृक्षों की छाया से मनोहर बना हुआ था और जहाँ स्वच्छ मीठे तथा शीतल जल का तालाब था ॥१-२॥

मृगांकदत्त ने वहाँ मन्त्रियों के सहित स्नान किया और अनेक प्रकार के फल खाये; फिर उसने लता से ढके हुए एक स्थान पर कुछ बातचीत की आवाज सुनी ॥३॥

जब उसने आगे बढ़कर लताओं की ओट से झाँका, तब देखा कि एक गजराज, राह चलने से थके हुए एक अन्धे पुरुष को, अपनी सूँड से जल पिलाता, फल खिलाता तथा कानों से पंखा झलता हुआ सन्तुष्ट कर रहा था। वह सज्जन पुरुष की तरह बार-बार स्पष्ट वाणी से पूछ रहा था कि 'अब क्या आपको कुछ शान्ति मिली ?' ॥४—६॥

तं दृष्ट्वा स सखीनाह राजपुत्रः सविस्मयः ।
पश्यत क्व गजो वन्यः क्वाचारो मानुषोचितः ॥७॥
अवश्यं कोऽप्ययं हेतोः कुतोऽप्येवमिह स्थितः ।
अयं प्रचण्डशक्तेश्च सख्युः सुसदृशः पुमान् ॥८॥
किं त्वन्ध एष तत्क्षिप्रं पश्याम इति तान्सखीन् ।
उक्त्वा मृगाङ्कदत्तोऽत्र तस्थौ शृण्वन्नलक्षितः ॥९॥
तावत्स तं समाश्वस्तमन्धं पप्रच्छ वारणः ।
कस्त्वं कथमिहायातोऽस्यन्धः सन्कथ्यतामिति ॥१०॥
ततः सोऽपि जगादैतं पुमानन्धो गजोत्तमम् ।
अस्तीहामरदत्ताख्यो राजायोध्यापुरीपतिः ॥११॥
मृगाङ्कदत्त इत्यस्ति तस्योत्तमगुणः सुतः ।
तस्य प्रचण्डशक्त्याख्यो भृत्योऽहं शुभजन्मनः ॥१२॥
स राजपुत्रः केनापि कारणेन स्वदेशतः ।
पित्रा निर्वासितोऽस्माभिः सहायैर्दशभिर्वृतः ॥१३॥
ते शशाङ्कवतीहेतोर्वयमुज्जयिनीं ततः ।
प्रस्थिता नागशापेन सर्वेऽटव्यां वियोजिताः ॥१४॥
अहं चान्धत्वमायातस्तच्छापेन परिभ्रमन् ।
इह प्राप्तो यथालब्धफलमूलजलाशनः ॥१५॥
श्वभ्रादिपातानशनैर्मृत्युरिष्टतमोऽपि मे ।
अनुभावयता क्लेशं न दत्तो बत वेधसा ॥१६॥
जाने त्वद्य यथा शान्तं क्षुद्दुःखं त्वत्प्रसादतः ।
तथान्ध्यमपि मे शाम्येत्किमपि त्वं हि दैवतम् ॥१७॥
इत्युक्ते तेन सञ्जातनिश्चयो हर्षशोकयोः ।
मृगाङ्कदत्तो मध्यस्थः सचिवांस्तानभाषत ॥१८॥
प्रचण्डशक्तिरेवायं कष्टमेतां दशां गतः ।
न चैष सम्भावयितुं युक्तो नस्त्वरयाधुना ॥१९॥
नेत्रोपकारमस्यैष द्विपः कुर्वीत जातुचित् ।
अस्मान्दृष्ट्वा त्वसौ नश्येद्द्रष्टव्योऽन्तस्तदत्र नः ॥२०॥

यह देखकर उस राजपुत्र ने आश्चर्यपूर्वक अपने मित्रों से कहा—"देखो तो, कहाँ यह बनैला हाथी और कहाँ इसका मनुष्यों-जैसा व्यवहार! निश्चय ही, यह कोई अन्य प्राणी है, जो यहाँ इस रूप में वर्तमान है। यह मनुष्य भी हमारे मित्र प्रचण्डशक्ति से मिलता-जुलता-सा है; लेकिन यह अन्धा है, अतः हमलोग शीघ्र ही इसे देखें।" अपने मित्रों से ऐसा कहकर, मृगांकदत्त वहीं छिपकर उनकी बातें सुनने लगा॥७—९॥

इस बीच वह अन्धा कुछ सँभल गया था। हाथी ने उससे पूछा—"आप कौन हैं और अन्धे होते हुए भी यहाँ कैसे आये हैं, यह मुझे बतलाइए॥१०॥

इसपर उस अन्धे आदमी ने उस उत्तम हाथी से कहा—"अयोध्यापुरी के स्वामी, अमरदत्त नाम के एक राजा हैं। उनके उत्तम गुणों से युक्त पुत्र का नाम मृगांकदत्त है। उत्तम कुल में उत्पन्न, प्रचण्डशक्ति नाम का मैं उन्हीं का दास हूँ॥११—१२॥

किसी कारण से उनके पिता ने, हम दस सहायकों के सहित, उन राजकुमार को अपने देश से निर्वासित कर दिया है॥१३॥

हम सभी शशांकवती के लिए उज्जयिनी की ओर चले, लेकिन नाग के शाप के चलते, वन में एक दूसरे से बिछड़ गये॥१४॥

उसी के शाप से मैं अन्धा भी हो गया और जहाँ जो फल-मूल मिला, उसको खाता और जल पीता हुआ मैं भटककर यहाँ चला आया॥१५॥

किसी खड्डे आदि में गिरकर या भूखा-प्यासा रहकर मर जाना ही मुझे अधिक अभीष्ट था, लेकिन दुःखों को सहते रहने के लिए विधाता ने मुझे मौत भी नहीं दी॥१६॥

आपकी कृपा से जैसे आज मेरी भूख की व्यथा शान्त हो गई है, मैं समझता हूँ कि वैसे ही, किसी-न-किसी तरह, मेरी अन्धता भी दूर हो जायगी; क्योंकि आप कोई दैवी पुरुष हैं"॥१७॥

उसके ऐसा कहने पर मृगांकदत्त को निश्चय हो गया कि वह अन्धा, प्रचण्डशक्ति ही है। इससे उसे जितनी प्रसन्नता हुई, उतना ही दुःख भी हुआ। उसने अपने मन्त्रियों से कहा—"यह प्रचण्डशक्ति ही है। दुःख की बात है कि यह ऐसी दशा को प्राप्त हुआ है। लेकिन, हमें अभी तुरत इसके पास नहीं जाना चाहिए। शायद यह हाथी इसकी अन्धता दूर कर दे; लेकिन हम लोगों को देखकर वह भाग जायगा। इसलिए, हमें रुककर देखना चाहिए कि आगे क्या होता है॥१८–२०॥

इत्युक्त्वा सानुगः शृण्वंस्तस्थौ राजसुतोऽत्र सः।
प्रचण्डशक्तिश्च ततस्तं स पप्रच्छ वारणम्॥२१॥
इदानीं ब्रूहि वृत्तान्तं महात्मन्मम को भवान्।
कैषा ते गजता वाक्च समदस्यापि निर्मदा॥२२॥
तदाकर्ण्य स निःश्वस्य गजेन्द्रस्तमभाषत।
शृण्विमं निजवृत्तान्तमामूलात्कथयामि ते॥२३॥
नगर्यामेकुलव्यायां पुरा श्रुतधराभिधः।
राजाभूत्तस्य चाभूतां सुतौ द्वौ भार्ययोर्द्वयोः॥२४॥
तयोः शीलधरं नाम ज्येष्ठं तस्मिन्दिवं गते।
राज्यात्सत्यधरो नाम कनीयान्निरवासयत्॥२५॥
सोऽथ शीलधरो गत्वा तेनामर्षेण शङ्करम्।
आराध्य तपसा तुष्टात्तस्माद्वरमयाचत॥२६॥
भूयासं देव गन्धर्वो येनाम्बरचरो भवन्।
तं सत्यधरदायादं हन्यामेवावहेलया॥२७॥
तच्छ्रुत्वा भगवानेवं शम्भुरादिशति स्म तम्।
एतत्ते भावि किं त्वद्य स शत्रुस्ते मृतः स्वयम्॥२८॥
जनिष्यते च राढायां पुनरुग्रभटस्य सः।
नृपस्य पुत्रः समरभटो नाम पितृप्रियः॥२९॥
त्वं च भीमभटो नाम तस्य द्वैमातुरोऽग्रजः।
भ्राता जनिष्यते तं च हत्वा राज्यं करिष्यसि॥३०॥
सामर्षेण त्वया चैतद्यतस्तप्तं तपस्ततः।
मुनिशापात्पदभ्रष्टो वन्यो हस्ती भविष्यसि॥३१॥
जातिस्मरो व्यक्तवाक्च भवानाश्वासयिष्यति।
यदावसन्नमतिथिं स्ववृत्तान्तं च वक्ष्यति॥३२॥
तदा गजत्वान्निर्मुक्तो गन्धर्वस्त्वं भविष्यसि।
उपकारश्च तस्यापि भविष्यत्यतिथेस्तदा॥३३॥
इत्यादिश्य तिरोभूते भर्गे शीलधरोऽत्र सः।
दृष्ट्वा चिरतपःक्षीणां गङ्गायां तनुमक्षिपत॥३४॥

यह कहकर अपने अनुचरों के सहित राजकुमार मृगांकदत्त, आगे की बातें सुनने के लिए वहाँ रुके रहे। तब प्रचण्डशक्ति ने उस हाथी से पूछा—"महात्मन्, अब आप अपना वृत्तान्त सुनायें। आप कौन हैं? हाथी तो मदवाले होते हैं, किन्तु आपके ये मदरहित वचन कैसे हैं?" ॥२१-२२॥

यह सुनकर उस गजेन्द्र ने उसाँसें लेते हुए कहा—"मैं आरम्भ से ही अपना सारा वृत्तान्त बतलाता हूँ। तुम सुनो" ॥२३॥

पुराने समय में, एकलव्या नगरी में श्रुतधर नाम के एक राजा थे। उनकी दो पत्नियों से दो पुत्र हुए ॥२४॥

राजा का स्वर्गवास होने पर, उनके छोटे पुत्र सत्यधर ने अपने बड़े भाई शीलधर को राज्य से निकाल दिया ॥२५॥

इस क्रोध से शीलधर ने जाकर भगवान् शंकर की आराधना की। वे जब उसकी तपस्या से सन्तुष्ट हुए तब शीलधर ने उनसे वरदान माँगा—"देव, मैं गन्धर्व बन जाऊँ, जिससे आकाशचारी हो सकूँ और सहज ही अपने भाई सत्यधर को मार सकूँ" ॥२६-२७॥

यह सुनकर भगवान् शिव ने उसे यह आदेश दिया—"यह वर तो तुम्हें मिलेगा, किन्तु तुम्हारा वह शत्रु आज स्वयं ही मर गया है ॥२८॥

राढा नगरी में, राजा उग्रभट के पुत्र समरभट के नाम से वह फिर जन्म लेगा और पिता का प्रिय होगा ॥२९॥

उसकी दूसरी माता से, उसके बड़े भाई होकर, तुम भी जन्म लोगे। तुम्हारा नाम भीमभट होगा। तुम उस छोटे भाई को मारकर राज्य करोगे ॥३०॥

किन्तु तुमने क्रोध के वश में होकर यह तपस्या की है, इसलिए मुनि के शाप से भ्रष्ट होकर तुम जंगली हाथी बन जाओगे ॥३१॥

तुम्हें अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मरण रहेगा, बोली भी मनुष्य-जैसी रहेगी और जब तुम एक थके-माँदे अतिथि की सेवा-शुश्रूषा करोगे और उसे अपनी कथा सुनाओगे, तो तुम हाथी के शरीर से मुक्त होकर गन्धर्व बन जाओगे। साथ ही, उस अतिथि का भी उपकार होगा" ॥३२-३३॥

शिवजी जब ऐसा आदेश देकर अन्तर्धान हो गये, तब शीलधर ने अपने शरीर को लम्बी तपस्या से क्षीण देखकर गंगा में डाल दिया ॥३४॥

अत्रान्तरे कथासन्धौ पूर्वोद्दिष्टस्य भूपतेः।
तस्योग्रभटसंज्ञस्य राढायां पुरि तुल्यया ॥३५॥
मनोरमाख्यया देव्या समं निवसतः सुखम्।
पार्श्वं देशान्तरादागाल्लासको नाम नर्त्तकः ॥३६॥
स च नाट्यप्रयोगं तं राज्ञे तस्मायदर्शयत्।
दैत्यानां हरिणा यत्र हृतं स्त्रीरूपिणामृतम् ॥३७॥
तत्र चामृतिकाभूमौ नृत्यन्तीं नर्त्तकस्य सः।
ददर्श तनयां तस्य नाम्ना लास्यवतीं नृपः ॥३८॥
तस्याः स रूपं दृष्ट्वैव विश्वक्षोभितदानवम्।
सत्यामृताया इव तद्राजा कामवशं ययौ ॥३९॥
नृत्तान्ते च धनं भूरि तत्पित्रे प्रवितीर्य सः।
प्रावेशयत्तां तत्कालं कन्यामन्तःपुरं स्वकम् ॥४०॥
ततस्तया स नर्त्तक्या विहितोद्वाहया सह।
लास्यवत्या नृपस्तस्थौ तन्मुखासक्तलोचनः ॥४१॥
एकदा स यजुःस्वामिसंज्ञं प्राह पुरोहितम्।
पुत्र। नास्तीह मे तत्त्वं पुत्रेष्टिं मम कुर्विति ॥४२॥
ततस्तथेति विधिवत्तामिष्टिं तस्य भूपतेः।
पुरोहितः स विदधे विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ॥४३॥
प्राशयन्मन्त्रपूतं च तद्देवीं तां मनोरमाम्।
भागमग्र्यं चरोर्ज्येष्ठां स पूर्वाराधितस्तया ॥४४॥
शेषं तस्यै द्वितीयस्यै लास्यवत्यै ददौ च सः।
ततश्च तौ तयोः शीलधरसत्यधरावुभौ ॥४५॥
उभयोरुदरे राज्ञ्योः पूर्वोक्तौ सम्बभूवतुः।
प्राप्ते च समये चात्र देवी तस्य महीपतेः ॥४६॥
मनोरमा प्रसूते स्म पुत्रं कल्याणलक्षणम्।
एष भीमभटो नाम जातः ख्यातयशा नृपः ॥४७॥
इत्युच्चचार तत्कालं सुस्पष्टा भारती दिवः।
ततोऽन्येद्युः प्रसुपुवे सापि लास्यवती सुतम् ॥४८॥

मेरी इस कथा के अन्तर्गत, इस बीच, राढा नगरी में, पहले कहा गया उग्रभट नाम का वह राजा, तुल्य गुणोंवाली मनोरमा नाम की अपनी पत्नी के साथ, सुखपूर्वक निवास कर रहा था। इसी समय, दूसरे देश से, लासक नाम का एक नर्त्तक उसके पास आया ॥३५-३६॥

उसने राजा को अपना वह नाटक दिखलाया, जिसमें स्त्री (मोहिनी)-रूपधारी भगवान् दैत्यों से अमृत छीन ले गये थे ॥३७॥

उस नाटक में, अमृतिका के रूप में नाचते हुए नर्त्तक की लास्यवती नाम की कन्या को राजा ने देखा ॥३८॥

सत्य ही, उस अमृत के समान, जिससे विष्णु ने दानवों को विक्षुब्ध कर दिया था, उस कन्या का सौन्दर्य देखकर राजा काम-परवश हो गये ॥३९॥

नाटक समाप्त होने पर राजा ने उसके पिता को बहुत-सा धन देकर, तत्काल ही उस कन्या को अपने अन्तःपुर में भेज दिया ॥४०॥

अनन्तर, राजा ने लास्यवती नाम की उस नर्त्तकी से विवाह कर लिया और उसकी रूप-सुधा का पान करते हुए, वे उसके साथ रहने लगे ॥४१॥

एक दिन राजा ने यजुःसंज्ञ नामक अपने पुरोहित से कहा—"मैं पुत्र-रहित हूँ, अतः आप मेरे लिए पुत्रेष्टि यज्ञ करें ॥४२॥

'ऐसा ही होगा' कहकर राजा के पुरोहित ने, विद्वान् ब्राह्मणों के सहित, उसके लिए पुत्रेष्टि यज्ञ किया ॥४३॥

पुरोहित ने राजा की बड़ी रानी मनोरमा को चरु का अगला हिस्सा खाने को दिया; क्योंकि उसने पहले ही उन्हें प्रसन्न कर लिया था ॥४४॥

चरु का बाकी हिस्सा उसने छोटी रानी लास्यवती को दिया। तब उन दोनों रानियों के गर्भ में, पहले कहे हुए शीलधर और सत्यधर आये। समय पाकर राजा की पटरानी मनोरमा ने कल्याणकारी लक्षणोंवाले एक पुत्र को जन्म दिया। उस समय स्पष्ट शब्दों में आकाशवाणी हुई कि 'भीमभट नाम का यह जो पुत्र उत्पन्न हुआ है, वह प्रसिद्ध यशवाला राजा होगा।' अनन्तर, दूसरे दिन लास्यवती ने भी एक पुत्र को जन्म दिया ॥४५—४८॥

पिता च तं स समरभटं नाम्नाकरोन्नृपः।
अथ तौ कृतसंस्काराववर्धेतां शनैः शिशू ॥४९॥
ज्येष्ठो भीमभटस्तं तु कनिष्ठमजयद्गुणैः।
तत्सङ्घर्षेण चान्योन्यं तयोर्वैरमवर्धत ॥५०॥
एकदा बाहुना बाहुयुद्धकेलौ समत्सरः।
हन्ति स्म कण्ठे समरभटो भीमभटं हठात् ॥५१॥
ततो भीमभटः क्रोधाद्भुजाभ्यां परिवेष्ट्य तम्।
न्यधादुत्क्षिप्य समरभटं चटदिति क्षितौ ॥५२॥
स तेनाभिहतो गाढं सर्वद्वारैरसृग्वमन्।
समुत्थाप्यान्तिकं मातुर्नीतोऽभून्निजसेवकैः ॥५३॥
सा तं दृष्ट्वा च बुद्ध्वा च वृत्तान्तं स्नेहकातरा।
तस्य मूर्धनि मूर्धानमासज्य प्रारुदद्भृशम् ॥५४॥
तावद्राज्ञा प्रविष्टेन तद्दृष्ट्वा कुलचेतसा।
किमेतदिति पृष्टा सा लास्यवत्येवमब्रवीत् ॥५५॥
इयं भीमभटेनास्य कृतावस्था सुतस्य मे।
सदा चाभिभवत्येनं न चाहं देव वच्मि ते ॥५६॥
इदं दृष्ट्वा तु जानेऽहं तवैव स्याच्छिवं कथम्।
तस्मिन्नेवंविधे पुत्रे विचारयतु वा भवान् ॥५७॥
एवं तयोक्तः प्रियया स तमुग्रभटो नृपः।
क्रुद्धो भीमभटं स्वात्मसन्निकर्षान्न्यवारयत् ॥५८॥
हृतवृत्तिं च कृत्वैनं राजपुत्रशतं व्यधात्।
रक्षार्थं तस्य समरभटस्य सपरिच्छदम् ॥५९॥
स्वाधीनं चाकरोत्तस्य भाण्डागारं कनीयसः।
तं तु भीमभटं ज्येष्ठं सर्वाकारमपाकरोत् ॥६०॥
ततो माता तमाहूय सा वक्ति स्म मनोरमा।
नर्त्तकीरागिणा तावत्पित्रा त्वं परिवर्जितः ॥६१॥
तन्मातामहशालां त्वं गच्छ पाटलिपुत्रकम्।
तत्र मातामहः स्वं ते राज्यं दास्यत्यपुत्रकः ॥६२॥
इह त्वां चैष समरभटो हन्याद्रिपुर्बली।
इति मातुर्वचः श्रुत्वा तां स भीमभटोऽब्रवीत् ॥६३॥

पिता ने इस दूसरे पुत्र का नाम समरभट रखा। वे दोनों संस्कारी शिशु धीरे-धीरे बढ़ने लगे॥४६॥

बड़ा भाई भीमभट अपने सद्गुणों से छोटे भाई को पराजित करने लगा और इस संघर्ष में, उन दोनों में, एक दूसरे के प्रति वैर बढ़ने लगा॥५०॥

एक दिन बाहुयुद्ध का खेल खेलते हुए ईर्ष्या के वश, सहसा सोमभट ने भीमभट के गले पर आघात किया। तब भीमभट क्रुद्ध हो गया। उसने सोमभट को अपनी भुजाओं में लपेटकर ऊपर उठा लिया और झटपट जमीन पर दे मारा॥५१-५२॥

भाई के द्वारा करारी चोट पाने से उसके नाक-कान से रक्त बहने लगा। उसके सेवक उसे उठाकर उसकी माता के निकट ले गये॥५३॥

उसकी माता ने जब उसे देखा और सारा वृत्तान्त सुना, तब वह स्नेह से कातर हो उठी और उसके माथे पर सिर रखकर बहुत रोने लगी॥५४॥

इसी बीच वहाँ राजा आ पहुँचे। यह सब देखकर उनका मन विकल हो गया। उनके यह पूछने पर कि 'यह क्या है?', लास्यवती यों बोली—॥५५॥

"भीमभट ने मेरे बच्चे की यह दशा बना दी है। वह सदा इसके साथ ऐसा ही व्यवहार किया करता है, फिर भी मैं आपसे कहती नहीं। यह देखकर तो मुझे ऐसा लगता है कि 'आपका भी कल्याण कैसे होगा। अतः, ऐसे पुत्र के बारे में आप ही विचार करें॥५६-५७॥

अपनी प्रिया के ऐसा कहने पर राजा उग्रभट बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने भीमभट को अपने यहाँ से निकाल दिया। उन्होंने उसकी वृत्ति भी छीन ली और सोमभट की रक्षा के लिए, एक सौ सशस्त्र राजपुत्र नियुक्त कर दिये। उन्होंने राजकोष छोटे पुत्र के अधीन कर दिया और बड़े का सब कुछ छीनकर उसे अपने पास से दूर कर दिया॥५८-६०॥

तभी भीमभट की माँ, मनोरमा ने उसे बुलाकर कहा—"उस नाचनेवाली पर अनुरक्त तुम्हारे पिता ने तुम्हारा त्याग कर दिया है। इसलिए तुम अपने नाना के यहाँ, पाटलिपुत्र, चले जाओ। वे पुत्र-रहित हैं, अतः वे तुम्हें अपना राज्य दे देंगे। यहाँ रहोगे, तो तुम्हारा बलवान् शत्रु, समरभट, तुम्हें मार डालेगा।" माता की ये बातें सुनकर भीमभट ने उससे कहा—॥६१-६२॥

क्षत्रियः सन्न देशं स्वं त्यक्ष्यामि क्लीबवद्भयात्।
धीरा भवाम्ब कः शक्तो वराको मां प्रवाधितुम् ।।६४।।

इत्युक्तवन्तं तं माता साब्रवीत्तर्हि भूयसः।
सहायान्कुरु रक्षार्थं मदीयैस्त्वं धनैरिति ।।६५।।

ततो भीमभटोऽवादीदेतदम्ब न शोभते।
एवं हि सत्यं तातस्य प्रातिपक्ष्यं कृतं भवेत् ।।६६।।
तन्मे त्वदाशिषेव स्यात्कल्याणं निर्वृता भव।
इत्याश्वास्य स तां भीमभटो निरगमत्ततः ।।६७।।

तावच्च तत्र बुद्ध्वा तत्पौराः सर्वे व्यचिन्तयन्।
अनौचित्यं परं राज्ञा कृतं भीमभटस्य तु ।।६८।।

नैवास्य राज्यं समरभटो हर्त्तुं प्रगल्भते।
तदेष पूर्वसेवायाः कालो भीमभटस्य नः ।।६९।।

इति निश्चित्य गुप्तं ते पौरा भीमभटं धनैः।
तथापुष्यन्यथा सोऽत्र तस्थौ भृत्यैः समं सुखम् ।।७०।।

कनिष्ठः स तु तस्यासीद्वधमेव निरूपयन्।
पितुः परिच्छदकृतः परिकल्प्य तदाशयम् ।।७१।।

तावच्च शङ्खदत्ताख्यो विप्रः शूरो युवा धनी।
द्वयोर्वयस्यः समरभटमेत्य तमब्रवीत् ।।७२।।

भ्रात्रा वैरं न युक्तं ते नैष धर्मो न च त्वया।
ज्यायान्स वाधितुं शक्यः स्यादकीर्त्तिः परं तव ।।७३।।

इति ब्रुवन्नधिक्षिप्य स तेन निरभर्त्स्यत।
हितोपदेशो मूर्खस्य कोपायैव न शान्तये ।।७४।।

ततस्तत्कोपतो गत्वा धीरस्तद्विजिगीषया।
शङ्खदत्तो व्यधादेकसख्यं भीमभटेन सः ।।७५।।

अथात्र मणिदत्ताख्यः कोऽपि देशान्तरागतः।
आनीतवानश्वरत्नमेकमत्युत्तमं वणिक् ।।७६।।

"क्षत्रिय होकर, नपुंसक के समान, मैं भय से अपना देश नहीं छोड़ूंगा। माँ, तुम धीरज धरो। देखता हूँ, कौन बापुरा मेरा बाल भी बाँका करता है?" ॥६४॥

भीमभट के ऐसा कहने पर उसकी माँ ने फिर कहा—"तब तुम मेरे धन के द्वारा, अपनी रक्षा के लिए, कुछ सहायकों को ही नियुक्त कर लो" ॥६५॥

इसपर भीमभट ने कहा—"माँ! यह मुझे शोभा नहीं देता। यदि मैं ऐसा करूँ, तो सचमुच ही वह पिताजी के विरुद्ध आचरण होगा। तुम निश्चिन्त रहो। तुम्हारे आशीर्वाद से ही मेरा कल्याण होगा।" इस प्रकार, माँ को दिलासा देकर, भीमभट वहाँ से चला गया ॥६६-६७॥

जब नगर के लोगों को ये बातें मालूम हुईं, तब उन्होंने सोचा कि "राजा ने भीमभट के प्रति बड़ा अनुचित व्यवहार किया है। समरभट उसका राज्य छीन लेने की प्रगलभता नहीं कर सकता; अतः यही अवसर है कि राज्य पाने के पूर्व हम भीमभट की सेवा कर सकें।" ऐसा निश्चय करके वे नगरवासी धन के द्वारा भीमभट की ऐसी सेवा करने लगे कि वह अपने सेवकों के सहित सुखपूर्वक वहाँ रहने लगा ॥६८-७०॥

राजा ने अपने छोटे पुत्र समरभट के लिए सशस्त्र रक्षकों की व्यवस्था कर दी थी, इससे उनका अभिप्राय जानकर वह सदा बड़े भाई का वध करने की घात में लगा रहता था ॥७१॥

इसी बीच शंखदत्त नामक एक ब्राह्मण ने, जो वीर था, युवक था, धनी था और दोनों ही भाइयों का मित्र भी था, समरभट के पास आकर कहा—॥७२॥

"बड़े भाई से तुम्हें वैर न रखना चाहिए, यह धर्म भी नहीं है और तुम उसे पराजित भी नहीं कर सकते, बल्कि इससे तुम्हारी अकीर्त्ति ही होगी" ॥७३॥

ऐसा कहने पर समरभट ने उसका तिरस्कार किया और उसे धमकाया। मूर्ख को दिया गया हितकारी उपदेश उसे शान्त नहीं करता, क्रुद्ध ही कर देता है ॥७४॥

उसके क्रुद्ध होने पर, धीर स्वभाव का शंखदत्त, उसे जीतने की इच्छा से भीमभट के पास चला गया और उसे ही अपना एकमात्र मित्र बना लिया ॥७५॥

इसी समय मणिदत्त नाम का एक वणिक् वहाँ आया, जो अपने साथ एक बहुत उत्तम घोड़ा ले आया था ॥७६॥

शशाङ्कधवलं शुद्धशङ्खादिश्रव्यनिःस्वनम् ।
दुग्धाब्धेरिव कल्लोलजालमुच्छ्रितमुत्थितम् ॥७७॥

रोचमानैः समायुक्तचूडामण्यङ्गदादिभिः ।
गन्धर्वकुलसम्भूतिसंसिद्धैरिव भूषितम् ॥७८॥

आख्यातं शङ्खदत्तेन तं च गत्वा हयोत्तमम् ।
क्रीणाति स्म धनैर्भीमभटस्तस्माद्वणिग्वरात् ॥७९॥

तत्क्षणं चात्र समरभटो बुद्ध्वा तदेत्य सः ।
मूल्येन द्विगुणेनाश्वं वणिजो मार्गति स्म तम् ॥८०॥

परतन्त्रीकृतं तं च तस्मै नादाद्वणिग्यदा ।
तदा सोऽश्वं बलान्नेतुं तं प्रावर्त्तत मत्सरात् ॥८१॥

तेनोभयोस्तयो राजपुत्रयोः शस्त्रपाणिषु ।
भृत्येषु धावितेष्वत्र समभूद्युद्धमुद्धतम् ॥८२॥

तत्र भीमभटोच्चण्डदोर्दण्डनिहतानुगः ।
त्यक्त्वा हयं स समरभटोऽभज्यत तद्भयात् ॥८३॥

भज्यमानं च धावित्वा केशेष्वाकृष्य पृष्ठतः ।
निहन्ति शङ्खदत्तस्तं यावन्मन्युभराकुलः ॥८४॥

तावद्भीमभटः पश्चादुपेत्यैनं न्यवारयत् ।
आस्तां सम्प्रति तातस्य दुःखमेवं भवेदिति ॥८५॥

ततः स शङ्खदत्तेन मुक्तो रक्तं व्रणैर्वमन् ।
त्रस्तः पलाय्य समरभटः पार्श्वमगात्पितुः ॥८६॥

ततोऽत्र स्वीकृताश्वं तं वीरं भीमभटं क्षणात् ।
उपेत्य ब्राह्मणः कश्चिन्नीत्वा विजनमब्रवीत् ॥८७॥

माता मनोरमा देवी यजुः स्वामी पुरोहितः ।
पितृमन्त्री स सुमतिस्त्वामिदं ब्रुवतेऽधुना ॥८८॥

जानासि यादृशो वत्स राजा त्वयि विशेषतः ।
अस्मिन्व्यतिकरे वृत्ते शत्रुतामेव ते गतः ॥८९॥

तदात्मानं च धर्मं च यशश्च यदि रक्षसि ।
आयतिं यदि जानासि यद्यस्मान्मन्यसे हितान् ॥९०॥

तदर्कोऽस्तं गतो यावदितस्तावदलक्षितः ।
निर्गत्य साम्प्रतं सिद्ध्यै मातामहगृहं व्रज ॥९१॥

इति सन्दिष्टवद्भिश्च सद्रत्नस्वर्णपूरितम् ।
तैरिदं प्रेषितं भाण्डं मद्धस्तेन च गृह्यताम् ॥९२॥

वह घोड़ा चन्द्रमा की तरह सफेद था, उसकी हिनहिनाहट युद्धशंख की ध्वनि के समान सुनने योग्य थी, वह क्षीर-सागर से उठनेवाली ऊँची लहरों के समान चंचल था, चूडामणि और बाजूबन्द आदि गहनों से उसका शृंगार इस प्रकार किया गया था कि वह गन्धर्वों के कुल की सिद्धियों के सहित जनमा हुआ जान पड़ता था ॥७७-७८॥

शंखदत्त के कहने पर भीमभट ने वहाँ जाकर और यथेष्ट धन देकर उस वणिक्-श्रेष्ठ से वह उत्तम घोड़ा खरीद लिया ॥७९॥

समरभट को जब यह बात मालूम हुई, तब वह तत्काल वहाँ जा पहुँचा और उस वणिक् को दूना मूल्य देकर घोड़ा माँगने लगा ॥८०॥

घोड़े को बेच चुकने के कारण वणिक् ने जब उसे समरभट को नहीं दिया, तब वह, ईर्ष्या के कारण, बलपूर्वक उसे लेने को उद्यत हुआ ॥८१॥

तब शस्त्र धारण करनेवाले दोनों पक्षों के अनुचर एक दूसरे पर टूट पड़े और दोनों राजपुत्रों में घोर युद्ध हुआ ॥८२॥

भीमभट ने प्रबल पराक्रम से समरभट के अनुचरों को मार डाला। तब समरभट अपने भाई के भय से, घोड़े को छोड़कर भागने लगा ॥८३॥

भागते हुए समरभट के पीछे दौड़कर शंखदत्त ने उसकी चोटी पकड़ ली। क्रोध से विकल वह उसे मारने ही जा रहा था कि पीछे से भीमभट वहाँ आ गया और उसने शंखदत्त को रोकते हुए कहा—"अब इसे छोड़ दो, इससे पिता को दुःख होगा" ॥८४-८५॥

तब शंखदत्त ने उसे छोड़ दिया। समरभट के घावों से खून बह रहा था। वह डर से भागकर पिता के पास चला गया ॥८६॥

अनन्तर, भीमभट ने उस घोड़े को ले लिया, लेकिन इसी समय वहाँ एक ब्राह्मण आ पहुँचा और वह भीमभट को एकान्त में ले जाकर उससे बोला—॥८७॥

"तुम्हारी माता मनोरमा देवी, पुरोहित यजुःस्वामी और तुम्हारे पिता के मन्त्री सुमति ने इस समय तुम्हें यह सन्देश भेजा है—'वत्स! तुम्हारे प्रति राजा का जो भाव है, उसे तुम जानते ही हो। इस युद्ध के कारण इस समय तुम्हारे प्रति उनकी शत्रुता और भी बढ़ गई है। अतः, यदि तुम अपनी तथा अपने धर्म और यश की रक्षा करना चाहते हो, यदि तुम्हें अपने भविष्य का कुछ ध्यान हो और तुम हमें अपना हितैषी समझते हो, तो इन कार्यों की सिद्धि के लिए, सूर्यास्त होते ही, तुम छिपकर यहाँ से अपने नाना के घर चले जाओ।' इस सन्देश के साथ ही उन्होंने उत्तम रत्नों और स्वर्ण से भरा हुआ यह कलश भी भेजा है। तुम इसे मेरे हाथों से ले लो ॥८८—९२॥

एतत्तस्माद्द्विजाच्छ्रुत्वा स तथेत्यभिनन्द्य च।
सुधीस्तत्स्वर्णसद्रत्नभाण्डं भीमभटोऽग्रहीत् ॥९३॥
दत्त्वा च प्रतिसन्देशमनुरूपं विसृज्य तम्।
द्विजं कृपाणपाणिस्तमारूढोऽभूत्तुरङ्गमम् ॥९४॥
गृहीतहेमरत्नेन द्वितीयाश्वाधिरोहिणा।
सहितः शङ्खदत्तेन सोऽथ प्रस्थितवांस्ततः ॥९५॥
दूरं व्यतीत्य चाध्वानं निशीथे स नृपात्मजः।
प्रापद्भीमभटो मार्गमध्ये शरवणं महत् ॥९६॥
तत्रानवरतं तस्य सवयस्यस्य गच्छतः।
पतद्वाजिखुरक्षुण्णशरशब्दप्रबोधितम् ॥९७॥
उत्थाय सिंहमिथुनमुद्गर्जत्पोतकैः सह।
अपाटयत्तौ तुरगौ नखैरुदरयोरधः ॥९८॥
सद्वितीयश्च तान्सर्वान्सिंहान्वीरः स तत्क्षणम्।
खड्गप्रहारलूनाङ्गानकरोद्गतजीवितान् ॥९९॥
समित्रोऽप्यवरुह्याथ तुरगौ यावदीक्षते।
तावद्विगलितान्त्रौ तौ भूमावपततामुभौ ॥१००॥
तद्दृष्ट्वा स विषण्णस्तं शङ्खदत्तमभाषत।
सखे विरुद्धात्स्वजनाद्वयं यत्नात्पलायिताः ॥१०१॥
ब्रूहि यत्नशतेनापि क्व पलायामहे विधेः।
येनेहापि हताः स्मोऽद्य वाहमात्रासहिष्णुना ॥१०२॥
यत्कृते विहितो देशत्यागः सोऽपि हयो मृतः।
तदस्माभिः कथं पद्भ्यां गम्येयमटवी निशि ॥१०३॥
इत्युक्तस्तेन स सुहृच्छङ्खदत्तस्तमब्रवीत्।
नैतन्नवं जयति यत्पौरुषं विधुरो विधिः ॥१०४॥
निसर्ग एव तस्यायं धैर्येण तु स जीयते।
वातोऽद्रेरिव किं कुर्याद्धीरस्याकम्पितस्य सः ॥१०५॥
तदेह्यारूढधैर्याश्वौ व्रजावोऽत्रेति वादिना।
शङ्खदत्तेन स समं प्रायाद्भीमभटस्ततः ॥१०६॥

उस ब्राह्मण से ये बातें सुनकर बुद्धिमान् भीमभट ने उसका अभिनन्दन किया और 'ऐसा ही करूँगा' कहकर उससे स्वर्ण तथा उत्तम रत्नों का कलश ले लिया ॥९३॥

भीमभट ने उचित सन्देश देकर उस ब्राह्मण को लौटा दिया और तब हाथ में शस्त्र लेकर घोड़े पर सवार हो गया ॥९४॥

शंखदत्त भी जब सुवर्ण और रत्न लेकर दूसरे घोड़े पर सवार हुआ, तब भीमभट उसके साथ वहाँ से चल पड़ा ॥९५॥

लम्बी राह तय करके, रात होने पर, राजपुत्र भीमभट मार्ग में पड़नेवाले एक सरकण्डे के वन में जा पहुँचा ॥९६॥

वहाँ अपने मित्र के साथ लगातार चलने के कारण, घोड़ों के टाप से सरकण्डों की जो आवाज होती थी, उससे सिंहों का एक जोड़ा अपने बच्चों के सहित जग पड़ा। उन सबने अपने नखों से घोड़ों के पेट का निचला भाग विदीर्ण कर दिया ॥९७-९८॥

शंखदत्त के सहित वीर भीमभट ने तत्काल ही अपनी तलवार के वार से उन सिंहों के अंग-अंग काट डाले और उन्हें निर्जीव बना दिया ॥९९॥

मित्र के सहित घोड़े से उतरकर जब उसने देखा, तब पाया कि उन घोड़ों की अँतड़ियाँ बाहर निकल आई हैं। इतने ही में वे दोनों मरकर भूमि पर गिर पड़े ॥१००॥

यह देखकर भीमभट दुःखी हो गया। उसने शंखदत्त से कहा—"मित्र! विरोधाचरण करनेवाले स्वजनों के पास से हम यत्नपूवक भाग आये हैं; लेकिन सैकड़ों यत्न करके भी हम उस विधाता से भागकर कहाँ जायेंगे, जिससे हम लोगों का वाहन-भर का सहारा भी सहा नहीं गया और जिसने आज यहाँ भी हम पर प्रहार किया है। जिस घोड़े के लिए हमने देश छोड़ा, वह भी मर गया। अब इस रात को हम वन में पैदल कैसे जायेंगे? ॥१०१—१०३॥

उसके ऐसा कहने पर उसके हितैषी शंखदत्त ने उससे कहा—"यह कोई नई बात नहीं है। विधाता जब प्रतिकूल होता है, तब वह मनुष्य का पौरुष जीत लेता है। यही उसका स्वभाव है। उसे धैर्य से ही जीता जा सकता है। जैसे हवा, पर्वत का कुछ अनिष्ट नहीं कर सकती, उसी प्रकार जो धीर पुरुष अडिग रहते हैं, विधाता उनका क्या बिगाड़ सकता है? इसलिए, आओ, हम धैर्य के घोड़े पर सवार होकर यहाँ से चलें।" शंखदत्त के ऐसा कहने पर भीमभट वहाँ से उसके साथ चल पड़ा ॥१०४—१०६॥

व्यतिक्रान्तस्य शनकैः कान्तारमथ तस्य तत्।
शरपाटितपादस्य शर्वरी पर्यहीयत ॥१०७॥

उदितेऽथ जगद्दीपे भानौ नैशतमोमुषि।
मार्गाब्जिनीसरोजेषु मधुरक्वणितालिषु ॥१०८॥

दिष्ट्या सिंहादिसङ्कीर्णा तीर्णोऽयमटवीमिमान्।
जल्पत्स्विवोत्फुल्लमुखेष्वन्योन्यमवलोक्य तम् ॥१०९॥

क्रमेण गच्छन्नुटजैः समकीर्णं तपस्विनाम्।
पुलिनं जह्नुकन्यायाः प्रापत्स सवयस्यकः ॥११०॥

तत्र शार्वशिरोवासलग्नचन्द्रामृतैरिव।
तज्जलैः स्वादुभिः शीतैः स्नातो विश्राम्यति स्म सः ॥१११॥

व्याधान्मार्गागतात्क्रीतैर्भृष्टैश्च हरिणामिषैः।
शङ्खदत्तोपनीतैश्च देहवृत्तिं व्यधत्त सः ॥११२॥

उत्तरीतुमशक्यां च पूर्णमालोक्य जाह्नवीम्।
तरङ्गहस्तैरसकृद्वारयन्तीमिवोच्छ्रितैः ॥११३॥

तस्याः कूलेन स ततो गत्वा ब्राह्मणपुत्रकम्।
स्वाध्यायासक्तमद्राक्षीद्विजनस्थोटजाङ्गणे ॥११४॥

उपेत्य तमपृच्छच्च कस्त्वं किमिह निर्जने।
एकाक्येव करोषीति ततः सोऽप्येनमभ्यधात् ॥११५॥

अहं वाराणसीवासी श्रीकण्ठाख्यद्विजात्मजः।
नीलकण्ठाभिधः पित्रा कृतसंस्कारपद्धतिः ॥११६॥

सोऽहं गुरुकुलाधीतविद्यो वाल्ये निजं गृहम्।
उपैमि यावत्तावन्मे विनष्टाः सर्ववान्धवाः ॥११७॥

तेनानाथोऽर्थहीनश्च गार्हस्थ्यासिद्धिदुःस्थितः।
निर्विण्णोऽहमिहागत्य तपस्तीव्रमशिश्रियम् ॥११८॥

ततः स्वप्नेऽब्रवीद्देवी गङ्गा दत्त्वा फलानि मे।
एतानि खादीस्तिष्ठेह यावत्प्राप्स्यसि वाञ्छितम् ॥११९॥

एतच्छ्रुत्वा प्रबुद्ध्येव गत्वा स्नात्वा निशाक्षये।
प्रापं फलानि गङ्गायामागतानि जलान्तरे ॥१२०॥

धीरे-धीरे उन लोगों ने उस वन को पार किया। सरकण्डों से उनके पैर छिल गये। रात बीत गई ॥१०७॥

रात्रि का अन्धकार नष्ट करनेवाला, जगत् का दीप-रूप सूर्य, उदित हुआ। मार्ग में कमलपुष्प खिले हुए थे, जिनपर प्रसन्न मुखवाले भौंरे गुंजन करते हुए, मानों एक-दूसरे की ओर देखकर कह रहे थे कि "अच्छा हुआ कि सिंह आदि से भरा हुआ यह वन पार कर आया" ॥१०८-१०९॥

चलते-चलते भीमभट अपने मित्र के सहित गंगा के तट पर पहुँचा, जहाँ तपस्वियों की झोपड़ियाँ बनी हुई थीं ॥११०॥

वहाँ, महादेव के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा से झरनेवाले अमृत के समान स्वादिष्ठ और शीतल गंगा के जल में भीमभट ने स्नान करके विश्राम किया ॥१११॥

उस राह से आते हुए एक व्याध से उन्होंने हरिण का मांस खरीदा। शंखदत्त उसे भूनकर ले आया और भीमदत्त ने उससे अपनी भूख बुझाई ॥११२॥

गंगा भरी हुई थी। उसको पार करना असम्भव-सा था। वह मानों उछलती हुई तरंगों के हाथों से उन्हें बार-बार रोक रही थी ॥११३॥

गंगा के किनारे चलते हुए वे एक निर्जन स्थान में पहुँचे। वहीं, एक कुटी के आँगन में उन्होंने एक ब्राह्मण-पुत्र को स्वाध्याय में निरत देखा ॥११४॥

भीमभट ने उसके पास जाकर पूछा कि 'तुम कौन हो और इस निर्जन स्थान में अकेले क्या कर रहे हो?' तब उसने इनसे कहा—॥११५॥

"मैं काशी-निवासी श्रीकण्ठ नामक ब्राह्मण का पुत्र नीलकण्ठ हूँ। बाल्यकाल में पिता ने मेरे सब संस्कार करके मुझे अध्ययन के लिए गुरुकुल में भेजा। वहाँ से विद्या पढ़कर जब मैं घर लौटा, तब मेरे सब सम्बन्धी मर चुके थे ॥११६-११७॥

इससे मैं अनाथ और निर्धन हो गया। गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करना मेरे लिए सम्भव न रहा। दुःखी होकर मैं यहाँ चला आया और कठोर तपस्या करने लगा ॥११८॥

अनन्तर, देवी गंगा ने स्वप्न में आकर मुझे फल दिये और कहा कि इन फलों को खाते हुए तुम तबतक यहाँ रहो, जबतक तुम्हारे मनोरथ पूरे न हो जायँ ॥११९॥

यह सुनकर मैं जग पड़ा और रात बीतने पर मैंने जाकर गंगा-स्नान किया। वहाँ मुझे जल में बहकर आये हुए हुए फल मिले ॥१२०॥

तान्यानीयामृतस्वादून्युटजेऽहं च भुक्तवान्।
एवं तान्यन्वहं प्राप्तान्यश्नन्नहमिह स्थितः ॥१२१॥
इति तेनोदिते शङ्खदत्तं भीमभटोऽब्रवीत्।
अस्मै गार्हस्थ्यपर्याप्तं ददामि गुणिने धनम् ॥१२२॥
तच्छ्रुत्वा श्रद्धितवचास्तेन राजसुतोऽथ सः।
मात्रा निसृष्टं तद्द्रव्यमदात्तस्मै द्विजन्मने ॥१२३॥
अलुप्तसत्त्वकोषाणां महत्त्वं महतां हि किम्।
आकर्णितां परस्यार्त्तिं न चेच्छिन्दन्ति तत्क्षणम् ॥१२४॥
कृतार्थीकृत्य तं विप्रं ततो गत्वा स सर्वतः।
चिन्वन्नुत्तरणोपायं गङ्गायां नाप्तवान्यदा ॥१२५॥
तदा भीमभटो मूर्धनिवद्धासिविभूषणः।
शङ्खदत्तयुतो दोर्भ्यां तरीतुं तामवातरत् ॥१२६॥
मध्यभागे च वार्यौघदूरीकृतवयस्यकः।
कथञ्चित्तीर्णवान्पारं ह्रियमाणः स वीचिभिः ॥१२७॥
पारं प्राप्तस्य मित्रं तं शङ्खदत्तमपश्यतः।
अन्विष्यतश्चानुतटं तस्यास्तमगमद्रविः ॥१२८॥
ततो निराशो हा मित्रेत्याक्रन्दन्नतिदुःखितः।
गङ्गायां क्षेप्तुमात्मानमुद्यतोऽभून्निशागमे ॥१२९॥
जीवितं मे सखा देवि जाह्नव्यपहृतस्त्वया।
तच्छून्यं देहमप्येतं त्वं गृहाणाधुना मम ॥१३०॥
इत्युक्त्वा यावदात्मानं क्षेप्तुमिच्छति तत्र सः।
तावदाविरभूत्साक्षाद्गङ्गा तस्याम्बुमध्यतः ॥१३१॥
अब्रवीत्तीव्रसंवेगतुष्टा सा तं च तत्क्षणम्।
मा पुत्र साहसं कार्षीः स ते जीवन्सखा स्थितः ॥१३२॥
अचिरेण च संयोगस्तव तेन भविष्यति।
प्रतिलोमानुलोमाख्यां विद्यां चैतां गृहाण मे ॥१३३॥
अदृश्यः स्यात्परस्यैतामनुलोमां पठन्नरः।
प्रतिलोमां पठन्कुर्यादिष्टरूपप्रकाशनम् ॥१३४॥
एतत्प्रभावा विद्येयं यत्सा सप्ताक्षरोम्भिता।
एतत्प्रभावात्त्वं चास्यां पृथ्व्यां राजा भविष्यसि ॥१३५॥

अमृत के समान स्वादिष्ठ उन फलों को अपनी कुटिया में लाकर मैंने खाया और तब से प्रतिदिन इसी प्रकार पाये हुए फलों को खाकर मैं यहाँ रह रहा हूँ" ॥१२१॥

उसके ऐसा कहने पर भीमभट ने शंखदत्त से कहा—"इस गुणवान् ब्राह्मण को मैं गृहस्थी चलाने के योग्य धन देता हूँ।" शंखदत्त ने जब उसकी बात का समर्थन किया, तब उस राजपुत्र ने माता के द्वारा दिया हुआ धन ब्राह्मण को दे दिया।१२२-१२३॥

जो महापुरुष प्रबल पराक्रमी होता है, वह यदि दूसरों की दुःखगाथा सुनकर तत्काल उसका दुःख दूर नहीं करता, तो उसकी क्या महत्ता है? ॥१२४॥

उस ब्राह्मण के मनोरथ पूरे करके भीमभट चारों ओर खोज-ढूँढ़कर भी जब गंगा को पार करने का कोई उपाय नहीं देख सका, तब उसने अपनी तलवार और गहने माथे पर बाँध लिये और तैरकर पार जाने के लिए शंखदत्त के सहित गंगा में उतर पड़ा॥१२५-१२६॥

वे दोनों जब गंगा के बीचोंबीच पहुँचे, तब जल के वेग से शंखदत्त उससे अलग हो गया। भीमदत्त भी लहरों के थपेड़े खाता हुआ किसी प्रकार उस पार पहुँच सका॥१२७॥

गंगा के उस पार पहुँचकर उसने अपने मित्र शंखदत्त को नहीं देखा। जब वह तट पर चारों ओर उसे ढूँढ़ रहा था, तभी सूर्यास्त हो गया॥१२८॥

मित्र को खोज-ढूँढ़कर जब भीमभट निराश हो गया, तब अत्यन्त दुःखी होकर 'हा मित्र' कहता हुआ वह विलाप करने लगा और रात होने पर अपने को भी गंगा में डाल देने को उद्यत हुआ॥१२९॥

उसने कहा—"हे देवि गंगे! तुमने प्राणों के समान मेरे मित्र का हरण कर लिया है, इसलिए अब तुम मेरी इस सूनी देह को भी ग्रहण करो॥१३०॥

यह कहकर ज्यों ही वह गंगा में कूदने चला, त्यों ही उस जल में से साक्षात् गंगा प्रकट हो गई॥१३१॥

भीमभट के तीव्र प्रेमावेग से सन्तुष्ट होकर उन्होंने तत्काल ही कहा—"पुत्र! ऐसा दुस्साहस मत करो। तुम्हारा वह मित्र जीवित है शीघ्र ही उससे तुम्हारा मिलन होगा। तुम मुझसे प्रतिलोम तथा अनुलोम विद्याएँ सीख लो। इनमें से अनुलोम का पाठ करने पर मनुष्य दूसरों के सम्मुख अदृश्य हो जाता है और प्रतिलोम का पाठ करने पर इच्छानुरूप वेश धारण कर सकता है। ऐसे प्रभाववाली यह विद्या सात अक्षरों से युक्त है। इसके प्रभाव से तुम इस पृथिवी का राजा होओगे" ॥१३२—१३५॥

इत्युक्त्वा दत्तविद्या सा तिरोऽभूत्तस्य जाह्नवी ।
जातास्थः सखिलाभादौ मरणात्सोऽप्युपारमत् ॥१३६॥
मित्रप्राप्त्युत्सुको नीत्वा कृच्छ्रात्पद्म इव क्षपाम् ।
प्रातर्भीमभटस्तं स चिन्वन्प्रस्थितवांस्ततः ॥१३७॥
अथान्वेष्टुं क्रमादेतं शङ्खदत्तं परिभ्रमन् ।
देशं स लाटविषयं कदाचित्प्रापदेककः ॥१३८॥
यत्रासङ्कीर्णवर्णोऽपि जनश्चित्रोज्ज्वलस्थितिः ।
विलयोऽपि कलानां यो न दोषाकरशब्दभाक् ॥१३९॥
तत्रान्तर्नगरे देवकुलावासान्विलोकयन् ।
भ्रान्त्वा स द्यूतकाराणामेकां शालामवाप्तवान् ॥१४०॥
तत्र प्रविश्य चापश्यत्कितवानक्षदेविनः ।
कटिकर्पटमात्रैकवसनानपि पेशलैः ॥१४१॥
विभक्तैः पीवरैश्चाङ्गैर्भोगव्यायामसूचकैः ।
शंसतो गूढमैश्वर्यमर्थार्थाश्रिततत्कलम् ॥१४२॥
कृतालापैश्च तैः साकं द्यूतमारभते स्म सः ।
अयं साभरणोऽस्माकं भक्ष्य इत्यात्तबुद्धिभिः ॥१४३॥
ततस्तेन हृतं तेषां जित्वाक्षैरखिलं धनम् ।
धूर्तैर्यद्वञ्चयित्वान्यांस्तैरभूत्समुपार्जितम् ॥१४४॥
हारितार्थांश्च कितवान्स्वगृहान्गन्तुमुद्यतान् ।
द्वारार्पितभुजो रुद्ध्वा स तान्भीमभटोऽब्रवीत् ॥१४५॥
क्व गच्छथेदं गृह्णीत धनं किममुना मम ।
मयैतद्देयमिष्टेभ्यो यूयं चेष्टा न किं मम ॥१४६॥
भवद्भिः सदृशानिष्टान्सखीन्प्राप्नोम्यहं कुतः ।
इति तस्मिन्वदत्येव तेष्वगृह्णत्सु च ह्रिया ॥१४७॥
अक्षक्षपणको नाम तत्रैकः कितवोऽब्रवीत् ।
तद्द्यूतपरिभाषैषा हारितं यन्न दीयते ॥१४८॥
तथाप्येष सुहृद्भूत्वा यद्यस्मभ्यं प्रयच्छति ।
स्वेच्छया जितमप्यर्थं तद्गृह्णीमो वयं न किम् ॥१४९॥

यह कहकर और उसे वे विद्याएँ देकर गंगाजी अदृश्य हो गईं। मित्र से मिलन आदि की आशा होने के कारण उसने भी मरने का विचार त्याग दिया ॥१३६॥

कमल जिस प्रकार कठिनाई से रात बिताता है, मित्र से मिलने के लिए उत्सुक भीमभट ने भी उसी प्रकार रात बिताई। सवेरा होने पर वह अपने मित्र को ढूंढ़ता हुआ, वहाँ से आगे बढ़ा ॥१३७॥

इस तरह अपने मित्र शंखदत्त को ढूंढ़ता हुआ, भीमभट एक समय अकेला ही, गुजरात नामक देश में जा पहुँचा ॥१३८॥

यद्यपि वहाँ के लोग विभिन्न वर्गों के थे, किन्तु चित्र में उन सबकी स्थिति अत्यन्त उज्ज्वल जान पड़ती थी। वे कलाओं के आगार थे, किन्तु दोषाकर शब्द के भागी नहीं थे ॥१३९॥

उस नगर में देवमन्दिरों को देखता हुआ, घूमता-फिरता, वह जुआड़ियों के एक अड्डे पर जा पहुँचा ॥१४०॥

वहाँ जाकर उसने कुछ जुआड़ियों को जूआ खेलते हुए देखा। यद्यपि उन लोगों ने केवल कमर में ही एक वस्त्र पहन रखा था, फिर भी उनके सुन्दर, सुदृढ और सुपुष्ट अंगों के द्वारा ऐसा जान पड़ता था कि वे सुखी जीवन बितानेवाले और व्यायाम करनेवाले हैं। उन्हें देखकर यह भी जान पड़ता था कि वे धनाढ्य हैं, यद्यपि अपना धन उन्होंने छिपा रखा था और अर्थोपार्जन के लिए ही वे इस काम में लगे हुए हैं ॥१४१-१४२॥

उन लोगों से बातचीत करने के बाद, भीमभट उनके साथ जूआ खेलने लगा। उन लोगों ने भी सोचा कि आभूषणों के सहित हमें आज यह अच्छा शिकार मिला है ॥१४३॥

लेकिन, दूसरों को ठगकर उन धूर्तों ने जो धन कमाया था, भीमभट ने वह सब जूए में उनसे जीत लिया ॥१४४॥

वे जुआड़ी जब अपना सब कुछ हारकर घर जाने को उद्यत हुए, तब दरवाजे पर अपनी बाँहें टेककर भीमभट ने उन्हें रोक दिया और कहा--॥१४५॥

"तुम लोग कहाँ जा रहे हो? इस धन को तुम ले लो। मुझे इसका क्या करना है? मैं तो इसे अपने मित्रों को ही दे दूँगा और तुम लोग क्या मेरे मित्र नहीं हो? तुम लोगों के समान अनुकूल मित्र मैं और कहाँ पाऊँगा?" किन्तु भीमभट के ऐसा कहने पर भी, लज्जा के कारण, वे उस धन को लेना नहीं चाहते थे ॥१४६-१४७॥

तब उनमें से अक्षक्षपणक नाम के एक जुआरी ने कहा—"निश्चय ही जूए की यह परिभाषा हैं कि जीते हुए धन को वापस नहीं देना चाहिए, लेकिन जब ये मित्र बनकर हम लोगों को स्वेच्छा से जीता हुआ धन दे रहे हैं, तब हम इसे क्यों न ले लें?" ॥१४८-१४९॥

तच्छुत्वा तेऽब्रुवन्नन्ये सख्यं चेदेष शाश्वतम्।
तादृशं कुरुतेऽस्माभिस्तदैतदुपपद्यते ॥१५०॥
एवमुक्तवतस्तान्स मत्वा वीरांस्तथेति तैः।
व्यधाद्भीमभटः सख्यमदात्तेभ्यश्च तद्धनम् ॥१५१॥
तदर्थितश्च तैः साकमुद्याने सकुटुम्बकैः।
गत्वा भोजनपानाद्यैर्व्यहरत्तदुपाहृतैः ॥१५२॥
ततोऽक्षक्षपणाद्यैस्तैः पृष्टस्तेभ्योऽब्रवीन्निजम्।
स वंशनामवृत्तान्तमपृच्छच्च तथैव तान् ॥१५३॥
अथैवमक्षक्षपणस्तस्मै स्वोदन्तमभ्यधात्।
शिवदत्ताभिधानोऽभूद्ब्राह्मणो हस्तिनापुरे ॥१५४॥
तस्याहं वसुदत्ताख्यो महाधनवतः सुतः।
बाल्ये मया शस्त्रविद्या वेदविद्याश्च शिक्षिताः ॥१५५॥
ततो विवाहः पित्रा मे विहितः सदृशात्कुलात्।
माता तु मे महारौद्रा दुराराध्यातिकोपना ॥१५६॥
तया चोद्वेजितोऽत्यर्थं दृष्ट्वा मां सपरिग्रहम्।
पिता मे स्वगृहं त्यक्त्वा स गतः क्वाप्यतर्कितः ॥१५७॥
तद्दृष्ट्वा सभयोऽम्बायाश्चित्तग्रहविधावहम्।
यत्नान्नियुक्तवान्भार्यां सापि भीता तथाकरोत् ॥१५८॥
अम्बा तु तस्या नातुष्यत्कथञ्चित्कलहोद्यता।
तूष्णींस्थानमवज्ञानं दैन्यालापं च कैतवम् ॥१५९॥
प्रत्यायनं विवादं च मन्यमाना दुराशया।
को हि त्याजयितुं शक्तो वह्लेः स्वां दहनात्मताम् ॥१६०॥
ततस्तस्या विरुद्धैस्तैश्चेष्टितैः सा ममाचिरात्।
खिन्ना भार्यापि निर्गत्य न जाने क्व गता गृहात् ॥१६१॥
अथोद्विग्नो गृहं त्यक्तुमना अपि बलादहम्।
मिलित्वा बन्धुभिः पापैर्विवाहं कारितोऽपरम् ॥१६२॥
सापि भार्या ममतया तथा सन्तापिताम्भया।
उद्बध्य पाशेनात्मानं व्यापादितवती यथा ॥१६३॥

यह सुनकर दूसरों ने कहा कि यदि ये हमसे स्थिर मैत्री कर लें तो ऐसा करना उचित होगा ॥१५०॥

उनके ऐसा कहने पर भीमभट ने समझा कि वे वीर हैं, उसने उनकी बात मान ली और उनके साथ मित्रता करके उन्हें वह धन दे दिया ॥१५१॥

उन लोगों के अनुरोध से वह उनके तथा उनके कुटुम्बियों के सहित उद्यान में गया और उन लोगों के लाये हुए भोजन-पान आदि का उपयोग किया ॥१५२॥

अनन्तर, अक्षक्षपणक आदि उन सबके पूछने पर भीमभट ने अपना नाम, वंश और वृत्तान्त कह सुनाया। फिर उसने उनसे भी यही पूछा ॥१५३॥

तब अक्षक्षपणक ने उसे अपनी जीवन-कथा कह सुनाई-–"हस्तिनापुर में शिवदत्त नाम का एक ब्राह्मण था ॥१५४॥

मैं उस महाधनी ब्राह्मण का, वसुदत्त नामक, पुत्र हूँ। बचपन में मैंने शस्त्रविद्या और वेदविद्याएँ सीखीं ॥१५५॥

इसके बाद मेरे पिता ने समान कुल में मेरा विवाह कर दिया। मेरी माता बड़ी कर्कशा और अत्यन्त क्रोधी स्वभाव की थी। उसे शान्त करना बड़ा कठिन था ॥१५६॥

उसने मेरे पिता को इतना तंग कर दिया कि मेरे विवाह के बाद, वे अचानक ही घर छोड़कर कहीं चले गये ॥१५७॥

यह देखकर मैं बहुत डर गया। मैंने यत्नपूर्वक अपनी पत्नी को माँ का मन जुगाने के काम में लगा दिया। डर के मारे वह भी मेरे कहने के अनुसार करने लगी ॥१५८॥

लेकिन, कलह के लिए उद्यत मेरी माँ उससे किसी तरह प्रसन्न नहीं हुई। वह दुराशया मेरी पत्नी की चुप्पी को अवज्ञा, उसके दीन वचनों को छल-प्रपंच और समझाने-बुझाने को विवाद मानती थी। बात यह है कि आग में जो दाहकता है, उसे उससे कौन दूर कर सकता है ॥१५९-१६०॥

कुछ ही समय में उसके प्रतिकूल व्यवहारों से खिन्न होकर, एक दिन मेरी पत्नी भी घर छोड़कर जाने कहाँ चली गई ॥१६१॥

इसके बाद मैं बहुत उद्विग्न हो गया और मैंने भी घर छोड़ देने का निश्चय किया; लेकिन मेरे दुरात्मा कुटुम्बियों ने इकट्ठा होकर बलपूर्वक मेरा दूसरा विवाह करा दिया ॥१६२॥

लेकिन, मेरी माँ ने मेरी इस पत्नी को भी इतना सताया कि उसने फाँसी लगाकर आत्म-हत्या कर ली ॥१६३॥

ततोऽहं नितरां खिन्नो विदेशं गन्तुमुद्यतः।
निवारयद्भ्यो वन्धुभ्योऽवर्णयं मातृदुष्टताम्॥१६४॥

पितृप्रवासनादौ मे कारणान्तरवादिनाम्।
तेषां यत्प्रत्ययो नाभूत्तद्युक्त्या दारुपुत्रिका॥१६५॥

कारयित्वा मयैकान्ते परिणीता मृषा पुनः।
आनीय स्थापिता चान्तर्गृहेऽन्यत्रार्पितार्गले॥१६६॥

रक्षिकैका कृता चास्या नारी कर्मकरीनिभा।
मयैषा नूतना भार्या स्थापितैव पृथग्गृहे॥१६७॥

त्वं चाहं चाधुनात्रैव स्वगृहे पृथगास्वहे।
न गन्तव्यं त्वया तत्र नागन्तव्यमितस्तया॥१६८॥

आराधनं तवाप्रौढा न सा वेत्ति हि सम्प्रति।
इत्यम्वामब्रवं चाहमन्वमन्यत सापि तत्॥१६९॥

ततो दिनेषु यातेषु यदा तां कपटस्नुषाम्।
न कथञ्चिदपि प्रापत्सार्गलेऽन्तर्गृहे स्थिताम्॥१७०॥

तदाश्मना सा मूर्धानमाहत्य स्वयमेकदा।
तारमाक्रन्दति स्माम्वा रक्तावक्ता स्वगृहाङ्गणे॥१७१॥

श्रुत्वाक्रन्दं प्रविष्टेन मया सर्वैश्च वान्धवैः।
दृष्ट्वा किमेतद्ब्रूहीति पृष्टा सासूयमभ्यधात्॥१७२॥

ईदृशी स्नुषयागत्य विनाहेतुः कृता मम।
अवस्था तदिदानीं मे मरणेनैव निष्कृतिः॥१७३॥

तच्छ्रुत्वैव सकोपास्ते तां सहादाय वान्धवाः।
तत्रागच्छन्मया साकं यत्र सा दारुपुत्रिका॥१७४॥

अपास्यार्गलमुद्घाट्य द्वारं यावद्विशन्ति ते।
तावत्काष्ठमयीं नारीमपश्यंस्तत्र केवलाम्॥१७५॥

ततो विडम्वितात्मानं हसन्तोऽम्बां विलक्षिताम्।
उत्पन्नप्रत्यया याता वान्धवास्ते यथागतम्॥१७६॥

अहं च त्यक्ततद्देशो भ्राम्यन्निममवाप्तवान्।
प्रदेशमिह च द्यूतशालां दैवात्किलाविशम्॥१७७॥

तब बहुत दुःखी होकर मैंने विदेश जाने का निश्चय किया और जब मरे कुटुम्बियों ने बाधा दी, तब मैंने उनसे अपनी माँ की दुष्टता की बातें कह दीं ॥१६४॥

मेरे पिता के गृहत्याग का अन्य कारण बतलानेवाले उन लोगों ने जब मेरी बातों का विश्वास नहीं किया, तब मैंने युक्तिपूर्वक लकड़ी की एक पुतली बनवाई और एकान्त में झूठमूठ उससे विवाह कर लिया। उसे लाकर मैंने एक दूसरे मकान के भीतर घर में रखा और उसमें ताला बन्द कर दिया ॥१६५-१६६॥

मैंने उसकी रखवाली के लिए नौकरानी-जैसी एक स्त्री को नियुक्त कर दिया। मैंने अपनी इस नई पत्नी को एक अलग मकान में रख दिया ॥१६७॥

फिर मैंने अपनी माँ से कहा कि 'मेरे साथ तुम इस अलग मकान में रहोगी। न तो तुम्हें वहाँ जाना होगा, न वही यहाँ आयगी। वह अभी अल्पवयस्का है और तुम्हारी सेवा-टहल करने के लायक नहीं है।' माँ ने मेरी बात मान ली ॥१६८-१६९॥

इसी तरह जब कुछ दिन बीत गये और मेरी माँ ने, दूसरे मकान के भीतरी कमरे में ताला बन्द, अपनी झूठी बहू को नहीं पाया, तब एक दिन उसने पत्थर से स्वयं ही माथा फोड़ लिया और लहू से सनी हुई वह, अपने आँगन में चीख-पुकार मचाने लगी ॥१७०-१७१॥

उसका रोना सुनकर मेरे साथ सब कुटुम्बी लोग अन्दर गये। उसे देखकर जब पूछा गया कि 'बतलाओ, क्या हुआ है?' तब उसने ईर्ष्या के सहित कहा—॥१७२॥

"मेरी बहू ने आकर अकारण ही मेरी यह दशा कर दी है; अब मरण से ही मेरा छुटकारा हो सकता है" ॥१७३॥

यह सुनकर मेरे कुटुम्बी जन बहुत क्रुद्ध हुए। वे मेरी माँ को लेकर मेरे साथ वहाँ गये, जहाँ वह काठ की पुतली थी ॥१७४॥

ताला हटाकर और दरवाजा खोलकर जब वे अन्दर गये, तब वहाँ उन्होंने केवल लकड़ी की एक नारी-मूर्त्ति देखी ॥१७५॥

तब मेरी उस माँ की, जिसने स्वयं ही अपनी हँसी कराई थी, वे लोग खिल्ली उड़ाने लगे। अब उन्हें मेरी बातों का विश्वास हो गया और वे जहाँ से आये थे, वहाँ लौट गये ॥१७६॥

मैं भी उस देश को छोड़कर, घूमता-फिरता इधर आ निकला और संयोग से जुए के एक अड्डे में घुसा ॥१७७॥

अत्रैतानहमद्राक्षं पञ्चाक्षैर्दीव्यतो जनान्।
इमं चण्डभुजङ्गाख्यमेतं पांसुपटं तथा ॥१७८॥
अमुं श्मशानवेतालमिमं कालवराटकम्।
शारिप्रस्तरमेतं च शूरांस्तुल्यपराक्रमान् ॥१७९॥
एतैः समं च द्यूतेन तत्र क्रीडितवानहम्।
दासः स्याद्विजितो जेतुरिति वद्ध्वा मिथः पणम् ॥१८०॥
ततो द्यूतेन विजिता मम दास्यमिमे गताः।
अहं गुणैर्जितस्त्वेषां दासतामागतः स्वयम् ॥१८१॥
एभिः समं च वसतः स्वदुःखं विस्मृतं मम।
नाम्नावस्थोचितेनात्र विद्ध्यक्षक्षपणं च माम् ॥१८२॥
इत्यहं सत्कुलोत्पन्नेरिहैवं गूहितात्मभिः।
एतैः सह स्थितः पुण्यैस्त्वं चाद्य मिलितोऽत्र नः ॥१८३॥
तदिदानीं त्वमस्माकं प्रभुः प्रागेव चैतया।
बुद्ध्या तवात्तमस्माभिस्तद्धनं गुणरागिभिः ॥१८४॥

शङ्खदत्तस्य कथा

इत्यक्षक्षपणेनोक्ते स्ववृत्तान्ते क्रमेण ते।
सर्वे भीमभटायान्येऽप्युदन्तान्स्वानवर्णयन् ॥१८५॥
ततोऽर्थार्थमुपात्ताभिः कलाभिश्छादितात्मनः।
प्रवीरांस्तान्सखीन्मत्वा कृत्वान्या विविधाः कथाः ॥१८६॥
नीत्वा विहारेण दिनं दृष्ट्वा पौरन्दरीं दिशम्।
उद्भासमानशीतांशुतिलकालङ्कृताननाम् ॥१८७॥
अगाद्भीमभटस्तस्मादुद्यानात्स नृपात्मजः।
अक्षक्षपणकाद्यैस्तैः षड्भिः सह तदास्पदम् ॥१८८॥
तैः समं तिष्ठतश्चात्र तस्य प्रावृडुपागमत्।
शंसन्तीव सुहृत्प्राप्तिं प्रवृष्टघनगर्जितैः ॥१८९॥
तदा चात्र विपाशाख्या नदी मत्ता समुद्रगा।
प्रतीपवहिनी जाता सागरौघेण पूरिता ॥१९०॥
समापूर्य महावारिपूरेण पुलिनं च सा।
ओघप्रशान्तावम्भोधिसम्मुखीव जगाम सा ॥१९१॥

यहाँ मैंने इन पाँच आदमियों को जूआ खेलते हुए देखा। उनमें ये चण्डभुजंग हैं और यह पांसुपट। इनका नाम श्मशानवेताल है। ये कालवराटक हैं और इनको शारिप्रस्तर कहते हैं। ये सभी समान पराक्रमवाले और वीर हैं ॥१७८-१७९॥

वहाँ, इन लोगों के साथ मैं भी जूआ खेलने लगा। हम लोगों ने यह शर्त रखी कि जो हार जायगा, वह जीतनेवाले का दास बनकर रहेगा ॥१८०॥

जूए में मुझसे हारकर ये सभी मेरे दास बन गये; लेकिन इनके गुणों से पराजित होकर मैं स्वयं ही इनका दास बन गया ॥१८१॥

इन लोगों के साथ रहकर मैं अपना दुःख भूल गया हूँ। यहाँ, अवस्था के अनुसार, आप मेरा नाम अक्षक्षपणक ही जानिए ॥१८२॥

ये सभी लोग अच्छे कुलों में उत्पन्न हुए हैं और अपने को छिपाकर यहाँ रहते हैं। इनके साथ निवास करते हुए मुझको आज आप बड़े पुण्यों से मिले हैं ॥१८३॥

लेकिन, अब आप ही हमारे स्वामी हैं। गुणों में अनुराग रखनेवाले हम लोगों ने, आपका ऐसा प्रभाव जानकर ही, पहले हारे हुए धन को वापस लेना स्वीकार किया था ॥१८४॥

शंखदत्त की कथा

इस प्रकार, अक्षक्षपणक जब अपना वृत्तान्त सुना चुका, तब उसके बाकी पाँच साथियों ने भी क्रम से अपना-अपना हाल भीमभट से कह सुनाया ॥१८५॥

जब भीमभट ने जान लिया कि उसके वे मित्र वीर हैं और उन्होंने अपने को छिपा रखा है। वे जूआ केवल अर्थलाभ के लिए खेलते हैं। यह जानकर भीमभट ने उनसे तरह-तरह की और बातें कीं तथा इस प्रकार हँसी-खुशी में दिन बिताकर और यह देखकर कि पूर्व दिशा का ललाट चन्द्रमा की बिन्दी से अलंकृत होकर जगमगा उठा है, वह राजकुमार, अक्षक्षपणक आदि छह जुआरियों के साथ, उद्यान से उनके घर गया ॥१८६–१८८॥

उन लोगों के साथ भीमभट के वहाँ रहते हुए वर्षा ऋतु आ गई। तेज बरसनेवाले बादलों का गर्जन मानों यह कहता-सा लगा कि तुम्हारे मित्र मिल जायेंगे ॥१८९॥

उस समय वहाँ विपाशा नाम की मतवाली नदी, जो समुद्र की ओर जा रही थी, समुद्र के जल से भरकर उलटी-सी बहने लगी ॥१९०॥

महा जलप्लावन से उसके किनारे भर गये, लेकिन बाढ़ के उतर जाने पर वह फिर समुद्र की ओर बहने लगी ॥१९१॥

तस्मिन्कालेऽत्र चानीय क्षिप्तस्तेनौघवारिणा।
महामत्स्यो गरीयस्त्वाद्व्यासक्तोऽभून्नदीतटे ॥१९२॥

दृष्ट्वा च तं प्रधाव्यैव निहन्तुं विविधायुधैः।
तत्रत्याः पाटयामासुर्जनास्तस्योदरं तिमेः ॥१९३॥

पाटितान्निरगाच्चात्र तस्माज्जीवन्युवा द्विजः।
तद्दर्शनाद्भुतात्तत्र लोकः कोलाहलं व्यधात् ॥१९४॥

तच्छ्रुत्वा सह मित्रैस्तैर्गतो भीमभटोऽत्र सः।
अपश्यच्छङ्खदत्तं तं मित्रं मत्स्याद्विनिर्गतम् ॥१९५॥

समाश्लिषच्च धावित्वा सिञ्चन्धाराश्रुभिः स तम्।
मीनोदरदरीवासविस्रं प्रक्षालयन्निव ॥१९६॥

सोऽपि तद्विपदुत्तीर्णः प्राप्य तं परिरभ्य च।
सुहृदं शङ्खदत्तोऽगादुत्सवादुत्सवं तदा ॥१९७॥

ततो भीमभटेनात्र तेन पृष्टः स कौतुकात्।
शङ्खदत्तः स्ववृत्तान्तं संक्षेपादेवमब्रवीत् ॥१९८॥

तदा गङ्गोर्मिवेगेन हृतस्त्वद्दृष्टिगोचरात्।
अशङ्कितं निगीर्णोऽस्मि मत्स्येनातिमहीयसा ॥१९९॥

तस्योदरमहावेश्मप्रविष्टोऽहं ततश्चिरम्।
अतिष्ठं छुरिकोत्कृत्तं तन्मांसं भक्षयन्क्षुधा ॥२००॥

अद्य सोऽयमिहानीय धात्रा क्षिप्तः कथञ्चन।
मत्स्यो हतो जनैरेभिः कृष्टश्चास्योदरादहम् ॥२०१॥

दृष्टो मया त्वमर्कश्च प्रकाशं मे गता दिशः।
एष मे मित्र वृत्तान्तो वेद्मि नाहमतः परम् ॥२०२॥

इत्युक्तः शङ्खदत्तेन तेन भीमभटश्च सः।
अन्ये च सर्वे तत्रस्था विस्मयादेवमब्रुवन् ॥२०३॥

क्व गङ्गायां निगरणं मत्स्येनाब्धौ क्व तद्गतिः।
क्व च तद्वर्त्मना तस्य विपाशायां निवेशनम् ॥२०४॥

क्व वधस्तस्य तस्माच्च जीवतः क्वास्य निर्गमः।
अहो विधेरचिन्त्यैव गतिरद्भुतकर्मणः ॥२०५॥

उसी समय बाढ़ के पानी में बहकर आई हुई एक बहुत बड़ी मछली, अपने भारीपन के कारण नदी के किनारे अटक गई ॥१९२॥

उसे देखकर वहाँ के लोग उसे मारने के लिए तरह-तरह के हथियार लेकर दौड़े और उन्होंने उस मछली का पेट फाड़ डाला ॥१९३॥

जब मछली का पेट फाड़ा गया, तब उसमें से एक युवक ब्राह्मण जीवित निकल आया। यह अद्भुत बात देखकर लोगों ने बहुत शोर-गुल मचाया ॥१९४॥

यह सुनकर भीमभट अपने मित्रों के सहित वहाँ गया। उसने मछली से निकले हुए अपने उस मित्र शंखदत्त को देखा ॥१९५॥

भीमभट ने दौड़कर उसका आलिंगन किया और मानों मछली के पेट में रहने की दुर्गन्ध को धोता हुआ-सा, अपने धारावाही आँसुओं से उसे सींचने लगा ॥१९६॥

शंखदत्त ने न केवल उस विपत्ति से छुटकारा पाया, बल्कि अपने मित्र को भी पा लिया, उसका आलिंगन करके उसे एक के बाद दूसरी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥१९७॥

तब कौतूहल के कारण भीमभट के पूछने पर, शंखदत्त ने संक्षेप में इस प्रकार अपना वृत्तान्त कह सुनाया–॥१९८॥

"उस समय, जब गंगा की लहरों के वेग ने मुझे आँखों से ओझल कर दिया, अचानक एक बहुत बड़ी मछली मुझे निगल गई ॥१९९॥

उसके पेट के विशाल भवन में प्रविष्ट होकर मैं बहुत दिनों तक वहीं रह गया। भूख लगने पर, छुरी से उस मछली का मांस काटकर मैं खा लिया करता था ॥२००॥

आज विधाता ने किसी तरह उस मछली को यहाँ ला पटका। इन लोगों ने उसे मार डाला और मैं उसके पेट में से निकाला गया ॥२०१॥

मैंने तुम्हें और सूर्य को देखा। दिशाएँ मेरे लिए प्रकाशित हो गईं। मित्र, यही मेरा वृत्तान्त है। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं जानता" ॥२०२॥

शंखदत्त ने जब भीमभट को इस प्रकार अपनी कथा सुनाई, तब वहाँ जो और लोग उपस्थित थे वे आश्चर्य से कहने लगे कि "कहाँ तो गंगा में मछली के द्वारा शंखदत्त का निगला जाना, कहाँ उस मछली का समुद्र में पहुँचना, फिर वहाँ उस मार्ग से उसका विपाशा में प्रवेश पाना और मारा जाना और उसके पेट में से उसका जीवित निकल आना! अद्भुतकर्मा विधाता की गति कैसी अचिन्तनीय है!" ॥२०३–२०५॥

इत्यादि तैः सह वदन्नक्षक्षपणकादिभिः।
अनयच्छङ्खदत्तं स धाम भीमभटो निजम् ॥२०६॥
तत्र चोपाचरत्स्नानवस्त्राद्यैस्तं स सोत्सवः।
तेनैव वपुषा जातमिव मत्स्योदरात्पुनः ॥२०७॥
ततस्तेन समं देशे तस्मिन्भीमभटे स्थिते।
आगाद्यात्रोत्सवस्तत्र नागराजस्य वासुकेः ॥२०८॥
तद्दर्शनाय स प्रायाद्राजपुत्रः सुहृद्वृतः।
मिलन्महाजनं तस्य नागमुख्यस्य केतनम् ॥२०९॥
तत्र प्रणम्य तन्मूर्त्तिं प्रासादे माल्यदामभिः।
भृते भोगिगणाकारैः पातालोदकसन्निभे ॥२१०॥
गत्वा दक्षिणतोऽपश्यन्महान्तं तस्य स ह्रदम्।
फणारत्नप्रभापुञ्जैरिव रक्ताम्बुजैश्चितम् ॥२११॥
विषाग्निधूमपटलैरिव नीलोत्पलैर्भृतम्।
वृतं वातपतत्पुष्पैरर्चद्भिरिव पादपैः ॥२१२॥
स्वल्पः समुद्रोऽमुद्रस्य पुरोऽस्य प्रतिभाति मे।
अनन्यहारिश्रीकस्य हृतश्रीकः स शौरिणा ॥२१३॥
इति यावच्च तं दृष्ट्वा स चिन्तयति विस्मितः।
तावत्स्नानार्थमायातामद्राक्षीत्तत्र कन्यकाम् ॥२१४॥
राज्ञो लाटेश्वरस्यात्र चन्द्रादित्यस्य पुत्रिकाम्।
जातां कुवलयावल्यां नाम्ना हंसावलीं शुभाम् ॥२१५॥
अङ्गैरपह्नुतोऽप्यन्यैर्यस्या दिव्यानुकारिभिः।
चक्षुषा चपलेनोक्तो मर्त्यभावो निमेषतः ॥२१६॥
सा पुष्पपेलववपुष्कोटिप्राप्तस्फुरद्गुणा।
मुष्टिग्राह्येण मध्येन मान्मथीव धनुर्लता ॥२१७॥
दृष्ट्वैव तिर्यग्वलितैरपि लोचनसायकैः।
अमोहयद्भीमभटं हृदि निर्भिद्य तं तदा ॥२१८॥
सोऽपि तस्याः प्रविश्यैव तिर्यङ् नयनवर्त्मना।
हृत्कोषमहरद्धैर्यं जगत्सौन्दर्यतस्करः ॥२१९॥
ततो गुप्तविसृष्टाप्तदक्षचेटीमुखेन सा।
अन्विष्यति स्म मित्रेभ्यस्तस्य नामास्पदादिकम् ॥२२०॥

अक्षक्षपणक के साथ जब वे लोग इस प्रकार की बातें कर रहे थे, तभी भीमभट, शंखदत्त को अपने निवास-स्थान पर ले आये ॥२०६॥

वहाँ भीमभट ने बड़ी प्रसन्नता से, यह मानकर कि जैसे मछली के पेट से, इसी शरीर में शंखदत्त का पुनर्जन्म हुआ हो, स्नान और वस्त्र आदि से उसका सत्कार किया ॥२०७॥

अनन्तर, शंखदत्त भीमभट के साथ उस नगर में रहने लगा। कुछ समय बाद वहाँ नागराज वासुकि के यात्रा-महोत्सव का दिन आया ॥२०८॥

वह महोत्सव देखने के लिए, अपने हितमित्रों के साथ राजकुमार भीमभट भी नागराज के उस मन्दिर में गया, जहाँ नगर के प्रमुख लोग एकत्र थे ॥२०९॥

उस महल में सर्पों के फण के समान पुष्पमालाएँ लटक रही थीं, जिससे वह पाताल के जल के समान जान पड़ता था। वहाँ भीमभट ने वासुकि की मूर्त्ति को प्रणाम किया ॥२१०॥

उस मन्दिर के दक्षिण की ओर जाने पर उसे एक बहुत बड़ा तालाब दीख पड़ा, जिसमें नागमणियों की शोभा धारण करनेवाले लाल कमल खिले हुए थे ॥२११॥

उस तालाब में नील कमल भी खिले हुए थे। वे (सर्प) के विष की अग्नि के धूमपटल-से जान पड़ते थे। वायु के द्वारा वृक्षों से गिराये गये पुष्प ऐसे प्रतीत होते थे, मानों वे वासुकि की पूजा कर रहे हों ॥२१२॥

यह देखकर भीमभट को आश्चर्य हुआ। उसने सोचा—'इस फैले हुए तालाब की शोभा के सामने मुझे उस समुद्र की शोभा फीकी लग रही है, जिससे भगवान् विष्णु, उसकी गर्व-रूपिणी लक्ष्मी को हर ले आये थे; क्योंकि इसकी शोभा का हरण कोई नहीं कर सकता।' भीमभट यह सब सोच ही रहा था कि उसने स्नान करने के लिए आई हुई लाट देश के राजा चन्द्रादित्य की सुन्दरी कन्या हंसावली को देखा, जो राजा की कुवलयावली नाम की रानी से उत्पन्न हुई थी ॥२१३—२१५॥

उसके शरीर के सभी सुन्दर अंग, देवताओं के शरीर के-से थे; केवल चंचल आँखों की पलकों के गिरने से ही वह मर्त्यलोक की जान पड़ती थी ॥२१६॥

उसका शरीर कुसुम-कोमल था, उससे उद्भासित गुण करोड़ों थे, उसकी कमर मुट्ठी में आ सकती थी। अपने ऐसे शरीर से वह कामदेव की धन्वा-सी जान पड़ती थी ॥२१७॥

हंसावली ने तिरछे देखकर अपने तिरछे नयन-शरों से भीमभट के हृदय को बेध दिया, जिससे वह अचेत-सा हो गया ॥२१८॥

जगत् का सौन्दर्य चुरानेवाले भीमभट ने भी उसकी तिरछी चितवन की राह घुसकर, उसके हृदय-कोष से उसका धैर्य चुरा लिया, अर्थात् उसे विकल कर दिया ॥२१९॥

तब उसने एक विश्वासिनी और चतुर चेटी को गुप्त रूप से भेजकर भीमभट के मित्रों से उसके नाम और कुल का पता लगाया ॥२२०॥

अथागात्सा परिजनैर्नीयमाना स्वमन्दिरम्।
स्नाता विवर्त्तितमुखी मुहुस्तद्गतया दृशा ॥२२१॥
ततो भीमभटः सोऽपि स्वावासं सखिभिः सह।
प्रत्यागात्तत्प्रियाप्रेमपाशबन्धस्खलद्गतिः ॥२२२॥
तत्र तस्मै क्षणाद्दूतीं तां चेटीं राजकन्यका।
हंसावली सा व्यसृजद्दत्त्वा सन्देशमीप्सितम् ॥२२३॥
साभ्युपेत्य तमाह स्म चेटी भीमभटं रहः।
देव हंसावली राजसुता त्वामनुनाथति ॥२२४॥
ह्रियमाणं स्मरौघेण दृष्ट्वा प्रणयिनं जनम्।
इमं द्रुतमनादृत्य न युक्ता ते तटस्थता ॥२२५॥
इति सम्प्राप्य दूतीतो दयितावचनामृतम्।
लब्धजीवितहृष्टस्तां सोऽथ भीमभटोऽब्रवीत् ॥२२६॥
ओघस्थो न तटस्थोऽहमिति वेत्ति न किं प्रिया।
तद्वचस्तु करिष्यामि कामं लब्धावलम्बनः ॥२२७॥
एत्य सम्भावयिष्यामि नक्तमन्तःपुरेऽद्य ताम्।
विद्याच्छन्नं विशन्तं च नहि द्रक्ष्यति कोऽपि माम् ॥२२८॥
इत्युक्ता तेन चेटी सा तुष्टा गत्वा शशंस तत्।
हंसावल्यै ततः सापि तस्थौ तत्सङ्गमोन्मुखी ॥२२९॥
सोऽपि प्रदोषसमये दिव्याभरणभूषितः।
गङ्गावितीर्णविद्याया आनुलोम्येन पाठतः ॥२३०॥
अदृश्यीभूय गत्वा तत्तस्या अन्तःपुरोत्तमम्।
समाविशद्भीमभटः प्राग्विविक्तीकृतं तया ॥२३१॥
रतिप्रीतिकरे तत्र कालागुरुसुगन्धिनि।
दशार्धवर्णविन्यस्तपुष्पप्रकरशोभिते ॥२३२॥
कामोद्यानिभे कान्तां तां वहद्दिव्यसौरभाम्।
सोऽपश्यद्गाङ्गसद्विद्यावल्लीप्रसवसन्निभाम् ॥२३३॥
प्रातिलोम्येन विद्यां च तां पठित्वा स दृश्यताम्।
सहसा सुभगस्तस्या राजपुत्र्या गतोऽभवत् ॥२३४॥
सा तं दृष्ट्वैव सानन्दपुलकोत्कम्पसाध्वसा।
रणत्स्वाभरणातोद्येष्वनृत्यदिव तत्क्षणम् ॥२३५॥

स्नान करके वह अपने परिजनों के साथ अपने घर चली गई, लेकिन जाते हुए वह बार-बार मुँह फेरकर भीमभट की ओर देखती जाती थी ॥२२१॥

अनन्तर, भीमभट भी अपने मित्रों के सहित अपने निवास-स्थान पर पहुँच गया। प्रिया के प्रेम-पाश में बँध जाने के कारण, राह में जाते हुए, उसके पैर डगमगा रहे थे ॥२२२॥

उसी समय राजकुमारी हंसावली ने उस चेटी को मनचाहा सन्देश देकर, भीमभट के पास भेजा ॥२२३॥

चेटी ने भी भट के पास पहुँचकर, एकान्त में उससे कहा—देव, राजकुमारी हंसावली ने आपसे यह प्रार्थना की है—'मैं आपको प्यार करती हूँ, काम-प्रवाह में तीव्रता से बही जा रही हूँ, यह देखकर भी, मेरा अनादर करके, आपका तटस्थ रहना उचित नहीं है' ॥२२४-२२५॥

दूती के द्वारा प्रिया के अमृत-जैसे ये वचन सुनकर भीमभट को जैसे जीवन मिल गया। उसने प्रसन्न होकर कहा— ॥२२६॥

"क्या, मेरी प्रिया यह नहीं जानती कि मैं भी धारा में ही बह रहा हूँ, तट पर खड़ा नहीं हूँ। लेकिन अब, सहारा पाकर, मैं उसके वचन के अनुसार उसका मनचाहा करूँगा। आज रात को अपनी विद्या के प्रभाव से छिपकर मैं अन्तःपुर में जाऊँगा और उसे सान्त्वना दूंगा। अन्दर जाते हुए मुझको कोई देख न सकेगा" ॥२२७-२२८॥

भीमभट के ऐसा कहने पर चेटी सन्तुष्ट होकर चली गई। जाकर उसने हंसावली से सारी बातें कह सुनाईं। वह भी अपने प्रिय-मिलन की प्रतीक्षा करने लगी ॥२२९॥

दिव्य आभूषण पहनकर भीमभट, प्रदोष के समय, हंसावली के श्रेष्ठ अन्तःपुर में गया। गंगा ने उसे जो विद्या दी थी, उसका अनुलोम पाठ करता हुआ वह, अदृश्य होकर, अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ। हंसावली ने दरवाजे पहले से ही खोल रखे थे ॥२३०-२३१॥

हंसावली का अन्तःपुर, कालागुरु की सुगन्ध से सुवासित था, जिससे रति में प्रीति उत्पन्न होती थी। वहाँ पाँच रंगों के फूलों की मालाएँ लटक रही थीं, जिनसे वह कामदेव के उद्यान-सा लग रहा था। वहाँ भीमभट ने गंगा की उत्तम विद्या-रूपी लता के फल के समान हंसावली को देखा, जो दिव्य सौरभ से सुवासित थी ॥२३२-२३३॥

तब अपनी विद्या का प्रतिलोम (उलटा) पाठ करके भीमभट उस सुन्दरी राजकुमारी के सम्मुख प्रकट हो गया ॥२३४॥

भीमभट को देखते ही हंसावली आनन्द से पुलकित हो उठी। (लज्जाजनित) भय से उसका शरीर काँपने लगा। उसके आभूषणों की खनक से ऐसा जान पड़ा, मानों उस क्षण वह नाच उठी हो ॥२३५॥

आसीच्च कन्यकाभावलज्जया विनतानना।
कर्त्तव्यमिव पृच्छन्ती हृदयं तत्प्रवृत्तिकृत् ॥२३६॥
मुग्धे प्रकाशितस्यापि ह्रिया किं चेतसोऽधुना।
निगूहते न तद्वस्तु कथमेष तु गूह्यते ॥२३७॥
पुलकोऽङ्गेषु किं चैतद्विदलत्सन्धि कञ्चुकम्।
इत्यादिभिर्वचोभिस्तामन्यैश्च प्रणयक्रमैः ॥२३८॥
विधाय सुमुखीं मुक्तलज्जां भीमभटोऽथ ताम्।
गान्धर्वोद्वाहविधिना भार्यां हंसावलीं व्यधात् ॥२३९॥
नीत्वा तया समं रात्रिं तन्मुखाब्जालिलीलया।
कृच्छ्रात्तां नक्तमेष्यामीत्यामन्त्र्यागात्स्वमास्पदम् ॥२४०॥
तां च हंसावलीं तत्र प्रविष्टाः स्वमहत्तराः।
प्रातरन्तःपुरेऽद्राक्षुर्युक्तां सम्भोगलक्षणैः ॥२४१॥
लुलितालककेशान्तामार्द्रदन्तनखक्षताम्।
साक्षात्स्मरशरश्रेणिव्रणव्याकुलितामिव ॥२४२॥
गत्वा च राज्ञे तत्पित्रे ते शशंसुस्तथैव तत्।
सोऽपि तत्र व्यधाद्गुप्तं नक्तं चारानवेक्षितुम् ॥२४३॥
सोऽथ भीगभटो मित्रैः सहितश्च सुखं दिनम्।
नीत्वा प्रदोषे भूयस्तत्प्रियान्तःपुरमागमत् ॥२४४॥
अलक्षितप्रविष्टं तं तत्र विद्याप्रभावतः।
दृष्ट्वा सम्भाव्य सिद्धं च चारास्ते निर्ययुस्ततः ॥२४५॥
गत्वा च राज्ञे जगदुः सोऽपि तानेवमादिशत्।
अदृश्यो यः प्रविष्टोऽत्र सुगुप्ते न स मानुषः ॥२४६॥
तत्तमानयतेहैव यावत्पश्यामि किं त्विदम्।
ब्रूत चापरुषं यूयमेव मद्वचनेन तम् ॥२४७॥
प्रकटं प्रार्थिता मत्तः किं न मत्तनया त्वया।
रहस्यं किं कृतं त्वादृग्गुणवान्हि वरः कुतः ॥२४८॥
इत्युक्त्वा प्रेषिता राज्ञा गत्वा चारास्तथैव ते।
द्वारस्था एव तद्वाक्यमाहुर्भीमभटाय तत् ॥२४९॥
सोऽपि ज्ञातोऽस्मि राज्ञेति बुद्ध्वाप्यभ्यन्तरस्थितः।
सुधीरो राजपुत्रस्तान्प्रसह्य प्रत्यभाषत ॥२५०॥
मद्वाक्याद्ब्रूत राजानं प्रातरास्थानमेत्य ते।
तत्त्वमावेदयिष्यामि रात्रिरन्धा हि सम्प्रति ॥२५१॥

कुमारी होने के कारण लज्जा से उसने अपना सिर झुका लिया था, मानों जिस हृदय ने उसमें यह प्रवृत्ति जगाई थी, उससे पूछ रही हो कि अब मुझे क्या करना चाहिए ॥२३६॥

तब भीमभट ने कहा—"मुग्धे ! तुम्हारे मन की जो बात प्रकट हो चुकी है, लज्जा के कारण अब उसे छिपाने का प्रयत्न क्यों करती हो ? तुम्हारे अंगों की पुलक और स्तनों के विस्तार से कसमसाती हुई-सी चोली उसे कैसे छिपाने देगी ?" इस तरह की बातों और प्रीति के अन्य व्यवहारों से भीमभट ने उस सुन्दरी की लज्जा दूर की और गान्धर्व-विधि से विवाह करके उसे अपनी पत्नी बना लिया ॥२३७–२३६॥

जैसे कमल पर भौंरा मँडराता है, उसी तरह हंसावली के मुख-कमल पर मँडराते हुए, भीमभट ने उसके साथ वह रात बिताई। सवेरा होने पर 'रात को मैं फिर आऊँगा' ऐसा कहकर उसने हंसावली को आश्वासन दिया तथा अपने स्थान को प्रस्थान किया ॥२४०॥

सवेरा होने पर जब हंसावली के अन्तःपुर में कंचुकी आये, तब उन्होंने उसे सम्भोग के लक्षणों से युक्त देखा ॥२४१॥

उसकी अलकें बिखरी हुई थीं, अंगों पर दाँतों और नखों के क्षत की आर्द्रता थी और वह स्वयं मानों साक्षात् कामदेव के बाण-समूह से हुए घावों से व्याकुल हो रही थी ॥२४२॥

उन लोगों ने जाकर सारा वृत्तान्त उसके पिता से कह सुनाया। राजा ने इस बात की जाँच के लिए गुप्त रूप से, रात में, वहाँ भेद लेनेवालों को नियुक्त कर दिया ॥२४३॥

उधर भीमभट, अपने मित्रों के साथ सुखपूर्वक दिन बिताकर, रात में फिर अपनी प्रिया के अन्तःपुर में आया ॥२४४॥

भेदियों ने जब यह देखा कि भीमभट अपनी विद्या के प्रभाव से अदृश्य रूप से हंसावली के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो गया है, तब उन्होंने समझा कि वह कोई सिद्ध पुरुष है और वे वहाँ से चले गये ॥२४५॥

उन्होंने जाकर राजा से कहा। राजा ने उन्हें आदेश दिया—"जो ऐसे पहरे के बीच अदृश्य रूप से अन्दर चला गया है, वह साधारण मनुष्य नहीं है। इसलिए तुम लोग जाकर उसे यहीं ले आओ। मैं भी देखूँ कि इसमें क्या बात है। तुम लोग उसे मीठे वचनों से मेरा यह सन्देश कहना–'तुमने प्रकट रूप से मुझसे ही मेरी कन्या क्यों नहीं माँगी ? तुमने छिपकर ऐसा क्यों किया ? तुम्हारे समान गुणवान् वर कहाँ मिलते हैं ?" ॥२४६–२४८॥

ऐसा कहकर राजा ने उन भेदियों को वापस भेजा। उन्होंने जाकर, द्वार पर से ही राजा की बात भीमभट से कह सुनाई ॥२४६॥

भीमभट ने जान लिया कि राजा को मेरा पता चल गया है। फिर भी धीर स्वभाववाले उस राजकुमार ने अन्दर से ही गम्भीरतापूर्वक कहा—"मेरी ओर से जाकर राजा से कह दो कि अभी तो अँधेरी रात है, कल मैं आपके भवन में आकर सारा वृत्तान्त सुनाऊँगा" ॥२५०-२५१॥

तच्छ्रुत्वा तैर्गतैस्तद्वदुक्तस्तूष्णीमभून्नृपः ।
प्रातर्भीमभटः सोऽथ ततोऽयासीत्सखीन्प्रति ॥२५२॥
तैश्च साकं कृतोद्दामवेषो वीरैः स सप्तभिः ।
आस्थानमगमत्तस्य चन्द्रादित्यस्य भूपतेः ॥२५३॥
तत्तेजोधैर्यसौन्दर्यदर्शिना तेन सत्कृते ।
निजोचितासनासीने तस्मिन्भीमभटे द्विजः ॥२५४॥
स तत्सखा शङ्खदत्तो राजानं तमभाषत ।
राजन्नुग्रभटस्यायं राज्ञो राढापतेः सुतः ॥२५५॥
अतर्क्यविद्यामाहात्म्याद्दुरतिक्रमविक्रमः ।
नाम्ना भीमभटो युष्मत्सुताहेतोरिहागतः ॥२५६॥
तच्छ्रुत्वा रात्रिवृत्तान्तं स्मरन्योग्यमवेक्ष्य तम् ।
हन्त धन्याः स्म इत्युक्त्वा राजा श्रद्धितवांस्ततः ॥२५७॥
प्रादाच्च रचितोद्वाहार्हविभवप्रक्रियोऽथ ताम् ।
सुतां हंसावलीं भीमभटाय विभवोत्तरम् ॥२५८॥
ततो भीमभटो भूरिहस्त्यश्वग्राममलाभवान् ।
हंसावल्या च लक्ष्म्या च सहासीत्तत्र निर्वृतः ॥२५९॥
दिनैश्च तस्मै श्वशुरो लाटराज्यं समर्प्य तत् ।
चन्द्रादित्यः स वृद्धः सन्नपुत्रः प्राव्रजद्वनम् ॥२६०॥
अथ भीमभटः प्राप्य तद्राज्यमशिषत्कृती ।
सम्यक्तैः सप्तभिर्वीरैः शङ्खदत्तादिभिः सह ॥२६१॥
गतेष्वथ दिनेष्वत्र चारेभ्यो जातु सोऽशृणोत् ।
प्रयागमेत्य पितरं मृतमुग्रभटं नृपम् ॥२६२॥
अभिषिक्तं च तेन स्वे राढाराज्ये मुमूर्षता ।
पुत्रं कनिष्ठं समरभटं तं नर्त्तकीसुतम् ॥२६३॥
ततोऽनुशोच्य पितरं कृत्वा तस्योर्ध्वदैहिकम् ।
तस्मै स दूतं समरभटाय प्राहिणोन्नृपः ॥२६४॥
तातसिंहासने मूर्ख नर्त्तकीपुत्र का तव ।
योग्यता मम तत्स्वं हि लाटराज्येऽत्र सत्यपि ॥२६५॥
अतस्त्वयाधिरोढव्यं न तस्मिन्निति तस्य च ।
सन्दिष्टवान्स लेखेन दायादस्यापकारिणः ॥२६६॥

यह सुनकर वे चले गये। उनसे भीमभट का कथन सुनकर राजा चुप हो रहे। भीमभट भी, सवेरा होने पर, अपने मित्रों के पास चला आया ॥२५२॥

अपने सातों वीर मित्रों के सहित, उत्तम पोशाक पहनकर, वह राजा चन्द्रादित्य के भवन में गया ॥२५३॥

भीमभट का तेज, धैर्य और सौन्दर्य देखकर राजा ने अपने समान आसन दिया। भीमभट के बैठ जाने पर, उसके मित्र ब्राह्मण शंखदत्त ने राजा से कहा—"राजन् ये राढ-देश के राजा उग्रभट के पुत्र हैं। इनका नाम भीमभट है। अपनी अतुलनीय विद्या के प्रभाव से इनका पराक्रम अलौकिक है। ये आपकी कन्या की याचना के लिए यहाँ आये हैं ॥२५४––२५६॥

यह सुनकर राजा को रात की बातें याद हो आईं। उन्होंने भीमभट को सब तरह से योग्य देखकर, यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और कहा––'हम धन्य हैं!' ॥२५७॥

राजा ने बड़ी धूमधाम से विवाह की तैयारियाँ कीं और बहुत धन-दौलत के साथ अपनी कन्या हंसावली को भीमभट के हाथों सौंप दिया ॥२५८॥

बहुत-से हाथी-घोड़े और गाँव पाकर हंसावली और लक्ष्मी के सहित, भीमभट वहाँ सुखपूर्वक रहने लगा ॥२५९॥

कालान्तर में उसके वृद्ध और पुत्रहीन श्वशुर चन्द्रादित्य लाट का राज्य उसे सौंपकर वन में चले गये ॥२६०॥

कृती भीमभट ने वह राज्य पाकर, शंखदत्त आदि सात वीरों के साथ, भली भाँति उसका शासन-प्रबन्ध किया ॥२६१॥

कुछ समय बीतने पर भीमभट ने अपने भेदियों से सुना कि उसके पिता उग्रभट ने प्रयाग में आकर शरीर-त्याग कर दिया है ॥२६२॥

मरते समय उन्होंने नर्तकी से उत्पन्न, अपने छोटे पुत्र समरभट को, राढ-देश का राज्य सौंप दिया है ॥२६३॥

पिता के लिए शोक करने के अनन्तर, भीमभट ने उनके अन्तिम संस्कार किये और तब समरभट के पास अपना दूत भेजा ॥२६४॥

भीमभट ने उस दूत के द्वारा कुटुम्बी का (अर्थात् भीमभट का) अपकार करनेवाले उस समरभट के पास यह लिखित सन्देश भी भेजा—"मूर्ख नर्त्तकीपुत्र! मेरे पिता के सिंहासन पर तेरा क्या अधिकार है? यद्यपि यहाँ मैं लाट-राज्य का भी स्वामी हूँ, फिर भी वह राज्य मेरा है; अतः तुम उस राजसिंहासन पर न बैठना" ॥२६५-२६६॥

स च दूतो द्रुतं गत्वा लेखं तस्मै समर्पयत् ।
आवेदितात्मा समरभटायास्थानवर्त्तिने ॥२६७॥
सोऽपि तं तादृशं भीमभटनामाङ्कमुद्धतम् ।
वाचयित्वैव समरभटः क्रुद्धोऽभ्यभाषत ॥२६८॥
अयोग्य इति पित्रा यो देशान्निर्वासितः पुरा ।
तस्यैषा दुर्विनीतस्य युक्ता मिथ्याभिमानिता ॥२६९॥
सिंहायते शृगालोऽपि स्वगुहागृहसंस्थितः ।
सिंहस्य दर्शनं प्राप्तो ज्ञायते स तु तादृशः ॥२७०॥
इत्याद्युद्गर्ज्य लेखेन सन्दिश्य च तथैव तत् ।
सोऽपि भीमभटाय स्वं प्रतिदूतं विसृष्टवान् ॥२७१॥
प्रतिदूतोऽपि गत्वा स लाटदेशेश्वराय तम् ।
तस्मै भीमभटायादाल्लेखं क्षत्तृनिवेदितः ॥२७२॥
सोऽथ भीमभटस्तस्मिंल्लेखे तत्रानुवाचिते ।
मुक्ताट्टहासो दायादप्रतिदूतं तमभ्यधात् ॥२७३॥
गच्छ रे दूत मद्वाक्याद्ब्रूहि तं नर्त्तकीसुतम् ।
अश्वग्रहे शङ्खदत्ताद्रक्षितोऽसि मया तदा ॥२७४॥
बालस्तातप्रियश्चेति क्षमिष्ये न पुनः पुनः ।
निश्चितं त्वां प्रहेष्यामि वत्सलस्यान्तिकं पितुः ॥२७५॥
सज्जो भव दिनैरव जानीहि प्राप्तमत्र माम् ।
इत्युक्त्वा प्रेष्य दूतं तं यात्रां भीमभटो व्यधात् ॥२७६॥
तस्मिन्गजाद्रिमारूढे राजेन्दावुदयोज्ज्वले ।
क्षुभ्यन्नुदचलद्बद्धनादः सैन्यमहाम्बुधिः ॥२७७॥
समापूर्यन्त चासंख्यैरुपसंख्यामुपस्थितैः ।
सामन्तै राजपुत्रैश्च प्रस्थितैः सबलैर्दिशः ॥२७८॥
साकम्पा सम्पतद्भूरिगजवाजिजवाकुला ।
भराद्विदलनत्रासादिव रौति स्म मेदिनी ॥२७९॥
एवं भीमभटो गत्वा स राढाभ्यर्णमाप्तवान् ।
कुर्वन्सेनारजोराजिमुषितार्कप्रभं नभः ॥२८०॥
तावच्च सोऽपि समरभटो बुद्ध्वा नृपोऽक्षमी ।
संनह्य सेनया तस्य निरगाद्योद्धुमग्रतः ॥२८१॥

दूत ने शीघ्रतापूर्वक जाकर सभा में बैठे हुए समरभट को अपना परिचय देकर भीमभट का सन्देश उसे दिया ॥२६७॥

समरभट ने जब भीमभट का नामांकित वह उद्धत पत्र पढ़ा, तब क्रुद्ध होकर कहा—"जिसे मेरे पिता ने अयोग्य समझकर बहुत दिन पहले देश-निकाला दे दिया था, उस उद्दण्ड का यह मिथ्याभिमान उचित ही है। अपनी गुफा में बैठा हुआ स्यार भी सिंह होने का दम भरता है, लेकिन जब सिंह सामने आ जाता है, तब वह स्यार का स्यार ही रह जाता है" ॥२६८—२७०॥

इस प्रकार, गर्जन-तर्जन करके और यही बातें पत्र में लिखकर उसने भी अपना दूत भीमभट के पास भेजा ॥२७१॥

वह दूत लाट-देश गया। वहाँ प्रतीहार के द्वारा लाट के राजा भीमभट के सम्मुख उपस्थित किये जाने पर, उसने समरभट का पत्र उसे दिया ॥२७२॥

भीमभट ने जब वह पत्र पढ़ा, तब जोर से अट्टहास किया और अपने भाई के दूत से कहा—॥२७३॥

"दूत! तुम जाओ। जाकर मेरी ओर से उस नर्त्तकीपुत्र से कहना कि 'जब तुमने घोड़ा पकड़ लिया था, तब शंखदत्त से मैंने तुम्हारी रक्षा इसलिए की थी कि तुम बच्चे थे और पिताजी के प्रिय थे; लेकिन बार-बार मैं तुम्हें क्षमा न करूंगा। इस बार निश्चय ही मैं तुम्हें पिताजी के पास भेज दूंगा, जिनकी तुम पर बड़ी ममता थी। तुम तैयार रहो और कुछ ही दिनों में मुझे वहाँ आया हुआ समझो।" ऐसा कहकर और दूत को वापस भेजकर भीमभट यात्रा की तैयारियाँ करने लगा ॥२७४—२७६॥

जब वह राजाओं का चन्द्रमा (अर्थात् भीमभट) अपनी पूरी महिमा के साथ, हाथी-रूपी पर्वत पर जा चढ़ा, तब उसकी सेना का महासमुद्र क्षुब्ध हो उठा और घोर गर्जन करने लगा ॥२७७॥

अपनी सेनाओं के सहित, युद्ध के लिए आये हुए असंख्य सामन्तों और राजपुत्रों के चलने से दिशाएं भर गईं ॥२७८॥

वेग से चलनेवाले असंख्य हाथी-घोड़ों के झपाटे से धरती काँपने लगी। वह उनके भार से कहीं दरक न जाय, इस भय से वह रोती-सी जान पड़ी ॥२७९॥

इस प्रकार, भीमभट राढनगर के निकट जा पहुँचा। उसकी सेना के चलने से धूल का जो अम्बार उठा, उससे मानों सूर्य छिप-सा गया और आकाश प्रकाशहीन-सा हो गया ॥२८०॥

समरभट ने जब यह समाचार सुना, तब उसका धीरज जाता रहा। वह अपनी सेना सजाकर पहले ही युद्ध के लिए निकल खड़ा हुआ ॥२८१॥

मिलतः स्म च तौ सैन्यजलधी पूर्वपश्चिमौ।
प्रावर्त्तत च शूराणामाहवप्रलयो महान् ॥२८२॥
सशब्दखड्गसम्पातजन्मा तत्रानलो नभः।
कुप्यत्कृतान्तदन्ताग्रदलनोत्थ इवावृणोत् ॥२८३॥
वहन्ति स्म च नाराचास्तीक्ष्णाग्रायतपक्ष्मलाः।
वीरावलोकिनाकस्त्रीलोचनापातविभ्रमाः ॥२८४॥
ततो रेणुविताना सा सैन्यनिर्घोषवादिता।
नृत्यत्कबन्धा व्यरुचत्सङ्ग्रामाङ्गणरङ्गभूः ॥२८५॥
करङ्कवाहिनी चात्र प्रमत्ता मुण्डमालिनी।
अहरत्कालरात्रीव जन्तुचक्रमसृङ्नदी ॥२८६॥
क्षणाच्च शङ्खदत्तेन तेनाक्षक्षपणेन च।
तैश्च चण्डभुजङ्गाद्यैर्बाहुयुद्धविशारदैः ॥२८७॥
समं महाबलैः शूरैर्दुर्मदैर्द्विरदैरिव ।
स तद्भीमभटोऽभाङ्क्षीत्परसैन्यं धनुर्धरः ॥२८८॥
भग्ने च सैन्ये समरभटः सोऽथ रथस्थितः।
प्रधाव्यारभत क्रुद्धो रणाब्धौ मन्दरायितम् ॥२८९॥
ततो भीमभटस्तस्य वारणस्थोऽभिपत्य सः।
धनुश्छित्त्वावधीद्बाणैश्चतुरोऽपि रथे हयान् ॥२९०॥
विरथोऽप्यथ धावित्वा तोमरेण गजोत्तमम्।
हन्ति स्म कुम्भे समरभटो भीमभटस्य सः ॥२९१॥
स च तत्तोमरहतो गजस्तस्यापतद्भुवि।
ततस्तौ विरथौ द्वावप्यभूतां पादचारिणौ ॥२९२॥
गृहीतचर्मखड्गो च पदाती एव तौ तदा।
द्वन्द्वयुद्धेन नृपती अयुध्येताममर्षणौ ॥२९३॥
विद्यावशाददृश्यत्वं कृत्वा शक्तोऽपि तद्वधे।
धर्मापेक्षी न तं शत्रुं तथा भीमभटोऽवधीत् ॥२९४॥
प्रसह्य युध्यमानस्तु तस्य मूर्धानमच्छिनत्।
खड्गेन खड्गयुद्धज्ञो नर्त्तकीतनयस्य सः ॥२९५॥
हते च तस्मिन्समरभटे सम्यवससैनिके।
प्रदत्ते साधुवादे च गगनात्सिद्धचारणैः ॥२९६॥

उन दोनों की सेनाएं एक दूसरी से जा भिड़ीं, जैसे पूर्व और पश्चिम के समुद्र परस्पर जा मिले हों। प्रलय के समान, वीरों का घमासान युद्ध आरम्भ हो गया ॥२८२॥

क्रुद्ध काल के दाँतों की कटकटाहट के समान शब्द करती हुई तलवारों के टकराने से जो आग निकली, उससे आकाश भर गया ॥२८३॥

पलकों के समान तीखी अनीवाले तीरों के चलने से ऐसा भ्रम उत्पन्न होता था, मानों वीरों को देखनेवाली देवांगनाओं के कटाक्ष चल रहे हों ॥२८४॥

वह संग्रामभूमि, रंगभूमि के समान शोभित होने लगी, जिसमें चन्दोवा धूल का था, बाजे सेना की ललकारों के थे और कबन्ध (मस्तक-रहित शरीर) नृत्य कर रहे थे ॥२८५॥

वहाँ नरमुण्डों की माला धारण करनेवाली रक्त की जो उन्मत्त नदी बही, उसमें सैनिकों के कटे अंग तैरने लगे और वह, कालरात्रि के समान, सब जीवित प्राणियों को बहा ले गई ॥२८६॥

देखते-ही-देखते धनुर्धर भीमभट ने, दुर्मद हाथियों के समान महाबली शंखदत्त, अक्षक्षपणक, चण्डभुजंग आदि सब साथियों को, जो बड़े वीर थे तथा बाहु-युद्ध में निपुण थे, साथ लेकर शत्रु की सेना को रौंद डाला ॥२८७-२८८॥

सेना के नष्ट होने पर, रथ पर बैठा समरभट क्रुद्ध होकर दौड़ा और जैसे मन्दराचल ने समुद्र को मथ डाला था, उसी प्रकार शत्रु की सेना को मथने लगा ॥२८९॥

तब हाथी पर सवार भीमभट ने आगे बढ़कर अपने बाणों से समरभट का धनुष तोड़ डाला और उसके रथ के चारों घोड़ों को भी मार गिराया ॥२९०॥

रथ के नष्ट हो जाने पर समरभट तोमर लेकर पैदल ही दौड़ा और उसने भीमभट के श्रेष्ठ हाथी के मस्तक पर प्रहार किया ॥२९१॥

उस तोमर की मार से हाथी मरकर भूमि पर गिर पड़ा। तब वे दोनों ही रथहीन होकर पदचारी (पाँवों से चलनेवाले) हो गये ॥२९२॥

तब वे दोनों राजे ढाल-तलवार लेकर क्रोधपूर्वक पैदल ही युद्ध करने लगे ॥२९३॥

यद्यपि भीमभट अदृश्य होने की विद्या जानता था और अदृश्य होकर समरभट को मार सकता था, फिर भी धर्म का पालन करने के लिए समरभट ने उसे उस प्रकार नहीं मारा ॥२९४॥

खड्गयुद्ध के ज्ञाता भीमभट ने उग्रतापूर्वक लड़ते हुए उस नर्त्तकीपुत्र समरभट का मस्तक तलवार से काट डाला ॥२९५॥

जब अपने सैनिकों के सहित समरभट मार डाला गया, तब आकाश से सिद्धों और चारणों ने भीमभट को साधुवाद दिया ॥२९६॥

गते समाप्तिं सङ्ग्रामे बन्दिमागधसंस्तुतः।
राढापुरीं भीमभटः प्राविशत्सखिभिः सह ॥२९७॥
चिरप्रवासोपयातो हतारिस्तत्र मातरम्।
स राम इव कौशल्यां दर्शनोत्कामनन्दयत् ॥२९८॥
पौराभिनन्दितश्चाथ कृती सिंहासने पितुः।
उपाविशत्तत्सचिवैः पूज्यमानो गुणप्रियैः ॥२९९॥
सम्मान्य प्रकृतीः कृत्स्नास्ततश्च विहितोत्सवः।
शुभेऽह्नि शङ्खदत्ताय लाटराज्यं स दत्तवान् ॥३००॥
तं प्रेष्य लाटविषयं तद्देशजबलान्वितम्।
तेभ्योऽक्षक्षपणादिभ्यो ददौ ग्रामान्वसूनि च ॥३०१॥
तैर्युक्तोऽथ स तत्रासीत्प्रशासन्पैतृकं पदम्।
लाटेन्द्रसुतया देव्या हंसावल्या तया सह ॥३०२॥
क्रमाच्च जित्वा पृथिवीमाहृत्य नृपकन्यकाः।
तत्सम्भोगैकसक्तोऽभूत्सोऽथ भीमभटो नृपः ॥३०३॥
मन्त्रिषु न्यस्तभारश्च क्रीडन्नन्तःपुरैः सह।
अभ्यन्तरान्न निरगात्पानादिव्यसनेन सः ॥३०४॥
अथैकदा मुनिर्द्रष्टुं तमुत्तङ्को यदृच्छया।
पूर्वशर्वसमादेशपाककाल इवागमत् ॥३०५॥
द्वारं प्राप्ते मुनौ चास्मिन्द्वाःस्थेष्वावेदयत्सु च।
राजा रागमदैश्वर्यदर्पान्धो न किलाश्रृणोत् ॥३०६॥
ततः क्रुद्धो मुनिः सोऽस्मै राज्ञे शापमदादिमम्।
मदान्ध राज्याद्भ्रष्टस्त्वं वन्यो हस्ती भविष्यसि ॥३०७॥
तच्छ्रुत्वा स भयाद्भ्रष्टमदो निर्गत्य भूपतिः।
दीनैः प्रासादयद्वाक्यैर्मुनिं तं चरणानतः ॥३०८॥
ततः स शान्तकोपः सन्महर्षिस्तमभाषत।
भविष्यसि द्विपस्तावद्राजन्न स्यात्तदन्यथा ॥३०९॥
किं तु प्रचण्डशक्त्याख्यं नागशापावसादितम्।
मृगाङ्कदत्तसचिवं चक्षुर्वैकल्यमागतम् ॥३१०॥
समाश्वास्यातिथीभूतं यदा तस्मै प्रवक्ष्यसि।
स्ववृत्तान्तं तदैतस्मान्मोक्षं प्राप्स्यसि शापतः ॥३११॥
तच्च प्राग्गिरिशादिष्टं गन्धर्वत्वमवाप्स्यसि।
स चातिथिस्ते चक्षुष्मानेव सम्पद्यते तदा ॥३१२॥

युद्ध समाप्त हो जाने पर बन्दीजन और मागध, भीमभट की स्तुति करने लगे। भीमभट ने अपने मित्रों के सहित राढनगर में प्रवेश किया ॥२९७॥

भीमभट बहुत दिनों के प्रवास के बाद लौटा था, उसने अपने शत्रु का संहार कर दिया था। उसकी माता उसे देखकर बड़ी प्रसन्न हुई—जैसे वनवास से लौटे रामचन्द्र को देखकर कौशल्या प्रसन्न हुई थीं ॥२९८॥

नगरवासियों ने भीमभट का अभिनन्दन किया, उसके गुणों का आदर करनेवाले (उसके पिता के) मन्त्रियों ने उसका सत्कार किया और इस प्रकार वह कृती अपने पिता के राजसिंहासन पर बैठा ॥२९९॥

उसने अपनी समस्त प्रजा का सम्मान किया और उत्सव मनाया। फिर, एक शुभ दिन देखकर उसने लाट का राज्य शंखदत्त को सौंप दिया ॥३००॥

भीमभट ने लाट की सेना के सहित शंखदत्त को लाट देश की ओर रवाना कर दिया। फिर, उसने अक्षक्षपणक आदि अपने अन्य मित्रों को भी गाँव और धन दिया ॥३०१॥

भीमभट उन लोगों को साथ लेकर, लाटराज की कन्या हंसावली के सहित, अपने पिता के राज्य का शासन करने लगा ॥३०२॥

धीरे-धीरे उसने समस्त पृथिवी को जीत लिया। वह अनेक राजकन्याओं का हरण कर लाया और उनके साथ रँगरेलियाँ मनाने में डूबा रहने लगा ॥३०३॥

राज्य का भार मन्त्रियों को सौंपकर वह मदिरा आदि के व्यसन में लिप्त हो गया और अपनी रानियों के साथ विलास-क्रीडाएँ करता हुआ अन्तःपुर में ही समय बिताने लगा ॥३०४॥

एक बार उत्तंक नाम के मुनि स्वेच्छा से भीमभट से मिलने के लिए आये—मानों प्राचीन समय में दिये हुए शंकरजी के आदेश के पालन का समय आ गया हो ॥३०५॥

द्वारपाल ने राजा से निवेदन किया कि द्वार पर मुनि आये हुए हैं, लेकिन राग, मद और ऐश्वर्य के घमण्ड में अन्धे बने हुए राजा ने उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया ॥३०६॥

तब मुनि ने क्रुद्ध होकर उसको इस प्रकार शाप दिया—"रे मदान्ध, तू राज्य से भ्रष्ट होकर जंगली हाथी बन जायगा ॥३०७॥

यह सुनकर राजा डर गया। उसका अभिमान जाता रहा। बाहर निकलकर और मुनि के चरणों में झुककर वह दीन वचनों से उन्हें प्रसन्न करने लगा ॥३०८॥

जब मुनि का क्रोध शान्त हुआ, तब उन्होंने राजा से कहा—"राजन् ! मेरी बात अन्यथा नहीं हो सकती। हाथी तो तुझे होना ही पड़ेगा। लेकिन, नाग के शाप से अन्ध होकर जब मृगांकदत्त का मन्त्री प्रचण्डशक्ति तुम्हारे पास आयगा और उसे आश्वासन देकर तुम उससे अपना वृत्तान्त कहोगे, तब इस शाप से तुम्हारा छुटकारा हो जायगा। फिर, भगवान् शंकर के कहने के अनुसार तुम गन्धर्व बन जाओगे और तुम्हारे उस अतिथि की आँखें भी लौट आयेंगी ॥३०९—३१२॥

इत्युक्त्वैव मुनिः प्रायादुत्तङ्कः स यथागतम् ।
सोऽपि भीमभटो हस्ती सम्पन्नो राज्यविच्युतः ॥३१३॥
तमिमं मां गजीभूतं विद्धि भीमभटं सखे ।
स च प्रचण्डशक्तिस्त्वं जाने शापान्त एष मे ॥३१४॥
एवमुक्त्वा गजाकारं त्यक्त्वा भीमभटोऽत्र सः ।
तत्क्षणं दिव्यविभवो गन्धर्वः समपद्यत ॥३१५॥
प्रचण्डशक्तिश्चोत्पन्नलोचनालोकनोत्सवः ।
तत्कालमेव संजज्ञे पश्यन्गन्धर्वमत्र तम् ॥३१६॥
तावच्च वल्लीजालान्तःस्थितःश्रुत्वा तयोः कथाम् ।
सहितोऽन्यैः स सचिवैः सुदृढोत्पन्ननिश्चयः ॥३१७॥
मृगाङ्कदत्तः कालज्ञः प्रधाव्य रभसाद्द्रुतम् ।
प्रचण्डशक्तिं जग्राह कण्ठे तं निजमन्त्रिणम् ॥३१८॥
सोऽप्यकाण्डसुधावर्षसिक्ताङ्ग इव वीक्ष्य तम् ।
प्रचण्डशक्तिः सहसा पादयोरग्रहीत्प्रभुम् ॥३१९॥
ततस्तौ चिरविश्लिष्टसंश्लिष्टौ भृशदुःखितौ ।
स भीमभटगन्धर्वो रुदन्तौ पर्यसान्त्वयत् ॥३२०॥
मृगाङ्कदत्तोऽपि स तं गन्धर्वं प्रणतोऽब्रवीत् ।
यदस्माभिरयं लब्धः सखा यच्चामुना पुनः ॥३२१॥
चक्षुष्मत्त्वमवाप्तं तत्त्वन्माहात्म्यान्नमोऽस्तु ते ।
श्रुत्वैतत्सोऽपि गन्धर्वो राजपुत्रमुवाच तम् ॥३२२॥
अचिरात्सचिवाञ्शेषाँल्लब्ध्वा कृत्स्नानवाप्स्यसि ।
तां शशाङ्कवतीं भार्यां साम्राज्यं च महीतले ॥३२३॥
तदधैर्यं न कार्यं ते कल्याणिन्साधयाम्यहम् ।
तदा च सन्निधास्ये ते यदा त्वं मां स्मरिष्यसि ॥३२४॥

इति स विगतशापः प्राप्तकल्याणतोषः
प्रकटितसखिभावो राजपुत्रं तमुक्त्वा ।
प्रसभमुदपतद्द्यां चारुकेयूरहार—
क्वणितमुखरिताशोऽनन्यगन्धर्वधुर्यः ॥३२५॥

सोऽपि प्रचण्डशक्तिं प्राप्य वने तत्र मन्त्रिभिः सहितः ।
अनयन्मृगाङ्कदत्तो जातवृतिर्नृपसुतस्तदहः ॥३२६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके
सप्तमस्तरङ्गः ।

ऐसा कहकर उत्तंक नाम के मुनि जैसे आये थे, वैसे ही वापस चले गये। भीमभट भी राज्य-च्युत होकर हाथी बन गया ॥३१३॥

मित्र ! मैं हाथी बना हुआ वही भीमभट हूँ और तुम वह प्रचण्डशक्ति हो। मैं समझता हूँ कि मुझपर पड़े हुए शाप की अवधि के अन्त का यही अवसर है" ॥३१४॥

ऐसा कहकर हाथी का शरीर त्याग कर भीमभट बात-की-बात में दिव्य ऐश्वर्यों से युक्त गन्धर्व बन गया ॥३१५॥

प्रचण्डशक्ति भी उसी समय, अपनी खोई हुई आँखें पाकर प्रसन्न हुआ और उसने अपने सामने उस गन्धर्व को देखा ॥३१६॥

उस समय अपने मन्त्रियों के सहित मृगांकदत्त भी लताओं की ओट में वहीं छिपा हुआ था। उन दोनों की बातें सुनकर उसके मन में दृढ निश्चय हो गया कि वह उसका मन्त्री प्रचण्डशक्ति ही है। तब समय को जाननेवाले मृगांकदत्त ने तेजी से दौड़कर अपने मन्त्री प्रचण्डशक्ति को गले से लगा लिया ॥३१७-३१८॥

मृगांकदत्त को देखकर प्रचण्डशक्ति को ऐसा जान पड़ा, मानों अचानक अमृत की वर्षा से उसके अंग भींग गये हों। उसने झपटकर अपने स्वामी के पैर पकड़ लिये ॥३१९॥

मृगांकदत्त और प्रचण्डशक्ति को, जो बहुत दिनों तक बिछुड़े रहने के बाद मिले थे, जिन्होंने बहुत दुःख उठाये थे और जो रो रहे थे, गन्धर्व भीमभट ने दिलासा दिया ॥३२०॥

मृगांकदत्त ने उस गन्धर्व को प्रणाम करके कहा कि 'आपकी ही कृपा से हम लोगों ने अपने इस मित्र को पाया है और इसे अपनी खोई हुई आँखें भी मिल गई हैं; अतः हम आपको प्रणाम करते हैं।' यह सुनकर उस गन्धर्व ने भी राजकुमार से कहा—॥३२१-३२२॥

"शीघ्र ही तुम्हारे अन्य मन्त्री भी मिल जायेंगे, तुम शशांकवती को पत्नी के रूप में प्राप्त करोगे और संसार का राज्य भी तुम्हारे हस्तगत हो जायगा; अतः तुम्हें धैर्य न छोड़ना चाहिए। कल्याणिन्, अब मैं जाता हूँ; लेकिन जब भी तुम मुझे स्मरण करोगे, मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगा। ॥३२३-३२४॥

गन्धर्वों में अनन्य और श्रेष्ठ भीमभट, जो शाप से मुक्त हो गया था और जिसे कल्याण तथा सन्तोष प्राप्त हुआ था, शशांकदत्त से ऐसा कहकर और उसके प्रति मित्रभाव प्रकट करके, अपने सुन्दर हार और बाजूबन्द की ध्वनि से दिशाओं को गुँजाता हुआ, शीघ्रता से आकाश में उड़ गया ॥३२५॥

मृगांकदत्त भी अपने मन्त्रियों के सहित प्रचण्डशक्ति से मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने वह दिन उसी वन में बिताया ॥३२६॥

महाकवि सोमदेव भट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
सातवाँ तरंग समाप्त हुआ।

अष्टमस्तरङ्गः

(वेतालपञ्चविंशतिका)

जितं विघ्नजिता यस्य पुष्पवृष्टिरिवाम्बरात्।
तारावली कराघातच्युता पतति नृत्यतः ॥१॥
ततोऽतिवाह्य रात्रिं तां प्रभाते काननात्ततः।
प्रचण्डशक्तिप्रमुखैः प्रस्थितः सचिवैः सह ॥२॥
स शशाङ्कवतीहेतोः पुनरुज्जयिनीं प्रति।
मृगाङ्कदत्तः प्रययौ चिन्वञ्शेषान्स्वमन्त्रिणः ॥३॥
गच्छता ददृशे तेन मार्गे विक्रमकेसरी।
मन्त्री पुंसातिविकृतेनोह्यमानो नभस्तले ॥४॥
दर्श्यंते चान्यमन्त्रिभ्यो यावत्तेन स सम्भ्रमात्।
तावत्स मन्त्री गगनात्तत्समीपेऽवतीर्णवान् ॥५॥
अवरुह्य च तस्याशु पुंसः स्कन्धादुपेत्य सः।
मृगाङ्कदत्तं जग्राह पादयोः साश्रुलोचनः ॥६॥
तेनाश्लिष्टश्च हृष्टेन तथा तन्मन्त्रिभिः क्रमात्।
विससर्ज पुमांसं तं स्मृतोऽभ्येष्यसि मामिति ॥७॥
ततो मृगाङ्कदत्तेन कौतुकादुपविश्य सः।
पृष्टः स्वोदन्तमाचख्यौ वने विक्रमकेसरी ॥८॥
तदा भवद्भ्यो विभ्रष्टो नागशापात्परिभ्रमन्।
वहून्यहानि चिन्वानो युष्मानहमचिन्तयम् ॥९॥
गच्छाम्युज्जयिनीं तत्र गन्तव्यं तैर्ध्रुवं यतः।
एवं निश्चित्य च प्रायामहं तां नगरीं प्रति ॥१०॥
क्रमात्तन्निकटं प्राप्य ग्रामं ब्रह्मस्थलाभिधम्।
वापीतटेऽहमेकस्मिन्वृक्षमूल उपाविशम् ॥११॥
तत्रैत्य सर्पदंशार्त्तो वृद्धो मां ब्राह्मणोऽब्रवीत्।
इत उत्तिष्ठ मा पुत्र मदीयां गतिमाप्स्यसि ॥१२॥
इहास्ति हि महासर्पो येन दष्टो रुजार्दितः।
उद्यतोऽस्यां महावाप्यामेषोऽहं देहमुज्झितुम् ॥१३॥
इत्युक्तवन्तं कृपया देहत्यागान्निवार्य तम्।
तत्राकार्षमहं क्षिप्रं निर्विषं विषविद्यया ॥१४॥

अष्टम तरंग

(वेतालपचीसी)

नृत्य करते समय, विघ्ननाशक जो गणेश, अपनी सूँड़ के आघात से, आकाश से फूलों की भाँति तारों की वर्षा-सी कर देते हैं, उनकी विजय हो ॥१॥

मृगांकदत्त ने प्रचण्डशक्ति आदि सचिवों के साथ, वह रात उसी जंगल में बिताई। सवेरा होने पर, वे सबके साथ, अपने बाकी बचे मन्त्रियों को ढूँढ़ते हुए, शशांकवती के लिए फिर उज्जयिनी की ओर चले॥२-३॥

राह चलते हुए मृगांकदत्त ने, आकाश-मार्ग से, एक विकृत मुखवाले मनुष्य पर चढ़कर जाते हुए अपने मन्त्री विक्रमकेसरी को देखा॥४॥

जबतक वे आश्चर्यपूर्वक अपने अन्य मन्त्रियों को यह दृश्य दिखलायें, तबतक वह आकाश से उन्हीं के पास उतर आया॥५॥

शीघ्र ही उस आदमी के कन्धे से उतरकर वह मृगांकदत्त के पास आया और आँखों में आँसू भरकर उसने मृगांकदत्त के पैर पकड़ लिये॥६॥

प्रसन्नतापूर्वक, बारी-बारी से जब मृगांकदत्त तथा उनके मन्त्रियों ने उसे गले से लगा लिया, तब विक्रमकेसरी ने उस आदमी को विदा देते हुए कहा कि जब भी मैं तुम्हें याद करूँ, तुम मेरे पास आ जाना॥७॥

अनन्तर, मृगांकदत्त ने कौतूहल से उसका वृत्तान्त पूछा। विक्रमकेसरी वन में बैठकर अपना हाल सुनाने लगा॥८॥

"नाग के शाप से जब मैं आपलोगों से अलग हो गया, तब बहुत दिनों तक आपलोगों को ढूँढ़ते फिरने के बाद सोचा—॥९॥

'मैं भी उज्जयिनी चलूँ ; क्योंकि वहाँ आपलोगों का जाना निश्चित है।' ऐसा निश्चय करके मैं भी उस नगरी की ओर चल पड़ा॥१०॥

धीरे-धीरे उस नगरी के समीप ब्रह्मस्थल नामक गाँव में पहुँचकर, मैं एक बावली के तट पर, एक वृक्ष के नीचे जा बैठा॥११॥

वहाँ साँप के काटने से विकल एक वृद्ध ब्राह्मण ने आकर मुझसे कहा—'बेटा! यहाँ से उठ जाओ, नहीं तो मेरी ही तरह तुम्हारी भी दशा होगी॥१२॥

यहाँ एक महासर्प है, जिसके काटने से पीडित होकर मैं इस बड़ी बावली में कूदकर प्राण-त्याग करने को उद्यत हूँ'॥१३॥

उसकी ये बातें सुनकर मुझे उसपर बड़ी दया आई। मैंने उसे प्राणत्याग करने से रोका और अपनी विष-विद्या के प्रभाव से उसका विष उतार दिया॥१४॥

क्षिप्तानि तान्यनुद्घाट्य मया गञ्जे गवाक्षतः।
यद्यादिशसि तद्देव तमुद्घाट्य गवेषये ॥३०॥
इत्यूचिवाननुमतो राज्ञा गत्वा क्षणेन सः।
कोषाध्यक्षः समागत्य प्रभुं व्यज्ञापयत्पुनः ॥३१॥
शीर्णानि नात्र पश्यामि कोषे तानि फलान्यहम्।
रत्नराशि तु पश्यामि रश्मिज्वालाकुल विभो ॥३२॥
तच्छ्रुत्वा तान्मणीन्दत्त्वा तुष्टोऽस्मै कोषरक्षिणे।
राजान्येद्युरपृच्छत्स भिक्षुं तं प्राग्वदागतम् ॥३३॥
भिक्षो धनव्ययेनैवं सेवसे मां किमन्वहम्।
नेदानीं ते ग्रहीष्यामि फल यावन्न वक्ष्यसि ॥३४॥
इत्युक्तवन्तं राजानं भिक्षुस्तं विजनेऽब्रवीत्।
वीरसाचिव्यसापेक्षं मन्त्रसाधनमस्ति मे ॥३५॥
तत्र वीरेन्द्र साहाय्यं क्रियमाणं त्वयार्थये।
तच्छ्रुत्वा प्रतिपेदे तत्तथेत्यस्य स भूपतिः ॥३६॥
ततः स श्रमणस्तुष्टो नृपं पुनरुवाच तम्।
तर्हि कृष्णचतुर्दश्यामागामिन्यां निशागमे ॥३७॥
इतो महाश्मशानान्तर्वटस्याधः स्थितस्य मे।
आगन्तव्यं त्वया देव प्रतिपालयतोऽन्तिकम् ॥३८॥
बाढमेवं करिष्यामीत्युक्ते तेन महीभुजा।
स क्षान्तिशीलः श्रमणो हृष्टः स्वनिलयं ययौ ॥३९॥
अथ तां स महासत्त्वः प्राप्य कृष्णचतुर्दशीम्।
प्रार्थनां प्रतिपन्नां तां भिक्षोस्तस्य नृपः स्मरन् ॥४०॥
प्रदोषे नीलवसनस्तमालकृतशेखरः।
निर्ययौ राजधानीतः खड्गपाणिरलक्षितः ॥४१॥
ययौ च घोरनिबिडध्वान्तवातमलीमसम्।
चितानलोग्रनयनज्वालादारुणदर्शनम् ॥४२॥
असंख्यनरकङ्कालकपालास्थिविशङ्कटम्।
हृष्यत्सन्निहितोत्तालभूतवेतालवेष्टितम् ॥४३॥
भैरवस्यापरं रूपमिव गम्भीरभीषणम्।
स्फूर्जन्महाशिवारावं श्मशानं तदविह्वलः ॥४४॥
विचित्य चात्र तं प्राप्य भिक्षुं वटतरोरधः।
कुर्वाणं मण्डलन्यासमुपसृत्य जगाद सः ॥४५॥

"मैं रत्न-भाण्डार को खोले बिना ही, उन फलों को, खिड़की की राह, उसमें डाल दिया करता था। यदि आप आज्ञा दें, तो रत्न-भाण्डार को खोलकर देखूँ ॥३०॥

ऐसा करने के बाद, राजा की आज्ञा पाकर, कोषाध्यक्ष गया और पल-भर बाद ही लौटकर राजा से फिर बोला—॥३१॥

"प्रभो! वे फल तो सड़-गल गये। वे मुझे वहाँ नहीं दीख पड़े—हाँ, चमकती-झलमलाती रत्नराशि वहाँ अवश्य है" ॥३२॥

यह सुनकर राजा कोषाध्यक्ष पर प्रसन्न हुए। उन्होंने उन मणियों को उसे दे दिया। अगले दिन जब पहले की तरह वह भिक्षु फिर आया, तब राजा ने उससे कहा—॥३३॥

"हे भिक्षु! इतना धन खर्च करके तुम प्रतिदिन मुझे क्यों भेंट चढ़ाते हो? अब मैं तबतक तुम्हारा यह फल न लूँगा, जबतक तुम इसका कारण न बतलाओगे" ॥३४॥

राजा के ऐसा कहने पर भिक्षु उन्हें अलग ले गया। उसने कहा—"मुझे एक मन्त्र की साधना करनी है, जिसमें किसी वीर पुरुष की सहायता अपेक्षित है। वीरश्रेष्ठ! उस कार्य में मैं आपकी सहायता की याचना करता हूँ।" यह सुनकर राजा ने उसे सहायता का वचन दिया॥३५-३६॥

तब, सन्तुष्ट होकर भिक्षु ने राजा से फिर कहा—"देव! तब मैं आगामी कृष्ण-चतुर्दशी को, यहाँ के महाश्मशान में, बरगद के पेड़ के नीचे आपकी प्रतीक्षा करूँगा। आप वहीं मेरे पास आयेंगे" ॥३७-३८॥

"ठीक है, मैं ऐसा ही करूँगा।" राजा के ऐसा कहने पर भिक्षु शान्तिशील प्रसन्न होकर अपने घर चला गया॥३९॥

जब वह कृष्ण-चतुर्दशी आई, तब राजा को भिक्षु की उस प्रार्थना का स्मरण हो आया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया था॥४०॥

रात होने पर नीले कपड़े पहन, माथे पर चन्दन लगा और हाथ में तलवार लेकर, वे गुप्त रूप से राजधानी से बाहर निकले॥४१॥

राजा उस श्मशान में पहुँचे, जहाँ भयानक, गहरा और गन्दा अँधेरा छाया हुआ था। वहाँ जलनेवाली चिताओं की लपटें, आँखों की भयानक ज्वाला के समान दीख रही थीं। वहाँ असंख्य नरकंकाल, खोपड़ियाँ तथा हड्डियाँ फैली हुई थीं। वह स्थान प्रसन्न होकर उछेल-कूद मचाते हुए भूत-वेतालों से भरा हुआ था। वह भैरव के दूसरे रूप के समान गम्भीर और भयानक था और वहाँ स्यारों का चीत्कार गूँज रहा था। निर्भय राजा ने वहाँ भिक्षु को ढूँढ़ा। वह एक वट-वृक्ष के नीचे मण्डल बना रहा था। राजा ने उसके निकट जाकर कहा—॥४२-४५॥

एषोऽहमागतो भिक्षो ब्रूहि किं करवाणि ते।
तच्छ्रुत्वा स नृपं दृष्ट्वा हृष्टो भिक्षुरुवाच तम् ॥४६॥
राजन्कृतः प्रसादश्चेत्तदितो दक्षिणामुखम्।
गत्वा विदूरमेकाकी विद्यते शिंशपातरुः ॥४७॥
तस्मिन्नुल्लम्बितमृतः कोऽप्येकः पुरुषः स्थितः।
तमिहानय गत्वा त्वं साहाय्यं कुरु वीर मे ॥४८॥
तच्छ्रुत्वैव तथेत्युक्त्वा स राजा सत्यसङ्गरः।
दक्षिणां दिशमालम्ब्य प्रवीरः प्रययौ ततः ॥४९॥
आत्तदीप्तचितालातलक्षितेन पथात्र सः।
गत्वा तमसि तं प्राप कथञ्चिच्छिंशपातरुम् ॥५०॥
तस्य स्कन्धे चिताधूमदग्धस्य क्रव्यगन्धितः।
सोऽपश्यल्लम्बमानं तं भूतस्येव शवं तरोः ॥५१॥
आरुह्य चात्र भूमौ तं च्छिन्नरज्जुमपातयत्।
पतितश्चात्र सोऽकस्माच्चक्रन्द व्यथितो यथा ॥५२॥
ततोऽवरुह्य कृपया जीवाशङ्की स तस्य यत्।
राजाङ्गं प्रामृशत्तेन सोऽट्टहासं व्यधाच्छवः ॥५३॥
ततः स राजा मत्वा तं वेतालाधिष्ठितं तदा।
किं हसस्येहि गच्छाव इति यावदकम्पितः ॥५४॥
वक्ति तावन्न भूमौ सवेतालं शवमैक्षत।
ऐक्षतात्रैव वृक्षे तु लम्बमानं स्थितं पुनः ॥५५॥
ततोऽधिरुह्य भूयोऽपि तमवातारयत्ततः।
वज्रादपि हि वीराणां चित्तरत्नमखण्डितम् ॥५६॥
आरोप्य च सवेतालं स्कन्धे मौनेन तं शवम्।
स त्रिविक्रमसेनोऽथ राजा गन्तुं प्रचक्रमे ॥५७॥
यान्तं च तं शवान्तःस्थो वेतालोंऽसस्थितोऽब्रवीत्।
राजन्नध्वविनोदाय कथामाख्यामि ते शृणु ॥५८॥

प्रथमो वतालः। पद्मावत्याः कथा

अस्ति वाराणसी नाम पुरारिवसतिः पुरी।
स्थलीव कैलासगिरेर्या पुण्यजनसेविता ॥५९॥
भूरिवारिभृता शश्वदुपकण्ठनिवेशिनी।
हारयष्टिरिवाभाति यस्याः स्वर्गतरङ्गिणी ॥६०॥

"भिक्षु ! लो, मैं आ गया हूँ। मुझे क्या करना है ?" राजा को देखकर और उनकी बातें सुनकर भिक्षु प्रसन्न हुआ। उसने कहा—॥४६॥

"राजन् ! यदि आपने मुझपर कृपा की है, तो यहाँ से दक्षिण की ओर चले जाइए। बहुत दूर पर एक शिंशपा का अकेला वृक्ष मिलेगा। उसपर एक मरे हुए मनुष्य का शरीर लटक रहा है। आप उसे यहाँ ले आइए और मेरा काम पूरा कीजिए॥४७-४८॥

सत्यप्रतिज्ञ राजा ने भिक्षु की बात सुनकर कहा कि 'मैं ऐसा ही करूँगा'। फिर, वे वीर राजा वहाँ से दक्षिण की ओर चल पड़े॥४९॥

जलती हुई चिताओं के प्रकाश के सहारे उस अन्धकार में राह ढूँढ़ते हुए वे किसी तरह उस शिंशपा-वृक्षको पा सके॥५०॥

वह वृक्ष चिता के धुँएँ से काला पड़ गया था। उससे जलते हुए मांस की गन्ध आ रही थी। उसकी डाल पर एक शव लटका हुआ था, मानों वह किसी प्रेत के कन्धे पर लटक रहा हो॥५१॥

राजा ने वृक्ष पर चढ़कर डोरी काट डाली और शव को जमीन पर गिरा दिया। नीचे गिरकर अचानक वह चीख उठा, जैसे उसे बड़ी पीड़ा हुई हो॥५२॥

राजा ने समझा कि वह मनुष्य जीवित है। उनको दया आ गई। वृक्ष से उतरकर वे उसके अंगों को सहलाने लगे। तब उस शव ने अट्टहास किया॥५३॥

तब राजा ने समझा कि उसपर वेताल चढ़ा हुआ है। यह जानकर जबतक वे निर्भय होकर यह कहें कि 'हँसते क्या हो ? आओ, हम लोग चलें', तबतक उन्होंने देखा कि वेताल के सहित वह शव भूमि पर नहीं है। वह फिर उसी वृक्ष पर जा लटका है॥५४-५५॥

अनन्तर, वृक्ष पर चढ़कर उन्होंने शव को फिर नीचे उतारा। वज्र को भले ही खण्डित किया जा सके, लेकिन वीरों के हृदय को विदीर्ण नहीं किया जा सकता॥५६॥

राजा त्रिविक्रमसेन ने वेताल के सहित उस शव को कन्धे पर रखा और चुपचाप चलने लगे॥५७॥

चलते हुए राजा के कन्धे पर सवार शव के अन्दर का वेताल बोला—"राजन् ! राह काटने के लिए मैं तुमसे एक कथा कहता हूँ। सुनो"॥५८॥

प्रथम वेताल : पद्मावती की कथा

वाराणसी नाम की एक नगरी है, जहाँ भगवान् शंकर निवास करते हैं। पुण्यात्मा लोगों के रहने के कारण वह नगरी कैलास-भूमि के समान जान पड़ती है॥५९॥

उस नगरी के निकट अगाध जलवाली गंगा नदी बहती है, जो उसके कण्ठहार की तरह शोभित होती है॥६०॥

प्रतापानलनिर्दग्धविपक्षकुलकाननः ।
तस्यां प्रतापमुकुटो नाम राजाभवत्पुरा ॥ ६१॥
तस्याभूद्वज्रमुकुटस्तनयो रूपशौर्ययोः ।
कुर्वाणो दर्पदलनं स्मरस्यारिजनस्य च ॥६२॥
राजपुत्रस्य तस्यात्र मन्त्रिपुत्रो महामतिः ।
आसीद्बुद्धिशरीराख्यः शरीराभ्यधिकः सखा ॥ ६३॥
तेन सख्या सह क्रीडन्स कदाचिन्नृपात्मजः ।
जगाम दूरमध्वानं मृगयातिप्रसङ्गतः ॥ ६४॥
शौर्यश्रीचामराणीव सिंहानां मस्तकानि सः ।
छिन्दञ्शरैः सटालानि विवेशैकं महावनम् ॥६५॥
तत्रास्थाने स्मरस्येव पठत्कोकिलवन्दिनि ।
दत्तोपकारे तरुभिर्मञ्जरीचलचामरैः ॥६६॥
सोऽन्वितो मन्त्रिपुत्रेण तेनापश्यत्सरोवरम् ।
विचित्रकमलोत्पत्तिधामाम्बुधिमिवापरम् ॥ ६७॥
तस्मिंस्तदेव सरसि स्नानार्थं काचिदागता ।
तेन दिव्याकृतिः कन्या ददृशे सपरिच्छदा ॥ ६८॥
पूरयन्तीव लावण्यनिर्झरेण सरोवरम् ।
दृष्टिपातैः सृजन्तीव तत्रोत्पलवनं नवम् ॥ ६९॥
प्रत्यादिशन्तीव मुखेनाम्बुजानि जितेन्दुना ।
सा जहार मनस्तस्य राजपुत्रस्य तत्क्षणम् ॥७०॥
सोऽप्यहार्षीत्तथा तस्या युवा दृष्ट्वा विलोचने ।
यथा नैक्षत सा कन्या लज्जां स्वामप्यलङ्क्रातम् ॥ ७१॥
यूनि पश्यति तस्मिन्सा केयं स्यादिति सानुगे ।
संज्ञां स्वदेशाद्याख्यातुं विलासच्छद्मनाकरोत् ॥७२॥
करोति स्मोत्पलं कर्णे गृहीत्वा पुष्पशेखरात् ।
चिरं च दन्तरचनां चकारादाय च व्यधात् ॥ ७३॥
पद्मं शिरसि साकूतं हृदये चादधे करम् ।
राजपुत्रश्च तस्यास्तां संज्ञां न ज्ञातवांस्तदा ॥ ७४॥
मन्त्रिपुत्रस्तु बुबुधे स सखा तस्य बुद्धिमान् ।
क्षणाच्च सा ययौ कन्या नीयमानानुगस्ततः ॥७५॥

प्राचीन काल में वहाँ प्रतापमुकुट नाम के एक राजा थे, जिनके प्रताप की अग्नि में शत्रु-कुल का वन जलकर राख हो गया था ॥६१॥

वज्रमुकुट नाम का उसका एक पुत्र था, जिसने अपने रूप से कामदेव का और अपनी वीरता से शत्रुओं का अभिमान चूर-चूर कर दिया था ॥६२॥

बुद्धिशरीर नाम का मन्त्रिपुत्र उस राजकुमार का मित्र था, जो बड़ा बुद्धिमान् था और राजकुमार को अपने शरीर से भी प्यारा था ॥६३॥

एक बार अपने उस मित्र के साथ, शिकार खेलता हुआ, वह राजकुमार मार्ग में बहुत दूर निकल गया ॥६४॥

अपने बाणों से, शौर्य-लक्ष्मी के चँवर के समान लम्बे केश वाले सिंहों के मस्तक काटता हुआ वह एक बड़े वन में प्रविष्ट हुआ.॥६५॥

वह वन कामदेव के निवास-स्थान की तरह था, जहाँ कोकिल-रूपी बन्दीजन गान कर रहे थे और वृक्ष अपनी चंचल मंजरियों से चँवर डुला रहे थे ॥६६॥

उस मन्त्रिपुत्र के सहित राजकुमार ने वहाँ एक सरोवर देखा, जो दूसरे समुद्र की तरह जान पड़ता था और जो भाँति-भाँति के कमलों का उत्पत्ति-स्थान था ॥६७॥

उसी समय अपनी सखियों के सहित उस सरोवर में स्नान करने के लिए आई हुई एक दिव्य रूपवती कन्या को उसने देखा ॥६८॥

अपने लावण्य-निर्झर से उस सरोवर को भरती हुई, अपनी चितवन से वहाँ नीलकमलों का एक नया वन सिरजती हुई और चन्द्रमा की शोभा को जीतनेवाले अपने मुख से कमलों का तिरस्कार करती हुई उस कन्या ने तत्क्षण राजकुमार का मन हर लिया ॥६९-७०॥

उस युवक राजकुमार ने भी तिरछी नजरों से देखकर उसका मन इस तरह हर लिया कि वह अपने आभूषण-रूप लज्जा का भी ध्यान न रख सकी ॥७१॥

अपने अनुगामी मन्त्रिपुत्र के साथ, उसे देखता हुआ राजकुमार सोचता रहा कि "यह कौन है?" तभी खेल के मिस उसने अपना नाम-धाम बतला दिया ॥७२॥

उसने अपने पुष्पमुकुट से एक कमल लेकर कान में लगाया, दन्तपत्र से देर तक दाँतों को खुरचा, एक दूसरा कमल माथे पर तथा हाथ अपने हृदय पर रखा; किन्तु राजकुमार ने उस समय उसके इशारों का मतलब नहीं समझा ॥७३-७४॥

उसके बुद्धिमान् मित्र मन्त्रिपुत्र ने उन इशारों का मतलब समझ लिया। क्षण-भर बाद ही उस कन्या को उसकी अनुगामिनियाँ घर ले गईं ॥७५॥

प्राप्य च स्वगृहं तस्थौ पर्यङ्केऽङ्कं निधाय सा।
चित्तं तु निजसंज्ञार्थमास्थात्तस्मिन्नृपात्मजे ॥७६॥

सोऽपि राजसुतो भ्रष्टविद्यो विद्याधरो यथा।
गत्वा स्वनगरीं कृच्छ्रां प्रापावस्थां तया विना ॥७७॥

सख्या च मन्त्रिपुत्रेण तेन पृष्टस्तदा रहः।
शंसता तामदुष्प्रापां त्यक्तधैर्यो जगाद सः ॥७८॥

यस्या न नाम न ग्रामो नान्वयो वावबुध्यते।
सा कथं प्राप्यते तन्मामाश्वासयसि किं मृषा ॥७९॥

इत्युक्तो राजपुत्रेण मन्त्रिपुत्रस्तमभ्यधात्।
किं न दृष्टं त्वया तद्यत्संज्ञया सूचितं तया ॥८०॥

न्यस्तं यदुत्पलं कर्णे तेनैतत्ते तयोदितम्।
कर्णोत्पलस्य राष्ट्रेऽहं निवसामि महीभृतः ॥८१॥

कृता यद्दन्तरचना तेनैतत्कथितं तया।
तत्र जानीहि मां दन्तघाटकस्य सुतामिति ॥८२॥

पद्मावतीति नामोक्तं तयोत्तंसितपद्मया।
त्वयि प्राणा इति प्रोक्तं हृदयार्पितहस्तया ॥८३॥

कलिङ्गदशे ह्यस्त्यत्र ख्यातः कर्णोत्पलो नृपः।
तस्य प्रसादवित्तोऽस्ति महान्यो दन्तघाटकः ॥८४॥

सङ्ग्रामवर्द्धनाख्यस्य तस्याप्यस्ति जगत्त्रये।
रत्नं पद्मावती नाम कन्या प्राणाधिकप्रिया ॥८५॥

एतच्च लोकतो देव यथावद्विदितं मम।
अतो ज्ञाता मया संज्ञा तस्या देशादिशंसिनी ॥८६॥

इत्युक्तो मन्त्रिपुत्रेण तेन राजसुतोऽथ सः।
तुतोष तस्मै सुधिये लब्धोपायो जहर्ष च ॥८७॥

संमन्त्र्य च समं तेन स तद्युक्तः स्वमन्दिरात्।
प्रियार्थी मृगयाव्याजात्पुनस्तामगमद्दिशम् ॥८८॥

अर्धमार्गे च वाताश्ववेगवञ्चितसैनिकः।
तं मन्त्रिपुत्रैकयुतः कलिङ्गविषयं ययौ ॥८९॥

तत्र तौ प्राप्य नगरं कर्णोत्पलमहीभृतः।
अन्विष्य दृष्ट्वा भवनं दन्तघाटस्य तस्य च ॥९०॥

तददूरे च वासार्थमेकस्या वृद्धयोषितः।
गृहं प्राविशतां मन्त्रिपुत्रराजसुतावुभौ ॥९१॥

घर जाकर उस कन्या ने पलंग पर अपने अंगों को निढाल छोड़ दिया, किन्तु उसका हृदय, अपने इशारों का अर्थ करता हुआ, उस राजकुमार के ही पास रहा ॥७६॥

राजकुमार अपनी नगरी में जाकर, उस कन्या के विना, ऐसी दुर्दशा में पड़ा, जैसी अपनी विद्या भूल जाने पर विद्याधर पड़ता है ॥७७॥

एक दिन मन्त्रिपुत्र ने राजकुमार से एकान्त में इसका कारण पूछा। कारण जानकर उसने कहा कि उसका मिलना कठिन नहीं है। तब राजकुमार ने अधीरता से कहा—॥७८॥

"जिसका न तो नाम-गाँव मालूम है और न जिसके कुल का ही कोई पता है, वह भला कैसे पाई जा सकती है? फिर तुम व्यर्थ ही मुझे भरोसा क्यों दिलाते हो?" ॥७६॥

राजकुमार के ऐसा कहने पर, मन्त्रिपुत्र उससे बोला—"उसने इशारे से तुम्हें जो कुछ बतलाया, उसे क्या तुमने नहीं देखा? ॥८०॥

उसने अपने कानों पर उत्पल (नीलकमल) रखकर बतलाया कि मैं राजा कर्णोत्पल के राज्य में रहती हूँ ॥८१॥

दाँतों को खरोंचकर उसने सूचित किया मैं वहाँ के दन्त-वैद्य की कन्या हूँ ॥८२॥

अपने कानों में पद्म खोंसकर उसने अपना नाम पद्मावती बतलाया और हृदय पर हाथ रखकर सूचित किया कि तुम्हें मेरा हृदय अर्पित हो चुका है ॥८३॥

कलिंग देश में कर्णोत्पल नाम का एक प्रसिद्ध राजा है। उसकी राजसभा में दाँतों का एक वैद्य है, जो राजा का कृपा-पात्र है ॥८४॥

संग्रामवर्धन नामक उस दन्त-वैद्य की पद्मावती नाम की एक कन्या है, जो उसे प्राणों से प्रिय है और तीनों लोकों की मणि के समान है ॥८५॥

देव, ये सारी बातें मैंने लोगों से सुन रखी थीं, इसीलिए मैंने उसके उन इशारों को समझ लिया, जिससे उसने अपने देश आदि की सूचना दी थी ॥८६॥

मन्त्रिपुत्र के ऐसा कहने पर राजकुमार को सन्तोष हुआ। प्रिया का पता लगाने का उपाय मिल जाने के कारण वह प्रसन्न भी हुआ ॥८७॥

उसके साथ परामर्श करके तथा उसको साथ लेकर, राजकुमार आखेट के बहाने अपने महल से निकलकर उसी दिशा की ओर चला ॥८८॥

आधी राह में, अपने घोड़े को वायुवेग से दौड़ाकर उसने अपने सैनिकों को पीछे छोड़ दिया और केवल मन्त्रिपुत्र के साथ कलिंग की ओर चला ॥८६॥

राजा कर्णोत्पल के राज्य में पहुँचकर उन्होंने खोज-ढूँढ़ की और दन्त-वैद्य का घर देख लिया। तब राजकुमार और मन्त्रिपुत्र ने, उसके घर के पास ही निवास करने के लिए, एक वृद्धा स्त्री के मकान में प्रवेश किया ॥६०-६१॥

दत्ताम्बुयवसौ वाहौ गुप्तेऽवस्थाप्य चात्र सः।
राजपुत्रे स्थिते वृद्धां मन्त्रिपुत्रो जगाद ताम्॥९२॥
कच्चिद्वेत्स्यम्ब सङ्ग्रामवर्धनं दन्तघाटकम्।
तच्छ्रुत्वा सा जरद्योषित्सश्रद्धा तमभाषत॥९३॥
वेद्म्येव धात्री तस्यास्मि स्थापिता तेन चाधुना।
पद्मावत्याः स्वदुहितुः पार्श्वे ज्येष्ठतरेत्यहम्॥९४॥
किं त्वहं न सदा तत्र गच्छाम्युपहताम्वरा।
कुपुत्रः कितवो वस्त्रं दृष्ट्वा हि हरते मम॥९५॥
एवमुक्तवतीं प्रीतः स्वोत्तरीयादिदानतः।
सन्तोष्य सोऽत्र वृद्धां तां मन्त्रिपुत्रोऽब्रवीत्पुनः॥९६॥
माता त्वं तद्वदामस्ते गुप्तं यत्तत्कुरुष्व नः।
दन्तघाटसुतामेतां गत्वा पद्मावतीं वद॥९७॥
सोऽत्रागतो राजपुत्रो दृष्टो यः सरसि त्वया।
तेन चेह तवाख्यातुं प्रेषिता प्रणयादहम्॥९८॥
तच्छ्रुत्वा सा तथेत्युक्त्वा वृद्धा दानवशीकृता।
गत्वा पद्मावतीपार्श्वमाजगाम क्षणान्तरे॥९९॥
पृष्टा जगाद तौ राजसुतमन्त्रिसुतौ च सा।
युष्मदागमनं गत्वा गुप्तं तस्या मयोदितम्॥१००॥
तया श्रुत्वा च निर्भर्त्स्य पाणिभ्यामहमाहता।
द्वाभ्यां कर्पूरलिप्ताभ्यामुभयोर्गण्डयोर्मुखे॥१०१॥
ततः परिभवोद्विग्ना रुदत्यहमिहागता।
एतास्तदङ्गुलीमुद्राः पुत्रौ मे पश्यतं मुखे॥१०२॥
एवं तयोक्ते नैराश्यविषण्णं तं नृपात्मजम्।
जगाद स महाप्राज्ञो मन्त्रिपुत्रो जनान्तिकम्॥१०३॥
मा गा विषादं रक्षन्त्या मन्त्रं निर्भर्त्स्य यत्तया।
कर्पूरशुभ्रा वक्त्रेऽस्याः स्वाङ्गुल्यो दश पातिताः॥१०४॥
तदेतदुक्तं पक्षेऽस्मिञ्शुक्ले चन्द्रवतीरिमाः।
रात्रीर्दश प्रतीक्षध्वं सङ्गमानुचिता इति॥१०५॥
इत्याश्वास्य स तं राजसुतं मन्त्रिसुतस्ततः।
विक्रीय गुप्तं हस्तस्थं काञ्चनं किञ्चिदापणे॥१०६॥
वृद्धया साधयामास महार्हं भोजनं तया।
ततस्तौ बुभुजाते द्वौ तत्तया सह वृद्धया॥१०७॥

मन्त्रिपुत्र ने घोड़ों को दाना-पानी देकर उन्हें छिपाकर बाँध दिया; फिर राजकुमार के सामने ही, उसने वृद्धा से कहा—॥६२॥

"माँ ! क्या आप संग्रामवर्धन नाम के किसी दन्तचिकित्सक को जानती हैं ?" यह सुनकर उस बूढ़ी स्त्री ने आश्चर्यपूर्वक कहा—॥६३॥

"हाँ, मैं जानती हूँ। मैं उनकी धाई हूँ, लेकिन अधिक उम्र हो जाने के कारण, अब उन्होंने मुझे अपनी कन्या पद्मावती के पास रख दिया है। किन्तु, वस्त्रों से हीन होने के कारण मैं सदा वहाँ नहीं जाती। मेरा बेटा नालायक और जुआड़ी है। मेरे वस्त्र देखते ही वह उन्हें उठा ले जाता है" ॥६४-६५॥

बुढ़िया के ऐसा कहने पर प्रसन्न होकर उसने अपने उत्तरीय आदि वस्त्र उसे दिये और सन्तुष्ट किया। तब मन्त्रिपुत्र पुनः बोला—॥९६॥

"तुम हमारी माँ हो, अतः हम जो कहते हैं, उसे गुप्त रूप से कर दो। इस दन्त-वैद्य की कन्या पद्मावती से जाकर कहो कि 'जिस राजकुमार को तुमने सरोवर के किनारे देखा था, वह यहाँ आया है। तुम्हारी प्रीति के कारण उसने यह सन्देश कहने के लिए मुझे यहाँ भेजा है'' ॥६७-६८॥

दान से वश में की हुई वह बुढ़िया मन्त्रिपुत्र की बात सुनकर बोली कि 'ऐसा ही करूँगी'। फिर, वह पद्मावती के पास गई और पल-भर बाद ही लौट आई ॥६६॥

पूछने पर उसने राजकुमार और मन्त्रिपुत्र से कहा—"मैंने जाकर तुम लोगों के आने की बात गुप्त रूप से उससे कही। सुनकर उसने मुझे बहुत बुरा-भला कहा और कपूर-लगे अपने दोनों हाथों से उसने मेरे दोनों गालों पर थप्पड़ मारे। तब इस अपमान से दुःखी होकर, रोती हुई, मैं यहाँ लौट आई। बेटो, मेरे चेहरे पर उसकी उँगलियों की यह छाप देख लो" ॥१००–१०२॥

उसके ऐसा कहने पर राजकुमार निराशा के कारण उदास हो गया; कितु महाबुद्धिमान् मन्त्रिपुत्र ने उससे एकान्त में कहा—॥१०३॥

"तुम दुःखी न होओ। पद्मावती ने बुढ़िया को फटकारकर, कपूर से उजली अपनी दसों उँगलियों से उसके गालों पर मारकर, अपने रहस्य को गुप्त रखते हुए कहा है कि इस शुक्ल पक्ष की दस चाँदनी रातों तक प्रतीक्षा करो। ये रातें मिलन के लिए उपयुक्त नहीं हैं' ॥१०४-१०५॥

इस तरह राजकुमार को आश्वासन देकर मन्त्रिपुत्र बाजार में गया और अपने पास का थोड़ा-सा सोना बेच लाया। उससे उसने बुढ़िया के द्वारा बहुमूल्य और उत्तम भोजन बनवाया। फिर, उन दोनों ने उस वृद्धा के साथ भोजन किया ॥१०६-१०७॥

एवं नीत्वा दशाहानि जिज्ञासार्थं पुनः स ताम्।
पद्मावत्यन्तिकं वृद्धां मन्त्रिपुत्रो विसृष्टवान्॥१०८॥

सापि मृष्टान्नपानादिलुब्धा तदनुरोधतः।
गत्वा वासगृहं तस्या भूयोऽभ्येत्य जगाद तौ॥१०९॥

इतो गत्वाद्य तूष्णीमप्यहं तत्र स्थिता तया।
युष्मत्कथापराधं तमुद्गिरन्त्या स्वयं पुनः॥११०॥

सालक्तकाभिस्तिसृभिः कराङ्गुलिभिराहता।
उरस्यस्मिन्नथैषाहमिहायाता तदन्तिकात्॥१११॥

तच्छ्रुत्वा राजपुत्रं तं स्वैरं मन्त्रिसुतोऽब्रवीत्।
मा कार्षीरन्यथा शङ्कामस्या हि हृदये तया॥११२॥

सालक्तकाङ्गुलीमुद्रात्रयं विन्यस्य युक्तितः।
रजस्वला निशास्तिस्त्रः स्थिताहमिति सूचितम्॥११३॥

एवमुक्त्वा नृपसुतं मन्त्रिपुत्रस्त्र्यहे गते।
पद्मावत्यै पुनस्तस्यै वृद्धां तां प्रजिघाय सः॥११४॥

सा गता मन्दिरं तस्यास्तया सम्मान्य भोजिता।
प्रीत्या पानादिलीलाभिर्दिनं चात्र विनोदिता॥११५॥

सायं च यावत्सा वृद्धा गृहमागन्तुमिच्छति।
उदभूद्भयकृत्तावत्तत्र कोलाहलो बहिः॥११६॥

हा हा भ्रष्टोऽयमालानाज्जनान्मथ्नन्प्रधावति।
मत्तहस्तीति लोकस्य तत्राक्रन्दोऽथ शुश्रुवे॥११७॥

ततः पद्मावती सा तां वृद्धामेवमभाषत।
स्पष्टेन हस्तिरुद्धेन गन्तुं युक्तं न ते पथा॥११८॥

तत्पीठिकां समारोप्य बद्धालम्बनरज्जुकाम्।
बृहद्गवाक्षेणानेन त्वामत्र प्रक्षिपामहे॥११९॥

गृहोद्याने ततो वृक्षमारुह्यामुं विलङ्घ्य च।
प्राकारमवरुह्यान्यवृक्षेण स्वगृहं व्रज॥१२०॥

इत्युक्त्वा सा गवाक्षेण क्षेपयामास तत्र ताम्।
वृद्धां चेटीभिरुद्याने रज्जुपीठिकया ततः॥१२१॥

इस तरह दस दिन बिताकर, मन्त्रिपुत्र ने, पता लगाने के लिए, उस बुढ़िया को फिर पद्मावती के पास भेजा ॥१०८॥

वह भी उत्तम भोजन-पान के लोभ से, उन लोगों के अनुरोध करने पर, पद्मावती के घर गई। वहाँ से लौटकर उसने कहा—॥१०९॥

"आज मैं यहाँ से जाकर, चुपचाप उसके पास खड़ी रही। तब उसने स्वयं ही तुम्हारी बात कहने के मेरे अपराध का उल्लेख करते हुए, मेरे हृदय पर, महावर-लगी अपनी तीन उँगलियों से आघात किया। इसके बाद मैं उसके पास से यहाँ चली आई ॥११०-१११॥

यह सुनकर मन्त्रिपुत्र ने अकेले में राजकुमार से कहा—"तुम कोई दूसरी शंका मत करो। उसने उसके हृदय पर महावर-लगी तीन उँगलियाँ रखकर युक्तिपूर्वक यह सूचित किया है कि, तीन रातों तक मैं रजस्वला रहूँगी ॥११२-११३॥

राजकुमार से ऐसा कहकर, तीन रातें बीत जाने के बाद, मन्त्रिपुत्र ने उस बुढ़िया को फिर पद्मावती के पास भेजा ॥११४॥

उस दिन जब बुढ़िया पद्मावती के भवन में गई, तब उसने आदरपूर्वक बुढ़िया को भोजन कराया और प्रेम से खिलाने-पिलाने की क्रीडाओं में दिन बिता दिया ॥११५॥

शाम को जब वह घर लौटने को उद्यत हो रही थी, तभी बाहर से बड़ा डरावना शोरगुल सुन पड़ा ॥११६॥

"हाय, हाय, यह पागल हाथी जंजीर तोड़कर लोगों को कुचलता हुआ भागा जा रहा है" बाहर से मनुष्यों की ऐसी चीख-पुकार सुन पड़ी ॥११७॥

तब पद्मावती ने उस बुढ़िया से यों कहा—"राजमार्ग को हाथी ने रोक रखा है। उससे तुम्हारा जाना उचित नहीं है। अतः, मैं तुम्हें रस्सियों से बँधी एक पीढ़ी पर बैठाकर, उस बड़ी खिड़की के रास्ते नीचे बगीचे में उतरवा देती हूँ। उसके बाद तुम पेड़ के सहारे बाग की चहारदीवारी पर चढ़ जाना और फिर वहाँ से दूसरी ओर के पेड़ पर जाकर नीचे उतर जाना और वहाँ से घर चली जाना" ॥११८--१२०॥

यह कहकर रस्सी से बँधी एक पीढ़ी पर बैठाकर उसने बुढ़िया को अपनी दासियों के द्वारा खिड़की के रास्ते नीचे बगीचे में उतरवा दिया ॥१२१॥

साथ गत्वा यथोक्तेन पथा सर्वं शशंस तत्।
यथावद्राजपुत्राय तस्मै मन्त्रिसुताय च।।१२२।।
ततः स मन्त्रिपुत्रस्तं राजपुत्रमभाषत।
सिद्धं तवेष्टं मार्गो हि युक्त्या ते दर्शितस्तया।।१२३।।
तद्गच्छाद्यैव तत्र त्वं प्रदोषेऽस्मिन्नृपागते।
एतेनैव पथा तस्याः प्रियाया मन्दिरं विश।।१२४।।
इत्युक्तस्तेन तद्युक्तो राजपुत्रो ययौ स तत्।
उद्यानं वृद्धयोक्तेन तेन प्राकारवर्त्मना।।१२५।।
तत्रापश्यच्च रज्जुं तां लम्बमानां सपीठिकाम्।
मार्गोन्मुखाभिश्चेटीभिरुपरिष्टादधिष्ठिताम् ।।१२६।।
आरूढस्तां च दृष्ट्वैव दासीभिस्ताभिराशु सः।
रज्जूत्क्षिप्तो गवाक्षेण प्रविवेश प्रियान्तिकम्।।१२७।।
तस्मिन्प्रविष्टे स ययौ मन्त्रिपुत्रः स्वमास्पदम्।
राजपुत्रस्तु तां पद्मावतीं तत्र ददर्श सः।।१२८।।
पूर्णामृतांशुवदनां प्रसरत्कान्तिचन्द्रिकाम्।
कृष्णपक्षभयाद्गुप्तस्थितां राकानिशामिव।।१२९।।
सापि दृष्ट्वा तमुत्थाय चिरौत्सुक्योचितैस्ततः।
कण्ठग्रहादिभिस्तैस्तैरुपचारैरमानयत् ।।१३०।।
ततस्तया स गान्धर्वविधिनोद्गूढया सह।
गुप्तं राजसुतस्तस्थौ पूर्णेच्छस्तत्र कान्तया।।१३१।।
स्थित्वा चाहानि कतिचिद्रात्रौ तामवदत्प्रियाम्।
सखा मम सहायातो मन्त्रिपुत्र इह स्थितः।।१३२।।
स चात्र तिष्ठत्येकाकी त्वज्ज्येष्ठतरिकागृहे।
गत्वा सम्भाव्य तं तन्वि पुनरेष्यामि तेऽन्तिकम्।।१३३।।
तच्छ्रुत्वा तमवोचत्सा धूर्ता पद्मावती प्रियम्।
हन्तार्यपुत्र पृच्छामि ताः संज्ञा मत्कृतास्त्वया।।१३४।।
ज्ञाता किं किमु वा तेन सख्या मन्त्रिसुतेन ते।
एमुक्तवतीमेतां राजपुत्रो जगाद स;।।१३५।।
न ज्ञातं तन्मया किञ्चिज्ज्ञात्वा सर्वं च तेन मे।
आख्यातं मन्त्रिपुत्रेण दिव्यप्रज्ञानशालिना।।१३६।।

वह पद्मावती के बताये हुए उपाय से घर लौट गई और उसने राजकुमार तथा मन्त्रिपुत्र से सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह दीं ॥१२२॥

तब उस मन्त्रिपुत्र ने राजकुमार से कहा—"तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ। उसने युक्तिपूर्वक तुम्हें रास्ता भी बतला दिया । इसलिए, आज ही शाम को तुम वहाँ जाओ और इसी मार्ग से अपनी उस प्रिया के भवन में प्रवेश करो" ॥१२३-१२४॥

उसके ऐसा कहने पर, राजकुमार उसको साथ लेकर, बुढ़िया के बतलाये हुए तरीके से, चहारदीवारी पर चढ़कर, पद्मावती के बगीचे में गया ॥१२५॥

वहाँ उसने रस्सियों से बँधी हुई पीढ़ी को लटकते देखा, जिसके ऊपरी छज्जे पर, राजकुमार की राह देखती हुई-सी दासियाँ खड़ी थीं ॥१२६॥

राजकुमार ज्यों ही उस पीढ़ी पर बैठा, उन दासियों ने रस्सी ऊपर खींच ली और वह खिड़की की राह अपनी प्रिया के पास जा पहुँचा ॥१२७॥

राजकुमार जब अन्दर चला गया, तब मन्त्रिपुत्र अपने निवास-स्थान को लौट गया। राजकुमार ने वहाँ पद्मावती को देखा ॥१२८॥

पद्मावती का मुख पूर्णचन्द्र के समान था, जिससे शोभा की किरणें छिटक रही थीं। कृष्णपक्ष के भय से जैसे चाँदनी रातें छिप जाती हैं, वैसे ही वह छिपी बैठी थी ।१२९॥

पद्मावती ने भी राजकुमार को देखकर, बहुत दिनों की उत्कण्ठा के कारण, उसे गले लगाया तथा अन्य अनेक प्रकार से उसका सम्मान किया ॥१३०॥

अनन्तर, राजकुमार ने गान्धर्व-विधि से उस कन्या से विवाह कर लिया और पूर्णकाम होकर, गुप्त रूप से, वहीं रहा ॥१३१॥

कई दिनों तक वहाँ रहने के बाद, एक रात को उसने अपनी प्रिया से कहा—"मेरे साथ मेरा मित्र मन्त्रिपुत्र भी यहाँ आया है। वह यहाँ अकेला ही, तुम्हारी धाई के घर में रहता है। मैं जाकर और उसे समझा-बुझाकर फिर तुम्हारे पास आ जाऊँगा ॥१३२-१३३॥

यह सुनकर उस धूर्त्त पद्मावती ने राजकुमार से पूछा—"आर्यपुत्र! यह तो बतलाइए कि मैंने जो इशारे किये थे, उन्हें तुमने समझा था या मन्त्रिपुत्र ने?" उसके ऐसा कहने पर राजकुमार उससे बोला—॥१३४-१३५॥

"मैंने उन इशारों को बिलकुल नहीं समझा था। दिव्य ज्ञानवाले मन्त्रिपुत्र ने ही सारी बातें समझकर मुझे बतलाई थीं" ॥१३६॥

एतच्छ्रुत्वा विचिन्त्यैव भामिनी सा जगाद तम्।
तर्ह्ययुक्तं कृतं यन्मे चिरात्स कथितस्त्वया ॥१३७॥

स मे भ्राता सखा यस्ते तस्य च प्रथमं मया।
ताम्बूलादिसमाचारः कर्त्तव्यो हि सदा भवेत् ॥१३८॥

इत्युक्तवत्यानुमतस्तया पूर्वपथेन सः।
राजपुत्रोऽन्तिकं तस्य सख्युरागात्ततो निशि ॥१३९॥

शशंस च कथामध्ये तत्तस्मै यत्तदाश्रयम्।
संज्ञाविज्ञानकथनं कृतं तेन प्रियान्तिके ॥१४०॥

मन्त्रिपुत्रस्तु सोऽयुक्तमिति न श्रद्दधेऽस्य तत्।
तावच्च सा तयोस्तत्र विभाताभूद्विभावरी ॥१४१॥

अथैतयोर्विधौ सान्ध्ये निवृत्ते कुर्वतोः कथाः।
आगात्पक्वान्नताम्बूलहस्ता पद्मावतीसखी ॥१४२॥

सा मन्त्रिपुत्रं कुशलं पृष्ट्वा दत्तोपचारिका।
निषेद्धुं राजपुत्रस्य भोजनं तत्र युक्तितः ॥१४३॥

कथान्तरे स्वामिनीं स्वां भोजनादौ तदागमम्।
प्रतीक्षमाणामावेद्य क्षणाद्गुप्तं ततो ययौ ॥१४४॥

ततस्तं मन्त्रिपुत्रः स राजपुत्रमभाषत।
कौतुकं पश्य देवैकं दर्शयाम्यधुना तव ॥१४५॥

इत्युक्त्वा भक्ष्यमेकं स पक्वान्नं दत्तवांस्ततः।
सारमेयाय स च तत्खादित्वैव व्यपद्यत ॥१४६॥

तद्दृष्ट्वा किमिदं चित्रमिति राजसुतोऽत्र सः।
पप्रच्छ मन्त्रिपुत्रं तं स चैतं प्रत्यभाषत ॥१४७॥

संज्ञाज्ञानेन धूर्त्तं मां विदित्वा हन्तुकामया।
तया विषान्नं प्रहितं मम त्वदनुरक्तया ॥१४८॥

नास्मिन्सति मदेकाग्रो राजपुत्रो भवेदयम्।
एतद्वशश्च मुक्त्वा मां नगरीं स्वां व्रजेदिति ॥१४९॥

तन्मुञ्च मन्युमेतस्यां बन्धुत्यागान्महात्मनः।
कुर्यास्त्वं हरणे युक्तिं वक्ष्याम्यालोच्य यामहम् ॥१५०॥

इत्युक्तवन्तं तं मन्त्रिसुतं राजसुतोऽत्र सः।
सत्यं बुद्धिशरीरस्त्वमिति यावत्प्रशंसति ॥१५१॥

अशङ्कितं बहिस्तावद्दुःखाकुलजनारवः।
हा धिग्राज्ञः सुतो बालो विपन्न इति शुश्रुवे ॥१५२॥

यह सुनकर और कुछ सोचकर उसने राजकुमार से कहा—"यह बात इतने विलम्ब से कहकर आपने बड़ा अनुचित किया है। आपका मित्र होने के कारण वह मेरा भाई है। पान-पत्तों से मुझे पहले ही उसका सत्कार करना चाहिए था" ॥१३७-१३८॥

ऐसा कहकर उसने राजकुमार को जाने की अनुमति दे दी। तब, रात के समय, वह राजकुमार जिस रास्ते से आया था, उसी से अपने मित्र के पास गया ॥१३९॥

पद्मावती से, उसके इशारों को समझने के बारे में राजकुमार की जो बातें हुई थीं, उसने बातों-ही-बातों में वह सब भी मन्त्रिपुत्र को कह सुनाया ॥१४०॥

मन्त्रिपुत्र ने अपने सम्बन्ध में कही गई इस बात को उचित न समझकर इसका समर्थन नहीं किया। इसी बीच रात बीत गई ॥१४१॥

सबेरे सन्ध्या-वन्दन आदि से निवृत्त होकर वे दोनों बातें कर रहे थे, तभी पद्मावती की एक सखी, हाथ में पान और पकवान लेकर वहाँ आई ॥१४२॥

उसने मन्त्रिपुत्र का कुशल-मंगल पूछा और लाई हुई चीजें उसे दीं; लेकिन युक्तिपूर्वक राजकुमार को भोजन करने से उसने रोका ॥१४३॥

बातों-ही-बातों में उसने राजकुमार से कहा कि मेरी स्वामिनी भोजन आदि के लिए आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं। पल-भर बाद, वह गुप्त रूप से वहाँ से चली गई ॥१४४॥

तब मन्त्रिपुत्र ने राजकुमार से कहा—"देव, अब देखिए, मैं आपको एक तमाशा दिखलाता हूँ।" ॥१४५॥

यह कहकर उसने एक पकवान एक कुत्ते को दे दिया। कुत्ता उसे खाते ही मर गया ॥१४६॥

यह देखकर राजकुमार ने मन्त्रिपुत्र से पूछा कि 'यह कैसा कौतुक है ?' तब मन्त्रिपुत्र ने उससे कहा—॥१४७॥

"मैंने उसके इशारों को पहचान लिया था, इसलिए मुझे धूर्त्त समझकर उसने मेरी हत्या कर देनी चाही थी। इसीसे, तुममें बहुत अनुराग होने के कारण, उसने मेरे लिए विष-मिश्रित अन्न भेजा था। उसे भय था कि इसके रहते राजकुमार एकमात्र मुझमें ही अनुराग नहीं रख सकेगा और इसके वश में रहकर, मुझे छोड़कर, अपनी नगरी में चला जायगा। इसलिए, उसपर क्रोध न करो, बल्कि उसे अपने माता-पिता के त्याग के लिए प्रेरित करो और सोच-विचारकर उसके हरण के लिए मैं तुम्हें जो युक्ति बतलाता हूँ, उसके अनुसार आचरण करो" ॥१४८—१५०॥

मन्त्रिपुत्र के ऐसा कहने पर राजकुमार यह कहकर उसकी प्रसंसा करने लगे कि 'सचमुच ही तुम बुद्धिशरीर हो'। इसी बीच, अचानक, बाहर से दुःख-विकल लोगों का शोर-गुल सुन पड़ा, जो कह रहे थे—"हाय! हाय! राजा का छोटा बच्चा मर गया" ॥१५१-१५२॥

तदाकर्णनहृष्टोऽथ मन्त्रिपुत्रो नृपात्मजम् ।
जगाद हन्त गच्छाद्य पद्मावत्या गृहं निशि ॥१५३॥
तत्र तां पाययेस्तावद्यावत्पानमदेन सा ।
निःसंज्ञा नष्टचेष्टा च गतजीवेव जायते ॥१५४॥
ततस्तस्याः सनिद्रायाः शूलेनाङ्कं कटीतटे ।
दत्त्वाग्नितप्तेनादाय तदाभरणसञ्चयम् ॥१५५॥
आगच्छेस्त्वं गवाक्षेण रज्जुलम्बविनिर्गतः ।
ततः परं यथा भद्रं भवेज्ज्ञास्याम्यहं तथा ॥१५६॥
इत्युक्त्वा कारयित्वा च क्रोडवालनिभाश्रिकम् ।
मन्त्रिपुत्रो ददौ तस्मै त्रिशूलं राजसूनवे ॥१५७॥
राजपुत्रः स हस्ते तत्कृत्वा कुटिलकर्कशम् ।
कालायसदृढं चित्तमिव कान्तावयस्ययोः ॥१५८॥
तथेति पूर्ववद्रात्रावगात्पद्मावतीगृहम् ।
अविचार्यं प्रभूणां हि शुचेर्वाक्यं स्वमन्त्रिणः ॥१५९॥
तत्र तां मद्यनिश्चेष्टां शूलेन जघनेऽङ्किताम् ।
हृतालङ्करणां कृत्वा तस्यागात्सख्युरन्तिकम् ॥१६०॥
दर्शिताभरणस्तस्मै शशंस च यथाकृतम् ।
ततः स मन्त्रिपुत्रोऽपि सिद्धं मेने मनीषितम् ॥१६१॥
प्रातर्गत्वा श्मशानं च सोऽभूत्तापसवेषभृत् ।
स्वैरं राजसुतं तं च विदधे शिष्यरूपिणम् ॥१६२॥
अब्रवीत्तं च गच्छैकमितोऽलङ्करणादिमाम् ।
मुक्तावलीं समादाय त्वं विक्रेतुमिवापणे ॥१६३॥
वहुमूल्यं वदेश्चास्या येनैतां नैव कश्चन ।
गृह्णीयाद्भ्राम्यमाणां च सर्वः कोऽपि विलोकयेत् ॥१६४॥
गुरुणा मम विक्रेतुमियं दत्तेत्यनाकुलः ।
ब्रूयाश्च यदि गृह्णीयुरत्र त्वां पुररक्षिणः ॥१६५॥
इति स प्रेषितस्तेन गत्वा राजसुतस्तदा ।
अतिष्ठदापणे भ्राम्यन्व्यक्तं मुक्तावलीं दधत् ॥१६६॥
तथाभूतश्च जगृहे स दृष्ट्वा पुररक्षिभिः ।
दन्तघाटसुतामोषज्ञप्तेश्चौरगवेषिभिः ॥१६७॥

यह सुनकर मन्त्रिपुत्र प्रसन्न हुआ। उसने राजकुमार से कहा—"आज रात को तुम पद्मावती के घर जाओ। वहाँ तुम उसे इतनी शराब पिलाना, जिसके नशे से वह बेहोश हो जाय और उसकी चेष्टाएँ भी जाती रहें और वह मृतक के समान जान पड़े। जब वह इस तरह सोई रहे, तुम त्रिशूल गरम करके उसकी कमर के पास दाग देना और उसके गहनों की गठरी बाँधकर, रस्सी के सहारे, खिड़की की राह से निकलकर यहाँ चले आना। उसके बाद मैं सोच-विचारकर वैसा उपाय करूँगा, जिससे हमारा भला हो॥१५३–१५६॥

यह कहकर और तीखी अनीवाला एक त्रिशूल बनवाकर मन्त्रिपुत्र ने राजकुमार को दे दिया॥१५७॥

अपनी स्त्री और मित्र के हृदय के समान कुटिल और कठोर तथा काल-लौह के समान दृढ उस त्रिशूल को लेकर राजकुमार ने कहा—'ऐसा ही करूँगा'; और रात होने पर वह पहले ही की तरह, पद्मावती के भवन में गया; क्योंकि स्वामिगण अपने शुद्ध हृदयवाले मन्त्रियों की बात मानने में आगा-पीछा नहीं करते॥१५८-१५९॥

वहाँ, शराब के नशे में पद्मावती को बेहोश करके, उसने त्रिशूल से उसके जघन-भाग पर चिह्न बना दिया और उसके आभूषण लेकर वह अपने मित्र के पास लौट आया॥१६०॥

उसने मन्त्रिपुत्र को वे आभूषण दिखलाये तथा जो कुछ किया था, वह बातें भी बतलाईं। तब मन्त्रिपुत्र ने अपने मनोरथ को सफल माना॥१६१॥

सवेरे श्मशान में जाकर उस मन्त्रिपुत्र ने तपस्वी का रूप धारण किया और राजकुमार को अपना शिष्य बनाया॥१६२॥

मन्त्रिपुत्र ने राजकुमार से कहा—इन आभूषणों में से मोतियों की एक माला लेकर तुम बाजार में बेचने जाओ; लेकिन इसका दाम इतना अधिक बताना कि इसे कोई खरीद न सके और इसे लेकर घूमते हुए तुमको सब लोग देखें। अगर नगर-रक्षक तुम्हें पकड़ें, तो विना घबराये हुए तुम कहना कि 'मेरे गुरु ने इसे बेचने के लिए मुझे दिया है'॥१६३–१६५॥

इस प्रकार, मन्त्रिपुत्र के द्वारा भेजा गया राजकुमार बाजार में गया और वहाँ उस हार को लेकर घूमता रहा॥१६६॥

दन्त-वैद्य की बेटी के गहनों की चोरी की खबर पाकर, नगर-रक्षक उसका पता लगाने के लिए घूमते फिर रहे थे। राजकुमार को हार के साथ देखकर, उन लोगों ने उसे पकड़ लिया॥१६७॥

निन्ये च नगराध्यक्षनिकटं तैः स तत्क्षणात् ।
स च तं तापसाकारं दृष्ट्वा पप्रच्छ सान्त्वतः ॥१६८॥
कुतो मुक्तावलीयं ते भगवन्निह हारिता ।
दन्तघाटककन्याया हृतं ह्याभरणं निशि ॥१६९॥
तच्छ्रुत्वा राजपुत्रस्तं सोऽवादीत्तापसाकृतिः ।
गुरुणा मम दत्तेयमेत्यासौ पृच्छ्यतामिति ॥१७०॥
ततश्चोपेत्य तं नत्वा पप्रच्छ नगराधिपः ।
मुक्तावलीयं भगवन्कुतस्ते शिष्यहस्तगा ॥१७१॥
श्रुत्वैतद्विजनं कृत्वा स धूर्त्तस्तमभाषत ।
अहं तपस्वी भ्राम्यामि सदारण्येष्वितस्ततः ॥१७२॥
सोऽहं दैवादिह प्राप्तः श्मशानेऽत्र स्थितो निशि ।
अपश्यं योगिनीचक्रं समागतमितस्ततः ॥१७३॥
तन्मध्ये चैकयानीय योगिन्या राजपुत्रकः ।
उद्घाटितहृदम्भोजो भैरवाय निवेदितः ॥१७४॥
पानमत्ता च सा हर्त्तुं जपतो मेऽक्षमालिकाम् ।
प्रावर्त्तत महामाया विकारान्कुर्वती मुखे ॥१७५॥
अतिप्रवृत्ता च मया क्रुद्धेन जघनस्थले ।
अङ्किता सा त्रिशूलेन मन्त्रप्रज्वालिताश्रिणा ॥१७६॥
हृता मुक्तावली चेयं तस्याः कण्ठान्मया तदा ।
सैषाद्य तापसानर्हा विक्रेया मम वर्त्तते ॥१७७॥
एतच्छ्रुत्वा पुराध्यक्षो गत्वा भूपं व्यजिज्ञपत् ।
भूपोऽप्याकर्ण्य तत्तां च बुद्ध्वा तन्मौक्तिकावलीम् ॥१७८॥
प्रेक्षणप्रेषितायातवृद्धाप्तवनितामुखात् ।
श्रुत्वा च दृश्यशूलाङ्कां जघने सत्यमेव ताम् ॥१७९॥
ग्रस्तः सुतो मे डाकिन्या तयेत्युत्पन्ननिश्चयः ।
स्वयं तस्यान्तिकं गत्वा मन्त्रिपुत्रतपस्विनः ॥१८०॥
पृष्ट्वा च निग्रहं तस्याः पद्मावत्याः स तद्गिरा ।
पितृभ्यां शोच्यमानायाः पुरान्निर्वासनं व्यधात् ॥१८१॥
निर्वासिताटवीस्था सा विग्नापि न जहौ तनुम् ।
उपायं मन्त्रिपुत्रेण तं सम्भाव्य तथा कृतम् ॥१८२॥

बात-की-बात में वे उसे नगरपाल के पास ले गये। इसने तपस्वी के वेश में राजकुमार को देखकर आदर-सहित पूछा —॥१६८॥

"भगवन्! मोतियों की यह माला आपको कहाँ मिली? पिछली रात दन्त-वैद्य की कन्या के आभूषण चोरी चले गये हैं"॥१६९॥

यह सुनकर तपस्वी बने हुए राजकुमार ने कहा—"इसे मेरे गुरु ने मुझको दिया है। आप चलकर उन्हीं से पूछ लें॥१७०॥

तब नगरपाल वहाँ आया और नमस्कार करके उस मन्त्रिपुत्र से पूछा—"भगवन्! मोतियों की यह माला आपके शिष्य को कहाँ से मिली?"॥१७१॥

यह सुनकर और एकान्त में जाकर उस धूर्त्त (मन्त्रिपुत्र) ने कहा—"मैं तो तपस्वी हूँ। सदा जंगलों में यहाँ-वहाँ घूमता रहता हूँ। संयोग से, मैं पिछली रात इस श्मशान में आकर टिक गया था। यहाँ मैंने इधर-उधर से आई हुई योगिनियों को देखा। उनमें से एक योगिनी राजपुत्र को ले आई और उसने उसका हृदय-कमल निकालकर भैरव को अर्पित किया। मदिरा पीकर वह मायाविनी मतवाली हो गई और मुझे मुँह चिढ़ाती हुई मेरी उस रुद्राक्ष-माला को लेने दौड़ी, जिसपर मैं जप कर रहा था। जब उसने मुझे बहुत तंग किया, तब मुझे क्रोध आ गया। मैंने मन्त्रबल से अग्नि जलाई और उसमें त्रिशूल तपाकर उसके जघन-भाग पर दाग दिया। उसी समय मैंने उसके गले से मोतियों की यह माला निकाल ली। किन्तु मैं तपस्वी हूँ। यह माला मेरे किसी काम की नहीं है। इसी से मैं इसे बेचना चाहता हूँ"॥१७२—१७७॥

यह सुनकर नगरपाल राजा के पास गया। उसने उनसे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने सारी बातें सुनकर मोतियों की माला को पहचान लिया॥१७८॥

उन्होंने एक विश्वासिनी वृद्धा को यह देखने के लिए भेजा कि पद्मावती की जाँघ पर त्रिशूल का चिह्न है या नहीं। उसने लौटकर बतलाया कि सचमुच उसकी जाँघ पर वह चिह्न है॥१७९॥

तब उनको विश्वास हो गया कि मेरे बेटे को डाकिनी खा गई है। इसके बाद वे स्वयं तपस्वी-वेशधारी मन्त्रिपुत्र के पास गये और पूछा कि पद्मावती को क्या दण्ड दिया जाय। मन्त्रि-पुत्र के कहने से उन्होंने उसे नगर से निर्वासित कर दिया। यद्यपि उसके माँ-बाप उसके लिए शोक करते रह गये॥१८०-१८१॥

नग्न करके वन में निर्वासित कर दी जाने पर भी पद्मावती ने आत्महत्या नहीं की। उसने सोचा कि मन्त्रिपुत्र ने ही यह सब उपाय किया है॥१८२॥

दिनान्ते तां च शोचन्तीमश्वारूढावुपेयतुः।
त्यक्ततापसवेषौ तौ मन्त्रिपुत्रनृपात्मजौ ॥१८३॥

आश्वास्यारोप्य तुरगे स्वराष्ट्रं निन्यतुश्च ताम्।
तत्र तस्थौ तया साकं राजपुत्रः स निर्वृतः ॥१८४॥

दन्तघाटस्त्वरण्ये तां क्रव्यादैर्भक्षितां सुताम्।
मत्वा व्यपादि शोकेन भार्या चानुजगाम तम् ॥१८५॥

इत्याख्याय स भूयस्तं वेतालो नृपमब्रवीत्।
तन्मेऽत्र संशयं छिन्धि दम्पत्योरेतयोर्वधात् ॥१८६॥

मन्त्रिपुत्रस्य किं पापं राजपुत्रस्य किं नु वा।
पद्मावत्याः किमथवा त्वं हि बुद्धिमतां वरः ॥१८७॥

जानानश्च न चेद्राजन्मम तत्त्वं वदिष्यसि।
तदेष शतधा मूर्धा निश्चितं ते स्फुटिष्यति ॥१८८॥

इत्युक्तवन्तं वेतालं विजानञ्शापभीतितः।
स त्रिविक्रमसेनस्तमेवं प्रत्यब्रवीन्नृपः ॥१८९॥

योगेश्वर किमज्ञेयमेतन्नैषां हि पातकम्।
त्रयाणामपि राज्ञस्तु पापं कर्णोत्पलस्य तत् ॥१९०॥

वेतालोऽप्याह राज्ञः किं ते हि तत्कारिणस्त्रयः।
काकाः किमपराध्यन्ति हंसैर्जग्धेषु शालिषु ॥१९१॥

राजा ततोऽब्रवीच्चैनं न दुष्यन्ति त्रयोऽपि ते।
मन्त्रिसूनोर्हि तत्तावत्प्रभुकार्यमपातकम् ॥१९२॥

पद्मावतीराजपुत्रौ तौ हि कामशराग्निना।
सन्तप्तावविचारार्हावदोषौ स्वार्थमुद्यतौ ॥१९३॥

कर्णोत्पलस्तु राजा स नीतिशास्त्रेष्वशिक्षितः।
चारैः प्रजास्वनन्विष्यंस्तत्त्वशुद्धिं निजास्वपि ॥१९४॥

अजानन्धूर्त्तचरितानीङ्गिताद्यविचक्षणः।
तथा तन्निर्विचारं यच्चक्रे तेन स पापभाक् ॥१९५॥

इत्याकर्ण्य विमुक्तमौनमुदिते सम्यङ्‌ नृपेणोत्तरे
स्कन्धात्तस्य स दार्ढ्यमाकलयितुं मायाबलात्तत्क्षणम्।
वेतालो नृकलेवरान्तरगतः क्वाप्यप्रतर्क्यो ययौ
निष्कम्पः स च भूपतिः पुनरमुं प्राप्तुं व्यधान्निश्चयम् ॥१९६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बकेऽष्टमस्तरङ्गः।

शाम होने पर, तपस्वी का वेश छोड़कर, राजकुमार और मन्त्रिपुत्र, घोड़ों पर सवार होकर वहाँ पहुँचे, जहाँ पद्मावती शोक कर रही थी॥१८३॥

उसे समझा-बुझाकर और घोड़े पर बैठाकर वे उसे अपने देश ले गये। वहाँ राजकुमार उसके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा॥१८४॥

इधर दन्त-वैद्य ने समझा कि मेरी बेटी को वन में जंगली जानवरों ने खा डाला होगा। ऐसा समझकर, वह शोक के कारण मर गया। उसकी पत्नी ने भी उसका अनुगमन किया, अर्थात् उसकी भी मृत्यु हो गई॥१८५॥

वेताल ने इतनी कथा सुनाकर राजा त्रिविक्रमसेन से पूछा—"राजन् आप बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हैं, अतः मेरा यह सन्देह दूर कीजिए कि इन दोनों पति-पत्नी के वध का पाप किसे लगेगा?—मन्त्रिपुत्र को, राजकुमार को अथवा पद्मावती को? राजन्, यदि जानते हुए भी तुम मुझे ठीक-ठीक नहीं बतलाओगे, तो निश्चय जानो कि तुम्हारे मस्तक के सौ टुकड़े हो जायेंगे॥१८६—१८८॥

वेताल के ऐसा कहने पर, सब कुछ जानते हुए भी, राजा त्रिविक्रमसेन ने शाप के भय से उससे यों कहा—"योगेश्वर, इसमें न जानने योग्य क्या है? इसमें उन तीनों का कोई पाप नहीं है—जो पाप है, वह कर्णोत्पल का है"॥१८९-१९०॥

वेताल बोला—"इसमें राजा का पाप क्या है? जो कुछ किया, वह तो उन तीनों ने किया। हंस यदि चावल खा जायँ, तो इसमें कौवों का क्या अपराध है?"॥१९१॥

तब राजा ने उससे कहा—"उन तीनों का कोई दोष नहीं है। मन्त्रिपुत्र अपने स्वामी का काम कर रहा था, अतः वह निर्दोष था। पद्मावती और राजकुमार कामानल में जल रहे थे। वे अपने स्वार्थ-साधन में लगे हुए थे, अतः वे भी निर्दोष थे—उनका विचार नहीं करना चाहिए। लेकिन, राजा कर्णोत्पल अवश्य पाप का भागी था। राजा होकर भी वह नीतिशास्त्र नहीं जानता था। उसने अपने गुप्तचरों के द्वारा अपनी प्रजा से भी सच-झूठ का पता नहीं लगाया। वह धूर्तों के चरित्र को नहीं जानता था, उनके इंगितों की पहचान उसे नहीं थी। फिर भी विना विचारे उसने जो कुछ किया, उससे वह पाप का भागी हुआ"॥१९२—१९५॥

शव के अन्दर प्रविष्ट उस वेताल से, जब राजा ने मौन छोड़कर ऐसी युक्तियुक्त बातें कहीं, तब उनकी दृढ़ता की परीक्षा लेने के लिए, अपनी माया के प्रभाव से, वह उनके कन्धे से उतरकर इस तरह कहीं चला गया कि राजा को पता भी न चला। फिर भी राजा घबराये नहीं। उन्होंने फिर उसे ढूँढ़ निकालने का निश्चय किया॥१९६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का आठवाँ तरंग समाप्त।

नवमस्तरङ्गः

द्वितीयो वेतालः। त्रयाणां तरुणब्राह्मणानां कथा

ततोऽत्र पुनरानेतुं तं वेतालमगान्नृपः।
स त्रिविक्रमसेनस्तच्छिंशपापादपान्तिकम् ॥१॥
प्राप्तोऽत्र वीक्षते यावच्चितालोकवशान्निशि।
तावद्ददर्श तं भूमौ कूजन्तं पतितं शवम् ॥२॥
अथ तं मृतदेहस्थं वेतालं स महीपतिः।
आरोप्य स्कन्धमानेतुं तूष्णीं प्रववृते जवात् ॥३॥
ततः स्कन्धात्स वेतालो भूयस्तं नृपमब्रवीत्।
राजन्महत्यनुचिते क्लेशेऽस्मिन्पतितो भवान् ॥४॥
अतस्तव विनोदाय कथयामि कथां शृणु।
अस्त्यग्रहारः कालिन्दीकूले ब्रह्मस्थलाभिधः ॥५॥
अग्निस्वामीति तत्रासीद्ब्राह्मणो वेदपारगः।
तस्यातिरूपा मन्दारवतीत्यजनि कन्यका ॥६॥
यां निर्माय नवानर्घलावण्यां नियतं विधिः।
स्वर्गस्त्रीपूर्वनिर्माणं निजमेवाजुगुप्सत ॥७॥
तस्यां च यौवनस्थायामाययुः कान्यकुब्जतः।
समसर्वगुणास्तत्र त्रयो ब्राह्मणपुत्रकाः ॥८॥
तेषां चात्मार्थमेकैकस्तत्पितुस्तामयाचत।
अनिच्छन्दानमन्यस्मै तस्याः प्राणव्ययादपि ॥९॥
तत्पिता स तु तन्मध्यान्नैकस्मायपि तां ददौ।
भीतोऽन्ययोर्वधात्तेन तस्थौ कन्यैव सा ततः ॥१०॥
ते च त्रयोऽपि तद्वक्त्रचन्द्रैकासक्तदृष्टयः।
चकोरव्रतमालम्ब्य तत्रैवासन्दिवानिशम् ॥११॥
अथाकस्मात्समुत्पन्नदाहज्वरवशेन सा।
जगाम मन्दारवती कुमारी किल पञ्चताम् ॥१२॥
ततस्तां विप्रपुत्रास्ते परासुं शोकविक्लवाः।
कृतप्रसाधनां नीत्वा श्मशानं चक्रुरग्निसात् ॥१३॥
एकश्च तेषां तत्रैव विधूय मठिकां ततः।
कृततद्भस्मशय्यः सन्नास्तायाचितभैक्षभक ॥१४॥

नवम तरंग

द्वितीय वेताल : तीन तरुण ब्राह्मणों की कथा

अनन्तर, उस वेताल को फिर से ले आने के लिए राजा त्रिविक्रमसेन पुनः उस शिंशपा-वृक्ष के पास गये॥१॥

वहाँ पहुँचकर रात के अँधेरे में, चिता के प्रकाश के सहारे, जब उन्होंने देखा, तब पाया कि वह शव भूमि पर पड़ा हुआ कराह रहा है॥२॥

राजा ने मृतक के शरीर में स्थित उस वेताल को कन्धे पर उठा लिया और उसे ले जाने के लिए, मौन रहकर, वेग से चल पड़े॥३॥

तब वह वेताल राजा के कन्धे पर से फिर उनसे बोला—"राजन्! तुम इस अत्यन्त अनुचित क्लेश में पड़ गये हो; अतः मैं तुम्हारे मनोरंजन के लिए जो कथा कहता हूँ, उसे सुनो। यमुना के किनारे ब्रह्मस्थल नाम का एक स्थान है, जो ब्राह्मणों को दान में मिला हुआ है॥४-५॥

वहाँ वेदों का ज्ञाता, अग्निस्वामी नाम का एक ब्राह्मण था। उसके यहाँ मन्दारवती नामकी एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न हुई॥६॥

अवश्य ही, उस अनिन्द्य सुन्दरी कन्या का निर्माण करके, विधाता ने अपने उस निर्माण की निन्दा की होगी, जिसके द्वारा पहले वे स्वर्ग की अप्सराओं की रचना कर चुके थे॥७॥

जब वह कन्या युवती हुई, तब कान्यकुब्ज से तीन ब्राह्मणकुमार वहाँ आये, जो समान भाव से समस्त गुणों से अलंकृत थे॥८॥

उन तीनों ने ही, उसके पिता से, अपने लिए उसकी याचना की। प्राण देकर भी वे यह नहीं चाहते थे कि वह कन्या, उनमें से किसी दूसरे को दी जाय॥९॥

किन्तु उसके पिता ने उनमें से किसी को भी अपनी कन्या नहीं दी; क्योंकि उसे भय हुआ कि ऐसा करना, दूसरों के वध का कारण बनेगा। और इस तरह, वह कन्या क्वाँरी ही रही॥१०॥

वे तीनों ब्राह्मणकुमार भी, चकोर का व्रत लेकर, उसके मुखचन्द्र पर टकटकी लगाये, रात-दिन वहीं रहने लगे॥११॥

एक बार, अचानक मन्दारवती को दाह-ज्वर हुआ और क्वाँरी अवस्था में ही उसकी मृत्यु हो गई॥१२॥

उसके मर जाने पर वे ब्राह्मणकुमार शोक से बड़े विकल हुए और उसे सजा-सँवारकर श्मशान में ले गये, जहाँ उसका दाह-संस्कार हुआ॥१३॥

उनमें से एक ने वहीं एक मठिया बना ली और उसके चिता-भस्म की शय्या बनाकर, भीख में प्राप्त अन्न पर निर्वाह करता हुआ, रहने लगा॥१४॥

द्वितीयोऽस्थीन्युपादाय तस्या भागीरथीं ययौ।
तृतीयस्तापसो भूत्वा भ्रान्तुं देशान्तराण्यगात् ॥१५॥
स भ्राम्यंस्तापसः प्राप ग्रामं वक्रोलकाभिधम्।
तत्रातिथिः सन्कस्यापि विप्रस्य प्राविशद्गृहम् ॥१६॥
तत्पूजितः स यावच्च भोक्तुं तत्र प्रचक्रमे।
तावदेकः शिशुस्तत्र प्रवृत्तोऽभूत्प्ररोदितुम् ॥१७॥
स सान्त्व्यमानोऽपि यदा न व्यरंसीत्तदा क्रुधा।
वाहावादाय गृहिणी ज्वलत्यग्नौ तमक्षिपत् ॥१८॥
क्षिप्तमात्रः स मृद्वङ्गो भस्मीभावमवाप्तवान्।
तद्दृष्ट्वा जातरोमाञ्चः सोऽब्रवीत्तापसोऽतिथिः ॥१९॥
हा धिक्कष्टं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मराक्षसवेश्मनि।
तन्मूर्त्तं किल्बिषमिदं न भोक्ष्येऽन्नमिहाधुना ॥२०॥
एवं वदन्तं तं सोऽत्र गृहस्थः प्राह पश्य मे।
शक्त्तिं पठितसिद्धस्य मन्त्रस्य मृतजीवनीम् ॥२१॥
इत्युक्त्वादाय तन्मन्त्रपुस्तिकामनुवाच्य च।
तत्र भस्मनि चिक्षेप स धूलिमभिमन्त्रिताम् ॥२२॥
तेनोदतिष्ठत्तद्रूप एव जीवन्स बालकः।
ततः स निर्वृतस्तत्र भुक्तवान्विप्रतापसः ॥२३॥
गृहस्थोऽपि स तां नागदन्तेऽवस्थाप्य पुस्तिकाम्।
भुक्त्वा च शयनं भेजे रात्रौ तत्रैव तद्युतः ॥२४॥
सुप्ते गृहपतौ तस्मिन्स्वैरमुत्थाय शङ्कितः।
स प्रियाजीवितार्थी तां पुस्तिकां तापसोऽग्रहीत् ॥२५॥
गृहीत्वैव च निर्गत्य ततो रात्रिदिनं व्रजन्।
क्रमाच्छ्मशानं तत्प्राप यत्र दग्धास्य सा प्रिया ॥२६॥
ददर्श चात्र तत्कालं तं द्वितीयमुपागतम्।
यः स गङ्गाम्भसि क्षेप्तुं तदस्थीनि गतोऽभवत् ॥२७॥
ततस्तं च तमाद्यं च तस्या भस्मनि शायिनम्।
निबद्धमठिकं तत्र द्वावप्येतौ जगाद सः ॥२८॥
मठिकापास्यतामेषा यावदुत्थापयामि ताम्।
जीवन्ती भस्मतः कान्तां मन्त्रशक्त्या कयाप्यहम् ॥२९॥

दूसरा उसकी अस्थियों को लेकर गंगा-तट पर चला गया और तीसरा साधु होकर देश-देशान्तरों के भ्रमण के लिए निकल पड़ा ॥१५॥

वह साधु घूमता-फिरता वक्रोलक नाम के गाँव में जा पहुँचा। वहाँ अतिथि के रूप में उसने किसी ब्राह्मण के घर में प्रवेश किया ॥१६॥

ब्राह्मण के द्वारा सम्मानित होकर जब वह वहाँ भोजन करने बैठा, उसी समय एक बालक ने जोर-जोर से रोना शुरू किया ॥१७॥

बहुत बहलाने-समझाने पर भी जब वह चुप नहीं हुआ, तब घर की मालिकन ने क्रुद्ध होकर उसे हाथों में उठा लिया और जलती हुई आग में डाल दिया ॥१८॥

आग में डालते ही, कोमल शरीरवाला वह बालक जलकर राख हो गया। यह देखकर उस साधु अतिथि को रोमांच हो आया। उसने कहा—"हाय-हाय! धिक्कार है! मैं तो ब्रह्मराक्षस के घर में आ पहुँचा हूँ। अतः, साक्षात् पाप के समान यहाँ का यह अन्न मैं नहीं खाऊँगा" ॥१९-२०॥

साधु के ऐसा कहने पर गृहस्थ बोला—"मरे हुए को जिला देनेवाला एक ऐसा मन्त्र मैं जानता हूँ, जो पढ़ते ही सफल होता है। तुम उसका प्रभाव देखो" ॥२१॥

यह कहकर वह गृहस्थ वह पुस्तिका ले आया, जिसमें वह मन्त्र लिखा हुआ था। उस मन्त्र को पढ़कर, उससे अभिमन्त्रित धूल उसने आग में डाल दी। इससे वह बालक जीवित होकर, ज्यों-का-त्यों आग में से निकल आया। तब उस ब्राह्मण साधु का चित्त शान्त हो गया और उसने भोजन समाप्त किया ॥२२-२३॥

गृहस्थ ने उस पुस्तिका को बाँधकर खूँटी पर टाँग दिया और भोजन करके साधु के साथ वहीं सो गया ॥२४॥

गृहपति के सो जाने पर वह तपस्वी चुपचाप उठा और अपनी प्रिया को जीवित करने की इच्छा से उसने डरते-डरते उस पुस्तिका को ले लिया ॥२५॥

पुस्तिका लेते ही वह बाहर निकल पड़ा और रात-दिन चलता हुआ वहाँ जा पहुँचा, जहाँ उसकी प्रिया का दाह हुआ था ॥२६॥

वहाँ पहुँचते ही उसने उस दूसरे ब्राह्मण को भी देखा, जो मन्दारवती की अस्थियाँ लेकर गंगा में डालने गया था ॥२७॥

तब उस साधु ने उससे, तथा उस पहले ब्राह्मण से, जिसने वहाँ झोपड़ी बना ली थी और चिता-भस्म की सेज रच रखी थी, कहा कि 'तुम यह झोपड़ी यहाँ से हटा लो, जिससे मैं किसी मन्त्र-शक्ति के द्वारा, इस भस्म में से मन्दारवती को जीवित करके उठा लूँ" ॥२८-२९॥

इति तौ प्रेर्य निर्बन्धान्निर्लोठ्य मठिकां च सः।
उद्घाट्य तापसो विप्रः पुस्तिकां तामवाचयत् ॥३०॥

अभिमन्त्र्य च मन्त्रेण धूलिं भस्मन्यवाक्षिपत्।
उदतिष्ठच्च जीवन्ती सा मन्दारवती ततः ॥३१॥

वह्निं प्रविश्य निष्क्रान्तं वपुः पूर्वाधिकद्युति।
तदा बभार सा कन्या काञ्चनेनेव निर्मितम् ॥३२॥

तादृशीं तां पुनर्जातां ते दृष्ट्वैव स्मरातुराः।
प्राप्तुकामास्त्रयोऽप्येवमन्योन्यं कलहं व्यधुः ॥३३॥

एकोऽब्रवीदियं भार्या मम मन्त्रबलार्जिता।
तीर्थप्रभावजा भार्या ममेयमिति चापराः ॥३४॥

रक्षित्वा भस्म तपसा जीवितेयं मयेह यत्।
तदेषा मम भार्येति तृतीयोऽत्र जगाद सः ॥३५॥

विवादनिर्णये तेषां त्वं तावन्मे महीपते।
निश्चयं ब्रूहि कस्यैषा कन्या भार्योपपद्यते ॥३६॥

विदलिष्यति मूर्धा ते यदि जानन्न वक्ष्यसि।
इति वेतालतः श्रुत्वा तं स राजैवमभ्यधात् ॥३७॥

यः क्लेशमनुभूयापि मन्त्रेणैतामजीवयत्।
पिता स तस्यास्तत्कार्यकरणान्न पुनः पतिः ॥३८॥

यश्चास्थीनि निनायास्य गङ्गायां स सुतो मतः।
यस्तु तद्भस्मशय्यां तामाश्लिष्यासीत्तपश्चरन् ॥३९॥

श्मशान एव तत्प्रीत्या भर्त्ता तस्याः स उच्यते।
कृतं तदनुरूपं हि तेन गाढानुरागिणा ॥४०॥

एवं नृपात्त्रिविक्रमसेनाच्छ्रुत्वैव मुक्तमौनात्सः।
तस्य स्कन्धादगमद्वेतालोऽर्तकितः स्वपदम् ॥४१॥

राजाथ भिक्ष्वर्थसमुद्यतस्तं प्राप्तुं स भूयोऽपि मनो बबन्ध।
प्राणात्ययेऽपि प्रतिपन्नमर्थं तिष्ठन्त्यनिर्वाह्य न धीरसत्त्वाः ॥४२॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके नवमस्तरङ्गः

इस प्रकार, उन्हें बहुत समझा-बुझाकर उसने वह झोपड़ी उजाड़ डाली। तब वह साधु पुस्तक खोलकर मन्त्र पढ़ने लगा ॥३०॥

उसने धूल को अभिमन्त्रित करके चिता-भस्म पर डाल दिया और मन्दारवती उसमें से जीती-जागती निकल आई ॥३१॥

अग्नि में प्रवेश करके निकले हुए उसके शरीर की कान्ति पहले से भी अधिक तेज हो गई थी। वह शरीर अब ऐसा जान पड़ता था, मानों सोने का बना हुआ हो ॥३२॥

इस प्रकार, उसको जीवित देखकर वे तीनों ही काम-पीड़ित हो गये और उसको पाने की इच्छा से आपस में लड़ने-झगड़ने लगे ॥३३॥

एक ने कहा कि यह मेरी स्त्री है। मैंने इसे अपने मन्त्रबल से पाया है। दूसरे ने कहा कि तीर्थ के प्रभाव से मिली यह मेरी भार्या है ॥३४॥

तीसरा बोला—"इसके भस्म को रखकर अपनी तपस्या से इसे मैंने जीवित किया है; अतः यह मेरी स्त्री है" ॥३५॥

वेताल ने कहा—"राजन्! उनके इस विवाद का निर्णय करके तुम ठीक-ठीक बताओ कि उसे किसकी स्त्री होना चाहिए ? यदि तुम जानते हुए भी न बतलाओगे, तो तुम्हारा माथा फट जायगा।" उसके ऐसा कहने पर राजा उससे बोला—॥३६-३७।

"जिसने कष्ट उठाकर भी, मन्त्रबल से उसे जीवित किया, वह उसका पिता हुआ। ऐसा काम करने के कारण उसे पति न होना चाहिए। जो उसकी अस्थियाँ गंगा में डाल आया, उसे पुत्र समझना चाहिए। किन्तु, जो उसके भस्म की शय्या पर, उसका आलिंगन करते हुए तपस्या करता रहा और श्मशान में ही बना रहा, उसे ही उसका पति कहना चाहिए; क्योंकि गाढ़ी प्रीतिवाले उस ब्राह्मण ने ही पति के समान आचरण किया था" ॥३८–४०॥

अपना मौन तोड़कर त्रिविक्रमसेन ने ज्यों ही बातें कहीं, वेताल अचानक ही उनके कन्धे से अपनी जगह पर वापस चला गया ॥४१॥

राजा ने, भिक्षु के पास ले जाने के लिए, उसे फिर से पाने के लिए कमर कसी; क्योंकि धीरवृत्तिवाले लोग, प्राण देकर भी, वचन दिये हुए कार्य को पूरा किये बिना नहीं रहते ॥४२॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का नवाँ तरंग समाप्त।

दशमस्तरङ्गः

तृतीयो वेतालः । शुकशारिकयोः कथा

अथ भूयोऽपि वेतालमानेतुं नृपसत्तमः ।
स त्रिविक्रमसेनस्तमुपागाच्छिंशपातरुम ॥१॥
तत्रस्थमेतं सम्प्राप्य मृतदेहगतं पुनः ।
स्कन्धे गृहीत्वैव गन्तुं तूष्णीं प्रववृते ततः ॥२॥
प्रयान्तं च तमाह स्म स वेतालोऽस्य पृष्ठगः ।
चित्रं नोद्विजसे राजन्निशि कुर्वन्गमागमम् ॥३॥
तदखेदाय भूयस्ते वर्णयामि कथां शृणु ।
अस्ति पाटलिपुत्राख्यं ख्यातं भूमण्डले पुरम् ॥४॥
तत्रासीन्नृपतिः पूर्वं नाम्ना विक्रमकेसरी ।
गुणानामिव रत्नानामाश्रयं यं व्यधाद्विधिः ॥५॥
तत्र शापावतीर्णोऽभूद्दिव्यविज्ञानवाञ्शुकः ।
विदग्धचूडामणिरित्याख्यया सर्वशास्त्रवित् ॥६॥
तेनोपदिष्टां सदृशीं राजपुत्रीं नृपात्मजः ।
मागधीमुपयेमे स भार्यां चन्द्रप्रभाभिधाम् ॥७॥
तस्या अपि तथाभूता सर्वविज्ञानशालिनी ।
शारिका सोमिका नाम राजपुत्र्याः किलाभवत् ॥८॥
ते चैकपञ्जरस्थे द्वे तत्रास्तां शुकशारिके ।
सेवमाने स्वविज्ञानैर्दम्पती तौ निजप्रभू ॥९॥
एकदा साभिलाषस्तां शारिकां सोऽब्रवीच्छुकः ।
एकशय्यासनाहारं सुभगे भज मामिति ॥१०॥
नाहं पुरुषसंसर्गमिच्छामि पुरुषा यतः ।
दुष्टाः कृतघ्ना इति सा सारिका प्रत्युवाच तम् ॥११॥
न दुष्टाः पुरुषा दुष्टा नृशंसहृदयाः स्त्रियः ।
इति भूयः शुकेनोक्ते विवादोऽत्रालगत्तयोः ॥१२॥
कृतदासत्वभार्यात्वपणौ तौ शकुनी मिथः ।
निश्चयायाथ सभ्यं तं राजपुत्रमुपेयतुः ॥१३॥
स विवादपदं श्रुत्वा तयोरास्थानगः पितुः ।
कथं कृतघ्नाः पुरुषा ब्रूहीत्याह स्म शारिकाम् ॥१४॥

दशम तरंग

तृतीय वेताल : शुक-सारिका की कथा

श्रेष्ठ राजा त्रिविक्रमसेन अब फिर उस वेताल को ले आने के लिए उस शीशम के पेड़ के पास आये ॥१॥

वहाँ, मृतक के शरीर में स्थित वेताल को फिर से पाकर उसने उसे कन्धे पर उठा लिया और चुपचाप वहाँ से चल पड़ा ॥२॥

चलते हुए राजा की पीठ पर बैठकर जा रहे वेताल ने कहा—"राजन् रात के समय बार-बार आते-जाते तुम घबरा नहीं रहे हो, यह आश्चर्य की बात है। लो, तुम्हारा जी बहलाने के लिए मैं फिर एक कथा कहता हूँ—पाटलिपुत्र नाम का जगत्-विख्यात एक नगर है ॥३-४॥

प्राचीन काल में वहाँ विक्रमकेसरी नाम का एक राजा था, जिसे विधाता ने गुणों के समान ही रत्नों का भी आश्रय-स्थान बनाया था ॥५॥

उनके पास एक तोता (शुक) था, जिसने शाप के कारण यह जन्म पाया था। वह तोता समस्त शास्त्रों का ज्ञाता और दिव्य ज्ञान से युक्त था। उसका नाम था विदग्धचूडामणि ॥६॥

उस तोते के परामर्श से राजा ने, अपने समान कुल-शीलवाली मगध की राजकुमारी चन्द्रप्रभा से विवाह किया ॥७॥

उस राजकुमारी के पास भी सोमिका नाम की एक वैसी ही मैना (सारिका) थी, जो समस्त विज्ञानों को जाननेवाली थी ॥८॥

वे दोनों—तोता-मैना—अपने बुद्धि-बल से अपने स्वामियों (पति-पत्नी) की सेवा करते हुए, वहाँ एक ही पिंजरे में रहते थे ॥९॥

एक दिन उत्कण्ठित होकर उस तोते ने मैना से कहा—"सुभगे, तुम मेरे साथ एक सेज पर सोओ, एक आसन पर बैठो, एक साथ भोजन करो और मेरी ही हो जाओ" ॥१०॥

उत्तर में मैना बोली—"मैं पुरुष का संसर्ग नहीं चाहती; क्योंकि वे दुष्ट और कृतघ्न होते हैं" ॥११॥

जब तोते ने फिर कहा कि 'पुरुष दुष्ट नहीं होते, दुष्टा तो स्त्रियाँ होती हैं और वे क्रूर हृदयवाली भी होती हैं', तो उन दोनों में झगड़ा लग गया ॥१२॥

तब उन दोनों ने बाजी लगाई कि यदि मैना की बात झूठी हो, तो वह तोते से ब्याह कर ले और अगर तोते की बात झूठी हो, तो वह मैना का दास बन जाय। तब इस बात के निर्णय के लिए वे दोनों, राजसभा में बैठे हुए राजपुत्र के पास गये ॥१३॥

अपने पिता के न्यायालय में बैठे हुए राजा ने जब दोनों के झगड़े का वृत्तान्त सुना, तब उसने मैना से कहा—"यह बतलाओ कि पुरुष किस प्रकार कृतघ्न होते हैं?" ॥१४॥

ततः सा शृणुतेत्युक्त्वा निजपक्षप्रसिद्धये।
पुंदोषाख्यायिनीमेतां शारिकाकथयत्कथाम् ॥१५॥

शारिकोक्ता कथा

अस्ति कामन्दिका नाम या महानगरी भुवि।
अर्थदत्ताभिधानोऽस्ति वणिक्तस्यां महाधनः ॥१६॥
धनदत्ताभिधानश्च पुत्रस्तस्योदपद्यत।
पितर्युपरते सोऽपि बभूवोच्छृङ्खलो युवा ॥१७॥
द्यतादिसङ्गे धूर्त्ताश्च मिलित्वा समपातयन्।
कामं व्यसनवृक्षस्य मलं दुर्जनसङ्गतिः ॥१८॥
अचिराद्व्यसनक्षीणधनो दौर्गत्यलज्जया।
सोऽथ त्यक्त्वा स्वदेशं तं भ्रान्तुं देशान्ताराण्यगात् ॥१९॥
गच्छंश्च चन्दनपुरं नाम स्थानमवाप्य सः।
विवेश भोजनार्थी सन्नेकस्य वणिजो गृहम् ॥२०॥
स वणिक्सुकुमारं तं दृष्ट्वा पृष्ट्वान्वयादिकम्।
ज्ञात्वा कुलीनं सत्कृत्य स्वीचक्रे दैवयोगतः ॥२१॥
ददौ च सधनां तस्मै नाम्ना रत्नावलीं सुताम्।
ततः स धनदत्तोऽत्र तस्थौ श्वशुरवेश्मनि ॥२२॥
दिनेष्वेव च यातेषु सुखविस्मृतदुर्गतिः।
स्वदेशं गन्तुकामोऽभूत्प्राप्तार्थो व्यसनोन्मुखः ॥२३॥
ततोऽनुमान्य कथमप्यवशं श्वशुरं शठः।
तं दुहित्रेकसन्तानं गृहीत्वा तामलङ्कृतम् ॥२४॥
भार्यां रत्नावलीं युक्तामेकया वृद्धया स्त्रिया।
स आत्मना तृतीयः ना सन्देशात्प्रस्थितवांस्ततः ॥२५॥
क्रमात्प्राप्याटवीं दूरामुक्त्वा तस्करजां भियम्।
गृहीत्वाभरणं तस्या भार्यायाः स्वीचकार सः ॥२६॥
दृश्यतां द्यूतवेश्यादिकष्टव्यसनसङ्गिनाम्।
हृदयं हा कृतघ्नानां पुंसां निस्त्रिंशकर्कशम् ॥२७॥
सोऽथ पापोऽर्थहेतोस्तां भार्यां गुणवतीमपि।
हन्तुं श्वभ्रे निचिक्षेप तया वृद्धस्त्रिया युताम् ॥२८॥
क्षिप्त्वैव च गते तस्मिन्साथ वृद्धा व्यपद्यत।
तद्भार्या तु लतागल्मविग्नया न व्यपादि सा ॥२९॥

मैना ने कहा—'सुनिए।' और अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए उसने पुरुषों का दोष सिद्ध करनेवाली यह कथा कही॥१५॥

सारिका के द्वारा कही हुई कथा

इस धरती पर कामन्दिका नाम की जो एक बहुत बड़ी नगरी है, उसमें अर्थदत्त नाम का एक बहुत धनी व्यापारी रहता था॥१६॥

उसे एक पुत्र हुआ, जिसका नाम धनदत्त पड़ा। पिता की मृत्यु के बाद वह बड़ा उच्छृंखल युवक हुआ॥१६॥

धूर्त्तों ने मिलकर उसे जूआ आदि व्यसनों में डाल दिया। निश्चय ही व्यसन-रूपी वृक्ष की जड़ दुर्जनों की संगति ही है॥१८॥

थोड़े ही दिनों में, इन व्यसनों के चलते उसका सारा धन जाता रहा। तब अपनी दुर्गति की लज्जा से, स्वदेश छोड़कर, वह विदेश का भ्रमण करने के लिए चला गया॥१९॥

जाते-जाते वह चन्दनपुर नाम के एक गाँव में पहुँचा। वहाँ, भोजन के निमित्त उसने एक व्यापारी के घर में प्रवेश किया॥२०॥

उस व्यापारी ने उसे सुकुमार देखकर उससे उसका कुल आदि पूछा और कुलीन जानकर उसे आदर-सहित अपने यहाँ ठहरा लिया॥२१॥

उसने धन के सहित, रत्नावली नाम की अपनी कन्या उसे दी। तब वह धनदत्त वहीं, अपने ससुर के घर में रहने लगा॥२२॥

कुछ समय बीतने पर, सुख के कारण, वह अपनी दुर्गति भूल गया। धन मिल जाने के कारण वह फिर व्यसनों में लिप्त होकर, स्वदेश जाने को उद्यत हुआ॥२३॥

रत्नावली अपने पिता की एकमात्र सन्तान थी, अतः वह व्यापारी उसे अपने पास से दूर नहीं जाने देना चाहता था, लेकिन उस दुष्ट ने बड़ी कठिनाई से, किसी तरह, उसे अनुमति देने के लिए विवश किया। अनन्तर, एक वृद्धा के साथ, गहनों से अलंकृत अपनी स्त्री को लेकर वह उस देश से चल पड़ा। कुल मिलाकर, तीन की संख्या में, वे वहाँ से चले॥२४-२५॥

चलते-चलते वे बहुत दूर, एक जंगल में जा पहुँचे। वहाँ चोरों का भय बतलाकर, उसने अपनी स्त्री के गहने लेकर अपने पास रख लिये॥२६॥

देखिए, जूआ और वेश्या आदि बुरे व्यसनों में लिप्त, कृतघ्न पुरुषों का हृदय, तलवार की तरह कठोर होता है॥२७॥

धन के लोभ से उस पापी ने अपनी गुणवती स्त्री और उस वृद्धा को एक खन्दक में ढकेल दिया॥२८॥

खन्दक में गिरते ही वह बुढ़िया तो मर गई, लेकिन लता-गुल्मों में उलझ जाने के कारण उसकी स्त्री नहीं मरी॥२९॥

उत्तस्थौ च ततः श्वभ्रात्क्रोशन्ती करुणं शनैः।
आलम्ब्य तृणगुल्मादि सशेषत्वात्किलायुषः ॥३०॥
आययौ विक्षताङ्गी च पृष्ट्वा मार्गं पदे पदे।
यथागतेनेव पथा कृच्छ्रात्तत्सदनं पितुः ॥३१॥
तत्राकस्मात्तथाभूता प्राप्ता पृष्टा ससम्भ्रमम्।
मात्रा पित्रा च रुदती साध्वी सैवमभाषत ॥३२॥
मुषिताः स्म पथि स्तैनैर्नीतो वद्ध्वा च मत्पतिः।
वृद्धा मृता निपत्यापि श्वभ्रे नाहं मृता पुनः ॥३३॥
अथागतेन केनापि पथिकेन कृपालुना।
उद्धृताहं ततः श्वभ्रात्प्राप्तास्मीह च दैवतः ॥३४॥
एकमुक्तवती मात्रा पित्रा चाश्वसिता ततः।
भर्तृचित्तैव सा तस्थौ तत्र रत्नावली सती ॥३५॥
याति काले च तद्भर्त्ता स स्वदेशगतः पुनः।
द्यूतक्षपिततद्वित्तो धनदत्तो व्यचिन्तयत् ॥३६॥
आनयामि पुनर्गत्वा मार्गित्वा श्वशुराद्धनम्।
गृहे स्थिता मे त्वत्पुत्रीत्यभिधास्ये च तत्र तम् ॥३७॥
एवं स हृदये ध्यात्वा प्रायाच्छ्वशुरवेश्म तत्।
प्राप्तं च तत्र तं दूरात्स्वभार्या पश्यति स्म सा ॥३८॥
धावित्वा चापतत्तस्य सा पापस्यापि पादयोः।
दुष्टेऽपि पत्यौ साध्वीनां नान्यथावृत्ति मानसम् ॥३९॥
भीताय च ततस्तस्मै तदशेषं न्यवेदयत्।
यन्मृषा चौरपातादि पित्रोः प्राग्वर्णितं तया ॥४०॥
ततस्तया समं तत्र निर्भयः श्वाशुरे गृहे।
प्रविष्टः श्वशुराभ्यां स हर्षाद्दृष्ट्वाभ्यनन्द्यत ॥४१॥
दिष्ट्या जीवन्नयं मुक्तश्चौरैरिति महोत्सवः।
तेन तच्छ्वशुरेणाथ चक्रे मिलितवन्धुना ॥४२॥
ततः स धनदत्तोऽत्र भुञ्जानः श्वशुरश्रियम्।
रत्नावल्या तया साकमासीत्पत्या यथासुखम् ॥४३॥
एकदा तत्र रात्रौ च स नृशंसश्चकार यत्।
कथोपरोधतः शान्तमवाच्यमपि कथ्यते ॥४४॥

उसकी आयु शेष थी, इस कारण वह लता-गुल्मों का सहारा लेकर, रोती हुई, उस खन्दक से बाहर निकली ॥३०॥

रत्नावली का शरीर क्षत-विक्षत हो गया था। जगह-जगह राह पूछती हुई, वह जिधर से आई थी, उसी ओर से, बड़ी कठिनाई से पिता के घर आई ॥३१॥

अचानक इस रूप में उसके लौट आने पर उसके माता-पिता ने सम्भ्रम के सहित उससे कारण पूछा। उस साध्वी ने रोते-रोते यों कहा—॥३२॥

"डाकुओं ने हम लोगों को लूट लिया। वे मेरे पति को बाँध ले गये। वृद्धा मर गई, किन्तु खन्दक में गिरकर भी मैं नहीं मरी ॥३३॥

उस मार्ग से आनेवाले एक कृपालु पथिक ने मुझे उस खन्दक से बाहर निकाला और मैं दैवयोग से यहाँ आ पहुँची" ॥३४॥

ऐसा कहने पर उसके माता-पिता ने उसे बहुत ढाढ़स दिलाया और तब सती रत्नावली अपने पति का ध्यान करती हुई वहीं रही ॥३५॥

स्वदेश पहुँचकर, उसके पति ने थोड़े ही दिनों में, जूए में वह सारा धन उड़ा दिया और तब सोचा–॥३६॥

'मैं चलकर श्वशुर से फिर धन माँग लाऊँ। उनसे कहूँगा कि तुम्हारी स्त्री मेरे घर में है' ॥३७॥

मन में ऐसा सोचकर वह ससुराल की ओर चला। दूर से ही, उसकी पत्नी ने उसे वहाँ आते हुए देखा ॥३८॥

दौड़कर वह उस पापी के पैरों पर जा गिरी; क्योंकि पतिव्रताएँ अपने दुष्ट पति पर भी मन में अन्यथाभाव नहीं रखतीं ॥३९॥

डरे हुए अपने पति को उसने वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया कि पहले किस तरह उसने झूठमूठ पिता से चोरों के उपद्रव की बात कही थी ॥४०॥

तब उसने निर्भय होकर, रत्नावली के साथ श्वशुर के घर में प्रवेश किया। उसके श्वशुर ने उसे देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत किया ॥४१॥

इस प्रसन्नता में कि उसका जामाता जीवित है और उसे चोरों ने छोड़ भी दिया है, उसके श्वशुर ने अपने हितमित्रों को बुलाकर महोत्सव मनाया ॥४२॥

वहाँ वह धनदत्त अपनी पत्नी के सहित, श्वशुर के धन से मौज करता हुआ, सुखपूर्वक रहने लगा ॥४३॥

एक बार रात के समय उस नृशंस ने जो कुछ किया, वह यद्यपि कहने योग्य नहीं है, फिर भी कथा के प्रसंग में उसे कहना पड़ता है ॥४४॥

हत्वाङ्कसुप्तां भार्यां तां तदाभरणसञ्चयम् ।
अपहृत्य ततः प्रायात्स स्वदेशमलक्षितः ॥४५॥
ईदृशाः पुरुषाः पापा इति शारिकयोदिते ।
त्वमिदानीं वदेत्याह राजपुत्रस्तदा शुकम् ॥४६॥
ततो जगाद स शुको देव दुःसहसाहसाः ।
स्त्रियो दुश्चरिताः पापास्तथा च श्रूयतां कथा ॥४७॥

शुकोक्ता कथा

अस्ति हर्षवती नाम नगरी तत्र चाभवत् ।
अग्रणीर्धर्मदत्ताख्यो बहुकोटीश्वरो वणिक् ॥४८॥
वसुदत्ताभिधाना च रूपेऽनन्यसमा सुता ।
बभूव तस्य वणिजः प्राणेभ्योऽप्यधिकप्रिया ॥४९॥
सा च तेन समानाय रूपयौवनशालिने ।
दत्ता वराङ्गनानेत्रचकोरामृतरश्मये ॥५०॥
नाम्ना समुद्रदत्ताय वणिक्पुत्राय साधवे ।
नगर्यामार्यजुष्टायां ताम्रलिप्त्यां निवासिने ॥५१॥
कदाचित्सा स्वदेशस्थे पत्यौ स्वस्य पितुर्गृहे ।
स्थिता वणिक्सुता दूरात्कश्चित्पुरुषमैक्षत ॥५२॥
तं युवानं सुकान्तं सा चपला मारमोहिता ।
गुप्तं सखीमुखानीतं भेजे प्रच्छन्नकामुकम् ॥५३॥
ततः प्रभृति तेनैव सह तत्र सदा रहः ।
रात्रौ रात्रावरंस्तासौ तदेकासक्तमानसा ॥५४॥
एकदा च स कौमारः पतिस्तस्याः स्वदेशतः ।
आजगामात्र तत्पित्रोः प्रमोद इव मूर्त्तिमान् ॥५५॥
सोत्सवे च दिने तस्मिन्सा नक्तं कृतमण्डना ।
मात्रानुप्रेषिता भेजे शय्यास्थापि न तं पतिम् ॥५६॥
प्रार्थिता तेन चालीकसुप्तं चक्रेऽन्यमानसा ।
पानमत्तोऽध्वखिन्नश्च सोऽपि जह्रेऽथ निद्रया ॥५७॥
ततश्च सुप्ते सर्वस्मिन्भुक्तपीते जने शनैः ।
सन्धिं भित्त्वा विवेशात्र चौरो वासगृहान्तरे ॥५८॥
तत्कालं तमपश्यन्ती साप्युत्थाय वणिक्सुता ।
स्वजारकृतसङ्केता निरगान्निभृतं ततः ॥५९॥

उसने अपनी गोद में सोई हुई पत्नी की हत्या कर दी और उसके सारे गहने लेकर, चुपचाप अपने देश को चला गया" ॥४५॥

जब मैना ने कहा कि पुरुष ऐसे पापी होते हैं, तो राजपुत्र तोते से बोला कि 'अब तुम कहो' ॥४६॥

शुक के द्वारा कही हुई कथा

तब उस तोते ने कहा—'हे देव! स्त्रियाँ भयानक साहसवाली, दुश्चरित्रा और पापिनी होती हैं। आप यह कथा सुनिए' ॥४७॥

हर्षवती नाम की नगरी में अग्रदत्त नाम का एक करोड़पति बनिया था ॥॥४८॥

वसुदत्ता नाम की उसकी एक कन्या थी। वह अनन्य सुन्दरी थी और बनिया के लिए प्राणों से भी अधिक प्रिय थी ॥४९॥

उसने अपनी उस कन्या का विवाह समुद्रदत्त नामक एक वणिक्-पुत्र के साथ कर दिया, जो सज्जनों के निवास-स्थान ताम्रलिप्ति में रहता था। समुद्रदत्त सज्जन था, वसुदत्ता के समान ही रूप और यौवनवाला था और जैसे चकोर चन्द्रमा को देखता है, वैसे ही उत्तम स्त्रियों की टकटकी उसकी ओर लगी रहती थी ॥५०-५१॥

एक बार, जब उसका पति अपने देश में था, वह अपने पिता के घर थी, उसने दूर से एक पुरुष को देखा ॥५२॥

उस सुन्दर युवक को देखकर वह चंचल स्त्री काम के वश में हो गई। उसने अपनी सखी के द्वारा उसे गुप्त रूप से बुलवा भेजा और उस कामुक के साथ उसने काम-क्रीडाएँ कीं ॥५३॥

उसके बाद एकमात्र उसी में आसक्त वह स्त्री प्रत्येक रात एकान्त में उसी के साथ बिताने लगी ॥४४॥

एक दिन उसके पिता के लिए मूर्तिमान् आनन्द के समान, उसका पति अपने देश से वहाँ आया ॥५५॥

वह सारा दिन उत्सव-उल्लास में बीता। रात में उसकी माँ ने उसे सजा-सँवारकर पति के पास भेजा; किन्तु एक ही सेज पर सोकर भी वह अपने पति के प्रति अनुरक्त न हुई ॥५६॥

दूसरे पुरुष में मन लगा रहने के कारण पति के आग्रह करने पर भी, वह झूठमूठ नींद का बहाना करके पड़ी रही। तब राह की थकावट और मदिरा के नशे से उसके पति को भी नींद आ गई ॥५७॥

धीरे-धीरे जब सब लोग खा-पीकर सो गये, तब सेंध मारकर उसके घर में एक चोर घुस आया ॥५८॥

उसी समय, चोर को देखे बिना ही, वह भी उठकर वहाँ से बाहर निकली और अपने प्रेमी के बतलाए हुए स्थान की ओर चली ॥५९॥

तदालोक्य स चौरोऽत्र विघ्नितेच्छो व्यचिन्तयत्।
येषामर्थे प्रविष्टोऽहं तैरेवाभरणैर्वृता ॥६०॥
निशीथे निर्गतैषा तद्वीक्षेऽहं सा क्व गच्छति।
इत्याकलय्य निर्गत्य स चौरस्तां वणिक्सुताम् ॥६१॥
वसुदत्तामनु ययौ दत्तदृष्टिरलक्षितः।
सापि पुष्पादिहस्तैकससङ्केतसखीयुता ॥६२॥
गत्वा वाह्यं प्रविष्टाभूदुद्यानं नातिदूरगम्।
तत्रापश्यच्च तं वृक्षे लम्बमानं स्वकामुकम् ॥६३॥
सङ्केतकागतं रात्रौ लब्ध्वा नगररक्षिभिः।
उल्लम्बितं चौरबुद्ध्या पाशकण्ठं मृतं स्थितम् ॥६४॥
ततः सा विह्वलोद्भ्रान्ता हा हतास्मीति वादिनी।
पपात भूमौ कृपणं विलपन्ती रुरोद च ॥६५॥
अवतार्याथ वृक्षात्तं गतासुं निजकामुकम्।
उपवेश्याङ्गरागेण पुष्पैश्चालञ्चकार सा ॥६६॥
समालिङ्ग्य च निःसंज्ञं रागशोकान्धमानसा।
उन्नमय्य मुखं यावत्तस्यार्त्ता परिचुम्बति ॥६७॥
तावत्स तस्याः सहसा निर्जीवः परपूरुषः।
वेतालानुप्रविष्टः सन्दन्तैश्चिच्छेद नासिकाम् ॥६८॥
तेन सा विह्वला तस्मात्सव्यथापसृताप्यहो।
किंस्विज्जीवेदिति हता पुनरेत्य तमैक्षत ॥६९॥
दृष्ट्वा च वीतवेतालं निश्चेष्टं मृतमेव तम्।
सा भीता परिभूता च चचाल रुदती शनैः ॥७०॥
तावच्छन्नः स्थितः सोऽथ चौरः सर्वं व्यलोकयत्।
अचिन्तयच्च किमिदं पापया कृतमेतया ॥७१॥
अहो वताशयः स्त्रीणां भीषणे घनतामसः।
अन्धकूप इवागाधः पाताय गहनः परम् ॥७२॥
तदिदानीमियं किं नु कुर्यादिति विचिन्त्य सः।
कौतुकाद्दूरतश्चौरो भूयोऽप्यनुससार ताम् ॥७३॥
सापि गत्वा प्रविश्यैव तत्सुप्तस्थितभर्त्तृकम्।
गृहं तदा स्वकं प्रोच्चैः प्ररुदत्येवमब्रवीत् ॥७४॥
परित्रायध्वमेतेन दुष्टेन मम नासिका।
छिन्ना निरपराधाया भर्त्तृरूपेण शत्रुणा ॥७५॥

यह देखकर, अपनी इच्छा में विघ्न पड़ जाने के कारण, उस चोर ने सोचा कि मैं जिनके लिए आया हूँ, उन्हीं गहनों को पहनकर यह बाहर चली जा रही है; अतः मैं देखूँ कि यह कहाँ जाती है। यह सोचकर वह चोर भी बाहर निकला और उस वणिक्-पुत्री वसुदत्ता पर नजर रखता हुआ, छिपकर उसके पीछे-पीछे चला। वसुदत्ता ने भी हाथों में फूल आदि लिये और संकेत जाननेवाली एक सखी के साथ निकट के एक उद्यान में जा घुसी। वहाँ उसने अपने प्रेमी को एक वृक्ष पर लटका हुआ देखा।।६०-६३।।

संकेत के अनुसार वहाँ आये हुए उस पुरुष को देखकर, नगर-रक्षकों ने उसे चोर समझा और उसके गले में फन्दा डालकर उसे वृक्ष पर लटका दिया। वह वहाँ मरा पड़ा था।।६४।।

तब वह विह्वल और उद्भ्रान्त, 'हाय, मैं मारी गई' ऐसा कहती हुई भूमि पर गिर गई और करुण स्वर से रोती हुई विलाप करने लगी।।६५।।

अनन्तर, उसने अपने मरे हुए प्रेमी को वृक्ष से उतारकर भूमि पर रखा और अंगराग तथा फूलों से उसे सजाया।।६६।।

प्रीति और शोक से जिसका हृदय विवेक-शून्य हो गया था और जो आर्त्त बन गई थी, ऐसी वसुदत्ता ने उस निष्प्राण शरीर का आलिंगन किया और उसका मुख ऊपर उठाकर, वह ज्यों ही उसका चुम्बन करने चली, त्यों ही उसके प्रेमी ने, जिसके निर्जीव शरीर में वेताल प्रविष्ट हो गया था, अचानक अपने दाँतों से उसकी नाक काट ली।।६७-६८।।

इससे विह्वल होकर और पीड़ा से तिलमिलाकर यद्यपि वह उससे दूर हट गई, लेकिन इस विचार से कि 'कहीं यह जीवित तो नहीं है?' वह अभागिनी फिर पास आकर उसे देखने लगी।।६९।।

जब उसने देखा कि उसके शरीर से वेताल चला गया है और वह निश्चेष्ट तथा मृत है, तब वह डर गई और हारी-सी, रोती हुई, धीरे-धीरे लौट चली।।७०।।

उस चोर ने छिपकर ये सारी बातें देखीं। उसने सोचा—"इस पापिनी ने यह क्या किया? अरे, स्त्रियों का हृदय भयानक, घने अँधेरे से भरा, अन्धे कुएँ के समान अगाध और गिरते के लिए बड़ा गहरा होता है! चलो, देखूँ अब यह क्या करती है।" ऐसा सोचकर, कौतूहल के कारण, दूर से ही उसने फिर उसका पीछा किया।।७१–७३।।

उसने जाकर अपनी उस कोठरी में प्रवेश किया, जहाँ उसका पति सोया पड़ा था और तब वह जोर-जोर से रोती हुई कहने लगी—"अरे रे, पति के रूप में इस दुष्ट शत्रु से मेरी रक्षा करो, जिसने मुझ निरपराधिनी की नाक काट ली है"।।७४-७५।।

श्रुत्वैतं मुहुराक्रन्दं तस्याः सर्वे ससम्भ्रमम्।
उदतिष्ठन्प्रबुध्यात्र पतिः परिजनः पिता॥७६॥
एत्याथ तत्पिता दृष्ट्वा तामार्द्रच्छिन्ननासिकाम्।
क्रुद्धस्तं बन्धयामास भार्याद्रोहीति तत्पतिम्॥७७॥
स तु नैवाब्रवीत्किञ्चिद्वध्यमानोऽपि मूकवत्।
विपर्यस्तेषु सर्वेषु शृण्वत्सु श्वशुरादिषु॥७८॥
ततो ज्ञात्वैव तच्चौरे तस्मिन्नपसृते लघु।
कोलाहलेन तस्यां च व्यतीतायां क्रमान्निशि॥७९॥
स निन्ये वणिजा तेन श्वशुरेण वणिक्सुतः।
राजान्तिकं तया सार्धं भार्यया छिन्ननासया॥८०॥
राजा च कृतविज्ञप्तिः स्वदारद्रोह्यसाविति।
तस्यादिशद्वणिक्सूनोर्वधं न्यक्कृततद्वचाः॥८१॥
ततो वध्यभुवं तस्मिन्नीयमाने सडिण्डिमम्।
उपागम्य स चौरोऽत्र वभाषे राजपूरुषान्॥८२॥
निष्कारणं न वध्योऽयं यथावृत्तं तु वेद्म्यहम्।
मां प्रापयत राजाग्रं यावत्सर्वं वदाम्यतः॥८३॥
इत्यूचिवान्स नीतस्तैर्नृपस्याग्रं वृताभयः।
आ मूलाद्रात्रिवृत्तान्तं चौरः सर्वं न्यवेदयत्॥८४॥
अब्रवीच्च न चेद्देव मद्वाचि प्रत्ययस्तव।
तत्सा नासा मुखे तस्य शवस्याद्यापि वीक्ष्यताम्॥८५॥
तच्छ्रुत्वा वीक्षितुं भृत्यान्प्रेष्य सत्यमवेत्य तत्।
स राजा तं वणिक्पुत्रं मुक्तबान्धवनिग्रहात्॥८६॥
तां च कर्णावपि च्छित्वा दुष्टां देशान्निरस्तवान्।
तद्भार्यां श्वशुरं चास्य तं सर्वस्वमदण्डयत्॥८७॥
चौरं च तं पुराध्यक्षं तुष्टश्चक्रे स भूपतिः।
एवं स्त्रियो भवन्तीह निसर्गविषमाः शठाः॥८८॥
इत्युक्तवानेव शुको भूत्वा चित्ररथाभिधः।
क्षीणेन्द्रशापो गन्धर्वो दिव्यरूपो दिवं ययौ॥८९॥
शारिका सापि तत्कालं भूत्वा स्वःस्त्री तिलोत्तमा।
तथैव क्षीणतच्छापा जगाम सहसा दिवम्॥९०॥

इस तरह बार-बार उसका रोना-चिल्लाना सुनकर पति, कुटुम्बी और पिता, सभी घबराकर जाग उठे ॥७६॥

वहाँ आकर जब उसके पिता ने देखा कि वसुदत्ता की नाक कटी हुई है और उससे रक्त गिर रहा है, तब वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसके पति को भार्याद्रोही जानकर उसने बाँध लिया ॥७७॥

वसुदत्ता की बातें सुनकर उसका पिता तथा अन्य सभी लोग समुद्रदत्त के प्रतिकूल हो गये थे, अतः बाँधे जाने पर भी उसने, गूँगे की तरह, कुछ नहीं कहा ॥७८॥

इसी हो-हल्ले में, धीरे-धीरे रात बीत गई। तब, सब कुछ जानता हुआ भी वह चोर, चुपके-से, वहाँ से चला गया ॥७९॥

समुद्रदत्त का ससुर वह बनिया, उसे तथा कटी नाकवाली उसकी स्त्री को राजा के पास ले गया ॥८०॥

यह वृत्तान्त बतलाने पर राजा ने, अपनी पत्नी की नाक काटने के अपराध में समुद्रदत्त को प्राणदण्ड की आज्ञा दी। उसने समुद्रदत्त की बातें अनसुनी कर दीं ॥८१॥

अनन्तर, डौंड़ी पीटकर जब उसे वधभूमि में ले जाया जा रहा था, तब वह चोर राजा के आदमियों के पास आकर बोला —"इसे अकारण ही न मारना चाहिए। सारी बातें मैं जानता हूँ। तुम लोग मुझे राजा के पास ले चलो, जिससे मैं सारा वृत्तान्त बतला सकूँ ॥८२-८३॥

उसके ऐसा कहने पर, वह राजा के सम्मुख ले जाया गया। वहाँ अभय-दान माँगकर उस चोर ने, आरम्भ से उस रात की सारी बातें राजा से कह सुनाईं ॥८४॥

उसने कहा—"महाराज, यदि आपको मेरी बात का विश्वास न हो, तो आप स्वयं ही जाँच करा लीजिए—इसकी कटी हुई नाक अब भी उस शव के मुँह में है" ॥८५॥

यह सुनकर राजा ने देखने के लिए अपने अनुचरों को भेजा और जब उन्हें सचाई मालूम हुई, तब उन्होंने उस वणिक्-पुत्र को प्राणदण्ड से छुटकारा दिला दिया ॥८६॥

राजा ने उसकी दुष्टा पत्नी के कान भी कटवा लिए और उसे देशनिकाला दे दिया। उन्होंने उसके श्वशुर की सारी धन-दौलत भी जब्त करवा ली ॥८७॥

राजा ने प्रसन्न होकर उस चोर को नगर का अध्यक्ष बना दिया।" तोते ने कहा—"इस संसार में स्त्रियाँ ऐसी दुष्टा और स्वभाव से विषम होती हैं" ॥८८॥

इतना कहते ही, उस तोते पर से इन्द्र का शाप जाता रहा और वह चित्ररथ नाम का गन्धर्व बनकर, दिव्य शरीर से, स्वर्ग को चला गया ॥८९॥

उसी तरह, तत्काल ही मैना का शाप भी दूर हो गया और वह भी तिलोत्तमा नाम की स्वर्ग की अप्सरा बनकर सहसा ही स्वर्ग को चली गई ॥९०॥

विवादश्चाप्यनिर्णीतः सभायां सोऽभवत्तयोः।
इत्याख्याय कथां भूयस्तं वेतालोऽब्रवीन्नृपम् ।।९१।।
तद्भवान्वक्तु किं पापाः पुरुषाः किमुत स्त्रियः।
अजल्पतो जानतस्ते शिरो यास्यति खण्डशः ।।९२।।
एतन्निशम्य वचनं वेतालस्यांसवर्त्तिनस्तस्य।
स जगाद भूपतिस्तं योगेश्वर योषितः पापाः ।।९३।।
पुरुषः कोऽपि हि तादृक्कापि कदाचिद्भवेदुराचारः।
प्रायः सर्वत्र सदा स्त्रियस्तु तादृग्विधा एव ।।९४।।
इत्युक्तवतो नृपतेः प्राग्वत्स्कन्धात्स तस्य वेतालः।
नष्टोऽभूत्स च राजा जग्राह पुनस्तदानयनयत्नम् ।।९५।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके दशमस्तरङ्गः।

एकादशस्तरङ्गः

चतुर्थो वेतालः। वीरवरस्य कथा

ततो गत्वा पुनस्तस्य निकटं शिंशपातरोः।
स त्रिविक्रमसेनोऽत्र श्मशानं निशि भूपतिः ।।१।।
लब्ध्वा मुक्ताट्टहासं तं वेतालं नृशरीरगम्।
निष्कम्पः स्कन्धमारोप्य तूष्णीमुदचलत्ततः ।।२।।
चलन्तं च तमंसस्थो वेतालः सोऽब्रवीत्पुनः।
राजन्कुभिक्षोरेतस्य कृते कोऽयं तव श्रमः ।।३।।
आयासे निष्फलेऽमुष्मिन्विवेको बत नास्ति ते।
तदिमां शृणु मत्तस्त्वं कथां पथि विनोदिनीम् ।।४।।
अस्ति शोभावती नाम सत्याख्या नगरी भुवि।
तस्यां च शूद्रकाख्योऽभूद्भूपतिः प्राज्यविक्रमः ।।५।।
यस्य जज्वाल जयिनः प्रतापज्वलनोऽनिशम्।
वन्दीकृतारिललनाधूतचामरमारुतैः ।।६।।
अलुप्तधर्मचरणस्फीता मन्ये वसुन्धरा।
राज्ञि यस्मिन्विसस्मार रामादीनपि भूपतीन् ।।७।।
तं कदाचिन्महीपालं प्रियशूरमुपाययौ।
सेवार्थं मालवादेको नाम्ना वीरवरो द्विजः ।।८।।

इस तरह राजसभा में उनके विवाद का निर्णय नहीं हो सका। यह कथा सुनाकर वेताल ने राजा से फिर कहा—"अब तुम्हीं बतलाओ कि स्त्रियाँ निन्दित होती हैं या पुरुष? जानते हुए भी यदि तुम न कहोगे, तो तुम्हारा मस्तक टुकड़े-टुकड़े हो जायगा"॥६१-६२॥

कन्धे पर बैठे हुए वेताल की ये बातें सुनकर राजा ने कहा—"योगेश्वर, निन्दित तो स्त्रियाँ ही होती हैं। पुरुष शायद ही कोई, कभी और कहीं, वैसा दुराचारी होता है, लेकिन स्त्रियाँ प्रायः सभी जगह और सदा ही वैसी होती हैं"॥६३-६४॥

राजा के ऐसा कहने पर, वह वेताल पहले की ही तरह राजा के कन्धे पर से गायब हो गया। राजा भी उसे फिर से ले आने के लिए चल पड़े॥६५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
दसवाँ तरंग समाप्त।

एकादश तरंग

चतुर्थ वेताल : वीरवर की कथा

अनन्तर, उस रात में राजा त्रिविक्रमसेन, श्मशानवाले उस शिंशपा-वृक्ष के पास फिर जा पहुँचा॥१॥

वहाँ, मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट उस वेताल को, अट्टहास करता हुआ पाकर भी, राजा डरा नहीं और उसे कन्धे पर उठाकर चुपचाप चल पड़ा॥२॥

चलते हुए राजा के कन्धे पर स्थित वेताल ने फिर कहा—"राजन्! उस दुष्ट भिक्षु के लिए तुम इतना श्रम क्यों कर रहे हो? इस निष्फल परिश्रम में तुम्हारा विवेक भी तो नहीं दीख पड़ता। फिर भी, मार्ग-विनोदन के लिए तुम मुझसे यह कथा सुनो॥३-४॥

इस धरती पर अपने नाम को सच करनेवाली शोभावती नाम की एक नगरी है। वहाँ शूद्रक नाम का एक महापराक्रमी राजा था॥५॥

बन्दी बनाई गई शत्रु-ललनाओं के चँवर डुलाने से उत्पन्न पवन के द्वारा उस विजयी राजा की प्रतापाग्नि रात-दिन जलती रहती थी॥६॥

उस राजा के राज्य में धर्म के चरण दृढता से स्थिर थे, अतः धरती ने मानों राम आदि राजाओं को भी भुला दिया था॥७॥

वीरों पर प्रीति रखनेवाले उस राजा के पास, नौकरी करने की इच्छा से, एक बार मालवा से वीरवर नाम का एक ब्राह्मण आया॥८॥

यस्य धर्मवती नाम भार्या सत्त्ववरः सुतः।
कन्या वीरवती चेति त्रयं गृहपरिच्छदः ॥९॥
सेवापरिच्छदश्चान्यत्त्रयं कट्यां कृपाणिका।
करे करतलैकत्र चारु चर्म परत्र च ॥१०॥
तावन्मात्रपरीवारो दीनारशतपञ्चकम्।
प्रत्यहं प्रार्थयामास राज्ञस्तस्मात्स वृत्तये ॥११॥
राजापि स तमाकारसूचितोदारपौरुषम्।
वीक्ष्य तस्मै ददौ वृत्तिं शूद्रकस्तां यथेप्सिताम् ॥१२॥
अल्पे परिकरेऽप्येभिरियद्भिः स्वर्णरूपकैः।
किमेष व्यसनं पुष्णात्यथ कञ्चन सद्व्ययम् ॥१३॥
इत्यन्वेष्टुं समाचारं कौतुकात्स महीपतिः।
प्रच्छन्नान्स्थापयामास चारानस्यात्र पृष्ठतः ॥१४॥
स च वीरवरः प्रातः कृत्वा भूपस्य दर्शनम्।
स्थित्वा च तस्या मध्याह्नं सिंहद्वारं धृतायुधः ॥१५॥
गत्वा स्ववृत्तिलब्धानां दीनाराणां शतं गृहे।
भोजनार्थं स्वभार्याया हस्ते प्रादात्किलान्वहम् ॥१६॥
वस्त्राङ्गरागताम्बूलं क्रीणाति स्म शतेन च।
शतं स्नात्वा च पूजार्थं व्यधाद्विष्णोः शिवस्य च ॥१७॥
विप्रेभ्यः कृपणेभ्यश्च ददौ दानं शतद्वयम्।
एवं विभेजे पञ्चापि तानि नित्यं शतान्यसौ ॥१८॥
ततः कृत्वाग्निकार्यादि भुक्त्वा गत्वैकको निशि।
सिंहद्वारे पुनस्तस्थौ पाणौ करतलां दधत् ॥१९॥
एतां सततचर्यां च तस्य वीरवरस्य सः।
राजा चारमुखाच्छ्रुत्वा तुतोष हृदि शूद्रकः ॥२०॥
निवारयामास च तांश्चारांस्तस्यानुमार्गगान्।
मेने विशेषपूजार्हं पुरुषातिशयं च तम् ॥२१॥
अथ यातेषु दिवसेष्ववहेलावलङ्घिते।
ग्रीष्मे वीरवरेणात्र सुप्रचण्डार्कतेजसि ॥२२॥
तदीर्ष्यात इवोद्भूतविद्युत्करतलां दधत्।
धाराप्रहारा निनदन्नाजगाम घनागमः ॥२३॥

उसके परिवार में तीन व्यक्ति थे—उसकी स्त्री धर्मवती, पुत्र सत्त्ववर तथा कन्या वीरवती ॥९॥

इसी तरह, तीन ही सेवा के उसके सहायक थे—कमर में कृपाण, एक हाथ में तलवार और दूसरे में ढाल ॥१०॥

परिवार तो उसका केवल इतना ही था, फिर भी उसने राजा से वेतन के रूप में प्रतिदिन पाँच सौ दीनारें माँगीं ॥११॥

उसके आकार से उदार पौरुष की सूचना पाकर राजा शूद्रक ने उसे इच्छित वेतन देना स्वीकार कर लिया ॥१२॥

स्वभावतः राजा को कौतूहल हुआ कि इतना छोटा परिवार होते हुए भी यह इतनी स्वर्ण-मुद्राएँ क्या करेगा? इसे कोई दुर्व्यसन है अथवा यह इस धन को पुण्य-कार्यों में खर्च करता है? राजा ने इस बात का पता लगाने के लिए उसके पीछे अपने गुप्तचर छोड़ दिये ॥१३-१४॥

वीरवर सवेरे राजा से मिलकर, हाथों में हथियार लिये मध्याह्न तक उसके सिंहद्वार पर खड़ा रहता था और फिर घर जाकर अपने वेतन में से एक सौ दीनारें भोजनादि के निमित्त अपनी पत्नी के हाथ में दे देता था ॥१५-१६॥

एक सौ दीनारों से वह वस्त्र, अंगराग और ताम्बूल आदि खरीदता था, एक सौ दीनार स्नान के बाद विष्णु और शिव की पूजा में लगाता था और शेष दो सौ दीनार वह ब्राह्मणों और दरिद्रों को दान दे देता था। इस प्रकार, वह प्रतिदिन उन पाँच सौ दीनारों का उपयोग करता था ॥१७-१८॥

अनन्तर, अग्निहोत्र आदि कार्यों से निबटकर वह भोजन करता और फिर रात में अकेले ही राजा के सिंहद्वार पर जाकर, हाथ में तलवार लिये, पहरा दिया करता था ॥१९॥

राजा शूद्रक ने जब अपने गुप्तचरों से प्रतिदिन का उसका यह नियम सुना, तब मन-ही-मन वे बहुत सन्तुष्ट हुए ॥२०॥

राजा ने उसे पुरुषों में श्रेष्ठ और विशेष रूप से आदर के योग्य समझा तथा उसका पीछा करनेवाले अपने गुप्तचरों को रोक दिया ॥२१॥

इसी तरह दिन बीतते रहे। वीरवर ने कठोर धूपवाले गरमी के दिन सहज ही बिता दिये। तब मानों इसी ईर्ष्या से, हाथों में बिजली की तलवार लिये, गर्जन के साथ अपनी धारा का प्रहार करती हुई बरसात आ गई ॥२२-२३॥

तदा च घोरमेघौघे प्रवर्षति दिवानिशम् ।
सिंहद्वारे तथैवासीत्सोऽत्र वीरवरोऽचलः ॥२४॥
तं च दृष्ट्वा दिवा राजा प्रासादाग्रात्स शूद्रकः ।
निशि भूयस्तदारोहज्जिज्ञासुस्तस्य तां स्थितिम् ॥२५॥
जगाद च ततः को नु सिंहद्वारे स्थितोऽत्र भोः ।
तच्छ्रुत्वाहं स्थितोऽत्रेति सोऽपि वीरवरोऽब्रवीत् ॥२६॥
अहो सुदृढसत्त्वोऽयं भक्तो वीरवरो मयि ।
तदेष प्रापणीयो मेऽवश्यमेव महत्पदम् ॥२७॥
इति सञ्चिन्त्य नृपतिः प्रासादादवतीर्य सः ।
शूद्रकः शयनं भेजे प्रविश्यान्तःपुरं ततः ॥२८॥
अन्येद्युश्च भृशं मेघे धारासारेण वर्षति ।
प्रदोषे गुप्तभुवने काले तमसि जृम्भिते ॥२९॥
पुनः स राजा जिज्ञासुः प्रासादमधिरुह्य तम् ।
सिंहद्वारे स्थितः कोऽत्रेत्येकाकी प्राह तं स्फुटम् ॥३०॥
अहं स्थित इति प्रोक्ते पुनर्वीरवरेण च ।
यावद्विस्मयते सोऽत्र राजा तद्धैर्यदर्शनात् ॥३१॥
तावद्विदूरे शुश्राव सहसा रुदतीं स्त्रियम् ।
विषादविकलामेकां प्रलापकरुणस्वनम् ॥३२॥
न मे राष्ट्रे पराभूतो न दरिद्रो न दुःखितः ।
कश्चिदस्ति तदेषा का रोदित्येकाकिनी निशि ॥३३॥
इति चाचिन्तयच्छ्रुत्वा स जातकरुणो नृपः ।
आदिदेश च तं वीरवरमेकमधः स्थितम् ॥३४॥
भो वीरवर शृण्वेषा दूरे स्त्री कापि रोदिति ।
कासौ रोदिति किं चेति त्वया गत्वा निरूप्यताम् ॥३५॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा गन्तुं वीरवरस्ततः ।
प्रावर्त्तत निबद्धासिधेनुः करतलाकरः ॥३६॥
न च मेघान्धकारं तज्ज्वलद्विद्युद्विलोचनम् ।
स्थूलधाराशिलावर्षि रक्षोरूपमजीगणत् ॥३७॥
प्रस्थितं वीक्ष्य तादृश्यां तस्यां रात्रौ तमेककम् ।
करुणाकौतुकाविष्टो राजा प्रासादपृष्ठतः ॥३८॥
अवतीर्य गृहीतासिरेकाकी तस्य पृष्ठतः ।
सोऽपि प्रतस्थे तत्रैव शूद्रकोऽनुपलक्षितः ॥३९॥

उस समय, जब दिन-रात घनघोर वर्षा होती रही, तब भी वीरवर अचल होकर, उसी तरह, सिंहद्वार पर बना रहा ॥२४॥

शूद्रक ने दिन के समय, प्रासाद के अलिन्द से वीरवर को वहाँ देखा, तब उसकी उपस्थिति जानने के लिए वह रात को भी अलिन्द पर गया ॥२५॥

वहाँ जाकर उसने पूछा कि इस समय ड्योढ़ी पर कौन है? यह सुनकर वीरवर ने कहा कि यहाँ मैं उपस्थित हूँ ॥२६॥

राजा ने सोचा कि यह वीरवर बड़ा साहसी है और मेरे प्रति भक्ति रखता है, अतः उसे कोई बड़ा पद अवश्य देना चाहिए ॥२७॥

यह सुनकर राजा शूद्रक अलिन्द से उतर आया और अन्तःपुर में जाकर सो रहा ॥२८॥

अगले दिन सन्ध्या के समय घनघोर वर्षा हो रही थी। चारों ओर फैले गहरे अँधेरे ने सारे संसार को ढक रखा था। ऐसे में राजा के मन में फिर कौतूहल हुआ और उसने महल पर चढ़कर पुकारा— 'ड्यौढ़ी पर कौन है?' वीरवर, जो वहाँ अकेला था फिर बोला—'मैं हूँ।' उसका धैर्य देखकर राजा विस्मित ही हो रहा था कि दूर से किसी स्त्री के रोने की आवाज सुन पड़ी। वह स्त्री अकेली थी, दुःख से विह्वल थी और उसकी रुलाई में बड़ी करुणा भरी थी ॥२९-३२॥

राजा ने सोचा कि मेरे राज्य में न तो कोई सताया हुआ है, न दरिद्र है, न दुःखी ही है, तो फिर यह स्त्री कौन है और इस रात में अकेली क्यों रो रही है? ऐसा सोचकर राजा को बड़ी दया आई और उन्होंने ड्यौढ़ी पर अकेले बैठे हुए वीरवर को यह आदेश दिया—॥३३-३४॥

"वीरवर! सुनो। दूर पर यह कोई स्त्री रो रही है। तुम जाकर पता लगाओ कि यह कौन है और क्यों रो रही है?" ॥३५॥

यह सुनकर और 'जो आज्ञा' कहकर वीरवर अपनी कमर में कटार खोंसे और हाथों में तलवार लिये वहाँ से चल पड़ा ॥३६॥

उसने मेघ से घने अँधेरे-रूपी राक्षस की कोई परवाह नहीं की, जिसकी बिजली की आँखें चमक रही थीं और जो मोटी-मोटी बूँदों के पत्थर बरसा रहा था ॥३७॥

ऐसी उस रात में वीरवर को अकेला जाता हुआ देखकर राजा को दया भी आई और कौतूहल भी हुआ। वह महल से उतरकर और हाथ में तलवार लेकर, छिपता हुआ, अकेला ही उसके पीछे-पीछे उसी ओर चला ॥३८-३९॥

स च वीरवरो गत्वा रुदितानुसृतिक्रियः।
बहिर्नगर्याः प्रापैकं सरस्तत्र ददर्श च ।।४०।।
हा शूर हा कृपालो हा त्यागिञ्शून्या त्वया कथम्।
वत्स्यामीत्यादि रुदतीं तां स्त्रियं वारिमध्यगाम् ।।४१।।
का त्वं रोदिषि किं चैवमित्यन्वक्प्राप्तभूपतिः।
पप्रच्छ तां च साश्चर्यस्ततः साप्येवमभ्यधात् ।।४२।।
भो वीरवर जानीहि वत्स मां पृथिवीमिमाम्।
तस्या ममाधुना राजा शूद्रको धार्मिकः पतिः ।।४३।।
तृतीये च दिने तस्य राज्ञो मृत्युर्भविष्यति।
तादृशं च पतिं प्राप्स्याम्यहमन्यं नृपं कुतः ।।४४।।
अतस्तमनुशोचामि दुःखितात्मानमेव च।
एतच्छ्रुत्वा स तां त्रस्त इव वीरवरोऽब्रवीत् ।।४५।।
हे देवि कच्चिदप्यस्ति कोऽप्युपायः स तादृशः।
येनास्य न भवेन्मृत्युर्जगद्रक्षामणेः प्रभोः ।।४६।।
इति तद्वचनं श्रुत्वा सा जगाद वसुन्धरा।
एकोऽस्त्युपायस्तं चैकः कर्त्तुं शक्तो भवानिति ।।४७।।
ततो वीरवरोऽवादीत्तर्हि देवि वद द्रुतम्।
यावत्तत्साधयाम्याशु कोऽर्थः प्राणैर्ममान्यथा ।।४८।।
तच्छ्रुत्वोवाच वसुधा वीरः कोऽन्यस्त्वया समः।
स्वामिभक्तस्तदेतस्य शर्मोपायमिमं शृणु ।।४९।।
राज्ञा कृतप्रतिष्ठास्ति यैषा राजकुलान्तिके।
उत्तमा चण्डिका देवी सान्निध्योत्कर्षशालिनी ।।५०।।
तस्यै सत्त्ववरं पुत्रमुपहारीकरोषि चेत्।
तन्नैष राजा म्रियते जीवत्यन्यत्समाशतम् ।।५१।।
अद्यैव चैतद्भवता कृतं चेदस्ति तच्छिवम्।
अन्यथास्य तृतीयेऽह्नि प्राप्ते नास्त्येव जीवितम् ।।५२।।
इत्युक्तः स तया पृथ्व्या वीरो वीरवरस्तदा।
यामि देवि करोम्येतदधुनैवेत्यभाषत ।।५३।।
ततो भद्रं तवेत्युक्त्वा वसुधा सा तिरोदधे।
तच्च सर्वं स शुश्राव गुप्तमन्वक्स्थितो नृपः ।।५४।।

उस रुलाई का अनुसरण करता हुआ वीरवर नगर के बाहर जा पहुँचा। वहाँ उसने एक सरोवर देखा ॥४०॥

सरोवर के जल के बीच एक स्त्री थी, जो 'हा वीर', 'हा कृपालु', 'हा त्यागी', 'मैं तुम्हारे बिना कैसे रहूँगी' कहकर रो रही थी ॥४१॥

वीरवर ने, जिसके पीछे-पीछे राजा भी आया था, आश्चर्य के सहित पूछा—'तुम कौन हो और इस तरह क्यों रो रही हो?' तब वह स्त्री बोली—"हे वीरवर! तुम मुझे यह पृथिवी जानो। इस समय मेरे स्वामी राजा शूद्रक हैं, जो धर्मात्मा हैं। आज के तीसरे दिन उनकी मृत्यु हो जायगी। फिर, मैं उनके समान किस दूसरे राजा को स्वामी के रूप में पाऊँगी? इसी से दुःखी होकर मैं उनके और अपने लिए शोक कर रही हूँ।" यह सुनकर वीरवर ने उससे कहा—"हे देवि! क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे जगत् के रक्षक उस राजा की मृत्यु न हो?" ॥४२–४६॥

उसकी ये बातें सुनकर पृथिवी ने कहा—"इसका एक ही उपाय है और उसे केवल तुम्हीं कर सकते हो" ॥४७॥

तब वीरवर ने कहा—"तो देवि! वह उपाय मुझे शीघ्र ही बतलाइए, जिससे तत्काल ही मैं उसे कर सकूं, नहीं तो मेरे जीवन का और क्या अर्थ है? ॥४८॥

यह सुनकर पृथ्वी ने कहा—"वत्स! तुम्हारे समान वीर और स्वामिभक्त दूसरा कौन है? अतः, तुम राजा के कल्याण का यह उपाय सुनो। राजा ने राजभवन के निकट ही श्रेष्ठ देवी चण्डिका की प्रतिष्ठा की है, जिनकी निकटता उत्कर्ष देनेवाली है। यदि तुम उन्हें अपने पुत्र सत्त्ववर की बलि दे दो, तो राजा की मृत्यु नहीं होगी—वे और सौ वर्षों तक जियेंगे। यदि तुम आज ही यह काम कर सको, तो उनका कल्याण हो। नहीं तो आज के तीसरे दिन वे जीवित नहीं रहेंगे" ॥४९–५२॥

जब पृथ्वी ने पराक्रमी वीरवर से यह कहा, तब वह बोला—"देवि! मैं अभी ही जाकर ऐसा करता हूँ" ॥५३॥

'तब कल्याण होगा' ऐसा कहकर पृथ्वी अन्तर्हित हो गई। छिपकर पास ही खड़े राजा ने ये सारी बातें सुनीं ॥५४॥

ततश्च गूढे जिज्ञासौ तस्मिन्राज्ञ्यनुगच्छति।
शूद्रके त्वरितं गेहं निशि वीरवरो ययौ ॥५५॥
तत्र पुत्रोपहारोऽस्य राजार्थे धरया यथा।
उक्तस्तथाब्रवीत्पत्न्यै धर्मवत्यै विबोध्य सः ॥५६॥
तच्छ्रुत्वा सा तमाह स्म नाथ कार्यं शिवं प्रभोः।
तत्प्रबोध्य सुतस्यास्य शिशोर्वक्तुं भवानिति ॥५७॥
ततः प्रबोध्य सुप्तं तं वालं सत्त्ववरं सुतम्।
आख्याय तं च वृत्तान्तमेवं वीरवरोऽब्रवीत् ॥५८॥
तत्पुत्र चण्डिकादेव्या उपहारीकृते त्वयि।
राजा जीवत्यसौ नो चेत्तृतीयेऽह्नि विपद्यते ॥५९॥
एतच्छ्रुत्वैव बालोऽपि यथार्थं नाम दर्शयन्।
अक्लीबचित्तः पितरं तं स सत्त्ववरोऽब्रवीत् ॥६०॥
कृतार्थोऽहं मम प्राणै राजा चेत्तात जीवति।
भुक्तस्य हि तदन्नस्य दत्ता स्यान्निष्कृतिर्मया ॥६१॥
तत्किं विलम्ब्यते नीत्वा भगवत्याः पुरोऽधुना।
उपहारीकुरुध्वं मामस्तु शान्तिर्मया प्रभोः ॥६२॥
इति सत्त्ववरेणोक्ते तेन वीरवरोऽत्र सः।
साध सत्यं प्रसूतोऽसि मत्तः पुत्रेत्यभाषत ॥६३॥
एतत्सोऽन्वागतो राजा सर्वं श्रुत्वा बहिः स्थितः।
अहो एषां समं सत्त्वं सर्वेषामित्यचिन्तयत् ॥६४॥
ततो वीरवरः स्कन्धे कृत्वा सत्त्ववरं सुतम्।
भार्या धर्मवती चास्य कन्यां वीरवतीमपि ॥६५॥
उभौ तौ ययतुस्तस्यां रात्रौ तच्चण्डिकागृहम्।
राजापि शूद्रकश्छन्नः पृष्ठतः स तयोर्ययौ ॥६६॥
तत्र देव्याः पुरः स्कन्धात्सोऽथ पित्रावतारितः।
देवीं सत्त्ववरो नत्वा धैर्यराशिर्व्यजिज्ञपत् ॥६७॥
मम मूर्धोपहारेण राजा जीवतु शूद्रकः।
अन्यद्वर्षशतं देवि कुर्याद्राज्यमकण्टकम् ॥६८॥
एवमुक्तवतस्तस्य साधु साध्वित्युदीर्य सः।
सूनोः सत्त्ववरस्याथ कृष्ट्वा करतलां शिशोः ॥६९॥
छित्त्वा शिरश्चण्डिकायै देव्यै वीरवरो ददौ।
मत्पुत्रेणोपहारेण राजा जीवत्विति ब्रुवन् ॥७०॥

वीरवर शीघ्रतापूर्वक उस रात में अपने घर की ओर अकेला चला। कौतूहल के कारण राजा भी छिपकर उसके पीछे-पीछे चला ॥५५॥

घर पहुँचकर उसने अपनी धर्मवती को जगाया और पृथ्वी ने राजा के लिए पुत्र की बलि देने के लिए जो कुछ कहा था, वह उससे कह सुनाया ॥५६॥

यह सुनकर उसकी पत्नी ने कहा—"नाथ ! स्वामी का कल्याण अवश्य करना चाहिए; इसलिए आप इस बालक पुत्र को जगाकर इससे सारा वृत्तान्त कहें" ॥५७॥

तब वीरवर ने सोये हुए अपने बालक पुत्र सत्त्ववर को जगाकर, सारा वृत्तान्त उसे सुनाया और कहा—"बेटा ! चन्द्रिका देवी को तुम्हारी बलि दे देने पर यह राजा जियेंगे, नहीं तो आज के तीसरे दिन उनकी मृत्यु हो जायगी" ॥५८-५९॥

यह सुनते ही, उस बालक ने अपने नाम को सार्थक करते हुए, निर्भीक होकर, शीघ्रतापूर्वक अपने पिता से कहा—"पिताजी ! यदि मेरे प्राणों के बदले राजा का जीवन बच जायगा, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। मैंने उनका जो अन्न खाया है, उससे मैं उऋण हो जाऊँगा। अब आप विलम्ब क्यों कर रहे हैं ? मुझे भगवती के सामने ले चलकर, मेरी बलि दे दें; जिससे मुझे शान्ति मिल सके" ॥६०—६२॥

सत्त्ववर के ऐसा कहने पर वीरवर उससे बोला—"बेटा ! तुम धन्य हो। तुम मेरे सच्चे जाये हो" ॥६३॥

वीरवर के पीछे-पीछे आये हुए राजा ने बाहर से ही ये सारी बातें सुनीं। उसने सोचा—"अरे ! ये तो सभी एक ही जैसे वीर हैं" ॥६४॥

अनन्तर, वीरवर ने अपने बेटे सत्त्ववर को कन्धे पर उठा लिया; उसकी स्त्री धर्मवती ने बेटी वीरवती को ले लिया और वे दोनों, रात के समय, चण्डिका के मन्दिर में गये। राजा शूद्रक भी छिपकर उनके पीछे-पीछे गया ॥६५-६६॥

मन्दिर में पहुँचकर वीरवर ने देवी के सम्मुख अपने पुत्र को कन्धे से उतार दिया। सत्त्ववर ने बड़े धैर्य से देवी को प्रणाम करके कहा—"हे देवि ! मेरे मस्तक के उपहार से राजा शूद्रक अगले सौ वर्षों तक जीवित रहें और निष्कण्टक राज्य करें" ॥६७-६८॥

वीरवर ने, पुत्र के ऐसा कहने पर, 'धन्य-धन्य' कहकर तलवार निकाली और उससे पुत्र का मस्तक काटकर देवी चण्डिका को दिया। वीरवर ने कहा—"हे देवि ! मेरे पुत्र के इस बलिदान से राजा जीवित रहें" ॥६९-७०॥

साधु कः स्वामिभक्तोऽन्यः समो वीरवर त्वया।
येनैवमेकसत्पुत्रप्राणव्ययविधायिना ॥७१॥
दत्तो जीवश्च राज्यं च शूद्रकस्यास्य भूपतेः।
इत्यन्तरिक्षादुदगात्तत्क्षणं तत्र भारती॥७२॥
तच्च सर्वं नृपे तस्मिंश्छन्ने शृण्वति पश्यति।
कन्या वीरवती सा तु बाला वीरवरात्मजा॥७३॥
उपेत्याश्लिष्य मूर्धानं तस्य भ्रातुर्हतस्य तम्।
विलपन्त्युरुशोकान्धा हृत्स्फोटेन व्यपद्यत॥७४॥
ततो वीरवरं भार्या धर्मवत्येवमब्रवीत्।
राज्ञस्तावत्कृतं श्रेयस्तदिदानीं वदामि ते॥७५॥
निर्ज्ञाना यत्र बालापि भ्रातृशोकादियं मृता।
नष्टेऽपत्यद्वयेऽप्यस्मिंस्तत्र किं जीवितेन मे॥७६॥
प्रागेव राज्ञः श्रेयोऽर्थं मूढया स्वशिरो मया।
देव्यै नोपहृतं तस्माद्देह्यनुज्ञां ममाधुना॥७७॥
प्रविशाम्यनलं तावदात्तापत्यकलेवरा।
इत्याग्रहाद्वदन्तीं तां सोऽथ वीरवरोऽब्रवीत्॥७८॥
एवं कुरुष्व भद्रं ते का हि सम्प्रति ते रतिः।
अपत्यदुःखैकमये जीवितव्ये मनस्विनि॥७९॥
किं न दत्तो मयैवात्मेत्येषा मा भूच्च ते व्यथा।
दद्यां किं नाहमात्मानमन्यसाध्यं भवेद्यदि॥८०॥
तत्प्रतीक्षस्व यावत्ते चितामत्र करोम्यहम्।
अमीभिर्दारुभिर्देवीक्षेत्रनिर्माणसम्भृतैः ॥८१॥
इत्युक्त्वा दारुभिस्तैः स कृत्वा वीरवरश्चिताम्।
दीपाग्नेर्ज्वालयामास न्यस्तापत्यशवद्वयाम्॥८२॥
ततो धर्मवती पत्नी पतित्वा सास्य पादयोः।
प्रणम्य देवीं चण्डीं तां व्यजिज्ञपदपांसुला॥८३॥
जन्मान्तरेऽप्ययं भूयादार्यपुत्रः पतिर्मम।
एतत्प्रभोस्तु राज्ञोऽस्तु मद्देहेनामुना शिवम्॥८४॥
इत्युदीर्यैव सा साध्वी तस्मिन्नम्भोवहेलया।
ज्वालाकलापजटिले निपपात चितानले॥८५॥

इसी समय अन्तरिक्ष से आकाशवाणी हुई—"वीरवर! तुम धन्य हो! तुम्हारे समान स्वामिभक्त और कौन है, जिसने अपने एकमात्र गुणी पुत्र को मारकर राजा शूद्रक को जीवन और राज्य दिया है?" ॥७१-७२॥

राजा शूद्रक छिपकर ये सारी बातें देख और सुन रहे थे। अब वीरवर की कन्या वीरवती आगे बढ़ी। मारे गये भाई के मस्तक का आलिंगन करके, शोक के वेग से अन्धी-सी बनी, वह बालिका छाती फाड़कर रोने लगी और मर गई।॥७३-७४॥

तब वीरवर से उसकी पत्नी धर्मवती ने यों कहा—"राजा का कल्याण तो सिद्ध हो गया; अब मैं आपसे कुछ कहती हूँ। जब यह अज्ञानी बालिका भी भाई के शोक से मर गई, तब अपने दोनों बच्चों के मरने के बाद, अब मैं जीकर क्या करूँगी? मुझ मूर्खा ने, राजा के कल्याण के लिए पहले ही देवी को अपना मस्तक अर्पित नहीं किया, इसलिए अब आप मुझे आज्ञा दें कि मैं अपने बच्चों के शरीरों के साथ अग्नि में प्रवेश करूँ।" जब धर्मवती ने आग्रहपूर्वक ऐसा कहा, तब वीरवर उससे बोला—॥७५—७६॥

"मनस्विनि! ठीक । तुम ऐसा ही करो। तुम्हारा भला हो। एकमात्र बच्चों का शोक ही जिसके पास बच रहा है, ऐसी तुमको जीवन में अब क्या अनुराग है? तुम्हें इस बात का दुःख न होना चाहिए कि मैंने पहले ही अपना प्राणत्याग क्यों नहीं किया। यदि किसी और के मरने से राजा का कल्याण होता, तो क्या पहले मैं ही अपना जीवन उत्सर्ग न कर देता? किन्तु तुम थोड़ी देर ठहर जाओ, जबतक देवी के मन्दिर को घेरने के लिए रखी हुई इन लकड़ियों से मैं तुम्हारे लिए चिता तैयार किये देता हूँ" ॥७६—८१॥

यह कहकर वीरवर ने उन लकड़ियों से चिता तैयार की, दीपक से उसे जलाया और उस पर दोनों बच्चों का शव रख दिया॥८२॥

तब उसकी धर्मपरायणा पत्नी उसके पैरों पर जा गिरी। उस पतिव्रता ने देवी को प्रणाम करके कहा—"अगले जन्म में भी यही आर्यपुत्र मेरे पति हों और यही राजा मेरे स्वामी। मेरे इस शरीर-त्याग से इनका कल्याण हो" ॥८३-८४॥

यह कहकर वह साध्वी स्त्री भयानक लपटोंवाली उस चिता की अग्नि में इस प्रकार कूद पड़ी; मानों जल में कूद गई हो॥८५॥

ततश्च चिन्तयामास वीरो वीरवरोऽत्र सः।
निष्पन्नं राजकार्यं मे वाग्दिव्या ह्युद्गता यथा ॥८६॥
भुक्तस्य चान्नपिण्डस्य जातोऽहमनृणः प्रभोः।
तदिदानीं ममैकस्य केयं जीवितगृध्नुता ॥८७॥
भरणीयं प्रियं कृत्स्नं व्ययीकृत्य कुटुम्वकम्।
जीवयन्नेकमात्मानं मादृशः को हि शोभते ॥८८॥
तत्किमात्मोपहारेणाप्येतां प्रीणामि नाम्बिकाम्।
इत्यालोच्य स देवीं तां स्तुत्या प्रागुपतस्थिवान् ॥८९॥
जयमहिषासुरमारिणि दारिणि रुरुदानवस्य शूलकरे।
जय विबुधोत्सबकारिणि धारिणि भुवनत्रयस्य मातृवरे ॥९०॥
जय जगदर्चितचरणे शरणे निःश्रेयसस्य भक्तानाम्।
जय धृतभास्करकिरणे हरणे दुरितान्धकारवृन्दानाम् ॥९१॥
जय कालि जय कपालिनि जय कङ्कालिनि शिवे नमस्तेऽस्तु।
शूद्रकनृपतेरधुना प्रसीद मन्मस्तकोपहारेण ॥९२॥
इत्युपस्थाय देव्यां स तस्यां वीरवरः पुनः।
सद्यः करतलाघातेनोत्तमाङ्गं स्वमच्छिनत् ॥९३॥
तदालोक्याखिलं तत्र च्छन्नस्थः शूद्रको नृपः।
साकुलश्च सदुःखश्च साश्चर्यश्च व्यचिन्तयत् ॥९४॥
अहो किमप्यनेनैतदन्यत्रादृष्टमश्रुतम्।
साधुना सकुटुम्बेन दुष्करं मत्कृते कृतम् ॥९५॥
विचित्रेऽप्यत्र संसारे धीरः स्यादीदृशः कुतः।
अख्यापयन्प्रभोरर्थे परोक्षं यो ददात्यसून् ॥९६॥
एतस्य चोपकारस्य न कुर्यां सदृशं यदि।
तन्मे का प्रभुता किं च जीवितव्यं पशोरिव ॥९७॥
इति सञ्चिन्त्य नृपतिः खड्गमाकृष्य कोषतः।
उपेत्य शूद्रको देवीं तां प्रवीरो व्यजिज्ञपत् ॥९८॥
सततानुप्रपन्नस्य भगवत्यधुनामुना।
मम मूर्धोपहारेण सुप्रीता कुर्वनुग्रहम् ॥९९॥
अयं वीरवरो विप्रो नामानुगुणचेष्टितः।
मदर्थमुज्झितप्राणः सकुटुम्बोऽपि जीवतु ॥१००॥

इसके बाद पराक्रमी वीरवर ने सोचा—'आकाशवाणी के अनुसार राजा का काम तो मैं पूरा कर चुका। मैंने अपने स्वामी का जो अन्न खाया था, उससे मैं उऋण हो गया हूँ। तो फिर मुझ अकेले को अब जीवन की तृष्णा क्यों रखनी चाहिए ? जो भरण करने योग्य थे, प्यारे थे, उन अपने सभी कुटुम्बियों का नाश करके, अकेला अपने को जिलाये रखनेवाला, मेरे समान कौन व्यक्ति शोभित हो सकता है ?तो फिर मैं अपने शरीर की भी बलि देकर क्यों न माता को प्रसन्न करूँ ?' ऐसा सोचकर, वह पहले देवी को प्रसन्न करने के लिए, उनकी स्तुति करने लगा ॥८६—८९॥

"हाथों में शूल धारण करनेवाली, महिषासुर का वध करनेवाली और रुरु नामक दैत्य का संहार करनेवाली आपकी जय हो। हे जगज्जननी ! आप देवताओं को प्रसन्नता देनेवाली और तीनों लोकों को धारण करनेवाली हैं। आपकी जय हो॥९०॥

सारा संसार आपके चरणों की वन्दना करता है। अपने भक्तों की मुक्ति के लिए आप ही शरण-रूप हैं। आपकी जय हो। आप सूर्य की किरणें धारण करने वाली और पाप के अन्धकार का नाश करनेवाली हैं। आपकी जय हो॥९१॥

जय काली ! जय कपालिनी ! जय कंकालिनी ! हे कल्याणमयी ! आपको नमस्कार है। मेरे मस्तक का उपहार लेकर अब आप राजा शूद्रक पर प्रसन्न हों" ॥९२॥

इस प्रकार, देवी की स्तुति करके वीरवर ने झटपट तलवार चलाकर अपना मस्तक काट डाला॥९३॥

वहाँ छिपा हुआ राजा शूद्रक ये सारी बातें देख रहा था। दुःख से विकल होकर उसने आश्चर्यपूर्वक सोचा—"अरे, इस सज्जन पुरुष ने, अपने कुटुम्ब के सहित मेरे लिए यह कैसा दुष्कर कार्य किया। ऐसा तो न कहीं देखा गया, न सुना गया। इस विचित्र संसार में इसके समान ऐसा धीर पुरुष कहाँ है, जो विना कहे-सुने परोक्ष में, अपने स्वामी के लिए अपने प्राण अर्पित कर दे ? यदि इसके उपकार का प्रत्युपकार मैं न कर सकूँ, तो मेरे राजा होने का क्या अर्थ है और पशु के समान जीवन धारण का क्या अभिप्राय है ?" ॥९४—९७॥

ऐसा सोचकर राजा शूद्रक ने म्यान से अपनी तलवार निकाली और देवी के निकट जाकर इस प्रकार प्रार्थना की—॥९८॥

"भगवती ! मैं सदा आपकी शरण में रहा हूँ; अतः आज आप मेरे मस्तक का उपहार लेकर प्रसन्न हों और मुझपर कृपा करें। अपने नाम के अनुसार आचरण करनेवाले इस वीरवर ने मेरे लिए अपने प्राणों का त्याग किया है। यह अपने कुटुम्ब के साथ जीवित हो जाय" ॥९९—१००॥

इत्युदीर्यासिना राजा शिरश्छेत्तुं स शूद्रकः।
यावत्प्रवर्त्तते तावदुदभूद्भारती दिवः ॥१०१॥
मा साहसं कृथास्तुष्टा सत्त्वेनानेन ते ह्यहम्।
प्रत्युज्जीवतु सापत्यदारो वीरवरो द्विजः ॥१०२॥
इत्युक्त्वा व्यरमद्वाक्सा स चोत्तस्थौ सपुत्रकः।
साकं दुहित्रा पत्न्या च जीवन्वीरवरोऽक्षतः ॥१०३॥
तद्विलोक्याद्भुतं राजा छन्नो भूत्वा पुनश्च सः।
पश्यन्नतृप्तस्तामासीद्दृष्ट्या हर्षाश्रुपूर्णया ॥१०४॥
सोऽपि वीरवरो दृष्ट्वा सुप्तोत्थित इवाशु तम्।
पुत्रदारं तथात्मानमभूद्विभ्रान्तमानसः ॥१०५॥
पप्रच्छ च पृथङ्नामग्राहं दारसुतान्स तान्।
भस्मीभूताः कथं यूयं जीवन्तः पुनरुत्थिताः ॥१०६॥
मयापि स्वशिरश्छिन्नं जीवाम्येष च किन्विदम्।
किं विभ्रमोऽयमाहोस्वित्सुस्पष्टो देव्यनुग्रहः ॥१०७॥
एवं वदन्स तैरूचे दारापत्यैरलक्षितः।
देव्यनुग्रह एवायं जीवामो यदमी इति ॥१०८॥
ततः स तत्तथा मत्वा नत्वा वीरवरोऽम्बिकाम्।
आदाय पुत्रदारांस्तान्सिद्धकार्यो गृहं ययौ ॥१०९॥
तत्र प्रवेश्य पुत्रं तं भार्यां दुहितरं च ताम्।
सिंहद्वारमगाद्राज्ञो रात्रौ तस्यां स पूर्ववत् ॥११०॥
राजा स शूद्रकोऽप्येतद्दृष्ट्वा सर्वमलक्षितः।
गत्वारुरोह स्वावासप्रासादं तं पुनस्तदा ॥१११॥
व्याहरच्च स्थितः कोऽत्र सिंहद्वारीति पृष्ठतः।
ततो वीरवरोऽवादीत्सैष तिष्ठाम्यहं प्रभो ॥११२॥
देवादेशाद्गतश्चाहमभूवं तां स्त्रियं प्रति।
राक्षसीव च सा क्वापि दृष्टनष्टैव मे गता ॥११३॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य राजा वीरवरस्य सः।
सुतरां विस्मयाविष्टो दृष्टोदन्तो व्यचिन्तयत् ॥११४॥
अहो समुद्रगम्भीरधीरचित्ता मनस्विनः।
कृत्वाप्यनन्यसामान्यमुल्लेखं नोद्गिरन्ति ये ॥११५॥

यह कहकर राजा ज्यों ही तलवार से अपना मस्तक काटने को उद्यत हुए, त्यों ही यह आकाशवाणी हुई—"राजन्! तुम ऐसा साहस मत करो। मैं तुम्हारी इस वीरता से प्रसन्न हूँ। यह ब्राह्मण वीरवर अपनी पत्नी और बच्चों के सहित फिर से जी उठें" ॥१०१-१०२॥

इतना कहकर आकाशवाणी रुक गई। वीरवर भी अपने पुत्र, कन्या और पत्नी के सहित, अक्षत-शरीर होकर जी उठा ॥१०३॥

यह राजा अद्भुत दृश्य देखकर फिर छिप गया और प्रसन्नता के आँसुओं से भरी आँखों से उन्हें देखता रहा ॥१०४॥

शीघ्र ही वीरवर ने अपने बच्चों तथा स्त्री के सहित अपने को भी सोकर उठा हुआ-सा देखा और उसका मन भ्रान्त हो गया ॥१०५॥

वीरवर ने अपनी स्त्री और बच्चों को अलग-अलग पुकारकर पूछा कि "तुम लोग तो आग में जल गये थे, फिर जीकर कैसे उठ खड़े हुए? और, मैंने भी तो तलवार से अपना मस्तक काट डाला था। मैं भी क्या जीवित ही हूँ? यह मेरी भ्रान्ति है या देवी ने सचमुच हम लोगों पर कृपा की है? ॥१०६-१०७॥

वीरवर के ऐसा कहने पर उसकी स्त्री और बच्चों ने कहा कि "हम लोग जो फिर से जी गये हैं, यह देवी का अनुग्रह ही है, यद्यपि हम लोग इसे जान नहीं पाये" ॥१०८॥

वीरवर ने भी समझा कि ऐसी ही बात है। उसका काम पूरा हो चुका था। उसने देवी को प्रणाम किया और स्त्री-बच्चों को लेकर घर चला गया ॥१०९॥

घर पर वह अपनी स्त्री और बच्चों को छोड़कर, उसी रात को, पहले ही की तरह, फिर राजा की ड्यौढ़ी पर आ पहुँचा ॥११०॥

यह देखकर राजा शूद्रक भी, सबकी आँखें बचाकर, फिर अपने महल की छत पर जा चढ़ा ॥१११॥

वहाँ से राजा ने पुकारकर पूछा—"ड्यौढ़ी पर कौन है?" तब वीरवर ने कहा—"स्वामी! यहाँ मैं हूँ। आपकी आज्ञा से मैं उस स्त्री को देखने के लिए गया था। मेरे जाने पर, देखते-ही-देखते, वह राक्षसी के समान गायब हो गई" ॥११२-११३॥

वीरवर की यह बात सुनकर राजा को बड़ा विस्मय हुआ; क्योंकि सारा हाल उसने अपनी आँखों से देखा था। वह सोचने लगा—"अरे! मनस्वी पुरुष कैसे धीर चित्तवाले और समुद्र के समान गम्भीर होते हैं, जो दूसरों से न हो सकने योग्य असाधारण काम करके भी उसका उल्लेख तक नहीं करते" ॥११४-११५॥

इत्याद्याकलयंस्तूष्णीं प्रासादादवरुह्य सः।
प्रविश्यान्तःपुरं राजा रात्रिशेषं निनाय तम् ॥११६॥

प्रातश्चास्थानसमये दर्शनोपगतस्थिते।
तस्मिन्वीरवरे प्रीतस्तथा कृत्स्नं स भूपतिः ॥११७॥

तदीयं रात्रिवृत्तान्तं मन्त्रिभ्यस्तमवर्णयत्।
यथा बभूवुराश्चर्यमोहिता इव तेऽखिलाः ॥११८॥

ददौ तस्मै सपुत्राय प्रीत्या वीरवराय च।
लाटदेशे ततो राज्यं स कर्णाटयुते नृपः ॥११९॥

ततोऽत्र तुल्यविभवावन्योन्यस्योपकारिणौ।
आसातां तौ सुखं वीरवरशूद्रकभूपती ॥१२०॥

इत्याख्याय कथामेतां वेतालोऽत्यद्भुतां तदा।
तं त्रिविक्रमसेनं स राजानमवदत्पुनः ॥१२१॥

तद्ब्रूहि राजन्नेतेषु वीरः सर्वेषु कोऽधिकः।
पूर्व एव स शापस्ते यदि जानन्न वक्ष्यसि ॥१२२॥

एतच्छ्रुत्वा स भूपालो वेतालं प्रत्युवाच तम्।
एतेषु शूद्रको राजा प्रवीरः सोऽखिलेष्विति ॥१२३॥

ततोऽब्रवीत्स वेतालो राजन्वीरवरो न किम्।
सोऽधिको यस्य तुल्योऽस्यां पृथ्व्यामेव न जायते ॥१२४॥

तत्पत्नी नाधिका किं वा स्त्रीभूता यान्वमन्यत।
तथोपहारपशुतां सूनोः प्रत्यक्षदर्शिनी ॥१२५॥

स वा सत्त्ववरो नात्र तत्पुत्रोऽभ्यधिकः कथम्।
बालस्यापि सतो यस्य सत्त्वोत्कर्षः स तादृशः ॥१२६॥

तत्कस्माच्छूद्रकं भूपमेभ्यस्त्वं भाषसेऽधिकम्।
इत्युक्तवन्तं वेतालं स जगाद पुनर्नृपः ॥१२७॥

मैवं वीरवरस्तावत्स तादृक्कुलपुत्रकः।
तस्य प्राणैः सुतैर्दारैः स्वामिसंरक्षणं व्रतम् ॥१२८॥

तत्पत्नी सापि कुलजा साध्वी पत्येकदेवता।
भर्तृवर्त्मानुसारेण तस्या धर्मोऽस्तु कोऽपरः ॥१२९॥

ताभ्यां जातस्तु तद्रूप एव सत्त्ववरोऽपि सः।
यादृशास्तन्तवः कामं तादृशो जायते पटः ॥१३०॥

येषां प्राणैस्तु भृत्यानां नृपैरात्माभिरक्ष्यते।
तेषामर्थे त्यजन्देहं शूद्रकोऽत्र विशिष्यते ॥१३१॥

इसी तरह की बातें सोचता हुआ, राजा चुपचाप महल के ऊपर से उतर आया। उसने अन्तःपुर में जाकर बाकी रात बिता दी॥११६॥

सबेरे वीरवर राजसभा में राजा का दर्शन करने आया। उसके कार्यों से प्रसन्न राजा ने पिछली रात का उसका सारा वृत्तान्त अपने मन्त्रियों से कह सुनाया। सुनकर वे सभी आश्चर्य से अचेत-जैसे हो गये॥११७-११८॥

राजा ने प्रसन्न होकर वीरवर तथा उसके पुत्र को लाट और कर्णाट का राज्य दे दिया॥११९॥

अब वे दोनों ही समान वैभववाले तथा एक दूसरे का भला करनेवाले हो गये और इस तरह राजा वीरवर तथा राजा शूद्रक सुखपूर्वक रहने लगे॥१२०॥

बेताल ने यह अत्यन्त अद्‌भुत कथा सुनाकर फिर राजा त्रिविक्रमसेन से कहा—"राजन्! यह बतलाओ कि इनमें सबसे बड़ा वीर कौन था? जानते हुए भी यदि तुम न बतलाओगे, तो तुम्हें पहले ही की तरह शाप लगेगा"॥१२१-१२२॥

यह सुनकर राजा ने वेताल को उत्तर दिया—"इन सभी में सबसे बड़ा वीर राजा शूद्रक था"॥१२३॥

वेताल बोला—"राजन्! सबसे बड़ा वीर, क्या वीरवर नहीं था, जिसके समान इस पृथ्वी पर दूसरा नहीं हो सकता? और क्या उसकी पत्नी उससे भी अधिक नहीं थी, जिसने पति की बात मान ली और जिसने अपने सामने पुत्र का वध होते देखा? और क्या उसका पुत्र सत्त्ववर उससे भी बड़ा नहीं था, जिसमें बालक होने पर भी, वीरता का वैसा उत्कर्ष था? तो फिर तुम इन सबसे बड़ा वीर शूद्रक को कैसे कह रहे हो?" वेताल के ऐसा कहने पर राजा उससे फिर बोला—॥१२४—१२७॥

"ऐसी बात नहीं है। वीरवर का जन्म वैसे कुल में हुआ था, जिसके बालक अपने प्राण, अपनी स्त्री और अपने बच्चों की बलि देकर भी स्वामी की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य मानते हैं। उसकी पत्नी भी कुलीन वंश की थी। पतिव्रता थी। वह पति को ही अपना एकमात्र देवता मानती थी। पति के मार्ग पर चलने के अतिरिक्त उसका दूसरा कोई धर्म नहीं था। उनसे उत्पन्न सत्त्ववर भी उन्हीं के समान था। जाहिर है कि जैसा सूत होगा, वैसा ही कपड़ा भी तैयार होगा। लेकिन, जिन नौकरों के प्राणों से राजा लोग अपने जीवन की रक्षा करते हैं, शूद्रक उन्हीं के लिए अपना प्राण-त्याग करने को उद्यत हो गया था, अतः उन सबमें वही विशिष्ट था"॥१२८—१३१॥

इत्याकर्ण्यं वचः स तस्य नृपतेरंसादसंलक्षितो
वेतालः सहसा ययौ निजपदं भूयोऽपि तन्मायया।
राजाप्युच्चलितो वभूव पुनरप्यानेतुमेतं पथा
पूर्वेणैव सुनिश्चितः पितृवने तस्मिन्स तस्यां निशि ॥१३२।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बक। एकादशस्तरङ्गः

द्वादशस्तरङ्गः

पञ्चमो वेतालः। सोमप्रभायाः कथा

ततस्तस्य पुनर्गत्वा शिंशपाशाखिनोऽन्तिकम्।
तथैवोल्लम्बमानं तं दृष्ट्वा नरशरीरगम् ॥१॥
वेतालमवतार्यैव कृत्वास्मै वहु वैकृतम्।
स त्रिविक्रमसेनो द्रागगन्तुं प्रववृते ततः ॥२॥
आगच्छन्तं च तं तूष्णीं वेतालः पूर्ववत्पथि।
रात्रौ महाश्मशानेऽत्र स्कन्धस्थो व्याजहार सः ॥३॥
राजन्नभिनिविष्टोऽसि कष्टेऽत्यन्तप्रियोऽसि च।
तत्ते चेतोविनोदाय वर्णयामि कथां शृणु ॥४॥
उज्जयिन्यामभूद्विप्रः पुण्यसेनस्य भूपतेः।
अनुजीवी प्रियोऽमात्यो हरिस्वामीति सद्गुणः ॥५॥
तस्यात्मनोऽनुरूपायां भार्यायां गृहमेधिनः।
गुणवान्सदृशः पुत्रो देवस्वामीत्यजायत ॥६॥
तद्वच्चानन्यसामान्यरूपलावण्यविश्रुता।
कन्या सोमप्रभा नाम तस्यान्वर्थोदपद्यत ॥७॥
सा प्रदेया सती कन्या रूपोत्कर्षाभिमानिनी।
मातुर्मुखेन पितरं भ्रातरं च जगाद तम् ॥८॥
शूरस्य ज्ञानिनो वाहं देया विज्ञानिनोऽपि वा।
अन्यस्मै नास्मि दातव्या कार्यं मज्जीवितेन चेत् ॥९॥
तच्छ्रुत्वा तादृशं तस्याश्चिन्वन्नेकतमं वरम्।
तत्पिता स हरिस्वामी यावच्चिन्तां वहत्यलम् ॥१०॥
तावद्व्यसर्जि राज्ञा स पुण्यसेनेन दूतयया।
सन्ध्यर्थं विग्रहायातदाक्षिणात्यनृपान्तिकम् ॥११॥

राजा की ये बातें सुनकर वेताल, अपनी माया के द्वारा, अचानक उनके कन्धे से उतरकर फिर अपनी जगह जा पहुँचा। राजा त्रिविक्रमसेन भी, उसे फिर से ले आने का निश्चय करके, पहले ही के मार्ग से उस रात में उस श्मशान की ओर चल पड़ा ॥१३२॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का एकादश तरंग समाप्त।

द्वादश तरंग

पंचम वेताल : सोमप्रभा की कथा

अनन्तर, राजा त्रिविक्रमसेन जब पुनः उस शिंशपा-वृक्ष के निकट पहुँचे, तब उन्होंने, मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट वेताल को उस वृक्ष पर लटका हुआ देखा ॥१॥

राजा ने वेताल को उतारकर उसकी बहुत लानत-मलामत की और शीघ्र ही वहाँ से जाने के लिए चल पड़ा ॥२॥

रात के समय, उस महाश्मशान में चुपचाप चलते हुए राजा के कन्धे पर स्थित वेताल ने पहले ही की तरह फिर कहा—"राजन्! तुम कष्टकर काम में लगे हुए हो और मुझे अत्यन्त प्रिय हो गये हो, अतः मैं तुम्हारे मनोविनोद के लिए यह कहता हूँ, सुनो" ॥३-४॥

उज्जयिनी में हरिस्वामी नाम का एक सद्‌गुणी ब्राह्मण था। वह राजा पुण्यसेन का प्रिय सेवक और मन्त्री था ॥५॥

उस गृहस्थ ब्राह्मण की पत्नी भी उसी के अनुरूप थी, जिससे उसे अपने ही समान गुण-वाला, देवस्वामी नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥६॥

इसी प्रकार, अपने नाम को सार्थक करनेवाली, सोमप्रभा नाम की एक कन्या भी उत्पन्न हुई, जो अपने अनूठे रूप-लावण्य के लिए प्रसिद्ध थी ॥७॥

जब उसके विवाह का समय आया, तब अपने रूप की अधिकता का अभिमान रखनेवाली उस कन्या ने माता के द्वारा अपने पिता और भाई से कहलाया कि यदि आप लोगों को मेरा जीवन प्यारा है, तो आप या तो हमें किसी वीर को, या ज्ञानी को अथवा अलौकिक विद्याएँ जाननेवाले को ब्याहें—ऐसों के अतिरिक्त मैं किसी और से विवाह न करूँगी ॥८-९॥

यह सुनकर उसका पिता हरिस्वामी, उसके लिए उसकी रुचि का वर ढूँढ़ने के लिए चिन्तित रहने लगा ॥१०॥

इसी समय राजा ने, हरिस्वामी को अपना दूत बनाकर, दक्षिण देश के राजा के साथ सन्धि करने के लिए भेजा; क्योंकि वह युद्ध के लिए तैयार हो रहा था ॥११॥

कृतकार्यश्च तत्रासावेकेनाभ्येत्य तां सुताम् ।
याचितोऽभूद्द्विजाग्र्येण श्रुततद्रूपसम्पदा ॥१२॥
विज्ञानिनो ज्ञानिनो वा शूराद्वा नापरं पतिम् ।
मत्पुत्रीच्छति तत्तेषां मध्यात्कथय को भवान् ॥१३॥
इत्युक्तस्तेन भार्यार्थी स हरिस्वामिना द्विजः ।
अहं जानामि विज्ञानमिति तं प्रत्यभाषत ॥१४॥
तर्हि तद्दर्शयस्वेति पुनरुक्तश्च तेन सः ।
विज्ञानी कल्पयामास स्वशक्त्या द्युचरं रथम् ॥१५॥
मायायन्त्ररथे तत्र तं हरिस्वामिनं क्षणात् ।
आरोप्य नीत्वा स्वर्गादीँल्लोकांस्तस्मायदर्शयत् ॥१६॥
आनिनाय च तुष्टं तं तत्रैव कटकं पुनः ।
दाक्षिणात्यस्य नृपतेर्यत्रायातः स कार्यतः ॥१७॥
ततः सोऽस्मै हरिस्वामी प्रतिशुश्राव तां सुताम् ।
विज्ञानिने विवाहं च निश्चिकायाह्नि सप्तमे ॥१८॥
तत्कालमुज्जयिन्यामप्यन्येनैत्य द्विजन्मना ।
देवस्वामी स तत्पुत्रः स्वसारं तामयाच्यत ॥१९॥
ज्ञानिविज्ञानिशूरेभ्यो नान्यमिच्छति सा पतिम् ।
इति तेनापि सोऽप्युक्तः शूरमात्मानमभ्यधात् ॥२०॥
ततो दर्शितशस्त्रास्त्रश्रिये तस्मै द्विजोऽनुजाम् ।
देवस्वामी स शूराय दातुं तां प्रत्यपद्यत ॥२१॥
सप्तमेऽह्नि च तत्रैव विवाहं गणकोक्तितः ।
तस्यापि सोऽभ्यधान्मातुः परोक्षं कृतनिश्चयः ॥२२॥
तन्मातापि हरिस्वामिभार्या तत्कालमेव सा ।
केनाप्येत्य तृतीयेन सुतां तां याचिता पृथक् ॥२३॥
ज्ञानी शूरोऽथ विज्ञानी भर्त्तास्मद्दुहितुर्मतः ।
इत्युक्तश्च तया मातरहं ज्ञानीति सोऽभ्यधात् ॥२४॥
पृष्ट्वा भूतं भविष्यच्च तस्मै तां ज्ञानिने सुताम् ।
प्रतिजज्ञे प्रदातुं साप्यह्नि तत्रैव सप्तमे ॥२५॥
अन्येद्युश्चागतः सोऽत्र हरिस्वामी यथाकृतम् ।
पत्न्यै पुत्राय चाचख्यौ तं कन्यादाननिश्चयम् ॥२६॥

जब वहाँ जाकर उसने अपना काम पूरा कर लिया, तब उसके पास एक श्रेष्ठ ब्राह्मण आया। उसने हरिस्वामी की कन्या की रूप-सम्पदा की बात सुन रखी थी। आकर, उसने अपने लिए उसकी कन्या माँगी ॥१२॥

हरिस्वामी ने कहा कि 'मेरी कन्या, पति के रूप में या तो अलौकिक विद्याएँ जाननेवाले को या ज्ञानी को अथवा वीर को ही स्वीकार करना चाहती है, किसी और को नहीं; अतः बतलाइए कि आप इनमें से कौन हैं?' इस पर पत्नी की इच्छा रखनेवाले उस ब्राह्मण ने कहा कि मैं अलौकिक विद्याएँ जानता हूँ ॥१३-१४॥

हरिस्वामी ने, तब, उससे अपनी विद्या का कुछ चमत्कार दिखलाने को कहा। इसपर अलौकिक विद्याएँ जाननेवाले उस पुरुष ने, अपनी विद्या के प्रभाव से एक आकाशगामी रथ तैयार कर दिया ॥१५॥

फिर, बात-की-बात में वह, माया के यन्त्रोंवाले उस रथ पर बैठाकर हरिस्वामी को स्वर्ग आदि लोक दिखला लाया। इसके बाद सन्तुष्ट हुए हरिस्वामी को वह दक्षिण देश के राजा की उस सेना के पास लौटा लाया, जहाँ वह अपने काम से आया था ॥१६-१७॥

तब हरिस्वामी ने, अलौकिक विद्याएँ जाननेवाले उस पुरुष को अपनी कन्या ब्याहने का वचन दिया और सातवें दिन विवाह की तिथि निश्चित कर दी ॥१८॥

इसी समय उज्जयिनी में एक दूसरे ब्राह्मण ने, हरिस्वामी के पुत्र देवस्वामी के पास आकर उसकी बहन की याचना की ॥१९॥

देवस्वामी ने जब उसे यह बतलाया कि मेरी बहन ज्ञानी, अलौकिक विद्याएँ जाननेवाले या वीर के अतिरिक्त किसी और को पति-रूप में नहीं चाहती, तब उसने अपने को वीर बतलाया ॥२०॥

अनन्तर, जब उसने अस्त्र-शस्त्रों का अपना कौशल दिखलाया, तब देवस्वामी ने उससे अपनी बहन का विवाह करने का निश्चय कर लिया ॥२१॥

अपनी माता के अनजाने, ज्योतिषियों के कहने के अनुसार, उसने भी सातवें दिन विवाह का मुहूर्त्त निश्चय कर दिया ॥२२॥

उसी समय उसकी माँ, हरिस्वामी की पत्नी से भी किसी तीसरे ने आकर, अलग से उसकी कन्या की याचना की ॥२३॥

जब उसने कहा कि 'मेरी कन्या ज्ञानी, वीर अथवा अलौकिक विद्याएँ जाननेवाले को ही अपना पति बनाना चाहती है' तो वह बोला—'माँ! मैं ज्ञानी हूँ' ॥२४॥

उस ज्ञानी से भूत-भविष्य की बातें पूछ लेने के बाद उसने भी सातवें ही दिन उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देने का वचन दिया ॥२५॥

अगले दिन हरिस्वामी घर लौट आया। आकर उसने अपनी पत्नी और पुत्र से बतलाया कि कैसे वह कन्या-दान का निश्चय कर आया है ॥२६॥

तौ च तं स्वकृतं तस्मै भिन्नं भिन्नमवोचताम्।
सोऽपि तेनाकुलो जज्ञे वरत्रयनिमन्त्रणात्॥२७॥
अथोद्वाहदिने तस्मिन्हरिस्वामिगृहे वराः।
आययुर्ज्ञानिविज्ञानिशूरास्तत्र त्रयोऽपि ते॥२८॥
तत्कालं चात्र सा चित्रं कन्या सोमर्प्रभा वधूः।
अशङ्कितं गता क्वापि न विचित्याप्यलभ्यत॥२९॥
ततोऽब्रवीद्धरिस्वामी ज्ञानिनं तं ससम्भ्रमः।
ज्ञानिन्निदानीं ब्रूह्याशु दुहिता मे क्व सा गता॥३०॥
तच्छ्रुत्वा सोऽवदज्ज्ञानी राक्षसेनापहृत्य सा।
नीता विन्ध्याटवीं धूमशिखेन वसतिं निजाम्॥३१॥
इत्युक्तो ज्ञानिना भीतो हरिस्वामी जगाद सः।
हा धिक्कथं सा प्राप्येत विवाहश्चापि हा कथम्॥३२॥
श्रुत्वैतत्प्राह विज्ञानी धीरो भव नयामि वः।
तत्राधुनैव यत्रैष ज्ञानी वदति तां स्थिताम्॥३३॥
इत्युक्त्वा तत्क्षणं कृत्वा रथं सर्वास्त्रसंयुतम्।
तत्रारोप्य हरिस्वामिज्ञानिशूरान्खगामिनि॥३४॥
तान्स सम्प्रापयामास क्षणाद्विन्ध्याटवीभुवि।
ज्ञानिना तां समाख्यातां वसतिं तत्र रक्षसः॥३५॥
तत्र तं राक्षसं क्रुद्धं ज्ञातवृत्तान्तनिर्गतम्।
शूरोऽथ योधयामास हरिस्वामिपुरस्कृतः॥३६॥
तदाश्चर्यमभूद्युद्धं तयोर्मानुषरक्षसोः।
चित्रास्त्रयोधिनोः स्त्र्यर्थं रामरावणयोरिव॥३७॥
क्षणेन च स सङ्ग्रामदुर्मदस्यापि रक्षसः।
अर्धचन्द्रेण वाणेन शूरस्तस्याच्छिनच्छिरः॥३८॥
हते रक्षसि तां सोमप्रभामाप्तं तदास्पदात्।
आदाय विज्ञानिरथेनाजग्मुस्ते ततोऽखिलाः॥३९॥
हरिस्वामिगृहं प्राप्य तेषां लग्नेऽप्युपस्थिते।
ज्ञानिविज्ञानिशूराणां विवाद उदभून्महान्॥४०॥
ज्ञानी जगाद नाहं चेज्जानीयां तदियं कथम्।
प्राप्येत कन्या गूढस्था देया मह्यमसावितः॥४१॥

उन दोनों ने भी उसे अलग-अलग बतलाया कि उन्होंने क्या किया है। तब वह एक साथ तीन बरातें बुलाने के कारण चिन्ता में पड़ गया ॥२७॥

अनन्तर, विवाह की निश्चित तिथि को ज्ञानी, वीर और अलौकिक विद्याएँ जाननेवाला, ये तीनों ही वर, हरिस्वामी के घर आ पहुँचे ॥२८॥

इसी समय एक विचित्र बात हो गई। ब्राह्मण की कन्या सोमप्रभा, जो वधू बननेवाली थी, अचानक कहीं गायब हो गई। ढूँढ़ने पर भी उसका कुछ पता न चला ॥२९॥

तब घबराये हुए हरिस्वामी ने ज्ञानी पुरुष से कहा कि 'हे ज्ञानी ! अब जरा झटपट यह बतलाइए कि मेरी कन्या कहाँ है ? ॥३०॥

यह सुनकर ज्ञानी ने कहा—"धूमशिख नामक राक्षस, उसको उठाकर, विन्ध्याचल के वन में स्थित अपने घर में ले गया है" ॥३१॥

ज्ञानी के ऐसा कहने पर हरिस्वामी डर गया। वह बोला—"हाय, हाय ! अब वह कैसे मिलेगी और उसका विवाह भी कैसे होगा ?" ॥३२॥

यह सुनते ही अलौकिक विद्याओं को जाननेवाले ने कहा—"आप धैर्य धरें। ज्ञानी के कहने के अनुसार वह जहाँ ले जाई गई है, वहाँ मैं अभी ही आपको ले चलता हूँ ॥३३॥

यह कहकर क्षणभर में उसने सभी अस्त्रों से सजा हुआ एक आकाशगामी रथ बनाया और उसपर हरिस्वामी, ज्ञानी और वीर को चढ़ाकर, उन्हें विन्ध्याचल के उस वन में ले गया, जहाँ ज्ञानी ने राक्षस का भवन बतलाया था ॥३४-३५॥

यह वृत्तान्त जानकर राक्षस क्रुद्ध हुआ और बाहर निकल आया। हरिस्वामी के भेजने पर वह वीर पुरुष आगे बढ़कर उससे लड़ने लगा ॥३६॥

तरह-तरह के अस्त्रों से लड़नेवाले उन दोनों—मनुष्य और राक्षस—का युद्ध बड़ा आश्चर्यजनक हुआ। स्त्री के लिए जैसे राम और रावण लड़े थे, वैसे ही ये भी लड़ने लगे ॥३७॥

पल-भर में उस वीर ने अर्धचन्द्राकार बाण से, युद्ध में मतवाले उस राक्षस का मस्तक काट डाला ॥३८॥

राक्षस के मारे जाने पर, सोमप्रभा को उसके घर से ले आकर, वे सभी, अलौकिक विद्याएँ जाननेवाले के रथ से वापस लौटे ॥३९॥

हरिस्वामी के घर पहुँचकर, विवाह का समय आने पर, ज्ञानी वीर और अलौकिक विद्याएँ जाननेवाले में बड़ा झगड़ा खड़ा हो गया ॥४०॥

ज्ञानी ने कहा—"यदि मैं न जानता कि सोमप्रभा कहाँ है, तो छिपाकर रखी गई वह कन्या कहाँ मिलती ? इसलिए उसका विवाह मुझसे होना चाहिए" ॥४१॥

विज्ञानी त्ववदन्नाहं कुर्यां चेद्व्योमगं रथम्।
गमागमौ कथं स्यातां देवानामिव वः क्षणात्॥४२॥
कथं स्याच्चारथं युद्धं रथिना रक्षसा सह।
तस्मान्मह्यमियं देया लग्नो ह्येष मयार्जितः॥४३॥
शूरोऽप्युवाच हन्यां चेन्नाह तं राक्षसं रणे।
तद्युवाभ्यां कृते यत्नेऽप्येतां कन्यां क आनयेत्॥४४॥
तन्मह्यमेषा दातव्येत्येवं तेषु विवादिषु।
हरिस्वामी क्षणं तूष्णीमासीदुद्भ्रान्तमानसः॥४५॥
तत्कस्मै सात्र देयेति राजन्वदतु मे भवान्।
न वदिष्यसि जानंश्चेत्तत्ते मूर्धा स्फुटिष्यति॥४६॥
इति वेतालतस्तस्माच्छ्रुत्वा मौनं विहाय च।
स त्रिविक्रमसेनस्तमुवाचैवं महीपतिः॥४७॥
शूराय सा प्रदातव्या येन प्राणपणोद्यमात्।
अर्जिता बाहुवीर्येण हत्वा तं युधि राक्षसम्॥४८॥
ज्ञानिविज्ञानिनौ त्वस्य धात्रा कर्मकरौ कृतौ।
सदा गणकतक्षाणौ परोपकरणे न किम्॥४९॥
इत्युक्तं मनुजपतेर्निशम्य तस्य
स्कन्धाग्रात्सपदि स पूर्ववज्जगाम।
वेताले निजपदमेव सोऽपि राजा-
नुद्वेगः पुनरपि तं प्रति प्रतस्थे॥५०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके द्वादशस्तरङ्गः

त्रयोदशस्तरङ्गः

षष्ठो वेतालः। रजककन्यायाः कथा

ततो गत्वा पुनस्तस्मात्प्राप्य तं शिंशपातरोः।
वेतालं प्राग्वदादाय स्कन्धे मौनेन भूपतिः॥१॥
स त्रिविक्रमसेनोऽत्र यावदागच्छति द्रुतम्।
तावत्पथि स वेतालो भूयोऽप्येवमुवाच तम्॥२॥

अलौकिक विद्याएँ जाननेवाला बोला—"यदि मैं आकाशगामी रथ न बनाता, तो देवताओं की तरह, पल-भर में आना-जाना कैसे हो पाता? रथ पर बैठे राक्षस के साथ, बिना रथ के युद्ध भी कैसे सम्भव होता? इसलिए यह कन्या मुझे मिलनी चाहिए। यह विवाह मैंने जीता है।॥४२-४३॥

वीर ने कहा—"यदि मैंने युद्ध में राक्षस को न मारा होता, तो आप लोगों के प्रयत्न करने पर भी इस कन्या को कैसे ले आया जा सकता? इसलिए, यह कन्या मुझे मिलनी चाहिए।" इस प्रकार उन तीनों का झगड़ा सुनकर हरिस्वामी का मन उद्भ्रान्त हो गया और वह थोड़ी देर चुप बैठा रहा।॥४४-४५॥

वेताल ने पूछा—"राजन्! अब तुम्हीं बतलाओ कि वह लड़की किसे मिलनी चाहिए? यदि जानते हुए भी तुम न बतलाओगे, तो तुम्हारा माथा फट जायगा।" वेताल की यह बात सुन, मौन छोड़कर, राजा त्रिविक्रमसेन ने उससे यों कहा—॥४६-४७॥

"वह कन्या उस वीर को मिलनी चाहिए; क्योंकि उसी ने प्राण-पण से उद्यम करके, अपने बाहु-बल से उस राक्षस को युद्ध में मारा और उस कन्या को अर्जित किया था। विधाता ने ज्ञानी और अलौकिक विद्याएँ जाननेवाले को तो उसका काम करने के लिए बनाया था। गणक और शिल्पी क्या दूसरों का काम करने के साधन नहीं बनते? ॥४८-[illegible]॥

राजा का यह कहना सुनकर वेताल, पहले की ही तरह, झटपट उसकें कन्धे से उतरकर अपनी जगह पर चला गया। राजा भी, बिना घबराये, फिर उसकी ओर चल पड़ा।॥५०॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवतीलम्बक का द्वादश तरंग समाप्त।

त्रयोदश तरंग

षष्ठ वेताल : रजक-कन्या की कथा

अनन्तर, राजा त्रिविक्रमसेन ने पुनः उस शिंशपा-वृक्ष पर उस वेताल को पाया। पहले की ही तरह, राजा उसे कन्धे पर लेकर ज्यों ही चुपचाप तेजी से चला, त्यों ही उस वेताल ने मार्ग में उससे फिर कहा—॥१-२॥

राजन्सुधीः सुसत्त्वश्च भवांस्तेन प्रियोऽसि मे ।
अतो विनोदिनीं वच्मि कथां प्रश्नं च मे शृणु ॥३॥
आसीद्राजा यशःकेतुरिति ख्यातो महीतले ।
तस्य शोभावती नाम राजधान्यभवत्पुरी ॥४॥
तस्यामभून्नगर्यां च गौर्यायतनमुत्तमम् ।
तस्य दक्षिणतश्चासीद्गौरीतीर्थाभिधं सरः ॥५॥
तस्याषाढचतुर्दश्यां शुक्लायां प्रतिवत्सरम् ।
यात्रायां स्नातुमेति स्म नानादिग्भ्यो महाजनः ॥६॥
एकदा च तिथौ तस्यां स्नातुमत्राययौ युवा ।
रजको धवलो नाम ग्रामाद्ब्रह्मस्थलाभिधात् ॥७॥
सोऽपश्यद्रजकस्यात्र तीर्थे स्नानागतां सुताम् ।
कन्यां शुद्धपटाख्यस्य नाम्ना मदनसुन्दरीम् ॥८॥
इन्दोर्लावण्यहारिण्या तया स हृतमानसः ।
अन्विष्य तन्नामकुले कामार्त्तोऽथ गृहं ययौ ॥९॥
तत्रानवस्थितस्तिष्ठन्निराहारस्तया विना ।
पृष्टो मात्रार्त्तया तस्यै तच्छशंस मनोगतम् ॥१०॥
सा गत्वा विमलाख्याय तत्स्वभर्त्रे न्यवेदयत् ।
सोऽप्यागत्य तथावस्थं दृष्ट्वा तं सुतमभ्यधात् ॥११॥
किं विषीदसि पुत्रैवमदुष्प्राप्येऽपि वाञ्छिते ।
स हि मद्याचितः शुद्धपटो दास्यति ते सुताम् ॥१२॥
अन्यूना हि वयं तस्मात्कुलेनार्थेन कर्मणा ।
तं वेद्म्यहं स मां वेत्ति तेनैतन्मे न दुष्करम् ॥१३॥
इत्याश्वास्य स तं पुत्रमाहारादौ प्रवर्त्त्य च ।
तद्युक्तो विमलोऽन्येद्युर्ययौ शुद्धपटास्पदम् ॥१४॥
ययाचे चात्र पुत्रस्य तस्यार्थे धवलस्य सः ।
कन्यां तस्मात्स चास्मै तां प्रतिशुश्राव सादरम् ॥१५॥
लग्नं निश्चित्य चान्येद्युस्तां स शुद्धपटः सुताम् ।
धवलाय ददौ तस्मै तुल्यां मदनसुन्दरीम् ॥१६॥
कृतोद्वाहश्च स तया साकं दर्शनसक्तया ।
भार्यया स्वपितुर्गेहं जगाम धवलः कृती ॥१७॥

"राजन्, तुम बुद्धिमान् और वीर हो, इसलिए मेरे प्रिय हो; अतएव मैं मनोरंजक कथा कहता हूँ। उसे और मेरे प्रश्न को तुम सुनो" ॥३॥

जगद्विख्यात यशःकेतु नाम का एक राजा था। शोभावती नाम की नगरी उसकी राजधानी थी ॥४॥

उस नगरी में गौरी का एक उत्तम मन्दिर था। मन्दिर से दक्खिन गौरीतीर्थ नाम का एक सरोवर था ॥५॥

वहाँ हर साल आषाढ़ शुक्ल-चतुर्दशी को एक मेला लगता था, जब भिन्न-भिन्न दिशाओं से, बड़े-बड़े लोग वहाँ स्नान करने के लिए आते थे ॥६॥

एक बार, उस तिथि को, ब्रह्मस्थल नाम के एक गाँव से, धवल नाम का एक युवक धोबी वहाँ स्नान करने के लिए आया ॥७॥

उस तीर्थ में स्नान करने के लिए आई हुई, शुद्धपट की कुमारी कन्या मदनसुन्दरी को उसने देखा ॥८॥

चन्द्रमा की सुन्दरता को चुरानेवाली उस कन्या ने उसका मन हरण कर लिया। उसके नाम और कुल का पता लगाकर, कामार्त्त होकर, वह घर लौट गया ॥९॥

मदनसुन्दरी के विना वह वहाँ उदास और भूखा-प्यासा पड़ा रहा। यह देखकर उसकी माँ दुखी हुई। उसके पूछने पर धवल ने अपने मन की बात उसे बता दी ॥१०॥

उसने जाकर विमल नाम के अपने पति से सारी बातें कहीं। उसने आकर अपने बेटे की वह हालत देखी और कहा—॥११॥

"बेटा! जिसके मिलने में कोई कठिनाई नहीं है, उसके लिए तुम इस प्रकार शोक क्यों कर रहे हो? मेरे माँगने पर, शुद्धपट तुमको अपनी कन्या दे देगा; क्योंकि कुल में, धन में और कर्म में हम उसके समान ही हैं। मैं उसे जानता हूँ और वह भी मुझे जानता है; इससे यह काम मेरे लिए दुष्कर नहीं है ॥१२-१३॥

इस तरह बेटे को समझा-बुझाकर उसने उसे खाने-पीने के लिए राजी किया। दूसरे दिन विमल, उसे साथ लेकर, शुद्धपट के यहाँ गया ॥१४॥

वहाँ जाकर उसने अपने बेटे के लिए उसकी कन्या माँगी। उसने आदर के साथ इसके लिए वचन दिया ॥१५॥

अगले दिन विवाह का लग्न निश्चित करके, शुद्धपट ने, समान रूप-गुणवाली अपनी कन्या का विवाह धवल के साथ कर दिया ॥१६॥

देखते ही जिसपर आसक्त हो गया था, ऐसी मदनसुन्दरी से विवाह करके, सफलमनोरथ होकर धवल अपनी उस स्त्री के सहित पिता के घर लौट आया ॥१७॥

सुखस्थितस्य तस्याथ कदाचिच्छ्वशुरात्मजः।
तस्या मदनसुन्दर्या भ्राता तत्रागतोऽभवत् ॥१८॥
स कृतप्रश्रयः सर्वैः स्वस्राश्लिष्याभिनन्दितः।
सम्वन्धिपृष्टकुशलो विश्रान्तश्च जगाद तान् ॥१९॥
अहं मदनसुन्दर्या जामातुश्च निमन्त्रणे।
तातेन प्रेषितो यस्माद्देवीपूजोत्सवोऽस्ति नः ॥२०॥
श्रद्धाय चैतत्तद्वाक्यं यथार्हैः पानभोजनैः।
ते सम्वन्ध्यादयः सर्वे तदहस्तमुपाचरन् ॥२१॥
प्रातर्मदनसुन्दर्या श्वशुर्येण च तेन सः।
सहितो धवलः प्रायाद्गृहं तच्छ्वाशुरं प्रति ॥२२॥
प्राप्य शोभावतीं तां च पुरीमात्मतृतीयकः।
ददर्श निकटं प्राप्य स गौर्यायतनं महत् ॥२३॥
निजगाद च तौ भार्याश्वशुर्यौ श्रद्धया ततः।
एतमेतां भगवतीं पश्यामो देवतामिह ॥२४॥
तच्छ्रुत्वा स श्वशुर्यस्तं निषेधन्प्रत्यभाषत।
इयन्तो रिक्तहस्ताः किं पश्यामो देवतामिति ॥२५॥
अहं तावद्व्रजाम्येको युवामत्रैव तिष्ठतम्।
इत्युक्त्वा धवलो द्रष्टुं देवीं तां स ततो ययौ ॥२६॥
प्रविश्यायतनं तस्याः प्रणम्य च विभाव्य च।
तामष्टादशदोर्दण्डखण्डितोच्चण्डदानवाम् ॥२७॥
पादपद्मतलाक्षिप्तमहिषासुरमर्दिनीम् ।
स विधिप्रेरणोत्पन्नबुद्धिरेवमचिन्तयत् ॥२८॥
जीवोपहारैर्विविधैरिमां देवीं जनोऽर्चति।
अहं तु सिद्ध्यै किं नैतां प्रीणाम्यात्मोपहारतः ॥२९॥
इति ध्यात्वैव तद्गर्भगृहादादाय निर्जनात्।
खड्गे सांयात्रिकैः कैश्चिद्देव्याः प्राक्प्राभृतीकृतम् ॥३०॥
वद्ध्वा शिरोरुहैर्घण्टाशृङ्खलायां निजं शिरः।
चिच्छेदैतेन खड्गेन तच्छिन्नं चापद्भुवि ॥३१॥
चिरं यावत्स नायाति तावद्गत्वा तमीक्षितुम्।
तत्रैव देवीभवने तच्छ्वशुर्यो विवेश सः ॥३२॥

उन दोनों को सुखपूर्वक रहते हुए जब कुछ समय बीत गया, तब एक बार धवल का साला, अर्थात् मदनसुन्दरी का भाई वहाँ आया ॥१८॥

सभी सम्बन्धियों ने उसका आदर-सत्कार किया। बहन ने गले से लगाकर उसका अभिनन्दन किया। फिर, कुशल-समाचार पूछने-कहने तथा विश्राम कर लेने के बाद वह बोला—"पिता ने मुझे मदनसुन्दरी और दामाद को निमन्त्रित करने के लिए भेजा है; क्योंकि हमारे यहाँ देवी-पूजन का उत्सव है" ॥१६-२०॥

सभी सम्बन्धियों ने उसकी बातें मान लीं और उस दिन उचित भोजन-पान के द्वारा उसका स्वागत-सत्कार किया ॥२१॥

सवेरा होने पर धवल ने, मदनसुन्दरी और अपने साले के साथ, ससुराल के लिए प्रस्थान किया ॥२२॥

शोभावती नाम की उस नगरी के निकट पहुँचकर, विमल ने गौरी देवी का विशाल मन्दिर देखा ॥२३॥

उसने अपनी स्त्री और साले से श्रद्धा के सहित कहा—"आओ, हम लोग गौरी देवी का दर्शन कर लें" ॥२४॥

यह सुनकर उसके साले ने उसे रोकते हुए कहा--"हम सभी क्या खाली हाथ ही देवी का दर्शन करेंगे?" ॥२५॥

"तो फिर मैं अकेला ही जाता हूँ। तुम लोग यहीं ठहरो।" ऐसा कहकर, देवी का दर्शन करने के लिए, धवल वहाँ से चला गया ॥२६॥

मन्दिर में जाकर उसने प्रणामपूर्वक उन देवी का ध्यान किया, जिन्होंने प्रबल पराक्रमवाली अपनी अट्ठारह भुजाओं से प्रचण्ड शक्तिवाले दानव को नष्ट किया था और अपने चरण-कमलों के नीचे डालकर महिषासुर का मर्दन किया था। फिर, दैवी प्रेरणा से उसके मन में कुछ ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि उसने सोचा—"लोग विविध प्राणियों की बलि देकर इन देवी की आराधना करते हैं। मैं सिद्धि पाने के लिए अपनी ही बलि देकर इन्हें क्यों न प्रसन्न करूँ?" ॥२७—२९॥

ऐसा सोचकर वह मन्दिर के एकान्त गर्भगृह से एक तलवार ले आया, जिसे किसी यात्री ने पहले ही देवी को भेंट में अर्पित किया था। मन्दिर में लटकते हुए घण्टे की जंजीर में उसने अपने केशों से अपना मस्तक बाँध दिया और तलवार से उसे काट दिया। गर्दन कटते ही वह भूमि पर आ गिरा ॥३०-३१॥

जब बहुत देर तक वह लौट कर नहीं आया, तब उसे देखने के लिए, उसका साला भी देवी के उस मन्दिर में गया ॥३२॥

सोऽपि दृष्ट्वा तमुत्कृत्तमूर्धानं भगिनीपतिम्।
व्यामोहितस्तथैव स्वं शिरस्तेनासिनाच्छिनत् ॥३३॥
सोऽपि यावच्च नायाति तावदुद्भ्रान्तमानसा।
तद्देवीभवनं सापि ययौ मदनसुन्दरी ॥३४॥
प्रविश्य दृष्ट्वैव पतिं भ्रातरं च तथागतौ।
हा किमेतद्धतास्मीति विलपन्त्यपतद्भुवि ॥३५॥
क्षणाच्चोत्थाय शोचन्ती तावकाण्डहतावुभौ।
किं ममाप्यधुनानेन जीवितेनेत्यचिन्तयत् ॥३६॥
व्यजिज्ञपच्च देवीं तां देहत्यागोन्मुखी सती।
देवि सौभाग्यचारित्रविधानैकाधिदेवते ॥३७॥
अध्यासितशरीरार्द्धे भर्त्तुर्माररिपोरपि।
अशेषललनालोकशरण्ये दुःखहारिणि ॥३८॥
हृतावेकपदे कस्माद्भर्त्ता भ्राता च मे त्वया।
न युक्तमेतन्मयि ते नित्यभक्ता ह्यहं त्वयि ॥३९॥
तन्मे श्रितायाः शरणं शृण्वेकं कृपणं वचः।
एतां तावत्त्यजाम्यत्र दौर्भाग्योपहतां तनुम् ॥४०॥
जनिष्ये देवि भूयस्तु यत्र कुत्रापि जन्मनि।
तत्रैतावेव भूयास्तां द्वौ भर्तृभ्रातरौ मम ॥४१॥
इति संस्तुत्य विज्ञप्य देवीं नत्वा च तां पुनः।
पाशं विरचयामास लतयाशोकपादपे ॥४२॥
तत्रार्पयति यावच्च पाशे कण्ठं वितत्य सा।
तावत्तत्रोच्चचारैवं भारती गगनाङ्गणात् ॥४३॥
मा कृथाः साहसं पुत्रि बालाया अपि तेऽमुना।
सत्त्वोत्कर्षेण तुष्टास्मि पाशमेतं परित्यज ॥४४॥
संश्लेषय शिरः स्वं स्वं भर्तृभ्रातृकबन्धयोः।
उत्तिष्ठतां ते जीवन्तावेतौ द्वावपि मद्वरात् ॥४५॥
एतच्छ्रुत्वैव सन्त्यज्य पाशं हर्षादुपेत्य सा।
अविभाव्यातिरभसाद्भ्रान्ता मदनसुन्दरी ॥४६॥
बाला भर्तृशिरो भ्रातृदेहेन समयोजयत्।
भर्तृदेहेन च भ्रातृशिरो विधिनियोगतः ॥४७॥

मस्तक कटे हुए अपने बहनोई को देखकर वह घबरा गया और उसी तरह, उसने भी उस तलवार से अपना मस्तक काट डाला ॥३३॥

जब वह भी लौटकर नहीं आया, तब मदनसुन्दरी का मन बहुत विकल हो गया और वह भी उस देवी के मन्दिर में गई ॥३४॥

अन्दर जाकर जब उसने अपने पति और भाई का वह हाल देखा, तब "हाय, यह क्या हुआ ? मैं मारी गई !" कहकर विलाप करती हुई वह भूमि पर गिर पड़ी ॥३५॥

इस प्रकार अचानक ही उन दोनों की मृत्यु पर शोक करती हुई, वह पलभर बाद ही उठ खड़ी हुई और सोचने लगी कि 'अब मुझे भी जीवित रहकर क्या करना है ?' ॥३६॥

तब, शरीर-त्याग करने के लिए उद्यत वह सती, इस प्रकार देवी की स्तुति करने लगी—"हे देवि ! तुम सौभाग्य और सतीत्व की अधिष्ठात्री देवी हो। तुम अपने पति काम-रिपु (शिव) के आधे शरीर में निवास करती हो। तुम संसार की सभी स्त्रियों की शरणदायिनी हो। दुःखों का नाश करनेवाली हो। फिर, तुमने एक साथ ही मेरे भाई और पति को क्यों छीन लिया ? मैं तो सदा तुम्हारी भक्ति करती रही हूँ। मेरे प्रति तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं हुआ ॥३७—३९॥

मैं तुम्हारी शरण में आई हूँ; अतः तुम मेरी यह करुण प्रार्थना सुनो—दुर्भाग्य से लुटे हुए उस शरीर का अब मैं त्याग करती हूँ। अगले जन्मों में मैं जहाँ कहीं भी उत्पन्न होऊँ, पति और भाई के रूप में ये ही दोनों मुझे प्राप्त हों।"४०-४१॥

इस प्रकार, स्तुतिपूर्वक देवी से निवेदन करके उसने पुनः उन्हें प्रणाम किया और लताओं के द्वारा, अशोक के वृक्ष पर, एक फन्दा तैयार किया ॥४२॥

फन्दे को फैलाकर ज्यों ही उसने अपने गले में डाला, त्यों ही इस प्रकार आकाशवाणी हुई—'बेटी ! ऐसा दुःसाहस मत करो। अल्पवयस्का होकर भी तुमने जो इतना साहस दिखलाया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ। फन्दा हटा दो। तुम अपने पति और भाई के शरीरों पर उनके मस्तक जोड़ दो। मेरे वर से वे दोनों जीवित हो जायेंगे" ॥४३—४५॥

यह सुनकर मदनसुन्दरी प्रसन्नता से अधीर हो गई। उसने अपने गले से फन्दा निकाल दिया। घबराहट में, बिना सोचे-विचारे, उसने पति का मस्तक भाई के शरीर में और भाई का मस्तक पति के शरीर में जोड़ दिया; क्योंकि विधाता का ऐसा ही विधान था ॥४६-४७॥

ततोऽक्षताङ्गौ जीवन्तावुभावुत्तस्थतुश्च तौ।
शिरोविनिमयाज्जातसङ्करौ काययोर्मिथः।।४८।।
अथान्योन्योदितस्वस्वयथावृत्तान्ततोषिणः।
प्रणम्य देवीं शर्वाणीं यथेष्टं ते ययुस्त्रयः।।४९।।
यान्ती च दृष्ट्वा स्वकृतं शिरोविनिमयं तयोः।
विग्ना किंकार्यतामूढा साभून्मदनसुन्दरी।।५०।।
तद्ब्रूहि राजन्को भर्त्ता तस्याः सङ्कीर्णयोस्तयोः।
पूर्वोक्तः स्यात्स शापस्ते जानानो न ब्रवीषि चेत्।।५१।।
इत्याकर्ण्य कथाप्रश्नं राजा वेतालतस्ततः।
स त्रिविक्रमसेनोऽत्र तमेवं प्रत्यभाषत।।५२।।
यत्संस्थं तत्पतिशिरः सैष तस्याः पतिस्तयोः।
प्रधानं च शिरोऽङ्गेषु प्रत्यभिज्ञा च तद्गता।।५३।।
इत्युक्तवतो नृपतेस्तस्यांसात्पुनरतर्कितः स ययौ।
वेतालः स च राजा जगाम भूयस्तमानेतुम्।।५४।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके त्रयोदश स्तरङ्गः।

चतुर्दशस्तरङ्गः

सप्तमो वेतालः। सत्त्वशीलस्य कथा

ततो गत्वा पुनः प्राप्य वेतालं शिशपातरोः।
त त्रिविक्रमसेनस्तं स्कन्धे जग्राह भूपतिः।।१।।
गृहीत्वा प्रस्थितं तं च वेतालः सोऽब्रवीत्पथि।
राजञ्श्रमविनोदार्थं कथामाख्यामि ते शृणु।।२।।
अस्तीह ताम्रलिप्तीति पुरी पूर्वाम्बुधेस्तटे।
चण्डसेनाभिधानश्च राजा तस्यामभूत्पुरि।।३।।
पराङ्मुखः परस्त्रीषु यो न सङ्ग्रामभूमिषु।
हर्त्ता च शत्रुलक्ष्मीणां न परद्रव्यसम्पदाम्।।४।।
तस्यैकदा दाक्षिणात्यो राजपुत्रो जनप्रियः।
आययौ सत्त्वशीलाख्यः सिंहद्वारेऽत्र भूपतेः।।५।।
तत्र चात्मानमावेद्य नैर्धन्यात्तं नृपं प्रति।
कर्पटं पाटयामास राजपुत्रैः सहापरैः।।६।।

तब वे दोनों ही जीवित होकर उठ खड़े हुए। उनके शरीर में कहीं कटने-फटने का चिह्न नहीं था; लेकिन मस्तकों के बदल जाने से उन दोनों के शरीर में संकरता आ गई थी।।४८।।

अनन्तर, उन दोनों ने एक दूसरे को अपनी-अपनी कथा सुनाकर प्रसन्नता प्राप्त की। उन्होंने भगवती गौरी को प्रणाम किया और वे तीनों अपने इष्ट स्थान की ओर चल पड़े।।४९।।

राह में जाती हुई मदनसुन्दरी ने देखा कि उसने मस्तकों की अदला-बदली कर दी है। तब वह घबरा गई और समझ न सकी कि उसे क्या करना चाहिए।।५०।।

वेताल ने पूछा—"राजन्! अब यह बतलाओ कि शरीरों के इस प्रकार मिल जाने पर उसका पति कौन है? जानते हुए भी यदि तुम न बतलाओगे, तो तुम पर पहले कहा हुआ शाप पड़ेगा"।।५१।।

इस तरह वेताल की कथा और उसका प्रश्न सुनकर, राजा त्रिविक्रमसेन ने उससे यों कहा—"उन दोनों में से जिस शरीर पर उसके पति का मस्तक था, वही उसका पति है; क्योंकि मस्तक ही अंगों में प्रधान है और उसीसे मनुष्य की पहचान होती है।।५२-५३।।

राजा के ऐसा कहने पर, वह वेताल फिर उनके कन्धे से उतरकर चुपचाप चला गया और राजा भी उसे फिर से ले आने के लिए चल पड़े।।५४।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का त्रयोदश तरंग समाप्त।

चतुर्दश तरंग

सप्तम वेताल : सत्त्वशील की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने पुनः शिंशपा-वृक्ष के समीप जाकर वेताल को पाया और उसे कन्धे पर उठा लिया।।१।।

उसे लेकर जब वे वहाँ से चले, तब मार्ग में वह वेताल बोला—"राजन्! सुनो। मैं तुम्हारी थकावट दूर करने के लिए एक कथा कहता हूँ।।२।।

पूर्वसागर के तट पर ताम्रलिप्ति नाम की एक नगरी है। पुराने समय में वहाँ चण्डसेन नाम का एक राजा था।।३।।

वह राजा परस्त्रियों से मुँह फेरे रहता था, पर रणभूमि से नहीं। वह अपने शत्रुओं की लक्ष्मी छीन लेता था; किन्तु पराये द्रव्य या सम्पत्ति को हाथ न लगाता था।।४।।

एक बार उस राजा की ड्योढ़ी पर, दक्षिण का सत्त्वशील नामक एक लोकप्रिय राजकुमार आया। उसने राजा के पास अपने आने की सूचना भिजवाई और अपने अन्य साथियों के सहित उनके सम्मुख जाकर, अपनी निर्धनता दिखाने के लिए, चीथड़े फाड़े।।५-६।।

ततः कार्पटिको भूत्वा बहून्यब्दानि तत्र सः।
तस्थौ कुर्वन्सदा सेवां नैव प्राप फलं नृपात् ॥७॥
यदि राजान्वये जन्म निर्धनत्वं किमीदृशम्।
निर्धनत्वेऽपि किं धात्रा कृतेयं मे महेच्छता ॥८॥
अयं हि सेवमानं मामेवं क्लिष्टपरिच्छदम्।
चिरं क्षुधावसीदन्तं राजा नाद्यापि वीक्षते ॥९॥
इति यावच्च स ध्यायत्यत्र कार्पटिकस्ततः।
तावदाखेटकार्थं स निरगादेकदा नृपः ॥१०॥
तस्मिन्कार्पटिके धावत्यग्रे लगुडवाहिनि।
जगाम चाश्वपादातयुतः सोऽथ मृगाटवीम् ॥११॥
कृताखेटश्च तत्रारान्महान्तं मत्तसूकरम्।
अनुधावन्क्षणात्प्रापदतिदूरं वनान्तरम् ॥१२॥
तत्र पर्णतृणच्छन्नमार्गे हारितसूकरः।
श्रान्तो महावने सोऽथ राजा दिङ्मोहमाययौ ॥१३॥
एकः कार्पटिकश्चाथ स तं वाताश्वपृष्ठगम्।
प्राणानपेक्षोऽनुययौ पदातिः क्षुत्तृषार्दितः ॥१४॥
तं च दृष्ट्वा तथाभूतमन्वायातं स भूपतिः।
सस्नेहमवदत्कच्चिद्वेत्सि मार्गं यथागतम् ॥१५॥
तदाकर्ण्याञ्जलिं वद्ध्वा स तं कार्पटिकोऽभ्यधात्।
वेद्मि किं च क्षणं तावदिह विश्राम्यतु प्रभुः ॥१६॥
द्युवधूमेखलामध्यमणिरेष हि सम्प्रति।
देदीप्यते स्फुरद्रश्मिशिखाजालोऽब्जिनीपतिः ॥१७॥
एतच्छ्रुत्वा स राजा तं सोपरोधमभाषत।
तर्हि क्वापीह पानीयं भवता प्रेक्ष्यतामिति ॥१८॥
तथेत्यारुह्य स ततस्तुङ्गं कार्पटिकस्तरुम्।
नदीं दृष्ट्वावरुह्याथ नृपं तत्र निनाय तम् ॥१९॥
तद्वाहं च विपर्याणीकृतं कृतविवर्त्तनम्।
दत्ताम्बुशष्पकवलं विदधे विगतश्रमम् ॥२०॥
कृतस्नानाय राज्ञे च प्रोन्मुच्य वसनाञ्चलात्।
प्रक्षाल्योपानयत्तस्मै हृद्यान्यामलकानि सः ॥२१॥

वहाँ प्रत्याशी बनकर वह अनेक वर्षों तक राजा की सेवा करता रहा, लेकिन राजा से कोई पुरस्कार न पा सका ॥७॥

तब उसने सोचा—"राजकुल में जन्म पाने पर भी मैं इतना दरिद्र क्यों हूँ ? और, दरिद्र होने पर भी विधाता ने मेरे मन में इतनी महत्त्वाकांक्षा क्यों दी है ? मैं अपने साथियों के साथ इस प्रकार राजा की सेवा कर रहा हूँ और भूख से कष्ट पा रहा हूँ, फिर भी राजा ने हमारी ओर आँख उठाकर नहीं देखा ॥८-९॥

प्रत्याशी ये बातें सोच ही रहा था कि एक दिन राजा आखेट के लिए निकला ॥१०॥

घोड़ों और पैदल चलनेवालों के साथ वह राजा आखेट-वन में गया। वह प्रत्याशी भी, हाथ में एक डण्डा लेकर, उसके आगे-आगे दौड़ रहा था ॥११॥

आखेट करते हुए राजा ने, उस वन में, एक विशाल और मतवाले सुअर का दूर से पीछा किया। उसका पीछा करता हुआ वह बहुत दूर, एक दूसरे वन में जा पहुँचा ॥१२॥

वहाँ घास-पात से ढके मैदान में सुअर खो गया और थके हुए राजा को, उस महावन में, दिशा-भ्रम हो गया ॥१३॥

हवा से बातें करनेवाले घोड़े पर सवार राजा के पीछे-पीछे भूख और प्यास से विकल, अकेला वह प्रत्याशी ही, पाँव-प्यादा वहाँ तक पहुँचा था ॥१४॥

वैसी हालत में भी अपने पीछे आये प्रत्याशी को देखकर राजा ने स्नेहपूर्वक पूछा—"क्या तुम वह मार्ग जानते हो, जिससे हम यहाँ आये हैं ?" ॥१५॥

यह सुनकर प्रत्याशी ने हाथ जोड़े और कहा—"जी हाँ, मैं जानता हूँ; लेकिन अभी कुछ देर आप यहाँ विश्राम करें, क्यों कि अभी, आकाश-वधू की करधनी के मध्य की मणि के समान यह सूर्य, किरणों की तीखी लपटें चारों ओर फैलाता तप रहा है" ॥१६-१७॥

यह सुनकर उस राजा ने कृपापूर्वक उससे कहा—"तब देखो कि कहीं पानी मिल सकता है ?" ॥१८॥

"अच्छी बात है", कहकर वह प्रत्याशी एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गया, जहाँ से उसे एक नदी दीख पड़ी। वृक्ष से उतरकर वह राजा को वहाँ ले गया ॥१९॥

वहाँ जीन उतारकर उसने घोड़े को फेरा और घास खिलाकर तथा जल पिलाकर उसकी थकान दूर की ॥२०॥

राजा के स्नान कर लेने पर उसने अपने कपड़े की खूँट से कुछ मधुर आँवले निकाले और उन्हें धोकर राजा के सम्मुख उपस्थित किया ॥२१॥

ततोऽक्षताङ्गौ जीवन्तावुभावुत्तस्थतुश्च तौ।
शिरोविनिमयाज्जातसङ्करौ काययोर्मिथः ॥४८॥
अथान्योन्योदितस्वस्वयथावृत्तान्ततोषिणः ।
प्रणम्य देवीं शर्वाणीं यथेष्टं ते ययुस्त्रयः ॥४९॥
यान्ती च दृष्ट्वा स्वकृतं शिरोविनिमयं तयोः।
विग्ना किंकार्यतामूढा साभून्मदनसुन्दरी ॥५०॥
तद्ब्रूहि राजन्को भर्त्ता तस्याः सङ्कीर्णयोस्तयोः।
पूर्वोक्तः स्यात्स शापस्ते जानानो न ब्रवीषि चेत् ॥५१॥
इत्याकर्ण्य कथाप्रश्नं राजा वेतालतस्ततः।
स त्रिविक्रमसेनोऽत्र तमेवं प्रत्यभाषत ॥५२॥
यत्संस्थं तत्पतिशिरः सैष तस्याः पतिस्तयोः।
प्रधानं च शिरोऽङ्गेषु प्रत्यभिज्ञा च तद्गता ॥५३॥
इत्युक्तवतो नृपतेस्तस्यांसात्पुनरतर्कितः स ययौ।
वेतालः स च राजा जगाम भूयस्तमानेतुम् ॥५४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके त्रयोदश स्तरङ्गः।

चतुर्दशस्तरङ्गः

सप्तमो वेतालः। सत्त्वशीलस्य कथा

ततो गत्वा पुनः प्राप्य वेतालं शिंशपातरोः।
त त्रिविक्रमसेनस्तं स्कन्धे जग्राह भूपतिः ॥१॥
गृहीत्वा प्रस्थितं तं च वेतालः सोऽब्रवीत्पथि।
राजञ्श्रमविनोदार्थं कथामाख्यामि ते शृणु ॥२॥
अस्तीह ताम्रलिप्तीति पुरी पूर्वाम्बुधेस्तटे।
चण्डसेनाभिधानश्च राजा तस्यामभूत्पुरि ॥३॥
पराङमुखः परस्त्रीषु यो न सङ्ग्रामभूमिषु।
हर्त्ता च शत्रुलक्ष्मीणां न परद्रव्यसम्पदाम् ॥४॥
तस्यैकदा दाक्षिणात्यो राजपुत्रो जनप्रियः।
आययौ सत्त्वशीलाख्यः सिंहद्वारेऽत्र भूपतेः ॥५॥
तत्र चात्मानमावेद्य नैर्धन्यात्तं नृपं प्रति।
कर्पटं पाटयामास राजपुत्रैः सहापरैः ॥६॥

तब वे दोनों ही जीवित होकर उठ खड़े हुए। उनके शरीर में कहीं कटने-फटने का चिह्न नहीं था; लेकिन मस्तकों के बदल जाने से उन दोनों के शरीर में संकरता आ गई थी॥४८॥

अनन्तर, उन दोनों ने एक दूसरे को अपनी-अपनी कथा सुनाकर प्रसन्नता प्राप्त की। उन्होंने भगवती गौरी को प्रणाम किया और वे तीनों अपने इष्ट स्थान की ओर चल पड़े॥४९॥

राह में जाती हुई मदनसुन्दरी ने देखा कि उसने मस्तकों की अदला-बदली कर दी है। तब वह घबरा गई और समझ न सकी कि उसे क्या करना चाहिए॥५०॥

वेताल ने पूछा—"राजन्! अब यह बतलाओ कि शरीरों के इस प्रकार मिल जाने पर उसका पति कौन है? जानते हुए भी यदि तुम न बतलाओगे, तो तुम पर पहले कहा हुआ शाप पड़ेगा"॥५१॥

इस तरह वेताल की कथा और उसका प्रश्न सुनकर, राजा त्रिविक्रमसेन ने उससे यों कहा—"उन दोनों में से जिस शरीर पर उसके पति का मस्तक था, वही उसका पति है; क्योंकि मस्तक ही अंगों में प्रधान है और उसीसे मनुष्य की पहचान होती है॥५२-५३॥

राजा के ऐसा कहने पर, वह वेताल फिर उनके कन्धे से उतरकर चुपचाप चला गया और राजा भी उसे फिर से ले आने के लिए चल पड़े॥५४॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का त्रयोदश तरंग समाप्त।

चतुर्दश तरंग

सप्तम वेताल : सत्त्वशील की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने पुनः शिंशपा-वृक्ष के समीप जाकर वेताल को पाया और उसे कन्धे पर उठा लिया॥१॥

उसे लेकर जब वे वहाँ से चले, तब मार्ग में वह वेताल बोला—"राजन्! सुनो। मैं तुम्हारी थकावट दूर करने के लिए एक कथा कहता हूँ॥२॥

पूर्वसागर के तट पर ताम्रलिप्ति नाम की एक नगरी है। पुराने समय में वहाँ चण्डसेन नाम का एक राजा था॥३॥

वह राजा परस्त्रियों से मुँह फेरे रहता था, पर रणभूमि से नहीं। वह अपने शत्रुओं की लक्ष्मी छीन लेता था; किन्तु पराये द्रव्य या सम्पत्ति को हाथ न लगाता था॥४॥

एक बार उस राजा की ड्योढ़ी पर, दक्षिण का सत्त्वशील नामक एक लोकप्रिय राजकुमार आया। उसने राजा के पास अपने आने की सूचना भिजवाई और अपने अन्य साथियों के सहित उनके सम्मुख जाकर, अपनी निर्धनता दिखाने के लिए, चीथड़े फाड़े॥५-६॥

ततः कार्पटिको भूत्वा वहून्यब्दानि तत्र सः ।
तस्थौ कुर्वन्सदा सेवां नैव प्राप फलं नृपात् ॥७॥
यदि राजान्वये जन्म निर्धनत्वं किमीदृशम् ।
निर्धनत्वेऽपि किं धात्रा कृतेयं मे महेच्छता ॥८॥
अयं हि सेवमानं मामेवं क्लिष्टपरिच्छदम् ।
चिरं क्षुधावसीदन्तं राजा नाद्यापि वीक्षते ॥९॥
इति यावच्च स ध्यायत्यत्र कार्पटिकस्ततः ।
तावदाखेटकार्थं स निरगादेकदा नृपः ॥१०॥
तस्मिन्कार्पटिके धावत्यग्रे लगुडवाहिनि ।
जगाम चाश्वपादातयुतः सोऽथ मृगाटवीम् ॥११॥
कृताखेटश्च तत्रारान्महान्तं मत्तसूकरम् ।
अनुधावन्क्षणात्प्रापदतिदूरं वनान्तरम् ॥१२॥
तत्र पर्णतृणच्छन्नमार्गे हारितसूकरः ।
श्रान्तो महावने सोऽथ राजा दिङ्मोहमाययौ ॥१३॥
एकः कार्पटिकश्चाथ स तं वाताश्वपृष्ठगम् ।
प्राणानपेक्षोऽनुययौ पदातिः क्षुत्तृषार्दितः ॥१४॥
तं च दृष्ट्वा तथाभूतमन्वायातं स भूपतिः ।
सस्नेहमवदत्कच्चिद्वेत्सि मार्गं यथागतम् ॥१५॥
तदाकर्ण्याञ्जलिं वद्ध्वा स तं कार्पटिकोऽभ्यधात् ।
वेद्मि किं च क्षणं तावदिह विश्राम्यतु प्रभुः ॥१६॥
द्युवधूमेखलामध्यमणिरेष हि सम्प्रति ।
देदीप्यते स्फुरद्रश्मिशिखाजालोऽब्जिनीपतिः ॥१७॥
एतच्छ्रुत्वा स राजा तं सोपरोधमभाषत ।
तर्हि क्वापीह पानीयं भवता प्रेक्ष्यतामिति ॥१८॥
तथेत्यारुह्य स ततस्तुङ्गं कार्पटिकस्तरुम् ।
नदीं दृष्ट्वावरुह्याथ नृपं तत्र निनाय तम् ॥१९॥
तद्वाहं च विपर्याणीकृतं कृतविवर्त्तनम् ।
दत्ताम्बुशष्पकवलं विदधे विगतश्रमम् ॥२०॥
कृतस्नानाय राज्ञे च प्रोन्मुच्य वसनाञ्चलात् ।
प्रक्षाल्योपानयत्तस्मै हृद्यान्यामलकानि सः ॥२१॥

वहाँ प्रत्याशी बनकर वह अनेक वर्षों तक राजा की सेवा करता रहा, लेकिन राजा से कोई पुरस्कार न पा सका ॥७॥

तब उसने सोचा—"राजकुल में जन्म पाने पर भी मैं इतना दरिद्र क्यों हूँ? और, दरिद्र होने पर भी विधाता ने मेरे मन में इतनी महत्त्वाकांक्षा क्यों दी है? मैं अपने साथियों के साथ इस प्रकार राजा की सेवा कर रहा हूँ और भूख से कष्ट पा रहा हूँ, फिर भी राजा ने हमारी ओर आँख उठाकर नहीं देखा ॥८-९॥

प्रत्याशी ये बातें सोच ही रहा था कि एक दिन राजा आखेट के लिए निकला ॥१०॥

घोड़ों और पैदल चलनेवालों के साथ वह राजा आखेट-वन में गया। वह प्रत्याशी भी, हाथ में एक डण्डा लेकर, उसके आगे-आगे दौड़ रहा था ॥११॥

आखेट करते हुए राजा ने, उस वन में, एक विशाल और मतवाले सुअर का दूर से पीछा किया। उसका पीछा करता हुआ वह बहुत दूर, एक दूसरे वन में जा पहुँचा ॥१२॥

वहाँ घास-पात से ढके मैदान में सुअर खो गया और थके हुए राजा को, उस महावन में, दिशा-भ्रम हो गया ॥१३॥

हवा से बातें करनेवाले घोड़े पर सवार राजा के पीछे-पीछे भूख और प्यास से विकल, अकेला वह प्रत्याशी ही, पाँव-प्यादा वहाँ तक पहुँचा था ॥१४॥

वैसी हालत में भी अपने पीछे आये प्रत्याशी को देखकर राजा ने स्नेहपूर्वक पूछा—"क्या तुम वह मार्ग जानते हो, जिससे हम यहाँ आये हैं?" ॥१५॥

यह सुनकर प्रत्याशी ने हाथ जोड़े और कहा—"जी हाँ, मैं जानता हूँ; लेकिन अभी कुछ देर आप यहाँ विश्राम करें, क्यों कि अभी, आकाश-वधू की करधनी के मध्य की मणि के समान यह सूर्य, किरणों की तीखी लपटें चारों ओर फैलाता तप रहा है" ॥१६-१७॥

यह सुनकर उस राजा ने कृपापूर्वक उससे कहा—"तब देखो कि कहीं पानी मिल सकता है?" ॥१८॥

"अच्छी बात है", कहकर वह प्रत्याशी एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गया, जहाँ से उसे एक नदी दीख पड़ी। वृक्ष से उतरकर वह राजा को वहाँ ले गया ॥१९॥

वहाँ जीन उतारकर उसने घोड़े को फेरा और घास खिलाकर तथा जल पिलाकर उसकी थकान दूर की ॥२०॥

राजा के स्नान कर लेने पर उसने अपने कपड़े की खूँट से कुछ मधुर आँवले निकाले और उन्हें धोकर राजा के सम्मुख उपस्थित किया ॥२१॥

एतानि कुत इत्येतं पृच्छन्तं स च भूपतिम् ।
एवं व्यजिज्ञपज्जानुस्थितः सामलकाञ्जलिः ॥२२॥
एतद्वृत्तिरहं नित्यं व्यतीतदशवत्सरः ।
चराम्याराधयन्देवमनेकान्तमुनिव्रतम् ॥२३॥
तच्छ्रुत्वा सत्यनामा त्वं सत्त्वशीलः किमुच्यते ।
इत्युक्त्वा स कृपाक्रान्तो ह्रीतश्चाचिन्तयन्नृपः ॥२४॥
धिङ नृपान्क्लिष्टमक्लिष्टं ये भृत्येषु न जानते ।
धिक् च तं परिवारं यो न ज्ञापयति तांस्तथा ॥२५॥
इति सञ्चिन्त्य जग्राह स राजामलकद्वयम् ।
हस्तात्कार्पटिकस्याथ कथञ्चिदनुबध्नतः ॥२६॥
भुक्त्वा च तन्निपोयाम्बु विशश्रामात्र स क्षणम् ।
जग्धामलकसम्पीतजलकार्पटिकान्वितः ॥२७॥
ततः सज्जीकृतं तेन वाहं कार्पटिकेन सः ।
आरुह्याग्रेसरे तस्मिन्नेव मार्गप्रदर्शिनि ॥२८॥
पश्चाद्भागमनारूढे हयस्याभ्यर्थितेऽप्यलम् ।
ययौ स राजा स्वपुरीं पथि प्राप्तात्मसैनिकः ॥२९॥
तत्र प्रख्याप्य तद्भक्तिं वसुभिर्विषयैश्च तम् ।
अपूरयत्कार्पटिकं न चामन्यत निष्कृतिम् ॥३०॥
ततः कृतार्थः पार्श्वेऽस्य चण्डसिंहस्य भूपतेः ।
मुक्तकार्पटिकाचारः सत्त्वशीलः स तस्थिवान् ॥३१॥
एकदा तेन राज्ञा च स सिंहलपतेः सुताम् ।
याचितुं सिंहलद्वीपमात्मार्थं प्रेषितोऽभवत् ॥३२॥
तत्राब्धिवर्त्मना गच्छन्नर्चिताभीष्टदेवतः ।
आरुरोह प्रवहणं राजादिष्टैः सह द्विजैः ॥३३॥
गते तस्मिन्प्रवहणे मध्यभागमशङ्कितम् ।
उत्तस्थौ जलधेस्तस्माद्ध्वजो जनितविस्मयः ॥३४॥
अभ्रंलिहाग्रः सुमहाञ्जाम्बूनदविनिर्मितः ।
विचित्रवर्णविचलद्वैजयन्ताविराजितः ॥३५॥
तत्कालं चात्र सहसा समुन्नम्य घनावली ।
भृशं वर्षितुमारेभे ववौ तीव्रश्च मारुतः ॥३६॥

जब राजा ने पूछा कि 'इन्हें कहाँ से ले आये', तब अपनी अंजलि में आँवले लिये हुए वह घुटनों के बल बैठ गया और राजा से बोला—"मैं पिछले दस वर्षों से इन आँवलों पर ही निर्वाह करता हुआ बौद्धमुनि का व्रत धारण करके आपकी अराधना कर रहा हूँ" ॥२२-२३॥

"इसमें सन्देह नहीं कि सच्चे अर्थों में तुम्हारा नाम सत्त्वशील है।" ऐसा कहकर कृपा-परवश और लज्जित उस राजा ने सोचा—"उन राजाओं को धिक्कार है, जो अपने सेवकों का सुख-दुःख नहीं जानते और उनके उस परिश्रम को भी धिक्कार है, जो उनकी वैसी स्थिति राजा को नहीं बतलाते" ॥२४-२५॥

यह सोचकर, प्रत्याशी के बहुत कहने-सुनने पर राजा ने उसके हाथ से, किसी तरह, दो आँवले लेकर खाये और जल पिया। अनन्तर, प्रत्याशी ने भी आँवले खाकर जल पिया और उसके साथ राजा ने वहाँ कुछ देर विश्राम किया ॥२६-२७॥

तब उस प्रत्याशी ने.घोड़े पर जीन कसी और राजा को उसपर सवार कराया। वह स्वयं राह दिखाता हुआ आगे-आगे चला ॥२८॥

राजा के बहुत कहने पर भी वह उसके घोड़े के पीछे नहीं बैठा। रास्ते में राजा के पिछड़े हुए सैनिक भी मिल गये और सबको साथ लेकर वे अपनी राजधानी लौट गये ॥२९॥

राजधानी में पहुँचकर राजा ने उसकी स्वामिभक्ति का वृत्तांत सबको सुनाया और उस प्रत्याशी को भरपूर धन और धरती देकर भी अपने को उऋण नहीं माना ॥३०॥

इस तरह सत्त्वशील कृतार्थ हुआ। प्रत्याशी का रूप छोड़कर वह राजा चण्डसिंह के निकट रहने लगा ॥३१॥

एक बार राजा ने अपने लिए सिंहल-नरेश की कन्या माँगने के हेतु उसे सिंहलद्वीप भेजा। ॥३२॥

समुद्र-मार्ग से जाने के लिए उसने अभीष्ट देवता का पूजन किया और राजा की आज्ञा से ब्राह्मणों के सहित जहाज पर सवार हुआ।३३॥

जहाज जब समुद्र के आधे मार्ग में पहुँचा, तब सबको अचरज में डालते हुए उस समुद्र के भीतर से एक ध्वज ऊपर उठा ॥३४॥

वह ध्वज आकाश को चूमनेवाला था। उसका दण्ड सोने से बना हुआ था और उस पर रंग-विरंगी पताकाएँ फहरा रही थीं ॥३५॥

अचानक ही, उसी समय, आकाश में घटाएँ घिर आईं, मुसलाधार वर्षा होने लगी और तेज हवा चलने लगी ॥३६॥

तैर्वर्षवातैः स वलादाकृष्याधोरणैरिव ।
आसज्यत ध्वजस्तम्भे तस्मिन्प्रवहणद्विपः ॥३७॥
तावच्च स ध्वजस्तस्मिन्वारिधौ वीचिविप्लुते ।
वहनेन समं तेन प्रावर्त्तत निमज्जितुम् ॥३८॥
ततो द्विजास्ते तत्रस्थाश्चण्डसिंहं स्वभूपतिम् ।
उद्दिश्योद्घोषयामासुरब्रह्मण्यं भयाकुलाः ॥३९॥
तदाकर्ण्यासहिष्णुश्च स्वामिभक्तेरनुध्वजम् ।
स सत्त्वशीलो निस्त्रिंशहस्ते वद्धोत्तरीयकः ॥४०॥
आत्मानमक्षिपत्तत्र निरपेक्षो महोदधौ ।
उदधेः कारणाशङ्की वीरः प्रतिविधित्सया ॥४१॥
मग्ने च तस्मिन्वातोर्मिदूरोत्क्षिप्तमभज्यत ।
वहनं तच्च तत्स्थाश्च निपेतुर्यादसां मुखे ॥४२॥
स च मग्नोऽम्बुधौ तत्र सत्त्वशीलो निरीक्षते ।
यावत्तावद्ददर्शात्र पुरीं दिव्यां न वारिधिम् ॥४३॥
तस्मिन्मणिमयस्तम्भैर्भास्वरे हेममन्दिरे ।
सद्रत्नवद्धसोपानवापिकोद्यानशोभिनि ॥४४॥
नानामणिशिलाभित्तिरत्नचित्रोच्छ्रितध्वजम् ।
कात्यायनीदेवगृहं मेरुप्रोन्नतमैक्षत ॥४५॥
तत्र प्रणम्य देवीं तां स्तुत्याभ्यर्च्य तदग्रतः ।
इन्द्रजालं किमेतत्स्यादित्याश्चर्यादुपाविशत् ॥४६॥
तावच्च देव्यग्रगतप्रभामण्डलकान्तरात् ।
अकस्मान्निरगात्कन्या दिव्योद्घाट्य कवाटकम् ॥४७॥
इन्दीवराक्षी फुल्लाब्जवदना कुसुमस्मिता ।
मृणालनालमृद्वङ्गी जङ्गमेव सरोजिनी ॥४८॥
स्त्रीसहस्रपरीवारा देवीगर्भगृहं च सा ।
विवेश सत्त्वशीलस्य हृदयं च ततः समम् ॥४९॥
निरगात्कृतपूजा च देवीगर्भगृहात्ततः ।
न पुनः सत्त्वशीलस्य हृदयात्सा कथञ्चन ॥५०॥
प्राविशत्सा च तत्रैव प्रभामण्डलकान्तरे ।
सत्त्वशीलोऽप्यसौ तस्याः पश्चात्तत्र प्रविष्टवान् ॥५१॥

जैसे हाथी को बलपूर्वक खींचकर बाँधते हैं, उसी प्रकार वर्षा और वायु के द्वारा बलात् खिंचकर वह जहाज ध्वज-स्तम्भ से जा बँधा ।।३७।।

इसके बाद जहाज के सहित वह ध्वज-स्तम्भ तरंगों से क्षुब्ध समुद्र में धीरे-धीरे डूबने लगा ।।३८।।

उस जहाज पर जो ब्राह्मण थे, वे भयभीत होकर अपने राजा चण्डसिंह को पुकारते हुए चिल्लाने लगें कि 'यह तो बड़ा अनर्थ हो रहा है' ।।३९।।

यह रोना-चिल्लाना सत्त्वशील से सहा नहीं गया। वह स्वामिभक्त हाथ में तलवार लेकर और अपने वस्त्र समेटकर, ध्वज के निकट, समुद्र में कूद पड़ा। वास्तविक कारण न जानने पर भी समुद्र के इस उपद्रव का प्रतीकार करने के लिए उसने अपने प्राणों की बाजी लगा दी ।।४०-४१।।

सत्त्वशील जब समुद्र में कूद पड़ा, तब वायु और लहरों ने जहाज को दूर फेंक दिया। वहाँ वह खण्ड-खण्ड हो गया और उसपर बैठे लोग भयंकर जलचरों के मुँह में जा पड़े ।।४२।।

सत्त्वशील ने समुद्र में डुबकी लगाने के बाद जब चारों ओर देखा, तब वहाँ समुद्र के बदले एक सुन्दर नगरी दीख पड़ी।।४३।।

उस नगरी में मणियों के खम्भोंवाले चमकते स्वर्ण-भवन थे, उत्तम रत्न-जटित सीढ़ियोंवाली वापिकाएँ थीं और शोभाशाली उद्यान थे ।।४४।।

वहाँ उसने मेरु पर्वत के समान ऊँचा कात्यायनी देवी का मन्दिर देखा, जिसकी दीवारें अनेक प्रकार की मणियों से बनी थीं और जिसके ध्वज में अनेक वर्णों के रत्न टँके थे ।।४५।।

वहाँ देवी को प्रणाम करके और स्तुतिपूर्वक उनका पूजन करके वह आश्चर्य से यह सोचता हुआ कि 'यह कैसा इन्द्रजाल है' देवी के सम्मुख बैठ गया ।।४६।।

इसी समय किवाड़ खोलकर देवी के आनेवाले प्रभा-मण्डल से अचानक ही एक अलौकिक कन्या निकल आई ।।४७।।

उसकी आँखें इन्दीवर के समान थीं, शरीर खिले हुए कमल के समान था, हँसी सुमनों की तरह थी और उसके अंग कमल-नाल के समान कोमल थे। वह चलती-फिरती कमलिनी के समान थी ।।४८।।

एक हजार स्त्रियों से घिरी हुई वह कन्या देवी-मन्दिर के भीतरी प्रकोष्ठ में चली गई और सत्त्वशील का हृदय भी उसी के साथ चला गया ।।४९।।

पूजा करने के अनन्तर वह कन्या देवी के भीतरी प्रकोष्ठ से पुनः बाहर निकल आई, किन्तु सत्त्वशील के हृदय से किसी तरह न निकल सकी ।।५०।।

वह फिर उसी प्रभा-मण्डल के भीतर चली गई। सत्त्वशील ने भी उसके पीछे-पीछे उसमें प्रवेश किया ।।५१।।

प्रविश्य च ददर्शान्तरन्यदेवोत्तमं पुरम् ।
सङ्केतोद्यानमिव यत्सर्वासां भोगसम्पदाम् ॥५२॥

तत्रान्तर्मणिपर्यङ्कनिषण्णां तां विलोक्य सः ।
कन्यामुपेत्य तत्पार्श्वे सत्त्वशील उपाविशत् ॥५३॥

आसीच्च तन्मुखासक्तलोचनो लिखितो यथा ।
अङ्गैः सोत्कम्पपुलकैर्वदन्नालिङ्गनोत्कताम् ॥५४॥

दृष्ट्वा च तं स्मराविष्टं चेटानामत्र सा मुखम् ।
अद्राक्षीत्ताश्च तत्कालमिङ्गितज्ञास्तमब्रुवन् ॥५५॥

अतिथिस्त्वमिह प्राप्तस्तदस्मत्स्वामिनीकृतम् ।
भजस्वातिथ्यमुत्तिष्ठ स्नाहि भुङ्क्ष्व ततः परम् ॥५६॥

तच्छ्रुत्वा सोऽवलब्याशां कथमप्युत्थितस्ततः ।
ययौ प्रदर्शितां ताभिरेकामुद्यानवापिकाम् ॥५७॥

तस्यां निमग्नश्चोत्तस्थौ ताम्रलिप्त्यां स तत्क्षणात् ।
चण्डसिंहनृपोद्यानवापीमध्यात्ससम्भ्रमः ॥५८॥

तत्र प्राप्तमकस्माच्च वीक्ष्यात्मानमचिन्तयत् ।
अहो किमेतत्क्वोद्यानमिदं दिव्यं क्व तत्पुरम् ॥५९॥

तत्रामृतासारसमं क्व तत्तस्याश्च दर्शनम् ।
क्व चानन्तरमेवेदं तद्विश्लेषमहाविषम् ॥६०॥

स्वप्नश्च नायं सुस्पष्टो विनिद्रोऽनुभवो हि मे ।
ध्रुवं पातालकन्याभिस्ताभिर्मूढोऽस्मि वञ्चितः ॥६१॥

इति ध्यायन्विना तां स कन्यामुन्मादवानिव ।
उद्याने तत्र बभ्राम कामार्त्तो विललाप च ॥६२॥

तदवस्थं च तं दृष्ट्वा पिशङ्गैः पुष्परेणुभिः ।
वातोद्धृतैः परीताङ्गं विप्रयोगानलैरिव ॥६३॥

उद्यानपाला गत्वैव चण्डसिंहमहीभृतम् ।
व्यजिज्ञपन्स चोद्भ्रान्तः स्वयमेत्य ददर्श तम् ॥६४॥

सान्त्वयित्वा च पप्रच्छ किमिदं ब्रूहि नः सखे ।
क्व प्रस्थितस्त्वं क्व प्राप्तः क्वास्तः क्व पतितः शरः ॥६५॥

उसमें प्रवेश करके सत्त्वशील ने देवताओं के योग्य एक दूसरा नगर देखा। वह नगर मानों समस्त भोग-सम्पदाओं के मिलन-उद्यान के समान था॥५२॥

वहाँ उसने उस कन्या को एक मणि-पर्यंक पर बैठी हुई देखा। सत्त्वशील भी आगे बढ़कर उसके पास ही बैठ गया॥५३॥

चित्रलिखा-सा सत्त्वशील, टकटकी लगाकर उस कन्या को देखने लगा। उसके अंग काँप रहे थे और शरीर रोमांचित हो रहा था, जिससे आलिंगन की उसकी उत्कण्ठा प्रकट होती थी। ॥५४॥

सत्त्वशील को इस प्रकार कामातुर देखकर उस कन्या ने अपनी दासियों के मुँह की ओर देखा। उसका इशारा समझनेवाली दासियों ने तुरन्त ही कहा—"आप यहाँ अतिथि होकर पधारे हैं, अतः हमारी स्वामिनी का अतिथ्य ग्रहण कीजिए। उठिए, चलकर स्नान कर लीजिए और उसके बाद भोजन कीजिए॥५५-५६॥

यह सुनकर उसे आशा बँधी और वह किसी तरह वहाँ से उठा। वहाँ से वह उन दासियों के द्वारा दिखलाई एक उद्यान-वापी में गया॥५७॥

उस वापी में उसने डुबकी तो लगाई, लेकिन जब ऊपर आया, तब उसने देखा कि वह ताम्रलिप्ति में, राजा चण्डसिंह के उद्यान की एक वापी में से घबराया हुआ-सा ऊपर उठ रहा है। ॥५८॥

अचानक अपने को वहाँ पहुँचा हुआ देखकर वह सोचने लगा--"अरे! कहाँ यह उद्यान और कहाँ वह अलौकिक नगरी! सुधा-सार के समान कहाँ उसका वह दर्शन और कहाँ उसके बाद उसके वियोग का यह महाविष! यह स्वप्न भी नहीं है; क्योंकि मैंने जागते हुए, स्पष्ट रूप से वह अनुभव पाया था। निश्चय ही पाताल की उन कन्याओं के द्वारा मैं मूर्ख बनाया गया हूँ" ॥५९—६१॥

यह सोचता हुआ, उस कन्या के विना वह पागलों-जैसा हो गया और कामार्त्त होकर उस उद्यान में घूमने तथा विलाप करने लगा॥६२॥

वायु से उड़ते पीले पुष्प-पराग के पड़ने से उसका शरीर ऐसा लग रहा था, मानों वह वियोग की अग्नि से जल रहा हो। उसे वैसी स्थिति में देखकर मालियों ने जाकर राजा को उसके पागलपन की खबर दी। राजा चण्डसिंह ने घबराकर स्वयं जाकर उसे देखा॥६३-६४॥

राजा ने उसे सान्त्वना देकर पूछा—"मित्र! तुम्हें क्या हो गया है, यह मुझे बतलाओ। तुम कहाँ के लिए चले थे और कहाँ आ पहुँचे! तीर कहाँ मारा गया था, और वह कहाँ जा लगा!"॥६५॥

तच्छ्रुत्वा स स्ववृत्तान्तं तस्मै सर्वं शशंस तम् ।
सत्त्वशीलो नृपतये सोऽप्यथैवमचिन्तयत् ॥६६॥
हन्त वीरोऽपि मत्पुण्यैः कामेनैष विडम्बितः ।
आनृण्यं गन्तुमेतस्य लब्धो ह्यवसरो मया ॥६७॥
इत्यन्तश्चिन्तयित्वा स वीरो राजा जगाद तम् ।
तर्हि मुञ्च मुधा शोकमहं त्वां प्रापयामि ताम् ॥६८॥
नीत्वा तेनैव मार्गेण प्रियामसुरकन्यकाम् ।
इति चाश्वासयामास तं स स्नानादिना नृपः ॥६९॥
अन्येद्युर्मन्त्रिविन्यस्तराज्यस्तेन समं च सः ।
प्रायात्प्रवहणारूढस्तद्दर्शितपथोऽम्बुधिम् ॥७०॥
प्राप्य तन्मध्यभागं च दृष्ट्वा तं प्राग्वदुत्थितम् ।
सपताकं ध्वजं सत्त्वशीलस्तं नृपमभ्यधात् ॥७१॥
सोऽयमभ्युत्थितो दिव्यप्रभावोऽत्र महाध्वजः ।
मयि मग्नेऽत्र मङ्क्तव्यं देवेनैतमनुध्वजम् ॥७२॥
इत्युक्त्वा निकटं प्राप्य ध्वजस्यास्य निमज्जतः ।
मार्गे स सत्त्वशीलोऽसौ पूर्वमात्मानमक्षिपत् ॥७३॥
ततो राजापि चिक्षेप तत्रात्मानं तथैव सः ।
अन्तर्मग्नौ च तौ क्षिप्तं तद्दिव्यं प्रापतुः पुरम् ॥७४॥
तत्र दृष्ट्वा स साश्चर्यो राजा देवीं प्रणम्य ताम् ।
पार्वतीं सत्त्वशीलेन सहितः समुपाविशत् ॥७५॥
तावच्च निरगात्तत्र सा सखीजनसङ्गता ।
रूपिणीव प्रभा कन्या प्रभामण्डलकात्ततः ॥७६॥
इयं सा सुमुखीत्युक्ते सत्त्वशीलेन तां नृपः ।
दृष्ट्वा युक्तमभिष्वङ्गं तस्य तस्याममन्यत ॥७७॥
सापि तं वीक्ष्य राजानं शुभशारीरलक्षणम् ।
पुरुषातिशयोऽपूर्वः कोऽयं स्यादित्यचिन्तयत् ॥७८॥
विवेश चाम्बिकाधाम पूजायै सा नृपोऽपि सः ।
जगामोद्यानमादाय सत्त्वशालमवज्ञया ॥७९॥

यह सुनकर उसने राजा को अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब राजा ने सोचा—'हाय, हाय! यद्यपि यह वीर है, फिर भी मेरे ही पुण्य से इसे काम ने इस तरह सताया है। मुझे इससे उऋण होने का अवसर मिला है" ॥६६-६७॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर उस वीर राजा ने सत्त्वशील से कहा—"तब फिर तुम व्यर्थ का यह शोक मत करो। मैं तुम्हें उसी मार्ग से ले जाकर तुम्हारी प्रिया उस असुरकन्या के पास पहुँचा ूँगा।" इस प्रकार, राजा ने स्नान आदि कराकर उसे आश्वासन दिया॥६८-६९॥

अगले दिन, मन्त्री को राज्य-भार सौंपकर और जहाज पर सवार होकर, सत्त्वशील के बतलाये मार्ग से, राजा ने समुद्र-यात्रा की॥७०॥

बीच समुद्र में पहुँचकर सत्त्वशील ने, पहले की ही तरह, पताका के साथ ध्वज को ऊपर उठता देखकर राजा से कहा––"यही वह दिव्य प्रभाववाला महाध्वज उठ रहा है। ध्वज के पास जब मैं कूद पड़ूँ, तब आप भी वहीं कूद जाइएगा" ॥७१-७२॥

यह कहकर वे ध्वज के निकट गये और जब वह डूबने लगा, तब बीच में ही पहले सत्त्वशील समुद्र में कूद पड़ा॥७३॥

अनन्तर, राजा भी उसी प्रकार समुद्र में कूदे। डुबकी लगाने के बाद वे उसी दिव्य नगर में जा पहुँचे। वहाँ राजा ने आश्चर्यपूर्वक देखते हुए देवी पार्वती को प्रणाम किया और वह सत्त्वशील के साथ वहीं बैठ गया॥७४-७५॥

इसी समय उस प्रभा-मण्डल से अपनी सखियों के सहित रूप धारण करनेवाली शोभा के समान वह कन्या निकली॥७६॥

सत्त्वशील ने जब यह बताया कि 'यही वह सुन्दरी है', तब राजा ने मान लिया कि उसमें सत्त्वशील की प्रीति उचित ही है॥७७॥

उस कन्या ने भी राजा के शरीर के शुभ लक्षणों को देखकर सोचा कि 'पुरुषों में श्रेष्ठ यह अपूर्व व्यक्ति कौन है?'॥७८॥

वह कन्या जब अम्बिका के मन्दिर में पूजन करने के लिए गई, तब राजा उपेक्षापूर्वक सत्त्वशील को लेकर उद्यान में चला गया॥७९॥

तच्छ्रुत्वा स स्ववृत्तान्तं तस्मै सर्वं शशंस तम् ।
सत्त्वशीलो नृपतये सोऽप्यथैवमचिन्तयत् ॥६६॥
हन्त वीरोऽपि मत्पुण्यैः कामेनैष विडम्बितः ।
आनृण्यं गन्तुमेतस्य लब्धो ह्यवसरो मया ॥६७॥
इत्यन्तश्चिन्तयित्वा स वीरो राजा जगाद तम् ।
तर्हि मुञ्च मुधा शोकमहं त्वां प्रापयामि ताम् ॥६८॥
नीत्वा तेनैव मार्गेण प्रियामसुरकन्यकाम् ।
इति चाश्वासयामास तं स स्नानादिना नृपः ॥६९॥
अन्येद्युर्मन्त्रिविन्यस्तराज्यस्तेन समं च सः ।
प्रायात्प्रवहणारूढस्तद्दर्शितपथोऽम्बुधिम् ॥७०॥
प्राप्य तन्मध्यभागं च दृष्ट्वा तं प्राग्वदुत्थितम् ।
सपताकं ध्वजं सत्त्वशीलस्तं नृपमभ्यधात् ॥७१॥
सोऽयमभ्युत्थितो दिव्यप्रभावोऽत्र महाध्वजः ।
मयि मग्नेऽत्र मङ्क्तव्यं देवेनैतमनुध्वजम् ॥७२॥
इत्युक्त्वा निकटं प्राप्य ध्वजस्यास्य निमज्जतः ।
मार्गे स सत्त्वशीलोऽसौ पूर्वमात्मानमक्षिपत् ॥७३॥
ततो राजापि चिक्षेप तत्रात्मानं तथैव सः ।
अन्तर्मग्नौ च तौ क्षिप्तं तद्दिव्यं प्रापतुः पुरम् ॥७४॥
तत्र दृष्ट्वा स साश्चर्यो राजा देवीं प्रणम्य ताम् ।
पार्वतीं सत्त्वशीलेन सहितः समुपाविशत् ॥७५॥
तावच्च निरगात्तत्र सा सखीजनसङ्गता ।
रूपिणीव प्रभा कन्या प्रभामण्डलकात्ततः ॥७६॥
इयं सा सुमुखीत्युक्ते सत्त्वशीलेन तां नृपः ।
दृष्ट्वा युक्तमभिष्वङ्गं तस्य तस्याममन्यत ॥७७॥
सापि तं वीक्ष्य राजानं शुभशारीरलक्षणम् ।
पुरुषातिशयोऽपूर्वः कोऽयं स्यादित्यचिन्तयत् ॥७८॥
विवेश चाम्बिकाधाम पूजायै सा नृपोऽपि सः ।
जगामोद्यानमादाय सत्त्वशीलमवज्ञया ॥७९॥

यह सुनकर उसने राजा को अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब राजा ने सोचा—"हाय, हाय! यद्यपि यह वीर है, फिर भी मेरे ही पुण्य से इसे काम ने इस तरह सताया है। मुझे इससे उऋण होने का अवसर मिला है"॥६६-६७॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर उस वीर राजा ने सत्त्वशील से कहा—"तब फिर तुम व्यर्थ का यह शोक मत करो। मैं तुम्हें उसी मार्ग से ले जाकर तुम्हारी प्रिया उस असुरकन्या के पास पहुँचा दूँगा।" इस प्रकार, राजा ने स्नान आदि कराकर उसे आश्वासन दिया॥६८-६९॥

अगले दिन, मन्त्री को राज्य-भार सौंपकर और जहाज पर सवार होकर, सत्त्वशील के बतलाये मार्ग से, राजा ने समुद्र-यात्रा की॥७०॥

बीच समुद्र में पहुँचकर सत्त्वशील ने, पहले की ही तरह, पताका के साथ ध्वज को ऊपर उठता देखकर राजा से कहा—"यही वह दिव्य प्रभाववाला महाध्वज उठ रहा है। ध्वज के पास जब मैं कूद पड़ूँ, तब आप भी वहीं कूद जाइएगा"॥७१-७२॥

यह कहकर वे ध्वज के निकट गये और जब वह डूबने लगा, तब बीच में ही पहले सत्त्वशील समुद्र में कूद पड़ा॥७३॥

अनन्तर, राजा भी उसी प्रकार समुद्र में कूदे। डुबकी लगाने के बाद वे उसी दिव्य नगर में जा पहुँचे। वहाँ राजा ने आश्चर्यपूर्वक देखते हुए देवी पार्वती को प्रणाम किया और वह सत्त्वशील के साथ वहीं बैठ गया॥७४-७५॥

इसी समय उस प्रभा-मण्डल से अपनी सखियों के सहित रूप धारण करनेवाली शोभा के समान वह कन्या निकली॥७६॥

सत्त्वशील ने जब यह बताया कि 'यही वह सुन्दरी है', तब राजा ने मान लिया कि उसमें सत्त्वशील की प्रीति उचित ही है॥७७॥

उस कन्या ने भी राजा के शरीर के शुभ लक्षणों को देखकर सोचा कि 'पुरुषों में श्रेष्ठ यह अपूर्व व्यक्ति कौन है?'॥७८॥

वह कन्या जब अम्बिका के मन्दिर में पूजन करने के लिए गई, तब राजा उपेक्षापूर्वक सत्त्वशील को लेकर उद्यान में चला गया॥७९॥

क्षणाच्च कृतपूजा सा निरगाद्दैत्यकन्यका।
याचित्वा सत्पतिप्राप्तिं देव्या गर्भगृहान्तरात् ॥८०॥
निर्गत्य सा जगादैकां सखीं सखि गवेष्यताम्।
योऽसाविह मया दृष्टो महात्मा क्व स तिष्ठति ॥८१॥
आतिथ्यं गृह्यतामेत्य प्रसादः क्रियतां त्वया।
इति चैषोऽर्थ्यतां पूज्यः पुमान्कोऽप्युत्तमो ह्यसौ ॥८२॥
एवं सखी तयोक्ता सा विचित्योद्यानवर्तिने।
स्वस्वामिनीनिदेशं तं प्रह्वा तस्मै न्यवेदयत् ॥८३॥
तच्छ्रुत्वा स नृपो वीरः सावहेलमुवाच ताम्।
एषैवातिथ्यमस्माकमन्यत्किमुपयुज्यते ॥८४॥
एतच्छ्रुत्वा तया गत्वा सख्या सा श्राविता तदा।
मेने मान्यमुदारं तं सर्वथा दैत्यकन्यका ॥८५॥
ततश्चाकृष्यमाणेव धैर्यपाशेन तेन सा।
नृपेण मानुषायोग्येऽप्यातिथ्ये निःस्पृहात्मना ॥८६॥
पत्यर्थं पार्वतीसेवापरिपाकसमर्पितम्।
मत्वा तत्स्वयमुद्यानं विवेशासुरपुत्रिका ॥८७॥
विचित्रशकुनालापैर्वाताञ्चितलताभुजैः।
विकीर्णकुसुमैराराान्नन्यमानेव पादपैः ॥८८॥
उपगम्य च सा तत्र यथावत्प्रश्रयानता।
आतिथ्यग्रहणार्थं तं प्रार्थयामास पार्थिवम् ॥८९॥
ततः स सत्त्वशीलं तमुद्दिश्योवाच तां नृपः।
अनेन कथितां देवीमिहाहं द्रष्टुमागतः ॥९०॥
गौरीं ध्वजपथप्राप्यपरमाद्भुतकेतनाम्।
सा दृष्टा तदनु त्वं च कान्यातिथ्यार्थितात्र नः ॥९१॥
तच्छ्रुत्वा साब्रवीत्कन्या कौतुकात्तर्हि वीक्षितुम्।
आगम्यतां द्वितीयं मे पुरं त्रिजगदद्भुतम् ॥९२॥
एवमुक्तवतीं तां च स विहस्य नृपोऽब्रवीत्।
तदप्यनेनैवोक्तं मे यत्र सा स्नानवापिका ॥९३॥

थोड़ी देर बाद पूजा करके और श्रेष्ठ पति पाने की याचना करके जब वह दैत्यकन्या देवी के मन्दिर से बाहर निकली, तब उसने अपनी एक सखी से कहा –"सखी, जरा जाकर देखो तो कि मैंने यहाँ जिन महापुरुष को देखा था, वे कहाँ हैं? वे कोई श्रेष्ठ और पूज्य पुरुष हैं, अतः उनसे प्रार्थना करो कि वे यहाँ पधारें और हमारा आतिथ्य स्वीकार करें।।८०—८२।।

ऐसा कहने पर उसकी सखी ने उद्यान में जाकर उन दोनों को ढूँढ़ निकाला और नम्रतापूर्वक राजा से अपनी स्वामिनी की आज्ञा निवेदित की।।८३।।

यह सुनकर उस वीर राजा ने उपेक्षापूर्वक उससे कहा—"हमारा इतना ही आतिथ्य बहुत है। अधिक की क्या आवश्यकता है?"।।८४।।

राजा की यह बात सुनकर सखी लौट गई और उसने दैत्यकन्या से सारी बात कह सुनाई। तब उसने सोचा कि 'सचमुच वे अधिक आदर के योग्य हैं'।।८५।।

राजा ने अति मानवीय आतिथ्य के प्रति निरपेक्षता दिखलाई थी। उस कन्या को ऐसा जान पड़ा कि वह राजा के इस धैर्य-पाश में बँधकर खिंची-सी जा रही है।।८६।।

उसे जान पड़ा कि पति के लिए उसने पार्वती की जो सेवा की है, उसी के फल के रूप में राजा यहाँ आया है। तब वह दैत्यकन्या स्वयं ही उद्यान में गई।।८७।।

जब वह आगे बढ़ी, तब अनेक प्रकार के पक्षियों की बोली से, वायु से हिलाई गई लतारूपी भुजाओं से और झरते हुए कुसुमों से वृक्षों ने उसका अभिनन्दन किया।।८८।।

राजा के निकट पहुँचकर, उचित आदर के लिए झुककर उसने उनसे आतिथ्य ग्रहण करने का निवेदन किया।।८९।।

तब उस राजा ने सत्त्वशील की ओर इशारा करके उस कन्या से कहा—"इनके कहने के अनुसार मैं देवी का दर्शन करने के लिए, ध्वज-मार्ग से होकर, यहाँ आया था। मैंने गौरी के परम अद्भुत मन्दिर को और उसके बाद तुमको भी देखा। उसके बाद हमें और किस आतिथ्य की आवश्यकता है?"।।९०-९१।।

यह सुनकर उस कन्या ने कहा—"तब आप लोग त्रिलोक में अद्भुत मेरे दूसरे नगर को देखने के कौतूहल से ही मेरे साथ चलिए"।।९२।।

उस कन्या के ऐसा कहने पर राजा हँसकर बोला—"इस सत्त्वशील ने मुझे उसके बारे में भी बतलाया है, यहाँ पर स्नान-वापिका है"।।९३।।

ततः सा कन्यकावादीद्देव मा स्मैवमादिश।
न विडम्बनशीलाहं का वा पूज्ये विडम्बना ॥९४॥
अहं हि सत्त्वोत्कर्षेण युष्माकं किङ्करीकृता।
तन्मम प्रार्थनाभङ्गं नैवैवं कर्त्तुमर्हथ ॥९५॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा सत्त्वशीलसखः स तत्।
प्रभामण्डलकोपान्तं ययौ राजा तया सह ॥९६॥
अपावृतकवाटे च तस्मिन्नन्तस्तथैव सः।
प्रवेशितो ददर्शास्यास्तद्दिव्यमपरं पुरम् ॥९७॥
नित्यसंनद्धसर्वर्त्तु सदापुष्पफलद्रुमम्।
मेरुपृष्ठमिवाशेषं निर्मितं रत्नकाञ्चनैः ॥९८॥
रत्नासने महार्हे तं राजानमुपवेश्य सा।
यथोचितोपनीतार्घ्या दैत्यराजसुताब्रवीत् ॥९९॥
कन्याहमसुरेन्द्रस्य कालनेमेर्महात्मनः।
चक्रायुधेन च स मे स्वर्गतिं प्रापितः पिता ॥१००॥
विश्वकर्मकृतं चेदं पैतृकं मे पुरद्वयम्।
न जरात्र न मृत्युश्च वाधते सर्वकामदे ॥१०१॥
इदानीं च पिता त्वं मे सपुराहं वशे तव।
इत्यर्पितात्मसर्वस्वां तामुवाच स भूपतिः ॥१०२॥
यद्येवं तत्सुते ह्यस्मै मया दत्तास्यनिन्दिते।
सत्त्वशीलाय वीराय सुहृदे वान्धवाय च ॥१०३॥
एवं देवीप्रसादेन मूर्त्तेनेव नृपेण सा।
उक्ता गुणज्ञा विनता तत्तथेत्यन्वमन्यत ॥१०४॥
ततः कृतार्थं तं तस्याः कृतपाणिग्रहं नृपः।
दत्तासुरपुरैश्वर्यं सत्त्वशीलमुवाच सः ॥१०५॥
भुक्तयोरामलकयोस्तयोरेकं मया तव।
संशोधितमसंशुद्धादृणी तेऽहं द्वितीयतः ॥१०६॥
इति प्रणतमुक्त्वा तं दैत्यपुत्रीं जगाद ताम्।
मार्गो मे दर्श्यतां येन स्वपुरीं प्राप्नुयामिति ॥१०७॥
ततोऽपराजितं नाम खड्गं भक्ष्यं फलं च सा।
एकं जरामृत्युहरं तस्मै दैत्यसुता ददौ ॥१०८॥

तब उस कन्या ने कहा--"देव, आप ऐसी बात न कहें। मैं यों ही धोखा देनेवाली नहीं हूँ। तब फिर, आप जैसे पूज्य को कैसे धोखा दे सकती हूँ? मैं आपलोगों की वीरता के उत्कर्ष से आपकी अनुचरी हो गई हूँ। अतः, आपको इस प्रकार मेरी प्रार्थना अस्वीकार न करनी चाहिए" ॥९४-९५॥

यह सुनकर उस राजा ने कहा कि 'अच्छी बात है' और सत्त्वशील के सहित वह उसके साथ प्रभा-मण्डल के निकट गया॥९६॥

वह कन्या उन्हें उसी प्रकार उस खुले दरवाजे से अन्दर ले गई, जहाँ उन्होंने उसके दूसरे अलौकिक नगर को देखा॥९७॥

वहाँ सभी ऋतुएँ सदा वर्त्तमान रहती थीं, वृक्षों में फूल और फल बने रहते थे और वह नगरी रत्न तथा सुवर्ण से बनी हुई थी और मेरुपृष्ठ के समान जान पड़ती थी॥९८॥

वहाँ दैत्यराज की उस कन्या ने बहुमूल्य रत्न के आसन पर राजा को बैठाकर उचित अर्घ्य आदि से उनका सत्कार करने के अनन्तर कहा—"मैं असुरराज महात्मा कालनेमि की कन्या हूँ। चक्रधारी विष्णु के द्वारा मेरे पिता को स्वर्गति प्राप्त हुई है। ये दोनों मेरे पैतृक नगर विश्वकर्मा के बनाये हुए हैं। यहाँ जरा और मृत्यु की बाधा नहीं होती और सभी मनःकामनाएँ पूरी हो जाती हैं। अब आप ही मेरे पिता हैं और इन दोनों नगरों के साथ मैं आप के अधीन हूँ।" इस प्रकार, जब उस कन्या ने अपना सब कुछ राजा को सौंप दिया, तब वह उससे बोला॥९९—१०२॥

"बेटी, यदि ऐसी बात है, तो मैं तुम्हें इस सत्त्वशील के साथ विवाह-बन्धन में बाँधता हूँ, जो दोष-रहित है, वीर है और मेरा मित्र तथा सम्बन्धी भी है" ॥१०३॥

जब मूर्त्तिमान् देवी की कृपा के समान राजा ने ऐसा कहा, तब विनय से झुकी हुई और गुणवती उस कन्या ने 'जो आज्ञा' कहकर उनकी बात मान ली॥१०४॥

अनन्तर, जिसकी इच्छाएँ पूरी हो गई थीं और जिसने उस असुरकन्या से विवाह करके उन दोनों नगरों का ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया था, ऐसे सत्त्वशील से राजा ने कहा—"तुम्हारे जो दो आँवले मैंने खाये थे, उनमें से एक का ऋण मैंने चुका दिया। एक का ऋण अभी मुझ पर बाकी है" ॥१०५-१०६॥

झुके हुए सत्त्वशील से ऐसा कहने के बाद राजा ने उस दैत्यपुत्री से कहा—"मुझे मार्ग बतलाओ, जिससे मैं अपने नगर जा सकूँ" ॥१०७॥

राजा के ऐसा कहने पर उस दैत्यकन्या ने उन्हें 'अपराजित' नाम का एक खड्ग और खाने के लिए एक ऐसा फल दिया, जो जरा और मृत्यु को मिटानेवाला था॥१०८॥

ताभ्यां युक्तस्तयोक्तायां वाप्यां मग्नः स्वदेशतः ।
उत्थाय सर्वसंसिद्धकामोऽभूत्स क्रमान्नृपः ॥१०९॥
सत्त्वशीलोऽपि दैत्यस्त्रीपुरराज्यं शशास सः ।
तद्ब्रूहि कोऽब्धिपतने द्वयोः सत्त्वाधिकोऽनयोः ॥११०॥
इति श्रुत्वा तथा प्रश्नं वेतालाच्छापभीतितः ।
स त्रिविक्रमसेनस्तं भूपतिः प्रत्यभाषत ॥१११॥
एतयोः सत्त्वशीलोऽत्र स मे सत्त्वाधिको मतः ।
स ह्यविज्ञाततत्त्वार्थो निरास्थः पतितोऽम्बुधौ ॥११२॥
राजा तु तत्त्वं विज्ञाय विवेशम्भोधिमास्थया ।
दैत्यकन्यां च नावाञ्छदसाध्या स्पृहयेति सः ॥११३॥
इति तस्याकर्ण्य वचो निरस्तमौनस्य भूपतेः स्कन्धात् ।
स जगाम पूर्ववत्तं वेतालः शिंशपातरुं स्वपदम् ॥११४॥
राजापि तथैव स तं पुनरप्यानेतुमनुजगाम जवात् ।
प्रारब्धे ह्यसमाप्ते कार्ये शिथिलीभवन्ति किं सुधियः ॥११५॥

इति महाकविसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके चतुर्दशस्तरङ्गः ।

पञ्चदशस्तरङ्गः

अष्टमो वेतालः । त्रयाणां चतुरपुरुषाणां कथा

गत्वा तां शिंशपां भूयो वेतालं प्राप्य भूमिपः ।
तं त्रिविक्रमसेनोऽत्र स्कन्धे कृत्वोच्चचाल सः ॥१॥
प्रयान्तं स पुनस्तं च वेतालं स्कन्धतोऽब्रवीत् ।
श्रमविस्मृतये राजन्मत्तः प्रश्नमिमं शृणु ॥२॥
अङ्गदेशेऽग्रहारोऽस्ति महान्वृक्षघटाभिधः ।
विष्णुस्वामीति तत्रासीद्द्विजो यज्वा महाधनः ॥३॥
तस्य च स्वानुरूपायां पत्न्यां जाताः क्रमात्त्रयः ।
बभूवुस्तरुणाः पुत्रा दिव्यवैदग्ध्यशालिनः ॥४॥
ते पित्रा प्रेषितास्तेन कूर्महेतोः कदाचन ।
प्रारब्धयज्ञेन ययुस्ते त्रयो भ्रातरोऽम्बुधिम् ॥५॥

उन दोनों पदार्थों को लेकर उसकी बतलाई हुई वापी में डुबकी लगाकर वह राजा अपने देश में जा पहुँचा और क्रमशः उसके सब मनोरथ पूरे हो गये॥१०९॥

सत्त्वशील भी उस दैत्यकन्या के नगरों का राज्य-शासन करने लगा। "अब बतलाओ कि समुद्र में डुबकी लगाने में, उन दोनों में किसने अधिक साहस दिखलाया? वेताल का यह प्रश्न सुनकर, शाप के भय से राजा त्रिविक्रमसेन ने उससे फिर कहा— ॥११०-१११॥

"उनमें से सत्त्वशील ही मुझे अधिक साहसी जान पड़ता है; क्योंकि वह वस्तुस्थिति को न जानता हुआ, बिना किसी आशा के समुद्र में कूदा था; किन्तु राजा को सारी बातें मालूम थीं और वह विश्वास के साथ समुद्र में कूदा था। वह दैत्यकन्या को भी नहीं जानता था, क्योंकि वह जानता था, इच्छा होने पर भी वह उसे पा न सकेगा" ॥११२-११३॥

मौन छोड़कर राजा ने जब यह बात कही, तब वेताल, पहले की ही तरह, उसका कन्धा छोड़कर, शिशपा-वृक्ष के अपने आश्रय में चला गया॥११४॥

राजा भी उसी प्रकार उसे फिर से ले आने के लिए तेजी से वहाँ से चल पड़ा; क्योंकि आरम्भ किया हुआ काम जबतक पूरा नहीं होता, तबतक सुधी जन उसमें शिथिलता नहीं करते ॥११४॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का चतुर्दश तरंग समाप्त।

पंचदश तरंग

अष्टम वेताल : तीन चतुर पुरुषों की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने पुनः उस शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर वेताल को पाया और उसे कन्धे पर लेकर चल पड़े॥१॥

चलते हुए राजा के कन्धे पर से उस वेताल ने फिर कहा—"राजन्! थकावट दूर करने के लिए मुझसे यह प्रश्न सुनो" ॥२२॥

अंगदेश में वृक्षघट नाम का एक बड़ा अग्रहार (ब्राह्मणों को दान में मिला हुआ गाँव) है। वहाँ विष्णुस्वामी नाम का एक बहुत धनवान् अग्निहोत्री ब्राह्मण था॥३॥

समान कुल-शीलवाली पत्नी से क्रमशः उसे तीन पुत्र हुए। समय पाकर वे तरुण हुए और बड़े बुद्धिमान् निकले॥४॥

एक बार उनके पिता ने यज्ञ आरम्भ किया और उन्हें एक कछुआ ले आने के लिए भेजा। इसके लिए वे तीनों भाई समुद्र-तट पर गये॥५॥

प्राप्य कूर्मं ततोज्यायान्कनिष्ठौ तावभाषत।
गृह्णातु युवयोरेकः कूर्मं क्रतुकृते पितुः ॥६॥
अहमेतं न शक्नोमि ग्रहीतुं विस्रपिच्छलम्।
इत्युक्तवन्तं तं ज्येष्ठं कनिष्ठौ ताववोचताम् ॥७॥
तवात्र विचिकित्सा चेन्नावयोरपि सा कथम्।
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीज्ज्येष्ठो गृह्णीतं गच्छतं युवाम् ॥८॥
पितुर्यज्ञक्रियालोपो भवेद्युष्मत्कृतोऽन्यथा।
ततो नरकपातः स्याद्युवयोस्तस्य च ध्रुवम् ॥९॥
इत्युक्तावनुजौ तेन तौ विहस्य तमूचतुः।
धर्मं वेत्स्यावयोरेव समानमपि नात्मनः ॥१०॥
ततो ज्येष्ठोऽब्रवीत्किं मे जानीथो नैव चेङ्गताम्।
अहं भोजनचङ्गोऽस्मि नार्हः स्प्रष्टुं जुगुप्सितम् ॥११॥
एतत्तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातरं मध्यमोऽब्रवीम्।
अहं तल्पाधिकश्चङ्गो नारीचङ्गो विचक्षणः ॥१२॥
मध्यमेनैवमुक्ते तु ज्यायान्पुनरुवाच सः।
कूर्मं गृह्णातु तदयं कनीयानावयोरिति ॥१३॥
ततः स भ्रुकुटिं कृत्वा कनीयानप्युवाच तौ।
हे मूर्खौ तूलिकाचङ्गश्चङ्गोऽहं हि विशेषतः ॥१४॥
एवं ते कलहासक्तास्त्रयोऽपि भ्रातरो मिथः।
निर्णयायाभिमानैकग्रस्ताः कूर्मं विहाय तम् ॥१५॥
राज्ञः प्रसेनजिन्नाम्नस्तत्प्रदेशभुवोऽन्तिकम्।
नगरं ते सहसा जग्मुर्विटङ्कपुरनामकम् ॥१६॥
तत्र प्रतीहारमुखेनावेद्यान्तः प्रविश्य च।
नृपं विज्ञापयामासुः स्ववृत्तान्तं तथैव ते ॥१७॥
तिष्ठतेहैव यावद्वः परीक्षिष्ये क्रमादहम्।
इत्युक्तास्तेन राज्ञा च तस्थुस्तत्र तथेति ते ॥१८॥
स्वाहारकाले चानाय्य तेभ्यः सोऽग्रासनं नृपः।
राजार्हं दापयामास षड्रसं स्वादुभोजनम् ॥१९॥
भुञ्जानेषु च सर्वेषु तदैको बुभुजे न सः।
विप्रो भोजनचङ्गोऽत्र जुगुप्साकूणिताननः ॥२०॥

कछुआ पाकर बड़े भाई ने छोटे भाइयों से कहा—"यज्ञ करनेवाले पिताजी के लिए, तुम दोनों में से एक, इस कछुए को ले लो। दुर्गन्ध और चिकनेपन के कारण मैं इसे नहीं ले सकता।"' बड़े भाई के ऐसा कहने पर दोनों छोटे भाई बोले——॥६-७॥

"यदि इस काम में तुम्हें घृणा है, तो हम लोगों को क्यों न होगी?" यह सुनकर बड़े भाई ने कहा—"इसको लेकर तुम लोग जाओ। यदि तुम ऐसा न करोगे, तो पिताजी का यज्ञ पूरा न हो सकेगा और तुम लोगों के सहित वे भी नरक पायेंगे" ॥८-९॥

ऐसा कहने पर दोनों छोटे भाई हँसकर बोले—"तुम हम लोगों का धर्म तो जानते हो, किन्तु वही तुम्हारा भी धर्म है, यह नहीं जानते" ॥१०॥

इसपर बड़े भाई ने कहा—"तुम लोग क्या मेरी दक्षता नहीं जानते? मैं भोजनदक्ष हूँ, इसलिए घृणित वस्तु को नहीं छू सकता।" ॥११॥

यह सुनकर छोटे भाइयों में से मँझला बोला—"तब तो मैं तुमसे भी अधिक दक्ष हूँ। मैं विलक्षण नारीदक्ष हूँ" ॥१२॥

मँझले के ऐसा कहने पर बड़ा भाई फिर बोला—"यदि ऐसी बात है, तो हममें से सबसे छोटा भाई कछुए को ले चले" ॥१३॥

यह सुनकर उनका सबसे छोटा भाई नाक-भौं चढ़ाकर बोला—"अरे मूर्खो! मैं तो तूलिकादक्ष (शय्यादक्ष) हूँ; अतः मैं तुम दोनों से ही अधिक चतुर हूँ" ॥१४॥

इस प्रकार, जब वे तीनों अभिमानी भाई लड़ने-झगड़ने लगे, तब कछुए को छोड़कर, वे इस झगड़े का निबटारा कराने के लिए, उस प्रदेश के राजा के पास, विटंकपुर नामक उसके नगर की ओर, चल पड़े ॥१५-१६॥

वहाँ प्रतीहारी के द्वारा अपनी खबर भिजवाकर वे अन्दर गये और उन्होंने राजा से अपना वृत्तान्त कह सुनाया ॥१७॥

राजा ने कहा—"आप लोग यहीं रहिए, जिससे मैं क्रमशः आप तीनों की परीक्षा ले सकूँ?" राजा की बात मानकर वे वहीं ठहर गये ॥१८॥

राजा ने अपने भोजन के समय उन तीनों को बुलवाकर ऊँचे आसन पर बैठाया और राजा के योग्य षड्रस भोजन उनके लिए परोसवाया ॥१९॥

जब सब लोगों ने भोजन आरम्भ किया, तब भी भोजनदक्ष वह ब्राह्मण घृणा से मुँह बनाये बैठा रहा। उसने मुँह में ग्रास नहीं डाला ॥२०॥

कथं न भोजनं भुङ्क्ते ब्रह्मन्स्वादु सुगन्ध्यपि ।
इति राज्ञा स्वयं पृष्टः शनैर्विप्रो जगाद सः ॥२१॥
शवधूमदुरामोदः शालिभक्तेऽत्र विद्यते ।
तेन नाहमिदं भोक्तुमुत्सहे स्वाद्वपि प्रभो ॥२२॥
इत्युक्ते तेन सर्वेऽपि तत्राघ्राय नृपाज्ञया ।
ऊचुः कलमशाल्यन्नमदोषं तत्सुगन्धि च ॥२३॥
स तु भोजनचङ्गस्तन्नाश्नात्पिहितनासिकः ।
ततः स राजा सञ्चिन्त्य यावदन्विष्यति क्रमात् ॥२४॥
तावन्नियोगिजनतस्तदन्नं बुबुधे तथा ।
ग्रामश्मशाननिकटक्षेत्रसम्भवशालिजम् ॥२५॥
ततोऽतिविस्मितस्तुष्टः स राजा तमभाषत ।
सत्यं भोजनचङ्गस्त्वं तदन्यद्भुज्यतामिति ॥२६॥
कृताहारश्च स नृपो विप्रान्वासगृहेषु तान् ।
विसृज्यानाययामास स्वामेकां गणिकोत्तमाम् ॥२७॥
तां च तस्मै द्वितीयस्मै प्राहिणोत्कृतमण्डनाम् ।
विप्राय नारीचङ्गाय सायं सर्वाङ्गसुन्दरीम् ॥२८॥
सा च वासगृहं तस्य राजभृत्यान्विता ययौ ।
राकानिशेव पूर्णेन्दुमुखकन्दर्पदीपिनी ॥२९॥
प्रविष्टायां च तस्यां स प्रभाभासितवेश्मनि ।
उत्पन्नमूर्च्छः संरुद्धनासाग्रो वामपाणिना ॥३०॥
नारीचङ्गोऽब्रवीद्राजभृत्यान्निष्कास्यतामिति ।
न चेन्मृतोऽहं निर्याति गन्धोऽस्याश्छागलो यतः ॥३१॥
इत्युक्तास्तेन निन्युस्ते विग्नां तां राजपूरुषाः ।
राज्ञोऽन्तिकं वारवधूं वृत्तान्तं जगदुश्च तम् ॥३२॥
राजाप्यानाय्य तत्कालं नारीचङ्गमुवाच तम् ।
येयं श्रीखण्डकर्पूरकालागुरुमदोत्तमैः ॥३३॥
कृतप्रसाधना दिक्षु प्रसरच्चारुसौरभा ।
तस्या वारविलासिन्या गन्धः स्याच्छागलः कुतः ॥३४॥
इत्युक्तोऽपि स राज्ञा तन्नारीचङ्गस्तदा न यत् ।
प्रतिपेदे तदा राजा विचारपतितोऽभवत् ॥३५॥

जब राजा ने स्वयं पूछा–'महाराज ! भोजन तो स्वादिष्ठ और सुगन्धित है—आप खाते क्यों नहीं ?' तो उसने कहा कि 'प्रभो ! इस भात में मुर्दे के धुँएँ की दुर्गन्ध है, इसी से स्वादिष्ठ होने पर भी इसे खाने की मेरी इच्छा नहीं होती' ॥२१-२२ ॥

उसके ऐसा कहने पर, राजा की आज्ञा से सबने उस भात को सूँघने के बाद कहा—"कलम चावल का यह भात दोष-रहित है और इसमें उसी की सुगन्ध है" ॥२३॥

भोजनदक्ष ने भी उसे नाक से सूँघा, पर खाया नहीं। तब राजा ने सोच-विचार के बाद जब क्रम से इस बात का पता लगवाया, तब उनके आदमियों ने बतलाया कि वह चावल, श्मशान के निकटवर्त्ती खेत में उपजे धान का था ॥२४-२५॥

तब राजा बड़े विस्मित और सन्तुष्ट हुए। उन्होंने कहा—"आप सचमुच भोजनदक्ष हैं; अतः आप दूसरा भोजन करें" ॥२६॥

भोजन के बाद राजा ने उन तीनों को उनके कमरों में भेज दिया, फिर उसने अपनी एक उत्तम गणिका को बुलवा भेजा ॥२७॥

उस सर्वांगसुन्दरी को, अच्छी तरह सजा-सँवारकर, राजा ने उस दूसरे नारीदक्ष ब्राह्मण के पास भेजा ॥२८॥

पूर्णिमा के चन्द्रमा-समान मुखवाली और काम को जगानेवाली वह स्त्री, राजा के अनुचरों के साथ उस नारीदक्ष के शयन-गृह में गई ॥२९॥

ज्यों ही वह कमरे में प्रविष्ट हुई, उसकी कान्ति से कमरा दमक उठा, किन्तु उस नारीदक्ष को मूर्च्छा-सी आने लगी। उसने अपने बाँयें हाथ से नाक दबा ली और राजा के अनुचरों से कहा—"इसे यहाँ से ले जाओ, नहीं तो मैं मर जाऊँगा; क्योंकि इसके शरीर से बकरे की दुर्गन्ध आ रही है" ॥३०-३१॥

उसकी ये बातें सुनकर, राजा के अनुचर उस घबराई हुई गणिका को राजा के पास ले गये और उनसे उन्होंने सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥३२॥

राजा ने तत्काल ही नारीदक्ष को बुलवाकर कहा—"इस गणिका ने चन्दन, कपूर, अगुरु आदि उत्तम सुगन्धियाँ लगा रखी हैं, जिसका आमोद चारों ओर फैल रहा है। यह सजी-सँवरी भी है, फिर इसके शरीर से बकरे की गन्ध कैसे आ सकती है ?" ॥३३-३४॥

राजा के ऐसा कहनें पर भी जब नारीदक्ष ने यह बात नहीं मानी, तब राजा सोच में पड़ गये ॥३५॥

पृच्छंश्च युक्त्या बुबुधे तामजक्षीरवर्धिताम्।
तन्मुखादेव बालत्वे मातृधात्रीवियोगतः ।।३६।।

ततोऽतिविस्मितस्तस्य नारीचङ्गस्य चङ्गताम्।
प्रशंसन्नृपतिस्तस्मै तृतीयाय द्विजन्मने ।।३७।।

तद्रसात्तूलिकाचङ्गायाशु शय्यामदापयत्।
पर्यङ्कोपरि विन्यस्तसप्तसंख्याकतूलिकाम् ।।३८।।

तस्यां च तूलिकाचङ्गो महार्हे वासवेश्मनि।
सुष्वाप धौतसुश्लक्ष्णपटप्रच्छदवाससि ।।३९।।

यामार्ध एव च गते स रात्रौ शयनात्ततः।
उत्तस्थौ पाण्यवष्टब्धपार्श्वः क्रन्दन्व्यथार्दितः ।।४०।।

ददृशे तस्य पार्श्वे च तत्रत्यै राजपूरुषैः।
गाढलग्नस्य बालस्य मुद्रेव कुटिलारुणा ।।४१।।

गत्वा च तैस्तदाख्यातं राज्ञे राजाप्युवाच तान्।
तूलिकानां तले किञ्चिन्मा स्यात्तद्वीक्ष्यतामिति ।।४२।।

गत्वेक्षन्ते च ते यावदेकैकं तूलिकातलम्।
तावत्सर्वतलादापुर्बालं पर्यङ्कपृष्ठतः ।।४३।।

नीत्वा चादर्शयन्राज्ञे सोऽप्यानीतस्य वीक्ष्य तत्।
तद्रूपं तूलिकाचङ्गस्याङ्गं राजा विसिस्मिये ।।४४।।

सप्तभ्यस्तूलिकाभ्योऽस्य बालो लग्नस्तनौ कथम्।
इति चित्रीयमाणस्तां राजा रात्रिं निनाय सः ।।४५।।

प्रातश्चाद्भुतवैदग्ध्यसौकुमार्या अमी इति।
तेभ्यस्त्रिभ्योऽपि चङ्गेभ्यो हेमलक्षत्रयं ददौ ।।४६।।

ततस्ते सुखितास्तत्र तस्थुर्विस्मृतकच्छपाः।
पितुर्विघ्नितयज्ञार्थफलोपार्जितपातकाः ।।४७।।

इत्याख्याय कथाद्भुतमंसनिषण्णः पुनः स वेतालः।
पप्रच्छ तं त्रिविक्रमसेनं पृथ्वीपतिं प्रश्नम् ।।४८।।

राजन्विचिन्त्य शापं पूर्वोक्तं ब्रूहि मे त्वमेतेषाम्।
भोजननारीशय्याचङ्गानां कोऽधिकश्चङ्गः ।।४९।।

युक्तिपूर्वक उस गणिका से पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि बचपन में ही माता तथा धाई के मर जाने पर, बकरी का दूध पिलाकर उसे पाला गया था॥३६॥

तब राजा नारीदक्ष की चतुराई पर बड़े विस्मित हुए और उन्होंने उसकी प्रशंसा की। अनन्तर, उन्होंने तीसरे ब्राह्मण को, जो शय्यादक्ष था, उसकी रात्रि के अनुसार शय्या दी। उस पलंग पर सात गद्दे बिछे हुए थे॥३७-३८॥

बहुमूल्य वास-गृह में वह शय्यादक्ष उस पलंग पर सोया, जिसपर धुली हुई और मुलायम चादर बिछी हुई थी॥३९॥

अभी आधी रात ही बीती थी कि वह नींद से जाग उठा और हाथ से बगल को दबाये हुए पीडा के कारण रोने लगा॥४०॥

राजा के जो अनुचर वहाँ थे, उन्होंने देखा कि उसके पँजरे में केश का गहरा, कठोर और लाल दाग बन गया है॥४१॥

अनुचरों ने जब राजा से जाकर यह बात कही, तब वे उनसे बोले—"तुम लोग जाकर देखो कि गद्दों के नीचे कुछ है तो नहीं?"॥४२॥

उन लोगों ने जाकर एक-एक गद्दे के नीचे देखा, तो सबसे अन्तिम गद्दे के नीचे पलंग पर एक केश पड़ा मिला॥४३॥

उसे लाकर उन लोगों ने राजा को दिखलाया। साथ ही, आये हुए शय्यादक्ष के अंग में वैसा चिह्न देखकर राजा को विस्मय हुआ॥४४॥

राजा यह सोचकर अचरज करते रहे कि सात गद्दों के नीचे से उस केश का दाग उसके शरीर में कैसे पड़ गया। इसी सोच-विचार में किसी तरह उन्होंने रात बिताई॥४५॥

दूसरे दिन राजा ने उन तीनों को उनकी अद्भुत चतुरता और सुकुमारता के लिए तीन लाख स्वर्ण-मुद्राएँ दीं॥४६॥

तब वे तीनों सुखपूर्वक वहीं रहने लगे और कछुए को तथा पिता के यज्ञ में विघ्न पड़ने से जो पाप हुआ था, उसको भूल गये॥४७॥

यह अद्भुत कथा सुनकर राजा त्रिविक्रमसेन के कन्धे पर बैठे हुए उस वेताल ने उनसे यह प्रश्न पूछा—॥४८॥

"राजन्! पहले कहे हुए मेरे शाप की याद करके बतलाओ कि उन तीनों—भोजन, नारी और शय्यादक्षों—में से कौन अधिक चतुर था?"॥४९॥

तच्छुत्वैव स धीमान्वेतालं प्रत्युवाच तं नृपतिः।
अहमेषां निष्कैतवमधिकं जानामि तूलिकाचङ्गम् ॥५०॥
यस्याङ्गे प्रत्यक्षं वालप्रतिबिम्बमुद्गतं दृष्टम्।
इतराभ्यां हि भवेत्तत्पूर्वं जात्वन्यतोऽवगतम् ॥५१॥
इति तस्योक्तवतोंऽसाद्वेतालो भूपतेर्ययौ प्राग्वत्।
सोऽपि तथैव च राजा तमन्वयासीदनिर्विण्णः ॥५२॥

इति महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सारे
शशाङ्कवतीलम्बके पञ्चदशस्तरङ्गः।

षोडशस्तरङ्गः

नवमो वेताल :। राजकुमार्या अनङ्गरत्याः कथा

ततो गत्वा पुनस्तस्माच्छिशपापादपान्नृपः।
स त्रिविक्रमसेनस्तं स्कन्धे वेतालमग्रहीत् ॥१॥
प्रस्थितश्च ततस्तेन वेतालेनाभ्यधायि सः।
राजन्क्व राज्यं क्वैतस्मिञ्श्मशाने भ्रमणं निशि ॥२॥
किमेतन्नेक्षसे भूतसङ्कुलं रात्रिभीषणम्।
चिताधूमैरिव ध्वान्तैर्निरुद्धं पितृकाननम् ॥३॥
कष्टं कीदृग्ग्रहोऽयं ते भिक्षोस्तस्यानुरोधतः।
तदिमं शृणु तावन्मे प्रश्नं मार्गविनोदनम् ॥४॥
अवन्तिष्वस्ति नगरी युगादौ देवनिर्मिता।
शैवी तनुरिवोद्दामभोगिभूतिविभूषिता ॥५॥
पद्मावती भोगवती या हिरण्यवतीति च।
कृतादिषु त्रिषु ख्याता कलावुज्जयिनीति च ॥६॥
तस्यां च वीरदेवाख्यो राजाभूद्भूभृतां वरः।
तस्य पद्मरतिर्नाम महादेवी वभूव च ॥७॥
सोऽथ राजा तया साकं गत्वा मन्दाकिनीतटे।
हरमाराधयामास तपसा पुत्रकाम्यया ॥८॥
चिरं तपः स्थितश्चात्र परितुष्टेश्वरोदिताम्।
कृतस्नानार्चनविधिः शुश्रावेमां गिरं दिवः ॥९॥

यह सुनते ही बुद्धिमान् राजा ने वेताल को उत्तर दिया—"मैं उनमें से शय्यादक्ष को ही श्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि उसकी बात में कुछ छिपा-ढका नहीं था। उसके अंग में केश का दाग स्पष्ट रूप से देखा गया था। दूसरों ने जो कुछ कहा, हो सकता है, औरों के मुँह से शायद वे बातें उन्होंने पहले ही जान ली हों" ॥५०-५१॥

राजा के ऐसा कहने पर पहले ही की तरह वह वेताल उनके कन्धे से उतरकर चला गया। राजा भी उसी तरह घबराये विना उसको ढूंढ़ने के लिए पीछे-पीछे गया ॥५२॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशाङ्कवती लम्बक का पञ्चदश तरंग समाप्त।

षोडश तरंग

नवम वेताल : राजकुमारी अनंगरति की कथा

अनन्तर, उस शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर राजा त्रिविक्रमसेन ने पुनः उस वेताल को कन्धे पर उठा लिया ॥१॥

जब वे वहाँ से चले, तब वेताल उनसे बोला—"राजन्! कहाँ राज्य का सुख-भोग और कहाँ रात में इस श्मशान में घूमना! क्या तुम भूतों से भरे इस श्मशान को नहीं देखते, जो रात में भयानक बना हुआ है और जहाँ चिता के धुएँ की तरह अँधेरा बढ़ रहा है? ॥२-३॥

हाय, तुमने उस भिक्षु के अनुरोध से जाने क्यों यह काम उठा लिया है। तो, अब मुझसे यह प्रश्न सुनो, जिससे मार्ग सुगम हो सके ॥४॥

अवन्ती में एक नगरी है, जिसे सृष्टि के आरम्भ में देवताओं ने बनाया था। भोगियों (साँपों) से और भूति (भस्म) से विभूषित शिव के विराट् शरीर के समान वह नगरी भी बहुत विशाल थी और भोगियों (सुखी लोगों) तथा भूति (ऐश्वर्य) से सुशोभित थी ॥५॥

जो नगरी कृतयुग में पद्मावती, त्रेता में भोगवती तथा द्वापर में हिरण्यवती कही जाती थी, वही कलियुग में उज्जयिनी के नाम से प्रसिद्ध हुई ॥६॥

उस उज्जयिनी में वीरदेव नाम के एक राजा थे, जो भूपतियों में श्रेष्ठ थे। उनकी पटरानी का नाम पद्मरति था ॥७॥

पुत्र की कामना से उस राजा ने अपनी पत्नी के सहित मन्दाकिनी के तट पर जाकर, तपस्या के द्वारा भगवान् महादेव की आराधना की ॥८॥

बहुत दिनों तक तपस्या करने के बाद जब उन्होंने स्नान और अर्चन की विधियाँ पूरी कीं, तब भगवान् शंकर प्रसन्न हुए और आकाश से उनकी वाणी सुन पड़ी ॥९॥

राजन्नुत्पत्स्यते पुत्रः शूरस्तव कुलोद्भवः।
कन्या चानन्यसामान्यलावण्यन्यक्कृताप्सराः ॥१०॥
श्रुत्वैतां नाभसीं वाणीं सिद्धाभीष्टः स भूपतिः।
वीरदेवः स्वनगरीमाययौ महिषीसखः ॥११॥
तत्रास्य शूरदेवाख्ये जाते प्रथममात्मजे।
तस्यां पद्मरतौ देव्यां क्रमादजनि कन्यका ॥१२॥
अनङ्गस्यापि रूपेण रतिमुत्पादयेदियम्।
इत्यनङ्गरतिर्नाम्ना पित्रा तेन व्यधायि सा ॥१३॥
वृद्धिं गतायास्तस्याश्च स पिता सदृशं वरम्।
प्रेप्सुरानाययत्पृथ्व्यां पटेषु लिखितान्नृपान् ॥१४॥
तेष्वेकोऽपि न यत्तस्य तत्तुल्यः प्रत्यभासत।
तेन राजा स वात्सल्यात्तां सुतां प्रत्यभाषत ॥१५॥
अहं तावन्न पश्यामि सदृशं पुत्रि ते वरम्।
तत्कुरुष्व नृपान्सर्वान्मेलयित्वा स्वयंवरम् ॥१६॥
एतत्पितृवचः श्रुत्वा राजपुत्री जगाद सा।
तात स्वयंवरं कर्त्तुं ह्रेपणान्नाहमुत्सहे ॥१७॥
किं त्वेकं वेत्ति योऽपूर्वं विज्ञानं स्वाकृतिर्युवा।
तस्मै त्वयाहं दातव्या नार्थोऽन्येनाधिकेन मे ॥१८॥
इत्यनङ्गरतेस्तस्याः श्रुत्वा स्वदुहितुर्वचः।
तादृशं तद्वरं यावदन्विष्यति स भूपतिः ॥१९॥
तावत्तल्लोकतो बुद्ध्वा चत्वारस्तमुपाययुः।
वीरा विज्ञानिनो भव्याः पुरुषा दक्षिणापथात् ॥२०॥
ते राज्ञा पूजितास्तस्मै स्वं स्वं विज्ञानमेकशः।
शशंसुः सन्निधौ तस्या राजपुत्र्यास्तदर्थिनः ॥२१॥
एको जगाद शूद्रोऽहमाख्यया पञ्चपट्टिकः।
पञ्चाग्र्यवस्त्रयुग्मानि करोम्येकोऽहमन्वहम् ॥२२॥
तेभ्य एकं प्रयच्छामि देवायैकं द्विजन्मने।
एकं च परिगृह्णामि वाससोरात्मनः कृते ॥२३॥
एकं ददामि भार्यायै यदि सा भवतीह मे।
एकं विक्रीय चाहारपानादि विदधाम्यहम् ॥२४॥
एवं विज्ञानिनेऽनङ्गरतिर्मे दीयतामिति।
इत्येकेनोदिते तेन द्वितीयः पुरुषोऽब्रवीत् ॥२५॥

"राजन्! तुम्हारे कुल में पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होगा। अतुलनीय रूपवती एक कन्या भी तुम्हारे घर में जन्म लेगी, जो अपनी सुन्दरता से अप्सराओं का भी तिरस्कार करेगी" ॥१०॥

यह आकाशवाणी सुनकर राजा वीरदेव की कामना पूरी हो गई। वह अपनी पत्नी के सहित अपनी नगरी में चला आया ॥११॥

वहाँ, पहले उन्हें शूरदेव नाम का एक पुत्र हुआ और फिर उनकी पत्नी पद्मरति ने एक कन्या को जन्म दिया ॥१२॥

अपने सौन्दर्य से कामदेव के मन में भी स्पृहा उत्पन्न करनेवाली उस कन्या का नाम उसके पिता ने अनंगरति रखा ॥१३॥

जब वह कन्या बड़ी हुई, तब उसके योग्य पति प्राप्त करने के लिए, उसके पिता ने पृथिवी के सभी राजाओं के चित्र मँगवाये ॥१४॥

राजा को जब उनमें से एक भी अपनी कन्या के योग्य न जान पड़ा, तब उसने, स्नेह के कारण, अपनी कन्या से कहा—॥१५॥

"बेटी! मुझे तुम्हारे योग्य कोई वर नहीं दीख पड़ता, अतः तुम सब राजाओं को एकत्र करके स्वयंवर करो" ॥१६॥

पिता की यह बात सुनकर उस राजकुमारी ने कहा—"पिताजी! लज्जा के कारण मैं स्वयंवर नहीं करना चाहती; किन्तु जो भी सुरूप युवक कोई अनूठी कला जानता हो, आप उसी से मेरा विवाह कर दे सकते हैं। इससे अधिक किसी और से मुझे कोई काम नहीं है" ॥१७-१८॥

अपनी कन्या अनंगरति की यह बात सुनकर राजा उसके लिए वैसे ही वर की खोज-ढूँढ़ करने लगे ॥१९॥

इसी बीच, लोगों के मुँह से यह वृत्तान्त सुनकर दक्षिणापथ से चार पुरुष वहाँ आ पहुँचे, जो वीर थे, कलाओं में निपुण थे और भव्य आकृतिवाले थे ॥२०॥

राजा ने उन सबका स्वागत-सत्कार किया। तब उस राजपुत्री की इच्छा रखनेवाले वे, एक के बाद एक, राजा से अपने कला-कौशल का वर्णन करने लगे ॥२१॥

उनमें से पहले ने कहा—"मैं शूद्र हूँ। मेरा नाम पंचपट्टिक है। मैं प्रति दिन पाँच जोड़े उत्तम वस्त्र तैयार करता हूँ। उनमें से एक जोड़ा वस्त्र मैं देवता को चढ़ाता हूँ और एक जोड़ा ब्राह्मण को देता हूँ। एक जोड़ा मैं अपने पहनने के लिए रखता हूँ। इस राजकन्या का विवाह यदि मुझसे होगा, तो एक जोड़ा वस्त्र मैं इसे दूँगा और एक जोड़ा वस्त्र बेचकर मैं अपने खाने-पीने का प्रबन्ध करूँगा। अतः, इस अनंगरति का विवाह आप मुझसे करें।" पहले पुरुष के ऐसा कहने के बाद दूसरा बोला—॥२२—२५॥

भाषाज्ञो नाम वैश्योऽहं सर्वेषां मृगपक्षिणाम्।
रुतं वेद्मि तदेषा मे राजपुत्री प्रदीयताम्॥२६॥

एवमुक्ते द्वितीयेन तृतीयः प्रोक्तवांस्ततः।
अहं खड्गधरो नाम दोःशाली क्षत्रियो नृप॥२७॥

न खड्गविद्याविज्ञाने प्रतिमल्लोऽस्ति मे क्षितौ।
तदेषा तनया राजंस्त्वया मह्यं वितीर्यताम्॥२८॥

इत्युक्ते तु तृतीयेन चतुर्थ इदमभ्यधात्।
विप्रोऽहं जीवदत्ताख्यो विज्ञानं च ममेदृशम्॥२९॥

जन्तून्मृतानप्यानीय दर्शयाम्याशु जीवतः।
तद्वीरचर्यासिद्धं मां पतिमेषा प्रपद्यताम्॥३०॥

एव वक्तृन्स तान्पश्यन्दिव्यवेषाकृतीन्नृपः।
वीरदेवः सुतायुक्तो दोलारूढ इवाभवत्॥३१॥

इत्याख्याय कथामेतां वेतालः पृष्टवान्नृपम्।
स त्रिविक्रमसेनं तं दत्तपूर्वोक्तशापभीः॥३२॥

तद्भवान्वक्तु तावन्मे कस्मै देया विशांपते।
तेषां चतुर्णां मध्यात्सा कन्यानङ्गरतिर्भवेत्॥३३॥

एतच्छ्रुत्वा स राजा तं वेतालं प्रत्यभाषत।
मौनं त्याजयति प्रायः कालक्षेपाय मां भवान्॥३४॥

अन्यथा गहनः कोऽयं प्रश्नो योगेश्वरोच्यताम्।
शूद्राय हि कुविन्दाय क्षत्रिया दीयते कथम्॥३५॥

वैश्यायापि कथं देया क्षत्रिया यच्च तद्गतम्।
मृगादिभाषाविज्ञानं कार्ये तत्क्वोपयुज्यते॥३६॥

योऽपि विप्रस्तृतीयोऽत्र तेनापि पतितेन किम्।
स्वकर्मप्रच्युतेनन्द्रजालिना वीरमानिना॥३७॥

तस्मात्तस्मै क्षत्त्रियाय चतुर्थाय समाय सा।
देया खड्गधरायैव स्वविद्यावीर्यशालिने॥३८॥

एतत्तस्य वचो निशम्य नृपतेरंसस्थलात्पूर्वव-
द्वेतालः स जगामयोगबलतः स्वस्थानमेवाशु तत्।
भूपालोऽपि स तं तथैव पुनरप्यानेतुमन्वगयया-
वुत्साहैकधने हि वीरहृदये नाप्नोति खेदोऽन्तरम्॥३९॥

इति महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके षोडशस्तरङ्गः।

"मैं भाषाज्ञ नामक वैश्य हूँ। मैं सब पशु-पक्षियों की बोलियाँ जानता हूँ; अतः इस राजपुत्री को आप मुझे दें" ॥२६॥

अनन्तर, दूसरा जब इस प्रकार अपनी बात कह चुका, तब तीसरा बोला—"मैं पराक्रमी क्षत्रिय राजा हूँ। मेरा नाम खड्गधर है। खड्ग-विद्या में मेरी बराबरी करनेवाला कोई योद्धा इस धरती पर नहीं है। अतः राजन्! अपनी यह कन्या आप मुझे दें" ॥२७-२८॥

तीसरे के ऐसा कह चुकने पर चौथा बोला—"मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम जीवदत्त है। मेरे पास ऐसी विद्या है, जिससे मैं मरे हुए प्राणियों को लाकर उन्हें जीवित करके दिखला देता हूँ। अतः, ऐसे साहसिक कार्य में दक्ष मुझको आप इसका पति स्वीकार करें" ॥२९-३०॥

दिव्य वेश और आकृतिवाले उन चारों पुरुषों के ऐसा कहने पर, अपनी कन्या के सहित राजा वीरदेव की मनःस्थिति झूले पर चढ़े हुए के समान, आगे-पीछे होने लगी ॥३१॥

इस प्रकार, यह कथा कहकर वेताल ने, पहले कहे हुए शाप से भयभीत राजा त्रिविक्रमसेन से पूछा—"राजन्! अब तुम्हीं बतलाओ कि राजकुमारी अनंगरति का विवाह उन चारों में से किसके साथ करना चाहिए?" ॥३२-३३॥

यह सुनकर राजा ने वेताल को उत्तर दिया—"योगेश्वर! आप समय बिताने के लिए ही प्रायः मुझे मौन भंग करने को विवश करते हैं, अन्यथा आपका यह प्रश्न कौन बड़ा कठिन है? शूद्र जुलाहे को क्षत्रिय की कन्या कैसे दी जा सकती है? वैश्य को भी क्षत्रिय की कन्या नहीं दी जा सकती, और फिर, उसे जो पशु-पक्षियों की भाषा का ज्ञान था, उसका भी क्या उपयोग था? तीसरा जो ब्राह्मण था, वह भी उसका पति होने के योग्य नहीं था; क्योंकि वीरता का अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण, अपना काम छोड़कर बाजीगर बन गया था और इसलिए पतित था। अतः, राजकुमारी का विवाह खड्गधर नामक उस चौथे क्षत्रिय से ही करना उचित है, जो कुल-शील में समान था, अपनी विद्या जाननेवाला था तथा पराक्रमी था" ॥३४—३८॥

राजा की यह बात सुनकर, पहले ही की तरह, वह वेताल उनके कन्धे से उतरकर, योग-बल के द्वारा शीघ्र ही अपनी जगह पर जा पहुँचा। राजा भी उसी तरह, उसे ले आने के लिए फिर उसके पीछे-पीछे गये; क्योंकि वीरों के हृदय का धन एकमात्र उत्साह ही होता है। वे अपने मन में खेद नहीं आने देते ॥३९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशाङ्कवती लम्बक का
षोडश तरङ्ग समाप्त।

भाषाज्ञो नाम वैश्योऽहं सर्वेषां मृगपक्षिणाम् ।
रुतं वेद्मि तदेषा मे राजपुत्री प्रदीयताम् ।।२६।।

एवमुक्ते द्वितीयेन तृतीयः प्रोक्तवांस्ततः ।
अहं खड्गधरो नाम दोःशाली क्षत्रियो नृप ।।२७।।

न खड्गविद्याविज्ञाने प्रतिमल्लोऽस्ति मे क्षितौ ।
तदेषा तनया राजंस्त्वया मह्यं वितीर्यताम् ।।२८।।

इत्युक्ते तु तृतीयेन चतुर्थ इदमभ्यधात् ।
विप्रोऽहं जीवदत्ताख्यो विज्ञानं च ममेदृशम् ।।२९।।

जन्तून्मृतानप्यानीय दर्शयाम्याशु जीवतः ।
तद्वीरचर्यासिद्धं मां पतिमेषा प्रपद्यताम् ।।३०।।

एव वक्तॄन्स तान्पश्यन्दिव्यवेषाकृतीन्नृपः ।
वीरदेवः सुतायुक्तो दोलारूढ इवाभवत् ।।३१।।

इत्याख्याय कथामेतां वेतालः पृष्टवान्नृपम् ।
स त्रिविक्रमसेनं तं दत्तपूर्वोक्तशापभीः ।।३२।।

तद्भवान्वक्तु तावन्मे कस्मै देया विशांपते ।
तेषां चतुर्णां मध्यात्सा कन्यानङ्गरतिर्भवेत् ।।३३।।

एतच्छ्रुत्वा स राजा तं वेतालं प्रत्यभाषत ।
मौनं त्याजयति प्रायः कालक्षेपाय मां भवान् ।।३४।।

अन्यथा गहनः कोऽयं प्रश्नो योगेश्वरोच्यताम् ।
शूद्राय हि कुविन्दाय क्षत्रिया दीयते कथम् ।।३५।।

वैश्यायापि कथं देया क्षत्रिया यच्च तद्गतम् ।
मृगादिभाषाविज्ञानं कार्ये तत्क्वोपयुज्यते ।।३६।।

योऽपि विप्रस्तृतीयोऽत्र तेनापि पतितेन किम् ।
स्वकर्मप्रच्युतेनन्द्रजालिना वीरमानिना ।।३७।।

तस्मात्तस्मै क्षत्त्रियाय चतुर्थाय समाय सा ।
देया खड्गधरायैव स्वविद्यावीर्यशालिने ।।३८।।

एतत्तस्य वचो निशम्य नृपतेरंसस्थलात्पूर्वव-
द्वेतालः स जगामयोगबलतः स्वस्थानमेवाशु तत् ।
भूपालोऽपि स तं तथैव पुनरप्यानेतुमन्वग्यया-
वुत्साहैकधने हि वीरहृदये नाप्नोति खेदोऽन्तरम् ।।३९।।

इति महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके षोडशस्तरङ्गः ।

"मैं भाषाज्ञ नामक वैश्य हूँ। मैं सब पशु-पक्षियों की बोलियाँ जानता हूँ; अतः इस राजपुत्री को आप मुझे दें" ॥२६॥

अनन्तर, दूसरा जब इस प्रकार अपनी बात कह चुका, तब तीसरा बोला—"मैं पराक्रमी क्षत्रिय राजा हूँ। मेरा नाम खड्गधर है। खड्ग-विद्या में मेरी बराबरी करनेवाला कोई योद्धा इस धरती पर नहीं है। अतः राजन्! अपनी यह कन्या आप मुझे दें" ॥२७-२८॥

तीसरे के ऐसा कह चुकने पर चौथा बोला—"मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम जीवदत्त है। मेरे पास ऐसी विद्या है, जिससे मैं मरे हुए प्राणियों को लाकर उन्हें जीवित करके दिखला देता हूँ। अतः, ऐसे साहसिक कार्य में दक्ष मुझको आप इसका पति स्वीकार करें" ॥२९-३०॥

दिव्य वेश और आकृतिवाले उन चारों पुरुषों के ऐसा कहने पर, अपनी कन्या के सहित राजा वीरदेव की मनःस्थिति झूले पर चढ़े हुए के समान, आगे-पीछे होने लगी ॥३१॥

इस प्रकार, यह कथा कहकर वेताल ने, पहले कहे हुए शाप से भयभीत राजा त्रिविक्रमसेन से पूछा—"राजन्! अब तुम्हीं बतलाओ कि राजकुमारी अनंगरति का विवाह उन चारों में से किसके साथ करना चाहिए?" ॥३२-३३॥

यह सुनकर राजा ने वेताल को उत्तर दिया—"योगेश्वर! आप समय बिताने के लिए ही प्रायः मुझे मौन भंग करने को विवश करते हैं, अन्यथा आपका यह प्रश्न कौन बड़ा कठिन है? शूद्र जुलाहे को क्षत्रिय की कन्या कैसे दी जा सकती है? वैश्य को भी क्षत्रिय की कन्या नहीं दी जा सकती, और फिर, उसे जो पशु-पक्षियों की भाषा का ज्ञान था, उसका भी क्या उपयोग था? तीसरा जो ब्राह्मण था, वह भी उसका पति होने के योग्य नहीं था; क्योंकि वीरता का अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण, अपना काम छोड़कर बाजीगर बन गया था और इसलिए पतित था। अतः, राजकुमारी का विवाह खड्गधर नामक उस चौथे क्षत्रिय से ही करना उचित है, जो कुल-शील में समान था, अपनी विद्या जाननेवाला था तथा पराक्रमी था" ॥३४—३८॥

राजा की यह बात सुनकर, पहले ही की तरह, वह वेताल उनके कन्धे से उतरकर, योग-बल के द्वारा शीघ्र ही अपनी जगह पर जा पहुँचा। राजा भी उसी तरह, उसे ले आने के लिए फिर उसके पीछे-पीछे गये; क्योंकि वीरों के हृदय का धन एकमात्र उत्साह ही होता है। वे अपने मन में खेद नहीं आने देते ॥३९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशाङ्कवती लम्बक का षोडश तरङ्ग समाप्त।

सप्तदशस्तरङ्गः

दशमो वेतालः । मदनसेनायाः कथा

स त्रिविक्रमसेनोऽथ गत्वा तं शिंशपातरोः ।
राजा जग्राह वेतालं पुनरंसे चचाल च ॥१॥
प्रयान्तं च तमाह स्म वेतालः सोंऽसपृष्ठगः ।
श्रान्तोऽसि राजंस्तदिमां शृणु श्रमहरां कथाम् ॥२॥
अभूत्सकलभूपालमस्तकन्यस्तशासनः ।
वीरवाहुरिति ख्यातो नाम्ना पार्थिवसत्तमः ॥३॥
तस्यानङ्गपुरं नाम वभूव नगरोत्तमम् ।
तत्रासीदर्थदत्ताख्यः सार्थवाहो महाधनः ॥४॥
तस्यासीद्धनदत्ताख्यज्येष्ठपुत्रकनीयसी ।
सुता मदनसेनेति कन्यारत्नं वणिक्पतेः ॥५॥
तामेकदा निजोद्याने क्रीडन्तीं ससखीजनाम् ।
ददर्श धर्मदत्ताख्यो भ्रातृमित्रं वणिक्सुतः ॥६॥
स तामालोक्य लावण्यरसनिर्भरनिर्झराम् ।
आलक्ष्य कुचकुम्भाग्रां वलित्रयतरङ्गिताम् ॥७॥
यौवनद्विरदस्येव क्रीडामज्जनवापिकाम् ।
सद्योऽभूत्स्मरबाणौघसन्तापहृतचेतनः ॥८॥
अहो धाराधिरूढेन रूपेण द्योतितामुना ।
इयं मे मानसं भेत्तुं भल्ली मारेण निर्मिता ॥९॥
इत्यादि यावद्ध्यायन्स निर्वर्णयति तां चिरम् ।
तावत्तस्यातिचक्राम चक्राह्वस्येव वासरः ॥१०॥
ततो मदनसेना सा विवेश स्वगृहान्तरम् ।
चित्तं च धर्मदत्तस्य तदनालोकनव्यथा ॥११॥
तददर्शनदुःखाग्निसन्तापेनेव च ज्वलन् ।
लोहितो निपपाताशु भास्वानप्यपराम्बुधौ ॥१२॥
तां विज्ञायैव सुमुखीं नक्तमभ्यन्तरे गताम् ।
उदियाय शनैश्चन्द्रस्तन्मुखाब्जविनिर्जितः ॥१३॥
तावद्गत्वा गृहं तां स धर्मदत्तोऽनुचिन्तयन् ।
तस्थौ निपत्य शयने चन्द्रपादाहतो लुठन् ॥१४॥

सप्तदश तरंग

दशम वेताल : मदनसेना की कथा

अनन्तर, त्रिविक्रमसेन ने शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर वेताल को अपने कन्धे पर ले लिया और वे वहाँ से चल पड़े ॥१॥

जाते हुए राजा से, उनकी पीठ के ऊपर बैठे हुए वेताल ने कहा—"राजन्! तुम थक गये हो, इसलिए थकावट दूर करनेवाली मेरी यह कथा सुनो" ॥२॥

वीरबाहु नाम का एक श्रेष्ठ राजा था, जो सभी राजाओं के मस्तकों पर शासन करता था ॥३॥

उसके उत्तम नगर का नाम अनंगपुर था। वहाँ अर्थदत्त नाम का एक महाधनी व्यापारी रहता था ॥४॥

उस व्यापारी के बड़े लड़के का नाम धनदत्त था और छोटी लड़की का नाम मदनसेना था। मदनसेना कन्याओं में रत्न के समान थी ॥५॥

वह एक दिन सखियों के साथ अपने बगीचे में खेल रही थी। तभी धर्मदत्त नामक एक वणिक्-पुत्र ने उसे देखा, जो उसके भाई धनदत्त का मित्र था ॥६॥

उसके शरीर से लावण्य का रस झर रहा था, उसके स्तन-रूपी घड़ों का अग्रभाग दीख रहा था, त्रिवलियाँ तरंगों के समान जान पड़ती थीं। वह मानों यौवन-रूपी हाथी की क्रीडा के लिए वापिका के समान थी। उसे देखते ही धर्मदत्त का हृदय, कामदेव के बाण-समूहों से छिदकर हतचेत-सा हो गया ॥७-८॥

वह सोचने लगा कि 'अरे! अलौकिक रूप की शोभा से जगमगानेवाली इस कन्या को शायद स्वयं कामदेव ने मेरा हृदय बेधने के लिए तीखे तीर के रूप में बनाया है' ॥९॥

ऐसा सोचता हुआ जब वह देर तक उसे देखता रहा था, तभी वह दिन चक्रवाक के दिन (मिलन की घड़ी) की तरह बीत गया ॥१०॥

तब मदनसेना भी अपने घर के अन्दर चली गई। उसे न देख पाने के कारण धर्मदत्त का मन व्यथित होने लगा ॥११॥

उसका दर्शन न मिलने की दुःखाग्नि की ज्वाला में जलकर लाल हुआ सूर्य भी पश्चिम समुद्र में जा डूबा ॥१२॥

उस सुन्दरी को रात के समय अन्दर गई हुई जानकर, उसके मुख-कमल से पराजित चन्द्रमा धीरे-धीरे उदित हुआ ॥१३॥

तबतक उसकी याद करता हुआ धर्मदत्त घर गया और चन्द्रमा की किरणों से बिंधकर, बिछावन पर लोटता हुआ पड़ा रहा ॥१४॥

यत्नेन पृच्छ्यमानोऽपि सखिभिर्बन्धुभिस्तथा।
न किञ्चित्कथयामास स्मरग्रहविमोहितः ॥१५॥
निशि कृच्छ्राच्च सम्प्राप्तनिद्रः स्वप्ने तथैव ताम्।
पश्यन्ननुनयन्कान्तां किं किं चक्रे न सोत्सुकः ॥१६॥
प्रातः प्रबुद्धो गत्वा च ददर्शैकाकिनीं रहः।
सखीं प्रतीक्षमाणां तां तत्रोद्यानस्थितां पुनः ॥१७॥
उपेत्य च परिष्वङ्गलालसः प्रेमपेशलैः।
तामुपच्छन्दयामास वचोभिश्चरणानतः ॥१८॥
कन्याहं परदाराश्च न तवास्मीह साम्प्रतम्।
पित्रा समुद्रदत्ताय दत्ताहं वणिजे यतः ॥१९॥
दिनैः कतिपयैरेव विवाहो भविता च मे।
तद्गच्छ तूष्णीं मा कश्चित्पश्येद्दोषो भवेत्ततः ॥२०॥
इत्युक्तः स तयात्यर्थं धर्मदत्तो जगाद ताम्।
यदस्तु मे न जीवेयं विना हि भवतीमहम् ॥२१॥
तच्छ्रुत्वा सा वणिक्कन्या बलात्कारभयाकुला।
तमुवाच विवाहो मे तावत्सम्पद्यतामिह ॥२२॥
कन्यादानफलं तातः प्राप्नोतु चिरकाङ्क्षितम्।
ततोऽहं त्वामुपैष्यामि निश्चितं प्रणयार्जिता ॥२३॥
श्रुत्वैतत्सोऽब्रवीन्नेष्टा ह्यन्यपूर्वा मम प्रिया।
परभुक्ते हि कमले किमलेर्जायते रतिः ॥२४॥
इत्युक्ता तेन सावादीत्कृतोद्वाहैव तहर्यहम्।
पूर्वं त्वामुपयास्यामि ततोऽभ्येष्यामि तं पतिम् ॥२५॥
एवमुक्तवतीं तस्मिन्नोज्झति प्रत्ययं विना।
वणिक्पुत्रे सशपथं सत्यवाचं बबन्ध सा ॥२६॥
ततस्तेनोज्झिता विग्ना सा विवेश स्वमन्दिरम्।
प्राप्ते च लग्नदिवसे निर्वृत्तोद्वाहमङ्गला ॥२७॥
गत्वा पतिगृहं नीत्वा सोत्सवेन च तद्दिनम्।
सा पत्या सममध्यास्त शयनीयगृहं निशि ॥२८॥
तत्र शय्यानिषण्णापि न तस्य प्रत्यपद्यत।
पत्युः समुद्रदत्तस्य परिष्वङ्गमसम्मुखी ॥२९॥

उसके मित्रों और सम्बन्धियों ने उससे बहुत उपाय से इस विकलता का कारण पूछा, लेकिन काम-रूपी ग्रह से मूर्च्छित धर्मदत्त कुछ भी न कह सका ॥१५॥

रात में बड़ी कठिनाई से जब उसे नींद आई, तब स्वप्न में भी वह अपनी उस प्रिया को ही देखता और उसकी मनुहार करता रहा; क्योंकि उत्सुक हृदयवाला मनुष्य क्या-क्या नहीं करता? ॥१६॥

सबेरे उठकर वह फिर उसी बगीचे में गया। वहाँ उसने मदनसेना को अकेली देखा, जो अपनी सखी की प्रतीक्षा कर रही थी ॥१७॥

उसका आलिंगन करने की इच्छा से वह उसके पास गया और उसके चरणों में झुककर, प्रेम के कोमल वचनों से उसे रिझाने लगा ॥१८॥

तब मदनसेना बोली—"मैं कुमारी हूँ, दूसरे की वाग्दत्ता पत्नी भी हूँ, अब मैं आपकी नहीं हो सकती; क्योंकि मेरे पिता समुद्रदत्त नामक व्यापारी को मेरा वाग्दान कर चुके हैं। थोड़े ही दिनों में मेरा विवाह होनेवाला है। इसलिए, आप चुपचाप चले जायँ; क्योंकि कोई देख लेगा, तो दोष लगेगा" ॥१९-२०॥

इस प्रकार, बहुत तरह से उसके समझाने पर धर्मदत्त ने कहा—"मेरा चाहे जो भी हो, मैं तुम्हारे विना जीवित नहीं रह सकता" ॥२१॥

उसकी यह बात सुनकर मदनसेना इस भय से विकल हो गई कि कहीं यह बल-प्रयोग न करे। उसने कहा—"आपने अपने प्रेम से मुझे जीत लिया है, किन्तु पहले मेरा विवाह हो जाने दीजिए। पहले पिताजी को कन्यादान का चिर-आकांक्षित फल प्राप्त हो जाय, फिर मैं आपके पास आऊँगी ॥२२-२३॥

यह सुनकर धर्मदत्त ने कहा—"मैं यह नहीं चाहता कि मेरी प्रिया, मुझसे पहले किसी और की हो चुकी हो; क्योंकि दूसरा जिसका रस ले चुका हो, क्या उस कमल पर भौंरा प्रीति रख सकता है?" ॥२४॥

उसके यह कहने पर मदनसेना बोली—"तब विवाह होते ही, पहले मैं आपके पास आऊँगी और तब अपने पति के पास जाऊँगी" ॥२५॥

ऐसा कहने पर भी उस वणिक्-पुत्र ने विना पूरे विश्वास के उसे नहीं छोड़ा। उसने शपथ के सहित उसे सत्यवचन में बाँध दिया ॥२६॥

तब उससे छुटकारा पाकर, घबराई हुई वह अपने घर गई। विवाह का समय आने पर जब उसके विवाह का मंगल-कार्य समाप्त हो गया, तब वह पति के घर आई। हँसी-खुशी में दिन बिताकर, रात के समय, वह पति के साथ शयन-गृह में गई ॥२७-२८॥

वहाँ, पलंग पर बैठकर भी उसने अपने पति समुद्रदत्त की आलिंगन आदि चेष्टाओं को स्वीकार नहीं किया ॥२९॥

तेनानुनीयमानापि यदुदश्रुर्बभूव सा।
तत्स नाभिमतोऽस्म्यस्या नूनमित्यकरोद्धृदि ॥३०॥
जगाद चानभिमतो यदहं तव सुन्दरि।
तन्मे नार्थस्त्वया गच्छ यः प्रियस्तव तं प्रति ॥३१॥
तच्छ्रुत्वा सा नतमुखी शनैरेवमुवाच तम्।
त्वं मे प्राणाधिकः प्रेयान्विज्ञप्तिं किं तु मे श्रृणु ॥३२॥
अनुतिष्ठ सहर्षं च प्रयच्छ च ममाभयम्।
कुरुष्व शपथं यावदार्यपुत्र वदामि ते ॥३३॥
एमुक्तवती कृच्छ्रात्तथा तेन कृते पुनः।
सलज्जं सविषादं च सभयं च जगाद सा ॥३४॥
एकाकिनीं गृहोद्याने दृष्ट्वा मामेकदा युवा।
अरुणद्धर्मदत्ताख्यः सखा भ्रातुः स्मरातुरः ॥३५॥
रक्षन्त्या सपरीवादं कन्यादानफलं पितुः।
मया हठप्रवृत्तस्य तस्य वाक्संयमः कृतः ॥३६॥
पूर्वं कृतविवाहा त्वामुपैष्यामि ततः प्रियम्।
तन्मे सत्यवचः पाल्यमनुमन्यस्व तत्प्रभो ॥३७॥
यावत्तन्निकटं गत्वा क्षणेनोपैमि तेऽन्तिकम्।
नहि शक्नोम्यतिक्रान्तुं सत्यमावाल्यसेविताम् ॥३८॥
इति तस्या वचोवज्रपातेन सहसा हतः।
समुद्रदत्तः सत्येन वद्धः क्षणमचिन्तयत् ॥३९॥
अहो धिगन्यरक्तेयं गन्तव्यं ध्रुवमेतया।
तत्सत्यं हन्मि किं यातु कोऽस्याः परिणयग्रहः ॥४०॥
इत्यालोच्यानुमेने तां यथेष्टगमनाय सः।
साप्युत्थाय ततस्तस्मान्निर्ययौ पतिवेश्मनः ॥४१॥
तावदत्रोदयाद्रीन्द्रहर्म्याग्रं हिमदीधितिः।
आरुरोह कराक्रान्तहसत्पूर्वदिगङ्गनः ॥४२॥
ततस्तमः स्वप्याश्लिष्य स्थितेष्वद्रिदरीप्रियाः।
सेवमानेषु भृङ्गेष्वप्यपरं कुमुदाकरम् ॥४३॥
यान्ती मदनसेना सा मार्गे दृष्ट्वैकका निशि।
चौरेणाधाव्य केनापि रुरुधे वसनाञ्चले ॥४४॥

धर्मदत्त जब उसे अपनी मीठी बातों से रिझाने की चेष्टा करने लगा, तब मदनसेना की आँखों में आँसू भर आये। तब धर्मदत्त ने मन में सोचा कि निश्चय ही यह मुझे पसन्द नहीं करती ॥३०॥

धर्मदत्त ने कहा--"सुन्दरी, यदि मैं तुम्हें पसन्द नहीं हूँ, तो मुझे भी तुमसे कोई काम नहीं है। जो तुम्हें प्रिय हो, तुम उसी के पास चली जाओ" ॥३१॥

यह सुनकर उसने सिर झुका लिया। फिर, वह धीरे-धीरे बोली—"आर्यपुत्र ! आप मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं; किन्तु मुझे आपसे कुछ कहना है। आप उसे सुनें। आप प्रसन्न रहें और मुझे शपथपूर्वक अभयदान दें, जिससे मैं अपनी बात कह सकूँ" ॥३२-३३॥

बड़ी कठिनाई से उसके ऐसा कहने पर, जब धर्मदत्त ने शपथ ले ली, तब वह लज्जा, विषाद और भय के सहित फिर बोली—"एक बार जब मैं अपने घर के बगीचे में अकेली खड़ी थी, कामपीडा से आतुर होकर मेरे भाई के धर्मदत्त नामक एक युवक मित्र ने मुझे रोक लिया। जब वह जिद पर उतर आया, तब मैंने, पिता को क़न्यादान का फल मिल सके और निन्दा भी न हो, इस विचार से उसे वचन दिया कि विवाह हो जाने पर पहले मैं आपके पास आऊँगी, तब अपने पति के पास जाऊँगी। अतः, स्वामी ! आप मुझे अपने सत्य वचन का पालन करने की अनुमति दें। मैं उसके पास जाकर क्षण-भर में ही आपके निकट लौट आऊँगी। बचपन से मैंने जिस सत्य का पालन किया, उसको मैं छोड़ नहीं सकती" ॥३४—३८॥

उसकी इन बातों ने समुद्रदत्त को वज्रपात के समान आहत किया। लेकिन, वह सत्य से बँधा हुआ था, इसलिए क्षणभर सोचता रहा--"अन्य पुरुष में आसक्त इस स्त्री को धिक्कार है। यह जायगी तो अवश्य ही, फिर मैं इसे सत्य से क्यों डिगाऊँ ? इससे मेरा विवाह हुआ है, इसका आग्रह मुझे क्यों होना चाहिए ?" ॥३९-४०॥

यह सब सोचकर समुद्रदत्त ने उसे जहाँ-जी-चाहे, जाने की अनुमति दे दी। वह उठी और पति के घर से बाहर निकल गई ॥४१॥

इसी बीच हँसती हुई पूर्व दिशा-रूपी अंगना का हाथ पकड़कर, चन्द्रमा, उदयाचल के विशाल प्रासादाग्र पर जा चढ़ा ॥४२॥

पर्वत-गुफा-रूपी प्रिया का आलिंगन करके अन्धकार सोया पड़ा था। भौंरें भी विभिन्न कुमुदिनियों के समूहों का सेवन कर रहे थे ॥४३॥

मदनसेना ऐसी रात में अकेली मार्ग में चली जा रही थी। किसी चोर ने दौड़कर उसका आँचल पकड़ा और उसे रोक लिया ॥४४॥

का त्वं ब्रूहि क्व यासीति तेनोक्ता विभ्यती च सा।
उवाच किं तवानेन मुञ्च कार्यमिहास्ति मे ॥४५॥
ततश्चौरोऽब्रवीन्मत्तश्चौरात्त्वं मुच्यसे कथम्।
तच्छ्रुत्वा सावदत्तं च गृहाणाभरणानि मे ॥४६॥
अथ चौरोऽभ्यधान्मुग्धे किमेभिरुपलैर्मम।
चन्द्रकान्ताननां तार्क्ष्यरत्नासितशिरोरुहाम् ॥४७॥
वज्रमध्यां सुवर्णाङ्गीं पद्मरागाङ्घ्रिहारिणीम्।
जगदाभरणं नैव मोक्ष्यामि भवतीमहम् ॥४८॥
इत्युक्ता तेन चौरेण विवशा सा वणिक्सुता।
आख्याय निजवृत्तान्तमेवं प्रार्थयते स्म तम् ॥४९॥
क्षमस्व मे क्षणं यावत्कृत्वा सत्यानुपालनम्।
इहस्थस्यैव ते पार्श्वमागमिष्यामि सत्वरम् ॥५०॥
नाहमुल्लङ्घयिष्यामि भद्र सत्यामिमां गिरम्।
श्रुत्वैतत्सत्यसन्धां तां मत्वा चौरो मुमोच सः ॥५१॥
तस्थौ प्रतीक्षमाणश्च तत्रैव स तदागमम्।
सापि तस्यान्तिकं धर्मदत्तस्य वणिजो ययौ ॥५२॥
स चाभीष्टामपि प्राप्तां तथा तां विजने स्थिताम्।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा यथावृत्तं विचिन्त्य क्षणमब्रवीत् ॥५३॥
सत्येन तव तुष्टोऽस्मि किं त्वया मे परस्त्रिया।
यावत्त्वां नेक्षते कश्चित्तावद्गच्छ यथागतम् ॥५४॥
इति तेन परित्यक्ता सा तथेत्याययौ ततः।
चौरस्य निकटं तस्य प्रतिपालयतः पथि ॥५५॥
ब्रूहि कस्तेऽत्र वृत्तान्तो गताया इति पृच्छते।
तस्मै सा तेन वणिजा यथा मुक्ता तथाब्रवीत् ॥५६॥
ततः स चौरोऽवादीत्तां यद्येव तन्मयाप्यसि।
विमुक्ता सत्यतुष्टेन गृहं साभरणा व्रज ॥५७॥
एवं तेनापि सा त्यक्ता रक्षिता चानुयायिना।
अलुप्तशीला मुदिता पत्युरेवाययौ गृहम् ॥५८॥
तत्र गुप्तं प्रविष्टा सा प्रहृष्टोपागता सती।
दृष्ट्वा पृष्टवते तस्मै पत्ये सर्वमवर्णयत् ॥५९॥

चोर ने जब पूछा कि 'तुम कौन हो और कहाँ जा रही हो ?' तब डरती हुई मदनसेना बोली—"तुम्हें इससे क्या है ? मुझे छोड़ दो। यहाँ मुझे काम है" ॥४५॥

चोर ने कहा—"मैं तो चोर हूँ। तुम मुझसे कैसे छुटकारा पा सकती हो ?" यह सुनकर मदनसेना बोली—"तब तुम मेरे गहने ले लो" ॥४६॥

चोर ने कहा—"अरी भोली ! इन पत्थरों को लेकर मैं क्या करूँगा ? तुम्हारा मुख चन्द्रकान्त मणि के समान है, काले केश तार्क्ष्यरत्न (नागमणि) के समान हैं, कमर हीरे के समान है, शरीर सोने का-सा है, अवयव पद्मराग मणि के समान हैं। तुम जगत् के आभूषण के समान हो। मैं तुम्हें किसी तरह नहीं छोड़ूँगा" ॥४७-४८॥

चोर के ऐसा कहने पर उस वणिक्-पुत्री ने विवश होकर अपना वृत्तान्त सुनाने के बाद उस चोर से प्रार्थना करते हुए कहा—"क्षण-भर के लिए तुम मुझे क्षमा करो। तुम यहीं ठहरो, तबतक मैं अपना वचन पूरा करके शीघ्र ही तुम्हारे पास आ जाती हूँ। मैं अपनी इस सच्ची बात का उल्लंघन न करूँगी।" यह सुनकर चोर ने उसे सचाई पर अटल रहनेवाली समझा और छोड़ दिया। वह चोर वहीं रुककर उसके लौटने की प्रतीक्षा करने लगा। मदनसेना वहाँ धर्मदत्त नामक वणिक् के पास चली गई॥४९—५२॥

धर्मदत्त, मदनसेना को चाहता था। उसे इस प्रकार निर्जन में अपने पास आई हुई देखकर उसने सारा वृत्तान्त पूछा। फिर, थोड़ी देर तक सोचने के बाद वह बोला—"तुम्हारी सचाई से मैं सन्तुष्ट हूँ, लेकिन तुम पराई स्त्री हो। तुमसे मुझे क्या प्रयोजन है ? अतः, तुम्हें कोई देख ले, इससे पहले ही तुम जहाँ से आई हो ,वहीं चली जाओ" ॥५३-५४॥

इस प्रकार, धर्मदत्त ने जब उसे छोड़ दिया, तब वह उस चोर के पास आई, जो मार्ग में उसकी प्रतीक्षा कर रहा था ॥५५॥

चोर के यह पूछने पर कि 'तुम जहाँ गई थी, वहाँ का हाल-चाल सुनाओ।' मदनसेना ने चोर से वह बात सुनाई, जो धर्मदत्त ने कही थी ॥५६॥

तब उस चोर ने उससे कहा—"यदि ऐसी बात है, तो मैं भी तुम्हें छोड़े देता हूँ। मैं तुम्हारी सचाई से सन्तुष्ट हूँ। तुम अपने गहनों के साथ घर जाओ" ॥५७॥

इस तरह उस चोर ने भी उसे छोड़ दिया और उसकी सुरक्षा के लिए उसके साथ-साथ चला। मदनसेना अपने शील की रक्षा कर सकी थी, इसलिए वह प्रसन्नतापूर्वक अपने घर में पति के पास आई ॥५८॥

छिपकर उस सती ने अपने घर में प्रवेश किया और प्रसन्नतापूर्वक वह पति के निकट गई। उसे देखकर जब पति ने पूछा, तब उसने सारा वृत्तान्त उसे बतला दिया ॥५९॥

सोऽप्यलुप्तमुखच्छायां तामसम्भोगलक्षणाम्।
सम्भाव्याभग्नचारितां सत्यलाभरतां सतीम्॥६०॥
अदृष्टमनसं भार्यामभिनन्द्य कुलोचितम्।
तस्थौ समुद्रदत्तोऽथ तया सह यथासुखम्॥६१॥
इति तत्र कथामुक्त्वा पितृवनभूमौ तदा स वेतालः।
वदति स्म तं त्रिविक्रमसेनं वसुधाधिपं भूयः॥६२॥
तद्ब्रूहि चौरवणिजामेषां मध्यान्नरेन्द्र कस्त्यागी।
जानन्यदि न वदिष्यसि विदलिष्यति ते शिरः शतधा॥६३॥
तच्छ्रुत्वा स महीपतिरुज्झितमौनस्तमाह वेतालम्।
एषां चौरस्त्यागी न पुनर्वणिजावुभावपि तौ॥६४॥
यो हि पतिस्तामजहदत्याज्यां तादृशीं विवाह्यापि।
कुलजः सोऽन्यासक्तां भार्यां जानन्कथं वहतु॥६५॥
योऽप्यपरः स भयात्तामत्याक्षीत्कालजीर्णसंवेगः।
विदितार्थो भर्त्तास्याः प्रातर्ब्रूयान्नृपायेति॥६६॥
चौरस्तु गुप्तचारी निरपेक्षः पापकर्मकृत्प्राप्तम्।
स्त्रीरत्नं यदमुञ्चत्साभरणं तेन स त्यागी॥६७॥
एतच्छ्रुत्वैवांसतस्तस्य राज्ञो वेतालोऽगात्पूर्ववत्स्वं पदं सः।
राजा भूयोऽप्यत्र सम्प्राप्तुमेतं प्रायादेवा खण्डितोद्दामधैर्यः॥६८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके सप्तदशस्तरङ्गः।

अष्टादशस्तरङ्गः

एकादशो वेतालः। राज्ञो धर्मध्वजस्य कथा

ततो गत्वा पुनः प्राप्य शिंशपातोऽग्रहीन्नृपः।
स त्रिविक्रमसेनोंऽसे वेतालं तं चचाल च॥१॥
आयान्तं च तमंसस्थो वेतालः सोऽब्रवीन्नृपम्।
राजन्विचित्रामेकां ते वर्णयामि कथां शृणु॥२॥
उज्जयिन्यामभूत्पूर्वं नाम्ना धर्मध्वजो नृपः।
तिस्रस्तस्याभवन्भार्या राजपुत्र्योऽतिवल्लभाः॥३॥

पति ने देखा कि उसके मुख की कान्ति कुम्हलाई नहीं है, उसके शरीर पर सम्भोग का कोई चिह्न नहीं है और उसका मन शुद्ध है; अतः उसने मदनसेना को अखण्डित चरित्रवाली, सत्य का पालन करनेवाली तथा सती स्त्री मानकर उसका कुलोचित सत्कार किया। अनन्तर, समुद्रदत्त उसके साथ सुखपूर्वक रहने लगा ॥६०-६१॥

उस श्मशान-भूमि में यह कथा सुनाकर वेताल ने राजा त्रिविक्रमसेन से फिर यों कहा—"राजन्! अब यह बतलाओ कि उस चोर और उन दोनों वणिक्-पुत्रों में से त्यागी कौन था? यदि जानते हुए भी तुम न बतलाओगे, तो तुम्हारा मस्तक सौ टुकड़ों में फट जायगा" ॥६२-६३॥

यह सुनने पर मौन छोड़कर राजा ने वेताल से कहा—"त्यागी उनमें से चोर ही था, दोनों वणिक्-पुत्र नहीं। पति ने वैसे आचारणवाली स्त्री को, विवाहिता होने पर भी त्याग करने के योग्य समझकर उसका त्याग किया था। वह कुलीन वणिक् अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष के प्रति आसक्त जानकर भी कैसे अपनाता? दूसरे वणिक् का हृदयावेग समय पाकर मन्द हो गया था, फिर उसे इस बात का डर भी हुआ होगा कि सारी बातें जानकर उसका पति, सवेरा होने पर, राजा से कह देगा। अतः, उसने भी उसे त्याग दिया। लेकिन, चोर को कोई डर नहीं था। वह गुप्तरूप से पाप-कर्म में लगा हुआ था। उसने जो आभूषणों के सहित पाई हुई स्त्री को छोड़ दिया, इससे वही सच्चा त्यागी था" ॥६४—६७॥

यह सुनते ही वेताल उस राजा के कन्धे से पहले की ही तरह फिर अपनी जगह पर जा पहुंचा। राजा भी अपना असीम धैर्य खोये बिना, उसे ले आने के लिए पुनः चल पड़ा ॥६८॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का सप्तदश तरंग समाप्त।

अष्टादश तरंग

एकादश वेताल : राजा धर्मध्वज की कथा

राजा ने फिर शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर वेताल को अपने कन्धे पर उठाया और चलना आरम्भ किया ॥१॥

चलते हुए राजा के कन्धे पर बैठे वेताल ने कहा—"राजन्! तुम्हें एक विचित्र कथा सुनाता हूँ। सुनो ॥२॥

पुराने समय में उज्जयिनी में धर्मध्वज नामक एक राजा था। तीन राजकन्याएँ उसकी स्त्रियाँ थीं, जो उसे बहुत प्रिय थीं ॥३॥

एका तास्विन्दुलेखेति तारावल्यपरा तथा।
नाम्ना मृगाङ्कवत्यन्या निःसामान्यवपुर्गुणाः ॥४॥
ताभिः स विहरन्राजा राज्ञीभिस्तिसृभिः सह।
आसांचक्रे कृती तत्र जिताशेषरिपुः सुखम् ॥५॥
एकदा तत्र सम्प्राप्ते वसन्तसमयोत्सवे।
प्रियाभिः सहितस्ताभिरुद्यानं क्रीडितुं ययौ ॥६॥
तत्रालिमालामौर्वीकाः पश्यन्पुष्पानता लताः।
चापयष्टीरनङ्गस्य मधुना सज्जिता इव ॥७॥
शृण्वंश्च तद्द्रुमाग्रस्थकोकिलोदीरितां गिरम्।
सम्भोगैकरसस्याज्ञामिव मानसजन्मनः ॥८॥
सिषेवेऽन्तःपुरैः साकं स राजा वासवोपमः।
पानं मदस्य कन्दर्पजीवितस्यापि जीवितम् ॥९॥
तन्निःश्वाससुगन्धीनि तद्विम्बौष्ठरुचीनि च।
प्रियापीतावशेषाणि पिबन्रेमे मधूनि सः ॥१०॥
तत्र तस्येन्दुलेखाया राज्ञः केलिकचग्रहात्।
तस्याः पपात कर्णाग्रादुत्सङ्गे त्वङ्गदुत्पलम् ॥११॥
तेनोरुपृष्ठे सहसा क्षते जातेभिघातजे।
अभिजाता महादेवी हाहेत्युक्त्वा मुमूर्च्छ सा ॥१२॥
तद्दृष्ट्वा विह्वलेनार्त्या राज्ञा परिजनेन च।
समाश्वास्यत राज्ञी सा शनैः शीताम्बुमारुतैः ॥१३॥
ततो नीत्वा स राजा तां राजधानीं भिषक्कृतैः।
प्रियामुपाचरद्दिव्यैरामुक्तव्रणपट्टिकाम् ॥१४॥
रात्रौ च सुस्थितां दृष्ट्वा तां स राजा द्वितीयया।
तारावल्या सहारोहच्चन्द्रप्रासादमीश्वरः ॥१५॥
तत्र तस्याङ्कसुप्ताया राज्ञस्तस्या हिमत्विषः।
करा जालपथैः पेतुरङ्गे चलितवाससि ॥१६॥
ततः क्षणात्प्रबुद्धा सा हा दग्धास्मीति वादिनी।
शयनात्सहसोत्तस्थौ तदङ्गपरिमर्शिनी ॥१७॥
किमेतदिति सम्भ्रान्तः प्रबुद्धोऽथ ददर्श सः।
उत्थाय राजा विस्फोटानङ्गे तस्या विनिर्गतान् ॥१८॥

उनमें एक का नाम इन्दुलेखा था और दूसरी का तारावली। तीसरी मृगांकवती थी। ये तीनों ही असाधारण सुन्दरी थीं ॥४॥

जिसने अपने सब शत्रुओं को जीत लिया था, ऐसा वह कृती राजा अपनी तीनों रानियों के साथ विहार करता हुआ सुखपूर्वक रहता था ॥५॥

एक बार जब वसन्त-काल का उत्सव आया, तब वह राजा अपनी प्रियाओं के साथ, क्रीडा करने के लिए उद्यान में गया ॥६॥

वहाँ उसने पुष्पों से झुकी हुई लताएँ देखीं, जो कामदेव के धनुष जैसी लग रही थीं। उसमें भौरों का समूह प्रत्यंचा के समान लगता था, जिसे मानों वसन्त ने सजाया था ॥७॥

इन्द्र के समान उस राजा ने उद्यान-वृक्षों के शिखर पर बैठी कोयल की वह कूक सुनी, जो मानों उस मनसिज की आज्ञा के समान जान पड़ती थी, जिसे एकमात्र भोग-रस ही प्रिय है। राजा ने अपनी पत्नियों के सहित वह मद-पान किया, जो कामियों के लिए जीवन के समान है ॥८-९॥

राजा ने अपनी स्त्रियों के पीने से बची हुई उस मदिरा को पीकर प्रसन्नता पाई, जो उनके निःश्वास से सुगन्धित थी और बिम्बफल जैसे उनके होठों की तरह लाल रंग की थी ॥१०॥

राजा ने खेल-ही-खेल में रानी इन्दुलेखा की चोटी पकड़कर खींची, जिससे उसके कानों पर से कमल का फूल खिसककर उसकी गोद में जा गिरा ॥११॥

उस फूल के आघात से उस कुलवती रानी की जाँघ पर घाव हो गया और वह हाय-हाय करती हुई मूर्च्छित हो गई ॥१२॥

यह देखकर राजा और उनके अनुचर घबराहट से विकल हो गये और वे शीतल जल छिड़ककर तथा पंखा डुलाकर रानी को धीरे-धीरे होश में ले आये ॥१३॥

अनन्तर, राजा उसे राजधानी में ले आये। वहाँ वैद्य की दी हुई घाव भरने की अनूठी मरहम-पट्टी से वे अपनी प्रिया का उपचार करने लगे ॥१४॥

रात में, इन्दुलेखा की हालत में सुधार देखकर राजा अपनी दूसरी पत्नी तारावली के साथ चन्द्र-प्रासाद नाम के महल में गये ॥१५॥

वहाँ तारावली राजा की गोद में सो गई। उसके वस्त्र खिसक गये थे, जबकि उसके शरीर पर खिड़की की जालियों से होकर चन्द्रमा की किरणें पड़ीं ॥१६॥

पल-भर में वह जाग उठी और 'हाय मैं जल गई' कहती हुई अचानक पलंग से उठकर अपने अंग मलने लगी ॥१७॥

घबराकर राजा भी उठ बैठे और 'यह क्या हुआ' सोचते हुए उन्होंने देखा कि तारावली के शरीर पर फफोले निकल आये हैं ॥१८॥

पृच्छन्तं सा च तं प्राह राज्ञी तारावली तदा।
नग्नाङ्गे पतितैरिन्दोः करैरेतत्कृतं मम॥१९॥
इत्युक्तवत्याः क्रन्दन्त्याः सार्तिराह्वयति स्म सः।
तस्याः परिजनं राजा विह्वलाकुलधावितम्॥२०॥
तेनास्याः कारयामास सजलैर्नलिनीदलैः।
शय्यामदापयच्चाङ्गे श्रीखण्डार्द्रविलेपनम्॥२१॥
तावद्बुद्ध्वा तृतीयास्य सा मृगाङ्कवती प्रिया।
तत्पार्श्वमागन्तुमना निर्ययौ निजमन्दिरात्॥२२॥
निर्गता साशृणोत्क्वापि गृहे धान्यावघातजम्।
निःशब्दायां निशि व्यक्तं विदूरे मुसलध्वनिम्॥२३॥
श्रुत्वैव हा मृतास्मीति ब्रुवाणा धुन्वती करौ।
उपाविशद्व्यथाक्रान्ता मार्गे सा मृगलोचना॥२४॥
ततः प्रतिनिवृत्त्यैव नीत्वा परिजनेन सा।
स्वमेवान्तःपुरं बाला रुदती शयनेऽपतत्॥२५॥
ददर्श तत्र तस्याश्च चिन्वन्साश्रुः परिच्छदः।
आलीनभ्रमरौ पद्माविव हस्तौ किणाङ्कितौ॥२६॥
गत्वा च सोऽब्रवीद्राज्ञे राजाप्यागत्य विह्वलः।
किमेतदिति पप्रच्छ सोऽथ धर्मध्वजः प्रियाम्॥२७॥
सापि प्रदर्श्य हस्तौ तमित्युवाच रुजान्विता।
श्रुते मुसलशब्दे मे जातावेतौ किणाङ्कितौ॥२८॥
ततः स दाहशमनं दापयामास हस्तयोः।
तस्याश्चन्दनलेपादि राजाद्भुतविषादवान्॥२९॥
एकस्या उत्पलेनापि पतता क्षतमाहितम्।
द्वितीयस्याः पुनर्दग्धमङ्गं शशिकरैरपि॥३०॥
एतस्यास्तु तृतीयस्याः श्रुतेनापि विनिर्गताः।
कष्टं मुसलशब्देन हस्तयोरीदृशाः किणाः॥३१॥
अहो युगपदेतासां प्रेयसीनां ममाधुना।
गुणोऽप्यत्यभिजातत्वं जातो दोषाय दैवतः॥३२॥
इति चिन्तयतस्तस्य भ्रमतोऽन्तःपुरेषु च।
त्रियामा शतयामेव कृच्छ्रात्सा नृपतेर्ययौ॥ ३३॥

पूछने पर रानी तारावली ने कहा कि 'नंगे शरीर पर पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणों ने मेरी यह हालत की है' ॥१९॥

यह कहकर जब वह रोने लगी, तब राजा ने घबराकर उसकी परिचारिकाओं को पुकारा। वे विह्वल और विकल होकर दौड़ी आईं ॥२०॥

उन्होंने रानी के लिए गीले कमल-पत्रों की सेज बिछाई और उसके शरीर पर घिसे हुए चन्दन का लेप लगाया ॥२१॥

इसी बीच राजा की तीसरी रानी मृगांकवती जग गई और राजा के पास जाने की इच्छा से अपने महल से निकली ॥२२॥

उस सुनसान रात में बाहर निकलते ही उसने दूर के किसी घर से धान कूटे जाने की मूसल की आवाज सुनी ॥२३॥

सुनते ही 'हाय मैं मरी' कहकर, हाथ मलती हुई वह मृगलोचनी पीडा से विकल होकर मार्ग में ही बैठ गई ॥२४॥

वहाँ से लौटकर वह अपनी परिचारिकाओं के द्वारा अपने अन्तःपुर में ले आई गई और रोती हुई अपनी शय्या पर जा गिरी ॥२५॥

आँसू-भरी आँखोंवाली परिचारिकाओं ने जब उसकी जाँच की, तब उन्होंने उसकी हथेलियों पर काले धब्बे देखे, जो ऐसे जान पड़ते थे, मानों कमलों पर भौंरे बैठे हों ॥२६॥

उन्होंने जाकर राजा से सब हाल कहा। राजा धर्मध्वज घबराये हुए आये और उन्होंने अपनी प्रिया से पूछा कि 'यह क्या हुआ' ॥२७॥

रोगिणी रानी ने अपने हाथ दिखलाकर राजा से कहा—"मूसल की आवाज सुनने से मेरे हाथों में ये निशान पड़ गये हैं" ॥२८॥

तब आश्चर्य और विषाद में पड़े हुए राजा ने उसके हाथों पर दाह का शमन करनेवाले चन्दन आदि का लेप लगवाया ॥२९॥

राजा सोचने लगे—'मेरी एक रानी को कमल के गिरने से घाव हो गया, चन्द्रमा की किरणों से दूसरी के अंग जल गये, और इस तीसरी के हाथों में मूसल का शब्द सुनने से ही ऐसे निशान पड़ गये!' हाय, दैवयोग से मेरी इन तीनों ही प्रियाओं का आभिजात्य के गुण एक साथ ही दोष का कारण बन गया ॥'३०-३२॥

ऐसा सोचकर अन्तःपुर में घूमते हुए राजा के लिए रात के तीन पहर सौ पहरों की तरह कठिनाई से बीते ॥३३॥

प्रातश्च स भिषक्छल्यहर्त्तृभिः सह सव्यधात् ।
तथा यथाभूदचिरात्स्वस्थान्तःपुरनिर्वृतः ॥३४॥
एवमेतां कथामुक्त्वा वेतालोऽत्यद्भुतां तदा ।
स त्रिविक्रमसेनं तं पप्रच्छांसस्थितो नृपम् ॥३५॥
अभिजाततरैतासु राजन्राज्ञीषु का वद ।
पूर्वोक्तः सोऽस्तु शापस्ते जानन्यदि न जल्पसि ॥३६॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्राजा सुकुमारतरात्र सा ।
अस्पृष्टे मुसले यस्याः शब्देनैवोद्गताः किणाः ॥३७॥
उत्पलेन्दुकरैः स्पर्शे वत्ते त्वितरयोर्द्वयोः ।
सञ्जाता व्रणविस्फोटास्तेन तस्या न ते समे ॥३८॥
इति तस्योक्तवतोंऽसाद्राज्ञो भूयो जगाम स स्वपदम् ।
वेतालः स च राजा तथैव तं सुदृढनिश्चयोऽनुययौ ॥३९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके अष्टादशस्तरङ्गः ।

एकोनविंशस्तरङ्गः

द्वादशो वेतालः । यशःकेतोः कथा

स त्रिविक्रमसेनोऽथ पुनस्तं शिंशपातरुम् ।
गत्वा प्राप्य च वैतालं राजा स्कन्धे चकार तम् ॥१॥
प्रतस्थे च तमादाय तूष्णीमेव स पूर्ववत् ।
ततो भूयस्तमाह स्म वेतालः सोंऽसपृष्ठतः ॥२॥
राजन्नेवमनुद्विग्नः पर्याप्तमसि मे प्रियः ।
तदेतां शृण्वखेदाय हृद्यामाख्यामि ते कथाम् ॥३॥
अङ्गदेशे यशःकेतुरिति राजाभवत्पुरा ।
क्ष्मामाश्रितोऽङ्गगुप्त्यर्थमदग्धोऽन्य इव स्मरः ॥४॥
बाहुवीर्यजिताशेषवैरिवर्गस्य तस्य च ।
दीर्घदर्शीत्यभून्मन्त्री शक्रस्येव बृहस्पतिः ॥५॥
तस्मिन्मन्त्रिणि विन्यस्य राज्यं स हतकण्टकम् ।
शनैः सुखैकसक्तोऽभूद्वयोरूपमदान्नृपः ॥६॥

सवेरे वैद्यों और शल्यक्रिया जाननेवालों ने मिलकर ऐसा उपाय किया, जिससे रानियाँ शीघ्र ही स्वस्थ हो गईं और राजा निश्चिन्त हुए ॥३४॥

इस प्रकार, यह अद्‌भुत कथा राजा त्रिविक्रमसेन को सुनाकर उनके कन्धे पर बैठे हुए वेताल ने पूछा—"राजन् ! यह बतलाओ कि इन तीनों रानियों में सबसे अधिक सुकुमार कौन थी ? जानते हुए भी यदि तुम न बतलाओगे, तो तुम पर पहले कहा हुआ शाप पड़ेगा" ॥३५-३६॥

यह सुनकर राजा ने कहा—"उनमें सबसे सुकुमार तो वही थी, जिसने मूसल को छुआ भी नहीं, केवल उसकी आवाज से ही जिसके हाथ में दाग पड़ गये। बाक़ी दोनों को तो कमल और चन्द्र-किरणों के स्पर्श से घाव तथा फफोले हुए थे, अतः वे दोनों उसकी बराबरी नहीं कर सकतीं ॥३७-३८॥

राजा ने जब वेताल से ऐसा कहा, तब वह उसके कन्धे से उतरकर फिर अपनी जगह चला गया। दृढ निश्चय वाले राजा भी, पहले की ही तरह, फिर उसके पीछे-पीछे गये ॥३९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का अष्टादश तरङ्ग समाप्त।

एकोनविंश तरंग

द्वादश वेताल : यशःकेतु की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने फिर उस शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर वेताल को पाया और उसे कन्धे पर उठा लिया ॥१॥

राजा उसे लेकर पहले की ही तरह चुपचाप चल पड़े। तब उनके कन्धे पर से उस वेताल ने फिर कहा—"तुम अपनी ऐसी अनुद्विग्नता से मेरे बहुत प्रिय बन गये हो; इसलिए सुनो, मैं तुम्हारी प्रसन्नता के हेतु, यह रोचक कथा सुनाता हूँ" ॥२-३॥

पुराने समय में अंगदेश में यशःकेतु नाम का एक राजा था। वह मानों विना जला हुआ एक दूसरा कामदेव था, जिसने अपना शरीर छिपाने के लिए धरती का आश्रय लिया था ॥४॥

उस राजा ने अपने बाहु-बल से सभी शत्रुओं को जीत लिया था। इन्द्र के मन्त्री बृहस्पति के समान उसके मन्त्री का नाम दीर्घदर्शी था ॥५॥

मन्त्री के हाथों अपना निष्कण्टक राज्य सौंपकर, वय और रूप के मद में भूला वह राजा धीरे-धीरे केवल सुख-भोगों में ही आसक्त रहने लगा ॥६॥

तस्थावन्त:पुरे शश्वन्नास्थाने प्रमदास्पदे।
शुश्राव रक्तिमद्गीतं वचनं न हितैषिणाम् ॥७॥
रज्यति स्म च निश्चिन्तो जालवातायनेषु सः।
न पुना राजकार्येषु वहुच्छिद्रेषु जात्वपि ॥८॥
दीर्घदर्शी तु तद्राज्यचिन्ताभारं समुद्वहन्।
अतिष्ठत्स महामन्त्री दिवानिशमतन्द्रितः ॥९॥
नाममात्रे कृतधृतिं प्रक्षिप्य व्यसने नृपम्।
मन्त्री राज्ञः श्रियं भुङ्क्ते दीर्घदर्शीह साम्प्रतम् ॥१०॥
इत्युत्पन्ने महत्यत्र जनवादेऽथ गेहिनीम्।
स्वैरं मेधाविनीं नाम दीर्घदर्शी जगाद सः ॥११॥
प्रिये राज्ञि सुखासक्ते तद्भारं वहतोऽपि मे।
राज्यं भक्षितमेतेनेत्युत्पन्नमयशो जने ॥१२॥
लोकवादश्च मिथ्यापि महतामिह दोषकृत्।
तत्याज किं न रामोऽपि जनवादेन जानकीम् ॥१३॥
तदत्र किं मया कार्यमित्युक्ते तेन मन्त्रिणा।
भार्या मेधाविनी धीरा सान्वर्था तमभाषत ॥१४॥
तीर्थयात्रापदेशेन यक्त्यापच्छ्य महीपतिम्।
कञ्चित्कालं विदेशं ते गन्तुं युक्तं महामते ॥१५॥
एवं ते निःस्पृहस्यैष जनवादो निवर्त्स्यति।
त्वय्यस्थिते ततो राज्यमुद्वक्ष्यति नृपः स्वयम् ॥१६॥
ततश्चास्य शनैरेतद्व्यसनं हानिमेष्यति।
आगतस्यात्र निर्गर्हा भवित्री मन्त्रिता च ते ॥१७॥
इत्युक्तो भार्यया गत्वा दीर्घदर्शी तथेति सः।
कथाप्रसङ्गे तं भूपं यशःकेतुं व्यजिज्ञपत् ॥१८॥
अनुजानीहि मां राजन्दिवसान्कांश्चिदप्यहम्।
व्रजामि तीर्थयात्रायै धर्मो हि प्रेप्सितः स मे ॥१९॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्राजा मैवं तीर्थैर्विना परः।
दानादिः किं न धर्मोऽस्ति स्वर्ग्यस्ते स्वगृहेष्वपि ॥२०॥
अथावोचत्स मन्त्री तमर्थशुद्ध्यादि मृग्यते।
दानादौ नित्यशुद्धानि तीर्थानि नृपते पुनः ॥२१॥
यावच्च यौवनं राजंस्तावद्गम्यानि धीमता।
अविश्वास्ये शरीरे हि सङ्गमस्तैः कुतोऽन्यदा ॥२२॥

वह सदा अन्तःपुर में ही रहता, कभी राजसभा में न आता। स्त्रियों के बीच रँगीले गीत सुनता, हितैषियों की बातें न सुनता। निश्चिन्त होकर वह जालीदार खिड़कियों में रमा रहता, लेकिन राजकार्यों में मन न लगाता, यद्यपि उनमें भी बहुतेरे छेद (दोष) हो गये थे॥७-८॥

यद्यपि महामन्त्री दीर्घदर्शी, उसके राज्य का चिन्ता-भार वहन करता हुआ दिन-रात एक कर रहा था, फिर भी लोग इस तरह का अपवाद फैलाने लगे कि 'यशःकेतु तो अब नाममात्र के लिए राजा रह गया है। मन्त्री उसे व्यसनों में डालकर आजकल स्वयं ही राज्यश्री का भोग कर रहा है।' तब उस दीघदर्शी ने अपनी स्त्री मेधाविनी से कहा—॥९—११॥

"प्रिये! यद्यपि राजा सुख-भोग में आसक्त है और मैं उसका कार्यभार वहन कर रहा हूँ, तथापि लोग ऐसा अपवाद फैला रहे हैं कि मैं उसका राज्य हड़प रहा हूँ। जनापवाद झूठा भी हो, तो वह बड़ा हानिकारक होता है। जनापवाद से ही क्या राम ने जानकी का त्याग नहीं किया था? अतः, अब मुझे क्या करना चाहिए?" मन्त्री ने जब यह कहा, तब धीर स्वभाववाली और अपने नाम के अनुसार मेधाविनी उसकी स्त्री बोली—॥१२—१४॥

"महामति! युक्तिपूर्वक राजा से पूछकर आपको तीर्थयात्रा के बहाने कुछ समय के लिए विदेश चला जाना चाहिए। इस प्रकार, निःस्पृह होने के कारण आपके बारे में जो लोकापवाद फैल रहा है, वह मिट जायगा और आपके न रहने पर राजा भी स्वयं अपना राजकाज देखने लगेंगे। उसके बाद धीरे-धीरे राजा के व्यसन दूर हो जायेंगे। फिर, जब आप लौटकर आयेंगे और मन्त्रिपद सँभालेंगे, तब कोई आपको दोष न देगा"॥१५-१७॥

पत्नी के ऐसा कहने पर मन्त्री बोला—"ऐसा ही करूँगा।" तब वह राजा के पास गया और बातों-ही-बातों में उसने राजा से कहा—"राजन्! आप मुझे कुछ दिनों के लिए छुट्टी दें, जिससे मैं तीर्थयात्रा के लिए जा सकूँ; क्योंकि धर्म में मेरी बड़ी आस्था है"॥१८-१९॥

यह सुनकर राजा बोला—"ऐसा मत करो। तीर्थयात्रा के विना भी, घर में रहते हुए दान आदि के द्वारा क्या तुम स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सकते?"॥२०॥

मन्त्री ने राजा से कहा—"दान आदि के द्वारा तो अर्थशुद्धि ही पाई जा सकती है; किन्तु तीर्थों से अनश्वर शुद्धि मिलती है। अतः, बुद्धिमान् लोगों को चाहिए कि यौवन के रहते ही वे तीर्थयात्रा कर लें। शरीर का कोई भरोसा नहीं है। समय बीत जाने पर फिर तीर्थयात्रा कैसे हो सकती है?"॥२१-२२॥

इति तस्मिन्वदत्येव राज्ञि चैवं निषेधति।
प्रविश्यात्र प्रतीहारो राजानं तं व्यजिज्ञपत् ॥२३॥
देव व्योमसरोमध्यमंशुमाली विगाहते।
तदुत्तिष्ठत सैषा वः स्नानवेलातिवर्त्तते ॥२४॥
श्रुत्वैतत्सहसा स्नातुमुदतिष्ठन्महीपतिः।
यात्रोन्मुखः स मन्त्री च तं प्रणम्य गृहं ययौ ॥२५॥
तत्रावस्थाप्य भार्यां तामनुयात्रानिवारिताम्।
स प्रतस्थे ततो युक्त्या स्वभृत्यैरप्यतर्कितः ॥२६॥
एकाकी च भ्रमंस्तांस्तान्देशांस्तीर्थानि च व्रजन्।
स प्राप पुण्ड्विषयं दीर्घदर्शी सुनिश्चयः ॥२७॥
तत्र पत्तन एकस्मिन्नदूरेऽब्धेः प्रविश्य सः।
एकं देवकुलं शैवं तत्प्राङ्गण उपाविशत् ॥२८॥
तत्रार्ककरसन्तापक्लान्तं दूराध्वधूसरम्।
ददर्श निधिदत्ताख्यो वणिग्देवार्चनागतः ॥२९॥
स तं तथाविधं दृष्ट्वा सोपवीतं सुलक्षणम्।
सम्भाव्य चोत्तमं विप्रमातिथेयोऽनयद्गृहम् ॥३०॥
तत्र चापूजयत्स्नानभोजनाद्यैस्तमुत्तमैः।
कः कुतस्त्वं क्व यासीति विश्रान्तं च स पृष्टवान् ॥३१॥
दीर्घदर्शीति विप्रोऽहमङ्गदेशादिहागतः।
तीर्थयात्रार्थमित्येव गाम्भीर्यात्सोऽप्युवाच तम् ॥३२॥
ततः स निधिदत्तोऽपि तं जगाद महावणिक्।
सुवर्णद्वीपगमनायोद्यतोऽहं वणिज्यया ॥३३॥
तत्त्वं तिष्ठेह मद्गेहे यावदेष्याम्यहं ततः।
तीर्थयात्रापरिश्रान्तो विश्रान्तो ह्यथ यास्यसि ॥३४॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्दीर्घदर्शी तर्हि ममेह किम्।
त्वयैव सह यास्यामि सार्थवाह यथासुखम् ॥३५॥
एवमस्त्विति तेनोक्ते साधुना सोऽथ तद्गृहे।
चिरादवाप्तशयनो निशां मन्त्री निनाय ताम् ॥३६॥
अन्येद्युरथ तेनैव वणिजा सह वारिधिम्।
गत्वारुरोह तद्भाण्डपूर्णं प्रवहणं च सः ॥३७॥

मन्त्री ऐसा कह रहा था और राजा भी उसे मना ही करे रहे थे कि प्रतीहार ने वहाँ आकर राजा से कहा—"महाराज! सूर्य आकाश-सरोवर में स्नान कर रहा है (अर्थात्, दोपहर दिन बीत गया है), अतः आप भी उठें, स्नान का समय बीता जा रहा है" ॥२३-२४॥

यह सुनते ही राजा स्नान करने के लिए एकाएक उठ खड़ा हुआ। यात्रा के लिए तैयार मन्त्री भी उन्हें प्रणाम करके चला गया॥२५॥

साथ चलने की इच्छा रखनेवाली पत्नी को रोककर और वहीं उसे रखकर वह युक्तिपूर्वक चला गया। उसके जाने की बात नौकर-चाकर तक नहीं जान सके॥२६॥

दृढ निश्चयवाला वह मन्त्री अकेला ही अनेक देशों में घूमता हुआ और तीर्थों की यात्रा करता हुआ पौण्ड्र देश में जा पहुँचा॥२७॥

उस देश के एक नगर में समुद्र के निकट ही शिव का एक मन्दिर था। दीर्घदर्शी उस मन्दिर में गया और वहाँ आँगन में बैठ गया॥२८॥

वहाँ देवता के पूजन के लिए आये हुए निधिदत्त नामक एक वणिक् ने दीर्घदर्शी को देखा, जो दूर से आने के कारण धूल से भरा हुआ था और कड़ी धूप में कुम्हला गया था॥२९॥

मन्त्री को ऐसी हालत में देखकर तथा यज्ञोपवीत पहने हुए और उत्तम लक्षणोंवाला भी देखकर वणिक् ने उसे श्रेष्ठ ब्राह्मण समझा और सत्कारपूर्वक अपने घर ले आया॥३०॥

घर ले आकर उस वणिक् ने मन्त्री को स्नान कराया और उत्तम भोजन आदि से उसका सत्कार करने के अनन्तर जब वह विश्राम कर चुका, उससे पूछा—"आप कौन हैं? कहाँ के रहनेवाले हैं और कहाँ जा रहे हैं?"॥३१॥

दीर्घदर्शी ने गम्भीरतापूर्वक उससे कहा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ और तीर्थयात्रा करता हुआ यहाँ आया हूँ" ॥३२॥

तब उस बहुत बड़े व्यापारी निधिदत्त ने दीर्घदर्शी से कहा—"मैं व्यापार करने के लिए सुवर्णद्वीप जानेवाला हूँ। इसलिए, तुम मेरे घर में तबतक ठहरो, जबतक मैं वहाँ से लौट आता हूँ। तीर्थयात्रा से तुम थके हुए हो—यहाँ रुककर विश्राम भी कर लोगे" ॥३३-३४॥

यह सुनकर दीर्घदर्शी ने कहा—"तो फिर मैं ही यहाँ क्यों रहूँ सार्थवाह! मैं तो सुखपूर्वक तुम्हारे ही साथ चलूँगा॥३५॥

उस सज्जन वणिक् ने कहा—"ठीक है, ऐसा ही करना।" बहुत समय के बाद उस दिन दीर्घदर्शी को उसके यहाँ शय्या मिली, जिसपर सोकर उसने वह रात बिताई॥३६॥

अगले दिन वह उस व्यापारी के साथ समुद्रतट पर गया। वहाँ व्यापार की सामग्री से भरे हुए उसके जहाज पर वह बैठा॥३७॥

तेन गच्छन्प्रवहणेनाब्धिमद्भुतभीषणम्।
विलोकयन्स सम्प्राप स्वर्णद्वीपं क्रमेण तत्॥३८॥
क्व मन्त्रिमुख्यता चास्य क्व वाध्वोल्लङ्घिताम्बुधिः।
अयशोभीरवः किं न कुर्वते वत साधवः॥३९॥
तत्र द्वीपे समं तेन कञ्चित्कालमुवास सः।
वणिजा निधिदत्तेन कुर्वता क्रयविक्रयौ॥४०॥
आगच्छंश्च ततोऽकस्मात्तद्युक्तो वहनस्थितः।
कल्पवृक्षं ददर्शाब्धावूर्मेः पश्चात्समुत्थितम्॥४१॥
प्रवालशाखासुभगैः स्कन्धेर्जाम्बूनदोज्ज्वलैः।
फलैर्मणिमयैः कान्तैः कुसुधैश्चोपशोभितम्॥४२॥
तस्य स्कन्धे च सद्रत्नपर्यङ्कोत्सङ्गवर्त्तिनीम्।
कन्यामत्यद्भुताकारकमनीयामवैक्षत ॥४३॥
अहो किमेतदित्येव यावद्ध्यायति स क्षणम्।
तावत्सा वीणिनी कन्या गातुमेवं प्रचक्रमे॥४४॥
"यत्कर्मबीजमुप्तं येन पुरा निश्चितं स तद्भुङ्क्ते।
पूर्वकृतस्य हि शक्यो विधिनापि न कर्त्तुमन्यथाभावः॥४५॥"
इत्युद्गाय क्षणात्तस्मिन्नम्भोधौ दिव्यकन्यका।
सकल्पद्रुमपर्यङ्कशय्यात्रैव ममज्ज सा॥४६॥
किमप्यपूर्वमद्येदं मया दृष्टमिहाद्भुतम्।
क्वाब्धिः क्व दृष्टनष्टोऽत्र गायद्दिव्याङ्गनस्तरुः॥४७॥
यदि वा वन्द्य एषोऽब्धिराकरः शश्वदादृशाम्।
लक्ष्मीन्दुपारिजाताद्या नास्मात्ते ते किमुद्गताः॥४८॥
इति तं चिन्तयन्तं च तत्क्षणं दीर्घदर्शिनम्।
विलोक्य विस्मयाविष्टं कर्णधारादयोऽब्रुवम्॥४९॥
एवमेषा सदैवेह दृश्यते वरकन्यका।
निमज्जति च तत्कालं तवैतद्दर्शनं नवम्॥५०॥
इत्युक्तस्तैः समं तेन निधिदत्तेन स क्रमात्।
मन्त्री चित्रीयमाणोऽब्धेस्तीरं पोतगतोऽभ्यगात्॥५१॥
तत्रोत्तारितभाण्डेन तेनैव वणिजा सह।
जगाम हृष्टभृत्येन सोत्सवं सोऽथ तद्गृहम्॥५२॥

उस जहाज से यात्रा करता हुआ और आश्चर्यजनक तथा भयानक समुद्र को देखता हुआ क्रमशः वह स्वर्णद्वीप जा पहुँचा ॥३८॥

कहाँ तो मुख्यमन्त्री का पद और कहाँ समुद्र का मार्ग लाँघना। अहा, अपयश से डरनेवाले सज्जन क्या नहीं करते? ॥३९॥

दीर्घदर्शी ने उस वणिक् निधिदत्त के साथ खरीद-बिक्री करते हुए कुछ समय तक उस द्वीप में निवास किया ॥४०॥

उस वणिक् के साथ जब वह जहाज पर बैठा वापस लौट रहा था, तब उसने समुद्र की लहर के पीछे उठते हुए कल्पवृक्ष को देखा ॥४१॥

उस वृक्ष की शाखाएँ मूँगे की तरह सुन्दर थीं। उसके स्कन्ध सुवर्ण जैसे चमचमाते हुए थे और वह मनोहर मणियोंवाले फलों तथा पुष्पों से शोभित था ॥४२॥

उस वृक्ष के स्कन्ध पर उत्तम रत्नों से युक्त एक पर्यंक पड़ा हुआ था, जिसपर लेटी हुई अत्यन्त अद्भुत आकारवाली एक सुन्दर कन्या को उसने देखा ॥४३॥

ज्यों ही उसने सोचा कि 'अरे यह क्या है?' त्यों ही वीणा-धारिणी वह कन्या इस प्रकार गाने लगी—॥४४॥

"मनुष्य कर्म का जो बीज पहले बोता है, वह निश्चय ही उसका फल भोगता है। पहले किये हुए कर्मों के फल को विधाता भी नहीं टाल सकता" ॥४५॥

वह अलौकिक कन्या पल-भर इस प्रकार गाकर उस कल्पवृक्ष और जिसपर लेटी हुई थी, उस पर्यंक के सहित समुद्र में विलीन हो गई ॥४६॥

दीर्घदर्शी ने सोचा—"यहाँ आज मैंने यह कैसा अद्भुत और अपूर्व दृश्य देखा! कहाँ यह समुद्र और कहाँ दीखकर विलीन हो जानेवाली गाती हुई अलौकिक स्त्री और वृक्ष! ऐसे अनेक आश्चर्यों की खान यह समुद्र वन्दनीय है; क्या लक्ष्मी, चन्द्रमा, पारिजात आदि इसी से नहीं निकले?" ॥४७-४८॥

ऐसा सोचकर दीर्घदर्शी अचरज में पड़ गया। यह देखकर नाविकों ने तत्काल ही कहा—"यह उत्तम कन्या इस प्रकार सदा ही यहाँ दीख पड़ती है और बात-की-बात में विलीन हो जाती है। आपने अवश्य इसे पहली बार देखा है" ॥४९-५०॥

नाविकों के ऐसा कहने पर आश्चर्य में पड़ा हुआ वह दीर्घदर्शी उनके तथा निधिदत्त के सहित जहाज पर बैठा हुआ समुद्र के पार पहुँचा ॥५१॥

किनारे पहुँचकर प्रसन्न मनवाले निधिदत्त के नौकरों ने जहाज पर से सारा माल-असबाब उतारा। दीर्घदर्शी भी निधिदत्त के साथ उसके उस घर में गया, जहाँ हँसी-खुशी छाई हुई थी ॥५२॥

स्थित्वा नातिचिरं तत्र निधिदत्तमुवाच तम्।
सार्थवाह भवद्गेहे विश्रान्तोऽहं चिरं सुखम्॥५३॥
इदानीं गन्तुमिच्छामि स्वदेशं भद्रमस्तु ते।
इत्युक्त्वा तमनिच्छन्तमप्यामन्त्र्य वणिक्पतिम्॥५४॥
दीर्घदर्शी स सत्त्वैकसहायः प्रस्थितस्ततः।
क्रमोल्लङ्घितदूराध्वा प्रापाङ्गविषयं निजम्॥५५॥
तत्र तं ददृशुश्चारा वहिर्नगरमागतम्।
ये यशःकेतुना राज्ञा प्राङ्न्यस्तास्तद्गवेषणे॥५६॥
तैश्च गत्वा स विज्ञप्तश्चारैं राजा तमभ्यगात्।
स्वयं निर्गत्य नगरात्तद्विश्लेषसुदुःखितः॥५७॥
उपेत्य च परिष्वङ्गपूर्वं तमभिनन्द्य सः।
निनायाभ्यन्तरं भूपश्चिराध्वक्षामधूसरम्॥५८॥
त्यक्त्वास्मान्किं त्वया नीतं न परं वत मानसम्।
यावच्छरीरमप्येतन्निःस्नेहपरुषां दशाम्॥५९॥
किं वा भगवतो वेत्ति भवितव्यस्य को गतिम्।
यदकस्मात्तवैषाभूत्तीर्थादिगमने मतिः॥६०॥
तद्ब्रूहि के त्वया भ्रान्ता देशा दृष्टं च किं नवम्।
इति तत्र च तं राजा स जगाद स्वमन्त्रिणम्॥६१॥
ततः सुवर्णद्वीपान्तं सोऽध्वानं वर्णयन्क्रमात्।
अब्धावुद्गमिनीं तस्मै तां दृष्टां दिव्यकन्यकाम्॥६२॥
गायन्तीं त्रिजगत्सारभूतां कल्पतरुस्थिताम्।
यथावत्कथयामास दीर्घदर्शी महीभृते॥६३॥
स तां श्रुत्वैव च नृपस्तथा स्मरवशोऽभवत्।
यथा तया विना मेने निष्फले राज्यजीविते॥६४॥
जगाद च तमेकान्ते नीत्वा स्वसचिवं तदा।
द्रष्टव्यासौ मयावश्यं जीवितं नास्ति मेऽन्यथा॥६५॥
यामि त्वदुक्तेन पथा प्रणम्य भवितव्यताम्।
निवारणीयो नाहं ते नानुगम्यश्च सर्वथा॥६६॥
गुप्तमेको हि यास्यामि राज्यं रक्ष्यं तु मे त्वया।
मद्वचो मान्यथा कार्षीः शापितोऽसि ममासुभिः॥६७॥

थोड़े दिनों तक वहाँ ठहरकर दीर्घदर्शी ने निधिदत्त से कहा—"सार्थवाह ! मैंने तुम्हारे यहाँ सुखपूर्वक बहुत दिनों तक विश्राम किया। अब मैं अपने देश जाना चाहता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो।" दीर्घदर्शी के ऐसा कहने पर भी वह श्रेष्ठ वणिक् उसे जाने नहीं देना चाहता था। दीर्घदर्शी उसे समझा-बुझाकर वहाँ से चल पड़ा। केवल अपने ही बल-बूते पर वह लम्बी राह तय करके अपने देश अंग के निकट जा पहुँचा॥५३—५५॥

नगर के बाहर आये हुए दीर्घदर्शी को उन गुप्तचरों ने देखा, जिन्हें राजा यशःकेतु ने उसकी खोज-खबर लेने के लिए पहले से ही नियुक्त कर रखा था॥५६॥

गुप्तचरों ने जाकर राजा को खबर दी। मन्त्री के बिछुड़ने से राजा दुःखी था। वह स्वयं ही नगर से निकलकर उससे मिलने के लिए चल पड़ा॥५७॥

वहाँ पहुँचकर राजा ने मन्त्री को गले लगाकर उसका अभिनन्दन किया। फिर, वह उस मन्त्री को अपने महल में ले आया, जो राह चलने से दुबला और मलिन हो गया था॥५८॥

वहाँ से आकर राजा ने अपने मन्त्री से कहा—"क्यों तुमने हम लोगों का त्याग किया और अपने मन को भी स्नेहरहित बना लिया। अरे, तुमने तो अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रखा और उसकी ऐसी दशा कर डाली ! किन्तु, भगवान् भवितव्य की गति भी कौन जानता है, जिसके चलते अकस्मात् तुम्हें तीर्थयात्रा की प्रेरणा हुई। खैर, अब यह बतलाओ कि तुम किन-किन देशों में घूमे और वहाँ तुमने क्या नई चीजें देखीं ?"॥५९—६१॥

तब दीर्घदर्शी ने राजा से क्रमशः सुवर्णद्वीप तक के मार्ग का सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। उसने समुद्र में उतराती हुई उस अलौकिक कन्या का वृत्तान्त भी राजा को सुनाया, जो तीनों लोकों के सार-जैसी थी और जिसे उसने कल्पवृक्ष पर बैठकर गाती हुई देखा था॥६२-६३॥

उसका वृत्तान्त सुनते ही राजा इस प्रकार कामवश हो गया कि उसके विना उसे अपना राज्य और जीवन निष्फल जान पड़ने लगा॥६४॥

राजा ने अपने मन्त्री को एकान्त में ले जाकर कहा—"उस कन्या को देखे विना मैं जीवित नहीं रह सकूँगा। अतः, भवितव्य को प्रणाम करके, तुम्हारे बतलाये हुए मार्ग से मैं जाता हूँ। तुम न तो इस काम से मुझे रोको और न मेरे साथ ही चलो। मैं छिपकर अकेला ही यहाँ से जाऊँगा। तुम मेरे राज्य की रक्षा करना। मेरी बात तुम टालना मत, नहीं तो तुम्हें मेरे प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा"॥६५—६७॥

इत्युक्त्वा तत्प्रतिवचो निरस्य विससर्ज तम्।
मन्त्रिणं स्वगृहं राजा चिरोत्कं स्वजनं प्रति ॥६८॥
तत्रानल्पोत्सवेऽप्यासीद्दीर्घदर्शी सुदुर्मनाः।
स्वामिन्यसाध्यव्यसने सुखं सन्मन्त्रिणां कुतः ॥६९॥
अन्येद्युश्च स तद्धस्तन्यस्तराज्यभरो नृपः।
यशःकेतुस्ततः प्रायान्निशि तापसवेषभृत् ॥७०॥
गच्छंश्च कुशनाभाख्यं मुनिं मार्गे ददर्श सः।
सोऽत्र तं तापसाकल्पं प्रणतं मुनिरादिशत् ॥७१॥
लक्ष्मीदत्तेन वणिजा सह पोतेन वारिधौ।
गत्वा प्राप्स्यसि तामिष्टां कन्यां व्रज निराकुलः ॥७२॥
इति तद्वचसा प्रीतस्तं प्रणम्य स पार्थिवः।
गच्छन्देशान्नदीरद्रीन्क्रान्त्वा तं प्रापदम्बुधिम् ॥७३॥
सुतारशङ्खधवलैर्वीचीभूमिर्विकस्वरैः।
वीक्षमाणमिवावर्त्तनेत्रैरातिथ्यसम्भमात् ॥७४॥
तत्तीरे वणिजा तेन मुनिप्रोक्तेन सङ्गतिः।
लक्ष्मीदत्तेन जज्ञेऽस्य स्वर्णद्वीपं यियासुना ॥७५॥
तेनैव सह चक्राङ्कपादमुद्रादिदर्शनात्।
प्रह्वेणारुह्य वहनं प्रतस्थे सोऽम्बुधौ नृपः ॥७६॥
मध्यमब्धेश्च सम्प्राप्ते वहने वारिमध्यतः।
उदगात्कल्पविटपिस्कन्धस्था सात्र कन्यका ॥७७॥
यावत्पश्यति तां राजा चकोर इव चन्द्रिकाम्।
तावत्सा गायति स्मैवं वल्लकीवाद्यसन्दरम् ॥७८॥
"यत्कर्मबीजमुप्तं येन पुरा निश्चितं स तद्भुङ्क्ते।
पूर्वंकृतस्य हि शक्यो विधिनापि न कर्त्तुमन्यथाभावः ॥७९॥
तस्माद्यत्र यथा यद्भवितव्ये यस्य दैवयोगेन।
तत्र तथा तत्प्राप्त्यै विवशोऽसौ नीयतेऽत्र न भ्रान्तिः ॥८०॥"
इति सूचितभव्यार्थां गायन्तीं तां विभावयन्।
निःस्पन्दः स क्षणं तस्थौ राजा स्मरशराहतः ॥८१॥

राजा ने अपनी बात के विरोध में मन्त्री को कुछ कहने नहीं दिया और उसे, बहुत समय से उत्सुक स्वजनों के पास भेज दिया॥६८॥

वहाँ, बहुत हँसी-खुशी के बीच भी दीर्घदर्शी उदास ही रहा; क्योंकि स्वामी यदि असाध्य कार्य में तत्पर हो, तो मन्त्री कैसे सुखी रह सकता है? ॥६९॥

अगले दिन राजा ने दीर्घदर्शी के हाथों राज्य का भार सौंप दिया और तपस्वी का वेश बनाकर रात में बाहर निकला॥७०॥

मार्ग में जाते हुए राजा ने कुशदत्त नामक मुनि को देखकर प्रणाम किया। मुनि ने तपस्वी-वेश-धारी राजा से कहा—"तुम निश्चिन्त होकर आगे बढ़ो। लक्ष्मीदत्त नामक वणिक् के साथ जहाज से समुद्र में जाकर, तुम उस इच्छित कन्या को पाओगे" ॥७१-७२॥

उनकी ये बातें सुनकर राजा प्रसन्न हुआ। वह उन्हें प्रणाम करके आगे बढ़ा। अनेक देशों, नदियों और पहाड़ों को पार करता हुआ वह समुद्र-तट पर जा पहुँचा॥७३॥

वह समुद्र मानों आतिथ्य के सम्भ्रम से, अपनी भँवर की आँखों उसे देख-सा रहा था। वे आँखें शंख के समान उजली थीं और क्षण-क्षण विकसित होनेवाली लहरें मानों उन आँखों की भौहें थीं॥७४॥

समुद्र-तट पर राजा की भेंट मुनि के कहे हुए लक्ष्मीदत्त नामक उस वणिक् से हुई, जो स्वर्णद्वीप जाने की इच्छा रखता था॥७५॥

राजा के पैरों में चक्र का चिह्न तथा राजोचित्त मुखमुद्रा आदि देखकर उस वणिक् ने उसे प्रणाम किया। राजा उसी के साथ, जहाज पर चढ़कर, समुद्र में गये॥७६॥

जहाज जब बीच समुद्र में पहुँचा, तब जल के भीतर से कल्पवृक्ष निकला, जिसके स्कन्ध पर वह कन्या बैठी हुई थी॥७७॥

चकोर जैसे चाँदनी को देखता है, राजा उसी तरह उसे देखने लगे। इसी बीच वह वीणा बजाती हुई यह सुन्दर गीत गाने लगी॥७८॥

"मनुष्य, कर्म का जो बीज पहले बोता है, वह निश्चय ही उसका फल भोगता है। पहले किये हुए कर्मों के फल को विधाता भी नहीं टाल सकता। अतः, दैवयोग से जिसके लिए जहाँ जो और जैसा भवितव्य है, उसे वह वहीं और उसी प्रकार प्राप्त करने के लिए विवश है—इसमें कोई सन्देह नहीं है" ॥७९-८०॥

राजा ने जब उसके द्वारा गाया गया यह गीत सुना, जिसमें भवितव्य का सन्देश था, तब वह काम-बाणों से आहत होकर, निःस्पन्द बना, थोड़ी देर उस कन्या की ओर देखता रहा॥८१॥

रत्नाकर नमः सत्यमगाधहृदयाय ते।
येन त्वयैतां प्रच्छाद्य विप्रलब्धो हरिः श्रिया ॥८२॥
तत्सुरैरप्यलभ्यान्तं सपक्षक्ष्माभृदाश्रयम्।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽहमिष्टसिद्धिं विधत्स्व मे ॥८३॥
एवं यावत्समुद्रं तं स नतः स्तौति भूमिपः।
तावत्सा कन्यका तत्र निममज्ज सपादपा ॥८४॥
तद्दृष्ट्वैवानुमार्गेऽस्याः स राजात्मानमक्षिपत्।
वारिधावत्र कामाग्निसन्तापस्येव शान्तये ॥८५॥
तद्वीक्ष्याशङ्कितं मत्वा विनष्टं तं स सज्जनः।
लक्ष्मीदत्तो वणिग्दुःखाद्देहत्यागोद्यतोऽभवत् ॥८६॥
मा कार्षीः साहसं नास्ति मग्नस्यास्याम्बुधौ भयम्।
एष राजा यशःकेतुर्नाम्ना तापसवेषभृत् ॥८७॥
एतत्कन्यार्थमायातः पूर्वभार्येयमस्य च।
एतां प्राप्य पुनश्चासावङ्गराज्यं समेष्यति ॥८८॥
इत्यथाश्वासितो वाचा तत्कालं गगनोत्थया।
सार्थवाहो यथाकामं स जगामेष्टसिद्धये ॥८९॥
स राजापि यशःकेतुर्निमग्नोऽन्तर्महोदधौ।
अकस्मान्नगरं दिव्यमपश्यज्जातविस्मयः ॥९०॥
भास्वन्मणिमयस्तम्भैः काञ्चनोज्ज्वलभित्तिभिः।
विराजमानं प्रासादैर्मुक्ताजालगवाक्षकैः ॥९१॥
नानारत्नशिलापट्टबद्धसोपानवापिकैः।
कामदैः कल्पवृक्षाढ्यैरुद्यानैरुपशोभितम् ॥९२॥
समृद्धेऽपि पुरे तत्र निर्जनेऽथ गृहं गृहम्।
अनुप्रविश्य न यदा तां ददर्श प्रियां क्वचित् ॥९३॥
तदा विचिन्वन्दृष्ट्वैकमुत्तुङ्गमणिमन्दिरम्।
आरुह्य द्वारमुद्घाट्य प्रविवेश स भूपतिः ॥९४॥
प्रविश्य चान्तः सद्रत्नपर्यङ्कस्थितमेककम्।
वस्त्राच्छादितसर्वाङ्गं शयानं कञ्चिदैक्षत ॥९५॥
किं स्यात्सैवेति सोत्कण्ठमुद्घाटयति तन्मुखम्।
यावत्तावदपश्यत्तां स्वेप्सितामेव सोऽङ्गनाम् ॥९६॥

अनन्तर, वह राजा झुककर इस प्रकार समुद्र की स्तुति करने लगा—"हे रत्नाकर! हे अगाधहृदय! तुम्हें नमस्कार है। तुमने इस कन्या को अपने भीतर छिपाकर, विष्णु को लक्ष्मी से वंचित किया है। जब तुमने पंखोंवाले पर्वतों को आश्रय दिया, तब देवता भी तुम्हारा अन्त नहीं पा सके। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। मेरी कामना पूरी करो।" जब राजा इस प्रकार स्तुति कर रहा था, तभी वृक्ष के सहित वह कन्या समुद्र में विलीन हो गई॥८२—८४॥

यह देखकर राजा भी, मानों अपनी कामाग्नि की ज्वाला को शान्त करने के लिए ही, उसके पीछे-पीछे समुद्र में कूद पड़ा॥८५॥

सज्जन वणिक् लक्ष्मीदत्त ने यह देखकर समझा कि राजा निश्चय ही मर गया। इस दुःख से वह भी देहत्याग करने को उद्यत हुआ॥८६॥

इसी समय आकाशवाणी ने उसे इस प्रकार आश्वासन दिया—"ऐसा दुस्साहस मत करो। डूबे हुए इस मनुष्य को समुद्र में कोई भय नहीं है। तपस्वी-वेशधारी इस राजा का नाम यशःकेतु है। यह कन्या पूर्वजन्म की इसकी स्त्री है। यह इसी के लिए यहाँ आया है। अपनी इस स्त्री को प्राप्त करके यह फिर अंगराज्य में चला जायगा।" यह सुनकर वह व्यापारी अपनी इष्टसिद्धि के लिए अपने अभीष्ट स्थान की ओर चला गया॥८७—८९॥

उधर, डूबे हुए राजा यशःकेतु को उस महासमुद्र में अकस्मात् एक अलौकिक नगर देखकर बड़ा विस्मय हुआ॥९०॥

वहाँ, जगमगाती मणियों के खम्भोंवाले, सुवर्ण से दमकती दीवारोंवाले और मोतियों की जाली से युक्त खिड़कियोंवाले प्रासाद थे॥९१॥

वहाँ तालाब थे, जिनकी सीढ़ियाँ अनेक प्रकार की रत्न-शिलाओं से बँधी थीं और उद्यान भी थे, जिनमें कामना पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्ष थे। इन सबसे वह नगर अत्यन्त शोभित हो रहा था॥९२॥

समृद्ध होने पर भी वह नगर निर्जन था। एक-एक घर में प्रवेश करके भी जब राजा ने अपनी उस प्रिया को कहीं नहीं देखा, तब उसे ढूँढ़ता हुआ, वह एक ऊँचे मणि-भवन पर चढ़ गया। उसका द्वार खोलकर राजा ने भीतर प्रवेश किया॥९३-९४॥

भीतर जाकर राजा ने देखा कि उत्तम रत्नोंवाले पर्यंक पर, सिर से पैर तक चादर ओढ़े कोई अकेला सोया हुआ है॥९५॥

'कहीं यही तो वह नहीं है, इस उत्कण्ठा से राजा ने ज्यों ही उसके मुँह पर से चादर हटाई, उसने अपनी मनचाही उस स्त्री को ही देखा॥९६॥

स्रस्तनीलांशुकध्वान्तहसन्मुखशशिश्रियम् ।
ज्योत्स्नावदातां पातालगतामिव दिवा निशाम् ॥९७॥

तद्दर्शनेन चास्याभूदवस्था कापि सा तदा ।
ग्रीष्मर्त्तौ मरुपान्थस्य सरित्सन्दर्शनेन या ॥९८॥

साप्युन्मीलितचक्षुस्तं कल्याणाकृतिलक्षणम् ।
वीक्ष्याकस्मात्तथाप्राप्तं सम्भ्रमाच्छयनं जहौ ॥९९॥

कृतातिथ्या नतमुखी पूजयन्तीव पादयोः ।
फुल्लेक्षणोत्पलन्यासैः शनैरेतमुवाच च ॥१००।

को भवान्किमगम्यं च प्रविष्टोऽसि रसातलम् ।
राजचिह्नाङ्कितनोः किं च ते तापसव्रतम् ॥१०१॥

इत्यादिश महाभाग प्रसादो यदि ते मयि ।
एवं तस्या वचः श्रुत्वा स राजा प्रत्युवाच ताम् ॥१०२॥

अङ्गराजो यशःकेतुरिति नाम्नास्मि सुन्दरि ।
आप्तादन्वहदृश्यां च त्वामश्रौषमिहाम्बुधौ ॥१०३॥

ततस्त्वदर्थं कृत्वेमं वेषं राज्यं विमुच्य च ।
आगत्यैष प्रविष्टोऽहमनुमार्गेण तेऽम्बुधिम् ॥१०४॥

तन्मे कथय कासि त्वमित्युक्ते तेन चाथ सा ।
सलज्जा सानुरागा च सानन्दा चैवमभ्यधात् ॥१०५॥

मृगाङ्कसेन इत्यस्ति श्रीमान्विद्याधराधिपः ।
मां मृगाङ्कवतीं नाम्ना विद्धि तस्य सुतामिमाम् ॥१०६॥

स मामस्मिन्स्वनगरे विमुच्यैकाकिनीं पिता ।
न जाने हेतुना केन गतः क्वापि सपौरकाः ॥१०७॥

तेनाहं शून्यवसतेर्निर्विण्णोन्मज्ज्य वारिधेः ।
यन्त्रकल्पद्रुमारूढा गायामि भवितव्यताम् ॥१०८॥

एवमुक्तवती तेन स्मरता तन्मुनेर्वचः ।
तथारज्यत सा राज्ञा वचोभिः प्रेमपेशलैः ॥१०९॥

यथानुरागविवशा भार्यात्वं तस्य तत्क्षणम् ।
अङ्गीचकार वीरस्य समयं त्वेकमभ्यधात् ॥११०॥

शुक्लकृष्णचतुर्दश्यामष्टम्यां चार्यपुत्र ते ।
प्रतिमासमनायत्ता चतुरो दिवसानहम् ॥१११॥

यत्र क्वापि दिनेष्वेषु गच्छती चास्मि न त्वया ।
प्रष्टव्या न निषेद्धव्या कारणं ह्यत्र विद्यते ॥११२॥

अन्धकार के समान उस नीले वस्त्र के हटने पर चन्द्रमा के समान उसके हँसते हुए मुख की शोभा ऐसी जान पड़ी, मानों चाँदनी से धुली हुई रात, दिन के समय, पाताल में चली आई हो।।९७।।

उसको देखकर राजा की हालत कुछ वैसी ही हुई, जैसी नदी को देखकर ग्रीष्म ऋतु में मरुपथ-यात्री की होती है।।९८।।

उसने भी आँखें खोलकर जब मंगलमय आकृति और लक्षणोंवाले राजा को अकस्मात् वहाँ आया हुआ देखा, तब घबराकर वह शय्या से उठ बैठी।।९९।।

राजा का आतिथ्य-सत्कार करने के अनन्तर, सिर झुकाकर, जब उसने उनके चरणों पर अपनी आँखें टिका दीं, तब ऐसा जान पड़ा, मानों अपनी आँखों के खिले हुए कमल चढ़ाकर वह उनके पाँव पूज रही है। फिर, वह धीरे-धीरे बोली—"आप कौन हैं? इस अगम्य रसातल में आप क्यों आये हैं? आपके शरीर पर तो राजचिह्न अंकित हैं, फिर आपने तपस्वी का यह वेश क्यों बना रखा है? महाभाग! यदि मुझपर आपकी कृपा हो, तो यह बतलावें।" उसकी ये बातें सुनकर राजा ने उत्तर में उससे कहा—।।१००-१०२।।

"सुन्दरी! मैं अंगदेश का राजा हूँ। मेरा नाम यशःकेतु है। मैंने एक विश्वासी आदमी से सुना कि तुम इस समुद्र में प्रतिदिन दीख पड़ती हो। तब तुम्हारे ही लिए मैंने यह वेश धारण किया और राज्य छोड़कर यहाँ चला आया। फिर, तुम्हारे पीछे-ही-पीछे मैंने इस समुद्र में प्रवेश किया। अब तुम बतलाओ कि तुम कौन हो?" राजा के ऐसा कहने पर वह लज्जित और आनन्दित होती हुई, अनुराग-सहित बोली—।।१०३—१०५।।

"मैं विद्याधरों के राजा, सौभाग्यशाली मृगांकसेन की कन्या मृगांकवती हूँ। मेरे पिता न जाने किस कारण मुझे इस नगर में अकेली छोड़कर, नगरवासियों के सहित, जाने कहाँ चले गये हैं। इसलिए, इस सूनी बस्ती में जी न लगने के कारण, मैं समुद्र पर उतराकर, यान्त्रिक कल्पवृक्ष पर बैठी, भवितव्य के गीत गाया करती हूँ" ।।१०६—१०८।।

मृगांकवती के ऐसा कहने पर, उस मुनि की बातों का स्मरण करते हुए, राजा ने उसे अपनी प्यार-भरी कोमल बातों से इस तरह रिझाया कि प्रेम-विवश होकर उसने उसी समय उस वीर राजा की पत्नी बनना स्वीकार कर लिया; किन्तु साथ ही एक शर्त्त भी लगा दी।।१०९—११०।।

उसने कहा—"आर्यपुत्र! प्रत्येक में मास में शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को चार दिनों तक मैं आपके वश में न रहूँगी। इन दिनों मैं चाहे जहाँ जाऊँ, आप न तो मुझे रोकेंगे, न कोई प्रश्न पूछेंगे। इसका कारण है" ।।१११—११२।।

एवं तामुक्तसमयां स राजा दिव्यकन्यकाम्।
तथेत्युक्त्वैव गान्धर्वविधिना परिणीतवान्॥११३॥
भेजे ततश्च सम्भोगसुखं तत्र तया सह।
यथाभूदन्य एवास्या मान्मथो मण्डनक्रमः॥११४॥
केशेषु स्रस्तमाल्येषु कचग्रहनखावली।
विम्बाधरेऽथ निष्पीतनीरागे दशनक्षतिः॥११५॥
कुचयोः करजश्रेणिर्भिन्नमाणिक्यमालयोः।
लुप्ताङ्गरागेष्वङ्गेषु गाढालिङ्गनरागिता॥११६॥
इति तद्दिव्यसम्भोगसुखावस्थितमत्र तम्।
सा मृगाङ्कवती भार्या भूपं प्राहेदमेकदा॥११७॥
त्वमिहैव प्रतीक्षेथा कार्यार्थं क्वापि याम्यहम्।
अद्य सैषा हि सम्प्राप्ता मम कृष्णचतुर्दशी॥११८॥
इहस्थस्त्वार्यपुत्रामुं मा स्म गाः स्फाटिकं गृहम्।
मात्र वाप्यां निपतितो भूलोकं त्वं गमिष्यसि॥११९॥
इत्युक्त्वा सा तमामन्त्र्य ययौ तस्मात्पुराद्वहिः।
राजापि प्राप्तखड्गस्तां छन्नो जिज्ञासुरन्वगात्॥१२०॥
तत्रापश्यत्तमः श्यामं व्यात्तवक्त्रविलं च सः।
साकारमिव पातालमायान्तं राक्षसं नृपः॥१२१॥
स राक्षसो निपत्यैव मुक्तघोररवस्तदा।
तां मृगाङ्कवतीं चक्रे निक्षिप्यैव निगीर्णवान्॥१२२॥
तद्दृष्ट्वैवातिकोपेन सहसा स ज्वलन्निव।
निर्मोकमुक्तभुजगश्यामलेन महासिना॥१२३॥
कोषाकृष्टेन धावित्वा राजसिंहोऽभिधावतः।
चिच्छेद रक्षसस्तस्य सन्दष्टौष्ठपुटं शिरः॥१२४॥
रक्षः कवन्धवान्तेन राज्ञस्तस्यास्त्रवारिणा।
क्रोधजोऽथ शशामाग्निर्न तु कान्तावियोगजः॥१२५॥
ततो मोहनिशान्धेऽस्मिन्विनष्टगतिके नृप।
अकस्मान्मेघमलिनस्याङ्गं भित्त्वेव रक्षसः॥१२६॥
तस्योद्द्योतितदिक्चक्रा चन्द्रमूर्त्तिरिवामला।
सा मृगाङ्कवती जीवन्त्यक्षताङ्गी विनिर्ययौ॥१२७॥

राजा ने उस अलौकिक कन्या की यह शर्त्त मानकर, गान्धर्व विधि से उससे विवाह कर लिया ॥११३॥

राजा उसके साथ वहाँ रहता हुआ ऐसा सम्भोग-सुख प्राप्त करने लगा, जो उसके लिए दूसरा कामशृंगार-जैसा हो रहा था ॥११४॥

सम्भोग के समय उसके जूड़े में गुँथी हुई मालाएँ बिखर जाती थीं, केशों को खींचने से उसके अंगों पर नखक्षत बन जाते थे, बिम्ब-फल के समान उसके अधरों का पान करने से उन अधरों की लाली मिट जाती थी और उनपर दाँतों के दाग पड़ जाते थे, उसके स्तनों पर पड़ी मणिमालाएँ टूट जाती थीं और उनपर नाखून के चिह्न बन जाते थे ॥११५–११६॥

इस प्रकार, राजा उसके साथ अलौकिक विलास-सुख भोगता हुआ वहाँ रहने लगा। तब एक दिन उसकी पत्नी मृगांकवती ने उससे कहा––"मैंने जिसके बारे में कहा था, वह कृष्णपक्ष की चतुर्दशी आज ही है। मैं काम से कहीं जा रही हूँ। आप यहीं मेरी प्रतीक्षा कीजिएगा। किन्तु आर्यपुत्र ! यहाँ रहते हुए आप उस स्फटिक-भवन में न जाइएगा; क्योंकि वहाँ की वापी में गिरते ही आप भू-लोक में पहुँच जायेंगे ॥११७–११९॥

इस प्रकार, राजा को समझा-बुझाकर वह उस नगर से बाहर चली गई। राजा के मन में कौतूहल हुआ, इसलिए हाथ में तलवार लेकर, छिपकर वह भी उसके पीछे-पीछे गया ॥१२०॥

वहाँ राजा ने आते हुए एक राक्षस को देखा। वह अन्धकार की तरह काला था और उसका मुख-गह्वर खुला हुआ था, जिससे वह साकार पाताल की तरह जान पड़ता था ॥१२१॥

उस राक्षस ने घोर गर्जन के साथ झपटकर मृगांकवती को अपने मुँह में डाल लिया और निगल लिया ॥१२२॥

यह देखकर राजा सहसा क्रोध से जल-सा उठा। उस राजसिंह ने केंचुल से निकले हुए साँप के समान श्यामल तलवार म्यान से निकाली और दाँतों से ओंठ दबाकर झपटते हुए उस राक्षस का मस्तक काट डाला ॥१२३–१२४॥

उस राक्षस के धड़ से निकलते हुए रक्त-जल से राजा की क्रोधाग्नि तो बुझ गई, किन्तु पत्नी की वियोगाग्नि न बुझ सकी ॥१२५॥

राजा उस मोहान्धकार में अन्धा-सा हो गया। वह किंकर्त्तव्यविमूढ बना खड़ा रहा। तभी, जैसे दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ निर्मल चन्द्रमा प्रकट होता है, उस राक्षस के मेघ-मलिन शरीर को फाड़कर, जीती-जागती और अक्षत शरीरवाली मृगांकवती निकल आई ॥१२६–१२७॥

तां तथा सङ्कटोत्तीर्णां दृष्ट्वा कान्तां ससम्भ्रमम्।
एह्येहीति वदन्राजा प्रधाव्यैवालिलिङ्ग सः ॥१२८॥
प्रिये किमेतत्स्वप्नोऽयमुत मायेति तेन सा।
पृष्टा नृपेण संस्मृत्य विद्याधर्येवमब्रवीत् ॥१२९॥
शृण्वार्यपुत्र न स्वप्नो न मायेयमयं पुनः।
विद्याधरेन्द्रात्स्वपितुः शापोऽभूदीदृशो मम ॥१३०॥
वहुपुत्रोऽपि स हि मे पिता पूर्वं वसन्निह।
मया विनातिवात्सल्यान्नाहारमकरोत्सदा ॥१३१॥
अहं च सर्वदा शर्वपूजासक्तेह निर्जने।
चतुर्दश्योरथाष्टम्योरागच्छं पक्षयोर्द्वयोः ॥ १३२ ॥
एकदा च चतुर्दश्यामिहागत्य रसान्मम।
चिरं गौरीं समर्चन्त्या दैवादवसितं दिनम् ॥१३३॥
तदहर्मत्प्रतीक्षः सन्क्षुधितोऽपि स मत्पिता।
नाभुङ्क्त नापिवत्किञ्चिदासीत्क्रुद्धस्तु मां प्रति ॥१३४॥
ततो रात्रावुपेतां मां सापराधामधोमुखीम्।
भवितव्यवलग्रस्तमत्स्नेहः शपति स्म सः ॥१३५॥
यथा त्वदवलेपेन ग्रस्तोऽद्याहमयं क्षुधा।
मासि मासि तथाष्टम्योश्चतुर्दश्योश्च केवलम् ॥१३६॥
हरार्चनरसाद्यान्तीमत्रैव त्वां बहिः पुरे।
नाम्ना कृतान्तसन्त्रासो राक्षसो निगरिष्यति ॥१३७॥
भित्त्वा भित्त्वास्य हृदयं जीवन्ती च निरेष्यति।
न स्मरिष्यसि शापं च न तां निगरणव्यथाम् ॥१३८॥
स्थास्यस्येकाकिनी चात्रेत्युक्तशापवचाः शनैः।
सोऽनुनीतो मया ध्यात्वा शापान्तं मेऽब्रवीत्पिता ॥१३९॥
भर्त्ता भूत्वा यशःकेतुनामाङ्गनृपतिर्यदा।
राक्षसेन निगीर्णां त्वां दृष्ट्वा तं निहनिष्यति ॥१४०॥
तदा त्वं मोक्ष्यसे शापाद्धृदयात्तस्य निर्गता।
संस्मरिष्यसि शापादि विद्याः सर्वास्तथा निजाः ॥१४१॥
इत्यादिश्य स शापान्तं त्यक्त्वा मामेककामिह।
निषधाद्रिं गतस्तातो भूलोकं सपरिच्छदः ॥१४२॥

राजा ने अचरज से देखा कि उसकी प्रिया संकट को काट आई है। उसने 'आओ, आओ' कहते हुए, दौड़कर उसका आलिंगन कर लिया॥१२८॥

राजा ने जब यह पूछा कि 'प्रिये ! यह स्वप्न है या कोई माया है ?' तब उस विद्याधरी ने स्मरण करके यों कहा—"आर्यपुत्र ! सुनिए। यह न तो स्वप्न है, न माया ही है। विद्याधरों के राजा, मेरे पिता, ने मुझे जो शाप दिया था, यह उसी का परिणाम है॥१२९—१३०॥

मेरे पिता पहले यहीं रहते थे। अनेक पुत्रों के होने पर भी, वे मुझपर बहुत स्नेह रखते थे और कभी मेरे विना भोजन न करते थे॥१३१॥

शिव के पूजन में रुचि होने के कारण, मैं शुक्ल और कृष्ण, इन दोनों पक्षों की अष्टमी तथा चतुर्दशी तिथियों को इस निर्जन स्थान में आया करती थी॥१३२॥

एक बार मैं चतुर्दशी को यहाँ आई और गौरी का पूजन करती हुई ऐसी तल्लीन हो गई कि संयोगवश दिन बीत गया॥१३३॥

उस दिन मेरी प्रतीक्षा करते हुए मेरे पिता ने, भूख लगने पर भी, कुछ खाया-पिया नहीं। वे मुझपर बहुत क्रुद्ध हो गये॥१३४॥

मुझसे अपराध हो गया था, अतः रात होने पर जब मैं सिर झुकाये हुए लौटी, तब मेरे पिता ने मुझे शाप दे डाला। होनी इतनी प्रबल थी कि उसने मेरे प्रति पिता के स्नेह को नष्ट कर दिया था॥१३५॥

'जिस प्रकार तुमने मेरी उपेक्षा करके आज दिन-भर मुझे भूखा रखा, उसी प्रकार, हर महीने की केवल अष्टमी और चतुर्दशी तिथियों को, जब तुम शिव का पूजन करने के लिए नगर के बाहर जाओगी, कृतान्तसन्त्रास नाम का राक्षस तुम्हें निगल जाया करेगा; किन्तु तुम बार-बार उसका हृदय फाड़कर जीवित निकल आओगी। तुम यहाँ अकेली ही रहोगी और तुम्हें न तो मेरे इस शाप का स्मरण रहेगा, न निगले जाने के कष्ट का ही। जब मेरे पिता मुझे इस प्रकार शाप दे चुके, तब मैंने अनुनय-विनय करके कुछ देर बाद, उन्हें प्रसन्न किया। तब उन्होंने ध्यान करके इस प्रकार शाप के छूटने की बात कही॥१३६—१३९॥

'जब अंग का राजा यशःकेतु तुम्हारा पति होगा और तुमको राक्षस के द्वारा निगली गई देखकर उसे मार डालेगा, तब उसके हृदय को फाड़कर निकली हुई तुम इस शाप से छूट जाओगी। तभी तुम्हें इस शाप का और अपनी सारी विद्याओं का भी स्मरण हो जायगा॥१४०—१४१॥

इस प्रकार, शाप से छुटकारे की बात बतलाकर और यहाँ मुझे अकेली छोड़कर मेरे पिता, अपनी समस्त प्रजा के सहित, भूलोक के निषध पर्वत पर चले गये॥१४२॥

अहं तथा चरन्ती च शापमोहादिहावसम्।
क्षीणश्चैष स शापो मे जाता सर्वत्र च स्मृतिः॥१४३॥
तत्तातपार्श्वमधुना निषधाद्रिं व्रजाम्यहम्।
शापान्ते स्वां गतिं याम इत्येष समयो हि नः॥१४४॥
त्वमिहास्व स्वराष्ट्रं वा व्रज स्वातन्त्र्यमत्र ते।
एवं तयोक्ते स नृपो दुःखितोऽर्थयते स्म ताम्॥१४५॥
सप्ताहानि न गन्तव्यं प्रसीद सुमुखि त्वया।
क्षिपावस्तावदौत्सुक्यमुद्याने क्रीडनैरिह॥१४६॥
त्वं गच्छाथ पितुः स्थानं यास्याम्यहमपि स्वकम्।
एतत्तद्वचनं मुग्धा तथेत्यङ्गीचकार सा॥१४७॥
ततोऽत्र रेमे स तया सहोद्यानेषु कान्तया।
सजलोत्पलनेत्रासु वापीषु षडहं नृपः॥१४८॥
मा स्म यातं विहायास्मानिति पूत्कुर्वतीष्विव।
उत्क्षिप्तवीचिहस्तासु हंससारसनिःस्वनैः॥१४९॥
सप्तमेऽह्नि स युक्त्या तां प्रियां तत्रानयद्गृहे।
भूलोकप्रापिणी यत्र सा यन्त्रद्वारवापिका॥१५०॥
तत्र कण्ठे गृहीत्वा तां तस्यां वाप्यां निपत्य सः।
उत्तस्थौ स्वपुरोद्यानवापीमध्यात्तया सह॥१५१॥
तत्र कान्तासखं प्राप्तं तं दृष्ट्वोद्यानपालकाः।
हृष्टास्तन्मन्त्रिणे गत्वा जगदुर्दीर्घदर्शिने॥१५२॥
सोऽप्येत्य पादपतितस्तमानीतेप्सिताङ्गनम्।
दृष्ट्वा प्रावेशयन्मन्त्री सपौरोऽभ्यन्तरं नृपम्॥१५३॥
अहो सैषा कथं प्राप्ता राज्ञा दिव्याङ्गनामुना।
व्योम्नीव विद्युदिव या क्षणदृश्या मयेक्षिता॥१५४॥
यद्यस्य लिखितं धात्रा ललाटाक्षरपङ्क्तिषु।
तदवश्यमसम्भाव्यमपि तस्योपतिष्ठते॥१५५॥
इत्यत्र मन्त्रिमुख्येऽस्मिन्ध्यायत्यन्यजनेऽपि च।
दिव्यस्त्रीप्राप्तिसाश्चर्यं राजागमनसोत्सवे॥१५६॥
सा मृगाङ्कवती दृष्ट्वा तं स्वदेशागतं नृपम्।
इयेष पूर्णसप्ताहा यातुं वैद्याधरीं गतिम्॥१५७॥

तबसे वैसा ही करती हुई और शाप से मोहित मैं यहाँ पड़ी थी। आज उस शाप से मेरा छुटकारा हो गया और मेरी सारी स्मृतियाँ भी लौट आईं॥१४३॥

अब मैं निषध पर्वत पर अपने पिता के पास जा रही हूँ। शाप के मिटने पर हम लोग फिर अपनी गति को प्राप्त हो जाते हैं, हम विद्याधरों में ऐसी ही प्रणाली है। आपको इस बात की स्वतन्त्रता है कि आप चाहे यहाँ रहें या अपने देश चले जायँ।" मृगांकवती के ऐसा कहने पर, राजा ने दुःखी होकर उससे अनुरोध किया—॥१४४—१४५॥

"सुन्दरी, तुम मुझपर इतनी कृपा करो कि एक सप्ताह के लिए रुक जाओ। हम उद्यान में क्रीडाएँ करते हुए, अपनी उत्सुकता मिटाने में, यह समय व्यतीत करेंगे। उसके बाद तुम अपने पिता के पास चली जाना और मैं भी अपने देश चला जाऊँगा।" राजा की इस बात को मुग्धा मृगांकवती ने स्वीकार कर लिया॥१४६—१४७॥

तब वह राजा अपनी प्रिया के साथ उद्यानों में और वापियों में छह दिनों तक विहार करता रहा। उन वापियों के कमल-नयन जल से भरे हुए थे। उनकी तरंगें मानों हाथ उठाकर हंस और सारसों के स्वर में कह रही थीं कि 'हम लोगों को छोड़कर मत जाओ' ॥१४८–१४९॥

सातवें दिन वह युक्तिपूर्वक अपनी प्रिया को उस भवन में ले गया, जहाँ वह वापिका थी, जो भूलोक में पहुँचानेवाली यान्त्रिक द्वार के समान थी॥१५०॥

वहाँ मृगांकवती के गले से हाथ डालकर वह उस वापी में कूद पड़ा और उसके साथ अपने नगर के उद्यान की वापी में जा उतराया॥१५१॥

वहाँ अपनी प्रिया के साथ आये हुए उस राजा को उद्यान के मालियों ने देखा। प्रसन्न होते हुए उन्होंने जाकर राजा के मन्त्री दीर्घदर्शी से यह बात कही॥१५२॥

अपनी इच्छित स्त्री को साथ लेकर आये हुए राजा के निकट जाकर मन्त्री उनके पैरों पर गिरा और नगरवासियों के साथ वह उन्हें राजमहल में ले आया॥१५३॥

मन्त्री ने अपने मन में सोचा—'राजा ने इस अलौकिक स्त्री को कैसे प्राप्त कर लिया, जिसे मैंने क्षण-मात्र के लिए आकाश में चमकनेवाली बिजली के समान देखा था। सच है कि विधाता जिसके ललाट में जो कुछ लिख देते हैं, वह कितना भी असम्भव होने पर उसे अवश्य प्राप्त होता है।' मन्त्री जब ऐसा सोच रहा था, तब दूसरे नागरिक भी राजा के वापस आने से प्रसन्न हो रहे थे और उस अलौकिक स्त्री की प्राप्ति के कारण आश्चर्य कर रहे थे॥१५४–१५६॥

इधर जब मृगांकवती ने राजा को अपने देश में आया हुआ देखा, तब सप्ताह पूरा होने पर उसने विद्याधरों की गति प्राप्त करने की इच्छा की॥१५७॥

नाविरासीच्च विद्यास्याः स्मृताप्युत्पतनी तदा।
ततः सा मुषितेवात्र विषादमगमत्परम् ॥१५८॥
किमकस्माद्विषण्णेव दृश्यसे वद मे प्रिये।
इत्युक्ता तेन राज्ञा सा विद्याधर्येवमब्रवीत् ॥१५९॥
स्थिताहं शापमुक्तापि त्वत्स्नेहाद्यदियच्चिरम्।
तेन विद्या मम भ्रष्टा नष्टा दिव्या च सा गतिः ॥१६०॥
तच्छ्रुत्वा हन्त सिद्धेयं मम विद्याधरीति सः।
राजा ततो यशःकेतुः पूर्णं चक्रे महोत्सवम् ॥१६१॥
तद्दृष्ट्वा दीर्घदर्शी स मन्त्री गत्वा गृहं निशि।
शयनीयगतोऽकस्माद्धृत्स्फोटेन व्यपद्यत ॥१६२॥
ततोऽनुभूय तच्छोकं धृतराज्यभरः स्वयम्।
यशःकेतुश्चिरं तस्थौ स मृगाङ्कवतीयुतः ॥१६३॥
इत्येतां कथयित्वा मार्गे तस्मै कथां स वेतालः।
अवदत्पुनस्त्रिविक्रमसेनं नृपतिं तमंसगतः ॥१६४॥
तद्ब्रूहि भूपते ते सम्पन्ने स्वामिनस्तथाभ्युदये।
हृदयं सपदि स्फुटितं तस्य महामन्त्रिणः किमिति ॥१६५॥
दिव्यस्त्री न मया किं प्राप्तेति शुचास्फुटद्धृदयम्।
किं वा राज्यमभीप्सो राजागमजेन दुःखेन ॥१६६॥
एतच्च यदि न वक्ष्यसि मह्यं जानन्नपीह तद्राजन्।
धर्मश्च तव विनङ्क्ष्यति यास्यति दलशश्च झटिति शिरः ॥१६७।
श्रुत्वेति तु त्रिविक्रमसेनो राजा जगाद वेतालम्।
नैतत्तस्मिन्द्वयमपि शुभचरिते युज्यते हि मन्त्रिवरे ॥१६८॥
किं तु स्त्रीमात्ररसादुपेक्षितं येन भूभुजा राज्यम्।
तस्याधुना तु दिव्यस्त्रीरक्तस्यात्र का वार्त्ता ॥१६९॥
तन्मे कष्टेऽपि कृते प्रत्युत दोषो वताधिकीभूतः।
इति तस्य विभावयतो हृदयं तन्मन्त्रिणः स्फुटितम् ॥१७०॥
इत्युक्ते नरपतिना पुनः स मायी वेतालो निजपदमेव तज्जगाम।
राजापि प्रसभमवाप्तुमन्वधावद्भूयोऽपि द्रुतमथ तं स धीरचेताः ॥१७१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके एकोनविंशस्तरङ्गः।

किन्तु, उसे आकाश में उड़ने की विद्या स्मरण नहीं आई, तब ठगी हुई-सी वह बहुत दुःखी हो गई॥१५८॥

राजा ने जब उससे पूछा कि 'प्रिये, बताओ कि तुम अचानक उदास-सी क्यों दीख पड़ती हो?' तब वह विद्याधरी यों बोली—"शाप से मुक्त होने पर भी मैं इतने दिनों तक तुम्हारी प्रीति के कारण यहाँ रह गई हूँ, इससे अपनी विद्या मैं भूल गई हूँ और मेरी अलौकिक गति भी नष्ट हो गई है"॥१५९–१६०॥

यह सुनकर राजा यशःकेतु ने सोचा—'अहा, अब यह विद्याधरी मुझे प्राप्त हो गई!' और इस तरह उसने अपने अतिशय आनन्द को पूर्ण माना॥१६१॥

यह देखकर मन्त्री दीर्घदर्शी जब अपने घर गया और रात में बिछावन पर सोया, तब हृदय फट जाने के कारण उसकी मृत्यु हो गई॥१६२॥

इससे राजा को बड़ा शोक हुआ। अनन्तर, मृगांकवती के साथ रहकर वह स्वयं ही बहुत दिनों तक राज-काज चलाता रहा॥१६३॥

मार्ग में राजा त्रिविक्रमसेन के कन्धे पर बैठे हुए उस वेताल ने यह कथा सुनकर उनसे पुनः कहा—"राजन्! यह बतलाओ कि राजा का वैसा अभ्युदय होने पर भी उसके महामन्त्री दीर्घदर्शी का हृदय क्यों विदीर्ण हो गया? क्या उसका हृदय इस शोक से फट गया कि मुझे वह अलौकिक स्त्री नहीं मिल सकी अथवा वह राज्य की इच्छा रखता था और राजा के वापस लौट आने से उसे जो दुःख हुआ, उसके कारण? राजन्! यदि जानते हुए भी यह बात तुम मुझे न बतलाओगे, तो तुम्हारा धर्म नष्ट हो जायगा और शीघ्र ही तुम्हारा मस्तक खण्ड-खण्ड हो जायगा।"॥१६४–१६७॥

यह सुनकर राजा त्रिविक्रमसेन ने वेताल से कहा—"उत्तम चरितवाले उस मन्त्रिश्रेष्ठ के लिए इन दोनों में से एक बात भी उचित नहीं जान पड़ती। इसके विपरीत उसने यह सोचा होगा कि जिस राजा ने केवल साधारण स्त्री में लिप्त होकर राज्य की उपेक्षा की थी, अब अलौकिक स्त्री के प्रति अनुरक्त होने पर उसका क्या हाल होगा! फिर, इसके लिए मैंने जो इतना कष्ट उठाया, उससे लाभ के बदले हानि ही अधिक हो गई। ऐसा सोचने के कारण ही उस मन्त्री का हृदय फटा होगा"॥१६८–१७०॥

राजा के ऐसा कहने पर वह मायावी वेताल पुनः अपने उसी स्थान पर जा पहुँचा। धीर चित्तवाले राजा भी शीघ्रतापूर्वक उसे फिर से बलपूर्वक ले आने के लिए उसके पीछे-पीछे दौड़े॥१७१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
उन्नीसवाँ तरंग समाप्त।

विंशस्तरङ्गः

त्रयोदशो वेतालः। हरिस्वामिब्राह्मणस्य कथा

अथ गत्वा पुनः प्राप्य शिंशपातस्ततो नृपः।
स त्रिविक्रमसेनस्तं स्कन्धे वेतालमाददे॥१॥
आयान्तं च स वेतालो भूयस्तं नृपमब्रवीत्।
राजञ्शृणु कथामेकां संक्षिप्तां वर्णयामि ते॥२॥
अस्ति वाराणसी नाम पुरी हरनिवासभूः।
देवस्वामीति तत्रासीन्मान्यो नरपतेर्द्विजः॥३॥
महाधनस्य तस्यैको हरिस्वामीत्यभूत्सुतः।
तस्य भार्या च लावण्यवतीत्यत्युत्तमाभवत्॥४॥
तिलोत्तमादिनाकस्त्रीनिर्माणे प्राप्तकौशलः।
अनर्घरूपलावण्यां मन्ये यां निर्ममे विधिः॥५॥
तया स कान्तया साकं हरिस्वामी कदाचन।
रतिश्रान्तो ययौ निद्रां हर्म्ये चन्द्रांशुशीतले॥६॥
तत्कालं तेन मार्गेण कामचारी विहायसा।
आगान्मदनवेगाख्यो विद्याधरकुमारकः॥७॥
स तत्र लावण्यवतीं पत्युः पार्श्वे ददर्श ताम्।
सुप्तां रतिक्लमस्रस्तवस्त्रव्यक्ताङ्गसौष्ठवाम्॥८॥
तद्रूपहृतचित्तः सन्मदनान्धः स तत्क्षणम्।
सुप्तामेव निपत्यैतां गृहीत्वा नभसा ययौ॥९॥
क्षणात्प्रबुद्धोऽथ युवा हरिस्वामी स तत्पतिः।
प्राणेश्वरीमपश्यंस्तामुदतिष्ठत्ससम्भ्रमः ॥१०॥
अहो किमेतत्क्व गता कुपिता सा नु किं मयि।
छन्ना जिज्ञासितुं किं मे चित्तं परिहसत्युत॥११॥
इत्यनेकविकल्पौघव्याकुलस्तामितस्ततः ।
हर्म्यप्रासादवलभीष्वन्विष्यन्सोऽभ्रमन्निशि ॥१२॥
आगृहोद्यानतश्चिन्वन्यन्न प्राप कुतोऽपि ताम्।
तत्स शोकाग्निसन्तप्तो विललापाश्रुगद्गदम्॥१३॥

विंश तरंग

त्रयोदश वेताल : ब्राह्मण हरिस्वामी की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने पुनः उस शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर उस वेताल को पाया और अपने कन्धे पर उठा लिया॥१॥

जाते हुए राजा से वेताल पुनः बोला—"राजन्! मैं एक छोटी-सी कथा सुनाता हूँ। सुनो॥२॥

वाराणसी नाम की एक नगरी है, जो भगवान् शिव की निवास-भूमि है। वहाँ देवस्वामी नाम का एक ब्राह्मण था। वहाँ के राजा उसका बहुत सम्मान करते थे॥३॥

उस महा धनवान् ब्राह्मण का हरिस्वामी नामक एक पुत्र था। उसकी अत्यन्त उत्तम स्त्री का नाम लावण्यवती था॥४॥

ऐसा लगता है कि तिलोत्तमा आदि स्वर्ग की अप्सराओं का निर्माण करके विधाता को जो कुशलता प्राप्त हुई थी, उसी के द्वारा उसने उस बहुमूल्य रूप-लावण्यवाली स्त्री को बनाया था॥५॥

एक बार अपनी उस स्त्री के साथ रति-श्रान्त हरिस्वामी चन्द्र-किरणों से शीतल भवन में सोया हुआ था॥६॥

उसी समय मदनवेग नाम का एक इच्छाचारी विद्याधरकुमार आकाश से विचरण करता हुआ उधर से निकला॥७॥

उसने पति के पास सोई हुई उस लावण्यवती को देखा, जिसके वस्त्र रति की श्रान्ति से खिसक गये थे और अंगों की सुन्दरता झलक रही थी॥८॥

उसकी सुन्दरता ने मदनवेग का चित्त हर लिया। कामान्ध होकर वह उसी समय झपटा और सोई हुई लावण्यवती को उठाकर आकाश में उड़ गया॥९॥

क्षण-भर बाद ही उसका युवक पति हरिस्वामी जाग उठा और अपनी प्राणेश्वरी को न देखकर घबरा गया॥१०॥

हरिस्वामी सोचने लगा—"अरे यह क्या हुआ? वह कहाँ गई? क्या वह मुझसे नाराज हो गई है? अथवा वह कहीं छिपकर मेरा मनोभाव जानने के लिए परिहास कर रही है?"॥११॥

ऐसी अनेक प्रकार की शंकाओं से विकल होकर वह रात में महल, अटारी और छत पर जहाँ-तहाँ खोजता फिरा॥१२॥

घर से बगीचे तक छान डालने पर भी जब वह कहीं नहीं मिली, तब शोकाग्नि से सन्तप्त होकर वह अश्रु-गद्गद कण्ठ से विलाप करने लगा॥१३॥

हा चन्द्रबिम्बवदने हा ज्योत्स्नागौरि हा प्रिये।
रात्र्या तुल्यगुणद्वेषात्किं नु सोढासि नानया ॥१४॥
त्वया कान्त्या जितो बिभ्यदिव चन्दनशीतलैः।
करैरसुखयद्यो मां सोऽयमिन्दुस्त्वया विना ॥१५॥
लब्धान्तर इवेदानीं तैरेव तुदति प्रिये।
प्रज्वलद्भिरिवाङ्गारैर्विषदिग्धैरिवाशुगैः ॥१६॥
इत्यादि क्रन्दतस्तस्य सा हरिस्वामिनस्तदा।
कृच्छ्राद्व्यतीयाय निशा न पुनर्विरहव्यथा ॥१७॥
प्रातर्बिभेद विश्वस्य करैः सन्तमसं रविः।
भेत्तुं न चक्षमे तस्य मोहान्धतमसं पुनः ॥१८॥
विलब्ध इव चक्राह्वैस्तस्य तीर्णनिशैस्तदा।
भेजे शतगुणीभावं करुणाक्रन्दितध्वनिः ॥१९॥
स्वजनैः सान्त्व्यमानोऽपि वियोगानलदीपितः।
न च लेभे द्विजयुवा धृतिं तां प्रेयसीं विना ॥२०॥
इह स्थितमिह स्नातं कृतमत्र प्रसाधनम्।
विहृतं च तयात्रेति ययौ त्वित इतो रुदन् ॥२१॥
मृता तावन्न सा तत्किमात्मैवं हन्यते त्वया।
अवश्यं तामवाप्तासि जीवञ्जातु कुतश्चन ॥२२॥
तद्धैर्यमवलम्बस्व तां गवेषय च प्रियाम्।
अप्राप्यं नाम नेहास्ति धीरस्य व्यवसायिनः ॥२३॥
इति बन्धुसुहृद्वाक्यैर्बोधितः सोऽथ कृच्छ्रतः।
दिनैः कैश्चिद्धरिस्वामी बबन्ध धृतिमास्थया ॥२४॥
अचिन्तयच्च सर्वस्वं कृत्वा ब्राह्मणसादहम्।
भ्रमामि तावत्तीर्थानि क्षपयाम्यघसञ्चयम् ॥२५॥
पापक्षयाद्धि तां जातु प्रियां भ्राम्यन्नवाप्नुयाम्।
इत्यालोच्य यथावस्थं स्नानाद्युत्थाय सोऽकरोत् ॥२६॥
अन्येद्युश्च विचित्रान्नपानं सत्रे द्विजन्मनाम्।
चकारावारितं किं च ददौ धनमशेषतः ॥२७॥
ब्राह्मण्यमात्रवित्तस्य निर्गत्यैव स्वदेशतः।
प्रियाप्राप्तीच्छया सोऽथ तीर्थानि भ्रमितुं ययौ ॥२८॥

"हा चन्द्रबिम्बबदने! हा ज्योत्स्नागौरि! हा प्रिये! समान गुणवाली होने के द्वेष से ही क्या यह रात तुम्हें सहन नहीं कर सकी? तुमने अपनी कान्ति से चन्द्रमा को जीत लिया था; इसी कारण डरता हुआ-सा वह अपनी चन्दन-शीतल किरणों से मुझे सुख पहुँचाया करता था; लेकिन प्रिये! अब तुम्हारे न रहने पर मौका पाकर जलते अंगारों के समान तथा विष-बुझे बाणों के सदृश अपनी उन्हीं किरणों से वह मुझे घायल कर रहा है" ॥१४-१६॥

हरिस्वामी इसी प्रकार विलाप करता रहा। बड़ी कठिनाई से वह रात तो किसी तरह बीत गई, लेकिन उसकी विरह-व्यथा नहीं मिटी ॥१७॥

सवेरा होने पर सूर्य ने अपनी किरणों से संसार का अन्धकार नष्ट कर दिया, किन्तु वह उसके मोहान्धकार को दूर न कर सका ॥१८॥

रात बीत जाने पर चक्रवाक के जोड़े के बिछोह की अवधि बीत जाती है और चकवा का चीखना बन्द हो जाता है; लेकिन रात के बीतने पर हरिस्वामी के करुण क्रन्दन की ध्वनि सौगुनी बढ़ गई, मानों चकवे के विलाप की शक्ति भी उसे ही मिल गई हो ॥१९॥

स्वजनों के सान्त्वना देने पर भी, वियोग की आग में जलते हुए उस ब्राह्मण युवक को, अपनी प्रियतमा के विना धैर्य नहीं मिल सका ॥२०॥

वह रो-रोकर यह कहता हुआ इधर-उधर घूमने लगा कि, 'यहाँ वह बैठी थी, यहाँ उसने स्नान किया था, यहाँ शृंगार किया था और यहाँ विहार किया था' ॥२१॥

"वह तो मरी नहीं है, फिर तुम्हीं क्यों इस तरह अपनी जान देते हो? तुम जीवित रहोगे, तो कभी-न-कभी उसे अवश्य ही कहीं पा लोगे। इसलिए धीरज रखकर अपनी उस प्रियतमा की खोज-ढूँढ़ करो। उद्योग करनेवाले धीर पुरुषों के लिए संसार में कोई वस्तु अप्राप्य नहीं होती।" हरिस्वामी के हित-मित्रों ने जब इस तरह उसे समझाया-बुझाया, तब कुछ दिनों के बाद, बड़ी कठिनाई से, वह किसी तरह धैर्य धारण कर सका ॥२२–२४॥

उसने सोचा कि 'मैं अपना सब कुछ ब्राह्मणों को दान करके अपने संचित पापों को नष्ट कर दूँगा। पापों के नष्ट हो जाने पर, घूमता-फिरता मैं कदाचित् अपनी प्रिया को पा सकूँगा।' अपनी तत्कालीन स्थिति से ऐसा सोचकर वह उठा और स्नादि से निवृत्त हुआ ॥२५–२६॥

अगले दिन उसने यज्ञ में ब्राह्मणों को विविध प्रकार का अन्न-पान कराया और अपना समस्त धन उनको दे दिया।२७॥

अनन्तर, एकमात्र ब्राह्मणत्व-रूपी धन को साथ लेकर वह अपने देश से निकला और अपनी प्रिया को पाने की इच्छा से, तीर्थों का भ्रमण करने के लिए चल पड़ा ॥२८॥

भ्राम्यतश्च जगामास्य भीमो ग्रीष्मर्त्तुकेसरी।
प्रचण्डादित्यवदनो दीप्ततद्रश्मिकेसरः ॥२९॥
प्रियाविरहसन्तप्तपान्थनिःश्वासमारुतैः।
न्यस्तोष्माण इवात्युष्णा वान्ति स्म च समीरणाः ॥३०॥
शुष्यद्विदीर्णपङ्काश्च हृदयैः स्फुटितैरिव।
जलाशया ददृशिरे घर्मलुप्ताम्बुसम्पदः ॥३१॥
चीरीचीत्कारमुखरास्तापम्लानदलाधराः।
मधुश्रीविरहान्मार्गेष्वरुदन्निव पादपाः ॥३२॥
तस्मिन्कालेऽर्कतापेन वियोगेन क्षुधा तृषा।
नित्याध्वना च स क्लान्तो विरूक्षक्षामधूसरः ॥३३॥
भोजनार्थी हरिस्वामी प्राप ग्रामं क्वचिद्भ्रमन्।
पद्मनाभाभिधानस्य गृहं विप्रस्य सत्त्रिणः ॥३४॥
तत्र दृष्ट्वा स भुञ्जानान्विप्रानभ्यन्तरे बहून्।
द्वारशाखां समालम्ब्य तस्थौ निःशब्दनिश्चलः ॥३५॥
तथास्थितं तमालोक्य सत्त्रिणस्तस्य गेहिनी।
पद्मनाभस्य सञ्जातदया साध्वी व्यचिन्तयत् ॥३६॥
अहो क्षुन्नाम गुर्व्येषा न कुर्यात्कस्य लाघवम्।
यदेवमयमन्नार्थी कोऽप्यास्ते द्वार्यधोमुखः ॥३७॥
दूराध्वाभ्यागतः स्नातस्तावत्क्षीणेन्द्रियः क्षुधा।
तदेष चान्नदानस्य पात्रमित्यवधार्य सा ॥३८॥
परमान्नभृतं साध्वी तस्मै सघृतशर्करम्।
पात्रमुत्क्षिप्य पाणिभ्यामानीय प्रश्रिता ददौ ॥३९॥
जगाद चैतं भुङ्क्ष्वैतद्गत्वा वापीतटे क्वचित्।
इदं स्थानं समुच्छिष्टं भुञ्जानैर्ब्राह्मणैर्वृतम् ॥४०॥
तथेति सोऽन्नपात्रं तद्गृहीत्वा नातिदूरतः।
गत्वा स्थापितवान्वाप्यास्तटे वटतरोरधः ॥४१॥
प्रक्षाल्य पाणिपादं च वाप्यामाचम्य चात्र सः।
यावद्भक्षयितुं तुष्टः परमान्नमुपैति तत् ॥४२॥
तावद्गृहीत्वा कृष्णाहिं चञ्च्वा पादयुगेन च।
श्येनः कुतश्चिदागत्य तरौ तस्मिन्नुपाविशत् ॥४३॥

वह भ्रमण ही कर रहा था कि ऋतुओं में सिंह के समान भयानक ग्रीष्म ऋतु आ पहुँची। प्रचण्ड सूर्य उसका मुख था और उसकी तपती हुई किरणें केसर॥२९॥

प्रिया-विरह से सन्तप्त पथिकों के निःश्वास से जो गरमी निकलती थी, मानों उसी से अत्यन्त गरम होकर हवा बहने लगी॥३०॥

धूप से जलाशयों (ताल पोखरों) का पानी चुक गया था। उनमें का कीचड़ सूखकर फट रहा था। इससे ऐसा जान पड़ता था, मानों उनका हृदय फट गया हो॥३१॥

मार्ग के वृक्ष, वसन्त ऋतु की शोभा के विरह में रोते-से जान पड़ते थे। उन वृक्षों के पत्ते मुरझा गये थे और वे झींगुरों की झनकार से मुखरित हो रहे थे॥३२॥

उसी समय धूप की गरमी से, वियोग से, भूख-प्यास से तथा लगातार राह चलने से थका हुआ, रूखा, दुबला तथा मलिन हरिस्वामी, घूमता हुआ किसी गाँव में पहुँचा। वहाँ पद्मनाभ नाम का एक ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। हरिस्वामी भोजन की इच्छा से उसके घर गया। ॥३३–३४॥

उस घर के अन्दर उसने बहुत-से ब्राह्मणों को भोजन करते हुए देखा। वह दरवाजे का चौखट पकड़कर विना कुछ बोले-चाले और हिले-डुले खड़ा हो गया॥३५॥

यज्ञ करनेवाले उस ब्राह्मण पद्मनाभ की पत्नी ने जब उसे वैसी हालत में खड़ा देखा, तब उसे बड़ी दया आई। उस साध्वी ने सोचा—“अरे, यह भूख भी कैसी बलवती है! यह किसे छोटा नहीं बना देती? देखो कि यह कोई भूखा द्वार पर सिर झुकाये खड़ा है। यह लम्बी राह तय करके आया है, स्नान कर चुका है, किन्तु भूख से इसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं। अतः, यह अन्नदान पाने का अधिकारी है।” ऐसा सोचकर वह साध्वी घी और शक्कर के साथ पकी हुई खीर ले आई। खीर का पात्र हाथों से उठाकर उसे नम्रतापूर्वक देती हुई वह बोली—“कहीं वापी के तट पर जाकर तुम इसे खा लो। यह जगह तो ब्राह्मणों के भोजन करने के कारण जूठी हो गई है”॥३६–४०॥

ऐसा ही करूँगा, कहकर उसने अन्न का वह पात्र ले लिया। फिर, पास की ही एक वापी के किनारे जाकर उसने उस पात्र को एक वट-वृक्ष के नीचे रख दिया॥४१॥

उस वापी में हाथ-पैर धोकर और आचमन करके सन्तुष्ट हुआ हरिस्वामी उस खीर को खाने ही जा रहा था कि इसी बीच कहीं से एक बाज आकर उस वृक्ष पर बैठा। उसने अपने दोनों पैरों और चोंच से एक काले सर्प को पकड़ रखा था॥४२–४३॥

तेन तस्योह्यमानस्य सर्पस्याक्रम्य पक्षिणा।
उत्क्रान्तजीवितस्यास्याद्विषलाला विनिर्ययौ ॥४४॥

सा तत्राधः स्थिते तस्मिन्नन्नपात्रेऽपतत्तदा।
तच्चादृष्टवा हरिस्वामी स एत्यान्नमभुङ्क्त तत् ॥४५॥

क्षुधार्त्तस्य तदा तस्य मृष्टान्नं तत्क्षणेन तत्।
कृत्स्नं भुक्तवतस्तीव्रा प्रोदभूद्विषवेदना ॥४६॥

अहो विधौ विपर्यस्ते न विपर्यस्यतीह किम्।
यद्विषीभूतमन्नं मे सक्षीरघृतशर्करम् ॥४७॥

इति जल्पन्विषार्त्तः स हरिस्वामी परिस्खलन्।
गत्वा तां सत्त्रिणस्तस्य विप्रस्योवाच गेहिनीम् ॥४८॥

त्वद्दत्ताद्विषमन्नान्मे जातं तद्विषमन्त्रिणम्।
कञ्चिन्ममानय क्षिप्रं ब्रह्महत्यान्यथास्ति ते ॥४९॥

इत्युक्त्वैव स तां साध्वीं किमेतदिति विह्वलाम्।
हरिस्वामी परावृत्तनेत्रः प्राणैर्व्ययुज्यत ॥५०॥

ततः सा तेन निर्दोषाप्यातिथेय्यपि सत्त्रिणा।
भार्या निष्कासिता गेहान्मिथ्यातिथिवधक्रुधा ॥५१॥

साप्युत्पन्नमृषावद्या सुशुभादपि कर्मणः।
जातावमाना तपसे साध्वी तीर्थमशिश्रियत् ॥५२॥

कस्य विप्रवधः सोऽस्तु सर्पश्येनान्नदेष्विति।
तदाभूद्धर्मराजाग्रे वादो नासीत्तु निर्णयः ॥५३॥

तत्त्रिविक्रमसेन त्वं राजन्ब्रूहि ममाधुना।
कस्य सा ब्रह्मत्येति पूर्वः शापः स तेन्यऽथा ॥५४॥

इति वेतालतः श्रुत्वा राजा शापनियन्त्रितः।
स त्रिविक्रमसेनस्तं मुक्तमौनोऽब्रवीदिदम् ॥५५॥

तस्य तत्पातकं तावत्सर्पस्य यदि वास्य कः।
विवशस्यापराधोऽस्ति भक्ष्यमाणस्य शत्रुणा ॥५६॥

अथ श्येनस्य तेनापि किं दुष्टं क्षुधितात्मना।
अकस्मात्प्राप्तमानीय भक्ष्यं भक्षयता निजम् ॥५७॥

दम्पत्योरन्नदात्रोर्वा तयोरेकस्य वा कुतः।
अभाव्यदोषौ धर्मैकप्रवृत्तौ तावुभौ यतः ॥५८॥

तदहं तस्य मन्ये सा ब्रह्महत्या जडात्मनः।
अविचार्यैव यो ब्रूयादेषामेकतमस्य ताम् ॥५९॥

वह पक्षी आक्रमण करके जिस सर्प को पकड़ लाया था, वह मर चुका था; किन्तु उसके मुख से जहरीली राल टपक रही थी॥४४॥

वह राल वृक्ष के नीचे रखे अन्नपात्र में गिरी। हरिस्वामी ने वहाँ आकर यह नहीं देखा और उस अन्न को खा लिया॥४५॥

हरिस्वामी भूखा था, अतः वह उस सारी खीर को बात-की-बात में खा गया, जिसमें विष मिल गया था। खाते ही वह विष की वेदना से तड़पने लगा॥४६॥

वह सोचने लगा—'अरे, जब विधाता प्रतिकूल हो जाते हैं, तब सब कुछ प्रतिकूल ही हो जाता है। इसीलिए दूध, घी और शक्कर से बना हुआ यह अन्न भी मेरे लिए विष हो गया।' यह सोचकर गिरता-पड़ता वह, यज्ञ करनेवाले उस ब्राह्मण के घर गया और उसकी पत्नी से बोला—"तुम्हारे दिये हुए अन्न से मुझे जहर चढ़ गया है। अतः, किसी ऐसे आदमी को शीघ्र ही बुलाओ, जो जहर उतार सकता हो, नहीं तो तुम्हें ब्रह्महत्या लगेगी"॥४७–४९॥

यह कहते ही हरिस्वामी की आँखें उलट गईं और उसके प्राण निकल गये। वह साध्वी विह्वल होकर इतना ही कह सकी कि 'अरे, यह क्या हुआ'॥५०॥

यद्यपि वह स्त्री निर्दोष थी और उसने अतिथि का सत्कार भी किया था, फिर भी यज्ञ करनेवाले उस ब्राह्मण ने अतिथि का वध करने के झूठे अपराध के लिए, क्रुद्ध होकर, उसे घर से निकाल दिया॥५१॥

उस साध्वी ने यद्यपि उचित कार्य किया था, फिर भी उसे झूठा कलंक लगा और उसकी मअवानना हुई। इससे वह तपस्या करने के लिए किसी तीर्थ में चली गई॥५२॥

अनन्तर, धर्मराज के सम्मुख इस बात पर बहस हुई कि साँप, बाज और खीर देनेवाली उस स्त्री में से ब्राह्मण-वध का पाप किसे लगा। लेकिन, कोई निर्णय नहीं हो सका॥५३॥

अतः, राजन्! त्रिविक्रमसेन! अब तुम्हीं बताओ कि ब्रह्महत्या का पातक किसे लगा? नहीं तो, तुम्हें पहले ही वाला शाप लगेगा॥५४॥

शाप से नियन्त्रित राजा त्रिविक्रमसेन ने जब वेताल से यह बात सुनी, तब वे मौन तोड़कर उससे यों बोले—"सर्प को वह पातक कैसे लग सकता था? क्योंकि, शत्रु उसे खा रहा था और वह विवश था। इसमें बाज का भी कोई दोष नहीं था; क्योंकि वह भूखा था और अचानक प्राप्त हुए अपने आहार को ले आकर खा रहा था। अन्न देनेवाले उस दम्पती में से भी किसी का कोई अपराध नहीं था; क्योंकि वे दोनों धर्म में अनुराग रखते थे और उन्होंने कोई दोष न समझकर ही उसे भोजन दिया था। अतः, मैं तो उस जड बुद्धिवाले को ही इस ब्रह्महत्या के लिए जिम्मेदार मानता हूँ, जो विना सोचे-विचारे ही इनमें से किसी एक को दोषी कहता है"॥५५–५९॥

इत्युक्तवतोऽस्य नृपस्यांसाद्भूयोऽप्यगात्स वेतालः।
निजपदमेव नृपोऽपि स पुनरपि धीरस्तमन्वगादेव॥६०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके विंशस्तरङ्गः।

एकविंशस्तरङ्गः

चतुर्दशो वेतालः। वणिक्पुत्र्याः कथा

स त्रिविक्रमसेनोऽथ गत्वा तं शिंशपातरोः।
भूयोऽप्यासाद्य वेतालं स्कन्धे जग्राह भूपतिः॥१॥
प्रस्थितं च तमुर्वीशं स वेतालोऽभ्यधात्पुनः।
राजा श्रान्तोऽसि तच्चित्रां कथामाख्यामि ते शृणु॥२॥
अस्त्ययोध्येति नगरी राजधानी बभूव या।
रक्षःकुलकृतान्तस्य रामरूपस्य शार्ङ्गिणः॥३॥
तस्यां राजाभवद्वीरकेतुर्नाम ररक्ष यः।
क्षोणीमिमां महाबाहुः प्राकारो नगरीमिव॥४॥
तस्मिन्महीपतावस्यां पुर्यामेको महावणिक्।
रत्नदत्ताभिधानोऽभूद्वणिङ्निवहनायकः॥५॥
नन्दयन्त्यभिधानायां पत्न्यां तस्योदपद्यत।
सुता रत्नवती नाम देवताराधनार्जिता॥६॥
सा च तस्य पितुर्वेश्मन्यवर्धत मनस्विनी।
रूपलावण्यविनयैः सहैव सहजैर्गुणैः॥७॥
यौवनस्थां च तां तस्माद्रत्नदत्तान्नकेवलम्।
महान्तो वणिजो यावद्राजानोऽपि ययाचिरे॥८॥
सा तु पुंद्वेषिणी नैच्छद्भर्तारमपि वासवम्।
प्राणत्यागोद्यता सेहे न विवाहकथामपि॥९॥
तेन तस्याः पिता तूष्णीं तस्थौ वात्सल्यदुःस्थितः।
स च प्रवादोऽयोध्यायां तस्यां सर्वत्र पप्रथे॥१०॥
अत्रान्तरे सदा चौरैर्मुष्यमाणाः किलाखिलाः।
सम्भूयात्र नृपं पौरा वीरकेतुं व्यजिज्ञपन्॥११॥
नित्यं मुष्यामहे चौरे रात्रौ रात्राविह प्रभो।
लक्ष्यन्ते ते च नास्माभिस्तद्देवो वेत्तु यत्परम्॥१२॥

ऐसा कहते हुए राजा के कन्धे से उतरकर वह वेताल फिर अपनी जगह पहुँच गया। धीर हृदयवाले राजा ने भी फिर उसका पीछा किया ॥६०॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का बीसवाँ तरंग समाप्त।

एकविंश तरंग

चतुर्दश वेताल : वणिक्पुत्री की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर फिर वेताल को पाया और उसे कन्धे पर उठा लिया ॥१॥

राजा जब चला, तब वेताल फिर उससे बोला—"राजन्! तुम थक गये हो, इसलिए तुम्हें एक विचित्र कथा सुनाता हूँ। इसे सुनो" ॥२॥

अयोध्या नाम की एक नगरी है। वह नगरी, राक्षस-कुल का नाश करनेवाले, रामचन्द्र के रूप में अवतरित भगवान् विष्णु की राजधानी थी ॥३॥

वहाँ वीरकेतु नाम का एक महाबाहु राजा हुआ, जो उसी प्रकार इस धरती की रक्षा करता था, जिस प्रकार नगरी की रक्षा चहारदीवारें करती हैं ॥४॥

उस राजा के राज्यकाल में, उस नगरी में रत्नदत्त नामक एक बड़ा वणिक् रहता था, जो वणिक्-समाज का नायक था ॥५॥

नन्दयन्ती नाम की उसकी पत्नी से, उसके यहाँ रत्नवती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई, जो देवताओं की आराधना से प्राप्त हुई थी ॥६॥

वह मनस्विनी कन्या, अपने पिता के घर में, रूप-लावण्य, विनय आदि सहज गुणों के साथ ही बढ़ने लगी ॥७॥

जब वह युवती हुई, तब रत्नदत्त से, न केवल बड़े-बड़े वणिक् ही, बल्कि राजा लोग भी उसकी याचना करने लगे ॥८॥

पुरुषों से द्वेष रखनेवाली वह कन्या पति के रूप में इन्द्र को भी पसन्द नहीं करती थी। वह विवाह की बात भी न सुनना चाहती थी—सुनते ही प्राणत्याग करने को उद्यत हो जाती थी ॥९॥

उस कन्या पर अधिक प्रीति होने के कारण, दुःखी होकर भी उसका पिता चुप रहा; पर यह बात सारी अयोध्या में फैल गई ॥१०॥

इसी बीच अयोध्यानिवासियों के यहाँ लगातार चोरियाँ होने लगीं। तब समस्त पुरवासियों ने मिलकर राजा वीरकेतु से निवेदन किया कि 'हम लोग रोज-रोज चोरों के द्वारा लूटे जाकर भी उन्हें देख नहीं पाते, अतः अब आप ही इसका उपाय करें' ॥११–१२॥

इति पोरैः स विज्ञप्तो राजा तामभितः पुरीम् ।
तस्करान्वेषणे छन्नानादिशद्रात्रिरक्षकान् ॥१३॥
तेऽपि प्रापुर्नयच्चौरान्पुरी सामुष्यतैव च ।
तदैकदा स्वयं राजा निशि स्वैरं विनिर्ययौ ॥१४॥
एकाकी चात्तशस्त्रोऽत्र भ्रमन्सोऽपश्यदेकतः ।
एकं प्राकारपष्ठेन यान्तं कमपि पूरूषम् ॥१५॥
निःशब्दपदविन्यासविचित्रगतिकौशलम् ।
सशङ्कलोलनयनं पश्यन्तं पृष्ठतो मुहुः ॥१६॥
अयं स नूनं चौरो मे मुष्णात्येकचरः पुरीम् ।
इति मत्वैव निकटं स तस्योपययौ नृपः ॥१७॥
ततः स चौरो दृष्ट्वा तं नृपं कोऽसीत्यभाषत ।
चौरोऽहमिति राजा तं चौरं प्रत्यब्रवीत्स तम् ॥१८॥
सोऽथ चौरोऽभ्यधाद्दृष्ट्वा तर्हि तुल्योऽसि मे सुहृत् ।
तदेहि मद्गृहं तावन्मित्राचारं करोमि ते ॥१९॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा तेनैव सह भूपतिः ।
ययौ वनान्तर्धरणीखातान्तर्वर्त्ति तद्गृहम् ॥२०॥
अशेषभोगभोगाढ्यं भास्वद्दीपप्रकाशितम् ।
नवीनमिव पातालं बलिराजानधिष्ठितम् ॥२१॥
तत्र प्रविष्टे तस्मिंश्च कृतासनपरिग्रहे ।
राज्ञि सोऽभ्यन्तरगृहं प्रविवेशाथ तस्करः ॥२२॥
तत्क्षणं च तमेत्यैका दासी तत्रावदन्नृपम् ।
महाभाग प्रविष्टस्त्वमिह मृत्युमुखे कथम् ॥२३॥
एकचौरो ह्यसौ पापं निर्गत्यातः करिष्यति ।
ध्रुवं विश्वासघातीति तदितस्त्वरितं व्रज ॥२४॥
इत्युक्तः स तया राजा निर्गत्यैव ततो द्रुतम् ।
गत्वा स्वराजधानीं च निशि सैन्यान्यसज्जयत् ॥२५॥
सन्नद्धसैन्यश्चागत्य दस्योस्तस्य रुरोध तत् ।
भूगृहद्वारविवरं रसत्तूर्याकुलैर्बलैः ॥२६॥
ततो रुद्धे गृहे वृत्तं प्रतिभेदमवेत्य सः ।
मरणे निश्चितश्चौरः शूरो युद्धाय निर्ययौ ॥२७॥

पुरवासियों के ऐसा कहने पर, राजा ने पहरेदारों को आदेश दिया कि वे छिपकर रात के समय नगरी के चारों ओर चोरों का पता लगायें ॥१३॥

वे भी जब चोरों का पता नहीं लगा सके और नगरी में चोरियाँ होती ही रहीं, तब एक दिन राजा स्वयं ही रात के समय चुपचाप बाहर निकला ॥१४॥

राजा शस्त्र लेकर अकेला ही घूम रहा था। उसने एक जगह एक अकेले व्यक्ति को चहारदीवारी पर से जाते हुए देखा ॥१५॥

वह पाँवों की आहट बचाता, बड़ी होशियारी से चल रहा था। उसकी आँखें शंकित और चंचल थीं तथा वह बार-बार पीछे की ओर देखता जाता था ॥१६॥

राजा यह सोचकर उसके पास गया कि 'अवश्य यही वह चोर है, जो अकेला घूमता हुआ मेरी नगरी में चोरी किया करता है' ॥१७॥

चोर ने राजा को देखकर पूछा—'तुम कौन हो?' राजा ने उत्तर में उससे कहा—'मैं चोर हूँ' ॥१८॥

यह देखकर चोर बोला—'तब तो मेरे ही समान होने के कारण तुम मेरे अपने हो; इसलिए तुम मेरे घर चलो। वहाँ मैं मित्र के समान तुम्हारा सत्कार करूँगा' ॥१९॥

राजा उसकी बात मानकर उसके घर गया, जो एक वन में खोदी हुई जमीन के अन्दर था ॥२०॥

उस घर में सुख-सुविधाओं के अनन्त वैभव भरे हुए थे, वह तेज रोशनीवाले दीपों से प्रकाशित था और एक नये पाताल के समान जान पड़ता था। अन्तर यह था कि उसमें बलि का निवास नहीं था ॥२१॥

राजा जब वहाँ जाकर आसन पर बैठ गया, तब वह चोर घर के भीतरी हिस्से में चला गया ॥२२॥

उसी समय एक दासी ने वहाँ आकर राजा से कहा—"महाभाग! आप यहाँ मृत्यु के मुख में क्यों आये हैं? यह पापी प्रसिद्ध चोर है। जब वह बाहर निकलेगा, तब निश्चय ही आपके साथ विश्वासघात करेगा; अतः आप शीघ्र ही यहाँ से चले जायँ" ॥३२–२४॥

दासी के ऐसा कहने पर राजा झटपट वहाँ से निकलकर अपनी राजधानी में चला गया। वहाँ रातों-रात उसने अपनी सेना को तैयार किया ॥२५॥

सेना सजाकर वह उस चोर के भूमिगृह के पास आया। तुरही बजाती हुई उसकी सेना ने, उस चोर के घर को जानेवाली सुरंग के मुहाने को घेर लिया ॥२६॥

इस तरह अपने घर को घिरा हुआ जानकर चोर समझ गया कि उसका भेद खुल गया है; इसलिए वह वीर मरने का निश्चय करके युद्ध के लिए बाहर निकला ॥२७॥

निर्गतश्च रणे चक्रे पराक्रमममानुषम् ।
करांश्चकर्त्त करिणां जङ्घाश्चिच्छेद वाजिनाम् ॥२८॥
जहार च शिरांस्येको भटानां खड्गचर्मभृत् ।
ततस्तं क्षपितानीकमभ्यधावत्स्वयं नृपः ॥२९॥
स तस्य खड्गविद्याज्ञो राजा करणयुक्तितः ।
हृस्ताज्जहार निस्त्रिंशमथ तां छुरिकामपि ॥३०॥
अशस्त्रं मुक्तशस्त्रोऽथ बाहुयुद्धेन तं नृपः ।
चौरं निहत्य धरणौ सजीवग्राहमग्रहीत् ॥३१॥
निनाय तं च संयम्य सधनं नगरीं निजाम् ।
प्रातश्चाज्ञापयत्तस्य शूलारोपणनिग्रहम् ॥३२॥
नीयमानं च तं वध्यभूमिं चौरं सडिण्डिमम् ।
ददर्श सा रत्नवती वणिक्कन्यात्र हर्म्यतः ॥३३॥
व्रणितं धूलिलिप्ताङ्गमप्येतं मारमोहिता ।
दृष्ट्वैव गत्वा पितरं रत्नदत्तमुवाच सा ॥३४॥
वधाय नीयते योऽयमेष भर्त्ता वृतो मया ।
तन्नृपाद्रक्ष तातैनं न चेदेनमनु म्रिये ॥३५॥
तच्छ्रुत्वा तां पितावादीत्किमिदं पुत्रि भाषसे ।
या त्वं नेच्छसि भूपालमपि भर्त्तं नभीप्सतः ॥३६॥
सा पापं तस्करमिमं वाञ्छस्यापद्गतं कथम् ।
इत्यादि पित्रा प्रोक्तापि निश्चयान्न चचाल सा ॥३७॥
ततः स तत्पिता गत्वा तस्य चौरस्य सत्वरम् ।
सर्वस्वेनापि राजानं वधान्मोक्षमयाचत ॥३८॥
राजा तु तं न तत्याज हेमकोटिशतैरपि ।
स्वशरीरपणानीतं चौरं सर्वापहारिणम् ॥३९॥
ततः पितर्युपायाते विमुखे सा वणिक्सुता ।
अनुमर्त्तुं कृतस्नाना वार्यमाणापि बन्धुभिः ॥४०॥
आरुह्य शिबिकां तस्य दस्योर्वध्यभुवं ययौ ।
अन्वीयमाना रुदता पित्रा मात्रा जनेन च ॥४१॥
तावच्च वधकैः सोऽत्र चौरः शूलेऽधिरोपितः ।
तां ददर्श गलत्प्राणस्तथा सज्ञातिमागताम् ॥४२॥

युद्ध के लिए बाहर निकलकर उसने अमानुषिक पराक्रम दिखलाया। हाथ में ढाल और तलवार लेकर, अकेले ही, उसने हाथियों की सूँड़ें, घोड़ों की जाँघें और वीरों के मस्तक काट डाले। तब, अपनी सेना को इस तरह नष्ट होती देखकर, राजा स्वयं ही आगे बढ़ा॥२८–२९॥

राजा खड्ग-विद्या का जानकार था। उसने नाटकीय कौशल से उसके हाथ से पहले तलवार और फिर छुरी छीन ली॥३०॥

इस प्रकार, वह चोर जब निःशस्त्र हो गया, तब राजा ने भी अपने शस्त्र छोड़ दिये और बाहु-युद्ध से उसे पछाड़कर जीवित ही पकड़ लिया॥३१॥

राजा उस चोर को बाँधकर, उसकी धन-दौलत के साथ, अपनी नगरी में ले आया। सवेरा होने पर उसने चोर को सूली पर चढ़ाकर मारने की आज्ञा दी॥३२॥

डौंड़ी पीटकर जब उस चोर को वध-भूमि में ले जाया जा रहा था, वणिक् की कन्या रत्नवती ने उसे अपने महल से देखा॥३३॥

वह चोर घायल था, उसके अंग धूल से भरे थे, फिर भी रत्नावती उसे देखकर काम-वश हो गई। उसने जाकर अपने पिता रत्नदत्त से कहा—"पिताजी, जिस पुरुष को ये लोग वध करने के लिए, लिये जा रहे हैं, मैंने उसे ही अपना पति चुना है। अतः आप राजा से कहकर उसकी प्राण-रक्षा करें, नहीं तो उसके पीछे मैं भी मर जाऊँगी"॥३४–३५॥

यह सुनकर पिता ने उससे कहा—"बेटी! यह तुम क्या कहती हो? तुम, तो उन राजाओं को भी पति नहीं बनाना चाहती, जो तुम्हारी कामना करते हैं; फिर तुम आपत्ति में पड़े हुए, इस दुष्ट चोर की इच्छा कैसे करती हो?"[1] लेकिन, पिता की इन बातों से भी वह अपने निश्चय से नहीं टली॥३६–३७॥

तब झटपट उसका पिता, राजा के पास गया। उसने अपना सब-कुछ देकर भी राजा से उस चोर की मुक्ति माँगी॥३८॥

लेकिन, राजा ने सौ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर भी उस चोर को छोड़ना स्वीकार नहीं किया, जो सबको लूटता रहता था और राजा जिसे अपनी जान की बाजी लगाकर पकड़ सके थे॥३९॥

रत्नावती के पिता जब इस तरह असफल होकर लौट आये, तब सबके रोकने-मना करने पर भी वह स्नान करके और पालकी पर सवार होकर, उस चोर के बाद मरने के लिए वधभूमि में गई। उसके पीछे-पीछे रोते हुए उसके माँ-बाप तथा और लोग भी गये॥४०-४१॥

इसी बीच वधिकों ने चोर को सूली पर चढ़ा दिया था। उसके प्राण छटपटा रहे थे। तभी उसने अपने कुटुम्बियों के साथ आती हुई रत्नावती को देखा॥४२॥

---

[1] यहाँ एक पाठान्तर भी मिलता है, जिसका अर्थ यों है—"पहले तो तुमने कामदेव के समान गुणी वरों की भी इच्छा नहीं की। वही तुम, आज इस निन्दित चोर-सरदार की कामना कैसे करती हो?"—अनु०

जनाच्छ्रुत्वा च वृत्तान्तमश्रु मुक्त्वा क्षणं ततः।
हसन्स चौरः किमपि प्राणाञ्शूलगतो जहौ ॥४३॥
ततोऽवतारितं शूलात्सा तच्चौरकलेवरम्।
आदाय चारुरोहात्र चितां साध्वी वणिक्सुता ॥४४॥
तत्क्षणं च श्मशानेऽत्र भैरवः कृतसन्निधिः।
अदृश्यो भगवानेव तामुवाचान्तरिक्षतः ॥४५॥
अस्मिन्स्वयंवरपतावेवं भक्त्या तवानया।
तुष्टोऽस्मि तद्वरं मत्तः प्रार्थयस्व पतिव्रते ॥४६॥
तच्छ्रुत्वैव वरं देवादेवं वव्रे प्रणम्य सा।
नाथ पुत्रशतं भूयादपुत्रस्यापि मत्पितुः ॥४७॥
येनानन्यसुतो नैष प्राणाञ्जह्यान्मया विना।
इति प्रोक्तवतीमेनां साध्वीं देवोऽब्रवीत्पुनः ॥४८॥
पितुः पुत्रशतं तेऽस्तु वरमन्यं वृणीष्व च।
त्वादृशी दृढसत्त्वा हि नैतावन्मात्रमर्हति ॥४९॥
तदाकर्ण्याथ सावादीत्प्रसन्नो मयि चेत्प्रभुः।
तज्जीवत्वेष भर्त्ता मे धार्मिकश्च सदास्त्विति ॥५०॥
एवमस्त्वक्षतो जीवन्नुत्तिष्ठत्वेष ते पतिः।
धार्मिकश्चास्तु राजास्य वीरकेतुश्च तुष्यतु ॥५१॥
इत्युक्तवत्यनालक्ष्यमूर्त्तौ शर्वे नभःस्थिते।
उत्तस्थावक्षताङ्गोऽत्र चौरो जीवंस्तदैव सः ॥५२॥
ततो विस्मितहृष्टः सन्रत्नदत्तः सुतां वणिक्।
आदाय तां रत्नवतीं चौरं जामातरं च तम् ॥५३॥
प्रहृष्टैर्बान्धवैः साकं प्रविश्य निजमन्दिरम्।
लब्धपुत्रवरश्चक्रे स्वानन्दोचितमुत्सवम् ॥५४॥
ज्ञातवृत्तान्ततुष्टश्च तदैवानाय्य तं नृपः।
एकवीरं वीरकेतुश्चौरं सेनापतिं व्यधात् ॥५५॥
चौर्यान्निवृत्तोऽथ स तां परिणीय वणिक्सुताम्।
एकवीरः सुखं तस्थौ मार्गस्थो राजसम्मतः ॥५६॥
इति कथयित्वा स कथां वेतालो दत्तपूर्वशापभयम्।
अंसस्थितस्त्रिविक्रमसेनं पप्रच्छ ते क्षितिपम् ॥५७॥

लोगों से उसका वृत्तान्त सुनकर उसने क्षण-भर तो आँसू बहाये, फिर वह हँसा और तब शूली पर चढ़े हुए उस चोर ने किसी तरह अपने प्राण त्याग दिये ॥४३॥

अनन्तर, उस साध्वी वणिक्-कन्या ने उस चोर के शरीर को शूली पर से उतरवाया और उसे लेकर चिता पर आरोहण किया ॥४४॥

इसी समय भगवान् शिव अदृश्य रूप में उस श्मशान में उपस्थित हुए और अन्तरिक्ष से उससे बोले—"पतिव्रते ! स्वयं वरे हुए इस पति के प्रति तुमने जो भक्ति दिखलाई है, उससे मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ; अतः तुम मुझसे वर माँगो" ॥४५–४६॥

यह सुनकर रत्नवती ने देवाधिदेव महादेव को प्रणाम करके उनसे यह वर माँगा—"भगवन् ! मेरे पिता के कोई पुत्र नहीं है। उन्हें सौ पुत्र हों। मेरे सिवा उन्हें दूसरी सन्तान नहीं है, अतः मेरे विना वे जीवित न रहेंगे।" उस साध्वी के ऐसा कहने पर भगवान् उससे फिर बोले—॥४७–४८॥

"तुम्हारे पिता को सौ पुत्र होंगे; लेकिन तुम दूसरा वर माँगो; क्योंकि तुम्हारी-जैसी वीरहृदया के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है" ॥४६॥

यह सुनकर उसने कहा—"यदि प्रभु मुझपर प्रसन्न हैं, तो मेरे ये पति जीवित हो जायँ और इनकी मति धर्म में स्थिर रहे" ॥५०॥

"ऐसा ही हो। तुम्हारा यह पति, अक्षतशरीर जी उठे, धर्म में इसकी मति स्थिर रहे और राजा वीरकेतु इसपर प्रसन्न हों।" आकाश से अलक्ष्य रूप से स्थित भगवान् शंकर ने ज्यों ही यह कहा, त्यों ही वह चोर अक्षत शरीर से, जीवित होकर उठ खड़ा हुआ ॥५१–५२॥

यह देखकर वह वणिक् रत्नदत्त जैसा विस्मित हुआ, वैसा ही प्रसन्न भी हुआ। प्रसन्न मनवाले अपने कुटुम्बियों के सहित वह अपनी कन्या रत्नवती तथा जामाता उस चोर को अपने घर ले आया। अनन्तर, पुत्र-प्राप्ति का वर पाये हुए रत्नदत्त ने अपनी प्रसन्नता के अनुसार उत्सव मनाया ॥५३–५४॥

जब राजा को सब वृत्तान्त मालूम हुआ, तब सन्तुष्ट होकर उसने उस परम वीर चोर को बुलाकर अपना सेनापति बनाया ॥५५॥

उस अद्वितीय वीर-चोर ने भी चोरी की वृत्ति छोड़ दी और उस वणिक्-पुत्री से विवाह करके, राजा के अनुकूल रहकर, सन्मार्ग अपनाया ॥५६॥

राजा को यह कथा सुनाकर और उन्हें पहले के शाप का भय दिलाकर, राजा त्रिविक्रमसेन के कन्धे पर स्थित उस वेताल ने पूछा—॥५७॥

राजन्ब्रूहि सपितृकामुपस्थितां तां वणिक्सुतां दृष्ट्वा ।
चौरेण शूलपृष्ठे रुदितं हसितं च किं तेन ॥५८॥
अथ राजा प्रत्यवदद्रुदितं चौरेण दुःखतस्तेन ।
नास्यानृण्यमकारणबन्धोर्यातोऽस्मि वणिज इति ॥५९॥
आश्चर्यतश्च हसितं किमियं कन्या नृपान्वरान्हित्वा ।
मय्यस्मिन्नुरक्ता स्त्रीचित्तमहो विचित्रमिति ॥६०॥
इत्युक्तवाक्यस्य महीभृतोंऽसान्मायी स्वशक्त्यैव सदा जगाम ।
स्वं धाम वेतालवरः स राजाप्येतं पुनः पूर्ववदन्वगच्छत् ॥६१

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागिरे
शशाङ्कवतीलम्बके एकविंशस्तरङ्गः।

द्वाविंशस्तरङ्गः

पञ्चदशो वेतालः। शशिप्रभायाः कथा

ततो गत्वा पुनः प्राप्य वेतालं शिंशपातरोः ।
स त्रिविक्रमसेनस्तमादायोदचलत्पुनः ॥१॥
आयान्तं तं च राजानं स वेतालोंऽसपृष्ठगः ।
जगाद भूयोऽप्येतां ते राजन्वच्मि कथां शृणु ॥२॥
अभून्नेपालविषये नाम्ना शिवपुरं पुरम् ।
यथार्थनामा तत्रासीद्यशःकेतुः पुरा नृपः ॥३॥
स मन्त्रिणि न्यस्य भरं प्रज्ञासागरसंज्ञके ।
चन्द्रप्रभाख्यया देव्या सार्धं भोगानसेवत ॥४॥
कालेन तस्यां देव्यां च तस्याजायत कन्यका ।
राज्ञः शशिप्रभा नाम जगन्नेत्रशशिप्रभा ॥५॥
क्रमेण यौवनस्था सा मधुमासे कदाचन ।
ययौ यात्रोत्सवं द्रष्टुमुद्यानं सपरिच्छदा ॥६॥
तत्रैकदेशेऽपश्यत्तां कुसुमावचयोद्यताम् ।
उत्क्षिप्तबाहुलतिकालक्षितैकपयोधराम् ॥७॥
प्रसूनवृन्तविगलत्संदंशकरशोभिनीम् ।
आढ्यपुत्रो मनःस्वामी नाम यात्रागतो द्विजः ॥८॥

"राजन् ! यह बतलाओ कि उस वणिक्-पुत्री को अपने माता-पिता के साथ आई हुई देखकर, शूली पर चढ़ा हुआ वह चोर पहले रोया क्यों और फिर हँसा क्यों ?" ॥५७–५८॥

राजा ने उत्तर में कहा—"वह चोर रोया तो इस दुःख से था कि 'यह वणिक् जो मेरा अकारण-बन्धु बना, उससे मैं उऋण नहीं हो सका।' और हँसा इस विस्मय से कि 'पति-रूप में राजाओं का भी तिरस्कार करके यह कन्या, ऐसी स्थिति में पड़े हुए मेरे प्रति कैसे अनुरक्त हो गई ? सच है, स्त्री का चित्त बड़ा विचित्र होता है" ॥५९–६०॥

राजा ने जब यह बात कही, तब वह मायावी वेताल अपनी शक्ति के द्वारा, उनके कन्धे से उतरकर फिर अपने स्थान पर जा पहुँचा। राजा भी पहले ही की तरह फिर उसके पीछे-पीछे चले गये ॥६१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती
लम्बक का एकविंश तरंग समाप्त।

द्वाविंश तरंग

पंचदश वेताल : शशिप्रभा की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने शिंशपा-वृक्ष के निकट जाकर पुनः उस वेताल को पाया। उसे लेकर वे फिर चल पड़े ॥१॥

चलते हुए राजा के कन्धे पर सवार, उनके पीछे-पीछे जाते हुए वेताल ने फिर कहा—"राजन् ! मैं तुमसे यह कथा कहता हूँ। सुनो" ॥२॥

नेपाल में शिवपुर नाम का एक नगर था। वहाँ यशःकेतु नाम का एक राजा था। वह अपने नामके अनुसार ही यशस्वी था ॥३॥

प्रज्ञासागर नाम के अपने मन्त्री को राज्यभार सौंपकर वह चन्द्रप्रभा नाम की अपनी रानी के साथ सुख-भोग करता था ॥४॥

समय पाकर, अपनी रानी से उसे शशिप्रभा नाम की एक कन्या हुई। वह संसार की आँखों के लिए चाँदनी के समान थी ॥५॥

क्रमशः जब वह युवती हुई, तब एक बार वसन्त ऋतु में वह यात्रा का उत्सव देखने के लिए, अपनी परिचारिकाओं के सहित यात्रा का मेला देखने के लिए गये ॥६॥

उस मेले में, धनी बाप का बेटा मनःस्वामी नाम का एक ब्राह्मण भी आया हुआ था। मेले के एक भाग में, फूल चुनने के लिए उद्यत शशिप्रभा को उसने देखा। उठी हुई बाहु-वल्लरी की सन्धि से उसका स्तन दीख रहा था और फूल तोड़नेवाली उँगलियों से उसका हाथ शोभित हो रहा था ॥७–८॥

स तया दृष्टया सद्यो हृतस्य मनसो युवा।
मनःस्वाम्यपि नैवाभूत्स्वामी मदनमोहितः ॥९॥
मार्गणानां कृते किंस्विद्रतिरेषा मनोभुवः।
वसन्तसम्भृतानीह पुष्पाण्युच्चिनुते स्वयम् ॥१०॥
किं वार्चयितुकामेयं माधवं वनदेवता।
इति सञ्चिन्तयन्तं तं साप्यपश्यन्नृपात्मजा ॥११॥
दृष्टमात्रे च सा तस्मिन्साङ्गे नव इव स्मरे।
न पुष्पाणि न चाङ्गानि सोत्का नात्मानमस्मरत् ॥१२॥
इत्यन्योन्यनवप्रेमसरसौ यावदत्र तौ।
तिष्ठतस्तावदुदभूद्धाहाहेति महारवः ॥१३॥
किमेतदिति चोत्क्षिप्तकन्धरं पश्यतोस्तयोः।
आयादत्रोपलब्धान्यगजगन्धोत्थया रुषा ॥१४॥
भग्नालानो विनिर्गत्य मत्तो मार्गद्रुमान्रुजन्।
पतिताधोरणो धावँल्लम्बमानाङ्कुशः करी ॥१५॥
ततः परिजने त्रस्तविद्रुते तां ससम्भ्रमम्।
राजपुत्रीं प्रधाव्यैव दोर्भ्यामुत्क्षिप्य चैककाम् ॥१६॥
अङ्गे किञ्चित्कृताश्लेषां भयप्रेमत्रपाकुलाम्।
निनाय स मनःस्वामी सुदूरं गजगोचरात् ॥१७॥
अथागतैः परिजनैः स्तुवद्भिस्तं द्विजोत्तमम्।
मुहुर्विवृत्य पश्यन्ती सा निन्ये निजमन्दिरम् ॥१८॥
तत्र तस्थौ तमेवार्त्ता स्मरन्ती प्राणदायिनम्।
स्मराग्निपुटपाकेन पच्यमाना दिवानिशम् ॥१९॥
सोऽप्युद्यानान्मनःस्वामी तदा तस्मादनुव्रजन्।
स्वान्तः परप्रविष्टां तां दृष्ट्वा सोत्को व्यचिन्तयत् ॥२०॥
नैतां विनाधुना स्थातुं जीवितुं वाहमुत्सहे।
तन्मे श्रीमूलदेवोऽत्र धूर्त्तः सिद्धो गुरुर्गतिः ॥२१॥
इति सञ्चिन्त्य कथमप्यस्मिन्नवसिते दिने।
प्रातर्ययौ गुरोस्तस्य मूलदेवस्य सोऽन्तिकम् ॥२२॥
ददर्श तं च मित्रेण शशिना नित्यसङ्गतम्।
सिद्धमायाद्भुतपथं सशरीरमिवाम्बरम् ॥२३॥

राजकुमारी को देखते ही उसका मन उसके हाथ से जाता रहा और नाम से मनःस्वामी होने पर भी, काम-मोहित होकर, वह अपने मन का स्वामी न रहा ॥९॥

मनःस्वामी सोचने लगा—"क्या यह रति है, जो कामदेव का बाण बनाने के लिए वसन्त के द्वारा एकत्रित पुष्पों को स्वयं ही चुन रही है? अथवा यह वनदेवी है, जो वसन्त का पूजन करने की इच्छा रखती है?" वह ऐसा सोच ही रहा था कि उस राजकुमारी ने भी उसे देखा ॥१०–११॥

नये कामदेव के समान मनःस्वामी को देखते ही राजकुमारी भी उत्कण्ठित हो गई। तब न उसे फूलों की सुध-बुध रही, न अपने अंगों की और न अपनी ही ॥१२॥

इस प्रकार, जब वे एक दूसरे के प्रेम-रस से भींग रहे थे, उसी समय 'हाय-हाय' का घोर रव सुनाई पड़ा ॥१३॥

क्या हुआ, यह जानने के लिए कन्धे उचकाकर जब उन दोनों ने देखा, तब उन्हें दौड़कर आता हुआ एक उन्मत्त हाथी दीख पड़ा। दूसरे हाथी की गन्ध मिलने के कारण वह क्रुद्ध हो गया था, उसने अपने खूँटे को तोड़ दिया था, मार्ग के वृक्षों को रौंदता आ रहा था और उस पर अंकुश लटक रहा था ॥१४–१५॥

उसे देखकर भय से घबराये हुए राजकुमारी के रक्षक भाग चले। मनःस्वामी ने दौड़कर अकेले ही राजकुमारी को अपने दोनों हाथों से उठा लिया। राजकुमारी को, जो उसके अंगों से थोड़ी सटी हुई थी और भय, प्रीति तथा लज्जा से आकुल हो रही थी, मनःस्वामी हाथी की पहुँच से बाहर, बहुत दूर ले गया ॥१६–१७॥

तब उसके रक्षक निकट आये, उन्होंने उस श्रेष्ठ ब्राह्मण की प्रशंसा की और राजकुमारी को उसके महल में ले गये। जाती हुई वह राजकुमारी बार-बार पलटकर मनःस्वामी को देखती जाती थी ॥१८॥

अपने महल में, विकल होकर अपने प्राण-रक्षक का स्मरण करती हुई वह कामाग्नि में दिन-रात जलकर भस्म होती हुई-सी रहने लगी ॥१९॥

राजकुमारी अपने अन्तःपुर में चली गई, यह देखकर मनःस्वामी भी उस उद्यान से लौट गया और उत्कण्ठित होकर सोचने लगा—"इसके बिना अब मुझे रहने अथवा जीने का उत्साह नहीं रह गया, अतः मेरे सिद्ध और, धूर्त्त गुरु श्रीमूलदेव ही इस विषय में मेरी सहायता कर सकेंगे" ॥२०–२१॥

ऐसा सोचकर उसने किसी तरह वह दिन बिताया। अगले दिन, सवेरा होने पर, वह अपने गुरु मूलदेव के पास गया ॥२२॥

वहाँ उसने अपने उन गुरु को देखा, जो सदा अपने मित्र शशी के साथ रहते थे, जिन्होंने माया के अद्भुत मार्ग सिद्ध कर लिये थे और जो शरीरधारी आकाश के समान जान पड़ते थे ॥२३॥

न्यवेदयच्च तत्तस्यै प्रणम्य स्वमनीषितम्।
सोऽपि साधयितुं तस्य प्रतिपेदे विहस्य तत्॥२४॥
ततः स योगगुलिकां क्षिप्त्वा धूर्त्तपतिर्मुखे।
मूलदेवो व्यधाद्वृद्धब्राह्मणाकृतिमात्मनः॥२५॥
द्वितीयां गुलिकां दत्त्वा मुखक्षेप्यां चकार च।
सुकान्तकन्यकारूपं तं मनःस्वामिनं द्विजम्॥२६॥
तद्रूपं तं समादाय गत्वा धूर्त्ताधिपोऽथ सः।
तत्प्रियाजनकं भूपमास्थाने तं व्यजिज्ञपत्॥२७॥
राजन्नेकोऽस्ति मे पुत्रः कन्या दूराच्च तत्कृते।
मयैषा याचितानीता स च कापि गतोऽधुना॥२८॥
तमन्वेष्टुमहं यामि तदेषा रक्ष्यतां त्वया।
आनयामि सुतं यावत्त्वं हि विश्वस्य रक्षिता॥२९॥
तच्छ्रुत्वा शापभीत्या च प्रतिपद्य स भूपतिः।
सुतामानाययामास यशःकेतुः शशिप्रभाम्॥३०॥
जगाद चैतां पुत्रीमां कन्यां रक्षेः स्वमन्दिरे।
स्वपार्श्वं एव चाहारं शय्यां चास्याः प्रकल्पयेः॥३१॥
इति पित्रोक्तया निन्ये कन्यारूपस्तथेति सः।
अन्तःपुरं मनःस्वामी राजपुत्र्या तया निजम्॥३२॥
यथारुचि ततो याते मूलदेवे द्विजाकृतौ।
कन्यारूपः स तत्रासीन्मनःस्वामी प्रियान्तिके॥३३॥
दिनैश्च तां सखीप्रीतिविस्रम्भं सम्यगागताम्।
एकदा विरहक्षामां शयनीयलुठत्तनुम्॥३४॥
रात्रौ रहो राजसुतामासन्नशयनस्थितः।
कन्यारूपप्रतिच्छन्नो मनःस्वाभी स पृष्टवान्॥३५॥
सखि किं पाण्डुरच्छाया क्षीयमाणा दिने दिने।
कान्तपक्षवियुक्तेव दुःखितासि शशिप्रभे॥३६॥
ब्रूहि मे को ह्यविश्वासः स्निग्धमुग्धे सखीजने।
इदानीं नैव भोक्ष्येऽहं न वदिष्यसि चेन्मम॥३७॥
तच्छ्रुत्वा सा विनिःश्वस्य शनै राजसुताब्रवीत्।
किं मे त्वय्यप्यविश्वासः शृणु तत्सखि वच्मि ते॥३८॥

मनःस्वामी ने प्रणाम करके उनपर अपनी मनःकामना प्रकट की। मूलदेव ने भी हँसकर उसे पूरा करने का वचन दिया॥२४॥

अनन्तर, धूर्त्तशिरोमणि उस मूलदेव ने अपने मुँह में योग की एक गोली डाल ली और अपने को एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में बदल लिया॥२५॥

एक दूसरी गोली उसने मनःस्वामी के मुँह में डालने के लिए दी, जिससे यह ब्राह्मण एक सुन्दरी कन्या बन गया॥२६॥

अनन्तर, वह धूर्त्तराज, कन्या का रूप धारण करनेवाले मनःस्वामी को साथ लेकर उस राजा के पास गया, जो उसकी प्रियतमा का पिता था। धूर्त्तराज उसके पिता से यों बोला—"राजन्! मेरे एक ही पुत्र है। मैं उसके लिए बहुत दूर से माँगकर इस कन्या को ले आया हूँ; किन्तु, इसी बीच मेरा पुत्र कहीं चला गया है। मैं उसे ढूँढ़ने जा रहा हूँ। अतः, इसे आप अपने पास रख लें। आपके विश्वास पर इसे आपके आश्रय में रखकर मैं अपने पुत्र को ढूँढ़कर ले आऊँगा॥२७—२९॥

यह सुनकर, शाप के भय से, राजा यशःकेतु ने उसकी बात स्वीकार कर ली और अपनी कन्या शशिप्रभा को बुलवाकर कहा—"बेटी, तुम इस कन्या को अपने ही महल में रखो। अपने पास ही तुम इसके भोजन और शयन का भी प्रबन्ध करो"॥३०—३१॥

पिता के ऐसा कहने पर वह राजकुमारी कन्या का रूप धारण करनेवाले मनःस्वामी को अपने साथ अन्तःपुर में ले गई॥३२॥

तब ब्राह्मण-रूपधारी मूलदेव को जहाँ जाना था, वह वहाँ लौट गया। मनःस्वामी, कन्या के वेश में, अपनी प्रियतमा के निकट रहने लगा॥३३॥

इस नई आई हुई कन्या के साथ राजकुमारी थोड़े ही दिनों में बहुत हिल-मिल गई और उसपर सखियों का-सी प्रीति तथा विश्वास करने लगी। एक बार, रात के समय, कन्या के वेश में अपने को छिपाये हुए मनःस्वामी, राजकुमारी की शय्या के पास ही एकान्त में सोया हुआ था। उसने विरह से दुर्बल शरीरवाली राजकुमारी से, जो अपनी सेज पर छटपटा रही थी, पूछा—"सखी! तुम्हारी कान्ति पीली पड़ गई है। तुम दिन-पर-दिन दुबली होती जा रही हो। शशिप्रभा! तुम ऐसी दुःखी दीख पड़ती हो, जैसे अपने प्रियतम से तुम्हारा बिछोह हो गया हो। मुझे सारी बातें सच-सच बतला दो; क्योंकि सहृदय और अनुरक्त सखियों से दुराव कैसा? यदि तुम मुझे सारी बातें न बतलाओगी, तो अब से मैं भोजन न करूँगी।"॥३४—३७॥

यह सुनकर राजकुमारी ने एक गहरी साँस ली और धीरे-धीरे कहा—"सखी! भला तुम पर अविश्वास कैसा? लो, मैं कहती हूँ। सुनो।"॥३८॥

एकदाहं मधूद्यानयात्रां द्रष्टुं गताभवम् ।
तत्रापश्यं च सुभगं कञ्चिद्ब्राह्मणपुत्रकम् ॥३९॥
हिममुक्तेन्दुसश्रीकं दर्शनोद्दीपितस्मरम् ।
मधुमासमिवालोकक्रीडालङ्कृतकाननम् ॥४०॥
चकोरायितुमेते च प्रवृत्ते यावदुन्मुखे ।
तन्मुखेन्दुद्युतिसुधापायिनी मे विलोचने ॥४१॥
तावत्स्रवन्मदजलस्तत्राकस्मान्निरर्गलः ।
अकालकालमेघाभो गर्जन्नागान्महागजः ॥४२॥
तत्सम्भ्रमात्परिजने नष्टेऽहं भयविह्वला ।
उत्क्षिप्य विप्रपुत्रेण नीता तेनैव दूरतः ॥४३॥
श्रीखण्डेनानुलिप्तेव सिक्तेव सुधया तथा ।
अहं तदङ्गस्पर्शेन न जाने कां दशामगाम् ॥४४॥
क्षणाच्च परिवारेण मिलितेनावशा ततः ।
इहानीतास्मि निक्षिप्ता स्वर्गादिव भुवस्तले ॥४५॥
तदाप्रभृति सङ्कल्पैस्तैस्तैः कल्पितसङ्गमम् ।
पश्यामि तं प्रबुद्धापि पार्श्वस्थं प्राणदं पतिम् ॥४६॥
सुप्ता स्वप्ने च कुर्वाणं चाटून्यालोकयामि तम् ।
त्याजयन्तं हठाल्लज्जां चुम्बनालिङ्गनादिभिः ॥४७॥
न च प्राप्नोम्यभव्या तन्नामाद्यज्ञानमोहिता ।
तदेवं मां दहत्येष प्राणेशविरहानलः ॥४८॥
इति वाक्सुधया तस्याः पूर्णस्वश्रवणोदरः ।
सानन्दः स मनःस्वामी विप्रकन्यावपुर्धरः ॥४९॥
कृतार्थमानी मत्वा तं कालमात्मप्रकाशने ।
स्वरूपं प्रकटीचक्रे निष्कृष्य गुलिकां मुखात् ॥५०॥
जगाद च विलोलाक्षि सोऽहमेवैष यस्त्वया ।
उद्याने दर्शनक्रीतो नीतो निर्व्याजदासताम् ॥५१॥
त्वत्संस्तवक्षणभ्रंशात्क्लेशं तं चाप्तवानहम् ।
यस्येष परिणामो मे कन्यारूपग्रहोऽभवत् ॥५२॥
तस्मात्सफलयैतां मे विसोढां विरहव्यथाम् ।
आत्मनश्च न तन्वङ्गि क्षमतेऽतः परं स्मरः ॥५३॥

एक बार मैं वसन्तोद्यान में होनेवाली यात्रा देखने के लिए गई थी। वहाँ मैंने एक सुन्दर ब्राह्मणकुमार को देखा॥३९॥

उसकी सुन्दरता हिम-युक्त चन्द्रमा के समान थी। उसे देखते ही कामना उद्दीप्त हो जाती थी, वह आलोक की क्रीडा से मण्डित उद्यानोंवाले वसन्त ऋतु के समान था, उसके मुखचन्द्र की शोभा-सुधा पीनेवाली मेरी आँखें उसके मुखचन्द्र का चकोर बन रही थीं, इसी बीच असमय में उठे काल-मेघ के समान एक विशाल हाथी चिग्घाड़ता हुआ वहाँ आया। उसने अपना बन्धन तोड़ दिया था और उसके माथे से मद-जल झर रहा था॥४०–४२॥

उसे देखकर मेरे रक्षक भाग खड़े हुए। मैं भी भय से विह्वल हो गई। तभी वह ब्राह्मण-कुमार मुझे उठाकर दूर ले गया॥४३॥

चन्दन-लगे और अमृत से सिक्त-जैसे उसके शरीर के स्पर्श से मेरी दशा न जाने कैसी हो गई॥४४॥

पल-भर बाद ही मेरे रक्षक आ मिले और मैं लाचार होकर उनके द्वारा यहाँ लाई गई—मानों स्वर्ग से धरती पर ढकेल दी गई होऊँ॥४५॥

तभी से मेरी रक्षा करनेवाले अपने उस स्वामी से मैं अपने विचारों के अनुसार स्वप्न में मिलती रहती हूँ और जागकर भी उन्हें अपने पास ही देखती हूँ॥४६॥

मैं सोकर स्वप्न में देखती हूँ, वह मेरी खुशामद कर रहा है और सहसा चुम्बन-आलिंगन के द्वारा मेरी लज्जा दूर करने का प्रयत्न करता है॥४७॥

किन्तु, मैं अभागिनी उसका नाम आदि न जानने के कारण उसे पा नहीं सकती। इस तरह प्रियतम के विरह की आग मुझे जलाती रहती है॥४८॥

राजकन्या की इन बातों से कन्या का रूप धारण किये हुए उस ब्राह्मण मनःस्वामी को बड़ी प्रसन्नता हुई, मानों अमृत से उसके कानों का पेट भर गया। उसने कृतार्थ होकर और अपने को प्रकट करने का अवसर जानकर अपने मुँह से गोली निकाली और अपना असली रूप धारण कर लिया॥४९–५०॥

उसने कहा—"हे चंचल आँखोंवाली, मैं ही वह व्यक्ति हूँ, जिसे उस उद्यान में दर्शन देकर तुमने खरीद लिया था और अकारण ही अपना दास बना लिया था॥५१॥

पल-भर के परिचय के बाद ही तुमसे अलग होने पर मुझे जो कष्ट हुआ, उसी का यह परिणाम है कि मुझे स्त्री का रूप धारण करना पड़ा है॥५२॥

अतः, तन्वंगि! मेरी और अपनी इस असह्य विरह-व्यथा को दूर करो; क्योंकि इससे अधिक विरह कामदेव भी सहन नहीं कर सकता॥५३॥

एवं वदन्तं सहसा प्राणेशं तं विलोक्य सा।
आसीद्राजसुता क्षिप्रं स्नेहाश्चर्यत्रपाकुला ॥५४॥
अथात्यौत्सुक्यनिर्वृत्तगान्धर्वोद्वाहयोस्तयोः ।
प्रेम्णस्तस्य मतो यादृक्तादृशोऽभूद्रतोत्सवः ॥५५॥
ततः सोऽत्र मनःस्वामी कृती तस्थौ द्विरूपभृत्।
दिवा सगुलिकः कन्या रात्रावगुलिकः पुमान् ॥५६॥
गतेष्वथ दिनेष्वत्र यशःकेतोर्महीपतेः।
मृगाङ्कदत्तसंज्ञेन श्वशुर्येण निजा सुता ॥५७॥
दत्ता मृगाङ्कवत्याख्या महार्हविभवोत्तरा।
द्विजातये महामन्त्रिप्रज्ञासागरसूनवे ॥५८॥
तस्मिन्मातुलपुत्र्याः सा राजपुत्री शशिप्रभा।
विवाहे मातुलगृहं तज्जगाम निमन्त्रिता ॥५९॥
तया सह ययौ सोऽपि कन्यकापरिवारया।
विप्रपुत्रो मनःस्वामी कान्तकन्यास्वरूपधृत् ॥६०॥
तत्र तं कन्यकारूपधरं मन्त्रिसुतोऽथ सः।
दृष्ट्वा किल स्मरव्याधगाढबाणाहतोऽभवत् ॥६१॥
ततो मुषितचित्तः संस्तया कपटकन्यया।
ययौ मन्त्रिसुतः शून्यं स्वगृहं स्ववधूसखः ॥६२॥
तत्र तन्मुखलावण्यध्यानासक्तो जगाम सः।
तीव्ररागमहाव्यालदष्टो मोहमशङ्कितम् ॥६३॥
किमेतदिति सम्भ्रान्ते जने तत्रोत्सवोज्झिते।
तमुपागाद्द्रुतं बुद्ध्वा स प्रज्ञासागरः पिता ॥६४॥
तेन चाश्वास्यमानोऽपि पित्रा मोहात्प्रबुध्य सः।
प्रलपन्निव सोन्मादमुज्जगार मनोगतम् ॥६५॥
अस्वाधीनं च तन्मत्वा तत्पितर्यतिविह्वले।
तस्मिन्राजापि तद्बुद्ध्वा तत्रैव समुपाययौ ॥६६॥
स तं दृष्ट्वा झटित्येव गाढाभिष्वङ्गतो गतम्।
सप्तमीं मदनावस्थां जगाद प्रकृतीर्नृपः ॥६७॥
कथं ब्राह्मणनिक्षेपः कन्या सास्मै प्रदीयते।
तया विना च नियतं पश्चिमामेत्यसौ दशाम् ॥६८॥

ऐसा कहते हुए अपने प्रियतम को सहसा ही जब उसने देखा, तब वह शीघ्र ही प्रीति से, आश्चर्य से, और लज्जा से विकल हो गई ।।५४।।

जब उसकी उत्सुकता दूर हुई, तब उन दोनों ने गान्धर्व विधि से विवाह कर लिया और वे दोनों प्रेमी अपनी इच्छा के अनुसार सुख भोग करने लगे ।।५५।।

इस प्रकार, सफल-मनोरथ वह मनःस्वामी दो रूप धारण करके यहाँ रहने लगा। दिन में मुँह में गोली रखकर वह स्त्री बन जाता था और रात में गोली निकालकर पुरुष ।।५६।।

कुछ समय बीतने पर राजा यशःकेतु के साले मृगांकदत्त ने अपनी कन्या मृगांकवती का विवाह, प्रज्ञासागर नामक ब्राह्मण महामन्त्री के पुत्र से किया। विवाह के बाद उन्होंने उसे बहुत-सा धन आदि भी दिया ।।५७–५८।।

निमन्त्रण पाकर, राजकुमारी शशिप्रभा, अपनी ममेरी बहन के विवाह में, मामा के घर गई ।।५९।।

राजकुमारी के साथ उसकी सहेलियाँ और अनुचरियाँ भी गईं। सुन्दर स्त्री का-सा रूप धारण करनेवाला ब्राह्मणकुमार मनःस्वामी भी उनके साथ गया ।।६०।।

वहाँ, जब मन्त्री के पुत्र ने, स्त्री का रूप धारण करनेवाले मनःस्वामी को देखा, तब वह कामरूपी व्याध के तीखे बाण से आहत हो गया ।।६१।।

उस कपट-कन्या (मनःस्वामी) ने मन्त्री के पुत्र का चित्त चुरा लिया था। वह जब अपनी पत्नी के साथ घर लौटा, तब वह उसे सूना-सा जान पड़ा ।।६२।।

मन्त्री के पुत्र का मन उसी के रूप-लावण्य के ध्यान में रमा रहने लगा। अचानक वह तीव्र अनुराग के सर्प से डँसा जाकर पागल-जैसा हो गया ।।६३।।

'यह क्या हुआ ?' ऐसा सोचकर लोग घबरा उठे। हँसी-खुशी का उत्सव रोक दिया गया। यह वृत्तान्त सुनकर उसका पिता प्रज्ञासागर भी वहाँ आ गया ।।६४।।

पिता ने जब उसे दिलासा दिया, तब उसे कुछ होश आया। उसने उन्माद में प्रलाप करते हुए के समान अपनी मनःकामना कह सुनाई ।।६५।।

उसके पिता ने जब यह देखा कि स्थिति उसके हाथ से बाहर हो गई है, तब वह बड़ा विह्वल हुआ। यह सारा वृत्तान्त जानकर राजा भी वहाँ आ पहुँचे ।।६६।।

राजा ने जाकर देखा कि वह गहरी वासना के कारण सातवीं[१] मदनावस्था को पहुँच चुका है। तब शीघ्र ही उन्होंने अपने प्रजाजनों से कहा—।।६७।।

"ब्राह्मण जिस कन्या को मेरे यहाँ रख गया है, उसे मैं इसको कैसे दे दूँ ? लेकिन, यह भी सच है कि उसके विना यह अन्तिम दशा में पहुँच जायगा ।।६८।।

---

[१] मदनावस्था या कामोन्माद की दस दशाएँ बतलाई गई हैं, जो इस प्रकार हैं—
१. अभिलाषा, २. चिन्ता, ३. स्मृति, ४. गुणानुवाद, ५. उद्वेग, ६. प्रलाप, ७. उन्माद, ८. व्याधि, ९. जडता और १०. मरण। थोड़े हेरफेर के साथ ये ही लक्षण अन्य आचार्यों ने भी लिखे हैं।—अनु०

अस्मिन्नष्टे पितास्यैष मम मन्त्री विनङ्क्ष्यति।
एतन्नाशे राज्यनाशस्तदिह ब्रूत का गतिः॥६९॥
इत्युक्तास्तेन राज्ञा ताः सर्वाः प्रकृतयोऽब्रुवन्।
राज्ञो धर्मं निजं प्राहुः प्रजानां धर्मरक्षणम्॥७०॥
मूलं तस्य विदुर्मन्त्रं स च मन्त्रिष्ववस्थितः।
मन्त्रिनाशे मूलनाशाद्रक्ष्या धर्मक्षतिर्ध्रुवम्॥७१॥
पापं च स्याद्द्विजस्यास्य ससूनोर्मन्त्रिणो वधात्।
तस्माद्रक्ष्योऽयमासन्नोऽवश्यं ते धर्मविप्लवः॥७२॥
दातव्या मन्त्रिपुत्राय विप्रन्यस्ता कुमारिका।
कालान्तरागते विप्रे क्रुद्धे प्रतिविधास्यते॥७३॥
एवमुक्तः प्रकृतिभिस्तथेति प्रत्यपद्यत।
स राजा मन्त्रिपुत्राय दातुं तां कूटकन्यकाम्॥७४॥
आनीतश्च स निश्चित्य लग्नं राजसुतागृहात्।
कन्यारूपो मनःस्वामी तं जगाद महीपतिम्॥७५॥
अन्येनान्यार्थमानीतामन्यस्मै मां ददासि चेत्।
कामं तदस्तु राजा त्वं धर्माधर्मौ तवाद्य तौ॥७६॥
अहं विवाहमिच्छामि समयेनेदृशेन तु।
एकशय्यां न नेतव्या पत्या तावदहं हठात्॥७७॥
यावत्तीर्थानि षण्मासान्परिभ्रम्य स नागतः।
एवं न चेत्कृत्तजिह्वां दन्तैर्जानीहि मां मृताम्॥७८॥
इत्युक्ते समये तेन यूना कन्यावपुर्भृता।
राज्ञा स बोधितः प्राप निर्वृतिं मन्त्रिपुत्रकः॥७९॥
तथेति प्रतिपद्यैतत्कृत्वोद्वाहं किलाशु तम्।
एकस्मिन्स्थापयित्वा च वासके ते सुरक्षिते॥८०॥
तां मृङ्गङ्कवतीमाद्यां वधूं कूटवधूं च ताम्।
जगाम तीर्थयात्रायै मूढः कान्ताप्रियेच्छया॥८१॥
स चोवास मनःस्वामी स्त्रीरूपोऽत्र तया सह।
मृङ्गाङ्कवत्येकगृहे समानशयनासनः॥८२॥
तथा स्थितं कदाचित्तं सा मृगाङ्कवती निशि।
शय्यागृहे रहोऽत्रादीद्वहिः सुप्ते परिच्छदे॥८३॥

इसके मरने पर मेरा मन्त्री भी जीवित न रहेगा, जो इसका पिता है। और, मन्त्री के मरने पर मेरा राज्य ही नष्ट हो जायगा। अब आप लोग ही बतलाइए कि क्या करना चाहिए?" ॥६८–६९॥

राजा की ये बातें सुनकर सभी प्रजाजनों ने कहा—"राजा का धर्म तो यही कहा गया है कि वह प्रजा के धर्म की रक्षा करें। धर्म-रक्षण का मूल है परामर्श और वह परामर्श मन्त्रियों से ही मिलता है। इस प्रकार, मन्त्री की मृत्यु से मूल का ही नाश हो जाता है, अतः धर्म की हानि न होने देनी चाहिए। पुत्र के सहित इस मन्त्री का वध करने से पाप लगेगा; अतः इसकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए और आसन्न धर्म-हानि को रोकना चाहिए। ब्राह्मण जो कन्या आपके यहाँ रख गया है, उससे मन्त्रिपुत्र का विवाह कर देना चाहिए। ब्राह्मण जब लौटकर आयगा, और क्रोध करेगा, तब उसका प्रबन्ध कर लिया जायगा" ॥७०–७३॥

प्रजाजन का यह कहना राजा ने मान लिया। वह उस बनी हुई कन्या को मन्त्रिपुत्र के हाथों सौंपने के लिए, शुभ मुहूर्त्त निश्चित करके, राजकुमारी के घर से उसे ले आया। तब कन्या-रूपवाले मनःस्वामी ने राजा से कहा—"मैं दूसरे के द्वारा किसी अन्य पुरुष के लिए ले आई गई हूँ। राजन्! फिर भी यदि आप मुझे किसी और को देना चाहते हैं, तो वैसा ही करें। इसमें जो धर्म या अधर्म होगा, वह आपका होगा। किन्तु, विवाह मैं इसी शर्त्त पर करूँगी कि तबतक मैं पति की सेज पर न जाऊँगी, जबतक वे (ब्राह्मण) छह महीनों का तीर्थ-भ्रमण करके न लौटेंगे। यदि ऐसा न हुआ, तो मैं दाँतों से अपनी जीभ काटकर मर जाऊँगी" ॥७४–७८॥

कन्या का रूप धारण करनेवाले उस युवक ने जब यह शर्त्त सुनाई, तब राजा ने जाकर मन्त्री के पुत्र को समझाया। उसने भी निश्चिन्त होकर यह बात मान ली और शीघ्र ही उससे विवाह कर लिया। अनन्तर, एक ही सुरक्षित घर में अपनी पहली पत्नी मृगांकवती और उस बनावटी बहू को रखकर, स्त्री को प्रसन्न करने की इच्छा से, वह मूर्ख तीर्थयात्रा के लिए बाहर गया ॥७९–८१॥

स्त्री-रूपधारी मनःस्वामी मृगांकवती के साथ एक ही घर में रहने और उसके साथ-साथ खाने-सोने लगा ॥८२॥

मनःस्वामी को इस तरह वहाँ रहते हुए कुछ समय बीत गया। एक बार रात में, वह मृगांकवती के साथ शयन-गृह में लेटा हुआ था। परिचारिकाएँ भी बाहर सो रही थीं। तभी, मृगांकवती ने उससे एकान्त में कहा—॥८३॥

कथां काञ्चित्त्वमाख्याहि निद्रा नास्ति हि मे सखि।
तच्छ्रुत्वाकथयत्सोऽस्मै स्त्रीरूपस्तां कथां युवा ॥८४॥
यत्रेलाख्यस्य राजर्षेः सूर्यवंशभुवः पुरा।
प्राप्तस्य गौरीशापेन स्त्रीत्वं विश्वैकमोहनम् ॥८५॥
अन्योन्यदर्शनप्रीत्या देवोद्यानवनान्तरे।
अभूद्बुधेन संयोगः समभूच्च पुरूरवाः ॥८६॥
तां कथां कथयित्वा च धूर्त्तः पुनरुवाच सः।
तदेवं देवतादेशान्मन्त्रौषधवशेन वा ॥८७॥
पुरुषः स्त्री कदाचित्स्यात्स्त्री वा जातु पुमान्भवेत्।
भवन्ति चैवं संयोगाः कामजा महतामपि ॥८८॥
श्रुत्वैतत्तरुणी मुग्धा विवाहप्रोषितानुका।
सा मृगाङ्कवती स्माह विश्वस्ता सहवासतः ॥८९॥
श्रुत्वैतां मे कथामेतदङ्गं सिमिसिमायते।
हृदयं सीदतीवेदं तदेतत्सखि किं वद ॥९०॥
तच्छ्रुत्वा सोऽङ्गनारूपो विप्रः पुनरुवाच ताम्।
एतानि कामचिह्नानि नन्वपूर्वाणि ते सखि ॥९१॥
मयैतान्युनुभूतानि निगूहे नह्यहं तव।
इति तेनोदितावादीत्सा मृगाङ्कवती शनैः ॥९२॥
सखि प्राणसमा त्वं मे तत्कालज्ञा न वच्मि किम्।
अपि पुंसः प्रवेशः स्यादुपायेन हि केनचित् ॥९३॥
एवमुक्तवतीमेतां स च लब्धाशयस्तदा।
प्राह धूर्त्तपतेः शिष्यो यद्येवं तद्वदामि ते ॥९४॥
वैष्णवोऽस्ति प्रसादो मे येनाहं स्वेच्छया निशि।
पुरुषः स्यां तदेषोऽद्य भवामि त्वत्कृते पुमान् ॥९५॥
इत्युक्त्वा स मनःस्वामी निष्कृष्य गुलिकां मुखात्।
यौवनोद्दाममात्मानं तस्यै कान्तमदर्शयत् ॥९६॥
ततः कथितविस्त्रम्भः सर्वस्वगतयन्त्रणः।
कालोचितरसः कोऽपि तयोरासीद्रतोत्सवः ॥९७॥
अथ तत्र तया साकं स मन्त्रिसुतभार्यया।
तस्थौ द्विजो दिवा नारी रात्रौ च पुरुषो भवन् ॥९८॥

"सखी, मुझे नींद नहीं आती। तुम कोई कथा सुनाओ।" यह सुनकर स्त्री-रूप धारी मनःस्वामी ने उसे वह कथा सुनाई, जिसमें, प्राचीन काल में, सूर्यवंश के ऐल नामक राजर्षि को गौरी के शाप से संसार को मोहित करनेवाला स्त्री-रूप प्राप्त हुआ था। नन्दन-वन में उसे देखकर बुध मोहित हो गये थे और एक दूसरे की प्रीति में पगे उनके संयोग से पुरूरवा का जन्म हुआ था॥८३–८६॥

यह कथा सुनकर उस धूर्त्त ने पुनः कहा—"इस तरह देवताओं के आदेश से या मन्त्र और ओषधियों के प्रभाव से कभी-कभी पुरुष स्त्री बन जाते हैं और कभी स्त्री पुरुष बन जाती है। इस प्रकार, कभी-कभी बड़ों में भी कामज संयोग हुआ करते हैं॥"८७–८८॥

मृगांकवती को विवाह के बाद ही उसका पति छोड़ गया था। यह युवती और मुग्धा थी। मनःस्वामी के साथ रहने के कारण उसे उसपर भरोसा हो गया था। मनःस्वामी की बात सुनकर उसने कहा—"सखी, तुम्हारी यह कथा सुनते ही मेरा शरीर काँपने लगा है, हृदय बैठा-सा जा रहा है। बताओ तो भला, यह कैसी बात है?" ॥८९–९०॥

यह सुनकर स्त्री वेष-धारी उस ब्राह्मण ने उससे फिर कहा—"सखी, तुममें काम की जागृति के ये अपूर्व लक्षण हैं। मैं तो इसका अनुभव कर चुकी हूँ, पर तुमसे मैंने नहीं कहा।" उसके ऐसा कहने पर मृगांकवती धीरे-धीरे फिर बोली॥९१–९२॥

"सखी, तुम मेरे प्राणों के समान हो। तुम समय को भी पहचानती हो। अतः, मैं तुमसे क्या छिपाऊँ? किसी उपाय से यहाँ किसी पुरुष का प्रवेश हो पाता, तो अच्छा था" ॥९३॥

धूर्त्तश्रेष्ठ मूलराज के शिष्य मनःस्वामी ने उसकी यह बात सुनकर जब उसका आशय समझ लिया, तब कहा—"यदि ऐसी बात है, तो मैं तुमसे कहती हूँ—मुझे भगवान् विष्णु की ऐसी कृपा प्राप्त है कि मैं अपनी इच्छा से रात में पुरुष बन जा सकती हूँ। आज मैं तुम्हारे लिए पुरुष बन जाती हूँ॥९४–९५॥

यह कहकर मनःस्वामी ने अपने मुँह से गोली निकाल ली और उसने यौवन से उद्दीप्त अपना सुन्दर पुरुष-रूप उसे दिखलाया॥९६॥

इस तरह जब वे एक दूसरे का विश्वास प्राप्त कर चुके और उनकी सारी यन्त्रणाएँ जाती रहीं, तब समय के अनुसार वे सुख-भोग करने लगे॥९७॥

अनन्तर, मन्त्रिपुत्र की उस भार्या के साथ वह ब्राह्मण दिन को स्त्री और रात को पुरुष बनकर रहने लगा॥९८॥

आसन्नागमनं तं च बुद्ध्वा मन्त्रिसुतं दिनैः।
तामादाय निशि स्वैरं पलाय्य स ययौ ततः ॥९९॥
एतस्मिंश्च कथासन्धौ मूलदेवः स तद्गुरुः।
बुद्ध्वा तदखिलं भूत्वा भूयो वृद्धद्विजाकृतिः ॥१००॥
शशिनानुगतः सख्या तरुणद्विजरूपिणा।
आगत्य तं यशःकेतुं प्रह्वो राजानमब्रवीत् ॥१०१॥
आनीतोऽयं मया पुत्रो देहि मे तां स्नुषामिति।
ततः संमन्त्र्य स नृपः शापभीतस्तमभ्यधात् ॥१०२॥
ब्रह्मन्न जाने क्व गता सा स्नुषा ते क्षमस्व तत्।
अपराधात्सुतस्यार्थे ददामि स्वसुतां तव ॥१०३॥
इत्युक्त्वा धूर्त्तराजं तं कृतकक्रोधनिष्ठुरम्।
विब्रुवाणं जरद्विप्ररूपं प्रार्थ्य स भूपतिः ॥१०४॥
तत्सख्ये कृततत्पुत्रव्यपदेशाय तां ददौ।
तनयां शशिने तस्मै यथाविधि शशिप्रभाम् ॥१०५॥
ततः स मूलदेवस्तौ यथाभूतौ वधूवरौ।
आदाय स्वास्पदं प्रायाद्राजार्थेष्वकृतस्पृहः ॥१०६॥
तत्र तस्मिंश्च मिलिते मनः स्वामिन्यभून्महान्।
विवादो मूलदेवाग्रे शशिनस्तस्य चोभयोः ॥१०७॥
मनःस्वाम्यब्रवीदेषा दीयतां मे शशिप्रभा।
कन्यैव हि मयोदूढा प्रागसौ गुर्वनुग्रहात् ॥१०८॥
शशी जगाद कोऽस्यास्त्वं मूर्ख दारा इयं मम।
अग्निसाक्षिकमेषा हि पित्रा मे प्रतिपादिता ॥१०९॥
एवं मायाबलप्राप्तराजपुत्रीनिमित्ततः।
विवादासक्तयोर्नासीत्परिच्छेदस्तयोर्द्वयोः ॥११०॥
तद्राजंस्त्वं मम ब्रूहि तावत्कस्योपपद्यते।
भार्या सा संशयं छिन्धि पूर्वोक्तः समयोऽस्ति त ॥१११॥
इति वेतालतः श्रुत्वा तस्मात्स्कन्धाग्रवर्त्तिनः।
स त्रिविक्रमसेनस्तं नृपतिः प्रत्यभाषत ॥११२॥
मन्ये शशिन एवासौ भार्या न्याय्या नृपात्मजा।
यस्मै प्रदत्ता प्रकटं पित्रा धर्म्यण वर्त्मना ॥११३॥

कुछ समय बाद, मन्त्रिपुत्र के लौटने का समय निकट आया जानकर, मनःस्वामी मृगांकवती के साथ, रात के समय, वहाँ से भागकर चला गया ॥९९॥

इन्हीं घटनाओं के बीच, सारा वृत्तान्त जानकर, उसका गुरु मूलदेव, बूढ़े ब्राह्मण के रूप में फिर वहाँ आया ॥१००॥

उसके साथ, युवक ब्राह्मण के रूप में, उसका मित्र शशी भी आया था। मूलदेव ने आकर राजा यशःकेतु से नम्रतापूर्वक कहा—"मैं अपने इस पुत्र को ले आया हूँ। अब मेरी बहू मुझे लौटा दीजिए।" तब शाप के भय से डरे हुए राजा ने सोच-विचारकर कहा—"ब्राह्मण! आपकी वह बहू तो जाने कहाँ चली गई, अतः आप मुझे क्षमा करें। अपने अपराध के कारण मैं आपके पुत्र के लिए अपनी कन्या देता हूँ।" ॥१०१–१०३॥

बूढ़े ब्राह्मण के वेश से धूर्त्तराज मूलदेव, बनावटी क्रोध से निष्ठुर होकर, भला-बुरा कह रहा था। राजा ने इन बातों से उसकी प्रार्थना करके, उसके मित्र शशि के साथ, जिसने उसके बनावटी बेटे का रूप धारण कर रक्खा था, विधिपूर्वक अपनी बेटी शशिप्रभा का विवाह कर दिया। ॥१०४–१०५॥

तब विवाहित वर-वधू को साथ लेकर मूलदेव अपने स्थान के लिए चल पड़ा। उसने राजा के धन की इच्छा नहीं की ॥१०६॥

अनन्तर, जब मनःस्वामी वहाँ आया, तब मूलदेव के सामने उसके और शशी के बीच बड़ा झगड़ा उठ खड़ा हुआ ॥१०७॥

मनःस्वामी ने कहा—"इस शशिप्रभा को मुझे दे दो। गुरु की कृपा से इस कन्या को पहले मैंने ही ब्याहा था" ॥१०८॥

शशी बोला—"मूर्ख! तू इसका कौन है? यह तो मेरी स्त्री है। इसके पिता ने, अग्नि को साक्षी रखकर इसे मुझको सौंपा है" ॥१०९॥

"इस तरह वे दोनों माया के बल से पाई हुई उस राजकुमारी के लिए झगड़ने लगे। उनके झगड़े का निबटारा नहीं हो सका। अतः, राजन्! अब तुम्हीं मेरा संशय दूर करो कि वह राजकुमारी वस्तुतः किसकी स्त्री हुई। तुम्हें पहले ही वाली शपथ है" ॥११०–१११॥

अपने कन्धे पर स्थित वेताल की यह बात सुनकर राजा त्रिविक्रमसेन ने उससे कहा—"मैं समझता हूँ कि न्यायतः वह राजकुमारी, शशी की ही स्त्री मानी जायगी, जिसे उसके पिता ने सबके सामने धर्म-मार्ग से शशी के साथ ब्याहा था ॥११२-१३॥

मनः स्वामी तु तां भेजे चौर्याद्गान्धर्वधर्मतः।
चौरस्य तु परस्वेषु स्वत्वं न्याय्यं न जातुचित्॥११४॥

इति तस्य वचो निशम्य राज्ञो वेतालः स ययौ पुनस्तदेव।
सहसैव तदंसतः स्वधाम क्षितिपः सोऽपि तमन्वियाय तूर्णम्॥११५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके द्वाविंशस्तरङ्गः।

त्रयोविंशस्तरङ्गः

षोडशो वेतालः। जीमूतवाहनस्य कथा

अथ गत्वा पुनः स्कन्धे वेतालं शिंशपाद्रुमात्।
स त्रिविक्रमसेनस्तमादायोदचलत्ततः॥१॥
आगच्छन्तं च तं भूपं स वेतालोऽब्रवीत्पुनः।
राजञ्शृणु कथामेकामुदारां कथयामि ते॥२॥
अस्तीह हिमवान्नाम नगेन्द्रः सर्वरत्नभूः।
यो गौरीगङ्गयोस्तुल्यः प्रभवो हरकान्तयोः॥३॥
शूरासंस्पृष्टपृष्ठश्च यो मध्ये कुलभूभृताम्।
अभिमानोन्नतः सत्यं गीयते भुवनत्रये॥४॥
तस्यास्ति सानुन्यन्वर्थं तत्काञ्चनपुरं पुरम्।
न्यासीकृतमिवार्केण रश्मिवृन्दं विभाति यत्॥५॥
जीमूतकेतुरित्यासीत्तस्मिन्पुरवरे पुरा।
विद्याधरेश्वरः श्रीमान्मेराविव शतक्रतुः॥६॥
तस्यासीत्स्वगृहोद्याने कल्पवृक्षोऽन्वयागतः।
यथार्थनामा प्रथितो यो मनोरथदायकः॥७॥
तं प्रार्थ्य देवतात्मानं स राजा तत्प्रसादतः।
प्राप जातिस्मरं पुत्रं बोधिसत्त्वांशसम्भवम्॥८॥
दानवीरं महासत्त्वं सर्वभूतानुकम्पिनम्।
गुरुशुश्रूषणपरं नाम्ना जीमूतवाहनम्॥९॥
सम्प्राप्तयौवनं तं च यौवराज्येऽभिषिक्तवान्।
तनयं प्रेरितः सद्भिस्तद्गुणैः सचिवैश्च सः॥१०॥

मनःस्वामी ने तो चोरी से, गन्धर्व-विवाह के द्वारा, उसे पाया था। पराये धन पर चोर का न्यायसंगत अधिकार कभी नहीं होता" ॥११४॥

राजा की ये बातें सुनकर वेताल उसी समय उनके कन्धे से अचानक अपनी जगह चला गया। राजा ने भी शीघ्र ही उसका पीछा किया ॥११५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का द्वाविंश तरंग समाप्त।

त्रयोविंश तरंग

षोडश वेताल : जीमूतवाहन की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर फिर उस वेताल को कन्धे पर उठा लिया और वहाँ से प्रस्थान किया ॥१॥

आते हुए राजा से वह वेताल फिर बोला—"राजन्! मैं तुम्हें एक उत्तम कथा सुनाता हूँ। इसे सुनो" ॥२॥

इस धरती पर हिमवान् नाम का एक पर्वतराज है। वह समस्त रत्नों की खान है। वह पर्वत गौरी और गंगा, दोनों की ही जन्मभूमि है, जो भगवान् शंकर को प्रिय है ॥३॥

शूरों ने भी उसके शिखर का स्पर्श नहीं किया है। वह अन्य सभी पर्वतों के बीच अभिमान से ऊपर उठा हुआ है और तीनों लोकों में ठीक ही उसका गुणगान होता है ॥४॥

उसकी चोटी पर, अपने नाम के अनुरूप कांचनपुर नाम का एक नगर है, जो ऐसा जान पड़ता है, जैसे सूर्य ने वहाँ अपनी किरणों की धरोहर रख दी हो ॥५॥

पुराने समय में, उस उत्तम नगरी में मेरु पर्वत पर स्थित इन्द्र के समान विद्याधरों का सौभाग्यशाली स्वामी जीमूतकेतु रहता था ॥६॥

उसके प्रासाद-उद्यान में, वंश-परम्परा से चला आता हुआ सार्थक नामवाला एक कल्पवृक्ष था, जो सब मनोरथों को पूरा करने के लिए प्रसिद्ध था ॥७॥

उस देववृक्ष की आराधना करके, उसकी कृपा से राजा ने एक पुत्र प्राप्त किया था, जिसे अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मरण था और वह बोधिसत्त्व के अंश से उत्पन्न हुआ था ॥८॥

उसका नाम जीमूतवाहन था। वह बड़ा पराक्रमी था, दानी था, सब प्राणियों पर दया रखनेवाला और गुरुजनों की सेवा में लगा रहनेवाला था ॥९॥

जीमूतवाहन जब युवक हो गया, तब उसके सद्गुणों तथा अपने मन्त्रियों की प्रेरणा से राजा ने उसे युवराज बनाया ॥१०॥

यौवराज्यस्थितश्चैष जातु जीमूतवाहनः ।
हितैषिभिरुपागत्य जगदे पितृमन्त्रिभिः ॥११॥
देव कल्पतरुर्योऽयमस्ति वः सर्वकामदः ।
अधृष्यः सर्वभूतानां सैष पूज्यः सदा तव ॥१२॥
नास्मिन्सति हि शक्रोऽपि बाधेतास्मान्कुतोऽपरः ।
एतच्छ्रुत्वा स जीमूतवाहनोऽन्तरचिन्तयत् ॥१३॥
अहो बतेदृशमिमं सम्प्राप्यामरपादपम् ।
नासादितं किमप्यस्मात्पूर्वैर्नस्तादृशं फलम् ॥१४॥
केवलं कैश्चिदप्यर्थैरर्थितैः कृपणोचितैः ।
आत्मा चैष महात्मा च नीतौ द्वावपि लाघवम् ॥१५॥
तदहं साधयिष्यामि काममस्मान्मनोगतम् ।
इति निश्चित्य स ययौ महासत्त्वोऽन्तिकं पितुः ॥१६॥
तत्र संविहिताशेषशुश्रूषापरितोषितम् ।
सुखासीनं तमेकान्ते पितरं स व्यजिज्ञपत् ॥१७॥
तात त्वमेव जानासि यदेतस्मिन्भवाम्बुधौ ।
आशरीरमिदं सर्वं वीचिविभ्रमचञ्चलम् ॥१८॥
विशेषेणाचिरस्थायिप्रकाशप्रविलायिनी ।
सन्ध्या विद्युच्च लक्ष्मीश्च दृष्ट्वा कुत्र कदा स्थिरा ॥१९॥
एकः परोपकारस्तु संसारेऽस्मिन्ननश्वरः ।
यो धर्मयशसी सूते युगान्तशतसाक्षिणी ॥२०॥
तत्तात क्षणिकेष्वेषु भोगेष्वस्माभिरीदृशः ।
एष कल्पतरुः कस्य कृते मोघोऽभिरक्ष्यते ॥२१॥
यैर्वा मम ममेत्येवमाग्रहेणैष रक्षितः ।
पूर्वैस्ते कुत्र कुत्रायं तेषां कश्चैष कोऽस्य वा ॥२२॥
तस्मात्परोपकारैकफलसिद्ध्यै त्वदाज्ञया ।
तातैनं विनियुञ्जेऽहं कामदं कल्पपादपम् ॥२३॥
एवमस्त्विति पित्रा च दत्तानुज्ञोऽथ तेन सः ।
जीमूतवाहनो गत्वा कल्पद्रुममुवाच तम् ॥२४॥
अभीष्टाः पूरिताः कामाः पूर्वेषां देव नस्त्वया ।
तन्ममैकमिमं काममनन्यं परिपूरय ॥२५॥
अदरिद्रां यथा पृथ्वीमिमां द्रक्ष्ये तथा कुरु ।
भद्रं ते व्रज दत्तोऽसि लोकायार्थार्थिने मया ॥२६॥

युवराज का पद प्राप्त कर लेने के बाद, जीमूतवाहन का कल्याण चाहनेवाला उसके पिता के मन्त्री उसके पास आकर बोले––"देव ! आप लोगों के सभी मनोरथों को पूरा करनेवाला यह जो कल्पवृक्ष है, वह समस्त प्राणियों से अजेय है। अतः, आप सदा इसका सम्मान करेंगे। इसके रहते इन्द्र भी हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता, फिर औरों की तो बात ही क्या है?" यह सुनकर जीमूतवाहन ने मन-ही-मन सोचा कि––'अरे, ऐसे देववृक्ष को पाकर भी हमारे पूर्वजों ने इससे कोई उचित लाभ नहीं उठाया। उन्होंने केवल साधारण स्वार्थ की याचना करके स्वयं को और इस महात्मा वृक्ष––दोनों को ही छोटा बनाया है। अतः, मैं इसके द्वारा भली भाँति अपना मनोरथ पूरा करूँगा।' ऐसा निश्चय करके उदारचरितवाला जीमूतवाहन अपने पिता के पास गया॥११–१६॥

सुखपूर्वक बैठे हुए पिता को सब तरह की सेवा से सन्तुष्ट करके जीमूतवाहन ने एकान्त में उनसे कहा––"पिताजी, यह तो आप जानते ही हैं कि इस संसार-सागर में शरीर के साथ ही समस्त वस्तुएँ लहरों की झलक के समान चंचल हैं॥१७–१८॥

"सन्ध्या, बिजली तथा लक्ष्मी तो विशेष रूप से क्षणस्थायी हैं––देखते-ही-देखते मिट जानेवाली हैं। इन्हें कब किसी ने स्थिर रहते देखा है? ॥१९॥

"इस संसार में एकमात्र परोपकार ही चिरस्थायी है, जो धैर्य और यश का जन्मदाता है तथा जो सैकड़ों युगों तक उसका साक्षी बना रहता है॥२०॥

"पिताजी! फिर ऐसे क्षणिक भोगों के लिए हमने ऐसे कल्पवृक्ष को व्यर्थ ही किसके हेतु रख छोड़ा है? ॥२१॥

"हमारे जिन पूर्वजों ने 'यह मेरा है, यह मेरा है' कहकर इसे रख छोड़ा था, आज वे कहाँ हैं और यह कहाँ है? ॥२२॥

"अतः, पिताजी! यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं मनोरथ पूर्ण करनेवाले इस कल्पवृक्ष का उपयोग केवल परोपकार की फल-सिद्धि के लिए करूँ"॥२३॥

पिता ने 'ऐसा ही करो' कहकर जब उसे आज्ञा दे दी, तब जीमूतवाहन ने कल्पवृक्ष के पास जाकर कहा––"देव! तुमने हमारे पुरखों की सभी कामनाएँ पूरी की हैं, तो अब मेरी भी यह एकमात्र इच्छा पूरी करो। कुछ ऐसा करो, जिससे मैं इस पृथिवी को दरिद्रता से रहित देख सकूँ। जाओ, तुम्हारा कल्याण हो, मैं धन की इच्छा रखनेवालों के लिए तुम्हें विसर्जित करता हूँ"॥२४–२६॥

इत्युक्तवति जीमूतवाहने रचिताञ्जलौ।
त्यक्तस्त्वयैष जातोऽस्मीत्युदभूद्वाक्तरोस्ततः ॥२७॥
क्षणाच्चोत्पत्य स दिवं कल्पवृक्षस्तथा वसु।
ववर्ष भुवि नैवासीत्कोऽप्यस्यां दुर्गतो यथा ॥२८॥
ततस्तस्य तया तीव्रसर्वसत्त्वानुकम्पया।
जीमूतवाहनस्यात्र त्रैलोक्ये पप्रथे यशः ॥२९॥
तेन तद्गोत्रजाः सर्वे मात्सर्यादसहिष्णवः।
तं लोकसात्कृतार्त्तिघ्नकल्पवृक्षविनाकृतम् ॥३०॥
जेयं सपितृकं मत्वा सम्भूय कृतनिश्चयाः।
युद्धाय समनह्यन्त तद्राज्यापजिहीर्षया ॥३१॥
तद्दृष्ट्वा प्राह पितरं स्वं स जीमूतवाहनः।
तात कस्यापरस्यास्ति शक्तिस्त्वयि धृतायुधे ॥३२॥
किं त्वस्य पापकस्यार्थे शरीरस्य विनाशिनः।
हत्वा वन्धूनकृपणो राज्यं को नाम वाञ्छति ॥३३॥
तत्किं राज्येन नः कार्यं गत्वान्यत्र क्वचिद्वयम्।
धर्ममेव चरिष्यामो लोकद्वयसुखावहम् ॥३४॥
मोदन्तां कृपणा एते दायादा राज्यलोलुपाः।
इत्युक्तवन्तं जीमूतकेतुस्तं स पिताब्रवीत् ॥३५॥
अहं त्वदर्थमिच्छामि राज्यं पुत्र त्वमेव चेत्।
तज्जहासि कृपाविष्टस्तन्मे वृद्धस्य तेन किम् ॥३६॥
एवं कृताभ्यनुज्ञेन पित्रा मात्रा च सोऽन्वितः।
मलयाद्रिमगात्त्यक्तराज्यो जीमूतवाहनः ॥३७॥
तत्र चन्दनसंच्छन्नवहन्निर्झरकन्दरे।
शुश्रूषमाणः पितरं स तस्थौ कल्पिताश्रमः ॥३८॥
मित्त्रं चास्यात्र सम्पेदे मित्त्रावसुरिति श्रुतः।
विश्वावसोः सुतः सिद्धराजस्यैतन्निवासिनः ॥३९॥
एकदा चात्र स भ्राम्यन्विवेशोपवनस्थितम्।
द्रष्टुमायतनं देव्या गौर्या जीमूतवाहनः ॥४०॥
तत्रोपवीणयन्तीं च ददर्श वरकन्यकाम्।
सखीजनान्वितां शैलतनयाराधनोद्यताम् ॥४१॥

हाथ जोड़कर जीमूतवाहन ने जब यह कहा, तब उस वृक्ष से यह आवाज आई—"तुमने मेरा त्याग कर दिया है, अतः मैं जाता हूँ" ॥२७॥

पल-भर में वह वृक्ष आकाश में उड़ गया और उसने धरती पर इतना धन बरसाया कि यहाँ कोई भी गरीब नहीं रह गया॥२८॥

अनन्तर, समस्त प्राणियों पर असीम दया रखने का, जीमूतवाहन का यह यश तीनों लोकों में फैल गया॥२९॥

इससे उसके गोत्र के लोग ईर्ष्या से जलने लगे। उन्होंने एकत्र होकर सोचा कि विपत्तियों का नाश करनेवाला कल्पवृक्ष तो अब उनके पास रहा नहीं, उसे जीमूतवाहन ने लोककल्याण के लिए दे डाला; अतः अब पिता के सहित वह जीता जा सकता है। ऐसा मानकर, उसके राज्य को जीत लेने की इच्छा से, वे लोग युद्ध की तैयारियाँ करने लगे॥३०–३१॥

यह देखकर जीमूतवाहन ने अपने पिता से कहा—"पिताजी! शस्त्र ग्रहण करने पर आपका सामना कौन कर सकता है? किन्तु सम्बन्धियों को मारकर इस पापमय और नाशवान् शरीर के लिए कौन सज्जन पुरुष राज्य की कामना करेगा? ॥३२–३३॥

"हमें इस राज्य से क्या लेना-देना है? हम लोग कहीं दूसरी जगह चलकर धर्माचरण करें, जो दोनों लोकों के लिए सुखकारक है॥३४॥

"राज्य के लोभी हमारे ये दामाद (राज्य लेकर) प्रसन्न हों।" जीमूतवाहन के ऐसा कहने पर उसके पिता जीमूतकेतु उससे बोले—॥३५॥

"बेटा! मैं तो तुम्हारे ही लिए इस राज्य की कामना करता हूँ। कृपा-परवश होकर यदि तुम्हीं इसका त्याग करते हो, तो मुझ बूढ़े को इससे क्या काम है?" ॥३६॥

इस प्रकार, पिता की आज्ञा पाकर जीमूतवाहन राज्य छोड़कर और पिता-माता को साथ लेकर मलय पर्वत पर चला गया॥३७॥

वहाँ चन्दन-वन से ढके हुए एक झरने के पासवाली कन्दरा में आश्रम बनाकर, माता-पिता की सेवा करता हुआ वह रहने लगा॥३८॥

वहाँ विश्वावसु नाम के सिद्धों के राजा रहते थे। उनके पुत्र मित्रावसु के साथ जीमूतवाहन की मित्रता हो गई॥३९॥

एक बार वहाँ घूमता-फिरता जीमूतवाहन, उपवन में अवस्थित भवानी गौरी का मन्दिर देखने के लिए गया॥४०॥

वहाँ उसने सखियों के सहित एक उत्तम कन्या को देखा, जो भगवती गौरी को प्रसन्न करने के लिए वीणा बजा रही थी॥४१॥

आकर्ण्यमानसङ्गीतमञ्जुवीणारवां मृगैः।
दृष्टलोचनलावण्यलज्जितैरिव निश्चलैः ॥४२॥
दधता तारकं कृष्णमर्जुनेन स्वचक्षुषा।
पाण्डवीयामिव चमूं कर्णमूलं विविक्षतीम् ॥४३॥
परस्परविमर्देन मुखेन्दोरिव दर्शनम्।
अतृप्ताविव वाञ्छन्तौ बिभ्रतीं सम्मुखौ स्तनौ ॥४४॥
धातुर्घटयतो मुष्टिग्रहेणेव निपीडिते।
वलीमग्नाङ्गुलीमुद्रे मध्ये क्षाममनोरमाम् ॥४५॥
दृष्ट्या च तया सद्यः सोऽभूज्जीमूतवाहनः।
तन्व्या मुषितचितोऽन्तर्दृष्टिमार्गप्रविष्टया ॥४६॥
सापि तं भूषितोद्यानं दृष्ट्वोत्कण्ठाविकारदम्।
कामाङ्गदाहवैराग्याद्वनं मधुमिवाश्रितम् ॥४७॥
तथानुरागविवशा भेजे कन्या विहस्तताम्।
यथा सखीव वीणास्या व्याकुलालापतां ययौ ॥४८॥
ततः स पप्रच्छ सखीं तस्या जीमूतवाहनः।
किं धन्यं नाम सख्यास्ते को वंशोऽलङ्कृतोऽनया ॥४९॥
तच्छ्रुत्वा सा सखी प्राह नाम्ना मलयवत्यसौ।
मित्त्रावसुस्वसा सिद्धराजविश्वावसोः सुता ॥५०॥
एवमुक्त्वा सहृदया सा तं जीमूतवाहनम्।
नामान्वयौ च पृष्ट्वास्य मुनिपुत्रं सहागतम् ॥५१॥
तां ब्रवीति स्म मलयवतीं स्मितमिताक्षरम्।
सखि विद्याधरेन्द्रस्य नास्यातिथ्यं करोषि किम् ॥५२॥
जगत्पूज्योऽतिथिर्ह्येष प्राप्त इत्युदिते तया।
साभूद्विद्याधरसुता तूष्णीं लज्जानतानना ॥५३॥
लज्जावतीयं मत्तोऽर्चा गृह्यतामिति वादिनी।
एकाथ तत्सखी तस्मै साघ्यां मालामुपानयत् ॥५४॥
स चादायैव जीमूतवाहनः प्रेमनिर्भरः।
कण्ठे मलयवत्यास्तां मालां तस्याः समर्पयत् ॥५५॥
सापि तिर्यक्प्रसृतया पश्यन्ती स्निग्धया दृशा।
नीलोत्पलमयीं मालामिव तस्मिन्न्यवेशयत् ॥५६॥

वीणा के मधुर स्वरों के साथ गीत का स्वर सुनाते हुए मृग, उसकी आँखों का सौन्दर्य देखकर मानों लज्जा से ही निश्चल हो गये थे ॥४२॥

काली पुतलियोंवाली उसकी उज्ज्वल आँखें उसी प्रकार उसके कानों में प्रवेश करना चाहती थीं, जैसे कृष्ण के सहित अर्जुन की पाण्डवी सेना कर्ण की सेना में ॥४३॥

एक-दूसरे से होड़ करते हुए उसके दोनों स्तन उसके मुखचन्द्र का दर्शन करने की इच्छा रखते थे और अतृप्त होकर आगे की ओर बढ़ते हुए-से लगते थे ॥४४॥

उसकी सुन्दर कमर मानों विधाता ने अपनी मुट्ठी में दबाकर गढ़ी थी, जिससे वह पतली हो गई थी और त्रिवलियों के रूप में उसपर विधाता की उँगलियों के चिह्न बने हुए थे ॥४५॥

जीमूतवाहन ने ज्यों ही उस तन्वंगी को देखा, वह उसकी आँखों की राह हृदय में समाकर उसके चित्त को चुरा ले गई ॥४६॥

जिसने उस उद्यान को अलंकृत कर रखा था, जिसे देखते ही मन में उत्कण्ठा और विकार उत्पन्न होता था, और जो, कामदेव के जल जाने के वैराग्य से वन में बसे वसन्त के समान जान पड़ता था, उस जीमूतवाहन को देखकर वह कन्या भी अनुराग से विवश-सी हो गई। सखी के समान उसकी वीणा भी विकल आलाप करने लगी ॥४७–४८॥

अनन्तर, जीमूतवाहन ने उसकी सखी से पूछा कि 'तुम्हारी सखी का सौभाग्यशाली नाम क्या है और इसने किस वंश को अलंकृत किया है' ॥४९॥

यह सुनकर वह सखी बोली—"इसका नाम मलयवती है। यह सिद्धों के राजा विश्वावसु की कन्या और मित्रावसु की बहन है" ॥५०॥

यह कहकर उस सहृदया ने जीमूतवाहन के साथ आये हुए मुनिकुमार से उनका भी नाम और वंश-परिचय पूछ लिया ॥५१॥

फिर हँसती हुई उस सखी ने संक्षेप में मलयवती से कहा—"संसार से पूजे जाने योग्य विद्याधरों का यह राजा अतिथि के रूप में यहाँ आया है। सखी! तुम इसका अतिथि-सत्कार क्यों नहीं करती?" उसके ऐसा कहने पर भी यह विद्याधर-कन्या लज्जा के कारण सिर झुकाकर चुप ही रही ॥५२–५३॥

तब उस सखी ने जीमूतवाहन से कहा कि 'मेरी यह सखी लजा रही है। अतः, आप मुझसे ही सत्कार ग्रहण करें' और ऐसा कहकर उसने अर्घ्य के सहित उसे एक माला दी ॥५४॥

उसके प्रेम का विश्वास हो जाने के कारण जीमूतवाहन ने उस माला को लेते ही मलयवती के गले में डाल दिया ॥५५॥

मलयवती ने भी अपनी कोमल दृष्टि से जीमूतवाहन की ओर तिरछे ताककर नीलकमल की माला उसके गले में डाल दी ॥५६॥

इत्यन्योन्यकृताशब्दस्वयंवरविशेषयोः ।
तयोरेत्य जगादैका चेटी तां सिद्धकन्यकाम् ॥५७॥

जननी राजपुत्रि त्वां स्मरत्यागच्छ माचिरम् ।
तच्छ्रुत्वाकृष्य कामषुकीलितामिव कृच्छ्रतः ॥५८॥

सोत्कां प्रियमुखाद्दृष्टिं कथञ्चित्सा ययौ गृहम् ।
जीमूतवाहनोऽप्यागात्तद्गतात्मा स्वमाश्रमम् ॥५९॥

साथ स्वां जननीं दृष्ट्वा प्राणेशविरहातुरा ।
गत्वा मलयवत्याशु पपात शयनीयके ॥६०॥

अथान्तर्गतकामाग्निधूमेनेवाविलेक्षणा ।
अश्रुधारां प्रमुञ्चन्ती सन्तापक्वथिताङ्गका ॥६१॥

सखीभिश्चन्दनैर्लिप्ता वीजिता चाब्जिनीदलैः ।
रतिं न भेजे शयने नाङ्के सख्या न भूतले ॥६२॥

गतेऽथ वासरे क्वापि रक्तया सह सन्ध्यया ।
उद्यत्प्राचीमुखं चन्द्रे समाक्रम्य च चुम्बति ॥६३॥

स्मरण प्रेर्यमाणापि दूतीसम्प्रेषणादि सा ।
लज्जया नाशकत्कर्त्तु जीवितस्पृहयोज्झिता ॥६४॥

निनाय च निशामिन्दुविषमामब्जिनीव ताम् ।
बद्धमोहालिपटले हृदि सङ्कोचमेत्य सा ॥६५॥

तावच्च तद्वियोगार्त्तः सोऽपि जीमूतवाहनः ।
शयनस्थोऽपि पतितो हस्ते कुसुमधन्वनः ॥६६॥

नूतनोद्भिन्नरागोऽपि प्रोन्मिषत्पाण्डुरच्छविः ।
ह्रीमूकोऽपि वदन्पीडां कामजामनयन्निशाम् ॥६७॥

प्रातश्चात्युत्सुको भूयस्तद्गौर्यायतनं ययौ ।
यत्र दृष्टाभवत्तेन सा सिद्धाधिपपुत्रिका ॥६८॥

तत्र तेन स मित्रेण मुनिपुत्रेण पृष्ठतः ।
आगत्याश्वास्यते यावन्मदनानलविह्वलः ॥६९॥

तावत्तत्रैव प्राप्यागान्निर्गत्यैकैव निर्जने ।
गुप्तं मलयवत्यात्मत्यागाय विरहासहा ॥७०॥

इस प्रकार, आपस में एक शब्द बोले विना ही उन दोनों ने स्वयंवर-विधि पूरी कर ली। तभी एक दासी ने आकर उस सिद्धकन्या से कहा—"राजकुमारी ! आपकी माताजी आपको याद कर रही हैं। चलिए, विलम्ब न कीजिए।"

यह सुनकर अपनी उन उत्कण्ठित आँखों को, जो कामदेव के द्वारा उसके प्रिय के मुख पर जैसे जड़ दी गई थीं, उसने बड़ी कठिनाई से वहाँ से हटाया और घर की ओर प्रस्थान किया। जीमूतवाहन भी, जिसका मन उसी में रमा हुआ था, अपने आश्रम में आया ॥५७–५९॥

अपने प्रिय के विरह से आतुर मलयवती ने अपनी माँ से मिलकर झटपट अपनी शय्या पर जा पड़ी ॥६०॥

उसके हृदय में जो कामाग्नि जल रही थी, उसके धुएँ से उसकी आँखें कड़ुआ गई थीं और उनसे आँसुओं की धारा बह रही थी। उसका सारा शरीर सन्ताप से उबल-सा रहा था ॥६१॥

सखियों ने उसके शरीर पर चन्दन का लेप लगाया और कमल के पत्तों से पंखा झला। फिर भी, न तो वह सखियों की गोद में, न भूमि पर सोकर ही चैन पा सकी ॥६२॥

लालिमा-युक्त सन्ध्या के साथ दिन जब कहीं चला गया तब चन्द्रमा ने आगे बढ़कर हँसती हुई पूर्व दिशा को चूम लिया ॥६३॥

काम से प्रेरित होने पर भी लज्जा के कारण मलयवती ने जीमूतवाहन के पास दूती आदि को नहीं भेजा, यद्यपि उसके जीवन की आशा छूट-सी रही थी ॥६४॥

मोह-रूपी भौंरे जिसमें बन्द हो गये हों, ऐसी कमलिनी के समान अपने हृदय को समेटकर उसने यह दुःखभरी चाँदनी रात किसी तरह बिताई ॥६५॥

इस बीच विरह से दुःखी वह जीमूतवाहन भी कुसुमधन्वा कामदेव का शिकार बनकर शय्याशायी हुआ ॥६६॥

यद्यपि लज्जा के कारण वह मौन था, फिर भी उसके मन में जो नवीन अनुराग का अंकुर फूटा था, उससे उसका चेहरा पीला पड़ गया था। उस पीलेपन से अपनी कामपीड़ा बतलाते हुए, किसी तरह उसने रात बिताई ॥६७॥

अत्यधिक उत्सुक होने के कारण, सवेरा होने पर, वह फिर गौरी के उस मन्दिर में गया, जहाँ उसने सिद्धराज की उस कन्या को देखा था ॥६८॥

उसका मित्र मुनिपुत्र भी उसके पीछे-पीछे वहाँ आया और कामज्वाला से विह्वल अपने मित्र को आश्वासन देने लगा ॥६९॥

इसी बीच, विरह को न सह सकने के कारण, मलयवती भी अकेली ही निकलकर, शरीर त्याग करने के लिए, छिपकर उस निर्जन स्थान में आई ॥७०॥

अलक्षयन्ती कान्तं स्वं पादपान्तरितं च सा।
उदश्रुलोचना बाला देवीं गौरीं व्यजिज्ञपत् ॥७१॥
त्वद्भक्त्या देवि संवृत्तौ नास्मिञ्जन्मनि चेन्मम।
जीमूतवाहनो भर्त्ता तद्भूयात्सोऽन्यजन्मनि ॥७२॥
इत्युक्त्वा रचयामास स्वोत्तरीयेण तत्क्षणम्।
अशोकतरुशाखायां पाशं सा गिरिजाग्रतः ॥७३॥
हा नाथ विश्वविख्यातकरुणेनापि न त्वया।
कथमस्मि परित्राता देव जीमूतवाहन ॥७४॥
एवमुक्त्वा गले यावत्सा तं पाशं नियच्छति।
उच्चचार दिवस्तावद्भारती देव्युदीरिता ॥७५॥
पुत्रि मा साहसं कार्षीश्चक्रवर्त्ती पतिस्तव।
विद्याधरेन्द्रो जीमूतवाहनो हि भविष्यति ॥७६॥
इत्युक्तवत्यां देव्यां स श्रुत्वैव सवयस्यकः।
जीमूतवाहनो हृष्टां प्रियामुपजगाम ताम् ॥७७॥
सैष देव्या वरः पश्य वितीर्णः सत्य एव ते।
इति जल्पति बालां तां तन्मित्त्रे मुनिपुत्रके ॥७८॥
जीमूतवाहनस्तत्तद्ब्रुवन्प्रणयपेशलम्।
स्वहस्तेनैव तं तस्याः कण्ठात्पाशमपानयत् ॥७९॥
ततोऽकस्मात्सुधावर्षमिव मन्वानयोस्तयोः।
भुवं मलयवत्यां च लिखन्त्यां ह्रीतया दृशा ॥८०॥
चिन्वानागत्य सहसा सखी हृष्टा जगाद ताम्।
सखि कल्याणिनी दिष्ट्या वर्धसेऽभीष्टसिद्धितः ॥८१॥
अद्यैव हि महाराजस्तव विश्वावसुः पिता।
कुमारमित्त्रावसुना विज्ञप्तः सन्निधौ मम ॥८२॥
इहागतो जगन्मान्यस्तात कल्पतरुप्रदः।
विद्याधरेन्द्रतनयो योऽयं जीमूतवाहनः ॥८३॥
अतिथित्वात्स नः पूज्यो वरश्चान्यो न तादृशः।
तस्मान्मलयवत्यासौ कन्यारत्नेन पूज्यताम् ॥८४॥
तथेति श्रद्धिते राज्ञा भ्राता मित्त्रावसुः स ते।
तादर्थ्येन महाभागस्यास्याश्रमपदं गतः ॥८५॥
जाने सद्यश्च भावी ते विवाहस्तत्स्वमन्दिरम्।
आयाहि यातु चैषोऽपि महाभागः स्वमास्पदम् ॥८६॥

वृक्ष से छिपा होने के कारण उसने अपने प्रिय को नहीं देखा, और आँखों में आँसू भरकर, देवी गौरी से यह निवेदन किया—"देवी ! आपकी भक्ति से इस जन्म में तो मैं जीमूतवाहन को पति के रूप में नहीं पा सकी; अतः अगले जन्म में वे ही मेरे पति हों" ॥७१–७२॥

यह कहकर तत्काल ही उसने भगवती गिरिजा के सम्मुख, अशोकवृक्ष की शाखा में अपनी चादर से एक फन्दा बनाया ॥७३॥

"हा नाथ ! हा देव जीमूतवाहन ! आपकी दयालुता तो जगत्-प्रसिद्ध है; फिर भी आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते ?" ऐसा कहकर ज्योंही उसने गले में फन्दा डाला, त्योंही आकाश से देवी के कहे हुए ये वचन सुन पड़े—"बेटी ! ऐसा दुःसाहस मत करो। विद्याधरों का राजा जीमूतवाहन चक्रवर्त्ती होकर तुम्हारा पति बनेगा।" ॥७४–७६॥

अपने मित्र के सहित जीमूतवाहन ने देवी का यह कथन सुना। तब वह अपनी उस प्रिया के पास पहुँचा, जो प्रसन्न हो गई थी ॥७७॥

जीमूतवाहन के मित्र, उस मुनिपुत्र ने मलयवती से कहा कि 'देखो, देवी का वर तुमको सचमुच ही इनके रूप में प्राप्त हो गया। वह ऐसा कह ही रहा था कि जीमूतवाहन ने मीठी-मीठी बातें करते हुए अपने ही हाथों उसके गले से फन्दा निकाल दिया ॥७८–८९॥

उन दोनों को ऐसा जान पड़ा, मानों उनके ऊपर अमृत की वर्षा हो गई हो। लज्जा के कारण आँखें झुकाकर मलयवती जमीन खुरचने लगी; तभी उसे ढूँढ़ती हुई एक सखी ने अचानक आकर प्रसन्नतापूर्वक उससे कहा—"सखी ! कल्याणी ! प्रसन्नता की बात है कि तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ। मेरे सामने आज ही कुमार मित्रावसु ने तुम्हारे पिता महाराज विश्वावसु से कहा है—'पिताजी ! विद्याधरों के राजा के पुत्र, संसार में सम्मानित और कल्पतरु का दान करनेवाले जो जीमूतवाहन, अतिथि के रूप में उपस्थित हैं, हमें उनका सत्कार करना चाहिए। उनके जैसा दूसरा कोई वर भी नहीं है। अतः, आप कन्याओं में श्रेष्ठ इस मलयवती को उन्हें देकर उनका सम्मान करें।' राजा ने 'एसा ही हो' कहकर जब यह बात स्वीकार कर ली, तब तुम्हारे भाई मित्रावसु इस काम के लिए इन महाभाग के आश्रम को गये। मुझे लगता है कि शीघ्र ही तुम्हारा विवाह होनेवाला है, अतः तुम अपने घर चलो और ये महाभाग भी अपने स्थान जायें ॥८०–८६॥

इत्युक्ता सा तया सख्या राजपुत्री शनैस्ततः ।
ययुः सहर्षा सोत्का च मुहुर्वलितकन्धरा ॥८७॥

जीमूतवाहनोऽप्याशु गत्वा स्वाश्रममागतात् ।
मित्रावसोर्यथाभीष्टं कार्यं श्रुत्वाभिनन्द्य च ॥८८॥

जातिस्मरः समाचख्यौ तस्मै स्वं पूर्वजन्म सः ।
यत्र मित्रं स तस्यासीत्सा च भार्यैव तत्स्वसा ॥८९॥

सतो मित्रावसुः प्रीतस्तत्पित्रोः परितुष्यतोः ।
आवेद्य गत्वा पितरौ कृतार्थः स्वावनन्दयत् ॥९०॥

निनाय च सदैव स्वान्गृहाञ्जीमूतवाहनम् ।
चक्रे चोत्सवसम्भारं स्वसिद्ध्युचितवैभवम् ॥९१॥

तस्मिन्नेव च धन्येऽह्नि तस्य विद्याधरप्रभोः ।
स्वसुर्मलयवत्याश्च विवाहं समपादयन् ॥९२॥

ततो नवोढया साकं तया जीमूतवाहनः ।
तस्थौ मलयवत्या स तत्र सिद्धमनोरथः ॥९३॥

एकदा कौतुकाच्चात्र स मित्रावसुना सह ।
मलयाद्रौ भ्रमन्नब्धेर्वेलावनमुपेयिवान् ॥९४॥

तत्रास्थिराशीन्सुबहून्दृष्ट्वा मित्रावसुं स तम् ।
केषामेतेऽस्थिसङ्घाताः प्राणिनामिति पृष्टवान् ॥९५॥

ततो मित्रावसुः श्यामस्तं कारुणिकमब्रवीत् ।
शृणु वृत्तान्तमत्रेमं संक्षेपाद्वर्णयामि ते ॥९६॥

नागमाता पुरा कद्रूर्विनतां तार्क्ष्यमातरम् ।
निनाय किल दासत्वं सव्याजपणनिर्जिताम् ॥९७॥

तेन वैरेण गरुडस्तामुन्मोच्यापि मातरम् ।
बली भक्षयितुं नागान्कद्रूपुत्रान्प्रचक्रमे ॥९८॥

सदा प्रविश्य पातालं सोऽथ कांश्चिज्जघास तान् ।
कांश्चिन्ममर्द केचित्तु स्वयं त्रासाद्विपेदिरे ॥९९॥

उस सखी के ऐसा कहने पर हर्ष और उत्कण्ठा से युक्त राजकुमारी बार-बार अपनी गरदन फेरती हुई धीरे-धीरे वहाँ से चली गई॥८७॥

जीमूतवाहन भी शीघ्र ही अपने आश्रम में जा पहुँचा। वहाँ आये हुए मित्रावसु से उसने अपने अभीष्ट कार्य की बात सुनी और उसका समर्थन किया॥८८॥

जीमूतवाहन को अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मरण था, अतः उसने मित्रावसु को बतलाया कि पूर्वजन्म में वह मित्रावसु का मित्र था और मित्रावसु की बहन उसकी पत्नी थी॥८९॥

अनन्तर, मित्रावसु ने प्रसन्न होकर जीमूतवाहन के माता-पिता को यह संवाद भेजा, जिससे वे सन्तुष्ट हुए। फिर, अपने कार्य में सफलता पानेवाले मित्रावसु ने जाकर अपने माता-पिता से भी यह संवाद कहा और उन्हें प्रसन्न किया॥९०॥

उसी दिन वह जीमूतवाहन को अपने घर ले गया और अपनी क्षमता तथा वैभव के अनुसार आनन्द-उत्सव की व्यवस्था करने लगा॥९१॥

उसी शुभ दिन को विद्याधरों के स्वामी जीमूतवाहन के साथ उसने अपनी बहन मलयवती का विवाह कर दिया॥९२॥

अनन्तर, जीमूतवाहन, जिसका मनोरथ पूरा हो गया था, अपनी नव-विवाहिता पत्नी मलयवती के साथ वहीं रहा॥९३॥

एक बार सहज कौतूहल से मित्रावसु के साथ मलयपर्वत पर घूमता हुआ जीमूतवाहन समुद्रतट के वन में जा पहुँचा॥९४॥

वहाँ हड्डियों के बहुत-से ढेर को देखकर उसने मित्रावसु से पूछा कि हड्डियों के ये ढेर किन प्राणियों के हैं॥९५॥

तब उसके साले मित्रावसु ने दयालु जीमूतवाहन से कहा—"सुनो, इसका सारा वृत्तान्त संक्षेप में तुम्हें सुनाता हूँ॥९६॥

प्राचीन काल में सर्पों की माता कद्रू ने गरुड की माता विनता को बाजी लगाकर धोखे से हरा दिया और अपनी दासी बना लिया॥९७॥

बलवान् गरुड ने यद्यपि अपनी माता को दासता से छुड़ा लिया, फिर भी उस वैर के कारण वह कद्रू के पुत्र सर्पों को खाने लगा॥९८॥

वह सदा पाताल में घुसकर कुछ सर्पों को मार डालता, कुछ को मसल देता और कुछ भय के कारण स्वयं ही मर जाते॥९९॥

तद्दृष्ट्वेकपदे सर्वक्षयमाशङ्क्य नागराट्।
वासुकिः प्रार्थनापूर्वं तार्क्ष्यस्य समयं व्यधात्॥१००॥
एकमेकमहं नागमाहारार्थं खगेन्द्र ते।
प्रत्यहं प्रेषयाम्यत्र पुलिने दक्षिणोदधेः॥१०१॥
त्वया तु न प्रवेष्टव्यं पातालेऽस्मिन्कथञ्चन।
को हि स्वार्थो विनष्टेषु नागेष्वेकपदे तव॥१०२॥
इत्युक्ते नागराजेन समयं प्रत्यपद्यत।
स्वार्थदर्शी तथेत्येव गरुडो गुरुविक्रमः॥१०३॥
तदाप्रभृति चेकैकं नागं भुङ्क्ते दिने दिने।
वासुकिप्रेषितं सोऽत्र खगेन्द्रः पुलिनेऽम्बुधेः॥१०४॥
अतस्तद्भक्ष्यमाणानां नागानामस्थिसञ्चयाः।
एतेऽत्र गिरिशृङ्गाभा वृद्धि कालक्रमाद्गताः॥१०५॥
इति मित्रावसोर्वक्त्रात्सान्तर्दुःखो निशम्य सः।
निजगाद दयाधैर्यनिधिजीमूतवाहनः॥१०६॥
शोच्यः स वासुकी राजा यः स्वहस्तेन विद्विषे।
उपहारीकरोति स्वाः प्रजा क्लीबो दिने दिने॥१०७॥
धृताननसहस्रः सन्नेकेनाप्याननेन सः।
मामादौ भुङ्क्ष्व तार्क्ष्येति भाषितुं नाशकत्कथम्॥१०८॥
कथं चाभ्यर्थयामास निःसत्त्वः स्वकुलक्षयम्।
तार्क्ष्यं नागाङ्गनाक्रन्दनित्याकर्णननिर्घृणः॥१०९॥
तार्क्ष्योऽपि काश्यपिर्वीरः कृष्णाधिष्ठानपावनः।
ईदृशं कुरुते पापमहो मोहस्य गाढता॥११०॥
इत्युक्त्वा स महासत्त्वो हृदि चक्रे मनोरथम्।
अप्यसारेण देहेन सारमत्राप्नुयामहम्॥१११॥
एकस्याप्यद्य नागस्य कुर्यां जीवितरक्षणम्।
अवान्धवस्य भीतस्य दत्त्वात्मानं गरुत्मते॥११२॥
इति सञ्चिन्तयत्येव तस्मिञ्जीमूतवाहने।
मित्रावसोः पितुः पार्श्वात्क्षत्ता ह्वानार्थमाययौ॥११३॥
व्रज त्वमहमेष्यामि पश्चादिति ततश्च तम्।
मित्रावसुं स जीमूतवाहनो व्यसृजद्गृहम्॥११४॥

नागों के राजा वासुकि को यह आशंका हुई कि इस तरह सर्पकुल का एकबारगी विनाश हो जायगा, अतः विनयपूर्वक उसने गरुड से एक शर्त्त की —"पक्षिराज ! इस दक्षिणसमुद्र के किनारे तुम्हारे भोजन के लिए, प्रतिदिन एक सर्प भेज दिया करूँगा; किन्तु तुम किसी प्रकार, किसी समय भी, पाताल में न आओगे; क्योंकि एक साथ ही सब सर्पों के नष्ट हो जाने से तुम्हें क्या लाभ होगा ?" ॥१००-१०२॥

नागराज के ऐसा कहने पर, महापराक्रमी गरुड ने इसमें अपना लाभ देखा और 'ऐसा ही होगा' कहकर वह शर्त्त स्वीकार कर ली ॥१०३॥

पक्षिराज गरुड तभी से, समुद्र के इस तट पर, वासुकि के भेजे हुए एक-एक सर्प को प्रतिदिन खाया करता है ॥१०४॥

यह उसी के खाये हुए सर्पों की हड्डियों का समूह है, जो समय पाकर, बढ़ते-बढ़ते पर्वत-शिखर के समान हो गया है ॥१०५॥

दया और धैर्य के आगार जीमूतवाहन ने मित्रावसु के मुँह से जब यह वृत्तान्त सुना, तब उसके मन को बड़ा कष्ट हुआ। उसने कहा—"शोक करने के योग्य तो सर्पों का राजा वह वासुकि है, जो ऐसा कायर है कि अपने हाथों प्रतिदिन अपनी प्रजा को शत्रु की भेंट कर देता है। हजार मुँहों-वाला वह वासुकि अपने एक मुँह से भी कभी यह क्यों नहीं कह सका कि 'गरुड पहले तुम मुझे ही खा लो' ? प्रतिदिन नागपत्नियों की रुलाई सुनकर निर्दय बने हुए वासुकि ने अपने कुल का नाश करनेवाले गरुड की प्रार्थना क्यों की ? अरे, मोह भी कैसा गाढ़ा होता है कि यद्यपि गरुड़ कश्यप का पुत्र है, वीर है और कृष्ण का वाहन होने के कारण पवित्र है, फिर भी ऐसा पाप करता है !" ॥१०६—११०॥

ऐसा कहकर परम पराक्रमी जीमूतवाहन ने मन-ही-मन निश्चय किया कि 'इस नाशवान् शरीर से मैं अमरता प्राप्त करूँगा। आज मैं अपना शरीर देकर गरुड के पंजे से कम-से-कम एक ऐसे सर्प की रक्षा करूँगा, जो हितैषियों से रहित तथा डरा हुआ है ॥१११-११२॥

जीमूतवाहन जब ऐसा सोच रहा था, तभी, मित्रावसु के पिता के पास से एक प्रतिहार उन्हें बुलाने के लिए आया ॥११३॥

जीमूतवाहन ने मित्रावसु को यह कहकर घर भेज दिया कि 'तुम चलो, मैं कुछ समय बाद आऊँगा' ॥११४॥

गते तस्मिन्स चात्रैको वाञ्छितार्थोन्मुखो भ्रमन् ।
कृपालुरशृणोद्दूरात्करुणं रुदितध्वनिम् ॥११५॥
गत्वा ददर्श चोत्तुङ्गशिलातलसमीपगम् ।
युवानमेकं पुरुषं दुःखितं सुन्दराकृतिम् ॥११६॥
पुंसा राजभटेनेव त्यक्तमानीय तत्क्षणम् ।
निवर्त्तयन्तं रुदतीं वृद्धां सानुनयं स्त्रियम् ॥११७॥
कोऽयं स्यादिति यावच्च जिज्ञासुः सोऽत्र तिष्ठति ।
करुणाकुलितश्छन्नः शृण्वञ्जीमूतवाहनः ॥११८॥
तावत्सा तत्र वृद्धा स्त्री दुःखभारातिपीडिता ।
प्रावर्त्तत युवानं तं दृष्ट्वा दृष्ट्वानुशोचितुम् ॥११९॥
हा शङ्खचूड हा दुःखशतसम्प्राप्त हा गुणिन् ।
कुलैकतन्तो हा पुत्र क्व त्वां द्रक्ष्याम्यहं पुनः ॥१२०॥
वत्स त्वन्मुखचन्द्रेऽस्मिन्गतेऽस्तं स पिता तव ।
शोकान्धकारपतितः कथं वृद्धो भविष्यति ॥१२१॥
अथार्ककरसंस्पर्शादङ्गं दूयेत यत्तव ।
कथं शक्ष्यति तत्सोढुं तार्क्ष्यभक्षणजां रुजम् ॥१२२॥
विस्तीर्णे नागलोकेऽपि धात्रा नागाधिपेन च ।
लब्धस्त्वं किमभव्याया विचित्यैकसुतो मम ॥१२३॥
इति तां विलपन्तीं च स युवा तनयोऽब्रवीत् ।
दुःखार्त्तमपि मामम्ब किं दुःखयसि हा भृशम् ॥१२४॥
निवर्त्तस्व गृहानेष प्रणामः पश्चिमस्तव ।
इहागमनवेला हि भवेज्जातु गरुत्मतः ॥१२५॥
तच्छ्रुत्वा हा हतास्मीह को मे पास्यति पुत्रकम् ।
इति चक्रन्द सा वृद्धा दिक्षु क्षिप्तार्त्तलोचना ॥१२६॥
तावच्च बोधिसत्त्वांशः स तज्जीमूतवाहनः ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च कृपया गाढाक्रान्तो व्यचिन्तयत् ॥१२७॥
हन्तायं शङ्खचूडाख्यो नागो वासुकिना बत ।
आहारहेतोस्तार्क्ष्यस्य तपस्वी प्रेषितोऽधुना ॥१२८॥
इयं चैतस्य जननी स्नेहेनेहान्वगागता ।
एतदेकसुता वृद्धा दुःखदीनप्रलापिनी ॥१२९॥
तदेनमेकमार्त्तं चेद्देहेनैकान्तनाशिना ।
रक्षामि नामुना नागं तन्मे धिग्जन्म निष्फलम् ॥१३०॥

मित्रावसु के चले जाने पर दयालु जीमूतवाहन अकेला रह गया। अपना मनोरथ पूरा करने की इच्छा से घूमते-फिरते उसने दूर से आती रुलाई की करुण ध्वनि सुनी ॥११५॥

वहाँ जाकर उसने एक ऊँची शिला के पास एक युवा पुरुष को देखा, जो सुन्दर आकृतिवाला और दुःखी था ॥११६॥

कोई राजकर्मचारी तत्काल उसे वहाँ लाकर छोड़ गया था। वह पुरुष, रोती हुई एक वृद्धा स्त्री को अनुनयपूर्वक लौट जाने के लिए कह रहा था ॥११७॥

'यह कौन है ?' इसे जानने की इच्छा से, कृपा-परवश जीमूतवाहन छिपकर वे बातें सुन रहा था। तभी दुःख के भार से अत्यन्त पीडित वह वृद्धा स्त्री, उस युवा पुरुष को बार-बार देखकर इस प्रकार शोक करने लगी ॥११८-११९॥

"हा शंखचूड ! हा सौ-सौ दुःखों से पाये हुए गुणी पुत्र ! हा कुल का एकमात्र सूत्र ! अब फिर मैं तुम्हें कहाँ देखूंगी ? हा वत्स ! तुम्हारे इस मुखचन्द्र के अस्त हो जाने पर, शोक के अन्धकार में गिरे हुए तुम्हारे पिता कैसे अपना बुढ़ापा काट सकेंगे ? तुम्हारे जो अंग सूर्य-किरणों के स्पर्श से भी कुम्हला जाते थे, वे गरुड के द्वारा खाये जाने की पीड़ा कैसे सह सकेंगे ? नागलोक तो बहुत बड़ा है, फिर भी विधाता और नागराज ने मुझ अभागिनी के एकमात्र पुत्र तुम्हीं को कैसे चुन लिया" ॥१२०—१२३॥

इस प्रकार रोती हुई उस माँ से उसके युवा पुत्र ने कहा—"माँ ! मैं तो स्वयं ही दुःखी हूँ। तुम मुझे और दुःखी क्यों बना रही हो ? अब तुम घर जाओ। मैं तुम्हें अन्तिम प्रणाम करता हूँ। गरुड के आने का समय हो रहा है" ॥१२४-१२५॥

यह सुनकर, 'हाय, मैं मारी गई ! मेरे बच्चे की रक्षा कौन करेगा !' ऐसा कहती हुई वह वृद्धा अपनी विकल आँखों से चारों ओर देखने लगी ॥१२६॥

यह सब देख और सुनकर बोधिसत्त्व के अंश-रूप जीमूतवाहन को बड़ी दया आई। वह सोचने लगा—'हाय, शंखचूड नामक यही वह नाग है, जिसे वासुकि ने गरुड के भोजन के लिए भेजा है। और, यह उसकी वृद्धा माता है, जो एक पुत्रवाली है, स्नेह के कारण उसके पीछे-पीछे यहाँ आई है और दुःख से करुण प्रलाप कर रही है। अतः, यदि मैं अपने इस शरीर से, जिसका नाश बिलकुल निश्चित है, इस एक आर्त्त नाग की रक्षा न करूँगा, तो मेरे निष्फल जन्म को धिक्कार है' ॥१२७—१३०॥

इत्यालोच्योपगम्यैव मुदा जीमूतवाहनः।
वृद्धामुवाच तां मातः पुत्रं रक्षाम्यहं तव ॥१३१॥
तच्छ्रुत्वा भावितभया वृद्धा गरुडशङ्किनी।
सन्त्रस्ता तार्क्ष्य मां भुङ्क्ष्व मां भुङ्क्ष्वेति जगाद सा ॥१३२॥
शङ्खचूडस्ततोऽवादीन्नैष तार्क्ष्योऽम्ब मा त्रसीः।
क्वायं चन्द्र इवाह्लादी क स तार्क्ष्यो भयङ्करः ॥१३३॥
इत्युक्ते शङ्खचूडेन प्राह जीमूतवाहनः।
विद्याधरोऽहमायातो रक्षितुं सुतमम्ब ते ॥१३४॥
दास्यामि हि शरीरं स्वं वस्त्रच्छन्नं गरुत्मते।
क्षुधिताय प्रयाहि त्वमादायैनं सुतं गृहम् ॥१३५॥
तच्छ्रुत्वा साब्रवीद्वृद्धा मैवं त्वं ह्यधिको मम।
पुत्रो यस्येदृशे काले कृपास्मास्वियमीदृशी ॥१३६॥
एतच्छ्रुत्वा स जीमूतवाहनः पुनरब्रवीत्।
न मे मनोरथस्यास्य भङ्गं कर्त्तुमिहार्हथ ॥१३७॥
ग्रहादेवं ब्रुवाणं च शङ्खचूडो जगाद तम्।
दर्शितैव महासत्त्व त्वया सत्यं कृपालुता ॥१३८॥
नत्वहं त्वच्छरीरेण रक्ष्यामि स्वशरीरकम्।
रत्नव्ययेन पाषाणं को हि रक्षितुमर्हति ॥१३९॥
मादृशैस्तु जगत्पूर्णं स्वात्ममात्रानुकम्पिभिः।
अनुकम्प्यं जगद्येषां विरलास्ते भवादृशाः ॥१४०॥
न चाहं मलिनीकर्त्तुं शङ्खपालकुलं शुचि।
कलङ्क इव तीक्ष्णांशुबिम्बं शक्ष्यामि सन्मते ॥१४१॥
इति तं प्रतिषिध्यैव शङ्खचूडः स्वमातरम्।
जगादाम्ब निवर्त्तस्व कान्ताराद्दुर्गमादितः ॥१४२॥
न पश्यसि किमत्रैतन्नागासृक्कर्दमोक्षितम्।
कृतान्तलीलापर्यङ्करौद्रं वध्यशिलातलम् ॥१४३॥
अहं चाब्धितटे गत्वा नत्वा गोकर्णमीश्वरम्।
आगच्छामि द्रुतं यावन्नायाति गरुडोऽत्र सः ॥१४४॥
इत्युक्त्वा कृपणाक्रन्दां प्रणम्यापृच्छ्य मातरम्।
स गोकर्णप्रणामार्थं शङ्खचूडो ययौ ततः ॥१४५॥

यह सोचकर जीमूतवाहन प्रसन्नतापूर्वक उनके पास गया और उस वृद्धा से बोला—"माँ! मैं तुम्हारे पुत्र की रक्षा करूँगा"।१३१॥

यह सुनकर वृद्धा ने उसे गरुड समझा। वह भय से घबराकर 'गरुड, तुम मुझे खाओ, मुझे खाओ' ऐसा कहने लगी॥१३२॥

तब शंखचूड ने कहा—"माँ! घबराओ नहीं। ये गरुड नहीं हैं। कहाँ चन्द्रमा के समान आनन्द देनेवाले ये और कहाँ वह भयानक गरुड!"॥१३३॥

शंखचूड के ऐसा कहने पर जीमूतवाहन बोला—"माँ? मैं विद्याधर हूँ। तुम्हारे पुत्र की रक्षा करने के लिए यहाँ आया हूँ। भूखे हुए गरुड को मैं वस्त्र से छिपा हुआ अपना शरीर दे दूंगा। तुम अपने इस पुत्र के साथ घर जाओ'॥१३४-१३५॥

यह सुनकर वृद्धा बोली—"ऐसा मत कहो। ऐसे समय में तुमने हम लोगों पर इतनी कृपा की है, तो तुम मेरे लिए पुत्र से भी बढ़कर हो"॥१३६॥

यह सुनकर जीमूतवाहन ने फिर कहा—"इस विषय में तुम लोगों को मेरा मनोरथ भंग न करना चाहिए॥१३७॥

जीमूतवाहन ने जब आग्रहपूर्वक ऐसा कहा, तब शंखचूड उससे बोला—'महासत्त्व! तुमने सचमुच दयालुता दिखलाई है; किन्तु तुम्हारे शरीर से मैं अपनी देह की रक्षा न करूँगा। भला रत्न के व्यय से पत्थर की रक्षा करना कौन चाहेगा? स्वयं अपने ऊपर दया रखनेवाले मुझ जैसों से यह संसार भरा हुआ है। किन्तु, आपके समान वैसे लोग विरले ही हैं, जो सारे संसार पर दया रखते हैं। हे सुबुद्धि! चन्द्रबिम्ब के कलंक के समान मैं शंखपाल के पवित्र कुल को मलिन भी न कर सकूंगा"॥१३८—१४१॥

इस प्रकार जीमूतवाहन को रोककर शंखचूड ने अपनी माता से कहा—"माँ! तुम इस दुर्गम बन से लौट जाओ। क्या तुम इस वध्य-शिला को नहीं देख पाती, जो सर्पों के रक्त-कर्दम से भीगी हुई है और यमराज की विलास-शय्या के समान भयानक है! मैं भी गरुड के आने से पहले ही, समुद्र के तट पर जाकर और भगवान् गोकर्ण को प्रणाम करके शीघ्र ही लौट आता हूँ॥१४२—१४४॥

यह कहकर शंखचूड ने करुण स्वर से रोती हुई अपनी माता से विदा लेकर और उसे प्रणाम करके गोकर्ण की वन्दना के लिए वहाँ से प्रस्थान किया॥१४५॥

अस्मिश्चेदन्तरे प्राप्तस्तार्क्ष्यः सिद्धो ममेप्सितः।
परार्थं इति जीमूतवाहनोऽप्यकरोद्धृदि ॥१४६॥

तावच्चासन्नपक्षीन्द्रपक्षानिलचलांस्तरून् ।
विलोक्यात्र स मामेति निवारणपरानिव ॥१४७॥

मत्वा गरुडवेलां च प्राप्तां जीमूतवाहनः।
परार्थप्राणदो वध्यशिलामध्यारुरोह ताम् ॥१४८॥

पवनाघूर्णिते चाब्धौ स्फुरद्रत्नप्रभादृशा।
तं सत्वातिशयं तस्य पश्यतीव सविस्मयम् ॥१४९॥

आगत्याच्छादितनभा निपत्यैतच्छिलातलात्।
चञ्च्वा गरुत्मानाहत्य महासत्वं जहार तम् ॥१५०॥

स्रुतासृग्धारमुत्खातशिरोरत्नं च तं जवात्।
नीत्वा भक्षयितुं शृङ्गे मलयाद्रेः प्रचक्रमे ॥१५१॥

एवमेव परार्थाय देहः स्यात्प्रतिजन्म मे।
मा भूतां स्वर्गमोक्षौ तु परोपकृतिवर्जितौ ॥१५२॥

इति तार्क्ष्याद्यमानस्य तस्यानुध्यायतस्तदा।
विद्याधरेन्दोरपतत्पुष्पवृष्टिर्नभस्तलात् ॥१५३॥

अत्रान्तरे स तद्रक्तधारास्रवशिरोमणिः।
तस्या मलयवत्याश्च तत्पत्न्याः प्रापतत्पुरः ॥१५४॥

सा तद्दृष्ट्वा परिज्ञाय चूडारत्नं सुविह्वला।
अन्तिकस्था श्वशुरयोस्ताभ्यां साश्रुरदर्शयत् ॥१५५॥

तौ च जायापती सूनोः शिरोरत्नं विलोक्य तम्।
किमेतदिति सम्भ्रान्तौ सहसैव बभूवतुः ॥१५६॥

ततः स्वविद्यानुध्यानाद्यथावृत्तमवेत्य तत्।
राजा जीमूतकेतुः सा राज्ञी कनकवत्यपि ॥१५७॥

बध्वा मलयवत्या तौ प्रावर्त्ततां सह द्रुतम्।
गन्तुं तत्रैव तौ यत्र तार्क्ष्यजीमूतवाहनौ ॥१५८॥

तावत्स शङ्खचूडोऽत्र नत्वा गोकर्णमागतः।
ददर्श रुधिरार्द्रं तद्विग्नो वध्यशिलातलम् ॥१५९॥

जीमूतवाहन ने मन में सोचा कि 'यदि इसी बीच गरुड आ जाय, तो परोपकार का मेरा मनोरथ पूरा हो जाय' ॥१४६॥

तभी आते हुए गरुड के पंखों की हवा से वहाँ के वृक्ष हिलने लगे, मानों 'नहीं, नहीं' कहते हुए वे उसे रोक रहे हों। यह देखकर जीमूतवाहन ने समझा कि गरुड के आने का समय हो गया है। तब परोपकार के लिए अपना प्राणत्याग करने की इच्छा से वह उस वध्य-शिला पर जा बैठा ॥१४७-१४८॥

वायु से विक्षुब्ध समुद्र अपनी चमकती रत्न-ज्योति की आँखों से विस्मयपूर्वक उस महापराक्रमी को देखने लगा ॥१४९॥

इसी समय आकाश को ढकता हुआ गरुड आया और झपटकर उसने उस महापराक्रमी को चोंच मारकर उठा लिया ॥१५०॥

जीमूतवाहन के शरीर से रक्त की धारा बहने लगी और उसका शिरोरत्न उखड़कर गिर गया। गरुड उसे खाने के लिए शीघ्रतापूर्वक मलयपर्वत की ओर ले चला ॥१५१॥

गरुड जब जीमूतवाहन को खा रहा था, वह सोचने लगा कि इसी प्रकार परोपकार करने के लिए मुझे जन्म-जन्म में शरीर मिले, किन्तु परोपकार से रहित मुझे स्वर्ग या मोक्ष न प्राप्त हो।' विद्याधर-चन्द्र वह जीमूतवाहन जब ऐसा सोच रहा था, तभी आकाश से उसपर पुष्पवृष्टि हुई ॥१५२-१५३॥

इसी बीच उसकी वह शिरोमणि, जिससे रक्त की धारा टपक रही थी, उसकी पत्नी मलयवती के सामने जा गिरी ॥१५४॥

मलयवती ने उस शिरोरत्न को देखकर पहचान लिया। वह बहुत विह्वल हो गई और उसने आँखों में आँसू भरकर, पास ही बैठे अपने सास-ससुर को वह मणि दिखलाई ॥१५५॥

वे पति-पत्नी पुत्र के उस शिरोरत्न को देखकर अचानक ही घबरा उठे कि 'यह क्या हुआ ?' ॥१५६॥

अनन्तर, अपनी विद्या के द्वारा ध्यान करके, राजा जीमूतकेतु ने सारा वृत्तान्त जान लिया और वह अपनी रानी कनकवती तथा पुत्रवधू मलयवती के साथ शीघ्र ही वहाँ जाने के लिए चल पड़े जहाँ गरुड और जीमूतवाहन थे ॥१५७-१५८॥

इधर शंखचूड जब गोकर्ण को प्रणाम करके लौटा, तब उसने विकल होकर देखा कि वध्यशिला रक्त से भींगी हुई है ॥१५९॥

तब वह सज्जन शंखचूड आँखों में आँसू भरकर कहने लगा कि 'हाय, मैं महापापी मारा गया। निश्चय ही उस अत्यन्त कृपालु महात्मा ने मेरे लिए अपने-आपको गरुड के हाथों सौंप दिया है। अतः, मैं इस बात का पता लगाऊँगा कि सर्पों का वह शत्रु इस समय उसे कहाँ ले गया है। यदि मैं उसे जीवित पा सका, तो अपयश के पंक में न डूबूंगा' ॥१६०-१६१॥

यह कहकर, उसने उस रक्त धारा को देखा, जो जीमूतवाहन के शरीर से लगातार भूमि-पर गिरती गई थी। शंखचूड उसका अनुसरण करके आगे बढ़ा॥१६२॥

गरुड इस बीच जीमूतवाहन को खा रहा था। इसपर भी जब उसने जीमूतवाहन को प्रसन्न देखा, तब तो वह तत्काल रुक गया और सोचने लगा—"अरे, यह तो कोई अपूर्व व्यक्ति है, जो ऐसा पराक्रमी है कि मेरे द्वारा खाये जाने पर भी प्रसन्न हो रहा है और इसके प्राण भी नहीं निकलते। इसके शरीर का जो थोड़ा-बहुत भाग बच रहा है, उसपर हो रहा रोमांच, अंग-वस्त्र की तरह जान पड़ता है। यह मेरी ओर ऐसी प्रसन्न आँखों से देख रहा है, मानों मैं इसका उपकार कर रहा होऊँ। स्पष्ट है कि यह सर्प नहीं है। यह कोई सज्जन है। अतः, मैं इसे न खाऊँगा। इससे इसके बारे में पूछूंगा।" गरुड ऐसा सोच ही रहा था कि जीमूतवाहन उससे बोला—॥१६३–१६६॥

"पक्षिराज! तुम रुक क्यों गये? ऐसा तो नहीं है कि अब मेरी देह में रक्त और मांस न रह गया हो। अभी तुम तृप्त भी नहीं हुए हो। अतः तुम खाओ" ॥१६७॥

यह सुनकर पक्षिराज गरुड को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—"महात्मन्! तुम तो सर्प नहीं हो। अतः, बतलाओ कि तुम कौन हो?" ॥१६८॥

जीमूतवाहन ने उत्तर में गरुड से कहा—"यह तुम्हारा कैसा प्रश्न है? मैं नाग ही हूँ। तुम अपना काम करो। भला कौन ऐसा चतुर व्यक्ति होगा, जो सामने का काम छोड़कर दूसरी बातों में उलझेगा? ॥१६९॥

जीमूतवाहन ऐसा कह ही रहा था कि तबतक शंखचूड वहाँ आ पहुँचा। उसने दूर से ही कहा—"विनता-पुत्र! नहीं, नहीं, ऐसा महापाप का साहस न करना। तुम्हें यह कैसा भ्रम हो गया है? यह सर्प नहीं है। तुम्हारा सर्प तो मैं हूँ" ॥१७०-१७१॥

यह कहकर वह शीघ्रतापूर्वक आया और उन दोनों के बीच खड़ा हो गया। गरुड को चक्कर में पड़ा हुआ देखकर शंखचूड ने फिर कहा—"तुम किस भ्रम में पड़े हो? क्या तुम मेरा फण और मेरी दो जीभें नहीं देखते? और, क्या तुम इस विद्याधर की सौम्य आकृति भी नहीं देख पाते?" ॥१७२-१७३॥

शंखचूड के ऐसा कहते-न-कहते, जीमूतवाहन की स्त्री और उसके माता-पिता शीघ्रता-पूर्वक वहाँ आ पहुँचे॥१७४॥

हा हतोऽस्मि महापापो ध्रुवं तेन महात्मना।
आत्मा गरुत्मते दत्तो मत्कृते सुकृपालुना॥१६०॥
तदन्विष्यामि नीतः स क्षणेऽस्मिन्क्वाहिवैरिणा।
मज्जेयं नायशःपङ्के जीवन्तं चेत्तमाप्नुयाम्॥१६१॥
इत्युदश्रुर्वदन्सोऽथ साधुर्दृष्ट्वा निरन्तराम्।
पतितां भुवि तद्रक्तधारामनुसरन्ययौ॥१६२॥
अत्रान्तरे भक्षयंस्तं दृष्ट्वा जीमूतवाहनम्।
हृष्टं विरम्य गरुडश्चिन्तयामास तत्क्षणम्॥१६३॥
अहो अपूर्वः कोऽप्येष भक्ष्यमाणोऽपि यो मया।
प्रहृष्यति महासत्त्वो न तु प्राणैर्वियुज्यते॥१६४॥
बिभर्ति लुप्तशेषे च गात्रे रोमाञ्चकञ्चुकम्।
किं चोपकारिणीवास्य मयि दृष्टिः प्रसीदति॥१६५॥
तन्नैष नागः कोऽप्येष साधुः पृच्छामि नाद्म्यमुम्।
इति तार्क्ष्यं विमृश्यन्तं प्राह जीमूतवाहनः॥१६६॥
पक्षीन्द्र किं निवृत्तोऽसि नहि मे मांसशोणितम्।
देहे नास्ति न चाद्यापि परितृप्तोऽसि भुङ्क्ष्व तत्॥१६७॥
एतच्छ्रुत्वातिसाश्चर्यस्तं पप्रच्छ स पक्षिराट्।
नागो नैवासि तद्ब्रूहि महात्मन्को भवानिति॥१६८॥
नाग एवास्मि कोऽयं ते प्रश्नः प्रकृतमाचर।
प्रस्तुतार्थविरुद्धं हि कोऽभिदध्यादबालिशः॥१६९॥
एवं प्रतिवदत्येव तार्क्ष्यं जीमूतवाहने।
प्राप्तः स शङ्खचूडोऽत्र दूरादेवाभ्यभाषत॥१७०॥
मा मा कृथा महापापं साहसं विनतात्मज।
कोऽयं भ्रमस्ते नह्येष नागो नागोऽहमेष ते॥१७१॥
इत्युक्त्वा द्रुतमागत्य मध्ये स्थित्वा तयोर्द्वयोः।
दृष्ट्वा च तार्क्ष्यं विभ्रान्तं शङ्खचूडोऽब्रवीत्पुनः॥१७२॥
किं भ्राम्यसि फणाः किं मे जिह्वे द्वे च न पश्यसि।
विद्याधरस्य किं चास्य सौम्यां पश्यसि नाकृतिम्॥१७३॥
शङ्खचूडे वदत्येवं भार्या च पितरौ च तौ।
जीमूतवाहनस्यात्र सर्वे सत्वरमाययुः॥१७४॥

तब वह सज्जन शंखचूड आँखों में आँसू भरकर कहने लगा कि 'हाय, मैं महापापी मारा गया। निश्चय ही उस अत्यन्त कृपालु महात्मा ने मेरे लिए अपने-आपको गरुड के हाथों सौंप दिया है। अतः, मैं इस बात का पता लगाऊँगा कि सर्पों का वह शत्रु इस समय उसे कहाँ ले गया है। यदि मैं उसे जीवित पा सका, तो अपयश के पंक में न डूबूंगा' ॥१६०-१६१॥

यह कहकर, उसने उस रक्त धारा को देखा, जो जीमूतवाहन के शरीर से लगातार भूमि-पर गिरती गई थी। शंखचूड उसका अनुसरण करके आगे बढ़ा॥१६२॥

गरुड इस बीच जीमूतवाहन को खा रहा था। इसपर भी जब उसने जीमूतवाहन को प्रसन्न देखा, तब तो वह तत्काल रुक गया और सोचने लगा—"अरे, यह तो कोई अपूर्व व्यक्ति है, जो ऐसा पराक्रमी है कि मेरे द्वारा खाये जाने पर भी प्रसन्न हो रहा है और इसके प्राण भी नहीं निकलते। इसके शरीर का जो थोड़ा-बहुत भाग बच रहा है, उसपर हो रहा रोमांच, अंग-वस्त्र की तरह जान पड़ता है। यह मेरी ओर ऐसी प्रसन्न आँखों से देख रहा है, मानों मैं इसका उपकार कर रहा होऊँ। स्पष्ट है कि यह सर्प नहीं है। यह कोई सज्जन है। अतः, मैं इसे न खाऊँगा। इससे इसके बारे में पूछूंगा।" गरुड ऐसा सोच ही रहा था कि जीमूतवाहन उससे बोला—॥१६३–१६६॥

"पक्षिराज! तुम रुक क्यों गये? ऐसा तो नहीं है कि अब मेरी देह में रक्त और मांस न रह गया हो। अभी तुम तृप्त भी नहीं हुए हो। अतः तुम खाओ" ॥१६७॥

यह सुनकर पक्षिराज गरुड को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—"महात्मन्! तुम तो सर्प नहीं हो। अतः, बतलाओ कि तुम कौन हो?" ॥१६८॥

जीमूतवाहन ने उत्तर में गरुड से कहा—"यह तुम्हारा कैसा प्रश्न है? मैं नाग ही हूँ। तुम अपना काम करो। भला कौन ऐसा चतुर व्यक्ति होगा, जो सामने का काम छोड़कर दूसरी बातों में उलझेगा? ॥१६९॥

जीमूतवाहन ऐसा कह ही रहा था कि तबतक शंखचूड वहाँ आ पहुँचा। उसने दूर से ही कहा—"विनता-पुत्र! नहीं, नहीं, ऐसा महापाप का साहस न करना। तुम्हें यह कैसा भ्रम हो गया है? यह सर्प नहीं है। तुम्हारा सर्प तो मैं हूँ" ॥१७०-१७१॥

यह कहकर वह शीघ्रतापूर्वक आया और उन दोनों के बीच खड़ा हो गया। गरुड को चक्कर में पड़ा हुआ देखकर शंखचूड ने फिर कहा—"तुम किस भ्रम में पड़े हो? क्या तुम मेरा फण और मेरी दो जीभें नहीं देखते? और, क्या तुम इस विद्याधर की सौम्य आकृति भी नहीं देख पाते?" ॥१७२-१७३॥

शंखचूड के ऐसा कहते-न-कहते, जीमूतवाहन की स्त्री और उसके माता-पिता शीघ्रता-पूर्वक वहाँ आ पहुँचे॥१७४॥

विलुप्ताङ्गं च तं दृष्टवा पितरौ तस्य तत्क्षणम्।
चक्रन्दतुस्तौ हा पुत्र हा हा जीमूतवाहन॥१७५॥
हा कारुणिक हा वत्स परार्थप्रत्तजीवित।
हा कथं वैनतेयेदमविमृश्य कृतं त्वया॥१७६॥
एतच्छ्रुत्वैव तार्क्ष्योऽत्र सोऽनुतप्तो व्यचिन्तयत्।
हा कथं बोधिसत्त्वांशः संमोहाद्भक्षितो मया॥१७७॥
जीमूतवाहनः सोऽयं परार्थप्राणदायकः।
यस्य भ्रमति कृत्स्नेऽस्मिंस्त्रैलोक्ये कीर्त्तिघोषणा॥१७८॥
तन्मे मृतेऽस्मिन्पापस्य प्राप्तमग्निप्रवेशनम्।
अधर्मविषवृक्षस्य पच्यते स्वादु किं फलम्॥१७९॥
इति चिन्ताकुले तार्क्ष्ये दृष्ट्वा बन्धून्निपत्य सः।
व्रणव्यथायां पञ्चत्वं प्राप जीमूतवाहनः॥१८०॥
ततो विलपतोस्तत्र तत्पित्रोः शोकदीनयोः।
उत्क्रुश्य मुहुरात्मानं शङ्खचूडे च निन्दति॥१८१॥
भार्या मलयवत्यस्य नभो दृष्ट्वाश्रुगद्गदम्।
पूर्वप्रसन्नां वरदामित्युपालभताम्बिकाम्॥१८२॥
विद्याधराधिपो भाविचक्रवर्त्ती पतिस्तव।
भवितेत्यहमादिष्टा देवि गौरि तदा त्वया॥१८३॥
तन्मिथ्यावादिनी जाता त्वमप्यसि कथं मयि।
इत्युक्तवत्यां तस्यां सा गौरी प्रत्यक्षतामगात्॥१८४॥
न मे मिथ्या वचः पुत्रीत्युक्त्वा सा स्वकमण्डलोः।
अमृतेनाशु जीमूतवाहनं सिञ्चतिस्मतम्॥१८५॥
तेन सोऽक्षतसर्वाङ्गः पूर्वाधिकतरद्युतिः।
जीवन्सद्यः समुत्तस्थौ कृती जीमूतवाहनः॥१८६॥
उत्थितं प्रणतं तं च सर्वेषु प्रणमत्सु सा।
उवाच देवी तुष्टास्मि देहदानेन तेऽमुना॥१८७॥
तदेषा त्वाभिषिञ्चामि पुत्रात्मीयेन पाणिना।
विद्याधराणामाकल्पं चक्रवर्त्तिपदेऽधुना॥१८८॥
एवं वदन्ती जीमूतवाहनं कलशाम्बुभिः।
तमभ्यषिञ्चच्छर्वाणी पूजिता च तिरोदधे॥१८९॥

जीमूतवाहन के माता-पिता ने जब नष्ट अंगोंवाले अपने पुत्र को देखा; तब तत्क्षण वे रोने लगे—"हा पुत्र ! हा जीमूतवाहन ! हा दयालु ! हा वत्स ! हा दूसरे के लिए प्राण देनेवाले ! हाय, वैनतेय (गरुड) ने विना सोचे-विचारे तुम्हारी यह क्या दशा कर डाली ?"॥१७५-१७६॥

यह सुनते ही पश्चात्ताप करते हुए गरुड ने सोचा—"हाय, मैंने भ्रम में पड़कर बोधिसत्त्व के इस अंश को कैसे खा लिया ? यह तो दूसरों के लिए प्राण देनेवाला वही जीमूतवाहन है, जिनका सुयश तीनों लोकों में फैला हुआ है। अतः, यदि इसकी मृत्यु हो गई, तो मुझ पापी को अग्नि में प्रवेश करना पड़ेगा, क्योंकि अधर्म-रूपी विष-वृक्ष का फल क्या पककर मीठा हो सकता है ?" ॥१७७–१७९॥

इधर जब गरुड इस प्रकार चिन्ता से विकल हो रहा था, जीमूतवाहन नें अपने सम्बन्धियों की ओर देखा और कटे हुए अंगों की पीडा से गिरकर मर गया ॥१८०॥

तब उसके शोकार्त्त माता-पिता रोने लगे, शंखचूड बार-बार अपने को कोसता हुआ अपनी निन्दा करने लगा, किन्तु उसकी स्त्री मलयवती आँखों में आँसू भरकर आकाश की ओर देखती हुई उस अम्बिका को उलाहना देने लगी, जिसने पहले प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया था ॥१८१-१८२॥

वह बोली—'देवि ! उस समय तो आपने मुझे आदेश दिया था कि तुम्हारा पति विद्याधरों का चक्रवर्त्ती राजा होगा; फिर आप मेरे लिए मिथ्यावादिनी कैसे हो गईं ?" उसके ऐसा कहने पर गौरी स्वयं प्रकट हो गईं ॥१८३-१८४॥

'बेटी ! मेरी बात झूठी नहीं है', ऐसा कहकर उन्होंने अपने कमण्डलु के अमृत से जीमूतवाहन को सींच दिया ॥१८५॥

इससे उसके सभी अंग क्षत-रहित हो गये और वह कृती जीमूतवाहन पहले से भी अधिक द्युतिमान् होकर शीघ्र ही जी उठा ॥१८६॥

जीमूतवाहन ने उठकर जब देवी को प्रणाम किया, तो औरों ने भी उनका अभिवादन किया। तब देवी ने जीमूतवाहन से कहा—"तुम्हारे इस देहदान से मैं सन्तुष्ट हूँ, इसलिए मैं अपने हाथों चक्रवर्त्ती-पद पर तुम्हारा अभिषेक करती हूँ। तुम एक कल्प तक विद्याधरों पर राज्य करोगे" ॥१८७-१८८॥

यह कहकर देवी ने कलश के जल से जीमूतवाहन का अभिषेक किया। अनन्तर, पूजित होकर वे अन्तर्हित हो गईं ॥१८९॥

निपेतुश्चात्र तत्कालं दिव्याः कुसुमवृष्टयः।
नदन्ति स्म च सानन्दं देवदुन्दुभयो दिवि॥१९०॥
अथोवाच स तं प्रह्वस्ताक्ष्यो जीमूतवाहनम्।
चक्रवर्त्तिन्नहं प्रीतः पुरुषातिशये त्वयि॥१९१॥
अपूर्वोदारमतिना त्रिजगत्कौतुकावहम्।
ब्रह्माण्डभित्तिलिखितं येन चित्रमिदं कृतम्॥१९२॥
तन्मां प्रशाधि मत्तश्च वृणुष्वाभीप्सितं वरम्।
इत्युक्तवन्तं गरुडं महासत्त्वो जगाद सः॥१९३॥
न भक्ष्याः सानुतापेन भूत्वा नागाः पुनस्त्वया।
तेऽप्यस्थिशेषा जीवन्तु ये त्वया पूर्वभक्षिताः॥१९४॥
एवमस्तु न भोक्ष्येऽहं नागाञ्शान्तमतः परम्।
प्राग्ये च भुक्तास्ते जीवन्त्विति ताक्ष्योऽप्युवाच सः॥१९५॥
ततोऽस्थिशेषा येऽप्यासन्नागास्तत्पूर्वभक्षिताः।
तेऽपि सर्वे समुत्तस्थुस्तद्वरामृतजीविताः॥१९६॥
सुरैर्नागैर्मुनिगणैः सानन्दैर्मिलितैरथ।
स लोकत्रितयाभिख्यामुवाह मलयाचलः॥१९७॥
तत्कालं तं च जीमूतवाहनोदन्तमद्भुतम्।
गौर्याः प्रसादाद्विविदुः सर्वे विद्याधरेश्वराः॥१९८॥

आगत्य ते च चरणावनता हिमाद्रि
निन्युः क्षणान्मुदितबन्धुसुहृत्समेतम्।
तं पार्वतीस्वकरक्लृप्तमहाभिषेकं
सच्चक्रवर्त्तिनमथ प्रतिमुक्ततार्क्ष्यम्॥१९९॥

तत्र स पित्रा मात्रा मित्रावसुना च मलयवत्या च'
निजगृहगतागतेन च संयुक्तः शङ्खचूडेन॥२००॥
लोकोत्तरचरिताद्भुतसिद्धां जीमूतवाहनः सुचिरम्।
अभजत रत्नोपचितां विद्याधरचक्रवर्त्तिधुरम्॥२०१॥
इत्यत्युदाररसरसामाख्याय कथां तदा स वेतालः।
पुनरेव तं त्रिविक्रमसेनं पप्रच्छ राजानम्॥२०२॥
तद्ब्रूहि,शङ्खचडः किं वा जीमूतवाहनोऽभ्यधिकः।
सत्त्वेन तयोरुभयोः पूर्वोक्तश्चात्र समयस्ते॥२०३॥

उस समय वहाँ दिव्य पुष्पों की वृष्टि हुई और आकाश में आनन्दपूर्वक देवताओं की दुन्दुभियाँ बजने लगीं ॥१९०॥

अब गरुड ने विनत होकर जीमूतवाहन से कहा—"चक्रवर्त्तिन्! मैं आपके अपूर्व पराक्रम से प्रसन्न हूँ। आपने अपनी अद्‌भुत उदार बुद्धि से तीनों लोकों को अचरज में डालनेवाले अपने इस कृत्य का आलेख ब्रह्माण्ड की भित्ति पर लिख दिया है। अतः, आप मुझे आज्ञा दीजिए और मेरे द्वारा अभीप्सित वर प्राप्त कीजिए।" गरुड के ऐसा कहने पर महापराक्रमी जीमूतवाहन उससे बोला—॥१९१–१९३॥

"तुम्हें पश्चात्ताप करते हुए पुनः सर्पों को न खाना चाहिए। जिन सर्पों को तुम पहले खा चुके हो और जिनकी हड्डियाँ ही बच रही हैं, वे भी पुनः जी जायँ" ॥१९४॥

गरुड ने कहा—"ऐसा ही होगा। अब से शान्तिपूर्वक रहता हुआ मैं सर्पों को नहीं खाऊँगा। पहले मैंने जिन सर्पों को खाया है, वे भी जीवित हो जायँ" ॥१९५॥

अनन्तर, गरुड ने जिन सर्पों को पहले खाया था और जिनकी हड्डियाँ ही बच रही थीं, वे सभी सर्प, गरुड़ के वर-रूपी अमृत से, जीकर उठ खड़े हुए ॥१९६॥

देवताओं, नागों और मुनियों के आनन्दपूर्वक एकत्र होने के कारण, उस मलयाचल को मानों त्रिलोक की संज्ञा मिल गई ॥१९७॥

गौरी की कृपा से सभी विद्याधरों ने बात-की-बात में जीमूतवाहन के इस अद्‌भुत कृत्य की बात जान ली ॥१९८॥

पल-भर में वे सभी राजा वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने जीमूतवाहन के चरणों में झुककर प्रणाम किया। जीमूतवाहन ने जब गरुड को विदा कर दिया, तब वे उसके सम्बन्धियों और मित्रों के सहित उसे हिमालय पर्वत पर ले गये, जहाँ पार्वती ने अपने हाथों अभिषेक करके उसे चक्रवर्त्ती का पद दिया ॥१९९॥

जीमूतवाहन ने वहाँ अपने पिता, माता, मित्रावसु, मलयवती तथा घर जाकर लौटे हुए शंखचूड के साथ रहते हुए, बहुत दिनों तक विद्याधरों के चक्रवर्त्ती सम्राट् का पद सँभाला। उसका साम्राज्य उन रत्नों से भरा-पूरा था, जिन्हें उसने अपने अलौकिक कार्यों के द्वारा अद्‌भुत रूप से प्राप्त किया था ॥२००-२०१॥

वेताल ने यह अत्यन्त उदार और सरस कथा सुनाकर राजा त्रिविक्रमसेन से फिर पूछा—"अब यह बतलाओ कि उन दोनों में अधिक पराक्रमी शंखचूड था या जीमूतवाहन? इसमें भी पहले कही हुई शर्त्त रहेगी" ॥२०२-२०३॥

इत्यस्माद्वेतालाच्छ्रुत्वा मौनं विहाय शापभयात् ।
तमुवाच स त्रिविक्रमसेनो नृपतिर्निरुद्वेगः ॥२०४॥
बहुजन्मसिद्धमेतच्चित्रं जीमूतवाहनस्य कियत् ।
श्लाघ्यः स शङ्खचूडो मरणोत्तीर्णोऽपि यो रिपवे ॥२०५॥
अन्यप्रत्तात्मानं प्राप्य सुदूरं गताय तार्क्ष्याय ।
पश्चाद्धावन्गत्वा स्वं देहमुपानयत्प्रसभम् ॥२०६॥
एतन्निशम्यैव नृपस्य तस्य वाक्यं स वेतालवरो जगाम् ।
पुनः स्वधामैव तदंसपृष्ठान्नृपोऽपि तं सोऽनुययौ तथैव ॥२०७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके त्रयोविंशस्तरङ्गः ।

चतुर्विंशस्तरङ्गः

सप्तदशो वेतालः । उन्मादिन्याः कथा

ततो गत्वा पुनस्तस्मात्स राजा शिंशपातरोः ।
तं त्रिविक्रमसेनोंऽसे वीरो वेतालमग्रहीत् ॥१॥
प्रस्थितं च ततस्तं स वेतालः स्कन्धतोऽब्रवीत् ।
राजञ्श्रमविनोदाय शृण्वतां वच्मि ते कथाम् ॥२॥
अखण्डधर्ममर्यादं गङ्गाकूले कृतास्पदम् ।
कलेरगम्यं कनकपुरं नाम्नाभवत्पुरम् ॥३॥
तस्मिन्यशोधनाख्योऽभूदन्वर्थो वसुधाधिपः ।
ररक्ष विप्लवाम्भोधेर्यो वेलाद्रिरिव क्षितिम् ॥४॥
जगदाह्लादकश्चण्डप्रतापोऽखण्डमण्डलः ।
विधिना यश्च चन्द्रार्कावेकीकृत्येव निर्ममे ॥५॥
मौर्ख्यं परपरीवादे न शास्त्रार्थे दरिद्रता ।
दोषे न कोषदण्डाभ्यां यस्यासीच्च महीपतेः ॥६॥
पापभीरुर्यशोलुब्धः षण्डः परपुरन्ध्रिषु ।
यः शौर्यौदार्यशृङ्गारमयो जनतया जगे ॥७॥
तस्य राज्ञः पुरे तस्मिन्नभूदेको महावणिक् ।
उन्मादिनीति ख्याता च कन्या तस्याभवत्सुता ॥८॥

वेताल की यह बात सुनकर, शाप के भय से, राजा त्रिविक्रमसेन ने मौन छोड़ दिया और उद्वेग-रहित होकर कहा—"जीमूतवाहन ने जो कुछ किया, उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि उसे अनेक जन्मों की सिद्धियाँ प्राप्त थीं। सराहने योग्य तो शंखचूड ही है; क्योंकि उसे मृत्यु से छुटकारा मिल गया था, उसके शत्रु को किसी और ने अपना शरीर अर्पित कर दिया था और गरुड उसे ले कर दूर चला गया था। फिर भी, वह भागा-भागा उनके पीछे वहाँ गया और उसने हठपूर्वक अपना शरीर प्रस्तुत किया" ॥२०४–२०६॥

राजा की यह बात सुनते ही, उनके कन्धे से उतरकर, वह वेताल फिर अपनी जगह जा पहुँचा। राजा ने भी उसी तरह उसका पीछा किया ॥२०७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
शशांकवती लम्बक का त्रयोविंश तरंग समाप्त।

चतुर्विंश तरंग

सप्तदश वेताल : उन्मादिनी की कथा

अनन्तर, पुनः उस शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर उस वीर राजा त्रिविक्रमसेन ने वेताल को कन्धे पर उठा लिया ॥१॥

राजा जब चले, तब वेताल ने उनके कन्धे पर से कहा—"राजन्! सुनो, थकावट दूर करने के लिए मैं तुम्हें यह कथा सुनाता हूँ" ॥२॥

गंगा के किनारे कनकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ मानों धर्म की अखड मर्यादा ने अपना निवास बना रखा था, जिस कारण वहाँ कलि की पहुँच नहीं हो सकती थी ॥३॥

वहाँ यशोधन नाम का, अपने नाम को सार्थक करनेवाला, एक राजा था। जैसे समुद्रतट के पर्वत विक्षुब्ध सागर से धरती की रक्षा करते हैं, वैसे ही वह भी सब प्रकार की आपत्तियों से पृथ्वी की रक्षा करता था ॥४॥

अखण्ड सीमाओंवाले उस राजा को विधाता ने मानों चन्द्रमा और सूर्य के सम्मिश्रण से बनाया था; क्योंकि जहाँ वह जगत् को आनन्द देनेवाला था, वहीं उसका प्रताप प्रचण्ड था ॥५॥

वह राजा परनिन्दा करने में मूर्ख था, शास्त्रार्थ में नहीं; उसमें दुर्गुणों की दरिद्रता थी, राजकोष और सेनाओं की नहीं ॥६॥

उसकी प्रजा उसका गुणगान करती हुई कहती थी कि वह पापों से डरता है, यश का लोभी है, परस्त्री के लिए नपुंसक है और वीरता, उदारता तथा शृंगार से युक्त है ॥७॥

उस राजा के नगर में एक महासेठ था, जिसकी कन्या उन्मादिनी नाम से प्रसिद्ध थी ॥८॥

यो यस्तां हि ददर्शात्र स स तद्रूपसम्पदा।
उन्माद्यति स्म मदनस्यापि मोहनशक्तया॥९॥
तस्यां च यौवनस्थायां स गत्वा तत्पिता वणिक्।
यशोधनं तं राजानं नीतिवेदी व्यजिज्ञपत्॥१०॥
त्रैलोक्यरत्नभूता मे प्रदेयास्ति सुता प्रभो।
तामनावेद्य देवस्य नान्यस्मै दातुमुत्सहे॥११॥
देवोऽपि सर्वरत्नानां प्रभुः कृत्स्नेऽपि भूतले।
तत्स्वीकृत्यानुगृह्णातु देवस्तां प्रतिमुच्य वा॥१२॥
इत्याकर्ण्य वणिग्वाक्यं स राजा ब्राह्मणान्निजान्।
सादरं व्यसृजत्तस्याः सौलक्षण्यमवेक्षितुम्॥१३॥
ते गत्वा ब्राह्मणा दृष्ट्वा तां त्रैलोक्यैकसुन्दरीम्।
सद्यः क्षोभं ययुः क्षिप्राल्लब्ध्वा धैर्यमचिन्तयन्॥१४॥
इमां प्राप्नोति चेद्राजा तद्राष्ट्रमवसीदति।
एतन्मोहितचित्तो हि किं स राज्यमवेक्षते॥१५॥
तस्मात्सुलक्षणेत्येषा नाख्येया क्षितिपाय नः।
इत्येव मन्त्रं संमन्त्र्य राज्ञस्ते जग्मुरन्तिकम्॥१६॥
कुलक्षणा सा देवेति तमूचुश्चात्र ते मृषा।
तेन राजा स नैवेतां स्वीचकार वणिक्सुताम्॥१७॥
ततस्तदाज्ञया तां स कन्यामुन्मादिनीं पिता।
वणिग्बलधराख्याय तत्सेनापतये ददौ॥१८॥
अथ सा तद्गृहे तस्थौ भर्त्रा तेन समं सुखम्।
कुलक्षणेत्यहं राज्ञा त्यक्तेत्यात्तविमानना॥१९॥
याति काले च जात्वत्र हत्वा हेमन्तहस्तिनम्।
फुल्लकुन्दलतादन्तं मथिताम्बुजिनीवनम्॥२०॥
आजगाम लसत्पुष्पमञ्जरीकेसरावलिः।
चूताङ्कुरनखः क्रीडन्कानने मधुकेसरी॥२१॥
तत्कालं चात्र नगरे तं वसन्तमहोत्सवम्।
स राजा निर्ययौ द्रष्टुं गजारूढो यशोधनः॥२२॥
तद्रूपालोकसम्भाव्यविप्लवाः कुलयोषितः।
अपसारयितुं दत्तं तदा चोद्घोषडिण्डिमम्॥२३॥

उसकी रूपसम्पदा को जो कोई भी देखता, वह उसकी मोहिनी-शक्ति से उन्मत्त हो जाता था। उसका सौन्दर्य कामदेव को भी विचलित करनेवाला था ॥९॥

जब वह युवती हुई, तब नीति जाननेवाले उसके पिता, उस सेठ ने राजा यशोधन के पास जाकर निवेदन किया कि 'प्रभो ! मुझे त्रैलोक्य के रत्न के समान अपनी कन्या का विवाह करना है; किन्तु आपसे निवेदन किये विना उसका विवाह करने का साहस मुझे नहीं होता। समस्त संसार में, सभी रत्नों के स्वामी आप ही हैं; अतः या तो उसे स्वीकार करके आप मुझे अनुगृहीत करें या अस्वीकार कर दें ॥१०–१२॥

वणिक् की यह बात सुनकर राजा ने उस कन्या के शुभ लक्षणों को देखने के लिए आदरपूर्वक अपने ब्राह्मणों को भेजा ॥१३॥

उन ब्राह्मणों ने वहाँ जाकर ज्योंही तीनों लोकों में अपूर्व रूपवाली उस कन्या को देखा, त्योंही उनका चित्त चंचल हो गया; किन्तु शीघ्र ही धैर्य धारण करके उन लोगों ने सोचा कि 'यदि राजा इस कन्या से विवाह करेगा, तो उसका राज्य नष्ट हो जायगा; क्योंकि इसके द्वारा मोहित चित्तवाला राजा क्या राज्य की देखभाल कर सकेगा ? अतः, हमलोग राजा से यह न कहेंगे कि यह सुलक्षणा है।' ऐसा सोच-विचारकर वे राजा के पास गये ॥१४–१६॥

उन लोगों ने राजा से झूठ ही कहा कि 'देव ! वह तो कुलक्षणा है।' इससे राजा ने उस वणिक्-कन्या को स्वीकार नहीं किया ॥१७॥

तब उसके पिता उस वणिक् ने राजा की आज्ञा से अपनी कन्या उन्मादिनी का विवाह बलधर नामक सेनापति से कर दिया ॥१८॥

वह अपने पति के साथ उसके घर में सुखपूर्वक रहने लगी; किन्तु उसके मन में इस अपमान की फाँस बनी रही कि राजा ने कुलक्षणा कहकर मेरा त्याग किया है ॥१९॥

समय पाकर खिली हुई कुन्दलता के दाँतोंवाले तथा कमलिनी-वन को मथनेवाले हेमन्त-रूपी हाथी को मारकर वसन्त-रूपी सिंह आ पहुँचा, पुष्प-मंजरियाँ उसके केसर के समान तथा आम्र-मंजरियाँ उसके नख के समान जान पड़ती थीं और यह वन में क्रीडा कर रहा था ॥२०-२१॥

उस समय राजा यशोधन हाथी पर चढ़कर नगर में हो रहे वसन्त-महोत्सव को देखने के के लिए निकला ॥२२॥

राजा के रूप को देखकर कुलस्त्रियों के मन में कहीं विक्षोभ न हो, इस आशंका को दूर करने के लिए घोषणा का डिण्डिम बजाया गया ॥२३॥

सा श्रुत्वोन्मादिनी तस्मै राज्ञे स्वगृहहर्म्यतः।
आत्मानं दर्शयामास परित्यागावमानतः ॥२४॥
स च तां चक्षुभे दृष्ट्वा राजा ज्वालामिवोद्गताम्।
सन्धुक्षितस्य कामाग्नेर्मधुना मलयानिलैः ॥२५॥
निर्वर्णयंश्च तद्रूपं जैत्रमस्त्रं मनोभुवः।
गाढं प्रविष्टं हृदये क्षणान्मोहमुपाययौ ॥२६॥
भृत्यैराश्वासितश्चात्र राजधानीं प्रविश्य सः।
पृष्टेभ्यो बुबुधे तेभ्यस्तां प्रागुपनतोज्झिताम् ॥२७॥
ततो निर्वास्य देशात्तांस्तत्कुलक्षणवादिनः।
विप्राननुदिनं दद्ध्यौ तामेवोत्कः स भूपतिः ॥२८॥
अहो जडात्मा निर्लज्जश्चन्द्रो नित्यमुदेति यत्।
जगन्नेत्रोत्सवे तस्या निष्कलङ्के मुखे सति ॥२९॥
कठोरौ हेमकलशौ गजकुम्भौ च कर्कशौ।
लभेते नोपमामस्याः स्तनयोः पीनतुङ्गयोः ॥३०॥
काञ्चीनक्षत्रमालाङ्कं तत्तस्या जघनस्थलम्।
कं न कन्दर्पमातङ्गमस्तकाभं विलोभयेत् ॥३१॥
इति तां चिन्तयन्नन्तः क्षीयते स्म दिने दिने।
कामाग्निपुटपाकेन पच्यमानः स भूपतिः ॥३२॥
ह्रिया निगूहमानश्च पृच्छद्भ्यो बाह्यलक्षणैः।
कृच्छ्राच्छशंस चाप्तेभ्यः स्वपीडाकारणं स तत् ॥३३॥
अलं सन्तप्य भजते स्वाधीनां तर्हि किं न ताम्।
इत्युक्तस्तैश्च नैवेतदनुमेने स धार्मिकः ॥३४॥
ततो बलधरो बुद्ध्वा स सेनापतिरेत्य तम्।
प्रभुमभ्यर्थयामास सद्भक्तश्चरणानतः ॥३५॥
दासस्त्री तव दास्येव सा देव न पराङ्गना।
स्वयं चाहं प्रयच्छामि तद्भार्यां स्वीकुरुष्व मे ॥३६॥
अथवा तां त्यजामीह देव देवकुले ततः।
न दोषो ग्रहणे तस्यास्तव देवकुलस्त्रियः ॥३७॥

उस घोषणा को सुनकर, त्यक्त किये जाने की अवमानना से, उन्मादिनी ने अपने भवन की छत से राजा को अपने-आप को दिखलाया ॥२४॥

उसे देखकर राजा के मन में कामाग्नि की ज्वाला सुलग उठी, मानो वसन्त ने मलय-पवन के द्वारा उसे भड़का दिया हो ॥२५॥

कामदेव के विजयास्त्र के समान उसकी सुन्दरता को देखते ही वह राजा के हृदय में गहरे घुस गई और पलक मारते ही राजा संज्ञाहीन हो गया ॥२६॥

उसके भृत्य उसे सँभालकर राजधानी में ले आये। उनसे पूछने पर उसे मालूम हुआ कि यह वही कन्या है, जो उसे निवेदित की गई थी, पर जिसे उसने त्याग दिया था ॥२७॥

जिन ब्राह्मणों ने उसे कुलक्षणा कहा था, राजा ने उन्हें देशनिकाला दे दिया। वह दिनानुदिन उसी स्त्री के लिए उत्कण्ठित रहने लगा ॥२८॥

राजा सोचता—"अरे, यह जड हृदयवाला चन्द्रमा कैसा निर्लज्ज है, जो जगत् की आँखों के लिए उत्सव के समान उसके निष्कलंक मुख के रहते प्रतिदिन उदित होता है ? उसके पीन और उन्नत स्तनों की उपमा न तो स्वर्ण-कलशों से दी जा सकती है, न गज-कुम्भों से ही; क्योंकि पहला कठोर है, दूसरा कर्कश। करधनी की नक्षत्रमाला से अंकित उसकी जाँघें, कामदेव के हाथी की सूँड़ के समान किसे प्रलुब्ध नहीं करतीं ?" ॥२९-३१॥

इस प्रकार मन-ही-मन उसके बारे में सोचता हुआ वह राजा, कामाग्नि में पकता-सा, दिन-दिन क्षीण होने लगा ॥३२॥

लज्जा के कारण यद्यपि उसने अपनी भावना को छिपा रखा था, किन्तु बाहरी लक्षणों को देखकर विश्वासी जनों के पूछने पर बड़ी कठिनाई से उसने अपनी पीडा का कारण बतलाया ॥३३॥

उन्होंने कहा—"इतना दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है। वह तो आप ही के अधीन है, फिर आप उसे अपना क्यों नहीं लेते।" लेकिन, धर्मात्मा राजा ने उनकी बात नहीं मानी ॥३४॥

सेनापति बलधर राजा का भक्त था। जब उसे यह बात मालूम हुई, तब वह राजा के पास आया और उनके चरणों में झुककर बोला—"देव ! आपके दास की वह स्त्री आपकी दासी ही है। वह परस्त्री नहीं है। मैं स्वयं ही उसे आपकी भेंट करता हूँ। आप उसे स्वीकार करें। अथवा प्रभो ! मैं देव-मन्दिर में उसे छोड़ देता हूँ। जब वह देवकुल की स्त्री हो जायगी, तब वहाँ से उसे ग्रहण करने में आपको दोष न लगेगा" ॥३५–३७॥

इति स्वसेनापतिना निर्बन्धेन स पार्थिवः।
तेनानुनाथ्यमानोऽपि सान्तःकोपमुवाच तम् ॥३८॥
राजा भूत्वा कथं कुर्यामिधर्ममहमीदृशम्।
मय्युल्लङ्घितमर्यादे को हि तिष्ठेत्स्ववर्त्मनि ॥३९॥
भक्तोऽपि च भवान्पापे नियोजयति मां कथम्।
परलोकमहादुःखहेतौ क्षणसुखावहे ॥४०॥
न क्षमिष्ये च ते धर्म्यान्दारान्यदि विहास्यसि।
सहते मादृशः को हि तादृशं धर्मविप्लवम् ॥४१॥
तद्वरं मृत्युरित्युक्त्वा स राजा निषिषेध तम्।
त्यजन्त्युत्तमसत्त्वा हि प्राणानपि न सत्पथम् ॥४२॥
तथैवार्थयमानांश्च पौरजानपदानपि।
मिलितान्स निराचक्रे राजा सुदृढनिश्चयः ॥४३॥
ततः क्रमेण तेनैव स्मरज्वरभरोष्मणा।
प्रक्षीणदेहः प्रययौ स यशःशेषतां नृपः ॥४४॥
सेनापतिश्चासहिष्णुस्तं तथा प्रमयं प्रभोः।
सोऽग्निं विवेश भक्तानामनिर्वाच्यं हि चेष्टितम् ॥४५॥
इत्याख्यातकथाश्चर्यो वेतालोंऽसस्थितस्तदा।
स त्रिविक्रमसेनं तं भूयः पप्रच्छ पार्थिवम् ॥४६॥
तदेतयोः को नृपते सेनापतिमहीभृतोः।
सत्त्वेनाभ्यधिको ब्रूहि पूर्वोक्तः समयश्च ते ॥४७॥
इति वेतालतः श्रुत्वा मुक्तमौनः स तं नृपः।
प्रत्युवाच द्वयो राजा सत्त्ववानधिकस्तयोः ॥४८॥
तदाकर्ण्यैव वेतालः साक्षेपस्तमभाषत।
सेनापतिः कथं नात्र राजन्नभ्यधिको वद ॥४९॥
यस्तथा स्वामिने भक्त्या स्वभार्यां तां तथाविधाम्।
सुचिरज्ञाततद्भोगसुखास्वादोऽप्युपानयत् ॥५०॥
आत्मानं चाग्निसाच्चक्रे तस्मिन्पञ्चत्वमागते।
अनास्वादिततद्भोगस्तत्कान्तां तु जहौ नृपः ॥५१॥

अपने ही सेनापति ने जब आग्रहपूर्वक राजा से ऐसी प्रार्थना की, तब आन्तरिक क्रोध के सहित उसने उसे उत्तर दिया—"राजा होकर मैं ऐसा अधर्म कैसे करूँगा? यदि मैं ही मर्यादा का उल्लंघन करूँगा, तो कौन अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर स्थिर रहेगा? मेरे भक्त होकर भी तुम मुझे वैसे पाप में क्यों प्रवृत्त करते हो, जिसमें क्षणिक सुख तो है, पर जो परलोक में महादुःख का कारण है? यदि तुम अपनी धर्मपत्नी का त्याग करोगे, तो मैं तुम्हें क्षमा नहीं करूँगा; क्योंकि मेरे समान कौन राजा ऐसा अधर्म सहन कर सकता है? अतः, मेरे लिए मृत्यु ही श्रेयस्कर है।" ऐसा कहकर राजा ने उसकी बात टाल दी; क्योंकि उत्तम वृत्तिवाले लोग प्राण भले ही त्याग दें, वे सत्पथ का त्याग नहीं करते ॥३८—४२॥

अनन्तर, जब नगर और गाँव के लोगों ने भी मिलकर राजा से यही प्रार्थना की, तब भी दृढ़-निश्चय राजा ने उनकी बात नहीं मानी ॥४३॥

राजा का शरीर धीरे-धीरे उसी काम-ज्वर के ताप से क्षीण होता गया और अन्त में उसका यशःशरीर ही बचा रह गया, अर्थात् उसकी मृत्यु हो गई ॥४४॥

सेनापति ने भी अग्नि में प्रवेश करके प्राण-त्याग कर दिया; क्योंकि अपने स्वामी की वैसी मृत्यु का सहन वह नहीं कर सका। सच है, भक्तों की चेष्टाओं को जाना नहीं जा सकता ॥४५॥

राजा त्रिविक्रमसेन के कन्धे पर स्थित वेताल ने यह आश्चर्यजनक कथा सुनकर राजा से फिर पूछा—"राजन्! बतलाओ कि सेनापति और राजा, इन दोनों में से कौन अधिक दृढचरित्र था? तुम्हें इस सम्बन्ध में पहले ही वाली शपथ है।" ॥४६-४७॥

वेताल का यह प्रश्न सुनकर, राजा ने मौन छोड़कर उसे उत्तर दिया—"उन दोनों में तो राजा ही अधिक दृढचरित्र था" ॥४८॥

यह सुनकर आक्षेप करता हुआ-सा वेताल बोला—"राजन्! उनमें से सेनापति अधिक दृढचरित्र क्यों नहीं था? उसकी स्त्री अलौकिक सुन्दरी थी। उसने बहुत समय तक उसके साथ सुख भोगकर उसका स्वाद जाना था, फिर भी स्वामिभक्ति के कारण वह अपनी वैसी स्त्री को राजा को सौंपने आया था। और फिर, राजा की मृत्यु के बाद उसने स्वयं को भी अग्नि को समर्पित कर दिया। लेकिन, राजा ने उसकी उस पत्नी का त्याग किया था, जिसके भोग-रस का उसने आस्वादन भी नहीं किया था" ॥४९—५१॥

वेतालेनैवमुक्तस्तु विहस्य स नृपोऽब्रवीत्।
यद्यप्येवं तथाप्येतत्किं चित्रं कुलपुत्रकः ॥५२॥
सेनापतिः स भक्त्या यत्स्वाम्यर्थे तत्तथाकरोत्।
प्राणैरपि हि भृत्यानां स्वामिसंरक्षणं व्रतम् ॥५३॥
राजानस्तु मदाध्माता गजा इव निरङ्कुशाः।
छिन्दन्ति धर्ममर्यादाशृङ्खलां विषयोन्मुखाः ॥५४॥
तेषां ह्युद्रिक्तचित्तानामभिषेकाम्बुभिः समम्।
विवेको विगलत्योघेनोह्यमान इवाखिलः ॥५५॥
क्षिप्यन्त इव चोद्धूय चलच्चामरमारुतैः।
वृद्धोपदिष्टशास्त्रार्थरजोमशकमक्षिकाः ॥५६॥
आतपत्रेण सत्यं च सूर्यालोको निवार्यते।
विभूतिवात्योपहता दृष्टिमार्गं च नेक्षते ॥५७॥
ते ते च विपदं प्राप्ता मारमोहितचेतसः।
जगद्विजयिनोऽपीह राजानो नहुषादयः ॥५८॥
एष राजा पुनः पृथ्व्यामेकच्छत्रोऽपि यत्तया।
उन्मादिन्या चपलया लक्ष्येव न विमोहितः ॥५९॥
प्राणानपि स धर्मात्मा तत्याज न पुनः पदम्।
अमार्गे निदधे धीरस्तेनासौ मेऽधिको मतः ॥६०॥
इत्याकर्ण्य नृपस्य तस्य वचनं भूयस्तदंसस्थला-
द्वेतालः सहसा स्वमेव स पदं मायाप्रभावाद्ययौ।
राजाप्यन्वसरत्तथैव स पुनः सम्प्राप्तुमेतं जवा-
दारब्धे हि सुदुष्करेऽपि महतां मध्ये विरामः कुतः ॥६१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके चतुर्विंशस्तरङ्गः।

पञ्चविंशस्तरङ्गः

अष्टादशो वेतालः (ब्राह्मणकुमारस्य कथा)

ततः पितृवने तस्मिन्क्रव्यभक्षिभिरावृते।
ज्वालाविलोलरसनैर्भूतैरिव चिताग्निभिः ॥१॥
गत्वैव तस्यामक्षोभ्यः क्षपायां शिंशपातरुम्।
स त्रिविक्रमसेनस्तमाससाद पुनर्नृपः ॥२॥

वेताल के ऐसा कहने पर राजा हँसकर बोला—"कहते तो तुम ठीक ही हो, लेकिन इसमें अचरज की क्या बात है ? सेनापति कुलीन वंश का था। उसने जो स्वामी की भक्ति से वैसा किया, तो उचित ही किया; क्योंकि सेवक का तो कर्त्तव्य ही है कि वह प्राण देकर भी स्वामी की रक्षा करे। लेकिन, राजा तो मदमत्त हाथी की तरह निरंकुश होते हैं। वे जब विषय-लोलुप होते हैं, तब धर्म और मर्यादा की शृंखलाएँ तोड़ देते हैं। निरंकुश चित्तवाले राजाओं का विवेक, अभिषेक के जल से उसी प्रकार बह जाता है, जैसे बाढ़ के पानी में सब कुछ बह जाता है। डुलते हुए चँवर की वायु जैसे रज-कण, मच्छर और मक्खियों को दूर उड़ा देती है, वैसे ही वृद्धों के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों के अर्थ तक को दूर भगा देती है। उनका छत्र जैसे धूप को रोकता है, वैसे ही सत्य को भी ढक देता है। वैभव की आँधी में चौंधियाई हुई उनकी आँखें उचित मार्ग नहीं देख पातीं। नहुष आदि राजा जगद्विजयी थे, फिर भी जब उनका चित्त काम-मोहित हो गया, तब उन्हें अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। यह राजा भी पृथिवी का एकच्छत्र शासक था, फिर भी वह लक्ष्मी के समान चंचला उन्मादिनी के द्वारा विमोहित नहीं हुआ। उस धर्मात्मा और धीर राजा ने अपने प्राण त्याग दिये, किन्तु कुमार्ग पर पैर नहीं रखे। इसी से मैं उसे अधिक दृढ़ चरित्रवाला मानता हूँ" ॥५२–६०॥

उस राजा की ये बातें सुनकर वह वेताल अपनी माया के प्रभाव से उसके कन्धे से उतरकर अचानक फिर अपनी जगह जा पहुँचा। राजा ने भी उसी प्रकार फिर उसे प्राप्त करने के लिए शीघ्रतापूर्वक उसका अनुसरण किया। महान् पुरुष जब कोई काम आरम्भ कर देते हैं, वह चाहे जितना भी कठिन क्यों न हो, तब फिर बीच में वे कब रुक सकते हैं ? ॥६१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का चतुर्विंश तरंग समाप्त ।

पंचविंश तरंग

अष्टाविंश वेताल : ब्राह्मणकुमार की कथा

अनन्तर, उस रात में निर्भय चित्तवाला राजा त्रिविक्रमसेन श्मशान में फिर उसी शिंशपा-वृक्ष के पास जा पहुँचा। वह श्मशान चिता की अग्नि और मांसभक्षी उन भूतों से भरा हुआ था, जिनकी जीमें आग की चंचल लपटों के समान जान पड़ती थीं ॥१-२॥

तत्रापश्यच्च वेतालविकृतान्सदृशाकृतीन्।
उल्लम्बमानान्सुबहून्प्रेतकायानशङ्कितम् ॥३॥
अहो किमेतत्किवान्यन्मायी कालं क्षिपत्ययम्।
वेतालो मे न वेद्म्येषां ग्राह्यं येनेह भूयसाम् ॥४॥
असिद्धार्थस्य चेद्रात्रिरियं मम गमिष्यति।
ततो वह्निं प्रवेक्ष्यामि न सहिष्ये तु हास्यताम् ॥५॥
इति चिन्तयतस्तस्य राज्ञो विज्ञाय निश्चयम्।
सत्त्वतुष्टः स वेतालः स्वमायां संजहार ताम् ॥६॥
ततो दृष्ट्वैकमेवात्र वेतालं नृकलेवरे।
अवतीर्य गृहीत्वांसे स प्रतस्थे पुनर्नृपः ॥७॥
प्रक्रामन्तं च तं भूयः स वेतालोऽभ्यभाषत।
राजन्नोद्विजसे चित्रं तदिमां मे कथां शृणु ॥८॥
अस्ति गौरीतपःक्लेशवृतेन त्रिपुरारिणा।
असामान्यगुणोत्कर्षलुब्धेनेव स्वयं वृता ॥९॥
भोगवत्यमरावत्योस्तृतीयोज्जयिनी पुरी।
उदारसुकृतप्राप्यनानाभोगोपबृंहिता ॥१०॥
यस्यां स्तब्धत्वकार्कश्ये कुचेषु वरयोषिताम्।
तासामेव भ्रुवोर्भङ्गो लोचनेषु च चापलम् ॥११॥
तमो निशासु वक्रत्वं यस्यां कविवरोक्तिषु।
मदो दन्तिषु जाड्यं च मुक्तामलयजेन्दुषु ॥१२॥
तस्यां चन्द्रप्रभाख्यस्य राज्ञोऽमात्यो बहुश्रुतः।
देवस्वामीत्यभूद्विप्रो भूरियज्ञो महाधनः ॥१३॥
तस्य कालेन तनयश्चन्द्रस्वामीत्यजायत।
सोऽधीतविद्योऽपि युवा द्यूतैकव्यसनोऽभवत् ॥१४॥
एकदा च द्विजसुतश्चन्द्रस्वामी स काञ्चन।
द्यूतकारमहाठिण्ठां द्यूतेन क्रीडितुं ययौ ॥१५॥
आश्लिष्यामः कमत्रेति विपद्भिरिव वीक्षितुम्।
विक्षिप्तैः कृष्णशाराभैर्नेत्रैरक्षैर्निरन्तराम् ॥१६॥
कः सोऽस्ति न श्रियं यस्य हराम्यप्यलकापतेः।
इतीव तन्वतीं नादान्द्यूतकृत्कलहस्वनैः ॥१७॥

वहाँ उसने बहुत से प्रेत-शरीरों को लटका हुआ देखा, जो देखने में एक-जैसे थे और जिन सभी में प्रेत का निवास था। यह देख, भयभीत हुए विना ही वह सोचने लगा—"अरे, यह क्या बात है? क्या वह मायावी वेताल इस प्रकार मेरा समय नष्ट कर रहा है? समझ में नहीं आता कि इन बहुत-से शवों में से मैं किसको ले जाऊँ? यदि मेरा काम पूरा हुए विना ही यह रात बीत गई, तो मैं अग्नि में प्रवेश करूँगा—उपहास का पात्र न बनूंगा॥३—५॥

राजा जब ऐसा सोच रहा था, तब उसका यह निश्चय जानकर वेताल उसकी दृढता से सन्तुष्ट हुआ। उसने अपनी वह माया समेट ली॥६॥

तब राजा ने एक ही मनुष्य-शरीर में वेताल को देखा। उसे वृक्ष से उतारकर राजा ने कन्धे पर रखा और वहाँ से प्रस्थान किया॥७॥

चलते हुए राजा से वह वेताल फिर बोला—"राजन्! आश्चर्य है कि तुम ऊबते नहीं हो; अतः मेरी यह कथा सुनो॥८॥

उज्जयिनी नाम की एक नगरी है। नागों की भूमि भोगवती और देवों की भूमि अमरावती के बाद तीसरा स्थान उसी का है। गौरी ने कठिन तपस्या के द्वारा जब शिव का वरण किया, तब इस नगरी के असाधारण गुणों के उत्कर्ष से आकृष्ट होकर शिवजी ने उसे ही अपना निवास-स्थान बनाया। पुण्य की अधिकता से प्राप्त होनेवाले अनेक प्रकार के सुख-भोगों से वह नगरी भरी हुई है॥९-१०॥

वहाँ स्तब्धता और कर्कशता यदि कहीं थी, तो उत्तम स्त्रियों के स्तनों में थी, बाँकपन उन्हीं की भौंहों में था और चपलता आँखों में थी॥११॥

वहाँ अँधेरी रात में, वक्रता कवियों की उक्तियों में, मद हाथियों में और शीतलता मोती, चन्दन तथा चन्द्रमा में थी॥१२॥

वहाँ चन्द्रप्रभ नाम का एक राजा था। उसका मन्त्री एक ब्राह्मण था, जिसका नाम था देवस्वामी। देवस्वामी बड़ा धनवान् था। उसने बहुत-से यज्ञ भी किये थे॥१३॥

समय पाकर उसे चन्द्रस्वामी नाम का एक पुत्र हुआ। यद्यपि उसने विद्याओं का अध्ययन किया था, फिर भी यौवन में उसे जूआ खेलने का व्यसन हो गया॥१४॥

एक बार वह ब्राह्मणपुत्र चन्द्रस्वामी, जूआ खेलने के लिए, किसी बड़े जुआड़खाने में गया॥१५॥

विपत्तियाँ निरन्तर उस भवन को देख रही थीं। वहाँ फेंके जानेवाले पाँसे ही उसकी आँखें थीं। उनका रंग कृष्णमृग के समान था। वे विपत्तियाँ कह रही थीं कि—"देखें, आज यहाँ कौन आकर फँसता है? ॥१६॥

वहाँ जुआड़ियों के लड़ाई-झगड़े की आवाज गूंज रही थी, जो यह कहती-सी जान पड़ती थी कि 'वह कौन है, जिसकी लक्ष्मी का हरण हमसे न हो सकेगा—भले ही स्वयं अलकापति (कुबेर) आ जाय, यहाँ उसकी भी लक्ष्मी लुट जायगी'॥१७॥

तां प्रविश्य क्रमाद्दीव्यन्नक्षैः स कितवैः सह।
वस्त्रादि हारयित्वापि धनमन्यदहारयत्॥१८॥
मृग्यमाणं च यन्नादात्स तद्धनमसम्भवि।
तदवष्टभ्य सभ्येन लगुडैः पर्यताड्यत॥१९॥
लगुडाहतसर्वाङ्गः पाषाणमिव निश्चलम्।
कृत्वा मृतमिवात्मानं तस्थौ विप्रसुतोऽथ सः॥२०॥
तथैव दिवसान्द्वित्रांस्तत्र तस्मिन्नवस्थिते।
क्रुद्धः स सभ्यष्ठिण्ठायां कितवान्स्वानभाषत॥२१॥
श्रितानेनाश्मता तावत्तदेतं क्षिपत क्वचित्।
नीत्वान्धकूपे निःसत्त्वं धनं दास्याम्यहं तु वः॥२२॥
इत्युक्तास्तेन कितवास्तं चन्द्रस्वामिनं ततः।
अरण्यं निन्युरुत्क्षिप्य दूरं कूपगवेषिणः॥२३।
तत्रैको वृद्धकितवस्तानन्यानेवमभ्यधात्।
मृतोऽयं प्रायशस्तत्किं कूपे क्षिप्तेन नोऽमुना॥२४॥
तदिहैवैनमुज्झित्वा वक्ष्यामः कूप उज्झितम्।
इति ते तद्वचः सर्वे तथेति प्रतिपेदिरे॥२५॥
ततस्त्यक्त्वा गतेष्वेषु कितवेषु स उत्थितः।
चन्द्रस्वामी विवेशात्र शून्यमेकं शिवालयम्॥२६॥
तत्र किञ्चित्समाश्वस्य चिन्तयामास दुःखितः।
विश्वस्तो मायया कष्टं मुषितः कितवैरहम्॥२७॥
तदीदृशः क्व गच्छामि नग्नोपहतपांसुलः।
पिता बन्धुः सुहृद्वापि दृष्ट्वा किं हि वदेन्मम॥२८॥
तत्सम्प्रति स्थितोऽस्मीह नक्तं च क्षुत्प्रशान्तये।
पश्यामि निर्गत्य कथं यतिष्ये भोजनं प्रति॥२९॥
इत्यालोचयतस्तस्य क्लान्तस्यानम्बरस्य च।
मन्दीकृतातपोऽस्ताद्रिं रविस्त्यक्ताम्बरो ययौ॥३०॥
तावच्च भूतिदिग्धाङ्गस्तत्रायाति स्म तापसः।
महाव्रती जटाशूलधरो हर इवापरः॥३१॥

चन्द्रस्वामी वहाँ जाकर जुआड़ियों के साथ जूआ खेलने लगा। खेल में वह अपने कपड़े तक हार गया और दूसरों से लिया हुआ धन भी गँवा बैठा ॥१८॥

माँगने पर जब वह उस बहुत ज्यादा रकम को नहीं चुका सका, तब द्यूतशाला के मालिक ने उसे पकड़कर डण्डे से बहुत पीटा ॥१९॥

डण्डे की चोट से उसका सारा शरीर घायल हो गया, तब पत्थर की तरह निश्चल होकर वह ब्राह्मणपुत्र अपने को मुरदे के समान बनाकर वहीं पड़ गया ॥२०॥

जब वह दो-तीन दिनों तक वहीं पड़ा रहा, तब द्यूतशाला के मालिक ने क्रुद्ध होकर अपने जुआड़ियों से कहा—"यह तो पत्थर की तरह हो गया है, अतः इस प्राणहीन को ले जाकर तुम लोग किसी अन्धे कुँए में डाल आओ। तुम्हारा धन मैं तुम्हें दे दूंगा" ॥२१-२२॥

उसके ऐसा कहने पर वे जुआड़ी, चन्द्रस्वामी को उठाकर ले गये और कुएँ की खोज में दूर के एक वन में जा पहुँचे ॥२३॥

वहाँ एक बूढ़े जुआड़ी ने दूसरों से कहा कि, 'यह तो लगभग मर ही चुका है, फिर इसे कुएँ में फेंकने से क्या लाभ है? हमलोग इसे यहीं छोड़ दें और जाकर कहें कि उसे कुएँ में डाल आये हैं।' उन सबने भी उसकी बात का समर्थन किया ॥२४-२५॥

अनन्तर, जब वे जुआड़ी उसे छोड़कर चले गये, तब चन्द्रस्वामी उठा और उसने एक सूने शिवालय में प्रवेश किया ॥२६॥

वहाँ जब उसकी हालत कुछ सुधरी, तब वह दुःखी होकर सोचने लगा—"कैसे दुःख की बात है कि मुझ विश्वासी को उन जुआड़ियों ने ठगकर लूट लिया! मैं नंगा हूँ, घायल हूँ, धूल से भरा हुआ हूँ; अतः ऐसी हालत में कहाँ जाऊँ? मेरे पिता, मेरे सम्बन्धी और मेरे हितैषी मित्र मुझे देखकर क्या कहेंगे? इसलिए, अभी तो मैं यहाँ ठहरता हूँ, रात को बाहर निकलकर देखूंगा कि भूख मिटाने के लिए खाने-पीने का क्या उपाय कर सकता हूँ" ॥२७—२९॥

थका हुआ और वस्त्र-रहित चन्द्रस्वामी ऐसा सोच ही रहा था कि म्लान धूपवाला सूर्य, आकाश को छोड़कर, अस्ताचल पर चला गया ॥३०॥

इसी बीच एक महाव्रती तपस्वी वहाँ आया। उसके समूचे शरीर में विभूति लगी हुई थी तथा जटा और शूल धारण करने के कारण वह दूसरे शिव के समान जान पड़ता था ॥३१॥

स चन्द्रस्वामिनं दृष्ट्वा कोऽसीति परिपृच्छ्य च ।
श्रुत्वा तस्माच्च वृत्तान्तं प्रह्वं तं तापसोऽब्रवीत् ॥३२॥

त्वं ममेहाश्रमं प्राप्तः क्षुत्क्लान्तोऽचिन्तितोऽतिथिः ।
तदुत्तिष्ठ कृतस्नानो भिक्षाभागं ममाहर ॥३३॥

इत्युक्तो व्रतिना सोऽथ चन्द्रस्वामी जगाद तम् ।
विप्रोऽहं भगवन्भोक्ष्ये भिक्षाभागं कथं तव ॥३४॥

तच्छ्रुत्वा स व्रती सिद्धः प्रविश्य मठिकां निजाम् ।
इष्टसम्पादिनीं विद्यां सस्मारातिथिवल्लभः ॥३५॥

संस्मृतोपस्थितां तां च किं करोमीति वदिनीम् ।
अमुष्यातिथ्यमतिथेः कुरुष्वेति शशास ताम् ॥३६॥

तथेत्युक्ते तया तत्र सोद्यानं साङ्गनाजनम् ।
पुरं सौवर्णमुत्पन्नं चन्द्रस्वामी ददर्श सः ॥३७॥

विस्मितं च तमभ्येत्य तस्माद्वाराङ्गनाः पुरात् ।
ऊचुरुत्तिष्ठ भद्रैहि स्नाहि भुङ्क्ष्व त्यज श्रमम् ॥३८॥

इत्युक्त्वाभ्यन्तरं नीत्वा स्नापयित्वानुलिप्य च ।
ताभिः स दत्तसद्वस्त्रो निन्येऽन्यद्वासकोत्तमम् ॥३९॥

तत्रान्तः स ददर्शैकां प्रधानयुवतिं युवा ।
सर्वाङ्गसुन्दरीं धात्रा कौतुकादिव निर्मिताम् ॥४०॥

तया स सोत्कयोत्थाय स्वासनार्धोपवेशितः ।
बुभुजे दिव्यमाहारं तयैवात्र समं ततः ॥४१॥

भुक्तपक्वफलस्वादुताम्बूलः स्वरसेन च ।
पर्यङ्कशयने भेजे तत्सम्भोगसुखं निशि ॥४२॥

प्रातः प्रबुद्धश्चापश्यत्तदेवात्र शिवालयम् ।
नापि दिव्याङ्गनां नापि पुरं तन्न परिच्छदम् ॥४३॥

ततः स विग्नो निर्यातं मठिकातः स्मिताननम् ।
पृष्टरात्रिसुखं प्रातस्तापसं तं व्यजिज्ञपत् ॥४४॥

त्वत्प्रसादादहं रात्रावुषितो भगवन्सुखम् ।
किं तु यास्यन्ति मे प्राणास्तया दिव्यस्त्रिया विना ॥४५॥

चन्द्रस्वामी को देखकर उसने पूछा कि तुम कौन हो? उससे सब वृत्तान्त सुनकर, विनय से झुके हुए चन्द्रस्वामी से उस तपस्वी ने कहा—"यह मेरा आश्रम है। भूख से क्लान्त और चिन्तित तुम मेरे अतिथि हो। अतः, तुम उठकर स्नान करो और भीख माँगकर मैं जो कुछ ले आया हूँ, उसमें हिस्सा बँटाओ" ॥३२-३३॥

उस व्रतधारी के ऐसा कहने पर चन्द्रस्वामी उससे बोला—"भगवन्! मैं ब्राह्मण हूँ। मैं आपकी भीख में हिस्सा बँटाकर कैसे खाऊँगा?" ॥३४॥

यह सुनकर अतिथि का आदर करनेवाला वह सिद्ध व्रतधारी अपनी मठिया में घुस गया। वहाँ उसने इष्टसिद्धि देनेवाली विद्या का स्मरण किया ॥३५॥

याद करते ही वह विद्या सामने आ पहुँची। जब उसने पूछा कि 'मैं क्या करूँ?' तो उस तपस्वी ने आज्ञा दी कि 'मेरे इस अतिथि का आतिथ्य-सत्कार करो' ॥३६॥

चन्द्रस्वामी ने देखा कि 'ऐसा ही होगा' कहकर उसने एक स्वर्ण-नगर उत्पन्न कर दिया, जिसमें बगीचा भी था और स्त्रियाँ भी थीं ॥३७॥

उस नगर से निकलकर वारांगनाएँ विस्मित चन्द्रस्वामी के पास आईं और बोलीं—"भद्र! उठो, आकर स्नान-भोजन करो और थकावट दूर करो" ॥३८॥

यह कहकर वे उसे अन्दर ले गईं। स्नान कराकर उन्होंने उसके शरीर पर अंगराग लगाया। उनके द्वारा दिये गये अच्छे वस्त्र पहनने के बाद वे उसे एक दूसरे उत्तम भवन में ले गईं ॥३९॥

उस भवन के भीतर उसने एक सर्वांगसुन्दरी युवती को देखा, जो उन सबकी प्रधान जान पड़ती थी और जिसे विधाता ने मानों कौतुक से ही गढ़ा था ॥४०॥

उसने उत्कण्ठापूर्वक उठकर चन्द्रस्वामी को अपने आसन के आधे हिस्से में बैठाया। फिर, उसके साथ ही उसने दिव्य भोजन किया ॥४१॥

भोजन के अनन्तर चन्द्रस्वामी ने स्वादिष्ठ और पके हुए फल और फिर पान खाया। रात में उसके साथ पलँग पर सोकर चन्द्रस्वामी ने उसके साथ सम्भोग-सुख प्राप्त किया ॥४२॥

सवेरे उठकर उसने वहाँ केवल वह शिवालय ही देखा। वहाँ न तो वह दिव्यस्त्री थी, न नगर था और न वे दासियाँ ही थीं ॥४३॥

तभी मठिया के भीतर से हँसता हुआ वह तपस्वी निकला। उसके यह पूछने पर कि 'रात सुख से कटी न?' उदास चित्तवाले चन्द्रस्वामी ने उससे कहा—"भगवन्! आपकी कृपा से रात तो मैंने बड़े सुख से बिताई, लेकिन अब, उस दिव्यस्त्री के विना, मेरे प्राण निकले जा रहे हैं" ॥४४-४५॥

तच्छ्रुत्वा स तपस्वी तं हसन्कारुणिकोऽब्रवीत्।
इहैवास्स्व पुनर्नक्तं भविष्यति तथैव ते ॥४६॥
इत्युक्ते व्रतिना तेन तद्युक्त्यैव प्रतिक्षपम्।
चन्द्रस्वाम्यत्र सोऽभुङ्क्त भोगांस्तांस्तत्प्रसादतः ॥४७॥
बुद्ध्वा च तं शनैर्विद्याप्रभावं विधिचोदितः।
एकदा तापसेन्द्रं तं स प्रसाद्यान्वयाचत ॥४८॥
सत्यं कृपा चेद्भगवन्मयि ते शरणागते।
तदेतां देहि मे विद्यां यत्प्रभावोऽयमीदृशः ॥४९॥
इति ब्रुवाणं निर्बन्धात्तं प्रत्याह स तापसः।
असाध्या तव विद्येयं साध्यतेऽन्तर्जले ह्यसौ ॥५०॥
तत्र चैषा सृजत्याशु जपतः साधकस्य तत्।
मायाजालं विमोहाय येन सिद्धि न सोऽश्नुते ॥५१॥
स हि तत्र पुनर्जातं बालमात्मानमीक्षते।
ततो युवानमुद्व्यूढदारं जातात्मजं तथा ॥५२॥
सुहृन्मेऽयमयं शत्रुरिति मिथ्या स मुह्यति।
न च स्मरति जन्मेदं न विद्यासाधने क्रियाम् ॥५३॥
यस्तु त्रिरष्टवर्षः सन्गुरुविद्याप्रबोधितः।
जन्म स्मृत्वा विदित्वा तद्धीरो मायाविजृम्भितम् ॥५४॥
तद्वशोऽप्यत्र कुरुते तथैवाग्निप्रवेशनम्।
परमार्थं जलोत्तीर्णः सिद्धविद्यः स पश्यति ॥५५॥
अन्यस्य न परं विद्या शिष्यस्यैषा हि सिद्ध्यति।
अस्थानार्पणतो यावद्गुरोरपि विनश्यति ॥५६॥
मत्सिद्ध्यैव फले सिद्धे किं ग्रहेणामुना तव।
मत्सिद्धिहान्या मा जातु तवैतदपि नङ्क्ष्यति ॥५७॥
एवं तपस्विनोक्तेऽपि चन्द्रस्वामी ग्रहेण सः।
शिक्ष्यामि सर्वं मा भूद्वश्चिन्तात्रेति तमब्रवीत् ॥५८॥
ततोऽस्मै प्रतिपेदे तां विद्यां दातुं स तापसः।
बताश्रितानुरोधेन किं न कुर्वन्ति साधवः ॥५९॥

यह सुनकर उस दयालु तपस्वी ने हँसते हुए चन्द्रस्वामी से कहा—'यहीं ठहरो। रात में तुम्हें फिर वही सुख मिलेगा" ॥४६॥

तपस्वी के ऐसा कहने पर, उसी युक्ति से, चन्द्रस्वामी हर रात को, उसकी कृपा के परिणामस्वरूप, वे सब सुख भोगने लगा ॥४७॥

धीरे-धीरे इस विद्या का प्रभाव जानकर, दैव-प्रेरणा से, एक दिन चन्द्रस्वामी ने उस तपस्वी को प्रसन्न करके कहा—"भगवन् ! मुझ शरणागत पर यदि सचमुच आपकी कृपा है, तो मुझे यह विद्या सिखा दीजिए, जिसका ऐसा प्रभाव है ॥४८-४९॥

आग्रहपूर्वक उसके ऐसा कहने पर तपस्वी उससे बोला—"यह विद्या तुम्हारे लिए असाध्य है; क्योंकि इसकी साधना जल के अन्दर की जाती है। जो साधक वहाँ इसकी साधना करता है, उसको भरमाने के लिए मायाजाल उत्पन्न होता है, जिसके कारण वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता ॥५०-५१॥

वहाँ उसे ऐसा भ्रम होता है कि फिर से उसका जन्म हुआ है। तब वह अपने को बालक, फिर युवक, फिर विवाहित मानता है और उसे ऐसा जान पड़ता है, मानों पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥५२॥

वह इस झूठे मोह में पड़ जाता है कि यह मेरा मित्र है और यह शत्रु। उसे न तो इस जन्म का स्मरण रहता है, न इसका ही कि उसकी क्रियाएँ विद्या की साधना में लगी हुई हैं ॥५३॥

जो लोग चौबीस वर्ष की उम्र तक गुरु के द्वारा विद्या पढ़कर ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन धीर पुरुषों को इस जन्म का स्मरण रहता है और वे जानते हैं कि यह सब माया का खिलवाड़ है। उस माया के वश में रहते हुए भी वे अग्नि में प्रवेश करते हैं और विद्या की सिद्धि के बाद, जल से निकलकर परम ज्ञान का दर्शन करते हैं ॥५४-५५॥

जिस शिष्य को यह विद्या दी जाती है, उसे यदि सिद्धि नहीं मिलती, तो अनुपयुक्त पात्र को देने के कारण गुरु की विद्या भी नष्ट हो जाती है ॥५६॥

मेरी सिद्धि से ही तुम्हें उसके सब फल प्राप्त हो रहे हैं, अतः इसके लिए तुम आग्रह क्यों कर रहे हो ? ऐसा न हो कि इससे मेरी सिद्धि नष्ट हो जाय और उसके द्वारा तुम जो ये सुख-भोग प्राप्त कर रहे हो, तुम्हें इनसे भी वंचित होना पड़े" ॥५७॥

तपस्वी के ऐसा कहने पर भी चन्द्रस्वामी ने हठपूर्वक कहा कि 'मैं सब कुछ सीख लूंगा। आप चिन्ता न करें ॥५८॥

इसके बाद तपस्वी ने चन्द्रस्वामी को वह विद्या सिखाना स्वीकार किया। सज्जन पुरुष अपने आश्रितों के अनुरोध पर भला क्या नहीं करते ? ॥५९॥

ततो नीत्वा नदीतीरं स तं स्माह महाव्रती।
वत्स विद्यां जपन्मायां यदा द्रक्ष्यसि तां तदा॥६०॥
मायाग्निमेव प्रविशेर्विद्यया बोधितो मया।
अहं च तावत्स्थास्यामि तवेहैव नदीतटे॥६१॥
इत्युक्त्वाध्यापयामास तमाचान्तं शुचिं शुचिः।
स चन्द्रस्वामिनं विद्यां सम्यक्तां व्रतिनां वरः॥६२॥
ततस्तीरे स्थिते तस्मिन्गुरौ मूर्ध्ना प्रणम्य तम्।
चन्द्रस्वामी स रभसान्नदीमवततार ताम्॥६३॥
तस्यामन्तर्जले विद्यां तां जपन्सहसैव सः।
तन्मायामोहितो मिथ्या सर्वं विस्मृत्य जन्म तत्॥६४॥
वीक्षते यावदन्यस्यामुत्पन्नः स्वात्मना पुरि।
पुत्रो विप्रस्य कस्यापि वृद्धिं स शनकैर्गतः॥६५॥
कृतोपनयनोऽधीतविद्यो दारानवाप्य च।
तद्दुःखसुखसंमूढः सम्पूर्णोऽपत्यवान्क्रमात्॥६६॥
ततश्चात्र सुतस्नेहस्वीकृतस्तत्तदाचरत्।
स्थितो बद्धरतिः सार्धं पितृभ्यां बन्धुभिस्तथा॥६७॥
एवं जन्मान्तरं मिथ्या तस्यानुभवतोऽत्र सः।
काले प्रबोधिनीं विद्यां गुरुः प्रायुङ्क्त तापसः॥६८॥
स तद्विद्याप्रयोगेण सद्यस्तेन प्रबोधितः।
स्मृत्वात्मानं गुरुं तं च मायाजालमवेत्य तत्॥६९॥
उद्यतोऽग्निप्रवेशाय दिव्यासाध्यफलाप्तये।
पर्यवारि निषेधद्भिर्वृद्धाप्तगुरुबन्धुभिः॥७०॥
बहुधा बोध्यमानोऽपि तैर्दिव्यसुखलोलुपः।
स सज्जितचितं प्रायान्नदीतीरं सबान्धवः॥७१॥
दृष्ट्वात्र वृद्धौ पितरौ भार्यां च मरणोद्यताम्।
क्रन्दन्ति वालापत्यानि सोऽथ मोहादचिन्तयत्॥७२॥
कष्टं म्रियन्ते स्वजनाः सर्वे मे विशतोऽनलम्।
न च जानामि किं सत्यं गुरोस्तद्वचनं न वा॥७३॥
तत्किं नु प्रविशाम्यग्निमुत न प्रविशामि किम्।
अथवा तत्कथं मिथ्या स्यात्संवादि गुरोर्वचः॥७४॥
तद्विशाम्यनलं काममित्यन्तः प्रविमृश्य सः।
अग्निप्रवेशं विदधे चन्द्रस्वामी किल द्विजः॥७५॥

तब वह नदी-तट पर ले जाकर बोला—"वत्स ! इस विद्या (मन्त्र) का जप करते हुए जब माया के दृश्य देखना, तब मेरे मन्त्र-बल से सावधान रहकर माया की अग्नि में प्रवेश करना। मैं तबतक तुम्हारे लिए नदी के इसी तट पर रुका रहूँगा" ॥६०-६१॥

यह कहकर व्रतधारियों में श्रेष्ठ उस पवित्र तपस्वी ने आचमन करके पवित्र हुए चन्द्रस्वामी को विधिपूर्वक यह विद्या सिखाई ॥६२॥

अनन्तर, नदी के तट पर स्थित अपने गुरु को चन्द्रस्वामी ने सिर झुकाकर प्रणाम किया और शीघ्रतापूर्वक नदी में उतर गया ॥६३॥

जल के भीतर जाकर जब वह उस मन्त्र का जप करने लगा, तब माया के मिथ्या प्रभाव से मोहित होकर सहसा ही अपने इस जन्म की सारी बातें भूल गया ॥६४॥

उसने देखा कि वह स्वयं किसी दूसरी नगरी में, किसी ब्राह्मण का पुत्र होकर उत्पन्न हुआ। अनन्तर, वह धीरे-धीरे बढ़ा, उसका यज्ञोपवीत हुआ, उसने विद्याएँ पढ़ीं, विवाह किया और उसके सुख-दुःख में पूरी तरह लिप्त रहकर सन्तान-लाभ किया ॥६५-६६॥

वहाँ पुत्र-स्नेह के कारण स्वीकार किये हुए अनेक प्रकार के कार्य करता और माता-पिता तथा कुटुम्बियों की प्रीति में बँधा हुआ वह रहने लगा ॥६७॥

इस प्रकार, जब वह झूठे जन्मान्तर का अनुभव कर रहा था, तभी, समय जानकर, उसके गुरु उस तपस्वी ने चेतना उत्पन्न करनेवाली विद्या का प्रयोग किया ॥६८॥

उस विद्या के प्रयोग से शीघ्र ही उसने (मायाजाल को भेदकर) चेतना प्राप्त की। उसे अपना और अपने गुरु का स्मरण हो आया और उसने उस मायाजाल को भी पहचान लिया ॥६९॥

दिव्य और असाध्य फल की प्राप्ति के लिए जब वह अग्नि में प्रवेश करने को उद्यत हुआ, तब वृद्ध और विश्वासी उसके गुरु तथा कुटुम्बी जन उसे ऐसा करने से रोकने लगे ॥७०॥

उन लोगों के बहुत समझाने-बुझाने पर भी, दिव्य सुख पाने की लालसा से वह अपने कुटुम्बियों के सहित नदी के उस तट पर गया, जहाँ चिता बनी हुई थी ॥७१॥

वहाँ उसने अपने बूढ़े माता-पिता तथा अपनी पत्नी को मरने के लिए उद्यत देखा। अपने बच्चों को भी रोता देखकर वह मोह में पड़ गया। वह सोचने लगा—"मैं यदि अग्नि में प्रवेश करूँगा, तो मेरे ये सभी सम्बन्धी मर जायेंगे। मैं यह भी नहीं जानता कि गुरु की बात सच्ची भी है या नहीं। तब मैं क्या करूँ—अग्नि में प्रवेश करूँ या न करूँ? किन्तु, अबतक तो सारी बातें गुरु के कहने के अनुसार ही हुई हैं, अतः यही बात कैसे झूठी होगी? इसलिए मैं प्रसन्नतापूर्वक अग्नि में प्रवेश करूँ।" मन-ही-मन ऐसा सोचकर ब्राह्मण चन्द्रस्वामी ने अग्नि में प्रवेश किया ॥७२—७५॥

अनुभूतहिमस्पर्शो वह्नेश्च स सविस्मयः।
शान्तमायो नदीतीरादुत्थायोपययौ तटम् ॥७६॥
तत्र स्थितं च दृष्ट्वा तं गुरुं नत्वा च पादयोः।
पृच्छन्तं चाग्निशैत्यान्तं स्वमुदन्तमबोधयत् ॥७७॥
ततस्तं स गुरुः प्राह वत्स शङ्के कृतस्त्वया।
अपचारोऽत्र शीतस्ते कथं जातोऽग्निरन्यथा ॥७८॥
अदृष्टमेतदेतस्या विद्यायाः साधने यतः।
एतद्गुरोर्वचः श्रुत्वा चन्द्रस्वामी जगाद सः ॥७९॥
नापचारो मया कश्चिद्विहितो भगवन्निति।
ततः स तद्गुरुर्विद्यां जिज्ञासुस्तां समस्मरत् ॥८०॥
न च साविरभूत्तस्य न तच्छिष्यस्य तस्य वा।
नष्टविद्यावथोभौ तौ विषण्णौ जग्मतुस्ततः ॥८१॥
इत्याख्याय कथामथ वेतालः पृष्टवान्स तं भूयः।
पृथ्वीपतिं त्रिविक्रमसेनं समयं निगद्य पूर्वोक्तम् ॥८२॥
राजन्संशयमेतं छिन्धि मम ब्रूहि हेतुना केन।
विहितेऽपि यथोद्दिष्टे कर्मणि विद्योभयोस्तयोर्नष्टा ॥८३॥
एतत्स वेतालवचो निशम्य तं प्रत्यवोचन्मनुजेन्द्रवीरः।
जाने भवान्मे क्षिपतीह कालं योगेश्वरैवं तदपि ब्रवीमि ॥८४॥
न दुष्करेणापि हि कर्मणैव
शुद्धेन सिद्धिः पुरुषस्य लभ्या।
यावन्न निष्कम्प्य विकल्पशुद्धं
धीरं मनो निर्मलसत्त्ववृत्ति ॥८५॥
तस्यात्र मन्दस्य तु विप्रयून-
श्चित्तं प्रबुध्यापि विकल्पते स्म।
विद्या न सा तेन गतास्य सिद्धि-
रस्थानदानाच्च गुरोर्विनष्टा ॥८६॥
इति तस्य नृपस्य सृष्टवाचो
वत वेतालवरोंऽसतः स भूयः।
निजमेव पदं ययावलक्ष्यो
नृपतिस्तं च तथैव सोऽन्वयासीत् ॥८७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके पञ्चविंशस्तरङ्गः।

अग्नि का स्पर्श जब उसे बरफ के समान ठण्डा जान पड़ा, तब उसे अचरज हुआ। तबतक माया का प्रभाव जाता रहा। वह नदी से निकलकर किनारे पर आया ॥७६॥

वहाँ अपने गुरु को देखकर उसने उनके चरणों में प्रणाम किया और पूछने पर आरम्भ से लेकर अग्नि की शीतलता तक की सारी बात उन्हें बता दी ॥७७॥

तब उसके गुरु ने कहा—"वत्स! मुझे इस बात की शंका हो रही है कि कहीं तुमसे कुछ भूल हो गई है; नहीं तो अग्नि तुम्हारे लिए शीतल कैसे हो गई? इस विद्या की साधना में ऐसी बात तो कभी नहीं देखी गई।" गुरु की यह बात सुनकर चन्द्रस्वामी ने कहा—॥७८-७९॥

"भगवन्! मैंने कहीं कोई भूल नहीं की।" तब इस रहस्य को जानने की इच्छा से, उसके गुरु ने अपनी विद्या का स्मरण किया ॥८०॥

वह न तो उसके सम्मुख प्रकट हुई, न उसके शिष्य के सम्मुख ही। तब वे दोनों ही अपनी विद्या को नष्ट हुई जान, दुःखी होकर वहाँ से चले गये ॥८१॥

यह कथा सुनाकर उस वेताल ने राजा त्रिविक्रमसेन को पहले कही हुई शपथ की याद दिलाकर फिर उनसे पूछा—"राजन्! मेरा यह संशय दूर करो और बतलाओ कि बताये हुए तरीके से सारी क्रियाएँ करने पर भी उन दोनों की विद्या किस कारण नष्ट हो गई?" ॥८२—८३॥

वेताल की यह बात सुनकर उस वीर राजा ने उत्तर दिया—"योगेश्वर! यह तो मैं जानता हूँ कि इस प्रकार आप केवल समय ही बिता रहे हैं, फिर भी मैं कहता हूँ। जबतक मनुष्य का मन द्विविधा से रहित, धैर्ययुक्त, निर्मल और सुदृढ नहीं होता, तबतक केवल ठीक तरह से कोई दुष्कर कार्य करने से ही उसे सिद्धि नहीं प्राप्त होती। वह मन्दमति ब्राह्मण युवक, चेतना-लाभ करके भी द्विविधा में पड़ गया, इसी से उसे सिद्धि नहीं मिल सकी और अपात्र को देने के कारण गुरु की विद्या भी जाती रही" ॥८४—८६॥

उस राजा के ऐसा कहने पर वह वेताल पुनः उनके कन्धे से उतरकर, अलक्ष्य रूप से, अपनी जगह पर चला गया और राजा भी उसी प्रकार उसके पीछे-पीछे गया ॥८७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट—विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
पंचविंश तरंग समाप्त

षड्विंशस्तरङ्गः

एकोनविंशो वेतालः । चन्द्रस्वामिनः कथा

अथ गत्वा पुनः स्कन्धे वेतालं शिंशपाद्रुमात् ।
स त्रिविक्रमसेनस्तं गृहीत्वोदचलन्नृपः ॥१॥
आगच्छन्तं च तं भूयो वेतालः सोऽभ्यभाषत ।
राजञ्शृणु कथामेकां हृद्यां ते कथयाम्यहम् ॥२॥
अस्ति वक्रोलकं नाम पुरं सुरपुरोपमम् ।
तस्मिन्सूर्यप्रभाख्योऽभूद्राजा जम्भारिसन्निभः ॥३॥
सौकर्योद्यतया मूर्त्या दत्तानन्दो वसुन्धराम् ।
इमां हरिरिवोद्धृत्य यो वभार चिरं भुजे ॥४॥
वूमासङ्गेऽश्रुसम्पातः शृङ्गारे मारसंकथाः ।
द्वाःस्थेषु हेमदण्डाश्च राष्ट्रे यस्याभवन्प्रभोः ॥५॥
सर्वसम्पत्समृद्धस्य तस्यैकाभूदनिर्वृतिः ।
नोदपद्यत यत्पुत्रो वहुष्वन्तःपुरेष्वपि ॥६॥
एतस्मिंश्च कथासन्धौ ताम्रलिप्त्यां महापुरि ।
वभूव धनपालाख्यो धुर्यो धनवतां वणिक् ॥७॥
तस्य चाजायतैकैव नाम्ना धनवती सुता ।
विद्याधरी च्युता शापात्सौन्दर्येणैव सूचिता ॥८॥
तस्यां च यौवनस्थायां स वणिक्पञ्चतां ययौ ।
तद्धनं राजसानाथ्यादाक्रान्तमथ गोत्रजैः ॥९॥
ततो हिरण्यवत्याख्या वणिजस्तस्य गेहिनी ।
आदाय रत्नाभरणं निजमप्रकटस्थितम् ॥१०॥
धनवत्या तया साकं स्वदुहित्रा निशामुखे ।
पलाय्य दायादभयाद्गृहाद्गुप्तं विनिर्ययौ ॥११॥
ध्वान्तेन वहिरन्तश्च सा दुःखेनान्धकारिता ।
कृच्छ्राद्बहिः पुरं प्रायात्सुताहस्तावलम्बिनी ॥१२॥
तत्र संतमसे यान्ती विधियोगादलक्षितम् ।
अंसेनाताडयच्चौरं शूलाग्रारोपितस्थितम् ॥१३॥
स सजीवस्तदंसाग्रघट्टनाधिकपीडितः ।
आः क्षते क्षारमेतन्मे क्षिप्तं केनेत्यभाषत ॥१४॥

षड्विंश तरंग

एकोनविंश वेताल : चन्द्रस्वामी की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने जाकर शिंशपा-वृक्ष से वेताल को फिर उतारा और उसे अपने कन्धे पर लेकर प्रस्थान किया ॥१॥

चलते हुए राजा से वेताल ने पुनः कहा—"राजन् ! सुनो, मैं तुम्हें एक मनोहर कथा सुनाता हूँ" ॥२॥

स्वर्ग की उपमा धारण करनेवाला वक्रोलक नाम का एक नगर है। वहाँ इन्द्र के समान सूर्यप्रभ नाम का एक राजा था ॥३॥

भगवान् विष्णु ने जैसे शंकर-रूप से पृथ्वी का उद्धार करके, उसे आनन्द देते हुए, बहुत दिनों तक धारण किया था, उसी प्रकार उस राजा ने भी अपने भुजबल से बहुत समय तक पृथ्वी को धारण किया ॥४॥

उस राजा के राज्य में धुएँ के कारण ही आँसू गिरते थे, श्रृंगार के सम्बन्ध में ही मार (कामदेव) की चर्चा होती थी और द्वारपालों के हाथ में ही स्वर्णदण्ड रहता था ॥५॥

यद्यपि वह सब सम्पत्तियों से भरा-पूरा था, फिर भी उसे यही एक दुःख था कि बहुत-सी रानियों के होते हुए भी उसे सन्तान नहीं हुई थी ॥६॥

इसी समय ताम्रलिप्ति नामक महानगरी में धनपाल नामक एक महाजन था, जो धनवानों में अग्रणी था ॥७॥

उसकी इकलौती बेटी का नाम धनवती था। उसकी सुन्दरता से ही ऐसा जान पड़ता था कि वह कोई विद्याधरी है, जो शापवश धरती पर आ गई है ॥८॥

जब वह कन्या युवती हुई, तब उस महाजन की मृत्यु हो गई। राजा का सहारा पाकर उसके सम्बन्धियों ने उसका धन हड़प लिया ॥९॥

तब हिरण्यवती नाम की उस महाजन की स्त्री, छिपाकर रखे अपने रत्नाभूषणों को लेकर, अपनी बेटी धनवती के सहित, अपने कुटुम्बी जनों के भय से, एक शाम को छिपकर अपने घर से भाग निकली ॥१०-११॥

उसके हृदय में दुःख का और बाहर रात का अँधेरा घिरा हुआ था। वह अपनी बेटी का हाथ पकड़कर बड़ी कठिनाई से नगर के बाहर निकली ॥१२॥

संयोग से अन्धकार में जाती हुई हिरण्यवती ने दीख न पड़ने के कारण सूली पर चढ़ाये गये एक चोर को अपने कन्धे से धक्का दे दिया ॥१३॥

वह चोर जीवित था। उसके कन्धे के धक्के से वह तिलमिला उठा और उसने कहा—"हाय, मेरे कटे पर नमक कौन छिड़क रहा है?" ॥१४॥

अनुभूतहिमस्पर्शो वह्नेश्च स सविस्मयः।
शान्तमायो नदीतीरादुत्थायोपययौ तटम् ॥७६॥
तत्र स्थितं च दृष्ट्वा तं गुरुं नत्वा च पादयोः।
पृच्छन्तं चाग्निशैत्यान्तं स्वमुदन्तमबोधयत् ॥७७॥
ततस्तं स गुरुः प्राह वत्स शङ्के कृतस्त्वया।
अपचारोऽत्र शीतस्ते कथं जातोऽग्निरन्यथा ॥७८॥
अदृष्टमेतदेतस्या विद्यायाः साधने यतः।
एतद्गुरोर्वचः श्रुत्वा चन्द्रस्वामी जगाद सः ॥७९॥
नापचारो मया कश्चिद्विहितो भगवन्निति।
ततः स तद्गुरुर्विद्यां जिज्ञासुस्तां समस्मरत् ॥८०॥
न च साविरभूत्तस्य न तच्छिष्यस्य तस्य वा।
नष्टविद्यावथोभौ तौ विषण्णौ जग्मतुस्ततः ॥८१॥
इत्याख्याय कथामथ वेतालः पृष्टवान्स तं भूयः।
पृथ्वीपतिं त्रिविक्रमसेनं समयं निगद्य पूर्वोक्तम् ॥८२॥
राजन्संशयमेतं छिन्द्धि मम ब्रूहि हेतुना केन।
विहितेऽपि यथोद्दिष्टे कर्मणि विद्योभयोस्तयोर्नष्टा ॥८३॥
एतत्स वेतालवचो निशम्य तं प्रत्यवोचन्मनुजेन्द्रवीरः।
जाने भवान्मे क्षिपतीह कालं योगेश्वरैवं तदपि ब्रवीमि ॥८४॥
न दुष्करेणापि हि कर्मणैव
शुद्धेन सिद्धिः पुरुषस्य लभ्या।
यावन्न निष्कम्प्य विकल्पशुद्धं
धीरं मनो निर्मलसत्त्ववृत्ति ॥८५॥
तस्यात्र मन्दस्य तु विप्रयून-
श्चित्तं प्रबुध्यापि विकल्पते स्म।
विद्या न सा तेन गतास्य सिद्धि-
रस्थानदानाच्च गुरोर्विनष्टा ॥८६॥
इति तस्य नृपस्य सृष्टवाचो
वत वेतालवरोंऽसतः स भूयः।
निजमेव पदं ययावलक्ष्यो
नृपतिस्तं च तथैव सोऽन्वयासीत् ॥८७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके पञ्चविंशस्तरङ्गः ।

अग्नि का स्पर्श जब उसे बरफ के समान ठण्डा जान पड़ा, तब उसे अचरज हुआ। तबतक माया का प्रभाव जाता रहा। वह नदी से निकलकर किनारे पर आया॥७६॥

वहाँ अपने गुरु को देखकर उसने उनके चरणों में प्रणाम किया और पूछने पर आरम्भ से लेकर अग्नि की शीतलता तक की सारी बात उन्हें बता दी॥७७॥

तब उसके गुरु ने कहा—"वत्स! मुझे इस बात की शंका हो रही है कि कहीं तुमसे कुछ भूल हो गई है; नहीं तो अग्नि तुम्हारे लिए शीतल कैसे हो गई? इस विद्या की साधना में ऐसी बात तो कभी नहीं देखी गई।" गुरु की यह बात सुनकर चन्द्रस्वामी ने कहा—॥७८-७९॥

"भगवन्! मैंने कहीं कोई भूल नहीं की।" तब इस रहस्य को जानने की इच्छा से, उसके गुरु ने अपनी विद्या का स्मरण किया॥८०॥

वह न तो उसके सम्मुख प्रकट हुई, न उसके शिष्य के सम्मुख ही। तब वे दोनों ही अपनी विद्या को नष्ट हुई जान, दुःखी होकर वहाँ से चले गये॥८१॥

यह कथा सुनाकर उस वेताल ने राजा त्रिविक्रमसेन को पहले कही हुई शपथ की याद दिलाकर फिर उनसे पूछा—"राजन्! मेरा यह संशय दूर करो और बतलाओ कि बताये हुए तरीके से सारी क्रियाएँ करने पर भी उन दोनों की विद्या किस कारण नष्ट हो गई?" ॥८२—८३॥

वेताल की यह बात सुनकर उस वीर राजा ने उत्तर दिया—"योगेश्वर! यह तो मैं जानता हूँ कि इस प्रकार आप केवल समय ही बिता रहे हैं, फिर भी मैं कहता हूँ। जबतक मनुष्य का मन द्विविधा से रहित, धैर्ययुक्त, निर्मल और सुदृढ़ नहीं होता, तबतक केवल ठीक तरह से कोई दुष्कर कार्य करने से ही उसे सिद्धि नहीं प्राप्त होती। वह मन्दमति ब्राह्मण युवक, चेतना-लाभ करके भी द्विविधा में पड़ गया, इसी से उसे सिद्धि नहीं मिल सकी और अपात्र को देने के कारण गुरु की विद्या भी जाती रही" ॥८४—८६॥

उस राजा के ऐसा कहने पर वह वेताल पुनः उनके कन्धे से उतरकर, अलक्ष्य रूप से, अपनी जगह पर चला गया और राजा भी उसी प्रकार उसके पीछे-पीछे गया॥८७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट—विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
पंचविंश तरंग समाप्त

षड्विंशस्तरङ्गः

एकोनविंशो वेतालः । चन्द्रस्वामिनः कथा

अथ गत्वा पुनः स्कन्धे वेतालं शिंशपाद्रुमात् ।
स त्रिविक्रमसेनस्तं गृहीत्वोदचलन्नृपः ॥१॥
आगच्छन्तं च तं भूयो वेतालः सोऽभ्यभाषत ।
राजञ्शृणु कथामेकां हृद्यां ते कथयाम्यहम् ॥२॥
अस्ति वक्रोलकं नाम पुरं सुरपुरोपमम् ।
तस्मिन्सूर्यप्रभाख्योऽभूद्राजा जम्भारिसन्निभः ॥३॥
सौकर्योद्यतया मूर्त्या दत्तानन्दो वसुन्धराम् ।
इमां हरिरिवोद्धृत्य यो वभार चिरं भुजे ॥४॥
वूमासङ्गेऽश्रुसम्पातः शृङ्गारे मारसंकथाः ।
द्वाःस्थेषु हेमदण्डाश्च राष्ट्रे यस्याभवन्प्रभोः ॥५॥
सर्वसम्पत्समृद्धस्य तस्यैकाभूदनिर्वृतिः ।
नोदपद्यत यत्पुत्रो वहुष्वन्तःपुरेष्वपि ॥६॥
एतस्मिंश्च कथासन्धौ ताम्रलिप्त्यां महापुरि ।
वभूव धनपालाख्यो धुर्यो धनवतां वणिक् ॥७॥
तस्य चाजायतैकैव नाम्ना धनवती सुता ।
विद्याधरी च्युता शापात्सौन्दर्येणैव सूचिता ॥८॥
तस्यां च यौवनस्थायां स वणिक्पञ्चतां ययौ ।
तद्धनं राजसानाथ्यादाक्रान्तमथ गोत्रजैः ॥९॥
ततो हिरण्यवत्याख्या वणिजस्तस्य गेहिनी ।
आदाय रत्नाभरणं निजमप्रकटस्थितम् ॥१०॥
धनवत्या तया साकं स्वदुहित्रा निशामुखे ।
पलाय्य दायादभयाद्गृहाद्गुप्तं विनिर्ययौ ॥११॥
ध्वान्तेन वहिरन्तश्च सा दुःखेनान्धकारिता ।
कृच्छ्राद्वहिः पुरं प्रायात्सुताहस्तावलम्बिनी ॥१२॥
तत्र संतमसे यान्ती विधियोगादलक्षितम् ।
अंसेनाताडयच्चौरं शूलाग्रारोपितस्थितम् ॥१३॥
स सजीवस्तदंसाग्रघट्टनाधिकपीडितः ।
आः क्षते क्षारमेतन्मे क्षिप्तं केनेत्यभाषत ॥१४॥

षड्विंश तरंग

एकोनविंश वेताल : चन्द्रस्वामी की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने जाकर शिंशपा-वृक्ष से वेताल को फिर उतारा और उसे अपने कन्धे पर लेकर प्रस्थान किया ॥१॥

चलते हुए राजा से वेताल ने पुनः कहा—"राजन् ! सुनो, मैं तुम्हें एक मनोहर कथा सुनाता हूँ" ॥२॥

स्वर्ग की उपमा धारण करनेवाला वक्रोलक नाम का एक नगर है। वहाँ इन्द्र के समान सूर्यप्रभ नाम का एक राजा था ॥३॥

भगवान् विष्णु ने जैसे शंकर-रूप से पृथ्वी का उद्धार करके, उसे आनन्द देते हुए, बहुत दिनों तक धारण किया था, उसी प्रकार उस राजा ने भी अपने भुजबल से बहुत समय तक पृथ्वी को धारण किया ॥४॥

उस राजा के राज्य में धुएँ के कारण ही आँसू गिरते थे, शृंगार के सम्बन्ध में ही मार (कामदेव) की चर्चा होती थी और द्वारपालों के हाथ में ही स्वर्णदण्ड रहता था ॥५॥

यद्यपि वह सब सम्पत्तियों से भरा-पूरा था, फिर भी उसे यही एक दुःख था कि बहुत-सी रानियों के होते हुए भी उसे सन्तान नहीं हुई थी ॥६॥

इसी समय ताम्रलिप्ति नामक महानगरी में धनपाल नामक एक महाजन था, जो धनवानों में अग्रणी था ॥७॥

उसकी इकलौती बेटी का नाम धनवती था। उसकी सुन्दरता से ही ऐसा जान पड़ता था कि वह कोई विद्याधरी है, जो शापवश धरती पर आ गई है ॥८॥

जब वह कन्या युवती हुई, तब उस महाजन की मृत्यु हो गई। राजा का सहारा पाकर उसके सम्बन्धियों ने उसका धन हड़प लिया ॥९॥

तब हिरण्यवती नाम की उस महाजन की स्त्री, छिपाकर रखे अपने रत्नाभूषणों को लेकर, अपनी बेटी धनवती के सहित, अपने कुटुम्बी जनों के भय से, एक शाम को छिपकर अपने घर से भाग निकली ॥१०-११॥

उसके हृदय में दुःख का और बाहर रात का अँधेरा घिरा हुआ था। वह अपनी बेटी का हाथ पकड़कर बड़ी कठिनाई से नगर के बाहर निकली ॥१२॥

संयोग से अन्धकार में जाती हुई हिरण्यवती ने दीख न पड़ने के कारण सूली पर चढ़ाये गये एक चोर को अपने कन्धे से धक्का दे दिया ॥१३॥

वह चोर जीवित था। उसके कन्धे के धक्के से वह तिलमिला उठा और उसने कहा—"हाय, मेरे कटे पर नमक कौन छिड़क रहा है ?" ॥१४॥

अनुभूतहिमस्पर्शो वह्नेश्च स सविस्मयः।
शान्तमायो नदीतीरादुत्थायोपययौ तटम् ॥७६॥
तत्र स्थितं च दृष्ट्वा तं गुरुं नत्वा च पादयोः।
पृच्छन्तं चाग्निशैत्यान्तं स्वमुदन्तमबोधयत् ॥७७॥
ततस्तं स गुरुः प्राह वत्स शङ्के कृतस्त्वया।
अपचारोऽत्र शीतस्ते कथं जातोऽग्निरन्यथा ॥७८॥
अदृष्टमेतदेतस्या विद्यायाः साधने यतः।
एतद्गुरोर्वचः श्रुत्वा चन्द्रस्वामी जगाद सः ॥७९॥
नापचारो मया कश्चिद्विहितो भगवन्निति।
ततः स तद्गुरुर्विद्यां जिज्ञासुस्तां समस्मरत् ॥८०॥
न च साविरभूत्तस्य न तच्छिष्यस्य तस्य वा।
नष्टविद्यावथोभौ तौ विषण्णौ जग्मतुस्ततः ॥८१॥
इत्याख्याय कथामथ वेतालः पृष्टवान्स तं भूयः।
पृथ्वीपतिं त्रिविक्रमसेनं समयं निगद्य पूर्वोक्तम् ॥८२॥
राजन्संशयमेतं छिन्द्धि मम ब्रूहि हेतुना केन।
विहितेऽपि यथोद्दिष्टे कर्मणि विद्योभयोस्तयोर्नष्टा ॥८३॥
एतत्स वेतालवचो निशम्य तं प्रत्यवोचन्मनुजेन्द्रवीरः।
जाने भवान्मे क्षिपतीह कालं योगेश्वरैवं तदपि ब्रवीमि ॥८४॥

न दुष्करेणापि हि कर्मणैव
शुद्धेन सिद्धिः पुरुषस्य लभ्या।
यावन्न निष्कम्प्य विकल्पशुद्धं
धीरं मनो निर्मलसत्त्ववृत्ति ॥८५॥
तस्यात्र मन्दस्य तु विप्रयून-
श्चित्तं प्रबुध्यापि विकल्पते स्म।
विद्या न सा तेन गतास्य सिद्धि-
रस्थानदानाच्च गुरोर्विनष्टा ॥८६॥
इति तस्य नृपस्य सृष्टवाचो
वत वेतालवरोंऽसतः स भूयः।
निजमेव पदं ययावलक्ष्यो
नृपतिस्तं च तथैव सोऽन्वयासीत् ॥८७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके पञ्चविंशस्तरङ्गः।

अग्नि का स्पर्श जब उसे बरफ के समान ठण्डा जान पड़ा, तब उसे अचरज हुआ। तबतक माया का प्रभाव जाता रहा। वह नदी से निकलकर किनारे पर आया ॥७६॥

वहाँ अपने गुरु को देखकर उसने उनके चरणों में प्रणाम किया और पूछने पर आरम्भ से लेकर अग्नि की शीतलता तक की सारी बात उन्हें बता दी ॥७७॥

तब उसके गुरु ने कहा—"वत्स! मुझे इस बात की शंका हो रही है कि कहीं तुमसे कुछ भूल हो गई है; नहीं तो अग्नि तुम्हारे लिए शीतल कैसे हो गई? इस विद्या की साधना में ऐसी बात तो कभी नहीं देखी गई।" गुरु की यह बात सुनकर चन्द्रस्वामी ने कहा—॥७८-७९॥

"भगवन्! मैंने कहीं कोई भूल नहीं की।" तब इस रहस्य को जानने की इच्छा से, उसके गुरु ने अपनी विद्या का स्मरण किया ॥८०॥

वह न तो उसके सम्मुख प्रकट हुई, न उसके शिष्य के सम्मुख ही। तब वे दोनों ही अपनी विद्या को नष्ट हुई जान, दुःखी होकर वहाँ से चले गये ॥८१॥

यह कथा सुनाकर उस वेताल ने राजा त्रिविक्रमसेन को पहले कही हुई शपथ की याद दिलाकर फिर उनसे पूछा—"राजन्! मेरा यह संशय दूर करो और बतलाओ कि बताये हुए तरीके से सारी क्रियाएँ करने पर भी उन दोनों की विद्या किस कारण नष्ट हो गई?" ॥८२—८३॥

वेताल की यह बात सुनकर उस वीर राजा ने उत्तर दिया—"योगेश्वर! यह तो मैं जानता हूँ कि इस प्रकार आप केवल समय ही बिता रहे हैं, फिर भी मैं कहता हूँ। जबतक मनुष्य का मन द्विविधा से रहित, धैर्ययुक्त, निर्मल और सुदृढ नहीं होता, तबतक केवल ठीक तरह से कोई दुष्कर कार्य करने से ही उसे सिद्धि नहीं प्राप्त होती। वह मन्दमति ब्राह्मण युवक, चेतना-लाभ करके भी द्विविधा में पड़ गया, इसी से उसे सिद्धि नहीं मिल सकी और अपात्र को देने के कारण गुरु की विद्या भी जाती रही" ॥८४—८६॥

उस राजा के ऐसा कहने पर वह वेताल पुनः उनके कन्धे से उतरकर, अलक्ष्य रूप से, अपनी जगह पर चला गया और राजा भी उसी प्रकार उसके पीछे-पीछे गया ॥८७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट—विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
पंचविंश तरंग समाप्त

अनुभूतहिमस्पर्शो वह्नेश्च स सविस्मयः ।
शान्तमायो नदीतीरादुत्थायोपययौ तटम् ॥७६॥
तत्र स्थितं च दृष्ट्वा तं गुरुं नत्वा च पादयोः ।
पृच्छन्तं चाग्निशैत्यान्तं स्वमुदन्तमबोधयत् ॥७७॥
ततस्तं स गुरुः प्राह वत्स शङ्के कृतस्त्वया ।
अपचारोऽत्र शीतस्ते कथं जातोऽग्निरन्यथा ॥७८॥
अदृष्टमेतदेतस्या विद्यायाः साधने यतः ।
एतद्गुरोर्वचः श्रुत्वा चन्द्रस्वामी जगाद सः ॥७९॥
नापचारो मया कश्चिद्विहितो भगवन्निति ।
ततः स तद्गुरुर्विद्यां जिज्ञासुस्तां समस्मरत् ॥८०॥
न च साविरभूत्तस्य न तच्छिष्यस्य तस्य वा ।
नष्टविद्यावथोभौ तौ विषण्णौ जग्मतुस्ततः ॥८१॥
इत्याख्याय कथामथ वेतालः पृष्टवान्स तं भूयः ।
पृथ्वीपतिं त्रिविक्रमसेनं समयं निगद्य पूर्वोक्तम् ॥८२॥
राजन्संशयमेतं छिन्द्धि मम ब्रूहि हेतुना केन ।
विहितेऽपि यथोद्दिष्टे कर्मणि विद्योभयोस्तयोर्नष्टा ॥८३॥
एतत्स वेतालवचो निशम्य तं प्रत्यवोचन्मनुजेन्द्रवीरः ।
जाने भवान्मे क्षिपतीह कालं योगेश्वरैवं तदपि ब्रवीमि ॥८४॥

न दुष्करेणापि हि कर्मणैव
शुद्धेन सिद्धिः पुरुषस्य लभ्या ।
यावन्न निष्क्रम्य विकल्पशुद्धं
धीरं मनो निर्मलसत्त्ववृत्ति ॥८५॥
तस्यात्र मन्दस्य तु विप्रयून-
श्चित्तं प्रबुध्यापि विकल्पते स्म ।
विद्या न सा तेन गतास्य सिद्धि-
रस्थानदानाच्च गुरोर्विनष्टा ॥८६॥
इति तस्य नृपस्य सृष्टवाचो
वत वेतालवरोऽसतः स भूयः ।
निजमेव पदं ययावलक्ष्यो
नृपतिस्तं च तथैव सोऽन्वयासीत् ॥८७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके पञ्चविंशस्तरङ्गः ।

अग्नि का स्पर्श जब उसे बरफ के समान ठण्डा जान पड़ा, तब उसे अचरज हुआ। तबतक माया का प्रभाव जाता रहा। वह नदी से निकलकर किनारे पर आया ॥७६॥

वहाँ अपने गुरु को देखकर उसने उनके चरणों में प्रणाम किया और पूछने पर आरम्भ से लेकर अग्नि की शीतलता तक की सारी बात उन्हें बता दी ॥७७॥

तब उसके गुरु ने कहा—"वत्स ! मुझे इस बात की शंका हो रही है कि कहीं तुमसे कुछ भूल हो गई है; नहीं तो अग्नि तुम्हारे लिए शीतल कैसे हो गई ? इस विद्या की साधना में ऐसी बात तो कभी नहीं देखी गई।" गुरु की यह बात सुनकर चन्द्रस्वामी ने कहा—॥७८-७९॥

"भगवन् ! मैंने कहीं कोई भूल नहीं की।" तब इस रहस्य को जानने की इच्छा से, उसके गुरु ने अपनी विद्या का स्मरण किया ॥८०॥

वह न तो उसके सम्मुख प्रकट हुई, न उसके शिष्य के सम्मुख ही। तब वे दोनों ही अपनी विद्या को नष्ट हुई जान, दुःखी होकर वहाँ से चले गये ॥८१॥

यह कथा सुनाकर उस वेताल ने राजा त्रिविक्रमसेन को पहले कही हुई शपथ की याद दिलाकर फिर उनसे पूछा—"राजन् ! मेरा यह संशय दूर करो और बतलाओ कि बताये हुए तरीके से सारी क्रियाएँ करने पर भी उन दोनों की विद्या किस कारण नष्ट हो गई ?" ॥८२—८३॥

वेताल की यह बात सुनकर उस वीर राजा ने उत्तर दिया—"योगेश्वर ! यह तो मैं जानता हूँ कि इस प्रकार आप केवल समय ही बिता रहे हैं, फिर भी मैं कहता हूँ। जबतक मनुष्य का मन द्विविधा से रहित, धैर्ययुक्त, निर्मल और सुदृढ नहीं होता, तबतक केवल ठीक तरह से कोई दुष्कर कार्य करने से ही उसे सिद्धि नहीं प्राप्त होती। वह मन्दमति ब्राह्मण युवक, चेतना-लाभ करके भी द्विविधा में पड़ गया, इसी से उसे सिद्धि नहीं मिल सकी और अपात्र को देने के कारण गुरु की विद्या भी जाती रही" ॥८४—८६॥

उस राजा के ऐसा कहने पर वह वेताल पुनः उनके कन्धे से उतरकर, अलक्ष्य रूप से, अपनी जगह पर चला गया और राजा भी उसी प्रकार उसके पीछे-पीछे गया ॥८७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट—विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का पंचविंश तरंग समाप्त

षड्विंशस्तरङ्गः

एकोनविंशो वेतालः । चन्द्रस्वामिनः कथा

अथ गत्वा पुनः स्कन्धे वेतालं शिंशपाद्रुमात् ।
स त्रिविक्रमसेनस्तं गृहीत्वोदचलन्नृपः ॥१॥
आगच्छन्तं च तं भूयो वेतालः सोऽभ्यभाषत ।
राजञ्शृणु कथामेकां हृद्यां ते कथयाम्यहम् ॥२॥
अस्ति वक्रोलकं नाम पुरं सुरपुरोपमम् ।
तस्मिन्सूर्यप्रभाख्योऽभूद्राजा जम्भारिसन्निभः ॥३॥
सौकर्योद्यतया मूर्त्या दत्तानन्दो वसुन्धराम् ।
इमां हरिरिवोद्धृत्य यो वभार चिरं भुजे ॥४॥
धूमासङ्गेऽश्रुसम्पातः शृङ्गारे मारसंकथाः ।
द्वाःस्थेषु हेमदण्डाश्च राष्ट्रे यस्याभवन्प्रभोः ॥५॥
सर्वसम्पत्समृद्धस्य तस्यैकाभूदनिर्वृतिः ।
नोदपद्यत यत्पुत्रो वहुष्वन्तःपुरेष्वपि ॥६॥
एतस्मिंश्च कथासन्धौ ताम्रलिप्त्यां महापुरि ।
वभूव धनपालाख्यो धुर्यो धनवतां वणिक् ॥७॥
तस्य चाजायतैकैव नाम्ना धनवती सुता ।
विद्याधरी च्युता शापात्सौन्दर्येणैव सूचिता ॥८॥
तस्यां च यौवनस्थायां स वणिक्पञ्चतां ययौ ।
तद्धनं राजसानाथ्यादाक्रान्तमथ गोत्रजैः ॥९॥
ततो हिरण्यवत्याख्या वणिजस्तस्य गेहिनी ।
आदाय रत्नाभरणं निजमप्रकटस्थितम् ॥१०॥
धनवत्या तया साकं स्वदुहित्रा निशामुखे ।
पलाय्य दायादभयाद्गृहाद्गुप्तं विनिर्ययौ ॥११॥
ध्वान्तेन वहिरन्तश्च सा दुःखेनान्धकारिता ।
कृच्छ्राद्बहिः पुरं प्रायात्सुताहस्तावलम्बिनी ॥१२॥
तत्र संतमसे यान्ती विधियोगादलक्षितम् ।
अंसेनाताडयच्चौरं शूलाग्रारोपितस्थितम् ॥१३॥
स सजीवस्तदंसाग्रघट्टनाधिकपीडितः ।
आः क्षते क्षारमेतन्मे क्षिप्तं केनेत्यभाषत ॥१४॥

षड्विंश तरंग

एकोनविंश वेताल : चन्द्रस्वामी की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने जाकर शिंशपा-वृक्ष से वेताल को फिर उतारा और उसे अपने कन्धे पर लेकर प्रस्थान किया ॥१॥

चलते हुए राजा से वेताल ने पुनः कहा—"राजन् ! सुनो, मैं तुम्हें एक मनोहर कथा सुनाता हूँ" ॥२॥

स्वर्ग की उपमा धारण करनेवाला वक्रोलक नाम का एक नगर है। वहाँ इन्द्र के समान सूर्यप्रभ नाम का एक राजा था ॥३॥

भगवान् विष्णु ने जैसे शंकर-रूप से पृथ्वी का उद्धार करके, उसे आनन्द देते हुए, बहुत दिनों तक धारण किया था, उसी प्रकार उस राजा ने भी अपने भुजबल से बहुत समय तक पृथ्वी को धारण किया ॥४॥

उस राजा के राज्य में धुएँ के कारण ही आँसू गिरते थे, शृंगार के सम्बन्ध में ही मार (कामदेव) की चर्चा होती थी और द्वारपालों के हाथ में ही स्वर्णदण्ड रहता था ॥५॥

यद्यपि वह सब सम्पत्तियों से भरा-पूरा था, फिर भी उसे यही एक दुःख था कि बहुत-सी रानियों के होते हुए भी उसे सन्तान नहीं हुई थी ॥६॥

इसी समय ताम्रलिप्ति नामक महानगरी में धनपाल नामक एक महाजन था, जो धनवानों में अग्रणी था ॥७॥

उसकी इकलौती बेटी का नाम धनवती था। उसकी सुन्दरता से ही ऐसा जान पड़ता था कि वह कोई विद्याधरी है, जो शापवश धरती पर आ गई है ॥८॥

जब वह कन्या युवती हुई, तब उस महाजन की मृत्यु हो गई। राजा का सहारा पाकर उसके सम्बन्धियों ने उसका धन हड़प लिया ॥९॥

तब हिरण्यवती नाम की उस महाजन की स्त्री, छिपाकर रखे अपने रत्नाभूषणों को लेकर, अपनी बेटी धनवती के सहित, अपने कुटुम्बी जनों के भय से, एक शाम को छिपकर अपने घर से भाग निकली ॥१०-११॥

उसके हृदय में दुःख का और बाहर रात का अँधेरा घिरा हुआ था। वह अपनी बेटी का हाथ पकड़कर बड़ी कठिनाई से नगर के बाहर निकली ॥१२॥

संयोग से अन्धकार में जाती हुई हिरण्यवती ने दीख न पड़ने के कारण सूली पर चढ़ाये गये एक चोर को अपने कन्धे से धक्का दे दिया ॥१३॥

वह चोर जीवित था। उसके कन्धे के धक्के से वह तिलमिला उठा और उसने कहा—"हाय, मेरे कटे पर नमक कौन छिड़क रहा है ?" ॥१४॥

ततस्तत्रैव सा कोऽसीत्यपृच्छत्तं वणिग्वधूः।
प्रत्युवाच ततश्चौरश्चौरोऽहमिह सूचितः ॥१५॥
शूले पापस्य चाद्यापि नोत्क्रामन्ति ममासवः।
तदार्ये त्वं मम ब्रूहि कासि क्वैवं प्रयासि च ॥१६॥
तच्छ्रुत्वा तं वणिग्भार्या यावत्स्वोदन्तमाह सा।
तावत्तिलकितं प्राच्या मुखमुद्भासितेन्दुना ॥१७॥
ततो दिक्षु प्रकाशासु स चौरस्तां वणिक्सुताम्।
दृष्ट्वा धनवतीं कन्यां तन्मातरमुवाच ताम् ॥१८॥
शृणु मे प्रार्थनामेकां सहस्रं काञ्चनस्य ते।
ददामि तदिमां मह्यं स्वसुतां देहि कन्यकाम् ॥१९॥
किमेतया तवेत्युक्तो हसन्त्याथ तयात्र सः।
पुनश्चौरोऽब्रवीन्नास्ति पुत्रो मम गतायुषः ॥२०॥
न चापुत्रोऽश्नुते लोकांस्तदेषा यं मदाज्ञया।
कुत्रचिज्जनयेत्पुत्रं क्षेत्रजः स भवेन्मम ॥२१॥
इत्येतां प्रार्थये त्वं तु तद्विधत्स्व ममेप्सितम्।
तच्छ्रुत्वा सा वणिग्योषिल्लोभात्तत्प्रत्यपद्यत ॥२२॥
आनीय च कुतोऽप्यम्बु पाणौ चौरस्य तस्य सा।
एषा सुता मया तुभ्यं कन्या दत्तेत्यपातयत् ॥२३॥
सोऽपि तद्दुहितुर्दत्तयथोक्ताज्ञो जगाद ताम्।
गच्छामुष्य वटस्याधः खात्वा स्वर्णं गृहाण तत् ॥२४॥
गतासोर्दाहयित्वा मे देहं युक्त्या विसृज्य च।
अस्थीनि तीर्थे ससुता गच्छेर्वक्रोलकं पुरम् ॥२५॥
तत्र सूर्यप्रभे राज्ञि सौराज्यसुखिते जने।
निरुपद्रवनिश्चिन्ता स्थास्यसि त्वं यथेच्छसि ॥२६॥
इत्युक्त्वा तृषितः पीत्वा तयैवोपहृतं जलम्।
शूलव्यथव्यथोत्क्रान्तजीवश्चौरो बभूव सः ॥२७॥
ततो गत्वा वणिक्स्त्री सा स्वर्णं वटतरोस्तलात्।
गृहीत्वा ससुता गुप्तमगाद्भर्त्तृसुहृद्गृहम् ॥२८॥
तत्र स्थित्वा च युक्त्या तद्दाहयित्वा कलेवरम्।
चौरस्य तस्य तीर्थेऽस्थिक्षेपादिकमकारयत् ॥२९॥

तब वहीं पर उस महाजन की स्त्री ने पूछा कि 'तुम कौन हो?' इसपर उस चोर ने उत्तर दिया—"मैं तो एक जाना हुआ चोर हूँ। इसी से सूली पर चढ़ाये जाने पर भी मुझ पापी के प्राण नहीं निकलते। लेकिन आर्ये! आप बतलायें कि आप कौन हैं और इस तरह कहाँ जा रही हैं?" ॥१५-१६॥

यह सुनकर महाजन की पत्नी उससे अपना वृत्तान्त कह ही रही थी कि पूर्व दिशा के तिलक के समान चन्द्रमा ने अपना मुख उद्भासित किया॥१७॥

इस प्रकार, जब दिशाएँ प्रकाशित हो गईं, तब उस चोर ने महाजन की कन्या धनवती को देखकर उसकी माता से कहा—"तुम मेरी एक प्रार्थना सुनो। मैं तुम्हें एक हजार स्वर्ण-मुद्राएँ दूंगा, तुम अपनी यह कन्या मुझे दे दो"॥१८-१९॥

जब हँसती हुई धनवती की माता ने पूछा कि 'तुम्हें इससे क्या काम है?' तब वह चोर पुनः बोला—"मेरी आयु समाप्त हो गई, है; पर मैं पुत्रहीन हूँ। पुत्रहीन की सद्गति नहीं होती। अतः यह यदि मेरी आज्ञा से किसी के द्वारा पुत्र उत्पन्न करेगी, तो वह मेरा क्षेत्रज पुत्र होगा। इसी से मैं तुमसे यह निवेदन करता हूँ। तुम मेरा मनोरथ पूरा करो।" यह सुनकर महाजन की स्त्री को लोभ हुआ और उसने चोर की बात स्वीकार कर ली॥२०—२२॥

वह कहीं से जल ले आई और यह कहकर उसने उस जल को चोर के हाथों पर डाल दिया कि 'मैं अपनी यह कुँवारी कन्या तुम्हें देती हूँ'॥२३॥

उस चोर ने उसकी कन्या को पूर्वोक्त रूप से आज्ञा दी, अर्थात् अपने लिए क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करने को कहा और तब वह अपनी सास से बोला—"उस बरगद के पेड़ के नीचे जाकर जमीन खोदो और वहाँ से वे स्वर्णमुद्राएँ ले लो। मेरी मृत्यु के बाद विधिपूर्वक मेरा दाह-संस्कार करा देना और मेरी अस्थियों का किसी तीर्थ में विसर्जन कराने के बाद, अपनी कन्या के सहित वक्रोलक नगर में चली जाना। वहाँ, राजा सूर्यप्रभ के उत्तम शासन में लोग सुखपूर्वक रहते हैं। तुम उपद्रव और चिन्ता से रहित होकर इच्छानुसार वहाँ निवास करना" ॥२४—२६॥

यह कहकर उस प्यासे चार ने, हिरण्यवती के द्वारा लाया हुआ जल पिया और सूली पर चढ़ाये जाने की पीडा से प्राण त्याग दिये॥२७॥

तब महाजन की पत्नी ने बरगद के पेड़ के नीचे से निकालकर स्वर्णमुद्राएँ ले लीं और अपनी कन्या के साथ, किसी गुप्त मार्ग से, वह अपने पति के एक मित्र के घर चली गई॥२८॥

वहाँ रहकर उसने युक्तिपूर्वक उस चोर की दाहक्रिया करवाई और उसकी अस्थियों को तीर्थ में प्रवाहित करने आदि की भी व्यवस्था कर दी॥२९॥

अन्येद्युश्चात्तगुप्तार्था ततो निर्गत्य सात्मजा।
प्रयान्ती क्रमशः प्राप सा तद्वक्रोलकं पुरम्॥३०॥
तत्रैकं वसुदत्ताख्याद्गृहं क्रीत्वा वणिग्वरात्।
तस्मिन्नुवास सुतया धनवत्या तया सह॥३१॥
तदा च तत्रोपाध्यायो विष्णुस्वामीत्यभूत्पुरे।
मनःस्वामीति तस्यासीच्छिष्यो विप्रोऽतिरूपवान्॥३२॥
विद्याभिजनयुक्तोऽपि स यौवनवशीकृतः।
तत्र हंसावलीं नाम वाञ्छति स्म विलासिनीम्॥३३॥
सा च सौवर्णदीनारशतपञ्चकमग्रहीत्।
भाटिं तस्य च तन्नाभूद्व्यषीदत्तेन सोऽन्वहम्॥३४॥
एकदा च तमद्राक्षीत्तादृशं सा वणिक्सुता।
क्षामाभिरामवपुषं धनवत्यत्र हर्म्यतः॥३५॥
तद्रूपहृतचित्ता च भर्त्तुश्चौरस्य तस्य सा।
स्मृत्वानुज्ञां समीपस्थां युक्त्यावोचत्स्वमातरम्॥३६॥
अम्ब विप्रसुतस्यास्य पश्यैते रूपयौवने।
कीदृशे वत विश्वस्य नयनामृतवर्षिणी॥३७॥
एतच्छ्रुत्वैव तस्मिंस्तां बद्धभावामवेत्य च।
तन्माता सा वणिग्भार्या मनस्येवमचिन्तयत्॥३८॥
मद्दुहित्रानया तावद्वरणीयः सुताप्तये।
कश्चिद्भर्त्राज्ञया तस्मादेष एवार्थ्यते न किम्॥३९॥
इत्याकलय्य व्यसृजत्तत्सन्दिश्य मनीषितम्।
रहस्यधारिणीं चेटीं तमानेतुं सुताकृते॥४०॥
सा गत्वा विजने नीत्वा चेटी तस्मै शशंस तत्।
स च श्रुत्वा द्विजयुवा व्यसनी तामभाषत॥४१॥
यदि हंसावलीहेतोर्दीनारशतपञ्चकम्।
सौवर्णं दीयते मह्यं तदेकामेमि यामिनीम्॥४२॥
इति तेनोक्तया चेट्या तया गत्वा तथैव सा।
उक्ता वणिक्स्त्री तस्मै तत्तद्धस्ते प्राहिणोद्धनम्॥४३॥
तद्गृहीत्वा मनःस्वामी तत्पुत्र्या वासकं ययौ।
तस्याः स तन्निसृष्टाया धनवत्याः सचेटिकः॥४४॥

अगले दिन, उस छिपे हुए धन को लेकर, वह अपनी कन्या के साथ वहाँ से निकल पड़ी और चलती-चलती क्रमशः वक्रोलक नगर में जा पहुँची ॥३०॥

वहाँ, वसुदत्त नामक किसी श्रेष्ठ वणिक् से उसने एक मकान खरीद लिया और उसमें अपनी पुत्री धनवती के सहित रहने लगी ॥३१॥

उन्हीं दिनों उस नगर में विष्णुस्वामी नाम के अध्यापक रहते थे। मनःस्वामी नाम का उनका एक ब्राह्मण-शिष्य बड़ा रूपवान् था ॥३२॥

यद्यपि वह विद्यायुक्त और उत्तम कुल का था, तथापि यौवन के वशीभूत होकर वह हंसावली नाम की एक विलासिनी को प्यार करता था ॥३३॥

हंसावली, शुल्क के रूप में, पाँच सौ सोने की मुहरें माँगती थी और इतना धन उसके पास नहीं था, इसलिए वह दिन-रात दुःखी बना रहता था ॥३४॥

एक दिन, उस महाजन की कन्या धनवती ने अपने प्रकोष्ठ से उस युवक को देखा, जो दुबला होने पर भी शरीर से सुन्दर था। उसकी सुन्दरता ने धनवती का चित्त चुरा लिया। उसे अपने चोर पति की आज्ञा का भी स्मरण आया। तब उसने पास ही बैठी अपनी माता से कहा—"माँ, इस ब्राह्मण-पुत्र का रूप और यौवन तो देखो! संसार की आँखों में ये अमृत की कैसी वर्षा कर रहे हैं!" ॥३५–३७॥

यह सुनकर धनवती की माता उस वणिक्-पत्नी ने समझ लिया कि इसका मन उस युवक में रम गया है। तब उसने मन में सोचा—"पति की आज्ञा से, पुत्र-प्राप्ति के लिए, मेरी पुत्री को किसी पुरुष का वरण तो करना ही है, फिर इसी से इसके लिए अनुरोध क्यों न किया जाय?" ॥३८-३९॥

यह सोचकर, उसने इच्छित सन्देश के साथ भेद जाननेवाली एक दासी को भेजा कि वह जाकर उस ब्राह्मण युवक को ले आये ॥४०॥

उस दासी ने जाकर ब्राह्मण युवक को एकान्त में बुलाया और उससे सारी बातें कहीं। उन्हें सुनकर वह व्यसनी ब्राह्मण बोला—"यदि मुझे हंसावली के लिए वे पाँच सौ सोने की मुहरें दें, तो मैं एक रात के लिए वहाँ जाऊँगा।" ॥४१-४२॥

उसके ऐसा कहने पर दासी ने जाकर यह बात महाजन की स्त्री से कही। महाजन की स्त्री ने उसी के हाथ वह धन भेज दिया ॥४३॥

वह धन लेकर मनःस्वामी उस दासी के साथ महाजन की कन्या उस धनवती के भवन में गया, जो उसे दे दी गई थी ॥४४॥

तत्र तां विततोत्कण्ठां कान्तां भूषितभूतलाम्।
स चकोर इव ज्योत्स्नां ददर्श च जहर्ष च।।४५।।
तया समं च नीत्वा तां रात्रिं सम्भोगलीलया।
निर्गत्य स ततो गुप्तं ययौ प्रातर्यथागतम्।।४६।।
सापि तस्माद्धनवती सगर्भाभूद्वणिक्सुता।
काले च सुषुवे पुत्रं लक्षणानुमितायतिम्।।४७।।
परितुष्टां तदा तां च सुतोत्पत्त्या समातृकाम्।
आदिदेश हरः स्वप्ने दर्शितस्ववपुर्निशि।।४८।।
युक्तं हेमसहस्रेण नीत्वा वालमुषस्यमुम्।
सूर्यप्रभनृपस्येह मञ्चस्थं द्वारि मुञ्चतम्।।४९।।
एवं स्यात्क्षेममित्युक्ता शूलिना सा वणिक्सुता।
तन्माता च प्रबुद्ध्यैतं स्वप्नमन्योन्यमूचतुः।।५०।।
नीत्वा च तं तत्यजतुर्भगवत्प्रत्ययाच्छिशुम्।
राज्ञः सूर्यप्रभस्यास्य सिंहद्वारो सहेमकम्।।५१।।
तावच्च तमपि स्वप्ने सुतचिन्तातुरं सदा।
तत्र सूर्यप्रभं भूपमादिदेश वृषध्वजः।।५२।।
उत्तिष्ठ राजन्बालस्ते सिंहद्वारे सकाञ्चनः।
केनापि स्थापितो भव्यो मञ्चकस्थं गृहाण तम्।।५३।।
इत्युक्तः शम्भुना प्रातः प्रबुद्धोऽपि तथैव सः।
द्वाःस्थैः प्रविश्य विज्ञप्तो निर्ययौ नृपतिः स्वयम्।।५४।।
दृष्ट्वा च सिंहद्वारे तं बालं सकनकोत्करम्।
रेखाच्छत्रध्वजाद्यङ्कपाणिपादं शुभाकृतिम्।।५५।।
दत्तो ममोचितः पुत्रः शम्भुनायमिति ब्रुवन्।
स्वयं गृहीत्वा वाहुभ्यां राजधानीं विवेश सः।।५६।।
चकार चोत्सवं तावदसंख्यातं ददद्वसु।
दरिद्रशब्दस्यैकस्य यावदासीन्निरर्थता।।५७।।
नृत्तवाद्यादिभिर्नीत्वा द्वादशाहं ततः स तम्।
पुत्रं चन्द्रप्रभं नाम्ना चक्रे सूर्यप्रभो नृपः।।५८।।
ववृधे राजपुत्रोऽत्र सोऽथ चन्द्रप्रभः क्रमात्।
वपुषेव गुणौघेनाप्याश्रितानन्ददायिना।।५९।।

वहाँ मनःस्वामी ने अत्यन्त उत्कण्ठित उस स्त्री को देखा, जिसने धरती को भूषित कर रखा था। चकोर जैसे चाँदनी को देखता है, वैसे ही धनवती को देखता हुआ मनःस्वामी प्रसन्न हुआ ॥४५॥

उसने धनवती के साथ सम्भोग-क्रीडा में वह रात बिताई। सवेरा होने पर, गुप्त रूप से, वह जैसे आया था, वैसे ही वहाँ से निकलकर चला गया ॥४६॥

महाजन की पुत्री धनवती उसके द्वारा गर्भवती हुई और समय पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसके लक्षण उसके उज्ज्वल भविष्य की सूचना दे रहे थे ॥४७॥

पुत्र के जन्म से अपनी माता के सहित धनवती बहुत सन्तुष्ट हुई। रात में भगवान् शिव ने स्वप्न में उन्हें दर्शन देकर आदेश दिया कि 'सहस्र स्वर्णमुद्राओं के साथ, पालने पर लेटे हुए इस बालक को सवेरे राजा सूर्यप्रभ के दरवाजे पर छोड़ आओ। इससे कल्याण होगा।' शिव जी के ऐसा कहने पर वह वणिक्-पुत्री और उसकी माता जागकर एक दूसरे से स्वप्न की बात कहने लगीं ॥४८–५०॥

भगवान् की बातों का विश्वास करके वे राजा सूर्यप्रभ के सिंहद्वार पर उस बालक को ले जाकर स्वर्णमुद्राओं के सहित छोड़ आईं ॥५१॥

उधर भगवान् शिव ने, पुत्र की चिन्ता में सदा दुःखी रहनेवाले राजा सूर्यप्रभ को भी स्वप्न में आदेश दिया कि, 'राजन्! उठो, तुम्हारे सिंहद्वार पर किसी ने पालने पर लेटे हुए एक सुन्दर बालक को रख दिया है। उसे ले लो' ॥५२-५३॥

भगवान् शिव के ऐसा कहने पर सवेरे जब राजा की नींद खुली, तब द्वारपालों ने आकर उनसे वही बात कही। राजा ने स्वयं बाहर जाकर सिंहद्वार पर उस बालक को देखा, जिसके साथ धनराशि रखी हुई थी और जिसके हाथ-पैरों में छत्र, ध्वज आदि के चिह्नों की रेखाएँ थीं तथा जो शुभ आकृतिवाला था ॥५४-५५॥

"शिवजी ने मेरे योग्य पुत्र ही मुझको दिया है", ऐसा कहते हुए राजा ने उस बालक को अपने हाथों से उठा लिया और राजधानी में प्रवेश किया ॥५६॥

राजा ने उत्सव करके संख्यातीत धन का इस प्रकार दान किया कि उससे एकमात्र दरिद्र शब्द ही निरर्थक हो गया ॥५७॥

नृत्य, वाद्य आदि के द्वारा द्वादशाह करके राजा सूर्यप्रभ ने उस पुत्र का नाम चन्द्रप्रभ रखा ॥५८॥

आश्रित जनों को आनन्द देनेवाले अपने शरीर और गुणों के साथ-साथ राजकुमार चन्द्रप्रभ धीरे-धीरे बड़ा होने लगा ॥५९॥

शनैर्युवा च संजज्ञे शौर्योदार्यश्रुतादिभिः ।
आवर्जितप्रकृतिकः क्षमाभारोद्वहनक्षमः ॥६०॥
तादृशं च ततो दृष्ट्वा तं स सूर्यप्रभः पिता ।
राज्येऽभिषिच्यैव कृती वृद्धो वाराणसीं ययौ ॥६१॥
पृथ्वीं शासति तस्मिंश्च तनये नयशालिनि ।
स राजा तत्र तत्याज चरंस्तीव्रतपस्तनुम् ॥६२॥
बुद्ध्वा पितृविपत्तिं तामनुशोच्य कृतक्रियः ।
सोऽथ चन्द्रप्रभो राजा सचिवान्धार्मिकोऽब्रवीत् ॥६३॥
तातस्य तावत्केनाहमनृणो भवितुं क्षमः ।
तथाप्येकां स्वहस्तेन ददाम्येतस्य निष्कृतिम् ॥६४॥
नीत्वा क्षिपामि गङ्गायामस्थीन्यस्य यथाविधि ।
गत्वा सर्वपितृभ्यश्च गयां पिण्डं ददाम्यहम् ॥६५॥
प्रसङ्गात्तीर्थयात्रां च करोम्यापूर्वसागरम् ।
इत्युक्तवन्तं राजानं मन्त्रिणस्तं व्यजिज्ञपन् ॥६६॥
न देव युज्यते कर्त्तुमेतद्राज्ञः कथञ्चन ।
नहि राज्यं बहुच्छिद्रं क्षणं तिष्ठत्यरक्षितम् ॥६७॥
तदेषा परहस्तेन कार्या ते पित्रुपक्रिया ।
स्वधर्मपालनादन्या तीर्थयात्रा च का तव ॥६८॥
बह्वपायं क्व पान्थत्वं नित्यगुप्ताः क्व पार्थिवाः ।
इति मन्त्रिवचः श्रुत्वा राजा चन्द्रप्रभोऽब्रवीत् ॥६९॥
अलं विकल्पैः पित्रर्थे गन्तव्यं निश्चितं मया ।
द्रष्टव्यानि च तीर्थानि यावन्मे क्षमते वयः ॥७०॥
पश्चात्को वेत्ति किं भावि शरीरे क्षणनश्वरे ।
राज्यं चागमनं यावद्रक्ष्यं युष्माभिरेव मे ॥७१॥
श्रुत्वैतं निश्चयं राज्ञस्तूष्णीमासत मन्त्रिणः ।
ततः प्रयाणसम्भारं सज्जीचक्रे स भूपतिः ॥७२॥
अथाह्नि स शुभे स्नातो हुताग्निः पूजितद्विजः ।
सुयुक्तं रथमास्थाय प्रयातः शान्तवेषभृत् ॥७३॥
सामन्तान्राजपुत्रांश्च पौराञ्जनपदानपि ।
निवर्त्यानिच्छतः कृच्छादासीमान्तानुयायिनः ॥७४॥
ब्राह्मणैर्वाहनारूढैः समं स सपुरोहितः ।
प्रतस्थे सचिवन्यस्तराज्यश्चन्द्रप्रभो नृपः ॥७५॥

क्रमशः वह युवावस्था को प्राप्त होकर धरती का भार सहन करने के योग्य हुआ। शूरता, उदारता, विद्या आदि के द्वारा उसने अपनी प्रजा को जीत लिया॥६०॥

उसके वृद्ध और सफलमनोरथ पिता ने जब उसे सब तरह से योग्य देखा, तब वे उसे राज्य सौंपकर वाराणसी चले गये॥६१॥

नीति जाननेवाला उनका पुत्र जब पृथ्वी पर शासन कर रहा था, तभी राजा ने, कठोर तपस्या करते हुए, वाराणसी में शरीर-त्याग किया॥६२॥

पिता की मृत्यु का संवाद पाकर राजा चन्द्रप्रभ ने उनके लिए शोक किया तथा उनके श्राद्धादि संस्कार किये। फिर, वह धर्मात्मा अपने मन्त्रियों से बोला—"पिताजी से भला मैं किस तरह उऋण हो सकता हूँ? फिर भी, मैं अपने हाथों उनका एक ऋण चुकाऊँगा। मैं उनकी अस्थियाँ ले जाकर विधिपूर्वक गंगा में प्रवाहित करूँगा तथा गया जाकर सभी पितरों को पिण्ड-दान दूँगा। मैं इसी प्रसंग में पूर्व समुद्र तक की तीर्थ यात्रा भी करूँगा।" राजा के ऐसा कहने पर उसके मन्त्री उससे बोले—॥६३—६६॥

"देव! राजाओं को किसी प्रकार ऐसा न करना चाहिए। अनेक छिद्रोंवाला राज्य, अरक्षित होने पर, क्षणभर भी नहीं टिक सकता॥६७॥

अतः, पिता के सम्बन्ध के ये कार्य आपको किसी और के हाथों करा लेना चाहिए। अपने धर्म का पालन करने के अतिरिक्त आपके लिए दूसरी कौन-सी तीर्थयात्रा है? ॥६८॥

सदा सुरक्षित रखे जानेवाले राजाओं को वैसी तीर्थयात्रा का क्या प्रयोजन है, जिसमें अनेक संकटों की सम्भावना है?" अपने मन्त्रियों की यह बात सुनकर राजा चन्द्रप्रभ ने कहा—॥६९॥

"इस बात में उलट-फेर की आवश्यकता नहीं है। पिता के लिए मुझे अवश्य ही यात्रा करनी है। जबतक मैं तरुण और शक्तिशाली हूँ, मुझे तीर्थों का दर्शन करना ही है। पता नहीं, बाद में इस क्षणभंगुर शरीर का क्या हो? जबतक मैं लौटकर नहीं आता, आप लोग मेरे राज्य की रक्षा करेंगे" ॥७०-७१॥

राजा का यह निश्चय सुनकर मन्त्रिगण चुप हो रहे। तब वह राजा अपनी यात्रा के लिए तैयारियाँ करने लगा॥७२॥

एक शुभ दिन में स्नानादि करके उसने अग्निहोत्र की विधि सम्पन्न की और ब्राह्मणों का पूजन किया, फिर शान्त वेश धारण करके, जुते हुए रथ पर बैठकर, उसने प्रस्थान किया॥७३॥

जो सामन्त, राजपुत्र, नगरवासी तथा ग्रामीण, राजा को पहुँचाने के लिए सीमान्त तक आये थे, उनकी इच्छा न रहने पर भी, राजा चन्द्रप्रभ ने बड़ी कठिनाई से उन्हें वापस लौटा दिया और मन्त्रियों को राज्य-शासन का भार सौंपकर, वाहनों पर आरूढ ब्राह्मणों तथा पुरोहितों के साथ वे आगे बढ़े॥७४-७५॥

विचित्रवेषभाषादिविलोकनविनोदितः ।
पश्यन्नानाविधान्देशान्क्रमात्प्राप च जाह्नवीम् ॥७६॥
ददर्श तां च जन्तूनां जलकल्लोलपङ्क्तिभिः ।
त्रिदिवारोहसोपानपद्धतिं सृजतीमिव ॥७७॥
हिमवत्प्रभवां शम्भोः कृतक्रीडाकचग्रहाम् ।
बिभ्रतीं चाम्बिकालीलां देवर्षिगणवन्दिताम् ॥७८॥
रथावतीर्णस्तस्यां च कृतस्नानो यथाविधि ।
चिक्षेपास्थीनि भूपस्य तस्य सूर्यप्रभस्य सः ॥७९॥
दत्तदानः कृतश्राद्धो रथारूढस्ततोऽपि च ।
प्रस्थितः क्रमशः प्राप प्रयागमृषिसंस्तुतम् ॥८०॥
यत्रार्चिराद्यधूमादिमार्गाविव समागतौ ।
गङ्गायमुनयोर्वाहौ भ्रातः सुगतये नृणाम् ॥८१॥
तत्रोपोष्य कृतस्नानदानश्राद्धादिसत्क्रियः ।
वाराणसीं जगामाथ स चन्द्रप्रभभूपतिः ॥८२॥
एत मोक्षं प्रयातेति वदन्त्यामिव दूरतः ।
वाताक्षिप्तसमुत्क्षिप्तैः सुरसद्मध्वजांशुकैः ॥८३॥
तस्यां दिनान्युपोष्य त्रीण्यभ्यर्च्याथ वृषध्वजम् ।
भोगैर्निजोचितैस्तैस्तैः प्रययौ स गयां प्रति ॥८४॥
ततः फलौघनमितैमञ्जुगुञ्जद्विहङ्गमैः ।
पदे पदे सप्रणामं स्तूयमान इवाङ्घ्रिपैः ॥८५॥
विक्षिप्तवन्यकुसुमैरर्च्यमान इवानिलैः ।
नानारण्यान्यतिक्रम्य पुण्यं प्राप गयाशिरः ॥८६॥
विधाय तत्र च श्राद्धं विधिवद्भूरिदक्षिणम् ।
चन्द्रप्रभः स राजात्र धर्मारण्यमुपेयिवान् ॥८७॥
गयाकूपेऽस्य ददतः पितुः पिण्डं तदन्तरात् ।
समुत्तस्थुस्तमादातुं त्रयो मानुषपाणयः ॥८८॥
तद्दृष्ट्वैव स विभ्रान्तः किमेतदिति पार्थिवः ।
कस्मिन्हस्ते क्षिपे पिण्डमित्यपृच्छन्निजान्द्विजान् ॥८९॥

विचित्र प्रकार के वेशों और भाषाओं को देख-सुनकर प्रसन्न होते तथा अनेक प्रकार के देशों को देखते हुए, क्रमशः वे गंगातट पर जा पहुँचे ॥७६॥

राजा ने उस गंगा नदी को देखा, जिसमें जल-कल्लोल से बननेवाली लहरियाँ, प्राणियों के स्वर्गारोहण के लिए बनाई जा रही सीढ़ियों के समान जान पड़ती थीं ॥७७॥

देवताओं, ऋषियों और गणों के द्वारा जिनकी वन्दना की जाती है और हिमवान् से जिनका जन्म हुआ है, वह गंगा, खेल-खेल में भगवान् शंकर की चोटी पकड़नेवाली अम्बिका भवानी की लीला धारण करती-सी जान पड़ती थी ॥७८॥

राजा ने रथ से उतरकर विधिपूर्वक गंगा में स्नान किया और राजा सूर्यप्रभ की अस्थियाँ उनमें प्रवाहित कीं ॥७९॥

दान देकर और श्राद्धादि सम्पन्न करके वे फिर रथ पर सवार होकर चल पड़े और क्रमशः ऋषियों से वन्दित प्रयाग में जा पहुँचे ॥८०॥

वहाँ मनुष्यों की सद्गति के लिए आई हुई गंगा और यमुना की धाराएँ, अग्निशिखा और धुएँ के सम्मिलन के समान शोभित हो रही थीं ॥८१॥

राजा चन्द्रप्रभ ने वहाँ उपवास रखकर स्नान, दान, श्राद्ध आदि उत्तम क्रियाएँ कीं। उसके बाद वह वाराणसी गया ॥८२॥

वायु के वेग से डोलती हुई वहाँ की मन्दिर-ध्वजाएँ दूर से ही ऐसा कहती-सी जान पड़ती थीं कि 'आओ, मोक्ष प्राप्त कर लो' ॥८३॥

वहाँ राजा चन्द्रप्रभ ने तीन दिनों तक उपवास करके, अपनी हैसियत के मुताबिक अनेक प्रकार से भगवान् शिव की अर्चना की, अनन्तर वह गया की ओर चला ॥८४॥

मार्ग के वृक्षों पर पक्षी कूजन कर रहे थे। वे वृक्ष फल के भार से झुककर मानों पग-पग पर राजा चन्द्रप्रभ को प्रणाम करते हुए उसकी स्तुति कर रहे थे। वायु, वन-कुसुमों को गिराकर उसका पूजन-सा कर रही थी। इस प्रकार, अनेक वनों को पार करता हुआ वह पवित्र गयाशिर[1] नामक स्थान में पहुँचा ॥८५-८६॥

राजा चन्द्रप्रभ ने वहाँ पर्याप्त दक्षिणा के सहित विधिपूर्वक श्राद्ध किया और फिर वह धर्मारण्य में गया ॥८७॥

गयाकूप में जब वह पिण्ड देने लगा, तब उसे लेने के लिए कुएँ के भीतर से मनुष्य के तीन हाथ बाहर निकले ॥८८॥

यह देखकर राजा घबरा गया कि यह क्या बात है। उसने अपने ब्राह्मणों से पूछा कि 'इनमें से किस हाथ में मैं पिण्ड दूँ?' ॥८९॥

---

[1] पुराणों में 'गय' नाम के एक असुर की कथा आई है। एक बार उसने कोलाहल पर्वत पर कठोर तपस्या की। यह पर्वत वर्त्तमान गया से ३० मील की दूरी पर स्थित था। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा उसके पास गये और उससे वर माँगने को कहा। उसने यह वर माँगा कि संसार में उसका शरीर ऐसा पवित्र हो कि जो भी उसे छुए, उसको मोक्ष प्राप्त हो। ब्रह्मा वरदान दे कर चले गये, तो यमराज ने जाकर फर्याद की कि इससे बड़ा अनर्थ होगा।

ते तमूचुरयं तावदेकश्चौरस्य निश्चितम् ।
हस्तो लोहमयः शङ्कुर्यस्मिन्देवैष दृश्यते ।।९०।।
द्वितीयो ब्राह्मणस्यायं करो धृतपवित्रकः।
राज्ञः पाणिस्तृतीयोऽयं साङ्गुलीयः सुलक्षणः ।।९१।।
तन्न विद्मः क्व पिण्डोऽयं निक्षेप्यः किमिदं भवेत्।
इत्युक्तस्तैर्द्विजः सोऽत्र राजा लेभे न निश्चयम् ।।९२।।
इत्याख्याय कथाश्चर्यं वेतालोंऽसस्थितस्तदा।
स त्रिविक्रमसेनं तं जगाद नृपतिं पुनः ।।९३।।
तत्कस्य हस्ते देयः स्यात्स पिण्ड इति वक्तु मे।
भवांस्तावत्स एवात्र प्राक्तनः समयश्च ते ।।९४।।
इति वेतालतः श्रुत्वा मुक्तमौनः स भूपतिः।
तं त्रिविक्रमसेनोऽत्र धर्मज्ञः प्रत्यभाषत ।।९५।।
चौरस्य हस्ते दातव्यः स पिण्डः क्षेत्रजो यतः।
चन्द्रप्रभः स नृपतिः पुत्रस्तस्यैव नान्ययोः ।।९६।।
विप्रस्य जनकस्यापि स हि पुत्रो न बुध्यते।
विक्रीतो हि धनेनात्मा तामेकां तेन यामिनीम् ।।९७।।
राज्ञः सूर्यप्रभस्यापि संस्कारादानवर्द्धनैः ।
भवेत्स पुत्रो न स्याच्चेत्स्वधनं तस्य तत्कृते ।।९८।।
शिशोस्तस्य हि शीर्षान्ते मञ्चस्थस्यैव हेम यत् ।
न्यस्तमासीत्तदेवास्य मूल्यं संवर्द्धनादिके ।।९९।।
तस्माद्धस्तोदकप्राप्ता तन्माता यस्य येन सा।
आज्ञा तज्जनने दत्ता यस्य तन्निखिलं धनम् ।।१००।।
तस्य स क्षेत्रजः पुत्रश्चौरस्यैव महीपतिः ।
पिण्डस्तस्यैव हस्ते च देयस्तेनेति मे मतिः ।।१०१।।
इत्युक्तवतो नृपतेस्तस्यांसात्स्वपदमेव वेतालः।
प्रययौ स च त्रिविक्रमसेनो राजा तमन्वयाद्भूयः ।।१०२।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके षड्विंशस्तरङ्गः।

उन लोगों ने राजा से कहा––"राजन्! इनमें से यह एक हाथ तो निश्चय ही किसी चोर का है, जिसमें लोहे की यह सूली दीख पड़ती है; दूसरा हाथ किसी ब्राह्मण का है, जिसमें पवित्री पड़ी हुई है और उत्तम लक्षणोंवाला तथा अँगूठीवाला यह तीसरा हाथ किसी राजा का है। अतः, हमलोग समझ नहीं पाते कि यह क्या बात है और पिण्ड किस हाथ में दिया जाय।" ब्राह्मणों के ऐसा कहने पर राजा कोई निश्चय न कर सका॥९०-९२॥

राजा त्रिविक्रमसेन के कन्धे पर बैठे हुए वेताल ने यह आश्चर्यजनक कथा सुनाकर कहा–– "राजन्! अब तुम बतलाओ कि उनमें से किस हाथ में पिण्ड देना उचित था? इसके बारे में भी तुम्हें पहले कही गई शपथ है"॥९३-९४॥

धर्म जाननेवाले राजा त्रिविक्रमसेन ने वेताल की यह बात सुनी। उसने मौन छोड़कर उत्तर दिया––"राजा चन्द्रप्रभ को उस चोर के हाथ में ही पिण्ड देना चाहिए; क्योंकि वह उसी का क्षेत्रज पुत्र था––शेष दोनों का नहीं। उसे जन्म देनेवाले ब्राह्मण को उसका पिता न मानना चाहिए; क्योंकि उसने धन लेकर एक रात के लिए अपने को बेच दिया था। राजा सूर्यप्रभ ने यद्यपि उसके जातकर्म संस्कार आदि कराये थे और उसका पालन-पोषण किया था, फिर भी वह उसका पुत्र नहीं माना जा सकता; क्योंकि पालने में उस बच्चे के सिर के पास जो स्वर्णमुद्राएँ रखी थीं, वह उसका अपना ही धन था और वह उसके पालन-पोषण का मूल्य था। अतः, उसकी माता जल से संकल्प करके जिसको दी गई थी और जिसने उसे पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा दी थी तथा अपना सारा धन सौंप दिया था, राजा चन्द्रप्रभ उस चोर का ही क्षेत्रज पुत्र था और मेरी समझ से उसी के हाथ में पिण्ड देना उचित था"॥९५–१०१॥

राजा के ऐसा कहने पर वेताल उसके कन्धे से उतरकर फिर अपनी जगह पर जा पहुँचा और राजा भी फिर उसके पीछे-पीछे गया॥१०२॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का षड्विंश तरंग समाप्त

सभी को मोक्ष प्राप्त हो जायगा, तो यमलोक में कोई आयगा ही नहीं और मैं नाम-भर के लिए यमराज रह जाऊँगा। तब अन्य देवताओं से सलाह करके ब्रह्मा फिर गय के पास गये और बलिदान के लिए उन्होंने उसका शरीर माँग लिया। उसका बलिदान करके उन्होंने उसके शरीर को वर्त्तमान गया-क्षेत्र में डाल दिया और उसपर अनेक देवताओं को स्थापित कर दिया। उसके शरीर से जो भूमि-भाग घिरा, उसे गया-क्षेत्र कहते हैं। यह १० वर्ग-मील के घेरे में स्थित है। उसका मस्तक उत्तर की ओर और पैर दक्षिण की ओर है। गय का मस्तक विष्णुपद-मन्दिर से दक्षिण-पश्चिम की ओर माना जाता है। उसे ही 'गयाशिर' कहते हैं। यहाँ पिण्डदान किया जाता है। इसके मुख्य भाग को 'गयामुख' कहते हैं। यहाँ श्राद्ध किया जाता है। 'धर्मारण्य' बोधगया से पूर्व की ओर है। गय की बलि देने के लिए ब्रह्मा ने यहीं यज्ञ किया था। 'गयाशिर' से दक्षिण-पश्चिम की ओर 'गयाकूप' है, जहाँ पितरों को पिण्ड दिया जाता है।––अनुवादक

सप्तविंशः तरङ्गः

विंशो वेतालः। राज्ञो ब्रह्मणपुत्रस्य च कथा

ततो गत्वा गृहीत्वांसे वेतालं शिशपातरोः।
स त्रिविक्रमसेनस्तमुच्चचाल पुनर्नृपः ।।१।।
मौनेन प्रस्थितं तं च वेतालोऽसादुवाच सः।
राजन्कस्तेऽनुवन्धोऽयं गच्छ रात्रिसुखं भज।।२।।
न युक्तं तव नेतुं मां कुभिक्षोस्तस्य गोचरम्।
ग्रहो वा तत्र चेदस्तु कथामेकामिमां शृणु।।३।।
अस्ति स्वरेखानुत्क्रान्तवर्णभेदव्यवस्थिति।
नगरं चित्रकूटाख्यं विभ्राणं सत्यनामताम्।।४।।
तत्रामृतरसासारवर्षी प्रणयचक्षुषाम्।
चन्द्रावलोक इत्यासीद्राजा राजशिखामणिः।।५।।
आलानं शौर्यकरिणस्त्यागस्योत्पत्तिकेतनम्।
विलासवेश्म रूपस्य शशंसुर्यं विचक्षणाः।।६।।
सतीषु सर्वसम्पत्सु यन्न प्राप निजोचिताम्।
भार्यां सैका परं चिन्ता यूनस्तस्याभवद्धृदि।।७।।
एकदा च तदुद्वेगविनोदाय महाटवीम्।
जगामाश्वीयसहितो मृगयायै स भूपतिः।।८।।
तत्र सूकरवृन्दानि भिन्दन्वाणैर्निरन्तरः।
श्यामलाम्बररोचिष्णुस्तमांसीव रविः करैः।।९।।
शाययञ्शरशय्यासु सिहान्समरदुर्मदान्।
मूर्धजैर्धवलैर्भीष्मानर्जुनाधिकविक्रमः ।।१०।।
विपक्षीकृत्य शरभान्पातयन्पर्वतोपमान्।
दम्भोलिकर्कशप्रासपातैर्जम्भारिविक्रमः ।।११।।
रसाद्विविक्षुः स नृपो वनाभ्यन्तरमेककः।
तीव्रपार्ष्णिप्रहारेण प्रेरयामास वाजिनम्।।१२।।
स वाजी तेन च कशाघातेनोत्तेजितो भृशम्।
पार्ष्णिघातेन विषमं समं चागणयन्क्षणात्।।१३।।
वनान्तरं ततोऽनैषीद्वाताधिकजवो नृपम्।
मोहितेन्द्रियवृत्तिं तं व्यतीत्य दशयोजनीम्।।१४।।

सप्तविंश तरंग

विंश वेताल : राजा और ब्राह्मण-पुत्र की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने शिंशपा-वृक्ष के नीचे जाकर पुनः वेताल को कन्धे पर उठाया और वहाँ से प्रस्थान किया ॥१॥

चुपचाप जाते हुए राजा से, उनके कन्धे पर स्थित वेताल ने कहा—"राजन् ! यह तुम्हारा कैसा हठ है ? जाकर रात का सुख भोगो। तुम मुझे जो उस दुष्ट भिक्षु के पास ले जा रहे हो, यह उचित नहीं है। किन्तु यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह हो, तो वैसा ही करो ; पर मेरी यह कहानी सुन लो" ॥२-३॥

अपने, नाम को सत्य करनेवाला चित्रकूट नाम का एक नगर है। वहाँ के लोग वर्ण-व्यवस्था की सीमा का उल्लंघन नहीं करते, अर्थात् सभी वर्णों के लोग अपनी मर्यादा के भीतर रहते हैं ॥४॥

वहाँ राजाओं का शिरोमणि-रूप चन्द्रावलोक नाम का राजा था, जो अपने अनुरक्तों की आँखों में अमृत की धारा बरसाया करता था ॥५॥

ज्ञानी लोग उसे वीरता-रूपी हाथी को बाँधने का खूँटा, त्याग का उत्पत्ति-भवन और रूप का विलास-कक्ष कहते थे ॥६॥

समस्त सम्पत्तियों के रहने पर भी उस युवक राजा के मन में एक ही चिन्ता थी—उसे अपने योग्य पत्नी नहीं मिली थी ॥७॥

एक दिन वह अपने मन का उद्वेग मिटाने के लिए, अश्वारूढ अनुचरों के सहित, एक बड़े वन में शिकार खेलने गया ॥८८॥

जैसे नीले आकाश में चमकता हुआ सूर्य अपनी किरणों से अन्धकार का नाश करता है, वैसे ही वह राजा अपने बाणों से बनैले सुअरों का निरन्तर नाश करने लगा ॥९॥

अर्जुन से भी अधिक पराक्रमी वह राजा, उन सिंहों को शर-शय्या पर सुलाने लगा, जो युद्ध में सहज ही पछाड़े जानेवाले न थे और जो अपने श्वेत केसरों से भयानक जान पड़ते थे ॥१०॥

इन्द्र के समान पराक्रमी वह राजा, वज्र के समान कठोर कत्ते के प्रहार से पर्वत के समान आकारवाले शरभों को पंख-रहित बनाकर गिराता जा रहा था ॥११॥

इस प्रकार, पशुओं का पीछा करते हुए उस राजा ने अकेले ही वन का भीतरी भाग देखने की इच्छा से ऐंड़ी की कड़ी चोट मारकर घोड़े को आगे बढ़ाया ॥१२॥

ऐंड़ी की उस चोट तथा चाबुक की फटकार से घोड़ा बहुत उत्तेजित हो गया। सम और विषम भूमि का ध्यान छोड़कर वह वायु के वेग से भी अधिक तीव्रता से दौड़ता हुआ, क्षणभर में दस योजन की दूरी तय करके, उस राजा को दूसरे वन में ले गया, जो अपना होश-हवाश खो रहा था ॥१३-१४॥

तत्र तस्मिन्स्थिते वाहे राजा दिङ्मोहमेत्य सः।
भ्रमञ्श्रान्तो ददर्शैकमारात्सुविपुलं सरः ॥१५॥
मारुतेनाभिमुख्येन नमितोन्नमितैर्मुहुः।
इत एहीति हस्ताभैः संज्ञां कुर्वदिवाम्बुजैः ॥१६॥
तत्र गत्वा च तुरंगं त्रिपर्याणोपवर्त्तितम्।
स्नातपीतं तरुच्छायबद्धं दत्ततृणोत्करम् ॥१७॥
कृत्वा स्वयं कृतस्नानः पीताम्बुर्गलितश्रमः।
रम्येषु तत्प्रदेशेषु ददौ दृष्टिमितस्ततः ॥१८॥
एकत्र चाशोकतरोरधस्तान्मुनिकन्यकाम्।
आमुक्तपुष्पाभरणां वल्कलांशुकशोभिनीम् ॥१९॥
मुग्धबद्धजटाजूटसविशेषमनोरमाम्।
सखीद्वितीयामाश्चर्यरूपां राजा ददर्श सः ॥२०॥
अचिन्तयच्च पुष्पेषोः पतितः शरगोचरे।
केयं स्यात्सरसि स्नातुं सावित्री किंस्विदागता ॥२१॥
किं हरस्याङ्कविभ्रष्टा गौरी भूयः श्रिता तपः।
अहन्यस्तङ्गतस्येन्दोः कान्तिः किं वा धृतव्रता ॥२२॥
तदेतामुपसृत्येह शनैरुपलभे वरम्।
इत्यालोच्य ययौ तस्याः कन्यायाः सोऽन्तिकं नृपः ॥२३॥
सापि दृष्ट्वा तमायान्तं तद्रूपाकुलितेक्षणा।
पूर्वप्रारब्धपुष्पस्रक्सन्नहस्ता व्यचिन्तयत् ॥२४॥
कोऽयमीदृगरण्येऽस्मिन्सिद्धो विद्याधरो नु किम्।
बतास्य रूपं विश्वस्य कृतार्थीकरणं दृशोः ॥२५॥
एवं वितर्क्य पश्यन्ती तिर्यक्तं त्रपया ततः।
उत्थाय सोरुस्तम्भापि गन्तुं प्रावर्त्ततैव सा ॥२६॥
अथोपेत्य स राजा तामेवं नागरिकोऽब्रवीत्।
आस्तां प्रथमदृष्टस्य दर्शनैकफलार्थिनः ॥२७॥
जनस्य दूरायातस्य सुन्दरि स्वागतादिकम्।
कोऽयं न्वाश्रमिणां धर्मो यदेतस्मात्पलाय्यते ॥२८॥
इत्युक्ते भूभुजा तस्याः सखी तद्वद्विचक्षणा।
तत्रोपवेश्य नृपतेश्चकारातिथ्यसत्क्रियाम् ॥२९॥

वहाँ पहुँचकर जब घोड़ा रुका, तब राजा को दिग्भ्रम हो गया। थका हुआ राजा जब इधर-उधर भटक रहा था, उसने पास ही एक बहुत बड़ा सरोवर देखा ॥१५॥

उस सरोवर में कमल खिले हुए थे, जो वायु के वेग से ऊपर-नीचे उठ-गिरकर मानों अपने हाथों से यह इशारा कर रहे थे कि यहाँ आओ ॥१६॥

वहाँ जाकर राजा ने घोड़े की जीन खोल दी, उसे लोटने को छोड़ दिया, नहलाया, पानी पिलाया और पेड़ की छाया में बाँधकर खाने के लिए घास दे दी ॥१७॥

फिर, उसने स्वयं स्नान करके जल पिया। थकावट दूर होने पर वह उस रमणीक स्थान में इधर-उधर नजर डालने लगा ॥१८॥

राजा ने एक अशोकवृक्ष के नीचे अपनी सखी के साथ बैठी एक मुनिकन्या को देखा। फूलों के गहनों और वल्कल के वस्त्रों से वह शोभित हो रही थी और मनोहर जटाजूट बाँधने के कारण वह बहुत अधिक मनोरम जान पड़ती थी ॥१९-२०॥

कामदेव के बाणों से घायल होकर राजा सोचने लगा—"यह कौन है? यह क्या सावित्री है, जो सरोवर में स्नान करने आई हुई है? या शिव की गोद से छूटी पार्वती है, जो फिर तपस्या करने लगी है? अथवा यह दिन में अस्त हुए चन्द्रमा की कान्ति है, जिसने व्रत धारण कर रखा है? तो मैं धीरे-धीरे इसके पास जाकर वरदान प्राप्त करूँ। ऐसा सोचकर राजा उस कन्या के पास गया ॥२१-२३॥

उस कन्या ने भी जब आते हुए राजा को देखा, तब उनके रूप से उसकी आँखों में चकाचौंध भर गई। फूलों की माला गूँथते हुए उसके हाथ रुक गये। वह सोचने लगी—"ऐसे इस वन में आनेवाला यह कौन है? कोई सिद्ध है या विद्याधर? अरे, इसका रूप तो संसार की आँखों को कृतार्थ करनेवाला है!" ॥२४-२५॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर और लज्जा के कारण तिरछी आँखों से राजा को देखती हुई 'वह उठ खड़ी हुई। यद्यपि उसके पैर जकड़ गये थे, फिर भी वह वहाँ से जाने लगी ॥२६॥

तब चतुर और विनम्र राजा बढ़कर उसके पास गया और बोला—"सुन्दरी! जो आदमी दूर से आया है, जिसे तुमने पहली ही बार देखा है और जो केवल तुम्हारा दर्शन-मात्र चाहता है, उसके स्वागत-सत्कार का तुम आश्रमवासियों का यह कैसा ढंग है कि तुम उससे दूर भागी जा रही हो?" ॥२८-२८॥

राजा के ऐसा कहने पर उसकी सखी ने, जो राजा के समान ही चतुर थी, राजा को वहाँ बैठाया और उसका आतिथ्य-सत्कार किया ॥२९॥

अथ सप्रणयं राजा तां स पप्रच्छ सोत्सुकः।
भद्रे कः पुण्यवान्वंशस्त्वत्सख्यालङ्कृतोऽनया ॥३०॥
कानि श्रोत्रामृतस्यन्दीन्यस्या नामाक्षराणि च।
किं चैवमनया पुष्पसुकुमारमिदं वपुः ॥३१॥
तापसोचितया वृत्या विजनेऽस्मिन्कदर्थ्यते।
इति राज्ञो वचः श्रुत्वा तत्सखी प्रत्युवाच स ॥३२॥
एषा महर्षेः कण्वस्य दुहिता वर्धिताश्रमे।
मेनकासम्भवा कन्या नाम्ना चेन्दीवरप्रभा ॥३३॥
इहास्मिन्सरसि स्नातुमागतानुज्ञया पितुः।
इतोऽत्र नातिदूरेऽस्ति तस्यैतत्पितुराश्रमः ॥३४॥
इत्युक्तः स तया दृष्टो राजारुह्य तुरङ्गमम्।
याचितुं तां सुतां तस्य कण्वर्षेराश्रमं ययौ ॥३५॥
विवेश च विनीतस्तं वहिः स्थापितवाहनः।
जटावल्कलिभिः पूर्णं पादपैरिव तापसैः ॥३६॥
तन्मध्ये च तमद्राक्षीदृषिभिः परिवारितम्।
तेजसाह्लादनं कण्वमुनिं चन्द्रमिव ग्रहैः ॥३७॥
उपेत्य पादयोस्तं च ववन्दे साऽपि तं मुनिः।
कल्पितातिथ्यविश्रान्तं ज्ञानी क्षिप्रादभाषत ॥३८॥
वत्स चन्द्रावलोकैतच्छृणु यद्वच्मि ते हितम्।
जानासि यादृक्संसारे प्राणिनां मृत्युतो भयम् ॥३९॥
तन्निष्कारणमेवैतान्वराकान्हंसि किं मृगान्।
शस्त्रं हि भीतरक्षार्थं धात्रा क्षत्रस्य निर्मितम् ॥४०॥
तत्प्रजा रक्ष धर्मेण समुन्मूलय कण्टकान्।
हस्त्यश्वास्त्रादियोग्याभिश्चललक्ष्यादि साधय ॥४१॥
भुङ्क्ष्व राज्यसुखं देहि धनं दिक्षु यशः किर।
कृतान्तक्रीडितं हिंस्रं मृगयाव्यसनं त्यज ॥४२॥
हन्तुर्वध्यस्य चान्यस्य यत्र तुल्या प्रमादिता।
किं तेन बह्वनर्थेन पाण्डोर्वृत्तं न किं श्रुतम् ॥४३॥
एतत्कण्वमुनेर्वाक्यं श्रुत्वा समभिनन्द्य च।
राजा चन्द्रावलोकस्तमर्थज्ञः प्रत्यभाषत ॥४४॥
अनुशिष्टोऽस्मि भगवन्कृतो मेऽनुग्रहः परः।
मृगयाया निवृत्तोऽहं प्राणिनः सन्तु निर्भयाः ॥४५॥

उत्सुक राजा ने उससे प्रीतिपूर्वक पूछा—"भद्रे ! तुम्हारी इस सखी ने किस पुण्यवान् वंश को अलंकृत किया है ? इसके नाम के वे कौन-से अक्षर हैं, जो कानों में अमृत उड़ेलते हैं ? और इस निर्जन वन में, पुष्प के समान कोमल अपने शरीर को तपस्वियों जैसी चर्या से यह क्यों कष्ट दे रही हैं ?" राजा की ये बातें सुनकर उसकी सखी ने उत्तर दिया—॥३०-३१॥

"यह महर्षि कण्व की पुत्री हैं। आश्रम में पाली-पोसी गई हैं। मेनका से उत्पन्न इस कन्या का नाम इ दीवरप्रभा है। पिता की आज्ञा से यह इस सरोवर में स्नान करने के लिए आई है। इसके पिता का आश्रम भी यहाँ से बहुत दूर नहीं है" ॥३३-३४॥

उसके ऐसा कहने पर राजा प्रसन्न हुए। घोड़े पर सवार होकर वे उस कन्या को माँगने के लिए कण्व ऋषि के आश्रम को गये ॥३५॥

राजा ने घोड़े को बाहर ही छोड़ दिया। फिर, उन्होंने उस आश्रम में प्रवेश किया, जो तपस्वियों से भरा हुआ था। जटा और वल्कल धारण करनेवाले वे तपस्वी आश्रम के वृक्षों के समान जान पड़ते थे। उनके बीच, ऋषियों से घिरे हुए कण्व मुनि को राजा ने देखा, जो अपने तेज से दूसरों को प्रसन्न कर रहे थे—जैसे ग्रहों से घिरा हुआ चन्द्रमा प्रसन्न करता है ॥३६-३७॥

राजा ने पास जाकर मुनि के चरणों की वन्दना की। मुनि ने भी उनका आतिथ्य किया। जब राजा विश्राम कर चुके, तब उस ज्ञानी मुनि ने शीघ्रतापूर्वक कहा—॥३८॥

"वत्स, चन्द्रावलोक ! तुम्हारे हित की यह जो बात मैं कहता हूँ, उसे तुम सुनो। संसार में प्राणियों को मृत्यु से जैसा भय है, वह तो तुम जानते ही हो, फिर अकारण ही तुम इन बेचारे मृगों की हत्या क्यों करते हो ? विधाता ने डरे हुओं की रक्षा के लिए क्षत्रिय के शस्त्र का निर्माण किया है ॥३९-४०॥

"अतः तुम धर्म से प्रजा की रक्षा करो, शत्रुओं का नाश करो और (युद्धोपयोगी) हाथी-घोड़ों आदि के अभ्यास से चंचला लक्ष्मी का साधन करो; राज्य-सुख भोगो, धन का दान करो और दिशाओं में अपना यश फैलाओ। काल की क्रीडा के समान हिंसक, मृगया के इस व्यसन को तुम छोड़ दो; क्योंकि अनेक अनर्थोंवाली उस मृगया से क्या लाभ है, जो मारनेवाले, मरनेवाले और दूसरों के लिए भी प्रमाद का कारण है ? क्या तुमने राजा पाण्डु का वृत्तान्त नहीं सुना ?" ॥४१-४३॥

अभिप्राय को जाननेवाले राजा चन्द्रावलोक ने कण्व मुनि की ये बातें सुनकर उनका सम्मान करते हुए उत्तर दिया—"भगवन् ! आपने मुझपर बड़ा अनुग्रह किया कि मुझे यह शिक्षा दी। मैं मृगया का व्यसन छोड़ता हूँ। सब प्राणी अब निर्भय हो जायँ" ॥४४-४५॥

तच्छ्रुत्वोवाच स मुनिस्तुष्टोऽहममुना तव।
प्राणिष्वभयदानेन तद्वृणीष्वेप्सितं वरम् ॥४६॥
इत्युक्तस्तेन मुनिना कालज्ञः स नृपोऽभ्यधात्।
तुष्टोऽसि चेत्सुतां देहि मह्यमिन्दीवरप्रभाम् ॥४७॥
इत्यर्थितवते सोऽस्मै राज्ञे स्नानगतां मुनिः।
अप्सरःसम्भवां कन्यां तां ददावनुरूपिकाम् ॥४८॥
ततः कृतविवाहस्तां मुनिभार्याप्रसाधिताम्।
कृतानुयात्रामुद्वाष्पैस्तापसैरा निजाश्रमात् ॥४९॥
इन्दीवरप्रभां भार्यामादायारुह्य वाजिनम्।
चन्द्रावलोकस्तरसा प्रतस्थे स ततो नृपः ॥५०॥
गच्छतश्चास्य विततं दृष्टवा तद्दिनचेष्टितम्।
रविः खिन्न इवास्ताद्रिमस्तके समुपाविशत् ॥५१॥
ददृशे मृगनेत्रा च क्रमादुद्रिक्तमन्मथा।
ध्वान्तनीलपटच्छन्नरूपा रात्र्यभिसारिका ॥५२॥
तस्मिन्काले पथि प्राप स राजाश्वत्थपादपम्।
सज्जनाशयसुस्वच्छवापीजलतटस्थितम् ॥५३॥
शाखापत्रौघसंछन्नशाद्वलश्यामलस्थलम्।
दृष्टवा च तं वसामीह रात्रिमित्यकरोद्धृदि ॥५४॥
ततोऽवतीर्य तुरगाद्दत्त्वा तस्मै तृणोदकम्।
विश्रम्य पुलिने वाप्या उपयुक्ताम्बुमारुतः ॥५५॥
मुनिपुत्रिकया सार्धं तया तस्य तरोस्तले।
प्रियया पुष्पशय्यायां संविवेश स भूपतिः ॥५६॥
तत्क्षणं च समाक्रम्य तिमिरांशुकहारिणा।
सरागमाननं प्राच्याश्चुचुम्बे शशलक्ष्मणा ॥५७॥
विरेजुश्चन्द्रकिरणैः समाश्लिष्य प्रसारिताः।
वीतमानावकाशाश्चाशेषा वितमसो दिशः ॥५८॥
अत्रान्तरे लतागुल्मविवरप्रसृतैः करैः।
ऐन्दवै रत्नदीपाभैस्तरुमूले विभासिते ॥५९॥
सोऽपि राजा सिषेवे तामाश्लिष्येन्दीवरप्रभाम्।
नवसङ्गमसोत्कण्ठसरसं सुरतोत्सवम् ॥६०॥

यह सुनकर मुनि ने कहा—"तुमने प्राणियों को य
हुआ हूँ; अतः तुम इच्छित वर माँगो" ॥४६॥

मुनि के ऐसा कहने पर समय को जाननेवाले रा
मुझपर प्रसन्न हैं, तो अपनी कन्या इन्दीवरप्रभा को मुझे दे

राजा के इस प्रकार याचना करने पर मुनि ने अप
कर चुकी थी, अप्सरा से जिसका जन्म हुआ था और जो

अनन्तर, उसके साथ विवाह करके राजा वहाँ स
द्वारा सजाई-सँवारी अपनी स्त्री इन्दीवरप्रभा को साथ ले
हुए और उन्होंने शीघ्रतापूर्वक वहाँ से प्रस्थान किया। आँ
की सीमा तक पहुँचा आये ॥४९-५०॥

राजा जब इस तरह चले जा रहे थे, उस दिन के
खिन्न हो गया और अस्ताचल के शिखर पर जा बैठा ॥५

तभी क्रमशः रात्रि-रूपी अभिसारिका दीख पड़
युक्त) थी, जिसके मन में अनुराग जाग उठा था और जि
रूप को छिपा रखा था ॥५२॥

इसी समय राजा ने मार्ग में पीपल का एक वृक्ष
स्थित था, जिसका जल सज्जनों के मन के समान निर्मल

शाखाओं और पत्तों के समूह से ढकी हुई तथा हरी
मन में सोचा कि रात मैं यहीं बिताऊँगा ॥५४॥

अनन्तर, राजा घोड़े से उतर पड़े। उन्होंने उ
तालाब के किनारे उपयुक्त जल और वायु के द्वारा विश्राम
प्रिया उस मुनिकन्या के साथ पुष्प की शय्या पर सोये ॥

उसी समय चन्द्रमा ने आगे बढ़कर अन्धकार की
युक्त मुख का चुम्बन किया ॥५७॥

चन्द्रमा की किरणों से आलिंगित समस्त दिशाए
हो गई ॥५८॥

इस बीच चन्द्रमा की, रत्नदीपों के समान किरणे
जिनसे वह वृक्ष जड़ तक प्रकाशित हो गया ॥५९॥

राजा ने इन्दीवरप्रभा का आलिंगन करके और
सुरतोत्सव मनाया ॥६०॥

विस्रसयामास शनैर्नीवीं तस्यास्त्रपामिव ।
अखण्डयच्च दशनैमुर्ग्धभावमिवाधरम् ॥६१॥
रचयामास कुचयोर्यौवनद्विपकुम्भयोः ।
करजक्षतसद्रत्ननवनक्षत्रमालिकाम् ॥६२॥
मुखं कपोलौ नयने मुहुः परिचुचुम्ब च ।
लावण्यामृतनिःष्यन्दमापिबन्निव सर्वतः ॥६३॥
इत्थं निधुवनक्रीडासुखेन स तया सह ।
निनाय कान्तया तत्र राजा क्षणमिव क्षपाम् ॥६४॥
प्रातश्च मुक्तशयनः सान्ध्यस्यानन्तरं विधेः ।
स्वसैन्यावाप्तये यातुमुन्मुखोऽभूद्वधूसखः ॥६५॥
तावच्च नक्तं लुप्ताब्जखण्डशोभं निशापतिम् ।
भियेवास्ताद्रिकुहरप्रलीनं ध्वस्ततेजसम् ॥६६॥
हन्तुकाम इव क्रोधादाताम्रतररोचिषि ।
प्रसारितकरोत्क्षिप्तमण्डलाग्रे विवस्वति ॥६७॥
अकस्मादाजगामात्र विद्युत्पिङ्गशिरोरुहः ।
कज्जलश्यामलः कालमेघाभो ब्रह्मराक्षसः ॥६८॥
अन्त्रमालाकृतोत्तंसः केशयज्ञोपवीतभृत् ।
खादन्नरशिरोमांसं कपालेन पिबन्नसृक् ॥६९॥
सोऽट्टहासं विमुच्योग्रं मुखेनाग्नि वमन्क्रुधा ।
दंष्ट्राकरालो राजानं भर्त्सयन्निजगाद तम् ॥७०॥
पाप ज्वालामुखं नाम विद्धि मां ब्रह्मराक्षसम् ।
निवासश्चैष मेऽश्वत्थो वेदैरपि न लङ्घ्यते ॥७१॥
सोऽयं त्वया समाक्रम्य परिभुक्तः स्त्रिया सह ।
रात्रिचर्यागतस्याद्य तद्भुङ्क्ष्वाविनयात्फलम् ॥७२॥
एषोऽहं ते दुराचार कामोपहतचेतसः ।
उत्पाट्य हृदयं भोक्ष्ये पास्याम्येव च शोणितम् ॥७३॥
तच्छ्रुत्वैव तथा घोरं तमवध्यमवेक्ष्य च ।
त्रस्ताङ्गनः सविनयं भयात्प्रत्यब्रवीन्नृपः ॥७४॥
अजानतापराद्धं यन्मया ते तत्क्षमस्व मे ।
तवाहमाश्रमे ह्यस्मिन्नतिथिः शरणाश्रितः ॥७५॥
दास्यामि चेप्सितं तुभ्यमानीय पुरुषं पशुम् ।
येन ते भविता तृप्तिस्तत्प्रसीद क्रुधं त्यज ॥७६॥

उन्होंने धीरे-धीरे इन्दीवरप्रभा की नीवी (अधोवस्त्र) खिसका दी, मानों उसकी लज्जा को दूर कर दिया। अपने दाँतों से उसके अधरों को खण्डित करके मानों उसके मुग्ध भाव को नष्ट कर दिया॥६१॥

इन्दीवरप्रभा के दोनों स्तन मानों यौवन-रूपी हाथी के मस्तक थे। राजा ने उनपर अपने नखक्षत-रूपी उत्तम रत्नों से नवीन नक्षत्रमाला की रचना की॥६२॥

राजा ने उसके मुख का, कपोलों का और नेत्रों का बार-बार चुम्बन किया, मानों वह उसके सभी अंगों से झरनेवाले लावण्य-रूपी अमृत का पान कर रहा हो॥६३॥

इस प्रकार, राजा ने इदीवरप्रभा के साथ रतिक्रीडा का आनन्द लेते हुए वह रात एक क्षण के समान बिता दी॥६४॥

सवेरा होने पर राजा ने शय्या का त्याग किया। सन्ध्या-वन्दन से निबटकर और अपनी पत्नी को साथ लेकर वे अपनी सेना से मिलने के लिए आगे बढ़े॥६५॥

इसी बीच वह चन्द्रमा, जिसने रात में कमलों की शोभा छिपा दी थी, किन्तु अब जिसका तेज नष्ट हो रहा था। भय के कारण अस्ताचल की गुफा में जा छिपा; क्योंकि क्रोध के कारण जिनकी किरणें रक्तिम हो गई थीं और जिन्होंने अपने प्रभा-मण्डल के आगे अपनी बाँहें फैला रखी थीं, वे सूर्यनारायण उसका नाश करने के लिए आ रहे थे॥६६-६७॥

अचानक ही वहाँ एक ब्रह्मराक्षस आ पहुँचा। उसके केश बिजली के समान पीले थे। वह काजल के समान काला था और कालमेघ के समान जान पड़ता था। उसने अँतड़ियों की माला और केशों का यज्ञोपवीत पहन रखा था। वह मनुष्य के मस्तक का मांस खा रहा था और खोपड़ी से रक्त पी रहा था। क्रोध के कारण उसके मुख से आग निकल रही थी। उसकी दाढ़ें बड़ी भयावनी थीं। प्रचण्ड अट्टहास करके, राजा का तिरस्कार करते हुए, उसने कहा—॥६८-७०॥

"अरे नीच! मैं ज्वालामुख नाम का ब्रह्मराक्षस हूँ। पीपल का यह वृक्ष मेरा निवास-स्थान है। देवता भी इसकी अवमानना नहीं कर सकते। मैं रात को जब घूमने-फिरने गया था, तभी आज तूने इस जगह पर हमला किया और स्त्री के सहित यहाँ रात बिताई। अब तू अपने इस अविनय का फल भोग। अरे दुसंचारी! वासना से तेरी सुध-बुध जाती रही है। मैं तेरा हृदय निकालकर खा जाऊँगा और तेरा रुधिर पी जाऊँगा।" ॥७१-७३॥

राजा ने ब्रह्मराक्षस की ये बातें सुनीं। ब्रह्मराक्षस बड़ा भयानक था। राजा ने देखा कि उसे मार डालना सम्भव नहीं है। उसने यह भी देखा कि डर से उसकी पत्नी घबरा गई है। अतः, उसने विनयपूर्वक उत्तर दिया—॥७४॥

"अनजाने मुझसे आपका जो अपराध हुआ है, उसे आप क्षमा करें। मैं आपके आश्रम में आया हुआ अतिथि हूँ। आपकी शरण में हूँ। मैं आपको मनचाहा मनष्य या पशु लाकर दूंगा, जिससे आपकी तृप्ति हो जायगी। अतः, क्रोध त्यागकर आप प्रसन्न हों।"॥७५-७६॥

तच्छ्रुत्वोवाच स मुनिस्तुष्टोऽहममुना तव।
प्राणिष्वभयदानेन तद्वृणीष्वेप्सितं वरम् ॥४६॥
इत्युक्तस्तेन मुनिना कालज्ञः स नृपोऽभ्यधात्।
तुष्टोऽसि चेत्सुतां देहि मह्यमिन्दीवरप्रभाम् ॥४७॥
इत्यर्थितवते सोऽस्मै राज्ञे स्नानगतां मुनिः।
अप्सरःसम्भवां कन्यां तां ददावनुरूपिकाम् ॥४८॥
ततः कृतविवाहस्तां मुनिभार्याप्रसाधिताम्।
कृतानुयात्रामुद्वाष्पैस्तापसैरा निजाश्रमात् ॥४९॥
इन्दीवरप्रभां भार्यामादायारुह्य वाजिनम्।
चन्द्रावलोकस्तरसा प्रतस्थे स ततो नृपः ॥५०॥
गच्छतश्चास्य विततं दृष्टवा तद्दिनचेष्टितम्।
रविः खिन्न इवास्ताद्रिमस्तके समुपाविशत् ॥५१॥
ददृशे मृगनेत्रा च क्रमादुद्रिक्तमन्मथा।
ध्वान्तनीलपटच्छन्नरूपा रात्र्यभिसारिका ॥५२॥
तस्मिन्काले पथि प्राप स राजाश्वत्थपादपम्।
सज्जनाशयसुस्वच्छवापीजलतटस्थितम् ॥५३॥
शाखापत्त्रौघसंछन्नशाद्वलश्यामलस्थलम् ।
दृष्टवा च तं वसामीह रात्रिमित्यकरोद्धृदि ॥५४॥
ततोऽवतीर्य तुरगाद्दत्त्वा तस्मै तृणोदकम्।
विश्रम्य पुलिने वाप्या उपयुक्ताम्बुमारुतः ॥५५॥
मुनिपुत्रिकया सार्ध तया तस्य तरोस्तले।
प्रियया पुष्पशय्यायां संविवेश स भूपतिः ॥५६॥
तत्क्षणं च समाक्रम्य तिमिरांशुकहारिणा।
सरागमाननं प्राच्याश्चुचुम्बे शशलक्ष्मणा ॥५७॥
विरेजुश्चन्द्रकिरणैः समाश्लिष्य प्रसारिताः।
वीतमानावकाशाश्चाशेषा वितमसो दिशः ॥५८॥
अत्रान्तरे लतागुल्मविवरप्रसृतैः करैः।
ऐन्दवै रत्नदीपाभैस्तरुमूले विभासिते ॥५९॥
सोऽपि राजा सिषेवे तामाश्लिष्येन्दीवरप्रभाम्।
नवसङ्गमसोत्कण्ठसरसं सुरतोत्सवम् ॥६०॥

यह सुनकर मुनि ने कहा—"तुमने प्राणियों को यह जो अभय-दान दिया, इससे मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ; अतः तुम इच्छित वर माँगो" ॥४६॥

मुनि के ऐसा कहने पर समय को जाननेवाले राजा चन्द्रावलोक ने कहा—"यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो अपनी कन्या इन्दीवरप्रभा को मुझे दे दें" ॥४७॥

राजा के इस प्रकार याचना करने पर मुनि ने अपनी वह कन्या राजा को दे दी, जो स्नान कर चुकी थी, अप्सरा से जिसका जन्म हुआ था और जो राजा के योग्य थी ॥४८॥

अनन्तर, उसके साथ विवाह करके राजा वहाँ से चलने को तैयार हुए। मुनि-पत्नी के द्वारा सजाई-सँवारी अपनी स्त्री इन्दीवरप्रभा को साथ लेकर राजा चन्द्रावलोक घोड़े पर सवार हुए और उन्होंने शीघ्रतापूर्वक वहाँ से प्रस्थान किया। आँखों में आँसू भरे हुए तपस्वी उन्हें आश्रम की सीमा तक पहुँचा आये ॥४९-५०॥

राजा जब इस तरह चले जा रहे थे, उस दिन के विस्तृत चरित्र को देखकर सूर्य मानों खिन्न हो गया और अस्ताचल के शिखर पर जा बैठा ॥५१॥

तभी क्रमशः रात्रि-रूपी अभिसारिका दीख पड़ी, जो मृगनयनी (मृगशिरा नक्षत्र से युक्त) थी, जिसके मन में अनुराग जाग उठा था और जिसने गहरे काले रंग के वस्त्र में अपने रूप को छिपा रखा था ॥५२॥

इसी समय राजा ने मार्ग में पीपल का एक वृक्ष देखा, जो एक ऐसे तालाब के किनारे स्थित था, जिसका जल सज्जनों के मन के समान निर्मल था ॥५३॥

शाखाओं और पत्तों के समूह से ढकी हुई तथा हरी दूबवाली उस जगह को देखकर राजा ने मन में सोचा कि रात मैं यहीं बिताऊँगा ॥५४॥

अनन्तर, राजा घोड़े से उतर पड़े। उन्होंने उसे खास खिलाई और पानी पिलाया। तालाब के किनारे उपयुक्त जल और वायु के द्वारा विश्राम करके, राजा उसी वृक्ष के नीचे अपनी प्रिया उस मुनिकन्या के साथ पुष्प की शय्या पर सोये ॥५५-५६॥

उसी समय चन्द्रमा ने आगे बढ़कर अन्धकार की चादर हटा दी और प्राची के अनुराग-युक्त मुख का चुम्बन किया ॥५७॥

चन्द्रमा की किरणों से आलिंगित समस्त दिशाएँ, मान का त्याग करके, अन्धकार-रहित हो गईं ॥५८॥

इस बीच चन्द्रमा की, रत्नदीपों के समान किरणें, लता-गुल्मों के अन्तराल में फैल गईं, जिनसे वह वृक्ष जड़ तक प्रकाशित हो गया ॥५९॥

राजा ने इन्दीवरप्रभा का आलिंगन करके और नवीन संगम की उत्कण्ठा से युक्त सरस सुरतोत्सव मनाया ॥६०॥

इति राज्ञो वचः श्रुत्वा शान्तः स ब्रह्मराक्षसः।
अस्तु को दोष इत्यन्तर्विचिन्त्यैवमभाषत ॥७७॥
यः सप्तवर्षदेश्योऽपि महासत्त्वो विवेकवान्।
त्वदर्थे स्वेच्छयात्मानं दद्याद्ब्राह्मणपुत्रकः ॥७८॥
हन्यमानं च यं माता हस्तयोः पादयोः पिता।
अवष्टभ्यातिसुदृढं संनिवेश्य महीतले ॥७९॥
तादृशं पुरुषं मह्यमुपहारीकरोषि चेत्।
स्वयं खड्गप्रहारेण हत्वा सप्तदिनान्तरे ॥८०॥
तत्ते क्षमिष्ये न्यक्कारमन्यथा तु महीपते।
सद्यो विनाशयिष्यामि त्वामहं सपरिच्छदम् ॥८१॥
श्रुत्वैतत्स भयाद्राजा प्रतिपेदे तथेति तत् ।
तिरोवभूव च ब्रह्मराक्षसः सोऽपि तत्क्षणम् ॥८२॥
अथ चन्द्रावलोकोऽसौ राजा सेन्दीवरप्रभः।
हयारूढस्ततः प्रायात्सैन्यं चिन्वन्सुदुर्मनाः ॥८३॥
अहो अहं मृगयया मदनेन च मोहितः।
गतः पाण्डुरिवाकाण्डे विनाशं वत वालिशः ॥८४॥
प्राप्यते ह्युपहारोऽस्य राक्षसस्तादृशः कुतः।
तन्निजं नगरं तावद्यामि पश्यामि भावि किम् ॥८५॥
इति ध्यायन्स च प्राप स्वसैन्यं चिन्वदागतम्।
तद्युक्तश्च सदारः स्वं चित्रकूटमगात्पुरम् ॥८६॥
तत्र तस्योचितां भार्याप्राप्तिं वीक्ष्य कृतोत्सवे।
राष्ट्रेऽन्तर्गतदुःखस्य दिनशेषो जगाम सः ॥८७॥
द्वितीयेऽह्नि रहः सर्वं स्ववृत्तान्तं शशंस सः।
मन्त्रिभ्यस्तेषु चैकस्तं मन्त्री सुमतिरब्रवीत् ॥८८॥
विषादो देव ते मा भूदुपहारं हि तादृशम्।
आनेष्याम्यहमन्विष्य वह्वाश्चर्या हि मेदिनी ॥८९॥
एवमाश्वास्य राजानं स सौवर्णीमकारयत्।
मन्त्री सप्ताब्ददेशीयवालकप्रतिमां द्रुतम् ॥९०॥
रत्नैरलङ्कृतां तां च कृत्वा कर्णीरथार्पिताम्।
भ्रामयामास नगरग्रामघोषेष्वितस्ततः ॥९१॥

राजा की ये बातें सुनकर ब्रह्मराक्षस शान्त हुआ। मन-ही-मन ऐसा सोचकर कि 'चलो' इसमें हानि ही क्या है, उसने कहा—॥७७॥

"अगर तुम सात दिनों के अन्दर किसी ऐसे ब्राह्मण-पुत्र की भेंट मुझे दो, जो सात वर्ष का होने पर भी बड़ा वीर हो, विवेकी हो और अपनी इच्छा से तुम्हारे लिए अपने को दे सके; और जब वह मारा जाय, तो भूमि पर डालकर उसकी माता उसके हाथ और पिता उसके पाँव मजबूती से पकड़ रहें, तथा तलवार के प्रहार से तुम्हीं उसे मारो, तो मैं तुम्हारे इस अविनय को क्षमा कर दूंगा, नहीं तो राजन् मैं शीघ्र ही तुम्हारे लाव-लश्कर के साथ तुम्हें मार डालूंगा" ॥७८—८१॥

यह सुनते ही, भय के कारण राजा ने 'ठीक है, ऐसा ही होगा' कहकर उसकी बात मान ली और वह ब्रह्मराक्षस भी तत्काल ही वहाँ से अन्तर्हित हो गया॥८२॥

अब राजा चन्द्रावलोक, इन्दीवरप्रभा के साथ घोड़े पर सवार होकर, अपनी सेना को ढूँढ़ता हुआ चल पड़ा, लेकिन उसका मन बड़ा उदास था॥८३॥

राजा सोचने लगा कि हाय, मैं कैसा बावला हूँ कि आखेट और काम से मोहित होकर सहसा ही, पाण्डु के समान, विनाश को प्राप्त हुआ हूँ। भला, मुझे ब्रह्मराक्षस के लिए वैसा उपहार कहाँ मिल सकेगा ? तो फिर मैं अपने नगर को ही चलूँ और देखूँ कि होनहार क्या है !' वह ऐसा सोचता जा रहा था कि उसकी सेना उसे ढूंढ़ती हुई उससे आ मिली। अब वह अपनी सेना और अपनी स्त्री के साथ अपने नगर, चित्रकूट में आया॥८४—८६॥

राजा को अनुकूल पत्नी मिली है, यह देखकर राजधानी में उत्सव मनाया गया; लेकिन मन का दुःख मन में ही दबाये हुए राजा ने बाकी दिन बिता दिया॥८७॥

अगले दिन एकान्त में, उसने अपने मन्त्रियों से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनकर उनमें से सुमति नामक एक मन्त्री ने कहा—॥८८॥

"देव ! आप चिन्ता न करें। मैं ढूँढ़-खोजकर वैसा उपहार ला दूंगा; क्योंकि धरती अनेक आश्चर्यों से भरी है" ॥८९॥

राजा को इस प्रकार आश्वासन देकर मन्त्री ने शीघ्र ही सात वर्ष की वयवाले एक बालक की सोने की मूर्त्ति बनवाई। उसने मूर्त्ति को रत्नों से सजाकर एक पालकी पर बैठा दिया। वह पालकी इस घोषणा के साथ नगरों, गाँवों और चरागाहों में जहाँ-तहाँ घमाई गई—॥९०-९१॥

यः सप्तवर्षदेशीयः स्वेच्छया विप्रपुत्रकः।
ददाति सर्वसत्त्वार्थमात्मानं ब्रह्मरक्षसे ॥९२॥
उपहाराय सत्त्वस्थो मातापित्रोरनुज्ञया।
हन्यमानश्च यस्ताभ्यां हस्तपादे प्रगृह्यते ॥९३॥
तस्मै ग्रामशतोपेतां हेमरत्नमयीमिमाम्।
ददाति प्रतिमां राजा पित्रोरुपचिकीर्षवे ॥९४॥
इति च भ्राम्यमाणायास्तस्याः प्रतिकृतेः शिशोः।
पटहोद्घोषणां मन्त्री सोऽग्रेऽजस्रमदापयत् ॥९५॥
तावच्छ्रुत्वा तदेकस्मिन्नग्रहारे द्विजार्भकः।
कोऽपि सप्ताब्ददेशीयोऽप्यतिधीरोद्भुताकृतिः ॥९६॥
पूर्वाभ्यासेन वाल्येऽपि सदा परहिते रतः।
प्रजापुण्यपरीपाक इव साकारतां गतः ॥९७॥
उवाचोद्घोषकानेत्य युष्मदर्थे ददाम्यहम्।
आत्मानं पितरो गत्वा बोधयित्वाभ्युपैमि च ॥९८॥
इत्यूचिवांस्तान्मुदितान्स वालोऽनुमतश्च तैः।
गत्वा गृहं जगाद स्वौ पितरौ रचिताञ्जलिः ॥९९॥
ददामि सर्वसत्त्वार्थं देहमेतं विनश्वरम्।
तन्मामभ्यनुजानीतं हतां चापदमात्मनः ॥१००॥
आत्मप्रतिकृतिं ह्येतां गृहीत्वा वितरामि वाम्।
हेमरत्नमयीं राज्ञा दत्तां ग्रामशतान्विताम् ॥१०१॥
एवं मे युष्मदानृण्यं परार्थश्चैव सिद्ध्यति।
युवां च ध्वस्तदारिद्र्यौ वहून्पुत्रानवाप्स्यथः ॥१०२॥
इत्युक्तवन्तं सहसा पितरौ तौ तमूचतुः।
किमेतद्भाषसे पुत्र वातेन क्षुभितोऽसि किम् ॥१०३॥
किं वा ग्रहगृहीतोऽसि प्रलपस्यन्यथा कथम्।
को ह्यर्थैर्घातयेत्पुत्रं देहं दद्याच्च कः शिशुः ॥१०४॥
एतत्पित्रोर्वचः श्रुत्वा वालः पुनरुवाच सः।
न बुद्धिमोहाज्जल्पामि शृणुतं मेऽर्थवद्वचः ॥१०५॥
अवाच्याशुचिसम्पूर्णमुत्पत्त्यैव जुगुप्सितम्।
दुःखक्षेत्रं विनाश्येव शरीरमचिरादिदम ॥१०६॥

"सात वर्ष का जो ब्राह्मण-पुत्र, समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए, अपनी इच्छा से, अपना शरीर ब्रह्मराक्षस को सौंपेगा और इस कार्य के लिए न केवल अपने माता-पिता की अनुमति ही ले लेगा, बल्कि जब वह मारा जायगा, तब स्वयं उसके माता-पिता उसका हाथ-पैर पकड़े रहेंगे, अपने पिता-माता की भलाई चाहनेवाले ऐसे बालक को राजा, सौ गाँवों के साथ, यह सोने और रत्नोंवाली मूर्त्ति दे देंगे"॥९२—९४॥

इस प्रकार, जब बालक की वह प्रतिमा घुमाई जा रही थी, मन्त्री के द्वारा उसके आगे-आगे ढिंढोरा पीटकर लगातार यह घोषणा कराई जा रही थी॥९५॥

किसी अग्रहार (ब्राह्मणों को दान में मिला हुआ गाँव) में, सात वर्ष के एक ब्राह्मण बालक ने यह घोषणा सुनी। वह बालक बड़ा वीर और अद्भुत आकृतिवाला था॥९६॥

पूर्वजन्म के अभ्यास से वह बचपन में भी सदा परोपकार में लगा रहता था। ऐसा जान पड़ता था, मानों प्रजा के पुण्य-फल ने ही उसके रूप में शरीर धारण कर रखा हो॥९७॥

ढिंढोरा पीटनेवालों के पास जाकर उसने कहा कि 'आप लोगों के लिए मैं अपने को अर्पित करूँगा। मैं अपने पिता-माता को समझा-बुझाकर अभी आ जाता हूँ'॥९८॥

उसकी ये बातें सुनकर ढिंढोरा पीटनेवाले प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे अनुमति दे दी। घर जाकर बालक ने हाथ जोड़कर अपने पिता-माता से कहा—"समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए मैं अपना यह नश्वर शरीर दे रहा हूँ; अतः आप लोग मुझे आज्ञा दें और इस प्रकार अपनी दरिद्रता का भी अन्त करें॥९९-१००॥

"इसके लिए राजा सौ गाँवों के सहित सोने और रत्नोंवाली मेरी यह प्रतिकृति (मूर्त्ति) मुझे देंगे, जिसे मैं आप लोगों को सौंप दूँगा॥१०१॥

इस प्रकार, मैं आप लोगों से भी उऋण हो जाऊँगा और पराया कार्य भी सिद्ध कर सकूँगा। दरिद्रता से छुटकारा पाकर आप लोग भी अनेक पुत्र प्राप्त कर सकेंगे"॥१०२॥

पुत्र की ये बातें सुनकर उसके पिता-माता ने कहा—"बेटा! क्या तू पागल हो गया है? अथवा तुझे ग्रह-बाधा उत्पन्न हो गई है? क्योंकि ऐसा न होता, तो फिर तू ऐसी बहकी-बहकी बातें क्यों करता? भला धन के लिए कौन अपने पुत्र की हत्या करना चाहेगा और कौन बालक ही अपना शरीर देना चाहेगा?"॥१०३-१०४॥

पिता-माता की ये बातें सुनकर उस बालक ने फिर कहा—"मेरी बुद्धि नहीं मारी गई कि मैं बकवास कर रहा हूँ। आप मेरी अर्थयुक्त बातें सुनें॥१०५॥

"यह शरीर ऐसी अपवित्र वस्तुओं से भरा है, जिन्हें कहा नहीं जा सकता। जन्म से ही यह जगुप्सित है, दुःखों का घर है और शीघ्र ही इसे नष्ट हो जाना है॥१०६॥

तदेतेनात्यसारेण सुकृतं यदुपार्ज्यते।
तदेव सारं संसारे कृतबुद्धिभिरुच्यते ॥१०७॥
सर्वभूतोपकाराच्च किमन्यत्सुकृतं परम्।
तत्रापि पित्रोर्भक्तिश्चेत्किं देहाद्दृश्यते फलम् ॥१०८॥
इत्यादिवाक्यैः स शिशुः शोचन्तौ दृढनिश्चयः।
तावङ्गीकारयामास पितरौ स्वमनीषितम् ॥१०९॥
गत्वा च राजभृत्येभ्यः प्रतिमां तां हिरण्मयीम्।
आनीय प्रददौ ताभ्यां सग्रामशतशासनाम् ॥११०॥
ततः कृत्वाग्रतो राजभृत्यांस्तानेव स द्रुतम्।
पितृभ्यामन्वितः प्रायाच्चित्रकूटं नृपान्तिकम् ॥१११॥
तत्र चन्द्रावलोकस्तं वीक्ष्याखण्डिततेजसम्।
रक्षारत्नमिव प्राप्तं बालं राजा ननन्द सः ॥११२॥
आरोप्य गजपृष्ठं च रचितस्रग्विलेपनम्।
निनाय तं सपितृकं केतनं ब्रह्मरक्षसः ॥११३॥
तत्र मण्डलमालिख्य तस्याश्वत्थस्य पार्श्वतः।
विहितोचितपूजेन हुते वह्नौ पुरोधसा ॥११४॥
आविर्बभूव मुक्ताट्टहासः सोऽध्ययनं पठन्।
घूर्णन्रक्तासवक्षीबो जृम्भमाणो मुहुः श्वसन् ॥११५॥
ज्वलन्नेत्रो दिशः कुर्वन्देहच्छायान्धकारिताः।
ज्वालामुखो महारौद्रदर्शनो ब्रह्मराक्षसः ॥११६॥
ततश्चन्द्रावलोकस्तं दृष्ट्वा प्रह्वोऽब्रवीन्नृपः।
नरोपहारो भगवन्नानीतः स मया तव ॥११७॥
सप्तमो दिवसश्चाद्य प्रतिज्ञातस्य सोऽस्य ते।
तत्प्रसीद गृहाणैतमुपहारं यथाविधि ॥११८॥
इति राज्ञार्थितो विप्रकुमारं ब्रह्मराक्षसः।
स तमालोकयामास जिह्वया सृक्किणी लिहन् ॥११९॥
तत्क्षणं स महासत्त्वो बालो हृष्यन्नचिन्तयत्।
स्वदेहदानेनानेन सुकृतं यन्मयार्जितम् ॥१२०॥
तेन मा भून्मम स्वर्गो मोक्षो वा निरुपक्रियः।
भूयात्तु मे परार्थाय देहो जन्मनि जन्मनि ॥१२१॥

"इसलिए बुद्धिमान् लोगों का कहना है कि इस अत्यन्त असार शरीर से संसार में जितना भी पुण्य उपार्जित किया जा सके, वही सार वस्तु है" ॥१०७॥

"समस्त प्राणियों का उपकार करने से बढ़कर बड़ा पुण्य और क्या हो सकता है ? और, उसमें भी अगर माता-पिता की भक्ति हो, तो देह-धारण करने का उससे अधिक फल और क्या होगा ?" ॥१०८॥

इसी तरह की बातें कहकर उस दृढनिश्चय बालक ने, शोक करते हुए अपने माता-पिता से अपनी मनचाही बात स्वीकार करा ली ॥१०९॥

फिर, वह राजा के सेवकों के पास गया और वह सुवर्ण-मूर्त्ति तथा उसके साथ सौ गाँवों का दानपत्र लाकर उसने अपने पिता-माता को दे दिया ॥११०॥

इसके बाद उन राजसेवकों को आगे करके, अपने माता-पिता के साथ वह शीघ्रतापूर्वक राजा के पास चित्रकूट की ओर चल पड़ा ॥१११॥

चित्रकूट में जब राजा चन्द्रावलोक ने अखण्डित तेजवाले उस बालक को देखा, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें जान पड़ा कि उस बालक के रूप में उनकी रक्षा करनेवाला रत्न आ पहुँचा है ॥११२॥

राजा ने फूलों और चन्दन के लेप से उस बालक को सजाया और उसे हाथी की पीठ पर बैठाकर, उसके माता-पिता के साथ, वे उसे ब्रह्मराक्षस के स्थान पर ले गये ॥११३॥

उस अश्वत्थ-वृक्ष के निकट वेदी बनाकर राजा के पुरोहित ने उचित उपचार के सहित, विधिपूर्वक, ज्यों ही अग्नि में आहुति डाली, त्यों ही अट्टहास करता हुआ और मन्त्र पढ़ता हुआ वह ब्रह्मराक्षस प्रकट हुआ। लाल रंग की मदिरा पीने के कारण उन्मत्त होकर वह डोल रहा था, जमुहाइयाँ ले रहा था और तेजी से साँस छोड़ रहा था। उसकी आँखें जल रही थीं, मुँह से ज्वाला निकल रही थी और उसके शरीर की छाया से दिशाओं में अन्धकार-सा फैल गया था। इस प्रकार, वह बड़ा भयानक दीख रहा था ॥११४—११६॥

राजा चन्द्रावलोक ने उसे देखकर नम्रतापूर्वक कहा—"भगवन्, आज मेरी प्रतिज्ञा का सातवाँ दिन है। अपने वादे के मुताबिक मैं यह मानव-उपहार आपके लिए ले आया हूँ। अतः, आप प्रसन्न होकर विधिपूर्वक इसे ग्रहण करें" ॥११७-११८॥

राजा के इस प्रकार निवेदन करने पर उस ब्रह्मराक्षस ने अपनी जीभ से होठों के दोनों किनारों को चाटते हुए ब्राह्मण के उस बालक को देखा ॥११९॥

उसी समय उस महापराक्रमी बालक ने प्रसन्न होते हुए सोचा कि इस प्रकार अपने शरीर का दान करने मैंने जो पुण्य अर्जित किया है, उससे मुझे ऐसा स्वर्ग अथवा मोक्ष न मिले, जिससे दूसरों का उपकार नहीं होता, बल्कि जन्म-जन्मान्तर में मेरा यह शरीर परोपकार के काम आये ॥१२०-१२१॥

इति सङ्कल्पयत्येव तस्मिन्नापूर्यत क्षणात्।
विमानैः सुरसङ्घानां पुष्पवृष्टिमुचां नभः।।१२२।।
अथाग्रे प्रापितं तस्य वालं तं ब्रह्मराक्षसः।
माता जग्राह करयोः पिता चरणयोस्तथा।।१२३।।
ततो यावत्तमाकृष्टखड्गो राजा जिघांसति।
तावज्जहास स शिशुस्तथा सर्वेऽत्र ते यथा।।१२४।।
सब्रह्मराक्षसास्त्यक्त्वा स्वं स्वं कर्म सविस्मयाः।
रचिताञ्जलयः प्रह्वास्तन्मुखप्रेक्षिणोऽभवन्।।१२५।।
इति व्याख्याय वेतालो विचित्रसरसां कथाम्।
तं त्रिविक्रमसेनं स निजगाद नृपं पुनः।।१२६।।
तद्ब्रूहि राजन्को हेतुर्यत्तेन हसितं सदा।
वालेनैतादृशेऽप्यस्मिन्प्राणान्तसमयेऽप्यहो ।।१२७।।
कौतुकं च महन्मेऽत्र तदेतच्चेन्न वक्ष्यसि।
जानानोऽपि ततो मूर्धा शतधा ते स्फुटिष्यति।।१२८।।
इति वेतालतः श्रुत्वा स राजा प्रत्युवाच तम्।
शृणु योऽभूदभिप्रायो हासे तस्य शिशोस्तदा।।१२९।।
यो नाम दुर्बलो जन्तुः स भये प्रत्युपस्थिते।
क्रन्दति प्राणहेतोः स्वं पितरं मातरं तथा।।१३०।।
तद्व्यपाये च राजानमार्त्तत्राणाय निर्मितम्।
तदलाभेऽपि यद्यत्र यथासम्भवि दैवतम्।।१३१।।
तस्य त्वेकस्थमप्येतत्सर्वं सञ्जातमन्यथा।
पितृभ्यां हस्तपादं हि रुद्धं तस्यार्थतृष्णया।।१३२।।
राजा च त्रातुमात्मानं स्वयं तं हन्तुमुद्यतः।
दैवतं तत्र यद्ब्रह्मरक्षस्तत्तस्य भक्षकम्।।१३३।।
अध्रुवस्यान्तविरसस्याधिव्याधिक्षतस्य च।
देहस्यार्थे विमूढानां तेषामीदृग्विडम्बना।।१३४।।
ब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्राद्या यत्रावश्यं विनाशिनः।
तत्रैषामीदृशी कापि शरीरस्थैर्यवासना।।१३५।।
एतत्तन्मोहवैचित्र्यं दृष्ट्वा मत्वा च वाञ्छितम्।
सिद्धमाश्चर्यहर्षाभ्यां स जहास द्विजार्भकः।।१३६।।

ज्यों ही उसने मन में ये बातें सोचीं, त्यों ही, क्षणभर में, फूल बरसाते हुए देव-समूह के विमानों से आकाश भर गया॥१२२॥

अनन्तर, उस बालक को ब्रह्मराक्षस के सम्मुख लाया गया। माँ ने उसके हाथ पकड़े, पिता ने पैर। इसके बाद राजा ज्यों ही तलवार उठाकर उसे मारने चला, त्यों ही उस बालक ने ऐसा अट्टहास किया कि ब्रह्मराक्षस के सहित सब लोग विस्मय में पड़ गये। अपना-अपना काम छोड़ हाथ जोड़कर तथा सिर झुकाकर वे उस बालक का मुँह देखने लगे॥१२३--१२५॥

इस प्रकार, यह विचित्र और सरस कथा सुनाकर वेताल ने फिर राजा त्रिविक्रमसेन से कहा--"राजन्! प्राणान्त के ऐसे समय में भी जो वह बालक हँस पड़ा, इसका कारण क्या था? मुझे इस बात का बड़ा कौतूहल है। अतः, जानते हुए भी यदि आप इसका कारण न बतलायेंगे, तो आपका मस्तक सौ टुकड़े हो जायगा"॥१२६—१२८॥

वेताल की ये बातें सुनकर राजा ने उसे उत्तर दिया कि उस समय उस बालक के हँसने का जो कारण था, वह सुनो—॥१२९॥

"जो प्राणी दुर्बल होता है, वह भय के उपस्थित होने पर प्राणों की रक्षा के लिए अपने माता-पिता को पुकारता है। उनके न होने पर वह राजा को पुकारता है; क्योंकि जो आर्त्तजनों की रक्षा के लिए ही राजा बनाये जाते हैं। यदि उसे राजा का भी सहारा नहीं मिलता, तो फिर वह अपने कुलदेवता का स्मरण करता है॥१३०-१३१॥

"उस बालक के लिए तो ये सभी वहाँ उपस्थित थे, लेकिन सब-के-सब प्रतिकूल हो गये थे। माता-पिता ने धन के लोभ से उसके हाथ-पैर पकड़ रखे थे, राजा अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए स्वयं उसका वध करने को उद्यत था और वहाँ देवता के रूप में जो ब्रह्मराक्षस था, वही उसका भक्षक था॥१३२-१३३॥

"जो शरीर नाशवान् है, जिसका अन्त कड़वा है तथा जो आधि-व्याधि से जर्जर है, उसके लिए भी उन मूढ मतिवाले लोगों की ऐसी विडम्बना देखकर उसे आश्चर्य हुआ। जिन शरीरों में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और शंकर का निवास होता है, वे भी अवश्य नष्ट हो जाते हैं और उसी शरीर को स्थिर बनाये रखने की इन सबमें कैसी विचित्र वासना है। वह बालक उन लोगों की देह-ममता की यह विचित्रता देखकर अचरज में पड़ा और अपनी अभिलाषा को पूर्ण जानकर प्रसन्न हुआ और इसी आश्चर्य और प्रसन्नता से वह हँस पड़ा"॥१३४—१३६॥

इत्युक्त्वा विरतस्य तस्य नृपतेरंसात्स भूयोऽपि त-
द्वेतालो झगिति स्वकं पदमगादन्तर्हितो मायया।
राजा सोप्यविकल्पमेव पुनरप्यन्वग्ययौ तं जवा-
दक्षोभ्यं हृदयं वतेह महतामम्भोनिधीनामिव ।।१३७।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके सप्तविंशस्तरङ्गः।

अष्टाविंशस्तरङ्गः

एकविंशो वेतालः। अनङ्गमञ्जर्या मणिवर्मणश्च कथा

अथ गत्वा पुनः प्राप्य शिशपातस्ततोऽग्रहीत्।
स त्रिविक्रमसेनोंऽसे वेतालं तं नराधिपः ।।१।।
आगच्छन्तं च तं भूयः स वेतालोऽब्रवीन्नृपम्।
राजन्नुद्गाढकन्दर्पां शृण्वेकां वच्मि ते कथाम् ।।२।।
अस्ति शक्रपुरीवान्या धात्रा सुकृतिनां कृते।
दिवश्च्युतानां विहिता विशालाख्या पुरी भुवि ।।३।।
तस्यां वभूव नृपतिः पद्मनाभ इति श्रुतः।
सच्चक्रनन्दकः[1] श्रीमानाक्रान्तवलिराजकः ।।४।।
तस्मिन्पृथ्वीपतौ तस्यां नगर्यां सुमहावणिक्।
अर्थदत्ताभिधानोऽभूद्धनैर्विजितवित्तपः ।।५।।
तस्यैका च सुतानङ्गमञ्जरीत्युदपद्यत।
स्वः सुन्दरीप्रतिकृतिर्भुवि धात्रेव दर्शिता ।।६।।
दत्ता च तेन वणिजा वणिग्वरसुताय सा।
मणिवर्माभिधानाय ताम्रलिप्तीनिवासिने ।।७।।
एकापत्यतया चातिवत्सलः स न तां वणिक्।
भर्तृयुक्तां सुतां गेहात्तत्याजानङ्गमञ्जरीम् ।।८।।
तस्य चानङ्गमञ्जर्याः पतिर्द्वेष्यो वभूव सः।
मणिवर्मा सरोगस्य कटुतिक्तमिवौषधम् ।।९।।
पत्युस्तु सास्य सुमुखी जीवितादप्यभूत्प्रिया।
धनर्द्धिः कृपणस्येव कृच्छ्रात्सुचिरसञ्चिता ।।१०।।

---

[1] 'सच्चक्र नन्दकः' के दो अर्थ हैं--(क) विष्णु का उत्तम चक्र और नन्दक नाम की उनकी तलवार; (ख) सज्जनों के समूह को प्रसन्न करनेवाला।--अनु०

राजा जब ऐसा कहकर चुप हो गये, तब वह वेताल अपनी माया के बल से उनके कन्धे से अन्तर्हित होकर फिर अपनी जगह पर जा पहुँचा। राजा भी विना आगा-पीछा किये शीघ्रतापूर्वक पुनः उसके पीछे-पीछे चल पड़े; क्योंकि बड़े लोगों का हृदय समुद्र के समान होता है, उसे किसी भी तरह क्षुब्ध नहीं किया जा सकता ॥१३७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
सप्तविंश तरंग समाप्त

अष्टाविंश तरंग

एकविंश वेताल : अनंगमंजरी और मणिवर्मा की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने उस शिंशपा-वृक्ष के नीचे जाकर पुनः उस वेताल को अपने कन्धे पर उठा लिया ॥१॥

आते हुए उस राजा से वेताल ने फिर कहा—"राजन्! मैं तुम्हें गाढ़े काम-रस से भरी एक कथा सुनाता हूँ। सुनो" ॥२॥

इस धरती पर विशाला नाम की एक नगरी है। वह मानों दूसरी इन्द्रपुरी के समान है, जिसे विधाता ने स्वर्गभ्रष्ट पुण्यात्माओं के लिए बनाया है ॥३॥

वहाँ पद्मनाभ नाम का एक राजा था। जैसे उत्तम चक्र और नन्दक नाम का खड्ग धारण करनेवाले भगवान् विष्णु ने बलि को वश में कर रखा था, वैसे ही सज्जनों के समूह को प्रसन्नता देनेवाले उस राजा ने अन्य पराक्रमी श्रीमन्तों को वशवर्त्ती बना रखा था ॥४॥

उस राजा की उस नगरी में अर्थदत्त नाम का एक बहुत बड़ा व्यापारी रहता था, जिसने अपने धन से कुबेर को भी पराजित कर दिया था ॥५॥

उस व्यापारी के यहाँ अनंगमंजरी नाम की एक कन्या का जन्म हुआ। ब्रह्मा ने मानों उसके रूप में स्वर्ग की सुन्दरियों का एक नमूना पृथ्वी पर प्रदर्शित किया था ॥६॥

उस व्यापारी ने ताम्रलिप्ति में रहनेवाले एक श्रेष्ठ व्यापारी के मणिवर्मा नामक पुत्र से अपनी इस कन्या का विवाह कर दिया ॥७॥

एकमात्र सन्तान होने के कारण, अनंगमंजरी पर अर्थदत्त का बड़ा स्नेह था, अतः उसे पति के घर न भेजकर उसने बेटी और दामाद को अपने ही घर रखा ॥८॥

जैसे रोगी व्यक्ति को कड़वी और तीखी दवाएँ अप्रिय होती हैं, उसी प्रकार अनंगमंजरी को अपना वह मणिवर्मा पति अप्रिय जान पड़ता था; लेकिन उसके पति को वह सुन्दरी अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय थी, जैसे किसी कृपण को बड़ी कठिनाई से, बहुत दिनों से संचित अपनी सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥९-१०॥

एकदा चान्तिकं पित्रोस्ताम्रलिप्तीं निजं गृहम्।
उत्कण्ठादिनिमित्तेन मणिवर्मा जगाम सः॥११॥
ततो दिनेषु यातेषु तीक्ष्णसूर्यांशुसायकैः।
प्रोषितानां निरुद्धाध्वा घर्मकाल इहाभ्यगात्॥१२॥
वसन्तविरहादुष्णा निःश्वासाः कुकुभामिव।
मल्लिकापाटलामोदमेदुरा मरुतो ववुः॥१३॥
उत्पेतुः पवनोद्धूता गगने रेणुराजयः।
दूत्यो घनागमायेव प्रहितास्तप्तया भुवा॥१४॥
आकाङ्क्षिततरुच्छायाः कठोरातपतापिताः।
पथिका इव यान्ति स्म चिरेण दिवसा अपि॥१५॥
चन्द्रांशुपाण्डुरुचयो गाढाश्लेषसुखप्रदम्।
विना हेमन्तमगमन्नतिदुर्बलतां निशाः॥१६॥
तत्कालं चन्दनालेपधवला सा वणिक्सुता।
संवीततनुकौशेयशोभितानङ्गमञ्जरी ॥१७॥
ददर्श स्वगृहोत्तुङ्गववातायनगतैकदा।
आप्तसख्या युता भव्यं युवानं विप्रपुत्रकम्॥१८॥
सञ्चरन्तं रतिप्राप्त्यै नवोत्पन्नमिव स्मरम्।
कमलाकरनामानं पुत्रं राजपुरोधसः॥१९॥
सोऽपीन्दोरिव मूर्त्तिं तां कान्तां दृष्ट्वोपरि स्थिताम्।
कुमुदाकरतां भेजे सानन्दः कमलाकरः॥२०॥
तयोरभूदमूल्यं तन्मनः संवननं तदा।
स्मरगुर्वाज्ञया यूनोरन्योन्यस्यावलोकनम्॥२१॥
उन्मूलितह्रियौ तौ च दूरविक्षिप्तचेतसा।
रजोभिभूतौ जह्राते मन्मथावगवात्यया॥२२॥
दृष्ट्वा च मदनाविष्टः सख्या स कमलाकरः।
सहस्थितेन नीतोऽभूत्कथञ्चिद्भवनं निजम्॥२३॥
सापि तं नामतोऽन्विष्य विवशानङ्गमञ्जरी।
तया स्वया समं सख्या प्राविशद्वासकं शनैः॥२४॥
तत्र सञ्चिन्तयन्ती च कान्तं कामज्वरातुरा।
नापश्यन्नाशृणोत्किञ्चिल्लुठन्ती शयनीयके॥२५॥

माता-पिता से मिलने की उत्कण्ठा से एक दिन मणिवर्मा अपने घर ताम्रलिप्ति चला गया ॥११॥

कुछ समय बीतने पर ग्रीष्म ऋतु आ गई। सूर्य-किरणों के तीखे बाणों ने अपने परदेशियों की राह रोक दी, अर्थात् परदेश गये हुए व्यक्तियों के लिए लौट सकना कठिन हो गया ॥१२॥

मालती और गुलाब की सुगन्ध से लदी हवाएँ बहने लगीं, मानो वसन्त के विरह से दिशाएँ गरम उसाँसें छोड़ रही हों ॥१३॥

वायु से उड़ाई हुई धूलराशि आकाश तक जा पहुँची, मानों तपी हुई धरती ने बादलों को बुलाने के लिए अपनी दूतियाँ वहाँ भेजी हों ॥१४॥

कड़ी धूप से तपाये हुए और वृक्षों की छाया की इच्छा रखनेवाले पथिक के समान, दिन भी धीरे-धीरे सरकने लगे ॥१५॥

चन्द्रकिरणों के समान पीली पड़ी रातें, गाढ़ आलिंगन का सुख देनेवाले हेमन्त के विना, बहुत दुबली पड़ गई थीं ॥१५॥

उन्हीं दिनों, एक बार अनंगमंजरी अपनी विश्वस्त सखियों के साथ, अपने भवन के एक ऊँचे झरोखे पर बैठी थी। चन्दन के लेप से उसकी गोराई निखर आई थी। उसने शरीर को शोभा देनेवाले रेशमी वस्त्र पहन रखे थे। झरोखे पर बैठी हुई अनंगमंजरी ने एक सुन्दर और तरुण ब्राह्मण-पुत्र को देखा ॥१७-१८॥

वह राजपुरोहित का कमलाकर नामक पुत्र था। मार्ग में जाता हुआ वह ऐसा जान पड़ता था, मानों कामदेव ही नया जन्म पाकर रति को ढूँढ़ने निकला हो ॥१९॥

कमलाकर ने भी ऊँचे झरोखे पर बैठी, चन्द्रमा की मूर्त्ति के समान, उस रमणी को देखा। कमलाकर नाम होने पर भी, उसे देखकर वह आनन्द से कुमुदाकर बन गया। अभिप्राय यह कि चन्द्रमा को देखकर जैसे कुमुद खिल जाते हैं, वैसे वह भी खिल उठा ॥२०॥

उन दोनों तरुणों ने जब एक दूसरे को देखा, तब कामदेव-रूपी गुरु की आज्ञा से उन दोनों के मन बहुमूल्य बन्धन में बँध गये ॥२१॥

काम की तेज आँधी से उनके मन कहीं दूर जा भटके, उनकी लज्जा जाती रही और वे रजोगुण से अभिभूत हो गये ॥२२॥

कमलाकर के साथ जो मित्र था, उसने जब कमलाकर को इस प्रकार काम-विह्वल देखा, तब वह किसी तरह उसे घर ले गया ॥२३॥

अनंगमंजरी भी उस तरुण के नाम का पता लगाकर, विवशतापूर्वक, अपनी सखी के साथ, धीरे-धीरे घर के अन्दर गई ॥२४॥

काम-ज्वर से आतुर बनी हुई अनंगमंजरी, अपने प्रिय का स्मरण करती हुई, बिछावन पर छटपटाती रही। वह न कुछ देख पाती, न सुन ही पाती थी ॥२५॥

गतेष्वहःसु द्वित्रेषु सत्रपा सभया च सा।
असह्या विरहोन्मादं विसोढुं कृशपाण्डुरा ॥२६॥
दुष्प्रापप्रियसंयोगनिरास्था नक्तमेकदा।
गवाक्षप्रेरितकरेणाकृष्टेव हिमांशुना ॥२७॥
सुप्ते परिजने स्वैरं निर्गत्य मरणोन्मुखी।
जगाम स्वगृहोद्यानवापीं तरुलतावृताम् ॥२८॥
तत्र पित्रा कृतोदारप्रतिष्ठां कुलदेवताम्।
उपेत्य चण्डिकां देवीं नत्वा स्तुत्वा व्यजिज्ञपत् ॥२९॥
अस्मिञ्जन्मनि चेद्भर्त्ता न मया कमलाकरः।
प्राप्तस्तद्देवि भूयान्मे सोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि ॥३०॥
इत्युक्त्वा पुरतस्तस्या देव्याः साशोकपादपे।
पाशं विरचयामास स्वोत्तरीयेण रागिणी ॥३१॥
तावदाप्ता सखी तस्याः सा प्रबुध्यात्र वासके।
तामदृष्ट्वा तदुद्यानं दैवादागाद्विचिन्वती ॥३२॥
तत्र दृष्ट्वा च तां पाशमर्पयन्तीं तथा गले।
मामेत्युक्त्वा प्रधाव्यैव पाशं तस्यास्तमच्छिनत् ॥३३॥
सापि तां वीक्ष्य सम्प्राप्तां कृत्तपाशां निजां सखीम्।
अनङ्गमञ्जरी भूमौ पपाताधिकदुःखिता ॥३४॥
आश्वासिता स्वसख्या च तथा पृष्टा च सा क्षणात्।
दुःखहेतुं समाख्याय पुनरेनामभाषत ॥३५॥
सखि मालतिके तन्मे दुर्लभे प्रियसङ्गमे।
गुर्वादिपरतन्त्राया न सुखं मरणात्परम् ॥३६॥
इति ब्रुवाणेवानङ्गशराग्निज्वलिता भृशम्।
सानङ्गमञ्जरी मोहं ययौ नैराश्यनिःसहा ॥३७॥
कष्टं स्मराज्ञा दुर्लङ्घ्या यथा नीता दशामिमाम्।
अन्याविनीतवनिताहासिनीयं सखी मम ॥३८॥
इत्यादि विलपन्तीं च तां सा मालतिका सखी।
शनैराश्वासयामास शीताम्बुपवनादिभिः ॥३९॥
तापोपशान्तये चास्याश्चकार नलिनीदलैः।
शय्यां ददौ च हृदये हारं तुहिनशीतलम् ॥४०॥

इसी तरह दो-तीन दिन बीत गये। अनंगमंजरी लज्जा, भय और असह्य विरहोन्माद से दुबली तथा पीली पड़ गई॥२६॥

प्रिय-मिलन बड़ा कठिन था। अनंगमंजरी निराश-सी हो गई थी। एक रात उसने प्राण-त्याग करने का निश्चय किया। चन्द्रमा, खिड़की की राह, अपने किरणों के हाथ फैलाकर उसे बुला-सा रहा था। उसकी परिचारिकाएँ जब सो गईं, तब चपके-से उठकर वह अपने घरेलू बगीचे की बावली की ओर चली, जो वृक्षों और लताओं से ढकी हुई थी॥२७-२८॥

वहाँ उसके पिता ने अपनी कुलदेवी चामुण्डा की भव्य मूर्त्ति स्थापित कराई थी। अनंगमंजरी ने देवी के सम्मुख जाकर नमन किया, उनकी स्तुति की और कहा–"देवि! इस जन्म में तो मैं कमलाकर को पति के रूप में नहीं पा सकी, किन्तु और जन्मों में वह मेरा ही पति हो"॥२९-३०॥

देवी के सम्मुख ऐसा कहकर अनुरागिणी अनंगमंजरी ने अपनी पिछौरी से एक फन्दा बनाकर अशोक के वृक्ष में डाल दिया॥३१॥

इसी बीच महल में जब उसकी अन्तरंग सखी की नींद खुली, तब उसने अनंगमंजरी को वहाँ नहीं देखा। उसे ढूँढती हुई संयोग से वह उसी बगीचे में आ पहुँची॥३२॥

वहाँ उसने अनंगमंजरी को गले में फन्दा डालते हुए देखा। 'नहीं, नहीं' कहकर वह दौड़ी और उसने उस फन्दे को काट दिया॥३३॥

फन्दे के कट जाने पर अनंगमंजरी ने वहाँ आई हुई अपनी सखी को देखा। बहुत अधिक दुःख के कारण वह भूमि पर गिर पड़ी॥३४॥

इसी के द्वारा आश्वासन देने और बार-बार पूछने पर उसने अपने दुःख का कारण बतलाया और कहा—"सखी मालतिका, मैं बड़ों के अधीन हूँ। प्रिय-मिलन दुर्लभ होने के कारण मेरे लिए मरण के सिवा कोई दूसरा सुख नहीं है"॥३५-३६॥

इतना कहते-न-कहते अनंगमंजरी, जो काम-बाणों की आग से बुरी तरह जल रही थी और निराशा को सह नहीं सकती थी, अचेत हो गई॥३७॥

हाय, हाय! कामदेव का शासन कितना अलंघनीय होता है, जिसने मेरी इस सखी की ऐसी दशा कर डाली है, जो दूसरी कुमार्गगामिनी स्त्रियों का उपहास किया करती थी"॥३८॥

इस प्रकार से विलाप करती हुई उसकी सखी मालतिका ने उसे धीरे-धीरे ठण्डे जल के छींटों से और पंखा झलकर उसे सावधान किया। उसका ताप दूर करने के लिए उसने कमल के पत्तों की सेज बनाई और हृदय पर बरफ के समान शीतल हार पहनाया॥३९-४०॥

ततः साश्रुरुवाचैतां सखीं सानङ्गमञ्जरी।
सखि हारादिभिर्नायं दाहोऽन्तर्मम शाम्यति ।।४१।।
येन प्रशाम्यति पुनः स्वबुद्ध्यैव विधत्स्व तत्।
मां संयोजय कान्तेन जीवितं मे यदीच्छसि ।।४२।।
एवमुक्तवतीं तां सा स्नेहान्मालतिकाब्रवीत्।
सखि भूयिष्ठयाताद्य रात्रिः प्रातरहं पुनः ।।४३।।
इहैव कृतसङ्केतमानेष्यामि प्रियं तव।
तदालम्ब्य धृतिं तावन्निजं प्रविश मन्दिरम् ।।४४।।
इत्युक्तवत्यै सन्तुष्य तस्यै सानङ्गमञ्जरी।
हारं स्वकण्ठादाकृष्य प्रददौ पारितोषिकम् ।।४५।।
गच्छाधुनैव स्वगृहं प्रातः सिद्ध्यै ततो व्रज।
इति चैतां सखीं प्रेष्य सा विवेश स्ववासकम् ।।४६।।
प्रातश्च सा मालतिका केनाप्यनुपलक्षिता।
तत्सखी तस्य कमलाकरस्य भवनं ययौ ।।४७।।
चिन्वती तत्र चोद्याने तरुमूले ददर्श तम्।
चन्दनार्द्राम्बुरुहिणीपत्रशय्याविवर्त्तिनम् ।।४८।।
रहस्यधारिणैकेन कदलीदलमारुतैः।
आश्वास्यमानं सुहृदा दह्यमानं स्मराग्निना ।।४९।।
तस्या विनेयमस्य स्यात्कामावस्थेदृशीति सा।
विचिन्त्य तस्थौ प्रच्छन्ना ज्ञातुं तत्र विनिश्चयम् ।।५०।।
तावच्च सुहृदा तेन स ऊचे कमलाकरः।
क्षणमेकमिहोद्याने दत्त्वा दृष्टिं मनोरमे ।।५१।।
विनोदय मनो मित्र मात्र विक्लवतामगाः।
तच्छ्रुत्वा तं स्वसुहृदं विप्रपुत्रो जगाद सः ।।५२।।
यन्ममानङ्गमञ्जर्या वणिक्पुत्र्या तया हृतम्।
विनोदयामि तदिदं कुतः शून्याशयो मनः ।।५३।।
स्मरेण शून्यहृदयो बाणतूणीकृतो ह्यहम्।
तत्प्राप्स्यामि मनश्चौरीं तां यथा कुरु मे तथा ।।५४।।
इत्युक्ते विप्रपुत्रेण तेनात्मानं प्रदर्श्य सा।
दृष्ट्वा मालतिकाभ्येत्य तमुवाचास्तसंशया ।।५५।।

तब आँखों में आँसू भरकर अनंगमंजरी ने कहा—"सखी ! मेरे हृदय की ज्वाला हार आदि से नहीं बुझेगी। जिससे इसका शमन हो सके, तुम अपनी ही बुद्धि से उसका उपाय करो। यदि तुम मुझे जिलाना चाहती हो, तो मुझे मेरे प्रियतम से मिला दो" ॥४१-४२॥

अनंगमंजरी के ऐसा कहने पर मालतिका स्नेहपूर्वक बोली—"सखी ! आज तो रात बहुत बीत चुकी है। सवेरा होने पर मैं कुछ प्रबन्ध करूँगी और तुम्हारे प्रियतम को इसी जगह बुला दूँगी। इस बीच तुम धीरज धरो अपने घर जाओ" ॥४३-४४"॥

सखी की ये बातें सुनकर अनंगमंजरी को सन्तोष हुआ। उसने अपने गले का हार उतारकर उसे उपहार में दे दिया ॥४५॥

"अब अपने घर जाओ। सवेरा होने पर काम पूरा करने के लिए निकलना।" ऐसा कहकर मालतिका ने अनंगमंजरी को विदा किया और स्वयं भी घर गई ॥४६॥

सवेरा होने पर अनंगमंजरी की सखी मालतिका सबसे छिपाकर कमलाकर के घर गई ॥४७॥

वहाँ उसे ढूँढ़ती हुई मालतिका ने बगीचे में, एक वृक्ष के नीचे कमलाकर को देखा। वह चन्दन-जल से भीगी, कमल-पत्रों की शय्या पर लेटा हुआ था ॥४८॥

काम-ज्वाला से जलते हुए कमलाकर को, उसका रहस्य जाननेवाला मित्र, केले के पत्ते से हवा करके शान्त कर रहा था ॥४९॥

मालतिका ने सोचा कि क्या मेरी सखी अनंगमंजरी के विरह में इसकी यह दशा हो रही है? ऐसा सोचकर इस बात का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए, वह छिप गई ॥५०॥

इसी समय उस मित्र ने कमलाकर से कहा—"मित्र ! जरा देर इस सुहावने बगीचे की ओर देखकर अपना जी बहलाओ। इस तरह घबराहट में न पड़े रहो।" यह सुनकर उस ब्राह्मण-पुत्र कमलाकर ने अपने मित्र से कहा—"उस व्यापारी की कन्या अनंगमंजरी ने मेरे जिस मन को चुराकर सूना बना दिया है, उसे मैं कैसे बहलाऊँ? मेरे सूने हृदय को कामदेव ने अपने बाणों का तरकस बना लिया है; इसलिए तुम कोई ऐसा उपाय करो, जिससे मैं उसे पा सकूँ, जिसने मेरा मन चुराया है" ॥५१—५४॥

ब्राह्मण-पुत्र (कमलाकर) की इन बातों से मालतिका का सन्देह जाता रहा। वह कमलाकर के सामने आकर उससे बोली—॥५५॥

तवास्म्यनङ्गमञ्जर्या सुभगः प्रहितान्तिकम् ।
सन्देशं चाहमेवैषा विस्पष्टार्थं ब्रवीमि ते ॥५६॥
एष कः शिष्टधर्मो यत्प्रविश्य हृदयं हठात् ।
मनो मुषित्वा मुग्धाया गम्यते स्थगितात्मना ॥५७॥
चित्रं च यद्वामदृशा तुभ्यमेव तयाधुना ।
मनोहराय देहोऽपि दातुं प्राणैः सहेष्यते ॥५८॥
निःश्वासान्सा हि सन्तप्तान्विमुञ्चति दिवानिशम् ।
ज्वलतो हृदि कन्दर्पवह्नेर्धूमोद्गमानिव ॥५९॥
सम्पतन्ति मुहुश्चास्याः साञ्जना वाष्पबिन्दवः ।
वदनाम्भोजसौगन्ध्यलुब्धा मधुकरा इव ॥६०॥
तद्यदीच्छसि तद्वच्मि शिवं वामुभयोरहम् ।
इत्युक्तो मालतिकया सोऽब्रवीत्कमलाकरः ॥६१॥
भद्रे भयं करोत्येषा वाक्तवाश्वासयत्यपि ।
वदन्ती विधुरावस्थां वद्धभावां च मे प्रियाम् ॥६२॥
तदेका गतिरत्र त्वं यथा वेत्सि तथा कुरु ।
इत्युक्तवाक्ये कमलाकरे मालतिकाब्रवीत् ॥६३॥
अनङ्गमञ्जरीमद्य गुप्तं तां प्रापयाम्यहम् ।
नक्तं स्वभवनोद्यानं त्वं तिष्ठेस्तत्र वाह्यतः ॥६४॥
ततः प्रवेशयिष्यामि त्वामत्रान्तः स्वयुक्तितः ।
एवं यथेष्टो युवयोर्भविष्यति समागमः ॥६५॥
इत्युक्त्वानन्द्य तं विप्रपुत्रं मालतिका ततः ।
गत्वा कृतार्था सानङ्गमञ्जरीमप्यनन्दयत् ॥६६॥
अथाह्ना सह यातेऽर्के क्वापि सन्ध्यानुरागिणी ।
ऐन्द्र्या दिशेन्दुतिलकेनानने सुप्रसाधिते ॥६७॥
त्यक्तपद्माकरा प्राप्ता श्रीर्मयेतीव हर्षतः ।
हसत्युत्फुल्लवदने विशदे कुमुदाकरे ॥६८॥
कृतप्रसाधनः सोत्कः स्वैरं स कमलाकरः ।
कामी कान्तागृहोद्यानद्वारबाह्यमुपागमत् ॥६९॥
तावच्च सा मालतिका तां युक्त्यानङ्गमञ्जरीम् ।
आनिनाय तदुद्यानं कृच्छ्राद्गमितवासराम् ॥७०॥

"भद्र ! मुझे अनंगमंजरी ने आपके पास भेजा है। मैं उसका यह सन्देश खुलासा करके कहती हूँ" ॥५६॥

"यह भला आपकी कौन-सी सभ्यता है कि अचानक किसी भोली-भाली स्त्री के मन में घुसकर आपने उसका मन चुरा लिया और फिर चुप्पी मार बैठे ! अचरज तो यह है कि इतने पर भी वह आप-जैसे मनोहर (मन को हरण करनेवाले) को ही अपने प्राणों के सहित शरीर को भी सौंपना चाहती है। वह रात-दिन गरम उसाँसें छोड़ती रहती है। मानों उसके हृदय में काम की जो आग जल रही है, उसी का धुआँ निकल रहा हो। उसकी आँखों से बार-बार गिरता हुआ काजल-सना आँसू ऐसा जान पड़ता है, मानों उसके मुख-कमल की सुगन्ध के लोभी भौरें हों। अतः, यदि आप चाहें, तो मैं आप दोनों की भलाई का उपाय बतलाऊँ ?" मालतिका के ऐसा कहने पर कमलाकर बोला—॥५७—६१॥

"भद्रे ! यद्यपि तुम्हारी इन बातों से मुझ ढाढ़स मिला है, फिर भी इन्हीं के कारण मुझे डर भी लग रहा है ; क्योंकि इनसे मेरी उस प्रिया की विरहावस्था प्रकट होती है, जिसका मन मुझमें रमा हुआ है। अब तुम्हीं हमारे लिए एकमात्र भरोसा हो, अतः जैसा चाहो, वैसा करो।" कमलाकर की ये बातें सुनकर मालतिका ने कहा—॥६२-६३॥

"आज रात को मैं गुप्त रूप से अनंगमंजरी को उसके मकान के बगीचे में ले जाऊँगी। आप वहीं बाहर ठहरिएगा। उसके बाद मैं कोई उपाय करके आपको भी अन्दर बुला लूँगी और इस तरह आप लोगों का मनचाहा मिलन हो सकेगा" ॥६४-६५॥

इस प्रकार, मालतिका ने अपनी बातों से ब्राह्मण-पुत्र (कमलाकर) को प्रसन्न किया। अपना काम पूरा करके वह वापस लौटी और उसने अनंगमंजरी को भी आनन्दित किया ॥६६॥

सन्ध्या के प्रति अनुराग रखनेवाला सूर्य, जब दिवस के साथ कहीं चला गया, तब पूर्व दिशा ने चद्रमा की बेंदी से अपना मुखड़ा सजाया ॥६७॥

अपने श्वेत दलों से खिले हुए कुमुदों के समूह यह सोचकर अत्यन्त प्रसन्नता से हँसने लगे कि आखिर सौभाग्य ने कमलों को छोड़कर हमारा वरण किया ॥६८॥

कामी और उत्कण्ठित कमलाकर भी सज-धजकर चला और अपनी प्रिया के गृहोद्यान के दरवाजे के पास जा पहुँचा ॥६९॥

अनंगमंजरी ने बड़ी कठिनाई से वह दिन बिताया था। अब मालतिका युक्तिपूर्वक उसे उस उद्यान में ले गई ॥७०॥

उपवेश्य च तां मध्ये गुल्मके चूतशाखिनाम्।
प्रावेशयत्तं निर्गत्य तत्रैव कमलाकरम् ॥७१॥
स च प्रविश्य पत्त्रौघघनपादपमध्यगाम्।
तामध्वग इव च्छायां ददर्शानङ्गमञ्जरीम् ॥७२॥
उपैति यावच्च स तां तावद्दृष्ट्वा प्रधाव्य सा।
कामवेगहृतव्रीडा कण्ठे तं सहसाग्रहीत् ॥७३॥
क्व यासि लब्धोऽसि ममेत्यालपन्ती च तत्क्षणम्।
सातिहर्षभरस्तब्धनिःश्वासा पञ्चतामगात् ॥७४॥
पपात च महीपृष्ठे वातरुग्णा लतेव सा।
विच्चित्रो वत कामस्य विपाकविषमः क्रमः ॥७५॥
तद्दृष्ट्वाशनिपातोग्रं सद्यः स कमलाकरः।
हा हा किमेतदित्युक्त्वा मूर्च्छितो न्यपतद्भुवि ॥७६॥
लब्धसंज्ञः क्षणेनाथ तामङ्कारोपितां प्रियाम्।
आलिङ्गन्परिचुम्बंश्च तत्तच्च विलपन्वहु ॥७७॥
तथा दुःखातिभारेण स प्रसह्य निपीडितः।
यथा तस्य टसत्कृत्य क्षणाद्धृदयमस्फुटत् ॥७८॥
अथ तौ मालतिकया शोच्यमानावुभावपि।
दृष्ट्वा प्राप्तक्षयो शोकादिव क्षीणाभवत्क्षपा ॥७९॥
प्रातरुद्यानपालेभ्यो ज्ञात्वा वन्धुजनस्तयोः।
तत्राययौ त्रपाश्चर्यदुःखमोहाकुलीकृतः ॥८०॥
आसीत्कर्त्तव्यतामूढश्चिरं खेदादवाङ्मुखः।
कष्टाः कुलखलीकारहेतवो वत कुस्त्रियः ॥८१॥
तावच्च ताम्रलिप्तीतः स तस्याः पतिरागमत्।
सोत्कण्ठोऽनङ्गमञ्जर्या मणिवर्मा पितुर्गृहात् ॥८२॥
स श्वाशुरं गृहं प्राप्य यथातत्त्वमवेत्य तत्।
वाष्पान्धलोचनो ध्यायंस्तदेवोद्यानमाययौ ॥८३॥
तत्र भार्यां गतासुं तां दृष्ट्वान्यसहितामपि।
शोकाग्निज्वलितो रागी सद्यः सोऽपि जहावसून् ॥८४॥
ततः क्रन्दति तत्रस्थे जने कोलाहलाकुलाः।
आययुर्ज्ञातवृत्तान्ताः पौराः सर्वेऽत्र विस्मिताः ॥८५॥

वहाँ आम्रवृक्ष की छाया में अनंगमंजरी को बैठाकर वह बाहर गई और कमलाकर को बुला लाई॥७१॥

बटोही जिस प्रकार छाया को देखकर खिल उठता है, पत्रों से ढके हुए वृक्षों की छाया के बीच बैठी अनंगमंजरी को देखकर कमलाकर भी उसी प्रकार खिल उठा॥७३॥

वह आगे बढ़ ही रहा था कि अनंगमंजरी ने उसे देख लिया। काम के आवेग ने उसकी लज्जा नष्ट कर दी थी। उसने दौड़कर कमलाकर को गले से लगा लिया। ॥७३॥

"कहाँ जाते हो? मैंने तुम्हें पा लिया है" ऐसा कहकर अनंगमंजरी प्रलाप करने लगी। अत्यधिक प्रसन्नता के मारे उसकी साँस रुक गई और उसके प्राण जाते रहे॥७४॥

वायु से छिन्न लता के समान वह धरती पर गिर पड़ी। अहा! प्रेम का पन्थ भी निराला है, जिसका परिणाम सदा ही दुःखदायी होता है॥७५॥

यह आकस्मिक और भयानक वज्रपात देखकर "हाय, हाय, यह क्या हो गया?" कहता हुआ कमलाकर भी मूर्च्छित होकर गिर पड़ा॥७६॥

कुछ क्षणों बाद जब उसे चेतना हुई, तब उसने अपनी प्रिया को गोद में ले लिया और उसका आलिंगन तथा चुंबन करता हुआ अनेक प्रकार से विलाप करने लगा॥७७॥

कठोर दुःख की अधिकता से वह इतना विकल हो गया कि पलक मारते उसका हृदय फट गया और उसकी मृत्यु हो गई॥७८॥

मृत्यु को प्राप्त हुए उन दोनों प्रेमियों के लिए मालतिका जब शोक कर रही थी, तभी मानों शोक के कारण ही रात भी खत्म हो गई॥७९॥

सवेरा होने पर, बगीचे के रखवालों से सारा समाचार जानकर उन दोनों के परिवार के लोग लज्जा, आश्चर्य, दुःख और मोह से विकल होते हुए वहाँ आये। खेद से मस्तक झुकाये हुए वे बहुत देर तक इस दुबिधा में पड़े रहे कि अब क्या करना चाहिए। बुरी स्त्रियाँ कुल को बिगाड़नेवाली और सन्तापदायक होती हैं॥८०-८१॥

इसी बीच उसका पति मणिवर्मा, अनंगमंजरी के लिए उत्कण्ठित, अपने पिता के घर ताम्रलिप्ति से लौट आया॥८२॥

श्वशुर के घर पहुँचते ही उसे सारा वृत्तान्त मालूम हुआ। आँसू-भरी आँखों से पत्नी की याद करता हुआ, वह भी उस बगीचे में जा पहुँचा॥८३॥

वहाँ उसने अपनी स्त्री को पर-पुरुष के निकट मरी हुई देखा; फिर भी उसपर अत्यन्त अनुराग होने के कारण, उसके हृदय में शोक की अग्नि जल उठी और उसने प्राण-त्याग कर दिया॥८४॥

अनन्तर, वहाँ इकट्ठे हुए लोग इस तरह रोने-चिल्लाने लगे कि उनकी चीख-पुकार सुनकर नगर के सभी लोगों को सारा वृत्तान्त मालूम हो गया और वे विस्मित होते हुए वहाँ आ पहुँचे॥८५॥

अथात्रानङ्गमञ्जर्याः पित्रा पूर्वावतारिता।
देवी सन्निहिता चण्डी विज्ञप्ताभून्निजैर्गणैः ॥८६॥

त्वदाकारप्रतिष्ठाकृदर्थदत्तः सदैष ते।
भक्तो वणिक्तदस्यास्मिन्दुःखे देवि दयां कुरु॥८७॥

एतद्गणेभ्यः श्रुत्वा सा शरण्या शङ्करप्रिया।
शान्तानङ्गास्त्रयोऽप्येते जीवन्त्विति समादिशत् ॥८८॥

अथ सर्वेऽपि ते सुप्तप्रतिबुद्धा इव क्षणात्।
तत्प्रसादात्समुत्तस्थुर्जीवन्तो वीतमन्मथाः ॥८९॥

ततो दृष्ट्वा तदाश्चर्यं सानन्दे सकले जने।
लज्जानतमुखः प्रायात्स्वगृहं कमलाकरः ॥९०॥

अर्थदत्तोऽपि तां ह्रीतामादायानङ्गमञ्जरीम्।
सुतां स्वभर्तृसहितां ययौ बद्धोत्सवो गृहान् ॥९१॥

इति कथयित्वा तस्यां रात्रौ मार्गे कथां स वेतालः।
निजगाद तं त्रिविक्रमसेनं क्षोणीपतिं भूयः ॥९२॥

राजन्कस्य वदैतेष्वधिको मोहोऽनुरागमूढेषु।
सोऽत्र च पूर्वोक्तस्ते शापो जानन्न चेद्वदसि ॥९३॥

इत्येतद्वेतालाच्छ्रुत्वा स प्रत्युवाच नृपतिः।
एतेषु रागमूढः प्रतिभाति ममाधिकः स मणिवर्मा ॥९४॥

इतरौ हि तावुभावपि कालक्रमपक्वमन्मथावस्थौ।
अन्यान्यसानुरागौ यदि जीवितमुज्झतः स्म तद्भवतु ॥९५॥

मणिवर्मा त्वतिमूढो यो भार्यामन्यपुरुषसक्तमृताम्।
दृष्ट्वैव कोपकाले प्रत्युत रक्तः शुचामुचत्प्राणान् ॥९६॥

इति गदितवतः स तस्य राज्ञो बत वेतालपतिः पुनर्जगाम।
निजमेव पदं तदंसपीठादथ राजापि तमन्वगात्स भूयः ॥९७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बकेऽष्टाविंशस्तरङ्गः।

अनंगमंजरी के पिता ने पहले से चण्डी देवी का जो मन्दिर बनवा रखा था, वह निकट ही था। अब देवी के गणों ने उनसे निवेदन किया कि 'हे देवी! अर्थदत्त ने ही यहाँ आपकी प्रतिष्ठा की है। यह व्यापारी सदा आपका भक्त रहा है; अतः इस दुःख के समय आप इसपर दया करें' ॥८६-८७॥

गणों की यह प्रार्थना सुनकर शंकर की पत्नी तथा शरण देनेवाली उन देवी ने आदेश दिया कि काम-विकार से रहित होकर ये तीनों जीवित हो जायँ॥८८॥

देवी की कृपा से, पलक मारते, वे तीनों ही इस प्रकार जीवित हो उठे, मानों सोते से जाग पड़े हों। अब उनके काम-विकार भी नष्ट हो चुके थे॥८९॥

यह आश्चर्यजनक घटना देखकर, वहाँ उपस्थित सभी लोग बहुत आनन्दित हुए। कमलाकर लज्जा से मस्तक झुकाकर अपने घर चला गया॥९०॥

अर्थदत्त भी, लजाई हुई अपनी कन्या अनंगमंजरी को, उसके पति के सहित, घर ले गया, जहाँ मंगल-बधावे होने लगे थे॥९१॥

उस रात को मार्ग में जाते हुए वेताल ने यह कथा सुनाकर पृथ्वीपति त्रिविक्रमसेन से पुनः पूछा—"राजन्! यह बतलाओ कि प्रेम में अन्धे बने हुए इन तीनों में से किसकी आसक्ति अधिक थी? यदि जानते हुए भी तुमने न बतलाया, तो पहले कहा हुआ मेरा वही शाप तुम पर फट पड़ेगा" ॥९२-९३॥

वेताल की ये बातें सुनकर राजा ने उत्तर दिया—"मुझे तो इनमें से सबसे अधिक मोहान्ध वह मणिवर्मा ही जान पड़ता है; क्योंकि शेष दोनों तो एक दूसरे के प्रति अनुरक्त थे और समय पाकर उनकी आसक्ति पक्की हो चुकी थी; अतः उन दोनों ने प्राण त्याग दिये, तो ठीक ही था; लेकिन मणिवर्मा तो बहुत ही मोहान्ध था, जिसको पर-पुरुष के प्रति आसक्त होकर प्राण-त्याग करनेवाली अपनी स्त्री को देखकर जहाँ क्रोध करना चाहिए था, वहाँ उसकी प्रीति के कारण शोक से उसने भी प्राण त्याग दिये" ॥९४—९६॥

राजा के ऐसा कहने पर वह वेतालराज उसके कन्धे से उतरकर फिर अपनी जगह पर जा पहुँचा। राजा भी तत्काल ही फिर उसके पीछे चल पड़े॥९७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का अष्टाविंश तरंग समाप्त

एकोनत्रिंशस्तरङ्गः

द्वाविंशो वेतालः । चतुर्णां ब्राह्मणभ्रातॄणां कथा

ततो राजा पुनर्गत्वा वेतालं शिंशपाग्रतः।
स त्रिविक्रमसेनस्तं प्राप्यांसारोपितं व्यधात्॥१॥
आयान्तं तं च राजानं स वेतालोऽब्रवीत्पथि।
राजन्साधुः सुसत्त्वस्त्वं तदपूर्वां कथां श्रृणु॥२॥
वभूव पूर्वं कुसुमपुराख्यनगरेश्वरः।
पृथ्वीतलेऽस्मिन्धरणीवराहो नाम भूपतिः॥३॥
तस्य ब्राह्मणभूयिष्ठे राष्ट्रे ब्रह्मस्थलाभिधः।
अग्रहारोऽभवत्तत्र विष्णुस्वामीत्यभूद्द्विजः॥४॥
तस्यानुरूपा भार्याभूद्यथा स्वाहा हविर्भुजः।
तस्यां च तस्य चत्वारः क्रमादुत्पेदिरे सुताः॥५॥
अधीतवेदेषूत्क्रान्तशैशवेषु च तेषु सः।
विष्णुस्वामी दिवं प्रायाद्भार्ययानुगतस्तया॥६॥
ततस्ते तत्र तत्पुत्राः सर्वेऽप्यानाय्य दुःस्थिताः।
गोत्रजैर्हृतसर्वस्वा मन्त्रयाञ्चक्रिरे मिथः॥७॥
नास्तीह गतिरस्माकं तद्व्रजामो वयं न किम्।
इतो मातामहगृहं ग्रामं यज्ञस्थलाभिधम्॥८॥
एतदेव विनिश्चित्य प्रस्थिता भैक्ष्यभोजनाः।
मातामहगृहं प्रापुस्तेऽथ तद्वहुभिर्दिनैः॥९॥
तत्र मातामहाभावान्मातुलैर्दत्तसंश्रयाः।
भुञ्जानास्तद्गृहे तस्थुः स्वाध्यायाभ्यासतत्पराः॥१०॥
कालक्रमाच्च तेषां ते मातुलानामकिञ्चनाः।
अवज्ञापात्रतां जग्मुर्भोजनाच्छादनादिषु॥११॥
ततः स्वजनसंस्फूर्जदवमानहतात्मनाम्।
तेषां रहः सचिन्तानां ज्येष्ठो भ्राताब्रवीदिदम्॥१२॥
भो भ्रातरः किं क्रियते सर्वमाचेष्टते विधिः।
न शक्यं पुरुषस्येह क्वचित्किञ्चित्कदाचन॥१३॥
अहं ह्युद्वेगतो भ्राम्यन्प्राप्तोऽद्य पितृकानने।
विपन्नस्थितमद्राक्षं त्रस्ताङ्गं पुरुषं भुवि॥१४॥

एकोनत्रिंश तरंग

द्वाविंश वेताल : चार ब्राह्मण भाइयों की कथा

राजा त्रिविक्रमसेन ने फिर उस शिंशपा-वृक्ष के निकट जाकर वेताल को अपने कन्धे पर रख लिया और जब वे चलने लगे, तब मार्ग में बेताल बोला कि 'राजन्! आप सज्जन और महा-पराक्रमी हैं; अतः यह अनूठी कथा सुनिए॥१-२॥

प्राचीन समय में इस धरती पर कुसुमपुर नाम का एक नगर था। उस नगर के स्वामी धरणीवराह नाम के एक राजा थे॥३॥

ब्राह्मण-बहुल उनके राज्य में, ब्राह्मणों को दानस्वरूप दिया गया, ब्रह्मस्थल नाम का एक गाँव था। उस गाँव में विष्णुस्वामी नाम का एक ब्राह्मण रहता था॥४॥

स्वाहा जैसे अग्नि के अनुकूल होती है, उसी प्रकार उस ब्राह्मण की पत्नी भी उसके अनुकूल थी। क्रम से उसके द्वारा उसे चार पुत्र हुए॥५॥

जब वे वेदों का अध्ययन कर चुके, उनकी शैशवावस्था बीत गई, तब विष्णुस्वामी स्वर्गवासी हुआ और उसकी स्त्री ने भी उसका अनुगमन किया॥६॥

माता-पिता के न रहने पर उन चारों भाइयों की स्थिति बहुत बिगड़ गई; क्योंकि उनके गोतियों ने उनका सब कुछ हड़प लिया। तब उन चारों ने चुपके से सलाह की कि "यहाँ अब हमारी गुजर-बसर नहीं हो सकती, तो फिर हमलोग अपने नाना के यहाँ, यज्ञस्थल नाम के गाँव में क्यों न चले चलें?" ॥७-८॥

ऐसा निश्चय करके, राह में माँगते-खाते, वे बहुत दिनों में अपने नाना के घर जा पहुँचे॥९॥

वहाँ नाना के न रहने पर भी उनके मामाओं ने उन्हें आश्रय दिया। उनके यहाँ खाते-पीते और वेदों का अध्ययन-अभ्यास करते हुए वे रहने लगे॥१०॥

समय पाकर वे चारों दरिद्र भाई भोजन-वस्त्र आदि के लिए भी मामाओं के द्वारा उपेक्षित होने लगे॥११॥

मामाओं की उपेक्षा से उनके मन को गहरी ठेस लगी। एक दिन वे एकान्त में इस विषय में विचार करने लगे। तब उनमें से बड़े भाई ने कहा—"अरे भाइयो! हम लोगों को क्या करना चाहिए? सब कुछ विधाता ही करता है। मनुष्य के किये तो यहाँ कभी, कुछ भी नहीं हो सकता। आज उद्विग्न होकर घूमता हुआ मैं श्मशान में जा पहुँचा था। वहाँ मैंने एक मरे हुए पुरुष का शरीर पड़ा हुआ देखा॥१२—१४॥

अचिन्त्यं च दृष्ट्वा तमहं तां स्पृहयन्गतिम्।
धन्योऽयमेवं विश्रान्तो दुःखभारं विमुच्य यः ॥१५॥
इति सञ्चिन्त्य तत्कालं कृत्वा मरणनिश्चयम्।
वृक्षाग्रसङ्गिना पाशेनात्मानमुदलम्बयम् ॥१६॥
यावच्च मे विसंज्ञस्य तदा निर्यान्ति नासवः।
तावत्त्रुटितपाशोऽत्र पतितोऽस्मि महीतले ॥१७॥
लब्धसंज्ञश्च केनापि पुंसा क्षिप्रात्कृपालुना।
आश्वास्यमानमात्मानमपश्यं पटमारुतैः ॥१८॥
सखे कथय विद्वानप्येवं कं प्रति खिद्यसे।
सुखं हि सुकृताद्दुःखं दुष्कृतादेति नान्यतः ॥१९॥
दुःखाद्यदि तवोद्वेगः सुकृतं तत्समाचर।
कथं तु नारकं दुःखमात्मत्यागेन वाञ्छसि ॥२०॥
इत्युक्त्वा मां समाश्वास्य स च क्वापि गतः पुमान्।
अहं चेहागतस्त्यक्त्वा तादृशं मरणोद्यमम् ॥२१॥
तदेवं नेच्छति विधौ न मर्त्तुमपि लभ्यते।
इदानीं च तनुं तीर्थे तपसा दाहयाम्यहम् ॥२२॥
येन निर्धनतादुःखभागी न स्यामहं पुनः।
इत्युक्तवन्तं ज्येष्ठं तं कनिष्ठा भ्रातरोऽब्रुवन् ॥२३॥
अर्थैर्विना कथं प्राज्ञोऽप्यार्य दुःखेन वाध्यसे।
किं न वेत्सि यदर्थानां शरदभ्रचला गतिः ॥२४॥
आहृत्य रक्ष्यमाणापि यत्नेनान्तर्विरागिणी।
असन्मैत्री च वेश्या च श्रीश्च कस्य कदा स्थिरा ॥२५॥
तदुद्योगेन स गुणः कोऽप्युपार्ज्यो मनस्विना।
आनीयन्ते हठाद्बद्ध्वा येनार्थहरिणा मुहुः ॥२६॥
इत्युक्तो भ्रातृभिधैर्यं क्षणाज्ज्येष्ठोऽवलम्ब्य सः।
उवाच को गुणस्तादृगर्जनीयो भवेदिति ॥२७॥
ततो विचिन्त्य सर्वे ते वदन्ति स्म परस्परम्।
विचित्य पृथ्वीं विज्ञानं किञ्चिच्छिक्षामहे वयम् ॥२८॥
निश्चित्यैतच्च सङ्केतस्थानमुक्त्वा समागमे।
एकैकशस्ते चत्वारश्चतस्रः प्रययुर्दिशः ॥२९॥

"उसे देखकर मैं उसकी दशा की सराहना करने लगा कि यह धन्य है, जो दुःख का सारा भार उतारकर इस प्रकार विश्राम कर रहा है॥१५॥

"ऐसा सोचकर मैंने भी उसी समय मरने का निश्चय किया। मैं एक वृक्ष की डाली में फन्दा डालकर उसमें लटक गया॥१६॥

"मैं अचेत तो हो गया था, लेकिन मेरे प्राण नहीं निकले थे। इसी समय फन्दा टूट गया और मैं भूमि पर गिर पड़ा॥१७॥

"जब मुझे चेतना हुई, तब मैंने देखा कि कोई कृपालु पुरुष, वस्त्र से शीघ्रतापूर्वक हवा करके मुझे सचेत करने का प्रयत्न कर रहा है॥१८॥

"(उसने कहा—) 'भाई, विद्वान् होकर भी तुम किसके लिए इतना खेद कर रहे हो? मनुष्य को सुकर्मों से सुख और दुष्कर्मों से दुःख मिलता है—किसी और बात से नहीं। अतः, यदि तुम दुःखों से घबरा गये हो तो सत्कर्म करो। तुम आत्महत्या करके नरक के दुःख की कामना क्यों करते हो?'॥१९-२०॥

"यह कहकर और मुझे समझा-बुझाकर वह कहीं चला गया। मैं भी उस प्रकार मरने का इरादा छोड़कर यहाँ चला आया। स्पष्ट है कि विधाता की इच्छा न होने पर मनुष्य मर भी नहीं सकता। अतः, अब मैं किसी तीर्थ में जाकर तपस्या करूँगा और इस प्रकार शरीर का त्याग करूँगा, जिससे मुझे फिर निर्धनता का दुःख न भोगना पड़े।" बड़े भाई के ऐसा कहने पर छोटे भाई उससे यों बोले—॥२१—२३॥

"आर्य! आप विद्वान् होकर भी धनहीनता के कारण क्यों दुःखी हो रहे हैं? क्या आप यह नहीं जानते कि धन, शरद् के मेघों की तरह चंचल होता है?॥२४॥

"दुर्जन की मित्रता, वेश्या और लक्ष्मी—ये तीनों ही अन्त में आँखें फेर लेती हैं। इनकी रखवाली चाहे जितनी सावधानी से की जाय, ये कभी किसी की होकर नहीं रहतीं॥२५॥

"अतः मनस्वी पुरुष को प्रयत्न करके कोई ऐसा गुण अर्जित करना चाहिए, जो धन-रूपी हरिण को बलपूर्वक बार-बार बाँधकर ले आ सके"॥२६॥

छोटे भाइयों की ये बातें सुनकर बड़े भाई ने शीघ्र ही धैर्य धारण करते हुए कहा—"तो फिर अर्जन करने योग्य वैसा कौन-सा गुण हो सकता है?"॥२७॥

अनन्तर, ये सभी सोच-विचार कर एक दूसरे से कहने लगे—"सारी दुनिया को छानकर हम लोग कोई विशेष ज्ञान अर्जित करेंगे"॥२८॥

ऐसा निश्चय करके और लौटकर मिलने का एक ठिकाना बताकर वे चारों चार दिशाओं में चले गये॥२९॥

याति काले च मिलितास्ते सङ्केतनिकेतनं।
किं केन शिक्षितमिति भ्रातरोऽन्योन्यमब्रुवन् ॥३०॥
अथात्रैकोऽब्रवीदीदृग्विज्ञानं शिक्षितं मया।
येनास्थिशकलं प्राप्य प्राणिनो यस्य कस्यचित् ॥३१॥
उत्पादयाम्यहं तस्मिन्मांसं तदुचितं क्षणात्।
एतत्तस्य वचः श्रुत्वा द्वितीयस्तेष्वभाषत ॥३२॥
अहं तत्रैव संञ्जातमांसेऽस्थिशकले किल।
जाने जनयितुं लोमत्वचं तत्प्राणिसम्भवि ॥३३॥
ततस्तृतीयोऽप्यवदज्जाने तत्रैव चास्म्यहम्।
तत्प्राण्यवयवान्स्रष्टुं जातत्वङ्मांसलोमनि ॥३४॥
चतुर्थश्च ततोऽवादीदुत्पन्नावयवाकृतिम्।
तमेव प्राणिनं प्राणैर्युक्तं कर्त्तुमवैम्यहम् ॥३५॥
एवमुक्त्वा मिथः स्वस्वविज्ञानप्रथनाय ते।
चत्वारोऽप्यस्थिखण्डाय प्रययुर्भ्रातरोऽटवीम् ॥३६॥
तत्र सिंहस्य ते प्रापुरस्थिखण्डं विधेर्वशात्।
अविज्ञातविशेषाश्च गृह्णन्ति स्म तथैव तत् ॥३७॥
एकश्च तत्समुचितैस्ततो मांसैरयोजयत्।
द्वितीयोऽजनयत्तस्य तद्वत्त्वग्लोमसंहतीः ॥३८॥
तृतीयश्चाखिलैरङ्गैस्तद्योग्यैस्तदपूरयत् ।
चतुर्थश्च ददौ तस्य सिंहीभूतस्य जीवितम् ॥३९॥
उदतिष्ठदथोद्धूतसटाभारोऽतिभैरवः ।
स दंष्ट्रासङ्कटमुखः सिंहः खरनखाङ्कुशः ॥४०॥
धावित्वा च स्वनिर्मातृंस्तानेव चतुरोऽपि सः।
अवधीत्केसरी तृप्तो विवेश च वनं ततः ॥४१॥
एवं ते सिंहनिर्माणदोषान्नष्टा द्विजातयः।
दुष्टं हि जन्तुमुत्थाप्य कस्यात्मनि सुखं भवेत् ॥४२॥
इत्थं चोपार्जितो यत्नाद्गुणोऽपि विधुरे विधौ।
सम्पत्तये न न परं जायते तु विपत्तये ॥४३॥
मूले ह्यविकृते दैवे सिक्ते प्रज्ञानवारिणा।
नयालवालः फलति प्रायः पौरुषपादपः ॥४४॥

समय पाकर वे चारों, निश्चित किये हुए ठिकाने पर आ मिले और एक दूसरे से कहने लगे कि किसने क्या सीखा है ॥३०॥

उनमें से एक ने कहा कि 'मैंने तो ऐसी विद्या सीखी है कि मुझे जिस किसी प्राणी की हड्डी का एक टुकड़ा मिल जाय, तो मैं क्षणभर में उसमें उस प्राणी के योग्य मांस तैयार कर दूँ।' उसकी यह बात सुनकर दूसरे ने उन लोगों से कहा—॥३१-३२॥

'उस प्राणी की हड्डी के टुकड़े में मांस भर जाने पर, मैं उसी के अनुकूल चमड़ी और रोएँ उगा सकता हूँ' ॥३३॥

तब तीसरा बोला—'चमड़ी, मांस और रोएँ हो जाने पर मैं उस प्राणी के अवयव बना दे सकता हूँ' ॥३४॥

अब चौथे ने कहा—'अवयव और आकृति बन जाने पर मैं उस प्राणी में प्राण का संचार कर देना जानता हूँ' ॥३५॥

इस प्रकार, उन चारों भाइयों ने जब अपनी-अपनी विद्या के प्रभाव का वर्णन कर लिया, तब वे उसकी सिद्धि के लिए, हड्डी का टुकड़ा ढूँढ़ने की इच्छा से वन में गये ॥३६॥

संयोग से उन्हें वहाँ सिंह की हड्डी का एक टुकड़ा मिल गया। उसके बारे में विना कुछ जाने-सुने उन्होंने उसे उठा लिया ॥३७॥

एक ने उस हड्डी में उसके योग्य मांस बना दिया। दूसरे ने उसमें उसके अनुकूल चमड़ी और रोम तैयार कर दिया ॥३८॥

तीसरे ने उसके सारे अंग ज्यों-के-त्यों बना दिये और चौथे ने उसमें प्राण का संचार कर दिया ॥३९॥

अनन्तर, उटे हुए केसर के भार से भयानक दीखनेवाला, डाढ़ों से भरे मुखवाला और तीखे नखों के अंकुशवाला वह सिंह उठ खड़ा हुआ ॥४०॥

उसने झपटकर अपने चारों निर्माताओं को मार डाला और पेट भरकर वन में चला गया ॥४१॥

इस प्रकार, वे ब्राह्मण सिंह को जीवित करने की गलती के कारण मारे गये। भला दुष्ट प्राणी को जगाकर कौन मनुष्य स्वयं सुखी होता है? ॥४२॥

यदि विधाता वाम होता है, तो यत्नपूर्वक सीखे हुए गुण भी सुखकर नहीं होते, बल्कि दुःख के कारण बन जाते हैं। पौरुष का वृक्ष तभी फल देता है, जब भाग्य-रूपी उसकी जड़ विकार-रहित (अनुकूल) हो, वह नीति के थाले में स्थित हो और ज्ञान के जल से सींचा गया हो ॥४३-४४॥

इति तस्यां निशि मार्गे वेतालेनांसतः कथां तेन।
आख्याय स त्रिविक्रमसेनो राजा पुनर्जगदे ॥४५॥
राजंस्तेष्वपराध्यति चतुर्षु कस्तत्र सिंहनिर्माणे।
यन्यवधीत्तत्क्लृप्तो वद समयः सोऽत्र पूर्वस्ते ॥४६॥
इति वेतालाच्छ्रुत्वा राजा सोऽचिन्तयद्विमौनस्य।
इच्छति गन्तुमयं मे यात्वानेष्याम्यमुं भूयः ॥४७॥
इति हृदि निश्चित्य स तं महीपतिः प्रत्युवाच वेतालम्।
यस्तस्य जीवदायी सिंहस्य स पापभाक्तेषु ॥४८॥
प्राणिविशेषमबुद्ध्वा मांसत्वग्लोमगात्रनिर्माणम्।
युक्तिबलात्तु कृतं यैस्तेषां दोषोऽस्ति नाज्ञानात् ॥४९॥
येन तु सिंहाकारं दृष्ट्वा विद्याप्रकाशनोत्केन।
प्राणास्तस्य वितीर्णास्तेन कृता ब्रह्महत्यास्ताः ॥५०॥
एतत्स राज्ञो वचनं निशम्य स्वधाम वेतालवरो जगाम।
तस्यांसतस्तत्पुनरेव मायी राजापि तं सोऽनुससार भूयः ॥५१॥

इति महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके एकोनत्रिंशस्तरङ्गः।

त्रिंशस्तरङ्गः

त्रयोविंशो वेतालः। परकायप्रवेशपूर्वं क्रन्दतः तापसस्य कथा

ततो गत्वा पुनः प्राप शिंशपापादपात्ततः।
स त्रिविक्रमसेनस्तं वेतालं राजसत्तमः ॥१॥
स्कन्धे कृत्वा च तं मौनी दर्शितानेकवैकृतम्।
यावत्प्रतिष्ठते तावत्स वेतालस्तमब्रवीत् ॥२॥
राजन्नकार्येऽप्येतस्मिन्दुर्वारोऽयं ग्रहस्तव।
तत्ते श्रमविनोदय कथयामि कथां शृणु ॥३॥
आसीत्कलिङ्गविषये नाम्ना शोभावती पुरी।
दिवीव शक्रनगरी वसतिः शुभकर्मणाम् ॥४॥
यां प्रद्युम्न इवैश्वर्यवीर्यातिशयविश्रुतः।
प्रद्युम्ननामा नृपतिः शशासोर्जितशासनः ॥५॥

रात में मार्ग चलते हुए राजा त्रिविक्रमसेन के कन्धे पर बैठे वेताल ने उनको यह कथा सुनाकर फिर पूछा—"राजन् ! अब यह बतलाओ कि उन चारों में से सिंह को बनाने का वास्तविक अपराध किसका था, जिसने उन चारों को खा डाला ? यदि जानते हुए भी तुम न बतलाओगे, तो पहले कहा हुआ शाप तुम पर पड़ेगा" ॥४५-४६॥

वेताल की यह बात सुनकर राजा ने सोचा कि 'वेताल मेरा मौन तोड़कर फिर चला जाना चाहता है तो जाय, मैं लौटकर फिर इसे ले आऊँगा' ॥४७॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर राजा ने वेताल से कहा—"जिसने उस सिंह को प्राणदान दिया, वही उन चारों में से पाप का भागी है। बिना यह जाने कि यह कौन-सा प्राणी है; जिन्होंने अपनी विद्या से उसे मांस, चमडा, रोम और अंग आदि दिये, उनका दोष इस कारण नहीं है कि उन्हें वास्तविकता का ज्ञान नहीं था; किन्तु जिसने सिंह का आकार देखकर भी, अपनी विद्या का प्रभाव दिखाने की उत्कण्ठा से उसमें प्राण डाले, वस्तुतः ब्रह्महत्या उसी ने की" ॥४८—५०॥

उस मायावी वेतालश्रेष्ठ ने जब राजा की ये बातें सुनीं, तब वह उनके कन्धे से उतरकर फिर अपनी जगह चला गया और तब राजा ने भी पुनः उसका अनुसरण किया ॥५१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
एकोनत्रिंश तरंग समाप्त

त्रिंश तरंग

त्रयोविंश वेताल : परकाय-प्रवेश के पूर्व रोनेवाले तपस्वी की कथा

अनन्तर, राजाओं में श्रेष्ठ त्रिविक्रमसेन ने फिर जाकर उस शिंशपा-वृक्ष से उस वेताल को कन्धे पर उठा लिया। यद्यपि वेताल ने अपने अनेक रूप दिखलाये, पर राजा चुपचाप मार्ग चलते रहे। तब वेताल ने राजा से कहा—॥१-२॥

"राजन् ! न करने योग्य इस कार्य में भी तुम्हारा ऐसा आग्रह है, जिसे रोका नहीं जा सकता। अतः, मैं तुम्हारी थकावट दूर करने के लिए एक कथा कहता हूँ। सुनो" ॥३॥

स्वर्ग की इन्द्रपुरी के समान, कलिंग में शोभावती नाम की एक नगरी थी, जहाँ उत्तम आचरण करनेवाले लोग रहते थे ॥४॥

वहाँ ऐश्वर्य और पराक्रम की अधिकता के लिए प्रद्युम्न के समान प्रसिद्ध, प्रद्युम्न नाम का राजा शासन करता था ॥५॥

गुणापकर्षश्चापेषु मुरजेषु कराहतिः।
युगेष्वश्रूयत कलिर्यस्यां प्रज्ञासु तीक्ष्णता ॥६॥
एकदेशे पुरस्तस्या नृपेण प्रतिपादितः।
यज्ञस्थलाभिधानोऽभूदग्रहारो वहुद्विजः ॥७॥
तत्रासीद्यज्ञसोमाख्यो ब्राह्मणो वेदपारगः।
महाधनोऽग्निहोत्री च पूजितातिथिदेवतः ॥८॥
तस्य व्यतीते तारुण्ये मनोरथशतैः सुतः।
भार्यायामनुरूपायामेक एवोदपद्यत ॥९॥
ववृधे च पितुः सोऽस्य गृहे वालः सुलक्षणः।
कृताभिधानो विधिवद्देवसोम इति द्विजैः ॥१०॥
प्राप्तषोडशवर्षश्च स विद्याविनयादिभिः।
आवर्जितजनोऽकस्माज्ज्वरेण प्राप पञ्चताम् ॥११॥
ततः परासुं स्नेहात्तमाश्लिष्य सह भार्यया।
यज्ञसेनः पिता शोचन्न दाहाय जहौ चिरम् ॥१२॥
ब्रह्मन्संसारगन्धर्वनगरस्य न वेत्सि किम्।
परावरज्ञोऽपि गतिं वारिबुद्बुदभङ्गुराम् ॥१३॥
ये सैन्यैः पूरितधरा हर्म्यपृष्ठेषु हारिषु।
लसत्सङ्गीतनादेषु रत्नपर्यङ्कवर्त्तिनः ॥१४॥
श्रीखण्डद्रवलिप्ताङ्गा वरस्त्रीपरिवारिताः।
व्यलसन्नमरम्मन्या भूलोकेऽस्मिन्नराधिपाः ॥१५॥
तेऽप्येकका: श्मशानेषु रुदत्प्रेतानुयायिषु।
चिताधिशयिनो यत्र जग्धाः क्रव्यात्कृशानुभिः ॥१६॥
शिवाभिर्वलितोपान्ताः कालेन कवलीकृताः।
न रोद्धुं शकिताः कैश्चित्तत्रान्येषां कथैव का ॥१७॥
तदेतं प्रेतमाश्लिष्य विद्वन्वद करोषि किम्।
इत्याद्यबोधयन्वृद्धा मिलितास्तं द्विजं ततः ॥१८॥
ततस्तेन कथञ्चित्तं मुक्तमारोप्य तत्सुतम्।
शिविकायां गतप्राणं कृतप्रेतप्रसाधनम् ॥१९॥
बान्धवा वैंशसोदश्रुमिलद्बन्धुजनान्विताः।
श्मशानं प्रापयामासुः कोलाहलसमाकुलाः ॥२०॥

वहाँ गुणों[1] का ह्रास नहीं था, यदि था तो धनुष में; कर[2] की मार थी, तो मृदंग पर; कलि का नाम सुना जाता था, तो केवल युग के साथ और तीक्ष्णता थी, तो ज्ञान के अर्जन के लिए ॥६॥

उस नगर के एक किनारे, राजा के द्वारा ब्राह्मणों को दान किया गया यज्ञस्थल नाम का एक टोला था, जहाँ बहुत-से ब्राह्मण निवास करते थे ॥७॥

वहाँ यज्ञसोम नाम का एक वेदज्ञ ब्राह्मण रहता था। वह अत्यन्त धनवान् था, अग्निहोत्री था तथा अतिथि-देवों का सम्मान करनेवाला था ॥८॥

जब उसका यौवन बीत गया, तब सौ-सौ मनोरथों के बाद, उसके ही योग्य उसकी पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥९॥

उत्तम लक्षणोंवाला वह बालक पिता के घर में बढ़ने लगा। ब्राह्मणों ने विधिपूर्वक उसका नाम देवसोम रखा ॥१०॥

वह बालक, जिसने अपनी विद्या, विनय आदि गुणों से लोगों को वशीभूत कर लिया था, जब सोलह वर्ष का हुआ, तब अचानक ज्वर से मृत्यु को प्राप्त हो गया ॥११॥

उसके पिता यज्ञसोम ने, स्नेह के कारण अपनी पत्नी के सहित, उस मरे हुए पुत्र को आलिंगन में बाँध रखा और बहुत देर तक उसके शव को दाहक्रिया के लिए नहीं जाने दिया ॥१२॥

अनन्तर, वहाँ इकट्ठे हुए बड़े-बूढ़ों ने उसे इस प्रकार समझाया—"ब्रह्मन्! आप तो भूत और भविष्य को जाननेवाले हैं। आप क्या जल के बबूले के समान क्षणभंगुर इस संसार की गति नहीं जानते, जो गन्धर्वनगर के समान है? इस संसार में ऐसे भी राजा थे, जिन्होंने धरती को सेनाओं से भर दिया; जो उन मनोहर प्रासादों में, रत्न-जटित पलँगों पर बैठे, जहाँ संगीत का झंकार भरा रहता था; जो अपने शरीर में चन्दन का लेप करते थे और अपने को अमर समझकर उत्तम स्त्रियों से घिरे रहते और सुख भोगते थे; उन्हें भी काल ने अपना ग्रास बना लिया। वे भी अकेले ही उस श्मशान में जा पहुँचे, जहाँ उनके अनुयायी और प्रेत रो रहे थे और आसपास शृगाल चीत्कार कर रहे थे। चिता पर सोये उनके शरीर को भी मांसभक्षी पशुओं और अग्नि ने खा डाला। जब उन्हें भी मरने और नष्ट होने से कोई बचा न सका, तब औरों की बात ही क्या है? अतः, हे विद्वन्? तुम यह बतलाओ कि इस शव को कलेजे से लगाये रखकर क्या करोगे?" ॥१३—१८॥

इस तरह समझाने-बुझाने के बाद उसने किसी तरह अपने उस मरे हुए पुत्र को छोड़ा और शव को नहलाया-धुलाया। तब उसे एक पालकी पर रखकर, आँसू बहाते तथा रोते-पीटते वे बन्धु-बान्धव, जो वहाँ इकट्ठे थे, श्मशान में ले गये ॥१९-२०॥

---

१. गुण=अच्छाई अथवा धनुष की डोरी; २. कर=हाथ अथवा राजा को दिया जानेवाला राजस्व।

अत्रान्तरे च तत्रासीच्छ्मशाने कोऽपि तापसः।
वृद्धः पाशुपतो योगी मठिकायां कृतस्थितिः॥२१॥
वयसा तपसा चातिभूयसा सुकृशां तनुम्।
बिभ्राणो भङ्गभीत्येव सिराभिः परिवेष्टितम्॥२२॥
नाम्ना वामशिवो भस्मपाण्डुरोमावृताकृतिः।
विद्युत्पिङ्गजटाजूटो महेश्वर इवापरः॥२३॥
स तापसोऽत्र तत्कालं दत्तोपालम्भखेदितम्।
मूर्खं शठं ध्यानयोगाद्यवलिप्तमहङ्कृतम्॥२४॥
भिक्षाफलव्रतधरं शिष्यमन्तिकवासिनम्।
जगाद दूराच्छ्रुत्वा तं जनकोलाहलं वहिः॥२५॥
उत्तिष्ठ गत्वात्र वहिर्विज्ञायागच्छ सत्वरम्।
कुतोऽत्राश्रुतपूर्वोऽयं श्मशाने तुमुलारवः॥२६॥
इत्युक्ते गुरुणा तेन स शिष्यः प्रत्युवाच तम्।
नाहं यामि स्वयं याहि भिक्षावेला ह्युपैति मे॥२७॥
तच्छ्रुत्वोवाच स गुरुर्धिङ्मूर्खोदरतत्पर।
अह्नोऽर्धप्रहरे याते भिक्षावेलात्र का तव॥२८॥
श्रुत्वैवेतत्स तं क्रुद्धः कुशिष्यः प्राह तापसम्।
धिग्जराजीर्ण नाहं ते शिष्यो न त्वं गुरुर्मम॥२९॥
अहमन्यत्र यास्यामि वह पात्रीमिमां स्वयम्।
इत्युक्त्वोत्थाय स प्रायात्त्यक्त्वाग्रे दण्डकुण्डिकाम्॥३०॥
विहसन्नथ निर्गत्य मठिकायाः स तापसः।
तत्रागाद्यत्र दाहार्थमानीतः स द्विजार्भकः॥३१॥
दृष्ट्वा च तं जनतया शोच्यमानाग्र्ययौवनम्।
योगी प्रवेष्टुं तद्देहं मतिं चक्रे जरार्दितः॥३२॥
गत्वा च द्रुतमेकान्ते मुक्तकण्ठं प्ररुद्य च।
ननर्त्त स ततः क्षिप्रमङ्गहारैर्यथोचितैः॥३३॥
ततो विवेश योगात्तद्द्विजपुत्रकलेवरम्।
क्षणात्स स्वतनुं त्यक्त्वा तपस्वी यौवनेच्छया॥३४॥
तत्क्षणं रचितायां च चितायां सहसैव सः।
लब्धजीवो द्विजयुवा प्रोत्तस्थौ कृतजृम्भिकः॥३५॥

उस श्मशान में कुटिया बनाकर एक बूढ़ा तपस्वी रहता था। वह पाशुपत मत का योगी था। अधिक अवस्था और कठोर तपस्या के कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था और मानों टूट जाने की आशंका से ही उसके उस शरीर को शिराओं ने बाँध रखा था॥२१-२२॥

उसका नाम वामशिव था। उसका सारा शरीर भस्म-लगे श्वेत रोमों से भरा हुआ था। उसका पीला जटाजूट बिजली के समान जान पड़ता था। वह स्वयं दूसरे शिव-जैसा प्रतीत होता था॥२३॥

उस योगी के साथ उसकी कुटिया में एक शिष्य भी रहता था। योगी ने कुछ ही देर पहले उसे भला-बुरा कहा था, जिससे वह चिढ़ा हुआ था। वह मूर्ख और दुष्ट था। ध्यान और योग आदि की क्रियाओं में लगे रहने के कारण उसे अहंकार हो गया था। वह भीख में मिले हुए अन्न को खाकर निर्वाह करता था। बाहर दूर से आते हुए इस जन-कोलाहल को सुनकर योगी ने उससे कहा—"बाहर जाकर झटपट यह तो देख आओ कि इस श्मशान में यह ऐसा शोर-गुल क्यों हो रहा है, जैसा इससे पहले कभी नहीं सुना गया"॥२४-२६॥

गुरु के ऐसा कहने पर उस शिष्य ने उत्तर दिया—"मैं नहीं जाऊँगा, आप ही जाइए। मेरी भिक्षा-वेला बीती जा रही है"॥२७॥

यह सुनकर गुरु बोले—"अरे मूर्ख पेटू ! तुझे धिक्कार है। आधा दिन बीत जाने पर यह तेरी कैसी भिक्षा-वेला है?"॥२८॥

यह सुनकर उस क्रुद्ध और बुरे शिष्य ने तपस्वी से कहा—"अरे बुड्ढे ! तुझे धिक्कार है। न मैं तेरा शिष्य हूँ, न तू मेरा गुरु है। मैं दूसरी जगह जा रहा हूँ। तू अपना यह कमण्डल सँभाल।" यह कहकर वह उठा और तपस्वी के सम्मुख दण्ड-कमण्डल रखकर वहाँ से चलता बना॥२९-३०॥

अनन्तर, वह तपस्वी हँसता हुआ मठिया से बाहर निकला और वहाँ आया, जहाँ वह ब्राह्मण बालक दाह-कर्म के लिए लाया गया था॥३१॥

वहाँ उसने देखा कि लोग, तरुणाई के द्वार पर खड़े उस बालक के लिए शोक कर रहे हैं। बुढ़ापे से क्षीण उस योगी ने उस शरीर में प्रवेश करने का निश्चय किया॥३२॥

झटपट वह एकान्त में जाकर पहले तो जी खोलकर रोया, फिर अंगों के उचित संचालन के साथ शीघ्रता से नाचने लगा॥३३॥

पलभर बाद ही, यौवन की इच्छा रखनेवाले उस तपस्वी ने, अपना शरीर छोड़कर योगबल से उस ब्राह्मण-पुत्र के शरीर में प्रवेश किया॥३४॥

बात-की-बात में, सजाई हुई चिता पर वह ब्राह्मण-पुत्र, जीवित होकर, जँभाई लेता हुआ उठ बैठा॥३५॥

तद्दृष्ट्वा वन्धुवर्गस्य दिष्ट्या जीवति जीवति।
इत्युद्वभूव नादोऽत्र निखिलस्य जनस्य च ।।३६।।
अथामोक्ष्यन्व्रतं सर्वान्मृषा योगेश्वरः स तान्।
विप्रपुत्रशरीरान्तः प्रविष्टस्तापसोऽब्रवीत् ।।३७।।
लोकान्तरगतस्याद्य महापाशुपतव्रतम्।
ग्राह्यं साक्षान्ममाभाष्य दत्तं शर्वेण जीवितम् ।।३८।।
अधुनैव च धार्यं तद्गत्वैकान्ते व्रतं मया।
जीवितं मेऽन्यथा नास्ति तद्यूयं यात याम्यहम् ।।३९।।
इति सर्वान्स तत्रस्थान्सम्बोध्य दृढनिश्चयः।
स्वगृहान्प्रेषयामास हर्षशोकाकुलान्व्रती ।।४०।।
स्वयं च गत्वा श्वभ्रे तत्क्षिप्त्वा पूर्वकलेवरम्।
आत्तव्रतो महायोगी युवाभूतोऽन्यतो ययौ ।।४१।।
इति व्याख्याय वेतालः कथां निशि तदा पथि।
तं त्रिविक्रमसेनं स राजानं पुनरब्रवीत् ।।४२।।
राजन्ब्रूहि स योगीन्द्रः कस्मात्परपुरे वसन्।
प्ररुरोद ननर्त्ताथकौतुकं महदत्र मे ।।४३।।
इति वेतालतः श्रुत्वा शापशङ्की स भूपतिः।
विमुच्य मौनमेवं तमवादीद्धीमतां वरः ।।४४।।
श्रृणु तत्र वभूवास्य योऽभिप्रायस्तपस्विनः।
सह वृद्धं चिरायेदं शरीरं सिद्धिसाधनम् ।।४५।।
पितृभ्यां लालितं वाल्ये त्यजाम्यद्येति दुःखितः।
स जरत्तापसोऽरोदीद्देहस्नेहो हि दुस्त्यजः ।।४६।।
नवं देहं प्रवेक्ष्यामि साधयिष्याम्यतोऽधिकम्।
इति हर्षादनृत्यच्च कस्य नेष्टं हि यौवनम् ।।४७।।
एतत्तस्य वचो निशम्य नृपतेरंसात्स भूयोऽप्यगा-
द्वेतालो मृतपूरुषान्तरगतस्तं शिंशपापादपम्।
राजा सोऽपि तमन्वधावदधिकोत्साहः पुनः प्रेप्सया
कल्पान्तेऽप्यचलं कुलाद्रिविजयि स्थैर्यं हि धीरात्मनाम् ।।४८।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके त्रिंशस्तरङ्गः।

यह देखकर वहाँ एकत्र उसके हित-नाते के सब लोग पुकार उठे—"अरे, यह तो जीवित है, जी रहा है" ॥३६॥

ब्राह्मण-पुत्र के शरीर में प्रविष्ट उस तपस्वी ने, जो योगों का स्वामी था और अपने तमाम व्रतों को छोड़ना नहीं चाहता था, बातें बनाते हुए कहा—॥३७॥

"मरकर जब मैं परलोक में गया, तो भगवान् शिव ने प्रकट होकर मुझे जीवन-दान दिया और कहा कि तुम्हें पाशुपत व्रत लेना है। मुझे इसी समय एकान्त में जाकर वह व्रत ग्रहण करना है। यदि मैं ऐसा न करूँगा, तो जीवित न रहूँगा। इसलिए, आप लोग लौट जाइए। मैं भी जा रहा हूँ" ॥३८-३९॥

उस तपस्वी ने, जिसने व्रत का दृढ निश्चय कर रखा था, वहाँ एकत्र हुए हर्ष और शोक से विह्वल सब लोगों को समझा-बुझाकर, घर लौटा दिया। अनन्तर, उसने जाकर अपने पहले शरीर को एक खड्ढ में डाल दिया और व्रत धारण करके, युवा शरीर से, वह महायोगी अन्यत्र चला गया ॥४०-४१॥

उस रात को मार्ग में राजा त्रिविक्रमसेन को यह कथा सुनाकर वेताल ने उनसे पुनः कहा—"राजन्! यह बतलाओ कि दूसरे शरीर में प्रवेश करने से पहले वह योगिराज क्यों रोया और फिर नाचने क्यों लगा? इसके बारे में मुझे बड़ा कौतूहल है" ॥४२-४३॥

वेताल की यह बात सुनकर, शाप से आशंकित और बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राजा ने मौन त्याग दिया और वेताल से कहा—"इन बातों में उस तपस्वी का जो अभिप्राय था, वह सुनो। उस वृद्ध तपस्वी ने सोचा कि इस बूढ़े शरीर के साथ बहुत दिनों से मैं सिद्धियों का साधन करता रहा हूँ। अब मैं इस शरीर का त्याग करने जा रहा हूँ, जिसे माँ-बाप ने बचपन में लाड़-प्यार से पाला था। यही सोचकर वह तपस्वी दुःखी हुआ और रोया था; क्योंकि शरीर का मोह छोड़ना बड़ा कठिन होता है। इसी तरह वह यह सोचकर प्रसन्नता से नाच उठा था कि अब मैं नये शरीर में प्रवेश करूँगा और इससे भी अधिक साधना कर सकूँगा। भला यौवन की कामना कौन नहीं करता?" ॥४४—४७॥

शव के शरीर में बैठा हुआ वह वेताल, राजा की ये बातें सुनकर, उनके कन्धे से उतरकर पुनः उस शिंशपा-वृक्ष पर जा बैठा। राजा त्रिविक्रमसेन ने और अधिक उत्साहपूर्वक, उसे ले आने के लिए, फिर उसका पीछा किया। धीर चित्तवाले लोगों की स्थिरता, कुलपर्वतों की स्थिरता को भी जीतनेवाली होती है और कल्पान्त तक अचल रहती है ॥४८॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
त्रिंशस्तरंग समाप्त

एकत्रिंशस्तरङ्गः

चतुर्विशो वेतालः। एका अद्‌भुतकथा

ततस्तां तिमिरश्यामां चिताग्निज्वलितेक्षणाम्।
श्मशाने भीषणे तस्मिन्वीरो रजनिराक्षसीम् ॥१॥
घोरामगणयन्राजा गत्वा तां शिशपां पुनः।
स त्रिविक्रमसेनस्तं तस्या वेतालमाददे ॥२॥
स्कन्धे कृत्वा च तं यावत्प्रक्रामति स पूर्ववत्।
तावद्भूयः स वेतालो नरदेवमुवाच तम् ॥३॥
भो राजन्नहमुद्विग्नो न पुनस्त्वं गतागतैः।
तदेकं मे महाप्रश्नमिमं कथयतः शृणु ॥४॥
आसीन्माण्डलिकः कोऽपि नृपतिर्दक्षिणापथे।
धर्माभिधानो धौरेयः साधूनां बहुगोत्रजः ॥५॥
तस्य चन्द्रवतीनाम भार्या मालवदेशजा।
अभून्महाकुलोत्पन्ना वरस्त्रीमौलिमालिका ॥६॥
तस्यां च तस्य भार्यायां भूपतेरुदपद्यत।
एकैव लावण्यवती नामान्वर्थाभिधा सुता ॥७॥
प्रदेशायां च तस्यां स सुतायां धर्मभूपतिः।
उन्मूलितोऽभून्मिलितैर्दायादै राष्ट्रभेदिभिः ॥८॥
ततः पलाय्य निरगात्स देशाद्भार्यया सह।
दुहित्रा च तया रात्रावात्तसद्रत्नसञ्चयः ॥९॥
मालवं प्रति च स्वैरं प्रस्थितः श्वशुरास्पदम्।
विन्ध्याटवीं तया रात्र्या प्राप भार्यासुतायुतः ॥१०॥
तस्यां प्रविष्टस्योदश्रुरिवावश्यायशीकरैः।
निशानुयात्रां दत्त्वेव ययौ तस्य महीक्षितः ॥११॥
आरुरोहाथ पूर्वाद्रिमुत्क्षिप्ताग्रकरो रविः।
मा गाश्चौराटवीमेतामिति तं वारयन्निव ॥१२॥
ततोऽत्र ससुताजानिः क्षताङ्घ्रिः कुशकण्टकैः।
पदातिः स नृपो गच्छन्भिल्लानां प्राप पल्लिकाम् ॥१३॥

एकत्रिंश तरंग

चतुर्विंश वेताल : एक अद्‌भुत कथा

वह रात एक राक्षसी के समान थी। वह अन्धकार से काली दीखती थी। चिता की अग्नि ही मानों उसकी जलती हुई आँखें थीं। ऐसी भयानक रात को भी कुछ न समझते हुए वीर राजा त्रिविक्रमसेन ने उस भीषण श्मशान में जाकर, शिंशपा-वृक्ष से वेताल को उतार लिया॥१-२॥

उसे कन्धे पर लेकर जब वे पहले ही की तरह चले, तब उस वेताल ने राजा से पुनः कहा—"राजन्! मैं तो बार-बार की इस आवाजाही से ऊब उठा हूँ—तुम नहीं ऊबे। तो अब मैं तुमसे यह एक महाप्रश्न करता हूँ। इसे सुनो"॥३-४॥

दक्षिणापथ में धर्म नाम का एक माण्डलिक राजा था। वह सद्‌गुणों को धारण करनेवाला था। उसके बहुत-से गोत्रज थे॥५॥

चन्द्रावती नाम की उसकी स्त्री मालवा की कन्या थी। वह ऊँचे कुल में उत्पन्न हुई थी और उत्तम नारियों की चूडामणि थी॥६॥

राजा को अपनी उस स्त्री से एक ही कन्या उत्पन्न हुई। कन्या का नाम था लावण्यवती। अपने नाम के अनुसार ही वह बड़ी रूपवती थी॥७॥

जब वह कन्या विवाह के योग्य हुई, तब उसके गोत्रजों ने मिल-जुलकर उसके राज्य में फूट डाल दी और उसे राज्यासन से उतार दिया॥८॥

तब वह रात्रि के समय अपने राज्य से छिपकर निकल भागा। उसके साथ उसकी स्त्री और कन्या भी थी। उसने बहुत-से उत्तम रत्न भी साथ ले लिये थे॥९॥

वह स्वेच्छा से अपनी ससुराल मालवा की ओर चल पड़ा। पत्नी और पुत्री के साथ जाता हुआ, वह उसी रात में विन्ध्यपर्वत के जंगलों में जा पहुँचा॥१०॥

राजा ने जब वन में प्रवेश किया, तब ओस के आँसू बहाती हुई उस रात ने उनसे विदा ली, जो उन्हें इतनी दूर ले आई थी॥११॥

अनन्तर, पूर्व दिशा के पर्वत पर सूर्य चढ़ आया। वह मानों अपनी पहली किरणों के हाथ उठाकर राजा से कह रहा था—'आगे मत बढ़ो। यह वन चोरों से भरा है'॥१२॥

राजा अपनी स्त्री और कन्या के साथ पाँव-प्यादा जा रहा था। उन सबके पैर कुश और कण्टकों से छिद गये थे। इस तरह चलते-चलते राजा भीलों के गाँव में जा पहुँचा॥१३॥

परेषां प्राणसर्वस्वहारिभिः पुंभिरावृताम्।
वर्जितां धार्मिकैर्दुर्गां कृतान्तनगरीमिव ॥१४॥
तत्र दृष्ट्वैव तं दूरात्सवस्त्राभरणं नृपम्।
मोषितुं बहवोऽधावञ्शबरा विविधायुधाः ॥१५॥
तान्विलोक्य सुताभार्ये राजा धर्मो जगाद सः।
पुरा स्पृशन्ति वां म्लेच्छास्तदितो विशतं वनम् ॥१६॥
इति राज्ञोदिता राज्ञी वनमध्यं विवेश सा।
लावण्यवत्या सुतया सार्धं चन्द्रवती भयात् ॥१७॥
राजाप्यभिमुखायातान्खड्गचर्मधरोऽत्र सः।
अवधीत्तान्बहूञ्शूरः शबराञ्शरवर्षिणः ॥१८॥
ततस्तेनाखिला पल्ली प्रत्याज्ञप्ता निपत्य तम्।
प्रहारक्षतचर्माणमवधीन्नृपमेककम् ॥१९॥
गृहीताभरणे याते दस्युसैन्ये विलोक्य तम्।
भर्त्तारं निहतं दूराद्वनगुल्मान्तरस्थिता ॥२०॥
राज्ञी चन्द्रवती सात्र दुहित्रा सह विह्वला।
पलायमाना गहनं दूरमन्वगगाद्वनम् ॥२१॥
तत्र मध्याह्नतापार्त्तास्विव मूलानि शाखिनाम्।
छायास्वपि प्रविष्टासु शिशिराणि सहाध्वगैः ॥२२॥
एकदेशेऽब्जसरसस्तीरेऽशोकतरोस्तले।
शोकार्त्ता रुदती श्रान्ता ससुता समुपाविशत् ॥२३॥
तावत्तद्वनमभ्यर्णनिवासी मृगयाकृते।
महामनुष्यः कोऽप्यागादश्वारूढः सपुत्रकः ॥२४॥
स चण्डसिंहनामा तं पुत्रं सिंहपराक्रमम्।
उवाच दृष्ट्वात्र तयोः पांसूत्थे पदपद्धती ॥२५॥
एते सुरेखे सुभगे अनुसृत्याप्नुवो यदि।
स्त्रीयौ ते तत्तयोरेकां स्वीकुरुष्व यथारुचि ॥२६॥
इत्युक्तवन्तं तं स्माह पुत्रः सिंहपराक्रमः।
यस्याः सूक्ष्माविमौ पादौ सा भार्या प्रतिभाति मे ॥२७॥
सा हि स्वल्पवया नूनं जाने समुचिता मम।
बृहत्पादा तु योग्येयमेतज्ज्येष्ठवयास्तव ॥२८॥

उस गाँव में पराया धन और प्राण हरण करनेवाले लोग रहते थे। धार्मिकों से रहित वह गाँव, यमराज की नगरी के समान दुर्गम था॥१४॥

वस्त्र और आभूषण धारण करनेवाले राजा को दूर से ही देखकर, उन्हें लूटने के लिए अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से युक्त भील उनकी ओर दौड़ पड़े॥१५॥

उन्हें देखकर राजा धर्म ने अपनी कन्या और स्त्री से कहा—"ये म्लेच्छ पहले तुम्हारे ही ऊपर आक्रमण करेंगे, अतः तुम दोनों यहाँ से वन में चली जाओ॥१६॥

राजा के ऐसा कहने पर, भय के कारण, रानी चन्द्रवती अपनी कन्या लावण्यवती के साथ वन में चली गई॥१७॥

ढाल और तलवार लिये हुए उस वीर राजा ने, सम्मुख आकर बाण बरसानेवाले उन भीलों में से बहुतों को मार डाला॥१८॥

बाणों की बौछार से राजा का शरीर भी छलनी हो गया था। अब अपने सरदार की आज्ञा से सब गाँववालों ने मिलकर उस अकेले राजा पर आक्रमण किया और उसे मार डाला॥१९॥

राजा के शरीर पर जो गहने-कपड़े थे, उन्हें लेकर चोरों की सेना लौट गई। दूर से, वन की झाड़ियों में छिपी हुई रानी चन्द्रवती ने मारे जाते हुए पति को देखा। विह्वल होकर वह कन्या के साथ भाग खड़ी हुई और दूर के घने जंगल में चली गई॥२०-२१॥

वहाँ मध्याह्न के ताप से आर्त्त पथिकों के समान, वृक्षों की छाया भी उनकी ठण्डी जड़ों के पास पड़ी हुई थी॥२२॥

वहीं एक स्थान पर, कमल-सरोवर के किनारे, एक अशोक-वृक्ष के नीचे, थकी हुई रानी, शोक के कारण रोती हुई, अपनी कन्या के साथ जा बैठी॥२३॥

इसी बीच उस वन के निकट रहनेवाला घोड़े पर सवार कोई राजा, शिकार के लिए, अपने पुत्र के साथ उधर आ निकला। ॥२४॥

पिता का नाम चन्द्रसिंह था और पुत्र का सिंहपराक्रम। धूल में उभरे हुए उन माँ-बेटियों के पग-चिह्न देखकर चन्द्रसिंह ने अपने पुत्र से कहा—"इन सुन्दर और उत्तम रेखाओंवाले पग-चिह्नों का अनुसरण करते हुए हम लोग चलें और ये जिनके पैरों के निशान हैं, वे स्त्रियाँ यदि मिल जायँ, तो अपनी रुचि के अनुसार, उनमें से एक को तुम ब्याह लेना"॥२५-२६॥

पिता की ये बातें सुनकर, उसका पुत्र सिंहपराक्रम बोला—"जिसके ये छोटे-छोटे पैर हैं, वही मुझे अपनी स्त्री लगती है। अवश्य ही वह कम उम्रवाली है और, मेरे योग्य है। और, यह जो बड़े पैरोंवाली है, अधिक अवस्था की होने के कारण, वह आपके योग्य है"॥२७-२८॥

इति सूनोर्वचः श्रुत्वा चण्डसिंहो जगाद तम्।
कैषा कथा भवन्माता प्रत्यग्रं हि गता दिवम्॥२९॥
तादृशे सुकलत्रे च गते कान्यत्र वासना।
तच्छ्रुत्वा सोऽपि पुत्रस्तं चण्डसिंहमभाषत॥३०॥
तात मैवमभार्यं हि शून्यं गृहपतेर्गृहम्।
अन्यच्च मूलदेवोक्ता गाथा किं न श्रुता त्वया॥३१॥
यत्र घनस्तनजघना नास्ते मार्गावलोकिनी कान्ता।
अजडः कस्तदनिगडं प्रविशति गृहसंज्ञकं दुर्गम्॥३२॥
तज्जीवितेन मे तात शापितोऽसि न तां यदि।
द्वितीयां मदभीष्टायां भार्यार्थे स्वीकरिष्यसि॥३३॥
एतत्पुत्रवचः श्रुत्वा प्रतिपद्य च तत्सखः।
स चण्डसिंहोऽनुसरन्पदपङिक्त शनैर्ययौ॥३४॥
प्राप्य तच्च सरःस्थानं मुक्तातारौघमण्डिताम्।
श्यामां चन्द्रवतीं राज्ञीं तां ददर्शाविभासिताम्॥३५॥
लावण्यवत्या सुतया ज्योत्स्नयेवावदातया।
नैशीं द्वयामिव मध्याह्ने तरुच्छायामुपाश्रिताम्॥३६॥
उपाययौ च पुत्रेण साकं तां स सकौतुकः।
सापि दृष्ट्वा तमुत्तस्थौ वित्रस्ता चौरशङिकनी॥३७॥
अलं त्रासेन नाम्बैतौ चौरो सौम्याकृती इमौ।
सुवेषौ कौचिदाखेटकृते नूनमिहागतौ॥३८॥
इत्युक्ता सुतया राज्ञी यावद्दोलायतेऽत्र सा।
तावदश्वावतीर्णस्ते चण्डसिंहोऽब्रवीदुभे॥३९॥
किं सम्भ्रमेण वामावां प्रणयाद्द्रष्टुमागतौ।
तद्विश्वस्य निरातङ्के वदतं के युवामिति॥४०॥
हरनेत्रानलज्वालादग्धमन्मथदुःस्थिते।
रतिप्रीती इवारण्यमिदमेवमुपागते॥४१॥
प्रविष्टे स्थः कथं चेह वत निर्मानुषे वने।
रत्नप्रासादवासार्हमिदं हि युवयोर्वपुः॥४२॥
कथं वराङ्गनोत्सङ्गयोग्यौ कण्टकिनीमिमाम्।
भुवं वां चरणौ भ्रान्ताविति नौ मनसि व्यथा॥४३॥

पुत्र की ये बातें सुनकर चन्द्रसिंह ने कहा—"तुम यह कैसी बातें करते हो? तुम्हारी माता को मरे अभी कुछ ही समय हुआ है। वैसी योग्य गृहिणी को खोकर अब मुझे किसी और की कामना कैसे हो सकती है?" यह सुनकर उसके पुत्र सिंहपराक्रम ने फिर कहा—॥२९-३०॥

"पिताजी! ऐसा न कहें। अपत्नीक गृहस्वामी का घर सूना होता है। इसके अतिरिक्त, आपने क्या मूलदेव की कही यह कथा नहीं सुनी?—"जहाँ बड़े-बड़े स्तनों और मोटी जाँघोंवाली स्त्री (पति की) राह देखती नहीं बैठी होती, घर नाम के बिना बेड़ियोंवाले उस कैदखाने में किसी मूर्ख को छोड़कर भला और कौन प्रवेश करेगा? अतः पिताजी! मैंने जिसे पसन्द किया है, उसके अलावा जो दूसरी है, उसे यदि आपने स्त्री के रूप में स्वीकार नहीं किया, तो आपको मेरे प्राणों की सौगन्ध है" ॥३१—३३॥

पुत्र की ये बातें सुनकर चन्द्रसिंह को आखिर हामी भरनी पड़ी। फिर वे दोनों, पैरों के निशान देखते हुए, धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे॥३४॥

इस सरोवर के निकट पहुँचकर चन्द्रसिंह ने वृक्ष की छाया में बैठी हुई चन्द्रवती को देखा। मोतियों की माला पहने हुई साँवली चन्द्रवती, दोपहर में ही तारोंभरी रात के समान जान पड़ती थी। उसकी कन्या लावण्यवती उस स्वच्छ चाँदनी के समान जान पड़ती थी, जिससे वह रात प्रकाशित हो रही हो। अभिप्राय यह कि चन्द्रवती साँवली थी, उसने मोतियों की माला पहन रखी थी, जिससे वह तो तारों-भरी रात के समान शोभित हो रही थी और अपने रूप की उज्ज्वलता से प्रकाशित हो रही लावण्यवती, चाँदनी के समान उसको आलोकित कर रही थी॥३५-३६॥

चन्द्रसिंह अपने पुत्र के साथ उसके निकट पहुँचे। उनके मन में बड़ा कौतूहल था। चन्द्रवती भी उन्हें देखकर, चोर की आशंका से, घबरा उठी और उठकर खड़ी हो गई॥३७॥

तब लावण्यवती अपनी माता से बोली—"माँ! घबराओ नहीं। ये चोर नहीं हैं। सौम्य आकृति और उत्तम वस्त्र धारण करनेवाले ये दोनों अवश्य ही आखेट के लिए यहाँ आये हैं।" लेकिन, कन्या की इन बातों से भी रानी को भरोसा नहीं हुआ। इसी समय चन्द्रसिंह घोड़े से उतरे और उन दोनों से बोले—॥३८-३९॥

"घबराने की कोई बात नहीं है। हम लोग प्रीति के कारण आप दोनों को देखने आये हैं। अतः, आप हम पर विश्वास करें और निर्भय होकर बतलायें कि आप दोनों कौन हैं? ॥४०॥

"इस वन में आई हुई आप दोनों ऐसी लग रही हैं, मानों शिव के नेत्र की ज्वाला से दग्ध हुए कामदेव के लिए दुःख कर रही रति और प्रीति हों॥४१॥

"आप दोनों का यह शरीर तो रत्न-जटित भवनों में रहने के योग्य है। आप इस जनहीन वन में किसलिए आई हैं? ॥४२॥

"हम लोगों को इस बात का बड़ा दुःख है कि उत्तम स्त्रियों की गोद में रहने योग्य आप दोनों के चरणों को काँटों से भरी इस भूमि पर किसलिए चलना पड़ा॥४३॥

एषा च चित्रं युवयोः पतन्ती धूलिरानने।
वातोद्धूता हतच्छायमावयोः कुरुते मुखम् ॥४४॥

भवत्योरेष चाङ्गेऽस्मिन्निपतन्पुष्पपेशले।
किरणोष्मा दहत्यस्मानुच्चण्डश्चण्डदीधितेः ॥४५॥

तद्ब्रूतमात्मवृत्तान्तं दूयते हृदयं हि नः।
द्रष्टुं न शक्नुमोऽरण्ये स्थितिं वां श्वापदावृते ॥४६॥

इत्युक्ते चण्डसिंहेन राज्ञी निःश्वस्य सा शनैः।
लज्जाशोकाकुला तस्मै स्वं वृत्तान्तमवर्णयत् ॥४७॥

ततो निःस्वामिका मत्वा तामाश्वास्य च सात्मजाम्।
स्वीचक्रे मधुरैर्वाक्यैश्चण्डीसिंहोऽनुरञ्जयन् ॥४८॥

आरोप्य चाश्वयोः पृष्ठं सपुत्रस्तां सपुत्रिकाम्।
निनाय वित्तपपुरीसमृद्धां वसतिं निजाम् ॥४९॥

सापि जन्मान्तरगतेवावशाङ्गीचकार तम्।
अनाथा कृच्छ्रपतिता विदेशे स्त्री करोति किम् ॥५०॥

ततस्तां सूक्ष्मपादत्वाद्राज्ञीं सिंहपराक्रमः।
चण्डसिंहसुतस्तत्र भार्यां चन्द्रवतीं व्यधात् ॥५१॥

तत्सुतां तां च लावण्यवतीं नृपतिकन्यकाम्।
बृहत्त्वात्पादयोर्भार्यां चण्डसिंहश्चकार सः ॥५२॥

प्राग्घि सूक्ष्मबृहत्पादमुद्रापङ्क्तिद्वयेक्षणात्।
प्रतिपन्नं तथा ताभ्यां सत्यं कश्चातिवर्त्तते ॥५३॥

एवं पादविपर्यासात्ते पितापुत्रयोस्तयोः।
दुहितामातरौ भार्ये जाते श्वश्रूस्नुषे तदा ॥५४॥

कालेन च तयोस्ताभ्यां भर्तृभ्यां जज्ञिरे द्वयोः।
पुत्रा दुहितरश्चैव तेषामन्येऽप्यथ क्रमात् ॥५५॥

इत्थं सम्प्राप्य तौ चण्डसिंहसिंहपराक्रमौ।
तस्थतुस्तत्र लावण्यवतीं चन्द्रवतीं च ते ॥५६॥

इति व्यावर्ण्य वेतालस्तदा पथि कथां निशि।
स त्रिविक्रमसेनं तं पप्रच्छ नृपतिं पुनः ॥५७॥

"कैसे आश्चर्य की बात है कि वायु से उड़ाई गई जो धूल आप लोगों के चेहरे पर पड़ रही है, उससे हमारे मुखों की कान्ति म्लान हो रही है ॥४४॥

"सूर्य-किरणों का जो ताप आप दोनों के कुसुम-कोमल अंगों पर पड़ रहा है, वह हमें अत्यधिक दग्ध कर रहा है ॥४५॥

"अतः, आप अपना सारा वृत्तान्त हमें बतलायें। हमारा मन बहुत पीडित हो रहा है। हिंस्र पशुओं से भरे इस वन में आप लोगों का ठहरना हमसे नहीं देखा जाता" ॥४६॥

चन्द्रसिंह के ऐसा कहने पर, लज्जा तथा शोक से विकल रानी ने, उसाँसें लेते हुए, अपना सारा वृत्तान्त धीरे-धीरे कह सुनाया ॥४७॥

यह जानकर कि उन दोनों का कोई रक्षक नहीं है, चन्द्रसिंह ने कन्या के सहित रानी को मीठी-मीठी बातों से समझा-बुझाकर दिलासा दिया और उन्हें स्वीकार किया ॥४८॥

चन्द्रसिंह और उनके पुत्र ने उन दोनों माँ-बेटियों को अपने घोड़ों पर बैठा लिया। फिर वे, कुबेर की नगरी के समान समृद्ध अपनी नगरी में, उन्हें ले आये ॥४९॥

रानी ने विवश होकर और अपना दूसरा जन्म हुआ मानकर राजा चन्द्रसिंह को स्वीकार कर लिया। विदेश में, संकट में पड़ी हुई अनाथ स्त्री भला और कर भी क्या सकती थी ? ॥५०॥

अनन्तर, चन्द्रसिंह के पुत्र सिंहपराक्रम ने चन्द्रवती को अपनी पत्नी बनाया; क्योंकि उसके पैर छोटे थे ॥५१॥

चन्द्रसिंह ने चन्द्रवती की कन्या, राजकुमारी लावण्यवती को, अपनी स्त्री बनाया; क्योंकि उसके पैर बड़े थे ॥५२॥

उन दोनों के छोटे-बड़े पैरों कें निशान देखकर, पिता-पुत्रों ने पहले ऐसा ही निश्चय किया था। सत्य का अतिक्रमण भला कौन कर सकता है ? ॥५३॥

इस प्रकार, पैरों की गड़बड़ी से उन पिता-पुत्रों ने क्रमशः बेटी और माता से विवाह कर लिया और चन्द्रवती, अपनी ही बेटी की बहू बन गई ॥५४॥

समय पाकर उन दोनों को, अपने-अपने पति से, पुत्र और कन्याएँ उत्पन्न हुईं—और फिर उनके भी बेटी-बेटे हुए ॥५५॥

इस प्रकार लावण्यवती और चन्द्रवती को पत्नी के रूप में पाकर वे चन्द्रसिंह और सिंहपराक्रम वहाँ रहने लगे ॥५६॥

रात्रि के समय मार्ग में जाते हुए वेताल ने इस प्रकार यह कथा सुनाकर राजा त्रिविक्रम सेन से पुनः पूछा—॥५७॥

तयोर्मातादुहित्रोर्ये पुत्रपित्रोस्तयोर्नृप।
सकाशाज्जन्तवो जाताः क्रमादुभयपक्षयोः ॥५८॥
ज्ञात्वेदं ब्रूहि मे तेषामन्योन्यं के भवन्ति ते।
पूर्वोक्तः सोऽत्र शापस्ते जानानश्चेन्न वक्ष्यसि ॥५९॥
एतद्वेतालतः श्रुत्वा विमृशन्बहुधापि सः।
नाज्ञासीत्तद्यदा राजा तूष्णीकः प्रययौ तदा ॥६०॥
ततस्तदंसकूटस्थो वेतालो विहसन्हृदि।
मृतपूरुषदेहान्तर्निविष्टः समचिन्तयत् ॥६१॥
नायं राजा महाप्रश्ने वेत्त्यस्मिन्दातुमुत्तरम्।
तेन तूष्णीं व्रजत्येष हृष्टोऽतिचतुरैः पदैः ॥६२॥
न च वञ्चयितुं शक्यः सत्त्वराशिरयं परम्।
क्रीडन्भिक्षुः स चास्माभिरियतैव न शाम्यति ॥६३॥
तदद्य वञ्चयित्वा तं दुरात्मानमुपायतः।
तत्सिद्धिं भाविकल्याणे राजन्यस्मिन्निवेशये ॥६४॥
इत्यालोच्य स वेतालो नृपं तमवदत्तदा।
राजन्कृष्णनिशाघोरे श्मशानेऽस्मिन्गतागतैः ॥६५॥
एतैः क्लिष्टः सुखार्हस्त्वं न विकल्पश्च कोऽपि ते।
तदाश्चर्येण धैर्येण तुष्टोऽहममुना तव ॥६६॥
शवमेतं नयेदानीं निर्गच्छाम्यमुतो ह्यहम्।
इदं तु शृणु यद्वच्मि हितं तव कुरुष्व च ॥६७॥
आनीतमेतद्भवता यस्यार्थे नृकलेवरम्।
कुभिक्षुः सोऽद्य मामस्मिन्समाहूयार्चयिष्यति ॥६८॥
उपहारीचिकीर्षुश्च त्वामेव स शठस्ततः।
भूमौ प्रणाममष्टाभिरङ्गैः कुर्विति वक्ष्यति ॥६९॥
त्वं प्राग्दर्शय तावन्मे करिष्येऽहं तथैव तत्।
इति सोऽपि महाराज वक्तव्यः श्रमणस्त्वया ॥७०॥
ततो निपत्य भूमौ स प्रणामं यावदेव ते।
दर्शयिष्यति तावत्त्वं छिन्द्यास्तस्यासिना शिरः ॥७१॥
ततो विद्याधरैश्वर्यसिद्धिर्या तस्य वाञ्छिता।
तां त्वं प्राप्स्यसि भुङ्क्ष्वेमां भुवं तदुपहारतः ॥७२॥

"राजन्! यदि तुम जानते हो, तो यह बतलाओ कि उन माँ-बेटियों को, पुत्र और पिता के द्वारा, क्रमशः जो सन्तानें हुईं, उनका आपस में क्या सम्बन्ध हुआ? यदि जानते हुए भी तुमने न बतलाया, तो तुम्हें पहले कहा हुआ शाप लगेगा ॥५८-५९॥

वेताल से सुनकर, बहुत सोचने-विचारने पर भी जब राजा कुछ समझ न पाया, तब चुपचाप चलने लगा ॥६०॥

मृत पुरुष के शरीर में प्रविष्ट और राजा के कन्धे पर बैठा वेताल, इसपर मन-ही-मन हँसा और सोचने लगा—"इस महाप्रश्न का उत्तर इस राजा को मालूम नहीं है, फिर भी यह प्रसन्न है और सावधानी से पैर रखता हुआ चुपचाप चला जा रहा है। यह राजा बड़ा पराक्रमी है, इसलिए वंचित होने के योग्य नहीं है। इसके अलावा वह भिक्षु मेरे साथ जो चालाकी चल रहा है, वह इतने ही से चुप न रहेगा। इसलिए मैं उस दुरात्मा को ही उपायपूर्वक वंचित करूँगा और उसकी सिद्धि इस राजा के लिए सुलभ कर दूँगा; क्योंकि भविष्य में इसका कल्याण होनेवाला है" ॥६१—६४॥

ऐसा सोचकर वेताल ने राजा से कहा—"राजन्! इस भयावनी अँधेरी रात में, इस श्मशान में बार-बार आते-जाते तुमने बहुत कष्ट पाया है, फिर भी तुम अपने निश्चय से डिगे नहीं। तुम सुख पाने के योग्य हो। मैं तुम्हारे इस आश्चर्यजनक धैर्य से सन्तुष्ट हुआ हूँ ॥६५-६६॥

अब तुम इस शव को ले जाओ। मैं इसमें से चला जाता हूँ। मैं तुम्हारी भलाई के लिए जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनो और उसके अनुसार काम करो ॥६७॥

"तुम जिस दुष्ट भिक्षु के लिए मनुष्य का यह शरीर ले आये हो, वह आज इस शरीर में मेरा आह्वान करके पूजा करेगा ॥६८॥

"अनन्तर, वह दुष्ट तुम्हारी ही बलि चढ़ाने की इच्छा से तुमसे कहेगा कि 'भूमि पर पड़कर साष्टांग प्रणाम करो' ॥६९॥

"महाराज! तुम उस श्रमण से कहना कि 'पहले तुम करके दिखलाओ, तो फिर मैं वैसा ही करूँगा' ॥७०॥

"अनन्तर, जब वह भूमि पर पड़कर, प्रणाम करके तुम्हें दिखलाये, उसी समय तुम उसकी तलवार से उसका मस्तक काट लेना ॥७१॥

"तब, विद्याधरों का जो ऐश्वर्य वह प्राप्त करना चाहता है, वह तुम्हें मिल जायगा। उसकी बलि देकर, तुम इस पृथ्वी का भोग करोगे ॥७२॥

अन्यथा तु स भिक्षुस्त्वामुपहारीकरिष्यति।
एतदर्थं कृतो विघ्नस्तवात्रेयच्चिरं मया ॥७३॥
तत्सिद्धिरस्तु ते गच्छेत्युक्त्वा तस्यांसपृष्ठगात्।
निर्गत्य स ययौ तस्माद्वेतालः प्रेतकायतः ॥७४॥
अथ स नरपतिस्तं प्रीतवेतालवाक्या-
च्छ्रमणमहितमेव क्षान्तिशीलं विचिन्त्य।
वटविटपितलं तत्तस्य पार्श्वं प्रतस्थे
मृतपुरुषशरीरं तद्गृहीत्वा प्रहृष्टः ॥७५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवती लम्बके एकत्रिंशस्तरङ्गः।

द्वात्रिंशस्तरङ्गः

पंचविंशो वेतालः। भिक्षुणः क्षान्तिशीलस्य कथा

ततस्तस्यान्तिकं भिक्षोः क्षान्तिशीलस्य भूपतिः।
स त्रिविक्रमसेनोऽत्र प्राप स्कन्धे शवं वहन् ॥१॥
ददर्श तं च श्रमणं मार्गाभिमुखमेककम्।
कृष्णपक्षक्षपारौद्रे श्मशाने तरुमूलगम् ॥२॥
असृग्लिप्तस्तले गौरेणास्थिचूर्णेन निर्मिते।
मण्डले दिक्षु विन्यस्तपूर्णशोणितकुम्भके ॥३॥
महातैलप्रदीपाढ्ये हुतपार्श्वस्थवह्निनि।
सम्भृतोचितसम्भारे स्वेष्टदैवतपूजने ॥४॥
उपागाच्च स तं राजा सोऽपि भिक्षुर्विलोक्य तम्।
आनीतमटकं हर्षादुत्थायोवाच संस्तुवन् ॥५॥
दुष्करो मे महाराज विहितोऽनुग्रहस्त्वया।
त्वादृशाः क्व क्व चेष्टेयं देशकालौ क्व चेदृशौ ॥६॥
निष्कम्पं सत्यमेवाहुर्मुख्यं त्वां कुलभूभृताम्।
एवमात्मानपेक्षेण परार्थो येन साध्यते ॥७॥
एतदेव महत्त्वं च महतामुच्यते बुधैः।
प्रतिपन्नादचलनं प्राणानामत्ययेऽपि यत् ॥८॥

"ऐसा न करोगे तो वही तुम्हारी बलि चढ़ा देगा। मैंने इसी कारण तुम्हारे इस कार्य में इतनी देर तक विघ्न डाला था॥७३॥

"जाओ, तुम्हें सफलता प्राप्त हो।" यह कहकर राजा के कन्धे के ऊपर जा रहे शव के शरीर से निकलकर वेताल चला गया॥७४॥

प्रसन्न हुए वेताल की बातों से, राजा ने क्षान्तिशील (श्रमण) को अपना अमंगल करनेवाला समझा, फिर भी वह प्रसन्नतापूर्वक उस शव को लेकर, वटवृक्ष के समीप, उस श्रमण के निकट चला॥७५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का एकत्रिंश तरंग समाप्त।

द्वात्रिंश तरंग

पंचविंश वेताल : भिक्षु क्षान्तिशील की कथा

अनन्तर, राजा त्रिविक्रमसेन, शव को अपने कन्धे पर लिये हुए, उस भिक्षु क्षान्तिशील के समीप आया॥१॥

कृष्णपक्ष की रात से भयानक हो रहे उस श्मशान में वृक्ष की जड़ पर बैठे उस एकाकी श्रमण को राजा ने देखा, जो उसकी बाट जोह रहा था॥२॥

उसने श्मशान की भूमि को रक्त से लीप रखा था, हड्डियों के सफेद चूर्ण से चौक पूरा था और दिशाओं में रक्त से भरे घड़े रख दिये थे। वहाँ मनुष्य की चरबी से भरा दीपक चल रहा था। पास ही जल रही आग में आहुति दी गई थी। इस प्रकार, उसने अपने इष्टदेव के पूजन की सारी उचित व्यवस्था कर रखी थी॥३-४॥

राजा उस भिक्षु के समीप गया। शव लेकर आये हुए राजा को भिक्षु ने भी देखा। वह प्रसन्न होकर उठ खड़ा हुआ और राजा की प्रशंसा करता हुआ बोला—॥५॥

"महाराज! आपने मुझपर यह दुष्कर अनुग्रह किया है! कहाँ आप और कहाँ ऐसी जगह और ऐसे समय में किया जानेवाला यह काम! लोग जो आपको राजाओं में अडिग कहते हैं, वह उचित ही है; क्योंकि आप ही हैं, जो अपनी चिन्ता छोड़कर परोपकार कर सकते हैं। विद्वान् इसी को बड़ों की महत्ता कहते हैं कि वे जो अंगीकार कर लेते हैं, उससे विचलित नहीं होते, चाहे प्राण भले ही चले जायँ"॥६—८॥

इति ब्रुवन्स सिद्धार्थमानी भिक्षुर्महीपतेः ।
तस्यावतारयामास स्कन्धात्तं मटकं तदा ॥९॥
स्नपयित्वा समालभ्य बद्धमाल्यं विधाय च ।
मटकं मण्डलस्यान्तः स्थापयामास तस्य तत् ॥१०॥
भस्मोद्धूलितगात्रश्च केशयज्ञोपवीतभृत् ।
प्रावृतप्रेतवसनो भूत्वा ध्यानस्थितः क्षणम् ॥११॥
तस्मिन्मन्त्रबलाहूतं प्रवेश्य नृकलेवरे ।
तं वेतालवरं भिक्षुः पूजयामास स क्रमात् ॥१२॥
ददौ तस्मै कपालार्घपात्रेणार्घ्यं सुनिर्मलैः ।
नरदन्तै (रक्तै) स्ततः पुष्पं सुगन्धि च विलेपनम् ॥१३॥
दत्त्वा मानुषनेत्रैश्च धूपं मांसैर्बलिं तथा ।
समाप्य पूजां राजानं तमुवाच स पार्श्वगम् ॥१४॥
राजन्निहास्य मन्त्राधिराजस्य कृतसन्निधेः ।
प्रणाममङ्गैरष्टाभिर्निपत्य कुरु भूतले ॥१५॥
येनाभिप्रेतसिद्धिं ते दास्यत्येष वरप्रदः ।
श्रुत्वैतत्स्मृतवेतालवचा राजाब्रवीत्स तम् ॥१६॥
नाहं जानामि तत्पूर्वं प्रदर्शयतु मे भवान् ।
ततस्तथैव तदहं करिष्ये भगवन्निति ॥१७॥
ततो दर्शयितुं यावत्स भिक्षुः पतितो भुवि ।
तावत्खड्गप्रहारेण स राजास्य शिरोऽच्छिनत् ॥१८॥
आचकर्ष च हृत्पद्ममुदरादस्य पाटितम् ।
वेतालाय च तस्मै तच्छिरोहृत्कमलं ददौ ॥१९॥
साधुवादे ततो दत्ते प्रेतैर्भूतगणैस्ततः ।
तुष्टोऽब्रवीत्स वेतालो नृपं तं नृकलेवरात् ॥२०॥
राजन्विद्याधरेन्द्रत्वं भिक्षोरासीद्यदीप्सितम् ।
तत्तावद्भूमिसाम्राज्यभोगान्ते ते भविष्यति ॥२१॥
क्लेशितोऽसि मया यत्त्वं तदभीष्टं वरं वृणु ।
इत्युक्तवन्तं वेतालं स राजा तमभाषत ॥२२॥

ऐसा कहते हुए उस श्रमण ने, जो समझ रहा था कि उसका काम पूरा हो गया, राजा के कन्धे से उस शव को उतार लिया॥९॥

अनन्तर, उसने शव को स्नान कराया, उसके शरीर पर चन्दन का लेप किया, माला पहनाई और फिर उसे पूरे हुए चौक में रख दिया॥१०॥

तब उसने अपने शरीर में भस्म लगाया, केश का यज्ञोपवीत धारण किया और शवाच्छादन (मुरदे को ओढ़ाया जानेवाला कपड़ा, कफन) पहना, फिर कुछ देर के लिए ध्यानस्थ हो गया॥११॥

अनन्तर, भिक्षु ने मन्त्रबल से उस श्रेष्ठ वेताल का आह्वान किया। मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट कराने के बाद वह क्रम से उसकी पूजा करने लगा॥१२॥

भिक्षु ने मनुष्य की खोपड़ी के अरघे से उसे अर्घ्य दिया, मनुष्य के ही शुभ्र दाँतों के फूल चढ़ाये और सुगन्धित लेप लगाया॥१३॥

उसने मनुष्य की आँखों का धूप दिया और मांस की बलि दी। इस तरह पूजा समाप्त करके उसने पास खड़े राजा से कहा—॥१४॥

"महाराज! यहाँ मन्त्रों के अधिष्ठाता देव पधारे हैं। तुम भूमि पर पड़कर इन्हें साष्टांग प्रणाम करो, जिससे वे वरदायी देव तुम्हें तुम्हारा मनचाहा वर देंगे।" यह सुनते ही राजा को वेताल की बात याद आ गई। तब उसने भिक्षु से कहा—"भगवन्! मैं (ऐसा करना) नहीं जानता, अतः पहले आप (प्रणाम करके) मुझे दिखला दें, तब मैं वैसा ही करूँगा"॥१५—१७॥

इसके बाद वह भिक्षु (प्रणाम करने का ढंग बतलाने के लिए) ज्यों ही भूमि पर पड़ा, राजा ने तलवार के वार से उसका मस्तक काट डाला॥१८॥

राजा ने उसका पेट फाड़कर हृदय-कमल भी निकाल लिया और फिर वह मस्तक और हृदय-कमल वेताल को अर्पित कर दिया॥१९॥

श्मशान के भूत-प्रतों ने प्रसन्न होकर राजा को साधुवाद दिया। सन्तुष्ट होकर वेताल ने भी उस मनुष्य-शरीर के अन्दर से कहा—"राजन्, यह भिक्षु विद्याधरों के जिस इन्द्र-पद की कामना करता था, वह अब, भूमि-साम्राज्य का भोग कर लेने के बाद, तुम्हें प्राप्त होगा। मेरे द्वारा तुम्हें कष्ट उठाना पड़ा है, अतः तुम अभीष्ट माँगो।" वेताल के ऐसा कहने पर राजा उससे बोला—॥२०—२२॥

त्वं चेत्प्रसन्नः को नाम न सिद्धोऽभिमतो वरः।
तथाप्यमोघवचनादिदं त्वत्तोऽहमर्थये ॥२३॥
आद्याः प्रश्नकथा एता नानाख्यानमनोरमाः।
चतुर्विंशतिरेषा च पञ्चविंशी समाप्तिगा ॥२४॥
सर्वाः ख्याता भवन्त्वेताः पूजनीयाश्च भूतले।
इति तेनार्थितो राज्ञा वेतालो निजगाद सः ॥२५॥
एवमस्तु विशेषं च शृणु वच्म्यत्र भूतले।
याश्चतुर्विंशतिः पूर्वा यैषा चैका समापिनी ॥२६॥
कथावलीयं वेतालपञ्चविंशतिकाख्यया।
ख्याता जगति पूज्या च शिवा चैव भविष्यति ॥२७॥
यः श्लोकमात्रमप्यस्याः कथयिष्यति सादरः।
यो वा श्रोष्यति तौ सद्यो मुक्तपापौ भविष्यतः ॥२८॥
यक्षवेतालकूष्माण्डडाकिनीराक्षसादयः।
न तत्र प्रभविष्यन्ति यत्रैषा कीर्त्तयिष्यते ॥२९॥
इत्युक्त्वा स ययौ तस्मान्निर्गत्य नृकलेवरात्।
यथाभिरुचितं धाम वेतालो योगमायया ॥३०॥
ततस्तत्र सुरैः सार्धं राज्ञस्तस्य महेश्वरः।
साक्षादाविरभूत्तुष्टः प्रणतं चादिदेश तम् ॥३१॥
साधु वत्स हतोऽद्यायं यत्त्वया कूटतापसः।
विद्याधरमहाचक्रवर्त्तिताहठकामुकः ॥३२॥
त्वमादौ विक्रमादित्यः सृष्टोऽभूः स्वांशतो मया।
म्लेच्छरूपावतीर्णानामसुराणां प्रशान्तये ॥३३॥
अद्य चोद्दामदुर्वृत्तदमनाय मया पुनः।
त्वं त्रिविक्रमसेनाख्यो हीरः सृष्टोऽत्र भूपतिः ॥३४॥
अतः सद्वीपपातालां स्थापयित्वा महीं वशे।
विद्याधराणामचिरादधिराजो भविष्यसि ॥३५॥
भुक्त्वा दिव्यांश्चिरं भोगानुद्विग्नः स्वेच्छयैव तान्।
त्यक्त्वा ममैव सायुज्यमन्ते यास्यस्यसंशयम् ॥३६॥
अपराजितनामानं खड्गं चैतं गृहाण मे।
यस्य प्रसादात्सर्वं त्वं प्राप्स्यस्येतद्यथोदितम् ॥३७॥

"यों तो आपकी प्रसन्नता से ही मुझे सब अभिमत प्राप्त हो गये हैं, फिर भी आपका वचन अमोघ है, इसलिए मैं इतना ही माँगता हूँ कि अनेक कथाओं से मनोरम आरम्भ से चौबीस और यह अन्तिम पच्चीसवीं कथा ये सभी संसार में प्रसिद्ध हों और आदर पायें।" राजा की इस याचना के बाद, उस वेताल ने कहा—॥२३—२५॥

"ऐसा तो होगा ही, किन्तु इससे अधिक मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे तुम सुनो। पहले की जो चौबीस कथाएँ हैं वे, और यह अन्तिम पच्चीसवीं कथा, यह सारी कथावली संसार में 'वेतालपचीसी' के नाम से प्रसिद्ध होंगी, लोग इसका आदर करेंगे और यह कल्याणदायिनी भी होगी। जो कोई आदरपूर्वक इसका एक भी श्लोक पढ़ेगा अथवा जो उसे सुनेगा, ऐसे दोनों प्रकार के लोग शीघ्र ही पापमुक्त हो जायेंगे। जहाँ ये कथाएँ पढ़ा-सुनी जायेंगी, वहाँ यक्ष-वेताल-कूष्माण्ड-डाकिनी-राक्षस आदि का प्रभाव नहीं पड़ेगा॥२६—२९॥

इतना कहकर वह वेताल उस मनुष्य-शरीर से निकलकर योगमाया के द्वारा अपने अभीप्सित लोक को चला गया॥३०॥

अनन्तर, भगवान् शिव, जो राजा से सन्तुष्ट हो गये थे, देवताओं के सहित साक्षात् प्रकट हुए। उन्होंने प्रणाम करने के लिए झुके हुए राजा त्रिविक्रमसेन को यह आदेश दिया—॥३१॥

"वत्स! तुम धन्य हो कि आज तुमने इस धूर्त्त तपस्वी को मार डाला, जो हठपूर्वक विद्याधरों का महाचक्रवर्त्ती-पद पाना चाहता था। म्लेच्छ-रूप से अवतीर्ण असुरों को शान्त करने के लिए, पहले मैंने अपने अंश से, विक्रमादित्य के रूप में, तुम्हें सिरजा था, और अब फिर प्रचण्ड दुर्वृत्तों के दमन के लिए, मैंने ही त्रिविक्रमसेन नामक राजरत्न के रूप में, तुम्हें सिरजा है। अतः द्वीपों और पातालों के सहित इस धरती को अपने वश में करके, शीघ्र ही तुम विद्याधरों के स्वामी बनोगे। बहुत समय तक दिव्य सुखों का भोग करके तुम उनसे ऊब जाओगे और अपनी इच्छा से उन सब का त्याग करके मेरे निकट आ जाओगे। इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'अपराजित' नाम का मेरा यह खड्ग तुम लो। इसकी कृपा से वह सब तुम प्राप्त करोगे, जो मैंने कहा है"॥३२—३७॥

इत्युक्त्वा खड्गरत्नं तद्दत्त्वा तस्मै महीभृते ।
वाक्पुष्पाभ्यर्चितस्तेन देवः शम्भुस्तिरोदधे ।।३८।।
अथ दृष्ट्वैव समाप्तं कार्यमशेषं निशि प्रभातायाम् ।
प्रविवेश स त्रिविक्रमसेनः स्वपुरं नृपः प्रतिष्ठानम् ।।३९।।
तत्र क्रमावगतरात्रिविचेष्टिताभि-
रभ्यर्चितः प्रकृतिभिर्विततोत्सवाभिः ।
स्नानप्रदानगिरिशार्चननृत्तगीत-
वाद्यादिभिस्तदखिलं स दिनं निनाय ।।४०।।
अल्पैरेव च वासरैः स नृपतिः शार्वस्य वीर्यादसेः
सद्वीपां सरसातलां च बुभुजे निष्कण्टकां मेदिनीम् ।
सम्प्राप्याथ हराज्ञया सुमहतीं विद्याधराधीशतां
भुक्त्वा तां सुचिरं जगाम भगवत्सायुज्यमन्ते कृती ।।४१।।

इति वेतालपञ्चविंशतिका ।

इति विक्रमकेसरी स मन्त्री
चिरमिलितः पथि शापविप्रयोगात् ।
अभिधाय पुनर्मृगाङ्कदत्तं
प्रकृतार्थं निजगाद राजपुत्रम् ।।४२।।
एवं देव स वृद्धो विप्रो वेतालपञ्चविंशतिकाम् ।
एतामाख्याय कथां ग्रामे तस्मिन्नुवाच मां भूयः ।।४३।।
तत्पुत्र स त्रिविक्रमसेनो राजा किलैवमक्लीबः ।
वेतालानुग्रहतः किमिव न यत्प्राप्तवानिष्टम् ।।४४।।
तस्मादिह त्वमपि मन्त्रमिमं गृहीत्वा
मत्तः प्रसादय विमुक्तविषादवृत्तिः ।
वेतालमुख्यममुना प्रभुणा मृगाङ्क-
दत्तेन सङ्गममवाप्स्यसि वीर येन ।।४५।।
नह्यप्राप्यं किञ्चिदुत्साहभाजां भग्नोत्साहो वत्स को नावसीदेत् ।
तत्ते प्रीत्या वच्मि यत्तत्कुरुष्व त्वं मे बन्धुः सर्पदंशार्त्तिहर्त्ता ।।४६।।
इत्युक्तवतस्तस्माद्विप्रादादाय सक्रियं मन्त्रम् ।
तं चामन्त्र्य ततोऽहं देवोज्जयिनीं गतोऽभूवम् ।।४७।।
तत्र श्मशाने मटकं रजन्यामाहृत्य कृत्वा स्नपनादि तस्य ।
आहूय मन्त्रेण च तेन तस्मिन्वेतालमभ्यर्चितवान्यथावत् ।।४८।।

यह कहकर भगवान् शंकर ने वह खड्ग उस राजा को दे दिया और राजा के वचन-रूपी पुष्पों से पूजित होकर वे अन्तर्हित हो गये ॥३८॥

अबतक रात बीत चुकी थी। सवेरा हो रहा था। राजा ने देखा कि सारे काम समाप्त हो चुके हैं; अतः वह अपने नगर (प्रतिष्ठान) लौट गया ॥३९॥

क्रमशः प्रजाजन को जब रात की सारी बातें मालूम हुईं, तब उन्होंने राजा का बड़ा आदर-सत्कार किया और महामहोत्सव मनाया। वह सारा दिन स्नान-दान, शिवार्चन, नाच-गान और बाजे-गाजे में बीता ॥४०॥

कुछ ही समय में भगवान् शंकर के उस खड्ग के प्रभाव से, राजा ने द्वीपों और रसातलों के सहित इस धरती पर, निष्कण्टक होकर राज्य किया। अनन्तर, शिवजी की आज्ञा से उसने विद्याधरों का महान् स्वामित्व पाया और बहुत दिनों तक उसका भोग किया और अन्त में वह कृती राजा भगवत्स्वरूप को प्राप्त हुआ ॥४१॥

बेतालपचीसी समाप्त

इस प्रकार, मन्त्री विक्रमकेसरी ने, जो शाप-वश बिछुड़ गया था और बहुत समय के बाद मार्ग में आ मिला था, सारा वृत्तान्त कहने के बाद राजकुमार मृगांकदत्त से पुनः यों कहा—"देव ! उस गाँव में जब वह वृद्ध ब्राह्मण इस प्रकार, 'बेतालपचीसी' की कथाएँ कह चुका, तब मुझसे फिर बोला—"वत्स ! क्या वेताल के अनुग्रह से, वीर राजा त्रिविक्रमसेन के सभी मनोरथ पूरे नहीं हो गये ? अतः तुम भी विषाद छोड़कर मुझसे यह मन्त्र लो और इसके द्वारा मुख्य वेताल को प्रसन्न करो, जिससे तुम अपने स्वामी मृगांकदत्त से मिल सकोगे। जो लोग उत्साह बनाये रखते हैं, उनके लिए अप्राप्य कुछ भी नहीं है; लेकिन वत्स ! जो उत्साह छोड़ देता है, वैसा कौन व्यक्ति नष्ट नहीं हो जाता ? तुमने मेरा सर्प-विष का कष्ट दूर किया है, तुम मेरे मित्र हो, अतः प्रसन्न होकर मैं जो कुछ कहता हूँ, वह तुम करो" ॥४२-४६॥

ऐसा कहनेवाले उस ब्राह्मण से मैंने क्रिया-सहित वह मन्त्र ग्रहण किया और विदा लेकर उज्जयिनी चला गया ॥४७॥

वहाँ रात्रि के समय श्मशान में जाकर मैं एक शव ले आया। उसे स्नानादि कराकर, उस मन्त्र के द्वारा मैंने उसमें वेताल का आवाहन किया और विधिपूर्वक उसका पूजन-कार्य सम्पन्न किया ॥४८॥

भोज्यं महामांसमदायि तस्मै तृप्त्यै तदा सोऽपि तदाशु जग्ध्वा।
तृप्तोऽस्मि नैवान्यदुपानयेति मामभ्यधान्मानुषमांसगृध्नुः॥४९॥
कालं यदानाक्षमतात्र किञ्चिदुत्कृत्य मांसानि तदा निजानि।
प्रादामद्यं प्रीतिकराणि तस्मै योगेश्वरस्तेन स मेऽभ्यतुष्यत्॥५०॥
अथाब्रवीन्मां स सखे दृढेन सत्त्वेन तुष्टोऽस्म्यमुनाधुना ते।
तत्पूर्ववद्वीर भवाक्षताङ्गो वृणीष्व मत्तो वरमीप्सितं च॥५१॥
इत्युक्तवन्तं तमहं तदैव प्रत्यब्रवं मां नय देव तत्र।
यत्र प्रभुर्मे स मृगाङ्कदत्तो नातः परोऽन्योऽभिमत। वरो मे॥५२॥
एतत्स वेतालपतिर्निशम्य मामभ्यधात्तर्हि ममांसपृष्ठम्।
आरोह यावत्तरसा भवन्तं तस्वान्तिकं स्वस्य विभोर्नयामि॥५३॥
इत्येव तस्योक्तवतस्तथेति स्कन्धाग्रमारोहमहं प्रसह्य।
ततो वहन्मां स नभः पथेन प्रातिष्ठत प्रेततनुप्रविष्टः॥५४॥
आनीय चेहाद्य विलोक्य युष्मान्मार्गेऽवतार्याम्बरतश्च तेन।
एतेन वेतालवरेण देव सम्प्रापितोऽहं तव पादमूलम्॥५५॥
समागतश्च प्रभुणाहमद्य गतः स चाप्येष समाप्तकृत्यः।
इत्येष मे मानद नागशापाद्भवद्वियुक्तस्य महानुदन्तः॥५६॥
इति विक्रमकेसरिणो निजसचिवाच्छ्रुतवियोगवृत्तान्तः।
मार्गे मृगाङ्कदत्तो गच्छन्कान्तानिमित्तमुज्जयिनीम्॥५७॥
पारावताख्यशापभ्रष्टक्रममिलितकतिपयामात्यः।
मुमुदे स राजपुत्रः सम्भावितसकलसाध्यसम्पत्तिः॥५८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
शशाङ्कवतीलम्बके द्वात्रिंशस्तरङ्गः।

त्रयस्त्रिंशस्तरङ्गः

क्रमागता मृगाङ्कदत्तकथा

नमो विघ्नजिते यस्य जानुदेशे विवर्त्तते।
कुम्भस्रस्तेव नक्षत्रमाला रात्रिषु नृत्यतः॥१॥
ततः कथावसाने स मार्गमध्यात्समुत्थितः।
मृगाङ्कदत्तो मुदितः प्राप्तविक्रमकेसरी॥२॥

उसे सन्तुष्ट करने के लिए मैंने उसे मनुष्य के मांस का भोजन दिया; लेकिन उसे वह शीघ्र ही खा गया। अनन्तर, मनुष्य-मांस के लोभी उस वेताल ने कहा कि 'मैं अभी तृप्त नहीं हुआ। मुझे और मांस दो।' जब वह थोड़ी देर भी प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं हुआ, तब उसे प्रसन्न करने के लिए मैं अपने ही शरीर से मांस काटकर उसे देने लगा। इससे वह योगेश्वर मुझपर प्रसन्न हुआ ॥४९-५०॥

उसने मुझसे कहा—"मित्र! तुम्हारी इस दृढता और वीरता से मैं सन्तुष्ट हुआ; अतः हे वीर! तुम्हारा शरीर पहले ही की तरह अक्षत हो जाय और तुम मुझसे मनचाहा वर माँग लो" ॥५१॥

उसके ऐसा कहते ही मैं उससे बोला कि 'हे देव! आप मुझे वहीं ले चलें, जहाँ मेरे स्वामी मृगांकदत्त हैं। इसके सिवा मेरा मनचाहा और कोई वर नहीं है' ॥५२॥

यह सुनकर उस वेतालपति ने मुझसे कहा—"ऐसी बात है, तो तुम मेरे कन्धे पर सवार हो जाओ। मैं शीघ्र ही तुम्हें तुम्हारे स्वामी के पास पहुँचा देता हूँ" ॥५३॥

उसके ऐसा कहते ही मैंने उसकी बात मान ली और झटपट मैं उसके कन्धे पर जा चढ़ा। प्रेत के शरीर में प्रविष्ट वह वेताल मुझे उठाकर आकाश-मार्ग से चल पड़ा ॥५४॥

जब वह मुझे यहाँतक ले आया. तब मार्ग में जाते हुए आपको देखकर उस वेतालश्रेष्ठ ने मुझे आकाश से नीचे उतार दिया। और इस तरह, देव! मैं आपके चरणों तक पहुँच सका हूँ ॥५५॥

अपना काम पूरा करके वह वेताल वापस चला गया और आज फिर आप से मेरा मिलन हो गया। हे मान देनेवाले! नाग के शापवश, आपसे बिछुड़ने के बाद से अबतक का, मेरा सारा वृत्तान्त यही है ॥५६॥

अपनी प्रिया के निमित्त उज्जयिनी जाते हुए मृगांकदत्त ने, मार्ग में, अपने मन्त्री विक्रमकेसरी से उसके बिछुड़ने का वृत्तान्त इस प्रकार सुना ॥५७॥

पारावत के शाप से बिछुड़े हुए, राजकुमार मृगांकदत्त के कई मन्त्री उससे फिर आ मिले थे, इससे वह प्रसन्न हुआ। इससे उसके अन्य कामों की सफलता की सम्भावना का भी संकेत मिलता था ॥५८॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
द्वात्रिंश तरंग समाप्त

त्रयस्त्रिंश तरंग

मृगांकदत्त की कथा (क्रमागत)

रात्रि में नृत्य करते समय, नक्षत्रों का समूह मस्तक से खिसककर जिनके घुटनों के आस-पास बिखरा बिखरा-सा दीखता है, विघ्नों को जीतनेवाले उन गणपति को नमस्कार है ॥१॥

विक्रमकेसरी के मिलने से मृगांकदत्त प्रसन्न हुआ और उसकी कथा समाप्त होने के बाद, मार्ग में से उठ खड़ा हुआ ॥२॥

गुणाकरेण सहितस्तथा विमलबुद्धिना ।
सविचित्रकथो भीमपराक्रमसमन्वितः ॥३॥

प्रचण्डशक्तियुक्तश्च श्रुतधिद्विजसङ्गतः ।
प्राप्तशेषान्विचिन्वानः शापविश्लेषितान्सखीन् ॥४॥

शशाङ्कवत्याः सम्प्राप्त्यै प्रागेवोज्जयिनीं प्रतिं ।
गन्तुं प्रवृत्तः पुनरप्युच्चचालात्मनाष्टमः ॥५॥

क्रमात्प्राप च स ग्रीष्मशुष्कतोयामपादपाम् ।
अटवीं चण्डमार्तण्डतापसन्तप्तवालुकाम् ॥६॥

तस्यां व्रजन्स सचिवान्राजपुत्रो जगाद तान् ।
पश्यतैषाटवी कीदृग्दुर्गमायतभैरवा ॥७॥

एषा हि विभ्रष्टपथा जनत्यक्ता निराश्रया ।
उद्यद्दुःखानलज्वालेवाभिर्मरुमरीचिभिः ॥८॥

विकीर्णरूक्षकेशेव तृणैरुच्छुष्कमर्मरैः ।
सिंहव्याघ्रादिवित्राससरोमाञ्चेव कण्टकैः ॥९॥

रुदतीवातपक्लान्तजलाकाङ्क्षिमृगारवैः ।
तदेषा त्वरयास्माभिर्लङ्घनीया विशङ्कटा ॥१०॥

इत्यूचिवान्स तैः सार्धं सचिवैः क्षुत्तृषार्दितैः ।
द्रुतं मृगाङ्कदत्तस्तामटवीमुदलङ्घयत् ॥११॥

ददर्श चाग्रे सुमहत्स्वच्छशीतजलैर्भृतम् ।
सरोऽर्कतापगलितस्यामृतांशोरिव द्रवैः ॥१२॥

दिगन्तव्यापिविस्तारं प्रतिबिम्बमिवात्मनः ।
द्रष्टुं त्रैलोक्यलक्ष्म्येव विहितं मणिदर्पणम् ॥१३॥

धार्तराष्ट्रकृतक्षोभं विचित्रार्जुनविभ्रमम् ।
विश्रान्तिकृत्स्वादुरसं भारतानुकृतिं दधत् ॥१४॥

उपकण्ठमिलन्नीलकण्ठपीतविषोत्तमम् ।
अच्युताश्रितलक्ष्मीकं मन्थकालाब्धिसन्निभम् ॥१५॥

सूर्यरश्मिभिरप्राप्तगम्भीरशिशिरान्तरम् ।
अनन्तपद्मनिलयं पातालमिव भूमिगम् ॥१६॥

राजकुमार के मित्रों में से गुणाकर, विमलबुद्धि, विचित्रकथ, भीमपराक्रम, प्रचण्डशक्ति और ब्राह्मण श्रुतधि पहले ही मिल चुके थे और साथ थे। शाप के कारण जो मित्र उससे बिछुड़ गये थे और अबतक नहीं मिले थे, उनको ढूँढ़ते हुए, शशांकवती की प्राप्ति के लिए, पहले ही के समान, वे फिर उज्जयिनी के लिए चल पड़े। मृगांकदत्त के सहित अब ये आठ थे ॥३—५॥

चलते-चलते वे एक वन में जा पहुँचे। गर्मी से वहाँ का जल सूख गया था, वह वन वृक्ष-रहित हो गया था। प्रखर किरणोंवाले सूर्य की गर्मी से वहाँ की बालुका जल रही थी ॥६॥

उस वन में चलते हुए राजकुमार मृगांकदत्त ने अपने मन्त्रियों से कहा—"इस विशाल वन को देखो। यह कैसा दुर्गम और भयानक है। इस वन में मार्ग नष्ट हो गये हैं, यहाँ आश्रम के योग्य कोई जगह नहीं है, इसलिए लोगों ने इधर से आना-जाना बन्द कर रखा है। इसकी मरु-मरीचियाँ, दुःख-रूपी अग्नि की उठती हुई ज्वालाओं के समान जान पड़ती हैं। फैले हुए सूखे तृण-समूह, बिखरे हुए रूखे केशों-जैसे लगते हैं। काँटे ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों बाघ-सिंहों के भय से इस वन को रोमांच हो आया हो। धूप से बेचैन होकर जल की इच्छा रखनेवाले मृगों की आवाज में मानों यह वन रो रहा है। अतः, शीघ्र ही हम लोगों को इस भयानक महाभूमि को पार कर लेना चाहिए" ॥७—१०॥

यह कहकर, भूख तथा प्यास से विकल अपने मन्त्रियों के सहित, मृगांकदत्त ने शीघ्र ही उस वन को पार कर लिया ॥११॥

आगे उन्हें एक बहुत बड़ा सरोवर दीख पड़ा, जो स्वच्छ और शीतल जल से भरा हुआ था और ऐसा जान पड़ता था, मानों सूर्य की गरमी से पिघलकर आया हुआ चन्द्रमा का जल हो ॥१२॥

दिशाओं के अन्त तक फैला हुआ वह सरोवर, उस मणि-दर्पण के समान प्रतीत होता था, जिसे, मानों अपना ही प्रतिबिम्ब देखने के लिए त्रैलोक्यलक्ष्मी ने बनाया हो ॥१३॥

वह सरोवर महाभारत के समान जान पड़ता था, जिसमें धार्त्तराष्ट्रों[१] ने चंचलता उत्पन्न कर दी थी, जिसमें अर्जुन[२] की छाया पड़ रही थी, जो थकावट दूर करनेवाला था और जिसका रस[३] स्वादिष्ठ था ॥१४॥

वह सरोवर, मन्थन के समय के समुद्र-जैसा जान पड़ता था, जिसके किनारे स्थित नीलकण्ठ[४] ने उसका उत्तम विष[५] पी लिया हो और जहाँ अच्युत[६] का आश्रय लेकर लक्ष्मी[७] निवास करती हों ॥१५॥

वह सरोवर धरती पर बने पाताल के समान जान पड़ता था, जिसकी शीतल गहराई में सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पाती थीं तथा जहाँ अनन्त[८] कमलों का निवास था ॥१६॥

---

१. धार्त्तराष्ट्र=एक प्रकार का हंस, जिसके पंजे और जिसकी चोंच काली होती है अथवा धृतराष्ट्र के पुत्र; २. अर्जुन=एक प्रकार का वृक्ष अथवा पाण्डवों में से तीसरे भाई; ३. रस=जल अथवा काव्य-रस; ४. नीलकण्ठ=पक्षी अथवा शिव; ५. विष=जल अथवा समुद्र-मन्थन के समय निकला हलाहल; ६. अच्युत=भगवान् विष्णु अथवा सदा बना रहनेवाला; ७. लक्ष्मी=विष्णुप्रिया अथवा शोभा; ८. अनन्त=नाग वासुकि अथवा असंख्य।

तस्य तीरे च सरसः पश्चिमे स व्यलोकयत्।
राजपुत्रः ससचिवो महान्तं दिव्यपादपम् ॥१७॥
वातान्दोलितविस्तारिशाखाभुजकदम्बकम् ।
मूर्धलग्नाभ्रसरितं नृत्यन्तमिव शङ्करम् ॥१८॥
अत्युन्नतेन शिरसा व्योमपृष्ठावगाहिना।
कौतुकान्नन्दनोद्यानशोभां द्रष्टुमिवोद्यतम् ॥१९॥
शोभमानं फलैर्दिव्यरसैः शाखावलम्बिभिः।
कल्पद्रुमं सुरानद्धैः पीयूषकलशैरिव ॥२०॥
मा मां यथा तथा कश्चित्स्प्राक्षीदिति खगारवैः।
व्याहरन्तमिव प्रेङ्खत्पल्लवाग्रकरं मुहुः ॥२१॥
यावन्मृगाङ्कदत्तस्तं स निर्वर्णयति प्रभुः।
तावत्तन्मन्त्रिणस्तस्मिन्प्रधाव्य क्षुत्तृषार्दिताः ॥२२॥
फलानि भोक्तुमारूढास्तस्य दृष्ट्वैव तानि ते।
फलत्वं षडपि प्राप्ता मानुषा अप्यशङ्कितम् ॥२३॥
ततो मृगाङ्कदत्तस्तानपश्यन्विह्वलः सखीन्।
एकैकं स तरौ तत्र नामग्राहमशब्दयत् ॥२४॥
यदा ददुर्न वचनं न चादृश्यन्त ते क्वचित्।
तदा हा हा हतोऽस्मीति नैराश्यविधुरं वदन् ॥२५॥
स राजपुत्रो न्यपतन्मूर्च्छितोऽत्र महीतले।
द्रुमानारूढपार्श्वस्थकेवलश्रुतधिद्विजः ॥२६॥
श्रुतधिः स च विप्रस्तमुवाचाश्वास्य तत्क्षणम्।
कृतप्रज्ञोऽपि किं देव त्यक्तधैर्योऽवसीदसि ॥२७॥
अश्नुते हि स कल्याणं व्यसने यो न मुह्यति।
नागशापवियुक्तान्किं नैतान्सम्प्राप्तवानसि ॥२८॥
तथैव पुनरप्येतान्मन्त्रिणोऽन्यांश्च लप्स्यसे।
शशाङ्कवत्या संयोगोऽप्यचिरात्ते भविष्यति ॥२९॥
एवं श्रुतधिनोक्तः सन्राजपुत्रो जगाद सः।
कुत एतदिदं धात्रा नाशायासूत्रितं हि नः ॥३०॥
क्वान्यथा निशि वेतालः क्व च भीमपराक्रमः।
क्व शशाङ्कवतीज्ञानं तत्संवादप्रसङ्गतः ॥३१॥

राजकुमार मृगांकदत्त ने अपने मन्त्रियों के सहित, उस सरोवर के पश्चिमी किनारे पर एक विशाल और दिव्य वृक्ष देखा ॥१७॥

वायु से आन्दोलित उसकी लम्बी शाखाएँ मानों उसकी भुजाएँ थीं और उसके शिखर आकाश गंगा को छू-से रहे थे। इस प्रकार, वह वृक्ष नृत्य-रत शंकर के समान जान पड़ता था ॥१८॥

वह वृक्ष अपने बहुत ऊँचे शिखर से आकाश को छूता हुआ-सा ऐसा लग रहा था, मानों कौतूहल के कारण नन्दन-वन की शोभा देखने को उद्ग्रीव हो ॥१९॥

इस वृक्ष की शाखाओं पर अनूठे रस-भरे फल ऐसे शोभित हो रहे थे, मानों कल्पवृक्ष पर देवताओं ने अमृत के कलश लटका रखे हों ॥२०॥

डोलती हुई पत्तियों के अगले हिस्से, मानों उस वृक्ष पर बैठे पक्षियों के स्वर में, बार-बार मना कर रहे थे कि हमें छूना नहीं ॥२१॥

मृगांकदत्त उस वृक्ष को देख ही रहा था कि उसके भूखे-प्यासे सभी मन्त्री फलों को देखकर उन्हें खाने के लिए दौड़े और वृक्ष पर जा चढ़े और बात-की-बात में वे छहों मन्त्री, मनुष्य का शरीर बदलकर फल हो गये ॥२२-२३॥

मृगांकदत्त ने जब अपने मित्रों को नहीं देखा, तब विह्वल होकर वह एक-एक का नाम ले-लेकर उस वृक्ष की ओर पुकारने लगा ॥२४॥

जब उनमें से किसी ने न उत्तर दिया, न कोई दीख ही पड़ा, तब वह राजकुमार 'हाय, मैं मारा गया' ऐसे निराश वचन बोलता हुआ, मूच्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। उसके पास केवल श्रुतधि नाम का ब्राह्मण रह गया था, जो वृक्ष पर नहीं चढ़ा था ॥२५-२६॥

ब्राह्मण श्रुतधि ने तत्काल ही उसे धीरज बँधाते हुए कहा—"देव ! आप तो बुद्धिमान् हैं, फिर इस तरह धीरज खोकर विकल क्यों हो रहे हैं ? ॥२७॥

"जो विपत्ति में अधीर नहीं होता, वही कल्याण को प्राप्त करता है। नाग के शाप से बिछुड़े हुए ये लोग क्या आपको फिर मिल नहीं गये थे ? ॥२८॥

"इसी प्रकार, आप फिर इन्हें तथा अन्य मन्त्रियों को भी पा जायेंगे और शीघ्र ही शशांकवती से भी आपका मिलन हो सकेगा" ॥२९॥

श्रुतधि की यह बात सुनकर राजकुमार ने कहा—"भला यह कैसे हो सकता है ? विधाता ने हमारे नाश के लिए ही यह रचना की है ॥३०॥

ऐसा न होता, तो रात के समय भीमपराक्रम से वेताल की भेंट क्यों होती, और उनकी बातचीत के सिलसिले में मुझे शशांकवती का ही पता क्यों चलता ? ॥३१॥

तां च प्राप्तुमयोध्यायाः क्व चास्माकं विनिर्गमः।
विन्ध्याटव्यां क्व चान्योन्यवियोगो नागशापतः ॥३२॥
ततः कतिपयानां नः क्रमशः क्व च सङ्गमः।
क्व चाधुना वियोगोऽयमिष्टत्यागः पुनः सखे ॥३३॥
ते हि वक्षेऽत्र भूतेन ग्रस्तास्तैश्च विना मम।
का शशाङ्कवती किं च जीवितं तदलं भ्रमैः ॥३४॥
इत्यूचिवाञ्शुचा सोऽत्र सरस्यात्मानमुज्झितुम्।
मृगाङ्कदत्त उत्तस्थौ श्रुतधौ वारयत्यपि ॥३५॥
तावद्वागत्र गगनादुच्चचाराशरीरिणी।
मा पुत्र साहसं कार्षीः सर्वं स्वन्तं हि भावि ते ॥३६॥
अस्मिन्गणपतिर्देवः स्वयं वसति पादपे।
स च त्वत्सचिवैरेतैरघाज्ञानाद्विमानितः ॥३७॥
ते ह्यशुद्धा अनाचान्ता अक्षालितकराङ्घ्रयः।
क्षुधार्त्तास्तन्निवासेऽस्मिन्नारूढाः फललिप्सवः ॥३८॥
ततः स्पृष्टेषु तेष्वत्र फलतामेव ते गताः।
यच्चित्तास्तद्गतिं गच्छन्त्विति विघ्नेशशापतः ॥३९॥
अन्येऽपि ये त्वत्सचिवाश्चत्वारस्ते पथामुना।
आगता एवमेवास्मिन्नारूढाः फलतां गताः ॥४०॥
तस्मादाराधयैतं त्वं तपोभिर्गणनायकम्।
एतत्प्रसादात्सर्वेष्टसिद्धिस्तव भविष्यति ॥४१॥
इत्युक्तः स सुधासारसृजेवाकाशतो गिरा।
मृगाङ्कदत्तो जातास्थो देहत्यागान्न्यवर्त्तत ॥४२॥
कृत्वा च सरसि स्नानं तरौ तस्मिन्गणाधिपम्।
अर्चयित्वोज्झिताहारस्तमस्तौषीत्कृताञ्जलिः ॥४३॥
जय निजताण्डवडम्बरमर्दभरन्यञ्चितेन भुवनेन।
समहीशैलवनेन प्रणम्यमानेश गजवदन ॥४४॥
जय ससुरासुरमानुषभुवनत्रयपूजिताङ्घ्रिकमलयुग।
वरविविधसिद्धिनिर्भरनिधान कुम्भोपमाकार ॥४५॥
जय युगपदुदितचण्डद्वादशदिनकृत्प्रदीप्ततेजस्क।
हरहरिसुरपतिदुर्जयदितिजकुलाकालकल्पान्त ॥४६॥

"शशांकवती को पाने के लिए हम लोग अयोध्या से निकलते ही क्यों, और नाग के शाप से मार्ग में हम लोगों का विछोह ही क्यों होता ? ॥३२॥

"और फिर उनमें से कुछ से क्रमशः हमारा मिलाप क्यों होता और अब फिर वे बिछुड़ क्यों जाते ? मित्र, मुझे तो यह सब इष्ट-नाश के ही लक्षण जान पड़ते हैं ॥३३॥

"वे सभी इस वृक्ष पर किसी प्रेत से ग्रस्त हो गये हैं। उनके विना मैं शशांकवती को लेकर क्या करूँगा और मेरा जीवन ही किस काम का होगा ? अतः, अब भ्रम पाल रखने से कोई लाभ नहीं है" ॥३४॥

मृगांकदत्त यह कहकर, श्रुतधि के द्वारा रोके जाने पर भी, शोक के कारण सरोवर में कूद पड़ने को उठ खड़ा हुआ ॥३५॥

इसी समय आकाश से एक अशरीरी वाणी सुन पड़ी—"वत्स! ऐसा दुस्साहस मत करो। तुम्हारे सब मनोरथ पूरे होनेवाले हैं ॥३६॥

"इस वृक्ष पर स्वयं भगवान् गणेश निवास करते हैं। तुम्हारे इन मन्त्रियों ने अनजाने ही उनकी अवमानना की है ॥३७॥

"वे अशुद्ध थे। उन्होंने न तो आचमन किया था, न हाथ-पैर ही धोये थे; फिर भी भूखे होने के कारण, फल खाने की इच्छा से, वे गणेशजी के इस निवास पर आ चढ़े ॥३८॥

"विघ्ननाशक गणेश के इस शाप के कारण कि 'जिसमें उनका चित्त लगा हो, वे वही हो जायँ', फलों को छूते ही, वे सभी फल बन गये ॥३९॥

"तुम्हारे जो और चार मन्त्री थे, वे भी इसी राह होकर आये थे और इसी प्रकार वृक्ष पर चढ़कर फल बन गये थे ॥४०॥

"अतः, तुम अपनी तपस्या के द्वारा इन गणनायक की आराधना करो। इनकी कृपा से तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हो जायेंगे" ॥४१॥

मृगांकदत्त ने जब यह सुधावर्षिणी आकाशवाणी सुनी, तब उसे भरोसा हुआ और उसने शरीर-त्याग का विचार छोड़ दिया ॥४२॥

मृगांकदत्त ने सरोवर में स्नान करके उस वृक्ष पर रहनेवाले गणपति का पूजन किया और आहार त्याग कर, हाथ जोड़े हुए, कर उनकी स्तुति करने लगा ॥४३॥

"हे गजवदन ! आपकी जय हो। हे ईश ! आप जब ताण्डव नृत्य करते हैं, तब आपके चरणों की धमक से पृथ्वी, पर्वत और वनों के सहित यह भूमण्डल झुककर आपको प्रणाम करता-सा जान पड़ता है ॥४४॥

"विविध प्रकार की श्रेष्ठ सिद्धियों को धारण करनेवाले घट के समान जिनका आकार है और त्रिभुवन में रहनेवाले, सुर, असुर और मनुष्य जिनके चरण-कमलों का पूजन करते हैं, उन आपकी जय हो ॥४५॥

"आप एक साथ उगे हुए बारह प्रचण्ड सूर्यों के प्रखर आलोक के समान तेजस्वी हैं। ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र भी जिस असुर-वंश को नहीं जीत सकते, आप उनके लिए असमय ही कल्पान्त के काल-सदृश हैं। आपकी जय हो ॥४६॥

जय भक्तवृजिनवारण लीलानीराजनोल्मुकेनेव।
परशुवरेण विराजितकरतलकलितानलज्वाल॥४७॥
अभिमतसिद्ध्यै भर्त्तुस्त्रिपुरविजये गणेश गौर्याऽपि।
यः पूजितोऽसि तं त्वां श्रितोऽस्मि शरणं नमस्तेऽस्तु॥४८॥
इति संस्तुतविघ्नेशो निराहारः कुशास्तरे।
मृगाङ्कदत्तोऽनैषीत्तां रात्रिं तस्य तरोस्तले॥४९॥
तथैवेकादशाहानि श्रुतधौ परिचारके।
विघ्नेशाराधनपरो राजपुत्रो निनाय सः॥५०॥
द्वादशेऽह्नि निशि स्वप्ने तं जगाद गणेश्वरः।
वत्स तुष्टोऽस्मि ते मुक्तशापान्प्राप्स्यसि मन्त्रिणः॥५१॥
गत्वा च तैः समं प्राप्य तां शशाङ्कवतीं क्रमात्।
प्रत्यावृत्य स्वनगरीं पृथ्वीराज्यं करिष्यसि॥५२॥
एवं गणेश्वरादिष्टः प्रबुद्धः स निशाक्षये।
मृगाङ्कदत्तः स्वप्नं तं दृष्टं श्रुतधयेऽभ्यधात्॥५३॥
तेनाभिनन्दितः प्राप्तः स्नात्वाभ्यर्च्य विनायकम्।
तद्वासवृक्षं तं यावत्कुरुते स प्रदक्षिणम्॥५४॥
तावत्समं तरोर्यस्मादवतीर्य दशापि ते।
फलत्वमुक्ताः सचिवा निपेतुस्तस्य पादयोः॥५५॥
व्याघ्रसेनस्तथा स्थूलवाहुर्मेघवलोऽपि च।
दृढमुष्टिश्चतुर्थश्च षट् चादौ येऽत्र वर्णिताः॥५६॥
ततः स सकलान्समं सपदि मन्त्रिणः प्राप्य तान्
दृशाकुलितया गिरा प्रमदमन्थरारम्भया।
नरेश्वरसुतोऽधिकप्रायमेकमेकं मुहु-
र्ददर्श परिषस्वजे तदनु संबभाषे कृती॥५७॥
तेऽपि नवेन्दुक्षामं कृततपसं वीक्ष्य तं प्रभुं सास्राः।
श्रुतधिनिगदितयथार्थाः प्रशशंसुर्नाथवन्तमात्मानम्॥५८॥
अथ तत्र स तैर्मृगाङ्कदत्तः सरसि कृताप्लवनादिभिः सहैव।
सचिवैः सुखपारणं सहर्षो विदधे लब्धधृतिः स्वकार्यसिद्ध्यै॥५९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवती-लम्बके त्रयस्त्रिंशस्तरङ्गः।

"भक्तों का दुःख निवारण करने के लिए, क्रीडा-नीराजन की बत्ती के समान आपके जिस करतल में श्रेष्ठ परशु (फरसा) शोभित होता है, वह अग्नि की कलित ज्वाला के समान जान पड़ता है। आपकी जय हो ॥४७॥

"हे गणेश ! त्रिपुर-विजय के समय पति का मनोरथ पूरा करने के लिए स्वयं गौरी (गणेश की माता) ने भी आपका पूजन किया था। मैं आपकी शरण में हूँ। आपको प्रणाम करता हूँ" ॥४८॥

इस प्रकार, विघ्नविनाशक गणेश की स्तुति करते हुए, निराहार रहकर, कुश के आसन पर, मृगांकदत्त ने वह रात उस वृक्ष के नीचे बिताई ॥४९॥

इसी प्रकार, विघ्नेश की आराधना करते हुए राजकुमार ने ग्यारह दिन बिता दिये। इन दिनों श्रुतधि उसकी देख-माल करता रहा ॥५०॥

बारहवें दिन रात्रि के समय गणपति ने स्वप्न में उससे कहा—"वत्स ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। शाप से छूटे हुए अपने मन्त्रियों को तुम प्राप्त करोगे ॥५१॥

"उनके साथ जाकर समय पर तुम शशांकवती को पाओगे और फिर अपनी नगरी में लौटकर पृथ्वी का राज्य करोगे" ॥५२॥

श्रीगणेश के द्वारा ऐसा आदेश पाकर, रात बीतने पर, मृगांकदत्त जागा और उसने रात में देखा हुआ वह स्वप्न श्रुतधि से सुनाया ॥५३॥

श्रुतधि से बधाई पाकर मृगांकदत्त ने सवेरे स्नान करके गणेश का पूजन किया। फिर ज्यों ही वह उनके (गणेश के) निवास-वृक्ष की प्रदक्षिणा करने लगा, त्यों ही उसके वे दसों मन्त्री फल का रूप त्यागकर वृक्ष से नीचे उतर आये और उसके चरणों पर आ गिरे ॥५४-५५॥

इन दस मन्त्रियों में चार तो व्याघ्रसेन, स्थूलबाहु, मेघबल तथा दृढमुष्टि थे तथा छह वे थे, जिनका वर्णन पहले आ चुका है ॥५६॥

इस प्रकार, राजकुमार मृगांकदत्त ने अपने सभी मन्त्रियों को एक साथ ही पा लिया। अधिक प्रीति के कारण उसकी आँखें विकल हो गईं, वाणी थरथराने लगी। उसने एक-एक को बार-बार देखा, उनका आलिंगन किया और उसके बाद उस कृती राजकुमार ने उन सबसे बातें कीं ॥५७॥

उन सबने भी आँसू-भरी आँखों से अपने उस स्वामी को निहारा, जो तपस्या के कारण नये चन्द्रमा के समान क्षीण हो गया था। श्रुतधि के द्वारा सब वृत्तान्त जाकर उन्होंने अपने को सनाथ माना और अपना भाग्य सराहा ॥५८॥

अनन्तर, मृगांकदत्त ने अपने सब मन्त्रियों के सहित प्रसन्नतापूर्वक उस सरोवर में स्नानादि करके सुखपूर्वक पारण (प्रसाद-ग्रहण) किया और अपने कार्य की सिद्धि के लिए उसके मन में भरोसा भी हुआ ॥५९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का त्रयस्त्रिंश तरंग समाप्त।

चतुस्त्रिंशस्तरङ्गः

व्याघ्रसेनकथा

ततः सोऽत्र सरस्तीरे कृतपारणसुस्थितः।
मृगाङ्कदत्तस्तैः साकं सचिवैः स्वैरुपाविशत् ॥१॥
ततस्ते तदहः प्राप्ताश्चत्वारो निजमन्त्रिणः।
तेनापृच्छ्यन्त विश्लेषकालवृत्तान्तमादरात् ॥२॥
अथ स व्याघ्रसेनाख्यस्तेषां मध्यात्तमब्रवीत्।
देवास्मदीयवृत्तान्तं श्रूयतां वर्णयाम्यहम् ॥३॥
यदा पारावताख्यस्य तस्य नागस्य शापतः।
भवद्भ्यो दूरविभ्रष्टो जातोऽहं नष्टचेतनः ॥४॥
तदा भ्रान्त्वाटवीं रात्रौ लब्धसंज्ञोऽप्यहं चिरात्।
न दिशो न च पन्थानमपश्यं तमसा वृतः ॥५॥
कृच्छ्राच्च दुःखदीर्घायां गतायां विरतिं निशि।
उदिते भगवत्यर्के क्रमादाशाप्रकाशके ॥६॥
अचिन्तयमहं हा धिक् क्व नु यातः स नः प्रभुः।
अस्मैद्वियुक्तश्चैकाकी कथं सोऽत्र भविष्यति ॥७॥
कथं वा तमवाप्स्यामि कुत्रान्विष्यामि का गतिः।
वरमुज्जयिनीं यामि तत्र प्राप्येत जातु सः ॥८॥
सा शशाङ्कवतीहेतोर्गन्तव्या तस्य हि स्थिता।
इत्याशया शनैः प्रायामहमुज्जयिनीं प्रति ॥९॥
गाहमानोऽथ कष्टां तामटवीं दुर्दशामिव।
दह्यमानोऽर्ककिरणैरग्निचूर्णोत्करैरिव ॥१०॥
कथञ्चित्प्राप्तवानस्मि सरः फुल्लोत्पलेक्षणम्।
हंसादिमधुरारावैः सम्भाषणमिवाचरत् ॥११॥
प्रयुक्तवीचिहस्ताग्रं प्रसन्नविपुलाशयम्।
दर्शनादेव सर्वार्त्तिहरं सत्पुरुषं यथा ॥१२॥
तत्र स्नात्वा च भुक्त्वा च विसान्यापीय वारि च।
यावत्स्थितोऽस्मि तावत्त्रीनेतानद्राक्षमागतान् ॥१३॥
दृढमुष्टिमथ स्थूलवाहुं मेघवलं तथा।
समेत्य च भवद्वार्त्ता मिथोऽस्माभिरपृच्छ्यत ॥१४॥

चतुस्त्रिंश तरंग

व्याघ्रसेन की कथा

पारण करने के बाद, जब मृगांकदत्त का चित्त स्थिर हुआ, तब वे, अपने मन्त्रियों के सहित उस सरोवर के तट पर जा बैठे॥१॥

अनन्तर, मृगांकदत्त ने, उसी दिन मिले हुए अपने चार मन्त्रियों से, आदर के सहित बिछोह के समय का वृत्तान्त पूछा॥२॥

तब उनमें से व्याघ्रसेन बोला—"देव! आप मेरा वृत्तान्त सुनें। मैं कहता हूँ"॥३॥

पारावत नाम के उस नाग के शाप से जब मैं आपसे बिछुड़कर दूर चला गया, तब मेरी चेतना जाती रही॥४॥

बहुत देर बाद जब मेरी चेतना लौटी, तब रात हो चुकी थी। मैं अन्धकार से भरे उस जंगल में भटकता रहा, लेकिन मुझे न तो दिशाओं का ही पता चला, न राह ही दीख पड़ी॥५॥

दुःख के कारण लम्बी बनी हुई वह रात बड़ी कठिनाई से बीती। तब दिशाओं को प्रकाशित करनेवाले सूर्य भगवान् उदित हुए॥६॥

मैंने सोचा—'हाय, मेरे स्वामी मृगांकदत्त कहाँ चले गये? हम लोगों से बिछुड़कर वे अकेले कैसे होंगे? ॥७॥

मैं उन्हें कैसे पाऊँगा? कहाँ ढूँढूँगा? क्या उपाय है? अच्छा हो कि मैं उज्जयिनी चला जाऊँ। वहाँ कभी-न-कभी वे अवश्य मिलेंगे॥८॥

शशांकवती के लिए वे तो वहाँ जायेंगे ही।' ऐसा सोचकर मैं धीरे-धीरे उज्जयिनी के लिए चल पड़ा॥९॥

दुर्दशा के समान कष्टदायक उस वन को मैं किसी तरह पार करने लगा, जो अग्निचूर्ण के समान सूर्य की किरणों से जल रहा था॥१०॥

किसी तरह मैं एक सरोवर के निकट पहुँचा, जो खिले हुए कमलों की आँखों से देख रहा था और हंस आदि पक्षियों की मीठी बोली के रूप में बातचीत कर रहा था॥११॥

जैसे सज्जन पुरुष को देखते ही सारे कष्ट दूर हो जाते हैं, वैसे ही तरंगों के अपने हाथ बढ़ानेवाले और निर्मल जल से भरे उस सरोवर को देखकर मेरा सारा दुःख दूर हो गया॥१२॥

मैंने सरोवर में स्नान किया, कमल-नालों का भोजन किया और जल पिया। फिर ज्योंही मैं बैठा, मैंने इन तीनों दृढमुष्टि, स्थूलबाहु तथा मेघबल—को आते हुए देखा। ये सब मेरे निकट आकर आपके बारे में पूछने लगे॥१३-१४॥

अजानन्तश्च सर्वेऽपि वयं ते पापशङ्किनः।
अकार्ष्म देहत्यागाय मतिं त्वद्विरहासहाः ॥१५॥
तावच्च तस्मिन्सरसि स्नातुं मुनिकुमारकः।
आगमद्दीर्घतपसः सुतो नाम्ना महातपाः ॥१६॥
जटीकृतनिजज्वालो भूयोऽग्निरिव खाण्डवम्।
दिधक्षुराश्रितो ब्राह्मीं प्रज्वलंस्तेजसा तनुम् ॥१७॥
कृष्णाजिनेन संवीतः सव्येनात्तकमण्डलुः।
दक्षिणेन करेणाक्षमालावलयमुद्वहन् ॥१८॥
सहागतमृगैः शृङ्गप्रोत्खातस्नानमृत्तिकः।
युक्तः कतिपयैरन्यैः समानैर्मुनिपुत्रकैः ॥१९॥
सोऽस्मानुपागादृष्ट्वैव सरः प्रपतनोद्यतान्।
करुणार्द्रा हि सर्वस्य सन्तोऽकारणबान्धवाः ॥२०॥
अवदच्च न कार्यं वः पापं कापुरुषोचितम्।
दुःखान्धा हि पतन्त्येव विपच्छ्वभ्रेषु कातराः ॥२१॥
धीरास्तु दृष्टसन्मार्गा विवेकामलचक्षुषः।
न पतन्त्यवटे प्राप्यमवश्यं प्राप्नुवन्ति च ॥२२॥
यूयं च भव्याकृतयः कल्याणं प्राप्स्यथ ध्रुवम्।
तद्ब्रूत किं नु दुःखं वो मानसं दूयते हि मे ॥२३॥
एवमुक्तवते तस्मै मुनिपुत्राय तत्क्षणम्।
आमूलान्निजवृत्तान्तं सर्वं कथितवानहम् ॥२४॥
ततस्तेन वयं तैस्तैर्वाक्यैरायतिदर्शिभिः।
सम्बोध्य सानुगेनापि देहत्यागान्निवर्त्तिताः ॥२५॥
अथ स्नात्वा ततो नातिदूरं स मुनिपुत्रकः।
अस्माननैषीदातिथ्यं विधित्सुः पितुराश्रमम् ॥२६॥
तत्रोच्चशाखोर्ध्वभुजैर्वेदिकासूत्थितस्थितैः ।
प्रारब्धतपसीवार्करश्मिपैः पादपैरपि ॥२७॥
उपवेश्यैकदेशेऽस्मान्दत्तार्घ्यान्स मुनेः सुतः।
एकैकमाश्रमतरुं गत्वा भिक्षामयाचत ॥२८॥
अपूर्यत क्षणात्तस्य फलैस्तेभ्यः स्वतश्च्युतैः।
भिक्षापात्रमथागात्तद्गृहीत्वा सोऽस्मदन्तिकम् ॥२९॥

हममें से कोई भी आपके बारे में कुछ नहीं जानता था। हमें आपके अमंगल की आशंका हो रही थी। आपका विरह हमसे सहा नहीं जा रहा था, इसलिए हम लोगों ने शरीर त्याग देने का निश्चय किया॥१५॥

इसी समय, स्नान करने के लिए, एक मुनिकुमार वहाँ आया। दीर्घतप के पुत्र उस मुनिकुमार का नाम महातप था॥१६॥

जटाधारी वह ब्राह्मणकुमार ऐसा जान पड़ता था, मानों खाण्डव वन को एक बार फिर जलाने के लिए स्वयं अग्नि ही अपनी ज्वाला से उस ब्राह्मण-शरीर को तेजोदीप्त कर रहा हो॥१७॥

उसने काले मृग का चर्म पहन रखा था। उसके बायें हाथ में कमण्डलु था और दाहिने हाथ में रुद्राक्ष की माला कंगन की तरह पड़ी हुई थी॥१८॥

उसके साथ आये हुए मृगों ने अपने सींगों से स्नान-घाट की मिट्टी खोद दी थी। मुनिकुमार के साथ, उसी के जैसे कुछ और बालक भी थे॥१९॥

हम लोगों को सरोवर में कूदने को उद्यत देखते ही वह हमारे पास आया। जो सज्जन होते हैं, वे स्वभाव से ही सबके हितैषी होते हैं और उनका हृदय करुणा से आर्द्र रहता है॥२०॥

मुनिकुमार ने कहा—"आप लोगों को कायरों के समान पाप का काम न करना चाहिए। जो कातर होते हैं, दुःख से अन्धे होकर वे ही विपत्ति के खड्ड में गिरते हैं॥२१॥

जिन्होंने उत्तम मार्ग देखा है और जिनके पास विवेक की निर्मल आँखें हैं, ऐसे धीर पुरुष कुमार्ग में पैर नहीं रखते और अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं॥२२॥

भव्य आकृतिवाले आप लोगों का अवश्य ही कल्याण होगा; अतः मुझे बतलाइए कि आप लोगों को क्या दुःख है; क्योंकि मेरा मन (आपके कष्ट से) व्यथित हो रहा है॥२३॥

उस मुनिपुत्र के ऐसा कहने पर मैंने आरम्भ से अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥२४॥

तब अपने साथियों के सहित उस भविष्यद्रष्टा मुनिकुमार ने तरह-तरह की बातों से हम लोगों को समझा-बुझाकर आत्महत्या करने से विरत किया॥२५॥

स्नान करने के अनन्तर वह मुनिकुमार, हमारा आतिथ्य करने की इच्छा से, हम लोगों को अपने पिता के आश्रम में ले गया, जो वहाँ से बहुत दूर नहीं था॥२६॥

आश्रम में, वेदिकाओं पर वृक्ष खड़े थे, जो अपनी ऊँची शाखाओं के हाथ ऊपर की ओर उठाकर मानों तपस्या कर रहे थे और सूर्य की किरणें पी रहे थे॥२७॥

मुनिकुमार ने वहाँ जाकर हम लोगों के हाथ-पैर धुलाए और हमें एक जगह बैठा दिया। फिर, एक वृक्ष के पास जाकर उसने भिक्षा माँगी॥२८॥

बात-की-बात में उसका भिक्षापात्र, स्वयं टपके हुए फलों से भर गया। उसे लेकर वह हम लोगों के पास आया॥२९॥

अदांच्च दिव्यास्वादानि तान्यस्मभ्यं फलानि सः।
यैर्भुक्तैरमृतेनेव तृप्ता जाता वयं तदा ॥३०॥
क्षीणेऽह्नि चाब्धौ पतिते सूर्ये ज्योतिर्भिरम्बरे।
तत्पातोच्छलितैरम्भः शीकरैरिव पूरिते ॥३१॥
तद्वैराग्यादिव प्राचीशैलशृङ्गतपोवनम्।
संवीतचन्द्रिकाधौतवल्कले शशिनि श्रिते ॥३२॥
एकस्थानोपविष्टानां कृताशेषस्वकर्मणाम्।
मुनीनामाश्रमे तत्र दर्शनाय गता वयम् ॥३३॥
प्रणिपत्योपविष्टाश्च कृतातिथ्यैः प्रियंवदैः।
कुतो यूयमिति क्षिप्रात्पृष्टाः स्मस्तैर्महर्षिभिः ॥३४॥
ततो मुनिकुमारेण तेन तेभ्यो निवेदितः।
तदाश्रमप्रवेशान्तो वृत्तान्तोऽस्मन्निबन्धनः ॥३५॥
अथास्मानत्र कण्वाख्यो ज्ञानी मुनिरभाषत।
किमेवं वीरपुरुषा अपि क्लैब्यं गताः स्थ भोः ॥३६॥
आपद्यभग्नधैर्यत्वं सम्पद्यनभिमानिता।
यदुत्साहस्य चात्यागस्तद्धि सत्पुरुषव्रतम् ॥३७॥
महान्तश्च महान्त्येव कृच्छ्राण्युत्तीर्य धैर्यतः।
महतोऽर्थान्समासाद्य महच्छब्दमवाप्नुवन् ॥३८॥
इयं सुन्दरसेनस्य तथा च श्रूयतां कथा।
यथा मन्दारवत्यर्थे क्लेशस्तेनान्वभूयत ॥३९॥
इत्युक्त्वा स मुनिः कण्वः सर्वेष्वत्र महर्षिषु।
अस्मासु चोपशृण्वत्सु कथामेतामवर्णयत् ॥४०॥

सुन्दरसेनस्य मन्दरावत्याश्च कथा

अस्त्यलङ्कृतकौबेरीदिङ्मुखो निषधाभिधः।
देशस्तत्रालका नाम वभूव नगरी पुरा ॥४१॥
यस्यां सदैव सर्वार्थसमृद्धिसुखितो जनः।
केवलं रत्नदीपानामासीच्छश्वदनिर्वृतिः ॥४२॥
तस्यामन्वर्थनामाभून्महासेनो महीपतिः।
शरजन्माद्भुताप्युग्रप्रतापप्लुष्टशात्रवः ॥४३॥
तस्य राज्ञो महामन्त्री गुणपालित इत्यभूत्।
शौर्यालयो महीभारवोढा शेष इवापरः ॥४४॥

उसने दिव्य स्वादवाले वे फल हम लोगों को दिये। अमृत के समान उन फलों को खाकर हमलोग तृप्त हो गये ॥३०॥

दिन बीतने पर सूर्य समुद्र में जा गिरा। आकाश में तारे छितरा गये। मानों सूर्य के गिरने पर समुद्र से जल के जो छींटे उड़े, वे ही आकाश में फैल गये ॥३१॥

सूर्य के छिप जाने से मानों चन्द्रमा को वैराग्य हो आया। उसने चन्द्रिका से धुले श्वेत वस्त्र पहनकर पूर्व दिशारूपी पर्वत-शिखर के तपोवन में आश्रय लिया ॥३२॥

आश्रम के मुनिगण अपने सभी कृत्य समाप्त करके एक स्थान पर जा बैठे थे। हम लोग उनके दर्शन करने गये ॥३३॥

हमलोग जब प्रणाम करके बैठे, तब उन्होंने हमारा सत्कार किया और मधुर वाणी में झटपट हमसे पूछा कि तुम लोग कहाँ से आये हो ॥३४॥

तब उस मुनिकुमार ने उन लोगों से आश्रम में हम लोगों के पहुँचने तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥३५॥

सारी बातें सुनकर कण्व नाम के ज्ञानी मुनि ने हमलोगों से कहा—"तुमलोग तो वीर पुरुष हो। तुममें ऐसी कायरता का भाव कैसे आया? ॥३६॥

"जो सत्पुरुष होते हैं, वे आपत्ति में घबराते नहीं, ऐश्वर्य पाकर अभिमान नहीं करते और किसी भी हालत में उत्साह को हाथ से नहीं जाने देते ॥३७॥

"जो लोग बड़े होते हैं, वे बड़े-से-बड़े कष्ट को धैर्यपूर्वक सहकर बड़े काम करते हैं और तब जाकर 'बड़प्पन' पाते हैं ॥३८॥

"तुम लोग सुन्दरसेन की यह कथा सुनो कि मन्दारवती के लिए उसने कैसे-कैसे कष्ट सहन किये" ॥३९॥

यह कहकर मुनि कण्व ने सब महर्षियों को और हमलोगों को सुनाकर यह कथा कही ॥४०॥

सुन्दरसेन और मन्दरावती की कथा

उत्तर दिशा को अलंकृत करनेवाला निषध नाम का एक देश है। पुराने समय में, उस देश में अलका नाम की एक नगरी थी ॥४१॥

वहाँ के लोग सब तरह से भरे-पूरे और सुखी थे। केवल रत्न के दीपों को ही कभी विश्राम न मिलता था ॥४२॥

वहाँ महासेन नाम का राजा था, जिसमें नाम के समान ही सारे गुण थे। कार्त्तिकेय की तरह उसने अपने अद्भुत और प्रचण्ड पराक्रम से शत्रुओं को नष्ट कर दिया था ॥४३॥

उस राजा के प्रधान मन्त्री का नाम गुणपालित था। वह बड़ा पराक्रमी था और धरती का भार उठाने की क्षमता रखनेवाला मानों दूसरा शेषनाग ही था ॥४४॥

तस्मिन्न्यस्तभरस्यास्य सुखिनः क्षपितद्विषः।
देव्यां शशिप्रभाख्यायामुत्पेदे नृपतेः सुतः ॥४५॥
नाम्ना सुन्दरसेनो ऽयः शिशुरेवाशिशुर्गुणैः।
शौर्यसौन्दर्यलक्ष्मीभ्यां स्वयंवरपतिर्वृतः ॥४६॥
तस्य राजसुतस्यात्र शूरास्तुल्यवयोगुणाः।
आबाल्यात्सह संवृद्धा वभूवुः पञ्च मन्त्रिणः ॥४७॥
चण्डप्रभो भीमभुजस्तथा व्याघ्रपराक्रमः।
वीरो विक्रमशक्तिश्च दृढबुद्धिश्च पञ्चमः ॥४८॥
ते च सर्वे महासत्त्वा बलबुद्धिसमन्विताः।
कुलीनाः स्वामिभक्ताश्च कृतज्ञा अपि पक्षिणाम् ॥४९॥
तैः समं स उवासात्र राजपुत्रः पितुर्गृहे।
अनुरूपां विना भार्यां तरुणोऽप्यपरिग्रहः ॥५०॥
अनम्राक्रमणं शौर्यं धनं निजभुजार्जितम्।
भार्या रूपानुरूपा च पुरुषस्येह पूज्यते ॥५१॥
अन्यथा तु किमेतेन त्रयेणापीत्यचिन्तयत्।
स च सुन्दरसेनोऽथ वीरस्तैः सचिवैः सह ॥५२॥
एकदा चान्वितः सेन्यैर्वयस्यैस्तैश्च पञ्चभिः।
निर्ययौ मृगयाहेतोर्नगर्याः स नृपात्मजः ॥५३॥
निर्यातं च ददर्शैतं दूरदेशान्तरागता।
कापि कात्यायनी नाम प्रौढा प्रव्राजिकोत्तमा ॥५४॥
अरोहिणीकश्चन्द्रोऽयं किं वाप्यरतिकः स्मरः।
इति चामानुषं वीक्ष्य तद्रूपं सा व्यचिन्तयत् ॥५५॥
बुद्ध्वा च राजपुत्रं तं पृष्टात्तत्परिवारतः।
धातुः सा सर्गवैचित्र्यं प्रशंसन्ती विसिस्मिये ॥५६॥
अथारात्तारदीर्घेण राजपुत्रं स्वरेण तम्।
कुमार विजयस्वेति वदन्ती प्रणनाम सा ॥५७॥
सोऽपि सुन्दरसेनस्तदनाकर्ण्यैव तत्क्षणम्।
ययौ स्वसचिवारब्धकथाव्यग्रेण चेतसा ॥५८॥
अथोच्चैः श्रावयन्ती तं सा क्रुद्धोवाच तापसी।
न शृणोष्याशिषं कस्माद्राजपुत्र ममाप्यहो ॥५९॥

जिसके शत्रु नष्ट हो चुके थे, उस सुखी राजा ने राज्य का भार अपने मन्त्री को सौंप रखा था। समय पाकर उस राजा को अपनी रानी शशिप्रभा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ।।४५।।

राजा के पुत्र का नाम सुन्दरसेन था। बालक होते हुए भी वह गुणों में बालक नहीं था। शूरता, सुन्दरता और लक्ष्मी ने स्वयंवर में जैसे उसे ही अपना पति चुना था।।४६।।

उस राजकुमार के साथ, बचपन से ही, उसके पाँच मन्त्रियों का भी पालन-पोषण हुआ था, जो वीरता, वय और गुणों में उसी के समान थे।।४७।।

उन मन्त्रियों के नाम थे चन्द्रप्रभ, भीमभुज, व्याघ्रपराक्रम, वीरविक्रमशक्ति तथा पाँचवें का नाम दृढबुद्धि था।।४८।।

वे सभी बड़े पराक्रमी थे, बल और बुद्धि से युक्त थे, कुलीन तथा स्वामिभक्त थे और पक्षियों की बोली जाननेवाले थे।।४९।।

तरुणाई पाकर भी, योग्य पत्नी के अभाव में उस राजकुमार का विवाह नहीं हुआ था। वह अपने मन्त्रियों के सहित पिता के घर रहता था।।५०।।

सुन्दरसेन ने अपने मन्त्रियों के सहित विचार किया कि 'युद्ध में प्रचण्ड शौर्य, अपने भुजबल से अर्जित धन और अपने अनुरूप भार्या, इन्हीं से मनुष्य संसार में प्रतिष्ठा पाता है; नहीं तो ये तीनों किस काम के हैं?'।।५१-५२।।

एक बार वह राजकुमार अपने पाँचों मन्त्रियों और सेना के सहित, आखेट के लिए, नगर से बाहर निकला।।५३।।

दूर देश से आती हुई, कात्यायनी नाम की एक प्रौढा परिव्राजिका ने राजकुमार को नगर से निकलते देखा।।५४।।

राजकुमार का दैवी स्वरूप देखकर उसने सोचा—"यह क्या रोहिणी से रहित चन्द्रमा है अथवा रति से बिछुड़ा कामदेव?"।।५५।।

राजकुमार के परिचारकों से पूछकर जब उसने जाना कि वह राजा का पुत्र है, तब विधाता के सृष्टि-वैचित्र्य की प्रशंसा करती हुई वह विस्मित हुई।।५६।।

पास जाकर उसने ऊँचे स्वर से पुकारकर, 'कुमार, आपकी विजय हो' कहकर वन्दना करते हुए राजकुमार को प्रणाम किया।।५७।।

राजकुमार अपने मन्त्रियों से बातचीत करने में उलझा हुआ था। उस समय उसने परिव्राजिका की आवाज नहीं सुनी और वह आगे बढ़ गया।।५८।।

इससे वह तापसी क्रुद्ध हो गई। उसने ऊँचे स्वर से सुनाकर कहा—"राजकुमार, अरे, तुम मेरा आशीर्वाद भी क्यों नहीं सुनते? ।।५९।।

कस्याहं नार्चिता पृथ्व्यां राज्ञो राजसुतस्य वा।
एवमेव च दर्पोऽयं यदि ते यौवनादिभिः ॥६०॥
तन्मन्दारवतीं कन्यां हंसद्वीपेश्वरात्मजाम्।
जगल्ललामभूतां च भार्यात्वेन त्वमाप्स्यसि ॥६१॥
ततो मन्ये महेन्द्रादेरपि श्रोष्यसि न ध्रुवम्।
मदावलेपाद्वचनं के वराकास्तु मानुषाः ॥६२॥
एवमुक्तवतीं श्रुत्वा तामाहूय सकौतुकः।
प्रह्वः सुन्दरसेनोऽसौ क्षमयामास तापसीम् ॥६३॥
प्रजिधाय च भृत्यानां हस्ते विश्रमणाय सः।
गृहं विक्रमशक्तेस्तां प्रष्टुकामः स्वमन्त्रिणः ॥६४॥
ततो गत्वा कृताखेटः प्रत्यागत्य कृताह्निकः।
तामानाय्य स पप्रच्छ कुमारो भुक्तभोजनाम् ॥६५॥
भगवत्युच्यतां कैषा त्वयाद्य परिकीर्त्तिता।
कन्या मन्दारवत्याख्या परं कौतूहलं हि नः ॥६६॥
तच्छ्रुत्वा तापसी सा तमुवाच शृणु वच्म्यदः।
तीर्थादिहेतोः सद्वीपां भ्रमामि पृथिवीमिमाम् ॥६७॥
भ्रमन्ती प्राप्तवत्यस्मि हंसद्वीपं प्रसङ्गतः।
तत्र मन्दारदेवस्य राज्ञो दृष्टा मया सुता ॥६८॥
देवपुत्रोपभोगार्हा दृश्या नापुण्यकर्मभिः।
या मन्दारवतीत्याख्यां धत्ते श्रीरिव नन्दिनी ॥६९॥
बिभ्रती हारणीं मूर्त्तिं दर्शनोद्दीपितस्मरा।
धात्रा सुधामयी सृष्टा या चान्यैवैन्दवी तनुः ॥७०॥
तस्या रूपेण सदृशो नास्त्येवान्यत्र भूतले।
जानेऽनुहरति त्वेको भवांस्तद्रूपसम्पदम् ॥७१॥
यैः सा न दृष्टा विफले तेषां नेत्रे च जन्म च।
इति श्रुत्वा च तापस्या मुखाद्राजसुतोऽब्रवीत् ॥७२॥
तस्यास्तत्तादृशं रूपं पश्यामोऽम्ब वयं कथम्।
एतत्तद्वचनं श्रुत्वा सापि प्रव्राजिकाभ्यधात् ॥७३॥
अहं चित्रपटे तां च तत्काललिखितां रसात्।
वहे वल्गुलिकान्तःस्थां कौतुकं यदि दृश्यताम् ॥७४॥

पृथ्वी पर कौन ऐसा राजा अथवा राजकुमार है, जो मेरा आदर नहीं करता ? यदि तुम्हें अपने यौवन आदि का ऐसा ही अभिमान है, तो तुम हंसद्वीप के राजा की मन्दारवती नाम की उस कन्या को पत्नी के रूप में पाओगे, जो संसार की सभी स्त्रियों में श्रेष्ठ है। मैं समझती हूँ, तब तो तुम अभिमान के नशे में महेन्द्र आदि की भी बातें न सुनोगे, बेचारे मनुष्यों की तो गिनती ही क्या है ?" ॥६०—६२॥

तापसी की ये बातें सुनकर सुन्दरसेन को कौतूहल हुआ। उसने तापसी को बुलाकर नम्रता-पूर्वक उससे क्षमा माँगी ॥६३॥

उसने तापसी से सारी बातें पूछने की इच्छा से, अपने आदमियों के साथ, विश्राम करने के लिए उसे मन्त्री विक्रमशक्ति के घर भेज दिया ॥६४॥

राजकुमार ने आखेट से लौटकर सन्ध्या-वन्दन किया। तबतक तापसी भी भोजनादि से निबट चुकी थी। राजकुमार ने उसे बुलवाकर पूछा—॥६५॥

"भगवती, आपने मन्दारवती नाम की जिस कन्या की बात आज कही थी, वह कौन है ? मुझे उसके बारे में बड़ा कौतूहल हो रहा है" ॥६६॥

यह सुनकर तापसी ने राजकुमार से कहा—"सुनो, मैं कहती हूँ। तीर्थाटन के लिए मैं द्वीपों के सहित इस पृथ्वी पर घूमती रहती हूँ ॥६७॥

"घूमते-फिरते, संयोग से, एक बार मैं हंसद्वीप जा पहुँची। वहाँ मैंने राजा मन्दारदेव की कन्या को देखा ॥६८॥

"मन्दारवती नाम की वह कन्या नन्दन-वन की शोभा धारण करनेवाली है। वह किसी देवपुत्र के उपभोग के योग्य है। जो लोग पुण्य करनेवाले नहीं है, वे तो उसे देख भी नही सकते ॥६९॥

"उसका रूप ऐसा मनोहर है, जिसे देखते ही अनुराग उमड़ आता है। विधाता ने मानों अमृत-मिले दूसरे चन्द्रमा से उसका शरीर गढ़ा है ॥७०॥

"इस धरती पर उसके रूप के समान दूसरा रूप नहीं है। ऐसा लगता है कि केवल तुम्हीं उसकी रूप-सम्पदा की बराबरी कर सकते हो ॥७१॥

"जिसने उसको नहीं देखा, उसके नेत्र और उसका जन्म निष्फल ही है।" तापसी के मुँह से ये बातें सुनकर राजकुमार ने कहा—॥७२॥

"माताजी, उसका वैसा रूप हम लोग कैसे देख सकेंगे ?" उसकी यह बात सुनकर प्रव्राजिका बोली—॥७३॥

"उसमें रुचि हो जाने के कारण मैंने उसी समय चित्रपट पर उसका चित्र आँक लिया था। उसे मैं अपनी झोली में लिये हुए हूँ। यदि तुम्हें कौतूहल है, तो देख लो" ॥७४॥

एवमुक्तवती तस्मै तुष्टाय नृपसूनवे।
कृष्ट्वा वल्गुलिकातः सा चित्रस्थां तामदर्शयत् ॥७५॥
सोऽपि सुन्दरसेनस्तां कन्यां चित्रगतामपि।
विचित्ररूपामानन्दनिःस्पन्दं प्रविलोकयन् ॥७६॥
रोमाञ्चकण्टकचितैरङ्गैरास्ते स्म तत्क्षणम्।
कीलितः पुष्पचापस्य वाणैरिव निरन्तरैः ॥७७॥
शनैरशृण्वन्नवदन्नपश्यंश्चैव किञ्चन।
तन्मयीभूय चित्रस्थ इव सोऽप्यभवच्चिरम् ॥७८॥
तद्दृष्ट्वा मन्त्रिणस्तस्य जगदुस्तां तपस्विनीम्।
आर्ये सुन्दरसेनं त्वं देवमत्र पटे लिख ॥७९॥
सदृशालेख्यविज्ञानं तावद्वीक्षामहे तव।
तच्छ्रुत्वैव लिलेखैतं कुमारं सा क्षणात्पटे ॥८०॥
तं चातिसदृशं दृष्ट्वा सर्वेऽप्यत्रैवमब्रुवन्।
नास्त्यालेख्यविसंवादो भगवत्या मनागिति ॥८१॥
अयं कुमार एवेति चित्रेऽस्मिञ्जायते हि धीः।
तन्मन्दारवतीदेवीरूपं नात्र विसंवदेत् ॥८२॥
इत्युक्तवत्सु सचिवेष्वात्तचित्रपटद्वयः।
प्रोतः सुन्दरसेनस्तां पूजयामास तापसीम् ॥८३॥
विसृज्य च यथार्हं तामेकस्थानानिवासिनीम्।
विवेशाभ्यन्तरगृहं कान्ताचित्रपटं वहन् ॥८४॥
किं मुखं किमु कान्त्यास्याः क्षालिताङ्कमलः शशी।
राज्याभिषेककलशौ स्मरस्यैतावुत स्तनौ ॥८५॥
लहर्यो रूपजलधेः किमेतास्त्रिवलीलताः।
नितम्बः किमयं किं वा विलासशयनं रतेः ॥८६॥
इति चित्रगतां तत्र प्रत्यङ्गं तां विभावयन्।
स मन्दारवतीं तस्थौ निपत्य शयनीयके ॥८७॥
तथैव चान्वहं तिष्ठन्नाहारादिपराङ्मुखः।
स्मरज्वरभराक्रान्तः सोऽल्पैरेवाभवद्दिनैः ॥८८॥
तद्बुद्ध्वागत्य पितरौ तस्य पप्रच्छतुः सखीन्।
शशिप्रभामहासेनौ स्वैरमस्वास्थ्यकारणम् ॥८९॥

उसके ऐसा कहने पर राजकुमार को बड़ा सन्तोष हुआ। तब तापसी ने अपनी झोली से निकालकर चित्र में कढ़ी उस राजकुमारी को दिखलाया ॥७५॥

यद्यपि वह कन्या चित्र में कढ़ी हुई थी, फिर भी उसके अद्भुत रूप को देखकर सुन्दरसेन आनन्द से स्तब्ध हो गया। तत्काल ही उसका सारा शरीर रोमांचित हो गया, मानों पुष्पधन्वा (कामदेव) के लगातार बरसते हुए बाणों ने उसके सारे शरीर को बींध दिया हो ॥७६-७७॥

धीरे-धीरे उसकी यह दशा हो गई कि न तो वह कुछ सुनने, न कहने और न देखने की ही स्थिति में रहा। वह तन्मय होकर बहुत देर तक चित्रलिखा-सा बना रहा ॥७८॥

यह देखकर उसके मन्त्रियों ने उस तपस्विनी से कहा—"आर्ये! आप इस पट पर कुमार सुन्दरसेन का भी एक चित्र बना दें, जिससे हम देख सकें कि किसी भी आकृति को चित्र में जैसे-का-तैसा उतार देने का कैसा कौशल आपमें है।" यह सुनते ही तापसी ने बात-की-बात में उस पट पर कुमार का चित्र अंकित कर दिया ॥७९-८०॥

उस चित्र को हू-ब-हू राजकुमार की तरह का देखकर वे सभी कहने लगे कि चित्र बनाने की तापसी की कला में थोड़ी-सी भी कसर नहीं है ॥८१॥

"इस चित्र को देखकर ऐसा लगता है कि यह स्वयं कुमार ही हैं; अतः इसमें सन्देह नहीं कि देवी मन्दारवती जैसी हैं, यह चित्र ठीक वैसा ही है" ॥८२॥

मन्त्रियों के ऐसा कहने पर सुन्दरसेन बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने दोनों चित्र ले लिये और उस तापसी का उचित सम्मान किया ॥८३॥

एक स्थान पर न टिकनेवाली उस तापसी को सुन्दरसेन ने यथोचित विदा दी और अपनी प्रिया का चित्र लिये हुए घर के भीतर प्रवेश किया ॥८४॥

"यह मुख है अथवा कान्ति से जिसके धब्बे छूट गये हैं, वह चन्द्रमा है? इसके ये स्तन कहीं कामदेव के राज्याभिषेक के कलश तो नहीं हैं? इसके उदर की त्रिवली कहीं रूप-समुद्र की लहरें तो नहीं हैं? ये इसके नितम्ब हैं अथवा रति की विलास-शय्या है? ॥८५-८६॥

इस प्रकार, चित्र-लिखी मन्दारवती के एक-एक अंग को निरखता-परखता सुन्दरसेन, शय्या पर गिरकर पड़ा रहा ॥८७॥

इसी प्रकार एक के बाद दूसरा दिन बीतने लगा। राजकुमार ने खाना-पीना छोड़ दिया। काम-ज्वर से पीडित होकर, थोड़े ही दिनों में वह जरा-सा रह गया ॥८८॥

जब कुमार के माता-पिता—शशिप्रभा और महासेन को यह बात मालूम हुई, तब तो उन्होंने कुमार के मित्रों से, एकान्त में, उसकी अस्वस्थता का कारण पूछा ॥८९॥

तद्वयस्याश्च ते ताभ्यां तथा सर्वं तदब्रुवन् ।
यथात्र हतुतां प्राप्ता हंसद्वीपनृपात्मजा ॥९०॥
ततः सुन्दरसेनं तं महासेनो जगाद सः ।
पुत्र किं गूह्यते स्थाने खल्वभिष्वङ्ग एष ते ॥९१॥
कन्यारत्नं हि मन्दारवती योग्या तवैव सा ।
मित्रं मन्दारदेवश्च परमं तत्पिता मम ॥९२॥
तद्दूतसाध्ये युक्ते च कास्मिन्नर्थे कदर्थना ।
एवं तमुक्त्वा संमन्त्र्य कन्यां तां तस्य याचितुम् ॥९३॥
राज्ञो मन्दारदेवस्य हंसद्वीपं विसृष्टवान् ।
दूतं सुरतदेवाख्यं स महासेनभूपतिः ॥९४॥
ददौ सुन्दरसेनं तं तापस्या लिखितं तया ।
हस्ते चित्रपटे तस्य रूपोत्कर्षप्रकाशकम् ॥९५॥
स दूतश्चतुरं गत्वा प्राप्याम्बुधितटे पुरम् ।
महेन्द्रादित्यनृपतेः शशाङ्कपुरसंज्ञकम् ॥९६॥
ततः प्रवहणारूढो हंसद्वीपमवाप तत् ।
दिनैर्मन्दारदेवस्य नृपतेस्तस्य मन्दिरम् ॥९७॥
द्वाःस्थैरावेदितस्तत्र प्रविश्यान्तर्विलोक्य सः ।
यथावृत्तं नृपं दूतो दत्तकोशलिकोऽभ्यधात् ॥९८॥
सन्दिष्टं ते महाराज महासेनेन भूभुजा ।
देहि सुन्दरसेनाय मत्पुत्राय निजां सुताम् ॥९९॥
पटे च लिखिता सा हि कात्यायन्यभिधानया ।
तापस्या कन्यकारत्नमित्यानीयेह दर्शिता ॥१००॥
रूपानुरूप्याच्चास्माभिर्जातेच्छैर्लिखितं पटे ।
रूपं सुन्दरसेनस्याप्यत्र प्रहितमीक्ष्यताम् ॥१०१॥
एष चासदृशो रूपे भार्यां स्वसदृशीं विना ।
नेच्छत्युद्वाहमेका च त्वत्सुतास्यानुकारिणी ॥१०२॥
इति सन्दिश्य हस्ते मे पटो राज्ञायमर्पितः ।
दृश्यतां युज्यतां देव मधुना माधवी लता ॥१०३॥
एतद्दूतवचः श्रुत्वा हर्षादानाययन्नृपः ।
सुतां स मन्दारवतीं देवीं तस्याश्च मातरम् ॥१०४॥

तब कुमार के साथियों ने उन दोनों से वह सारी बातें कहीं, जिनसे हसद्वीप के राजा की कन्या, कुमार के अस्वास्थ्य का कारण बनी थी ॥९०॥

अनन्तर, महासेन ने सुन्दरसेन से कहा---"पुत्र! तुम्हारा यह अनुराग तो उचित ही है! तुमने इसे छिपा क्यों रखा है? ॥९१॥

"मन्दारवती कन्याओं में रत्न के समान है। वह तुम्हारे योग्य भी है। और फिर, उसके पिता मन्दारदेव मेरे परम मित्र हैं ॥९२॥

"जो कार्य दूत के द्वारा हो सकता है और जो उचित भी है, उसके लिए तुम इतना सन्ताप क्यों करते हो?" पुत्र से ऐसा कहकर और सोच-विचारकर राजा महासेन ने राजा मन्दारसेन की उस कन्या की याचना के लिए सुरतदेव नामक दूत को हंसद्वीप के लिए रवाना किया ॥९३-९४॥

राजा ने दूत के हाथ में उस तापसी का बनाया हुआ सुन्दरसेन का वह चित्र भी दे दिया, जो उसके रूप के उत्कर्ष को प्रकट करनेवाला था ॥९५॥

वह चतुर दूत, चलता हुआ, समुद्र के उस तट पर पहुँचा, जहाँ राजा महेन्द्रादित्य का शशांकपुर नामक नगर था ॥९६॥

अनन्तर जहाज पर सवार होकर, कुछ दिनों में, वह हंसद्वीप पहुँचा और राजा मन्दारदेव के भवन में गया ॥९७॥

द्वारपाल ने राजा को उसके आने की सूचना दी। दूत ने भीतर जाकर राजा को देखा और उन्हें साथ लाया हुआ उपहार देकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥९८॥

(उसने कहा---)"महाराज! राजा सुन्दरसेन ने आपको यह सन्देश भेजा है कि 'मेरे पुत्र सुन्दरसेन को आप अपनी कन्या दें ॥९९॥

कात्यायनी नाम की एक तापसी ने आपकी कन्या का एक चित्र पट पर बनाया था। उसने यहाँ ले आकर वह चित्रपट दिखलाया ॥१००॥

सुन्दरसेन को आपकी कन्या के योग्य जानकर हम लोगों की इच्छा हुई कि वह उस पट पर सुन्दरसेन का चित्र भी बना दे। उसने जो चित्र बनाया, उसे मैं भेज रहा हूँ। आप उसे देखिए ॥१०१॥

मेरा पुत्र अप्रतिम रूपवाला है। वह अपने योग्य स्त्री के विना विवाह नहीं करना चाहता। अकेली आपकी कन्या ही इसके योग्य है' ॥१०२॥

इस सन्देश के साथ राजा ने यह चित्रपट मेरे हाथ में दिया। महाराज, आप देखिए और वसन्त के साथ वासन्ती लता का मिलन करा दीजिए" ॥१०३॥

दूत की ये बातें सुनकर राजा बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी कन्या मन्दारवती और उसकी माँ को बुलवा भेजा ॥१०४॥

ताभ्यां सह तमुद्घाट्य दृष्ट्वा चित्रपटं च सः।
तुल्यो मद्दुहितुः पृथ्व्यां नास्तीत्येतन्मदं जहौ॥१०५॥
जगाद चामुना राजपुत्रेण यदि युज्यते।
तदस्या रूपनिर्माणं सुतायाः सफलं मम॥१०६॥
अनेन रहिता ह्येष राजते नानयाप्यसौ।
का ह्यब्जिनी विना हंसं कश्च हंसोऽब्जिनीं विना॥१०७॥
इति राज्ञोदिते राज्ञ्यां श्रद्धावत्यामतीव च।
सा मन्दारवती जज्ञे सद्यो मदनमोहिता॥१०८॥
तस्थौ चित्रपटन्यस्तनिश्चलोत्फुल्ललोचना।
अधिष्ठितेव सुप्तेव विनिद्रा लिखितेव च॥१०९॥
ततो मन्दारदेवस्तां सुतां दृष्ट्वा तथाविधाम्।
अङ्गीकृत्यैव तद्दानं स तं दूतमपूजयत्॥११०॥
अन्येद्युः प्राहिणोत्तं च प्रतिदूतं च स स्वकम्।
विप्रं कुमारदत्ताख्यं महासेननृपं प्रति॥१११॥
जगाद चौभावपि तौ गत्वा तमलकेश्वरम्।
मम वाक्यान्महासेनं राजानं वदतं द्रुतम्॥११२॥
सौहार्देन मया तावत्कन्या दत्ता तदुच्यताम्।
त्वत्पुत्रः किमिहायातु किं कन्यात्र प्रहीयताम्॥११३॥
इति राज्ञोक्तसन्देशौ ततः प्रवहणेन तौ।
सह प्रययतुर्दूतावब्धिमार्गेण सत्वरम्॥११४॥
शशाङ्कपुरमासाद्य ततः स्थलपथेन तौ।
प्रापतुस्तां पुरीमृद्धामलकामलकामिव॥११५॥
उपेत्य राजसद्माथ प्रविश्य च यथोचितम्।
कृतादरं महासेनं राजानं तावपश्यताम्॥११६॥
तं च मन्दारदेवोक्तं प्रतिसन्देशमूचतुः।
राज्ञे तस्मै स च श्रुत्वा तुष्टस्तौ द्वावपूजयत्॥११७॥
पृष्ट्वा च कन्याजन्मर्क्षं तस्मात्तत्पितृदूततः।
लग्नं विवाहे पप्रच्छ सूनोः स गणकान्नृपः॥११८॥
ते च मासत्रये शुक्लपञ्चम्यां मासि कार्त्तिके।
लग्नं तस्मै वदन्ति स्म शुभं वध्वा वरस्य च॥११९॥

राजा ने उन दोनों के सम्मुख चित्र खोलकर देखा। देखकर उनका यह अभिमान जाता रहा कि पृथ्वी पर मेरी कन्या के योग्य वर नहीं है॥१०५॥

राजा ने कहा—"यदि इस राजपुत्र से मेरी कन्या का विवाह हो, तभी उसका रूप-निर्माण सफल होगा॥१०६॥

"इसके विना न तो मेरी कन्या की शोभा है और न मेरी कन्या के विना इसकी। हंस के विना कमलिनी का और कमलिनी के विना हंस का भला क्या अर्थ है?"॥१०७॥

राजा के इस कथन का जब रानी ने भी पूरी तरह से समर्थन किया, तब मन्दारवती शीघ्र ही काम-मोहित हो गई॥१०८॥

उसकी प्रसन्न आँखें निश्चल होकर उस चित्र पर गड़-सी गईं। वह आविष्ट-सी, विना नींद के सोई हुई-सी अथवा चित्रलिखित-सी जान पड़ने लगी॥१०९॥

मन्दारदेव ने अपनी कन्या की वैसी स्थिति देखी, तो उन्होंने वह दान देना स्वीकार किया और उस दूत का आदर-सत्कार किया॥११०॥

अगले दिन उन्होंने उस दूत के साथ, कुमारसेन नाम के अपने दूत को भी महाराज महासेन के पास भेजा॥१११॥

राजा ने उन दोनों दूतों से कहा—"आपलोग शीघ्र ही अलका के राजा (महासेन) के पास जाइए और मेरी ओर से उनसे कहिए॥११२॥

"आपके सौहार्द से मैं अपनी कन्या आपको देता हूँ। अब यह बतलाइए कि आपके पुत्र यहाँ आयेंगे या मैं अपनी कन्या को ही वहाँ भेज दूँ?"॥११३॥

राजा का यह सन्देश लेकर वे दोनों दूत साथ-साथ जहाज पर चढ़े और समुद्र-मार्ग से शीघ्र ही रवाना हो गये॥११४॥

शशांकपुर में उतरकर वे स्थल-मार्ग से चले और अलका के समान भरी-पूरी अलका नगरी में जा पहुँचे॥११५॥

राजभवन में पहुँचकर, उचित शिष्टाचार के साथ वे अन्दर गये और उन्होंने राजा को देखा। राजा ने भी उनका आदर-सत्कार किया॥११६॥

उन्होंने राजा से मन्दारदेव का सन्देश कह सुनाया। सुनकर राजा प्रसन्न हुआ और उसने दोनों दूतों को उपहार आदि से सन्तुष्ट किया॥११७॥

कन्या के पिता ने जो दूत भेजा था, उससे कन्या का जन्म-नक्षत्र पूछकर राजा ने अपने ज्योतिषियों से पुत्र के विवाह का लग्न निकालने को कहा॥११८॥

उन्होंने तीन महीने में, कार्त्तिक मास की शुक्ला पंचमी को वर-वधू के लिए शुभ लग्न बतलाया॥११९॥

तस्मिल्लग्ने विवाहं च सूनोश्च प्रेषणं तदा।
तस्मै मन्दारदेवाय सन्दिदेशालकापतिः ॥१२०॥
हस्ते कुमारदत्तस्य तद्दूतस्यापरस्य च।
चन्द्रस्वाम्यभिधानस्य स्वस्य लेखेऽभिलिख्य सः ॥१२१॥
तौ च दूतौ ततो गत्वा लेखं दत्त्वा तथैव च।
हंसद्वीपेश्वरस्याग्रे तस्य सर्वं शशंसतुः ॥१२२॥
सोऽपि राजा तथेत्युक्त्वा चन्द्रस्वामिनमर्चितम्।
व्यसृजत्तं महासेनदूतं स्वस्वामिनोऽन्तिकम् ॥१२३॥
प्रत्यागतेऽलकां तस्मिन्नुक्तकार्यविनिश्चये।
लग्नप्रतीक्षास्ते तस्थुः सर्वेऽप्युभयपक्षयोः ॥१२४॥
तावच्च हंसद्वीपे सा प्राक्चित्रपटदर्शनात्।
जातानुरागा मन्दारवती तं चिरभाविनम् ॥१२५॥
विवाहलग्नं बुद्ध्वा तं तावत्कालक्रमासहा।
प्रेयस्यत्युत्सुका गाढं सन्तेपे मदनाग्निना ॥१२६॥
अङ्गारवर्षमङ्गे च चन्दनैरपि लेपनम्।
पद्मिनीपत्रशय्यापि सन्तप्तसिकतास्तरः ॥१२७॥
दीप्रदावानलशिखाः सुधांशोरपि रश्मयः।
तस्याः सुन्दरसेनोत्कचेतसो बत जज्ञिरे ॥१२९॥
मौनस्था वर्जिताहारा विरहव्रतमाश्रिता।
आकुलाप्तसखीपृष्टा कृच्छ्रादेवमुवाच सा ॥१२९॥
सखि दूरे विवाहो मे न च शक्नोमि तं विना।
वरं प्रतीक्षितुं कालमलकाधिपतेः सुतम् ॥१३०॥
दूरो देशश्च कालश्च विचित्रा च गतिर्विधेः।
तदत्र मध्ये को वेत्ति किं कस्येह भविष्यति ॥१३१॥
तन्मे मर्त्तव्यमेवेति वदन्ती विरहातुरा।
जगाम मन्दारवती सद्यः सा विषमां दशाम् ॥१३२॥
तद्बुद्ध्वा तत्सखीवक्त्रात्तां च दृष्ट्वा तथाविधाम्।
सभार्यो मन्त्रयामास तत्पिता सह मन्त्रिभिः ॥१३३॥
राजा स मित्रमस्माकं महासेनोऽलकापतिः।
एषा च मन्दारवती कालं सोढुमिहाक्षमा ॥१३४॥

अलका के राजा महासेन ने स्वयं लिखकर एक पत्र कुमारदत्त तथा चन्द्रस्वामी नामक दूसरे दूत के हाथों में दिया और कहला भेजा कि इसी लग्न में विवाह होगा और मैं अपने पुत्र को भेज दूँगा ॥१२०-१२१॥

उन दोनों दूतों ने हंसद्वीप जाकर राजा को वह पत्र दिया और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। ॥१२२॥

राजा ने कहा—'ऐसा ही होगा।' फिर उन्होंने चन्द्रस्वामी को भेंट-उपहार आदि दिये और महासेन के उस दूत को अपने स्वामी के पास वापस भेज दिया॥१२३॥

दूत ने जब अलका लौटकर कार्य के निश्चित होने की बात कही, तब दोनों पक्षों के सभी लोग लग्न की प्रतीक्षा करने लगे ॥१२४॥

इधर हंसद्वीप में, मन्दारवती ने पहले-पहल जब सुन्दरसेन को चित्रपट में देखा था, तभी से वह उसपर अनुरक्त हो गई थी। विवाह के लग्न का समय उसे बहुत दूर जान पड़ा। उतने दिनों की प्रतीक्षा उसके लिए असह्य हो रही थी। प्रिय के लिए अत्यन्त उत्सुक मन्दारवती कामाग्नि से कठोर पीडा पाने लगी ॥१२५-१२६॥

सुन्दरसेन के लिए उसकी विकलता इतनी अधिक हो गई थी कि चन्दन का लेप उसके लिये अंगार की वर्षा के समान, कमल-पत्रों की सेज जलती हुई रेत के समान और चन्द्रमा की किरणें धधकती हुई दावाग्नि की लपटों के समान हो गई थीं ॥१२७-१२८॥

उसने मौन धारण कर लिया, खाना-पीना छोड़ दिया और विरह-व्रत का पालन करने लगी। उसकी विश्वासिनी सखियों ने जब आकुल होकर पूछा, तब बड़ी कठिनाई से उसने कहा—॥१२९॥

"सखि ! मेरे विवाह के दिन अभी दूर हैं और अलका के राजपुत्र, यानी अपने प्रियतम के विना यह अवधि मेरे काटे नहीं कट रही है ॥१३०॥

"वह देश बहुत दूर है, समय की अवधि भी लम्बी है और विधाता की गति विचित्र है। इस बीच किसका क्या होगा, यह कौन जानता है ॥१३१॥

"इसलिए मेरा तो मर जाना ही ठीक है।" विरह से आतुर मन्दारवती यह कहती हुई, तत्काल ही, विषम दशा में पड़ गई ॥१३२॥

सखियों के मुँह से ये बातें सुनकर और कन्या की वैसी हालत देखकर मन्दारदेव ने अपनी पत्नी के सहित मन्त्रियों से परामर्श किया ॥१३३॥

"अलका के राजा महासेन मेरे मित्र हैं। इधर यह मन्दारवती विलम्ब सहने में असमर्थ है। तो फिर इसे वहीं भेज देने में क्यों संकोच हो ? ॥१३४॥

तत्का त्रपा यथा चास्तु तत्रैव प्रेष्यतामियम् ।
कान्तान्तिकस्था धृत्या हि कालक्षेपं सहिष्यते ।।१३५।।
इत्यालोच्य समाश्वास्य तां मन्दारवतीं सुताम् ।
आरोप्य च प्रवहणे सधनां सपरिच्छदाम् ।।१३६।।
शुभेऽहनि ततो हंसद्वीपादम्बुधिवर्मना ।
विवाहहेतोर्विधिवज्जननीकृतमङ्गलाम् ।।१३७।।
विनीतमतिनामानं सह दत्वा स्वमन्त्रिणम् ।
राजा मन्दारदेवोऽसौ विससर्जालकां प्रति ।।१३८।।
ततो दिनानि कतिचिद्यावत्प्रवहणेन सा ।
प्रयाति मन्दारवती राजपुत्री महोदधौ ।।१३९।।
अकस्मात्तावदुत्तस्थौ गर्जञ्जलदतस्करः ।
सशूत्कारमरुद्घोरमुक्तधाराशरोत्करः ।।१४०।।
क्षणाच्च दूरमाकृष्य विधिनेव वलीयसा ।
वातेन तस्या वहनं हन्यमानमभज्यत ।।१४१।।
मग्ने तस्मिन्परीवारे विनीतमतिना सह ।
ममज्ज तस्याः सकलं भाण्डागारं महोदधौ ।।१४२।।
सा त्वब्धिना राजपुत्री जीवन्त्येवोर्मिवाहुना ।
उत्क्षिप्य नीत्वा निकटे क्षिप्ता वेलावने तदा ।।१४३।।
क्वाब्धौ पातः क्व चात्युच्चेनोर्मिणा प्रापणं वने ।
भवितव्यस्य नासाध्यं दृश्यते वत दृश्यताम् ।।१४४।।
ततः सा तादृशी त्रस्तविह्वला विजने वने ।
दृष्ट्वैवकाकिनमात्मानं दुःखाब्धावपतत्पुनः ।।१४५।।
क्व प्रस्थितास्मि क्व प्राप्ता क्व च मे स परिच्छदः ।
क्व विनीतमतिर्वृत्तमकस्मात्किमिदं मम ।।१४६।।
मन्दभाग्या क्व गच्छामि हा हतास्मि करोमि किम् ।
उत्तारिता हतविधे किमहं जलधेस्त्वया ।।१४७।।
हा तात हाम्ब हा ह्यर्यपुत्र पुत्रालकापतेः ।
त्वामप्राप्य विपद्येऽहं पश्य किं त्रायसे न माम् ।।१४८।।
इत्यादि विलपन्ती च सा मन्दारवती भृशम् ।
प्ररुरोदाश्रुभिश्छिन्नहारमुक्ताफलोपमैः ।।१४९।।

अपने पति के निकट रहने पर यह धीरज के साथ समय का बीतना सह सकेगी ॥१३५॥

इस तरह सोच-समझकर राजा मन्दारदेव ने अपनी कन्या मन्दारवती को दिलासा दिया और शुभ दिन में धन तथा परिचारकों के सहित उसे जहाज पर बैठाकर, विवाह के निमित्त समुद्र-मार्ग से हंसद्वीप से अलका के लिए विदा कर दिया। जाने के समय माता ने विधिपूर्वक विवाह के नेग-न्यौछावर आदि मंगल-कार्य किये। राजा ने विनीतमति नामके अपने मन्त्री को भी कन्या के साथ भेज दिया। ॥१३६---१३८॥

राजकुमारी मन्दारवती को अपने जहाज पर समुद्र में यात्रा करते जब कई दिन बीत गये, तब एक दिन अचानक गर्जन करते हुए बादल उमड़ आये--मानों वे चोर हों, जो वेगवान् पवन की सनसनाहट की सीटी बजाते और जल की धाराओं के बाण बरसाते चले आ रहे हों ॥१३९-१४०॥

पलक मारते बलवान् विधाता के समान वेगवान् पवन ने उसके जहाज को दूर खींच लिया और थपेड़ों के प्रहार से उसे चूर-चूर कर दिया॥१४१॥

जहाज के साथ ही उसके परिचारक, विनीतमति तथा धन का भाण्डार सब कुछ समुद्र में डूब गया ॥१४२॥

समुद्र ने उस राजपुत्री को अपनी लहरों के हाथों से जीवित ही ऊपर उठा लिया और पास ही के एक वन-तट पर डाल दिया ॥१४३॥

कहाँ तो समुद्र में गिरना और कहाँ ऊँची लहरों के द्वारा वन में पहुँच जाना। देखो न, भवितव्य के करते कुछ भी असाध्य नहीं दीखता ॥१४४॥

वैसी हालत में निर्जन वन में पड़ी हुई, त्रस्त और विह्वल राजकुमारी ने जब अपने को अकेली देखा, तब वह फिर दुःख के समुद्र में जा गिरी ॥१४५॥

"मैं कहाँ के लिए चली थी और कहाँ आ पहुँची ! मेरे वे परिचारक और विनीतमति क्या हुए ? मेरी यह दशा कैसे और क्यों हो गई ? ॥१४६॥

"मैं अभागिनी कहाँ जाऊँ ? हाय, मैं तो मारी गई। मैं क्या करूँ ? हाय विधाता, तुमने मुझे समुद्र से क्यों निकाल लिया ? ॥१४७॥

"हा तात ! हा अम्ब ! हा आर्यपुत्र ! हा अलकापति के पुत्र ! देखो, तुम्हें न पाकर मैं कैसे संकट में पड़ गई हूँ। तुम मेरी रक्षा क्यों नहीं करते ?" ॥१४८॥

इस प्रकार प्रलाप करती हुई मन्दारवती बहुत रोने लगी। उसके आँसू ऐसे दीखते थे, मानों किसी टूटे हुए मोती के हार के दाने हों ॥१४९॥

तावच्च नातिदूरस्थात्तत्राश्रमपदान्मुनिः।
आजगाम मतङ्गाख्यः स्नातुं जलनिधेर्जले ॥१५०॥
स वालब्रह्मचारिण्या दुहित्रा यमुनाख्यया।
अन्वितस्तमृषिस्तस्याः शुश्राव रुदितध्वनिम् ॥१५१॥
उपेत्य कृपया तां च ददर्श तनयायुतः।
यूथभ्रष्टामिव मृगीं दिक्षु क्षिप्तार्त्तलोचनाम् ॥१५२॥
का त्वं वनेऽत्र ते प्राप्तिः कथं कस्माच्च रोदिषि।
इति तां च स पप्रच्छ महर्षिः स्निग्धया गिरा ॥१५३॥
ततस्तं सकृपं दृष्ट्वा सा मन्दारवती शनैः।
आश्वास्याकथयत्तस्मै स्ववृत्तान्तं त्रपानता ॥१५४॥
अथ स प्रणिधायेतां मतङ्गमुनिरब्रवीत्।
राजपुत्रि विषादेन कृतं धृतिमवाप्नुहि ॥१५५॥
शिरीषपेशलाङ्गीं त्वां वाधते क्लेशविप्लवः।
अपेक्षन्ते हि विपदः किं पेलवमपेलवम् ॥१५६॥
भवती त्वचिरादेव पतिं प्राप्स्यत्यभीप्सितम्।
तदागच्छाश्रमं तावन्नातिदूरमितो मम ॥१५७॥
तत्रानया मत्सुतया सहास्व स्वगृहे यथा।
... ... ॥१५८॥
इति तां स समाश्वास्य कृत्वा स्नानं महामुनिः।
निनाय मन्दारवतीमाश्रमं स्वं सुतान्वितः ॥१५९॥
तत्र सा संयता तस्थौ भर्तृसङ्गमकाङ्क्षिणी।
परिचर्याविनोदेन तस्यर्षेस्तत्सुतान्विता ॥१६०॥
अत्रान्तरे चालकायां दिनानि गणयन्सदा।
तस्यां स मन्दारवतीविवाहदिवसोन्मुखः ॥१६१॥
कालं सुन्दरसेनोऽपि चिरोत्कण्ठाकृशो नयन्।
आसीदाश्वास्यमानः स्वैर्मित्रैश्चण्डप्रभादिभिः ॥१६२॥
क्रमाच्च लग्नदिवसे प्रत्यासन्ने पिता नृपः।
तस्य यात्रासमारम्भं हंसद्वीपं प्रति व्यधात् ॥१६३॥
शुभेऽह्नि च ततः प्रायात्कृतप्रस्थानमङ्गलः।
सैन्यैः सुन्दरसेनः क्ष्मां कम्पयन्स नृपात्मजः ॥१६४॥

वहाँ से थोड़ी ही दूर पर एक आश्रम था। वहाँ से मतंग नाम के कोई मुनि समुद्र के जल में स्नान करने के लिए आ रहे थे॥१५०॥

अपनी बाल-ब्रह्मचारिणी कन्या यमुना के साथ आते हुए उन ऋषि ने रुलाई की आवाज़ सुनी॥१५१॥

कृपा करके वे अपनी कन्या के साथ वहाँ पहुँचे। उन्होंने अपने झुण्ड से बिछुड़ी हुई और अपनी व्याकुल आँखों से चारों ओर देखती हुई मृगी के समान उस राजकुमारी को देखा ॥१५२॥

महर्षि ने मीठी वाणी से उससे पूछा कि तुम कौन हो? इस वन में कैसे आ पहुँची हो और क्यों रो रही हो? ॥१५३॥

मन्दारवती ने उन्हें कृपायुक्त देखा, तो उसे ढाढ़स हुआ। लज्जा से झुकी हुई राजकुमारी ने धीरे-धीरे अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥१५४॥

तब मतंग मुनि ने समाधि लगाई और फिर राजकुमारी से कहा—"राजकुमारी, दुःख करना छोड़ दो। धीरज धरो॥१५५॥

"शिरीष-पुष्प के समान कोमल अंगोंवाली तुमको दुःखों का समूह कष्ट दे रहा है; लेकिन विपत्तियाँ यह कब देखती हैं कि कौन कोमल है और कौन कठोर? ॥१५६॥

"तुम शीघ्र ही अपना मनचाहा पति प्राप्त करोगी; अतः तुम मेरे आश्रम में चलो। वह यहाँ से थोड़ी ही दूर पर है। वहाँ मेरी इस कन्या के साथ अपने घर की तरह रहो"॥१५७-१५८॥

इस तरह मन्दारवती को समझा-बुझाकर मुनि ने स्नान किया और फिर वे अपनी कन्या के सहित उसे आश्रम में ले गये॥१५९॥

पति से मिलने की इच्छा रखनेवाली मन्दारवती उन ऋषि की सेवा करती हुई, उनकी कन्या के साथ, संयम-नियम का पालन करती हुई वहाँ रहने लगी॥१६०॥

इस बीच अलका में सुन्दरसेन भी मन्दारवती के साथ अपने विवाह के समय की प्रतीक्षा करता हुआ, लगातार दिन गिन रहा था और कालक्षेप कर रहा था। गहरी उत्कण्ठा से वह दुर्बल हो गया था। चण्डप्रभ आदि उसके मित्र उसे दिलासा देते रहते थे॥१६१-१६२॥

क्रमशः लग्न का समय निकट आ पहुँचा। उसके पिता सुन्दरसेन के हंसद्वीप जाने की तैयारियाँ करने लगे॥१६३॥

शुभ दिन देखकर, प्रस्थान के मंगलकृत्य करके, राजकुमार सुन्दरसेन ने अपनी सेना से पृथ्वी कँपाते हुए प्रस्थान किया॥१६४॥

गच्छन्क्रमेण त्र प्राप तुष्टः स्वसचिवान्वितः।
तीराभरणमम्भोधेः स शशाङ्कपुरं पुरम् ॥१६५॥
तत्र प्रत्युद्गतो राज्ञा प्रश्रयावनतेन सः।
बुद्ध्वा महेन्द्रादित्येन प्रविवेशानुगैः सह ॥१६६॥
वात्यायमानरूपश्रीः पौरस्त्रीपद्मिनीवने।
समाससाद चारूढवारणो राजमन्दिरम् ॥१६७॥
तत्रोपचरितस्तेन महेन्द्रादित्यभूभुजा।
प्रतिपन्नानुयात्रेण स विशश्राम तद्दिनम् ॥१६८॥
अपि वारिधिमुत्तीर्य तामहं प्राप्नुयां प्रियाम्।
नवोढासुलभप्रेमलज्जासाध्वसशीलिनीम् ॥१६९॥
आलिङ्ग्यमानां मामेति लपन्तीं शृणुयां च ताम्।
इत्यादिभिरनैषीत्तां यामिनीं स मनोरथैः ॥१७०॥
प्रातश्चात्रैव नगरे स्थापयित्वा स्वसैनिकम्।
महेन्द्रादित्यसहितः कूलं वारिनिधेर्ययौ ॥१७१॥
तत्र तेन समं राज्ञा स्वयं प्रवहणं महत्।
आरुरोहैकमन्नाम्बुपूर्णं स्वसचिवैर्युतः ॥१७२॥
द्वितीयस्मिन्प्रवहणे राजपुत्रः परिच्छदम्।
अवश्यनेयं संक्षिप्तं समारोपितवांश्च सः ॥१७३॥
ततो मुक्ते प्रवहणे चलवातपटध्वजे।
अभिप्रययतुस्ते द्वे दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ॥१७४॥
द्वित्रेष्वहःसु यातेषु गच्छतोश्चाम्बुधौ तयोः।
अकस्मादुदभूत्तत्र महानुत्पातमारुत ॥१७५॥
अहो वायुरपूर्वोऽयमित्याश्चर्यवशादिव।
व्याघूर्णन्ते स्म जलधेस्तटेषु वनराजयः ॥१७६॥
व्यत्यस्ताश्च मुहुर्वातादधरोत्तरतां ययुः।
वारिधेर्वारिनिचया भावाः कालक्रमादिव ॥१७७॥
आक्रन्देन समं दत्ते रत्नैरर्घे महाब्धये।
प्रयत्नेन सहापास्ते कर्णधारैर्मरुत्पटे ॥१७८॥
मुक्तासु जीविताशाभिः सह सर्वैः ससम्भ्रमैः।
शिलासु शृङ्खलाबद्धास्वतिगुर्वीषु सर्वतः ॥१७९॥

अपने मन्त्रियों के सहित प्रसन्नतापूर्वक जाता हुआ सुन्दरसेन कुछ दिनों में, समुद्र-तट के आभरण-रूप शशांकपुर नामक नगर में जा पहुँचा ॥१६५॥

राजा महेन्द्रादित्य को जब उसके आने का संवाद मिला, तब आगे बढ़कर और विनय से झुककर वे अनुचरों के सहित सुन्दरसेन को नगर में ले आये ॥१६६॥

हाथी पर चढ़कर जब राजकुमार चले, तब उनके रूप की शोभा से नगर की स्त्रियों में वैसी ही हलचल मच गई, जैसी आँधी आने पर कमलिनी-वन में मच जाती है। इस तरह सुन्दरसेन ने राजभवन में प्रवेश किया ॥१६७॥

राजा महेन्द्रादित्य ने वहाँ सुन्दरसेन का यथोचित आदर-सत्कार किया और साथ चलने का वचन दिया। उस दिन सुन्दरसेन ने वहीं विश्राम किया ॥१६८॥

"समुद्र पार करके क्या मैं अपनी उस प्रिया को पा सकूँगा, जो नवविवाहिता होने के कारण स्वाभाविक प्रेम, लज्जा, भय और शील से युक्त होगी। जब मैं उसका आलिंगन करूँगा, तब क्या उसे 'नहीं-नहीं' कहती सुन पाऊँगा ?" इसी तरह की अभिलाषाओं में राजकुमार ने वह रात बिता दी ॥१६९-१७०॥

सवेरा होने पर सुन्दरसेन ने अपने सैनिकों को वहीं (शशांकपुर में) छोड़ दिया और महेन्द्रादित्य के साथ वह समुद्र-तट पर गया ॥१७१॥

वहाँ जाकर राजा महेन्द्रादित्य अपने मन्त्रियों के सहित अन्न और जल से भरे एक बड़े जहाज पर सवार हुआ ॥१७२॥

राजकुमार ने एक दूसरे जहाज पर अपने उन थोड़े-से परिचारकों को ले लिया, जिनका साथ जाना आवश्यक था ॥१७३॥

तब वे दोनों जहाज छूटे और हवा के झोंकों से पताकाएँ फहराते हुए दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर चल पड़े ॥१७४॥

समुद्र की यात्रा करते जब दो-तीन दिन बीत गये, तब अचानक महा उत्पाती अन्धड़ चलने लगा ॥१७५॥

समुद्र के किनारों पर जो वन-समूह थे, वे इस आश्चर्य से चक्कर खाने लगे कि 'अरे, यह कैसी अद्भुत आँधी है !"॥१७६॥

प्रचण्ड अन्धड़ के झकोरों से समुद्र का जल बार-बार ऊपर-नीचे होने लगा, जैसे समय बीतने पर मनोभाव उलट-पलट जाते हैं ॥१६६॥

माँझियों ने जहाज के पाल उतार लिये। चीख-पुकार करते हुए उन्होंने सागर को रत्नों का अर्घ्य चढ़ाया और अन्य प्रयत्न शिथिल कर दिये ॥१७८॥

उन्होंने जीवन की आशा छोड़ दी और घबराकर बहुत भारी-भारी शिलाएँ जंजीरों में बाँधकर चारों ओर डाल दीं ॥१७९॥

तरङ्गोत्क्षिप्तविक्षिप्ते नागवन्धैरिवाम्बुधौ।
प्रभ्रेमतुः प्रवहणे प्रयुद्ध इव ते उभे ॥१८०॥
ततः सुन्दरसेनस्तद्दृष्टवा धैर्यादिवासनात्।
चलितस्तमुवाचेदं महेन्द्रादित्यभूपतिम् ॥१८१॥
ममापुण्यैरकाण्डे वः प्रलयोऽयमुपस्थितः।
तन्न शक्नोम्यहं द्रष्टुं क्षिपाम्यात्मानमम्बुधौ ॥१८२॥
इत्युक्त्वा स्वोत्तरीयेण वद्ध्वा परिकरं द्रुतम्।
स राजपुत्रो जलधौ तत्रात्मानमपातयत् ॥१८३॥
तद्दृष्ट्वा तद्वयस्यास्ते पञ्च चण्डप्रभादयः।
महेन्द्रादित्यसहितास्तत्रैवात्मानमक्षिपन् ॥१८४॥
वाहुभ्यां च तरन्तस्ते नदीनां गतसम्भ्रमाः।
सर्वेऽपीतस्ततो जग्मुर्विक्षिप्ता वीचिवेगतः ॥१८५॥
क्षणाच्च शान्ते पवने निःशब्दस्तिमितोऽम्बुधिः।
ददौ प्रशान्तकोपस्य सज्जनस्य समानताम् ॥१८६॥
तावच्च वातेन कुतोऽप्यानीतां यानपात्रिकाम्।
प्राप सुन्दरसेनोऽत्र सहितो दृढबुद्धिना ॥१८७॥
तामारुरोह चैकेन समं तेन स्वमन्त्रिणा।
स जीवितप्रमथयोरन्तर्दोलामिवापराम् ॥१८८॥
ततो दिशमजानानः पयोमयमिवाखिलम्।
प्रभ्रष्टपौरुषः पश्यन्देवताशरणस्तदा ॥१८९॥
नावा मन्दानुकूलेन दैवेनेव नभस्वता।
सम्प्रेर्यमाणया तीरं प्रापितोऽभूत्त्रिभिर्दिनैः ॥१९०॥
ततस्तीरविलग्नायां तस्यामात्मद्वितीयकः।
स्थलं च जीविताशां च सममध्यारुरोह सः ॥१९१॥
तत्रस्थश्च समाश्वस्य दृढबुद्धिमभाषत।
उत्तीर्णोऽप्यम्बुधेरस्मि पातालादप्यधो गतः ॥१९२॥
यतो विक्रमशक्तिं तं तं च व्याघ्रपराक्रमम्।
चण्डप्रभं भीमभुजं सचिवांस्तांस्तथाविधान् ॥१९३॥
महेन्द्रादित्यनृपतिं तं चाकारणबान्धवम्।
विनाश्य सर्वानधुना का शोभा जीवितेन मे ॥१९४॥

तरंगों के द्वारा बार-बार उठाकर पटके गये वे दोनों जहाज समुद्र में उसी प्रकार डोलने लगे, जैसे युद्ध के बीच महावतों के द्वारा हाथी दौड़ाये जाते हैं ॥१८०॥

यह देखकर सुन्दरसेन धैर्यपूर्वक अपनी जगह से उठा और राजा महेन्द्रादित्य के पास जाकर बोला——॥१८१॥

"मेरे ही पाप से, असमय में, आप लोगों के लिए यह प्रलय उपस्थित हुआ है। इसे मैं देख नहीं सकता, अतः मैं अपने को समुद्र में डाले देता हूँ ॥१८२॥

यह कहकर उसने झटपट अपने उत्तरीय से कमर बाँध ली और समुद्र में कूद पड़ा ॥१८३॥

यह देखकर चन्द्रप्रभ आदि उसके पाँचों मित्र तथा राजा महेन्द्रादित्य भी वहीं समुद्र में कूद पड़े ॥१८४॥

अपनी बाँहों से समुद्र में तैरते हुए उनकी घबराहट दूर हुई; लेकिन पागल लहरों के वेग से वे सभी इधर-उधर हो गये ॥१८५॥

क्षणभर बाद ही पवन शान्त हो गया, सागर भी ठण्डा पड़कर चुप हो रहा। तब वह उस सज्जन पुरुष के समान प्रतीत होने लगा, जिसका क्रोध शान्त हो गया हो ॥१८६॥

इसी समय वायु कहीं से एक नाव बहा लाई और सुन्दरसेन भी दृढबुद्धि के सहित वहाँ पहुँच गया। १८७॥

जीवन और मृत्यु के बीच झूलनेवाले डोले के समान उस नाव पर सुन्दरसेन अपने एकमात्र मन्त्री के सहित जा चढ़ा ॥१८८॥

उन्हें दिशाओं का ज्ञान नहीं था। चारों ओर पानी-ही-पानी दीखता था। अपना पौरुष नष्ट हो जाने के कारण उन्होंने अपने को देवताओं के भरोसे छोड़ दिया ॥१८९॥

मानों भाग्य की अनुकूलता से ही मन्द वायु से प्रेरित होकर वह नाव तीसरे दिन किनारे जा लगी ॥१९०॥

नाव जब तीर पर जा लगी, तब अपने मन्त्री के साथ सुन्दरसेन ने भूमि पर पैर रखे। साथ ही, उसे जीवन की आशा भी हो आई ॥१९१॥

वहाँ उतरकर सुन्दरसेन ने अपने को सँभाला और दृढबुद्धि से कहा——"समुद्र से तो मैं निकल आया हूँ, लेकिन (लगता है कि) पाताल से भी नीचे धँस गया हूँ ॥१९२॥

"क्योंकि विक्रमशक्ति, व्याघ्रपराक्रम, चण्डप्रभ और भीमभुज जैसे अपने मन्त्रियों और अकारण ही बन्धु बन जानेवाले राजा महेन्द्रादित्य आदि को खोकर अब मेरे जीवन की क्या शोभा है?" ॥१९३-१९४॥

इत्युक्तवन्तं तं मन्त्री दृढबुद्धिर्जगाद सः।
देव धैर्यं गृहाण त्वं जाने कल्याणमस्ति नः॥१९५॥
यथा ह्यावां तथा तेऽपि तरेयुर्जातु वारिधिम्।
शक्या हि केन निश्चेतुं दुर्ज्ञाना नियतेर्गतिः॥१९६॥
इत्यादि तत्तद्यावत्तं दृढबुद्धिर्ब्रवीति सः।
तावदाजग्मतुस्तत्र स्नानार्थं तापसावुभौ॥१९७॥
तौ विलोक्य विषण्णं तं राजपुत्रमुपेत्य च।
परिपृच्छ्य च वृत्तान्तं साधू सदयमूचतुः॥१९८॥
सुमते नान्यथाभावं वलिनः पूर्वकर्मणः।
अपि देवाः क्षमाः कर्त्तुं सुखदुःखप्रदायिनः॥१९९॥
हातुमिच्छन्नतो दुःखं धीरः सुकृतमाचरेत्।
सा हि प्रतिक्रिया तस्य न शोकः शातनस्तनोः॥२००॥
तद्विषादं जहीहि त्वं शरीरं रक्ष धैर्यतः।
शरीरे सति को नाम पुरुषार्थो न सिद्ध्यति॥२०१॥
कल्याणलक्षणश्चासि भाव्यवश्यं शुभं तव।
इत्युक्त्वा तौ समाश्वास्य निन्यतुः स्वाश्रमं मुनी॥२०२॥
तत्र कांश्चिच्च दिवसान्प्रतीक्षन्स नृपात्मजः।
तस्थौ सुन्दरसेनोऽथ दृढबुद्धिसमन्वितः॥२०३॥
अत्रान्तरे च तन्मन्त्री दोर्भ्यां भीमभुजोऽम्बुधिम्।
तीर्त्वा विक्रमशक्तिश्च द्वौ पृथक्प्रापतुस्तटम्॥२०४॥
अस्मद्वदुत्तरेज्जातु सोऽपीत्याशावशाच्च तौ।
महाटवीं विविशतुश्चिन्वानौ दुःखमोहितौ॥२०५॥
शेषौ तत्सचिवौ चण्डप्रभव्याघ्रपराक्रमौ।
राजा महेन्द्रादित्यश्च तथैवोत्तीर्य वारिधिम्॥२०६॥
आर्त्ताः सुन्दरसेनं तमन्विष्याप्राप्य दुःखिताः।
अलब्धभग्नवहनास्तच्छशाङ्कपुरं ययुः॥२०७॥
ततस्तौ मन्त्रिणौ तत्र तच्च प्राक्स्थापितं बलम्।
रुदन्तो ज्ञातवृत्तान्ता ययुः स्वामलकां पुरीम्॥२०८॥
प्राप्तेष्वराजतनयेष्वनुशोचत्सु तेषु सा।
आक्रन्दैकमयी जज्ञे पुरी प्ररुदितप्रजा॥२०९॥

सुन्दरसेन के ऐसा कहने पर मन्त्री दृढबुद्धि बोला—"देव ! आप धैर्य धारण करें। मैं जानता हूँ कि हम सबका कल्याण होनेवाला है॥१९५॥

"सम्भव है, हमारी ही तरह उन लोगों ने भी समुद्र पार कर लिया हो। भाग्य की गति बड़ी दुर्ज्ञेय होती है। उसे भला कौन जान सकता है?"॥१९६॥

दृढबुद्धि इस तरह की बातें कह ही रहा था कि स्नान करने के लिए वहाँ दो तपस्वी आये ॥१९७॥

उन दोनों को उदास देखकर वे राजकुमार के पास आये। उससे सारा वृत्तान्त पूछने पर उन्हें दया आई। वे बोले—॥१९८॥

"हे सद्बुद्धि ! पूर्वजन्म के कर्म बड़े बलवान् होते हैं। वे ही सुख और दुःख देनेवाले हैं। देवता भी उसके विपरीत कुछ करने में समर्थ नहीं हैं॥१९९॥

"अतः, जो दुःख से छुटकारा चाहता है, उस धीर पुरुष को सत्कर्म करना चाहिए। दुःख का प्रतीकार उसीसे होता है—शोक से या शरीर को पीडा पहुँचाने से नहीं होता॥२००॥

"इसलिए, तुम विषाद करना छोड़ दो और धैर्यपूर्वक शरीर की रक्षा करो। शरीर के रहने पर ऐसा कौन-सा पुरुषार्थ है, जो सिद्ध नहीं होता ? ॥२०१॥

"तुम्हारे शरीर में कल्याण के चिह्न हैं, अतः निश्चय ही तुम्हारा भला होगा।" ऐसा कहकर उन तपस्वियों ने सुन्दरसेन और दृढबुद्धि को दिलासा दिया और उन्हें अपने आश्रम में ले गये ॥२०२॥

दृढबुद्धि के साथ राजकुमार सुन्दरसेन ने, प्रतीक्षा करते हुए, कुछ दिनों तक वहाँ निवास किया॥२०३॥

इस बीच सुन्दरसेन के मन्त्री भीमभुज और विक्रमशक्ति भी तैरकर समुद्र से निकल आये और किसी दूसरे तट पर जा पहुँचे॥२०४॥

दुःख से विकल वे दोनों, इस आशा से कि 'कहीं हमारी ही तरह वे भी समुद्र से उबर आये हों', उन्हें ढूँढ़ते हुए, उस महावन में घुसे॥२०५॥

उसके बाकी दोनों मन्त्री, चण्डप्रभ और व्याघ्रपराक्रम तथा राजा महेन्द्रादित्य भी, उसी तरह समुद्र से निकल आये॥२०६॥

कातर होकर उन लोगों ने सुन्दरसेन की खोज-ढूँढ़ की और उसे न पाकर वे दुःखी हुए। उन्हें अपना जहाज अच्छी हालत में मिल गया और वे शशांकपुर लौट गये॥२०७॥

तब वे दोनों मन्त्री और सुन्दरसेन के वे सैनिक, जिन्हें वह शशांकपुर में छोड़ गया था, सारा वृत्तान्त जानकर रोते हुए अपनी नगरी अलका को लौट गये ॥२०८॥

वे मन्त्री जब राजकुमार के विना ही, उसके लिए शोक करते हुए अलका लौटे, तब सारी प्रजा रो उठी और वह सारी नगरी केवल रुलाई से ही भर गई॥२०९॥

महासेननृपश्चात्र सदेवीको निशम्य तत्।
सुतोदन्तं न यत्प्राणैर्जहे तद्बलमायुषः॥२१०॥
देहत्यागोद्यतं तं च सदेवीकं न्यवारयन्।
सचिवा वचनैस्तैस्तैर्दर्शिताशोपपत्तिभिः॥२११॥
ततः स नगरीबाह्ये स्वयम्भ्वायतने नृपः।
सूनोः प्रवृत्तिं चिन्वानस्तपस्यन्नास्त सानुगः॥२१२॥
तावन्मन्दारदेवोऽपि हंसद्वीपे स भूपतिः।
जामादुर्दुहितुश्चाब्धिपातोदन्तमबुध्यत॥२१३॥
शुश्राव चालकाप्राप्तं जामातृसचिवद्वयम्।
महासेननृपं चास्थाधृतप्राणं तपः स्थितम्॥२१४॥
ततः सोऽपि सुताशोककातरो मरणोद्यमात्।
वारितो मन्त्रिभिस्तैस्तैस्तेषु न्यस्तभरो नृपः॥२१५॥
महासेननृपस्यागात्पार्श्वं तस्यालकां पुरीम्।
समदुःखस्य सहितो देव्या कन्दर्पसेनया॥२१६॥
यद्विज्ञातसुतोदन्तनिश्चयः स करिष्यति।
तदेवाहं समं तेन करिष्यामीति निश्चितः॥२१७॥
विज्ञातमन्दारवतीवृत्तान्ताधिकदुःखिना।
महासेनावनीशेन समागम्यान्वशोचत॥२१८॥
तेनैव सह तत्रासीत्तपस्यन्नियतेन्द्रियः।
मिताशी दर्भशयनो हंसद्वीपेश्वरोऽपि सः॥२१९॥
एवं धात्रा विकीर्णेषु तेषु सर्वेष्वितस्ततः।
मारुतेनेव पर्णेषु प्रस्थाय स्वाश्रमात्ततः॥२२०॥
दैवात्सुन्दरसेनोऽत्र मतङ्गर्ष्याश्रमस्य सः।
तस्य प्रापान्तिकं यत्र सा मन्दारवती स्थिता॥२२१॥
तत्र नानारसानेकपरिपक्वफलानतैः।
निरुद्धतीरं तरुभिर्ददर्शाच्छजलं सरः॥२२२॥
श्रान्तस्तस्मिन्कृतस्नानो भुक्तस्वादुफलस्ततः।
दृढबुद्धिसखो गत्वा प्रापैकां वननिम्नगाम्॥२२३॥
तस्यास्तीरेण गच्छंश्च लिङ्गायतनपार्श्वतः।
स पुष्पावचयव्यग्रा दृष्टवान्मुनिकन्यकाः॥२२४॥

राजा महासेन और उनकी रानी ने पुत्र के सम्बन्ध में ऐसा संवाद पाकर भी जो प्राणत्याग नहीं किया, केवल आयु की प्रबलता ही उसका कारण थी।।२१०।।

जब वे दोनों शरीर-त्याग के लिए उद्यत हुए, तब उनके मन्त्रियों ने अनेक प्रकार की बातें कहकर उन्हें (पुत्र के जीवित रहने की सम्भावना की) आशा दिलाई और मरने से रोक लिया ।।२११।।

तब महासेन, नगर से बाहर, स्वयम्भू के मन्दिर में चले गये और वहाँ तपस्या करते तथा अपने पुत्र की खोज-खबर लेते हुए, अपने अनुचरों के सहित रहने लगे।।२१२।।

उधर हंसद्वीप में राजा मन्दारदेव ने भी यह संवाद पाया कि उनकी कन्या तथा जामाता समुद्र में डूब गये हैं।।२१३।।

उन्होंने यह भी सुना कि उनके जामाता के दो मन्त्री अलका पहुँचे गये हैं और राजा महासेन, आशा के कारण प्राण धारण किये हुए तपस्या कर रहे हैं।।२१४।।

कन्या के शोक से मन्दारदेव भी मरने को उद्यत हुए, लेकिन उन्हें उनके मन्त्रियों ने तरह-तरह की बातों से भरोसा दिलाकर मरने से रोक लिया।।२१५।।

राजा मन्दारदेव भी अपनी रानी कन्दर्पसेना के सहित समान दुःखवाले महासेन के पास उनकी नगरी अलका में चले गये।।२१६।।

उन्होंने निश्चय किया कि पुत्र का वृत्तान्त जानकर महासेन जो कुछ करेंगे, मैं भी उनके साथ-साथ वैसा ही करूँगा ।।२१७।।

मन्दारवती का वृत्तान्त जानकर राजा महासेन का दुःख और बढ़ गया। मन्दारदेव से मिलकर उन्होंने अधिक शोक किया।।२१८।।

हंसद्वीप के राजा मन्दारदेव, महासेन के साथ ही वहाँ रहने लगे। इन्द्रियों का नियमन और मित भोजन करते हुए वे कुशासन पर सोते और तपस्या करते रहे।।२१९।।

जैसे वायु सूखे पत्तों को इधर-उधर बिखेर देती है, उसी तरह विधाता ने उन सबको जहाँ-तहाँ बिखेर दिया, तो संयोग से एक दिन सुन्दरसेन अपने आश्रम से चलकर मतंग ऋषि के उस आश्रम में पहुँचे, जहाँ मन्दारवती रहती थी।।२२०-२२१।।

वहाँ उसने स्वच्छ जलवाले एक सरोवर को देखा। अनेक प्रकार के स्वादवाले, बहुत-से पके फलों के भार से झुके वृक्षों ने उसके तटों को ढक रखा था।।२२२।।

सुन्दरसेन थका हुआ था। उसने सरोवर में स्नान किया, पके हुए स्वादिष्ठ फल खाये और दृढबुद्धि के साथ चलता हुआ वन के एक झरने के निकट पहुँचा।।२२३।।

झरने के किनारे-किनारे चलते हुए उसने एक शिवालय के पास, फूल चुनने में खोई हुई मुनिकन्याओं को देखा।।२२४।।

तासां मध्ये ददर्शैकां कन्यां लोकैकसुन्दरीम्।
कान्त्या प्रकाशयन्तीं तज्ज्योत्स्नयेवाखिलं वनम्॥२२५॥
विलोकितेन कुर्वाणां फुल्लनीलोत्पला दिशः।
तन्वतीं चरणन्यासैरवनौ नलिनीवनम्॥२२६॥
केयं सहस्रनयनप्रेक्षणीया किमप्सराः।
वनश्रीरथवा पुष्पलग्नाग्रकरपल्लवा॥२२७॥
बहु दिव्याङ्गनासर्गसिद्धाभ्यासेन वेधसा।
एतस्या निर्मितमिदं नूनमत्यद्भुत्तं वपुः॥२२८॥
तस्याश्चानुहरत्येषा चित्रदृष्टाकृतेरहो।
प्रियाया मम मन्दारवत्याः सैव भवेन्नु किम्॥२२९॥
कथं वैतत्क्व सा हंसद्वीपे क्वैतद्वनान्तरम्।
तन्न जानीमहे केयं कुतः कुत्रेह भामिनी॥२३०॥
इति राजसुतस्तं च दृढबुद्धिं जगाद सः।
दृढबुद्धिश्च दृष्ट्वा तां वरकन्यां तदाब्रवीत्॥२३१॥
अन्यैव देव काप्यस्या वनपुष्पमयेष्वपि।
हारकाञ्चीकलापादिभङ्गिराभरणेष्वियम्॥२३२॥
न चेदं जायते रूपं सौकुमार्यं च कानने।
तद्दिव्या राजकन्या वा काप्येषा नर्षिकन्यका॥२३३॥
तत्तिष्ठावः क्षणं ज्ञातुमिहेति दृढबुद्धिना।
उक्ते तौ तस्थतुस्तत्र पादपान्तरितावुभौ॥२३४॥
तावच्चोच्चितपुष्पास्ता मुनिकन्यास्तया सह।
वरकन्यकया स्नातुं सरितं तामवातरन्॥२३५॥
तत्र तासु जलक्रीडाप्रवृत्तासु विधेर्वशात्।
ग्राहेणागत्य जगृहे सैवात्र वरकन्यका॥२३६॥
तद्विलोक्यैव तत्कालं कन्यास्तास्त्रस्तविह्वलाः।
चक्रन्दुरार्तास्त्रायध्वं त्रायध्वं वनदेवताः॥२३७॥
एषा हि मन्दारवती स्नान्ती नद्यामशङ्कितम्।
ग्राहेणागत्य तरसा गृहीता हा विपद्यते॥२३८॥
एतच्छ्रुत्वैव किं सैव स्यात्प्रियेति प्रधाव्य सः।
द्रुतं सुन्दरसेनस्तं ग्राहं क्षुरिकयावधीत्॥२३९॥

उनमें से एक कन्या त्रैलोक्य की अनूठी सुन्दरी थी। वह चाँदनी के समान अपनी कान्ति से सारे वन को जगमगा रही थी। २२५॥

उसकी दृष्टि पड़ते ही दिशाएँ, खिले हुए नील कमल के समान दिखने लगती थीं। उसके पैर पड़ते ही धरती पर नलिनी-वन खिल उठता था॥२२६॥

"यह कौन है ? क्या यह सहस्र नयनोंवाले इन्द्र के देखने योग्य कोई अप्सरा है ? अथवा यह वनदेवी है, जिसके कर-पल्लवों में फूल लगे हुए हैं ? ॥२२७॥

"अनेक अप्सराओं का निर्माण करने से जब ब्रह्मा का अभ्यास पक्का हो गया, तब क्या उन्होंने इसका यह अपूर्व शरीर बनाया है ? ॥२२८॥

"अरे ! चित्र में मैंने अपनी प्रिया मन्दारवती की जो आकृति देखी थी, यह तो उसी के समान है। कहीं यह वही तो नहीं है ? ॥२२९॥

"लेकिन ऐसा कैसे हो सकता है ? वह कहाँ हंसद्वीप में है और यह इस वन के बीच। इसलिए मैं नहीं जानता कि यह कौन है, कहाँ की है और यहाँ कैसे आ पहुँची है।"॥२३०॥

राजकुमार ने जब दृढबुद्धि से ये बातें कहीं, तब उस उत्तम कन्या को देखकर दृढबुद्धि ने भी कहा--॥२३१॥

"देव ! यह कोई और ही जान पड़ती है; क्योंकि यद्यपि इसने फूलों से शृंगार किया है, पर उसकी भंगिमा हार, करधनी और वेणी आदि आभूषणों के ही समान है॥२३२॥

"यह रूप और यह सुकुमारता वन में नहीं उत्पन्न हुआ करती; इसलिए या तो यह स्वर्ग की कोई अप्सरा है अथवा कोई राजकन्या--ऋषिकन्या तो कदापि नहीं है॥२३३॥

"अतः, हम लोग यह भेद जानने के लिए थोड़ी देर यहीं ठहरें।" दृढबुद्धि के ऐसा कहने पर वे वहीं, एक वृक्ष की ओट में छिपकर, रुके रहे॥२३४॥

इस बीच वे मुनिकन्याएँ फूल चुनकर, स्नान करने के लिए, उस श्रेष्ठ कन्या के सहित, नदी में उतरीं॥२३५॥

वे जलक्रीडा कर ही रही थीं कि विधि के विधान से एक ग्राह ने आकर उस श्रेष्ठ कन्या को पकड़ लिया॥२३६॥

यह देखते ही वे कन्याएँ बहुत घबरा गईं और विकल होकर पुकारने लगीं कि 'हे वनदेवताओ ! रक्षा करो, रक्षा करो। यह मन्दारवती शंका-रहित नदी में स्नान कर रही थी, इतने ही में ग्राह ने आकर बलपूर्वक उसे पकड़ लिया है और यह मरी जा रही है.॥२३७-२३८॥

यह सुनकर सुन्दरसेन ने सोचा कि 'क्या यह मेरी वह प्रिया ही है ?' और दौड़कर उसने छूरे से शीघ्र ही उस ग्राह को मार डाला॥२३९॥

मृत्योरिव मुखात्तस्माद्द्रुतमुत्क्षिप्य रोधसि।
आश्वासयामास च तां स मन्दारवतीं ततः॥२४०॥
सापि तीर्णभया दृष्ट्वा सुभगं तमचिन्तयत्।
महात्मा प्राणदः कोऽयं मम भाग्यैरिहागतः॥२४१॥
चित्रं सुसदृशश्चैष चित्रदृष्टस्य तस्य मे।
प्राणेशस्यालकानाथतनयस्य सुजन्मनः॥२४२॥
अपि नाम स एव स्याद्धिग्धिग्दुश्चिन्तितं मम।
ईदृशः स विदेशस्थः शान्तं मा भूत्कदाचन॥२४३॥
तन्नान्यपुरुषोपान्ते स्थातुं युक्तं ममाधुना।
व्रजामि तदितः स्वस्ति भवत्वस्मै महात्मने॥२४४॥
इति सञ्चिन्त्य मन्दारवती प्राह स्म ताः सखीः।
प्रणम्यैतं महाभागमेत यामोऽधुना वयम्॥२४५॥
तच्छ्रुत्वा वहुलाधारो नामश्रवणमात्रतः।
प्रागनुच्छिन्नसन्देहो राजपुत्रः स तत्सखीम्॥२४६॥
एकां सुन्दरसेनोऽत्र पप्रच्छाख्यायतां शुभे।
कस्यात्मजा कीदृशीयं सखी वः कौतुकं हि मे॥२४७॥
इति तं पृष्टवन्तं सा मुनिकन्यैवमभ्यधात्।
राज्ञो मन्दारदेवस्य हंसद्वीपपतेरियम्॥२४८॥
सुता मन्दारवत्याख्या कुमारी राजसूनवे।
दातुं सुन्दरसेनाय नीयमानालकां पुरीम्॥२४९॥
भग्नप्रवहणाम्भोधावुत्क्षिप्ता वीचिभिस्तटे।
आनीतेह किल प्राप्य मतङ्गमुनिनाश्रमम्॥२५०॥
एवमुक्ते तया हर्षविषादाकुलितं सखा।
नृत्यन्सुन्दरसेनं तं दृढबुद्धिरुवाच सः॥२५१॥
दिष्ट्याद्य मन्दारवती देवीलाभेन वर्धसे।
सैवैषा हि न यास्माकं मनोरथपथेऽप्यभूत्॥२५२॥
इत्युक्त्वा सा सखी तस्याः पृच्छन्तीर्मुनिकन्यकाः।
अबोधयत्तं वृत्तान्तं ताः सखीं तामनन्दयन्॥२५३॥
ततः सुन्दरसेनस्य हार्यपुत्रेत्युदीर्य सा।
पपात मन्दारवती रुदती तस्य पादयोः॥२५४॥

मानों मृत्यु के मुख से निकाल लाया हो, इस तरह उस ग्राह से छुड़ाकर सुन्दरसेन झटपट मन्दारवती को किनारे पर ले आया और उसे आश्वस्त किया ॥२४०॥

भय से मुक्त होकर मन्दारवती ने भी उस सुन्दर पुरुष (सुन्दरसेन) को देखकर सोचा—"मुझे प्राणदान करनेवाला यह महात्मा कौन है, जो मेरे भाग्य से यहाँ आ पहुँचा है? ॥२४१॥

"चित्र में मैंने अपने जिन प्राणेश्वर को देखा था, जो अलका के राजा के पुत्र तथा उत्तम कुल में उत्पन्न थे, इस पुरुष की आकृति उन्हीं के समान है ॥२४२॥

"कहीं ये वही तो नहीं हैं? लेकिन छिः, मैं यह कैसी बुरी बात सोच रही हूँ! भगवान् न करे, ऐसे पुरुष कभी इस प्रकार विदेश में जा पड़ें ॥२४३॥

"तो अब मुझे पर-पुरुष के पास न ठहरना चाहिए। अतः, मैं अब यहाँ से चलूँ। इस भले आदमी का कल्याण हो" ॥२४४॥

यह सोचकर मन्दारवती ने अपनी सखियों से कहा—"इन सज्जन पुरुष को प्रणाम करके अब हमलोग यहाँ से चलें" ॥२४५॥

मन्दारवती का नाम सुनने से ही जिसे बहुत आधार मिल गया था, लेकिन जिसका पहले का सन्देह दूर नहीं हुआ था, उस सुन्दरसेन ने उसकी सखियों में से एक से पूछा—"शुभे! मुझे यह बतलाइए कि आपकी ये सखी किसकी कन्या है और किस कुल में उत्पन्न हुई है? मुझे इस सम्बन्ध में बड़ा कौतूहल है" ॥२४६-२४७॥

राजकुमार के पूछने पर उस मुनिकन्या ने कहा—"यह हंसद्वीप के राजा मन्दारदेव की कुमारी कन्या है। इसका नाम मन्दारवती है। राजकुमार सुन्दरसेन से ब्याहने के लिए इसे अलकापुरी को ले जाया जा रहा था। लेकिन, जहाज टूट गया और लहरों ने इसे किनारे पर डाल दिया। मतंग मनि ने इसे वहाँ पाया, तो वे इसे अपने आश्रम में ले आये" ॥२४८—२५०॥

उसकी यह बात सुनकर सुन्दरसेन का सखा दृढबुद्धि प्रसन्नता तथा विषाद से विकल होकर बोला—"आज आपने देवी मन्दारवती को पा लिया। आपकी जय हो। क्या ये वही नहीं हैं, जिनके बारे में हम लोग सोचते रहे थ?" ॥२५१-२५२॥

दृढबुद्धि के ऐसा कहने पर उसकी सखी मुनिकन्याओं ने जब पूछताछ की, तब उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उनकी उस सखी (मन्दारवती) को आनन्दित किया ॥२५३॥

अनन्तर, 'हा आर्यपुत्र' कहकर रोती हुई मन्दारवती सुन्दरसेन के पैरों पर जा गिरी ॥२५४॥

सोऽप्याश्लिष्य रुरोदैतां रुदतोस्तत्र चैतयोः।
अरुदन्करुणार्द्राणि काष्ठान्यपि तृणान्यपि॥२५५॥
गत्वाथ मुनिकन्याभिस्ताभिः स श्रावितो द्रुतम्।
आजगाम मुनिस्तत्र मतङ्गो यमुनान्वितः॥२५६॥
सोऽत्र सुन्दरसेनं तमाश्वास्य चरणानतम्।
मन्दारवत्या सहितं निनाय निजमाश्रमम्॥२५७॥
तदहश्च तदातिथ्यविश्रान्तं जातनिर्वृतिम्।
अन्येद्युः स तमाह स्म राजपुत्रं महामुनिः॥२५८॥
श्वेतद्वीपे मया पुत्र गन्तव्यं कार्यतोऽधुना।
तन्मन्दारवतीयुक्तो गच्छ त्वमलकां प्रति॥२५९॥
तत्र राजसुतामेतां परिणीयानुपालयेः।
सुतेति प्रतिपन्ना हि तुभ्यमेषा मयार्पिता॥२६०॥
सुचिरं चानया सार्धं पृथ्वीराज्यं करिष्यसि।
सचिवाश्च निजान्सर्वानचिरात्तानवाप्स्यसि॥२६१॥
इत्युक्त्वा सवधूकं तमामन्त्र्य नभसा ययौ।
मुनिर्यमुनया साकं दुहित्रा स स्वतुल्यया॥२६२॥
ततः सुन्दरसेनोऽपि स मन्दारवतीयुतः।
दृढबुद्धिसहायश्च प्रोच्चचालाश्रमात्ततः॥२६३॥
प्राप्य वारिनिधेस्तीरं ददर्श निकटागतम्।
केनाप्यधिष्ठितं यूना वणिजा वहनं लघु॥२६४॥
ययाचे चाश्रयं तस्मिन्नध्वसौकर्यलोभतः।
दृढबुद्धिमुखेनारात्तत्पतिं तं वणिक्सुतम्॥२६५॥
सोऽपि तीरे तथेत्यस्य वहनं तदढौकयत्।
तां मन्दारवतीं पश्यन्कुवणिक्स्मरमोहितः॥२६६॥
ततः सुन्दरसेनोऽत्र तामारोप्याग्रतः प्रियाम्।
तटस्थितः सन्नारोढुमात्मना यावदिच्छति॥२६७॥
तावत्स कर्णधारस्य संज्ञां कृत्वा वणिग्द्रुतम्।
वहनं चालयामास परस्त्रीलोलुपः शठः॥२६८॥
क्रन्दद्राजसुता तच्च क्षणेनादृष्टिगोचरम्।
अभूत्सुन्दरसेनस्य वहनं तस्य पश्यतः॥२६९॥

सुन्दरसेन भी उसे अंक में भरकर रोने लगा। वहाँ उन दोनों के रोने से, करुणा से आर्द्र काठ और घास-पात भी रोने लगे ॥२५५॥

उन मुनिकन्याओं ने जब शीघ्र ही जाकर मतंग मुनि से सारी बातें कहीं, तब वे, यमुना के साथ वहाँ आये ॥२५६॥

वहाँ पैरों पर झुके सुन्दरसेन को दिलासा देकर, मन्दारवती के सहित, वे उसे अपने आश्रम में लिवा लाये ॥२५७॥

उस दिन मुनि के आतिथ्य से सुन्दरसेन की थकावट जाती रही और वह सन्तुष्ट हुआ। अगले दिन उन मुनि ने उससे कहा—॥२५८॥

"वत्स! अब मुझे कार्यवश श्वेतद्वीप जाना है; अतः तुम भी मन्दारवती के साथ अलकापुरी चले जाओ ॥२५९॥

"वहाँ इस राजकन्या से विवाह करके तुम इसका पालन करना। मैंने इसे बेटी माना है, अतः मैं इसे तुमको सौंपता हूँ" ॥२६०॥

"इसके साथ तुम बहुत दिनों तक राज्य करोगे और शीघ्र ही अपने सारे मन्त्रियों को भी पा जाओगे" ॥२६१॥

यह कहकर उन्होंने मन्दारवती के सहित सुन्दरसेन से विदा ली और अपनी कन्या यमुना के साथ, जो योगबल में उन्हीं के समान थी, आकाशमार्ग से चले गये ॥२६२॥

तब सुन्दरसेन भी, मन्दारवती और मन्त्री दृढबुद्धि के साथ, आश्रम से चल पड़ा ॥२६३॥

समुद्र के किनारे पहुँचकर उसने देखा कि किसी तरुण वणिक् का एक छोटा जहाज निकट आया हुआ है ॥२६४॥

मार्ग की सुगमता के लोभ से उसने दृढबुद्धि के द्वारा शीघ्र ही उस वणिक्-पुत्र से उसके जहाज में स्थान की याचना की ॥२६५॥

मन्दारवती को देखकर वह दुष्ट वणिक् काम-मोहित हो गया और दृढबुद्धि की बात मानकर उसने जहाज किनारे लगाया ॥२६६॥

तब सुन्दरसेन ने पहले अपनी प्रिया को जहाज पर चढ़ा दिया। अभी वह भूमि पर ही था और जहाज पर चढ़ने ही जा रहा था कि उस दुष्ट और पराई स्त्री के लोभी वणिक् ने माँझियों को इशारा करके जहाज खुलवा दिया ॥२६७-२६८॥

राजकुमारी (जहाज पर) रोती रही और सुन्दरसेन के देखते-ही-देखते, क्षण भर में, वह जहाज आँखों से ओझल हो गया ॥२६९॥

हा धिक्चौरैः प्रमुषितोऽस्मीत्याक्रन्दन्पपात सः।
विलपंश्च चिरं सोऽत्र जगदे दृढबुद्धिना ॥२७०॥
उत्तिष्ठ मुञ्च वैक्लव्यं नायं वीरोचितः क्रमः।
एहि चौरं तमन्वेष्टुं गच्छावोऽनेन वर्त्मना ॥२७१॥
आपत्काले च कष्टेऽपि नोत्साहस्त्यज्यते बुधैः।
. . . . ॥२७२॥
इति प्रबोधितस्तेन कथञ्चिद्दृढबुद्धिना।
तीरात्सुन्दरसेनोऽब्धेरुत्थाय प्रस्थितोऽभवत् ॥२७३॥
गच्छन्क्रमाच्च हा देवि हा मन्दारवतीति सः।
विलपन्साश्रुरनिशं सन्तप्तो विरहाग्निना ॥२७४॥
निराहारः सवाष्पैकदृढबुद्धिपरिच्छदः।
विवेश सोन्माद इव व्यामोहेन महद्वनम् ॥२७५॥
न चात्र गणयामास सख्युस्तस्य वचो हितम्।
तत्र तत्राभ्यधावत्तु केवलं दयितामयः ॥२७६॥
उन्निद्रपुष्पाभरणा वणिक्चौरात्पलायिता।
आगता हि प्रिया सा स्यादिति फुल्लासु वल्लिषु ॥२७७॥
भयात्सरोनिमग्ना किं वदनं पक्ष्मलेक्षणम्।
उन्नमय्येक्षते सा मामिति चाब्जेषु सालिषु ॥२७८॥
किं व्याहरति सैषात्र मुग्धा मां मञ्जुभाषिणी।
इति पत्रलताच्छन्नकोकिलाकूजितेष्वपि ॥२७९॥
एवं प्रतिपदं मृह्यन्यथार्केण तथेन्दुना।
ताप्यमानः स बभ्राम तुल्यनक्तन्दिनश्चिरम् ॥२८०॥
कथञ्चिन्निर्गतस्तस्माद्वनात्सदृढबुद्धिकः ।
राजपुत्रोऽथ सम्प्राप मार्गभ्रष्टो महाटवीम् ॥२८१॥
उदग्रखड्गविषमां सिंहाधिष्ठानभीषणाम्।
सेनामिव सुदुर्दर्शां दस्युसेनानिषेविताम् ॥२८२॥
तां गाहमानः सुलभानेकापायां निराश्रयाम्।
दुर्दशामिव स प्राप पुलिन्दैरुद्यतायुधैः ॥२८३॥
भगवत्युपहारार्थं चिन्वद्भिः पुरुषान्पशून्।
विन्ध्यकेतोः पुलिन्देन्द्रस्याज्ञया तन्निवासिनः ॥२८४॥

"हाय, हाय, लुटेरों ने मुझे लूट लिया" यह कहकर सुन्दरसेन भूमि पर गिर पड़ा और देर तक रोता रहा। तब दृढबुद्धि ने उससे कहा—॥२७०॥

"उठो, कायरता छोड़ो। यह वीरों के योग्य व्यवहार नहीं है। चलो, हम लोग इस मार्ग से चोरों को ढूँढ़ें। बुद्धिमान् लोग विपत्ति या कष्ट में पड़कर भी उत्साह नहीं त्याग देते" ॥२७१-२७२॥

इस तरह दृढबुद्धि के समझाने-बुझाने पर सुन्दरसेन किसी तरह समुद्र के तट से उठा और चल पड़ा॥२७३॥

मार्ग में चलता हुआ विरह से सन्तप्त सुन्दरसेन रात-दिन रोता रहता और 'हा देवि ! हा मन्दारवती !' पुकारता रहता था॥२७४॥

उसने आहार त्याग दिया था, वह रोता रहता था, केवल एक दृढबुद्धि ही उसके साथ रह गया था। विक्षिप्त होकर उसने उन्मत्त के समान एक विशाल वन में प्रवेश किया॥२७५॥

वह अपने मित्र की उचित बातों पर भी ध्यान न देता था। केवल अपनी पत्नी के ध्यान में खोया हुआ इधर-उधर दौड़ता चलता था॥२७६॥

जब वह किसी फूलोंवाली लता को देखता, तब कह उठता—'उस चोर वणिक् के पंजे से छूटकर आई हुई शायद यह मेरी प्रिया है, जिसने खिले हुए फूलों के आभरण पहन रखे हैं'॥ २७७॥

भौरों से युक्त कमलों को देखकर कहता—'क्या वह भय से सरोवर में जा छिपी है और अपनी बरौनियोंवाली आँखें उठाकर मुझे देख रही है?'॥२७८॥

लता-पत्रों की ओट में छिपी कोयल की कूक सुनकर कहता—'क्या वह मुग्धा और मधुर बोलनेवाली (मन्दारवती) मुझे ही पुकार रही है?'॥२७९॥

इस प्रकार, पग-पग पर बेसुध होता हुआ और जैसे सूर्य से, वैसे ही चन्द्रमा से भी ताप पाता हुआ वह भटकता रहा। उसके लिए रात और दिन एक समान हो गये थे॥२८०॥

दृढबुद्धि के साथ सुन्दरसेन किसी तरह उस वन से बाहर निकला, तो राह भूलकर एक भयंकर जंगल में जा पहुँचा॥२८१॥

वह जंगल, तनी हुई तलवार के समान सींगोंवाले गैंडों से विषम था, सिहों के निवास के कारण भयानक था, सेना के समान देखने में भयानक था और वहाँ डाकुओं का दल रहता था॥२८२॥

उस वन में आश्रय-स्थल दुर्लभ था, किन्तु आपत्तियाँ सुलभ थीं। वहाँ, माग चलते हुए सुन्दरसेन को हथियार उठाकर आते हुए कुछ भीलों ने दुर्दशा के समान घेर लिया॥२८३॥

वहाँ के निवासी और भीलों के राजा विन्ध्यकेतु की आज्ञा से, भगवती पर चढ़ाने के लिए वे मनुष्य-बलि की खोज में निकले थे॥२८४॥

विदेशो विरहक्लेशो नीचात्परिभवोऽपि सः।
अनाहारोऽध्वसन्ताप इति पञ्चाग्निविप्लवे ॥२८५॥
असृजद्दस्युसम्पातं षष्ठमग्निमहो विधिः।
राजपुत्रस्य तस्यात्र धैर्यस्यान्तमवेक्षितुम् ॥२८६॥
स चात्मना द्वितीयस्तान्ग्रहणार्थं प्रधावितान्।
पृषत्कवर्षिणो दस्यून्वहून्क्षुरिकयावधीत् ॥२८७॥
तद्बुद्ध्वा प्रैष्यत वलं राज्ञान्यद्विन्ध्यकेतुना।
ततोऽपि सुवहूंश्चौरान्युद्धज्ञो निजघान सः ॥२८८॥
ततः स सवयस्योऽपि व्रणितक्लान्तमूर्च्छितः।
वद्ध्वा कारागृहे नीत्वा शवरैस्तैर्निचिक्षिपे ॥२८९॥
तत्र कीटोत्कराकीर्णे जालकारालयाविले।
सूच्यमानाहिसंचारे निर्मोकैर्गर्त्तलम्विभिः ॥२९०॥
गुल्फदघ्नोच्छलद्धूलावाखुखातविलोल्वणे ।
अन्तःक्षिप्तस्थितानेकभीतापन्नजनाकुले ॥२९१॥
निरयाणामिवोत्पत्तिधाम्नि द्वौ तावपश्यताम्।
मन्त्रिणौ तद्वदेवादौ वद्धानीतस्थितावुभौ ॥२९२॥
यौ तौ प्रविशतां तद्वदटवीं तीर्णवारिधी।
तमन्वेष्टुं प्रभुं भीमभुजविक्रमशक्तिकौ ॥२९३॥
तौ रुदन्तौ परिज्ञाय पेपतुस्तस्य पादयोः।
सोऽपि तौ प्रत्यभिज्ञातौ कण्ठे वाष्पाकुलोऽग्रहीत् ॥२९४॥
ततः शतगुणीभूतदुःखास्तेऽन्योन्यदर्शनात्।
आश्वासयद्भिरपरैर्रुचिरे वन्धनस्थितैः ॥२९५॥
कृतं दुःखेन किं शक्यं पूर्वकर्मातिवर्त्तितुम्।
किं न पश्यथ सर्वेषां सह मृत्युमुपस्थितम् ॥२९६॥
आगामिन्यां चतुर्दश्यां पुलिन्दक्ष्माभृतामुना।
देव्याः पशूपहारार्थं वयमेते हि सम्भृताः ॥२९७॥
तत्किं शुचा गतिश्चित्रा जन्तुषु क्रीडतो विधेः।
तदभद्रं यथा तद्वद्द्याद्भद्रं स एव वः ॥२९८॥
इत्युक्ता वन्धनस्थैस्ते वद्धास्तत्रावतस्थिरे।
कष्टं निरनुरोधत्वमापदां सुमहत्स्वपि ॥२९९॥

परदेश, विरह की पीडा, नीच वणिक् से पराजय, अनाहार तथा मार्ग चलने की थकावट इस पंचाग्नि में तो सुन्दरसेन पहले से ही दग्ध हो रहा था; अब शायद उसके धैर्य का अन्त देखने के लिए विधाता ने डाकुओं के आक्रमण के रूप में छठी अग्नि को भी सिरज दिया ॥२८५-२८६॥

बाणों की वर्षा करते हुए वे भील इन दोनों को पकड़ने के लिए दौड़े; पर सुन्दरसेन ने जिसके साथ केवल दृढबुद्धि ही था, उनमें से बहुतों को अपनी कटार से मार डाला ॥२८७॥

यह जानकर राजा विन्ध्यकेतु ने दूसरी सेना भेजी; पर युद्ध में निपुण सुन्दरसेन ने उनमें से भी बहुतों को मार डाला ॥२८८॥

लेकिन इसके बाद घायल हो जाने और थक जाने के कारण सुन्दरसेन अपने मित्र के सहित मूर्च्छित हो गया। तब भीलों ने उन दोनों को बाँध लिया और ले जाकर कारागार में डाल दिया ॥२८९॥

वहाँ कीड़े-मकोड़े भरे हुए थे, मकड़ों ने जाल तान रखे थे, गड्ढों में लटके केंचुल से जाहिर था कि वहाँ साँप भी आते-जाते थे ॥२९०॥

वहाँ पिण्डलियों तक धूल जमी हुई थी, चूहों ने बिल खोद रखे थे और पहले से ही उसमें बहुत-से लोग पड़े हुए थे, जो डरे हुए, विपन्न और विकल थे ॥२९१॥

वह स्थान नरक की जन्मभूमि के समान था। सुन्दरसेन ने वहाँ अपने दो मन्त्रियों, भीमभुज और विक्रमशक्ति को देखा, जो समुद्र से निकलकर अपने स्वामी को ढूंढ़ने हुए, उन्हीं की तरह जंगल में आ पहुँचे थे और वैसे ही बाँधकर यहाँ डाल दिये गये थे ॥२९२-२९३॥

सुन्दरसेन को देखकर वे दोनों रोते हुए उसके पैरों पर जा गिरे। उन्हें पहचानकर सुन्दरसेन की आँखें भी भर आई और उसने उन्हें गले से लगा लिया ॥२९४॥

एक दूसरे को देखकर उनका दुःख सौगुना बढ़ गया। तब बन्धन में पड़े हुए दूसरे बन्दियों ने उन्हें दिलासा देते हुए कहा––॥२९५॥

"दुःख करना व्यर्थ है। पूर्वजन्मों के किये को टाला नहीं जा सकता। क्या आप यह नही देखते कि हम सबकी साथ-साथ मृत्यु होनेवाली है? ॥२९६॥

"भीलों का यह राजा आगामी चतुर्दशी को देवी के सम्मुख प्राणियों की बलि देनेवाला है। इसके लिए उसने हम सबको यहाँ एकत्र किया है ॥२९७॥

"फिर शोक करने से क्या लाभ है? प्राणियों से खिलवाड़ करनेवाले विधाता की गति विचित्र है। अतः, जैसे वह अमंगल करता है, वैसे ही आप लोगों का कल्याण भी कर सकता है" ॥२९८॥

बन्दियों के ऐसा कहने पर बँधे हुए ये चारों भी वहाँ पड़े रहे। खेद है कि आपत्तियाँ बड़े लोगों का भी कुछ खयाल नहीं करतीं ॥२९९॥

प्राप्तायां च चतुर्दश्यामत्र राजाज्ञया ततः।
ते सर्वेऽप्युपहारार्थमनीयन्ताम्बिकागृहम् ॥३००॥
दीपज्वालाचलज्जिह्वं घण्टालीदन्तमालया।
व्यासक्तवीरशिरसा घोरं मृत्युमुखं यथा ॥३०१॥
तत्र सुन्दरसेनस्तां दृष्ट्वा देवीं प्रणम्य सः।
भक्तिप्रह्वेन मनसा स्तुवन्नेवं व्यजिज्ञपत् ॥३०२॥
दारितोद्दामदैत्येन त्रिशिखेनास्त्रवर्षिणा।
शमितासुरसन्तापे प्रणताभयदायिनि ॥३०३॥
निर्वापय प्रसन्नेन लोचनेनामृतश्च्युता।
दृष्ट्वा मां दुःखदावाग्निदग्धं देवि नमोऽस्तु ते ॥३०४॥
इति राजसुते तस्मिन्व्याहरत्येव तत्र सः।
आगात्पूजयितुं देवीं विन्ध्यकेतुः पुलिन्दराट् ॥३०५॥
तं दृष्ट्वैव परिज्ञाय भिल्लराजं त्रपानतः।
स तान्सुन्दरसेनः स्वान्वयस्यान्स्वैरमब्रवीत् ॥३०६॥
अहो सैष पुलिन्देन्द्रो विन्ध्यकेतुरुपैति यः।
तातस्य पार्श्वे सेवार्थं भुङक्ते चैतां महाटवीम् ॥३०७॥
तद्यदस्तु न वक्तव्यमस्माभिरिह कि चन।
श्रेयान्हि मानिनो मृत्युर्नेदृगात्मप्रकाशनम् ॥३०८॥
इति मन्त्रयते यावत्सखिभिः स नृपात्मजः।
तावत्स विन्ध्यकेतुः स्वान्राजा भृत्यानभाषत ॥३०९॥
अरे प्रदर्शयत तं प्रवीरं मे महापशुम्।
हताः सुबहवो योधा गृह्यमाणेन येन मे ॥३१०॥
तच्छ्रुत्वैव स शुष्कासृग्दिग्धो व्रणितधूसरः।
तस्य सुन्दरसेनोऽग्रे तद्भृत्यैः प्रापितोऽभवत् ॥३११॥
स तं दृष्ट्वा पुलिन्देन्द्रः परिज्ञाय मनागिव।
ब्रूहि कस्त्वं कुतश्चेति पप्रच्छ परिशङ्कितः ॥३१२॥
योऽहं यतः कुरुध्वं यत्प्रस्तुतं किमनेन वः।
इति सुन्दरसेनोऽपि भिल्लेन्द्रं प्रत्युवाच तम् ॥३१३॥
ततस्तं सम्यगालापात्प्रत्यभिज्ञाय सम्भ्रमात्।
हा हेति जल्पन्नवनौ विन्ध्यकेतुः पपात सः ॥३१४॥

जब चतुर्दशी आई, तब राजा की आज्ञा से बलि के निमित्त वे सभी भवानी के मन्दिर में लाये गये ॥३००॥

यह मन्दिर भयानक मृत्यु-मुख के समान था, जिसमें दीपकों की लौ लपलपाती जीभ के समान और घण्टों का समूह दाँतों की पंक्ति के समान जान पड़ता था तथा जहाँ वीरों के मस्तक रँगे हुए थे ॥३०१॥

उस मन्दिर में देवि को देखकर सुन्दरसेन ने प्रणाम किया और भक्ति से विनत मन से देवी की स्तुति करते हुए यह प्रार्थना की ॥३०२॥

"हे देवि ! आपने अपने उस त्रिशूल से, जिससे रक्त टपक रहा था, दुर्दान्त दैत्यों को मारकर उनका त्रास शमित किया था। आप अपने भक्तों को अभय देनेवाली हैं। हे देवि ! आप अपने प्रसन्न और अमृत टपकानेवाले नेत्र से दुःख की दावाग्नि में जल रहे मुझको देखें और इस ज्वाला को बुझा दें। मैं आपको नमस्कार करता हूँ" ॥३०३-३०४॥

सुन्दरसेन इस प्रकार प्रार्थना कर ही रहा था कि देवी का पूजन करने के लिए भीलों का राजा विन्ध्यकेतु वहाँ आया ॥३०५॥

सुन्दरसेन ने देखते ही उस भील राजा को पहचान लिया और लज्जित होकर अपने मित्रों से धीमे-धीमे कहा— ॥३०६॥

"अरे, यह तो वही भीलों का राजा विन्ध्यकेतु है, जो पिताजी के निकट उनकी सेवा के लिए आया करता है। वही इस महावन का राजा है। जो भी हो, हमें यहाँ कुछ कहना-सुनना न चाहिए; क्योंकि मानी लोग मृत्यु को अधिक उत्तम मानते हैं, किन्तु ऐसी परिस्थिति में अपना परिचय देना उचित नहीं समझते" ॥३०७-३०८॥

राजकुमार अपने मित्रों से इस प्रकार बातें कर ही रहा था कि राजा विन्ध्यकेतु ने अपने परिचारकों से कहा—॥३०९॥

"अरे, मुझे उस वीर पुरुष को तो दिखलाओ, जिसने पकड़े जाने के समय हमारे बहुत-से योद्धाओं को मार डाला था" ॥३१०॥

यह सुनते ही उसके परिचारकों ने सुन्दरसेन को उसके सम्मुख उपस्थित किया, जिसके शरीर पर लगे घावों का खून सूख गया था और जो धूलि-धूसर हो रहा था ॥३११॥

भील राजा ने उसको देखकर कुछ-कुछ पहचाना और आशंकित होकर कहा—"यह बताओ कि तुम कौन हो और कहाँ से आये हो ?" ॥३१२॥

सुन्दरसेन ने भीलों के राजा को उत्तर दिया—"मैं जो कोई भी हूँ और जहाँ से भी आया हूँ, उससे तुम्हें क्या है ? तुम्हें जो करना है, वह करो" ॥३१३॥

राजकुमार की बोली सुनकर विन्ध्यकेतु ने उसे अच्छी तरह पहचान लिया। वह घबराकर 'हाय-हाय' कहता हुआ, भूमि पर गिर पड़ा ॥३१४॥

हा महाराज पापेन महासेन मयाधुना।
पश्य युष्मत्प्रसादानामुचितं कीदृशं कृतम् ॥३१५॥
यत्ते प्राणसमः सूनुर्नीतोऽवस्थामिहेदृशीम्।
देवः सुन्दरसेनोऽयं कुतोऽप्येवमिहागतः ॥३१६॥
इत्याद्याश्लिष्य तं राजपुत्रं स व्यलपत्तथा।
विन्ध्यकेतुर्यथा सर्वेऽप्यत्राभूवन्नुदश्रवः ॥३१७॥
एतन्न बहु यत्पूर्वं प्रत्यभिज्ञातवानसि।
राजपुत्रमिमं पश्चाद्श्वृत्तेऽर्थे किं व्यधास्यथाः ॥३१८॥
तत्को विषादो हर्षेऽस्मिन्नित्याश्वास्यत तैश्च सः।
हृष्टैः सुन्दरसेनस्य वयस्यैर्भिल्लभूपतिः ॥३१९॥
ततश्च पादपतितः स राजा सममानयत्।
प्रीत्या सुन्दरसेनं तं मोचिताखिलपुंपशुम् ॥३२०॥
कृतार्चनश्च नीत्वैनं स्वपल्लीं सवयस्यकम्।
क्रमादुपाचरत्पथ्यै राबद्धव्रणपट्टिकम् ॥३२१॥
पप्रच्छ चेहागमनं राजपुत्र कथं नु ते।
महत्कौतुकमेतद्धि मम तत्कथ्यतामिति ॥३२२॥
ततः सुन्दरसेनेन स्ववृत्तान्तेऽनुवर्णिते।
चित्रीयमाणचेतास्तं शवरेन्द्रो जगाद सः ॥३२३॥
क्व मन्दारवतीहेतोर्यात्रा पातः क्व चाम्बुधौ।
क्व मतङ्गाश्रमप्राप्तिः क्व तया तत्र सङ्गमः ॥३२४॥
क्वापहारश्च वणिजा तस्या विश्वासतः पुनः।
क्व चाटवीप्रवेशस्ते क्वोपहाराय बन्धनम् ॥३२५॥
क्व चास्माभिः प्रत्यभिज्ञा मृत्योरास्याच्च निर्गमः।
विचित्रविधये तस्मै सर्वथा विधये नमः ॥३२६॥
तन्न कार्या त्वया चिन्ता कान्तां प्रति यतो विधिः।
यथेदमकरोत्कर्त्ता, तथैतदपि ते द्रुतम् ॥३२७॥
इति वादिनमेवैतं पुलिन्द्रेन्द्रं द्रुतागतः।
निजसेनापतिः प्रीतः प्रविश्यैवं व्यजिज्ञपत् ॥३२८॥
देवादाय धनं भूरि स्त्रीरत्नं चातिरूपवत्।
प्रविष्टः सानुगजनः कोऽप्येतामटवीं वणिक् ॥३२९॥

अनन्तर, राजकुमार को गले लगाकर वह विलाप करने लगा—"हा महाराज महासेन, देखिए कि मुझ पापी ने आपकी कृपाओं का कैसा अच्छा बदला दिया है कि आपके प्राणोपम पुत्र सुन्दरसेन को, जो जाने कहाँ से यहाँ आ पहुँचे हैं, इस हालत में डाल दिया है!" विन्ध्यकेतु की ये बातें सुनकर वहाँ उपस्थित सब लोगों की आँखों से आँसू गिरने लगे ॥३१५—३१७॥

सुन्दरसेन के मित्रों ने प्रसन्न होकर भील-राजा को इस प्रकार समझाया—"क्या इतना ही बहुत नहीं है कि आपने पहले ही इस राजकुमार को पहचान लिया? कुछ अनर्थ हो जाने के बाद आप क्या उपाय करते? अतः, प्रसन्नता के इस अवसर विषाद का क्या काम है?" ॥३१८-३१९॥

अनन्तर, वह राजा प्रीति से सुन्दरसेन के चरणों पर जा गिरा। उसने उनका समुचित सम्मान किया और सभी लोगों को बन्धन-मुक्त कर दिया ॥३२०॥

उनका आदर-सत्कार करके वह मित्रों के सहित उन्हें अपने गाँव में ले गया और वहाँ उन सबका उपचार कराया तथा उनके घावों पर पट्टियाँ बँधवाई ॥३२१॥

उसने पूछा—"राजकुमार! आप यहाँ किस प्रकार आये। इस बारे में मुझे बड़ा कौतूहल है, अतः आप बतलायें" ॥३२२॥

सुन्दरसेन ने जब अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया, तब भील-राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—॥३२३॥

"कहाँ तो आप मन्दारवती के यहाँ जाने के लिए निकले थे, कहाँ समुद्र में जा गिरे। फिर, मतंगाश्रम में पहुँचकर उससे आपकी भेंट हुई ॥३२४॥

"फिर जिस वणिक् का आपने विश्वास किया, उसी ने मन्दारवती का अपहरण किया और इस जंगल में प्रवेश करने पर आप बलिदान के लिए पकड़े गये ॥३२५॥

"फिर मैंने आपको पहचान लिया और आप मृत्यु-मुख से निकल आये। विधि के ये विधान कैसे विचित्र हैं! मैं उन विधाता को नमस्कार करता हूँ ॥३२६॥

"आप अपनी पत्नी के लिए भी चिन्ता न करें; क्योंकि विधाता ने जैसे यह सब किया है, वैसे ही आपके लिए वह भी करेंगे, अर्थात् आपको अपनी पत्नी से भी मिला देंगे" ॥३२७॥

भील-राजा यह कह ही रहा था कि उसका सेनापति प्रसन्न होता हुआ, शीघ्रतापूर्वक वहाँ आया। उसने निवेदन किया—॥३२८॥

"देव! एक वणिक् ने बहुत-सा धन और एक अत्यन्त खूबसूरत स्त्री-रत्न लेकर अपने अनुचरों के सहित इस जंगल में प्रवेश किया था ॥३२९॥

स च बद्ध्वा मया गत्वा सबलेन सहानुगः।
वष्टभ्य सधनस्त्रीक इहानीतो बहिः स्थितः ॥३३०॥
तच्छ्रुत्वा किं वणिक्स स्यात्सा मन्दारवती च किम्।
इति सुन्दरसेनोऽन्तर्विन्ध्यकेतुश्च दध्यतुः ॥३३१॥
प्रवेश्यतामिहैवासौ स्त्री चेत्युक्तवतोस्तयोः।
प्रावेशयच्चमूपस्तं वणिजं तां च योषितम् ॥३३२॥
ततो दृष्ट्वैव तौ सोऽत्र दृढबुद्धिरभाषत।
सैव मन्दारवत्येषा देवी सैष च दुर्वणिक् ॥३३३॥
हा देवि घर्मदग्धेव लतावस्थामिमां कथम्।
गतास्यपुष्पाभरणा विशुष्काधरपल्लवा ॥३३४॥
इति क्रन्दति तस्मिश्च दृढबुद्धौ प्रधाव्य सः।
प्रियां सुन्दरसेनस्तां कण्ठे सरभसोऽग्रहीत् ॥३३५॥
ततो विरहमालिन्यमश्रुधाराजलेन तौ।
क्षालयन्ताविवान्योन्यं प्रियौ रुरुदतुश्चिरम् ॥३३६॥
अथोभौ तौ समाश्वास्य विन्ध्यकेतुरुवाच तम्।
वणिजं किं त्वया दारा विश्वस्तस्य हृता इति ॥३३७॥
ततो जगाद स वणिग्भयगद्गदया गिरा।
वृथा मयेदं नाशाय कृतमेषा तु रक्षिता ॥३३८॥
निजेनाधर्षणीयेन महसैव मनस्विनी।
वह्निज्वालेव न स्प्रष्टुमप्यसौ शकिता मया ॥३३९॥
किं च नीत्वा निजं देशं शान्तमन्युः प्रसादिता।
परिणेतुमभिप्रेता पापस्याभूदियं मम ॥३४०॥
इत्युक्तवन्तमादिष्टवधं तेनात्र भूभुजा।
सोऽथ सुन्दरसेनस्तं ररक्ष वणिजं वधात् ॥३४१॥
प्राणाधिकं तु तत्तस्य धनोद्रेकमहारयत्।
दिने दिने म्रियन्ते हि गतार्था न गतासवः ॥३४२॥
एवं सुन्दरसेनेन तस्मिन्वणिजि मोचिते।
प्राणलाभेन सन्तुष्टे यथेच्छं कृपणे गते ॥३४३॥
स विन्ध्यकेतुरादाय तां मन्दारवतीं नृपः।
युक्तां सुन्दरसेनेन स्वदेवीमन्दिरं ययौ ॥३४४॥

"यह संवाद पाकर मैं सेना लेकर गया और उसे धन, स्त्री तथा अनुचरों के साथ बाँध लाया। वे सभी बाहर खड़े हैं" ॥३३०॥

यह सुनते ही सुन्दरसेन और विन्ध्यकेतु ने मन-ही-मन सोचा कि कहीं ये ही तो वह वणिक् और मन्दारवती नहीं हैं! ॥३३१॥

उन दोनों ही ने कहा कि 'उसे और स्त्री को यहीं ले आओ।' तब सेनापति ने उस वणिक् और स्त्री को वहाँ उपस्थित किया॥३३२॥

उन दोनों को देखते ही दृढबुद्धि ने कहा––"यह वही देवी मन्दारवती हैं और वही यह वणिक् भी है॥३३३॥

"हाय देवी! धूप में कुम्हलाई हुई लता के समान आपकी यह कैसी हालत हो गई है! आपके पुष्पाभरण जाते रहे हैं और अधर-पल्लव सूख गये हैं" ॥३३४॥

दृढबुद्धि इस प्रकार विलाप कर ही रहा था कि सुन्दरसेन ने दौड़कर बड़ी आतुरता से अपनी प्रिया को गले से लगा लिया॥३३५॥

अनन्तर, वे दोनों प्रेमी विरह से उत्पन्न एक दूसरे की मलिनता को अश्रुधारा के जल से धोते हुए-से देर तक रोते रहे॥३३६॥

विन्ध्यकेतु ने उन दोनों को समझा-बुझाकर शान्त करने के बाद उस वणिक् से कहा–– "जिसने तुमपर विश्वास किया था, उसकी स्त्री का अपहरण तुमने क्यों किया?" ॥३३७॥

तब वह वणिक् भय से लड़खड़ाते स्वर में बोला––"मैंने अपने नाश के लिए व्यर्थ ही यह काम किया। ये मनस्विनी देवी अपमानित नहीं की जा सकतीं। इन्होंने अपनी महत्ता से स्वयं ही अपनी रक्षा की है। मैं तो अग्नि की ज्वाला के समान इन्हें छू भी नहीं सका॥३३८-३३९॥

"मैंने सोचा था कि इन्हें अपने देश ले जाऊँगा और जब इनका क्रोध शान्त हो जायगा, तब इन्हें प्रसन्न करके इनसे विवाह करूँगा। लेकिन, मेरी यह अवस्था हुई" ॥३४०॥

वणिक् के ऐसा कहने पर राजा विन्ध्यकेतु ने वहीं उसका वध करने की आज्ञा दी; पर सुन्दरसेन ने उसे मारे जाने से बचा लिया॥३४१॥

लेकिन, प्राणों से भी प्रिय उसका सारा धन छीन लिया गया। धन के नष्ट हो जाने पर लोग प्रतिदिन मरते रहते हैं, प्राणों के नष्ट होने पर वैसा नहीं होता॥३४२॥

इस प्रकार, जब सुन्दरसेन ने उसे छुड़ा दिया, तब प्राण-लाभ से सन्तुष्ट होकर वह दुष्ट वणिक् जहाँ जी चाहा, चला गया॥३४३॥

राजा विन्ध्यकेतु, सुन्दरसेन के सहित मन्दारवती को लेकर अपनी रानी के महल में गया ॥३४४॥

तत्रादिश्य स देवीं तां स्नानवस्त्रानुलेपनैः।
सम्मान्य मन्दारवतीं तद्वत्स्नातमलङ्कृतम् ॥३४५॥
स्वयं सुन्दरसेनं तमुपवेश्य वरासने।
प्राभृतैरर्चयामास गुक्तामृगमदादिभिः ॥३४६॥
चक्रे तयोश्च दम्पत्योः सङ्गमाद्भृशमुत्सवम्।
स राजा मुदिताशेषप्रनृत्तशबराङ्गनाम् ॥३४७॥
अथ सुन्दरसेनस्तमन्येद्युर्नृपमभ्यधात्।
रूढं व्रणैर्मे सिद्धं च यथेष्टं तदितोऽधुना ॥३४८॥
यामो वयं स्वनगरीं ताताय प्रेषयाशु तत्।
लेखहारं सवृत्तान्तं मदागमनशंसिनम् ॥३४९॥
इत्युक्तो राजपुत्रेण स तेन शबरेश्वरः।
तथैव दत्तसन्देशं लेखहारं विसृष्टवान् ॥३५०॥
स लेखहारको यावत्तां प्राप्नोत्यलकां पुरीम्।
तावत्तत्र महासेनः सदेवीकः स भूपतिः ॥३५१॥
तस्य सुन्दरसेनस्य प्रवृत्त्यज्ञानदुखितः।
अग्निप्रवेशायोद्युक्तः शङ्करायतनाग्रतः ॥३५२॥
अभूत्किलानुशोचद्भिः पौरैः परिवृतोऽखिलैः।
... ... ॥३५३॥
तं दृष्ट्वा स महासेनं नृपतिं लेखहारकः।
उपाजगाम शबरो धावन्नावेदितात्मकः ॥३५४॥
धूलीलिप्तो धनुष्पाणिर्लतात्वग्बद्धमूर्धजः।
श्यामः कटीनिवसनं बिल्वपत्त्रमयं दधत् ॥३५५॥
दिष्ट्याद्य वर्धसे देव यन्मन्दारवतीयुतः।
पुत्रः सुन्दरसेनस्ते निस्तीर्याम्भोधिमागतः ॥३५६॥
अस्मत्प्रभोर्विन्ध्यकेतोः स हि प्राप्यान्तिकं प्रभो।
तेनैव साकमागन्तुं प्रवृत्तः प्रेष्य मां पुरः ॥३५७॥
इत्युदीर्य च तस्यात्र राज्ञः पादान्तिके न्यधात्।
लेखं स भिल्लभूपाललेखहारोहरञ्शुचम् ॥३५८॥
ततो हृष्टैर्जनैः सर्वैः कृते कलकलारवे।
लेखे च वाचिते ज्ञाते यथावृत्ते महाद्भुते ॥३५९॥

वहाँ उसने अपनी रानी को आदेश दिया कि वह मन्दारवती को स्नान कराके उत्तम वस्त्र पहनावे और अनुलेपन आदि से उसका सत्कार करे। उसी प्रकार स्वयं राजा ने सुन्दरसेन को स्नान कराके और पहना-ओढ़ाकर उत्तम आसन पर बैठाया तथा मोती और मृगमद आदि की भेंट देकर उसका सम्मान किया।।३४५-३४६।।

राजा ने उस दम्पती के मिलन के उपलक्ष्य में बड़ा उत्सव किया, जिसमें बहुत-सी प्रमुदित भील-युवतियों ने नृत्य आदि किये।।३४७।।

अगले दिन सुन्दरसेन ने राजा से कहा—"मेरे घाव सूख गये हैं और मेरा मनोरथ भी पूरा हो गया है; अतः अब हम लोग अपनी नगरी को जायेंगे। आप पिताजी के पास शीघ्र ही एक पत्र-वाहक भिजवाइए और उसके द्वारा उन्हें हम लोगों के आगमन का संवाद दीजिए" ।।३४८-३४९।।

राजकुमार के ऐसा कहने पर भील-राजा ने वैसा ही किया और सन्देश के साथ पत्रवाहक को भेज दिया।।३५०।।

जबतक वह पत्रवाहक अलकापुरी पहुँचे, तबतक तो राजा महासेन अपनी रानी के साथ शिव-मन्दिर के सम्मुख, अग्नि-प्रवेश की तैयारियाँ कर रहे थे; क्योंकि उन्हें अपने पुत्र सुन्दरसेन का कोई समाचार नहीं मिला था। सब नगरवासी, शोक करते हुए, उन्हें चारों ओर से घेरे हुए थे।।३५१—३५३।।

पत्रवाहक भील-राजा महासेन को देखकर दौड़ता हुआ और अपनी सूचना देता हुआ उनके पास आ पहुँचा।।३५४।।

वह धूल से भरा हुआ था। उसके हाथों में धनुष था। उसने अपनी जटा लताओं की छाल से बाँध रखी थी। उसका रंग काला था। उसने कमर में जो वस्त्र लपेट रखा था, उसमें बेलपत्र गुँथा हुआ था।।३५५।।

"देव! आपकी जय हो। आपके पुत्र सुन्दरसेन, सागर को पार करके, मन्दारवती के सहित आ गये हैं।।३५६।।

"प्रभो! वे हमारे स्वामी विन्ध्यकेतु के यहाँ जा पहुँचे थे और उन्हीं के साथ यहाँ आ रहे हैं। मुझे उन्होंने पहले भेज दिया है"।।३५७।।

यह कहकर, उनका शोक दूर करते हुए, भील-राजा के उस पत्रवाहक ने राजा महासेन के पैरों के पास वह पत्र रख दिया।।३५८।।

जब विन्ध्यकेतु का पत्र पढ़ा गया, तब सारा वृत्तान्त मालूम हुआ, जो बड़ा विचित्र था। उसे जानकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए और कोलाहल करने लगे।।३५९।।

सत्कृत्य लेखहारं स त्यक्तशोकः कृतोत्सवः।
राजधानीं महासेननृपः सर्वैः सहाविशत् ॥३६०॥
उत्सुकश्च ततोऽन्येद्युः सूनोस्तस्यागमिष्यतः।
अग्रतो भवितुं प्रायाद्धंसद्वीपेश्वरान्वितः ॥३६१॥
चचाल चतुरङ्गं च वलं तस्यामितं तथा।
असह्यमर्दभीतेव चकम्पे वसुधा यथा ॥३६२॥
तावत्सुन्दरसेनोऽपि स्वगृहाभिमुखं ततः।
प्रतस्थे भिल्लपल्लीतः स मन्दारवतीसखः ॥३६३॥
वन्धनागारलब्धेन तेन विक्रमशक्तिना।
सख्या भीमभुजेनापि युक्तः सदृढबुद्धिकः ॥३६४॥
वातरंहो हयारूढः सहितो विन्ध्यकेतुना।
पुलिन्दसैन्यैः पृथिवीं तन्मयीमिव दर्शयन् ॥३६५॥
गच्छन्कतिपयैरेव दिनैर्मार्गे ददर्श तम्।
पितरं सम्मुखायातं सपरिच्छदवान्धवम् ॥३६६॥
ततोऽवरुह्य तुरगात्सानन्दैर्वीक्षितो जनैः।
उपेत्य पादयोस्तस्य सवयस्योऽपतत्पितुः ॥३६७॥
सोऽपि तं पुत्रमालोक्य राकाचन्द्रमिवोदधिः।
आत्मन्येव न माति स्म हर्षोल्लासतरङ्गितः ॥३६८॥
दृष्ट्वा च मन्दारवतीं तां पादावनतां स्नुषाम्।
आत्मानं कृतिनं मेने कुलं चैव ननन्द च ॥३६९॥
तांश्च त्रीन्दृढबुद्ध्यादीन्प्रणतान्पुत्रमन्त्रिणः।
ततोऽधिकं सोऽभ्यनन्दद्विन्ध्यकेतुं च तं नृपः ॥३७०॥
अथ सुन्दरसेनोऽपि पित्रा तेन निवेदितम्।
नत्वा मन्दारदेवं तं श्वशुरं मुमुदे परम् ॥३७१॥
तौ च पूर्वागतौ चण्डप्रभव्याघ्रपराक्रमौ।
दृष्ट्वाङ्घ्रिलग्नौ सचिवौ पूर्णान्मेने मनोरथान् ॥३७२॥
तत्क्षणं चात्र सोऽप्यागान्महेन्द्रादित्यभूपतिः।
शशाङ्कपुरतः प्रीत्या श्रुतवृत्तान्तहर्षुलः ॥३७३॥
अथ तैः समं समग्रैः सुन्दरसेनः स राजसुतः।
नलकूबर इव रम्भां मन्दारवतीं वहन्दयिताम् ॥३७४॥

राजा महासेन का शोक जाता रहा। पत्रवाहक का स्वागत-सत्कार करके वे सब लोगों के साथ राजधानी में गये॥३६०॥

अपने पुत्र के आने का समाचार सुनकर राजा बहुत उत्सुक हो गये थे। हंसद्वीप के राजा मन्दारदेव के सहित वे अगले दिन उसकी अगवानी के लिए चल पड़े॥३६१॥

जब उनकी असंख्य चतुरंगिणी सेना चली, तब मानों उसके असह्य भार के भय से ही धरती काँपने लगी॥३६२॥

उधर सुन्दरसेन भी, मन्दारवती को साथ लेकर, अपने घर जाने के लिए भीलों के गाँव से बाहर निकला॥३६३॥

उसके साथ दृढबुद्धि तो था ही, कारागार में मिले हुए दोनों मित्र विक्रमशक्ति तथा भीमभुज भी थे॥३६४॥

सुन्दरसेन हवा से बातें करनेवाले घोड़े पर सवार था। विन्ध्यकेतु भी उसके साथ था। (उनके पीछे चलनेवाली) भीलों की सेना को देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानों यह धरती उन्हीं से भरी हुई हो॥३६५॥

चलते-चलते, कुछ ही दिनों में, सुन्दरसेन ने मार्ग में सामने से आते हुए अपने पिता को देखा। उनके साथ उनके हित-मित्र थे और लाव-लश्कर भी था॥३६६॥

आनन्दित होकर लोग उसे देख ही रहे थे कि वह घोड़े से उतर पड़ा और अपने मित्रों के सहित वह अपने पिता के पैरों पर जा गिरा॥३६७॥

जिस तरह पूर्णचन्द्र को देखकर सागर अपनी सीमा में नहीं रह पाता, हर्ष और उल्लास से तरंगित होने लगता है, पुत्र को देखकर वही दशा राजा महासेन की हुई॥३६८॥

महासेन ने जब अपनी बहू मन्दारवती को अपने चरणों पर झुकी हुई देखा, तब वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अपने को तथा अपने कुल को सफलकार्य माना॥३६९॥

अनन्तर, उसके पुत्र के दृढबुद्धि आदि तीन मन्त्रियों ने जब उसे प्रणाम किया, तब उसने उनका अभिनन्दन किया और उन लोगों से भी अधिक अभिनन्दन किया राजा विन्ध्यकेतु का॥३७०॥

पिता के बताने पर सुन्दरसेन ने अपने श्वसुर मन्दारदेव को प्रणाम किया और इससे बड़ी प्रसन्नता पाई॥३७१॥

सुन्दरसेन ने चण्डप्रभ और व्याघ्रपराक्रम नाम के अपने दो मन्त्रियों को, जो पहले ही अलका आ गये थे, पैरों पर गिरते देखा, तो उसने समझा कि उसके सारे मनोरथ पूरे हो गये॥३७२॥

यह सारा वृत्तान्त सुनकर, प्रसन्नता के कारण, शशांकपुर से राजा महेन्द्रादित्य भी उसी समय वहाँ आ पहुँचे॥३७३॥

राजकुमार के साथ उसकी पत्नी मन्दारवती भी थी, जैसे नलकूबर के साथ रम्भा रहती है॥३७४॥

अलकापुरीमयासीन्निजवसतिं वाहनोत्तमारूढः ।
सकलसमृद्धिनिकेतनभूमिं भूयिष्ठपुण्यजनाम् ॥३७५॥
तस्यां च वातायनसंश्रिताभिर्नेत्रोत्पलैः पौरजनाङ्गनाभिः ।
आकीर्यमाणः प्रियया समेतः स राजधानीं स्वपितुर्विवेश ॥३७६॥
आनन्दवाष्पाकुललोचनायाः प्रणम्य मातुश्चरणौ च तत्र ।
स राजपुत्रोऽखिलवन्धुभृत्यवद्धोत्सवं तं दिवसं निनाय ॥३७७॥
अथापरेद्युर्गणकोपदिष्टे लग्ने स तस्याश्चिरकाङ्क्षितं तम् ।
जग्राह पाणिं जनकार्पिताया मन्दारवत्या नरनाथसूनुः ॥३७८॥
ददौ च तस्मै श्वशुरो महार्घाण्यपुत्रको मन्दरदेवभूपः ।
रत्नानि भूयांसि निजं च राज्यं प्रीतः स्वदेहोत्तरकालभावि ॥३७९॥
चकार चेच्छाविभवानुरूपं पिता महासेननृपश्च तस्य ।
अदुग्धगुं मोचितवन्धनस्थं महोत्सवं वृष्टहिरण्यवस्त्रम् ॥३८०॥
दृष्ट्वाथ मन्दारवतीसमागमात्कृतार्थतां सुन्दरसेनमागतम् ।
प्रमोदमासेव्य च तद्विवाहजं प्रगीतनृत्यन्निखिलाङ्गनागणम् ॥३८१॥
ययौ महासेनमहीभृतार्चितः स्वमण्डलं मन्दरदेवभूपतिः ।
शशाङ्कपूर्वं च पुरं स पार्थिवः स विन्ध्यकेतुश्च महाटवीपतिः ॥३८२॥
ततोऽत्र यातेषु दिनेषु सद्गुणं प्रजाप्रियं सुन्दरसेनमात्मजम् ।
अवेक्ष्य राज्ये च निवेश्य तं निजे वनं महासेननृपो जगाम सः ॥३८३॥

सम्प्राप्य राज्यमथ सुन्दरसेनदेवः
सोऽपि स्वबाहुबलनिर्जितवैरिवर्गः ।
तैर्मन्त्रिभिः सह महीमखिलां शशास
मन्दारवत्यधिगमप्रसरत्प्रमोदः ॥३८४॥

इति तत्र सरस्तीरे व्याख्याय कथां मृगाङ्कदत्ताय ।
स व्याघ्रसेननामा सचिवो निजगाद तं भूयः ॥३८५॥
एतत्स कण्वो मुनिराश्रमान्तः कथाद्भुतं वर्णितवान्प्रभो नः ।
कथावसाने च दयालुरस्मानाश्वासयन्नेवमसाववोचत् ॥३८६॥
तत्पुत्रकाः सुविषमाणि दुरुत्तराणि
कृच्छ्राणि धीरहृदयाः किल ये सहन्ते ।
ते प्राप्नुवन्ति परमित्थमभीप्सितानि
नान्ये तु ये गलितसत्त्व विलुप्तचेष्टाः ॥३८७॥

अनन्तर, उन सब लोगों के सहित राजकुमार सुन्दरसेन, उत्तम वाहन पर आरुढ होकर, अपने निवासस्थान उस अलकापुरी की ओर चला, जो समस्त समृद्धियों की निवासभूमि थी और जहाँ बहुत-से पुण्यात्मा लोग रहते थे ॥३७५॥

राजकुमार अपनी पत्नी के सहित पिता की उस राजधानी में पहुँचा, जहाँ खिड़कियों पर बैठी नगर की नारियों ने (उसके मार्ग में) अपने नयन-कमल बिछा रखे थे ॥३७६॥

आनन्द के आँसुओं से जिसकी आँखें डबडबा आई थीं, राजकुमार ने अपनी उस माता के चरणों में प्रणाम किया। राजभवन के सब हित-मित्रों और नौकर-चाकरों ने बड़ा उत्सव मनाया। राजकुमार ने वह दिन उसी हँसी-खुशी में बिता दिया ॥३७७॥

अगले दिन, ज्योतिषियों के बनाये हुए लग्न में, सुन्दरसेन ने मन्दारवती के उस हाथ को ग्रहण दिया, जिसकी उसे बहुत समय से अभिलाषा थी, और जिसे मन्दारदेव ने उसे सौंपा था ॥३७८॥

उसके श्वसुर मन्दारदेव ने, जो पुत्रहीन थे, प्रसन्न होकर उसे बहुत-से बहुमूल्य रत्न दिये और मरने के बाद अपने राज्य का उत्तराधिकारी भी उसे ही बनाया ॥३७९॥

सुन्दरसेन के पिता राजा महासेन ने अपनी इच्छा और अपने वैभव के अनुकूल बड़ा भारी उत्सव किया, लोगों को खिलाया-पिलाया, कैदियों को स्वतन्त्र कर दिया और सुवर्ण तथा वस्त्रों की वर्षा की ॥३८०॥

मन्दारवती को पाकर सुन्दरसेन कृतार्थ हो गया था। यह देखकर और उसके विवाह में नगर की नारियों के नृत्य-गीतादि का आनन्द लेकर तथा राजा महासेन से सम्मानित होकर राजा मन्दारदेव अपने स्थान को लौट गये। इसी प्रकार, राजा महेन्द्रादित्य शशांकपुर तथा वनराज विन्ध्यकेतु अपनी राजधानी को वापस लौटे ॥३८१-३८२॥

कुछ समय बीतने पर राजा महासेन ने जब यह देखा कि उसका पुत्र सुन्दरसेन सद्‌गुणी और प्रजा का प्रिय है, तब उन्होंने उसे राजसिंहासन पर बैठाकर स्वयं वन की राह ली ॥३८३॥

सुन्दरसेन ने राज्य पाकर, अपने बाहु-बल से सभी वैरियों को जीत लिया और वह अपने मन्त्रियों के सहित समस्त पृथिवी का शासन करने लगा। मन्दारवती को पाकर उसका आनन्द दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता रहा ॥३८४॥

उस सरोवर के तट पर, व्याघ्रसेन नामक मन्त्री ने, मृगांकदत्त को यह कथा सुनाने के बाद फिर कहा—॥३८५॥

"प्रभो ! मुनि कण्व ने अपने आश्रम में यह अद्‌भुत कथा हम लोगों को सुनाई। कथा समाप्त होने पर उन दयालु मुनि ने हमें धीरज बँधाते हुए कहा—॥३८६॥

'पुत्रो, जो धीर पुरुष अत्यन्त कठिन और दुस्तर दुःखों को सह लेते हैं, उनके मनोरथ पूरे होते हैं, लेकिन जो साहस खो देते हैं और प्रयत्न छोड़ बैठते हैं, उनके मनोरथ पूरे नहीं होते ॥३८७॥

तस्मादिमां त्यजत विक्लवतां प्रयात.
युष्माकमप्यधिपतिः स मृगाङ्कदत्तः।
सम्प्राप्तसर्वसचिवः सुचिरं पृथिव्यां
राज्यं करिष्यति समेत्य शशाङ्कवत्या ॥३८८॥
इति तेन वयं महर्षिणोक्ता धृतिमालम्ब्य निशां च तत्र नीत्वा।
चलितास्तत आश्रमादवाप्ताः क्रमशः काननमेतदध्वखिन्नाः ॥३८९॥
इह चातितृषा क्षुधा च तप्ताः फलहेतोर्गणनाथवृक्षमेतम्।
अधिरुह्य फलत्वमेव यातास्तपसादेव तवाद्य मोचिताः स्म ॥३९०॥
इत्यस्माकं नागशापोपनीतो वृत्तान्तोऽयं त्वद्वियोगे चतुर्णाम्।
क्षीणे शापे चाधुनास्माभिरेतैर्युक्तः सर्वैः कार्यसिद्ध्यै प्रयाहि ॥३९१॥
एतन्मृगाङ्कदत्तो निजसचिवाद्व्याघ्रसेनतः श्रुत्वा।
लाभे शशाङ्कवत्या लब्धधृतिस्तां निशामनयत् ॥३९२॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके चतुस्त्रिंशस्तरङ्गः।

पञ्चत्रिंशस्तरङ्गः

मृगाङ्कदत्तकथा

ततः प्रातः समुत्थाय तस्माद्वरसरस्तटात्।
मृगाङ्कदत्तः सचिवैरशेषैर्मिलितैः सह ॥१॥
युक्तः श्रुतधिना तेन प्रायादुज्जयिनीं प्रति।
स शशाङ्कवतीं प्रेप्सुर्नत्वा तं विघ्नजिद्रुमम् ॥२॥
ततस्तास्ता वनभुवो भूयोऽनेकशतह्रदाः।
तमालश्यामलाभोगा घनागमनिशा इव ॥३॥
अन्याश्च विचरद्भीममत्तेभाभग्नकीचकाः।
विपरीतार्जुनाकारा विराटनगरीनिभाः ॥४॥
गिरीन्द्रकन्दराश्चैव शुद्धाः पुष्पवतीरपि।
क्रूरसत्त्वाश्रिताः शान्तैर्मुनिभिः संश्रिता अपि ॥५॥
अतिक्रम्य क्रमाद्वीरः स सर्वसचिवान्वितः।
प्रापदुज्जयिनीपुर्याः सन्निकर्षं नृपात्मजः ॥६॥

अतः, तुम लोग यह कायरता छोड़कर आगे बढ़ो। तुम्हारे स्वामी शशांकदत्त भी अपने सब मन्त्रियों को प्राप्त करके, शशांकवती के सहित, बहुत दिनों तक पृथ्वी का राज्य भोगेंगे' ॥३८८॥

उन महर्षि के ऐसा कहने पर हम लोगों ने धैर्य धारण किया और वह रात वहीं बिताई। फिर, उस आश्रम से चलकर थके-माँदे हम लोग इस वन में पहुँचे ॥३८९॥

यहाँ पहुँचकर, भूख और प्यास से अत्यन्त विकल हम लोग, फल तोड़ने के लिए गणेशजी के इस वृक्ष पर चढ़े और स्वयं भी फल बन गये। देव ! आपकी तपस्या से आज हमें मुक्ति मिली है ॥३९०॥

नाग के शाप से आपसे बिछुड़ने के बाद का यही हम चारों का वृत्तान्त है। अब शाप से छुटकारा मिल गया है, अतः आप हम सब के साथ कार्यसिद्धि के लिए प्रयाण करें" ॥३९१॥

अपने मन्त्री व्याघ्रसेन से यह सुनकर मृगांकदत्त को शशांकवती के मिलने का भरोसा हुआ और उसने धैर्यपूर्वक वह रात बिताई ॥३९२॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का

चतुस्त्रिंश तरंग समाप्त

पंचत्रिंश तरंग

मृगांकदत्त की कथा

अगले दिन सबेरे मृगांकदत्त उस उत्तम सरोवर के तट से उठा। उसके सभी मन्त्री उससे आ मिले थे। वह उन सबको तथा श्रुतधि को साथ लेकर तथा गणेशजी के वृक्ष को प्रणाम करके शशांकवती को पाने की इच्छा से उज्जयिनी की ओर चला ॥१-२॥

उसने अपने सब मन्त्रियों के सहित ऐसी अनेक वन-भूमियाँ पार कीं, जिनमें सैकड़ों तालाब थे और जहाँ चारों ओर काले रंग के तमाल-वृक्ष फैले हुए थे। इन वृक्षों से वे वनभूमियाँ वर्षाकालीन रात्रि के समान जान पड़ती थीं ॥३॥

उन वनभूमियों में विचरण करते हुए भयानक और उन्मत्त हाथियों ने बाँस के झुरमुटों को तोड़ दिया था। विपरीत रंगवाले (तमाल से उलटे, अर्थात् सफेद रंग के) अर्जुन के वृक्षों के कारण वे वनभूमियाँ विराट्नगर के समान प्रतीत होती थीं ॥४॥

उन वनभूमियों के बड़े-बड़े पर्वतों की कन्दराएँ पुष्पों से भरी होकर भी साफ-सुथरी थीं; यद्यपि वहाँ मुनि लोग रहते थे, पर वहाँ हिंस्र पशु भी भरे हुए थे ॥५॥

मृगांकदत्त अपने सब मन्त्रियों के सहित, उन वनभूमियों को पार करता हुआ उज्जयिनी के निकट जा पहुँचा ॥ ६॥

ततो गन्धवतीं प्राप्य नदीं स्नानहृतक्लमः।
तीर्त्वा च तां महाकालश्मशानं प्राप सानुगः ॥७॥
ददर्श तच्च नानास्थिकपालशकलाकुलम्।
धृतमानुषकङ्कालकरालं वीरसेवितम् ॥८॥
बहुभूतगणाकीर्णमाक्रीडड्डाकिनीप्रियम् ।
महाभैरवमासन्नचिताधूममलीमसम् ॥९॥
तदतिक्रम्य चापश्यत्स तां युगपुरातनीम्।
पुरीमुज्जयिनीं गुप्तां कर्मसेनेन भूभुजा ॥१०॥
अधिष्ठितप्रतोलीकां रक्षिभिर्विविधायुधैः।
प्रवीरकुलजानेकराजपुत्राभिरक्षितैः ॥११॥
गिरीन्द्रशिखराकारैः प्राकारैः परिवेष्टिताम्।
दुष्प्रवेशामविज्ञातैर्हस्त्यश्वरथसङ्कुलाम् ॥१२॥
विलोक्य तादृशीं तां च सर्वतोऽप्यतिदुर्गमाम्।
मृगाङ्कदत्तो विमनाः सचिवान्स्वानुवाच सः ॥१३॥
कष्टं क्लेशशतैरेवमभव्यस्यागतस्य मे।
प्रवेश एव नास्तीह प्रियाप्राप्तौ तु का गतिः ॥१४॥
तच्छ्रुत्वा तेऽप्यवोचंस्तं किमेषा प्रतिभाति ते।
अस्माकमियतां देव वलसाध्या महापुरी ॥१५॥
उपायोऽत्र विचेतव्यः स चावश्यं भविष्यति।
दैवतैर्बहुशो ह्येतदादिष्टं विस्मृतं कथम् ॥१६॥
इत्युक्तः सचिवैस्तस्या नगर्या वहिरेव सः।
मृगाङ्कदत्तो दिवसान्कांश्चित्तस्थौ परिभ्रमन् ॥१७॥
प्राक्सिद्धमथ वेतालं दध्यौ विक्रमकेसरी।
तन्मन्त्री वासभवनात्तत्प्रियाकर्षणेच्छया ॥१८॥
सोऽपि कृष्णच्छविः प्रांशुरुष्ट्रग्रीवो गजाननः।
महिषाङ्घ्रिरुलूकाक्षो वेतालः खरकर्णकः ॥१९॥
एत्य तत्र प्रवेष्टुं यन्न शशाक जगाम तत्।
शम्भोर्वरात्तां नगरीं दाक्रामन्ति तथाविधाः ॥२०॥
अथामात्यैर्वृतं खिन्नं प्रवेशोन्मुखचेतसम्।
मृगाङ्कदत्तं श्रुतधिर्नीतिज्ञः सोऽब्रवीद्द्विजः ॥२१॥

वहाँ गन्ववती नाम की नदी मिली, जिसमें स्नान करके उन सबने अपनी थकावट दूर की। नदी को पार करके वे महाकाल के श्मशान में पहुँचे ॥७॥

वहाँ अनेक प्रकार की हड्डियों के टुकड़े और खोपड़ियाँ भरी हुई थीं। वीरों के द्वारा सेवित और मानव-कंकाल से युक्त वह स्थान बड़ा भयानक था ॥८॥

वह श्मशान भूत-प्रेतों से भरा हुआ था। डाकिनियाँ वहाँ क्रीडा कर रही थीं। चारों ओर फैलते हुए चिता-धूम से वह स्थान बड़ा भयानक दीख रहा था ॥९॥

उस श्मशान को पार करके उन्होंने युगों पुरानी उस उज्जयिनी पुरी को देखा, जिसका शासन राजा कर्मसेन करते थे ॥१०॥

अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से युक्त रक्षक उस नगरी के राजमार्गों पर पहरा दे रहे थे तथा बहुत-से वीर और कुलीन राजपूत उनकी देख-भाल कर रहे थे ॥११॥

वह नगरी पर्वत-शिखरों के समान ऊँचे परकोटे से घिरी हुई थी। मार्गों में हाथी, घोड़े और रथ भरे हुए थे तथा उनमें प्रवेश करना बड़ा दुष्कर था ॥१२॥

इस प्रकार, उस नगरी में किसी ओर से भी प्रवेश कर सकना अत्यन्त कठिन देखकर मृगांकदत्त उदास हो गया। उसने अपने मन्त्रियों से कहा—॥१३॥

"खेद है कि सैकड़ों कष्ट उठाकर जब मैं अभागा यहाँ पहुँचा भी, तब इस नगरी में प्रवेश करने का ही कोई उपाय नहीं दीखता—प्रिया की प्राप्ति की तो बात ही दूर है" ॥१४॥

यह सुनकर मन्त्रियों ने कहा—"आपको क्या ऐसा जान पड़ता है कि हमलोग, जो इतने थोड़े-से हैं, बलपूर्वक इस नगरी में प्रवेश कर सकते हैं? ॥१५॥

"इसलिए हमें कोई उपाय सोचना चाहिए। उपाय कोई-न-कोई अवश्य निकल आयगा। क्या आप यह भूल गये कि देवताओं ने बार-बार ऐसी बात कही है" ॥१६॥

मन्त्रियों के ऐसा कहने पर मृगांकदत्त कई दिनों तक नगरी के बाहर ही भटकता रहा ॥१७।

राजकुमार के मन्त्री विक्रमकेसरी ने पहले जिस वेताल को सिद्ध किया था, उसने अब इस इच्छा से उसका आवाहन किया कि वह राजकुमार की प्रिया को उसके वास-भवन से उठा लाये ॥१८॥

वेताल आ पहुँचा। उसका रंग काला था। वह बहुत लम्बा था। उसकी गरदन ऊँट-जैसी थी। मुँह हाथी के समान था। भैंसे की तरह उसके पैर थे, उल्लू-की-सी आँखें। कान गधे के समान थे। वह भी जब नगरी में प्रवेश न कर सका, तब लौट गया। भगवान् शिव के वर से उस नगरी में ऐसों का प्रवेश नहीं हो सकता था ॥१९-२०॥

राजकुमार का चित्त नगरी में प्रवेश पाने को उन्मुख था। वह अपने मन्त्रियों से घिरा बैठा था। तभी नीति को जाननेवाले उस ब्राह्मण श्रुतधि ने कहा—॥२१॥

किं देव नीतितत्त्वज्ञोऽप्यजानन्निव मुह्यसि।
स्वपरान्तरमप्रेक्ष्य मतः कस्येह विक्रमः ॥२२॥
एकैकस्मिन्नगर्यां हि द्वारेष्वस्यां चतुर्ष्वपि।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे वाजिनां पञ्चविंशतिः ॥२३॥
रथानां दशलक्षं च पदातीनां दिवानिशम्।
सन्नद्धमास्ते रक्षार्थं वीराधिष्ठानदुर्जयम् ॥२४॥
तन्नः कतिपयानां यत्सहसात्र प्रवेशनम्।
परं पतङ्गवृत्तिः सा नार्थसिद्धिस्तु काचन ॥२५॥
सैन्येनापि च नाल्पेन युक्ता क्षेप्तुमियं पुरी।
हस्तिपादातयुद्धं तद्विरोधोऽधिवलेन यत् ॥२६॥
तन्मायावटुना तेन पुलिन्दपृथिवीभृता।
सुहृदा नर्मदाग्राहभयात्त्रातेन दारुणात् ॥२७॥
तन्मित्त्रेण च मातङ्गराजेनातिवलीयसा।
तेन दुर्गपिशाचेन तत्सम्बन्धानुरागिणा ॥२८॥
किरातराजेन यथा वालसब्रह्मचारिणा।
शक्तिरक्षितसंज्ञेन तेन विक्रमशालिना ॥२९॥
समेत्य सवलैः सर्वैः सैन्यपूरितदिङ्मुखः।
सम्यक्सहायसम्पन्नः साधयैतत्समीहितम् ॥३०॥
किरातराजश्च स ते दूतागमनसंविदम्।
प्रतीक्षमाणः स्थित इत्येतत्ते विस्मृतं कथम् ॥३१॥
मायावटुश्च मातङ्गराजादेशागतो ध्रुवम्।
सज्जस्तेन सहैवास्ते संवित्तस्य कृता ह्यसौ ॥३२॥
तत्तस्य मातङ्गपतेर्विन्ध्यदक्षिणपार्श्वगम्।
निवासकोट्टं गच्छामः करभग्रीवनामकम् ॥३३॥
तत्रैवाहूयते राजा कैरातः शक्तिरक्षितः।
ततः सम्भूय सर्वैस्तैरुद्योगः सिद्धये शुभः ॥३४॥
श्रुत्वैतच्छ्रुतधेर्वाक्यमर्थवत्प्राज्ञसम्मतम्।
मृगाङ्कदत्तः सामात्यस्तथेति श्रद्दधेतराम् ॥३५॥
अन्येद्युश्च नमस्कृत्य गुणिवन्धुं धृतोदयम्।
प्रदर्शिताशं विश्वस्य नभोनित्याध्वगं रविम् ॥३६॥

"देव ! आप तो नीति का तत्त्व जानते हैं। आप अनजान की तरह दु:खी क्यों हो रहे हैं ? अपना और शत्रु का अन्तर जाने विना भला यहाँ पराक्रम दिखलाने की सलाह कौन देगा ? ॥२२॥

"इस नगरी की रक्षा के लिए इसके चारों द्वारों में से हर एक द्वार पर दो हजार हाथी, पचीस हजार घोड़े, दस लाख रथ और दस ही लाख पैदल सेना तैयार रहती है; अत: वीरों की निवास-भूमि इस नगरी को जीतना तो बड़ा कठिन है॥२३-२४॥

"हम गिने-चुने लोगों का अचानक इसमें प्रवेश करना तो वैसा ही होगा,जैसा पतंगे का दीपक की लौ पर दौड़ जाना। उससे हमारा कोई काम भी सिद्ध न होगा॥२५॥

"थोड़ी-सी सेना लेकर भी इस नगरी पर आक्रमण करना ठीक नहीं है। अधिक बलवाले शत्रु के साथ भिड़ना तो वैसा ही है, जैसा पैदल का हाथी-सवार के साथ युद्ध करना॥२६॥

"तो आप ऐसा करें कि पुलिन्दों के राजा उस मायाबटु को बुलावें, जो आपका मित्र है और नर्मदा नदी में जब उसे घड़ियाल ने पकड़ लिया था, तब उस भयानक संकट से आपने उसकी रक्षा की थी॥२७॥

"मतंगों के अत्यन्त बली राजा को भी बुलायें, जो उसका मित्र है। उसी के सम्बन्ध से दुर्गपिशाच भी आपका अनुरागी है। फिर, वह अत्यन्त पराक्रमी और बालब्रह्मचारी शक्तिरक्षित नामक किरातों का राजा है। आप इन सबको, उनकी सेनाओं के सहित बुलायें। वे आकर अपनी सेनाओं से सारी दिशाओं को भर दें और इस प्रकार, उचित सहायता से बलवान् होकर आप इच्छित कार्य पूरा करें॥२८—३०॥

"और आप यह किस प्रकार भूल गये हैं कि समझौते के अनुसार किरातराज आपके दूत के आने की प्रतीक्षा कर रहा होगा ? ॥३१॥

"समझौते के अनुसार, मातंगराज के आदेश से, मायाबटु भी अवश्य ही आ गया होगा और उसके साथ ही तैयार बैठा होगा॥३२॥

"तो हम लोग मातंगराज के करभग्रीव नामक गढ़ में चलें, जो विन्ध्यपर्वत के दक्षिण में है और जहाँ वह रहता है॥३३॥

"वहीं हम किरातराज शक्तिरक्षित को बुलवा लेंगे और सब लोग एकत्र होकर कार्य-सिद्धि का उद्योग करेंगे"॥३४॥

श्रुतधि की ये बातें अर्थ-भरी और विद्वानों के द्वारा समर्थित थीं। अपने मन्त्रियों के सहित मृगांकदत्त ने ये बातें सुनीं और उत्साहपूर्वक वैसा ही करना स्वीकार किया॥३५॥

अगले दिन जब सूर्योदय हुआ, तब मृगांकदत्त ने गुणियों के बन्धु, संसार की दिशाओं को प्रकाशित करनेवाले तथा नित्य आकाश-मार्ग में चलनेवाले सूर्य को नमस्कार करके—॥३६॥

उच्चचाल ततो विन्ध्यपार्श्वं तं दक्षिणं प्रति।
तस्य दुर्गपिशाचस्य मातङ्गेन्द्रस्य केतनम् ॥३७॥
तन्मन्त्रिणश्च स व्याघ्रसेनो भीमपराक्रमः।
गुणाकरो मेघबलः समं विमलबुद्धिना ॥३८॥
स विचित्रकथः स्थूलबाहुर्विक्रमकेसरी।
प्रचण्डशक्तिः श्रुतधिर्दृढमुष्टिस्तमन्वगाः ॥३९॥
तैः समं साऽतिविस्तीर्णा निजचेष्टा इवाटवीः।
गहनांश्च वनोद्देशान्स्वाभिप्रायानिव क्रमात् ॥४०॥
अतिक्रामन्सरस्तीरतरुमूलनिशाश्रयः।
प्राप्यारुरोह विन्ध्याद्रिमात्मचित्तमिवोन्नतम् ॥४१॥
तस्याग्राद्दक्षिणं पार्श्वमवरुह्य च दूरतः।
दन्तिदत्ताजिनचिता भिल्लपल्लीर्विलोकयन् ॥४२॥
कुत्र स्यादास्पदं तस्य मातङ्गाधिपतेरिह।
कुतो ज्ञास्याम इत्यन्तर्दध्यौ राजसुतोऽत्र सः ॥४३॥
तावच्च सम्मुखायातमेकं मुनिकुमारकम्।
स ददर्श सहामात्यैः पप्रच्छ च कृताननतिः ॥४४॥
अपि जानासि कुत्रेह गृहं मातङ्गभूपतेः।
सौम्य दुर्गपिशाचस्य द्रष्टव्यो वर्त्तते हि नः ॥४५॥
तच्छ्रुत्वा स जगादेवं साधुस्तापसपुत्रकः।
इतः पञ्चवटीत्यस्ति प्रदेशः क्रोशमात्रके ॥४६॥
नातिदूरे च तस्याभूदगस्त्यस्याश्रमो मुनेः।
नाकतः पातितोत्सिक्तनहुषेन्द्रस्य हेलया ॥४७॥
यत्र पित्राज्ञयोपात्तवनवासः सलक्ष्मणः।
सीतयानुगतो रामो मुनिमन्वास्त तं चिरम् ॥४८॥
रक्षोविनाशपिशुनो चन्द्रार्काविव यत्र सः।
आस्कन्दितुं प्रवृत्तोऽभूत्कबन्धो रामलक्ष्मणौ ॥४९॥
यत्र योजनबाहोश्च रामो भुजमपातयत्।
अगस्त्यप्रार्थनायातनहुषाजगरोपमम् ॥५०॥
यत्र मेघागमेऽद्यापि श्रुत्वा जलधरध्वनिम्।
स्मरन्तो रामकोदण्डरवस्याम्बररोधिनः ॥५१॥

वहाँ से विन्ध्यपर्वत के दक्षिण की ओर, मातंगराज दुर्गपिशाच के भवन के लिए, प्रस्थान किया ॥३७॥

उसके मन्त्री व्याघ्रसेन, भीमपराक्रम, गुणाकर, मेघबल, विमलबुद्धि, विचित्रकथ, स्थूलबाहु, विक्रमकेसरी, प्रचण्डशक्ति, श्रुतधि तथा दृढमुष्टि भी उसके पीछे-पीछे चले ॥३८-३९॥

मृगांकदत्त ने उन सबके सहित, अपनी चेष्टा के समान अत्यन्त विस्तीर्ण वनभूमि और अपने अभिप्राय के समान गहन वन को क्रम से पार किया। एक सरोवर के तट पर, वृक्ष के नीचे उन्होंने रात बिताई। फिर, अपने चित्त के समान उन्नत विन्ध्यपर्वत के पास पहुँचकर वे उसपर चढ़े ॥४०-४१॥

उससे आगे, पर्वत की दाहिनी ओर उतरने पर, उन्हें दूर से ही भीलों की बस्तियाँ दीख पड़ीं, जहाँ हाथी-दाँत और मृग-चर्म की अधिकता थी ॥४२॥

राजकुमार मन-ही-मन सोचने लगा कि यह कैसे मालूम होगा कि यहाँ मातंगराज का निवास-स्थान कहाँ है ? ॥४३॥

तभी अपने मन्त्रियों के सहित, सामने से आते हुए एक मुनिकुमार को उसने देखा और प्रणाम करके पूछा—॥४४॥

"सौम्य, क्या आप जानते हैं कि यहाँ मातंगराज दुर्गपिशाच का भवन कौन-सा है ? हमें उनसे मिलना है" ॥४५॥

यह सुनकर तपस्वी के उस सज्जन पुत्र ने कहा—"यहाँ से कोस-भर की दूरी पर पंचवटी प्रदेश है। उससे थोड़ी ही दूर हटकर मुनि अगस्त्य का आश्रम था। अभिमानी राजा नहुष, इंद्र की अवमानना करने के कारण, स्वर्ग से वहीं गिराया गया था ॥४६-४७॥

"पिता की आज्ञा से जब रामचन्द्र को वनवास मिला था, तब लक्ष्मण और सीता के सहित वहीं, बहुत समय तक, उन्होंने अगस्त्य मुनि की सेवा की थी ॥४८॥

"जैसे राहु, सूर्य और चन्द्रमा पर आक्रमण करता है, उसी प्रकार राक्षसों का विनाश करने में कठोर राम और लक्ष्मण पर वहाँ कवन्ध ने आक्रमण किया था ॥४९॥

"वहाँ रामचन्द्र ने योजनबाहु नामक राक्षस का हाथ काट डाला था और वह कटा हुआ हाथ ऐसा जान पड़ता था, मानों नहुष ही अजगर के रूप में अगस्त्य की प्रार्थना करने आया हो ॥५०॥

"वर्षा ऋतु में बादलों की गरज सुनकर वहाँ (आज भी सीता के द्वारा पाले गये बूढ़े मृगों को) रामचन्द्र के धनुष के उस टंकार का स्मरण हो आता है, जो आकाश तक को गुंजा देती थी ॥५१॥

वीक्ष्य विष्वग्दिशःशून्या गृह्णन्त्युद्बाष्पलोचनाः ।
जानकीवर्धिताः शष्पकवलं न जरन्मृगाः ॥५२॥
हतशेषानिव त्रातुं हरिणान्यत्र राघवम् ।
जहार हेमहरिणो वैदेहीविरहप्रदः ॥५३॥
कावेरीवारिबहुले यत्रानेकमहाह्लदे ।
पीत्वोद्गीर्णमिवागस्त्येनाब्धिपाथः पदे पदे ॥५४॥
तस्याश्रमस्य नात्यन्तदूरे विन्ध्यस्य सानुनि ।
करभग्रोवनामास्ति कोट्टः कुटिलदुर्गमः ॥५५॥
तत्र प्रतिवसत्यन्तर्भूपालानिर्जितो वली ।
स मातङ्गपतिर्दुर्गपिशाचश्चण्डविक्रमः ॥५६॥
धनुर्धराणां लक्षस्य तेषामधिपतिश्च सः ।
योधपञ्चशती येषामेकैकमनुधावति ॥५७॥
तैर्दस्युभिः स मुष्णाति सार्थान्दलयति द्विषः ।
भुङ्क्ते महाटवीं चैतां तांस्तानगणयन्नृपान् ॥५८॥
एतन्मुनिसुताच्छ्रुत्वा तमामन्त्र्य स सानुगः ।
मृगाङ्कदत्तस्तेनैव मार्गेण त्वरितं ययौ ॥५९॥
प्रापच्च तस्य करभग्रीवस्य निकटं क्रमात् ।
मातङ्गराजकोट्टस्यं भिल्लपल्लीसमाकुलम् ॥६०॥
ददर्शादूरतश्चात्र शवरौघानितस्ततः ।
वर्हिवर्हेभदशनव्याघ्रचर्ममृगामिषान् ॥६१॥
तिर्यञ्च इव जीवन्ति पश्यतारण्यवृत्तयः ।
चित्रं तदप्यमी दुर्गपिशाचं ब्रुवते प्रभुम् ॥६२॥
नास्त्येवाराजकं किञ्चिद्वत कोऽपि प्रजास्वहो ।
राजशब्दः सुरैः सृष्टो मात्स्यन्यायभयादयम् ॥६३॥
एवं मृगाङ्कदत्तस्तान्भिल्लान्वीक्ष्य सखीन्ब्रुवन् ।
यावत्स करभग्रीवकोट्टमार्गं विवित्सति ॥६४॥
तावन्मायाबटोस्तस्य तत्रादावभ्युपेयुषः ।
तं पूर्वदृष्टं ददृशुश्चाराः शबरभूभृतः ॥६५॥
ते मायाबटवे तस्मै गत्वा सद्यो न्यवेदयन् ।
तदागमं ससैन्यश्च सोऽपि प्रत्युज्जगाम तम् ॥६६॥

"किन्तु वे मृग जब समस्त दिशाओं को सूनी देखते हैं, तब उनकी आँखें भर आती हैं और वे घास का ग्रास नहीं ग्रहण करते ॥५२॥

"वहाँ सीता को विरह का दुःख देनेवाला स्वर्णमृग (मारीच) मानों मारे जाने से बचे हरिणों की रक्षा के लिए ही, रामजन्द्र को हटा ले गया था ॥५३॥

"वहाँ पग-पग पर कावेरी के जल से भरे हुए बड़े-बड़े तालाब हैं, जो ऐसे जान पड़ते हैं, मानों अगस्त्य ने समुद्र का जल पीकर उगल दिया हो ॥५४॥

"उस आश्रम से थोड़ी ही दूरी पर विन्ध्याचल की समभूमि पर, करभग्रीव नामक गढ़ है, जहाँ कुटिलों की पहुँच नहीं हो सकती ॥५५॥

"प्रचण्ड पराक्रमी तथा बली, मातंगों का राजा दुर्गपिशाच, वहीं रहता है। उसे राजा लोग जीत नहीं सकते ॥५६॥

"वह एक लाख धनुर्धरों का स्वामी है और उनमें से प्रत्येक धनुर्धर के अनुगामी पाँच सौ योद्धा हैं ॥५७॥

"उन दस्युओं की सहायता से व्यापारियों को लूटता, शत्रुओं को नष्ट करता और इस अथवा उस राजा की कोई परवाह न करता हुआ, वह इस महावन में शासन करता है" ॥५८॥

मुनिकुमार की ये बातें सुनकर मृगांकदत्त ने उससे विदा ली और अपने अनुगामियों के सहित वह शीघ्र ही उस मार्ग पर चल पड़ा ॥५९॥

क्रम से वह मातंगराज के गढ़ करभग्रीव के निकट जा पहुँचा, जो भीलों के गाँवों से घिरा हुआ था ॥६०॥

कुछ दूर पर उसने जहाँ-तहाँ भीलों के झुण्ड देखे, जो मयूर-पंख, हाथी-दाँत, व्याघ्रचर्म और मृग-मांस लिये हुए थे ॥६१॥

"देखो, कैसे आश्चर्य की बात है कि ये भील पक्षियों के समान जंगली जीवन बिताकर भी दुर्गपिशाच को अपना राजा कहते हैं ॥६२॥

"कोई भी प्रजा, राजा से विहीन नहीं होती। देवताओं ने राजा शब्द की सृष्टि इस भय से की है कि जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, उसी तरह (राजा के न रहने पर) बलवान् लोग दुर्बलों का जीवन दुर्वह कर देंगे" ॥६३॥

उन भीलों को देखकर मृगांकदत्त अपने मित्रों से ये बातें कहता हुआ, करभग्रीव दुर्ग का मार्ग ढूँढ़ता जा रहा था ॥६४॥

शबरों का राजा मायाबटु पहले ही वहाँ पहुँच चुका था। उसके गुप्तचरों ने मृगांकदत्त को पहले भी देखा था, अतः उसे यहाँ देखकर पहचान लिया ॥६५॥

उन लोगों ने तत्काल मृगांकदत्त के आने का समाचार मायाबटु को जा सुनाया। वह अपनी सेना के सहित उसके स्वागत के लिए आगे बढ़ा ॥६६॥

निकटीभूय दृष्ट्वा च मुक्तवाहः प्रधाव्य सः।
पपात पादयोस्तस्य राजसूनोः पुलिन्दराट् ॥६७॥

कृतकण्ठग्रहं राजा स पृष्टकुशलश्च तम्।
सामात्यं वाहनारूढमनैषीत्कटकं निजम् ॥६८॥

प्राहिणोच्च प्रतीहारं तदागमनशंसिनम्।
तस्मै मातङ्गराजाय निजं स शवराधिपः ॥६९॥

आजगाम च मातङ्गराजः सोऽपि स्वदेशतः।
द्रुतं दुर्गपिशाचोऽत्र नाम्नो विभ्रद्यथार्थताम् ॥७०॥

शिलाकूटकठोराङ्गस्तमालमलिनच्छविः।
पुलिन्दाश्रितपादश्च विन्ध्याचल इवापरः ॥७१॥

भ्रुकुट्या भीषणमुखः प्रकृत्यैव त्रिशाखया।
स्वीकर्त्तुं विन्ध्यवासिन्या त्रिशूलेनेव चिह्नितः ॥७२॥

तरुणः क्षपिताशेषवया अप्यसुदर्शनः।
कृष्णोऽप्यनन्यसेवी च भूभृत्पादोपजीव्यपि ॥७३॥

नवाभ्र इव मायूरपिच्छचित्रधनुर्धरः।
हिरण्याक्ष इवोद्दामवराहक्षतविग्रहः ॥७४॥

घटोत्कच इवोत्सिक्तभीमरूपधरो बली।
कलिकाल इवाधर्मनिरतोच्छृङ्खलप्रजः ॥७५॥

आययौ च बलाभोगस्तस्यापूरितभूतलः।
मुक्तोऽर्जुनभुजासङ्गात्प्रवाह इव नार्मदः ॥७६॥

शिलाकलापो लुठितः किमञ्जनगिरेरयम्।
किमुताकालकल्पान्तमेघौघः पतितो भुवि ॥७७॥

इति शङ्कां स विदधच्चण्डालानीकिनीचयः।
प्रसर्पासितच्छायामलिनीकृतदिङ्मुखः ॥७८॥

उपगम्य च तत्स्वामी दूरान्न्यस्तशिराः क्षितौ।
मृगाङ्कदत्तं तं दुर्गपिशाचः प्रणनाम सः ॥७९॥

पास आकर जब मायाबटु ने मृगांकदत्त को देखा, तब वह घोड़े से उतर पड़ा और दौड़कर उस राजकुमार के पैरों पर जा गिरा ॥६७॥

राजकुमार मृगांकदत्त ने उसे उठाकर गले से लगा लिया और उसका कुशल-क्षेम पूछा। तब मन्त्रियों के सहित, वाहन पर बैठाकर, पुलिन्दराज उसे अपने शिविर में ले आया ॥६८॥

अनन्तर, उसने राजकुमार मृगांकदत्त के आगमन का संवाद देने के लिए भीलों के राजा के पास अपने प्रतीहार को भेजा ॥६९॥

मातंगराज दुर्गपिशाच भी अपने नाम को सार्थक करता हुआ शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा ॥७०॥

वह ऐसा लगता था, मानों दूसरा विन्ध्यपर्वत हो। उसके अंग पहाड़ों के पत्थर के समान थे, शरीर का रंग तमालवृक्ष के समान काला था और पुलिन्द जाति के लोग उसके चरणों के आश्रित थे ॥७१॥

उसकी भृकुटी से स्वभावतः उसके ललाट पर तीन रेखाएँ बन जाती थीं, जिससे उसका मुँह बड़ा भयानक दीख पड़ता था। ऐसा जान पड़ता था, मानों विन्ध्यवासिनी देवी ने उसे स्वीकार करने के लिए, अपने त्रिशूल से उसके ललाट पर चिह्न बना दिया हो ॥७२॥

यद्यपि तरुण रहकर ही उसने अपना सारा वय बिताया था, फिर भी वह कुरूप था। यद्यपि वह काला था और पहाड़ की तलहटी में रहता था, फिर भी किसी की सेवा नहीं करता था ॥७३॥

नये मेघ के समान, उसने मयूर पंख-युक्त अनेक वर्णोंवाला धनुष ले रखा था। हिरण्याक्ष के समान, उसके शरीर पर प्रचण्ड वाराह के द्वारा घायल किये जाने का निशान था ॥७४॥

वह घटोत्कच के समान प्रचण्ड, भयानक रूपवाला तथा बलवान् था। कलिकाल के समान उसकी प्रजा उच्छृंखल तथा अधर्म में लिप्त रहनेवाली थी ॥७५॥

सहस्रार्जुन के पाश से मुक्त नर्मदा के प्रवाह के समान उसकी सेना भूतल को भरती हुई आई ॥७६॥

चाण्डालों की उस सेना को देखकर ऐसी शंका होती थी कि क्या ये कज्जल-गिरि की शिलाएँ लुढ़कती चली आ रही हैं अथवा ये अकाल-प्रलय के मेघों का समूह भूमि पर बरस रहा है? काली छायावाली वह सेना, दिशाओं को मलिन बनाती हुई आगे बढ़ रही थी ॥७७-७८॥

उनका स्वामी दुर्गपिशाच आगे बढ़ा। कुछ दूर से ही उसने भूमि पर माथा टेककर मृगांकदत्त को प्रणाम किया ॥७९॥

उवास चाद्य देवी मे प्रसन्ना विन्ध्यवासिनी।
उचितोचितवंशो यद्गृहान्प्राप्तो भवान्मम ॥८०॥
तद्धन्योऽस्मि कृतार्थोऽस्मीत्युक्त्वा तस्मादुपायनम्।
मातङ्गराजः स ददौ मुक्ताकस्तूरिकादिकम् ॥८१॥
सोऽप्यभ्यनन्दत्प्रीत्या तं राजपुत्रो यथोचितम्।
ततस्तत्रैव सर्वे ते चक्रुः सेनानिवेशनम् ॥८२॥
आलानवद्धैर्द्विरदैस्तुरगैर्मन्दुराश्रितैः।
कृतास्पदैश्च पादातैः स्थगिता सा महाटवी ॥८३॥
आजन्मापूर्वनगरीभावसम्प्राप्तसम्पदा।
घूर्णमानेव तत्कालं नैव स्वात्मन्यवर्त्तत ॥८४॥
ततोऽत्र काननोद्याने विहितस्नानमङ्गलम्।
कृताहारं सुखासीनमेकान्ते सचिवान्वितम् ॥८५॥
मायावटौ स्थिते दुर्गपिशाचः स कथान्तरे।
मृगाङ्कदत्तमवदत्प्रीतिप्रश्रयपेशलम् ॥८६॥
मायाबटुरयं राजा वहुकालमिहागतः।
त्वन्निदेशप्रतीक्षः सन्स्वामिन्साकं मया स्थितः ॥८७॥
तद्राजपुत्र युष्माभिः कुत्र स्थितमियच्चिरम्।
किं कृतं चेति कार्यं स्वमस्मान्बोधयताधुना ॥८८॥
एतत्तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रो जगाद सः।
तदा मायावटोरस्य गृहाद्विमलबुद्धिना ॥८९॥
गुणाकरेण च समं प्राप्य भीमपराक्रमम्।
गत्वा श्रुतधिया साकं चिन्वतान्यान्सखीन्मया ॥९०॥
प्राप्तः प्रचण्डशक्तिश्च विचित्रकथ एष च।
मार्गक्रमेण चैषोऽपि ततो विक्रमकेसरी ॥९१॥
ततो वरसरस्तीरे प्राप्य विघ्नेशपादपम्।
फलार्थमधिरुह्यैते तच्छापात्फलतां गताः ॥९२॥
आराध्याथ गणेशं तं कथञ्चिन्मोचिता मया।
शेषाश्चादौ तथाभूतास्तत्र मुक्तास्तथैव मे ॥९३॥
दृढमुष्टिरयं व्याघ्रसेनमेघवलाविमौ।
स्थूलबाहुरसौ चेति चत्वारः सचिवा इमे ॥९४॥

उसने कहा—"आज देवी विन्ध्यवासिनी मुझपर प्रसन्न हैं कि आप-जैसे उत्तम कुल के अतिथि मेरे घर पधारे हैं। आपके आगमन से मैं धन्य हो गया, कृतार्थ हो गया।" इस प्रकार की बातें कहते हुए मातंगराज ने मृगांकदत्त को मोती और कस्तूरी आदि वस्तुएँ भेंट में दीं ॥८०-८१॥

राजकुमार ने भी उसका समुचित अभिनन्दन किया। अनन्तर, उन सबने वहीं अपनी सेना को ठहराया॥८२॥

हाथी जंजीरों में बाँधे गये, घोड़े अस्तबलों में डाले गये, पैदल सिपाहियों को तम्बुओं में ठहराया गया और इन सबसे वह विशाल वन भर गया॥८३॥

इस प्रकार, एक अपूर्व नगरी की समता पाकर वह वन चकरा गया और अपना आपा खो बैठा; क्योंकि जबसे उसका अस्तित्व था, उसे ऐसा सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं हुआ था॥८४॥

उस वन के बगीचे में स्नान-कृत्य करके और भोजनादि से निवृत्त होकर, मृगांकदत्त अपने मन्त्रियों के सहित सुखपूर्वक बैठे॥८५॥

मायाबटु और दुर्गपिशाच भी वहीं आ बैठे। बातचीत के क्रम में दुर्गपिशाच ने प्रीति-पगे कोमल वचनों के द्वारा मृगांकदत्त से कहा—॥८६॥

"स्वामी, राजा मायाबटु तो बहुत समय से यहाँ आकर मेरे साथ ठहरा हुआ है और आपके आदेश की प्रतीक्षा कर रहा है। आप लोग इतने दिनों तक कहाँ रहे और क्या करते रहे, यह सारी बातें अब आप हमें बतलायें" ॥८७-८८॥

उसकी ये बातें सुनकर राजकुमार ने कहा—"जब मैं मायाबटु के यहाँ से अपने अन्य मित्रों को ढूँढ़ता हुआ चला, तब मेरे साथ विमलबुद्धि, गुणाकर, भीमपराक्रम और श्रुतधि थे। मार्ग में मुझे प्रचण्डशक्ति और विचित्रकथ तथा बाद में विक्रमकेसरी भी मिल गये॥८९—९१॥

"अनन्तर, एक उत्तम सरोवर के तट पर गणेशजी का वृक्ष मिला। ये सभी फल तोड़ने के लिए उसपर चढ़े, तो स्वयं फल बन गये॥९२॥

"गणेशजी की आराधना करके किसी तरह मैंने इन्हें मुक्त कराया। मेरे जो शेष चार मन्त्री थे, इन्हीं की तरह वे भी पहले ही से फल बने हुए थे। अब उन्हें भी छुटकारा मिल गया। वे चारों ये दृढमुष्टि, व्याघ्रसेन, मेघबल तथा स्थूलबाहु हैं॥९३-९४॥

एतैः प्राप्तैः समं सर्वैरहमुज्जयिनीमगाम्।
तस्यां च गुप्तद्वारायां प्रवेशोऽप्यभवन्न नः ॥९५॥
कुतः शशाङ्कवत्यास्तु हरणोपायचिन्तनम्।
सैन्यहीनस्य चाभून्मे न दूतप्रेषणार्हता ॥९६॥
ततः सम्मन्त्र्य युष्माकमागता निकटं वयम्।
इदानीं सिद्धये भूयं प्रमाणमिह नः सखे ॥९७॥
एवं मृगाङ्कदत्तेन स्ववृत्तान्तेऽभ्युदीरिते।
सोऽथ दुर्गपिशाचस्तं समायावटुरब्रवीत् ॥९८॥
धीरो भव कियत्कार्यमेतदस्माभिरञ्जसा।
प्राणाः प्रथममेवैते त्वदर्थमुपकल्पिताः ॥९९॥
आनयामोऽत्र तं बद्ध्वा कर्मसेनं महीभृतम्।
प्रसह्य च हरामोऽस्य तां शशाङ्कवतीं सुताम् ॥१००॥
इति मातङ्गराजेन समायावटुनोदिते।
मृगाङ्कदत्तः सप्रीतिर्बहुमानमभाषत ॥१०१॥
किं न सम्भाव्यते युष्मास्वियमेव हि वक्ति वः।
प्रतिपन्नसुहृत्कार्यनिर्वाहं धीरसत्त्वता ॥१०२॥
दार्ढ्यं विन्ध्याद्रितः शौर्यं व्याघ्रेभ्यो मित्ररागिताम्।
वनाब्जिनीभ्यश्चादाय यूयं धात्रेह निर्मिताः ॥१०३॥
तद्विचार्य यथायुक्तं कुरुध्वमिति वादिनि।
मृगाङ्कदत्ते दिनकृद्विशश्रामास्तमस्तके ॥१०४॥
ततस्तत्र त्रियामां तां स्कन्धावारे विशश्रमुः।
ते कर्मान्तिकक्लृप्तेषु निवेशेषु यथोचितम् ॥१०५॥
प्रातर्मृगाङ्कदत्तश्च विससर्ज गुणाकरम्।
किरातराजमानेतुं सुहृदं शक्तिरक्षितम् ॥१०६॥
तेन गत्वोक्तवृत्तान्तः स्वल्पैरेव दिनैश्च सः।
तद्युक्तोऽतिमहासैन्यः किरातपतिराययौ ॥१०७॥
पदातिलक्षदशकं द्वे लक्षे वाजिनामपि।
महावीराधिरूढानामयुतं मत्तदन्तिनाम् ॥१०८॥
अष्टाशीतिसहस्राणि रथानां च महीपतिम्।
अन्वाययुर्ध्वजच्छत्रसंछादितनभांसि तम् ॥१०९॥

"इन सबसे मिलकर मैं उज्जयिनी गया। वहाँ के सब द्वारों पर कड़ा पहरा होने के कारण हमलोग भीतर न जा सके ॥९५॥

"फिर भला शशांकवती के हरण का उपाय सोचने की तो बात ही क्या थी ? हमारे पास सेना भी नहीं थी, अतः मैं (आपलोगों के पास) दूत भेजने के योग्य भी नहीं था ॥९६॥

"तब हमलोग सोच-विचारकर आपके पास आये हैं। मित्रो, अब आप ही लोग मेरी कार्य-सिद्धि का उपाय करें" ॥९७॥

मृगांकदत्त ने जब इस प्रकार अपना वृत्तान्त कह सुनाया, तब मायाबटु के सहित दुर्गपिशाच बोला—॥९८॥

"धैर्य रखिए। हम लोगों के लिए यह कौन-सी बड़ी बात है ? हमारा जीवन तो पहले से ही आपके लिए समर्पित है ॥९९॥

"हम लोग राजा कर्मसेन को यहाँ बाँध लायेंगे और उसकी कन्या शशांकवती को बलपूर्वक हर लायेंगे" ॥१००॥

जब मायाबटु के साथ मातंगराज ने यह बात कही, तब मृगांकदत्त बड़े आदर और प्यार के सहित बोला—॥१०१॥

"आपलोगों के किये क्या नहीं हो सकता ? आपकी दृढता और पराक्रम ही इस बात का प्रमाण है कि आपने मित्र के काम को पूरा करने का जो वचन दिया है, उसे आप निबाहेंगे ॥१०२॥

"विधाता ने विन्ध्याचल से दृढता, बाघ-सिंहों से शूरता और वन-कमलिनियों से मित्र के प्रति अनुराग की भावना लेकर आपलोगों की रचना की है ॥१०३॥

"अतः सोच-समझकर आप जैसा उचित समझें, वैसा करें।" मृगांकदत्त यह कह ही रहा था कि सूर्यदेव ने अस्ताचल में विश्राम किया ॥१०४॥

अनन्तर, उस रात को उन लोगों ने भी, छावनी में अनुचरों के द्वारा बनाये गए तम्बुओं में, यथोचित विश्राम किया ॥१०५॥

सवेरा होने पर मृगांकदत्त ने अपने मित्र, किरातों के राजा शक्तिरक्षित को बुलाने के लिए गुणाकर को भेजा ॥१०६॥

उसने जाकर किरातराज से सारा हाल कह सुनाया। तब वह थोड़े ही दिनों में बहुत-सी सेना लेकर गुणाकर के साथ आ पहुँचा ॥१०७॥

उसकी सेना में दस लाख पैदल, दो लाख घुड़सवार और दस हजार मतवाले हाथी थे, जिनपर बड़े-बड़े वीर बैठे हुए थे ॥१०८॥

रथों की संख्या अट्ठासी हजार थी, जिनकी ध्वजाओं और छतरियों से आकाश ढक-सा गया था ॥१०९॥

मृगाङ्कदत्तश्च मुदा प्रत्युद्गम्याभिपूज्य तम्।
प्रावेशयत्सकटकं ससुहृत्सचिवं नृपम् ॥११०॥
तावन्मातङ्गराजस्य येऽप्यन्ये मित्रबान्धवाः।
मायावटोश्च तद्दत्तदूताः सर्वेऽप्युपाययुः ॥१११॥
ववृधे च लसन्नादः सम्मिलद्वाहिनीशतः।
मृगाङ्कदत्तहृदयानन्दः शिविरवारिधिः ॥११२॥
मुक्तामृगमदैर्वस्त्रैर्मांसभारैः फलासवैः।
तान्स दुर्गपिशाचोऽत्र नृपतीन्सममानयत् ॥११३॥
स्नानानुलेपनाहारपानशय्याद्यनुत्तमम्।
सर्वेभ्यः शवराधीशो मायावटुरुपाहरत् ॥११४॥
मृगाङ्कदत्तश्चैकत्र बुभुजे निखिलैः सह।
तैर्यथोचितभूभागेषूपविष्टैर्नरेश्वरैः ॥११५॥
अपि मातङ्गराजं तं सोऽग्रे दूरादभोजयत्।
कार्यं देशश्च कालश्च गरीयान्न पुनः पुमान् ॥११६॥
विश्रान्ते च नवायाते किरातादिबले ततः।
मृगाङ्कदत्तः सोऽन्येद्युर्दन्तिदन्तासनस्थितः ॥११७॥
अस्थाने राजलोकस्य यथार्हकृतसत्क्रियः।
विजनीकृत्य मातङ्गराजादीन्सुहृदोऽब्रवीत् ॥११८॥
इदानीं कालहारः किं क्रियते किं न गम्यते।
अनेन सर्वसैन्येन शीघ्रमुज्जयिनीं प्रति ॥११९॥
तच्छ्रुत्वा श्रुतधीर्विप्रो राजपुत्रं जगाद तम्।
शृणु देव वदाम्यत्र यथा नीतिविदां मतम् ॥१२०॥
कार्याकार्यविभागः प्राग्बोद्धव्यो विजिगीषुणा।
असाध्यं यदुपायेन तदकार्यं परित्यजेत् ॥१२१॥
तत्कार्यं यदुपायेन साध्यं तत्र चतुर्विधः।
उपायः साम दानं च भेदो दण्ड इति स्मृतः ॥१२२॥
पूर्वः पूर्वो वरस्तेषां निकृष्टश्च परः परः।
तस्मात्सामप्रयोगस्ते पूर्वं देवेह युज्यते ॥१२३॥
निर्लोभे कर्मसेने हि राज्ञि दानं न सिद्धये।
न भेदो नहि सन्त्यस्य क्रुद्धलुब्धावमानिताः ॥१२४॥

मृगांकदत्त ने प्रसन्नता से आगे बढ़कर उसका स्वागत किया और फिर अपने मन्त्री तथा सेना के सहित किरातराज को अपनी छावनी में ले आया ॥११०॥

इस बीच मातंगराज के और मायाबटु के भी जो हित-मित्र थे, दूत भेजकर उन्होंने उन सब को भी बुलवा लिया ॥१११॥

उस छावनी-रूपी सागर में सैकड़ों वाहिनियाँ (सेनाएँ अथवा नदियाँ) आकर मिल गईं और गरजने-तरजने लगीं, जिससे मृगांकदत्त के मन का आनन्द बढ़ गया ॥११२॥

दुर्गपिशाच ने उस छावनी में मोती, कस्तूरी, मांस और फलों के रस से सभी राजाओं का स्वागत-सत्कार किया ॥११३॥

शबरराज मायाबटु ने सबके लिए स्नान, अनुलेपन, आहार, पान, उत्तम शय्या आदि की व्यवस्था की ॥११४॥

सब राजाओं के सहित यथोचित स्थान पर बैठकर मृगांकदत्त ने एक साथ भोजन किया ॥११५॥

यहाँतक कि उसने मातंगराज को भी अपने सामने, कुछ दूरी पर बैठाकर भोजन कराया (बात यह है कि) महत्त्व कार्य, देश और काल का होता है, किसी व्यक्ति का नहीं ॥११६॥

किरातों की नई आई हुई सेना जब विश्राम कर चुकी, तब अगले दिन, हाथी-दाँत के आसन पर बैठे हुए मृगांकदत्त ने, उपस्थित राजाओं के यथोचित सत्कार करने के बाद एकान्त होने पर मातंगराज आदि अपने मित्रों से कहा—॥११७-११८॥

"अब आप लोग क्यों समय नष्ट कर रहे हैं? इन सारी सेनाओं को लेकर शीघ्र ही उज्जयिनी की ओर क्यों नहीं जाते?"॥११९॥

यह सुनकर ब्राह्मण श्रुतधि उस राजकुमार से बोला—"देव! सुनिए। इस सम्बन्ध में नीति जाननेवालों का जो मत है, वह मैं बतलाता हूँ ॥१२०॥

"विजय की इच्छा रखनेवाले को पहले करने योग्य और न करने योग्य कामों का अन्तर जान लेना चाहिए। जो काम उपाय से सिद्ध न हो सके, उसे 'न करने योग्य' जानकर छोड़ देना चाहिए ॥१२१॥

"जो काम उपाय से सिद्ध हो सके, वह करना चाहिए। ये उपाय चार प्रकार के होते हैं— साम, दान, भेद और दण्ड ॥१२२॥

"इनमें भी बादवाले से पहला उपाय अच्छा होता है—पहलेवाले से बाद का उपाय बरा है; इसलिए, देव! यहाँ साम का प्रयोग करना ही आपके लिए अच्छा है ॥१२३॥

"राजा कर्मसेन निर्लोभ है, अतः दान देकर आप अपने कार्य में सफलता नहीं पा सकते। आप उनमें भेद (फूट) भी नहीं डाल सकते; क्योंकि उसकी प्रजा न तो उससे क्रुद्ध है, न लोभी है और न राजा के द्वारा उसकी अवमानना ही हुई है ॥१२४॥

दण्डश्च दुर्गदेशस्थे तस्मिन्नतिबलाधिके।
नृपैरजितपूर्वेऽन्यैः प्रयुक्तः संशयावहः ॥१२५॥
अविश्वास्या च युद्धेषु जयश्रीर्बलिनामपि।
न च कन्यार्थिनो युक्तः कर्त्तुं तद्बान्धवक्षयः ॥१२६॥
तत्तस्य राज्ञः साम्नैव दूतस्तावद्विसृज्यताम्।
तदसिद्धौ हठायातौ दण्ड एव प्रयोक्ष्यते ॥१२७॥
इत्येतच्छ्रुतधेर्वाक्यं सर्वे तत्र तथेति ते।
श्रद्दधुः प्रशशंसुश्च तस्य मन्त्रक्रमज्ञताम् ॥१२८॥
ततः सम्मन्त्र्य तैरेव समं दूतगुणान्वितम्।
किरातराजानुचरं तदाख्यातं द्विजोत्तमम् ॥१२९॥
दूतं सुविग्रहं नाम कर्मसेनाय भूभृते।
मृगाङ्कदत्तो व्यसृजल्लेखसन्देशहारिणम् ॥१३०॥
स गत्वोज्जयिनीं दूतः प्रतीहारनिवेदितः।
वल्लभाश्वद्विपाकीर्णकक्ष्यान्तरमनोरमम् ॥१३१॥
प्रविश्य राजभवनं सिहासनगतं नृपम्।
ददर्श कर्मसेनं तं मन्त्रिभिः परिवारितम् ॥१३२॥
प्रणम्य चासनासीनः स पृष्टकुशलः क्रमात्।
राजाभिनन्दितस्तेन लेखं तस्मै समर्पयत् ॥१३३॥
आदाय तं च तन्मन्त्री मुद्राक्षेपप्रसारितम्।
प्रज्ञाकोषाभिधानोऽत्र स्पष्टमेवमवाचयत् ॥१३४॥
स्वस्ति श्रीकरभग्रीवकोट्टमूलाटवीतटात्।
महाराजाधिराजस्य पुत्रोऽयोध्यापुरीपतेः ॥१३५॥
श्रीमतोऽमरदत्तस्य महीमण्डलमण्डनम्।
श्रीमान्मृगाङ्कदत्तोऽत्र प्रह्वोपनतराजकः ॥१३६॥
उज्जयिन्यां महाराजकर्मसेनस्य सादरम्।
निजवंशपयोधीन्दोरिदं सन्दिशति स्फुटम् ॥१३७॥
कन्या तवास्ति सावश्यं देयान्यस्मै प्रयच्छ तत्।
मह्यं तां सदृशी सा मे भार्यादिष्टा हि दैवतः ॥१३८॥
एवं नौ वन्धुभावः स्यान्नश्येत्पूर्वा च वैरिता।
नो चेन्निजभुजावेव प्रार्थयिष्येऽत्र वस्तुनि ॥१३९॥

"वह दुर्ग में रहता है। उसके पास बहुत अधिक सेना है। इससे पहले उसे कोई पराजित भी नहीं कर सका है। ऐसी स्थिति में उसके प्रति दण्ड का प्रयोग करके भी सफलता पाने में सन्देह है॥१२५॥

"जो बहुत बलवान् हैं, उन्हें भी जयश्री मिल ही जायगी, इसका भरोसा नहीं किया जा सकता। और फिर, जो उनकी कन्या लेना चाहता है, उसे उसके बान्धवों का नाश नहीं करना चाहिए॥१२६॥

"अतः, उस राजा के साथ साम से ही काम लेकर उसके पास दूत भेजिए। यदि उससे बात न बनेगी, तो फिर विवश होकर दण्ड से काम लिया जायगा"॥१२७॥

श्रुतधि की इन बातों को 'यही ठीक है' कहकर सबने स्वीकार किया और उसकी नीतिज्ञता की प्रशंसा की॥१२८॥

अनन्तर, उन सबसे परामर्श करके मृगांकदत्त ने राजा कर्मसेन के पास सुविग्रह नाम का एक दूत भेजा। किरातराज के द्वारा बतलाया हुआ वह दूत उसी का अनुचर और श्रेष्ठ ब्राह्मण था। वह दूतों के गुण से युक्त था। वह पत्र और सन्देश लेकर गया॥१२९-१३०॥

दूत उज्जयिनी पहुँचा। प्रतीहार ने राजा को उसके आने की सूचना दी। वह भीतर उस कक्ष में गया, जिसकी दीवारों पर हाथी और घोड़ों के चित्र उरेहे हुए थे। वहाँ उसने मन्त्रियों से घिरे और राजसिंहासन पर बठे हुए राजा कर्मसेन को देखा॥१३१-१३२॥

प्रणाम करके वह आसन पर बैठ गया। राजा ने उसका अभिनन्दन किया, उससे कुशल प्रश्न पूछा। तब उसने उन्हें पत्र दिया॥१३३॥

प्रज्ञाकोष नामक राजा के मन्त्री ने पत्र लिया, उसकी मुहर तोड़ी और पत्र खोलकर स्पष्ट रूप से उसे पढ़ा—॥१३४॥

"स्वस्ति श्रीभूमण्डल को अलंकृत करनेवाले श्रीमान् मृगांकदत्त, जो अयोध्यापुरी के स्वामी महाराजाधिराज अमरदत्त के पुत्र हैं, राजा लोग जिसके पास झुककर आते हैं तथा जो अभी करभग्रीव दुर्ग के नीचे वनभूमि के किनारे ठहरे हुए हैं, उज्जयिनी में महाराज कर्मसेन को, जो अपने कुल-रूपी समुद्र के लिए चन्द्रमा के समान हैं, आदर-सहित यह स्पष्ट संवाद भेजते हैं—॥१३५—१३७॥

"आपकी एक कन्या है। उसे आपको किसी को सौंपना ही पड़ेगा। देवताओं ने घोषित किया है कि वही मेरे लिए योग्य पत्नी है; अतः आप उसे मुझको सौप दें। इससे हमलोगों में आत्मीयता हो जायगी और पहले का वैरभाव नष्ट हो जायगा। यदि आपने ऐसा नहीं किया, तो फिर मैं अपने भुजबल से ही उसे प्राप्त करूँगा।"॥१३८-१३९॥

इत्यत्र वाचिते लेखे प्रज्ञाकोषेण मन्त्रिणा।
राजा सकोपः सचिवान्कर्मसेनो जगाद सः ॥१४०॥
विपक्षास्ते सदास्माकमनात्मज्ञेन तेन च।
एतत्तथैव सन्दिष्टं पश्यताद्यासमञ्जसम् ॥१४१॥
आत्माभिलिखितः पूर्वं वयं पश्चादवज्ञया।
दर्पाध्मातेन पर्यन्ते वाहुवीर्यमुदीरितम् ॥१४२॥
तन्न मे प्रतिसन्देशो योग्यः कन्याकथैव का।
गच्छ दूत भवत्स्वामी यत्स वेत्ति करोतु तत् ॥१४३॥
इत्युक्तः कर्मसेनेन राज्ञा दूतोऽत्र स द्विजः।
सुविग्रहस्तमोजस्वी क्रमायातमभाषत ॥१४४॥
अदृष्ट्वा राजपुत्रं तं सम्प्रत्योजायसे जड।
सज्जो भवागते तस्मिन्वेत्स्यसि स्वपरान्तरम् ॥१४५॥
इति तेनोदिते राजसभा क्षोभमियाय सा।
गच्छावध्योऽसि किं कुर्म इति क्रुद्धोऽभ्यधान्नृपः ॥१४६॥
अन्येऽत्र दन्तदष्टौष्ठा मृद्नन्तः स्वान्करान्करैः।
किं नाधुनैव गत्वा तं हन्म इत्यब्रुवन्मिथः ॥१४७॥
यात्वयं बटुवाचाटस्यास्य किं कुप्यते गिरा।
द्रक्ष्यते यत्करिष्याम इत्यूचुर्धैर्यतः परे ॥१४८॥
भ्रूभङ्गैः केचिदासन्नचापरोपणसूचनम्।
कुर्वन्त इव निःशब्दं तस्थुः कोपारुणैर्मुखैः ॥१४९॥
एवं सभायां क्रुद्धायां स निर्गत्य सुविग्रहः।
दूतो मृगाङ्कदत्तस्य पार्श्वं स्वकटकं ययौ ॥१५०॥
तस्मै स कर्मसेनोक्तं समित्राय शशंस तत्।
सोऽप्यादिदेश तच्छ्रुत्वा यात्रां सैन्ये नृपात्मजः ॥१५१॥
ततः स्वाम्यादेशप्रवलपवनापातविधुतो
वलाम्भोधिर्धावन्नरतुरगमातङ्गमकरः।
सपक्षाणां[1] तन्वन्मनसि परितोषं क्षितिभृतां[2]
स सम्प्राप क्षोभं प्रतिभयकरं कातरनृणाम् ॥१५२॥
क्षितिमथ विदधद्वलाश्वलालागजमदकर्दमितां मृगाङ्कदत्तः।
बधिरितभुवनः स तूर्यनादैरुदचलदुज्जयिनीं शनैर्जयाय ॥१५३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके पञ्चत्रिंशस्तरङ्गः।

---

[1] सपक्ष=अपने पक्ष के अथवा पाँखोंवाले। [2] क्षितिभृत् पहाड़ अथवा राजा।

मन्त्री प्रज्ञाकोष ने जब इस प्रकार पत्र पढ़ा, तब राजा कर्मसेन बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने अपने मन्त्रियों से कहा—॥१४०॥

"ये लोग हमारे सदा के वैरी हैं; फिर अपने को न जाननेवाले उस अहंकारी ने बड़े अशिष्ट ढंग से यह सन्देश भेजा है। हमारी अवज्ञा करने के लिए उसने अपना नाम पहले लिखा है—हमारा बाद में; और अन्त में तो उसने बाहु-बल की धमकी भी दी है। अतः, मैं तो इस सन्देश का उत्तर देना भी उचित नहीं समझता, कन्या देने की तो बात ही क्या है?—दूत, तुम वापस जाओ। तुम्हारा स्वामी जो करना चाहता हो, वह करे" ॥१४१—१४३॥

राजा कर्मसेन के ऐसा कहने पर, सुविग्रह नामक वह ओजस्वी ब्राह्मण दूत अवसर के अनुकूल बोला—॥१४४॥

"मूर्ख, तुमने उस राजकुमार को नहीं देखा है, इसलिए अभी बढ़-बढ़कर बातें कर लो; लेकिन तैयार रहो, उसके आ पहुँचने पर तुम्हें मालूम हो जायगा कि तुममें और उसमें क्या अन्तर है" ॥१४५॥

उसके ऐसा कहने पर राजसभा क्षुब्ध हो उठी। राजा ने क्रुद्ध होकर कहा—"जाओ, तुम अवध्य हो। हम क्या करें?" ॥१४६॥

कुछ लोग दाँत पीसते और हाथ मलते हुए एक दूसरे से कहने लगे—"हम लोग अभी ही जाकर उसे क्यों न मार डालें?" ॥१४७॥

कुछ दूसरे धीरज से कहने लगे कि 'अरे, इस वाचाल ब्राह्मण की बातों से क्या नाराज होना? यह देख लेगा कि हम लोग क्या करते हैं'॥१४८॥

कुछ और थे, जिनके चेहरे क्रोध से लाल हो गये थे, फिर भी वे चुप ही रहे। उनकी चढ़ी हुई भौंहों ने ही मानों आनेवाले समय में धनुष चढ़ाने की सूचना दे दी॥१४९॥

इस प्रकार, जब सारी सभा क्रुद्ध हो रही थी, वह दूत सुविग्रह, वहाँ से निकलकर अपनी सेना में मृगांकदत्त के पास गया॥१५०॥

उसने मृगांकदत्त से, उसके मित्रों के साथ, वे सारी बातें कह सुनाईं, जो कर्मसेन ने कही थीं। राजकुमार ने सारी बातें सुनकर, सेनाओं को आगे बढ़ने का आदेश दिया॥१५१॥

जैसे प्रबल वायु के आघात से विक्षुब्ध समुद्र में ग्राह आदि जलचर भाग-दौड़ मचाने लगते हैं, वैसे ही स्वामी के आदेश से उस सेना के पैदल घोड़े और हाथी, अपने पक्ष के राजाओं के मन में सन्तोष और कातर मनुष्यों के मन में क्षोभ उत्पन्न करते हुए, तेजी से चल पड़े॥१५२॥

अनन्तर, घोड़ों के मुखों से गिरते हुए फेन और हाथियों के मद से धरती को गीला करता हुआ तथा तुरही आदि की ध्वनि से लोकों को बहरा बनाता हुआ मृगांकदत्त, विजय के लिए धीरे-धीरे उज्जयिनी की ओर चल पड़ा॥१५३॥

श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के बारहवें लम्बक का पंचत्रिंश तरंग समाप्त

षट्त्रिंशस्तरङ्गः

मृगाङ्कदेवशशाङ्कवत्योः कथा

ततः स विन्ध्यमुल्लङ्घ्य प्राप सन्नद्धसैनिकः।
मृगाङ्कदत्तः सीमान्तमुज्जयिन्याः सुहृद्युतः॥१॥
तद्बुद्ध्वा कर्मसेनोऽपि राजास्य सबलोऽग्रतः।
धीरो युद्धाय सन्नह्य नगर्या निरगात्ततः॥२॥
निकटीभूय चान्योन्यदर्शिन्योरुभयोस्तयोः।
तत्सेनयोः प्रववृते सङ्ग्रामो वीरहर्षणः॥३॥
नृसिंहनादवित्रस्तभग्नक्लीबासुराकुलः।
सोऽभूद्धिरण्यकशिपोर्निवास इव सङ्गरः॥४॥
सन्तता विनिकृन्तन्तो घना गगनगामिनः।
सुभटेष्विषवः पेतुः सस्येषु शलभा इव॥५॥
खड्गाहतेभकुम्भोत्थो बभौ मुक्ताफलोत्करः।
संरम्भत्रुटितो हार इव तत्समरश्रियः॥६॥
तीक्ष्णकुन्ताग्रदशनं ग्रस्ताश्वनरकुञ्जरम्।
कृतान्तस्येव वदनं तद्विरेजे रणाजिरम्॥७॥
उत्फेलुर्भल्ललूनानि शिरांसि भुजशालिनाम्।
दिवि दत्तोर्ध्वझम्पानि दिव्यस्त्रीनिव चुम्बितुम्॥८॥
कवन्धा ननृतुश्चात्र सुभटानां पदे पदे।
निर्भासितोत्तमस्वामिसङ्गरप्रमदादिव॥९॥
एवं च पञ्चदिवसान्वहच्छोणितनिम्नगः।
आसीत्करङ्ककूटाढ्यः स शूरान्तकरो रणः॥१०॥
पञ्चमेऽह्नि रहः सायं तं समेतं स्वमस्त्रिभिः।
मृगाङ्कदत्तं श्रुतधिर्विप्रोऽभ्येत्य जगाद सः॥११॥
युष्मासु समरव्यग्रेष्वितो भिक्षुकरूपिणा।
गत्वा निराकुलद्वारां प्रविश्योज्जयिनीं मया॥१२॥
निकटादप्यदृश्येन भूत्वा विद्याप्रभावतः।
यदन्विष्टं यथावत्तच्छृणु देव वदामि ते॥१३॥
यदैव कर्मसेनोऽसौ राजा युद्धाय निर्गतः।
तदैवानुज्ञया मातुः सा शशाङ्कवती गृहात्॥१४॥

षट्त्रिंश तरंग

मृगांकदेव और शशांकवती की कथा

अनन्तर, अपने मित्रों और युद्ध के लिए उद्यत सैनिकों के सहित विन्ध्यपर्वत को लाँघकर, मृगांकदत्त उज्जयिनी की सीमा पर जा पहुँचा॥१॥

धीर राजा कर्मसेन को जब यह संवाद मिला, तब वह भी युद्ध के लिए तैयार होकर अपनी सेना को आगे करके उज्जयिनी से बाहर निकला॥२॥

निकट पहुँचकर दोनों सेनाओं ने एक दूसरे को देखा और वीरों को हर्षित करनेवाले संग्राम में जुट गईं॥३॥

नृसिंह का हुंकार सुनकर जैसे हिरण्यकशिपु के भवन से कायर असुरों का समूह भागने लगा था, उसी तरह उस युद्ध में वीर पुरुषों का गर्जन सुनकर डरपोक सैनिक इधर-उधर भागने लगे॥४॥

लगातार एक दूसरे पर टूटते रहनेवाले आकाशचारी मेघों के समान योद्धाओं के बाण, (शत्रुओं पर) इस तरह गिरते थे, जैसे फसल पर टिड्डियों का दल गिरता है॥५॥

खड्ग से आहत हाथियों के मस्तक से जो मोती गिरते थे, वे ऐसे जान पड़ते थे, मानों घबराहट में समर-लक्ष्मी का हार टूटकर बिखर गया हो॥६॥

वह रणस्थली काल के मुख के समान जान पड़ती थी, जिसमें कुन्तों की तीखी अनी के वे दाँत थे, जो घोड़ों, मनुष्यों और हाथियों के मस्तक काटकर गिरा रहे थे॥७॥

भाले से कटे हुए योद्धाओं के मस्तक ऊपर की ओर यों छिटकते थे, मानों वे दिव्यांगना का चुम्बन करने के लिए आकाश की ओर झपट रहे हों॥८॥

वहाँ पग-पग पर योद्धाओं के धड़ नाच रहे थे, जो ऐसे जान पड़ते थे, मानों अपने स्वामियों का उत्तम युद्ध देखकर मतवाले हो गये हों॥९॥

इस प्रकार, वीरों का विनाश करनेवाला वह युद्ध पाँच दिनों तक चलता रहा, जिसमें रक्त की नदी बहती रही और कटे हुए मस्तकों का पहाड़ खड़ा हो गया॥॥१०॥

पाँचवें दिन, सन्ध्या के समय, ब्राह्मण श्रुतधि, मन्त्रियों के सहित एकान्त में बैठे मृगांकदत्त के पास आया और बोला—॥११॥

"देव ! जब आपलोग युद्ध में व्यस्त थे, तब भिक्षुक का रूप बनाकर मैं उज्जयिनी गया। वहाँ के सब द्वार प्रायः जनहीन थे। अपनी विद्या के प्रभाव से, निकट होते हुए भी अदृश्य रहकर वहाँ मैंने जो कुछ पता लगाया, वह मैं ज्यों-का-त्यों आपसे कहता हूँ। सुनिए ॥१२-१३॥

"जब राजा कर्मसेन युद्ध के लिए बाहर निकला, तब माता की आज्ञा लेकर शशांकवती भी पिता के कल्याण की इच्छा से, बाहर निकली ॥१४॥

निर्गत्य तत्पुरीवर्त्तिगौर्यायतनमाश्रिता।
तामाराधयितुं देवीं श्रेयोऽर्थं समरे पितुः॥१५॥
तत्रस्था च रहस्येकां सखीमाप्तामुवाच सा।
मत्कृते सखि तातस्य विग्रहोऽयमुपागतः॥१६॥
आक्रान्तश्चार्पयेदेष तस्मै राजसुताय माम्।
गणयन्ति न राज्यार्थेऽपत्यस्नेहं महीभुजः॥१७॥
न च जानेऽनुरूपः किं स मे राजसुतो न वा।
कामं हि मृत्युमिच्छेयं न विरूपमहं पतिम्॥१८॥
मन्ये रूपाभिसम्पन्नो दरिद्रोऽपि वरं पतिः।
न विरूपः पुनः कृत्स्नपृथिवीचक्रवर्त्त्यपि॥१९॥
तत्कीदृगिति गत्वा तं विलोक्यागच्छ सैन्यतः।
प्रज्ञानेन च नाम्ना च शुभे चतुरिका ह्यसि॥२०॥
एवं सखी तयोक्ता सा युक्त्या कटकमेत्य नः।
त्वां विलोक्य विभो गत्वा राजपुत्रीमुवाच ताम्॥२१॥
किमन्यत्सखि सा जिह्वा जाने नास्त्यपि वासुकेः।
या शक्ता गदितुं तस्य रूपं राजसुतस्य तत्॥२२॥
ब्रवीमि पुनरेतावद्यथा नान्या समास्ति ते।
नारी रूपेण मनुजस्तथा नान्योऽस्ति तत्समः॥२३॥
अत्यल्पं विङ्भयोक्तं वा मन्ये ह्यस्मिञ्जगत्त्रये।
न सिद्धो नापि गन्धर्वो न देवोप्यस्ति तादृशः॥२४॥
एवं सखीगिरा तस्यास्त्वयि न्यस्तं च मानसम्।
शशाङ्कवत्याः कामेन कीलितं च समं शरैः॥२५॥
तत्क्षणात्प्रभृति श्रेयस्कामा तव पितुश्च सा।
कृशीभवन्ती तपसा स्थिता त्वद्विरहेण च॥२६॥
तद्गुप्तं निशि गत्वाद्य हृत्वा गौर्याश्रमात्ततः।
विजनादानयत तां राजपुत्रीमलक्षितम्॥२७॥
यात मायावटोरस्य गृहानेते नृपास्ततः।
पश्चात्प्रकोपं रक्षित्वा तत्रैष्यन्ति समं मया॥२८॥
निवर्त्ततामिदं युद्धं मा स्म भूत्सैन्यसंक्षयः।
अस्तु वः कुशलं देहे राज्ञस्त्वच्छ्वशुरस्य च॥२९॥

और, उस नगरी में वर्त्तमान, गौरी के मन्दिर में, उन भगवती की आराधना करने के लिए गई ॥१५॥

"वहाँ उपस्थित अपनी एक विश्वास-पात्र सखी से उसने एकान्त में कहा—'सखी, पिताजी को मेरे लिए इस युद्ध में पड़ना पड़ा है ॥१६॥

'यदि पिताजी पराजित हो गये, तो वे मुझे उस राजकुमार को सौंप देंगे; क्योंकि राजा लोग राज्य के सम्बध में सन्तान के स्नेह की ओर से आँखें मूँद लेते हैं ॥१७॥

'पता नहीं, वह राजकुमार मेरे अनुरूप है या नहीं। निश्चय ही मैं मृत्यु की कामना करूँगी पर कुरूप पति को स्वीकार न करूँगी ॥१८॥

'मैं दरिद्र होने पर भी रूपवान् पति को अच्छा समझती हूँ, किन्तु कुरूप पति यदि चक्रवर्त्ती भी हो, तो उसे मैं अच्छा नहीं मानती ॥१९॥

'अतः, तुम सेनाओं के निकट जाकर देख आओ कि वह कैसा है। तुम तो अपनी बुद्धि और नाम, दोनों से ही चतुरिका हो' ॥२०॥

"शशांकवती के ऐसा कहने पर उसकी सखी युक्तिपूर्वक हमारी सेना में आकर आपको देख गई। विभो, लौटकर उसने राजकुमारी से कहा—॥२१॥

'सखी दूसरों की तो बात ही क्या, स्वयं वासुकि के पास भी वह जीभ नहीं है, जो उस राजकुमार के रूप का वर्णन कर सके ॥२२॥

'मैं तो यहाँतक कह सकती हूँ कि जैसे आप-जैसी रूपवती कोई नारी नहीं है, वैसे ही उनके समान कोई रूपवान् पुरुष भी नहीं है ॥२३॥

'लेकिन धिक्कार है मुझे, मैंने शायद बहुत कम कहा है। तीनों लोकों में न तो कोई सिद्ध, न गन्धर्व और न देवता ही उनके-जैसा है' ॥२४॥

"सखी की इन बातों से शशांकवती का चित्त आप में आ लगा, साथ ही कामदेव ने अपने बाणों से उसे कीलित कर दिया ॥२५॥

"उसी समय से, आपकी और अपने पिता की कल्याण-कामना से वह तपस्या कर रही है और उस तपस्या तथा आपके विरह के कारण दुबली हो गई है ॥२६॥

"अतः आज रात को आप गुप्त रूप से गौरी के उस मन्दिर में जायँ और उस निर्जन स्थान से, किसी के जाने-सुने विना राजकुमारी को हर ले आयें ॥२७॥

"आप राजकुमारी को लेकर मायाबटु के घर चले जायँ। फिर. उसके पिता के क्रोध का शमन करके अन्य राजा भी मेरे साथ लौट आयेंगे ॥२८॥

"अब इस युद्ध को समाप्त कीजिए। सेना का संहार न हो। आपका और आपके श्वसुर का भी शारीरिक कुशल हो ॥२९॥

गतिरेषा ह्यगतिका शुद्धं प्राणार्पणेन यत्।
उपायेषु जघन्योऽयमुपायो गीयते बुधैः ॥३०॥
एवमुक्तः श्रुतधिना स गुप्तं प्रययौ निशि।
मृगाङ्कदत्तस्तत्राश्वानारुह्य सचिवैः सह ॥३१॥
सुप्तस्त्रीवालशेषां तां विवेशोज्जयिनीं च सः।
गत्वैव संवृतद्वारां सुप्तैः स्वल्पैश्च रक्षिभिः ॥३२॥
ततः श्रुतधिना दत्तैरभिज्ञानैः सुलक्षितम्।
ख्यातं पुष्पकरण्डाख्यमहोद्यानान्तरस्थितम् ॥३३॥
तत्कालालङ्कृतप्राचीमुखेन शशिना करैः।
प्रकाशितं राजसुतस्तं स गौर्याश्रमं ययौ ॥३४॥
तावच्च परिचर्यादिश्रान्ते सुप्ते सखीजने।
सा शशाङ्कवती तत्र वीतनिद्रा व्यचिन्तयत् ॥३५॥
मदर्थं बत राजानो राजपुत्रा दिने दिने।
वीरास्ते ते च हन्यन्ते सन्नित्युभयसैन्ययोः ॥३६॥
स च राजसुतो देव्या स्वप्ने ह्यम्बिकयानया।
आदिष्टः पूर्वभर्त्ता मे मदर्थप्रार्थिताहवः ॥३७॥
हृदयं च यमाच्छिद्य दत्त्वा शरपरम्पराम्।
सिद्धलक्षेण कामेन नीत्वा तस्मै समर्पितम् ॥३८॥
तातस्तु मन्दपुण्यां मां नैव तस्मै प्रदास्यति।
पूर्ववैराच्च दर्पाच्च लेखादित्यद्य हि श्रुतम् ॥३९॥
वामे विधौ च कः स्वप्नदेवतादेशनिश्चयः।
प्रियप्राप्तौ च पश्यामि न काञ्चित्सर्वथा दिशम् ॥४०॥
तद्यावन्नाहितं किञ्चित्तस्य तातस्य वा रणे।
शृणोमि तावदात्मानं हताशं न त्यजामि किम् ॥४१॥
इत्युत्थाय पुरो गत्वा गौर्या साशोकपादपे।
पाशं विरचयामास स्वोत्तरीयेण दुःखिता ॥४२॥
तावन्मृगाङ्कदत्तोऽपि सवयस्यः प्रविश्य तम्।
उद्यानं तरुबद्धाश्वो गौर्यागाराश्रमं गतः ॥४३॥
तत्र तत्सचिवेनाराद्राजपुत्रीं विलोक्य ताम्।
मृगाङ्कदत्तो जगदे स्वैरं विमलबुद्धिना ॥४४॥

"प्राणों का विनाश करनेवाले युद्ध की यही अधम गति होती है। विद्वानों ने युद्ध को निन्दित उपाय बतलाया है" ॥३०॥

श्रुतधि के ऐसा कहने पर मृगांकदत्त, अपने मन्त्रियों के सहित, घोड़ों पर सवार होकर, रात में गुप्त रूप से वहाँ गये ॥३१॥

नगर के द्वारों पर थोड़े-से पहरेदार थे—वे भी सो रहे थे। मृगांकदत्त (सहज ही) उस उज्जयिनी के अन्दर जा पहुँचा, जहाँ सोई हुई स्त्रियाँ और बच्चे ही बच रहे थे ॥३२॥

श्रुतधि की बतलाई हुई पहचान के अनुसार राजकुमार गौरी देवी के मन्दिर में जा पहुँचा हूँ। मन्दिर, पुष्पकरण्ड नाम से प्रसिद्ध एक बहुत बड़े उद्यान के भीतर स्थित था। उस समय चन्द्रमा की किरणों से पूर्व दिशा का मुख अलंकृत होने के कारण वह मन्दिर स्पष्ट दीख पड़ता था ॥३३-३४॥

सेवा-शुश्रूषा से थकी हुई सखियाँ तबतक सो गई थीं। केवल शशांकवती जागती हुई सोच रही थी—॥३५॥

'हाय, मेरे ही कारण इस युद्ध में दोनों ओर के राजा, राजकुमार तथा योद्धा प्रतिदिन मारे जा रहे हैं ॥३६॥

'स्वप्न में इन्हीं अम्बिका देवी ने मुझे आदेश दिया है कि ये राजकुमार मेरे पूर्वजन्म के पति हैं और मेरे ही लिए इन्होंने लड़ाई छेड़ रखी है ॥३७॥

'अचूक निशानेवाले कामदेव ने लगातार बाणों की वर्षा करके मेरा हृदय बींध दिया है और उसे लेकर राजकुमार को सौंप दिया है ॥३८॥

'मैं क्षीण-पुण्यवाली हूँ। पिताजी मुझे उस राजकुमार को न सौंपेंगे। कारण यह है कि एक तो दोनों वंशों में पुराना वैर है; फिर मैंने यह भी सुना है कि पत्र आदि के द्वारा राजकुमार ने अभिमान भी दिखाया है ॥३९॥

'जब विधाता वाम हों, तब स्वप्न में दिया हुआ देवी का निश्चित बचन भी किस काम आ सकता है? अतः, मुझे अपने प्रियतम को पा सकने का कोई संयोग नहीं दीखता ॥४०॥

'मेरी आशाएँ तो टूट चुकी हैं। अतः, युद्ध में पिताजी का अथवा उनका कोई अमंगल सुनने के पहले ही मैं अपने प्राण क्यों न त्याग दूँ?" ॥४१॥

ऐसा सोचकर दुःख की मारी शशांकवती उठी और गौरी के सामने जाकर, अशोक के वृक्ष में, अपनी चादर से, उसने फाँसी का फन्दा डाला ॥४२॥

इस बीच मृगांकदत्त ने भी अपने मित्रों के साथ उस उद्यान में प्रवेश किया। वृक्षों से अपने घोड़े बाँधकर वे गौरी के मन्दिर में गये ॥४३॥

वहाँ उसके मन्त्री विमलबुद्धि ने पास ही उस राजकुमारी को देखा। उसने स्वेच्छा से मृगांकदत्त से कहा—॥४४॥

देव पश्यात्र काप्येषा पाशेन वरकन्यका।
उद्यता हन्तुमात्मानं तत्का नाम भवेदियम् ॥४५॥
तच्छ्रुत्वैव विलोक्यैतां राजसूनुरुवाच सः।
अहो केयं रतिः किंस्विद्रूपिणी किमु निर्वृतिः ॥४६॥
साकारा कान्तिरिन्दोर्वा मन्मथाज्ञाथ जङ्गमा।
किं वामराङ्गना मैवमस्याः पाशोद्यमः कथम् ॥४७॥
तत्तावदिह तिष्ठामः पादपान्तरिताः क्षणम्।
यावज्जानीमहे केयमिति व्यक्तं कथञ्चन ॥४८॥
इत्युक्त्वा सवयस्योऽत्र यावच्छन्नः स तिष्ठति।
सा शशाङ्कवती तावद्विग्ना देवीं व्यजिज्ञपत् ॥४९॥
अस्मिञ्जन्मनि चेद्देवि न स राजसुतः पतिः।
देवो मृगाङ्कदत्तो मे निष्पन्नः पूर्वदुष्कृतैः ॥५०॥
त्वत्प्रसादेन तद्भूयादन्यस्मिन्नपि जन्मनि।
स भर्त्ता गौरि भगवत्यापन्नार्त्तिहरे मम ॥५१॥
इति विज्ञप्य देवीं सा राजपुत्री प्रणम्य च।
कण्ठे समर्पयामास पाशं वाष्पार्द्रलोचना ॥५२॥
तत्क्षणं च प्रवुद्ध्यैव तददर्शनविह्वलाः।
चिन्वन्त्यः सहसा तस्याः सख्योऽन्तिकमुपाययुः ॥५३॥
हा हा किमिदमारब्धं सखि धिक्साहसं त्वया।
इत्युक्त्वैव च तास्तस्याः पाशं कण्ठादपाहरन् ॥५४॥
अथ ह्रीतविषण्णा सा यावद्वालात्र तिष्ठति।
उदभूद्भारती तावद्गौरीगर्भगृहान्तरात् ॥५५॥
मा विषादं कृथाः पुत्रि शशाङ्कवति नैव तत्।
वचो मृषा मे यत्स्वप्ने तवोक्तं सुभगे मया ॥५६॥
सोऽयं मृगाङ्कदत्तो हि पूर्वभर्त्ता तवान्तिके।
प्राप्त एव व्रजानेन सह भुङ्क्ष्वाखिलां भुवम् ॥५७॥
श्रुत्वैतां सहसा वाणीं सा शशाङ्कवती शनैः।
यावद्विलोकयत्यत्र पार्श्वे किञ्चित्ससाध्वसा ॥५८॥
तावन्मृगाङ्कदत्तस्य मन्त्री विक्रमकेसरी।
तामुपागम्य वक्ति स्म दर्शयन्नग्रपाणिना ॥५९॥

"देव, देखिए तो, यहाँ कोई श्रेष्ठ कन्या फाँसी लगाकर आत्महत्या करना चाहती है। भला यह कौन हो सकती है?" ॥४५॥

यह सुनकर राजकुमार ने उसे देखा और कहा—"अरे, यह कौन है? रति है या रूपधारिणी प्रसन्नता है? ॥४६॥

"अथवा यह चन्द्रमा की कान्ति है, जिसने आकार धारण कर लिया है? या यह कोई देवांगना तो नहीं है? लेकिन नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। भला, देवांगना को फाँसी लगाने का क्या काम? ॥४७॥

"तो हम लोग पेड़ की आड़ में छिपकर थोड़ी देर यहाँ ठहरें, जिससे हमें स्पष्ट रूप से, किसी तरह. यह मालूम हो सके कि यह कौन है" ॥४८॥

यह कहकर वह अपने मित्रों के सहित छिप गया। तभी घबराई हुई शशांकवती ने देवी से निवेदन किया—॥४९॥

"दुःखियों का दुःख दूर करनेवाली हे भगवती गौरी! पूर्वजन्म के पापों से यदि इस जन्म में राजकुमार मृगांकदत्त मेरे पति न हो सके, तो आपकी कृपा से अगले जन्म में वे मेरे पति हों" ॥५०-५१॥

देवी से ऐसा कहकर और उन्हें प्रणाम करके डबडबाई आँखों से उस राजकुमारी ने अपने गले में फन्दा डाला ॥५२॥

उसी समय उसकी सखियाँ, जो जाग गई थीं और उसे न देखने पर विह्वल हो रही थीं, उसे ढूँढ़ती हुई वहाँ आ पहुँचीं ॥५३॥

"हाय, हाय, सखी! यह ऐसा दुस्साहस तुम क्यों कर रही हो?" ऐसा कहती हुई उन सखियों ने राजकुमारी के गले से फन्दा निकाल दिया ॥५४॥

राजकुमारी लज्जित और विषण्ण होकर खड़ी ही थी कि गौरी-मन्दिर के गर्भ-गृह से यह वाणी सुन पड़ी—॥५५॥

"बेटी शशांकवती! तुम दुःखी न होओ। सुन्दरी! मैंने स्वप्न में तुमसे जो कहा था, मेरा वह वचन निष्फल नहीं होगा ॥५६॥

"पूर्वजन्म का तुम्हारा वह पति मृगांकदत्त तुम्हारे पास आ पहुँचा है। उसके साथ जाओ और इस समस्त पृथिवी का भोग करो" ॥५७॥

यह वाणी सुनकर कुछ घबराई हुई शशांकवती ने ज्यों ही धीरे-धीरे अपने आसपास देखा, त्यों ही मृगांकदत्त का मन्त्री विक्रमकेसरी उसके पास आकर उँगली से इशारा करता हुआ बोला—॥५८-५९॥

देवि सत्यं भवान्या ते समादिष्टमयं हि सः।
राजपुत्रः पतिः प्रेमपाशाकृष्टस्तवाग्रतः॥६०॥
तच्छ्रुत्वा सा ततस्तिर्यङ्न्यस्तदृष्टिर्ददर्श तम्।
कान्तं तेजस्विनं मध्यवर्त्तिनं सहचारिणाम्॥६१॥
ग्रहैः परिवृतं चन्द्रमवतीर्णमिवाम्बरात्।
रूपोपमानमन्येषाममृतस्यन्दनं दृशोः॥६२॥
ततः पतदनङ्गेषुपुङ्खपक्ष्मचितैरिव।
अङ्गैः कण्टकितैर्यावदास्ते सा स्तम्भनिश्चला॥६३॥
तावन्मृगाङ्कदत्तस्तामुपेत्य त्याजयन्ह्रियम्।
स कालोचितमाह स्म गिरा प्रेममधुश्च्युता॥६४॥
त्याजयित्वा निजं देशं राज्यं बन्धूंश्च दूरतः।
दासीकृत्याहमानीतो गुणैर्बद्धा नताङ्गि ते॥६५॥
तन्मयारण्यवासस्य वसुधाशयनस्य च।
फलाहारस्य तीव्रार्कतापसंसेवनस्य च॥६६॥
तपः कष्टस्य तन्वङ्गि सम्प्राप्तं फलमीदृशम्।
यद्दृष्टा नेत्रपीयूषवृष्टिरेषा तनुस्तव॥६७॥
यदि स्नेहानुरोधश्च मयि ते हरिणाक्षि तत्।
अस्मत्पुरीपुरन्ध्रीणां प्रयच्छ नयनोत्सवम्॥६८॥
सङ्ग्रामः शाम्यतु श्रेयो भवतूभयपक्षयोः।
कृतार्थं जायतां जन्म सह गुर्वाशिषा मम॥६९॥
एवं मृगाङ्कदत्तेन सा शशाङ्कवती तदा।
उक्ता जगाद वसुधाविन्यस्तनयना शनैः॥७०॥
अयं तावद्गुणक्रीतो जनः स्वाधीन एव ते।
तदार्यपुत्र कुशलं यदवैषि कुरुष्व तत्॥७१॥
इति वाक्सुधया तस्याः कृती निर्वापितोऽथ सः।
मृगाङ्कदत्तो देवीं तां गौरीं स्तुत्वा प्रणम्य च॥७२॥
आरोप्य राजपुत्रीं च तां तुरङ्गे स्वपृष्ठतः।
तत्सखीभिः समारूढपश्चाद्भागाश्वपृष्ठगैः॥७३॥
दशभिः सहितो वीरैः सचिवैः शस्त्रपाणिभिः।
उच्चचाल ततो रात्रौ राजपुत्रो धृतायुधः॥७४॥

"देवि! भवानी ने आपसे सच ही कहा है। आपके प्रेम-पाश से खिंचकर आपके पति राजकुमार यहाँ सामने खड़े हैं॥६०॥

यह सुनकर शशांकवती ने तिरछी दृष्टि डालकर उस सुन्दर, तेजस्वी और अपने सहचरों के बीच खड़े मृगांकदत्त को देखा॥६१॥

राजकुमार आकाश से उतरे उस चन्द्रमा के समान प्रतीत होता था, जिसे ग्रहों ने घेर रखा हो, जो दूसरों के लिए रूप का उपमान हो तथा जो आँखों के लिए अमृत बरसानेवाला हो॥६२॥

राजकुमार को देखकर वह खम्भे की तरह निश्चल हो गई। उसके सारे अंग रोमांचित जान पड़न लगे, मानों उसके सारे शरीर को कामदेव के बाणों ने विद्ध कर दिया हो॥६३॥

तभी मृगांकदत्त उसके पास आ पहुँचा और प्रेम का मधु ढालती हुई वाणी के द्वारा उसकी लज्जा दूर करता हुआ समयोचित वचन बोला—॥६४॥

"नतांगि! अपने देश, अपने राज्य और अपने बन्धु-बान्धवों को छोड़कर तुम्हारे गुणों से बँधा मैं, दास बनाकर यहाँ लाया गया हूँ॥६५॥

"तन्वंगि! मैं जो जंगलों में रहता, भूमि पर सोता, फल-मूल खाता, कड़ी धूप सहता और तपस्या का कष्ट सहता रहा, मुझे उसका ऐसा फल मिला कि नेत्रों के लिए अमृत बरसानेवाला तुम्हारा यह शरीर मैंने देखा॥६६-६७॥

"हरिणाक्षि! यदि मुझमें तुम्हारा स्नेह है, तो तुम मेरी नगरी की स्त्रियों का नयनोत्सव बनो, अर्थात् उनकी आँखें तुम्हें देखकर आनन्दित हो सकें, इसका अवसर दो॥६८॥

"यह युद्ध बन्द हो। दोनों पक्षों का कल्याण हो। मेरा जन्म सफल हो और मैं बड़ों का आशीर्वाद पा सकूँ॥६९॥

मृगांकदत्त के ऐसा कहने पर, शशांकवती भूमि पर दृष्टि गड़ाये हुए धीरे-धीरे बोली—॥७०॥

"मैं तो आपके गुणों के मोल बिक चुकी हूँ। आपके अधीन हूँ। अतः आर्यपुत्र! आप जो ठीक समझें, वहीं करें" ॥७१॥

अमृत के समान ये बातें सुनकर मृगांकदत्त शान्त हो गया। उसका मनोरथ पूरा हो गया था। उसने गौरी देवी को प्रणाम करके उनकी स्तुति की॥७२॥

मृगांकदत्त ने राजकुमारी को अपने पीछे घोड़े पर बैठा लिया। उसके पीछे-पीछे उसके दसों बीर मन्त्री भी, अपने घोड़ों पर राजकुमारी की सखियों को लेकर और हाथ में शस्त्र धारण करके चल पड़े। इस तरह, रात के समय राजकुमार मृगांकदत्त आयुध-सज्जित होकर वहाँ से चल पड़ा॥७३-७४॥

ते चैकादश दृष्ट्वापि तत्र रोद्धुं न शेकिरे।
नगरीरक्षिभिः क्रुद्धा रुद्रा इव दुरासदाः ॥७५॥
विनिर्गत्योज्जयिन्याश्च जग्मुर्मायाबटोर्गृहम्।
सशशाङ्कवतीकास्ते यथा श्रुतधिनोदितम् ॥७६॥
क एते क्व प्रयाताश्चेत्युद्भ्रान्तेष्वत्र रक्षिषु।
सा चोज्जयिन्यां बुबुधे क्रमाद्राजसुता हृता ॥७७॥
तच्चाख्यातुं महादेवीं कर्मसेनाय भूभृते।
सत्वरं नगराध्यक्षं प्राहिणोत्कटकं प्रति ॥७८॥
अत्रान्तरे च कटके तत्र रात्रावुपेत्य तम्।
चाराधिकारी राजानं कर्मसेनं व्यजिज्ञपत् ॥७९॥
देव प्रदोष एवाद्य गुप्तं निर्गत्य सैन्यतः।
मृगाङ्कदत्तः सामात्यो हयैरुज्जयिनीं गतः ॥८०॥
तां शशाङ्कवतीं हर्तुं गौर्यायतनवर्त्तिनीम्।
इति सम्यङमया ज्ञातं प्रभुर्जानात्यतः परम् ॥८१॥
इत्याकर्ण्य समाहूय कर्मसेनः स भूपतिः।
रहः स्वसेनापतये यथाश्रुतमवर्णयत् ॥८२॥
जगाद च वराश्वानां सहितः पञ्चभिः शतैः।
शूराधिरूढैः प्रच्छन्नं द्रुतमुज्जयिनीं व्रज ॥८३॥
मृगाङ्कदत्तं जहि तं पापं प्राप्य वधान वा।
विद्धि मामागतं पश्चात्पृष्टस्थापितसैनिकम् ॥८४॥
इत्युक्तस्तेन राज्ञा स यथादिष्टवलान्वितः।
प्रायात्सेनापती रात्रौ तथेत्युज्जयिनीं प्रति ॥८५॥
मार्गे तन्नगराध्यक्षान्मिलितादशृणोच्च सः।
राजपुत्रीं हृतां वीरैर्यथान्यैरेव कैश्चन ॥८६॥
ततः सनगराध्यक्षः प्रत्यागत्य तथैव तत्।
कर्मसेनं स राजानं यथावृत्तमबोधयत् ॥८७॥
स तद्बुद्ध्वा विचिन्त्यैव तदशक्यं ततो नृपः।
अवस्कन्दनिवृत्तस्तां तूष्णीमेवानयन्निशाम् ॥८८॥
मृगाङ्कदत्तसैन्येऽपि मायाबटुमुखा नृपाः।
निन्युस्तथैव तां रात्रिं सन्नद्धाः श्रुतधेर्गिरा ॥८९॥

रुद्र के समान क्रुद्ध और परम पराक्रमी इन ग्यारहों को देखकर भी नगर-रक्षक इन्हें रोक नहीं सके ॥७५॥

श्रुतधि के कहने के अनुसार. उज्जयिनी से निकलकर वे शशांकवती के साथ मायाबटु के भवन की ओर चल पड़े ॥७६॥

नगर-रक्षक घबराकर कहने लगे कि 'ये कौन थे ? कहाँ चले गये ?' और, इस तरह धीरे-धीरे उज्जयिनी में यह बात फैल गई कि राजकुमारी का हरण हो गया ॥७७॥

महारानी ने महाराज कर्मसेन को यह संवाद देने के लिए नगराध्यक्ष को शीघ्र ही सेना की ओर भेजा ॥७८॥

इसी बीच रात्रि के समय गुप्तचरों का अधिकारी सेना में आया और उसने राजा कर्मसेन से कहा॥७९॥

"देव ! आज सन्ध्या के समय मृगांकदत्त अपने मन्त्रियों के सहित घोड़े पर चढ़कर गुप्त रूप से उज्जयिनी की ओर गया है। मुझे पक्की खबर मिली है कि उज्जयिनी के मन्दिर में ठहरी हुई शशांकवती का हरण करने के लिए ही वह उधर गया है। अब आप जैसा समझें, वैसा करें।" ॥८०-८१॥

यह सुनकर राजा कर्मसेन ने अपने सेनापति को बुलवाया और एकान्त में उससे वह सब कह सुनाया, जो उन्होंने सुना था ॥८२॥

कर्मसेन ने कहा—"तुम पाँच सौ वीर घुड़सवारों के साथ छिपकर उज्जयिनी चले जाओ और उस दुष्ट मृगांकदत्त को जहाँ भी पाओ, मार डालो या बन्दी बना लो। सेना को यहीं छोड़कर मैं भी तुम्हारे पीछे आ रहा हूँ।"॥८३-८४॥

राजा के ऐसा कहने पर सेनापति बोला—'जो आज्ञा', फिर वह राजा के कहने के अनुसार सेना लेकर रात के समय, उज्जयिनी की ओर चल पड़ा ॥८५॥

रास्ते में उसे नगरपाल मिला, जिसने बतलाया कि जाने कौन वीर राजकुमारी को हर ले गया है ॥८६ ॥

तब वह उस नगरपाल के साथ वहीं से राजा कर्मसेन के पास लौट आया और उसने उन्हें सब हाल कह सुनाया ॥८७॥

सारा वृत्तान्त जानकर राजा ने सोचा कि अब कुछ करना सम्भव नहीं है, अतः आक्रमण से निवृत्त होकर उसने चुपचाप वह रात बिता दी ॥८८॥

सी तरह मृगांकदत्त की सेना में मायाबटु आदि राजाओं ने भी श्रुतधि के कहने के अनुसार सावधान रहकर वह रात बिता दी ॥८९॥

प्रातश्चान्विष्टवृत्तान्तः कर्मसेननृपः सुधीः।
मृगाङ्कदत्तकटके राज्ञां दूतं विसृष्टवान् ॥९०॥
मृगाङ्कदत्तेन हृता सुता तावच्छलेन मे।
तदस्तु कोऽपरो ह्यस्यास्तादृशः सदृशः पति ॥९१॥
तदिदानीं स युष्माभिः सममायातु मद्गृहम्।
करोमि यावदुद्वाहं तनयाया यथाविधि ॥९२॥
एवं स सन्दिदेशास्य मुखे दूतस्य भूपतिः।
तच्च ते सश्रुतधियो राजानः श्रद्दधुस्तदा ॥९३॥
ऊचुश्च दूतं स्वपुरीं तर्हि यात्वेष वः प्रभुः।
यावत्तमानयामोऽत्र गत्वा राजसुतं वयम् ॥९४॥
तच्छ्रुत्वैव तथा तेन गत्वा दूतेन वर्णिते।
स कर्मसेनः सबलस्तथेत्युज्जयिनीमगात् ॥९५॥
तद्दृष्टवा तेऽपि राजानो मायाबटुपुरःसराः।
मृगाङ्कदत्तं प्रति तं चेलुः श्रुतधिना सह ॥९६॥
तावन्मृगाङ्कदत्तोऽपि स शशाङ्कवतीयुतः।
मायावटुगृहं प्राप तत्काञ्चनपुरं पुरम् ॥९७॥
तत्र सोऽन्तःपुरैस्तस्य यथार्हकृतसत्क्रियः।
सवयस्यो विशश्राम सिद्धकार्यः प्रियासखः ॥९८॥
अन्येद्युः सश्रुतधयो नृपास्तेऽत्र समाययुः।
स किरातपतिर्वीरः ससैन्यः शक्तिरक्षितः ॥९९॥
शबराधिपतिः सोऽपि राजा मायाबटुर्बली।
शूरो दुर्गपिशाचश्च स मातङ्गचमूपतिः ॥१००॥
सर्वं शशाङ्कवत्या ते युक्तं राज्ञ्यैव कैरवम्।
मृगाङ्कदत्तं दृष्ट्वा तमभ्यनन्दन्कृतोत्सवाः ॥१०१॥
यथार्हकृतमानाय तस्मै तां च न्यवेदयन्।
सन्देशं कर्मसेनीयं प्रवेशं च निजे गृह ॥१०२॥
सत्रिवेश्याथ कटकं चलन्नगरसन्निभम्।
मृगाङ्कदत्तो मन्त्राय समं सर्वैरुपाविशत् ॥१०३॥
विवाहायोज्जयिन्यां किं गन्तव्यमुत नो मया।
उच्यतामिति पप्रच्छ नृपतीन्सचिवांश्च सः ॥१०४॥

सवेरा होने पर जब बुद्धिमान् राजा कर्मसेन को असली वृत्तान्त का पता चला, तब उसने दूत के मुँह मृगांकदत्त की सेना में राजा के पास यह संवाद भेजा ।।९०।।

"मृगांकदत ने छल से मेरी कन्या का हरण कर लिया है। अस्तु; मेरी कन्या के लिए उसके समान अनुकूल पति और कौन हो सकता है ? ।।।९१।।

तो अब वह आपलोगों के साथ मेरे घर आये, जिससे मैं विधिपूर्वक अपनी कन्या का विवाह कर सकूँ" ।।९२।।

दूत के मुख से राजा का यह सन्देश सुनकर श्रुतधि के साथ (मृगांकदत्त के पक्ष के) राजाओं ने यह बात स्वीकार कर ली ।।९३।।

उन्होंने कहा--"यदि ऐसी बात है, तो तुम्हारे स्वामी अपने नगर में लौट जायँ। हम लोग भी जाकर राजकुमार को ले आते हैं" ।।९४।।

यह सुनकर दूत लौट गया और उसने सब बातें कर्मसेन से कह सुनाईं। तब वह अपनी सेना लेकर उज्जयिनी लौट गया ।।९५।।

यह देखकर श्रुतधि के साथ वे सभी राजा मायाबटु को आगे करके मृगांकदत्त के पास जाने के लिए चल पड़े।९६।।

इस बीच मृगांकदत्त शशांकवती को साथ लेकर, कांचनपुर में मायाबटु के भवन में पहुँच गया ।।९७।।

वहाँ मायाबटु की रानियों का समुचित स्वागत-सत्कार पाकर सफलमनोरथ मृगांकदत्त ने, अपने मित्रों और अपनी प्रिया के सहित विश्राम किया ।।९८।।

दूसरे दिन श्रुतधि के साथ ये सब राजा भी वहाँ आ पहुँचे--अपनी सेना के सहित किरातों का राजा, वीर शक्तिरक्षित. शबरों का अधिपति बलवान् राजा मायाबटु तथा मातंगों की सेना का स्वामी शूर दुर्गपिशाच ।।९९-१००।।

चन्द्रमा जैसे रात्रि के साथ शोभित होता है, उसी प्रकार शशांकवती के साथ मृगांकदत्त को देखकर उन्होंने उसका अभिनन्दन किया और आनन्द मनाया ।।१०१।।

मृगांकदत्त का यथोचित सम्मान करने के बाद उन राजाओं ने उससे कर्मसेन का संवाद कहा और यह भी बतलाया कि किस प्रकार वह अपने घर वापस चला गया ।।१०२।।

चलते हुए नगर के समान अपनी सेना को ठहराकर सलाह-मशविरा करने के लिए, मृगांकदत्त सबके साथ बैठा ।।१०३।।

उसने सभी राजाओं और अपने मन्त्रियों से पूछा--"यह बतलाइए कि विवाह करने के लिए मुझे उज्जयिनी जाना चाहिए या नहीं ?"।।१०४।।

दुष्टः स राजा तद्गेहगमने कुशलं कुतः।
कार्यं च तत्र नास्त्येव प्राप्तैव हि तदात्मजा ॥१०५॥
इत्यैकमत्येन नृपाः सचिवाश्चाब्रुवन्यदा।
तदा मृगाङ्कदत्तस्तमपृच्छच्छ्रुतधिं द्विजम् ॥१०६॥
उदासीन इव ब्रह्मंस्तूष्णीमेवं स्थितोऽसि किम्।
किमेतदेवाभिमतं तवाप्युत न वा वद ॥१०७॥
ततः श्रुतधिराह स्म यदि श्रोष्यसि वच्मि तत्।
गन्तव्यं कर्मसेनस्य गृहेष्विति मतिर्मम ॥१०८॥
अशाठ्येन हि सन्दिष्टमेतत्तेनान्यथा कथम्।
सुतापहारे स बली युद्धं त्यक्त्वा गृहं व्रजेत् ॥१०९॥
सबलस्य च किं कुर्यात्प्राप्तस्यापि गृहं स ते।
प्रीतिस्तु तत्र यातस्य भवेत्तेन समं तव ॥११०॥
सहायोऽग्रे स च स्यान्नः स्नेहेन दुहितुः पुनः।
नेच्छत्यविधिनोद्वाहं तेनैवं वक्ति तत्त्वतः ॥१११॥
तद्युक्तं गमनं तत्रेत्युक्ते श्रुतधिना तदा।
साधु साध्विति तत्रोचुः सर्वे श्रद्धाय तद्वचः ॥११२॥
ततो मृगाङ्कदत्तस्तानवोचत्सर्वमस्त्वदः।
किं तु तातं विनाम्बां च विवाहो मे न रोचते ॥११३॥
तदम्बातातयोः कश्चिदाह्वानाय व्रजत्वितः।
बुद्ध्वा च तदभिप्रायं करिष्यामो यथोचितम् ॥११४॥
इत्यूचिवान् स सम्मन्त्र्य पित्रोः पार्श्वं स्वमन्त्रिणम्।
तत्रस्थ एव व्यसृजद्वीरो भीमपराक्रमम् ॥११५॥
तावच्च तत्रायोध्यायां पुरि राजा स तत्पिता।
कालेनामरदत्तस्तज्ज्ञातवांस्तस्य लोकतः ॥११६॥
मृगाङ्कदत्तस्य कृतं देशनिर्वासनप्रदम्।
विनीतमतिना मिथ्या राजपुत्रस्य पैशुनम् ॥११७॥
ततः कुमन्त्रिणं कोपात्तं निहत्य स सान्वयम्।
पुत्रनिर्वासनोदग्रदुःखकष्टामगाद्दशाम् ॥११८॥
निर्गत्य च पुरीवाह्ये तस्थावायतने हरेः।
राजा स नन्दिग्रामाख्ये चरन्दारैः समं तपः ॥११९॥

जब सभी राजाओं और मन्त्रियों ने एक स्वर से कहा कि 'वह राजा दुष्ट है। उसके घर जाने में भलाई कैसे हो सकती है ? और फिर, वहाँ जाने का काम भी क्या है, उसकी कन्या तो हमें मिल ही चुकी है। तब मृगांकदत्त ने ब्राह्मण श्रुतधि से पूछा—॥१०५-१०६॥

"ब्रह्मन् ! तुम उदासीन की तरह चुप क्यों बैठे हो ? बतलाओ कि तुम्हारी भी यही राय है या नहीं ?"॥१०७॥

तब श्रुतधि ने कहा—"यदि तुम सुनो, तो मैं कहता हूँ। मेरी राय है कि तुम्हें कर्मसेन के यहाँ जाना चाहिए॥१०८॥

"उसने दुष्टता से यह सन्देश तुम्हारे पास नहीं भेजा; क्योंकि वैसा होता, तो कन्या का अपहरण होने के बाद वह बलवान् राजा युद्ध छोड़कर घर कैसे चला जाता ? ॥१०९॥

"तुम उसके घर चले भी जाओगे, तो सेना के साथ रहने। पर वह तुम्हारा क्या कर लेगा ? वहाँ जाने पर उसके साथ तुम्हारी प्रीति ही होगी॥११०॥

"अपनी कन्या के स्नेह के कारण वह फिर तुम्हारा सहायक बन जायगा। विना विधि के वह अपनी कन्या का विवाह। नहीं होने देना चाहता और इसी अभिप्राय से उसने यह सन्देश भेजा है॥१११॥

"इसलिए तुम्हारा वहाँ जाना ही उचित है।" श्रुतधि के ऐसा कहने पर सबने 'साधु-साधु' कहकर उसकी बात का औचित्य स्वीकार किया॥११२॥

तब मृगांकदत्त ने उन सबसे कहा कि 'यह तो ठीक है, किन्तु पिता और माता के विना यह विवाह मुझे नहीं रुचता॥११३॥

'अतः पिता और माता को बुलाने के लिए यहाँ से कोई आदमी जाय। उनकी राय जानने के बाद, जैसा उचित होगा, वैसा मैं करूँगा'॥११४॥

ऐसा कहकर और सबसे परामर्श करके उसने अपने वीर मन्त्री भीमपराक्रम को, जो वहाँ उपस्थित था, पिता के पास भेजा॥११५॥

इस बीच अयोध्या में मृगांकदत्त के पिता, राजा अमरसेन को कुछ समय बाद, अपने अनुचरों के द्वारा यह पता चला कि विनीतमति ने राजकुमार पर जो लांछन लगाया था और जो उसके देश-निकाले का कारण बना था, वह बिलकुल झूठा था॥११६-११७॥

तब राजा अमरसेन ने क्रुद्ध होकर, परिवार के सहित उस दुष्ट मन्त्री का वध करवा दिया और पुत्र-निर्वासन के कठोर दुःख से वह बुरी दशा में पड़ गया॥११८॥

वह राजा नगरी से बाहर, नन्दिग्राम के विष्णु-मन्दिर में जाकर रहने लगा और सपत्नीक तपस्वी का जीवन बिताने लगा॥११९॥

तत्र स्थिते चिरात्तस्मिन्स चारावेदितागमः ।
अयोध्यां प्राप वाताश्ववेगाद्भीमपराक्रमः ॥१२०॥
स तामपश्यदुद्विग्नां गतराजसुतां पुरीम् ।
रामप्रवासवैधुर्यकष्टां पुनरिवागताम् ॥१२१॥
राजपुत्रस्य पृच्छद्भिर्वार्त्तां पौरैर्वृतोऽथ सः ।
तन्मुखाच्छ्रुतवृत्तान्तो नन्दिग्रामं ततो ययौ ॥१२२॥
तत्राभीष्टसुतोदन्तसोत्सुकं महिषीयुतम् ।
ददर्शामरदत्तं तं तपः क्षमतनुं नृपम् ॥१२३॥
तमेत्य पादपतितः कृतकण्ठग्रहं नृपम् ।
पृष्टोदन्तमवोचत्स सास्रं भीमपराक्रमम् ॥१२४॥
प्राप्ता मृगाङ्कदत्तेन सूनुना ते स्ववीर्यतः ।
सा शशाङ्कवती देव कर्मसेननृपात्मजा ॥१२५॥
तद्विवाहश्च देवेन विना देव्या च सर्वथा ।
न तस्य पितृभक्तस्य शोभनः प्रतिभासते ॥१२६॥
अतस्तेन विसृष्टोऽहमिहैवागम्यतामिति ।
विज्ञापनाय धरणिन्यस्तमूर्ध्ना सुतेन वः ॥१२७॥
प्रतीक्षमाणो युष्मांश्च स काञ्चनपुरे स्थितः ।
शवराधिपतेर्देव राज्ञो मायावटोर्गृहे ॥१२८॥
शृण्विदानीं च वृत्तान्तमित्युक्त्वा देशनिर्गमात् ।
आरभ्य सोऽटवीवासवियोगविषमायतम् ॥१२९॥
स युद्धं कर्मसेनीयसन्ध्यन्तं विविधाद्भुतम् ।
कृत्स्नं स्वप्रभुवृत्तान्तं जगौ भीमपराक्रमः ॥१३०॥
तच्छ्रुत्वा सुतकल्याणे स राजा जातनिश्चयः ।
तदैवामरदत्तः स्वं हर्षात्प्रस्थानमादिशत् ॥१३१॥
गजारूढः समं देव्या राजभिः सचिवैश्च सः ।
सहस्त्यश्वबलः प्रायात्पुत्रं प्रत्युत्सुकस्ततः ॥१३२॥
अल्पैरेव च स प्राप दिवसैरविलम्बितः ।
शवराधिपदेशस्थं सुतस्य कटकं नृपः ॥१३३॥
तद्बुद्ध्वैव च तस्याग्रे समग्रै राजभिः सह ।
मृगाङ्कदत्तो निरगात्सवयस्यश्चिरोत्सुकः ॥१३४॥

राजा को वहाँ रहते जब बहुत दिन हो गय, तब वायु-वेग से दौड़नेवाले घोड़े पर सवार भीमपराक्रम अयोध्या आ पहुंचा, जिसके आने की सूचना उसे गुप्तचरों से (पहले ही) मिल चुकी थी ॥१२०॥

भीमपराक्रम ने राजकुमार के चले जाने से उदास बनी हुई उस नगरी को देखा। लगता था, जैसे रामचन्द्र के वियोग का दुःख उसपर एक बार फिर आ पड़ा हो ॥१२१॥

वहाँ से भीमपराक्रम नन्दिग्राम की ओर चला। उसे उन नगरवासियों ने घेर रखा था, जो राजकुमार के बारे में पूछ रहे थे और उसके मुँह से उसका वृत्तान्त सुनते जा रहे थे ॥१२२॥

वहाँ उसने पत्नी के सहित राजा अमरदत्त को देखा, जो अपने प्यारे पुत्र का समाचार जानने के लिए उत्सुक था और तपस्या से जिसका शरीर क्षीण हो गया था ॥१२३॥

भीमपराक्रम पास जाकर राजा के पैरों पर गिर पड़ा। राजा ने उसे गले से लगाकर हालचाल पूछा। तब आँखों में आँसू भरकर वह बोला—॥१२४॥

"देव! आपके पुत्र मृगांकदत्त ने अपने पराक्रम से राजा कर्मसेन की कन्या शशांकवती को प्राप्त कर लिया है, ॥१२५॥

"किन्तु, उस पितृभक्त को आपके और महारानी के विना वह विवाह सब तरह से अशोभन लग रहा है ॥१२६॥

"अतः, आपके पुत्र ने धरती पर माथा टेककर मुझे यह निवेदन करने के लिए भेजा है कि आपलोग यहाँ पधारें ॥१२७॥

"देव! आपलोगों की प्रतीक्षा करते हुए वे कांचनपुर में, शबरों के अधिपति राजा मायाबटु के यहाँ ठहरे हुए हैं ॥१२८॥

"अब आप सारा वृत्तान्त सुनें।" यह कहकर देश छोड़ने के बाद से अपने स्वामी का सारा वृत्तान्त भीमपराक्रम ने कह सुनाया, जिससे वन में निवास करते समय बिछुड़ने का, युद्ध का और अन्त में कर्मसेन के साथ सन्धि होने का विविध प्रकार का और अद्‌भुत हाल था ॥१२९-१३०॥

यह सुनकर राजा अमरदत्त ने पुत्र की भलाई का निश्चय किया और प्रसन्नतापूर्वक तत्काल अपनी यात्रा के लिए आदेश दिया ॥१३१॥

अनन्तर, महारानी, अन्य राजाओं तथा मन्त्रियों के सहित वह हाथी पर सवार हुआ और हाथी-घोड़ों तथा पैदल सेना को साथ लेकर, उत्सुकतापूर्वक, पुत्र के यहाँ जाने के लिए चल पड़ा ॥१३२॥

मार्ग में विलम्ब किये विना, वह राजा थोड़े ही दिनों में अपने पुत्र की उस सेना में जा पहुँचा, जिसने शबरराज के देश में पड़ाव डाल रखा था ॥१३३॥

पिता के आने का समाचार जानकर, बहुत दिनों से उनके लिए उत्सुक मृगांकदत्त, सभी राजाओं और मन्त्रियों के सहित आगे बढ़ आया ॥१३४॥

दृष्ट्वैव दूरात्तुरगादवतीर्यास्य पादयोः।
गजावरूढस्य पितुर्मातुश्च निपपात सः ॥१३५॥
आलिङ्गितः स च पितुः शरीरेण भुजान्तरम्।
मनोरथेन हृदयं बाष्पैश्चापूरयद्दृशौ ॥१३६॥
माताप्याश्लिष्य सुचिरात्पश्यन्ती तं मुहुः सुतम्।
भूयो वियोगभीतेव न मोक्तुमशकच्चिरम् ॥१३७॥
ते चाप्यमरदत्तं तं सदेवीकं नृपाः प्रभुम्।
मृगाङ्कदत्तसुहृदस्तदाख्यातास्तदानमन् ॥१३८॥
स राजा सापि तद्देवी दम्पतीविधुरेषु तान्।
सहायानेकपुत्रस्य स्नेहादभिननन्दतुः ॥१३९॥
मायाबटोः प्रविश्याथ राजधानीं विलोक्य च।
स शशाङ्कवतीं तत्र तां पादावनतां स्नुषाम् ॥१४०॥
गृहीतप्राभृतो देव्या तया च स्नुषया सह।
निर्गत्यामरदत्तः स्वे कटके वसतिं व्यधात् ॥१४१॥
भुक्त्वा च तत्र पुत्रेण सह सर्वैश्च राजभिः।
गीतवादित्रनृत्तैस्तन्निनाय ससुखं दिनम् ॥१४२॥
मेने च लब्धयशसा कृतिनं तेन सूनुना।
मृगाङ्कदत्तेनात्मानं भाविना चक्रवर्त्तिना ॥१४३॥
तावच्च कर्मसेनेन राज्ञा तेन सुमेधसा।
दूतो मृगाङ्कदत्तस्य सम्मन्त्र्यात्र व्यसृज्यत ॥१४४॥
भवानुज्जयिनीं तावदिमां नैवागमिष्यति।
तत्प्रेषयिष्याम्यत्रैव सुषेणाख्यमहं सुतम् ॥१४५॥
स शशाङ्कवतीं तुभ्यं विधिवद्भगिनीं निजाम्।
दास्यत्यतो नाविधिना सा विवाह्या त्वयानघ ॥१४४॥
अस्मत्स्नेहानुरोधश्चेदिति तं सन्दिदेश च।
लेखे दूतमुखे चास्य राजसूनोः स भूपतिः ॥१४७॥
राजस्थाने श्रुते तस्मिन्सन्देशे राजसूनुना।
तत्पिता तस्य दूतस्य स राजैवोत्तरं ददौ ॥१४८॥
कर्मसेननृपात्कोऽन्यो वक्त्येतत्तस्य सम्मतः।
स्नेहोऽस्ति काममस्मासु तदेनं प्रेषयत्वितः ॥१४९॥

हाथी से उतरे हुए पिता और माता को दूर से ही देखकर मृगांकदत्त घोड़े से उतर पड़ा और उनके पैरों पर जा गिरा ॥१३५॥

पिता ने जब उसका आलिंगन किया, तब मृगांकदत्त का शरीर पिता की बाँहों से, हृदय मनोरथों से और आँखें आँसुओं से भर गईं ॥१३६॥

माता ने भी उसे बहुत देर तक हृदय से लगा रखा और पुत्र को बार-बार देखती हुई, मानों पुनः बिछुड़ने के भय से वह बहुत देर तक उसे छोड़ न सकी ॥१३७॥

मृगांकदत्त ने जब अपने मित्रों और राजाओं का परिचय दिया, तब उन सबने भी राजा अमरदत्त और महारानी का अभिवादन किया ॥१३८॥

राजा और रानी ने भी स्नेहपूर्वक उन सबका अभिनन्दन किया, जो उनके पुत्र के अनुरागी थे और जिन्होंने कठिन समय में उसकी सहायता की थी ॥१३९॥

तब वह मायाबटु की राजधानी में गया और उसने पैरों पर झुकी हुई अपनी बहू शशांकवती को देखा ॥१४०॥

(मायाबटु के द्वारा दिया गया) उपहार स्वीकार करके अमरदत्त, महारानी और बहू को साथ लेकर निकले और अपनी सेना में आकर उन्होंने पड़ाव डाला ॥१४१॥

वहाँ राजा अमरदत्त ने अपने पुत्र तथा सब राजाओं के साथ भोजन किया और गीत, वाद्य, नृत्य आदि के द्वारा सुखपूर्वक वह दिन बिताया ॥१४२॥

राजा ने अपने पुत्र मृगांकदत्त के द्वारा, जिसने यश अर्जित किया था और जो चक्रवर्ती होनेवाला था, अपने को कृतार्थ माना ॥१४३॥

इस बीच बुद्धिमान् राजा कर्मसेन ने इस सन्देश के साथ मृगांकदत्त के पास अपना दूत भेजा ॥१४४॥

"आप तो इस उज्जयिनी में आयेंगे नहीं, अतः मैं सुषेण नाम के अपने पुत्र को वहीं भेज रहा हूँ ॥१४५॥

"हे निष्पाप ! वह अपनी बहन को विधिपूर्वक आपको सौंपेगा। आप विना विधि के उससे विवाह न करेंगे ॥१४६॥

"बस इतना ही मेरा स्नेह का अनुरोध है।" राजा कर्मसेन ने लिखकर तथा दूत के मुँह से भी यह सन्देश मृगांकदत्त के पास भेजा ॥१४७॥

राजाओं के बीच बैठे राजकुमार ने वह सन्देश सुना। तब उसके पिता राजा अमरदत्त ने ही उस दूत को उत्तर दिया—॥१४८॥

"राजा कर्मसेन को छोड़कर ऐसी बात और कौन कह सकता है? उनकी सुबुद्धि से उनके प्रति हमारा स्नेह बहुत बढ़ गया है ॥१४९॥

सुषेणं स निजं पुत्रं करिष्यामस्तथा वयम्।
यथा सन्तोषकृत्तस्य सुतोद्वाहो भविष्यति॥१५०
इत्युक्त्वा प्रतिसन्देशं दूतं तं प्रेष्य सत्कृतम्।
राजा सश्रुतधिं पुत्रं नृपतींश्च जगाद सः॥१५१।
अयोध्यामधुना यामो विवाहस्तत्र शोभते।
सुषेणस्य च सत्कारो यथावत्तत्र सिद्ध्यति॥१५२।
राजा मायाबटुश्चेह सुषेणं सम्प्रतीक्षताम्।
तेनागतेन सहितोऽयोध्यां पश्चादुपेष्यति॥१५३।
वयं विवाहसम्भारहेतोर्यामोऽग्रतः पुनः।
इति राजवचस्तत्र ते सर्वेऽप्यनुमेनिरे॥१५४।
ततोऽन्येद्युः समं देव्या सैन्यैश्च स महीपतिः।
मृगाङ्कदत्तश्च युतौ राजभिः सचिवैश्च तैः॥१५५॥
मायाबटुं निधायात्र सुषेणागमनावधिः।
शशाङ्कवत्या सहितौ चेलतुः कृतिनौ ततः॥१५६॥
वल्गत्तुरङ्गसङ्घाततरङ्गशतसङ्कुलः।
असंख्यसर्पत्पादातपाथः पूरितदिङ्मुखः॥१५७॥
तुमुलप्रोल्लसच्छब्दपिहितान्यरवश्रवः।
चचाल स बलाम्भोधिस्तयोर्गम्भीरभीषणः॥१५८॥
कुर्वाणौ च रजश्छन्नां वसुधाविभ्रमां दिवम्।
गर्जद्गजघनाकीर्णां वसुधां च द्युविभ्रमाम्॥१५९॥
मार्गे क्रमेण गच्छन्तौ शक्तिरक्षितकस्य तौ।
गृहं किरातराजस्य पितापुत्राववापतुः॥१६०॥
तत्र तेन महारत्नहेमसद्वस्त्रराशिभिः।
सदारेण कृतोदारसपर्यौ सपरिग्रहौ॥१६१॥
दिनमेकं कृताहारौ विश्रम्य सबलौ ततः।
प्रस्थाय च स्वनगरीमयोध्यां प्रापतुः क्रमात्॥१६२॥
हर्म्यवातायनारूढचञ्चत्पौराङ्गनाननैः।
कान्तिपल्लवितैः फुल्लविलोलकमलामिव॥१६३॥
सवधूकचिरायातराजपुत्रेक्षणोत्सुकैः।
नेत्रैः पारिप्लवैश्चासां चलत्कुवलयैरिव॥१६४।

वे अपने पुत्र सुषेण को यहाँ भेजें। हम वैसा ही करेंगे, जिससे उन्हें कन्या के विवाह का सन्तोष हो सकेगा" ॥१५०॥

दूत से इस प्रकार स·देश कहकर और उसका सत्कार करके राजा ने उसे विदा किया। फिर, उसने श्रुतधि, अपने पुत्र तथा सब राजाओं से कहा—॥१५१॥

"अब हमलोग अयोध्या जायेंगे। विवाह की शोभा वहीं होगी। वहीं सुषेण का यथोचित सत्कार भी हो सकेगा॥१५२॥

"राजा मायाबटु यहाँ सुषेण की प्रतीक्षा करें। उसके आ जाने पर, उसे साथ लेकर बाद में वे भी (अयोध्या) आ जायेंगे॥१५३॥

"हम लोग विवाह की तैयारियों के लिए आगे जा रहे हैं।" राजा की इस बात का सबने अनुमोदन किया॥१५४॥

अगले दिन राजा अमरदत्त अपनी महारानी अपने पुत्र, राजाओं, मन्त्रियों, सेना तथा शशांकवती को साथ लेकर वहाँ से चल पड़े। सुषेण के आने तक के लिए उन्होंने मायाबटु को वहीं छोड़ दिया॥१५५-१५६॥

राजा की वह सेना गहरे और भयानक सागर की तरह चली, जिसमें भागते हुए घोड़ों का समूह सैकड़ों तरंगों के समान जान पड़ता था और चलती हुई असंख्य पैदल सेना दिशाओं को भर रही थी। उस सेना के तुमुल और प्रचण्ड कोलाहल ने दूसरी सब तरह की आवाजों को ढक लिया था॥१५७-१५८॥

सेना के चलने से उड़ी हुई धूल ने आकाश को इस तरह ढक लिया था कि आकाश को देखकर धरती का भ्रम होता था। इसी तरह गरजते हुए हाथी-रूपी मेघों से धरती को देखकर आकाश की भ्रान्ति होती थी॥१५९॥

इस प्रकार, धीरे-धीरे राह चलते हुए, वे पिता-पुत्र, किरातराज शक्तिरक्षित के घर जा पहुँचे॥१६०॥

वहाँ, अपनी पत्नी के सहित शक्तिरक्षित ने, सेना और कुटुम्बियों के सहित राजा अमरदत्त का, जी खोलकर सत्कार किया॥१६१॥

सेना के सहित वहाँ एक दिन ठहरकर तथा भोजन और विश्राम करके वे सभी वहाँ से चले और क्रमशः अपनी नगरी अयोध्या में जा पहुँचे॥१६२॥

राजा ने जब अपने परिवार और सेना के सहित अयोध्या में प्रवेश किया, तब वह नगरी तेज हवा में पड़ी बावली के समान दीखने लगी। नगर की स्त्रियाँ महलों के झरोखों पर जा चढ़ी थीं और इधर-उधर आ-जा रही थीं। उनके मुख उन कमलों के समान जान पड़ते थे, जो मानों हिल-डुलकर अपनी शोभा बिखेर रहे हों॥१६३-१६४॥

सम्पतद्भिर्वृतो राजहंसैर्विविशतुश्च ताम् ।
तरङ्गितां पताकाभिः प्रवाते सरसीमिव ॥१६५॥
तत्राभ्यनन्दन्पौरास्तौ दीयमानाशिषौ द्विजैः ।
वन्दिभिः स्तूयमानौ च गीयमानौ च चारणैः ॥१६६॥
कर्मसेनस्य तनयामिमामालोकयेद्यदि ।
न पुनः सुतया लक्ष्म्या दर्पं कुर्यान्महोदधिः ॥१६७॥
न च गौर्यापि हिमवानित्यत्र च जगौ जनः ।
शशाङ्कवत्या लावण्यसम्पदं वीक्ष्य विस्मितः ॥१६८॥
तदा च मङ्गलमहातूर्यप्रतिरवैर्दिशः ।
उत्सवाधिगमे राज्ञां संवेदनमिव व्यधुः ॥१६९॥
बहिःसृतेनेव भरादनुरागेण निर्भरा ।
सिन्दूरेण प्रनृत्ता सा सर्वाभूत्सोत्सवा पुरी ॥१७०॥
अन्येद्युर्गणकैः सूनोर्लग्नाहे निश्चिते नृपः ।
चकारामरदत्तोऽत्र तद्विवाहाय सम्भृतिम् ॥१७१॥
अपूरि तस्य नगरी तैस्तैर्नानादिगागतैः ।
रत्नैस्तथा यथा चक्रे सा कुबेरपुरीमधः ॥१७२॥
अथागत्याचिरादेको हृष्टद्वाःस्थनिवेदितः ।
दूतो मायावटोरत्र नृपतिं तं व्यजिज्ञपत् ॥१७३॥
देवागतो राजपुत्रः सुषेणो नृपतिश्च सः ।
मायावटुरयोध्यायाः सीमान्तेऽस्याः स्थितावुभौ ॥१७४॥
श्रुत्वैवामरदत्तस्तद्राजा सैन्यैः समं निजम् ।
सेनापतिं सुषेणस्य तस्याग्रे विससर्ज सः ॥१७५॥
तेन साकमयोध्यातो राजपुत्रमुपागतम् ।
मृगाङ्कदत्तः ससुहृत्प्रीत्या प्रत्युद्ययौ ततः ॥१७६॥
दूराद्वाहावतीर्णौ च कृतकण्ठग्रहौ मिथः ।
तावुभौ पृष्टकुशलौ मिलतः स्म नृपात्मजौ ॥१७७॥
प्रेम्णा चैकरथारूढौ नगरीं विशतः स्म ताम् ।
दिशन्तौ पौरनारीणां विलोचनमहोत्सवम् ॥१७८॥
सुषेणश्चात्र राजानं दृष्ट्वा तद्बहुमानितः ।
शशाङ्कवत्यास्तदनु स्वसुर्वासगृहं ययौ ॥१७९॥

बहुत दिनों के बाद, अपनी पत्नी के साथ आ रहे राजकुमार को देखने के लिए, इधर-उधर फिरती हुई उनकी आँखें, नाचती हुई कुमुदिनी के समान जान पड़ती थीं और उस सेना की उड़ती हुई पताकाएँ राजहंसों के समान प्रतीत होती थीं ॥१६५॥

ब्राह्मण जिन्हें आशीर्वाद दे रहे थे, बन्दीगण जिनकी स्तुति कर रहे थे और चारण जिनका गुणगान कर रहे थे, ऐसे राजा और राजकुमार का, नगरवासियों ने अभिनन्दन किया ॥१६६॥

शशांकवती की रूप-सम्पदा देखकर लोग विस्मित हुए और कहने लगे कि यदि कर्मसेन की इस कन्या को देखे, तो न तो महासागर अपनी कन्या लक्ष्मी का अभिमान करे और न हिमवान् अपनी कन्या गौरी का ॥१६७-१६८॥

अनन्तर, मंगल-महावाद्यों की प्रतिध्वनि से गूँजती हुई दिशाओं ने ही मानों इस उत्सव के आगमन की सूचना राजाओं को दी ॥१६९॥

उत्सव मनानेवाली उस नगरी का अनुराग ही मानों बाहर निकलकर सिन्दूरी रंग के रूप में चारों ओर फैल गया ॥१७०॥

अगले दिन जब ज्योतिषियों ने विवाह का लग्न निश्चित किया, तब अमरदत्त पुत्र के विवाह की तैयारियाँ करने लगा ॥१७१॥

विभिन्न दिशाओं से आनेवाले रत्नों से वह नगरी इस तरह भर गई कि कुबेरपुरी को भी नीचा दिखाने लगी ॥१७२॥

शीघ्र ही मायाबटु का भेजा एक दूत प्रसन्न होता हुआ आया और द्वारपाल के द्वारा राजा के सम्मुख उपस्थित किया जाने पर उसने कहा—॥१७३॥

"देव! राजकुमार सुषेण और राजा मायाबटु आ पहुँचे हैं और अयोध्या की सीमा पर ठहरे हुए हैं" ॥१७४॥

यह सुनते ही राजा अमरदत्त ने सुषेण की अगवानी के लिए अपनी सेना के सहित सेनापति को आगे भेजा ॥१७५॥

अपने मित्र की प्रीति के कारण मृगांकदत्त भी सेनापति के साथ अयोध्या से निकलकर राजकुमार से मिलने के लिए चला ॥१७६॥

दूर से ही वे दोनों राजकुमार सवारियों से उतर पड़े और एक दूसरे के गले लगकर एक दूसरे का कुशल पूछते हुए मिले ॥१७७॥

प्रीति के कारण एक ही रथ पर बैठकर नगर में प्रवेश करते हुए वे दोनों, नगर की नारियों की आँखों के लिए, महोत्सव बन गये ॥१७८॥

सुषेण ने पहले राजा अमरदत्त से भेंट की। राजा ने उसका भरपूर आदर-सत्कार किया। तब वह अपनी बहन शशांकवती के भवन में गया ॥१७९॥

तत्रोत्थाय कृताश्लेषस्तया बाष्पायमाणया।
उपविश्य स सव्रीडां राजपुत्रीं जगाद ताम् ॥१८०॥
तातस्त्वामाह नायुक्तं पुत्रि किञ्चित्त्वया कृतम्।
अद्यैतद्धि मया ज्ञातं यत्स्वप्नेऽम्बिकया तव ॥१८१॥
मृगाङ्कदत्तो भर्त्तासौ समादिष्टो नृपात्मजः।
भर्त्तृमार्गानुसरणं स्त्रीणां च परमं व्रतम् ॥१८२॥
इत्युक्त्वा तेन सा वाला हृदयं स्वमधोमुखी।
सिद्धमिष्टं तवेत्येवं पश्यन्ती विजहौ त्रपाम् ॥१८३॥
अथ तस्यै सुषेणोऽसौ नीत्वा राजाग्रतो ददौ।
धनं शशाङ्कवत्यै तद्यत्तस्या निजसंचितम् ॥१८४॥
हेम्नो भारसहस्रे द्वे रत्नाभरणकारणम्।
सुभृतान्पञ्च करभान्भाण्डं चान्यद्धिरण्मयम् ॥१८५॥
उवाच चैतदस्याः स्वं तातानुप्रेषितं तु यत्।
विवाहवेद्यामस्यैतत्प्रदास्यामि क्रमादिति ॥१८६॥
ततः सर्वेऽपि ते तत्र भुक्तपीता नृपान्तिके।
मृगाङ्कदत्तादियुता निन्युस्तन्निर्वृता दिनम् ॥१८७॥
प्राप्ते लग्नदिनेऽन्येद्युर्व्यग्रे राज्ञि स्वयं मुदा।
मृगाङ्कदत्तः स्नानादि चकारात्मानुरूपतः ॥१८८॥
तां शशाङ्कवतीं चात्र कान्त्यैव कृतकौतुकाम्।
नार्यः प्रसाधयामासुराचार इति केवलम् ॥१८९॥
निर्गत्य कौतुकागारादथ व्यग्रसुषेणतः।
हुताशनवतीं वेदीमध्यासातां वधूवरौ ॥१९०॥
तस्यां स राजदुहितुस्तस्या राजसुतोऽग्रहीत्।
धृताब्जशोभारुचिरं पाणिं लक्ष्म्या इवाच्युतः ॥१९१॥
वभौ किमपि तापाच्च धूमाच्चाग्निप्रदक्षिणे।
अकोपेऽप्यरुणोद्बाष्पं तच्छशाङ्कवतीमुखम् ॥१९२॥
वह्नौ च लाजाञ्जलयो विकीर्णा विवभुस्तया।
हासाः प्रयत्नसाफल्यहृष्टस्येव मनोभुवः ॥१९३॥
ददौ लाजविसर्गे च सुषेणः प्रथमे तदा।
पञ्चाश्वानां सहस्राणि वारणानां शतं तथा ॥१९४॥

वहाँ भरी आँखोंवाली राजकुमारी शशांकवती ने उठकर भाई को गले लगाया। सुषेण ने बैठने के बाद, लज्जित हो रही राजकुमारी से कहा—॥१८०॥

"पिताजी ने कहा है कि 'बेटी, तुमने कोई अनुचित काम नहीं किया। मुझे आज ही यह मालूम हुआ है कि भवानी अम्बिका ने स्वप्न में आदेश दिया था कि राजकुमार मृगांकदत्त तुम्हारे पति होंगे और पति के मार्ग का अनुसरण करना स्त्रियों का परम कर्त्तव्य है।" ॥१८१-१८२॥

यह सुनकर राजकुमारी ने लज्जा का त्याग किया और नीची निगाहों से अपने हृदय की ओर देखती हुई मानों उससे कहने लगी कि तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ॥१८३॥

अनन्तर, सुषेण ने उसे राजा के सम्मुख ले जाकर अपना संचित धन दिया, जो दो हजार भार सोना, पाँच ऊँटों पर लदे रत्नों के आभूषण और सुवर्ण के अन्य घड़ों के रूप में था॥१८४-१८५॥

सुषेण ने कहा—"यह इसकी अपनी सम्पत्ति है। पिताजी ने इसके लिए जो कुछ भेजा है, उसे मैं समय आने पर. विवाह-वेदी पर दूंगा" ॥१८६॥

अनन्तर, मृगांकदत्त के साथ उन सभी ने राजा के समीप खाया-पिया और निश्चिन्तता-पूर्वक दिन बिताया॥१८७॥

अगले दिन जब लग्न का मुहूर्त आया, तब व्यस्त रहने पर भी प्रसन्नता के कारण, राजा ने स्वयं ही सब देख-भाल की और मृगांकदत्त ने अपने अनुरूप स्नानादि विधियाँ निबटाईं॥१८८॥

शशांकवती यद्यपि अपनी कान्ति से ही शोभित हो रही थी, तथापि स्त्रियों ने केवल विधि पूरी करने के लिए ही उसे सजाया-सँवारा॥१८९॥

श्रृंगार-गृह में व्यस्त सुषेण के पास से निकलकर वर-वधू विवाह-वेदी के पास आये, जहाँ आग जल रही थी॥१९०॥

जैसे भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी का हाथ पकड़ा था, उसी प्रकार राजकुमार मृगांकदत्त ने राजकुमारी शशांकवती का वह हाथ पकड़ा, जिसने कमल की शोभा धारण कर रखी थी॥१९१॥

अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय क्रोध न होने पर भी धुएँ से और गरमी से शशांकवती का मुँह कुछ लाल हो आया और आँखों में आँसू भर आये॥१९२॥

शशांकवती जब अग्नि में लावा (धान की खील) की अंजलि डालने लगी, तब वह (धधक उठनेवाली अग्नि), अपने प्रयत्न की सफलता से सन्तुष्ट कामदेव की हँसी के समान जान पड़ी॥१९३॥

शशांकवती ने जब लावा की पहली अंजलि डाली, तब सुषेण ने पाँच हजार घोड़े एवं एक सौ हाथी दिये॥१९४॥

स्वर्णभारशते द्वे च नवतिं च करेणुकाः।
भृताः सद्वस्त्रसद्रत्नमुक्ताभरणभारकैः ॥१९५॥
महीविजयजं वित्तं तदेव द्विगुणं क्रमात्।
अन्येषु लाजमोक्षेषु प्रादात्तस्याः स सोदरः ॥१९६॥
अथोल्लसत्युत्सवतूर्यनिःस्वने विवेश निष्पन्नविवाहमङ्गलः।
मृगाङ्कदत्तः स नवोढया तया शशाङ्कवत्या सह मन्दिरं निजम् ॥१९७॥
पिता च राजास्य यथार्हदत्तैर्हस्त्यश्वरत्नाभरणान्नपानैः।
आराजचक्रं शुकशारिकान्तं सोऽरञ्जयत्स्वाः प्रकृतीः सपौराः ॥१९८॥
त्यागप्रकर्षश्च तदास्य राज्ञस्तेनैव पर्याप्ततयात्र जज्ञे।
आवद्धवस्त्राभरणा वितेरुर्द्रुमा महीकल्पतरुभ्रमं यत् ॥१९९॥
ततः स राजा समृगाङ्कदत्तः शशाङ्कवत्या सह राजभिश्च।
भुक्त्वा सुषेणेन च साकमेतमापानगोष्ठ्या दिवसं निनाय ॥२००॥
अथ सेवितनृत्तचर्चरीके गृहगे तत्र जने सुभुक्तपीते।
परिपीतधरारसो गताध्वा रविरस्ताचलकन्दरं विवेश ॥२०१॥
तमवेक्ष्य च सन्ध्यया समेतं नवरागोज्ज्वलया क्वचित्प्रयातम्।
विचलत्खगमेखला किलेर्ष्याकुपिते वानुदधाव वासरश्रीः ॥२०२॥
ददृशे च विलोलतारकेण प्रवलीभूतमनोभुवा मुखेन।
विलसत्तिमिरासितांशुकान्ता प्रसृता रात्र्यभिसारिका क्रमेण ॥२०३॥
उदयाचलवारणाङ्कुशत्वं नवसिन्दूरसमुज्ज्वलो जगाम।
उदयन्नथ कुप्यदायताक्षीकुटिलापाङ्गसहोदरः शशाङ्कः ॥२०४॥
शशिना कृतकेलिकर्णपूरं रतिवल्लीनवपल्लवेन तेन।
तमसोऽपगमे धृतप्रसादा हरिदैन्द्री हसदाननं बभार ॥२०५॥
कृतसान्ध्यविधिश्च सोऽपि नक्तं नववध्वा सहितो मृगाङ्कदत्तः।
प्रविवेश तया शशाङ्कवत्या रजनीवासगृहं महार्हशय्यम् ॥२०६॥
मुखचन्द्रमसा तदाङ्कनाया निशि तस्याः प्रविलुप्ततामसेन।
अवभासितचित्रभित्तिनान्तः पुनरुक्तीकृतसन्मणिप्रदीपम् ॥२०७॥
शयनीयगतश्च तत्र तस्याः स्थितवत्याः परिवृत्य सप्रियायाः।
अहरत्परिरभ्य चुम्बनेन क्रमशश्चाधरखण्डनेन लज्जाम् ॥२०८॥
चिरकाङ्क्षितमन्वभूच्च मा मेत्यलमल्पोच्चरदक्षरं स तस्याः।
नवमोहनमन्त्रसारसौख्यं त्रुटितस्फारमहार्हरत्नकाञ्चि ॥२०९॥

दो सौ भार सोना तथा उत्तम वस्त्रों, श्रेष्ठ रत्नों और मोती के आभूषणों के भार से लदी नौ हथिनियाँ दान में दीं ॥१९५॥

इसके बाद उसने लावा की जितनी अंजलियाँ डालीं, उसका भाई विश्वविजय से प्राप्त धन में क्रमशः उसका दुगुना धन दान में देता गया ॥१९६॥

इस प्रकार, उत्सव की उल्लसित तूर्य-ध्वनि के साथ विवाह का मंगल-कृत्य समाप्त हो जाने पर, मृगांकदत्त अपनी नवविवाहिता वधू शशांकवती के साथ अपने महल में गया ॥१९७॥

मृगांकदत्त के पिता राजा अमरदत्त ने राजाओं, पुरजनों तथा प्रजा से लेकर शुक-सारिकाओं तक को यथायोग्य हाथी, घोड़े, रत्न, आभूषण, भोजन-पान आदि देकर प्रसन्न किया ॥१९८॥

उस समय राजा ने इतनी उदारता से दान दिया कि उसने वृक्षों पर भी वस्त्र और आभूषण टँगवा दिये, जिससे यह भ्रम होने लगा कि वे भूमि के कल्पवृक्ष हैं ॥१९९॥

अनन्तर, राजा अमरदत्त ने मृगांकदत्त, शशांकवती, राजाओं तथा सुषेण के सहित भोजन-पान की बैंठकों में वह दिन बिताया ॥२००॥

राजभवन के लोगों ने भी अच्छी तरह खाया-पिया और नृत्य-गीत की धूमधाम में लगे रहे। (इस बीच) सूर्य अपनी राह चलकर और धरती का रस पीकर अस्ताचल की कन्दरा में जा छिपा ॥२०१॥

वासर-श्री (दिवस की शोभा) ने जब सूर्य को, नवीन अनुराग से रंजित सन्ध्या के साथ कहीं जाते देखा, तो ईर्ष्या से कुपित होकर उसने भी उनका पीछा किया। (उस समय) उड़ते हुए पक्षी उसकी टूटी हुई मेखला (करधनी) के समान जान पड़ते थे ॥२०२॥

समय पाकर रात्रिरूपी अभिसारिका आगे बढ़ती दीख पड़ी। वह अत्यन्त कामातुर थी। चंचल तारों की पुतलियोंवाला उसका मुँह था और उसने अन्धकार की काली चादर ओढ़ रखी थी ॥२०३॥

तब नवीन सिन्दूर के समान समुज्ज्वल और बड़ी-बड़ी आँखोंवाली कुपित नारी के कटाक्ष के समान तिरछा चन्द्रमा उदित हुआ, जो उदयाचल-रूपी हाथी के अंकुश के समान जान पड़ता था ॥२०४॥

अन्धकार के दूर हो जाने पर पूर्व दिशा प्रसन्न हो गई थी और उसके मुखड़े पर हँसी फूट पड़ी थी। रति रूपी लता के नवीन पल्लव के समान चन्द्रमा मानों उस (पूर्वदिशा) का कर्णफूल बन गया था ॥२०५॥

सान्ध्य विधियाँ समाप्त करके, रात्रि के समय, मृगांकदत्त अपनी नववधू शशांकवती के साथ रात्रि-वास के भवन में गया, जहाँ बहुमूल्य शय्या बिछी हुई थी ॥२०६॥

शशांकवती के मुखचन्द्र (के प्रकाश) से उस (विलास-भवन) का अँधेरा दूर हो गया और उसकी दीवारों पर बने चित्र चमक उठे। फिर, वहाँ जल रहे उत्तम मणियों के प्रदीप पुनरुक्ति के समान (व्यर्थ) जान पड़ने लगे। अभिप्राय यह कि शशांकवती के मुखचन्द्र के प्रकाश से ही वह भवन जगमगा उठा—वहाँ मणिदीपों की कोई आवश्यकता न रही ॥२०७॥

जब वे सेज पर गये, तब मृगांकदत्त ने, लज्जा से लिपटकर लेटी हुई शशांकवती का आलिंगन करके, चुम्बन लेकर तथा ओठों पर दाँत गड़ाकर, धीरे-धीरे उसकी लज्जा दूर की ॥२०८॥

शशांकवती 'नहीं, सहीं, वहुत हुआ' आदि जो टूटे-फूटे अक्षर बोल रही थी, वह मृगांकदत्त कौं नवीन मोहन मन्त्र का तत्त्व-सा लग रहा था। उसकी बहुमूल्य रत्न-जटित करधनी टूट गई थी। इससे मृगांकदत्त ने उस सुख का अनुभव किया, जिसकी उसे बहुत दिनों से आकांक्षा थी ॥ २०९॥

अरमत लुलितालकेन चास्या मुखशशिनार्द्धनिमीलितेक्षणेन।
श्रमवशशिथिलालसैश्च सोऽङ्कैर्विरलविलुप्तविलेपनै रतान्ते ॥२१०॥
अथ तत्परिभोगलीलयेव क्षपिताक्षीयत सा तयोस्त्रियामा।
विकसत्सुरतोत्सवाभिलाषप्रसरा प्रीतिरुपाययौ तु वृद्धिम् ॥२११॥
गता निशा सम्प्रति देव मुच्यतां विलासशय्या सुरतक्लमच्छिदः।
अमी हि चूर्णालककम्पदायिनो मृगीदृशां वान्ति निशान्तवायवः। ॥२१२॥
चन्द्रं निशायाः सहसानुयान्त्या हारच्युतानीव च मौक्तिकानि।
दूर्वावनाग्रेष्ववपिण्डितानि स्फुरन्ति सच्छायमुषोजलानि ॥२१३॥
कोषेषु व्यलसन्निपीतमधवो ये कैरवाणां चिरं
लब्धाभ्यन्तरसुस्थिता विकसतामिन्दुप्रभासङ्गमे।
ते सङ्कोचमुपागतेषु विगलच्छ्रीकेषु तेष्वन्यतो
भृङ्गाः पश्य कुमार यान्ति मलिनाः कस्य स्थिरा ह्यापदि ॥२१४॥
दिनकृत्करमण्डिताधरामवलोक्यैव निशां मनोभुवा।
अपशशितिलकं वपुः कृतं मथिताल्पाल्पतमोऽञ्जनं तथा ॥२१५॥
इति मृदुमधुरैः स वन्दिवाक्यैरुषसि शशाङ्कवतीविमुक्तकण्ठः।
अपगतसुरतान्तखेदनिद्रः सपदि जहौ शयनं मृगाङ्कदत्तः ॥२१६॥
उत्थाय च व्यधित वासरकृत्यमेष
पित्रा निजोचितकृताखिलसंविधानः।
भूयस्तथैव च निनाय तदा बहूनि
तान्युत्सवेन दयितासहितो दिनानि ॥२१७॥
अथ राजामरदत्तस्तज्जनकस्तच्छ्वशुर्यस्य।
शिरसि सुषेणस्यादौ ववन्ध पट्टं कृताभिषेकस्य ॥२१८॥
विषयं तदुचितमेकं हस्त्यश्वहिरण्यभारवस्त्राणि।
शतसंख्याश्च वरस्त्रीर्ददौ स तस्मै कृतादरो नृपतिः ॥२१९॥
शवरकिराताधिपती मायावटुशक्तिरक्षितौ च ततः।
सहबान्धवौ सदारौ मातङ्गचमूपतिं च तं स नृपम् ॥२२०॥
दुर्गपिशाचं सचिवान्मृगाङ्कदत्तस्य तांश्च सश्रुतधीन्।
सममानयत्प्रदत्तैर्विषयैर्गोवाजिहेमवस्त्रैश्च ॥२२१॥
ततः किरातेन्द्रमुखान्विसृज्य तान्नृपान्स्वदेशेषु सुषेणसंयुतान्।
शशास राज्यं सुतशौर्यनिवृतः स तत्सुखेनामरदत्तभूपतिः ॥२२२॥

रतिक्रीडा के बाद शशांकवती के केश बिखर गये थे, रतिश्रम के कारण उसके अंग शिथिल और ढीले पड़ गये थे, उसके शरीर का अंगराग झड़ गया था तथा उसकी आँखें आधी मुंदी हुई थीं। मृगांकदत्त, शशांकवती के ऐसे केशों से, अंगों से और मुख से क्रीडा करने लगा।।२१०।।

इस प्रकार, विलास-लीला में ही उन दोनों ने वह रात बिता दी, फिर भी रतिक्रीडा की उनकी अभिलाषा के साथ-साथ उनकी प्रीति भी बढ़ती ही गई।।२११।।

"देव! रात बीत गई। अब विलास-शय्या को त्याग दीजिए। रति-श्रम को हरनेवाली और मृगनयनियों के बिखरे केशों को कँपानेवाली प्रभात की यह वायु बहने लगी है।।२१२।।

"चन्द्रमा के पीछे-पीछे जब सहसा रात भी चली जाती है, तब दूब की नोंक पर इकट्ठी हुई ओस की बूंदें ऐसी जान पड़ती हैं, मानों उसके टूटे हुए हार के मोती बिखर गये हों।।२१३।।

"कुमार! यह देखिए, चन्द्र-किरणों के स्पर्श से जब कुमुदिनियाँ खिल रही थीं, तब जो भौंरे उनके कोषों में घुसकर सुखपूर्वक बैठे थे और मधु पीकर क्रीडा कर रहे थे, वे ही अब, जब कि कुमुदिनियों के दल मुँदने लगे हैं और उनकी शोभा जाती रही है, उन्हें छोड़कर अन्यत्र चले जा रहे हैं। भला, मलिन वृत्तिवाले आपत्तियों में किसी का साथ देते हैं?।।२१४।।

कामदेव ने जब रात्रि के अधरों पर सूर्य-किरणों को सुशोभित होते देखा, तब उसने उसका चन्द्रमा का तिलक मिटा दिया और अन्धकार के अंजनवाले उसके शरीर को धीरे-धीरे मथ डाला।।२१५।।

उषःकाल में बन्दीजनों की ऐसी कोमल और मधुर बातें सुनकर मृगांकदत्त की, रतिक्रीडा के बाद की श्रम-निद्रा टूट गई, उसने शशांकवती के गले में पड़ी अपनी बाँहें हटा लीं और शीघ्र ही शय्या छोड़ दी।।२१६।।

मृगांकदत्त ने उठकर दिन के आवश्यक कृत्य किये, जिनकी सारी व्यवस्था उसके पिता ने अपनी स्थिति के अनुसार कर रखी थी। फिर, उसने अपनी पत्नी के सहित, उसी प्रकार, राग-रंग में बहुत-से दिन बिताये।।२१७।।

मृगांकदत्त के पिता राजा अमरदत्त ने आरम्भ में उसके साले सुषेण का अभिषेक किया और उसके माथे पर पगड़ी बाँधी; फिर उसके योग्य एक प्रदेश, हाथी, घोड़े, सुवर्ण और वस्त्र आदि के साथ एक सौ उत्तम स्त्रियाँ देकर उसका सम्मान किया।।२१८-२१९।।

अनन्तर, राजा ने शबरों तथा किरातों के अधिपति मायाबटु तथा शक्तिरक्षित को, बन्धु-बान्धवों और स्त्रियों के सहित मातंग-सेना के स्वामी राजा दुर्गपिशाच को तथा श्रुतधि के सहित मृगांकदत्त के मन्त्रियों को भी भूमि, गौ, घोड़े, सुवर्ण तथा वस्त्र दिये और उनका सम्मान किया।।२२०-२२१।।

अनन्तर, राजा अमरदत्त ने सुषेण के सहित किरातराज आदि प्रमुख राजाओं को उनके देश के लिए विदा किया। फिर, पुत्र के पराक्रम से प्रसन्न वह राजा, सुखपूर्वक अपने राज्य का शासन करने लगा।।२२२।।

मृगाङ्कदत्तोऽपि विजित्य वैरिणः शशाङ्कवत्या सुचिरादवाप्तया।
निजैश्च तैर्भीमपराक्रमादिभिः सहावतस्थे सचिवैश्चिरं सुखी ॥२२३॥
कालेऽथ यात्यमरदत्तनृपस्य तस्य
स्वैरं जरा श्रवणमूलमुपाजगाम।
भुक्ताः श्रियः परिणतं वयसा शमस्य
नन्वेष काल इति वक्तुमिवाङ्गभूता ॥२२४॥
ततः स भोगेषु विरक्तमानसो महीपतिः स्वान्निजगाद मन्त्रिणः।
निशम्यतां सम्प्रति वर्णयामि वो विधित्सितं यन्मम वर्त्तते हृदि ॥२२५॥
गतं वयो नः पलितेन साम्प्रतं कृतान्तदूतेन कचग्रहः कृतः।
जरागमे जीर्णरसं च मादृशां कुभोगतृष्णाव्यसनं विडम्बना ॥२२६॥
विवृद्धिभाजा वयसासमंयद्विवर्धते लोभमनोभवग्रहः ।
असंशयं कापुरुषव्रतं हि तत्स्वभावजं सत्पुरुषैरशिक्षितम् ॥२२७॥
तदस्ति मे लब्धयशा महीतले सराजकावन्तिनरेन्द्रनिर्जयात्।
स्वतोऽनुरक्तप्रकृतिर्गुणाधिको मृगाङ्कदत्तः सुसहायवानयम् ॥२२८॥
तदेतदस्मै निजराज्यमूर्जितं समर्प्य तीर्थं तपसेऽहमाश्रये।
परैरनिन्द्यं चरितं मनस्विनां वयोऽनुसारोचितमेव शोभते ॥२२९॥
इति क्षितीशस्य वचः सुनिश्चितं निशम्य धीराः किल तस्य मन्त्रिणः।
क्रमेण देवीप्रमुखाश्च पौरास्तथेति सर्वे प्रतिपेदिरे तदा ॥२३०॥
ततः स राजा गणकोक्तलग्ने दिने विविक्ते संहितो द्विजाग्र्यैः।
मृगाङ्कदत्तस्य चकार तस्य राज्याभिषेकोत्सवमात्मजस्य ॥२३१॥
इतस्ततः क्षत्तृनिदेशधावज्जनाकुलं व्यग्रनियुक्तवर्गम्।
तदास्य नृत्यद्वरचारणस्त्रि मुदा जुघूर्णेव गृहं नृपस्य ॥२३२॥
तीर्थोदकं भूरि सभार्यकस्य मृगाङ्कदत्तस्य पपात मूर्ध्नि।
जलप्रवाहाः पुनरस्य पित्रोः सानन्दयोर्नेत्रयुगान्निरीयुः ॥२३३॥
अधिष्ठिते तेन नवेन राज्ञा सिंहासने सिंहपराक्रमेण।
तद्विद्विषां कोपभयानतानां भूमावसिंहासनमेव मेने ॥२३४॥
ततः पिता तस्य दिनानि सप्त ततान सज्जीकृतराजमार्गम्।
यथार्हसम्मानितराजलोकं महोत्सवं सोऽमरदत्तभूपः ॥२३५॥
दिनेऽष्टमे दारयुतो नगर्या निर्गत्य पुत्रं स मृगाङ्कदत्तम्।
निवर्त्य तं वाष्पमुखं सपौरं वाराणसीं मन्त्रिसखो जगाम ॥२३६॥

मृगांकदत्त भी अपने शत्रुओं को जीतकर., बहुत विलम्ब से पाई हुई शशांकवती तथा भीमपराक्रम आदि अपने मन्त्रियों के सहित बहुत दिनों तक सुखभोग करता रहा ॥२२३॥

समय पाकर, धीरे-धीरे वृद्धावस्था राजा अमरदत्त के कानों के पास आ पहुँची. मानों वह यह कहने के लिए उनकी अंग-संगिनी बनी कि 'तुम वैभव का उपभोग कर चुके, तुम्हारी उम्र काफी हो गई. यह तुम्हारी निवृत्ति का समय है' ॥२२४॥

तब उस राजा ने भोगों से अपना मन हटा लिया और अपने मन्त्रियों से कहा––"सुनिए, मेरे मन में जो बात है, वह मैं आप लोगों से कहता हूँ" ॥२२५॥

"मेरी उम्र बीत चली, यम के दूत बुढ़ापे ने मेरे केश पकड़ रखे हैं। वृद्धावस्था में, रसों के जीर्ण हो जाने पर भी, मेरे-जैसे लोग यदि भोग का बुरा व्यसन पाले रहें, तो यह विडम्बना ही है ॥२२६॥

"बढ़ती हुई उम्र के साथ यदि लोभ और वासनाएँ बढ़ती हैं, तो निश्चय ही वह कापुरुषों का व्रत है, सत्पुरुष उसे नहीं जानते ॥२२७॥

"राजाओं के सहित अवन्तिराज को जीतकर मेरे पुत्र मृगांकदत्त ने धरती पर यश प्राप्त किया है, प्रजा का उसके प्रति अनुराग है, वह अधिक गुणोंवाला है और उसे अच्छे सहायक प्राप्त हैं ॥२२८॥

"अतः, मैं उसे अपना भरा-पूरा राज्य सौंपकर, तपस्या के लिए किसी तीर्थ में जाऊंगा। मनस्वी पुरुषों के लिए वही आचरण शोभन होता है, दूसरे जिसकी निन्दा न करें और जो वय के अनुसार उचित हो" ॥२२९॥

राजा के ये निश्चित वचन सुनकर उनके धीर मन्त्रियों ने और फिर क्रमशः महारानी तथा प्रजाजनों ने भी 'ऐसा ही हो' कहकर उसका समर्थन किया ॥२३०॥

अनन्तर, ज्योतिषियों के बतलाये हुए दिन और लग्न में, श्रेष्ठ ब्राह्मणों के सहित, राजा अमरदत्त ने अपने पुत्र मृगांकदत्त का राज्याभिषेक-उत्सव किया ॥२३१॥

उस दिन प्रतीहारों के आदेश से लोग इधर-उधर दौड़ रहे थे, कर्मचारी काम में व्यस्त थे, श्रेष्ठ चारण स्तुति-गान कर रहे थे, स्त्रियाँ नाच रही थीं और इस प्रकार राजा का वह भवन प्रसन्नता से नाच रहा था ॥२३२॥

उस दिन पत्नी के सहित मृगांकदत्त के मस्तक पर बहुत-सा तीर्थ-जल गिरा। फिर, उसके पिता की आनन्दित आँखों से जल-प्रवाह बह निकला ॥२३३॥

जब सिंह के समान पराक्रमी वह नया राजा (मृगांकदत्त) सिंहासन पर बैठा, तब उसके कोपभय से भूमि पर झुके हुए उसके शत्रुओं ने अपने को सिंहासन-रहित माना ॥२३४॥

उसके पिता राजा अमरदत्त ने सात दिनों तक वह उत्सव चालू रखा, जिसमें राजमार्ग सजाये गये थे और राजाओं का यथायोग्य सम्मान किया गया था ॥२३५॥

आठवें दिन वह अपनी पत्नी के साथ नगर से बाहर निकला और आँखों में आँसू-भरे अपने पुत्र मृगांकदत्त तथा पुरजनों को लौटाकर, अपने मन्त्रियों के सहित वाराणसी चला गया ॥२३६॥

तस्यां स गौडाम्बुपरिप्लुताङ्गो राजा त्रिसन्ध्यं त्रिपुरान्तकस्य।
कुर्वन्सपर्या फलमूलवृत्तिस्तस्थौ तपस्यन्मुनिवत्सदारः ।।२३७।।
आसाद्य राज्यमथ सोऽपि मृगाङ्कदत्तो
भास्वानिवाम्बरतलं विपुलामलं तत्।

आक्रम्य च क्षितिभृतः करसन्निपातैः
प्रावर्त्तत प्रतपितुं प्रसरत्प्रतापः ।।२३८।।

मायावटुप्रभृतिभिश्च सकर्मसेनैः
सम्भूय सश्रुतधिभिः सचिवैः स तैः स्वैः।

सद्वीपमेतदवजित्य चतुर्दिगन्त
मेकातपत्रमवनीवलयं शशास ।।३३९।।

तस्मिश्च राजनि कथासु निशम्यमानदुर्भिक्षदस्युपरचक्रभयादिदुःखा ।
नित्यप्रहृष्टसुखिता नवरामभद्रसौराज्यसौख्यमसमं वसुधा बभार।।२४०।।
अध्यास्य तैश्च सचिवैः सह तामयोध्यां
नानादिगागतनृपार्चितपादपद्मः।

सम्राट् समं दयितया स शशाङ्कवत्या
भोगानकण्टकसुखान्बुभुजे चिराय।।२४१।।

इति स व्याख्याथ कथां मलयवनान्ते मुनिः पिशङ्गजटः।
तं नरवाहनदत्तं राजसुतं विरहिणं जगदे।।२४२।।
तस्मात्सोढक्लेशो मृगाङ्कदत्तो यथा शशाङ्कवतीम्।
प्राप पुरा पुत्र तथा प्राप्स्यसि तां मदनमञ्चुकां त्वमपि।।२४३।।
इति तस्मात्स मुनीन्द्रादाकर्ण्य वचोऽमृतं पिशङ्गजटात्।
हृदि नरवाहनदत्तो धृतिमाधान्मदनमञ्चुकाप्राप्तौ।।२४४।।
तद्गतचित्तोऽथ स तं मुनिवरमामन्त्र्य हारितां पूर्वम्।
तत्रानेत्रीं चिन्वन्मलयगिरौ ललितलोचनां व्यचरत्।।२४५।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे शशाङ्कवतीलम्बके षट्त्रिंशस्तरङ्गः।

समाप्तश्चायं शशाङ्कवतीलम्बको द्वादशः ।

वहाँ गंगा के जल में तीनों वेला स्नान करता, भगवान् शिव की आराधना करता और फल-मूल का आहार करके तपस्या करता हुआ वह, अपनी पत्नी के सहित, मुनियों के समान रहने लगा ॥२३७॥

सूर्य, जैसे विशाल और स्वच्छ आकाश में विराजमान होकर, अपनी किरणों से पर्वतों पर आक्रमण करके, प्रचण्ड ताप से तपता है, मृगांकदत्त ने भी वैसे ही उस विशाल और निर्मल राज्य-सिंहासन पर बैठकर करों के समूह से राजाओं पर आक्रमण किया और अपने फैलते हुए प्रताप के द्वारा वह दमकने लगा ॥२३८॥

मायाबटु आदि राजाओं के, कर्मसेन के, तथा श्रुतधि के सहित अपने मन्त्रियों के साथ मिलकर मृगांकदत्त ने द्वीपों के सहित, चार दिशाओंवाली पृथ्वी को जीत लिया और वह उसपर एकच्छत्र राज्य करने लगा ॥२३९॥

मृगांकदत्त के राज्यकाल में दुर्भिक्ष, चोर-डकैतों का उपद्रव अथवा शत्रु-राजाओं के आक्रमण का भय आदि दुःख केवल बातचीत में ही सुने जाते थे (वस्तुतः ये कहीं रह नहीं गये थे)। पृथ्वी सदा प्रसन्न और सुखी रहकर मानों नये रामचन्द्र के सुराज्य का सुख भोग रही थी ॥२४०॥

अपने मन्त्रियों के सहित उस अयोध्या में निवास करते हुए, जहाँ अनेक दिशाओं से आ-आकर राजा उसके चरण-कमलों की अर्चना किया करते थे, सम्राट् मृगांकदत्त, अपनी पत्नी शशांकवती के सहित बहुत दिनों तक निष्कण्टक सुख-भोग भोगते रहे ॥२४१॥

मलयवन में, मुनि पिशंगजट ने यह कथा सुनाकर उस विरही राजकुमार नरवाहनदत्त से कहा—॥२४२॥

"पुत्र! जैसे पुराने समय में इतने कष्ट उठाकर मृगांकदत्त ने शशांकवती को पाया था, वैसे ही तुम भी मदनमंचुका को प्राप्त करोगे" ॥२४३॥

मुनिराज पिशंगजट की यह अमृतमयी बात सुनकर, नरवाहनदत्त के मन को, मदनमंचुका की प्राप्ति के सम्बन्ध में भरोसा हुआ ॥२२४॥

जिसका चित्त मदनमंचुका में लगा हुआ था, ऐसा नरवाहनदत्त, मुनि श्रेष्ठ से विदा लेकर उस ललितलोचना को ढूंढ़ता हुआ मलयपर्वत पर भटकने लगा, जो उसे यहाँ ले आई थी और फिर कहीं खो गई थी ॥२४५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के शशांकवती लम्बक का
षट्त्रिंश तरंग समाप्त

शशांकवती नामक बारहवाँ लम्बक समाप्त

मदिरावती नाम त्रयोदशो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ।।

मदिरावती नाम का त्रयोदश लम्बक

नगराजनन्दिनी—पार्वती के प्रणय-रूपी मन्दराचल से आन्दोलित होकर बहुत पहले शिव के मुख-रूपी समुद्र से निकले हुए इस कथा-रूपी अमृत का जो आग्रहपूर्वक आस्वादन करते हैं, वे विना विघ्न के ऋद्धि-सिद्धियों का लाभ करके शिवजी की कृपा से पृथ्वी पर देवता होने का गौरव प्राप्त करते हैं।

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

स वो विघ्श्वरः ने पायान्नमितोन्नमितेव यम् ।
अनुनृत्यति नृत्यन्तं सन्ध्यासु भुवनावली ॥१॥

गौरीप्रसाधनालग्नचरणालक्तकश्रियः ।
सखी सुखाय भूयाद्वः शम्भोर्भालेक्षणप्रभा ॥२॥

कवीन्द्रमानसाम्भोजनिवासभ्रमरीं नुमः ।
देवीं सहृदयानन्दशब्दमूर्त्तिसरस्वतीम् ॥३॥

नरवाहनदत्तकथा (क्रमागता)

ततो विरहसन्तप्तो विना मदनमञ्चुकाम् ।
नरवाहनदत्तः स तेषु वत्सेश्वरात्मजः ॥४॥

मलयाचलपादेषु तदुपान्तवनेषु च ।
भ्रमन्मधुमनोज्ञेषु नैव प्राप रतिं क्वचित् ॥५॥

बिभेद तस्य मृदुरप्यापतद्भिः शिलीमुखैः ।
स्मरचापलतेवात्र हृदयं चूतमञ्जरी ॥६॥

कर्णौ मधुरमप्यस्य दुनोति स्म च दुःसहम् ।
मारनिर्भर्त्सनावाक्यकटु कोकिलकूजितम् ॥७॥

पुष्परेणुपिशङ्गश्च मदनाग्निरिवापतन् ।
विददाह तमङ्गेषु शीतोऽपि मलयानिलः ॥८॥

ततोऽलिकुलझङ्कारमुखरैस्तैः स काननैः ।
निष्काल्यमान इव तं प्रदेशं शनकैर्जहौ ॥९॥

गच्छन्क्रमेण च प्राप कथञ्चिद्देवतासखः ।
गङ्गागामिपथाभ्यर्णवनान्तसरसस्तटम् ॥१०॥

तरुमूलोपविष्टौ च तत्र ब्राह्मणपुत्रकौ ।
उभौ भव्याकृती स्वैरं कथासक्तौ ददर्श सः ॥११॥

प्रथम तरंग

मंगलाचरण

सन्ध्या समय जिनके नृत्य करने पर (चरणभार से कभी) नीचे दबता हुआ (कभी) ऊपर की ओर उठता हुआ यह भुवनमण्डल नाच-नाच उठता है, वे विघ्नेश्वर तुम्हारी रक्षा करें ॥१॥

पार्वती के चरणों में (शृंगार के लिए) लगे महावर की शोभा-सरीखी शिव के तीसरे नेत्र की प्रभा, तुम्हें सुख दे ॥२॥[1]

कवीन्द्रों के मानस-कमलों में वसनेवाली भ्रमरी तथा सहृदयों को आनन्दित करनेवाली शब्दमूर्त्ति देवी सरस्वती को (हम) प्रणाम करते हैं ॥३॥

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

मदनमंचुका के विरह से दुःखी वत्सेश्वर का पुत्र नरवाहनदत्त; मलय पर्वत के आस-पास के छोटे-छोटे पर्वतों तथा उसके इर्द-गिर्द फले-फूले मनोहर वनों में भ्रमण करता रहा; पर कहीं भी उसका मन न रम सका ॥४-५॥

काम की प्रत्यंचा के समान आम की कोमल मंजरी, छूटे हुए बाणों जैसे भ्रमरों से नरवाहनदत्त के हृदय को बींधे दे रही थी ॥६॥[2]

उसके कानों के परदे काम की कड़ी फटकार-जैसी कोयल की मीठी कूक से फटे जा रहे थे ॥७॥

फूलों की धूल से ऊदी-ऊदी-सी ठण्डी हवा उसके अंगों में काम की ज्वाला धधका रही थी ॥८॥

तब जंगली भौंरों के झंकार से जैसे फटकारे जाकर नरवाहनदत्त चुपके-चुपके उस प्रदेश को छोड़कर चल दिया ॥९॥

अकेले-अकेले आगे बढ़ते हुए वह गंगा की ओर जानेवाले मार्ग के समीपस्थ प्रदेश-स्थित एक सरोवर के तट पर जा पहुँचा ॥१०॥

वहाँ उसने पेड़ की छाँव में बैठे हुए आपस में बातचीत करते हुए सुन्दर आकृतिवाले दो ब्राह्मण-पुत्रों को देखा ॥११॥

---

[1] (क) पार्वती के प्रणयकोप—मान को हटाने के लिए पार्वती के चरणों पर जब शिवजी नतमस्तक होते हैं, तब उनके तीसरे नेत्र की प्रभा और महावर की शोभा एक-सी हो जाती हैं, इसीलिए वह प्रभा महावर की शोभा जैसी कही गई है।

(ख) मानभंग के लिए नायिका के चरणों पर नतमस्तक होना, नायक के हृदय को उत्कट अनुराग से पूर्ण बनाता है, अतः शिव की प्रसन्नावस्था की वह नयनप्रभा मंगलदायिनी कही गई है।

[2] वसन्त ऋतु में आम की मंजरी को देखकर विरही का हृदय, प्रेयसी की स्मृति से पीडित हो उठता है, इसलिए उसे काम की प्रत्यंचा के समान कहा गया है।

तौ च दृष्ट्वा तमुत्थाय प्रह्वौ मदनशङ्कया।
अवोचतां नमस्तुभ्यं भगवन्कुसुमायुध ॥१२॥

ब्रूहि देव किमेकाकी त्यक्तकौसुमकार्मुकः।
इतो भ्रमसि सा कुत्र रतिः सहचरी तव ॥१३॥

तच्छ्रुत्वा तौ स वत्सेशसुतो विप्रावभाषत।
नाहं कामो मनुष्योऽहं नष्टा सत्यं तु मे रतिः ॥१४॥

इत्युक्त्वाख्यातवृत्तान्तस्तौ विप्रौ पृष्टवान्नृपः।
कौ युवां कीदृशी चैषा कथात्र युवयोरिति ॥१५॥

ततस्तयोर्विप्रयूनोरेकस्तं विनतोऽब्रवीत्।
राज्ञां भवादृशामग्रे रहस्यं कथमुच्यते ॥१६॥

मदिरावती कथा

तथाप्याज्ञानिरोधात्ते कथयामि निशम्यताम्।
अस्ति शोभावती नाम कलिङ्गविषये पुरी ॥१७॥

कलिना न प्रविष्टा सा न स्पृष्टा पापकर्मभिः।
न दृष्टा परराष्ट्रेण धात्रा सृष्टेव तादृशी ॥१८॥

तस्यां यशस्करो नाम विद्वानाढ्यो वहुक्रतुः।
ब्राह्मणोऽभूदभूत्तस्य सत्पत्नी मेखलेति च ॥१९॥

तयोरेकोऽहमुत्पन्नः सुतो वयसि मध्यमे।
वर्धितश्चोपनीतश्च ताभ्यामस्मि ततः क्रमात् ॥२०॥

ततः पठत्यध्ययनं वाले मय्यतिदुस्तरम्।
तत्रावृष्टिकृतं देशे दुर्भिक्षमुदपद्यत ॥२१॥

तेन तातोऽम्बया साकं मामादाय ततो गतः।
विशालां नाम नगरीं सधनः सपरिच्छदः ॥२२॥

तस्यां लक्ष्मीसरस्वत्योर्वसतौ मुक्तवैरयोः।
ततो मित्रेण वणिजा दत्तवासः स्थितिं व्यधात् ॥२३॥

अहं च विद्याधिगमं कुर्वाणो गुरुवेश्मनि।
तत्रावसं सवयसां मध्ये सब्रह्मचारिणाम् ॥२४॥

एकश्च तेषु मे मित्रमभूत्क्षत्रकुमारकः।
गुणी विजयसेनाख्यो महाढ्यक्षत्रियात्मजः ॥२५॥

वे दोनों नरवाहनदत्त को कामदेव समझकर नम्रतापूर्वक उठ खड़े हुए, और कहा—"हे भगवन् पुष्पबाण! हम आपको प्रणाम करते हैं॥१२॥"

"आप बतायें कि अपना पुष्प का धनुष छोड़कर अकेले यहाँ किस कारण भ्रमण कर रहे हैं? आपकी सहचरी (पत्नी) रतिदेवी कहाँ हैं?" ॥१३॥

यह कहकर वत्सेश्वर के पुत्र नरवाहनदत्त ने उन दोनों ब्राह्मणों से कहा—"यों, मैं काम (मदन) नहीं हूँ, मनुष्य ही हूँ; किन्तु मेरी रति सचमुच खो गई है" ॥१४॥

यह कहकर अपनी मदनमंचुका के नष्ट हो जाने का वृत्तान्त सुना दिया, और फिर उन दोनों विप्रों से पूछा—"आप कौन हैं? और किसकी कहानी कह-सुन रहे हैं?" ॥१५॥

मदिरावती की कथा

तब उनमें से एक ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"आप जैसे राजा के समक्ष कोई रहस्य कैसे प्रकट किया जाय? फिर भी, आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर मैं कह रहा हूँ, सुनें।" कलिंग देश[1] में शोभावती नाम की एक नगरी है ॥१६-१७॥

वहाँ कोई पापकर्म नहीं है; क्योंकि कलियुग ने वहाँ प्रवेश ही नहीं किया। ब्रह्मा ने उस नगरी की कुछ इस प्रकार सृष्टि की है, कि दूसरा राष्ट्र उसपर आँख नहीं उठा पाता ॥१८॥

उस नगरी में अनेक यज्ञ करनेवाले धनी तथा विद्वान् यशस्कर नाम के ब्राह्मण रहते थे। उनकी मेखला नाम की सती पत्नी थीं ॥१९॥

उनकी युवावस्था में मैं ही एकमात्र पुत्र उत्पन्न हुआ। उन दोनों ने मुझे बड़े लाड़-प्यार से पाल-पोसकर बड़ा किया और यज्ञोपवीत भी कराया ॥२०॥

मैं जिस समय अध्ययन कर रहा था, उसी समय वहाँ वर्षा न होने के कारण अकाल पड़ गया ॥२१॥

इसलिए, मेरे माता-पिता अपने धन और परिवार के साथ मुझे लिये-दिये वहाँ से 'विशाला'[2] नाम की नगरी में चले गये ॥२२॥

उस नगरी में लक्ष्मी और सरस्वती दोनों वैर छोड़कर रहती थीं। वहाँ एक बनिये ने मित्र बनकर निवास दिया, अतः सपरिवार मेरे पिता वहीं रहने लगे ॥२३॥

मैं वहाँ गुरु के गृह में विद्या का अध्ययन करने लगा, और समान उम्रवालों तथा समान वेद-शाखा के अध्ययन करनेवालों के साथ रहने लगा ॥२४॥

उन्हीं साथियों में 'विजयसेन' नाम का एक गुणी कुमार मेरा मित्र बन गया। वह एक बड़े धनवान् क्षत्रिय का पुत्र था ॥२५॥

---

[1] कलिंग देश का विस्तार 'गोदावरी' और 'वैतरणी' नदी के बीच में था।

[2] यह विशाला नगरी उज्जयिनी में थी। कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में सन्देश लेकर अलकापुरी जाने के लिए मार्ग-वर्णन के क्रम में मेघ के प्रति यक्ष के द्वारा इस नगरी का निर्देश किया है।

एकदास्मदुपाध्यायगृहं मित्त्रस्य तस्य मे।
स्वसा कुमारी मदिरावती नाम सहागमत् ॥२६॥
यस्या वदनलावण्यशेषेण हिमदीधितेः।
जननेत्रामृतं जाने बिम्बं धात्रा विनिर्मितम् ॥२७॥
जगत्संमोहनं षष्ठमस्त्रमालोक्य तद्वपुः।
पञ्चस्वन्येषु बाणेषु मन्ये मन्दादरः स्मरः ॥२८॥
तां दृष्ट्वा सुहृदस्तस्माच्छ्रुतनामान्वयामहम्।
स्मराज्ञाविवशोऽभूवं सद्यस्तन्मयमानसः ॥२९॥
पश्यन्ती सापि मां तिर्यक् स्निग्धमुग्धेन चक्षुषा।
ब्रुवाणाङ्कुरितं प्रेम पुलकेन कपालयोः ॥३०॥
क्रीडानिभाच्चिरं स्थित्वा कथञ्चित्स्वगृहानगात्।
क्षिपन्ती वलितापाङ्गां प्रीतिदूतीं दृशं मयि ॥३१॥
ततस्तद्विरहार्त्तोऽहं गृहं गत्वा निपत्य च।
स्थले मत्स्य इवाकार्षमुद्वर्त्तनविवर्त्तने ॥३२॥
लावण्यामृतसर्वस्वनिधानं यत्प्रजापतेः।
अपि भूयोऽपि तत्तस्याः पश्येयमहमाननम् ॥३३॥
धन्यः सखीजनो यं सा तेन स्मेरेण पश्यति।
चक्षुषा तेन च मुखेनालपत्यपयन्त्रणम् ॥३४॥
इत्यादि चिन्तयन्कृच्छ्रादहोरात्रं व्यतीत्य तम्।
तदुपाध्यायसदनं द्वितीयेऽह्न्यहं गतः ॥३५॥
तत्रोपेत्य सविस्रम्भकथामध्ये स सादरः।
सुहृद्विजयसेनो मां सप्रहर्षोऽब्रवीदिदम् ॥३६॥
स्वसुर्मे मदिरावत्या मुखान्मन्मित्त्रमीदृशम्।
श्रुत्वा त्वां मामकी माता सस्नेहा द्रष्टुमिच्छति ॥३७॥
तदेह्यस्मद्गृहं साकं मया स्नेहोऽस्ति चेन्मयि।
त्वत्पादपद्मरजसा तद्विभूषितमस्तु नः ॥३८॥
एतत्तद्वचनं सद्यो निर्वापणमभून्मम।
मरुभूम्यध्वगस्येव महद्वर्षमशङ्कितम् ॥३९॥
तथेति तद्गृहं गत्वा दृष्ट्वा तन्मातरं ततः।
तत्सत्कृतोऽहं तत्रासं प्रियादर्शननिर्वृतः ॥४०॥

एक समय, मित्र विजयसेन की 'मदिरावती' नाम की कुमारी बहन उसके साथ हमारे उपाध्याय (गुरु) के घर आई ॥२६॥

(वह इतनी सुन्दरी थी कि) मानों उसके ही वदन-निर्माण से बचे हुए सौन्दर्य को लेकर विधाता ने जन-नयन के लिए अमृत के समान (प्रिय) चन्द्रमा का बिम्ब बनाया था ॥२७॥

मदिरावती का शरीर, जगत् को मोहित करने के कारण काम का छठाँ बाण बन गया, उसे देखकर काम ने जगत् को मोहनेवाले अपने पहले पाँच बाणों पर आदर कम कर दिया ॥२८॥

उसे देखकर तथा अपने मित्र विजयसेन से उसका नाम और उसके कुल का परिचय प्राप्त कर काम की आज्ञा से विवश होकर तत्क्षण मेरा मन उसी में डूब गया ॥२९॥

मदिरावती ने भी स्नेहभरी भोली आँखों से मुझे तिरछी देखती हुई, तथा कपोलों की पुलक से प्रेम के अंकुर की सूचना देती हुई, क्रीडा के बहाने बहुत देर तक रुकी रही, पुनः प्रेम की दूती-सी अपनी चितवन मुझपर चलाती हुई घर लौट गई ॥३०-३१॥

उसके चले जाने पर विरह-पीडित होकर मैं भी घर लौट आया, और दुःखी होकर (जमीन पर) गिर गया। पीडा से बार-बार करवट बदलने के कारण जमीन पर छटपटाती मछली की-सी मेरी स्थिति हो गई ॥३२॥

विधाता ने जिस सौन्दर्य-रूपी अमृत का खजाना बनाया है, उसका वह मुखड़ा फिर कैसे देखने को मिलेगा ? धन्य हैं मदिरावती की सहचरियाँ, जिन्हें वह मुस्काते नेत्रों से देखा करती है और जिनसे निरन्तर उसी उतने सुन्दर मुँह से बातें किया करती है।—ऐसी बहुत सारी बातें सोचता हुआ बड़ी कठिनाई से उस दिन-रात को पार कर दूसरे दिन फिर मैं उपाध्याय के घर पहुँचा ॥३३–३५॥

वहाँ दिल खोलकर की गई बातचीत के बीच मित्र विजयसेन ने आदर और हर्ष के साथ मुझसे कहा ॥३६॥

बहन मदिरावती के मुख से, आप ऐसे मेरे मित्र हैं, यह जानकर स्नेह से मेरी माँ आप से मिलना चाहती हैं ॥३७॥

यदि मुझपर आपका स्नेह है, तो साथ-साथ मेरे घर तक चलें; आपके चरण-कमल की धूल से हमारा घर भी पवित्र हो ॥३८॥

मरुभूमि के पथिक को अकस्मात् महावृष्टि प्राप्त होने पर जैसी सुख-शान्ति मिलती है, कुछ वैसी ही शान्ति उसके वचन से मुझे प्राप्त हुई ॥३९॥

घर चलने का अनुरोध मैंने स्वीकार कर लिया, और वहाँ गया भी। विजयसेन की माता से भेंट हुई। उन्होंने मेरा सत्कार किया। तब मैं वहाँ प्रियतमा मदिरावती के दर्शन से सुखी होकर रहने लगा ॥४०॥

---

१. यही कथा 'मालतीमाधव' प्रकरण का मूल है। उसमें यही मदिरावती मालती के रूप में वर्णित हुई है।

गते विजयसेनेऽथ पित्राहूते मदन्तिकात् ।
मामेत्य मदिरावत्या धात्रेयी प्रणतावदत् ।।४१।।
भर्त्तृदारिकयास्माकमुद्याने भर्त्तृदारक ।
विवृद्धिं मदिरावत्या नीता या मालतीलता ।।४२।।
नूतनो वर्त्तते तस्याः खलु पुष्पभरोद्गमः ।
मधुसङ्गमसानन्दविलासहसितोज्ज्वलः ।।४३।।
विषह्यापतितांस्तस्याः कुसुमेषुशिलीमुखान् ।
मुकुलान्युच्चितान्यद्य भर्त्तृदारिकया स्वयम् ।।४४।।
मौक्तिकैरिव तैरेषा विधायैकावली तया ।
प्रहिता ते नवं वस्तु पूर्वं प्रेष्ठाय दीयते ।।४५।।
इत्युक्त्वा सार्पिता मह्यं माला चतुरया तया ।
स पञ्चफलकर्पूरैर्नागवल्लीदलैर्युता ।।४६।।
प्रियास्वहस्तरचितां कण्ठे कृत्वा च तामहम् ।
सुखं किमपि सम्प्रापं तत्तदालिङ्गनाधिकम् ।।४७।।
मुखे कृत्वा च ताम्बूलं तामवोचं प्रियासखीम् ।
किं ब्रवीम्यधिकं भद्रे हृदि कामो ममेदृशः ।।४८।।
त्यजेयं जीवितमिदं त्वद्वयस्याकृते यदि ।
तदेव मे जन्मफलं सा हि प्राणेषु मे प्रभुः ।।४९।।
इत्युक्त्वा तां विसृज्याहमुपाध्यायगृहानगाम् ।
समं विजयसेनेन समायातेन तत्क्षणम् ।।५०।।
अन्येद्युर्मदिरावत्या सहितोऽस्मद्गृहं च सः ।
अगाद्विजयसेनोऽत्र मत्पित्रोर्दत्तसंमदः ।।५१।।
तदेवं मदिरावत्या मम चैकनिवासतः ।
गूढ एव गतो वृद्धिमनुरागोऽनुवासरम् ।।५२।।
एकदा मदिरावत्या दासी मामब्रवीद्रहः ।
शृणु यत्ते महाभाग वच्मि चित्ते तथा कुरु ।।५३।।
यतः प्रभृति दृष्टस्त्वं तत्रोपाध्यायवेश्मनि ।
वत्सया मदिरावत्या ततः प्रभृति सा किल ।।५४।।
अभिनन्दति नाहारं न तनोति प्रसाधनम् ।
रमते न च सङ्गीते न क्रीडति शुकादिभिः ।।५५।।

बुलाये जाने पर विजयसेन मेरे पास से उठकर अपने पिता के पास चला गया। उसी समय मदिरावती की धाई की लड़की ने आकर मुझे प्रणाम किया और कहा कि हे राजकुमार, राजकुमारी मदिरावती ने बगीचे में जिस मालती-लता को सींच-सींचकर बड़ा किया था, आज उसमें पहले-पहल फूल खिले हैं। वे ऐसे लगते हैं, जैसे ऋतुराज के मिलन से आनन्द-विभोर होकर मालतीलता हँस रही हो ॥४१-४३॥

काम के बाणों जैसे भौंरों के डंक की चिन्ता किये विना ही आज राजकुमारी ने उसकी कुछ कलियाँ अपने हाथों चुनी हैं ॥४४॥

मोती के समान उन कलियों से उसने एकावली—एक लड़ी का हार बनाया और आपके लिए भेजा है; क्योंकि कोई भी नई वस्तु, पहले अतिशय प्रिय व्यक्ति को ही दी जाती है ॥४५॥

यह कहकर चतुरा धात्री ने पाँच फल, कपूर और पान के साथ वह पुष्पहार मुझे दे दिया ॥४६॥

उस समय प्रिया मदिरावती के अपने हाथों बनाये उस पुष्पहार को गले लगाकर आलिंगन-सुख से भी अधिक सुख प्राप्त किया, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥४७॥

पान का बीड़ा मैंने मुख में रखा, और प्रिया की सहचरी धात्री से कहा—"हे भद्रे! मेरे हृदय में काम इस प्रकार विद्यमान है कि जी चाहता है, प्रिया मदिरावती के लिए यदि अपने प्राण दे दूँ, तो उसीसे मेरा जन्म सफल हो जाय; क्योंकि वही मेरे प्राणों की स्वामिनी है ॥४८-४९॥

यह कहकर धात्री को वहाँ से विदा कर दिया, और मैं उसी क्षण आये हुए, मित्र विजयसेन के साथ उपाध्याय के घर चला गया ॥५०॥

दूसरे दिन मदिरावती को साथ लिये हुए विजयसेन मेरे घर पर आये। उन दोनों के आगमन से मेरे पिता-माता को बड़ा आनन्द हुआ ॥५१॥

इस प्रकार, कभी मदिरावती के यहाँ और कभी मेरे यहाँ हम दोनों के मिलन से प्रतिदिन छिपा-छिपा अनुराग बढ़ता ही गया ॥५२॥

एक दिन मदिरावती की दासी ने आकर एकान्त में मुझसे कहा—"हे महाभाग! जो कुछ जिस रूप में मैं कहती हूँ, आप उसे उसी रूप में अपने मन में लें" ॥५३॥

"उपाध्याय के घर पर पहली बार जबसे मदिरावती ने आपको देखा, है तभी से वह न भोजन पसन्द करती है, न अधिक भूषण पहनती है, न संगीत में मन लगाती है, और न तो तोते आदि पक्षियों के साथ खेलना ही पसन्द करती है ॥५४-५५॥

कदलीपत्रपवनैः श्रीखण्डार्द्रविलेपनैः ।
तप्यते चन्द्रपादैश्च तुषारशिशिरैरपि ।।५६।।
कृष्णपक्षेन्दुलेखेव क्षामीभवति सान्वहम् ।
निर्वाति युष्मत्कथया केवलं क्रियमाणया ।।५७।।
एतन्मे स्वदुहित्रोक्तं तस्याः सर्वक्रियाविदा ।
या छायेव न तत्पार्श्वात्क्षणमप्यपसर्पति ।।५८।।
पुनर्नीत्वा च विस्रम्भं सा स्वयं मदिरावती ।
पृष्टा मया तया प्रोक्तं स्वं मनस्त्वद्गतं मम ।।५९।।
तदिदानीं यथा तस्याः फलेदेव मनोरथः ।
तथा सुभग कुर्वीथा जीवन्तीं तां यदीच्छसि ।।६०।।
इति वाक्सुधया तस्या दत्तानन्दोऽहमभ्यधाम् ।
युष्मदायत्तमेवैतत्स्वाधीनोऽयं जनस्तव ।।६१।।
एतच्छ्रुत्वा प्रहृष्टा सा ततो याता यथागतम् ।
तत्प्रत्ययाच्च जातास्थो निवृतोऽहमगां गृहम् ।।६२।।
अन्येद्युस्तां च मदिरावतीं पितुरयाचत ।
उज्जयिन्याः समायातो महान्क्षत्रियपुत्रकः ।।६३।।
तत्पिता च सुतां तस्मै प्रदातुं प्रत्यपद्यत ।
तच्चाहं तत्परिजनाच्छ्रुतवाञ्श्रोत्रदारुणम् ।।६४।।
ततः स्वर्गादिव भ्रष्टो वज्रेणेव समाहतः ।
आक्रान्त इव भूतेन मोहं प्रापमहं चिरम् ।।६५।।
आश्वस्याचिन्तयं चाहं वैक्लव्येनाधुनैव किम् ।
पश्यामि तावत्पर्यन्तं प्राप्नोतीष्टमविक्लवः ।।६६।।
इत्याशयाहं दिवसान्यावत्कांश्चिन्नयामि तान् ।
प्रियासखीभिरागत्य धार्यमाणस्तदुक्तिभिः ।।६७।।
लग्नोऽत्र निश्चितस्तावदभ्यक्ता मदिरावती ।
प्राप्तश्चोद्वाहदिवसस्तस्याः प्रविततोत्सवः ।।६८।।
स्वेच्छासञ्चाररुद्धायां तस्यां तत्पितृवेश्मनि ।
जन्ययात्राप्रवेशोऽभूदासन्नस्तूर्यनादितैः ।।६९।।
तद्दृष्ट्वा तन्निराशोऽहं कष्टं जीवितवैशसम् ।
कलयन्मन्यमानश्च विरहान्मरणं सुखम् ।।७०।।

केले के पत्त की हवा से, चन्दन के भीगे-भीगे लेप से और बरफ के समान शीतल चन्द्र-किरणों से वह शान्ति नहीं प्राप्त करती, सन्तप्त ही होती है ॥५६॥

कृष्णपक्ष की चन्द्रलेखा के समान दिन-दिन वह क्षीण होती जा रही है। केवल आपके सम्बन्ध में की गई कथा से वह आनन्दित होती है ॥५७॥

उक्त सब बातें मेरी (दासी की) पुत्री ने कही हैं, वह मदिरावती की प्रत्येक क्रिया से परिचित है, तथा छाया के समान उसके समीप से कभी नहीं हटती है ॥५८॥

मैंने स्वयं ही विश्वास दिलाकर मदिरावती से पूछा था, 'उसने आपको अपना चित्त समर्पित कर दिया है।' यह उसका स्पष्ट उत्तर था ॥५९॥

हे सुभग ! यदि मदिरावती को जीवित रहने देना आप चाहते हैं, तो इस समय ऐसा उपाय करें, जिससे उसका मनोरथ सफल हो" ॥६०॥

दासी की अमृत-सी इस वाणी से आनन्दित होकर मैंने कहा—"तेरे अधीन हूँ; उसका मनोरथ सफल होना-न-होना तुम्हारे हाथ है, यों मेरी ओर से कोई अड़चन नहीं है" ॥६१॥

यह सुनकर हर्षान्वित वह हो जिस प्रकार आई थी, उसी प्रकार शीघ्र ही लौट गई। उसपर विश्वास के कारण जैसे कोई सुदृढ आधार प्राप्त हो गया हो, वैसे ही मैं सुखी होकर घर चला गया ॥६२॥

इसके अनन्तर एक दिन उज्जयिनी से एक श्रेष्ठ क्षत्रिय का पुत्र आया और उसने उसके पिता से मदिरावती की याचना की ॥६३॥

मदिरावती के पिता उस क्षत्रियकुमार को अपनी पुत्री देने के लिए उद्यत हो गये। यह कर्ण-कठोर बात उसके परिजन—परिचर के द्वारा मैंने सुनी ॥६४॥

सुनकर स्वर्ग से गिरे हुए के समान, वज्र से आहत हुए के समान और भूत-प्रेत से आक्रान्त हुए के समान मैं चिरकाल तक मोह में पड़ा रहा ॥६५॥

फिर, कुछ आश्वस्त होकर मैंने सोचा कि इस समय ऐसी व्याकुलता से कुछ नहीं हो सकता, अतः कुछ काल तक प्रतीक्षा करनी चाहिए; क्योंकि धैर्य से रहनेवाले का (कभी-न-कभी) मनोरथ पूरा होता ही है ॥६६॥

इसी आशा और मेरे निकट आकर कही गई मदिरावती की सहचरियों की बातों से धैर्य धारण कर मैंने कुछ दिन भी बिताये ॥६७॥

(उधर) विवाह का लग्न निश्चित हुआ, मदिरावती को उवटन लगाकर सजाया गया। धूमधाम से मनाये जानेवाले उत्सवोंवाला विवाह का दिन भी निकट आ गया ॥६८॥

अब मदिरावती का जहाँ-तहाँ जाना-आना रोक दिया गया। पिता के गृह में ही वह रह रही थी। वाद्यवृन्द की ध्वनियों के साथ बरात आने की तैयारी हो गई ॥६९॥

यह देखकर मैं मदिरावती से निराश हो गया, जीवन को कष्टमय समझने लगा, और सोचने लगा कि विरह सहते रहने की अपेक्षा मर जाना कहीं अच्छा है ॥७०॥

गत्वा च नगरीबाह्यमारुह्य वटपादपम् ।
पाशं व्यरचयं तेन पाशेनानोकहात्ततः ॥७१॥
प्रियाप्राप्तिमनोराज्यमात्मानं चात्यजं समम् ।
क्षणाच्चापश्यमात्मानं नष्टां सम्प्राप्य चेतनाम् ॥७२॥
यूनः पतितमुत्सङ्गे छिन्नपाशस्य कस्यचित् ।
अनेन नूनं त्रातोऽहमिति मत्वाब्रवं च तम् ॥७३॥
महासत्त्व त्वया तावद्दर्शितैव दयालुता ।
किं तु मे विरहार्त्तस्य मृत्युरिष्टो न जीवितम् ॥७४॥
चन्द्रोऽग्निर्विषमाहारो गीतानि श्रुतिसूचयः ।
उद्यानं बन्धनं पौष्पी माला दिग्धा शरावली ॥७५॥
ज्वलिताङ्गारवर्षं च चन्दनाद्यनुलेपनम् ।
.... ॥७६॥
येषां मित्र विपर्यस्तं संसारे विधुरात्मनाम् ।
जीविते को रसस्तेषां मादृशां विप्रयोगिनाम् ॥७७॥
इत्युक्त्वावर्णयं चास्मै तमहं कृच्छ्रबन्धवे ।
पृष्टोदन्ताय मदिरावतीवृत्तान्तविस्तरम् ॥७८॥
ततोऽब्रवीत्स साधुर्मां किं प्राज्ञोऽपि विमुह्यसि ।
सर्त्रं यस्य कृते तेन किं त्यक्तेनात्मना फलम् ॥७९॥
आत्मीयमत्र वृत्तान्तं शृण्विमं, कथयामि ते ।
अस्तीह निषधो नाम देशो हिमवदाश्रयः ॥८०॥
कलिविद्रावितस्यैको यो धर्मस्य समाश्रयः ।
जन्मक्षेत्रं च सत्यस्य गृहं कृतयुगस्य च ॥८१॥
अतृप्तिर्यत्र लोकस्य श्रुते न त्वर्थसञ्चये ।
सन्तोषश्च स्वदारेषु नोपकारेषु सर्वदा ॥८२॥
तत्र शीलश्रुताढ्यस्य ब्राह्मणस्याहमात्मजः ।
सोऽहं देशान्तरालोककौतुकान्निर्गतो गृहात् ॥८३॥
भ्रमन्देशानुपाध्यायान्पश्यन्प्राप्तोऽस्मि च क्रमात् ।
सखे शङ्खपुरं नाम नातिदूरमितः पुरम् ॥८४॥

यह सोचकर मैं नगर के बाहर चला गया।[1] वहाँ एक बरगद के पेड़ पर चढ़ा, और (रस्सी की) फाँस बनाई। उसी फाँस के द्वारा पेड़ से प्रिया-प्राप्ति के मनोराज्य के साथ अपनी आत्मा—देह को छोड़ दिया (नीचे कूद गया)। क्षण-भर के अनन्तर चेतना प्राप्त करके देखा कि किसी युवक ने फाँस काट डाली है, और मैं उसकी गोद में हूँ। यह सोचकर कि इसी ने मेरा त्राण किया है, युवक से मैं कहने लगा—॥७१—७३॥

"हे महाबल! आपने यद्यपि मेरे लिए दयालुता दिखलाई, किन्तु (प्रिया के) विरह से पीड़ित होने के कारण मुझे मृत्यु ही प्रिय है, जीवन नहीं॥७४॥

चन्द्रमा आग की तरह, भोजन जहर की तरह, संगीत कानों में सुई की चुभन की तरह, उद्यान फाँस की तरह, पुष्पमाला विष-बुझे बाण की तरह और चन्दन (आदि शीतल वस्तुओं का लेप) जलते अंगार की वृष्टि की तरह जिन वियोगियों को ज्ञात होते हैं, उन्हें जीवन से प्रेम क्या हो सकता है?" ॥७४-७७॥

कष्ट के समय मित्र के रूप में मिले हुए उस युवक के पूछने पर मैंने मदिरावती का पूरा-पूरा वृत्तान्त वर्णन कर सुना दिया॥७८॥

तब उस परोपकारी (युवक) ने मुझसे कहा—"जिस आत्मा के लिए सब कुछ किया जाता है, उसी के नाश करने से क्या लाभ है? आप ज्ञानी होकर भी मोह में क्यों पड़े हैं?"॥७९॥

इस सम्बन्ध में मैं आपबीती सुनाता हूँ। हिमालय के आस-पास निषध नाम का एक देश है॥८०॥

वह कलि के भय से भागे हुए धर्म का आश्रय, सत्य की जन्मभूमि और सत्ययुग का गृह जैसा जान पड़ता है॥८१॥

उस देश में यदि अतृप्ति है, तो शास्त्रज्ञान के लिए, धनसंचय के लिए नहीं; सन्तोष है, तो अपनी पत्नी पर, परोपकार पर नहीं। ॥८२॥

वहीं रहनेवाले, एक सद्व्यवहार और शास्त्रज्ञान के धनी ब्राह्मण का मैं पुत्र हूँ। दूसरे देशों को देखने के कुतूहल से मैं घर से बाहर निकल पड़ा था॥८३॥

भ्रमण के समय कई देशों तथा कई उपाध्यायों को देखते हुए, हे मित्र! मैं शंखपुर पहुंचा, जो यहाँ से कुछ अधिक दूर नहीं है॥८४॥

---

[1] 'मालतीमाधव' में इस वृत्तान्त के स्थान में माधव का श्मशान जाना और वहाँ पर अघोरघण्ट का समागम होना आदि वर्णित है। भवभूति ने यह सम्पूर्ण सामग्री लावाणक लम्बक के चतुर्थ तरङ्गस्थ विदूषक की कथा से ली है।

शङ्खपालस्य यत्रास्ति नागराजस्य पावनम् ।
शङ्खह्लद इति ख्यातं स्वच्छतोयं महत्सरः ॥८५॥
तत्रोपाध्यायसदने वसंस्तदहमेकदा ।
स्नानयात्रोत्सवेऽगच्छं द्रष्टुं शङ्खह्लदं सरः ॥८६॥
असङ्ख्यैः पूरिततटं नानादेशागतैर्जनैः ।
सुरासुरैरिवाम्भोधिं क्षोभ्यमाणं समन्ततः ॥८७॥
वधूनां श्लथधम्मिल्लविस्रस्तकुसुमस्रजाम् ।
वीचिहस्तैः परामृष्टजघनस्तनमण्डलम् ॥८८॥
आश्लिष्यापहृतेनाङ्गरागेणापि जरीकृतम् ।
महाह्लदं तमद्राक्षं तन्वानं कामुकायितम् ॥८९॥
तस्य दक्षिणतो गत्वा तरुखण्डं व्यलोकयम् ।
सधूममिव तापिच्छैः साङ्गारमिव किंशुकैः ॥९०॥
सज्वालमिव चोत्फुल्ललोहिताशोकवल्लिभिः ।
हरनेत्रानलप्लुष्टं देहं रतिपतेरिव ॥९१॥
तत्रातिमुक्तकलतामण्डपद्वारि कुर्वतीम् ।
कुसुमावचयं काञ्चिदपश्यं कन्यकामहम् ॥९२॥
लीलाकटाक्षविक्षेपतर्जितश्रवणोत्पलाम् ।
उत्क्षिप्तवाहुलतिकालक्षितैकपयोधराम् ॥९३॥
बहन्तीं कवरीपाशं पृष्ठतः परिमोचितम् ।
वदनेन्दुभयेनेव तिमिरं शरणागतम् ॥९४॥
नूनं रम्भादिनिर्माणसिद्धहस्तेन वेधसा ।
सृष्टा साक्ष्णोर्निमेषेण विज्ञेया मानुषीति या ॥९५॥
सा च दृष्टा प्रविष्टैव हृदयं मे मृगेक्षणा ।
हस्तभल्लीव मारस्य जगत्त्रितयमोहिनी ॥९६॥
सापि मामवलोक्यैव सद्यः स्मरवशाभवत् ।
विमुच्य पुष्पावचयक्रीडां प्रेमविहस्तिता ॥९७॥
चलद्धारलतामध्यपद्मरागप्रभोद्गमैः ।
अनुरागमिवोद्भिन्नं भरेण हृदयाद्बहिः ॥९८॥
दर्शयन्ती परावृत्य तनुं मुहुरवैक्षत ।
सा मामपाङ्गविश्रान्ततारकान्तेन चक्षुषा ॥९९॥

वहाँ नागराज शंखपाल का स्वच्छ जल से युक्त शङ्खह्रद नाम का एक महान् सरोवर है॥८५॥

शंखपुर में उपाध्याय के यहाँ रहता हुआ मैं एक दिन नहान के मेले के अवसर पर शंखह्रद सरोवर देखने चला गया॥८६॥

वहाँ देखा कि सुर और असुरों के द्वारा मथित समुद्र के समान, अनेक देशों से आये हुए असंख्य लोगों के द्वारा सरोवर मथित हो रहा है, और उसके किनारे चारों ओर जनसमूह फैला हुआ है॥८७॥

सुन्दरियों के ढीले जूड़ों से फूलमालाएँ सरक गई हैं और वह सरोवर, उनके जघनों और स्तनों को तरंग के हाथों थपकियाँ दे रहा है और लिपट-लिपटकर उनके अंगराग से खुद रंगीन हो गया है। उस रँगीले का छैलापन देखते ही बनता था॥८८-८९॥

तालाब की दाहिनी ओर एक बागीचा था, जिसमें सघन कमलों को देखने पर लगता कि बागीचा धुआँ-धुआँ हो रहा है; टेसुओं को देखने पर जान पड़ता कि यह अंगारों से लहक रहा है और फूल-फूलकर झूलते हुए अशोक के लाल-लाल गुच्छों से प्रतीत होता कि उसमें लपटें उठ रही हैं, कि शिव के कोपानल में कामदेव की देह दहक रही है॥९०-९१॥

वहाँ मैंने मण्डपाकार माधवीलता के द्वार पर फूल चुनती हुई एक कन्या को देखा॥९२॥

उसकी चंचल चितवन के मुकाबले कर्णफूल फीका पड़ रहा था, लचीली बाँह के उचकाने से एक स्तन जब-तब दिख जाता था, पीठ की ओर खुले हुए केशपाश मुख-चन्द्र से डरकर शरण में आये हुए अन्धकार जैसे दीख पड़ते थे। सचमुच, रम्भा आदि अप्सराओं का निर्माण कर सिद्धहस्त हुए ब्रह्मा ने उसे बनाया था। बस, पलकें न झपकती होतीं, तो कोई भी उस परी को मानुषी न कहता॥९३—९५॥

तीनों लोकों को जीत लेनेवाले कामदेव के हाथ के भाले के समान वह मृगनयनी क्या दिखी कि मेरे हृदय में प्रवेश ही कर गई॥९६॥

वह भी मुझे देखते ही सुध-बुध खो बैठी थी। प्रेम ने उसका हाथ थाम लिया था, जिस कारण वह फूल चुनना भूल गई थी॥९७॥

हिलते हुए हार में लाल की लटकन जो छवि छिटकाती थी, उससे जैसे उसके हृदय का अनुराग फूटा पड़ता था, जिसे वह मुझे ही मुड़-मुड़कर दिखला रही थी। इस प्रकार, अपनी घनी बरौनियों में पुतलियों के छोर उलझाए हुए वह मुझे देर-देर तक घूरती रही॥९८-९९॥

एवं यावत्स्थितावावामन्योन्यालोकिनौ क्षणम् ।
तावत्तत्रोदभून्नश्यज्जनहाहारवो महान् ॥१००॥
आगाद्वन्येभगन्धान्धो धावन्दलितशृङ्खलः ।
मत्तहस्ती धुतारोहकर्णान्तलुलिताङ्कुशः ॥१०१॥
तं दृष्ट्वैव प्रधाव्याहं वित्रस्तां विद्रुतानुगाम् ।
जनमध्यमनैषं तामुत्सङ्गारोपितां प्रियाम् ॥१०२॥
समाश्वसिति यावत्सा तत्रागतपरिच्छदा ।
तावज्जनरवाकृष्टस्तत्रैवागात्स वारणः ॥१०३॥
तद्भयाद्विद्रवद्भूरिजनमध्यतिरोहिता ।
अनुगैः साम्यतः क्वापि नीताहं च गतोऽन्यतः ॥१०४॥
ततो गजभये शान्ते चिन्वानस्तां सुमध्यमाम्।
यन्नावापमविज्ञातनामान्वयनिकेतनाम् ॥१०५॥
तच्छून्यचित्तो विभ्रष्टविद्यो विद्याधरो यथा ।
भ्रमन्नुपाध्यायगृहं कथमप्यहमाप्तवान् ॥१०६॥
तत्र संमूर्च्छित इव प्रध्वस्त इव चाभवम् ।
तत्प्रेमभङ्गसोत्कम्पस्तदाश्लेषसुखं स्मरन् ॥१०७॥
क्रमाच्च सुस्त्रीसुलभादार्द्रभावाश्रयादिव ।
निपातितोऽहमुत्सङ्गे चिन्तया दर्शिताशया ॥१०८॥
अश्रुतया च परामृष्टो हृदये व्यथितात्मना ।
उत्तमाङ्गे गृहीतश्च शिरोत्त्यार्त्त्यन्तवृद्धया ॥१०९॥
तावच्च धैर्येण समं तन्मे विगलितं दिनम् ।
सङ्कोचमागतं पद्मवनं सह सुखेन मे ॥११०॥
मनोरथैर्मदीयैश्च साकं विघटितान्यथ ।
रथाङ्गनाम्नां मिथुनान्यस्तं याते विवस्वति ॥१११॥
ततः स्मरस्यैकसुहृत्सुखिनां नयनोत्सवः ।
उदगच्छन्निशानाथः प्राचीमुखविशेषकः ॥११२॥
तेन ज्वलद्भिरिव मे करैरपि सुधामयैः ।
आशाप्रकाशकेणापि जीविताशां न्यमील्यत ॥११३॥
अथ ज्योत्स्नानलक्षिप्तशरीरं मृत्युकाङ्क्षिणम् ।
एकोऽब्रवीत्सहाध्यायी विधुरं वीक्ष्य तत्र माम् ॥११४॥

इस प्रकार, हम दोनों एक दूसरे को देख ही रहे थे कि वहाँ से भागते हुए जनसमूह का कोलाहल चारों ओर फैल गया। बात यह थी कि किसी जंगली हाथी की गन्ध से एक हाथी पागल होकर बन्धन तोड़कर उधर ही बढ़ता आ रहा था। महावत ने कानों के पास अंकुश मार-मारकर उसे वश में लाने की पूरी-पूरी चेष्टा की, पर पागल हाथी ने उसकी एक न चलने दी थी ॥१००-१०१॥

भागते हुए जनसमूह के साथ उस कन्या की दासी भी भाग निकली थी। हाथी को देखकर डरी सहमी प्रिया को मैंने बढ़कर गोद में उठा लिया और लोगों के बीच ले आया। संयोगवश वहाँ उसकी दासी आ गई। (उसे देखकर) वह अभी ठीक-ठीक आश्वस्त भी न हो पाई थी कि लोगों के कोलाहल से खिचकर हाथी वहीं आ गया ॥१०३॥

हाथी के डर से जब लोग वहाँ से भागने लगे, तब उसी भगदड़ में वह कहीं खो गई, पीछे भागे आते लोगों के द्वारा (उस शीघ्रता में) समता के कारण अपना व्यक्ति समझकर, वह कहीं-से-कहीं ले जाई गई। मैं भी भागता हुआ दूसरी जगह चला गया ॥१०४॥

कुछ देर में हाथी का उपद्रव शान्त हुआ, पतली कमरवाली कन्या को मैं खोजने लगा; किन्तु वह मिली नहीं; क्योंकि उसका नाम, कुल और घर आदि का किसे पता था, जिसके आधार पर वह खोजी जा सकती थी ॥१०५॥

उसकी प्राप्ति नहीं होने से शून्य चित्त लिये विद्याभ्रष्ट विद्याधर के समान भ्रमण करता हुआ, किसी-किसी प्रकार बड़े कष्ट से उपाध्याय के गृह पर मैं पहुँचा ॥१०६॥

उस प्रेयसी के प्रेमभंग से काँपता हुआ, उसके आलिंगन-सुख की याद करता हुआ, गिरे हुए के समान मैं मूच्छित हो गया ॥१०७॥

(मूच्छित होने पर) क्रमशः (ऐसा मालूम हुआ, मानों) अच्छी स्त्री में पाई जानेवाली दया का अवलम्बन करके (उस प्रेमिका की) चिन्ता ने मुझे अपनी गोद में सुला लिया और आशा दिलाने लगी ॥१०८॥

समवेदना से व्यथित होकर अश्रुति-बधिरता मेरे हृदय को सहलाने लगी, और बहुत बढ़ी हुई शिरोवेदना (मेरा) सिर दबाने लगी ॥१०९॥

मेरे धैर्य के साथ-साथ दिन भी समाप्त हुआ, मुख के साथ कमल का वन संकुचित हुआ। सूर्य के अस्त होने पर मेरे मनोरथों के साथ-साथ चक्रवाक के जोड़े विघटित हो गये ॥११०-१११॥

सूर्यास्त के अनन्तर, काम का प्रधान मित्र, प्राची-रूपी नायिका का मुख-तिलक, सुखी—अविरह अवस्था के नायक-नायिकाओं का नयनानन्ददायक और निशा का नायक—चन्द्रमा उग आया ॥११२॥

(दिशाओं के प्रकाशित करने के कारण यद्यपि) चन्द्रमा आशा-प्रकाशक है, तथापि उसने मेरे जीवन की आशा को जलती हुई किरणों से, जो (सुखियों के लिए) सुधामय हैं, बुझा दिया ॥११३॥

मृत्यु की इच्छा से चाँदनी की आग में अपने को झोंक देनेवाले मुझ वियोगी को एक सहपाठी ने मुझसे कहा—॥११४॥

किमेवं दुःखितोऽस्यद्य व्याधिस्तव न दृश्यते।
अर्थकामकृतस्त्वाधिर्यदि तद्वच्मि ते शृणु ॥११५॥
अतिगर्धेन ये ह्यर्था वञ्चयित्वा परं च ये।
अपहृत्य परेषां वा वाञ्छ्यन्ते नैव ते स्थिराः ॥११६॥
पापमूला यतः पापफलभारं प्रसूय ते।
तद्भरेणैव भज्यन्ते शीघ्रं धनविषद्रुमाः ॥११७॥
अर्जनादिपरिक्लेशः केवलं तैर्धनैरिह।
अमुत्र दुःखमाचन्द्रतारकं नारकं महत् ॥११८॥
कामोऽप्यप्राप्य नष्टो यः सा प्राणान्तविडम्बना।
यश्चाधर्मोऽग्रदूतः स निरयाग्नेर्मुखप्रियः ॥११९॥
न्याय्यौ तु पूर्वसुकृतैर्धीधैर्योत्साहवान्पुमान्।
अर्थकामाववाप्नोति न तु क्लीबो भवादृशः ॥१२०॥
तद्भद्र धैर्यमालम्ब्य यतस्वाभीष्टसिद्धये।
इत्युक्तस्तेन सख्याहं नादां यत्किञ्चिदुत्तरम् ॥१२१॥
निगूह्याशयमाश्रित्य धैर्यं नीत्वा निशां क्रमात्।
इहागतोऽहं सा नाम मास्यां पुरि वसेदिति ॥१२२॥
अत्र प्राप्तेन दृष्टस्त्वं पाशार्पितगलो मया।
पाशोत्तीर्णाच्छ्रुतं त्वत्तस्त्वद्दुःखं स्वं च वर्णितम् ॥१२३॥
तदविज्ञातनामादेरपि तस्याः कृते सखे।
सुतनोराश्रितोद्योगः पौरुषागोचरेऽप्यहम् ॥१२४॥
अतस्त्वं मदिरावत्याः स्थिताया अपि गोचरे।
प्राप्तौ पुरुषकारादि मुक्त्वा क्लीवायसे कथम् ॥१२५॥
न श्रुतः पूर्ववृत्तान्तः किं त्वया रुक्मिणीगतः।
दत्तापि चेदिपतये हृता सा हरिणा न किम् ॥१२६॥
इति ब्रुवति मित्रे मे तस्मिन्नातोद्यमङ्गलैः।
अग्रतस्तत एवागात्सानुगा मदिरावती ॥१२७॥
मातृदेवकुलेऽमुष्मिन्कामपूजार्थमागताः ।
अत्र स्थिताः कामदेवं विवाहेऽर्चन्ति कन्यकाः ॥१२८॥
अत एवैतदग्रेऽस्मिन्वटे पाशो मयार्पितः।
इहागता सा तदर्थं मृतं पश्यतु मामिति ॥१२९॥

आज तुम इस प्रकार दुःखी क्यों हो? कोई व्याधि भी नहीं दीखती है। यदि अर्थ या काम के कारण मनोव्यथा हो, तो (उसका उपाय) बतलाता हूँ, सुनो ॥११५॥

अतिलोभ से दूसरे को ठगकर या चुराकर जो धन इकट्ठा किया जाता है, वह कभी स्थिर नहीं रहता ॥११६॥

वह धन विष-वृक्ष के समान होता है, चूँकि उसके मूल में पाप होता है; अतः उसका फल भी पाप ही होता है, और एक दिन उसी पाप-फल के भार से वह वृक्ष टूट जाता है ॥११७॥

वैसे धन के अर्जन करने में जो क्लेश होते हैं, वे ही केवल (अपने पास) इस संसार में रह जाते हैं, और परलोक में नरक-दुःख तबतक होता रहता है, जबतक चन्द्रमा और तारे विद्यमान हैं ॥११८॥

(यह बात हुई अर्थ के सम्बन्ध में) और वह काम भी, जो प्राप्ति के पहले ही नष्ट हो जाता है, प्राणान्त तक दुःखदायी है। उस काम से जो अधर्म प्राप्त होता है, वह मानों, नरकाग्नि का मुख दिखलानेवाला अग्रदूत है ॥११९॥

जो अर्थ या काम, न्यायसंगत हैं, उन्हें पूर्व में किये अपने पुण्यों के द्वारा बुद्धिमान्, धैर्य और उत्साहशाली व्यक्ति प्राप्त करते हैं, तुम्हारे जैसे क्लीब इस प्रकार धैर्य छोड़कर चिन्ता-मग्न व्यक्ति नहीं प्राप्त करते। (अतः) हे भद्र! धैर्य धारण कर अपना अभिलषित प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करो। मित्र के ऐसा कहने पर मैंने उत्तर तो कुछ नहीं दिया, (किन्तु) ॥१२०-१२१॥

आशय को छिपाये हुए धैर्य धारण कर क्रम से रात बिताई, और यह सोचकर कि 'कदाचित् इसी गाँव में तो वह प्रियतमा नहीं है?' (अन्वेषण करते-करते) यहाँ आया हूँ ॥१२२॥

यहाँ पहुँचने पर देखा कि तुम अपना गला, फाँस में लगाये हुए हो। (मैंने फाँस से तुम्हें छुड़ाया) उतरने पर तुमने अपने दुःख की बातें सुनाईं, मैंने भी अपना दुखड़ा सुना दिया ॥१२३॥

हे मित्र! उस कोमलांगी के कुल, नाम आदि ज्ञात न रहने पर उसकी खोज का उद्योग, पुरुषार्थ के बाहर होने पर भी, मैं कर ही रहा हूँ ॥१२४॥

तुम्हारी प्रिया मदिरावती जब कि कहीं खो गई है, तब उसकी प्राप्ति का पराक्रम छोड़कर इस प्रकार क्लीब जैसे निरुत्साह क्यों बने हो? ॥१२५॥

शिशुपाल को दी हुई रुक्मिणी का कृष्ण ने अपहरण कर लिया, यह पूर्व का वृत्तान्त तुमने नहीं सुना है क्या? ॥१२६॥

मेरा मित्र इस प्रकार कह ही रहा था कि, मांगलिक गाजे-बाजे के बीच दासियों के साथ मदिरावती सामने आ पहुँची ॥१२७॥

(मैंने मित्र से कहा—हे मित्र!) इस देवी-मन्दिर में विवाह के समय कामदेव की पूजा करने के लिए कन्याएँ आती हैं और यहाँ खड़ी होकर कामदेव की पूजा करती हैं ॥१२८॥

यह सोचकर ही सामने के बरगद के वृक्ष पर मैंने फाँस लगाई कि मदिरावती काम पूजा के लिए यहाँ आकर देखे कि उसके कारण मेरा मरण हुआ है ॥१२९॥

एतच्छ्रुत्वैव स सुहृद्वीरो मामब्रवीद्द्विजः।
तर्हि देवकुलेऽत्रैव प्रविश्याभ्यन्तरे द्रुतम् ॥१३०॥
मातृणां पृष्ठतश्छन्नावेहि साम्प्रतमास्वहे।
पश्यावः किमुपायोऽत्र कश्चित्स्यादावयोर्न वा ॥१३१॥
एवमुक्तवता तेन सख्या साकं तथेत्यहम्।
गत्वा देवकुलं तत्र तथैवासमलक्षितः ॥१३२॥
ततः परिणयोद्गीतमङ्गलागत्य सा शनैः।
प्राविशत्तत्र मदिरावती देवकुलान्तरे ॥१३३॥
एकाकिन्येव याचिष्ये वरं कञ्चिन्मनोगतम्।
कामदेवाद्भगवतस्तद्बहिर्भवताखिलाः ॥१३४॥
इति सर्वा बहिष्कृत्वा सखीरनुचरैः सह।
एकैव कामदेवं तमर्चयित्वा व्यजिज्ञपत् ॥१३५॥
मनोभवेनापि सता त्वया देव कथं न मे।
मनोगतः प्रियो ज्ञातो विप्रलब्धा हतास्मि किम् ॥१३६॥
नास्मिञ्जन्मनि भूतश्चेत्त्वं वराय क्षमो मम।
जन्मान्तरेऽपि तत्कुर्याः कृपां रतिपते मयि ॥१३७॥
तथा प्रसादं कुर्वीथा यथा देहान्तरेऽपि मे।
स एव भर्त्ता सुभगो भवेद्विप्रकुमारकः ॥१३८॥
इत्युक्त्वा सावयोर्बाला पश्यतोः शृण्वतोरपि।
शङ्कौ कृत्वोत्तरीयेण पाशं कण्ठे न्यवेशयत् ॥१३९॥
उपेत्य दर्शयात्मानमस्याः पाशं गलाद्धर।
इत्युक्तस्तेन सख्याहमुपासर्पं तदैव ताम् ॥१४०॥
मा प्रिये साहसं पश्य सैष प्राणपणार्जितः।
आर्त्तिकालोक्तसहजस्नेहो दासोऽग्रतस्तव ॥१४१॥
इत्यहं व्याहरन्हर्षभरगद्गदया गिरा।
सुतनोस्त्वरितं तस्याः पाशं कण्ठादपाहरम् ॥१४२॥
ततो मां वीक्ष्य सहसा यावत्सानन्दसाध्वसा।
क्षणं तिष्ठति सा तावत्सोऽब्रवीन्मां द्रुतं सुहृत् ॥१४३॥
दिनक्षयाप्रकाशेऽस्मिन्काले निर्गत्य याम्यहम्।
वेषेण मदिरावत्या एतत्परिजनैः सह ॥१४४॥

यह सुनते ही वीर-ब्राह्मण मित्र ने मुझसे कहा—"तब इसी देव-मन्दिर में शीघ्र ही हम दोनों प्रवेश कर मातृकाओं के (प्रतिमा-विग्रह के) पीछे छिपे रहें, और देखें कि मदिरावती की प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई उपाय सम्भव है या नहीं?" ॥१३०-१३१॥

जिस प्रकार मित्र ने कहा, उसी प्रकार उसके साथ देव-मन्दिर में जाकर मातृकाओं के प्रतिमा-विग्रहों के पीछे मैं छिपा रहा ॥१३२॥

विवाह के मांगलिक गीतों के बीच मदिरावती वहाँ आई, और धीरे-धीरे देवमन्दिर के भीतर प्रवेश कर गई ॥१३३॥

"भगवान् काम के समक्ष अपने मनोगत वर की याचना अकेली ही करूँगी, तुम सब बाहर रहो" यह कहते हुए सभी सहचरी-अनुचरियों को उसने बाहर रोक दिया, और अकेली ही काम की पूजाकर कहा—"हे पूज्य काम! आपका नाम मनोभव है, फिर भी मेरे मन में विद्यमान प्रियतम को आप नहीं समझ सके? उनके साथ विवाह नहीं करा सके, (दूसरे वर के साथ वैवाहिक निर्णय के कारण) प्रतारित होने से मुझे चोट पहुँची है ॥१३६॥

इस जन्म में अभिलषित वर को पूरा करने में यदि आप समर्थ न हो सके, तो दूसरे जन्म में उसे पूरा करने की अवश्य कृपा करेंगे ॥१३७॥

और इस प्रकार प्रसन्न हों (तथा वरदान दें), जिससे शरीर-परिवर्त्तन के अनन्तर भी वे ही सुन्दर विप्रकुमार मेरे पतिदेव हो सकें" ॥१३८॥

यह कहकर, (मातृकाओं के मूर्त्ति-विग्रह के पीछे छिपकर) हम दोनों के देखते-ही-देखते उसने वहाँ एक खूँटी में उत्तरीय की फाँस बनाकर गले में लगा ली ॥१३९॥

मित्र ने मुझसे कहा—"प्रकट होकर समीप जाओ और उसके गले से फाँस हटा दो।" मैं तत्क्षण मित्र के कथनानुसार मदिरावती के समीप जा पहुँचा, और कहा— ॥१४०॥

हे प्रिये, आप यह साहस न करें, पीडा के समय पहचाना जानेवाला स्वाभाविक स्नेह लिये, प्राण की बाजी लगाकर अर्जित किया हुआ आपका यह दास आप के समक्ष उपस्थित है ॥१४१॥

हर्ष के कारण भरे कण्ठ की वाणी से इस प्रकार कहते हुए मैंने कोमलांगी मदिरावती के गले से फाँस उतार ली ॥१४२॥

मुझे अचानक आया हुआ देखकर वह पहले उठी, फिर आनन्द-विभोर होकर खड़ी रही। इतने में मित्र ने मुझसे कहा— ॥१४३॥

साँझ के झुटपुटे में मैं मदिरावती के वेष में इसके परिजनों के साथ निकल जाता हूँ ॥१४४॥

आवयोरुत्तरीयाभ्यां संवीतां त्वमिमां वधूम् ।
आदायागच्छ निर्गत्य द्वितीयद्वारवर्त्मना ॥१४५॥
याहि देशान्तरं रात्रौ यथाकाममलक्षितः ।
मच्चिन्तां मा कृथा दैवं शिवं मम विधास्यति ॥१४६॥
इत्युक्त्वोपात्तमदिरावतीवेषः सुहृत्स मे ।
निर्गत्यैव ततः प्रायान्नक्तं तदनुगैर्वृतः ॥१४७॥
अहं च मदिरावत्यानर्घरत्नस्रजा समम् ।
द्वारेणान्येन निष्क्रम्य रात्र्या यातोऽस्मि योजनम् ॥१४८॥
प्रातर्निर्वर्त्तिताहारः क्रमाद्गच्छन्दिनैरहम् ।
प्राप्तोऽचलपुरं नाम नगरं दयितासखः ॥१४९॥
मित्रीभूय गृहे दत्ते तत्रैकेन द्विजन्मना ।
परिणीता मया सात्र सत्वरं मदिरावती ॥१५०॥
ततोऽत्र वसतः सिद्धयथेष्टसुखितस्य मे ।
किं स्यान्मित्रस्य मे वृत्तं तस्येत्येषाभवद्व्यथा ॥१५१॥
तदनन्तरमेषोऽद्य दृष्टोऽकारणबान्धवः ।
मयेह गङ्गास्नानार्थमागतेनोत्तरायणे ॥१५२॥
चिरं चैतं सवैलक्ष्यामवाश्लिष्योपविश्य च ।
यावत्पृच्छामि वृत्तान्तं तावद्देव इहागतः ॥१५३॥
तमेतमपरं विद्धि प्राणदारप्रदं मम ।
कृच्छ्रैकमित्रं पार्श्वस्थं विप्रं वत्सेशनन्दन ॥१५४॥
इति तेन यथावृत्ते विप्रेणैकेन वर्णिते ।
नरवाहनदत्तस्तमपृच्छदपरं द्विजम् ॥१५५॥
तुष्टिर्मे ब्रूहि मुक्तस्त्वं तादृशात्सङ्कटात्कथम् ।
मित्रार्थागणितप्राणा दुर्लभा हि भवादृशाः ॥१५६॥
एतत्तस्य वचः श्रुत्वा वत्सराजसुतस्य सः ।
द्वितीयोऽपि स्ववृत्तान्तं विप्रो वक्तुं प्रचक्रमे ॥१५७॥
तदा ततो मां मदिरावतीवेषं विनिर्गतम् ।
देवागारात्तदनुगास्तद्बुद्ध्या पर्यवारयन् ॥१५८॥
आरोप्य शिबिकां तैश्च नृत्यवाद्यमदाकुलैः ।
नीतोऽस्मि सोमदत्तस्य भवनं विभवान्वितम् ॥१५९॥

तुम अपनी और मेरी चादरों से मदिरावती को ढककर मन्दिर के पिछले द्वार से निकल जाओ ॥१४५॥

फिर, चोरी-चोरी रातों-रात इच्छानुसार कहीं भी चले जाओ, मेरी चिन्ता मत करना; क्योंकि नियति मेरा भी कल्याण ही करेगी ॥१४६॥

यह कहते हुए मदिरावती का वेष धारण कर मेरा मित्र मन्दिर से निकल गया, और रात के धुँधलके में मदिरावती के परिजनों से घिरकर वहाँ से चल दिया ॥१४७॥

बहुमूल्य हार पहने हुए मदिरावती के साथ मन्दिर के दूसरे द्वार से निकलकर मैं भी रातों-रात कोसों दूर निकल गया ॥१४८॥

सवेरा होने पर कुछ खाया-पिया, और तबसे कई-कई दिनों तक चलते-चलते मैं मदिरावती के साथ अचलपुर नामक नगर में पहुँच गया ॥१४९॥

वहाँ एक ब्राह्मण ने मित्र होकर रहने के लिए घर दिया, मैंने वहीं शीघ्रता से मदिरावती के साथ विवाह कर लिया ॥१५०॥

वहाँ रहते समय जिस किसी चीज की इच्छा होती, वह पूरी हो जाती थी, अतः मैं तो सुखी ही था। हाँ, चिन्ता अवश्य होती कि मदिरावती के वेश में निकल पड़े मेरे मित्र का क्या हुआ होगा? ॥१५१॥

उसके बाद आज जब मैं उत्तरायण में गंगास्नान के निमित्त यहाँ आया, तब उस अकारण बन्धु का दर्शन हुआ ॥१५२॥

मैं उससे लिपट गया, तो वह जैसे संकोच से सिहर उठा और फिर बैठकर ज्योंही कुछ हालचाल पूछना चाहा कि तबतक आप यहाँ आ गये ॥१५३॥

राजकुमार नरबाहनदत्त, मैं अधिक क्या कहूँ। समीप में बैठे, प्राण और प्रियतमा, दोनों के देनेवाले, कष्ट के समय के एकमात्र वे ही विप्र ये मित्र हैं, यह आप जानें ॥१५४॥

इस प्रकार, एक ब्राह्मण के द्वारा वृत्तान्त-वर्णन करने पर नरवाहनदत्त ने दूसरे ब्राह्मण से कहा—॥१५५॥

हे विप्र, (इस ब्राह्मण के द्वारा कहे गये वृत्तान्त सुनकर) मुझे सन्तोष हुआ है, अब आप कहें कि उस संकट से, (जब कि मदिरावती का वेष धारण कर आप मन्दिर से निकले, तब) छुटकारा कैसे मिला? मित्र के लिए जो अपने प्राणों को कुछ नहीं समझे, ऐसे आप जैसे लोग दुर्लभ हैं ॥१५६॥

वत्सेश्वरपुत्र नरवाहनदत्त का यह वचन सुनकर दूसरे विप्र ने भी अपना वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥१५७॥

उस देव-मन्दिर से मदिरावती के वेश में निकलने पर उसके अनुयायियों ने मुझे मदिरावती समझकर घेर लिया।१५८।

पालकी पर चढ़ाकर नृत्य और वाद्यों के आनन्द से विभोर हुए उन अनुचरों ने सोमदत्त के ऐश्वर्य-पूर्ण भवन में मुझे पहुँचाया ॥१५९॥

क्वचित्सद्वस्त्रभाराढ्यं सम्भृताभरणं क्वचित्।
क्वचिन्निष्पन्नपक्वान्नं क्वचित्सज्जितवेदिकम् ॥१६०॥
क्वचित्प्रगीतदासीकं क्वचिच्चारणसङ्कुलम्।
लग्नवेलाप्रतीक्षैश्च क्वचिदध्यासितं द्विजैः ॥१६१॥
तत्रैकस्मिन्गृहे पानक्षीबैः परिजनैरहम्।
कृतावगुण्ठनो नक्तं वधूबुद्ध्या प्रवेशितः ॥१६२॥
उपविष्टं च मां तत्र वनिताः पर्यवारयन्।
विवाहोत्सवसानन्दनानाचेष्टासमाकुलाः ॥१६३॥
क्षणाद्द्वारोपकण्ठे च मेखलानूपुरारवः।
अश्रावि प्राविशच्चात्र कन्यैका ससखीजना ॥१६४॥
नागीव विस्फुरद्रत्नमूर्धा धवलकञ्चुका।
अब्धिवीचीव लावण्यपूर्णा मुक्तावलीचिता ॥१६५॥
उद्यानदेवता साक्षादिव सत्पुष्पमालिनी।
सुपर्ववाहुलतिकाविराजत्करपल्लवा ॥१६६॥
सा चागत्योपविष्टा मे पार्श्वे प्रियसखीधिया।
पश्यामि यावत्सैवात्र चित्तचौरी समागता ॥१६७॥
या सा शङ्खह्रदे दृष्टा कन्या स्नानागता मया।
त्राता गजाद्दृष्टनष्टा मध्येलोकमगान्मम ॥१६८॥
किमेतत्काकतालीयं किं स्वप्नः सत्यमेव वा।
इति हर्षभरोद्भ्रान्तस्तदा चाहमचिन्तयम् ॥१६९॥
क्षणान्तरे च मदिरावतीसख्योऽब्रुवंश्च ताम्।
किमेवमार्यदुहितरुन्मना इव लक्ष्यसे ॥१७०॥
एतच्छ्रुत्वाब्रवीत्कन्या सा निगूह्याशयं तदा।
जानीथ किं न मदिरावती मे यादृशी सखि ॥१७१॥
एषा कृतविवाहा च यास्यसि श्वाशुरं गृहम्।
एतद्वियुक्ता न स्थातुं शक्ष्यामीत्यस्मि दुःखिता ॥१७२॥
तन्निर्यात बहिः क्षिप्रं यावद्विस्रम्भसङ्कथाः।
कुर्वती मदिरावत्या सह तिष्ठाम्यहं सुखम् ॥१७३॥
इति निष्कास्य ताः सर्वा द्वारे दत्त्वार्गलं स्वयम्।
उपविश्य सखीबुद्ध्या सा मामेवमभाषत ॥१७४॥

भवन में कहीं अच्छे-अच्छे वस्त्रों का पुंज, कहीं आभूषणों का पुंज, और कहीं बने बनाये पक्वान्न रखे हुए थे, कहीं विवाह के लिए वेदिका बनी हुई थी, कहीं दासियाँ गीत गा रही थीं, कहीं भाट (वंश-कीर्त्तियाँ) गा रहे थे, और कहीं विवाह-मुहूर्त्त की प्रतीक्षा में ब्राह्मण बैठे हुए थे॥१६०-१६१॥

मद्यपान से मत्त दासियों ने मेरा घूंघट तान दिया, और वे, रात को मुझे मदिरावती ही समझती हुई वहाँ एक प्रकोष्ठ में ले गईं॥१६२॥

उस प्रकोष्ठ में बैठने पर विवाहोत्सव के कारण आनन्दित और उत्सव के अनुरूप अनेक चेष्टाओं में व्यग्र वनिताओं ने मुझे चारों ओर से घेर लिया॥१६३॥

क्षण-भर बाद दरवाजे के पास करधनी और पायल का कलरव सुनाई दिया तथा सखियों के साथ एक कन्या भीतर आई॥१६४॥

दमकती हुई मणि और धवल कंचुक से लिपटी नागिन के समान मस्तक पर जगमगाते रत्नों के भूषण और चोली पहने हुए तथा लावण्य (खारापन) से परिपूर्ण एवं मोतियों से व्याप्त समुद्र की तरङ्गों के समान, लावण्य (सौन्दर्य) से परिपूर्ण एवं मुक्तावली (मोती के हार) से युक्त (वह शोभ रही थी)॥१६५॥

(तथा) सुन्दर पुष्पों की मालाएँ पहने उद्यान-देवता-सी एवं सुन्दर सन्धिस्थानवाली बाँहों के अग्रभागों में कोमल करों से शोभित होने के कारण पल्लवों से मुक्त सुन्दर पोरवाली लता-सी, विराजमान थी॥१६६॥

वह मदिरावती समझकर मेरे समीप बैठ गई। (उसे देखकर) मैंने सोचा कि यह तो चित्त को चुरानेवाली वही कन्या यहाँ आ गई है, जिसे शंखह्लद में स्नान के लिए आने पर देखा था तथा मतवाले हाथी से बचाया था। (यही उस समय) जनसमूह के बीच देखते-देखते छिप गई थी। मुझे काकतालीयन्याय से यह यहाँ मिल गई है या यह मेरा स्वप्न है, अथवा यह सत्य घटना है? मैंने अतिशय हर्ष से विभोर होकर उस समय यही सब सोचता रहा॥१६७—१६९॥

क्षण-भर बाद मदिरावती की सहचरियों ने उससे कहा—'हे आर्यपुत्रि! तुम उद्भ्रान्त चित्त-सी क्यों दीखती हो?'॥१७०॥

यह सुनकर कन्या ने आशय को छिपाते हुए उत्तर दिया—"क्या तुम यह नहीं जानती कि मदिरावती मेरी कैसी प्रिय सहचरी है?॥१७१॥

विवाहित होने के कारण यह अब अपनी ससुराल चली जायगी, इसके वियोग में मुझसे रहा नहीं जायगा, इसीलिए मैं दुःखी हूँ॥१७२॥

हे सहचरियो, अब तुम सब बाहर चली आओ, मदिरावती के साथ एकान्त में प्रिय कथाएँ (बातें) करती हुई मैं (कुछ देर) आनन्द से यहीं रहूँगी"॥१७३॥

इस तरह सब सहचरियों को वहाँ से हटाकर उसने द्वार के कपाट में स्वयं साँकल डाल दी तथा मदिरावती ही समझती हुई मुझसे यों बातें करने लगी—॥१७४॥

मदिरावति नास्त्यस्माद्दुःखं त्वद्दुःखतोऽधिकम्।
प्राणप्रिये यदन्यस्मिन्पित्रान्यस्मै प्रदीयसे ॥१७५॥
तथापि ते भवेज्जातु दर्शनं सङ्गमोऽपि वा।
संस्तवाज्ज्ञायमानेन तेन स्वप्रेयसा सह ॥१७६॥
मम त्वनास्थमुत्पन्नं यद्दुःखं तद्वदामि ते।
यथाहं ते तथा त्वं हि विस्रम्भैकास्पदं मम ॥१७७॥
गतवत्यस्मि यात्रायां स्नातुं शङ्खह्रदं सरः।
विनोदयितुमात्मानं भावि त्वद्विरहातुरम् ॥१७८॥
तत्रोद्यानं दिवामुक्त्वा नभश्चन्द्र इवागतः।
आलानकाञ्चनस्तम्भ इव सौन्दर्यदन्तिनः ॥१७९॥
नवीनश्मश्रुमधुपश्रेणीश्रितमुखाम्बुजः।
कोऽपि कान्तो द्विजयुवा दृष्टो नववया मया ॥१८०॥
वनेषु केवलं क्लिष्टास्तपोभिर्मुनिकन्यकाः।
न दृष्टोऽयं युवा याभिः किं तासां तपसः फलम् ॥१८१॥
इति सञ्चिन्तयन्त्या मे कामेन हृदयं शरैः।
तथा विद्धं यथा लज्जा भयं च गलितं ततः ॥१८२॥
ततः पश्यामि पश्यन्तं यावत्तं तिर्यगीक्षणा।
आलानमुक्तो मत्तेभस्तावदागादशङ्कितम् ॥१८३॥
तेन नश्यत्परिजनां भीतां दृष्ट्वा स मां युवा।
धावित्वाङ्के कृतां दूरे मध्ये लोकस्य नीतवान् ॥१८४॥
तत्संस्पर्शामृतानन्दमीलिताहं तदा सखि।
को हस्ती किं भयं काहं क्व स्थितास्मीति नाविदम् ॥१८५॥
ततः परिजनो यावत्प्राप्तो मे तावदागतः।
मत्तहस्ती स तत्रैव विरहो मूर्त्तिमानिव ॥१८६॥
उत्क्षिप्याहमथानीता तद्भयादनुगैर्गृहम्।
स च मे जनसंक्षोभे न जाने क्व गतः प्रियः ॥१८७॥
तदाप्रभृत्यविज्ञातनामादिकमसुप्रदम्।
स्मरन्ती तं करप्राप्तं केनापीह हृतं निधिम् ॥१८८॥
सर्वदुःखहरां निद्रां स्वप्ने तद्दर्शनेच्छया।
वाञ्छन्ती चक्रवाकीभिः समं क्रन्दामि रात्रिषु ॥१८९॥

हे प्रिये मदिरावती, तुम्हारे इस दुःख से अधिक दुःख (और कुछ) हो ही नहीं सकता है कि तुम्हारे प्राण के प्रिय हैं कोई दूसरे, तथा पिता के द्वारा व्याही जा रही हो किसी दूसरे के साथ ॥१७५॥

तथापि (पूर्व) परिचय के कारण पहचाने जाने पर उन प्राणप्रिय का कभी तुम्हें दर्शन होने तथा मिलने की भी सम्भावना है ॥१७६॥

हे सखी मदिरावती, जिस प्रकार तुम्हारे लिए विश्वासपात्र मैं हूँ, उसी प्रकार मेरे लिए तुम विश्वासपात्र हो, अतः (अपना) दुःख मैं सुनाती हूँ, (जिसकी भयंकरता के कारण तुम्हें विश्वास नहीं होगा; किन्तु) वह दुःख मेरे ऊपर आ पड़ा है ॥१७७॥

(विवाह के बाद) तुम्हारे भावी विरह से खिन्न होकर मन बहलाने के लिए लोक-यात्रा में मिलकर मैं शंखह्रद सरोवर में नहाने गई थी ॥१७८॥

वहाँ, अल्पवय सुन्दर विप्रयुवक को मैंने देखा, उसके मुख-कमल में मानों नवीन श्मश्रु (दाढ़ी) के बहाने भौंरे लगे थे। जान पड़ता था, मानों आकाश छोड़कर दिन को वहाँ उद्यान में चन्द्रमा उतर आया हो, किंवा सौन्दर्य-स्वरूप हाथी का (वह) सुवर्णमय बन्धन-स्तम्भ हो ॥१७९-१८०॥

वन में रहकर जिन मुनिकन्याओं ने तपस्याएँ कर केवल कष्ट प्राप्त किया, फिर भी ऐसे सुन्दर युवक को नहीं देखा, तो उनकी उन तपस्याओं का फल क्या? ॥१८१॥

यह सब सोचने पर मेरे हृदय को काम ने इस प्रकार बाणों से वेध दिया कि मेरी लज्जा और भय, दोनों भाग निकले ॥१८२॥

अपनी ओर देखते हुए उस सुन्दर युवक को (लज्जा और भय-रहित होकर) तिरछी आँखों से मैं देख रही थी कि अकस्मात् बन्धन-स्तम्भ से मुक्त होकर एक मतवाला हाथी वहाँ आ पहुँचा ॥१८३॥

(हाथी के भय से) मेरा परिजन कहीं भाग गया, मैं डर गई,। युवक ने इस स्थिति को देखते हुए दौड़कर मुझे अपनी गोद में उठाया और दूर खड़े लोगों के बीच मुझे पहुँचा दिया ॥१८४॥

हे सखी मदिरावती, सुन्दर युवक के अमृतमय अंकस्पर्श से उस समय मैं आनन्द-विभोर होकर यह नहीं समझ पाई कि कहाँ हाथी है, उसका भय कैसा क्या, मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ ? ॥१८५॥

कुछ देर बाद जब वहाँ मेरे परिजन आये, तबतक वह मतवाला हाथी भी वहीं आ पहुँचा, मानों शरीर धारण कर विरह ही आ गया हो ॥१८६॥

अनन्तर, युवक की गोद से झटपट लेकर मेरे भयभीत परिजन मुझे घर ले आये। उधर वह मेरे प्रिय युवक उस भीड़ में कहाँ खो गये, यह न जान सकी ॥१८७॥

हाथ में आकर किसी के द्वारा लूटी गई निधि के समान उस दिन से उस प्राणप्रद युवक का स्मरण करती हुई चाहती हूँ कि भर-नींद सोऊँ तथा स्वप्न में उसे देखूँ, किन्तु दुःखहारिणी वह नींद भी नहीं आती, (अतः) रात-भर चकई के साथ रोती रहती हूँ। यह भी ज्ञात नहीं कि उस युवक का नाम, किंवा ग्राम आदि क्या है ? (जिससे कुछ ज्ञात किया जा सके) ॥१८८-१८९॥

तदेवं निरुपायेऽस्मिन्दुःखे मम विनोदनम् ।
त्वद्दर्शनं यत्सखि तद्दूरीभवति चाधुना ॥१९०॥
उपस्थितं तदित्थं मे मरणं मदिरावति ।
त्वन्मुखालोकनसुखं सम्प्रत्यनुभवामि तत् ॥१९१॥
इत्युक्त्वा श्रोत्रपीयूषवर्षाभं वचनं मम ।
कलङ्कयन्ती वक्त्रेन्दुं सा जनैरश्रुविन्दुभिः ॥१९२॥
अवगुण्ठनमुत्क्षिप्य मुखान्मम निरीक्ष्य माम् ।
परिज्ञाय तदा साभूत्सहर्षाश्चिर्यसाध्वसा ॥१९३॥
ततो मयोक्तं मुग्धे किं सम्भ्रमः सोऽहमेव ते ।
विधिर्हि घटयत्यर्थानचिन्त्यानपि सम्मुखः ॥१९४॥
मयापि त्वत्कृते दुःखमनुभूतं सुदुःसहम् ।
यादृशं यादृशी चैषा प्रपञ्चरचना विधेः ॥१९५॥
वक्ष्यामि विस्तरात्तत्ते नायं कालः कथाक्रमे ।
निर्गमोपाय एवैकश्चिन्त्यतां सम्प्रति प्रिये ॥१९६॥
इत्युक्ता सा मया बाला प्राप्तकालमभाषत ।
अनेन पश्चाद्द्वारेण निर्गच्छावः शनैरित ॥१९७॥
बहिश्चात्र गृहोद्यानं पितुः सुक्षत्रियस्य मे ।
तन्मार्गेणैव निर्गत्य व्रजावो यत्र कुत्रचित् ॥१९८॥
इत्युक्तवत्यैव तया गुप्ताभरणया सह ।
तदुक्तेनैव मार्गेण निरगच्छमहं ततः ॥१९९॥
रात्र्या च दूरमध्वानं तया गत्वा द्रुतं भयात् ।
प्रभाते प्राप्तवानस्मि प्रियायुक्तो महाटवीम् ॥२००॥
गच्छतोश्चावयोस्तस्यां स्वकथैकविनोदयोः ।
निर्मनुषायां शनकैर्मध्याह्नः समवर्त्तत ॥२०१॥
निराश्रयाध्वगमनां निराक्रन्दामतापयत् ।
भूमिं तां दुष्टभूपाल इव तीक्ष्णकरः करैः ॥२०२॥
तस्मिन्काले परिश्रान्तां प्रेयसीं तां तृषार्दिताम् ।
कृच्छ्रप्राप्तां तरुच्छायां शनैः प्रापितवानहम् ॥२०३॥
आश्वासयामि यावच्च तत्र तां पटमारुतैः ।
अकस्मान्महिषस्तावदागाद्व्रणितविद्रुतः ॥२०४॥

इस प्रकार, उपायशून्य इस दुःख के अवसर पर तुमसे मिलने पर जी बहलता था। हे सखि, अब वह भी न होगा॥१९०॥

हे मदिरावती, मेरा मरण उपस्थित हो गया है, इसलिए सम्प्रति तुम्हारे मुख-दर्शन का सुख अनुभव कर रही हूँ। कर्ण के लिए सुधा-वृष्टि के समान यह वचन कहकर अपने वदन-चन्द्र को अंजन-सहित आँसुओं की बिन्दु से कलंकित करते हुए उसने मेरे मुख पर से अवगुण्ठन (घूँघट) हटाया और देखा। देखते ही पहचानकर हर्ष, भय और आश्चर्य से वह चकित हो उठी॥१९१-१९३॥

तब मैंने कहा—"हे सुन्दरी, यह उद्वेग क्यों? जिस युवक के विषय में तुमने इतना कहा है, मैं वही तो हूँ। भाग्य अनुकूल रहता है, तो वह अचिन्तित विषयों की घटना को (भी) घटित कर देता है॥१९४॥

हे प्रिये, तुम्हारे निमित्त ऐसा दुःसह दुःख मैंने भी अनुभव किया है। विधाता के इस जगत्-प्रपंच की रचना विचित्र है॥१९५॥

उस दुःख-घटना की कथा विस्तार-पूर्वक तुम्हें पीछे सुनाऊँगी, अभी यह समय परस्पर कथा-आलाप का नहीं है। अभी तो केवल एकमात्र यह सोचो कि हम दोनों किस तरह निकल भागें॥१९६॥

इतना कहने पर उस कन्या ने अवसर के अनुसार मुझसे कहा कि इस घर के पिछले द्वार से धीरे-धीरे यहाँ से हम दोनों निकल जायँ॥१९७॥

मेरे पिता क्षत्रिय हैं। उनकी गृह-वाटिका इस घर के बाहर (समीप में) है, उसी मार्ग से निकलकर हम दोनों जहाँ-कहीं चल दें॥१९८॥

इतना कहकर उसने अपने आभूषणों को छिपाकर रख लिया और उसके बताये मार्ग से (उसके) साथ ही वहाँ से मैं निकल गया॥॥१९९॥

उसी रात को भय के कारण जल्दी-जल्दी बहुत दूर मार्ग पार कर सवेरा होते-होते मैं प्रिया के साथ विशाल जंगल में पहुँच गया॥२००॥

एकमात्र अपनी कथा (बातचीत) से विनोद करते हुए मनुष्य से शून्य उस जंगल में हम दोनों जा रहे थे कि तबतक मध्याह्न का समय हो गया॥२०१॥

जिस प्रकार दुष्ट राजा कर के द्वारा भूमि को सन्तप्त करता है, उसी प्रकार निःशब्द, तथा पथिकों के लिए आश्रय से रहित वन-भूमि को उस समय अपनी किरणों से सूर्य सन्तप्त कर रहा था॥२०२॥

उस समय श्रान्त एवं पिपासा-पीडित प्रेयसी को मैंने कठिनता से प्राप्त वृक्ष की छाया के नीचे धीरे-धीरे पहुँचाया॥३०३॥

अभी वहाँ वस्त्र की हवा से तृषार्त्त प्रेयसी को मैं आश्वस्त कर ही रहा था कि इतने में किसी के द्वारा खदेड़ा हुआ एक घायल भैंसा वहाँ आ पहुँचा॥२०४॥

तस्य पश्चात्प्रधावंश्च हयारूढो धनुर्धरः।
आगात्कोऽपि महासत्त्व इत्याकृत्यैव सूचितः॥२०५॥

स महामहिषं भल्लीप्रहारेणापरेण तम्।
वज्रघातेन वज्रीव गिरिं वीरो न्यपातयत्॥२०६॥

दृष्ट्वा चास्मानुपागत्य स मां प्रीत्यैव पृष्टवान्।
कस्त्वं कैषा च ते साधो क्वेहायातौ युवामिति॥२०७॥

अथोपवीतमुद्घाट्य प्रोक्तं सत्यानृतं मया।
विप्रोऽहमेषा भार्या मे कार्याद्देशान्तरागतौ॥२०८॥

आवां चौरहतात्सार्थाद्विभ्रष्टौ मार्गनाशतः।
इह प्रविष्टौ दृष्टश्च भवान्नष्टाश्च भीतयः॥२०९॥

एवं मयोक्ते ब्राह्मण्यात्सानुकम्पश्च सोऽभ्यधात्।
अहं वनचराधीशो मृगयार्थमिहागतः॥२१०॥

युवां चान्वपरिश्रान्तौ सम्प्राप्तावतिथीं मम।
तदेतं विश्रमायैतन्नातिदूरं मदास्पदम्॥२११॥

इत्युक्त्वा मत्प्रियां श्रान्तामारोप्य स्वतुरङ्गमे।
पादचारीभवन्नावां स्वनिवासं स नीतवान्॥२१२॥

तत्र वान्धववत्सोऽस्मान्भोजनाद्यैरुपाचरत्।
कुदेशेष्वपि जायन्ते क्वचित्केचिन्महाशयाः॥२१३॥

ततोऽटवीं तामुत्क्रम्य तद्वितीर्णानुयात्रिकाम्।
प्राप्याग्रहारमेकं सा परिणीता मया वधूः॥२१४॥

ततः परिभ्रमन्देशान्दृष्ट्वा सार्थं समं तया।
अद्य भागीरथीस्नानमहं कर्त्तुमिहागतः॥२१५॥

इहैव चैष सम्प्राप्तः स्वयंवरसुहृन्मया।
देवश्च दृष्ट इत्येष वृत्तान्तो मामकः प्रभोः॥२१६॥

इत्युक्त्वा विरतं स यावदथ तं निर्व्याजसत्त्वोचित-
प्राप्ताभीष्टफलं प्रशंसतितरां वत्सेशपुत्रो द्विजम्।
यावत्तं युवराजमात्मसचिवा वम्भ्रम्यमाणाश्चिरं
चिन्वन्तः किल गोमुखप्रभृतयस्तत्रागता लेभिरे॥२१७॥

उस भैंसे के पीछे दौड़ते हुए घोड़े पर सवार एक धनुर्धर भी आ पहुँचा। आकृति देखने से ही ज्ञात होता था कि यह कोई महान् बली है॥२०५॥

इन्द्र जिस प्रकार वज्राघात के द्वारा पर्वत को गिरा देते हैं, उसी प्रकार उस धनुर्धर वीर ने भाले के दूसरे प्रहार के द्वारा उस महान् महिष को गिरा डाला॥२०६॥

वह वीर हम दोनों को देखकर समीप में आया और स्नेहपूर्वक मुझसे पूछा कि तुम कौन हो? तुम्हारे साथ यह महिला कौन है? तुम दोनों यहाँ कहाँ आये हो?॥२०७॥

इसके अनन्तर मैंने अपना यज्ञोपवीत (जनेऊ) दिखाते हुए कुछ झूठ-सच बातें कहीं कि मैं ब्राह्मण हूँ, यह मेरी पत्नी है। कार्यवश हम दोनों दूसरे देश में आये हैं॥२०८॥

(रास्ते में कुछ और साथी थे, पर) चोर के द्वारा उनके मारे जाने पर हम दोनों बिछुड़ गये तथा मार्ग भूल गये, अतः भटकते-भटकते यहाँ पहुँच गये हैं। अभी आपका दर्शन हुआ, तो सब भय दूर हो गया॥२०९॥

ऐसा कहने पर उस वीर ने मेरे ब्राह्मण होने के कारण मुझपर कृपा दिखलाते हुए कहा—"मैं वनचरों का अधीश हूँ। मृगया (शिकार) के लिए यहाँ आया हूँ॥२१०॥

तुम दोनों थके-माँदे हो। मेरे अतिथि बनो। यहीं, समीप में ही, मेरा निवास-स्थान है। वहाँ तुम दोनों चलो"॥२११॥

इतना कहकर मेरी थकी प्रियतमा को वीर ने अपने घोड़े पर चढ़ा दिया और स्वयं पैदल चलकर हम दोनों को अपने निवास-स्थान पर ले गया॥२१२॥

वहाँ बन्धु के समान हम दोनों का भोजनादि के द्वारा सत्कार किया। सच है, कुदेश में भी कहीं कोई महान् हृदयवाले जन्म लिये रहते हैं॥२१३॥

अनन्तर, उस जंगल को पार करने के लिए वीर ने कुछ लोगों को साथ कर दिया। इस तरह जंगल को पार कर गया। आगे एक अग्रहार—जागीर (राजा के द्वारा ब्राह्मण को दी गई भूमि) में पहुँचकर उस कन्या से मैंने विवाह कर लिया॥२१५॥

अनेक देशों में प्रिया के साथ भ्रमण करता हुआ आज गंगास्नान के लिए यहाँ आया हूँ॥२१५॥

इसी जगह ये मित्र मिले हैं। आपका भी दर्शन हुआ। संक्षेप में यही मेरा वृत्तान्त है।॥२१६॥

नरवाहनदत्त, इतना कहकर विरत हुए ब्राह्मण की, निश्छल सत्त्वगुण के अनुसार अभीष्ट फल प्राप्त करने की प्रशंसा कर ही रहे थे, कि तबतक चिरकाल से अन्वेषण करते-करते गोमुख आदि उनके सचिव वहाँ आ पहुँचे तथा नरवाहनदत्त से मिले॥२१७॥

स च नरवाहनदत्तश्चरणनतान्हर्षबाष्पधौतमुखान्।
तानभिननन्द सर्वान्सम्मान्य यथोचितं सचिवान्॥२१८॥
अथ तौ विप्रयुवानौ सदर्थनीतिप्रियौ सहादाय।
स ययौ सह तैर्मन्त्रिभिरन्वागतललितलोचनः स्वपुरीम्॥२१९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे मदिरावतीलम्बके प्रथमस्तरङ्गः।
समाप्तश्चायं मदिरावतीलम्बकस्त्रयोदशः।

नरवाहनदत्त ने चरण पर प्रणत एवं हर्षाश्रु से भीगे मुखवाले सभी सचिवों का उचित सम्मान के साथ अभिनन्दन किया ॥२१८॥

नरवाहनदत्त, ललितलोचन-सहित तथा समुचित अर्थ और नीति के प्रिय उन दोनों विप्रयुवकों को साथ लिये सचिवों के साथ अपनी नगरी चले गये ॥२१९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के मदिरावती-लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त हुआ।

तेरहवाँ मदिरावती लम्बक भी समाप्त हुआ।

पञ्चलम्बकश्चतुर्दशः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ।।

चतुर्दश पंचलम्बक

नगराज-नन्दिनी पार्वती के प्रणय-रूपी मन्दराचल से आन्दोलित होकर बहुत पहले शिव के मुख-रूपी समुद्र से निकले हुए इस कथा-रूपी अमृत का जो आग्रहपूर्वक आस्वादन करते हैं वे बिना विघ्न के ऋद्धि-सिद्धियों का लाभ करके शिवजी की कृपा से पृथ्वी पर देवता होने का गौरव प्राप्त करते हैं।

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

तुष्टेन येन देहार्धमप्युमायै समर्पितम्।
स वो ददात्वभिमतं वरदः पार्वतीपतिः ॥१॥
निशि विघ्नजितो वोऽव्यात्ताण्डवोद्दण्डितः करः।
शोणश्चन्द्रातपत्रस्य तन्वन्विद्रुमदण्डताम् ॥२॥

नरवाहनदत्तकथा (क्रमागता)

ततो वत्सेश्वरसुतस्तास्तास्त्रैलोक्यसुन्दरीः।
भार्या दधानस्तां चाद्यां देवीं मदनमञ्चुकाम् ॥३॥
नरवाहनदत्तोऽत्र कौशाम्ब्यां गोमुखादिभिः।
उवास सह सम्पूर्णकामः पितृविभूतिभिः ॥४॥
तस्याभीष्टवधूसङ्गसुखामृतमनोरमाः ।
नृत्तगीतकथालापरम्यास्ते दिवसा ययुः ॥५॥
अथैकदा स तामग्र्यां कान्तां मदनमञ्चुकाम्।
न ददर्शावरोधान्तर्न वा परिजनं क्वचित् ॥६॥
तामनालोकयन्कान्तां स जगाम विवर्णताम्।
रजनीविरहध्वस्तकान्तिरिन्दुरिवोषसि ॥७॥
चित्तं जिज्ञासितुं किंनुच्छन्ना स्यात्क्वापि मे प्रिया।
किं वापराधलेशात्सा कुतोऽपि कुपितैव मे ॥८॥
माययाच्छादिता केनाप्यथवापहृता नु किम्।
इत्यनेकविकल्पौऽघविह्वलोऽथ वभूव सः ॥९॥
अन्वेषयन्यदा नैव लभते स्म कुतोऽपि ताम्।
सन्तेपे स तदोद्दामतद्वियोगदवाग्निना ॥१०॥
उपेत्य ज्ञातवृत्तान्तस्तस्य वत्सेश्वरः पिता।
मातरः सचिवा भृत्याः सर्वे विह्वलतां ययुः ॥११॥
हारचन्दनचन्द्रांशुमृणालनलिनीदलैः ।
ववृधे तस्य सन्तापो न जगाम शमं पुनः ॥१२॥
कलिङ्गसेना सद्यश्च विहीना सुतया तया।
विद्याधरीव विभ्रष्टविद्या संमूढतां ययौ ॥१३॥
अथ तत्राब्रवीदेका वृत्तान्तःपुररक्षिका।
नरवाहनदत्ताग्रे सर्वेष्वाकर्णयत्स्विदम् ॥१४॥

चतुर्दश पंचलम्बक

प्रथम तरंग

मंगलाचरण

वे वरदाता पार्वतीपति तुम सबको अभिमत दान दें, जिन्होंने सन्तुष्ट होने पर उमा को अपना आधा शरीर तक दान दे दिया ॥१॥

रात को ताण्डव के समय ऊपर उठाई हुई गणेश की लाल-लाल सूँड़ तुम्हारी रक्षा करे, जो चन्द्रमा के छत्र के मूंगे के बने डण्डे की तरह दिखलाई देती है ॥२॥

नरवाहनदत्त की कथा (क्रमागत)

अनन्तर, वत्सेश्वर के पुत्र नरवाहनदत्त, कौशाम्बी नगरी में पटरानी मदनमंचुका तथा अन्य त्रिभुवनसुन्दरी भार्याओं तथा गोमुख आदि सचिवों के साथ पिता की सम्पत्तियों से पूर्ण-मनोरथ होकर रहने लगे और अभिलषित सुन्दरियों के अमृतसम संगम तथा नृत्त, संगीत एवं मधुर कथालापों से उनके दिन बीतने लगे ॥३–५॥

एक समय भार्याओं में अग्रगण्य मदनमंचुका को नरवाहनदत्त ने एवं उसके परिजन ने अकस्मात् अन्तःपुर में नहीं देखा ॥६॥

प्रातःकाल में रजनी के विरह से कान्तिहीन चन्द्रमा के समान मदनमंचुका के विरह से नरवाहनदत्त विवर्ण हो गये ॥७॥

और, अनेक कल्पनाओं के विकल्प उनके सामने आये, जिससे वे विह्वल हो उठे। क्या वह कहीं छिप गई है, किंवा मेरे किसी छोटे-मोटे अपराध से कुपित होकर अथवा किसी माया से अन्तर्हित हो गई है, या कि किसी ने उसका अपहरण कर लिया है ? ॥८-९॥

इन्हीं विकल्पों में पड़े तथा अन्वेषण करते हुए नरवाहनदत्त को जब मदनमंचुका नहीं प्राप्त हो सकी, तब उसके विरह-दावानल से वे अधिक सन्तप्त हो गये ॥१०॥

यह वृत्तान्त जानकर उनके पिता वत्सेश्वर, माताएँ, सचिव और भृत्य, सब-के-सब उनके समीप आये तथा (उनके विरह-सन्ताप को देखकर) विह्वल हो गये ॥११॥

विरह-शान्ति के लिए कोमल हार, चन्दन, चन्द्र-किरण, कमलनाल, कमलिनी-पत्र, ये सब जो कुछ भी उपचार में लाये गये, उन सबसे उनके सन्ताप की वृद्धि ही हुई, शान्ति नहीं ॥१२॥

विद्या से भ्रष्ट विद्याधरी के समान पुत्री मदनमंचुका से विहीन होकर कलिंगसेना मूर्च्छित हो गई ॥१३॥

अनन्तर, ऐसी स्थिति में अन्तःपुर की एक रक्षिका ने नरवाहनदत्त के समक्ष उपस्थित होकर कहा—जो सब सुन रहे थे ॥१४॥

हर्म्याग्रे तां तदा कन्यां सतीं मदनमञ्चुकाम्।
दृष्ट्वावतीर्य नभसः सद्यो विद्याधरो युवा ॥१५॥
योऽसौ मानसवेगाख्यो नामोक्त्वा समयाचत।
कलिङ्गसेनामभ्येत्य देह्येतां मे सुतामिति ॥१६॥
तेनैतया निषिद्धेन सता गत्वा यथागतम्।
इदानीं गुप्तमागत्य हृता सा किं न मायया ॥१७॥
परदारगृहं नैव दिव्या यद्यपि कुर्वते।
तथाप्यमार्गं मार्गं वा रागान्धः को हि पश्यति ॥१८॥
श्रुत्वैतच्चित्तमाकोपविमर्शविरहोत्प्लुतम् ।
नरवाहनदत्तस्य जज्ञे वीचिष्विवाम्बुजम् ॥१९॥
रुमण्वानथ वक्ति स्म पुरीयं रक्ष्यतेऽभितः।
प्रवेशनिर्गमौ नेह विद्येते गमनं विना ॥२०॥
हरप्रसादाच्चास्त्यस्या नानिष्टं तदिह स्थिता।
क्वचित्प्रणयकोपात्सा तथा च श्रूयतां कथा ॥२१॥
मुनिः पुराङ्गिरा नाम विवाहार्थमयाचत।
अष्टावक्रस्य तनयां सावित्रीं नाम कन्यकाम् ॥२२॥
अष्टावक्रो न तां तस्मै ददावङ्गिरसे सुताम्।
सगुणायापि सावित्रीमन्यस्मै पूर्वकल्पिताम् ॥२३॥
ततस्तद्भ्रातृतनयामश्रुतां नाम सोऽङ्गिराः।
उपयेमे तया साकं स तस्थौ भार्यया सुखम् ॥२४॥
सा च भार्यास्य वेत्ति स्म सावित्रीं पूर्ववाञ्छिताम्।
एकदा सोऽङ्गिरा मौनी जपन्नासीच्चिरं मुनिः ॥२५॥
भार्याथ सा तं पप्रच्छ मुहुः सप्रणयाश्रुता।
चिरं किमार्यपुत्रैवं चिन्तयस्युच्यतामिति ॥२६॥
प्रिये ध्यायामि सावित्रीमित्युक्ते तेन साश्रुता।
सावित्री तां मुनिसुतां मत्वात्मनि चुकोप ह ॥२७॥
दुर्भगोऽयमिति त्यक्तुं देहं गत्वा वनं च सा।
शुभं भर्त्तुरनुध्याय कण्ठे पाशं समर्पयत् ॥२८॥
मा पुत्रि साहसं कार्षीः पत्या ध्याता न तेऽङ्गना।
ध्याताऽहं तेन सावित्रीत्युक्त्वा पाशाद्ररक्ष ताम् ॥२९॥

कि "प्रासाद की छत पर विद्यमान मदनमंचुका को देखकर एक मानसवेग नामक युवक विद्याधर ने सद्यः आकाश से उतरकर अपना नाम बतलाते हुए कलिंगसेना के समीप पहुँचकर याचना की कि अपनी पुत्री मदनमंचुका मुझे दे दो॥१४-१६॥

किन्तु, कलिंगसेना ने उस बात को स्वीकृत नहीं किया, अतः वह विद्याधर कलिंगसेना से निषिद्ध होकर जैसे आया था, वैसे ही लौट गया। हो सकता है, गुप्त रूप से आकर माया के द्वारा उसने ही तो हरण नहीं कर लिया॥१७॥

यद्यपि स्वर्गीय व्यक्ति परस्त्री को अपनी स्त्री नहीं बनाते, तथापि प्रेमान्ध हो जाने पर मार्ग-कुमार्ग कौन देखता है"॥१८॥

यह सुनकर नरवाहनदत्त का चित्त तरंगों में कमल के समान कुछ कोप एवं विचार तथा विरह से चंचल हो उठा॥१९॥

अनन्तर, रुमण्वान् ने कहा कि इस नगरी की चारों ओर से रक्षा की जा रही है, विना अनुमति के प्रवेश और निर्गम दोनों कठिन हैं॥२०॥

शिवजी की कृपा के कारण मदनमंचुका का अनिष्ट नहीं हो सकता है, अतः वह प्रेम-कोप कर कहीं इसी स्थान में (छिपी) होगी। इस प्रकार की एक कथा आप लोग सुनें॥२१॥

पूर्व समय में अंगिरा नाम के मुनि ने अष्टावक्र से उनकी पुत्री सावित्री नाम की कुमारी के साथ विवाह की याचना की॥२२॥

अंगिरा मुनि यद्यपि गुणवान् थे, तथापि दूसरे के साथ विवाह का संकल्प पूर्व ही में कर लिये जाने के कारण अष्टावक्र ने अपनी पुत्री देना स्वीकार नहीं किया॥२३॥

अनन्तर, अष्टावक्र के भ्राता की अश्रुता नाम की पुत्री के साथ अंगिरा ने विवाह किया तथा उसके साथ सुखपूर्वक रहने लगे॥२४॥

वह अश्रुता नाम की पत्नी यह जानती थी कि मेरे पति अंगिरा पहले सावित्री से विवाह करना चाहते थे। एक समय अंगिरा ऋषि मौन धारण कर चिरकाल से जप कर रहे थे॥२५॥

प्रेमयुक्त पत्नी अश्रुता ने बारं-बार पूछा कि हे आर्यपुत्र! बतायें कि आप चिरकाल से इस प्रकार क्या चिन्ता कर रहे हैं?॥२६॥

अंगिरा ऋषि ने कहा कि हे प्रिये, मैं सावित्री का ध्यान करता हूँ। यह सुनकर अश्रुता ने अष्टावक्र की पुत्री सावित्री के सम्बन्ध में यह उत्तर मानकर अपने-आप पर कोप किया॥२७॥

(अश्रुता ने मन-ही-मन सोचा कि) यह मेरा शरीर भाग्यहीन है, अतः शरीरत्याग करने के लिए वह वन में चली गई और अपने पति के शुभ का ही ध्यान करती हुई, गले में फन्दा डालने लगी॥२८॥

उसी समय सावित्री (मन्त्र) ने प्रकट होकर कहा—हे पुत्रि, अश्रुते! यह साहस मत करो। तुम्हारे पतिदेव मेरा ध्यान करते थे (न कि अष्टावक्र की पुत्री सावित्री का)। यह कहकर उन्होंने अश्रुता को फन्दे से बचा लिया॥२९॥

प्रकटीभूय गायत्री साक्षसूत्रकमण्डलुः।
भक्तानुकम्पिनी चैतां समाश्वास्य तिरोदधे ॥३०॥
अथैषाङ्गिरसा भर्त्रा सम्प्राप्तान्विष्यता वनात्।
तदेवं दुःसहं स्त्रीणामिह प्रणयखण्डनम् ॥३१॥
तत्स्वल्पेनापराधेन कुपितेह क्वचित्स्थिता।
अन्वेष्या शम्भुरक्ष्या सा राजपुत्रवधूः पुनः ॥३२॥
एवं रुमण्वता प्रोक्ते राजा वत्सेश्वरोऽब्रवीत्।
एवमेतन्न दुरितं तस्याः सम्भाव्यते यतः ॥३३॥
नरवाहनदत्तस्य भार्या देवविनिर्मिता।
कामांशस्यावतीर्णेषा रतिर्मदनमञ्चुका ॥३४॥
असौ विद्याधरैश्वर्यं दिव्यकल्पं सहानया।
करिष्यतीति दिव्या वागब्रवीन्न च तन्मृषा ॥३५॥
तदेषान्विष्यतां सम्यगिति राज्ञोदिते स्वयम्।
नरवाहनदत्तः स तदवस्थोऽपि निर्ययौ ॥३६॥
यथायथा हि चिन्वानो न तां प्राप तथा तथा।
तेषु तेषु प्रदेशेषु सोन्माद इव सोऽभ्रमत् ॥३७॥
अपेते तत्पुरात्तस्मिन्पिहितद्वारका गृहाः।
तद्दुःखदर्शनोद्वेगादिव सम्मीलितेक्षणाः ॥३८॥
वनेषु तं च पृच्छन्तं चलत्पल्लवपाणयः।
न सा दृष्टा तवास्माभिरित्यूचुरिव पादपाः ॥३९॥
उद्यानेषूत्पतन्तश्च खगास्तस्मै विचिन्वते।
इतः सा न गतेत्येवं शशंसुरिव सारसाः ॥४०॥
मरुभूतिर्हरिशिखो गोमुखः सवसन्तकः।
ते ते च सचिवा भ्रेमुस्तामन्वेष्टुं समन्ततः ॥४१॥
अत्रान्तरे वेगवती नाम विद्याधरी किल।
कन्या दृष्टचरोदारवपुर्मदनमञ्चुका ॥४२॥
तदीयं रूपमास्थाय तस्थावुपवनान्तरे।
आगत्यैकाकिनी स्वैरमत्राशोकतरोरधः ॥४३॥

प्रकट होने के समय गायत्री (सावित्री) के हाथ में कमण्डलु और करमाला थी। भक्तों पर अनुकम्पा करनेवाली वह गायत्री अश्रुता को आश्वासन देकर स्वयं तिरोहित हो गई।।३०।।

इधर अश्रुता का अन्वेषण करते-करते पति अंगिरा ऋषिवन में आये तथा वहीं अश्रुता प्राप्त हो गई। इस प्रकार, प्रेम का खण्डन स्त्रियों के लिए दुःसह हो जाता है।।३१।।

अतः, किसी अल्प अपराध से क्रुद्ध होकर कहीं इसी स्थान में मदनमंचुका होगी। शिव से वह रक्षित है, अतः राजा (वत्सेश्वर) की पुत्रवधू का अन्वेषण होना चाहिए।।३२।।

इस प्रकार, रुमण्वान् के कहने पर राजा वत्सेश्वर ने कहा—हाँ, ऐसा ही हुआ होगा; क्योंकि मदनमंचुका का किसी प्रकार का अनिष्ट सम्भव नहीं है।।३३।।

कामदेव की देवी रति ही नरवाहनदत्त की पत्नी के रूप में देवताओं के द्वारा निर्मित मदनमंचुका है।।३४।।

(क्योंकि) आकाशवाणी हुई है कि नरवाहनदत्त देवताओं के वर्ष के हिसाब से एक कल्प-पर्यन्त इस मदनमंचुका के साथ विद्याधरों का साम्राज्य भोगेंगे, और यह आकाशवाणी मिथ्या नहीं हो सकती।।३५।।

अतः, मदनमंचुका का अन्वेषण सम्यक् प्रकार से किया जाय। इस प्रकार, राजा के कहने पर स्वयं नरवाहनदत्त विरहावस्था में दुःखी रहने पर भी अन्वेषण के लिए निकल पड़े।।३६।।

ज्यों-ज्यों अन्वेषण करते गये और उसे प्राप्त नहीं कर सके, त्यों-त्यों उन-उन स्थानों में उन्मत्त होकर भ्रमण करते-करते आगे बढ़ते गये।।३७।।

इधर अन्वेषण के निमित्त नरवाहनदत्त के नगर से चले जाने पर नगरवासी अपने-अपने गृह के द्वार को बन्द रखते थे, मानों नगर के घरों ने नरवाहनदत्त के विरह, दुःख तथा उनके दर्शनोद्वेग से आँखें बन्द कर ली हों।।३८।।

वन-उपवन में जा-जाकर मदनमंचुका के विषय में पूछताछ करते हुए उन्मत्तप्राय नरवाहनदत्त को अपने चंचल पल्लव-रूप पाणि के द्वारा वृक्ष मानों उत्तर दे रहे थे कि हमने आपकी उस मदनमंचुका को नहीं देखा है।।३९।।

उद्यानों में अन्वेषण करते हुए उन्हें उड़-उड़कर चहचहाती हुई सारस चिड़ियाँ मानों उत्तर दे रही थीं कि इस ओर होकर मदनमंचुका कहीं नहीं गई है।।४०।।

मरुभूति, हरिशिख, गोमुख, वसन्तक आदि प्रसिद्ध सचिव भी उसके अन्वेषण के निमित्त स्थान-स्थान पर भ्रमण करने लगे।।४१।।

इसी बीच वेगवती नाम की एक विद्याधरकन्या, जो मदनमंचुका के रमणीय रूप को पहले देख चुकी थी—।।४२।।

मदनमंचुका का स्वरूप धारण कर उपवन के मध्य में एक अशोकवृक्ष के नीचे अकेली आकर खड़ी हो गई।।४३।।

तां ददर्श विचिन्वानो मरुभूतिः परिभ्रमन्।
सद्यो विशल्यकरणीं सशल्यस्येव चेतसः ॥४४॥
नरवाहनदत्तं तं गत्वा दृष्टो जगाद सः।
समाश्वसिहि दृष्टा ते मयोद्याने स्थिता प्रिया ॥४५॥
इत्येवोक्तवता तेन साकं तत्क्षणमेव सः।
नरवाहनदत्तस्तदुद्यानं मुदितो ययौ ॥४६॥
तत्रातिविरहक्लान्तो भार्यां मदनमञ्चुकाम्।
तामपश्यत्स तृषितो वारिधारामिवाध्वगः ॥४७॥
दृष्ट्वैवालिङ्गितुं तां च भृशार्त्तो यावदिच्छति।
तावत्सा तं जगादैवं धूर्त्ता परिणयैषिणी ॥४८॥
मां त्वं सम्प्रति मा स्प्राक्षीः शृणु तावद्वचो मम।
मयोपयाचिता यक्षास्त्वत्प्राप्त्यै प्राग्विवाहतः ॥४९॥
विवाहे वः प्रदास्यामि स्वहस्तेन वलीनिति।
विवाहकाले ते तस्मिन्मम प्राणेश विस्मृताः ॥५०॥
तत्कोपात्तैरहमितो यक्षैरपहृताभवम्।
गच्छ भूयो विवाहं तं कृत्वा दत्त्वा वलिं च नः ॥५१॥
निजं पतिमुपेयास्त्वं नान्यथा ते शिवं भवेत्।
इत्युक्त्वा तैरिहानीय यक्षैर्मुक्तास्मि साम्प्रतम् ॥५२॥
तन्मां परिणयस्वाशु पुनार्यावद्ददाम्यहम्।
यक्षेभ्योऽभिमतां पूजां ततः पूरय वाञ्छितम् ॥५३॥
तच्छ्रुत्वैव समाहूय शान्तिसोमं पुरोहितम्।
क्षणात्सम्भृत्य सम्भारान्मायामदनमञ्चुकाम् ॥५४॥
विद्याधरीं वेगवतीमुपयेमे स तत्क्षणम्।
नरवाहनदत्तस्तां वियोगक्षणकातरः ॥५५॥
प्रहृष्टवत्सराजोऽथ देव्यानन्दी महोत्सवः।
नन्दत्कलिङ्गसेनोऽभूत्तत्रातोद्यरवाकुलः ॥५६॥
ददौ वलिं च यक्षेभ्यो मायामदनमञ्चुका।
विद्याधरी स्वहस्तेन सा मद्यपिशितादिभिः ॥५७॥
नरवाहनदत्तोऽथ वासकस्थस्तया सह।
पपौ स सोत्सवः पानं पानशौण्डोऽपि तद्गिरा ॥५८॥

अन्वेषण के निमित्त भ्रमण करते-करते सचिव मरुभूति ने यहाँ पहुँचकर उसे देखा; मानों हृदय का घाव भरने वह वहाँ उपस्थित हो ॥४४॥

मरुभूति ने लौटकर नरवाहनदत्त से कहा कि आप आश्वस्त हों, उद्यान में आपकी प्रियतमा मदनमंचुका को मैंने देखा है ॥४५॥

इतना कहते ही सचिव मरुभूति के साथ प्रसन्न होकर नरवाहनदत्त तत्क्षण उस उद्यान में गये ॥४६॥

अतिशय विरह से सन्तप्त नरवाहनदत्त ने प्रिया मदनमंचुका को इस प्रकार देखा, जिस प्रकार पिपासित पथिक (तृषा से) जलधारा को देखता है ॥४७॥

विरह से अति पीड़ित वे जबतक उसका आलिंगन करना चाहते हैं, तबतक धूर्त्ता एवं मदनमंचुका का छद्मरूप धारण करनेवाली विद्याधरी परिणय की इच्छा से नरवाहनदत्त से कहने लगी —॥४८॥

"सम्प्रति मेरा स्पर्श आप न करें; (पहले) मेरा वचन सुन लें। विवाह से पूर्व आपकी प्राप्ति के लिए यक्षों से मैंने उपयाचना (मनौती) की थी कि विवाह के समय में आप सबको अपने हाथ से बलि दूँगी।" किन्तु हे प्राणेश, विवाह के समय मैं उन यक्षों को बलि देना भूल गई ॥४९-५०॥

उसी क्रोध से यक्षों के द्वारा यहाँ अपहृत हो आई हूँ, और यक्षों ने यह कहकर मुझे यहाँ सम्प्रति छोड़ा है कि तुम नरवाहनदत्त के साथ पुनः विवाह करो तथा हमें (यक्षों को) पूर्व-प्रतिज्ञात बलि प्रदान करो, तब (शान्ति से अपने) पति (नरवाहनदत्त) को प्राप्त करो; ऐसा न करने पर तुम्हारा कल्याण नहीं होगा ॥५१-५२॥

अतः, शीघ्र मेरे साथ आप पुनः परिणय करें। तब मैं यक्षों को अभिमत पूजा दे दूँ, और आप अपना मनोरथ पूरा करें ॥५३॥

यह सुनते ही शान्तिसोम नाम के पुरोहित को बुलाकर, क्षण-भर में ही विवाह-सामग्री जुटाकर, मायामयी मदनमंचुका, जो वस्तुतः वेगवती नाम की विद्याधरी थी, के साथ नरवाहनदत्त ने परिणय कर लिया। तत्क्षण परिणय इसलिए किया कि विरह का भय था ॥५४-५५॥

तदनन्तर, वहाँ (विविध) बाजों की ध्वनि से संकुल (वैवाहिक) महोत्सव होने लगा, जिससे वत्सराज उदयन हर्षित हुए, रानियाँ आनन्दित हुईं और कलिंगसेना प्रमुदित हुईं ॥५६॥

मायावश मदनमंचुका विद्याधरी ने, अपने हाथ से मद्य, मांस आदि के द्वारा यक्षों को बलि दी ॥५७॥

अनन्तर, उस विद्याधरी के साथ रहने के कमरे में जाकर नरवाहनदत्त ने, उसके कहने भर से, मदपायी न होते हुए भी, धूमधाम से मद्यपान किया ॥५८॥

सिषेवे च तया साकं जीवलोकसुखं ततः ।
छाययेव दिनाधीशः परिवर्त्तितरूपया ।।५९।।
रहःस्था चाब्रवीत्सा तं सुप्ता नाहं प्रिय त्वया ।
सहसा मुखमुद्घाट्य वीक्षणीयेह सम्प्रति ।।६०।।
तच्छ्रुत्वा स किमेतत्स्यादिति यावत्सकौतुकः ।
सुप्ताया राजपुत्रोऽस्या मुखमन्येद्युरीक्षते ।।६१।।
तावदन्यैव सा कापि न सा मदनमञ्चुका ।
स्वापवेलावशध्वस्तमायारूपविवर्त्तना ।।६२।।
ततः स जाग्रदेवासीद्यावत्प्रबुबुधेऽत्र सा ।
का त्वं सत्यं वदेत्येवमथ तां पृच्छति स्म सः ।।६३।।
साप्यनिद्रोपविष्टं तं दृष्ट्वा रूपे निजे स्थिता ।
वक्तुं प्रचक्रमे जातप्रतिभेदा मनस्विनी ।।६४।।
शृण्विदानीं ब्रवीम्येतद्यथावस्तु तव प्रिय ।
अस्त्याषाढपुरं नाम विद्याधरपुरं गिरिः ।।६५।।
तत्र वेगवतो राज्ञः पुत्रो विद्याधराधिपः ।
अस्ति मानसवेगाख्यो राजा भुजबलोद्धतः ।।६६।।
तस्य वेगवती नाम भगिन्यस्मि कनीयसी ।
स च भ्राता न मे विद्यां दातुमैच्छदतिद्विषन् ।।६७।।
ततो मया ताः क्लेशेन तपोवनगतात्पितुः ।
प्राप्तास्तद्वरतश्चैताः सर्वाधिकवला मम ।।६८।।
साहं दृष्टवती दीनामुद्याने रक्षिभिर्वृताम् ।
आषाढाद्रिपुरे तस्मिन्स्थितां मदनमञ्चुकाम् ।।६९।।
माययापहृता तेन भ्रात्रा मे दयिता तव ।
रावणेनेव दुःखार्त्ता रामभद्रस्य जानकी ।।७०।।
अनिच्छन्ती च सा साध्वी तेनाक्रान्तुं न शक्यते ।
स्त्रीणां हठोपभोगे हि शापस्तस्यास्ति मृत्युजः ।।७१।।
ततस्तेन प्रयुक्ताहं कुभ्रात्रा तत्प्रबोधने ।
तस्याः समीपमगमं त्वत्प्रलापमयात्मनः ।।७२।।
तत्प्रसङ्गाच्च कामाज्ञातुल्ये त्वन्नाम्न्युदीरिते ।
तया साध्व्या त्वदेकाग्रमिदं जातं मनो मम ।।७३।।

नरवाहनदत्त, छाया से (सतत) सेवित सूर्य के समान मदनमंचुका के रूप में परिवर्त्तित विद्याधरी के साथ (रहते हुए) इस लोक का आनन्द प्राप्त करने लगे ॥५९॥

(एक समय) एकान्त में विद्याधरी ने नरवाहनदत्त से कहा कि हे प्रिय ! जब सोई रहूँ, उस समय मुख पर से आँचल हटाकर मुझे मत देखना ॥६०॥

यह सुनकर नरवाहनदत्त को कुतूहल हुआ कि बात क्या है ? दूसरे किसी दिन सुप्तावस्था में राजपुत्र ने मुख देख लिया ॥६१॥

देखने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि माया के द्वारा रूप बदलकर जो मदनमंचुका बनी थी, शयनावस्था में वह रूप तो नहीं है ॥६२॥

अनन्तर, यह सब विचार करते हुए नरवाहनदत्त जाग्रत् अवस्था ही में थे, तबतक उसकी नींद भी खुल गई। राजपुत्र ने पूछा कि सच बोलो, तुम कौन हो ? ॥६३॥

उस सुन्दरी ने जाग्रत् अवस्था में बैठे हुए नरवाहनदत्त को देखकर अपना सच्चा रूप धारण किया और यह समझती हुई कि भेद जब खुल ही गया, तब वस्तुस्थिति को छिपाना उचित नहीं, कहना आरम्भ किया—॥६४॥

हे प्रिय ! सच्ची-सच्ची बात आप सुनें। आषाढपुर नाम का एक पर्वत है, जो विद्याधरों का पुर कहा जाता है ॥६५॥

वहाँ राजा वेगवान् का पुत्र, विद्याधरों के अधिप, बाहुबल से उद्धत मानसवेग नाम का एक राजा रहता है ॥६६॥

उसकी वेगवती नाम की मैं छोटी बहन हूँ। द्वेष करते हुए भ्राता ने मुझे विद्या नहीं दी ॥६७॥

अनन्तर, तपोवन में क्लेश से पहुँचे हुए पिता से उन्हीं के वरदान के द्वारा सर्वाधिक बलवती वे सारी विद्याएँ मुझे प्राप्त हो गई ॥६८॥

एक समय मैंने आषाढाद्रिपुर में रक्षकों से वेष्टित एक उद्यान में दीना मदनमंचुका को देखा ॥६९॥

जैसे रावण ने राम की दुःखार्त्त जानकी का हरण किया था, वैसे ही मेरे भ्राता मानसवेग ने माया से अपहरण कर आपकी वह प्रिया मदनमंचुका को ले आया था ॥७०॥

साध्वी मदनमंचुका की इच्छा के विरुद्ध उसपर मानसवेग प्रेम के लिए आक्रमण नहीं कर सकता था; क्योंकि स्त्रियों के साथ बलात्कार करने पर उसे मृत्यु का शाप है ॥७१॥

अनन्तर, मेरे भ्राता ने अपनी ओर आसक्त करने के लिए समझाने-बुझाने के निमित्त मुझे मदनमंचुका के पास भेजा। मै वहाँ गई; वह तो आपके प्रेमातिशय के विरह में तन्मय प्रलाप कर रही थी, 'राजपुत्र नरवाहनदत्त कहाँ हैं ? किस अपराध से मुझे छोड़ दिया ?' ॥७२॥

उस अवसर पर साध्वी मदनमंचुका ने ज्योंही आपका नाम लिया, त्योंही मानों काम के आदेश से आपके ऊपर मेरा मन एकाग्र भाव से आसक्त हो गया ॥७३॥

स ते पतिः स्याद्यन्नाम्नि श्रुते स्मरवशा भवेः ।
इत्याद्यश्च तदा देवीस्वप्नादेशो मया स्मृतः ॥७४॥
संस्मृत्य ग्राहयित्वा तां धृतिं मदनमञ्चुकाम् ।
तद्रूपेण मयागत्य युक्त्यात्मेह विवाहितः ॥७५॥
तदेहि यत्र त्वद्भार्या स्थिता मदनमञ्चुका ।
तत्रैव तत्कृपाविष्टा प्राणेश त्वां नयाम्यहम् ॥७६॥
त्वत्प्रियेति तवेवाहं सपत्न्या अपि किङ्करी ।
ममात्मनिरपेक्षा हि कापि त्वत्प्रेमवश्यता ॥७७॥
इत्युक्त्वा सा स्वविद्यानां वलाद्वेगवती निशि ।
नरवाहनदत्तं तं गृहीत्वोदपतन्नभः ॥७८॥
शनैः प्रयाति सा व्योम्ना यावत्तावददर्शनात् ।
जायापत्योस्तयोः प्राप्तः परिवारोऽत्र चुक्षुभे ॥७९॥
तच्च वत्सेश्वरो बुद्ध्वा सह वासवदत्तया ।
पद्मावत्यादिभिश्चाशु वज्राहत इवाभवत् ॥८०॥
यौगन्धरायणाद्याश्च संपौरास्तस्य मन्त्रिणः ।
मरुभूतिमुखैः पुत्रैः सहाभूवन्सुविह्वलाः ॥८१॥
ततोऽन्तरिक्षतस्तत्र द्वितीय इव भास्करः ।
अवातरत्प्रभावद्धमण्डलो नारदो मुनिः ॥८२॥
विद्याधर्या निजभुवं नीतः शीघ्रमिहैष्यति ।
पुत्रस्ते तव धृत्यर्थं प्रेषितश्चास्मि शूलिना ॥८३॥
इत्युक्त्वा वत्सराजाय कृतार्घाय ततो मुनिः ।
स वेगवत्याश्चरितं यथावृत्तं शशंस तत् ॥८४॥
ततस्तस्मिन्समाश्वस्ते मुनिः सोऽत्र तिरोदधे ।
अत्रान्तरे वेगवती व्योम्ना प्रापयति स्म सा ॥८५॥
नरवाहनदत्तं तं तमाषाढपुरं गिरिम् ।
बुद्ध्वा मानसवेगस्तत्स हन्तुं तावधावत ॥८६॥
ततस्तेन समं भ्रात्रा युद्धं विद्यावलोद्धतम् ।
वेगवत्या अभूत्स्त्रीणां पतिः प्राणा न वान्धवाः ॥८७॥
अथ निजविद्यावलतो भैरवरूपं विधाय विकटं सा ।
मानसवेगं सहसा संमोह्य तमग्निपर्वते निदधे ॥८८॥

और, उस समय देवी के द्वारा स्वप्न में दिया गया यह आदेश कि जिसके नाम सुनने पर तुम कामाधीन हो आओगी, वह तुम्हारा पति होगा —स्मरण हो आया ॥७४॥

(वहाँ) मदनमंचुका को समझा-बुझाकर धैर्य दिलाया और (विद्या-बल से) मदनमंचुका का रूप धारण कर युक्ति के साथ यहाँ आकर आपसे विवाह किया है ॥७५॥

अतः, आप मेरे साथ आइए, और जहाँ आपकी भार्या मदनमंचुका है, उस जगह, हे प्राणेश ! आपको हम ले चलें ॥७६॥

वह मदनमंचुका आपकी प्रियतमा है, अतः मैं आपकी दासी के समान हूँ और सौत होने पर भी उसकी भी दासी हूँ। पता नहीं, क्योंकर मैं आपके स्वार्थ-रहित प्रेम की अधीना हूँ ॥७७॥

यह कहकर रात को अपनी विद्याओं के बल से विद्याधरी वेगवती नरवाहनदत्त को लेकर आकाश में उड़ गई ॥७८॥

उधर वह शनैः-शनैः आकाश-मार्ग से जा रही थी, इधर दोनों पति-पत्नी—नरवाहनदत्त और मदनमंचुका के रूप में विद्याधरी—को न देखकर उनका परिवार क्षोभ में पड़ गया ॥७९॥

यह बात पिता वत्सेश्वर और माताएँ वासवदत्ता, पद्मावती आदि को जब ज्ञात हुई, तब तत्क्षण सब वज्राहत के समान हो गये ॥८०॥

यौगन्धरायण आदि अच्छे नागरिक, जो उनके मन्त्री थे तथा मरुभूति आदि मन्त्रिपुत्र, सब-के-सब अति विह्वल हो उठे ॥८१॥

उसी समय अन्तरिक्ष से प्रभामण्डल से वेष्टित दूसरे सूर्य के समान नारद मुनि वहाँ आ पहुँचे ॥८२॥

नारद ने राजा से कहा—हे वत्सराज ! विद्याधरी विद्याधरनगर में आपके पुत्र नरवाहनदत्त को ले गई है। वे शीघ्र ही लौट आयेंगे। इस प्रकार, आपको धैर्य प्रदान करने के निमित्त शिवजी ने मुझे यहाँ भेजा है। इतना कहने पर वत्सराज ने उनकी पूजा की, तथा नारद ने विद्याधरी वेगवती का वास्तविक सम्पूर्ण चरित उन्हें सुना दिया ॥८३-८४॥

नारद के मुख से वृत्तान्त सुनकर वत्सराज को आश्वासन मिला, और नारदजी उसी क्षण तिरोहित हो गये। इसी बीच वेगवती ने आकाशमार्ग से नरवाहनदत्त को आषाढपुर में पहुँचा दिया। आते ही वेगवती का भाई मानसवेग उन दोनों—नरवाहनदत्त और वेगवती को मारने दौड़ा। उस समय अपने भाई के साथ वेगवती का, विद्याबल से, भयंकर युद्ध हुआ। क्योंकि, स्त्रियों के लिए पतिदेव प्राण होते हैं, बन्धु-बान्धव नहीं ॥८५-८७॥

विद्याबल से भयंकर रूप धारण किये वेगवती ने भ्राता मानस वेग को मूर्च्छित कर अग्निपर्वत पर पहुँचाकर रख छोड़ा ॥८८॥

तमपि च विद्याहस्ते नरवाहनदत्तमादितो न्यस्तम् ।
नीत्वा गन्धर्वपुरे कूपे चिक्षेप रक्षितुं विजले ॥८९॥
तत्र स्थितं च तमुवाच मनागिह त्वं तिष्ठार्यपुत्र भविता च शिवं तवात्र ।
मा चाधृतिं हृदि कृथाः शुभपात्र सर्वविद्याधराधिपतिता तव भाविनीह ॥९०॥
यामि प्रसाधयितुमद्य पुनर्यतोऽहं ज्येष्ठव्यतिक्रमणदुर्बलिताः स्वविद्याः ।
त्वामभ्युपैमि नचिरादिति सा तमुक्त्वा विद्याधरी क्वचन वेगवती जगाम ॥९१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे पञ्चलम्बके प्रथमस्तरङ्गः ।

द्वितीयस्तरङ्गः

ततः कूपस्थितं तत्र गन्धर्वः कोऽप्यवैक्षत ।
नरवाहनदत्तं तं वीणादत्त इति श्रुतः ॥१॥
परार्थफलजन्मानो न स्युर्मार्गद्रुमा इव ।
तापच्छिदो महान्तश्चेज्जीर्णारण्यं जगद्भवेत् ॥२॥
यद्दृष्ट्वा तं स सुजनः पृष्ट्वा चान्वयनामनी ।
हस्तेऽवलम्ब्योदहरत्कूपात्तस्मादुवाच च ॥३॥
मानुषोऽसि न देवश्चेद्गन्धर्वनगरं कथम् ।
मानुषागम्यमेतत्त्वमागतः कथ्यतामिति ॥४॥
विद्याधर्याहमानीय क्षिप्तोऽत्रात्मबलादिति ।
नरवाहनदत्तोऽपि स तं प्रत्यब्रवीत्तदा ॥५॥
ततस्तं वीक्ष्य सच्चक्रवर्त्तिचिह्नं गुणी गृहम् ।
नीत्वा स वीणादत्तः स्वैरुपचारैरुपाचरत् ॥६॥
अन्येद्युस्तत्पुरं दृष्ट्वा वीणाहस्ताखिलप्रजम् ।
नरवाहनदत्तस्तं वीणादत्तं स पृष्टवान् ॥७॥
सर्वेऽप्याबालमेते किं वीणाहस्ता जना इति ।
वीणादत्तोऽपि स ततस्तमेवं प्रत्यभाषत ॥८॥
राजा सागरदत्ताख्यो गन्धर्वाणामिहास्ति यः ।
तस्य गन्धर्वदत्ताख्या सुतास्ति न्यक्कृताप्सराः ॥९॥
धात्रा कृतं सुधाचन्द्रचन्दनाद्यैरिवोचितैः ।
सर्वसुन्दरनिर्माणवर्णकायेव यद्वपुः ॥१०॥

वेगवती ने जिस नरवाहनदत्त को (अपनी) विद्या (माया) के हाथों आबद्ध कर लिया था, उसे गन्धर्वपुर में ले जाकर वहाँ एक सूखे कुएँ में छिपा दिया ॥८९॥

कुएँ में छिपे नरवाहन दत्त से वेगवती ने कहा—हे आर्य ! कुछ समय तुम यहाँ रहो। यहाँ तुम्हारा कल्याण होगा। हे मंगलमय ! अधीर मत होना। सब विद्याधरों के तुम अधिपति होनेवाले हो ॥९०॥

ज्येष्ठ भ्राता मानसवेग के ऊपर आक्रमण करने के कारण मेरी विद्याएँ दुर्बल हो गई हैं, अतः उनकी पुनः सिद्धि के निमित्त जा रही हूँ। शीघ्र ही तुम्हारे समीप आ जाऊँगी। यह कहकर विद्याधरी वेगवती वहाँ से किसी अज्ञात स्थान में चली गई ॥९१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
पंचलम्बक का प्रथम तरंग समाप्त हुआ।

द्वितीय तरंग

गन्धर्वपुर में कुएँ में पड़े नरवाहनदत्त को वीणादत्त नाम के किसी गन्धर्व ने देखा ॥१॥

सत्य है, यह जगत् जीर्ण जंगल हो जाता, यदि रास्ते के वृक्ष के समान परहित के लिए जन्म धारण करने, सन्ताप नाश करने में समर्थ, महान् व्यक्ति इसमें न होते ॥२॥

उन्हें देखकर सुजन वीणादत्त ने वंश और नाम पूछा तथा हाथ पकड़कर कूप से बाहर निकाल दिया और कहा कि तुम यदि देवता न होकर मनुष्य हो, तो कहो कि यहाँ तुम आये किस तरह ? क्योंकि यहाँ मनुष्य आ नहीं सकता ॥३-४॥

नरवाहनदत्त ने कहा, विद्याधरी ने अपनी विद्या के बल से यहाँ लाकर मुझे कुएँ में डाल दिया था ॥५॥

गन्धर्व वीणादत्त ने चक्रवर्ती का चिह्न देखकर उन्हें अपने घर ले जाकर उचित सेवा-सत्कार किया ॥६॥

किसी दिन नरवाहनदत्त ने यह देखकर कि इस नगर में समस्त प्रजा के हाथों में वीणा है, वीणादत्त से पूछा— ॥७॥

क्या कारण है कि बच्चे से जवान तक यहाँ सबके हाथों में वीणा है ? वीणादत्त ने उत्तर दिया कि गन्धर्वों के राजा सागरदत्त की पुत्री गन्धर्वदत्ता नाम की है, उसके सौन्दर्य के सामने अप्सराएँ भी तुच्छ हैं ॥८-९॥

अमृत, चन्द्रमा, चन्दन आदि उचित सामग्री के द्वारा गन्धर्वदत्ता का शरीर विधाता ने निर्मित किया है, मानों ऐसा करके उसने सर्वश्रेष्ठ सुन्दर वस्तु के निर्माण के वर्णन करने का अवसर कवियों को दिया है ॥१०॥

सततं सा च गायन्ती वीणायां शौरिणा स्वयम् ।
दत्तं स्वगीतकं काष्ठां गान्धर्वे परमां गता ॥११॥

यो वादयति वीणायां त्रिभिर्ग्रामैश्च गायति ।
गान्धर्वे कोविदः सम्यग्वैष्णवं स्तुतिगीतकम् ॥१२॥

स मे पतिः स्यादित्यस्या राजपुत्र्याश्च निश्चयः ।
तेन सर्वेऽत्र वीणासु शिक्षन्ते न च तद्विदुः ॥१३॥

एतच्छ्रुत्वैव सानन्दो वीणादत्तमुखाद्वचः ।
नरवाहनदत्तोऽसौ राजपुत्रो जगाद तम् ॥१४॥

अहं कलानां सर्वासां स्वयंवरवृतः पतिः ।
जानामि सर्वं गान्धर्वं त्रैलोक्योदरवर्त्ति यत् ॥१५॥

इत्युक्तवन्तं स सुहृद्वीणादत्तो निनाय तम् ।
राज्ञः सागरदत्तस्य पार्श्वं तत्र जगाद च ॥१६॥

नरवाहनदत्तोऽयं वत्सराजसुतः किल ।
इह विद्याधरीहस्ताद्विभ्रष्टो नगरे तव ॥१७॥

गान्धर्वाचार्यं एवायं केशवस्तुतिगीतकम् ।
वेत्ति गन्धर्वदत्ताया त्रयोपरि महान्रसः ॥१८॥

तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्राजा सत्यमेतन्मया श्रुतम् ।
गन्धर्वाणां मुखात्पूर्वं तन्मान्योऽयमिहाद्य नः ॥१९॥

देवांशश्चैष न भ्रान्तिर्देवभूमौ किमन्यथा ।
इह विद्याधरीसङ्गादागच्छेन्मानुषो भवन् ॥२०॥

आनीयतां तद्गन्धर्वदत्ता वीक्षामहेऽद्भुतम् ।
इति राज्ञोदिते जग्मुरानेतुं तां महत्तराः ॥२१॥

गन्धर्वदत्ता हमेशा वीणा बजाकर गाती रहती है, अतः विष्णु ने इसे अपना संगीत दे दिया है। अब वह गन्धर्व-गान की परम सीमा पर पहुँच गई है ॥११॥

उसने निश्चय किया है कि जो व्यक्ति वीणा बजाता हो, गन्धर्व-विद्या में निपुण हो और विष्णु का स्तुति-संगीत तीन ग्रामों* से गाता हो, वह मेरा पति होगा। इसी कारण, यहाँ सब कोई वीणा की शिक्षा लेते हैं, किन्तु कोई भी वीणा में निपुण नहीं है ॥१२-१३॥

वीणादत्त के मुख से यह वचन सुनते ही आनन्दित होकर राजपुत्र नरवाहनदत्त ने कहा कि सभी कलाओं का, स्वयंवर वृत पति के समान मैं अधिपति हूँ, तीनों लोकों की सारी संगीत-विद्या मैं जानता हूँ॥१४-१५॥

इतना कहने पर मित्र वीणादत्त ने नरवाहनदत्त को राजा सागरदत्त के समीप पहुँचाया और उनसे कहा कि वत्सेश्वर का पुत्र यह नरवाहनदत्त आपके इस नगर में विद्याधरी के हाथ से च्युत हो गया है ॥१६-१७॥

संगीत-कला का यह आचार्य है, विष्णु की स्तुति से सम्बन्ध रखनेवाले संगीत को जानता है, जिस संगीत के ऊपर गन्धर्वदत्ता की बड़ी आसक्ति है ॥१८॥

यह सुनकर राजा ने कहा कि सच है, गन्धर्वों के मुख से यह बात पहले भी सुनी थी, अतः हमलोगों को इनका सम्मान करना चाहिए। ये देवताओं के अंशावतार हैं, इसमें किंचित् भी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। यदि शुद्ध मनुष्य होते, तो विद्याधरी के संग यहाँ देवलोक तक नहीं आ सकते ॥१९-२०॥

अतः, गन्धर्वदत्ता को यहाँ बुलायें, तथा हम सब मिलकर उसका अद्‌भुत (कार्य) देखें। इतना कहने पर कुछ वृद्ध प्रतिष्ठित व्यक्ति गन्धर्वदत्ता को बुलाने चले गये ॥२१॥

***संगीत-कला में सातों शुद्ध स्वरों (षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैव और निषाद) को बाईस श्रुतियों (तीव्रा, कुमद्वती, मन्दा, छन्दोवती, दयावती, रजनी, रक्तिका, रौद्री, क्रोधी, वजिका, प्रसारिणी, प्रीति, मार्जनी, क्षिति, रक्ता, सन्दीपिनी, आलापिनी, मदयनी, रोहिणी, रम्भा, उग्रा और क्षोभिणी) पर प्रतिष्ठित करने का अर्थ 'ग्राम' है। ग्राम के तीन प्रकार हैं: १. षड्ज ग्राम। २. मध्यम ग्राम। और ३. गान्धार ग्राम। गान्धार ग्राम अब संगीतशास्त्र से लुप्त हो गया है। 'संगीतरत्नाकर' है षड्ज और मध्यम—दो ही ग्राम माने हैं। षड्ज ग्राम बाईस श्रुतियों पर विशेष रूप से स्थापित किये गये सात शुद्ध स्वरों को कहते थे और मध्यम ग्राम में षड्ज ग्राम से इतना ही अन्तर था कि पंचम में सन्दीपिनी नामक एक श्रुति नीचे कायम कर देने पर वह तीव्र-मध्यम बन जाता था। फलतः 'रागों में प्रयुक्त तीव्र-मध्यम 'मध्यम ग्राम' से और शुद्ध-मध्यम के राग 'षड्ज ग्राम' से गाये जाते थे। अब केवल षड्ज ग्राम ही प्रचलित है।—सं०**

आगाच्च सा ततः कान्ता कुसुमाभरणोज्ज्वला ।
यौवनेन विघूर्णन्ती वातेनेवार्त्तवी लता ॥२२॥
उपविश्य पितुः पार्श्वे तद्वाक्याच्च क्षणान्तरे ।
भृत्यैः कथितवृत्तान्ता वीणायां गीतकं जगौ ॥२३॥
स्वराञ्श्रुतिषु युञ्जन्त्यास्तस्या ब्राह्म्या इव श्रियः ।
नरवाहनदत्तोऽभूद्गीते रूपे च विस्मितः ॥२४॥
राजपुत्रि न ते वीणा सुस्वरा प्रतिभाति मे ।
जाने वालः स्थितस्तन्त्र्यामिति सोऽत्र जगाद च ॥२५॥
ततोऽत्र वीक्ष्यते यावद्वालस्तावदवापि सः ।
तेन सर्वेऽपि ते जग्मुर्गन्धर्वा अपि विस्मयम् ॥२६॥
राजपुत्र गृहाणेमांकर्णौ सिञ्चामृतेन नः ।
इति राजा सुताहस्ताद्वीणां तस्मै ददौ वदन् ॥२७॥
सोऽपि तां वादयन्विष्णोरगायद्गीतकं तथा ।
यथा ते तत्र गन्धर्वाश्चित्रन्यस्ता इवाभवन् ॥२८॥
ततो गन्धर्वदत्ता सा दृष्ट्यैव प्रणयार्द्रया ।
तं वव्रे फुल्लनीलाब्जमालयेवास्तया स्वयम् ॥२९॥
तदालोक्य तथारूपां तत्प्रतिज्ञां स्मरंश्च सः ।
राजा गन्धर्वदत्तां तां सद्यस्तस्मै सुतां ददौ ॥३०॥
दिव्यातोद्यादिकश्चात्र विवाहो यस्तयोरभूत् ।
कोपमा कथ्यते तस्य येनान्यदुपमीयते ॥३१॥
ततस्तया समं तत्र तस्थौ गन्धर्वदत्तया ।
नरवाहनदत्तोऽसौ दिव्यैर्भोगैर्नवोढया ॥३२॥
एकस्मिंश्च दिने द्रष्टुं निर्गतो नगरश्रियम् ।
तांस्तान्प्रदेशानालोक्य पुरोद्यानं विवेश सः ॥३३॥
तत्र व्योम्नोऽवरोहन्तीं सोऽपश्यद्दिव्ययोषितम् ।
समं दुहित्रानभ्रेऽपि सवृष्टिमिव विद्युतम् ॥३४॥
वत्सराजसुतः सोऽयं पुत्रि भावी पतिस्तव ।
इति तां वीक्ष्य जल्पन्तीं ज्ञानतस्तां निजां सुताम् ॥३५॥
का त्वं किमागतासीति सोऽपृच्छत्तामुपागताम् ।
सापीप्सितोपक्रमिणी दिव्ययोषित्तमब्रवीत् ॥३६॥

ऋतु के अनुसार उस समय की (पुष्प की) लता जिस तरह पवन से नाचती रहती है, उसी तरह, पुष्पों के आभरण से सुशोभित एवं कमनीया तथा यौवन से घूर्णित—मानों नाचती हुई—गन्धर्वदत्ता वहाँ आ गई ॥२२॥

पिता के समीप बैठकर उनके संकेत से भृत्यों के द्वारा नरवाहनदत्त का वृत्तान्त सुनाये जाने पर हाथ में वीणा ले गन्धर्वदत्ता ने संगीत आरम्भ किया ॥२३॥

श्रुतियों में स्वरों को मिलाती हुई गन्धर्वदत्ता को संगीत-कला में सरस्वती के समान तथा सौन्दर्य में लक्ष्मी के समान देख तथा सुनकर नरवाहनदत्त विस्मित हो गये ॥२४॥

नरवाहनदत्त ने कहा, हे राजपुत्री ! तुम्हारी वीणा का स्वर सुस्वर नहीं प्रतीत हो रहा है। सम्भव है कि तन्त्री-तार में कहीं कोई बाल (केश) फँसा हो ॥२५॥

नरवाहनदत्त के कहने पर देखा गया, तो सचमुच एक बाल तार में लगा था। (नरवाहनदत्त के सम्बन्ध में) स्वर की इतनी सूक्ष्मता के परिचय पर सभी गन्धर्वों को आश्चर्य हुआ ॥२६॥

अनन्तर, राजा सागरदत्त ने पुत्री के हाथ से वीणा लेकर राजपुत्र नरवाहनदत्त को दिया और कहा कि इस वीणा पर संगीत-रूपी अमृत के द्वारा हम लोगों के कानों को तृप्त करें ॥२७॥

नरवाहनदत्त ने वीणा बजाते हुए विष्णु-सम्बन्धी संगीत इतने मनोहर रूप से गाया, जिससे वहाँ के गन्धर्व चित्रलिखित-से हो गये ॥२८॥

(उनके इस गुण से आकृष्ट होकर) गन्धर्वदत्ता ने खिले हुए नीलकमल की माला जैसी प्रेम-पूर्ण दृष्टि डालकर उन्हें स्वयं वृत कर लिया ॥२९॥

पुत्री की यह चेष्टा देखकर तथा पूर्वोक्त प्रतिज्ञा को स्मरण करते हुए राजा सागरदत्त ने गन्धर्वदत्ता को उनके हाथों देने का तत्क्षण निश्चय कर लिया ॥३०॥

संकल्प के अनुसार स्वर्गीय वाद्य-वादन-सहित गन्धर्वदत्ता और नरवाहनदत्त का जो विवाहोत्सव सम्पन्न हुआ, उसकी उपमा किससे दी जाय, किसी से नहीं; क्योंकि उस विवाहोत्सव की उपमा उसी विवाहोत्सव से दी जा सकती थी ॥३१॥

नवविवाहिता गन्धर्वदत्ता के साथ स्वर्गीय विविध भोगों का उपभोग करते हुए नरवाहनदत्त वहाँ रहने लगे ॥३२॥

एक दिन नगर की शोभा देखने के क्रम में नरवाहनदत्त कतिपय स्थानों को देखते हुए नगर के उद्यान में पहुँचे ॥३३॥

वहाँ विना बादल की वृष्टि-सहित बिजली-सी पुत्री-सहित एक दिव्य स्त्री को आकाश से नीचे की ओर आते देखा ॥३४॥

उस दिव्य स्त्री ने (विद्याबल से नरवाहनदत्त को) पहचानकर कहा कि हे पुत्री ! ये ही वत्सराज के पुत्र तुम्हारे भावी पति हैं ॥३५॥

पास पहुँचने पर नरवाहनदत्त ने पूछा कि तुम कौन हो, और यहाँ क्यों आई हो ? तब दिव्यस्त्री ने अपने अभिलषित के अनुसार कहना आरम्भ किया ॥३६॥

देवसिंहाभिधानस्य विद्याधरपतेरहम् ।
भार्या धनवती नाम कन्यैषा च सुता मम ॥३७॥
चण्डसिंहस्य भगिनी नाम्नेयमजिनावती ।
अस्या भर्त्ता त्वमादिष्टो गगनोद्गतया गिरा ॥३८॥
वेगवत्याऽत्र निक्षिप्तं भाविविद्याधरेश्वरम् ।
बुद्ध्वाहं निजविद्यातस्त्वां प्राप्ता वस्तुमीप्सितम् ॥३९॥
न विद्याधरगम्येऽत्र स्थाने युक्तं तवासितुम् ।
ते हि द्वेषेण हन्युस्त्वामप्राप्तपदमेककम् ॥४०॥
तदेहि तदगम्यां त्वां नयावः साम्प्रतं भुवम् ।
नेन्दुः क्षिपति किं कालं परिक्षीणोऽर्कमण्डले ॥४१॥
सम्प्राप्तेऽवसरे चैतां सुतां मे परिणेष्यसि ।
इत्युक्त्वैव तमादाय ससुता सा खमुद्ययौ ॥४२॥
श्रावस्त्यां पुरि नीत्वैव निक्षिप्योपवने च तम् ।
समं तयाजिनावत्या सुतया सा तिरोदधे ॥४३॥
तत्र प्रसेनजिद्राजा दूरादाखेटकागतः ।
ददर्श राजपुत्रं तमुदाराकारलक्षणम् ॥४४॥
स सकौतुकमभ्येत्य पृष्ट्वा नाम कुलं तथा ।
प्रीतः सप्रश्रयं राजा निनायैतं स्वमन्दिरम् ॥४५॥
आबद्धवारणघटं वाजिराजिविराजितम् ।
भ्रमणश्रान्तराजश्रीविश्रान्तिभवनोपमम् ॥४६॥
यत्र तत्र स्थितं सोत्का नरं कल्याणभाजनम् ।
सम्पदोऽभिसरन्त्येव प्रियं जनमिवाङ्गनाः ॥४७॥
यत्स तस्मै ददौ राजा गुणलुब्धो निजां सुतान् ।
नरवाहनदत्ताय भगीरथयशोभिधाम् ॥४८॥
तया समं च तत्रासीन्महार्हविभवः सुखम् ।
लक्ष्म्येव मूर्त्तया धात्रा तद्विनोदाय सृष्टया ॥४९॥
एकदाभ्युदिते लोकलोचनान्दवर्षिणि ।
रजनीरमणे प्राचीदिग्वधूमुखमण्डने ॥५०॥
निरभ्रनिर्मलव्योमदर्पणप्रतिविम्बिते ।
भगीरथयशोवक्त्र इवामृतमनोरमे ॥५१॥
कौमुदीसुधया धौते हर्म्याग्रे स तया सह ।
प्रदोषे प्रियया पानमसेवत तदिच्छया ॥५२॥

विद्याधरों के स्वामी देवसिंह की धनवती नाम की मैं पत्नी हूँ, और साथ में यह मेरी पुत्री है ॥३७॥

चण्डसिंह की यह भगिनी है। इसका नाम है अजिनावती । आकाशवाणी के द्वारा यह सूचित किया गया है कि आप ही अजिनावती के पति होंगे ॥३८॥

विद्याधरी वेगवती ने भावी विद्याधरेश्वर समझकर आपको यहाँ छोड़ा है, यह बात अपनी विद्या के बल से जानकर मैं अपने मन की बात कहने यहाँ आपके समीप आई हूँ ॥३९॥

यहाँपर केवल विद्याधर ही रह सकते हैं। आपका यहाँ रहना उचित न होगा। जबतक विद्याधरों के राजा का पद नहीं प्राप्त हुआ है, उसके पहले द्वेष से आपको अकेला होने के कारण यहाँ के विद्याधर मार दे सकते हैं ॥४०॥

अतः, आप हमारे साथ आयें, किसी अगम्य स्थान पर हम आपको पहुँचा देती हैं। सूर्य-मण्डल के परिक्षीण होने पर क्या चन्द्रमा काल-क्षेप नहीं करते ? ॥४१॥

अवसर आने पर मेरी पुत्री अजिनावती के साथ आप विवाह कर लेंगे। यह कहकर वह दिव्य स्त्री पुत्री के साथ नरवाहनदत्त को लेकर आकाश में उड़ चली ॥४२॥

श्रावस्तीपुरी के एक उपवन में अजिनावती के साथ उन्हें पहुँचाया और अजिनावती को नरवाहनदत्त के साथ वहीं छोड़कर उसकी माता धनवती तिरोहित हो गई ॥४३॥

एक समय राजा प्रसेनजित् शिकार खेलते-खेलते बहुत दूर निकल गये तथा वहाँ उन्होंने सुन्दर आकार और सुन्दर लक्षण से युक्त होने के कारण नरवाहनदत्त को राजपुत्र समझा ॥४४॥

राजा ने राजपुत्र के समीप जाकर कुतूहल के साथ नाम और कुल का परिचय पूछा तथा उत्तर सुनकर स्नेह से नरवाहनदत्त को प्रसेनजित् अपने घर ले गये ॥४५॥

वहाँ राजभवन में कहीं हाथी बँधे थे, तो कहीं घोड़े। वह भवन, त्रिभुवन में भ्रमण के कारण परिश्रान्त राजलक्ष्मी के विश्राम के निमित्त बनाये गये राजप्रासाद के समान सुशोभित हो रहा था ॥४६॥

प्रियतम के समीप प्रेयसी के समान सम्पत्तियाँ स्वयं ही उत्कण्ठित होकर कल्याण-भाजन मनुष्य के समीप जहाँ-कहीं भी पहुँच जाती हैं ॥४७॥

इसीलिए तो उनके गुणों से आकृष्ट होकर राजा प्रसेनजित् ने भगीरथयशा नाम की अपनी पुत्री नरवाहदत्त को दे दी ॥४८॥

ब्रह्मा के द्वारा उनके मनोविनोद के लिए निर्मित साक्षात् लक्ष्मी के समान राजपुत्री भगीरथयशा के साथ योग्य एवं महान् विभव से युक्त होकर वे सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे ॥४९॥

एक समय जब भगीरथयशा के मुखमण्डल के समान जन-लोचन के आनन्ददायक, पूर्वदिशारूप नायिका के मुखमण्डल-स्वरूप सुन्दर एवं अमृत-मनोहर चन्द्रमा, मेघशून्य निर्मल आकाश-रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ, तब चाँदनी की सुधा (लेपन-द्रव्य) से लिप्त महल के ऊपर सन्ध्या के समय, प्रिया भगीरथयशा की इच्छा के अनुसार, नरवाहनदत्त ने मधुपान आरम्भ किया ॥५०—५२॥

पपौ प्रियतमावक्त्रप्रतिमालङ्कृतं मधु ।
रसनाया इवानन्ददायि लोचनयोरपि ॥५३॥
प्रियामुखसमं कान्तमिन्दुं मेने तदा न सः ।
तस्य ते समदाताम्रनेत्रभ्रूविभ्रमाः कुतः ॥५४॥
सेवितापानलीलश्च प्रविश्याभ्यन्तरं ततः ।
भगीरथयशोयुक्तः स भेजे शयनीयकम् ॥५५॥
तत्र प्रियायां सुप्तायां तस्यां सुप्तविनिद्रकः ।
नरवाहनदत्तोऽसौ स्मृत्वाकस्मात्किलाब्रवीत् ॥५६॥
भगीरथयशःप्रीतिविस्मृता एव ता मम ।
अन्यभार्याः कथं तत्स्यादिति चात्र विधिः प्रभुः ॥५७॥
सचिवा ये च मे दूरे तेभ्योऽपि मरुभूतिकः ।
विक्रमैकरसो नीतिमात्रे हरिशिखः स्थितः ॥५८॥
ताभ्यां न साम्प्रतं कृत्यं गोमुखश्चतुरः पुनः ।
सर्वावस्थासु मे मित्रं विदूरस्थो दुनोति माम् ॥५९॥
इत्युल्लपन्स तत्राशु निद्राघ्नं मधुरं मृदु ।
हा दुःखमिति शुश्राव नार्येवोदीरितं वचः ॥६०॥
श्रुत्वा च दीप्रदीपेऽत्र सर्वतो यावदीक्षते ।
तावन्नार्या मुखं दिव्यं गवाक्षान्तर्ददर्श सः ॥६१॥
समलो व्योम्नि दृष्टोऽद्य चन्द्रोऽनेनेति कौतुकात् ।
अव्योम्नि दर्शितं धात्रा चन्द्रमन्यमिवामलम् ॥६२॥
अङ्गं शेषमपश्यंश्च तस्यास्तद्दर्शनोत्सुकः ।
तद्रूपाकृष्टनयनो छगित्येवमचिन्तयत् ॥६३॥
आतापिदैत्यो युक्त्या प्राग्ब्रह्मणा सर्गविघ्नकृत् ।
आश्चर्यं पश्य गत्वात्रेत्युक्त्वा प्रैष्यत नन्दनम् ॥६४॥
तत्र तेनाद्भुताकारो दृष्टोऽङ्घ्रि केवलं स्त्रियः ।
विपन्नश्च तदन्याङ्गदिदृक्षाव्यसनेन सः ॥६५॥
एवं ममापि धात्रेदं मुखमात्रं विपत्तये ।
सृष्टं स्यादिति यावच्च सोऽत्राकलयति क्षणम् ॥६६॥
तावद्गवाक्षाद्दिव्या स्त्री प्रदर्श्य करपल्लवम् ।
इत एहीति साङ्गुल्या संज्ञां तस्याकरोत्तदा ॥६७॥

पान करने के लिए जिस मदिरा को (हाथ में लिया), उसमें प्रिया के मुख का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, अतः पान करने के समय रसना के समान दोनों नेत्रों को भी वह मधु आनन्द दे रहा था ।।५३।।

उस समय चन्द्रमा को भी प्रिया के वदन के समान सुन्दर वे नहीं समझ रहे थे; क्योंकि मधु-मद से अलसाये-अरुनाये नयन और बाँकी भँवों की छटा चन्द्रमा में कहाँ है ? ।।५४।।

मधुपान-लीला समाप्त कर वे प्रिया भगीरथयशा के साथ घर के भीतर सेज पर चले गये ।।५५।।

प्रिया के सो जाने पर नरवाहनदत्त भी कुछ देर सोये, पुनः नींद खुलने पर स्मरण कर अकस्मात् (अपने-आप) बोलने लगे कि प्रिया भगीरथयशा के प्रेम में आने से अन्य भार्याएँ विस्मृत ही हो गईं, यह कैसे हो सकता है? (किन्तु) इस विषय में (मैं क्या करूँ) भाग्य सर्वोपरि है। मेरे सचिव पराक्रमी मरुभूति, नीतिज्ञ हरिशिख और चतुर गोमुख, जो सभी अवस्थाओं में मेरे मित्र हैं, सब-के सब दूर में हैं, अतः दुःख हो रहा है ।।५६—५९।।

यह बोल ही रहे थे कि 'हाय-हाय !' नारी की-सी यह मधुर आवाज, जिस आवाज के कारण नींद खुली थी, उन्हें सुनाई पड़ी ।।६०।।

दीप के प्रकाश से प्रकाशित उस भवन में जब चारों ओर देखने लगे, तब खिड़की से नारी का दिव्य मुखमण्डल दिखाई पड़ा ।।६१।।

सोचा कि, (आजतक) आकाश में सकलंक ही चन्द्रमा देखा है, अतः मानों विधाता ने कुतूहल से विना आकाश के ही कलंक-शून्य निर्मल एक दूसरा चन्द्र दिखला दिया है ।।६२।।

मुख के अतिरिक्त शेष अंग नहीं दीख पड़े थे, अतः उन अंगों को देखने के निमित्त उत्सुक राजपुत्र, जिनके नेत्र नारी के मुखमात्र का सौन्दर्य देखने से उसकी ओर आकृष्ट हो रहे थे, शीघ्र ही विचारने लगे कि पूर्व समय में सृष्टि-कार्य पर विघ्न करनेवाले आतापि दैत्य को, आश्चर्यकारक वस्तु देखने को कहकर, युक्ति से ब्रह्मा ने नन्दन-वन में भेज दिया था ।।६३-६४।।

वहाँ जाकर दैत्य ने अद्‌भुत आकार की स्त्री का केवल चरण देखा, और अन्य अंगों को देखने की साग्रह उत्कण्ठा से वह वहीं मर गया ।।६५।।

इसी प्रकार, विधाता ने मेरी विपत्ति के लिए केवल इस मुख का सर्जन किया होगा। यह सोच ही रहे थे कि खिड़की से दिव्य स्त्री ने अपना हाथ दिखलाया और अंगुली के द्वारा नरवाहनदत्त को अपने समीप आने का संकेत किया ।।६६-६७।।

ततः संसुप्तदयितात्स्वैरं निर्गत्य वासकात् ।
तस्याः समीपं सम्प्राप स सोत्को दिव्ययोषितः ॥६८॥

अन्यासक्तं प्रशंसन्ती पतिं मदनमञ्चुके ।
हा हतासीति सा चास्मिन्निकटोपगतेऽब्रवीत् ॥६९॥

तच्छ्रुत्वा तां प्रियां स्मृत्वा प्रज्वलद्विरहानलः ।
नरवाहनदत्तस्तां पृच्छति स्म स भामिनीम् ॥७०॥

का त्वं कुत्र त्वया दृष्टा प्रिया मदनमञ्चुका ।
मामुपेता किमर्थं च भवती कथ्यतामिति ॥७१॥

ततो विदूरं नीत्वा तं प्रौढा राजसुतं निशि ।
श्रृणु सर्वं त्वमित्युक्त्वा साथ वक्तुं प्रचक्रमे ॥७२॥

नगर्यां पुष्करावत्यामग्न्याराधनपिङ्गलः ।
अस्ति पिङ्गलगान्धारो नाम विद्याधरेश्वरः ॥७३॥

तस्य प्रभावतीं नाम सुतां मां विद्धि कन्यकाम् ।
आराधितप्रसन्नाद्धि वरात्प्राप्तां विभावसोः ॥७४॥

साहं तदाषाढपुरं द्रष्टुं वेगवतीं सखीम् ।
अगच्छं न च तां तत्र प्रापं क्वापि तपःस्थिताम् ॥७५॥

तन्मातुः पृथिवीदेव्या मुखान्मदनमञ्चुकाम् ।
बुद्ध्वा तां त्वत्प्रियां चात्र स्थितां द्रष्टुमगामहम् ॥७६॥

अपश्यं तामनाहारकृशां पाण्डुरधूसराम् ।
बद्धैकवेणीं रुदतीं त्वद्गुणैकप्रलापिनीम् ॥७७॥

वृतां विद्याधराधीशकन्यावृन्दैरुदश्रुभिः ।
तद्दर्शनत्वच्छ्रवणप्रोद्यद्दुःखसुखाकुलैः ॥७८॥

तयोक्तत्वत्स्वरूपा च भवदानयनेन ताम् ।
आश्वास्य तत्कृपाक्रान्ता त्वद्गुणाकृष्टमानसा ॥७९॥

विद्याप्रभावाद्बुद्ध्वा च सम्प्रति त्वामिह स्थितम् ।
आगतास्मि तवाभ्याशं तदर्थस्वार्थसिद्धये ॥८०॥

विस्मृताद्य प्रियं दृष्ट्वा त्वामिहान्यप्रलापिनम् ।
मया हा दुःखमित्युक्त्वा सा ते भार्यानुशोचिता ॥८१॥

अनन्तर, वे प्रसेनजित् राजा की पुत्री एवं अपनी प्रिया भगीरथयशा को प्रसुप्त अवस्था में छोड़कर, शयनगृह से बाहर निकलकर उत्कण्ठापूर्वक उस दिव्यस्त्री के समीप पहुँचे ।।६८।।

समीप में पहुँचते ही वह दिव्यस्त्री मदनमंचुका का नाम लेकर कह उठी कि हे मदनमंचुके ! जिसकी तुम प्रशंसा करती रहती हो, वह तो दूसरी प्रेयसी में आसक्त है। अरी अभागी ! तुम तो प्रिय से छली ही गई हो ।।६९।।

यह सुनते ही प्रेयसी मदनमंचुका का स्मरण कर विरहाग्नि से सन्तप्त होते हुए नरवाहन दत्त ने उस दिव्यस्त्री से पूछा ।।७०।।

तुम कौन हो ? प्रियतमा मदनमंचुका को तुमने कहाँ देखा ? मेरे निकट तुम किस निमित्त से आई हो ? ये सब बातें कह सुनाओ ।।७१।।

तब प्रौढा दिव्यस्त्री ने रात में ही उन्हें दूर ले जाकर सुनने के लिए सावधान करते हुए मदनमंचुका के सम्बन्ध में कहना आरम्भ किया ।।७२।।

पुष्करावती नाम की नगरी में अग्नि की आराधना में तल्लीन पिंगल गन्धार नाम के विद्याधरों के अधिपति हैं ।।७३।।

उन्होंने आराधना के द्वारा सूर्य को प्रसन्न कर वरदान में पुत्री के रूप में मुझे प्राप्त किया है। मेरा नाम प्रभावती है ।।७४।।

मैं अपनी सखी वेगवती से मिलने के लिए आषाढपुर गई थी; किन्तु तपस्या के निमित्त कहीं चले जाने के कारण वह नहीं मिल सकी ।।७५।।

वेगवती की माता पृथिवी देवी के मुख से यह जानकर कि मदनमंचुका इसी जगह है, उससे मिलने को निकट गई ।।७६।।

जाकर देखा कि वह आहार की विरक्ति से कृश हो गई है, शरीर फीका पड़ गया है, प्रियविरहोचित वेणी बाँधे हुए एकमात्र आपके गुणों की चर्चा करती हुई रो रही है ।।७७।।

और, उसकी वैसी दशा देखने से दुःख एवं आपके सम्बन्ध में उसके द्वारा प्रशंसा सुनने से सुख, इस प्रकार दुःख और सुख से व्याकुल तथा आँसू-भरी आँखोंवाली वह विद्याधराधीश की कन्याओं से घिरी हुई है ।।७८।।

(मेरे पूछने पर) मदनमंचुका ने आपके स्वरूप का परिचय दिया। मैंने आपको ले आने की प्रतिज्ञा के द्वारा उसे आश्वासन दिया। उसके ऊपर दया होने तथा आपके गुणगान से मन के आकृष्ट होने के कारण अपनी विद्या के प्रभाव से यह समझकर कि आप अभी यहाँ श्रावस्तीपुरी में हैं, मदनमंचुका के स्वार्थ को ही अपना स्वार्थ बनाकर उसी की सिद्धि के लिए आपके समीप यहाँ आई हूँ ।।७९-८०।।

यहाँ आने से यह देखकर कि आप दूसरे-दूसरे के विषय में सोच और बोल रहे हैं, मदनमंचुका को भूल ही गये हैं, तब उसी के लिए सोचती हुई मैं 'हाय-हाय' कह उठी थी ।।८१।।

इत्युक्तः स तया सोत्को राजपुत्रो जगाद ताम् ।
नय मां तत्र सा यत्र नियुङ्क्ष्व च यथेच्छसि ॥८२॥
तच्छ्रुत्वा सा तमादाय खमुत्पत्य प्रभावती ।
विद्याधरी चन्द्रवत्यां गन्तुं प्रववृते निशि ॥८३॥
यान्ती क्वाप्यग्निमालोक्य ज्वलन्तं सा प्रदक्षिणम् ।
नरवाहनदत्तस्य तस्यादाय करं व्यधात् ॥८४॥
तेनोद्वाहविधिं युक्त्या प्रौढा सा निरवर्त्तयत् ।
सङ्कल्पैकप्रधाना हि दिव्यानामखिलाः क्रियाः ॥८५॥
ततो नभस्तलात्तस्य पृथिवीं वेदिकामिव ।
नदीर्भुजङ्गीसदृशीर्वल्मीकानिव पर्वतान् ॥८६॥
तानि तानि तथान्यानि कौतुकानि पदे पदे ।
दर्शयन्ती प्रियस्यात्र ययौ दूरं क्रमेण सा ॥८७॥
आकाशगमनश्रान्ते तृषार्त्तोऽस्मि चलार्थिनि ।
नरवाहनदत्ते सा व्योममार्गादवातरत् ॥८८॥
निनाय च वनान्तं तं चन्द्रांशुधवलाम्भसः ।
राजतेन द्रवेणेव भृतस्य सरसोऽन्तिकम् ॥८९॥
तत्र शान्तं जलतृषा तस्य पीताम्भसो वने ।
उत्पन्नं रमणीये तु कान्तासम्भोगतृष्णया ॥९०॥
ततो हठार्थिता कृच्छ्रात्सम्भोगे सा प्रभावती ।
सानुक्रोशा कृतश्वासां ध्यात्वा मदनमञ्चुकाम् ॥९१॥
नरवाहनदत्तस्य तस्य प्रववृते तदा ।
परार्थप्रतिपन्ना हि नेक्षन्ते स्वार्थमुत्तमाः ॥९२॥
जगाद तं च मा मंस्था आर्यपुत्र त्वमन्यथा ।
अभिप्रायो ममास्तीह तथा चात्र कथां शृणु ॥९३॥
पुरा पाटलिपुत्रेऽभूत्कापि स्त्री मृतभर्त्तृका ।
बालैकपुत्रा तरुणी निर्धना रूपशालिनी ॥९४॥
सा चात्मपरितोषाय परपूरुषसङ्गमम् ।
विदधाना ययौ गेहाद्रात्रौ रात्रौ यतस्ततः ॥९५॥

इतना कहने पर राजपुत्र नरवाहनदत्त ने उत्कण्ठित होकर उससे कहा कि जहाँ मदनमंचुका है, वहाँ मुझे ले चलो और जो इच्छा हो, कहो, (मैं करने को तैयार हूँ)॥८२॥

यह सुनकर विद्याधरी प्रभावती रात ही को उन्हें साथ लिये आकाश उड़कर मार्ग से चन्द्रवती नगरी में जाने को तैयार हो गई॥८३॥

जाते-जाते मार्ग में प्रज्वलित अग्नि को देखकर उसने नरवाहनदत्त का हाथ पकड़, उसके साथ अग्नि का प्रदक्षिण कर लिया॥८४॥

प्रभावती ने मन में यह संकल्प कर अग्नि-प्रदक्षिण किया कि इस प्रकार की युक्ति से मेरा परिणय नरवाहनदत्त के साथ हो जायगा। उचित भी है; क्योंकि दिव्य स्त्री-पुरुषों के क्रियाकलाप प्रधानतः संकल्प पर निर्भर रहते हैं॥८५॥

आकाश-मार्ग से जाती हुई प्रभावती राजपुत्र को दिखला रही थी कि नीचे पूरी पृथिवी एक वेदी-सी, नदियाँ साँपिन-सी, और पहाड़ वल्मीक से दीख रहे थे॥८६॥

इस प्रकार, आगे बढ़ती हुई तथा स्थान-स्थान में कुतूहल की वस्तु उन्हें दिखलाती हुई वह क्रमशः बहुत दूर पहुँच गई॥८७॥

आकाश-गमन की परिश्रान्ति तथा जल की तृषा से व्याकुल जानकर नरवाहनदत्त को साथ लिये प्रभावती आकाश से नीचे उतर आई॥८८॥

उतरकर जंगल के समीप, मानों रजत के रस की तरह चन्द्रमा की किरणों के समान धवल जल से भरे हुए एक सरोवर के निकट राजपुत्र को पहुँचाया॥८९॥

वहाँ पानी पीने से तृषा शान्त हो गई, किन्तु वन की रमणीयता के कारण प्रभावती के साथ सम्भोग की इच्छा जाग उठी॥९०॥

प्रभावती के समक्ष राजपुत्र ने हठपूर्वक सम्भोग का प्रस्ताव रखा; किन्तु नरवाहनदत्त को ले जाकर पहुँचाने की प्रतिज्ञा के द्वारा मदनमंचुका को दिये गये आश्वासन का ध्यान कर उसके ऊपर दया आ जाने से नरवाहनदत्त के साथ सम्भोग के लिए प्रभावती कष्ट अनुभव करने लगी। [दया आने का कारण यह था कि उसके (प्रभावती के) साथ प्रेम-सम्बन्ध हो जाने पर कदाचित् मदनमंचुका पर से उन्हें विरक्ति हो जाय; क्योंकि उसे वह आश्वासन दे चुकी थी, यद्यपि नरवाहनदत्त की सम्भोगेच्छा से प्रभावती का स्वार्थ सिद्ध होता था, किन्तु] पदार्थ-सिद्धि में आसक्त उत्तम जन, स्वार्थ की ओर नहीं देखते हैं॥९१-९२॥

प्रभावती ने कहा हे आर्यपुत्र! आप कुछ अन्यथा भाव न मानें, मेरा कुछ दूसरा ही अभिप्राय है। इस सम्बन्ध में पहले एक कथा सुन लीजिए॥९३॥

पूर्व समय की बात है। पाटिलपुत्र में एक बड़ी सुन्दरी निर्धन युवती थी। उसका पति मर गया था। उसके एक छोटा-सा पुत्र था॥९४॥

यौवन-तृष्णा की शान्ति एवं आत्मसन्तोष के निमित्त वह युवती प्रत्येक रात को जहाँ-तहाँ परपुरुषों के साथ संगम के उद्देश्य से चली जाती थी॥९५॥

मोदकं पुत्र ते प्रातरानेष्यामीति तं सुतम् ।
बालं चाश्वास्य साथासीत्तं च सान्वहमानयत् ॥९६॥
स च बालो गृहे तूष्णीं तयासीन्मोदकाशया ।
एकदा न तयानीतो विस्मृत्यास्य स मोदकः ॥९७॥
याचमानं च तं बालं मोदकं सा किलाऽब्रवीत् ।
अहं स्वकामुकं वेद्मि मोदकं नापरं सुत ॥९८॥
तच्छ्रुत्वा नानयानीतो मोदको मेऽन्यसक्तया ।
इति तस्य निराशस्य शिशोर्हृदयमस्फुटत् ॥९९॥
तदहं प्रिय पूर्वं त्वां सुतरां स्वीकरोमि चेत् ।
तन्मयैव कृताश्वासा त्वत्सङ्गमहोत्सवे ॥१००॥
मत्त एव निराशा चेद्बुद्ध्वा मदनमञ्चुका ।
भवेत्तद्धृदयं तस्याः स्फुटेत्कुसुमपेशलम् ॥१०१॥
तदेतेनानृशंस्येन तामनाश्वास्य सम्प्रति ।
न तथाभिलषामि त्वामपि प्राणाधिकं प्रियम् ॥१०२॥
इत्युक्तः स प्रभावत्या तया सानन्दविस्मयः ।
नरवाहनदत्तोऽत्र तत्कालं समचिन्तयत् ॥१०३॥
अहो नवनवाश्चर्यनिर्माणे रसिको विधिः ।
अचिन्त्योदारचरिता येन सृष्टा प्रभावती ॥१०४॥
इति ध्यायन्स तां प्रेम्णा स्तुत्वा राजसुतोऽब्रवीत् ।
तर्हि मां नय सा यत्र स्थिता मदनमञ्चुका ॥१०५॥
तच्छ्रुत्वा च गृहीत्वा तं नभसा सा प्रभावती ।
क्षणेन प्रापयामास तमाषाढपुरं गिरिम् ॥१०६॥
तत्र सङ्गमयामास तेन शुष्यत्तनुं चिरात् ।
पूरेणेव नदीं वृष्टिः सा तां मदनमञ्चुकाम् ॥१०७॥
सोऽप्यपश्यद्वियोगार्त्तां कान्तां तां कृशपाण्डुराम् ।
नरवाहनदत्तोऽत्र पर्वणीन्दुकलामिव ॥१०८॥
स तदा प्राणलाभाय तयोरन्योन्यसङ्गमः ।
वभूव जगदानन्दी शर्वरीशशिनोरिव ॥१०९॥
विरहानलसन्तप्तावाश्लिष्टौ दम्पती च तौ ।
स्वेदच्छलाद्द्रवीभूतावेकतामिव जग्मतुः ॥११०॥

(घर में बच्चे को अकेला छोड़ जाती थी, किन्तु) उसे यह आश्वासन प्रति रात्रि को दे जाती कि तेरे लिए प्रातःकाल लड्डू ले आऊँगी, और आश्वासन के अनुसार प्रतिदिन लड्डू ले भी आती थी ॥९६॥

लड्डुओं की आशा से रात-भर वह लड़का अकेला ही चुपचाप सोया रहता था। एक दिन वह युवती उसके लिए लड्डू लाना भूल गई ॥९७॥

बालक ने माता से लड्डू माँगा। उसने कहा कि हे पुत्र, मैं अपने चाहनेवाले प्रियतम को ही मोदक जानती हूँ, दूसरा मोदक* नहीं ॥९८॥

यह सुनकर तथा यह जानकर कि अन्य पुरुष में आसक्त मेरी माँ मोदक नहीं ले आई, लड़का निराश होगया और उसका हृदय फट गया ॥९९॥

अतः, हे प्रिय राजपुत्र ! पहले यदि आपको मैं स्वीकार कर लेती हूँ, तो आपके मिलन-महोत्सव के लिए मदनमंचुका को मेरे द्वारा दिया गया आश्वासन व्यर्थ हो जायगा तथा मेरे ही कारण उसे यह निराशा हुई, यह जानकर उसका पुष्प के समान कोमल हृदय फट जायगा ॥१००-१०१॥

अतः, नृशंसता करके दिया हुआ आश्वासन भंग कर प्राण से अधिक प्रिय होने पर भी आपके साथ किसी प्रकार का प्रेम-सम्बन्ध नहीं करना चाहती हूँ ॥१०२॥

प्रभावती के इस कथन पर आनन्द और विस्मय से युक्त होकर नरवाहनदत्त ने तत्काल विचार किया कि अहो ! नई-नई चंचलताओं को सृष्टि करने में विधाता रस लेते रहते हैं, नहीं तो इतने उदार चरित्र से युक्त प्रभावती की सृष्टि वे कैसे करते ॥१०३-१०४॥

इस प्रकार विचारते हुए राजपुत्र ने प्रेम से प्रभावती को स्तुतिपूर्वक बधाई दी और कहा कि जहाँ मदनमंचुका है, वहाँ मुझे (शीघ्र) ले चलो ॥१०५॥

यह सुनकर राजपुत्र को साथ में लिये प्रभावती ने क्षण-भर में ही आकाश-मार्ग से उसे आषाढ़पुर पर्वत पर पहुँचा दिया ॥१०६॥

वृष्टि, जिस प्रकार सूखी हुई नदी का प्रवाह से संगम करा देती है, उसी प्रकार विरह से खिन्न मदनमंचुका को प्रभावती ने राजपुत्र नरवाहनदत्त के साथ संगम करा दिया ॥१०७॥

विरह से पीडित दुबली और पीली प्रिया को नरवाहनदत्त ने पूर्णिमा की इन्दुकला के समान देखा ॥१०८॥

उस समय दोनों का परस्पर मिलन आनन्ददायक तथा प्राणदायक सिद्ध हुआ, जिस प्रकार रात्रि और चन्द्रमा का मिलन जगत् का आनन्ददायक होता है ॥१०९॥

विरहाग्नि से चिरकाल के सन्तप्त दम्पती एक दूसरे का आलिंगन करते हुए पसीने की बूंदों के बहाने मानों द्रवीभूत होकर एकता को प्राप्त कर गये ॥११०॥

---

*मोदक के अर्थ 'हर्षदायक' और 'लड्डू' दोनों होते हैं।

ततः प्रभावतीविद्याबलेन निशि कल्पितान्।
बुभुजातेऽत्र तौ सद्यः स्वैरं भोगानुभावपि ॥१११॥
न ददर्श च तद्विद्याबलेनैवात्र कश्चन।
नरवाहनदत्तं तं विना मदनमञ्चुकाम् ॥११२॥
प्रातस्तं चात्र मुञ्चन्तमेकवेणीं निजं प्रियम्।
सा जगादाहितामर्षवशान्मदनमञ्चुका ॥११३॥
हते मानसवेगेऽसौ मोक्तव्यार्यसुतेन मे।
मृतायाः पक्षिभिर्वापि वेणी दाह्याथवाग्निना ॥११४॥
इति प्रतिज्ञातमभून्मया साद्य मम त्वया।
जीवत्यस्मिन्नृपे मुक्ता तेन मे दूयते मनः ॥११५॥
क्षिप्तोऽपि न मृतो ह्येष वेगवत्याग्निपर्वते।
त्वं चादृश्या प्रभावत्या विहितोऽत्र स्वमायया ॥११६॥
अन्यथा त्वत्समीपे हि शत्रोरस्यानुशायिनः।
इहैते सञ्चरन्तोऽद्य त्वां सहेरन्विलोक्य किम् ॥११७॥
एवमुक्तस्तया पत्न्या साध्व्या कालानुरोधवान्।
नरवाहनदत्तोऽत्र सान्त्वयन्स जगाद ताम् ॥११८॥
सम्पत्स्यतेऽयं कामस्ते हनिष्याम्यचिरादमुम्।
शत्रुं विद्याः समासाद्य प्रतीक्षस्व मनाक्प्रिये ॥११९॥
इत्याद्युक्त्वा समाश्वास्य स तां मदनमञ्चुकाम्।
नरवाहनदत्तोऽत्र तस्थौ वैद्याधरे पुरे ॥१२०॥
अथ प्रभावती तस्य चक्रे विद्याप्रभावतः।
अतर्क्यं रूपमात्मीयं स्वयमन्तर्हिता सती ॥१२१॥
स तद्रूपेण तत्रासीद्राजपुत्रो यथासुखम्।
अशङ्कितः प्रकाशोऽपि तद्विद्यासिद्धभोगभुक् ॥१२२॥
वेगवत्या वयस्येयमेतां मदनमञ्चुकाम्।
उपाचरति तत्प्रीत्या निजसख्यवशेन च ॥१२३॥
इति प्रभवतीत्येनं तद्रूपच्छन्नविग्रहम्।
मन्वानाः सर्व एवोचुस्तत्र मानसवेगतः ॥१२४॥
अथैकदा प्रसङ्गेन तस्मै मदनमञ्चुका।
नरवाहनदत्ताय स्ववृत्तान्तं शशंस सा ॥१२५॥

प्रभावती के विद्याबल से रात को उपस्थित किये गये भोग्य का उपभोग वे दोनों करने लगे ॥१११॥

प्रभावती के विद्याबल से ही वहाँ नरवाहनदत्त को कोई नहीं देख पाता था, केवल मदनमंचुका को देखता था ॥११२॥

दूसरे दिन प्रातःकाल के समय (विरहावस्था में) वेणी (शिर पर बालों की गुँथी हुई चोटी) को खोलते हुए नरवाहनदत्त से मदनमंचुका ने कुछ अमर्ष में आकर कहा—हे प्रिय, मैं प्रतिज्ञा कर चुकी थी कि मानसवेग के मारे जाने पर ही आपके द्वारा यह वेणी खोली जाय, किंवा मरने के बाद ही पक्षियों के द्वारा (चोंच से) यह वेणी खोली जाय, किंवा (शरीरदाह के समय) अग्नि के द्वारा जला दी जाय, किन्तु इन तीनों में एक भी नहीं हुआ, मानसवेग की जीवित अवस्था में ही आपने मेरी वेणी मुक्त कर दी, अतः मेरा मन सन्तप्त हो रहा है ॥११३-११५॥

वेगवती के द्वारा अग्नि-पर्वत पर फेंक दिये जाने पर भी मानसवेग मर नहीं सका। प्रभावती की विद्या के बल से आप यहाँ अदृश्य बने हुए हैं ॥११६॥

यदि ऐसा नहीं होता, तो शत्रु मानसवेग के अनुयायी यहाँ समीप ही में जहाँ-तहाँ भटक रहे हैं, वे सब आपकी उपस्थिति को सहन करते क्या? ॥११७॥

साध्वी पत्नी मदनमंचुका के इस कथन पर नरवाहनदत्त ने समयानुसार सान्त्वना देते हुए कहा ॥११८॥

हे प्रिये! थोड़ी देर प्रतीक्षा करो। (उपयुक्त) विद्याएँ प्राप्त कर इस शत्रु को शीघ्र ही मार डालूँगा, तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा ॥११९॥

यह कहकर मदनमंचुका को आश्वासन दे नरवाहनदत्त वहीं विद्याधरों के नगर में रहने लगे ॥१२०॥

अनन्तर, प्रभावती ने अपनी विद्या के प्रभाव से नरवाहनदत्त का रूप बदल दिया, अर्थात् अपना रूप दे दिया और स्वयं अन्तर्हित हो गई ॥१२१॥

राजपुत्र नरवाहनदत्त अपने रूप से अप्रकट और प्रभावती के रूप में प्रकट होकर शंका-रहित भाव से प्रभावती की विद्या से उपस्थित भोग्य का उपभोग करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे ॥१२२॥

प्रभावती के स्वरूप से आच्छन्न शरीर होने के कारण वहाँ के सब लोग नरवाहनदत्त को यह समझते थे कि वह विद्याधरी वेगवती की सखी प्रभावती है और अपने प्रेम तथा सख्य के कारण मदनमंचुका की सेवा में लगी हुई है, यही बात मानसवेग के समीप भी लोग कहते थे ॥१२३-१२४॥

किसी समय मदनमंचुका नरवाहनदत्त से अपना वृत्तान्त कहने लगी ॥१२५॥

तदा मानसवेगो मामिहानीय स्वमायया।
प्रवर्त्तयितुमभ्यैच्छद्धाययन्क्रूरकर्मभिः ॥१२६॥
तावच्च प्रकटीभूय भगवान्भैरवाकृतिः।
उद्धृतासिर्ललज्जिह्वः कृत्वा हुङ्कारमभ्यधात् ॥१२७॥
इयं विद्याधरेन्द्राणां भाविनश्चक्रवर्त्तिनः।
भार्या कथं त्वयास्मासु स्थितेषु परिभूयते ॥१२८॥
एवमुक्तो भगवता पपात धरणीतले।
पापो मानसवेगोऽसौ मुखेन रुधिरं वमन् ॥१२९॥
ततस्तिरोहिते देवे समाश्वस्तः क्षणादसौ।
गतः स्वमन्दिरं भूयो मयि क्रौर्यान्न्यवर्त्तत ॥१३०॥
अथ भीतां वियोगार्त्तां प्राणत्यागोन्मुखीमिह।
एत्यान्तः पुरचेट्यो मां सान्त्वयन्त्योऽब्रुवन्निदम् ॥१३१॥
मुनिकन्यां पुरा काञ्चिद्दृष्ट्वा रूपवतीं हठात्।
हरन्मानसवेगोऽयं तद्बन्धुभिरशप्यत ॥१३२॥
परनारीमनिच्छन्तीं यदा पाप गमिष्यसि।
तदा ते शतधा मूर्धा विदलिष्यत्यसाविति ॥१३३॥
अतो नैष बलाद्गच्छेत्परस्त्रीं मा भयं कृथाः।
देवादेशाच्च भर्त्रा ते भूयो भाव्येव सङ्गमः ॥१३४॥
एवं ममोक्ते चेटीभिः क्षणाद्वेगवती स्वसा।
सास्य मानसवेगस्य सम्बोधयितुमागमत् ॥१३५॥
मद्दर्शनकृपाविष्टा सा त्वदानयनेन माम्।
आश्वास्य त्वां यथा प्राप्ता तथैव विदितं तव ॥१३६॥
अथ ज्योत्स्नासितैर्वस्त्रैश्चान्द्री तनुरिवामला।
दर्शनेनैव सौम्येन सिञ्चन्ती सुधयेव माम् ॥१३७॥
उपेता पृथिवीदेवी माता साध्वी दुरात्मनः।
अस्य मानसवेगस्य सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥१३८॥
त्यक्त्वाहारं शुभोदर्कं किमात्मानमुपेक्षसे।
शत्रोरन्नं कथं भोक्ष्य इति मा च कृथा हृदि ॥१३९॥
दुहितुर्वेगवत्या मे राज्येऽस्मिन्पितृकल्पितः।
भागोऽस्ति सा च भर्त्रा ते परिणीता सखी तव ॥१४०॥

उस समय मानसवेग ने अपनी माया से मुझे ले आकर क्रूर क्रियाओं के द्वारा (अपनी ओर) प्रवृत्त कराने के लिए इच्छा की थी॥१२६॥

शीघ्र ही उस समय भयंकर आकार धारण किये, तलवार निकाले हुए, लहलहाती जिह्वा से युक्त प्रकट होकर भगवान् ने हुंकार भरकर कहा ॥१२७॥

हे मानसवेग ! यह मदनमंचुका विद्याधरेन्द्रों के भावी चक्रवर्ती की पत्नी होनेवाली है। हम लोगों को रहते इसे कष्ट नहीं दिया जा सकता॥१२८॥

भगवान् के इस कथन पर तुरन्त मुख के द्वारा रुधिर वमन करते हुए पापी मानसवेग पृथ्वी पर गिर गया ॥१२९॥

तब भगवान् अन्तर्हित हो गये। कुछ क्षण के बाद मानसवेग भी आश्वस्त होकर अपने घर चला गया। उसके बाद मेरे ऊपर पुनः क्रूरता करने से निवृत्त रहा॥१३०॥

अनन्तर, विरह से व्यथित, अतएव प्राण-त्याग के लिए उद्यत एवं भयभीत दशा में मुझे देख अन्तःपुर की चेरियाँ आकर सान्त्वना के साथ कहने लगीं कि—॥१३१॥

कभी पूर्व समय में, किसी सुन्दरी ऋषिकन्या को देखकर हठात् उसे हरण करते हुए मानसवेग को कन्या के बन्धुओं ने अभिशाप दे दिया था कि हे पापी मानसवेग ! यदि तुम इच्छा के विरुद्ध परस्त्री के समीप जाओगे, तो तुम्हारा मस्तक सौ टुकड़ों में फट जायगा॥१३२-१३३॥

अतः, यह मानसवेग परस्त्री के साथ बलात्कार नहीं कर सकता है। तुम भय मत करो। देवता के आदेश से पति के साथ तुम्हारा पुनः संगम भी होने ही वाला है॥१३४॥

इस प्रकार चेरियों के द्वारा मुझे समझाने-बुझाने के बाद मानसवेग की बहन वेगवती समझाने के लिए मेरे निकट आई। मुझे देखकर उसे दया आ गई। उसने आपको यहाँ ले आने का आश्वासन दिया तथा वह आपके निकट गई भी, यह तो आपको भी विदित है॥१३५-१३६॥

अनन्तर, चन्द्रिका के समान धवल वस्त्र पहने हुए देखते ही मानों सुधा की धारा से मुझे सींचती हुई दुरात्मा मानसवेग की साध्वी माता पृथिवी देवी ने मेरे समीप आकर स्नेह-पूर्वक कहा कि—॥१३७-१३८॥

"आगे चलकर शुभ परिणाम पर पहुँचनेवाली आत्मा की उपेक्षा, भोजन त्याग कर, क्यों कर रही हो ? यदि यह समझ रही हो कि शत्रु का अन्न कैसे खाऊँ, तो यह विचार हृदय से निकाल दो; क्योंकि—॥१३९॥

मेरी पुत्री वेगवती के लिए इस राज्य में उसके पिता के द्वारा कुछ हिस्सा रख दिया गया है। तुम्हारे स्वामी नरवाहनदत्त ने वेगवती के साथ विवाह कर लिया है, अतः अब वह तुम्हारी सखी हो गई॥१४०॥

तद्धनं भर्तृसम्बन्धि तव चात्मीयमेव च।
तदेतद्भुङ्क्ष्व विद्यातो ज्ञात्वा सत्यं वदामि ते॥१४१॥
एवमुक्त्वा सशपथं भोजितास्मि तया तदा।
अवस्थोचितमाहारं सुतासम्वन्धवद्धया॥१४२॥
ततस्त्वया सहागत्य वेगवत्यैष निर्जितः।
भ्रातेह रक्षितस्त्वं च शेषमत्र न वेद्म्यहम्॥१४३॥
अथ वेगवतीसिद्धिं तद्दैवतवचोऽप्यहम्।
स्मरन्ती नामुचं प्राणांस्त्वत्प्राप्त्याशावलम्बितान्॥१४४॥
ततो महानुभावायाः प्रभावत्याः प्रभावतः।
त्वं शत्रुसङ्कटेऽप्यस्मिन्प्राप्तस्तावन्मयाधुना॥१४५॥
चिन्ता तु मे विलुप्ता चेद्भवेदत्र प्रभावती।
नश्येच्च तव तद्रूपं ततोऽस्माकं नु किं भवेत्॥१४६॥
इत्यादि ब्रुवतीं धीरीकुर्वन्मदनमञ्चुकाम्।
नरवाहनदत्तोऽसौ वीरोऽत्रास्त तया सह॥१४७॥
एकदा च प्रभावत्यां यातायां भवनं पितुः।
प्रभातसमये नष्टतद्रूपं तदसन्निधेः॥१४८॥
नरवाहनदत्तं तं दृष्ट्वा पुरुषरूपिणम्।
पारदारिक एषोऽत्र प्रविष्ट इति साकुलः॥१४९॥
भयाद्राजकुले गत्वा सर्वः परिजनोऽभ्यधात्।
वारयन्तीमपास्यैव भीतां मदनमञ्चुकाम्॥१५०॥
ततो मानसवेगोऽत्र स राजा स्ववलान्वितः।
नरवाहनदत्तं तं धावित्वा पर्यवेष्टयत्॥१५१॥
अथ तं पृथिवीदेवी माता सत्वरमेत्य सा।
राजानमब्रवीत्पुत्र हन्तव्योऽयं न ते न मे॥१५२॥
न पारदारिको ह्येष वत्सराजात्मजो ह्ययम्।
नरवाहनदत्तोऽत्र निजां भार्यामुपागतः॥१५३॥
विद्यावलेन जानेऽहं कोपान्धः किं न वीक्षसे।
जामाता चायमस्माकं पूज्यः शशिकुलोद्भवः॥१५४॥
एवमुक्तस्तया मात्रा तर्हि शत्रुरयं मम।
इति मानसवेगोऽसौ जातामर्षो जगाद ताम्॥१५५॥

यहाँ इस राज्य में अंश-रूप से दिया गया धन नरवाहनदत्त का भी कहा जायगा। इस प्रकार, उस धन पर तुम्हारा भी अधिकार हो ही गया। अतः, यह लो, भोजन करो। विद्या के बल से उक्त सभी बातें मैं जानकर सत्य कह रही हूँ" ॥१४१॥

इतना कहकर शपथ के साथ पुत्री वेगवती के सम्बन्ध के बन्धन में बँधकर पृथिवी देवी ने उस स्थिति के अनुरूप मुझे भोजन कराया ॥१४२॥

तब तुम्हारे साथ आकर वेगवती ने अपने भ्राता को जीत लिया तथा तुम्हारी रक्षा भी की, उसके बाद क्या हुआ, यह मैं नहीं जानती ॥१४३॥

फिर, वेगवती की सिद्धि तथा देवता के उस वचन का स्मरण कर मैंने आपके मिलन की आशा पर अवलम्बित (अपने) प्राणों का परित्याग नहीं किया ॥१४४॥

हे नरवाहनदत्त! उसके बाद महान् प्रभाववाली प्रभावती के प्रभाव से ऐसे शत्रु-संकट के समय भी मुझे आप अब प्राप्त हुए हैं ॥१४५॥

चिन्ता तो मुझे इस बात की थी कि प्रभावती यदि विलुप्त हो जाती तथा आपका वह रूप (प्रभावती का स्वरूप) नष्ट हो जाता, तो हमारी क्या दशा होती ॥१४६॥

इस प्रकार कहती हुई मदनमंचुका को वीर नरवाहनदत्त धैर्य देते हुए उसके साथ वहीं रहने लगे ॥१४७॥

एक समय प्रभावती के अपने पिता के घर चले जाने पर, समीप में उसे नहीं रहने के कारण, प्रातःकाल नरवाहनदत्त का प्रभावती रूप नष्ट हो गया। (इस प्रकार) नरवाहनदत्त को पुरुष-रूप में देखकर परिजन व्याकुल हो उठे तथा राजा के दरबार में जाकर कहा कि यहाँ एक परस्त्री-प्रेमी प्रवेश कर गया है। यद्यपि भयभीत होकर मदनमचुका ने परिजनों को रोका, किन्तु उन्होंने नहीं माना ॥१४८—१५०॥

उसके बाद राजा मानसवेग ने अपनी सेना के साथ जल्दी-जल्दी जाकर नरवाहनदत्त को घेर लिया ॥१५१॥

तभी मानसवेग की माता पृथिवी देवी ने शीघ्र ही आकर कहा—"हे पुत्र, ये हमारे या तुम्हारे मारने योग्य नहीं हैं ॥१५२॥

ये परस्त्रीगामी नहीं, वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त हैं। यहाँ अपनी पत्नी के समीप आये हैं ॥१५३॥

मैं (अपनी) विद्या के बल से इन बातों को जानती हूँ। क्या तुम क्रोध से अन्ध होकर यह नहीं जानते, चन्द्रवंश में उत्पन्न ये नरवाहनदत्त हमारे पूज्य जामाता हैं?" ॥१५४॥

माता के द्वारा ऐसा कहने पर राजा मानसवेग ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया कि तब तो यह नरवाहनदत्त मेरा शत्रु है ॥१५५॥

ततः सा तं पुनर्माता जामातृस्नेहतोऽभ्यधात् ।
नाधर्मो लभ्यते कर्त्तुं लोके वैद्याधरे सुत ॥१५६॥
इह विद्याधराणां हि धर्मार्था विद्यते सभा ।
तत्रास्य तत्प्रधानाग्रे दोषं शिरसि पातय ॥१५७॥
ततो यत्क्रियतेऽमुष्य शोभते तदतोऽन्यथा ।
विद्याधरा विकुर्वीरन्न सहेरंश्च देवताः ॥१५८॥
एतत्तस्या वचो मातुर्गौरवात्प्रतिपद्य सः ।
सभां मानसवेगस्तं नेष्यन्बन्द्धुं प्रचक्रमे ॥१५९॥
स च बन्धासहिष्णुः सन्स्तम्भमुत्पाट्य तोरणात् ।
नरवाहनदत्तोऽत्र तद्भृत्यानवधीद्बहून् ॥१६०॥
तन्मध्यात्खड्गमेकस्य हृतस्यासाद्य तत्क्षणात् ।
जघान सोऽन्यानपि तान्वीरो दिव्यपराक्रमः ॥१६१॥
ततो मानसवेगस्तं दिव्यया निजविद्यया ।
बबन्ध भार्यानुगतं नयति स्म च तां सभाम् ॥१६२॥
तत्र भेरीमहाशब्दसमाहूता इतस्ततः ।
विद्याधरा मिलन्ति स्म सुधर्मायां यथा सुराः ॥१६३॥
आगत्योपाविशच्चात्र रत्नसिंहासनोपरि ।
राजा वायुपथो नाम सभ्यो विद्याधरैर्वृतः ॥१६४॥
व्याधुन्वद्भिरिवाधर्मं वीज्यमानस्य चामरैः ।
तस्य मानसवेगोऽग्रे स्थित्वा पापोऽब्रवीदिदम् ॥१६५॥
मर्त्योऽप्यन्तःपुरध्वंसकारी विध्वंसकः स्वसुः ।
शत्रुर्ममायं वध्योऽद्य स्वाम्यकामः किलैष नः ॥१६६॥
तच्छ्रुत्वा तेन सभ्येन पृष्टः प्रत्युत्तरं प्रति ।
नरवाहनदत्तोऽत्र वीरो विस्रब्धमब्रवीत् ॥१६७॥
सा सभा यत्र सभ्योऽस्ति स सभ्यो धर्ममाह यः ।
स धर्मो यत्र सत्यं स्यात्तत्सत्यं यत्र न च्छलम् ॥१६८॥
वद्धोऽहं माययात्रैव स्थितो भूमावयं पुनः ।
आसनस्थश्च मुक्तश्च को विवादः समोऽत्र नौ ॥१६९॥
एतद्वायुपथः श्रुत्वा तमुभावेशयत्क्षितौ ।
न्यायान्मानसवेगं स तं मुक्तं चाप्यकारयत् ॥१७०॥

इसके बाद माता पृथिवी देवी ने जामाता के स्नेह के वशीभूत होकर पुनः मानसवेग से कहा कि हे पुत्र ! यहाँ विद्याधर-लोक में अधर्म नहीं किया जा सकता है।॥१५६॥

यहाँ धर्म-निर्णय के लिए विद्याधरों की सभा है। वहाँ सभा के अध्यक्ष के सामने इस दोष को तुम उपस्थित करो॥१५७॥

वहाँ अध्यक्ष के द्वारा जो निर्णय किया जाय, वही करना उचित होगा। उसके विपरीत करना ठीक नहीं होगा। क्योंकि (नरवाहनदत्त के ऊपर अनुचित आक्रमण) से विद्याधर भी नाराज हो जायेंगे तथा देवता भी (इस बात को) न सह सकेंगे॥१५८॥

मानसवेग आदर के कारण माता का यह वचन स्वीकार कर नरवाहनदत्त को बाँधकर धर्मसभा में चलने को उद्यत हुआ॥१५९॥

(किन्तु) नरवाहनदत्त को वह बन्धन सह्य नहीं हुआ, अतः तोरण का एक स्तम्भ उखाड़कर उसने मानसवेग के अनेक भृत्यों को मार डाला।॥१६०॥

अलौकिक पराक्रमी वीर नरवाहन दत्त ने (वहाँ) अन्य-अन्य व्यक्तियों को भी मारा॥१६१॥

तब मानसवेग उन मरे भृत्यों में किसी एक के हाथ से तलवार लेकर अपनी अलौकिक विद्या के बल से मदनमंचुका के साथ नरवाहनदत्त को बाँधकर धर्मसभा में ले गया।॥१६२॥

जिस प्रकार देवसभा में देवता उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार विद्याधरों की धर्म-सभा में डंके के शब्द-संकेत से बुलाये जाने पर जहाँ-तहाँ से विद्याधरगण उपस्थित हो गये॥१६२॥

इस सभा में विद्याधरों से घिरकर रत्नसिंहासन के ऊपर प्रसिद्ध राजा वायुपथ निर्णायक के रूप में आकर बैठे॥१६४॥

राजा वायुपथ के समक्ष, यों चामर झला जा रहा था, मानों झलने के बहाने अधर्म को फटकारा जा रहा हो, पापी मानसवेग ने निवेदन किया कि—॥१६५॥

यह नरवाहनदत्त मनुष्य होते हुए भी मेरे अन्तःपुर को दूषित कर बहन वेगवती को भ्रष्ट करनेवाला मेरा शत्रु है तथा वह विद्याधरों का स्वामी बनने की इच्छा कर रहा है, अतः इसे मार डालना चाहिए॥१६६॥

यह सुनकर निर्णायक वायुपथ ने स्पष्टीकरण के लिए नरवाहनदत्त की ओर संकेत किया। तब वीर नरवाहनदत्त ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया कि—॥१६७॥

सभा वह है जहाँ निर्णायक हों। निर्णायक वह हैं, जो धर्मसंगत बोलें। धर्म वह है, जहाँ सत्य हो। सत्य वह है, जहाँ छल न हो॥१६८॥

(आप देखें कि) माया से बँधा हुआ यहाँ मैं जमीन पर हूँ और यह मानसवेग विना बन्धन का आसन पर बैठा है, (इस स्थिति में) हम दोनों का विवाद समान कहाँ हुआ ?॥१६९॥

यह सुनकर वायुपथ ने मानसवेग को न्यायतः जमीन पर बैठा दिया तथा नरवाहनदत्त को बन्धन-मुक्त करवा दिया॥१७०॥

ततः सर्वेषु शृण्वत्सु तत्र वायुपथाग्रतः।
नरवाहनदत्तोऽसावेवं प्रतिवचोऽभ्यधात् ॥१७१॥

हृतानीतामनेनैतां भार्यां मदनमञ्चुकाम्।
निजां प्राप्तोऽस्मि चेत्कस्य शुद्धान्तो ध्वंसितो मया ॥१७२॥

अस्या रूपेण चाभ्येत्य विप्रलभ्य कृतो यदि।
अहं भर्त्ता भगिन्यास्य तत्र का मेऽपराधिता ॥१७३॥

स्वाम्यकामोऽस्मि चेत्कामः कस्य कुत्र न जायते।
एतच्छ्रुत्वा विमृश्याथ राजा वायुपथोऽब्रवीत् ॥१७४॥

धर्म्यमाह महात्मायं भविष्यत्सुमहोदयः।
अस्मिन्मानसवेगत्वमधर्मं भद्र मा कृथाः ॥१७५॥

इत्युक्ते तेन नाधर्मान्मोहान्धौ यन्न्यवर्त्तत।
सोऽत्र मानसवेगस्तत्क्रोधं वायुपथो ययौ ॥१७६॥

ततो मानसवेगेन सह सन्नद्धसैनिकः।
बभूव तस्य संक्षोभस्तत्र धर्मानुरोधिनः ॥१७७॥

धर्मासनोपविष्टा हि दुर्बलं बलिनं परम्।
आत्मीयं वत जानन्ति धीरा न्यायैकदर्शिनः ॥१७८॥

विहाय मायां युध्यस्व स्पष्टमेव मया सह।
यावदेकप्रहारेण हन्मि त्वां पश्य पौरुषम् ॥१७९॥

इति मानसवेगं च तदावोचद्विलोकयन्।
नरवाहनदत्तोऽत्र दिव्यकन्याः सकौतुकाः ॥१८०॥

अन्योन्यजातकलहेषु च तत्र तेषु विद्याधरेषु सहसैव सभान्तरस्थात् ॥
स्तम्भोत्तमाट्टसदिति प्रविभिन्नमध्याद्देवोऽथ भैरववपुः किल निर्जगाम ॥१८१॥

व्याप्ताम्वरोञ्जननिभश्च विनिह्नुतार्को विद्युल्लतातरलदीप्रविलोचनार्चिः।
दन्तप्रभाविततपङ्क्तिपतद्वलाको गर्जन्महाप्रलयमेघ इव प्रचण्डः ॥१८२॥

न भाविविद्याधरचक्रवर्त्तिनः पराभवोऽस्यास्ति शठेति स ब्रुवन्।
अधोमुखं मानसवेगमीश्वरो निराकरोद्वायुपथं प्रहर्षयन् ॥१८३॥

तब उस सभा में, (जहाँ) सब (विद्याधर) सुन रहे थे, वायुपथ के समक्ष नरवाहनदत्त उत्तर देने लगे कि—॥१७१॥

"यह मदनमंचुका मेरी पत्नी है, मानसवेग के द्वारा बलात् अपहरण कर यहाँ लाई गई है। यदि मैं अपनी पत्नी के पास आया हूँ, तो किसके अन्तःपुर को मैंने दूषित किया ? ॥१७२॥

मानसवेग की बहन वेगवती ने इसी मदनमंचुका का रूप धारण कर मेरे पास आकर धोखे से मुझे पति बना लिया, इसमें मेरा क्या अपराध है॥१७३॥

(बात रही) स्वामी बनने की इच्छा की, वह इच्छा किसको, किस विषय में नहीं होती है?" यह सुन और विचारकर राजा वायुपथ ने कहा—॥१७४॥

"हे भद्र मानसवेग ! यह महात्मा है, इसका भविष्य उज्ज्वल ज्ञात होता है, (अभी जो कुछ कहा है) वह धर्मसंगत है। इसके ऊपर तुम किसी प्रकार का अधर्मकार्य मत करो" ॥१७५॥

यह कहने पर (भी) मोहान्ध मानसवेग (नरवाहनदत्त के ऊपर) अधर्मकार्य करने से विरत नहीं हुआ, इस कारण से राजा वायुपथ (उसपर) क्रुद्ध हो गये॥१७६॥

तब धर्म के पक्षपाती राजा वायुपथ को मानसवेग के साथ संघर्ष हो गया, उस संघर्ष में (दोनों तरफ से) सैन्य सज्जित थे॥१७७॥

एकमात्र न्याय के पक्षपाती धीर व्यक्ति (जब) धर्मासन पर बैठते हैं (तब) दुर्बल को भी बलवान् तथा शत्रु को भी आत्मीय समझने लगते हैं॥१७८॥[1]

कुतूहलपूर्ण दिव्य कन्याओं की ओर (आकाश में) देखते हुए नरवाहनदत्त ने मानसवेग से इस प्रकार कहा कि माया को छोड़ दो, प्रत्यक्ष रूप से मेरे साथ युद्ध करो। मेरा पुरुषार्थ देखो कि एक ही प्रहार से तुम्हें मैं मार डालता हूँ॥१७९-१८०॥

वहाँ विद्याधरों में परस्पर कलह होते देखकर अकस्मात् सभाभवन के मध्य में लगे उत्तम स्तम्भ का मध्य भाग तड़ाक से फट गया और उससे भयंकर शरीर धारण किये हुए एक देव निकल पड़े॥१८१॥

(उनका शरीर इतना विशाल था कि) उससे गगनमण्डल व्याप्त हो गया, सूर्य छिप गये, (उनके शरीर का) रंग अंजन जैसा काला था, आँख की प्रभा बिजली-सी चंचल और चमकीली थी। उनके दाँतों की प्रभा ऐसी लगती थी, मानों बलाकाएँ कतार बाँधकर उड़ रही हों। (इस प्रकार) महाप्रलयकाल में गरजते हुए मेघ के समान वे भयंकर दीखते थे॥१८२॥

उन्होंने यह कहते हुए कि विद्याधरों के भावी चक्रवर्ती राजा नरवाहनदत्त का पराभव नहीं किया जा सकता, मानसवेग को औंधे मुँह गिरा दिया (जिससे) वायुपथ को बड़ा हर्ष हुआ॥१८३॥

---

१. इस श्लोक में 'बत' की जगह किसी-किसी पुस्तक में 'न च' पाठ देखा जाता है। तब उसका अर्थ यों होगा—एकमात्र न्याय के पक्षपाती धीर व्यक्ति (जब) धर्मासन पर बैठते हैं (तब) कौन दुर्बल है और कौन बलवान् या कौन आत्मीय है, कौन पराया, इस बात का विचार नहीं करते हैं।

आदाय तं च भुजयोर्भगवान्भुजाभ्यां संरक्षणाय नरवाहनदत्तमाशु।
प्रापय्य पर्वतवरं शुभमृष्यमूकमाख्यापयत्स किल तत्र ततस्तिरोऽभूत् ॥१८४॥

प्रशशाम परस्परं सभायामथ विद्याधरसम्भ्रमः स तस्याम्।
स च वायुपथो यथागतं तैः सहितः स्वैरपरैस्ततो जगाम ॥१८५॥

सोऽपि च मानसवेगः कृत्वा तां मदनमञ्चुकां पुरतः।
हर्षविषादाकुलितामाषाढपुरं निजं ययौ विग्नः ॥१८६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचते कथासरित्सागरे
पञ्चलम्बके द्वितीयस्तरङ्गः।

तृतीयस्तरङ्गः

मन्ये कल्याणमेव स्यात्पुरुषस्यासमं विधिः।
मुहुः परीक्षते गाढं धीरत्वं सुखदुःखयोः (?) ॥१॥
यदेककं विदेशेषु तैस्तैर्दारैः पदे पदे।
नरवाहनदत्तं स योजयित्वा व्ययोजयत् ॥२॥
अथैतमृष्यमूकाद्रौ स्थितं तस्मिन्प्रभावती।
नरवाहनदत्तं तं समागत्याब्रवीत्प्रिया ॥३॥
मदसन्निधिदोषेण लब्ध्वा नीतो भवांस्तदा।
तां हि मानसवेगेन सभां पापं चिकीर्षुणा ॥४॥
तद्बुद्ध्वागत्य तत्कालं देवाविर्भावडम्बरम्।
कृत्वा विद्याप्रभावेण मयेह प्रापितो भवान् ॥५॥
नास्मिन्विद्याधराणां हि गिरौ बलवतामपि।
विद्याप्रपञ्चः क्रमते सिद्धक्षेत्रमिदं यतः ॥६॥
ममापि विद्याविभवो नात एवेह सिद्ध्यति।
तन्मे दुःखं कथं त्वं हि वन्याहारेण वर्त्स्यसि ॥७॥
इत्युक्तवतया तत्रासीत्कालाकाङ्क्षी तया सह।
नरवाहनदत्तोऽसौ ध्यायन्मदनमञ्चुकाम् ॥८॥
सस्नौ तत्पर्वतासन्ने पम्पासरसि पावने।
दिव्यास्वादानि बुभुजे मूलानि च फलानि च ॥९॥

देव अपनी दोनों भुजाओं से उनकी भुजाएँ पकड़कर, रक्षा के उद्देश्य से, शीघ्र ही नरवाहनदत्त को ऋष्यमूक नामक श्रेष्ठ पर्वत पर पहुँचा दिया और स्वयं अन्तर्हित हो गये ॥१८४॥

इसके बाद उस सभा में (आये हुए) विद्याधरों का परस्पर संघर्ष शान्त हो गया और वायुपथ उन आत्मीय विद्याधरों के सहित जैसे आये थे, वैसे ही वहाँ से चले गये ॥१८५॥

मानसवेग भी हर्ष और विषाद से आकुल होकर मदनमञ्चुका को आगे किये हुए उत्सुकता के साथ आषाढपुर चले गये ॥१८६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के पंचलम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त हुआ।

तृतीय तरंग

यह जो विधाता सुख-दुःख में मनुष्य के प्रगाढ़ धैर्य की परीक्षा लिया करता है, ऐसा प्रतीत होता है कि इससे उसका अद्वितीय कल्याण ही होता है। ॥१॥

तभी तो उसने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में नरवाहनदत्त को कई-कई स्त्रियों से मिलाया और फिर बिछुड़ा दिया ॥२॥

इसके बाद ऋष्यमूक पर्वत पर ठहरे हुए नरवाहनदत्त के पास प्रियतमा प्रभावती ने आकर कहा कि—॥३॥

"आपके पास मेरे रहने के कारण उस समय आपके ऊपर पाप करने की इच्छा रखते हुए मानसवेग उस धर्मसभा में आपको ले गया ॥४॥

यह समझकर उस समय वहाँ मैंने (प्रभावती ने) पहुँचकर अपनी विद्या के प्रभाव से (स्तम्भ के मध्य से) ईश्वर को प्रकट करने का प्रदर्शन किया और आपको यहाँ पहुँचाया ॥५॥

यह ऋष्यमूक पर्वत सिद्ध-क्षेत्र है, अतः यहाँ बलवान्-से-बलवान् विद्याधरों की भी विद्या का प्रपंच नहीं चल सकता है ॥६॥

मेरी विद्या का भी प्रभाव इस सिद्ध-क्षेत्र में नहीं सफल हो पाता है, अतः मुझे दुःख इस बात का है कि आप यहाँ जंगल के कन्द-मूल-फल खाकर किस तरह निर्वाह करेंगे ? ॥७॥

यह कहती हुई प्रभावती के साथ उस पर्वत पर मदनमंचुका का ध्यान करते हुए नरवाहनदत्त अपने उद्धार के समय की प्रतीक्षा में रहने लगे ॥८॥

वे ऋष्यमूक पर्वत के समीप पवित्र पम्पा नाम के सरोवर में स्नान करते थे और सुन्दर स्वादवाले फल-फूल खाते थे ॥९॥

मृगमांसोपदंशं च पुण्यं वापीपयः पपौ।
फलैस्तीरतरुभ्रष्टैः सरसं च सुगन्धि च ॥१०॥
उवास वृक्षमूलेषु गुहागर्भगृहेषु च।
रामस्यानुययौ वृत्तं तद्देशवनवासिनः ॥११॥
रामाश्रमांश्च दृष्ट्वात्र तस्मै तांस्तान्प्रभावती।
सा रामायणवृत्तान्तं विनोदार्थमवर्णयत् ॥१२॥
इह रामः ससौमित्रिः सीतयानुगतो वने।
उवास तापसैः सार्धं तरुमूले कृतोटजः ॥१३॥
अनसूयाङ्गरागेण सीतामोदितकानना।
इहास्त मुनिपत्नीनां मध्ये वल्कलधारिणी ॥१४॥
अत्र दुन्दुभिदैत्यश्च गुहायां वालिना हतः।
वालिसुग्रीवयोर्वैरे यदभूत्कारणं पुरा ॥१५॥
सुग्रीवो हि भ्रमान्मत्वा हतं दैत्येन वालिनम्।
गुहायाः पर्वतैर्द्वारं पिधाय सभयो ययौ ॥१६॥
वाली च भित्त्वा तद्द्वारं निर्गत्य निरवासयत्।
सुग्रीवं राज्यकामोऽत्र मामवध्नादसाविति ॥१७॥
स सुग्रीवः पलाय्यास्मिन्नृष्यमूके कपीश्वरः।
हनुमत्प्रमुखैः सार्धमत्र सानौ पदं व्यधात् ॥१८॥
अथैत्य हेमहरिणव्याजवञ्चितचेतसः।
जहार रामदेवस्य रावणो जनकात्मजाम् ॥१९॥
ततः सीताप्रवृत्त्यर्थी स वालिनिधनार्थिना।
सुग्रीवेण समं सख्यमत्र चक्रे रघूद्वहः ॥२०॥
विभेद च वलज्ञप्त्यै तालान्सप्तात्र पत्रिणा।
एकं येष्वभिनत्कृच्छ्रात्सोऽपि वाली महावलः ॥२१॥
इतो गत्वा च किष्किन्धां हेलामुक्तैकसायकः।
हत्वा तं वालिनं वीरः सुग्रीवे तच्छ्रियं न्यधात् ॥२२॥
अथ सीताप्रवृत्त्यर्थं हनुमत्प्रभृतिष्वितः।
चतुर्दिक्कं प्रयातेषु सुग्रीवस्यानुयायिषु ॥२३॥

सरोवर के तीर पर के वृक्षों से गिरे हुए फलों के साथ, बीच-बीच में मृग का मांस चख-चख कर सरोवर का सुगन्धित तथा पवित्र जल पीते थे ।।१०।।

उस पर्वत-प्रदेश के वन में निवास के समय रामचन्द्र का जो व्यवहार था, उसका अनुकरण करते हुए नरवाहनदत्त (कभी तो) वृक्ष के नीचे और (कभी) कन्दरागृहों के भीतर निवास करते थे ।।११।।

वहाँ पर प्रभावती राम के (निवास-समय के) उन-उन आश्रमों को देखकर मनोविनोद के लिए नरवाहनदत्त को रामायण की कथा सुनाती थी कि ।।१२।।

इस वन में लक्ष्मण तथा सीता-सहित राम तपस्वियों के साथ वृक्ष के नीचे कुटिया बनाकर रहते थे ।।१३।।

अनसूया द्वारा दिये गये अंगराग से वन को सुवासित करती हुई वल्कलधारिणी सीता मुनिपत्नियों के मध्य में यहाँ रहती थी ।।१४।।

इस कन्दरा में पहले बालि के द्वारा दुन्दुभि दैत्य मारा गया, जो बालि और सुग्रीव के बीच शत्रुता का कारण हो गया ।।१५।।

क्योंकि भ्रमवश सुग्रीव ने यह समझा कि दैत्य दुन्दुभि ने मेरे भाई बालि को मार डाला है, अतः सुग्रीव पर्वत-खण्डों से कन्दरा का द्वार बन्द करके भयभीत होकर (वहाँ से) भाग गया ।।१६।।

(इधर) पर्वतों से बन्द उस कन्दरा-द्वार को तोड़-ताड़कर बालि बाहर निकल आया और (उक्त परिस्थिति को नहीं समझते हुए यह समझ बैठा कि) राज्य की इच्छा करते हुए सुग्रीव ने कन्दरा में मुझे बन्द कर छोड़ा था, (अतः) सुग्रीव को (राज्य से) निकाल दिया ।।१७।।

(हे नरवाहनदत्त !) वह कपीश्वर सुग्रीव भागकर इस ऋष्यमूक पर्वत के शिखर पर हनुमान् आदि प्रमुख कपियों के साथ रहने लगा ।।१८।।

एक समय रावण ने आकर कपट से सुवर्णमृग के द्वारा चित्त लुभाकर राम की पत्नी जानकी को हर लिया था ।।१९।।

तब सीता का पता लगाने की इच्छा करते हुए रघुकुल में उत्पन्न राम ने बालि के निधन के इच्छुक सुग्रीव के साथ यहाँ पर मैत्री की थी ।।२०।।

महाबली बालि कठिनता से जिनमें से एक ही ताड़ का भेदन कर सका था, ऐसे सात ताड़ों को एक ही बाण से, सुग्रीव को अपने बल का परिचय दिलाने के लिए, राम ने भेदन कर दिया ।।२१।।

यहाँ से किष्किन्धा जाकर वीर राम ने विना अधिक प्रयास के ही एक बाण छोड़कर बालि को मार डाला और बालि की राज्यलक्ष्मी सुग्रीव को दे दी ।।२२।।

इसके बाद सीता की सुधि लेने के लिए सुग्रीव के अनुयायी हनुमान् आदि चारों ओर निकल गये ।।२३।।

इह रामेण वर्षासु सह मेघैर्विराविभिः।
पतद्धाराश्रुतोयैश्च समदुःखैरिवासितम् ॥२४॥
सम्पातिवचनोत्तीर्णवारिधेश्च हनूमतः।
यत्नात्प्रवृत्तौ ज्ञातायां गत्वा कपिबलैः सह ॥२५॥
वद्ध्वाब्धिं सेतुना तेन हत्वा लङ्केश्वरं रिपुम्।
आनिन्ये जानकी देवी विमानेनामुना पथा ॥२६॥
एवं प्राप्स्यसि कल्याणमार्यपुत्र भवानपि।
आपत्सु धीरान्पुरुषान्स्वयमायान्ति सम्पदः ॥२७॥
इत्यादि कथयन्त्या स प्रभावत्या तया सह।
नरवाहनदत्तोऽत्र क्रीडन्नासीदितस्ततः ॥२८॥
एकदा तं च पम्पायां विद्याधर्याविुभे दिवः।
धनवत्यजिनावत्याववतीर्योपजग्मतुः ॥२९॥
याभ्यां स गन्धर्वपुराच्छ्रावस्तीं प्रापितोऽभवत्।
भगीरथयशा यस्यां तेन सा पर्यणीयत ॥३०॥
प्रभावत्याजिनावत्यां मिलितायां स्वसख्यतः।
नरवाहनदत्तं सा धनवत्येवमब्रवीत् ॥३१॥
एषाजिनावती प्राक्ते वाचा दत्ता सुता मया।
तस्मात्परिणयस्वैनामासन्नोऽभ्युदयो हि ते ॥३२॥
एतद्धनवतीवाक्यं सखीस्नेहात्प्रभावती।
नरवाहनदत्तश्च तथेत्यभिननन्दतुः ॥३३॥
ततो धनवती तस्मै ददौ तामजिनावतीम्।
सा वत्सेश्वरपुत्राय यथार्हविधिना सुताम् ॥३४॥
स्वविद्याकल्पितोदारदिव्यसम्भारसुन्दरम्।
निर्वर्त्तयामास च तत्सा सुतोद्वाहमङ्गलम् ॥३५॥
नरवाहनदत्तं सा तमन्येद्युरथाब्रवीत्।
न पुत्र यत्र तत्रेह स्थातुं युक्तं चिरं तव ॥३६॥
मायी विद्याधरजनो न च कार्यमिहास्ति ते।
तद्गच्छ भार्यायुक्तस्त्वं कौशाम्बीमधुना निजाम् ॥३७॥
अहं च तत्रैवैष्यामि चण्डसिंहेन सूनुना।
सह विद्याधरेन्द्रैश्च स्वकैरभ्युदयाय ते ॥३८॥

इधर वर्षा ऋतु आई, मेघ गरजने लगे तथा आँसू की तरह जलधारा बहाने लगे, उधर मेघ की तरह राम भी (सीता के वियोग में) रोने और जलधारा की तरह अश्रुधारा बहाने लगे, मानों (मेघ और राम) दोनों समान रूप से उस समय दुःखी हो गये हों।।२४।।

इधर सम्पाति के कहने पर और हनुमान् के द्वारा समुद्र पार कर प्रयत्न से सीता की सुधि ज्ञात होने पर वानरी सेनाओं के साथ चलकर राम ने समुद्र में सेतु बाँधा और उस सेतुमार्ग से जाकर (अपने) शत्रु लंकेश्वर रावण को मार डाला तथा इसी ऋष्यमूक-मार्ग से विमान पर देवी जानकी लाई गई थी।।२५-२६।।

हे आर्यपुत्र नरवाहनदत्त! आप भी इसी प्रकार (कभी आगे चलकर) कल्याण प्राप्त करेंगे; (क्योंकि) विपत्ति के समय धैर्य धारण करनेवाले पुरुषों के समीप सम्पत्तियाँ अपने-आप आ जाती हैं।।२७।।

यह सब कहती हुई प्रभावती के साथ नरवाहनदत्त ऋष्यमूक पर्वत पर इधर-उधर घूमते-फिरते रहे।।२८।।

एक समय पम्पा सरोवर के समीप नरवाहनदत्त के निकट धनवती और अजिनावती नाम की (दो) विद्याधरियाँ आकाश से उतरकर आईं।।२९।।

ये वे ही दोनों विद्याधरियाँ थीं, जिन्होंने नरवाहनदत्त को गन्धर्वपुर से श्रावस्तीपुर पहुँचाया था, जहाँ पर भगीरथयशा नाम की कन्या के साथ उनका विवाह हुआ था।।३०।।

(इधर) प्रभावती के साथ मैत्रीभाव से अजिनावती मिलने लगी, (उधर) नरवाहनदत्त से धनवती कहने लगी कि।।३१।।

यह अजिनावती मेरी पुत्री है। (आपके साथ इसका विवाह करने का मैं संकल्प कर चुकी हूँ) यह वाग्दत्ता हो गई है, अतः इसके साथ आप विवाह करें, (मैं जानती हूँ कि) आपका अभ्युदय निकट है।।३२।।

धनवती के इस वचन को मैत्री-स्नेह से प्रभावती और नरवाहनदत्त दोनों ने प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लिया।।३३।।

तब धनवती ने उचित विधि से अपनी पुत्री अजिनावती का विवाह (तत्क्षण) वत्सेश्वर के पुत्र नरवाहनदत्त के साथ करा दिया।।३४।।

धनवती ने अपनी विद्या के प्रभाव से विविध अलौकिक सामग्री से रमणीय पुत्री के विवाहमंगलोत्सव को सम्पन्न किया।।३५।।

इसके बाद एक दिन धनवती ने कहा कि हे पुत्र नरवाहनदत्त! इस स्थान में जहाँ-तहाँ आपका चिरकाल तक रहना ठीक नहीं है।।३६।।

(क्योंकि) विद्याधर मायावी होते हैं, आपको यहाँ कोई कार्य भी नहीं है। अतः, आप अजिनावती के साथ कौशाम्बी चले जायँ।।३७।।

मैं भी अपने पुत्र चण्डसिंह तथा अन्य स्वजन विद्याधरों के साथ आपके अभ्युदय के लिए कौशाम्बी नगरी में ही आ जाऊँगी।।३८।।

एवमुक्त्वा धनवती सज्योत्स्नामिव साह्न्यपि।
सितात्मवस्त्रप्रभया कुर्वाणा दिवमुद्ययौ ॥३९॥
प्रभावत्यजिनावत्यौ प्रापयामासतुश्च तम्।
नरवाहनदत्तं ते कौशाम्बीं नभसा पुरीम् ॥४०॥
सोऽत्र प्राप्तस्तदुद्यानं तस्यां व्योम्नोऽवतारितः।
नरवाहनदत्तोऽभूद्दृष्टः परिजनैर्निजैः ॥४१॥
आगतो राजपुत्रोऽयं दिष्ट्या वर्धामहे वयम्।
इति तत्रोदभून्नादो जनस्याथ समन्ततः ॥४२॥
ततोऽकाण्डसुधासारसंसिक्त इव सोत्सवः।
वत्सराजोऽथ तद्बुदध्वा युक्तो वासवादत्तया ॥४३॥
पद्मावत्या वधूभिश्च द्रुतं रत्नप्रभादिभिः।
यौगन्धरायणाद्याश्च ये वत्सेश्वरमन्त्रिणः ॥४४॥
कलिङ्गसेना स्वे चैव सचिवा गोमुखादायः।
यथार्हं तमुपाजग्मुर्ग्रीष्मे ह्रदमिवाध्वगाः ॥४५॥
ददृशुस्ते च मध्ये तं सुदशार्हकुलं द्वयोः।
पत्न्योः कृष्णमिवासीनं रुक्मिणीसत्यभामयोः ॥४६॥
अङ्गेष्वेव न वर्त्तेरन्फुटत्स्विवति भयादिव।
तेषां तद्दर्शने हर्षवाष्पैः पिदधिरे दृशः ॥४७॥
वत्सराजश्च देव्यौ च चिरादालिङ्ग्य तं सुतम्।
न शेकुर्मोक्तुमङ्गेषु प्रोतं कण्टकितेष्विव ॥४८॥
ततः प्रहततूर्येऽत्र वर्त्तमाने महोत्सवे।
नरवाहनदत्तस्य भार्या वेगवतः सुता ॥४९॥
स्वसा मानसवेगस्य द्युमार्गेणावतीर्य सा।
आगाद्वेगवती बुद्ध्वा सिद्धविद्याप्रभावतः ॥५०॥
पतित्वा पादयोः श्वश्रूश्वशुराणां निजं पतिम्।
नरवाहनदत्तं सा जगाद चरणानता ॥५१॥
त्वत्कृते दुर्बलीभूताः साधयित्वा तपोवने।
विद्या पुनरहं प्राप्ता तव कल्याणिनोऽन्तिकम् ॥५२॥
एवमुक्तवती पत्या तैश्चान्यैरभिनन्दिता।
प्रभावत्यजिनावत्यौ सख्यावुपजगाम सा ॥५३॥

यह कहकर अपने स्वच्छ वस्त्र की प्रभा से दिन में भी आकाश को मानों चाँदनी-से युक्त करती हुई ऊपर उड़ गई।।३९।।

प्रभावती और अजिनावती दोनों ने नरवाहनदत्त को आकाश-मार्ग से कौशाम्बीपुरी पहुँचा दिया।।४०।।

वहाँ आकाश से उतारे जाने पर नरवाहनदत्त उसी उद्यान में पहुँचे और वहीं अपने परिजनों से उनकी भेंट हुई।।४१।।

उन्हें देखते ही चारों ओर जनसमूह कोलाहल करने लगा कि अहो भाग्य! राजपुत्र नरवाहनदत्त आ गये! हम लोग धन्य हैं।।४२।।

इस समाचार के सुनते ही अकस्मात् सुधा की वृष्टि से अभिषिक्त हुए-से वत्सराज उदयन सोल्लास वासवदत्ता, पद्मावती आदि भार्याओं तथा रत्नप्रभा आदि वधुओं तथा यौगन्धरायण आदि मन्त्रियों, कलिंगसेना तथा गोमुख आदि सचिवों को साथ लिये उचित क्रम से (पंक्तिबद्ध होकर) ऐसी उत्कण्ठा से नरवाहनदत्त के समीप पहुँचे, जैसे ग्रीष्म ऋतु में पथिक जलाशय के समीप पहुँचते हैं।।४३—४५।।

रुक्मिणी और सत्यभामा के बीच में बैठे कृष्ण के समान प्रभावती और अजिनावती दोनों पत्नियों के बीच में बैठे आदरयोग्य कुल में उत्पन्न नरवाहनदत्त को उन्होंने देखा।।४६।।

जब उनलोगों ने नरवाहनदत्त को देखा, तब आनन्दाश्रुओं ने उनकी आँखों को मानों इस भय से बन्द कर दिया कि धारावाहिक रूप से देखने पर उतने आनन्द के अंगों में न अँट सकने के कारण वे अंग कहीं फट न जायँ।।४७।।

वत्सराज उदयन और (उनकी) दोनों रानियाँ—वासवदत्ता और पद्मावती—अपने पुत्र नरवाहनदत्त को चिरकाल तक छाती से लगाये रहीं, मानों वे उनके हर्ष से काँटों की भाँति खड़े रोओं में गुँथ गये हों।।४८।।

तब बाजे बजने लगे और महोत्सव होने लगा, कि इसी समय वेगवान् की पुत्री, मानसवेग की बहन और नरवाहनदत्त की पत्नी वेगवती अपनी सिद्ध की हुई विद्या के प्रभाव से सारी बातें जान कर आकाश-मार्ग से उतरकर आई।।४९-५०।।

और उसने अपनी सास और ससुर के चरणों पर गिरकर, फिर अपने पति नरवाहनदत्त के चरणों में झुककर कहा कि—।।५१।।

"हे कल्याणवान्, आपके कार्यों में मेरी जो विद्याएँ दुर्बल हो गई थीं, उन्हें मैं तपोवन में पुनः सिद्ध करके आपके पास आई हूँ" ।।५२।।

वेगवती के ऐसा कहने पर नरवाहनदत्त तथा अन्य लोगों ने भी उसका अभिनन्दन किया (तब) वह अपनी सखी प्रभावती और अजिनावती के निकट गई।।५३।।

ताभ्यामाश्लिष्य सा मध्ये यावदत्रोपवेश्यते।
तावन्माताजिनावत्या आययौ धनवत्यपि ॥५४॥
आजग्मुश्च तया साकं ते ते विद्याधराधिपाः।
आच्छादिताम्बरतलैर्मेघैरिव वलैर्वृताः ॥५५॥
तस्या एव सुतो वीरश्चण्डसिंहो महाभुजः।
तथामितगतिर्नाम तद्बन्धुः सुमहावलः ॥५६॥
स च पिङ्गलगान्धारः प्रभावत्याः पिता बली।
सोऽपि वायुपथः पूर्वप्रतिपन्नः सभापतिः ॥५७॥
स च हेमप्रभः शूरो राजा रत्नप्रभापिता।
वज्रप्रभेण पुत्रेण साकं वलसमन्वितः ॥५८॥
गन्धर्वराजो गन्धर्वदत्तया सुतया युतः।
आगात्सागरदत्तोऽपि सह चित्राङ्गदेन सः ॥५९॥
उपागताश्च ते सम्यग्वत्सराजेन पूजिताः।
सपुत्रेणासनेष्वत्र यथोचितमुपाविशम् ॥६०॥
अथ पिङ्गलगान्धारो राजा जामातरं क्षणात्।
नरवाहनदत्तं तं जगाद सदसि स्थितम् ॥६१॥
त्वं चक्रवर्त्ती सर्वेषामस्माकं देवनिर्मितः।
अतिस्नेहवशात्त्वां च वयं सर्वेऽभ्युपागताः ॥६२॥
इयं धनवती देवी श्वश्रूस्ते नियतव्रता।
दिव्यज्ञानवती साक्षसूत्रा कृष्णाजिनाम्वरा ॥६३॥
रक्षितुं त्वां कृतोद्योगा साक्षाद्भगवती यथा।
सावित्री सिद्धविद्या वा वन्द्या विद्याधरोत्तमैः ॥६४॥
तदस्ति कार्यसिद्धिस्ते किं तु यद्वच्मि तच्छृणु।
इह विद्याधराणां द्वौ वेद्यर्धौ स्तो हिमाचले ॥६५॥
उत्तरो दक्षिणश्चैव नानातच्छृङ्गभूमिगौ।
परतः किल कैलासादुत्तरोऽर्वाक्तु दक्षिणः ॥६६॥
तत्रोत्तराधिपत्यार्थमिदानीं दुश्चरं तपः।
एषोऽमितगतिः कृत्वा शङ्करं पर्यतोषयत् ॥६७॥
नरवाहनदत्तस्ते चक्रवर्त्ती समीहितम्।
करिष्यतीति तेनायमादिष्टस्त्वामुपागतः ॥६८॥

दोनों सखियों ने वेगवती को छाती से लगाकर वहाँ बीच में बैठाया ही था कि अजिनावती की माता धनवती भी वहाँ आ गई ।।५४।।

धनवती के साथ विद्याधरों के राजा भी आये, जिनके सैनिक, बादलों की भाँति आकाश को ढके हुए थे ।।५५।।

उसी धनवती का पुत्र प्रबल बाहुवाला वीर चण्डसिंह आया, अमितगति नाम का उसका एक परम बलवान् सम्बन्धी भी आया ।।५६।।

प्रभावती के पिता बलवान् पिंगलगान्धार आये, पहले जो धर्मसभा के सभापति हुए थे वे वायुपथ भी आये ।।५७।।

रत्नप्रभा के पिता शूर राजा हेमप्रभ भी वज्रप्रभ नाम के अपने पुत्र के सहित तथा सेना से युक्त होकर आये ।।५८।।

अपनी पुत्री गन्धर्वदत्ता तथा चित्रांगद के साथ गन्धर्वों के राजा सागरदत्त भी आये ।।५९।।

अपने यहाँ आये हुए उन सबका पुत्रसहित वत्सराज ने समुचित रूप से आराधन-आतिथ्य किया, और तब वे अपने-अपने योग्य आसनों पर बैठते गये ।।६०।।

इसके तुरत बाद, सभा में बैठे हुए अपने जामाता नरवाहनदत्त से राजा पिंगलगान्धार ने कहा कि—।।६१।।

"ईश्वर ने आपको चक्रवर्त्ती सम्राट् बनाया है। हमलोग आपके परम स्नेह के वशीभूत होकर यहाँ आये हुए हैं ।।६२।।

अखण्ड व्रतवाली, अलौकिक ज्ञानवती, अक्षसूत्र (रुद्राक्ष की माला) धारण करने वाली, कृष्णसार मृग के चर्म का वस्त्र पहननेवाली, साक्षात् भगवती सावित्री के समान यह आपकी सास धनवती, जो सभी विद्याओं को सिद्ध कर चुकी है और श्रेष्ठ विद्याधरों द्वारा पूजनीय है, आपकी रक्षा करने के लिए सतर्क हैं ।।६३-६४।।

इसलिए, आपकी कार्यसिद्धि (सफलता) (अवश्यम्भावी) है; किन्तु (फिर भी) जो कहता हूँ, उसे सुनिए। यहाँ हिमालय पर विद्याधरों की वेदी (राज्यक्षेत्र) के दो अर्धक (भाग) हैं ।।६५।।

ये दोनों भाग हिमालय के नाना शिखरों के ऊपर फैले हुए हैं। इनमें एक दक्षिण भाग है और दूसरा उत्तर भाग। कैलास के उस पार उत्तर भाग अवस्थित है, और कैलास के इस पार दक्षिण भाग है ।।६६।।

इनमें उत्तर भाग पर प्रभुत्व पाने के लिए इस अमितगति ने अभी घोर तपस्या करके शंकर को प्रसन्न किया है ।।६७।।

शंकर ने इसे आदेश दिया है कि चक्रवर्त्ती राजा नरवाहनदत्त तुम्हारी कामना पूरी करेंगे (इसलिए तुम उन्हीं के पास जाओ), इसीलिए शंकर का ऐसा आदेश पाकर वह अमितगति आपके पास आया है ।।६८।।

तत्र मन्दरदेवाख्यो मुख्यो राजास्ति दुर्मति.।
वलवानपि नासाध्य. प्राप्तविद्यस्य सोऽत्र ते ॥६९॥
यस्तु दक्षिणमध्येऽस्ति गौरिमुण्ड इति श्रुतः।
राजा विद्याप्रभावेण स दुष्टात्मातिदुर्जयः ॥७०॥
स च मानसवेगस्य शत्रोस्ते परमः सुहृत्।
यावन्न साधितः सोऽत्र तावत्कार्यं न सिद्ध्यति ॥७१॥
तत्त्वं साधय सोत्कर्षं शीघ्रं विद्यावलं महत्।
इति पिङ्गलगान्धारेणोक्ते धनवती जगौ ॥७२॥
एवं पुत्र यथायं ते राजा वदति तत्तथा।
सिद्धक्षेत्रमतो गत्वा विद्यासिद्ध्यर्थमीश्वरम् ॥७३॥
आराधय प्रकर्षो हि तत्प्रसादं विना कुतः।
मिलिताश्चात्र रक्षन्ति राजानस्त्वाममी इति ॥७४॥
ततश्चित्राङ्गदोऽवादीदेवमेतदहं पुनः।
सर्वेषामग्रयाय्येष विजयः क्रियतामिति ॥७५॥
अथैतदेव निश्चित्य कृत्वा प्रस्थानमङ्गलम्।
पित्रोरुद्वाष्पयोः पादौ गुरूणां च प्रणम्य सः ॥७६॥
दत्ताशीस्तैः समारुह्य भार्याभिः सचिवैस्तथा।
सहामितगतिप्रज्ञाकल्पितां शिविकोत्तमाम् ॥७७॥
नरवाहनदत्तोऽतः प्रतस्थे स्थगयन्नभः।
कल्पान्तपवनोद्धूतसागराम्भोनिभैर्बलैः ॥७८॥
सेनानादप्रतिश्रुद्भिर्दिगन्तेषु द्युचारिणाम्।
आगतश्चक्रवर्त्तीव इति संवादयन्निव ॥७९॥
क्षणात्तैश्च स गन्धर्वपतिविद्याधरेश्वरैः।
धनवत्या च नीतोऽभूत्तं सिद्धक्षेत्रपर्वतम् ॥८०॥
तत्रादिष्टव्रतः सिद्धैः प्रातःस्नायी फलाशनः।
भूमिशायी तपश्चक्रे शङ्कराराधनाय सः ॥८१॥
परिवार्य च तं तस्थु राजानस्ते द्युचारिणाम्।
सर्वतः कृतसंरक्षा दिवानिशमतन्द्रिताः ॥८२॥
विद्याधरकुमार्योऽत्र तपस्यन्तं तमुत्सुकाः।
नेत्रप्रभाभिः संवीतकृष्णाजिनमिव व्यधुः ॥८३॥

उत्तर भाग में मन्दरदेव नाम का प्रधान राजा (राज्य करता) है। वह दुष्ट यद्यपि बलवान् है, तथापि आपके लिए असाध्य नहीं है; क्योंकि आपने (विद्याधरों की) विद्या प्राप्त की है ॥६९॥

किन्तु, दक्षिण (वेदी) के मध्य में जो गौरिमुण्ड नाम का विख्यात राजा है, वह दुष्टात्मा विद्या के प्रभाव से दुर्जेय है ॥७०॥

वह गौरिमुण्ड आपके शत्रु मानसवेग का बड़ा मित्र है। आप जबतक उस गौरिमुण्ड को पराजित न करेंगे, तबतक आपका कार्य सिद्ध न होगा ॥७१॥

इसलिए, आप शीघ्र ही महान् और उत्कृष्ट विद्याबल (तपस्या से) प्राप्त कीजिए। पिंगलगान्धार के ऐसा कहने के बाद, धनवती ने कहा कि—॥७२॥

"हाँ, पुत्र नरवाहनदत्त! राजा पिंगलगान्धार ने जैसा कहा है, वह वैसा ही है। अतः, आप सिद्धक्षेत्र जाकर विद्या की सिद्धि के लिए ईश्वर की आराधना कीजिए; क्योंकि ईश्वर को प्रसन्न किये विना उत्कर्ष (अभ्युदय) कैसे हो सकेगा? यहाँ (विद्याधरों के) ये राजा मिल-जुलकर आपकी रक्षा कर रहे हैं" ॥७३-७४॥

तब चित्रांगद बोले—"यही ठीक है। मैं सबका अगुआ होता हूँ। (तुरन्त) विजय कीजिए ॥७५॥

इसी निश्चय के साथ प्रस्थानकालिक मंगलकर्म पूरे कर, आँसुओं से भरे पिता-माता और गुरुओं के चरणों में प्रणाम कर और उनसे आशीर्वाद लेकर नरवाहनदत्त अपनी पत्नियों और सचिवों के साथ, अमितगति द्वारा लाई हुई पालकी पर सवार हो गये ॥७६-७७॥

जब नरवाहनदत्त ने प्रस्थान किया और अपने सैनिकों से आकाश को आच्छन्न कर दिया, तब ऐसा प्रतीत होता था, जैसे महाप्रलय के समय बहनेवाले पवन ने समुद्र के जल को उछाल दिया हो ॥७८॥

सेनाओं के गर्जन की प्रतिध्वनियों से मानों नरवाहनदत्त दसों दिशाओं में आकाश में चलनेवाल (विद्याधरों) को यह संवाद दे रहे थे कि (विद्याधरों के) चक्रवर्त्ती आ गये ॥७९॥

क्षण-भर में ही गन्धर्वपति पिंगलगान्धार, विद्याधरों के राजाओं तथा धनवती ने उन नरवाहनदत्त को सिद्धक्षेत्र पर्वत पर पहुँचा दिया ॥८०॥

उस सिद्धक्षेत्र पर्वत पर सिद्धों ने जैसा कहा, वैसा व्रत करते हुए नरवाहनदत्त नित्य प्रातःस्नान करते, मिट्टी पर सोते तथा फलाहार करते हुए शंकर को प्रसन्न करने के लिए तपस्या करने लगे ॥८१॥

और, आकाश में विचरण करनेवाले विद्याधरों के राजा रात-दिन विना किसी आलस्य के चारों ओर से रक्षा करते हुए, नरवाहनदत्त को घेरे रहे ॥८२॥

तपस्या करते हुए उस नरवाहनदत्त को उत्सुकता से भरी विद्याधरकुमारियों ने कुछ (इस तरह देखा कि उनकी) आँखों की चमक से वे काला मृगचर्म धारण किये-से लगने लगे ॥८३॥

तच्चिन्तान्तर्मुखैर्नेत्रैः करैश्चौरः स्थलार्पितैः।
आदर्शयन्निवान्यास्तं प्रविष्टं हृदि तत्क्षणम् ॥८४॥

पञ्चापराश्च दृष्ट्वा तं सद्विद्याधरकन्यकाः।
मदनानलसन्तप्ताश्चक्रिरे समयं मिथः ॥८५॥

अयं पञ्चभिरस्माभिः सखीभिर्युगपत्पतिः।
वरणीयो विवाहश्च तद्वत्कार्यो न भेदतः ॥८६॥

एका यदि पृथक्कुर्याद्विवाहममुना ततः।
प्रवेष्टव्योऽग्निरन्याभिस्तामुद्दिश्य सखीद्रुहम् ॥८७॥

इति दिव्यासु कन्यासु क्षुभ्यतीषु विभाव्य तम्।
तत्राकस्मान्महोत्पाताः प्रादुरासंस्तपोवने ॥८८॥

ववौ वायुर्महारौद्रो भद्रानुन्मूलयन्द्रुमान्।
एवं शूराः पतिष्यन्ति रणेऽत्रेति वदन्निव ॥८९॥

किमत्र स्यादिति भयादिव भूमिरकम्पत।
भीतावकाशदानार्थमिवादीर्यन्त सानवः ॥९०॥

विद्याधराः प्रभुं यत्नादमुं रक्षत रक्षत।
इत्याब्रवीदिवानभ्रं घोरशब्दं नभस्तलम् ॥९१॥

नरवाहनदत्तश्च सोऽस्मिन्नुत्पातसम्भ्रमे।
ध्यायन्निष्कम्प एवासीद्भगवन्तं त्रिलोचनम् ॥९२॥

सन्नद्धास्ते च गन्धर्वराजविद्याधरेश्वराः।
अनिष्टाशङ्किनो वीरास्तं रक्षन्तोऽवतस्थिरे ॥९३॥

मुमुचुः सिंहनादांश्च व्याधूतासिलतावनाः।
भर्त्सयन्त इवोत्पातानहितागमशंसिनः ॥९४॥

ततोऽन्येद्युरकस्माच्च कल्पान्ताम्बुदमेदुरम्।
विद्याधरवलं व्योम्नि घोरनादमदृश्यत ॥९५॥

सोऽयं मानसवेगेन गौरिमुण्डः सहागतः।
इत्युवाच स्मरन्ती स्वां विद्यां धनवती तदा ॥९६॥
ततो विद्याधरेन्द्रांस्तान्सगन्धर्वानुदायुधान्।
समं मानसवेगेन गौरिमुण्डोऽभ्यधावत ॥९७॥

कुछ अन्य विद्याधर-कन्याएँ उन नरवाहनदत्त के ध्यान में अपनी आँखों को (इस तरह) अन्तर्मुख किये तथा अपने हृदयों पर हाथ रखे हुई थीं, मानों वे कन्याएँ दिखला रही हों कि उनके हृदय **में** नरवाहनदत्त अभी-अभी घुस गये हैं ॥८४॥

तथा पाँच अन्य विद्याधर-कन्याएँ उनको देखकर कामाग्नि (की ज्वाला) से सन्तप्त हो कर आपस में करार कर रही थीं कि—॥८५॥

हम पाँचों सखियाँ भेद-भाव भुलाकर इन्हें एक साथ अपने पति चुन लें और एक साथ ही विवाह भी कर लें ॥८६॥

यदि इन पाँचों में से कोई एक अलग होकर इनके साथ विवाह करेगी, तो सखियों से द्रोह करनेवाली उस सखी के नाम पर अन्य सभी सखियाँ आग में जल मरेंगी ॥८७॥

इस तरह आकाशचारिणी कन्याएँ ऐसा सोचकर क्षोभ कर ही रही थीं कि वहाँ उस तपोवन में बहुत बड़े-बड़े उत्पात-अपशकुन होने लगे ॥८८॥

सुन्दर-सुन्दर पेड़ों को उखाड़ते हुए महाप्रचण्ड वायु बहने लगी, मानों कह रही हो कि यहाँ लड़ाई में इसी तरह शूर-वीर गिरेंगे ॥८९॥

भूमि काँपने लगी, मानों डर गई हो कि यहाँ क्या होनेवाला है। पर्वत के शिखर फटने लगे, मानों भयभीतों को ठहरने की जगह देना चाह रहे हों ॥९०॥

बादल न रहने पर भी गगनतल में घोर शब्द होने लगा, मानों कह रहा हो—हे विद्याधरो! आप अपने सम्राट् नरवाहनदत्त की यत्नपूर्वक रक्षा करें, रक्षा करें ॥९१॥

नरवाहनदत्त इस उत्पात की हलचल में भी भगवान् शंकर का ध्यान करते हुए अटल ही रहे ॥९२॥

गन्धर्वराज और विद्याधरराज अनिष्ट की आशंका से युक्त होकर उन नरवाहनदत्त की रक्षा करते हुए (अस्त्र-शस्त्रों से) सुसज्जित हो तैनात हो गये ॥९३॥

और, तलवार-रूपी वन को झकझोरते हुए सिंहनाद करने लगे, मानों अमंगल के आगमन को सूचित करनेवाले उन उत्पातों को फटकार रहे हों ॥९४॥

उसके अगले दिन अचानक आकाश में महाप्रलय-काल के मेघ की भाँति सघन विद्याधरों की सेना भयंकर शब्द करती हुई देखी गई ॥९५॥

तब धनवती ने अपनी विद्या का स्मरण कर कहा कि मानसवेग के साथ वही गौरिमुण्ड आया है ॥९६॥

तब अस्त्र लेकर उद्यत गन्धर्व-सहित विद्याधरों के राजाओं की ओर गौरिमुण्ड मानसवेग के साथ दौड़ा (और बोला कि)—॥९७॥

क्व मानुषोऽयं क्व वयं तदेतत्पक्षपातिनाम्।
दर्पं वः शमयाम्यद्य द्युचरा इति वादिनम् ॥९८॥
चित्राङ्गदोऽथ तं क्रोधाद्धावन्प्रत्यभियुक्तवान्।
राजा सागरदत्तश्च गन्धर्वाणामधीश्वरः ॥९९॥
चण्डसिंहामितगती राजा वायुपथस्तथा।
किं च पिङ्गलगान्धारः सर्वे विद्याधरेश्वराः ॥१००॥
पापं मानसवेगं तमभ्यधावन्महारथाः।
सिंहा इवाभिगर्जन्तः सेनासमुदयान्विताः ॥१०१॥
सैन्यरेणुघनाकीर्णं शस्त्रज्वालातडिल्लतम्।
पतद्रक्ताम्बु तदभूद्घोरं समरदुर्दिनम् ॥१०२॥
शोणितासवसम्पूर्णं कीर्णशत्रुशिरोवलिम्।
चक्रुर्भूतमहायागमिव चित्राङ्गदादयः ॥१०३॥
कवन्धग्राहसङ्कीर्णा वहदायुधपन्नगाः।
प्रावर्त्तन्त मिलन्मेदोडिण्डीरा रुधिरापगाः ॥१०४॥
हतसैन्यो वधप्राप्तो गौरिमुण्डस्ततश्च सः।
पूर्वाराधितसुप्रीतां गौरीविद्यां समस्मरत् ॥१०५॥
आविर्भूय च सा साक्षात्त्रिनेत्रा त्रिशिखायुधा।
नरवाहनदत्तीयान्प्रवीरांस्तानमोहयत् ॥१०६॥
ततो लब्धवलो वाहुयुद्धायाभ्यपतन्नदन्।
नरवाहनदत्तं तं गौरिमुण्डः प्रधाव्य सः ॥१०७॥
तद्वाहुयुद्धविद्धश्च मायी सस्मार तां पुनः।
सद्विद्यां तद्वलात्तं च वाह्वोरादाय खं ययौ ॥१०८॥
हन्तुं धनवतीविद्यावलात्तं तु स नाशकत्।
गौरिमुण्डो नृपसुतं चिक्षेप त्वग्निपर्वते ॥१०९॥
सोऽपि मानसवेगस्तांस्तत्सखीन्गोमुखादिकान्।
गृहीत्वोत्पत्य गगनं दिक्षु प्रास्थदनास्थया ॥११०॥
उत्क्षिप्तास्ते च रक्षित्वा धनवत्या प्रयुक्तया।
रूपिण्या विद्यया भिन्नाः स्थाप्यन्ते स्म महीतले ॥१११॥

'हे आकाश में विचरण करनेवाले विद्याधरो ! कहाँ यह मनुष्य (नरवाहनदत्त) और कहाँ हमलोग ? अतः (अपनी जाति को छोड़ मनुष्य के प्रति) पक्षपात करनेवाले तुमलोगों का अभिमान (अभी) मैं चूर करता हूँ'—इस प्रकार कहते हुए उस मानसवेग के ऊपर चित्रांगद क्रोध से दौड़ते हुए टूट पड़े। गन्धर्वों के राजा सागरदत्त, चण्डसिंह, अमितगति, राजा वायुपथ, पिंगलगान्धार तथा विद्याधरों के राजा ये सभी महारथी सेना-समुदाय से युक्त होकर सिंह की भाँति गरजते हुए उस पापी मानसवेग के ऊपर टूट पड़े ॥९८–१०१॥

चित्रांगद आदि वीरों ने ऐसा युद्ध किया, जिसमें सैनिकों के चलने से उड़ी धूल मेघ की भाँति फैल गई, शस्त्रास्त्र बिजली की भाँति चमकने लगे, (युद्ध में कटे सैनिकों का) रक्त पानी-जैसा बरसने लगा—(इन सबों से) वह युद्ध दुर्दिन (बरसात के दिन) की भाँति लगता था; तथा (ऐसा लगता था) मानों युद्ध के रूप में उन्होंने भूतमहायज्ञ (ऐसा महायज्ञ, जिसमें बहुत-से प्राणी मारे जाते हैं) किया हो, जो शोणित-रूपी आसव (मदिरा) से परिपूर्ण था, तथा जिसमें शत्रु के मुण्ड ही बलि के रूप में बिखरे हुए थे ॥१०२–१०३॥

(उस युद्ध में मानों) रक्त की नदियाँ बहने लगीं, जिनमें कबन्धों के मगर थे। बहते हुए अस्त्र-शस्त्र ही सर्प थे ॥१०४॥

जब गौरिमुण्ड की सेनाएँ मर गईं और वह (स्वयं भी) मृतप्राय हो गया, तब उस गौरिमुण्ड ने उस गौरी-विद्या का स्मरण किया, जिसे उसने पहले आराधना करके अच्छी तरह प्रसन्न कर लिया था ॥१०५॥

और तीन आँखोंवाली, त्रिशूलधारिणी गौरी देवी ने साक्षात् प्रकट होकर नरवाहनदत्त के पक्ष के प्रकृष्ट वीरों को मूर्च्छित कर दिया ॥१०६॥

इसके बाद गौरिमुण्ड पुनः शक्ति प्राप्त कर बाहुयुद्ध के लिए गरजता हुआ दौड़ा और नरवाहनदत्त के ऊपर टूट पड़ा ॥१०७॥

(तब) नरवाहनदत्त के साथ बाहुयुद्ध में घायल होकर मायावी गौरिमुण्ड ने पुनः उक्त गौरी-विद्या का स्मरण किया और उस विद्या के बल से उसने नरवाहनदत्त की दोनों बाँहें बलपूर्वक पकड़कर उन्हें आकाश में ले गया ॥१०८॥

किन्तु, धनवती की विद्या के प्रभाव से वह गौरिमुण्ड नरवाहनदत्त को मार नहीं सका, (फिर भी) राजा के पुत्र को अग्नि-पर्वत पर फेंक दिया ॥१०९॥

और, मानसवेग भी नरवाहनदत्त के गोमुख आदि सचिवों को पकड़ कर आकाश में उड़ गया और (उन्हें) अवहेलना के साथ विभिन्न दिशाओं में फेंक दिया ॥११०॥

(इस भाँति) फेंके गये वे सचिव धनवती द्वारा प्रयुक्त विद्या के बल से रक्षित होकर धरती पर अलग-अलग रख दिये गये ॥१११॥

सिद्धकार्यं कुशलिनं शीघ्रं प्राप्स्यथ तं प्रभुम्।
इत्याश्वास्यैकशस्तान्सा विद्या तेषां तिरोदधे ॥११२॥
ततो विजितमस्माभिरिति मत्वा यथागतम्।
सह मानसवेगेन गौरिमुण्डो ययौ गृहान् ॥११३॥
नरवाहनदत्तो वः सिद्धकार्यः समेष्यति।
न तस्यानिष्टमस्तीति धनवत्याभ्युदीरिते ॥११४॥
तेऽप्यस्तमोहा गन्धर्वनाथ विद्याधरेश्वराः।
चित्राङ्गदादयः स्वानि जग्मुः स्थानानि सम्प्रति ॥११५॥
सापि तत्र सपत्नीभिः सहितामजिनावतीम्।
स्वसुतां तां गृहीत्वा स्वं ययौ धनवती गृहम् ॥११६॥
सोऽपि मानसवेगस्तां गत्वा मदनमञ्चुकाम्।
उवाच स हतो भर्त्ता तव तद्भज मामिति ॥११७॥
स वो हन्ता न तं हन्यात्कश्चिद्दैवविनिर्मितम्।
इति सा तत्पुरस्थापि हसन्ती प्रत्युवाच तम् ॥११८॥
नरवाहनदत्तं च तद्द्विषा वह्निपर्वते।
क्षिप्यमाणं तदागत्य दिव्यः कोऽप्यग्रहीत्पुमान् ॥११९॥
निनाय चाशु रक्षित्वा शीतं मन्दाकिनीतटम्।
को भवानिति पृष्टश्च तेनाश्वास्य जगाद तम् ॥१२०॥
अमृतप्रभनामाहं देव विद्याधराधिपः।
प्रेषितश्च हरेणाहं रक्षार्थं भवतोऽधुना ॥१२१॥
अयं च तन्निवासोऽद्रिः कैलासस्ते स्थितोऽग्रतः।
अत्राराध्य शिवं श्रेयो निर्विघ्नं त्वमवाप्स्यसि ॥१२२॥
तदेह्यत्र नयामि त्वामित्युक्त्वा तत्र तत्क्षणात्।
प्रापय्यामन्त्र्य च ययौ सोऽथ विद्याधरोत्तमः ॥१२३॥
नरवाहनदत्तोऽपि कैलासं समवाप्य सः।
तपसा तोषयामास तत्राग्रस्थं विनायकम् ॥१२४॥
तेन दत्ताभ्यनुज्ञश्च प्रविश्य गिरिजापतेः।
आश्रमं नियमक्षामो ददर्श द्वारि नन्दिनम् ॥१२५॥
कृतप्रदक्षिणं चैतं स नन्दी सदयोऽब्रवीत्।
प्रायः सिद्धोऽसि विघ्ना हि प्रशान्तास्ते तवाधुना ॥१२६॥

वह विद्या उन सचिवों को एक-एक करके यह आश्वासन दे-देकर अन्तर्हित हो गई कि आपलोग कार्य में सफलता पायें तथा सकुशल अपने प्रभु नरवाहनदत्त को शीघ्र प्राप्त करेंगे ॥११२॥

तब गौरिमुण्ड ऐसा समझकर कि हम लोगों की जीत हुई, मानसवेग के साथ जैसे आया था, वैसे ही अपने घर चला गया ॥११३॥

(इसके बाद) धनवती ने कहा कि आपलोगों के (प्रभु) नरवाहनदत्त अपना कार्य पूरा करके आ जायेंगे, उनका अनिष्ट नहीं हो सकता ॥११४॥

यह सुनकर वे गन्धर्वराज और विद्याधरराज चित्रांगद आदि मूर्च्छा से मुक्त होकर तत्काल अपने-अपने स्थान को चले गये ॥११५॥

और, धनवती भी सौतों के साथ पुत्री अजिनावती को लेकर अपने घर चली गई ॥११६॥

(इधर) मानसवेग मदनमंचुका के पास जाकर बोला कि (हे प्रिये!) तुम्हारा पति नरवाहनदत्त मारा गया, इसलिए (अब) मुझे ग्रहण करो ॥११७॥

उस मानसवेग के सम्मुख ही मदनमंचुका ने हँसकर उत्तर दिया—(अरे मूढ!) नरवाहनदत्त तुम लोगों को मारेंगे, उन्हें मारनेवाला कोई नहीं है; क्योंकि उन्हें भगवान् शंकर ने बनाया है ॥११८॥

(उधर) अपने शत्रु के द्वारा अग्निपर्वत पर फेंके जाते हुए नरवाहनदत्त को कोई दिव्य पुरुष पकड़कर उन्हें सकुशल गंगा के शीतल तट पर ले गया, और आप कौन हैं, ऐसा पूछे जाने पर बोला कि—॥११९-१२०॥

"हे देव! मैं अमृतप्रभ नाम का विद्याधरराज हूँ, और अभी शंकर ने मुझे आपकी रक्षा के लिए भेजा है ॥१२१॥

यही उनके निवास का पर्वत कैलास आपके सामने है। यहाँपर आप शिव की आराधना कीजिए। आप (किसी) विघ्न के विना (ही) कल्याण प्राप्त करेंगे" ॥१२२-२३॥

नरवाहनदत्त ने भी उस पर्वत पर पहुँचकर पहले सम्मुख स्थित गणेशजी को अपनी तपस्या से प्रसन्न किया ॥१२४॥

(तपस्या के) संयम-नियम से दुर्बलशरीर नरवाहनदत्त ने गणेशजी से अनुमति प्राप्त करके गिरिजापति शंकर के आश्रम में प्रवेश किया और वहाँ द्वार पर नन्दी को देखा ॥१२५॥

नरवाहनदत्त ने नन्दी को (प्रणाम करके) प्रदक्षिणा की, तब नन्दी दयावान् होकर बोले कि हे नरवाहनदत्त! अब तुम सिद्धि के निकट पहुँच गये हो, तुम्हारे विघ्न शान्त (समाप्त) हो गये हैं ॥१२६॥

तदिहस्थस्तपस्य त्वं भगवत्तोषणावधि।
दुरितघ्नतपः शुद्धिसव्यपेक्षा हि सिद्धयः॥१२७॥

इत्युक्ते नन्दिना ध्यायन्देवं देवीं च पार्वतीम्।
नरवाहनदत्तोऽग्रं तपस्तेपेऽनिलाशनः॥१२८॥

तपस्तुष्टश्च भगवान्स दत्त्वा दर्शनं शिवः।
देव्या गिरिजया सार्धमेव प्रह्वं तमादिशत्॥१२९॥

विद्याधराणां सर्वेषां चक्रवर्त्ती भवाधुना।
सर्वाः सर्वातिशायिन्यो विद्याः प्रादुर्भवन्तु ते॥१३०॥

अस्मत्प्रभावाच्छत्रूणामविजेयो भविष्यसि।
अच्छेद्यश्चाप्यभेद्यश्च हनिष्यस्यखिलान्रिपून्॥१३१॥

दृष्टे त्वयि न विद्याश्च प्रभविष्यन्ति ते द्विषाम्।
तद्गच्छ गौरीविद्यापि त्वदायत्ता भविष्यति॥१३२॥

इति गौर्या समं दत्त्वा वरं तस्मै ददौ हरः।
चक्रवर्त्तिमहापद्मविमानं ब्रह्मनिर्मितम्॥१३३॥

ततस्तस्याविरासंस्ता विद्याः सर्वाः सविग्रहाः।
किमादिशसि यत्कुर्म इत्याज्ञासाधनोत्सुकाः॥१३४॥

इति नरवाहनदत्तः सिद्धवरौघः प्रणम्य परमेशौ।
अधिरुह्य तच्च दिव्यं पद्मविमानं तदभ्यनुज्ञातः॥१३५॥

प्रथमं तावदयासीदमितगतेस्तस्य वक्रपुरसंज्ञम्।
पुरमावेदितमार्गो विद्याभिः सिद्धचारणोद्गीतः॥१३६॥

सोऽप्यारूढविमानं व्योम्ना प्राप्तं विलोक्य तं दूरात्।
अमितगतिः समुपेत्य स्वगृहं प्रावेशयत्कृतप्रणतिः॥१३७॥

प्रददौ च तत्र वर्णितनिजसिद्धिप्राप्तये मुदा तस्मै।
नरवाहनदत्ताय स सुलोचनाख्यामुपायनं स्वसुताम्॥१३८॥

सोऽत्र तया सह विद्याधरलक्ष्म्येवाप्तया तदाऽपरया।
नयति स्म चक्रवर्त्ती ततोत्सवं प्रीतिमांस्तदहः॥१३९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे पञ्चलम्बके तृतीयस्तरङ्गः।

अतः, तुम यहाँ रहकर तबतक तपस्या करते रहो, जबतक भगवान् शंकर प्रसन्न न हो जायँ। क्योंकि, सिद्धि प्राप्त करने में पापों को नष्ट करनेवाली तपस्या के द्वारा शुद्धि प्राप्त करना अपेक्षित होता है॥१२७॥

नन्दी के ऐसा कहने पर नरवाहनदत्त देव शंकर और देवी पार्वती का ध्यान करते हुए, केवल वायुमात्र आहार करते हुए आगे भी तपस्या करने लगे॥१२८॥

तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवान् शिव ने देवी गिरिजा-सहित अपना दर्शन देकर चरणों पर झुके हुए नरबाहनदत्त को वरदान दिया कि॥१२९॥

"तुम अभी सभी विद्याधरों के चक्रवर्ती होओ। तुममें सबसे अधिक प्रभावशाली, सभी विद्याएँ आविर्भूत हों।१३०।

तुम हमारे प्रभाव से सभी शत्रुओं के लिए अजेय, अच्छेद्य और अभेद्य होगे (अर्थात्, कोई भी शत्रु तुम्हें न जीत सकेगा, न काट सकेगा और न तीर चुभो सकेगा), और तुम उन्हें मार डालोगे॥१३१॥

तुम्हें देखते ही तुम्हारे शत्रुओं की विद्याएँ प्रभावहीन हो जायेंगी। इसलिए (अब) तुम जाओ। गौरी नामक विद्या भी तुम्हारे अधीन हो जायगी॥१३२॥

गौरी-सहित शंकर ने इस प्रकार वर देकर उन्हें ब्रह्मा द्वारा बनाया हुआ, चक्रवर्ती के उपयुक्त महापद्मविमान (कमल के फूल के आकार का बड़ा विमान) भी दिया॥१३३॥

तब उन नरवाहनदत्त के सामने वे सभी विद्याएँ साकार होकर प्रकट हो गईं और आप क्या आज्ञा देते हैं, जो हम लोग करें—ऐसा कहती हुई उनकी आज्ञा के पालन के लिए उत्सुक हो गईं॥१३४॥

इस प्रकार, सिद्धों में परम श्रेष्ठ नरवाहनदत्त शंकर और पार्वती को प्रणाम करके और उन दोनों से विदा लेकर उस अलौकिक पद्मविमान पर चढ़े॥१३५॥

नरवाहनदत्त पहले उस अमितगति की वक्रपुर नामक नगरी गये, जहाँ का मार्ग उन्हें उनकी विद्याओं ने बताया, और विद्याधर-जाति के चारण उनका गुणगान कर रहे थे॥१३६॥

विमान पर चढ़े आकाश-मार्ग से आये हुए उन नरवाहनदत्त को दूर से ही देखकर अमितगति उनके पास गया और उनको प्रणाम करके उन्हें अपने घर ले आया॥१३७॥

नरवाहनदत्त ने (वहाँ) अपनी सिद्धि की प्राप्ति (की कथा) का वर्णन किया, तब अमितगति ने खुशी से नरवाहनदत्त को सुलोचना नामकी अपनी पुत्री भेंट की॥१३८॥

यहाँ चक्रवर्ती नरवाहनदत्त ने विद्याधरों की राज्यलक्ष्मी के समान प्राप्त हुई उस अतिरिक्त पत्नी सुलोचना के साथ, उत्सव से भरे उस दिन को प्रमोदपूर्वक बिताया॥१३९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के पंचलम्बक का तृतीय तरंग समाप्त हुआ।

चतुर्थस्तरङ्गः

ततो वक्रपुरे तत्र स्थितमास्थानवर्त्तिनम्।
नरवाहनदत्तं तं नूतनं चक्रवर्त्तिनम्॥१॥
अन्येद्युरवतीर्यैव वेत्रहस्तो नभस्तलात्।
उपगम्य पुमानेकः प्रणम्यैवं व्यजिज्ञपत्॥२॥
चक्रवर्त्तिप्रतीहारं विद्धि देव क्रमागतम्।
मां पौररुचिदेवाख्यं स्वसेवार्थमुपागतम्॥३॥
तच्छ्रुत्वा सोऽमितगतेर्मुखमैक्षत तेन च।
सत्यं देवेति विज्ञप्तः क्षत्तृत्वेऽभिननन्द तम्॥४॥
अथ प्रभावतो बुद्ध्वा वेगवत्यादिभिः सह।
तत्पत्नीभिर्धनवती चण्डसिंहश्च तत्सुतः॥५॥
तथा पिङ्गलगान्धारो राजा वायुपथान्वितः।
समं सागरदत्तेन तत्र चित्राङ्गदश्च सः॥६॥
आययुः सैन्यरुद्धार्काः सह हेमप्रभादिभिः।
परतेजोऽसहिष्णुत्वं सूचयन्त इहाग्रतः॥७॥
उपेत्य पादयोस्तस्य निपेतुश्चक्रवर्त्तिनः।
सोऽपि सम्मानयामास यथार्हं स्वागतेन तान्॥८॥
धनवत्यास्तु चरणौ गौरवात्प्रणनाम सः।
सापि जामातरं प्रीता तमाशीर्भिरवर्धयत्॥९॥
उक्तात्मसिद्धिवृत्तान्तास्तेन ते प्रभुणा ततः।
चण्डसिंहादयः सर्वे प्रमोदं सुतरां दधुः॥१०॥
पार्श्वोपयाताः पत्नीश्च दृष्ट्वा धनवतीं तदा।
चक्रवर्त्ती स पप्रच्छ क्व ते मे सचिवा इति॥११॥
क्षिप्ता मानसवेगेन रक्षित्वा स्थापिता मया।
विद्यामुखेन ते भिन्ना इति सा प्रत्युवाच तम्॥१२॥
ततश्चानाययत्तान्स विद्यामादिश्य रूपिणीम्।
आगतान्पृष्ठकुशलान्पादलग्ना जगाद च॥१३॥
इयन्तो दिवसाः केन कथं कुत्रातिवाहिताः।
इत्येककेन युष्माभिश्चित्रं मे कथ्यतामिति॥१४॥

चतुर्थ तरंग

अनन्तर, एक दिन वक्रपुर में नये चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त सभा-भवन में बैठे थे कि हाथ में बेंत लिए एक पुरुष आकाश से उतरकर उनके पास आया और प्रणाम करके निवेदन किया कि—॥१-२॥

"आप मुझे चक्रवर्त्तियों का, परम्परा से चला आया हुआ द्वारपाल समझें, मेरा नाम पौररुचिदेव है, और मैं आपकी सेवा के लिए आया हूँ" ॥३॥

यह सुनकर नरवाहनदत्त अमितगति के मुँह की ओर देखने लगे और अमितगति के यह कहने पर कि हे देव ! इस पुरुष ने सत्य कहा है, उसे द्वारपाल बनाकर सम्मानित किया ॥४॥

इसके बाद (अपनी विद्या) के प्रभाव से यह समझकर (कि नरवाहनदत्त वक्रपुर में हैं) वेगवती आदि नरवाहनदत्त की पत्नियों के साथ धनवती वहाँ आई (तथा) उनके पुत्र चण्डसिंह, वायुपथ-सहित राजा पिंगलगान्धार और सागरदत्त-सहित चित्रांगद भी हेमप्रभादि के साथ वहाँ आ गये, जिनके सैनिकों ने (आकाश छाकर) सूर्य को ढक लिया था और (इससे) वे मानों यह सूचित करते थे कि वे किसी दूसरे के तेज को सहन नहीं कर सकते हैं ॥५-७॥

उन सबने पास जाकर उन चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त के चरणों में प्रणाम किया और नरवाहनदत्त ने भी उनका यथायोग्य स्वागत किया ॥८॥

धनवती के चरणों में उन्होंने आदर के साथ प्रणाम किया और धनवती ने भी प्रसन्नता-पूर्वक अपने जमाई की आशीर्वादों से अभिवर्द्धना की ॥९॥

चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने अपनी सिद्धिप्राप्ति की कहानी कह सुनाई, और वह सुनकर के चण्डसिंह आदि ने अत्यन्त आनन्द प्राप्त किया ॥१०॥

तब पास पहुँची पत्नियों, तथा धनवती को देखकर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने पूछा कि हमारे वे मन्त्रीगण कहाँ हैं ॥११॥

धनवती ने उत्तर दिया कि मानसवेग द्वारा फेंके गये उन मन्त्रियों को मैंने (अपनी) प्रमुख विद्या के सहारे सुरक्षित करके भिन्न-भिन्न स्थानों में रख दिया है ॥१२॥

तब नरवाहनदत्त ने अपनी साकार विद्या को आदेश देकर उन मन्त्रियों को अपने पास बुलवा लिया। वे आये, चरणों से लिपट गये, तब कुशल पूछते हुए राजा ने कहा कि— ॥१३॥

"बताइए तो सही, इतने दिन आप लोगों में से किसने, कहाँ और कैसे बिताये ?" ॥१४॥

ततोऽवादीत्स्ववृत्तान्तमादावेवं स गोमुखः।
द्विषा क्षिप्तं तदा कापि देवी मां हस्तयोरधात्॥१५॥

अश्वास्य दूरेऽरण्ये च स्थापयित्वा तिरोदधे।
ततोऽहं दुःखितो देहं त्यक्तुमैच्छं प्रपाततः॥१६॥

मैवं गोमुख सिद्धार्थं पुनर्द्रक्ष्यसि तं प्रभुम्।
इति मां तापसस्तावत्कोऽप्युपेत्य न्यवारयत्॥१७॥

कस्त्वं कथं च वेत्स्येतदित्युक्तश्च मया ततः।
एह्याश्रमं मे वक्ष्यामि तत्रैतदिति सोऽब्रवीत्॥१८॥

ततो मन्नामविज्ञानसूचितज्ञानसम्पदा।
अहं तेन सहागच्छं शिवक्षेत्रं तदाश्रमम्॥१९॥

तत्र मे स कृतातिथ्यः कथां स्वामेवमभ्यधात्।
नागस्वामीति नामाहं कुण्डिनाख्यात्पुरद्विजः॥२०॥

पितरि स्वर्गते सोऽहं गत्वा पाटलिपुत्रकम्।
जयदत्तमुपाध्यायं विद्याहेतोरुपासदम्॥२१॥

शिक्ष्यमाणोऽपि जाड्येन न यदाक्षरमप्यहम्।
अविदं तेन मां तत्र च्छात्राः सर्वेऽप्युपाहसन्॥२२॥

ततोऽवमानग्रस्तोऽहं प्रस्थितो विन्ध्यवासिनीम्।
द्रष्टुमर्धपथे प्रापं पुरं वक्रोलकाभिधम्॥२३॥

तत्र मह्यं प्रविष्टाय भिक्षार्थं गृहिणी गृहात्।
एकस्माद्रक्तकमलं प्रददौ भिक्षया सह॥२४॥

तद्गृहीत्वापरं गेहं प्राप्तं मां वीक्ष्य चाब्रवीत्।
तत्रत्या गेहिनी हा धिग्योगिन्या स्वीकृतो भवान्॥२५॥

पश्य दत्तो नृहस्तस्ते रक्ताब्जव्याजतोऽनया।
तच्छ्रुत्वा यावदीक्षेऽहं तावत्पाणिः स नाम्बुजम्॥२६॥

तत्त्यक्त्वाथ पतित्वास्याः पादयोरहमब्रवम्।
मातः कुरुष्वोपायं मे यथा जीवाम्यहं तथा॥२७॥

तच्छ्रुत्वा मामवादीत्सा गच्छेतो योजनत्रये।
देवरक्षित इत्यस्ति ग्रामे करभके द्विजः॥२८॥

तब सबसे पहले मन्त्री गोमुख ने अपना वृत्तान्त इस प्रकार कहा कि ज्योंही मुझे शत्रु ने हवा में उछाला कि किसी देवी ने बढ़कर अपने हाथों में थाम लिया ॥१५॥

और मुझे आश्वासन देकर, दूर के एक जंगल में रखकर (स्वयं) अन्तर्हित हो गई। तब मैं दुःखाकुल हो उठा और पर्वत के प्रपात से लुढ़ककर देह को त्याग देना चाहा ॥१६॥

इतने ही में कोई तपस्वी मेरे पास आया और इस प्रकार (कहते हुए) मुझे (आत्म-हत्या करने से) रोका कि—'हे गोमुख ! ऐसा मत करो। तुम सिद्धि प्राप्त किये हुए अपने प्रभु नरवाहनदत्त से फिर मिलोगे' ॥१७॥

जब मैंने पूछा कि आप कौन हैं और यह भी कि मेरा नाम कैसे जानते हैं, तब उस संन्यासी ने कहा कि 'मेरे आश्रम में चलो' वहीं मैं यह (सब) कहूँगा, ॥१८॥

उसने (बिना बताये ही) मेरा नाम जो जान गया, उसी से उस (तपस्वी) ने अपनी (अद्भुत) ज्ञान की सिद्धि सूचित कर दी, तब मैं उस तपस्वी के साथ शिवक्षेत्र में उसके आश्रम पर गया ॥१९॥

तब उस तपस्वी ने मेरा आतिथ्य करके इस प्रकार अपनी कहानी कह सुनाई—'मैं नागस्वामी नाम का ब्राह्मण हूँ। पिता के स्वर्गवासी होने पर मैं कुण्डिन नाम के अपने नगर से पाटलिपुत्र जाकर विद्याप्राप्ति के निमित्त जयदत्त नाम के उपाध्याय के निकट पहुँचा ॥२०-२१॥

जब सीखते रहने पर भी मैं मन्दबुद्धि होने के कारण एक अक्षर भी नहीं समझ सका, तब वहाँ मेरी मूर्खता पर सभी छात्र मेरा उपहास करने लगे ॥२२॥

इस उपहास से पीडित होकर मैं विन्ध्यवासिनी भगवती दुर्गा का दर्शन करने के लिए निकल पड़ा और आधी दूर जाने पर वक्रोलक नाम के एक गाँव में पहुँच गया ॥२३॥

वहाँ एक घर में मैं भिक्षा माँगने गया, तो घर की स्वामिनी ने एक घर से भिक्षा के साथ लाल कमल का एक फूल भी (लाकर) दे दिया ॥२४॥

उसे लेकर जब मैं दूसरे घर गया, तो वहाँ उस घर की स्वामिनी मुझे देखकर बोली—'हाय-हाय ! आपको तो योगिनी (डायन) ने पकड़ लिया है ॥२५॥

देखिए, उस डायन ने लाल कमल के बहाने आपको मनुष्य का हाथ (जादू करने के लिए) दे दिया है।' (उस गृहिणी के मुख से) ऐसा सुनकर ज्योंही मैं देखता हूँ, त्योंही कमल नहीं रहा, (मनुष्य का) हाथ हो गया ॥२६॥

इसके बाद मैं उस हाथ को फेंक कर उस गृहिणी के चरणों में गिरकर उससे कहा—'हे माता ! तुम मेरे लिए ऐसा उपाय कर दो जिससे मैं जीवित रह सकूँ (उस योगिनी के जादू से मर न जाऊँ)' ॥२७॥

यह सुनकर उस गृहिणी ने कहा—जाओ, यहाँ से तीन योजन दूर करभक नाम का एक गाँव है, उसमें देवरक्षित नाम का एक ब्राह्मण रहता है ॥२८॥

तस्यास्ति कपिला गेहे साक्षात्सुरभिरुत्तमा।
साद्य त्वां शरणं प्राप्तं रक्षिष्यति निशामिमाम् ॥२९॥
एवं तयोक्तः सभयो धावन्नस्मि दिनक्षये।
प्राप्तवान्करभग्रामे गृहं तस्य द्विजन्मनः ॥३०॥
प्रविश्य तत्र दृष्ट्वाहं कपिलां तां प्रणम्य च।
भीतस्त्वां शरणं देवि प्राप्तेऽस्मीति व्यजिज्ञपम् ॥३१॥
तावत्सा तर्जयन्ती मामन्याभिः सह योगिनी।
तत्रागान्नभसा नक्तं मन्मांसरुधिरार्थिनी ॥३२॥
तद्दृष्ट्वा कपिला साथ खुरमध्ये निवेश्य माम्।
अरक्षद्योधयन्ती ता योगिनीरखिलां निशाम् ॥३३॥
प्रातस्तासु गतास्वेषा कपिला व्यक्तया गिरा।
मामवोचन्न पुत्राहं त्वां शक्ष्याम्यद्य रक्षितुम् ॥३४॥
तद्गच्छ पञ्चयोजन्यामितोऽरण्ये शिवालये।
अस्ति भूतिशिवो नाम ज्ञानी पाशुपतोत्तमः ॥३५॥
स रक्षिष्यति रात्रिं त्वामद्यैकां शरणागतम्।
तच्छ्रुत्वा तां प्रणम्यैव ततोऽहं प्रस्थितोऽभवम् ॥३६॥
द्रुतं भूतिशिवं तं च प्राप्याहं शरणं श्रितः।
नक्तं च तत्र योगिन्यस्तास्तथैवागमन्पुनः ॥३७॥
ततः प्रवेश्य मामन्तर्गृहं भूतिशिवः स ताः।
त्रिशूलहस्तो द्वारस्थो योगिनीभिरभर्त्सयत् ॥३८॥
जित्वैता भोजयित्वा मां प्रातर्भूतिशिवोऽभ्यधात्।
ब्रह्मन्न शक्ष्याम्यधुना रक्षितुं त्वामहं पुनः ॥३९॥
तदस्ति सन्ध्यावासाख्ये योजनेषु दशस्वितः।
ग्रामे वसुमतिर्नाम विप्रस्तस्यान्तिकं व्रज ॥४०॥
ततस्तृतीयामद्य त्वं रात्रिमुत्तीर्य मोक्ष्यसे।
इत्युक्तस्तेन नत्वा तं ततः प्रस्थितवानहम् ॥४१॥
गच्छतश्चाध्वनो दैर्घ्याद्गतोऽस्तं मेऽन्तरा रविः।
योगिन्यस्ताश्च मां नक्तमगृह्णन्नेत्य पृष्ठतः ॥४२॥
मां गृहीत्वा च यावत्ता दृष्टा यान्ति विहायसा।
तावत्तासां पुरोऽपूर्वा योगिन्योऽन्याः परापतन् ॥४३॥

उस ब्राह्मण के घर में एक उत्तम कपिला (बादामी रंग की) गाय है, जो साक्षात् कामधेनु है। आज उसी की शरण में जाओ, आज की रात वे ही तुम्हारी रक्षा करेगी ॥२९॥

उसके ऐसा कहने पर मैं भय के कारण दौड़ता हुआ दिन का अन्त होते-होते करभक गाँव में उस ब्राह्मण के घर पहुँच गया ॥३०॥

वहाँ (उस घर में) प्रवेश करके कपिला गाय को देखकर उसे प्रणाम किया और कहा कि हे कामधेनु ! मैं डर के कारण तुम्हारी शरण में आया हूँ ॥३१॥

इतने में वह योगिनी (डायन) अन्य (सहेली) योगिनियों के साथ मुझे डराती हुई आकाशमार्ग से वहाँ उतरी, जो उस रात मेरा रक्त-मांस (खाना) चाहती थी ॥३२॥

यह देखकर वह कपिला गाय मुझे अपने खुरों के बीच में रखकर सारी रात उन योगिनियों से लड़ती हुई मेरी रक्षा करती रही ॥३३॥

प्रातःकाल जब वे योगिनियाँ चली गईं, तब उस कपिला गाय ने (मनुष्य की भाँति) स्पष्ट भाषा में मुझसे कहा कि हे पुत्र ! मैं आज तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकूँगी ॥३४॥

इसलिए, तुम यहाँ से पाँच योजन दूर वन में (जो) शिवालय है (उसमें) चले जाओ, वहाँ भूतिशिव नाम का एक परम पाशुपत (शिवभक्त) ज्ञानी रहता है ॥३५॥

आज की रात वही तुम्हारी रक्षा करेगा। (कपिला की) इस बात को सुनकर मैं उसे प्रणाम करके तुरन्त वहाँ से विदा हो गया ॥३६॥

शीघ्र ही मैं उस भूतिशिव नाम के ज्ञानी के पास पहुँचकर उसकी शरण में गया। रात में वे योगिनियाँ फिर उसी प्रकार आईं ॥३७॥

तब वह मुझे (अपने) घर के भीतर बैठाकर हाथ में त्रिशूल लिये द्वार पर खड़ा होकर उन योगिनियों को ललकारने लगा ॥३८॥

प्रातःकाल उन योगिनियों को जीतकर और मुझे भोजन कराकर वह बोला—हे ब्राह्मण ! अब मैं पुनः तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकूँगा ॥३९॥

अतः, यहाँ से दस योजन दूर सन्ध्यावास नाम के एक गाँव में वसुमति नाम का जो एक ब्राह्मण रहता है, अब तुम इसी के पास चले जाओ ॥४०॥

(वहाँ) आज तीसरी रात भी बचकर तुम सभी संकटों से मुक्त हो जाओगे। उस भूतिशिव के ऐसा कहने पर, उसे प्रणाम करके मैं वहाँ से चल पड़ा ॥४१॥

मैं (तेजी से) चल रहा था, तथापि रास्ता अधिक दूर होने के कारण बीच में ही सूर्यास्त हो गया, और उन योगिनियों ने उस रात पीछे से आकर मुझे पकड़ लिया ॥४२॥

ज्योंही वे मुझे पकड़कर प्रसन्न हो आकाशमार्ग से जाने लगीं, त्योंही उन योगिनियों के आगे (बहुत-सी) अद्भुत अन्य योगिनियाँ आ पहुँचीं ॥४३॥

ताभिः सहोदभूदासामकस्माद्युद्धमद्भुतम् ।
तेन तासामहं हस्ताद्भ्रष्टो देशेऽतिनिर्जने ॥४४॥
एकमेवाथ तत्राहमपश्यं मन्दिरं महत् ।
प्रविशेति ब्रुवदिव द्वारेणापावृतेन माम् ॥४५॥
पलाय्याभ्यन्तरे तत्र प्रविश्याहं भयाकुलः ।
अद्राक्षमद्भुताकारां नारीं नारीशतान्विताम् ॥४६॥
प्रकाशमानां प्रभया प्रदोषज्वलितामिव ।
रक्षामहौषधिं सृष्टां धात्रा मदनुकम्पया ॥४७॥
क्षणान्मया समाश्वस्य पृष्टा सा मामभाषत ।
यक्षिण्यहं सुमित्राख्या शापादेवमिह स्थिता ॥४८॥
मानुषेण च मे सङ्गः प्रदिष्टः शापशान्तये ।
तन्मामशङ्कितप्राप्तो भजस्व भव निर्भयः ॥४९॥
इत्युक्त्वा क्षिप्रमाविश्य दासीः स्नानविलेपनैः ।
वस्त्रैराहारपानैश्च हृष्टं सा मामुपाचरत् ॥५०॥
क्व डाकिनीभिर्भीतिः सा क्व सुखं तच्च तत्क्षणम् ।
अचिन्त्यो वत दैवेनाप्यापातः सुखदुःखयोः ॥५१॥
ततस्तया समं तत्र यक्षिण्या तान्यहान्यहम् ।
सुखमासमथ स्वैरमेकदा साब्रवीच्च माम् ॥५२॥
क्षीणः शापः स मे ब्रह्मंस्तदितोऽद्य व्रजाम्यहम् ।
मत्प्रसादाच्च दिव्यं ते विज्ञानं सम्भविष्यति ॥५३॥
तपस्वी सिद्धभोगश्च निर्भयश्च भविष्यसि ।
इहस्थो मद्गृहस्यास्य मा द्राक्षीर्मध्यमं पुरम् ॥५४॥
एवमुक्त्वा तिरोऽभूत्सा ततोऽहं कौतुकेन तत् ।
मध्यमं पुरमारूढस्तत्रापश्यं तुरङ्गमम् ॥५५॥
तेनाहं निकटप्राप्तः क्षिप्तोऽश्वेन खुराहतः ।
क्षणादद्राक्षमात्मानं स्थितमस्मिञ्शिवालये ॥५६॥
ततः प्रभृति चात्राहं स्थितः सिद्धोऽस्मि च क्रमात् ।
तदित्थं मानुषस्यापि त्रिकालज्ञानमस्ति मे ॥५७॥
एवं च क्लेशवहुलाः सर्वस्यापीह सिद्धयः ।
तदिहास्स्व तवाभीष्टसिद्धिं शम्भुर्विधास्यति ॥५८॥

उन पहले आई हुई योगिनियों के साथ बाद में आई हुई योगिनियों की घमासान लड़ाई हुई। इस कारण मैं उन योगिनियों के हाथ से (छूटकर) अति निर्जन प्रदेश में जा गिरा ॥४४॥

तदनन्तर, वहाँ मैंने एक बड़ा मन्दिर देखा, जो अपने खुले हुए द्वार से मानों मुझे कह रहा हो कि आओ, चले आओ ॥४५॥

भय से व्याकुल हुआ मैं भागकर उस मन्दिर के भीतर घुस गया, और वहाँ एक अद्‌भुत आकारवाली महिला को देखा, जो सौ महिलाओं से घिरी हुई थी ॥४६॥

(वह महिला) अपनी प्रभा से इस तरह चमक रही थी, मानों मुझपर दया करके विधाता ने सन्ध्या के समय चमकनेवाली मेरी प्राणरक्षा करनेवाली बूटी बनाई हो ॥४७॥

क्षण-भर में ढाढ़स बाँधकर मेरे पूछने पर उस महिला ने कहा—मैं सुमित्रा नाम की यक्षिणी हूँ (और) शाप के वश यहाँ इस भाँति पड़ी हुई हूँ ॥४८॥

(शाप में) कहा गया है कि जब मेरा मनुष्य के साथ संगम होगा, तब उसी से मेरे शाप की शान्ति होगी। इसलिए, अतर्कित रूप से (यहाँ) पहुँचे हुए तुम मुझसे संगम करो, और निर्भय होकर रहो ॥४९॥

ऐसा कहकर उस यक्षिणी ने तुरन्त दासियों को आज्ञा देकर स्नान, चन्दन लेपन, वस्त्र, भोजन और पान—इन सबसे मेरा उपचार कराया ॥५०॥

कहाँ वह डायनों का डर, और कहाँ वह सद्यःसुख ! अहो ! कब सुख आयगा और कब दुःख, इसका तर्क विधाता भी नहीं कर सकते ॥५१॥

तब उस सुमित्रा नाम की यक्षिणी के साथ वहाँ कुछ दिन मैं सुख से रहा। इसके बाद एक दिन उस यक्षिणी ने स्वेच्छापूर्वक मुझसे कहा कि—॥५२॥

हे ब्राह्मण, (तुम्हारे इतने दिनों के संग से) अब मेरा शाप समाप्त हो चुका है, इसलिए आज मैं यहाँ से चली जाती हूँ। मेरी कृपा से तुमको अलौकिक ज्ञान प्राप्त होगा ॥५३॥

तुम यहीं इस भवन में रहते हुए तपस्वी होओगे, (सभी) भोगों को प्राप्त करोगे और निर्भय रहोगे। किन्तु, तुम मेरे इस महल का निचला खण्ड कभी मत देखना ॥५४॥

ऐसा कहकर वह अन्तर्धान हो गई। इसके बाद मैं कुतूहल से उस निचले खण्ड पर चढ़ गया, और वहाँ (एक) घोड़े को देखा ॥५५॥

जब मैं उस घोड़े के निकट पहुँचा, तब उसने अपने खुर के प्रहार से मुझे फेंक दिया, और फिर क्षण-भर में ही अपने को इस शिवालय में पड़ा हुआ पाया ॥५६॥

तबसे मैं यहाँ रहकर क्रमशः सिद्ध हो चुका हूँ। इस प्रकार मनुष्य होते हुए भी मुझे त्रिकालज्ञान—वर्त्तमान, भूत और भावी तीनों की जानकारी—(प्राप्त) है ॥५७॥

(इस प्रकार अपनी कथा समाप्त करके ज्ञानी नागस्वामी ने कहा) इसी तरह सब को सिद्धि (प्राप्त करने) में बहुत-से कष्ट होते ही हैं। इसलिए, तुम (गोमुख) यहाँ रहो, (भगवान्) शंकर तुम्हारी कामना सिद्ध कर देंगे ॥५८॥

इत्युक्तो ज्ञानिना तेन तत्रेयन्ति दिनान्यहम् ।
त्वत्पादप्राप्तिजातास्थः स्थितोऽभूवं तदाश्रमे ॥५९॥
स्वप्नादिष्टभवत्सिद्धिः शर्वेणाद्य किल प्रभो ।
कयाप्यहमिहानीतो गृहीत्वा दिव्यया स्त्रिया ॥६०॥
इत्येष मम वृत्तान्त इत्युक्त्वा गोमुखे स्थिते ।
नरवाहनदत्ताग्रे मरुभूतिरथाब्रवीत् ॥६१॥
क्षिप्तं मानसवेगेन मां तदा कापि देवता ।
पाण्योर्विधाय विन्यस्य दूरेऽटव्यां तिरोऽभवत् ॥६२॥
ततोऽहं तत्र दुःखार्त्तो मरणोपायचिन्तया ।
भ्राम्यन्नदीपरिक्षिप्तं दृष्टवानेकमाश्रमम् ॥६३॥
तत्र प्रविश्य चापश्यमुपविष्टं शिलातले ।
जटाभिस्तापसं तं च प्रणम्याहमुपागमम् ॥६४॥
कस्त्वं कथमनुप्राप्तोऽस्येतां भूमिममानुषीम् ।
इति पृष्टश्च तेनाहं तस्मै सर्वमवर्णयम् ॥६५॥
ततः स बुद्ध्वावोचन्मां मात्मानं साम्प्रतं वधीः ।
ज्ञास्यसीह प्रभोर्वार्त्तां ततः कर्त्तासि यत्क्षमम् ॥६६॥
इति तद्वचनाद्युष्मद्वार्त्ताजिज्ञासया स्थिते ।
मयि तत्र स्त्रियो दिव्या नदीं तां स्नातुमागमन् ॥६७॥
सोऽथ मां तापसोऽवादीद्गच्छास्या वस्त्रमानय ।
आसु स्नान्त्यास्त्वमेकस्या वार्त्तां ज्ञास्यस्यतः प्रभोः ॥६८॥
तच्छ्रुत्वाहं तथाकार्षं मामन्वागाच्च सा वधूः ।
हृतवस्त्रार्द्रवसना सहस्तस्वस्तिकस्तनी ॥६९॥
नरवाहनदत्तस्य वार्त्तामाख्याय वाससी ।
गृहाणेत्युदिता तेन तापसेनाथ साब्रवीत् ॥७०॥
नरवाहनदत्तोऽद्य हरमाराधयन्स्थितः ।
कैलासे दिवसैर्विद्याधरसम्राड् भविष्यति ॥७१॥
एवमुक्तवती तस्य सम्पेदे तापसस्य सा ।
भार्या शापवशाद्दिव्या तत्कथासंस्तवाद्वधूः ॥७२॥
ततस्तया समं तस्थौ विद्याधर्या स तापसः ।
तद्गिरा चाहमत्रासं जातास्थस्त्वत्समागमे ॥७३॥

उस ज्ञानी (नागस्वामी) के ऐसा कहने पर (पुनः) आपके चरणों को पाने की आस्था (आशा) मुझे उत्पन्न हुई और मैं इतने दिन वहाँ (शिवक्षेत्र में) टिका रहा।।५९।।

आज शंकर ने स्वप्न में मुझे बतलाया कि आपने सिद्धि प्राप्त की है और तभी कोई दिव्य स्त्री मुझे पकड़कर यहाँ (वक्रपुर) ले आई।।६०।।

यही मेरा वृत्तान्त है—यह कहकर जब गोमुख चुप हो गये तब, उसके बाद नरवाहनदत्त के आगे मरुभूति बोले—।।६१।।

मानसवेग के द्वारा फेंके गये मुझको किसी देवी ने हाथों में ले लिया और वह (किसी) दूर जंगल में रखकर अर्न्तहित हो गई।।६२।।

तब मैंने वहाँ दुःख से घबराकर आत्महत्या के उपाय की खोज में घूमते हुए नदी के तटपर अवस्थित एक आश्रम को देखा।।६३।।

उस आश्रम में घुसकर मैंने चबूतरे पर बैठे हुए जटाओं से युक्त एक तपस्वी को देखा, और पास जाकर प्रणाम किया।।६३।।

(उसने पूछा कि) तुम कौन हो, और इस मनुष्य-रहित स्थान में कैसे आ गये हो? उसके ऐसा पूछने पर मैंने उसे सब कुछ सुना दिया ।।६५।।

तब उस तापस ने मुझे जान करके कहा कि तुम अभी आत्महत्या मत करो। यहाँ तुम अपने प्रभु की वार्त्ता जान जाओगे, तब जैसा उचित होगा, वैसा करोगे।।६६।।

उस (तापस) का ऐसा वचन सुनकर मैं आपकी वार्त्ता जानने की अभिलाषा से वहाँ रह गया। (तब एक समय) कई दिव्य स्त्रियाँ वहाँ उस आश्रम के निकट की नदी में स्नान करने आईं।।६७।।

तदनन्तर, उस तापस ने मुझसे कहा कि (हे मरुभूति!) उन स्नान करती हुई दिव्य स्त्रियों में से किसी एक का वस्त्र जाकर ले आओ; उसी (दिव्य स्त्री) से तुम (अपने) स्वामी (नरवाहनदत्त) की वार्त्ता जान जाओगे।।६८।।

यह सुनकर मैंने वैसा ही किया और उस महिला ने मेरा पीछा किया। उसका वस्त्र मैंने हरण कर लिया था, इसलिए वह भींगे हुए कपड़े पहने थी और अपने दोनों हाथों को स्तनों के ऊपर स्वस्तिकाकार किये हुए थी।।६९।।

तापस ने उससे कहा कि नरवाहनदत्त का हाल बताकर तुम अपने कपड़े ले लो; उस तापस के ऐसा कहने पर उस स्त्री ने कहा—।।७०।।

आज नरवाहनदत्त शंकर की आराधना करते हुए कैलास पर विद्यमान हैं और कुछ ही दिनों में विद्याधरों के सम्राट् होनेवाले हैं।।७१।।

ऐसा कहने पर वह, विद्याधरी इस कथा को व्यक्त करने के कारण किसी शाप के प्रभाव से उस तापस की स्त्री हो गई।।७२।।

तब वह तापस उस विद्याधरी के साथ रहने लगा और मैं उस विद्याधरी के वचन से आप के साथ मिलन होने के विश्वास से वहाँ रहने लगा।।७३।।

दिनैः सगर्भा च सती गर्भं द्युस्त्री प्रसूय तम्।
सावोचत्तापसं शान्तः शापस्त्वत्सङ्गतो मम॥७४॥

भूयो मत्सङ्गवाञ्छा ते यदि तत्तण्डुलैः सह।
पक्त्वा मद्गर्भमेतं त्वं भुङ्क्ष्व प्राप्स्यसि मां ततः॥७५॥

इत्युक्त्वास्यां प्रयातायामेतद्गर्भं सतण्डुलम्।
पक्त्वा भुक्त्वाऽवगादेतां खमुत्पत्य स तापसः॥७६॥

अहं तदुक्तेऽप्यादौ तन्नाश्नां सिद्धिमवेक्ष्य तु।
भक्तसिक्थद्वयं प्राप्य पाकभाण्डादभक्षयम्॥७७॥

तेन यत्राहमष्ठीवमभूत्तत्र काञ्चनम्।
अथादैन्यः परिभ्राम्यन्प्रापमेकमहं पुरम्॥७८॥

तत्र वेश्यागृहे हेम्ना तेनोदारव्ययस्य मे।
वसतो वमनं प्रादाज्जिज्ञासुः कुट्टनी छलात्॥७९॥

तेन मे वमतो भास्वत्पद्मरागनिभे उभे।
प्राग्भुक्तभक्तसिक्थे ते मुखेन निरगच्छताम्॥८०॥

निर्गते एव कुट्टन्या गृहीते भक्षिते च ते।
नष्टाथ हेमसिद्धिः सा कुट्टन्यापहृता तया॥८१॥

सचन्द्रार्धः शिवोऽद्यापि हरिर्यच्च सकौस्तुभः।
तत्तयोर्वेद्मि कुट्टन्या गोचरापतने फलम्॥८२॥

किं चेदृगेष संसारो बह्वाश्चर्यो बहुच्छलः।
परिच्छेत्तुं कदा केन समुद्र इव पार्यते॥८३॥

इत्यहं विमृशन्खिन्नस्त्वत्प्राप्त्यै चण्डिकागृहम्।
अगच्छं तपसा देवीं तामाराधयितुं ततः॥८४॥

त्रिरात्रोपोषितं सा मां देवी स्वप्ने समादिशत्।
सिद्धकामः स ते स्वामी सम्पन्नो गच्छ पश्य तम्॥८५॥

एतच्छ्रुत्वा प्रबुद्धोऽस्मि प्रातर्देव्या कयाप्यहम्।
त्वत्पादमूलमानीत इत्येषा देव मे कथा॥८६॥

इत्युक्तवन्तं कुट्टन्या मरुभूतिं विडम्बितम्।
नरवाहनदत्तोऽसौ जहास सह पार्श्वगैः॥८७॥

कुछ दिनों में वह विद्याधरी गर्भवती हुई और उस गर्भ का प्रसव करके तापस से कहा कि तुम्हारे संग से (अब) मेरा शाप समाप्त हो गया ॥७४॥

यदि तुम्हें मुझसे संग करने की फिर इच्छा हो, तो इस गर्भ को चावल के साथ पकाकर खा लो। ऐसा करने से मुझे (पुनः) प्राप्त करोगे ॥७५॥

ऐसा कहकर उस विद्याधरी के चले जाने पर उस गर्भ को चावल के साथ पका करके और खा करके वह तापस आकाश में उड़कर उस विद्याधरी के पीछे चला गया ॥७६॥

उस (तापस) ने मुझे भी (खाने को) कहा, फिर भी पहले मैंने उस गर्भ को नहीं खाया, किन्तु पीछे यह देखकर कि इससे सिद्धि मिलती है, हाँड़ी से भात के दो दाने निकालकर खा लिया ॥७७॥

उसके प्रभाव से जहाँ मैंने थूका, वहाँ (मेरा) वह (थूक) सोना हो गया। तदनन्तर, (इस प्रकार सोना मिलते रहने से) दैन्य-दारिद्र्य से रहित होकर घूमते-फिरते (मैं) एक नगर में पहुँचा ॥७८॥

उस नगर में मैं उस सोने को अत्यन्त उदारता के साथ खर्च करते हुए एक वेश्या के घर में रहने लगा, (और वहाँ) कुट्टनी ने (मेरे रहस्य को) जानने की इच्छा से मुझे वमन(कै) करानेवाला औषध छल से खिला दिया ॥७९॥

उस (औषध के प्रभाव) से वमन करते हुए मेरे मुख से चमकीले दो पद्मरागों के समान, भात के वे दोनों दाने निकल गये ॥८०॥

ज्योंही वे मेरे मुख से निकले, त्योंही कुट्टनी ने उन्हें ले लिया और खा लिया (और इस प्रकार) मेरी वह स्वर्ण-सिद्धि—सोना बनाने की शक्ति—समाप्त हो गई, और उस कुट्टनी ने उसे मुझसे छीन लिया ॥८१॥

आज भी जो शंकर के पास अर्द्धचन्द्र है और विष्णु के पास कौस्तुभ मणि है, सो मैं समझता हूँ, किसी कुट्टनी की दृष्टि के सामने उन दोनों के न पड़ने का ही फल है। यदि वे दोनों भी किसी कुट्टनी की दृष्टि में पड़े होते, तो छिन ही गये होते ॥८२॥

और, यह संसार ऐसा है, जहाँ बहुत-से आश्चर्य और बहुत-से छल होते रहते हैं; समुद्र की भाँति इसका पार कौन, कब पा सकता है ? ॥८३॥

यह सोचता हुआ दुःखी होकर मैं आपको प्राप्त करने के निमित्त तपस्या के द्वारा देवी चण्डिका का आराधन करने के लिए वहाँ से चण्डिकागृह गया ॥८४॥

लगातार तीन रात उपवास करने के पश्चात् उस चण्डिका देवी ने मुझे स्वप्न में कहा कि तुम्हारा स्वामी सफलमनोरथ हो चुका है, जाओ, उसे देखो ॥८५॥

यह सुनकर मैं जागा और प्रातःकाल किसी देवी ने मुझे आपके चरणों के समीप पहुँचा दिया। हे राजन् ! मेरा वृत्तान्त यही है ॥८६॥

इस प्रकार, अपना वृत्तान्त सुनानेवाले (तथा) कुट्टनी के द्वारा वंचित उस मरुभूति के ऊपर वे नरवाहनदत्त, अपने पास के अन्यान्य लोगों के साथ, हँसने लगे ॥८७॥

ततो हरिशिखोऽवादीत्प्रास्तं मां रिपुणा तदा।
उज्जयिन्यां न्यधात्कापि रक्षित्वा देव देवता ॥८८॥
तत्राहं दुःखितो देहं त्यक्तुमिच्छन्निशागमे।
गत्वा श्मशानं तत्रत्यैः काष्ठैररचयं चिताम् ॥८९॥
तां प्रज्वाल्य च तत्राग्निं पूजयन्तमुपेत्य माम्।
तालजङ्घ इति ख्यातो भूताधिपतिरभ्यधात् ॥९०॥
किमर्थं प्रविशस्याग्निं स्थितो जीवन्स ते प्रभुः।
पूर्णस्वसिद्धिकामेन तेन त्वं सङ्गमिष्यसि ॥९१॥
इति मां मरणात्प्रीत्या स क्रूरोऽपि न्यवारयत्।
ग्रावाणोऽप्यार्द्रतां सम्यग्भजन्त्यभिमुखे विधौ ॥९२॥
गत्वा ततोऽहं देवाग्रे तपस्यंश्च ततः स्थितः।
तवानीतः कयाप्यद्य पार्श्वं देवतया प्रभो ॥९३॥
एवं हरिशिखेनोक्ते तथैवान्यैरपि क्रमात्।
नरवाहनदत्तोऽसौ राजामितगतेर्गिरा ॥९४॥
तामर्हन्तीं धनवतीं प्रेर्य विद्याधरार्चिताम्।
तेभ्यः स्वसचिवेभ्योऽपि विद्याः सर्वा अदापयत् ॥९५॥
ततो विद्याधरीभूतेष्वेषु तत्सचिवेष्वपि।
शत्रूञ्जयाधुनेत्युक्ते धनवत्या शुभेऽहनि ॥९६॥
स चक्रवर्त्ती सैन्यानां प्रयाणारम्भमादिशत्।
वीरो गोविन्दकूटाख्यं गौरिमुण्डपुरं प्रति ॥९७॥
अथोच्चचालच्छन्नार्कं विद्याधरवलं दिवि।
वैरिशीतकराकालराहूदयकृतभ्रमम् ॥९८॥
नरवाहनदत्तोऽपि स्वयमारुह्य कर्णिकाम्।
तस्य पद्मविमानस्य भार्याः स्वाः केसरेषु च ॥९९॥
आरोप्य पत्रेषु सखींश्चण्डसिंहादिकेषु च।
पुरःसरेषु नभसा प्रतस्थे विजयाय सः ॥१००
गच्छंश्चार्धपथप्राप्ते तस्थौ धनवतीगृहे।
तदर्चितः संस्तदहर्मातङ्गपुरसंज्ञके ॥१०१
तत्रस्थश्चाहवाह्वाने दूतमेकं व्यसर्जयत्।
विद्याधरेशयोर्गौरिमुण्डमानसवेगयोः ॥१०२

इसके बाद हरिशिख नाम के मन्त्री बोले—हे राजन् ! मानसवेग के द्वारा फेंके गये मुझको उस दिन किसी देवता ने रक्षा करके उज्जयिनी में रख छोड़ा ॥८८॥

मैंने वहाँ (उज्जयिनी में) विषाद से युक्त होकर देह-त्याग की इच्छा करते हुए रात होने पर एक श्मशान में जाकर वहाँ की (अवशिष्ट) लकड़ियों से एक चिता बनाई ॥८९॥

उस चिता को जलाकर (जब) मैं अग्नि की पूजा कर रहा था, उसी समय तालजंघ नाम के किसी भूतों के राजा ने मेरे पास आ कर कहा कि—॥९०॥

(हे हरिशिख !) तुम अग्नि-प्रवेश क्यों कर रहे हो ? तुम्हारे प्रभु नरवाहनदत्त जीवित हैं, उनकी अपनी कामना सिद्ध हो गई है; तुम्हारा उनसे मिलन होगा ॥९१॥

(स्वभावतः) क्रूर होते हुए भी उस भूतों के राजा ने स्नेहपूर्वक मुझे मरने से रोका। (इससे लक्षित होता है कि) विधाता अनुकूल रहता है, तो पत्थर भी पिघल जाता है ॥९२॥

इसके बाद मैं (किसी) देवता के सम्मुख जाकर तपस्या करने लगा, (और) वहाँ से आज किसी देवता ने मुझे ला कर आपके पास पहुँचा दिया है ॥९३॥

जब हरिशिख ने इस प्रकार अपना वृत्तान्त कह सुनाया तथा इसी प्रकार अन्य मन्त्रियों ने भी बारी-बारी से (अपना-अपना वृत्तान्त) कहा, तब नरवाहनदत्त ने राजा अमितगति के कहने पर, उन विद्याधरों से पूजित आदरणीया धनवती से प्रार्थना करके, अपने उन सारे मन्त्रियों को भी वे सभी विद्याएँ दिला दीं ॥९४-९५॥

जब उन (नरवाहनदत्त) के ये मन्त्री भी अलौकिक विद्या से युक्त हो गये, तब धनवती ने कहा कि अब शत्रुओं (मानसवेग आदि) को जीतो। धनवती के ऐसा कहने पर चक्रवर्ती वीर नरवाहनदत्त ने शुभ दिन में अपने शत्रु गौरिमुण्ड के नगर गोविन्दकूट की ओर अपने सैनिकों के प्रयाण करने का आदेश दे दिया ॥९६-९७॥

तदनन्तर, विद्याधरों की सेना आकाश में उड़ चली। सूर्य आच्छादित हो गये। (इस सेना को देखकर ऐसा) भ्रम होने लगा कि शत्रु रूप चन्द्र को (ग्रसने के लिए) असमय में ही यह (सेना-स्वरूप) राहु का उदय हो गया हो ॥९८॥

(सेना के प्रस्थान के बाद) नरवाहनदत्त भी उस पद्मविमान की कर्णिका पर स्वयं चढ़ गये। चारों ओर के केसरों पर वेगवती आदि अपनी स्त्रियों को चढ़ाया, और उसके पत्तों पर अपने मन्त्रियों को चढ़ाया (फिर) चण्डसिंह आदि (वीरों) को आगे करके विजय के लिए आकाशमार्ग से प्रस्थान किया ॥९९-१००॥

जाते-जाते आधा रास्ता तय हो जाने पर मातंगपुर नाम के (नगर में) धनवती के घर (पहुँचे और) उस दिन धनवती का आदर-सत्कार पाते हुए वहीं ठहरे ॥१०१॥

वहाँ रहते हुए ही नरवाहनदत्त ने गौरिमुण्ड और मानसवेग नाम के दोनों विद्याधर-राजाओं को लड़ाई का न्यौता देने के लिए एक दूत भेजा ॥१०२॥

अन्येद्युस्तत्र मातङ्गपुरे पत्नीर्निधाय सः।
गोविन्दकूटं तं प्रायाद्राजभिर्द्युचरैः सह ॥१०३॥
तत्र युद्धाय तौ गौरिमुण्डमानसवेगकौ।
निर्गतौ प्रत्यगृह्णंस्ते चण्डसिंहादयोऽग्रतः ॥१०४॥
प्रवृत्तसमरादिष्टपतत्सुभटपादपः।
सोऽभूद्गोविन्दकूटाद्रिः स्रवद्रुधिरनिर्झरः ॥१०५॥
रक्तलिप्तलसत्खड्गलताजिह्वो व्यजृम्भत।
सङ्ग्रामकालः शूराणां जिघत्सुर्जीवितानि सः ॥१०६॥
मांसासृङ्मत्तवेतालतालवाद्यविशङ्कटः।
अभून्नृत्यत्कबन्धोऽसौ भूतप्रीत्यै रणोत्सवः ॥१०७॥
अथ मानसवेगं तं रणेऽस्मिन्सम्मुखागतम्।
नरवाहनदत्तः स स्वयमभ्यपतत्क्रुधा ॥१०८॥
अभिपत्य च केशेषु गृहीत्वा तस्य तत्क्षणम्।
चक्रवर्त्ती स चिच्छेद शिरः खड्गेन पाप्मनः ॥१०९॥
तद्दृष्ट्वा कुपितं तत्र गौरिमुण्डं प्रधावितम्।
केशेष्वाकृष्य तद्दृष्टिनष्टविद्याबलं भुवि ॥११०॥
क्षिप्त्वा गृहीत्वाङ्घ्रियुगे भ्रामयित्वा नभस्तले।
नरवाहनदत्तोऽसौ तं शिलायामचूर्णयत् ॥१११॥
एवं तेन तयोर्गौरिमुण्डमानसवेगयोः।
हतयोस्तद्बलं शेषमगाद्भीतं पलाय्य तत् ॥११२॥
पपात पुष्पवृष्टिश्च तस्याङ्गे चक्रवर्त्तिनः।
गगनस्थाः सुराः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥११३॥
अथात्र गौरिमुण्डस्य राजधानीं विवेश सः।
नरवाहनदत्तस्तैः स्वैः सर्वैं राजभिः सह ॥११४॥
तदैव गौरिमुण्डादिसम्बद्धास्तस्य शासनम्।
एत्य विद्याधराधीशाः प्रणताः प्रतिपेदिरे ॥११५॥
ततोऽत्र निहतारातिराज्यप्राप्त्युत्सवान्तरे।
उपेत्य तं धनवती सा सम्राजं व्यजिज्ञपत् ॥११६॥
देवास्ति गौरिमुण्डस्य सुता त्रैलोक्यसुन्दरी।
तामिहात्मनिकानाम्नीमुपयच्छस्व कन्यकाम् ॥११७॥

और, उसके अगले दिन मातंगपुर में अपनी पत्नियों को रखकर विद्याधर-राजाओं के साथ उक्त गोविन्दकूट पहुँचे ॥१०३॥

वहाँ वे दोनों गौरिमुण्ड और मानसवेग लड़ाई के लिए निकले, और चण्डसिंह आदि वीरों ने उन दोनों का आगे से सामना किया ॥१०४॥

घमासान लड़ाई होने पर वह गोविन्दकूट नाम का पर्वत मानों बहते हुए रक्त का झरना हो गया, जिसमें बड़े-बड़े योद्धा-रूपी वृक्ष गिरते जा रहे थे ॥१०५॥

संग्राम-रूपी कालपुरुष जँभाई लेने लगा, जो शूरों के जीवनों को खाने के लिए इच्छुक था और जिसकी तलवार-रूपी जिह्वा रक्त से लिप्त होकर शोभित हो रही थी ॥१०६॥

इस संग्राम-रूपी उत्सव में भूतगण (परम) प्रसन्न हो रहे थे, कबन्ध नाच रहे थे, और रक्त-मांस के भक्षण से मत्त हुए वेताल तालियाँ बजा रहे थे ॥१०७॥

तदनन्तर, नरवाहनदत्त इस युद्ध में स्वयं सम्मुख आये हुए उस मानवसवेग के ऊपर क्रोध से कूद पड़े ॥१०८॥

उसके केश पकड़े और तत्क्षण उस पापी को तलवार के घाट उतार दिया ॥१०९॥

मानसवेग का वध देख क्रुद्ध होकर गौरिमुण्ड भी दौड़ता हुआ वहाँ आया और नरवाहनदत्त की दृष्टि पड़ते ही उसका (सारा) विद्या-बल नष्ट हो गया, और उसे भी नरवाहनदत्त ने चोटी पकड़कर पृथ्वी पर फेंक दिया। फिर, उसकी दोनों टाँगें आकाश में नचाकर उसे चट्टान पर पटक दिया, जिससे वह चूर्ण-चूर्ण हो गया ॥११०-१११॥

इस प्रकार, नरवाहनदत्त के द्वारा गौरिमुण्ड और मानसवेग के मारे जाने पर उसकी बाकी सेना डरकर तेजी से भाग गई ॥११२॥

फिर क्या था, चक्रवर्ती नरवाहनदत्त पर पुष्पवृष्टि होने लगी, और आकाश में वर्त्तमान सभी देवता 'साधु-साधु' कहने लगे ॥११३॥

इसके बाद नरवाहनदत्त ने अपने पक्ष के सभी राजाओं के साथ वहाँ गौरिमुण्ड की राजधानी में प्रवेश किया ॥११४॥

उसी समय गौरिमुण्ड आदि के साथ मित्रता के सम्बन्धवाले जितने विद्याधरों के राजा थे, वे सभी विनय से झुके हुए उनके पास आकर उनका शासन मानने लगे ॥११५॥

इसके बाद मारे गये शत्रुओं के राज्य की प्राप्ति के उत्सव के बीच में ही धनवती ने वहाँ जाकर सम्राट् नरवाहनदत्त से कहा कि—॥११६॥

"हे देव आत्मनिका नाम की गौरिमुण्ड की एक पुत्री है, जो तीनों लोकों में सबसे अधिक सुन्दरी है, उस कन्या से आप विवाह कर लें" ॥११७॥

इत्युक्तः स तया राजा तामानाय्यैव तत्क्षणम् ।
उपयेमे तया साकमासीच्च तदहः सुखम् ॥११८॥
प्रातर्मानसवेगस्य पुरान्मदनमञ्चुकाम् ।
आनाययद्वेगवतीप्रभावत्यौ विसृज्य सः ॥११९॥
आनीता हर्षबाष्पार्द्रविकस्वरमुखी पतिम् ।
उदयस्थं हताराततिमसं प्रविलोक्य तम् ॥१२०॥
शूरं विरहदोषान्ते भेजे कमपि सम्मदम् ।
सावश्यायजलोत्फुल्लकमला नलिनीव सा ॥१२१॥
सोऽपि तस्यै मुदा दत्त्वा सर्वविद्याश्चिरोत्सुकः ।
रेमे तया समं सद्यः प्राप्तविद्याधरत्वया ॥१२२॥
निनाय तानि चाहानि भार्याभिः सह तत्र सः ।
गौरिमुण्डपुरोद्यानवर्त्ती पानादिलीलया ॥१२३॥
प्रभावतीं विसृज्याथ भगीरथयशा अपि ।
आनायिताभूत्तेनाथविद्याश्चास्यै स दत्तवान् ॥१२४॥
एकदा च तमास्थानवर्त्तिनं चक्रवर्त्तिनम् ।
यथावदेत्य विज्ञप्तवन्तौ विद्याधरावुभौ ॥१२५॥
आवामुत्तरवेद्यर्धं देवाभूव गतावितः ।
ज्ञातुं मन्दरदेवस्य चेष्टा धनवतीगिरा ॥१२६॥
तत्र दृष्टः स चास्थानगतो विद्याधरेश्वरः ।
आवाभ्यां छन्नदेहाभ्यामेवं युष्मान्प्रति ब्रुवन् ॥१२७॥
श्रुतं मया यन्निहता गौरिमुण्डादयोऽखिलाः ।
नरवाहनदत्तेन प्राप्य विद्याधरेशताम् ॥१२८॥
तदुपेक्ष्यो न सोऽस्माभिर्हन्तव्यस्तूद्भवन्रिपुः ।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्मादावां वक्तुमिहागतौ ॥१२९॥
इति चारमुखाच्छ्रुत्वा बभौ कोपाकुला सभा ।
नरवाहनदत्तस्य पद्मिनीवानिलाहता ॥१३०॥
चित्राङ्गदस्य बाहू स्वौ विधूतप्रसृतौ पुनः ।
अमार्गतामिवादेशं योद्धुं वलयनिःस्वनैः ॥१३१॥
हारोऽमितगतेर्वक्षस्युत्फलञ्श्वसतः क्रुधा ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ट वीर त्वमितीव मुहुरब्रवीत् ॥१३२॥

धनवती के ऐसा कहने पर राजा नरवाहनदत्त ने तुरत उसे बुलाकर उसके साथ विवाह कर लिया और उस दिन उस कन्या के साथ सुख से रहे ॥११८॥

और, प्रातःकाल वेगवती तथा प्रभावती को भेजकर नरवाहनदत्त ने मानसवेग के नगर से मदनमंचुका को भी बुलवा लिया ॥११९॥

विरह की रात के बीत जाने पर हर्ष के (निकले हुए) आँसुओं से भींगे और खिले मुखवाली मदनमंचुका ने, जो ओस के जल से युक्त विकसित कमललता जैसी लग रही थी, शत्रुरूपी अन्धकार को नाश करके उदित हुए (चन्द्र-रूपी) अपने पति वीर नरवाहनदत्त को देखकर असाधारण आनन्द प्राप्त किया ॥१२०-१२१॥

(मिलन के लिए) चिरकाल से उत्सुक नरवाहनदत्त ने भी उसे आनन्दपूर्वक सभी विद्याएँ दे दीं, और उसके उसी क्षण विद्याधरी हो जाने पर वह उसके साथ रमण करने लगे ॥१२२॥

वहाँ उस गौरिमुण्ड के नगर के उद्यान में रहते हुए नरवाहनदत्त ने (अपनी उन) पत्नियों के साथ मद्यपान आदि विलास में कई दिन बिताये ॥१२३॥

इसके बाद प्रभावती को भेजकर भगीरथयशा भी मँगा ली गई और नरवाहनदत्त ने उसे भी सारी विद्याएँ दे दीं ॥१२४॥

एक दिन सभा-भवन में बैठे चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त के पास दो विद्याधर आये और समुचित आदर के साथ निवेदन किया कि—॥१२५॥

धनवती के कहने पर हम दोनों मन्दरदेव क्या कह रहा है, यह जानने के लिए यहाँ से विद्याधर-भूमि की उत्तरवाली वेदी पर गये थे ॥१२६॥

वहाँ अपने शरीर को प्रच्छन्न किये हम दोनों ने उसे सभा-भवन में बैठे आपके विषय में यह बोलते देखा कि—॥१२७॥

"मैंने सुना है, नरवाहनदत्त ने विद्याधरों पर प्रभुत्व प्राप्त करके गौरिमुण्ड आदि को मार डाला है ॥१२८॥

अतः, वह हम लोगों के लिए उपेक्षणीय नहीं है। शत्रु को जन्म लेते ही मार डालना चाहिए।" मन्दरदेव के मुँह से यह वचन सुनकर हम दोनों यही कहने यहाँ आये हैं ॥१२९॥

उन दोनों गुप्तचरों से यह सुनकर नरवाहनदत्त की राजसभा वायु से आहत कमल की लताकी भाँति क्रोध से विक्षुब्ध हो उठी ॥१३०॥

चित्रांगद की दोनों बाहें फड़क उठीं और फैल गईं, मानों अपने कंकणों के शब्द से युद्ध करने का आदेश माँग रही हों ॥१३१॥

क्रोध से साँस लेते हुए अमितगति की छाती का हार उछल-उछलकर मानों बार-बार ललकारने लगा कि हे वीर अमितगति ! तुम उठो, उठो ॥१३२॥

भूमिं पिङ्गलगान्धारः करेण घ्नन्सशब्दकम् ।
चूर्णनोपक्रमोङ्कारमिव व्यधित वैरिणाम् ॥१३३॥
मुखे वायुपथस्यापि भृकुटिः पदमादधे ।
कोपेनारोपिता चापलतेवान्ताय विद्विषाम् ॥१३४॥
संक्रुद्धः पाणिना पाणिं चण्डसिंहः प्रमर्दयन् ।
एवं विनिर्मथाम्यस्मिञ्शत्रूनित्यभ्यधादिव ॥१३५॥
बाहुः सागरदत्तस्य करास्फालनजन्मना ।
शब्देन मूर्च्छता व्योम्नि रिपुमाह्वयतेव तम् ॥१३६॥
नरवाहनदत्तस्तु कोपेऽप्यासीदनाकुलः ।
अक्षोभ्यतैव महतां महत्त्वस्य हि लक्षणम् ॥१३७॥
द्युचारिचक्रवर्त्यङ्गरत्नसाधनपूर्वकम् ।
शत्रुं स जेतुं चक्रेऽत्र यात्रायै निश्चयं तदा ॥१३८॥
अथारुह्य विमानं तत्सभार्यः सचिवान्वितः ।
चक्रवर्त्ती प्रतस्थे स ततो गोविन्दकूटतः ॥१३९॥
ते च सर्वेऽपि गन्धर्वराजविद्याधराधिपाः ।
सबलाः परिवृत्यैतं चेलुश्चन्द्रमिव ग्रहाः ॥१४०॥
धनवत्यां पुरोगायामथासाद्य हिमाचलम् ।
नरवाहनदत्तः स प्रापदेकं महत्सरः ॥१४१॥
सितपद्मोच्छितच्छत्रमुल्लसद्धंसचामरम् ।
उपस्थितमिवादाय सम्राड्योग्यमुपायनम ॥१४२॥
उच्चैरभिमुखोदस्तैर्वीचिहस्तैरदूरतः ।
कुर्वत्साम्राज्यसंसिद्धिस्नानाह्वानमिवासकृत् ॥१४३॥
चक्रवर्त्तिन्सरस्यस्मिन्स्नातव्यं भवतेति सः ।
सम्राड् वायुपथेनोक्तस्तत्र स्नातुमवातरत् ॥१४४॥
नाचक्रवर्त्तिनः स्नानं सिद्ध्यत्यत्र तदद्य ते ।
सिद्धं तच्चक्रवर्त्तित्वमिति दिव्याब्रवीच्च वाक् ॥१४५॥
तच्छ्रुत्वा चक्रवर्त्ती स प्रविष्टस्तज्जलान्तरे ।
चिक्रीडान्तःपुरैः साकं पाथस्पतिरिवाम्बुधौ ॥१४६॥
धौताञ्जनारुणदृशः श्लथधम्मिल्लबन्धनाः ।
रेमे सोऽत्र प्रियाः पश्यन्नङ्गलग्नार्द्रवाससः ॥१४७॥

पिंगलगान्धार ने (अपने) हाथ से आवाज के साथ धरती को पीटा, मानों शत्रुओं को चूर्ण कर देने की जो तैयारी हो रही है उसके समर्थन में हाँ में हाँ मिलाई हो ॥१३३॥

वायुपथ की भौंहें तन गईं, मानों शत्रुओं का अन्त करने के लिए साक्षात् क्रोध ने ही अपनी धनुर्लता चढ़ाई हो ॥१३४॥

चण्डसिंह परम क्रुद्ध होकर अपने हाथ से हाथ मलने लगे, मानों कह रहे हों कि मैं अभी इसी तरह शत्रुओं को मसल डालता हूँ ॥१३५॥

सागरदत्त की बाँह आकाश में फैलनेवाली ध्वनि के साथ हाथ के आस्फालन के बहाने मानों उस शत्रु को ललकारने लगी ॥१३६॥

नरवाहनदत्त क्रोध होने पर भी व्याकुल नहीं हुए; क्योंकि महापुरुषों की महत्ता का यही लक्षण है कि वे किसी भी कारण से जल्दी क्षुब्ध नहीं होते ॥१३७॥

विद्याधरों के चक्रवर्त्ती होने के लिए अपेक्षित रत्नों तथा (अन्यान्य) साधनों से युक्त होकर नरवाहनदत्त ने शत्रु को जीतने के निमित्त यात्रा करने का निश्चय किया ॥१३८॥

तदनन्तर, चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त (अपनी) पत्नियों और मन्त्रियों के साथ पद्मविमान पर चढ़कर गोविन्दकूट से विदा हुए ॥१३९॥

और, नरवाहनदत्त को चारों ओर से घेरकर अपनी सेना-सहित सभी गन्धर्वराज और विद्याधरराज चल पड़े, जैसे चन्द्र के चारों ओर ग्रह (चलते हैं) ॥१४०॥

धनवती को आगे किये नरवाहनदत्त तब हिमालय में पहुँचकर एक विशाल सरोवर के पास पहुँचे ॥१४१॥

उस सरोवर में ऊपर की ओर उठा श्वेत कमल मानों छत्र हो, विलास करते हुए हंस मानों चामर हों, इन सबसे वह सरोवर ऐसा लगता था, मानों सम्राट् के उपयुक्त उपहार भेंट कर रहा हो ॥१४२॥

जोर-जोर से (नरवाहनदत्त के) सम्मुख ऊपर को उठते हुए तरंग-रूपी अपने हाथों से वह सरोवर साम्राज्य की प्राप्ति के उपलक्ष्य में स्नान करने के लिए मानों नरवानहदत्त को बार-बार बुला रहा हो ॥१४३॥

वायुपथ के यह कहने पर कि हे चक्रवर्त्ती! आप इस सरोवर में स्नान करें, सम्राट् नरवाहनदत्त स्नान करने उतरे ॥१४४॥

तब आकाशवाणी हुई कि यहाँ चक्रवर्त्ती से भिन्न कोई भी स्नान नहीं कर सकता; इसलिए आज आपका चक्रवर्त्ती होना सिद्ध हो गया—आप चक्रवर्त्ती हो गये ॥१४५॥

यह (आकाशवाणी) सुनकर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त उस सरोवर के जल में गये और अपनी रानियों के साथ केलि करने लगे जैसे समुद्रपति वरुण समुद्र में (केलि करते हों) ॥१४६॥

अंजन के धुल जाने से लाल-लाल आँखोंवाली, ढीले हो चले बन्धन से युक्त जूड़ोंवाली तथा अंगों में सटे भींगे वस्त्रोंवाली प्रियतमाओं को देख-देख कर नरवाहनदत्त वहाँ रमण करने लगे ॥१४७॥

सशब्दमुत्पतन्त्योऽस्मात्सरसः पत्रिपङ्क्तयः।
प्रत्युद्गतानां रशनास्तच्छ्रियामिव रेजिरे॥१४८॥
तद्वधू वदनाम्भोजलावण्यविजितानि च।
ममज्जुर्लज्जयेवात्र पङ्कजानि जलोर्मिषु॥१४९॥
कृतस्नानश्च तदहस्तस्यैव सरसस्तटे।
नरवाहनदत्तोऽसावुवास सपरिच्छदः॥१५०॥
तत्र नर्मकथालापैः स भार्यासचिवः कृती।
स्थित्वा प्रातर्विमानस्थः प्रतस्थे सबलस्ततः॥१५१॥
गच्छन्वायुपथस्याथ प्राप्य मार्गवशात्पुरम्।
तस्थौ तदनुरोधेन तं तत्रैव स वासरम्॥१५२॥
अत्र दृष्टचरी तेन कन्या वायुपथस्वसा।
वायुवेगयशा नाम ह्युद्यानस्थाभ्यवाञ्छ्यत॥१५३॥
सा हेमवालुकनदीतीरोद्यानविहारिणी।
सम्पूर्णचन्द्रवदना सौम्यालापमनोरमा॥१५४॥
सितहासा गुरुश्रोणिभारा सद्ग्रहशालिनी।
वीक्ष्यागतं तं तद्रक्तचित्ताप्यन्तर्दधे ततः॥१५५॥
विलक्षोऽथ स तां मत्वा हेत्वन्तरपराङ्मुखीम्।
नरवाहनदत्तोऽत्र निजमावासमाययौ॥१५६॥
तत्र गोमुखवैदग्ध्यवशेन मरुभूतिना।
वृत्तं राज्ञः सहस्थेन वृत्तान्तमुपलभ्य तम्॥१५७॥
देव्यश्चित्रान्परीहासान्सम्राजस्तस्य चक्रिरे।
मरुभूतेरवैदग्ध्यात्सत्रपे गोमुखे स्थिते॥१५८॥
सलज्जमथ राजानं वीक्ष्याश्वास्य च गोमुखः।
वायुवेगयशश्चित्तं जिज्ञासुस्तत्पुरं ययौ॥१५९॥
ततो वायुपथोऽकस्मात्पुरं द्रष्टुमिवागतम्।
दृष्ट्वा प्रीतिकृतातिथ्यो नीत्वैकान्ते जगाद तम्॥१६०॥
वायुवेगयशा नाम कन्यास्ति भगिनी मम।
सिद्धैः सा भाविनी चक्रवर्त्तिभार्या किलोदिता॥१६१॥
अतस्तामिह दित्सामि प्राभृतं चक्रवर्त्तिने।
नरवाहनदत्ताय तन्मे त्वं साधयेप्सितम्॥१६२॥

उस सरोवर से कलकल ध्वनि के साथ उड़ती हुई पक्षियों की पाँत ऐसी दिखती थी, जैसे (नरवाहनदत्त के स्वागत में) सरोवर की श्री बाहर निकल आई हो और उसकी करधनी बज उठी हो ॥१४८॥

उन नरवाहनदत्त की पत्नियों के मुख-कमलों की शोभा से पराजित होकर मानों लज्जा से कमल जल की तरंगों में डूबने लगे ॥१४९॥

नरवाहनदत्त स्नान करके उस दिन (अपने) परिजनों के साथ उसी सरोवर के तट पर रहे ॥१५०॥

सफलमनोरथ नरवाहनदत्त पत्नियों के साथ प्रेमालाप करते हुए उस दिन वहाँ रहकर (अगले दिन) प्रातःकाल विमान पर चढ़कर वहाँ से सेना-सहित विदा हुए ॥१५१॥

तब वे नरवाहनदत्त जाते-जाते, मार्ग में पड़ने के कारण, वायुपथ के नगर में पहुँचे और उस (वायुपथ) के अनुरोध से उस दिन वहीं ठहरे ॥१५२॥

वहाँ नरवाहनदत्त वायुपथ की बहन वायुवेगयशा नाम की कुमारी की कामना करने लगे, जिसे उन्होंने पहले उद्यान में देखा था ॥१५३॥

पूर्णचन्द्र-जैसे सुन्दर मुखवाली, सुन्दर बातचीत करके चित्त को प्रसन्न कर देनेवाली, सफेद मुसकानवाली, विशाल नितम्ब-मारवाली, अच्छे ग्रहोंवाली वह कुमारी वायुवेगयशा हेमवालुका नाम की नदी के तटवर्ती उद्यान में विचरण करती हुई, नरवाहनदत्त को आया देखकर, अपना चित्त उनपर आसक्त रहने पर भी, वहाँ से अन्तर्हित हो गई ॥१५४-१५५॥

इसके बाद नरवाहनदत्त यह समझकर कि वह वायुवेगयशा अन्य कारणवश (मुझसे) विमुख हो गई है, दुःखी होकर वहाँ से अपने आवास पर लौट आये ॥१५६॥

राजा के साथ घटी वह घटना (वायुवेगयशा के अलक्षित होने की घटना) (रानियों ने) गोमुख की चतुरता के प्रभाव से उस मरुभूति (के मुँह) से जान ली, जो उस समय राजा के साथ था ॥१५७॥

(और, यह जानकर वे रानियाँ) मरुभूति की मूर्खता से लज्जित गोमुख के सामने ही नरवाहनदत्त से विविध प्रकार के हास-परिहास करने लगीं ॥१५७-१५८॥

इसके बाद नरवाहनदत्त को लज्जित देखकर मन्त्री गोमुख उन्हें आश्वासन देकर वायुवेगयशा के चित्त को जानने की इच्छा से उसके नगर गये ॥१५९॥

तब वायुपथ ने नगर-दर्शनार्थी की भाँति अचानक आये हुए गोमुख का प्रेमपूर्वक आतिथ्य किया और एकान्त में ले जाकर उनसे कहा कि—॥१६०॥

वायुवेगयशा नाम की मेरी एक कुमारी बहन है। सिद्ध (पुरुषों) ने कहा है कि यह कन्या तो चक्रवर्ती की स्त्री होनेवाली है ॥१६१॥

इसलिए, मैं चक्रवर्ती नरवाहनदत्त को यह कन्या उपहार-स्वरूप अर्पित करना चाहता हूँ; (हे गोमुख!) आप मेरी इस कामना को पूरी करा दीजिए ॥१६२॥

आगन्तुं प्रस्तुतश्चाहमेतदर्थं तवान्तिकम्।
इति वायुपथेनोक्ते मन्त्री तं गोमुखोऽब्रवीत् ॥१६३॥
यद्यप्यरिजिगीषार्थं प्रस्थितः प्रभुरेष नः।
विज्ञापय तथापि त्वमहं ते साधयाम्यदः ॥१६४॥
इत्युक्त्वामन्त्र्य तं गत्वा सिद्धं कार्यं न्यवेदयत्।
नरवाहनदत्ताय गोमुखोऽभ्यर्थनां विना ॥१६५॥
अन्येद्युश्च तमत्रार्थमेत्य वायुपथे स्वयम्।
विज्ञापयति राजानं तं धीमान्गोमुखोऽब्रवीत् ॥१६६॥
न कार्योऽभ्यर्थनाभङ्गो देव वायुपथस्य ते।
भक्तोऽयं यद्ब्रवीत्येष कर्त्तव्यं तत्प्रभोरिति ॥१६७॥
ततः स प्रतिपेदे तद्राजा वायुपथोऽपि ताम्।
तस्मै प्रादादनिच्छन्तीमप्यानीय निजानुजाम् ॥१६८॥
विवाह्यमाना सावोचदनिच्छन्ती वलादहम्।
भ्रात्रा दत्तेति नाधर्मो लोकपाला ममास्त्यतः ॥१६९॥
एतद्ब्रुवत्यां तस्यां च सर्वा वायुपथाङ्गनाः।
चक्रुः कोलाहलं येन नान्ये तच्छुश्रुवुर्वचः ॥१७०॥
ततो राज्ञस्त्रपादायितद्वाक्याशयलब्धये।
गोमुखो युक्तिमन्वेष्टुं तत्राभ्रमदितस्ततः ॥१७१॥
भ्रान्त्वा ददर्श चैकान्ते विद्याधरकुमारिकाः।
अग्निप्रवेशं युगपच्चतस्रः कर्त्तुमुद्यताः ॥१७२॥
कारणं तेन पृष्टाश्च जगदुस्ताः सुमध्यमाः।
समयोल्लङ्घनं तस्मै वायुवेगयशः कृतम् ॥१७३॥
ततः स गोमुखो गत्वा राज्ञस्तत्सर्वसन्निधौ।
नरवाहनदत्ताय यथावस्तु न्यवेदयत् ॥१७४॥
तद्बुद्ध्वा विस्मिते राज्ञि वायुवेगयशास्तदा।
जगादोत्तिष्ठ गच्छामस्त्वरितं रक्षितुं वयम् ॥१७५॥
आर्यपुत्र कुमारीस्तास्ततो वक्ष्यामि कारणम्।
इत्युक्तः स तया राजा तत्र सर्वैः समं ययौ ॥१७६॥
ददर्श च कुमारीस्ताः पुरः प्रज्वलितानलाः।
विधार्यैताश्च राजानं वायुवेगयशा जगौ ॥१७७॥

इस कार्य के लिए मैं आपके पास आने को तैयार भी हूँ। वायुपथ के ऐसा कहने पर मन्त्री गोमुख बोले कि—॥१६३॥

(हे वायुपथ!) यद्यपि हम लोगों के प्रभु नरवाहनदत्त ने शत्रुओं को जीतने की इच्छा से प्रस्थान किया है, तथापि (आप उनसे) निवेदन कीजिए; मैं आपके इस (कार्य) को सिद्ध कर दूंगा॥१६४॥

गोमुख वायुपथ को ऐसा कहकर और (आने के लिए) आमन्त्रित करके (वहाँ से) चले गये, और (यहाँ आकर) नरवाहनदत्त से निवेदन किया कि (हे सम्राट्!) आपका कार्य विना प्रार्थना के सिद्ध हो गया॥१६५॥

इसके अगले दिन वायुपथ ने वहाँ उसी कार्य के लिए आकर नरवाहनदत्त से निवेदन किया। इसी समय चतुर गोमुख बोले कि—॥१६६॥

हे देव, आप अपने वायुपथ की प्रार्थना को अस्वीकार मत कीजिए; क्योंकि ये आपके भक्त हैं, अतः जो कुछ कहें, वह आपको करना ही चाहिए॥१६७॥

तब नरवाहनदत्त ने (वायुपथ की) उस (प्रार्थनाा) को स्वीकार कर लिया। वायुपथ ने भी (विवाह करना) न चाहती हुई अपनी बहन को (जबरदस्ती) लाकर नरवाहनदत्त को समर्पित कर दिया॥१६८॥

विवाह हो ही रहा था कि वह बोल उठी—हे लोकपालो! इन्द्रादि देवताओ! भाई वायुपथ ने मेरे न चाहने पर भी मुझे बलपूर्वक प्रदान कर दिया है, इसलिए इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है॥१६९॥

जब वह कन्या ऐसा बोल रही थी, तब वायुपथ की स्त्रियाँ ऐसा शोर-गुल मचाये हुई थीं कि (किसी) अन्य (व्यक्ति) ने उसकी बात नहीं सुनी॥१७०॥

इसके बाद राजा को लज्जित करानेवाले उस वाक्य का अभिप्राय जानने के किसी उपाय के अन्वेषण में गोमुख इधर-से-उधर घूमने लगे।१७१।

घूमते हुए देखा कि एकान्त स्थान में चार-चार विद्याधरकुमारियाँ एक ही साथ आग में जलकर मरने के लिए उद्यत हैं॥१७२॥

कारण पूछने पर सुन्दर कटिवाली उन चारों कुमारियों ने कहा कि वायुवेगयशा ने हम लोगों के साथ किये गये प्रण को तोड़ दिया है॥१७३॥

तब गोमुख ने नरवाहनदत्त को सब लोगों के सामने वे सारी बातें कह सुनाईं॥१७४॥

वह जानकर राजा विस्मित हो गये, तब वायुवेगयशा ने कहा कि हे आर्यपुत्र! उठिए, हम लोग (पहले) तुरन्त उन कुमारियों की प्राणरक्षा के लिए चलें, उसके बाद मैं कारण बताऊँगी। वायुवेगयशा के ऐसा कहने पर नरवाहनदत्त सबके साथ वहाँ गये॥१७५-१७६॥

और, वहाँ आग जलाये उन कुमारियों को देखा। (तब) वायुवेगयशा ने (उन कुमारियों को अग्नि-प्रवेश से) रोककर नरवाहनदत्त से कहा कि—॥१७७॥

एषैका कालिका नाम कालकूटपतेः सुता।
विद्युत्पुञ्जा द्वितीयेयं विद्युत्पुञ्जात्मसम्भवा॥१७८॥
मन्दरस्य सुता राजंस्तृतीयैषा मतङ्गिनी।
चतुर्थीयं महादंष्ट्रसुता पद्मप्रभा प्रभो॥१७९॥
पञ्चम्यहं चेति वयं दृष्ट्वा त्वां मारमोहिताः।
सिद्धक्षेत्रे तपस्यन्तं व्यदध्म समयं मिथः॥१८०॥
समं पञ्चभिरस्माभिराहार्योऽयं प्रियः पतिः।
नात्मार्पणीयस्त्वेतस्मै कयाचिदपि भिन्नया॥१८१॥
एका चेत्पृथगेतेन विवाहं विदधीत तत्।
प्रवेश्यो वह्निरन्याभिरुद्दिश्यैतां सखीद्रुहम्॥१८२॥
एतत्समयभीताहं नैच्छं परिणयं पृथक्।
न चात्मा तुभ्यमधुनाप्यार्यपुत्र समर्प्यते॥१८३॥
ममार्यपुत्र एवात्र लोकपालाश्च साक्षिणः।
यद्येष समयोऽद्यापि स्वेच्छमुल्लङ्घितो मया॥१८४॥
तदार्यपुत्र ता एता उपयच्छस्व मे सखीः।
युष्माभिरेतद्भोः सख्यो भावनीयं च नान्यथा॥१८५॥
एवं तयोक्ते ततुषुः समाश्लिष्यंश्च ता मिथः।
कुमार्यो मरणोत्तीर्णा राजाप्यन्तर्जहर्ष सः॥१८६॥
बुद्ध्वा तत्पितरस्ते च तत्र तत्क्षणमाययुः।
नरवाहनदत्ताय तस्मै प्रादुश्च ताः सुताः॥१८७॥
शासनं तेऽपि तत्कालं जामातुः प्रतिपेदिरे।
कालकूटपतिप्रष्ठास्तस्य विद्याधरेश्वराः॥१८८॥
एवं पञ्च समं प्राप्य महाविद्याधरात्मजाः।
नरवाहनदत्तोऽत्र माहात्म्यं स परं ययौ॥१८९॥
तस्थौ च तत्र कतिचित्ताभिः सह दिनानि सः।
ततश्चैवं हरिशिखः सेनापतिरुवाच तम्॥१९०॥
शास्त्रज्ञोऽपि कथं देव नीतिमुल्लङ्घय वर्त्तसे।
विग्रहावसरे कोऽयं कामभोगरसस्तव॥१९१॥
क्वायं मन्दरदेवं तं जेतुं यात्रासमुद्यमः।
क्व चेयन्ति दिनानीह विहारोऽन्तःपुरैः सह॥१९२॥

हे राजन्, यह कलिका नाम की कन्या कालकूट के स्वामी की पुत्री है, यह विद्युत्पुंजा नाम की दूसरी कन्या विद्युत्पुंज की पुत्री है, यह मतंगिनी नाम की तीसरी कन्या मन्दर की पुत्री है, यह पद्मप्रभा नाम की चौथी कन्या महादंष्ट्र की पुत्री है॥१७८-१७९॥

और पाँचवीं मैं वायुवेगयशा हूँ, हम पाँचों सिद्धक्षेत्र में तपस्या करते समय आपको देखकर कामवश मोहित हो गई थीं और आपस में (हमने) यह प्रण किया था कि—॥१८०

हम पाँचों इन नरवाहनदत्त को एक साथ ही प्रिय स्वामी बनावें; कोई भी अलग होकर पृथक् रूप से उन्हें अपनी आत्मा समर्पित न करे॥१८१॥

यदि (हममें से कोई) अकेली ही इन नरवाहनदत्त से विवाह कर ले, तो (अपनी) सखियों का द्रोह करनेवाली उस सखी के नाम पर अन्य सभी कन्याएँ अग्नि में प्रवेश करें॥१८२॥

इसी प्रण से डरकर मैं (वायुवेगयशा) अकेली विवाह करना नहीं चाहती थी, और हे आर्यपुत्र, अब भी मैं अपनी आत्मा आपको समर्पित नहीं कर रही हूँ॥१८३॥

हे आर्यपुत्र! इस विषय में आप तथा लोकपाल मेरे साक्षी हैं। यदि उस प्रण को आज भी मैंने स्वेच्छापूर्वक तोड़ा हो ॥१८४॥

तो हे आर्यपुत्र! आप मेरी इन सखियों से विवाह कर लें। और हे सखियो! इस बात को तुम लोग अन्यथा न समझो ॥१८५॥

इस प्रकार, उस वायुवेगयशा के कहने पर वे कुमारियाँ मरने से बचकर सन्तुष्ट हो गई और एक-दूसरी को छाती से लगाने लगीं। नरवाहनदत्त भी भीतर से हर्षित हुए॥१८६॥

(यह समाचार) जानकर उन कन्याओं के पिता भी तुरन्त वहाँ आ गये, और (उन्होंने) अपनी-अपनी पुत्री नरवाहनदत्त को समर्पित कर दी॥१८७॥

तब कालकूट के स्वामी आदि विद्याधर-राजाओं ने भी अपने जमाई नरवाहनदत्त का शासन स्वीकार कर लिया॥१८८॥

इस प्रकार, पाँच महाविद्याधरों की कन्याओं को एक साथ ही पाकर नरवाहनदत्त ने वहाँ (बड़ी) प्रतिष्ठा प्राप्त की॥१८९॥

और, वे कई दिनों तक उन (स्त्रियों) के साथ वहीं रहे। इसके बाद (एक दिन) सेनापति हरिशिख ने नरवाहनदत्त से कहा कि—॥१९०॥

हे देव, विद्वान् होते हुए भी आप राजनीति का उल्लंघन किये हुए (यहाँ) कैसे ठहरे हैं! युद्ध के अवसर पर इस कामोपभोग में आपको कौन-सा रस मिल रहा है॥१९१॥

कहाँ उस मन्दरदेव को जीतने के लिए (युद्ध) यात्रा की तैयारी, और कहाँ इतने दिनों तक इन रानियों के साथ यहाँ विहार! ॥१९२॥

एवं हरिशिखेनोक्ते महाराजो जगाद सः।
युक्तमुक्तं प्रयत्नस्तु न भोगायात्र कोऽपि मे॥१९३॥
वन्धुप्राप्तिप्रदो ह्येष भार्याव्यतिकरो मया।
अरिमर्देऽधुना मुख्यमङ्गमित्यभिनन्दितः॥१९४॥
तदेतानि चलन्त्वद्य सैन्यान्यरिजयाय मे।
इत्युक्तवन्तं राजानं श्वशुरो मन्दरोऽब्रवीत्॥१९५॥
असिद्धचक्रवर्त्यङ्गसर्वरत्नस्य दुर्जयः।
देव मन्दरदेवोऽसौ दूरदुर्गमभूमिगः॥१९६॥
देवमायमहावीररक्षितद्वारदेशया ।
अग्रस्थया त्रिशीर्षाख्यगुहया ह्येष रक्ष्यते॥१९७॥
सिद्धरत्नेन चाक्रम्य सा गुहा चक्रवर्त्तिना।
तच्चक्रवर्त्तिरत्नं यो देव चन्दनपादपः॥१९८॥
अस्यां भुव्यस्ति तं तावत्साधयाभीष्टसिद्धये।
नाचक्रवर्त्ती निकटं तरोः प्राप्नोति तस्य च॥१९९॥
श्रुत्वैतन्मन्दराद्रात्रौ निराहारो यतव्रतः।
नरवाहनदत्तोऽगात्तं चन्दनतरुं प्रति॥२००॥
गच्छन्वित्रास्यमानोऽपि वीरो विघ्नैः सुदारुणैः।
न स तत्रास मूलं च प्राप तस्य महातरोः॥२०१॥
दृष्ट्वा च तं महारत्नं निवद्धोत्तुङ्गवेदिकम्।
इत्याध्यारुह्य सोपानैर्ववन्दे चन्दनद्रुमम्॥२०२॥
चक्रवर्त्तिन्नयमहं सिद्धस्ते चन्दनद्रुमः।
स्मृतस्य सन्निधास्ये ते तदितो व्रज साम्प्रतम्॥२०३॥
गोविन्दकूटं सेत्स्यन्ति रत्नान्यन्यानि ते ततः।
ततो मन्दरदेवं त्वं हेलयैव विजेष्यसे॥२०४॥
इत्युक्तश्च गिरा तत्र स रात्रावशरीरया।
तथेत्युक्त्वा प्रणम्यैतं सिद्धिमान्दिव्यपादपम्॥२०५॥
प्रहृष्टो व्योममार्गेण महाविद्याधरेश्वरः।
नरवाहनदत्तोऽथ निजं कटकमाययौ॥२०६॥
अथ नीत्वा स निशां तामास्थाने सर्वसन्निधौ प्रातः।
नैशं साधितचन्दनपादपवृत्तान्तमखिलमाचख्यौ॥२०७॥

हरिशिख के ऐसा कहने पर नरवाहनदत्त ने कहा कि (हे हरिशिख!) आपने जो कहा, सो ठीक है; किन्तु मैंने तो यहाँ कोई भी प्रयास भोग के लिए नहीं किया है।।१९३।।

यह पत्नियों का समूह जो (मैंने एकत्र किया) है, वह मित्र की प्राप्ति करानेवाला है, (अतः) इस समय शत्रु का मर्दन करने में प्रधान साधक है,इसीलिए इस (पत्नी-समूह) का मैंने अभिनन्दन किया है।।१९४।।

इसलिए, आज ये मेरे सैन्य शत्रु को जीतने के लिए चलें। राजा के यह कहने पर (उनके) ससुर मन्दर ने उनसे कहा कि—।।१९५।।

दूर और दुर्गम स्थान में रहनेवाला मन्दरदेव को ऐसे कोई भी नहीं जीत सकता, जो चक्रवर्ती बनने के लिए अपेक्षित सभी रत्नों को सिद्ध नहीं कर चुका हो।।१९६।।

(मन्दरदेव जहाँ रहता है, उसके) आगे एक त्रिशीर्ष नाम की गुहा है। यह गुहा उसकी रक्षा करती है। इस गुहा के द्वार पर देवमाय नाम का महान् वीर पहरा कर रहा है।।१९७।।

जो व्यक्ति चक्रवर्ती के रत्न सिद्ध किये होगा, वही उस गुहा को पार कर सकता है। चक्रवर्ती का वह रत्न है एक चन्दनवृक्ष—।।१९८।।

जो इसी स्थान में है। इसलिए हे राजन्, अपनी कामना के सिद्धि के लिए पहले उस चन्दनवृक्ष की साधना कीजिए। उस चन्दनवृक्ष के निकट चक्रवर्ती से भिन्न कोई नहीं जा सकता है।।१९९।।

मन्दर से यह सुनकर नरवाहनदत्त उस रात निराहार रहकर, व्रत-नियम करके उस चन्दनवृक्ष की ओर चले।।२००।।

मार्ग में जाते हुए उन्हें बड़े-बड़े भयंकर विघ्नों ने डराया, फिर भी वे न डरे और (अन्त में) उस महावृक्ष की जड़ के पास पहुँच गये।।२०१।।

(जिसकी जड़ में) ऊँची वेदिका बाँधी हुई थी, उस (चन्दनवृक्ष-रूपी) महारत्न को देखकर नरवाहनदत्त सीढ़ी पर चढ़ (उसके) पास आकर उसकी आराधना करने लगे।।२०२।।

(तब आकाशवाणी हुई कि) हे चक्रवर्ती नरवाहनदत्त! यह चन्दनवृक्ष अब तुम्हें सिद्ध हो गया है, तुम जभी स्मरण करोगे, तभी यह तुम्हारे पास उपस्थित हो जायगा। इसलिए, अब तुम यहाँ से गोविन्दकूट जाओ। वहाँ तुम्हें अन्य रत्न भी सिद्ध हो जायेंगे। उसके बाद तुम मन्दरदेव को प्रयास के विना ही जीत लोगे।।२०३-२०४।।

आकाशवाणी द्वारा ऐसा कहे जाने पर उस रात सिद्धि से युक्त होकर नरवाहनदत्त ने 'वैसा ही करूँगा', यह कहकर उस दिव्य चन्दनवृक्ष को प्रणाम किया।।२०५।।

तब विद्याधरों के सम्राट् नरवाहनदत्त प्रसन्न होकर आकाशमार्ग से अपने कटक में पहुँचे।।२०६।।

प्रातःकाल सभा-भवन में बैठे हुए नरवाहनदत्त ने सब लोगों के सामने उस रात चन्दनवृक्ष को सिद्ध करने का पूरा वृत्तान्त कह सुनाया।।२०७।।

तद्बुद्ध्वा दयिताश्च बालसचिवाश्चाप्ताश्च विद्याधरा-
स्ते ते वायुपथादयः सकटकाश्चित्राङ्गदाद्याश्च ते।
गन्धर्वाः प्रसभप्रसाधितमहासिद्धेः प्रहर्षाकुलाः।
सत्त्वोत्साहधृतिप्रभावमहतीं तस्यास्तुवन्धीरताम् ॥२०८॥

सम्मन्त्र्य तैः सह स मन्दरदेवदर्पं राजा विजेतुमथ दिव्यविमानगामी।
शेषान्यचन्दनतरूदितरत्नसिद्ध्यै गोविन्दकूटगिरिमेव जगाम तावत् ॥२०९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे पञ्चलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः।

समाप्तश्चायं पञ्चलम्बकश्चतुर्दशः।

वह (वृत्तान्त) जानकर उनकी पत्नियाँ, बाल्यकाल के साथी विश्वासपात्र मन्त्री, वायुपथ आदि विद्याधर, सैन्य-सहित चित्रांगद आदि गन्धर्व (सभी) परम हर्ष से प्रफुल्लित होकर, सहसा महासिद्धि प्राप्त किये उन नरवाहनदत्त की वीरता, उत्साह और साहस के प्रभाव से (बहुत) बढ़ी हुई धीरता की प्रशंसा करने लगे॥२०८॥

इसके बाद राजा नरवाहनदत्त उन (पत्नी, मन्त्री आदि) लोगों से मन्त्रणा––विचार-विमर्श करके मन्दरदेव के अभिमान को चूर्ण करने के निमित्त (उस) चन्दनवृक्ष द्वारा बताये गये शेष रत्नों की सिद्धि प्राप्त करने के लिए अलौकिक पद्मविमान पर चढ़कर पहले गोविन्द-कूट पर्वत पर गये॥२०९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
पंचलम्बक का चतुर्थ तरंग समाप्त हुआ।
पंचलम्बक नाम का चतुर्दश लम्बक भी समाप्त हुआ।

महाभिषेको नाम पञ्चदशो लम्बकः।

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरसुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

महाभिषेक नाम का पंचदश लम्बक

बहुत दिन हुए, यह कथारूपी अमृत शंकर के मुख-रूपी समुद्र से पार्वती के प्रणय-रूपी मन्दराचल से आन्दोलित होकर प्रकट हुआ था। अब जो भी कोई इसका आस्वादन करते हैं, उनके और विघ्न तो दूर हो ही जाते हैं, उन्हें ऋद्धि-सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं और भगवान् शंकर की कृपा से वे अमर पद भी सहज ही पा लेते हैं।

प्रथमस्तरङ्गः

निशासु ताण्डवोद्दण्डशुण्डासीत्कारशीकरैः।
ज्योतींषि पुष्णन्निव वस्तमो मुष्णातु विघ्नजित् ॥१॥

ततो गोविन्दकूटेऽत्र स्थितमास्थानवर्त्तिनम्।
नरवाहनदत्तं तं चक्रवर्त्तिनमाययौ ॥२॥

विद्याधरो द्युमार्गेण सोऽमृतप्रभसंज्ञकः।
येनैष रक्षितः पूर्वं शत्रुक्षिप्तोऽग्निपर्वते ॥३॥

आगत्यावेदितात्मा च प्रणतश्चक्रवर्त्तिना।
तेन प्रीतिकृतातिथ्यः स तं विद्याधरोऽब्रवीत् ॥४॥

अस्ति दक्षिणदिग्वर्त्ती मलयाख्यो महागिरिः।
तत्राश्रमपदे चास्ते वामदेवो महानृषिः ॥५॥

स त्वां कस्यापि कार्यस्य हेतोरेकाकिनं प्रभो।
आह्वयत्येतदर्थं च तेनाहं प्रेषितोऽद्य ते ॥६॥

पूर्वार्जितः प्रभुस्त्वं च मम तेनास्मि चागतः।
तदेहि सिद्ध्यै गच्छावः शीघ्रं तस्यान्तिकं मुनेः ॥७॥

एवमुक्तवता तेन सह विद्याधरेण सः।
तत्रैव भार्याः सेनाश्च स्थापयित्वा तथेति ताः ॥८॥

उत्पत्य नभसा क्षिप्रं प्राप्यैव मलयाचलम्।
नरवाहनदत्तस्तं वामदेवर्षिमभ्यगात् ॥९॥

ददर्श तं च जरसा पाण्डुरं प्रांशुविग्रहम्।
निर्मांसनेत्रकुहरस्फुरत्तारकसन्मणिम् ॥१०॥

विद्याधरेन्द्ररत्नानां स्थानं वेल्लज्जटालतम्।
हिमाद्रिं सिद्धिसाहाय्यहेतोरिव सहागतम् ॥११॥

ततो ववन्दे चरणौ मुनेस्तस्य स सोऽपि तम्।
राजानं रचितातिथ्यो मुनिरेवमभाषत ॥१२॥

पुरा दग्धोऽपि कामस्त्वं रत्यास्तुष्टेन शम्भुना।
सर्वविद्याधरेन्द्राणां चक्रवर्त्ती विनिर्मितः ॥१३॥

प्रथम तरंग

रात में ताण्डव के क्रम में बहुत तेजी के साथ. संचालित अपनी सूँड़ से सिसकारने के कारण निकली हुई फुहारों से (आकाश में) तारों को बिखेरते-से विघ्नहारी गणेशजी मन का अन्धकार दूर करें ॥१॥

तदनन्तर, उस गोविन्दकूट पर्वत पर सभा-भवन में बैठे चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त के निकट अमृतप्रभ नाम का वह विद्याधर आया, जिसने पहले शत्रु के द्वारा फेंके जाने पर अग्निपर्वत पर उनकी रक्षा की थी ॥२-३॥

उस (अमृतप्रभ) ने आकर प्रणाम किया और अपना परिचय दिया। चक्रवर्ती नरवाहनदत्त ने उसका प्रेमपूर्वक आतिथ्य किया। (तब) वह विद्याधर बोला—॥४॥

कि दक्षिण दिशा में एक मलय नाम का विशाल पर्वत है, उसके आश्रमवाले भाग में वामदेव नाम के एक महान् ऋषि रहते हैं ॥५॥

हे प्रभु ! वे (वामदेव) ऋषि (किसी) कार्य के लिए आपको अकेले बुला रहे हैं, इसीलिए आज उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है ॥६॥

आपको मैं अपना स्वामी पहले ही बना चुका हूँ, इसी कारण यहाँ (संवाद लेकर) आया हूँ। अतः आइए, सिद्धि प्राप्त करने के लिए हम उन मुनि के निकट शीघ्र चलें ॥७॥

उस विद्याधर के ऐसा कहने पर नरवाहनदत्त (अपने) परिजनों और सेनाओं को वहीं वैसे ही रखकर उस विद्याधर के साथ तुरत आकाशमार्ग से उड़ चले और शीघ्र ही मलय-पर्वत पर पहुँचकर वामदेव ऋषि के निकट उपस्थित हुए ॥८-९॥

और (वहाँ) उन (वामदेव ऋषि) को देखा। वे वार्द्धक्य के कारण पीले पड़ गये थे। उनका शरीर लम्बा था और मांसहीन आँखों के गड्ढों में तारे श्रेष्ठ मणियों के समान चमक रहे थे ॥१०॥

विद्याधरों के सम्राट् के योग्य रत्नों के आश्रय-स्थल तथा जटा-लता लपेटे हुए वे ऐसे (लगते थे), मानों (नरवाहनदत्त की) सिद्धि प्राप्त करने में सहायता करने के निमित्त हिमालय-पर्वत ही साथ आया हो ॥११॥

तब नरवाहनदत्त ने मुनि के चरणों की वन्दना की, और वे मुनि भी राजा नरवाहनदत्त का आतिथ्य करके बोले कि—॥१२॥

पहले जो कामदेव दग्ध हो गया था, उसे ही रति के ऊपर प्रसन्न हुए शंकर भगवान् ने सभी विद्याधर-राजाओं के चक्रवर्त्ती (आप नरवाहनदत्त) के रूप में (पुनः) बनाया है ॥१३॥

तदाश्रमे ममैतस्मिन्गम्भीरान्तर्गुहान्तरे।
सन्ति रत्नानि तानि त्वं मदादिष्टानि साधय ॥१४॥

जेयो मन्दरदेवो हि सिद्धरत्नस्य ते भवेत्।
एतदर्थं त्वमाहूतो मयेह गिरिशाज्ञया ॥१५॥

इत्युक्त्वा तेन मुनिनैवोपदिष्टविधिश्च सः।
नरवाहनदत्तस्तां प्रहृष्टः प्राविशद्गुहाम् ॥१६॥
तस्यां विजित्य विघ्नौघांस्तांस्तान्वीरो ददर्श सः।
गजेन्द्रमभिधावन्तं मत्तं सगलगर्जितम् ॥१७॥
मुखे मुष्टिप्रहारं च दत्त्वा पादौ च दन्तयोः।
आरुरोह च तं मत्तगजं राजा स लाघवात् ॥१८॥
साधु सिद्धं महाहस्तिरत्नं ते चक्रवर्त्तिनः।
इति वाणी गुहामध्यादशरीरोदभूत्तदा ॥१९॥
ततः खड्गमहीन्द्राभं स ददर्श निपत्य च।
चक्रवर्त्तित्वलक्ष्म्यास्तं केशपाशमिवाग्रहीत् ॥२०॥
साधु भोः खड्गरत्नं ते सिद्धं जैत्रमरिन्दम।
इति वागुदभूद्भूयोऽप्यशरीरा गुहान्तरे ॥२१॥
ततः स चन्द्रिकारत्नं कामिनीरत्नमत्र च।
विध्वंसिनीति नाम्ना च विद्यारत्नमसाधयत् ॥२२॥

एवं द्वाभ्यां सहाद्याभ्यां सरसा चन्दनेन च।
कार्यकालोपयुक्तानि सप्त माहात्म्यदानि च ॥२३॥

साधयित्वा स रत्नानि गुहाया निर्गतस्ततः।
वामदेवर्षये तस्मै सिद्धं सर्वं शशंस तत् ॥२४॥
ततः स मुनिराह स्म तं प्रीत्या चक्रवर्त्तिनम्।
पुत्र सिद्धमहाचक्रवर्त्तिरत्नो व्रजाधुना ॥२५॥
जय मन्दरदेवं तं कैलासोत्तरपार्श्वगम्।
भुङ्क्ष्व चोभयतत्पार्श्वसाम्राज्यश्रियमूर्जिताम् ॥२६॥
इत्युक्तस्तेन मुनिना सिद्धकार्यः प्रणम्य तम्।
चक्रवर्त्ती ततो व्योम्ना स ययौ सामृतप्रभः ॥२७॥

इसलिए, मेरे आश्रम में (इस) गुहा के भीतर बहुत ही गहरे (स्थान) में जो (बहुत-से) रत्न हैं, उन्हें आपको बता दूँगा और आप उनकी साधना कीजिए ॥१४॥

इन रत्नों को सिद्ध करने पर ही आप मन्दरदेव को जीत सकेंगे। इसीलिए, मैंने शिव की आज्ञा से आपको यहाँ बुलाया है ॥१५॥

ऐसा कहकर उन मुनि ने ही नरवाहनदत्त को विधि का उपदेश दिया (अर्थात्, कैसे रत्नों की साधना करें, यह बतला दिया), तब नरवाहनदत्त प्रसन्न होकर उस गुफा में पैठे ॥१६॥

उस गुफा में कई बड़े-बड़े विघ्नों को जीतकर वीर नरवाहनदत्त ने देखा कि एक मत्त गजराज भीतरी गले से गर्जन करता हुआ सम्मुख दौड़ा आ रहा है ॥१७॥

नरवाहनदत्त उस मत्त (हाथी) के मुँह पर मुट्ठी से चोट देकर और दोनों दाँतों पर पाँव रख करके फुर्ती से उसके ऊपर चढ़ गये ॥१८॥

इसी समय गुफा के बीच से आकाशवाणी हुई कि वाह-वाह! हे चक्रवर्ती! आपको यह महागज-रूपी रत्न सिद्ध हो गया ॥१९॥

तब नरवाहनदत्त ने एक तलवार को विशाल साँप के आकार में देखा, और (देखते ही) नीचे कूदकर साम्राज्य-लक्ष्मी के जूड़े की भाँति उसे पकड़ लिया ॥२०॥

पुनः गुफा के मध्य से यह आकाशवाणी हुई कि वाह-वाह! हे शत्रु को दबानेवाले राजा! आपको यह जैत्र (विजय प्रदान करनेवाला) तलवार-रूपी रत्न (भी) सिद्ध हो गया ॥२१॥

इसके बाद नरवाहनदत्त ने चन्द्रिका-रत्न (चाँदनी), कामिनी-रत्न तथा विध्वंसिनी नाम के विद्या-रत्न को भी सिद्ध कर लिया ॥२२॥

इस प्रकार, पूर्वोक्त सरोवर-रत्न और चन्दन-रत्न को मिलाकर सात रत्नों को (सिद्ध किया), जो कार्य के समय (परम) उपयुक्त तथा गौरव देनेवाले हैं ॥२३॥

इन रत्नों को सिद्ध करके नरवाहनदत्त उस गुफा से निकले और वामदेव ऋषि को अपनी उन सभी सिद्धियों का वर्णन कह सुनाया ॥२४॥

इसके अनन्तर, वामदेव मुनि चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त से प्रेमपूर्वक बोले कि हे पुत्र! महाचक्रवर्त्ती (होने) के लिए अपेक्षित सभी रत्न आपको सिद्ध हो गये, अब आप जाइए ॥२५॥

(आप) कैलास के उत्तर भाग में रहनेवाले उस मन्दरदेव को जीतिए और उस (कैलास) के दोनों भागों की प्रभावशालिनी साम्राज्य-लक्ष्मी को भोगिए ॥२६॥

वामदेव मुनि के ऐसा कहने पर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने अपने कार्य में सफल हो वामदेव मुनि को प्रणाम किया, और अमृतप्रभ के साथ (वहाँ से) आकाशमार्ग से प्रस्थान किया ॥२७॥

प्राप गोविन्दकूटस्थं तच्च स्वशिबिरं क्षणात्।
महाप्रभावया श्वश्र्वा धनवत्याभिरक्षितम् ॥२८॥
तत्र मार्गोन्मुखैर्दृष्ट्वा निजैर्विद्याधराधिपैः।
भार्याभिः सचिवैश्चैव प्रहृष्टैः सोऽभ्यनन्द्यत ॥२९॥
अथोपविष्टः पृच्छद्भ्यो वामदेवर्षिदर्शनम्।
गुहाप्रवेशं रत्नानां सिद्धिं चैभ्यः शशंस सः ॥३०॥
ततस्तत्र हृतानन्ददिव्यतूर्यो महोत्सवः।
नृत्यद्विद्याधरीकोऽभूत्पानमत्तजनस्तथा ॥३१॥
अन्येद्युश्च रिपुस्थानस्थितासौम्यग्रहेण सः।
आक्रान्तकण्टकस्थानसौम्येनात्मसमर्द्धिना ॥३२॥
सर्वान्यसम्पद्युक्तेन लग्नेन कृतमङ्गलः।
आरुह्य शर्वदत्तं तद्विमानं ब्रह्मनिर्मितम् ॥३३॥
जेतुं मन्दरदेवं तं ससैन्योऽन्तःपुरान्वितः।
नरवाहनदत्तोऽत्र प्रतस्थे नभसा ततः ॥३४॥
चेलुश्चानुचरास्ते ते प्रवीराः परिवार्य तम्।
भक्ता भीताश्च गन्धर्वराजविद्याधराधिपाः ॥३५॥
सेनापतेर्हरिशिखस्यादेशानुविधायिनः।
चण्डसिंहः समं मात्रा धनवत्या सुमेधसा ॥३६॥
वीरः पिङ्गलगान्धारस्तथा वायुपथो बली।
विद्युत्पुञ्जोऽमितगतिः कालकूटपतिश्च सः ॥३७॥
मन्दरः समहादंष्ट्रः स्वसखा चामृतप्रभः।
समं सागरदत्तेन वीरश्चित्राङ्गदोऽपि सः ॥३८॥
एते चान्ये च येऽत्रासन्गौरिमुण्डव्यपाश्रिताः।
समग्रास्तेऽन्वधावंस्तं विजिगीषुं बलान्विताः ॥३९॥
तदा तत्सेनया छन्ने गगने क्वापि भास्करः।
ममज्ज लज्जयेवात्र तत्तेजोनिह्नुतप्रभः ॥४०॥
अथ मानसमुल्लङ्घ्य देवर्षिव्रातसेवितम्।
अतीत्य गण्डशैलं च लीलोद्यानं द्युयोषिताम् ॥४१॥
स चक्रवर्ती सम्प्राप स्फटिकापाण्डुरत्विषः।
मूलं निजयशोराशेरिव कैलासभूभृतः ॥४२॥

और, क्षण-भर में ही महान् प्रभावशाली (अपनी) सास धनवती के द्वारा चारों ओर से सुरक्षित गोविन्दकूट पर अवस्थित अपने शिबिर में पहुँच गये ॥२८॥

वहाँ (गोविन्दकूट पर उनके आने के) मार्ग की ओर टकटकी लगाये उनके आत्मीय विद्याधर-राजाओं, पत्नियों और मन्त्रियों ने उनका अभिनन्दन किया ॥२९॥

अनन्तर (जब) नरवाहनदत्त बैठे और लोगों ने पूछा, (तब) उन्होंने उन पूछनेवालों को वर्णन कर सुनाया कि (कैसे-कैसे) वामदेव ऋषि के दर्शन हुए, कैसे उस गुफा में प्रवेश किया और कैसे उन रत्नों की सिद्धि हुई ॥३०॥

तब वहाँ (गोविन्दकूट) पर महोत्सव मनाया गया; आनन्द में अलौकिक बाजे बजने लगे; विद्याधरियाँ नाचने लगीं, तथा लोग मदिरा पी-पीकर मत्त होने लगे ॥३१॥

और अगले दिन, नरवाहनदत्त ने (लड़ाई के लिए प्रयाण कर) मंगल अनुष्ठान ऐसे लग्न में किया, जब उनके प्रतिकूल ग्रह शत्रुस्थान में वर्त्तमान थे, अनुकूल ग्रह कण्टक स्थान को आक्रान्त किये हुए थे, जो उनके लिए कल्याण करनेवाले थे, और अन्य सभी शुभ लक्षणों से युक्त था, और (मंगल अनुष्ठान करके) शिवजी द्वारा प्रदत्त तथा ब्रह्मा द्वारा निर्मित उस पद्मविमान पर परिजन-समेत चढ़कर मन्दरदेव को जीतने के लिए वे सेनाओं के साथ आकाश-मार्ग से विदा हुए ॥३२—३४॥

और, अच्छे-अच्छे वीर तथा अनुचर उन नरवाहनदत्त को चारों ओर से घेरकर चल पड़े। उनके भयहीन भक्त और सेनापति हरिशिख के आदेश का अनुसरण करनेवाले गन्धर्वराज एवं विद्याधरराज सुन्दर बुद्धिवाली अपनी माता धनवती-सहित चण्डसिंह, वीर पिंगलगान्धार, बलवान् वायुपथ, विद्युत्पुंज अमितगति, कालकूट पर्वत के स्वामी, मन्दर, महादंष्ट्र, उनके मित्र अमृतप्रभ, सागरदत्त-सहित वीर चित्रांगद ये सभी तथा गौरिमुण्ड के आश्रित और जो-जो थे, वे समस्त लोग भी (अपनी-अपनी) सेनाओं से युक्त होकर विजयेच्छुक नरवाहनदत्त के पीछे चल पड़े ॥३५—३९॥

नरवाहनदत्त के इस प्रकार प्रयाण करने के समय, उसकी सेना से आकाश के आच्छन्न हो जाने पर सूर्य कहीं छिप गये, मानों उनके तेज से अपनी प्रभा के तिरोहित हो जाने की लज्जा से (छिप गये हों) ॥४०॥

तदनन्तर, देवर्षियों के समुदाय के निवास-स्थल उस मानस सरोवर को लाँघकर, दिव्यस्त्रियों के विलास के उद्यान उस गण्डशैल को पार कर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त कैलास पर्वत के निचले हिस्से में पहुँचे, जो मानों (इनके) अपने ही यश की राशि से स्फटिक की भाँति उज्ज्वल प्रभा से युक्त था ॥४१-४२॥

तत्र मन्दाकिनीतीरे निषण्णं निजगाद तम्।
विद्याधराधिपो धीमान्मन्दरो वन्धुरं वचः ॥४३॥
इहैव तावद्देवाद्य स्थीयतां द्युनदीतटे।
न युक्तमिममुल्लङ्घ्य कैलासं गन्तुमग्रतः ॥४४॥
हरास्पदस्य ह्येतस्य विद्या नश्यन्ति लङ्घनात्।
त्रिशीर्षगुहया तस्य गन्तव्यं पार्श्वमुत्तरम् ॥४५॥
देवमायाभिधानेन सा च राज्ञाभिरक्ष्यते।
स चातिदृप्तस्तस्मात्तमजित्वा गम्यते कथम् ॥४६॥
मन्दरेणैवमुदिते धनवत्यानुमोदिते।
नरवाहनदत्तस्तं तत्रैवासीत्स वासरम् ॥४७॥
तत्रस्थो देवमायाय दूतं साम्ना व्यसर्जयत्।
स च सान्त्वेन नैवास्य शासनं प्रत्यपद्यत ॥४८॥
ततोऽपरेद्युः सन्नद्धैस्तैस्तैः स्वै राजभिः सह।
स चक्रवर्त्ती तं प्रायाद्देवमायं प्रति प्रभुः ॥४९॥
देवमायोऽपि तद्बुद्ध्वा ससैन्यो योद्धुमाययौ।
वराहवज्रमुष्ट्यादिभूरिराजान्वितोऽग्रतः ॥५०॥
ततः प्रववृते तत्र सङ्ग्रामः सेनयोस्तयोः।
कैलासे सुरसङ्घातविमानाच्छादिताम्बरः ॥५१॥
छिन्नभूरिशिरःश्रेणिकरकावर्षभीषणः।
सत्रीरर्गजितः सोऽभूद्घोरो रणघनागमः ॥५२॥
देवमायस्य सेनान्यमग्रयोधं जघान यत्।
वराहं चण्डसिंहोऽत्र न नामाभूत्तदाद्भुतम् ॥५३॥
चित्रं तु यत्स्वयं वद्धो देवमायोऽप्यमायिना।
नरवाहनदत्तेन प्रहारैर्मूर्च्छितो रणे ॥५४॥
वद्धे च तस्मिंस्तत्सैन्यमभज्यत महारथैः।
वज्रमुष्टिमहावाहुतीक्ष्णदंष्ट्रादिभिः सह ॥५५॥
ततः सुरैर्विमानस्थैः साधु साध्वित्युदीरिते।
सर्वेऽप्यभिननन्दुस्तं जयिनं चक्रवर्त्तिनम् ॥५६॥
अथ तं संयतानीतं समाश्वास्य महाप्रभुः।
प्रसादेनानुजग्राह देवमायं मुमोच च ॥५७॥

वहीं गंगा नदी के तट पर बैठे हुए नरवाहनदत्त से बुद्धिमान् विद्याधरराज मन्दर ने यह वचन कहा कि—॥४३॥

हे देव, पहले आज यहीं मन्दाकिनी के तट पर डेरा डाला जाय; इस गंगातट को छोड़ आगे कैलास चला जाना उचित नहीं होगा॥४४॥

यह शिवजी का निवासस्थान है, इसे लाँघकर जाने से विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं। इसलिए, पर्वत के उत्तर भाग में स्थित त्रिशीर्ष नाम की गुफा से (होकर) जाना होगा॥४५॥

उस गुफा की रक्षा देवमाय नाम का एक राजा करता है, और वह राजा परम अभिमानी है, अतः उसको जीते विना कैसे जायेंगे॥४६॥

मन्दर के ऐसा कहने और धनवती के अनुमोदन करने पर नरवाहनदत्त उस दिन वहीं ठहर गये॥४७॥

वहीं ठहरे हुए नरवाहनदत्त ने उस देवमाय के पास शान्ति-प्रस्ताव लेकर एक दूत को भेजा। किन्तु, उस देवमाय ने शान्ति से उसका शासन नहीं स्वीकार किया॥४८॥

तब उसके अगले दिन (अस्त्रशस्त्रादि से) सज्जित अपने पक्ष के उन-उन राजाओं के साथ चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने उस देवमाय की ओर प्रस्थान किया॥४९॥

देवमाय भी यह जानकर (कि नरवाहनदत्त लड़ने आये हैं) वराह, वज्रमुष्टि आदि अनेकानेक (अपने पक्ष के) राजाओं को साथ लेकर लड़ने के लिए आगे बढ़ आया॥५०॥

तब उन दोनों की सेनाओं के बीच कैलास पर्वत पर युद्ध होने लगा, (जिसको देखने के लिए आये) देवगणों के विमानों से आकाश ढक-सा गया॥५१॥

(उस युद्ध में) काटे गये अनेकानेक मस्तकों की पाँत ओले की भाँति भयंकर रूप से बरस रही थी और वीर योद्धा गण (मेघ की भाँति) गर्जन कर रहे थे; मानों घोर युद्ध के रूप में बरसात आ गई हो॥५२॥

चण्डसिंह ने वहाँ आगे आकर लड़नेवाले देवमाय के सेनापति वराह को जो मार डाला, वह तो कोई आश्चर्यजनक बात न हुई॥५३॥

हाँ, आश्चर्यजनक बात यह हुई कि युद्ध में (नरवाहनदत्त के) प्रहारों से मूर्च्छित होकर देवमाय (मायावी होते हुए भी) अमायावी नरवाहनदत्त के द्वारा स्वयं बाँधा गया॥५४॥

उसके बँधते ही वज्रमुष्टि, महाबाहु, तीक्ष्णदंष्ट्र आदि महारथियों के समेत उसके सैन्य तितर-बितर हो गये॥५५॥

तब विमान पर चढ़े देवगण साधु-साधु कहने लगे, और विजय प्राप्त किये हुए चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त का सबने अभिनन्दन किया॥५६॥

तदनन्तर, नरवाहनदत्त ने बाँधकर लाये गये उस देवमाय को (न मारने का) आश्वासन देकर प्रसन्नतावश उसपर अनुग्रह किया और उसे छोड़ भी दिया॥५७॥

सोऽपि बाहुजितस्तस्य शासनं चक्रवर्त्तिनः।
वज्रमुष्ट्यादिभिः सार्धं प्रणतः प्रत्यपद्यत ॥५८॥
ततो निवृत्ते सङ्ग्रामे तस्मिन्व्यपगतेऽह्नि।
प्रातरास्थानमायातः पार्श्वस्थश्चक्रवर्त्तिनः ॥५९॥
तं त्रिशीर्षगुहाम्नायं तेन पृष्टो विविक्षुणा।
देवमायो यथातत्त्वमेवं कथयति स्म सः ॥६०॥
कैलासस्य पुरा देव विद्याधरवराश्रिते।
अभूतां भिन्नसाम्राज्ये द्वे पार्श्वे दक्षिणोत्तरे ॥६१॥
ऋषभाख्योऽथ देवेन तपस्तुष्टेन शम्भुना।
चक्रवर्त्ती प्रदिष्टोऽभूदेक एव तटीर्द्वयोः ॥६२॥
स गन्तुमुत्तरं पार्श्वं कैलासं जातु लङ्घयन्।
अधःस्थितहरक्रोधाद् भ्रष्टविद्योऽपतद्दिवः ॥६३॥
ततः क्रूरेण तपसा पुनराराधितं हरम्।
प्राग्वदादिष्टसाम्राज्यमृषभोऽसौ व्यजिज्ञपत् ॥६४॥
कैलासोल्लङ्घनं तावन्नास्मि नः केन तत्पथा।
उभयोः पार्श्वयोर्देव चक्रवर्त्ती भवाम्यहम् ॥६५॥
तच्छ्रुत्वोत्तरपार्श्वेऽस्य गमनाय पिनाकभृत्।
चकार भित्त्वा कैलासं तद्गुहाविवरं महत् ॥६६॥
अथ विद्धः स कैलासो विग्नो व्यज्ञापयच्छिवम्।
मानुषागम्यमेतन्मे भगवन्पार्श्वमुत्तरम् ॥६७॥
गम्यं तेषामपीदानीमनया गुहया कृतम्।
तत्तथा कुरु येनैषा मर्यादा मे न भज्यते ॥६८॥
कैलासेनेति विज्ञप्तो गुहायां रक्षकान्हरः।
स्थापयामास दिग्दन्तिदृग्विषाहीन्द्रगुह्यकान् ॥६९॥
दक्षिणोऽस्य महामायं द्वारि विद्याधरेश्वरम्।
उत्तरे कालरात्रिं च चण्डिकामपराजिताम् ॥७०॥
एवं कृतगुहारक्षो महारत्नानि शङ्करः।
उत्पाद्य भगवांस्तत्र व्यवस्थामादिदेश सः ॥७१॥
सिद्धरत्नस्य गम्येयं द्विपार्श्वी चक्रवर्त्तिनः।
द्युचराणां सदाराणां सद्गतानां भविष्यति ॥७२॥

और, नरवाहनदत्त के बाहुबल से विजित देवमाय ने भी विनीत होकर वज्रमुष्टि आदि के साथ चक्रवर्ती नरवाहनदत्त का शासन स्वीकार कर लिया ।।५८।।

लड़ाई समाप्त होने पर और उस (लड़ाईवाले) दिन के बीतने पर (अगले दिन) प्रातःकाल उस त्रिशीर्ष नामक गुफा में प्रवेश करने की इच्छा से चक्रवर्ती नरवाहनदत्त ने सभा-भवन में अपनी बगल में बैठे देवमाय से उस गुफा का इतिहास पूछा। और, उसने इस प्रकार ठीक-ठीक वर्णन किया कि— ।।५९-६०।।

हे देव, पहले श्रेष्ठ विद्याधरों के निवास-स्थल इस कैलास पर्वत के दो भाग थे, एक उत्तर भाग और दूसरा दक्षिण भाग, और दोनों के अलग-अलग साम्राज्य थे ।।६१।।

अनन्तर, ऋषभ नाम के एक व्यक्ति को उसकी तपस्या से सन्तुष्ट हुए भगवान् शंकर ने उन दोनों भागों का अकेला चक्रवर्ती बना दिया ।।६२।।

वह (एक समय) उत्तर भाग की ओर जाने के लिए कैलास पर्वत को लाँघने लगा कि (ऊपर से जाते हुए उस ऋषभ के) नीचे पड़े हुए भगवान् शंकर के क्रोध से उसकी सारी विद्याएँ लुप्त हो गईं और वह स्वर्ग से पतित हो गया ।।६३।।

इसके बाद ऋषभ ने पुनः घोर तपस्या के द्वारा शंकर को प्रसन्न करके पहले की भाँति दोनों भागों का साम्राज्य प्राप्त किया, और तब उसने निवेदन किया कि— ।।६४।।

अब हमें कैलास का उल्लंघन तो नहीं करना है, पर मैं किस मार्ग से इसके दोनों भागों का चक्रवर्ती होऊँ ? ।।६५।।

यह सुनकर पिनाकधारी (भगवान् शंकर) ने कैलास के उत्तर भाग की ओर जाने के लिए उस पर्वत को तोड़कर वह विशाल गुफा बना दी ।।६६।।

तदनन्तर, कैलास ने इस प्रकार वेधित (होने से) खिन्न होकर शंकर से निवेदन किया कि हे भगवन् ! मेरा यह उत्तर भाग, जो (अबतक) मनुष्यों के लिए अगम्य था, इस गुफा (के बन जाने से) मनुष्यों के लिए भी गम्य हो गया। इसलिए हे शिव ! आप कोई वैसा (उपाय) कीजिए, जिससे मेरी मर्यादा न टूटे ।।६७-६८।।

इस प्रकार, कैलास के निवेदन करने पर शंकर ने उस गुफा में दिग्गजों, दृग्विष (आँखों में विषवाले, अर्थात् देखते ही मार डालनेवाले) सर्पराजों और गुह्यकों को रक्षक (बनाकर) स्थापित कर दिया ।।६९।।

और, उस गुफा के दक्षिण द्वार पर विद्याधरराज महामाय को तथा उत्तर द्वार पर (अपनी शक्ति) कालरात्रि, चण्डिका और अपराजिता को स्थापित किया ।।७०।।

इस प्रकार, उस गुफा की रक्षा करके वहाँ भगवान् शंकर ने उन महारत्नों की सृष्टि की और इस व्यवस्था का आदेश दिया कि— ।।७१।।

यह दो द्वारोंवाली गुफा उसी के लिए गम्य होगी, जो रत्नों को सिद्ध कर चुका हो तथा जो पत्नियों-सहित तथा दूतों-सहित विद्याधरों का चक्रवर्ती हो ।।७२।।

अनुज्ञाताश्च ये तेन राजानः स्युरिहोत्तरे।
तेषां चैषा गुहा गम्या न त्वन्यस्यात्र कस्यचित् ॥७३॥
इत्यादिष्टवति त्र्यक्षे कुर्वन्नृषभकस्ततः।
साम्राज्यं युयुधे दर्पाद्दैवैर्जघ्ने च वज्रिणा ॥७४॥
इत्येषोऽस्यास्त्रिशीर्षाख्यगुहाया आगमः प्रभो।
अगम्या चैव सैषान्यैर्विना युष्मादृशैर्गुहा ॥७५॥
तस्य चैतद्गुहाद्वाररक्षिणः कालतः कुले।
महामायस्य जातोऽयं देवमायोऽहमीश्वरः ॥७६॥
विद्याधरेषु जातोऽयं दुर्जयो रिपुभिर्मृधे।
यश्च जेष्यत्यमुं सोऽत्र चक्रवर्त्ती भविष्यति ॥७७॥
तेनास्य स्वामिना भाव्यं सोऽनुवर्त्त्योऽमुना प्रभुः।
इति जन्मनि मे दिव्या व्याजहार सरस्वती ॥७८॥
सोऽहं जितस्त्वया त्वं च सिद्धरत्नः प्रभाववान्।
कैलासोभयपार्श्वैकचक्रवर्त्तीह नः प्रभुः ॥७९॥
तत्त्रिशीर्षगुहामेतां तीर्त्वा शेषान्रिपूञ्जय।
इत्युक्ते देवमायेन चक्रवर्त्ती जगाद सः ॥८०॥
गच्छामोऽद्य गुहाद्वारे वसामस्तत्र साम्प्रतम्।
कृतसंविधयः प्रातः प्रवेक्ष्यामश्च तां गुहाम् ॥८१॥
इत्युक्तवान्स गत्वाथ सर्वैस्तैः राजभिः सह।
नरवाहनदत्तोऽत्र गुहाद्वारे समावसत् ॥८२॥
ददर्श तां च गम्भीरनिरालोकोदरां गुहाम्।
जन्मभूमिमनर्केन्दुं कल्पान्ततमसामिव ॥८३॥
द्वितीयेऽह्नि च सम्पूज्य विवेशैतां विमानगः।
ध्यातोपनतसद्रत्नसहायः सपरिच्छदः ॥८४॥
तमांसि चन्द्रिकारत्नैश्चन्दनेनाहिदृग्विषान्।
दिग्गजान्हस्तिरत्नेन खड्गरत्नेन गुह्यकान् ॥८५॥
विघ्नानन्यांश्चान्यरत्नैर्निवार्य सह सेनया।
उत्तीर्य तां गुहां चोदग्द्वारेण स विनिर्ययौ ॥८६॥
ददर्श च गुहागर्भनिर्गतः पार्श्वमुत्तरम्।
कैलासस्यापुनर्जन्मजीवलोकान्तरोपमम ॥८७॥

और, बाद में वह चक्रवर्त्ती जिन राजाओं को अनुमति दे, उनके लिए भी यह गुफा गम्य होगी, किन्तु अन्य किसी के लिए कभी नहीं (गम्य होगी) ॥७३॥

तीन नेत्रोंवाले शंकर ने जब ऐसी आज्ञा लागू की, तब वहाँ राज्य करते हुए ऋषभ ने (बल का) अभिमान हो जाने के कारण देवताओं से युद्ध किया और वज्रधारी इन्द्र के द्वारा मारा गया ॥७४॥

हे प्रभु, यही इस त्रिशीर्ष नाम की गुफा का इतिहास है, और यह आप जैसे (व्यक्तियों) को छोड़ (किन्हीं) अन्य व्यक्तियों के लिए अगम्य है ॥७५॥

हे स्वामी, इस गुफा के द्वाररक्षक महामाय के कुल में कालक्रमेण मैं देवमाय उत्पन्न हुआ हूँ ॥७६॥

मेरे जन्म (के समय) में आकाशवाणी ने कहा था कि मैं विद्याधरों के बीच युद्ध में शत्रुओं से दुर्जेय उत्पन्न हुआ हूँ। जो मुझे जीतेगा, वह यहाँ का चक्रवर्त्ती होगा, वही इसका स्वामी होगा और उस स्वामी का अनुसरण मुझे करना चाहिए ॥७७-७८॥

वही मैं (आज) आपसे पराजित हुआ हूँ। आप रत्नों को सिद्ध किये हुए हैं, प्रभावशाली हैं और कैलास के दोनों भागों के चक्रवर्त्ती (होने के कारण) हम लोगों के प्रभु हैं ॥७९॥

इसलिए, आप त्रिशीर्ष नाम की इस गुफा को पारकर शेष शत्रुओं को (भी) जीतिए ॥८०॥

देवमाय के इतना कहने पर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने कहा कि हम आज जाते हैं और अभी गुफा के द्वार पर डेरा डालते हैं। तैयारी कर लेने के बाद प्रातःकाल उस गुफा में प्रवेश करेंगे ॥८१॥

ऐसा कहने के बाद नरवाहनदत्त उन सभी राजाओं के साथ उस गुफा के द्वार पर गये और वहाँ डेरा डाला ॥८२॥

और (उस द्वार पर) से उस गुफा को देखा। उसका भीतरी भाग (बहुत ही) गहरा और प्रकाश से (सर्वथा) हीन था, अतः वह गुफा ऐसी लगती थी कि मानों प्रलय के समय फैलने वाले घोर अन्धकार की सूर्य-चन्द्रहीन जन्मभूमि हो ॥८३॥

दूसरे दिन उस गुफा की पूजा करके नरवाहनदत्त ने, ध्यान करते ही निकट आये हुए सभी सिद्ध रत्नों के साथ, सपरिवार विमान पर चढ़कर गुफा में प्रवेश किया ॥८४॥

उस सघन अन्धकार को चन्द्रिका-रत्न के द्वारा, उस सर्प की आँख के विष को चन्दन रत्न के द्वारा, दिग्गजों को हस्तिरत्न के द्वारा और गुह्यकों को खड्ग-रत्न के द्वारा तथा अन्यान्य विघ्नों को अन्यान्य रत्नों के द्वारा दूर कर, सेना के साथ उस गुहा को पार कर उत्तर द्वार से निकल आये ॥८५-८६॥

और, गुफा के मध्य से निकलकर नरवाहदत्त ने कैलास के उत्तर भाग को देखा, मानों विना पुनर्जन्म पाये ही दूसरे जीवलोक को देखा हो ॥८७॥

साधु रत्नप्रभावाप्तामाहात्म्येन गुहा त्वया।
चक्रवर्त्तिन्नियं तीर्णेत्युदभूद्वाक्तदा दिवः ।।८८।।

अथोचतुर्धनवती देवमायश्च तं प्रभुम्।
देव सन्निहिता द्वारे कालरात्रिर्हि सर्वदा ।।८९।।

एषा चोत्पादिता पूर्वं विष्णुनामृतमन्थने।
दारणी दानवेन्द्राणाममृतं हर्त्तुमिच्छताम् ।।९०।।

सैषादिष्टा गुहामेतामिह शर्वेण रक्षितुम्।
यथा नान्यस्तरेदेनां यथोक्तैस्त्वद्विधैर्विना ।।९१।।

त्वं चक्रवर्त्ती तीर्णश्च सिद्धरत्नो गुहामिमाम्।
तदेषा पूजनीया ते पूज्या विजयसिद्धये ।।९२।।

एवं धनवतीदेवमायोक्तस्यैव तस्य सः।
नरवाहनदत्तस्य तत्राक्षीयत वासरः ।।९३।।

सन्ध्यारुणा बभूवुश्च कैलासोत्तरसानवः।
सूचयन्त इवासन्नसङ्ग्रामरुधिरोक्षणम् ।।९४।।

आवृणोत्कटकं तस्य राज्ञो लब्धबलं तमः।
गुहागृहपराभूतिवैरमार्द्रमिव स्मरत् ।।९५।।

अनर्चादुर्मनः कालरात्रिक्रोधाङ्कुरा इव।
बभ्रमुर्भूतवेतालडाकिनीगणफेरवः ।।९६।।

क्षणाच्च जज्ञे निःसंज्ञं सैन्यं सुप्तमिवाखिलम्।
नरवाहनदत्तस्य स एकोऽभून्न मोहितः ।।९७।।

ततोऽनर्चनसंक्रुद्धकालरात्रिविजृम्भितम् ।
मन्वानश्चक्रवर्त्ती स वाक्पुष्पैस्तामथार्चयत् ।।९८।।

आशिरश्चक्रसञ्चारचतुरा प्रणवाकृतिः।
त्वं प्राणशक्तिर्जन्तूनां जीवनी त्वां नमाम्यहम् ।।९९।।

स्रवन्महिषकण्ठास्त्रधाराभिस्त्रिशिखाश्रिभिः ।
आश्वासितत्रिभुवने दुर्गारूपे नमोऽस्तु ते ।।१००।।

रुरुरक्तभृतभ्रान्तकरस्थितकपालया ।
नृत्यन्त्या त्रिजगद्रक्षापात्रयेव जितं त्वया ।।१०१।।

उस समय आकाशवाणी हुई कि वाह नरवाहनदत्त वाह! आप (सिद्ध किये हुए) रत्नों के प्रभाव से शक्ति प्राप्त करके इस गुफा को पार कर गये ॥८८॥

अनन्तर, धनवती और देवमाय ने नरवाहनदत्त से कहा कि हे देव! इस द्वार पर कालरात्रि सदा सन्निहित रहती है। अमृतमन्थन के समय अमृत छीनना चाहनेवाले दानवराजों का दलन करनेवाली इस देवी (कालरात्रि) को भगवान् विष्णु ने पहले उत्पन्न किया था ॥८९-९०॥

वही कालरात्रि शिवजी के आदेश से यहाँ इस गुफा की रक्षा कर रही है कि आप जैसे सिद्ध पुरुषों को छोड़ कोई अन्य व्यक्ति कहीं इसे पार न कर जाय ॥९१॥

आप चक्रवर्त्ती हैं, रत्नों को सिद्ध किये हुए हैं, और उस गुफा को भी पार कर चुके हैं, अतः (अब) आपको अपनी विजय पाने के लिए इस पूजनीय देवी कालरात्रि की पूजा करनी चाहिए ॥९२॥

धनवती और देवमाय के इस प्रकार कहते ही वहाँ नरवाहनदत्त का वह दिन बीत गया ॥९३॥

कैलास के उत्तर शिखर सन्ध्या से लाल हो गये, मानों वे सूचित करते हों कि अविलम्ब होनेवाले युद्ध में (यों ही) रक्त छिड़का जायगा ॥९४॥

प्रबल होकर अन्धकार ने राजा नरवाहनदत्त के सैन्य के पड़ाव को चारों ओर से घेर लिया, मानों गुफा के भीतर हुई अपनी हार के कारण उत्पन्न नये वैरभाव को स्मरण करके ही ऐसा किया हो ॥९५॥

भूत, वेताल, डायनें और सियार (इधर-उधर) घूमने-भटकने लगे, मानों वे पूजा न करने के कारण बिगड़ी हुई कालरात्रि के क्रोध के अंकुर हों ॥९६॥

क्षण-भर में नरवाहनदत्त की सारी सेना इस भाँति बेहोश हो गई, मानों सोई हुई हो, और (इस कालरात्रि के प्रभाव से) केवल नरवाहनदत्त ही अकेले होश में रहे ॥९७॥

तब इन सारी घटनाओं को, पूजा न करने के कारण असन्तुष्ट देवी कालरात्रि की प्रेरणा से हुई समझकर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त वचन-रूपी फूलों से उस देवी की अर्चना करने लगे ॥९८॥

"हे कालरात्रि देवी! तुम मस्तक में अवस्थित चक्र (सहस्रार कमल) तक संचार करने में पटु, ओंकाररूपिणी, प्राणशक्ति (होने के कारण) (सभी) प्राणियों की जीवनी हो। मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ ॥९९॥

तुम अपने त्रिशूलादि अस्त्रों से, जिनसे महिषासुर के (कटे) कण्ठ के रक्त की धारा बह रही है, तीनों भुवनों को (राक्षसादि के आक्रमण से) अभय देनेवाली दुर्गास्वरूप हो, तुम्हें नमस्कार है ॥१००॥

नाच करती हुई, चंचल हाथ में हरिण के रक्त से भरे कपाल (खोपड़ी) लिये हुई तुम ऐसा लगती हो, जैसे तीनों लोकों की रक्षा का भार वहन कर रही हो। तुम विजयिनी हो ॥१०१॥

ऊर्ध्वाक्षिदीप्तिदीपाग्र्यकपाला कालराञ्यपि।
कपालहस्ता सार्केन्दुरिव भासि भवप्रिये ॥१०२॥
इति स्तुता तुतोषात्र कालरात्रिर्न तस्य यत्।
तत्स्वमूर्धोपहारेण तामर्चितुमियेष सः ॥१०३॥
मा पुत्र साहसं कार्षीरेषा सिद्धास्मि वीर ते।
प्रकृतिस्थं तवास्त्वेततकटकं जयमाप्नुहि ॥१०४॥
इत्युवाचात्तखड्गं तं सा देवी तत्र तत्क्षणम्।
सुप्तप्रबुद्धमिव तत्कटकं तस्य चाभवत् ॥१०५॥
ततो भार्या वयस्याश्च सर्वे विद्याधराश्च ते।
प्रशशंसुस्तमेतस्य प्रभावं चक्रवर्त्तिनः ॥१०६॥
अथैष विहिताहारपानाद्यावश्यकक्रियः।
वीरोऽनैषीत्त्रियामां तां शतयामामिवायताम् ॥१०७॥
प्रातश्च पूजयित्वा तां कालरात्रिं ततो ययौ।
विद्याधरनिरुद्धाग्रमार्गं धूमशिखं प्रति ॥१०८॥
अभूत्तेन समं तस्य सङ्ग्रामश्चक्रवर्त्तिनः।
राज्ञा मन्दरदेवीयप्रधानेन स तादृशः ॥१०९॥
यत्र खड्गमयं व्योमशूरमूर्धमयी मही।
आसीज्जहि जहीत्युग्रवीरवाक्यमयं वचः ॥११०॥
तत्र धूमशिखं युद्धे बद्ध्वानीतं प्रसह्य तम्।
चक्रवर्त्ती स सम्मान्य ग्राहयामास शासनम् ॥१११॥
न्यवेशयच्च तदहः सैन्यमत्रैव तत्पुरे।
शान्तधूमशिखोद्रेकमग्निदग्धेन्धनं यथा ॥११२॥
द्वितीयेऽह्नि स चारेभ्यो योद्धुमायान्तमग्रतः।
बुद्ध्वा मन्दरदेवं तं ज्ञातवृत्तान्तमग्रतः ॥११३॥
नरवाहनदत्तस्थैः सह विद्याधरेश्वरैः।
प्रययौ तं प्रति ततस्तज्जये वद्धनिश्चयः ॥११४॥
किञ्चिद्गत्वा ददर्शाग्रे बहुराजगणान्वितम्।
सैन्यं मन्दरदेवस्य रचितव्यूहमागतम् ॥११५॥
ततः कृतप्रतिव्यूहरचनो राजभिर्वृतः।
नरवाहनदत्तस्तदभ्यधावदरेर्बलम् ॥११६॥

हे महादेव की प्रिया ! ऊपर की (तीसरी) आँख की चमक रूपी दीपक तुम्हारे ललाट के अग्रभाग में (जल रहा है) और एक खोपड़ी हाथ में है, (इन दोनों से) तुम ऐसी लगती हो, जैसे कालरात्रि होते हुए भी तुम सूर्य और चन्द्र दोनों से युक्त हो (अर्थात्, तृतीय नेत्र से युक्त तुम्हारा अपना कपाल सूर्य-सा दमकता है और अस्थिमय श्वेत कपाल चन्द्र-सा चमकता है" ॥१०२॥

इस प्रकार स्तुति करने पर भी जब देवी उन (नरवाहनदत्त) पर प्रसन्न न हुई, तब उन्होंने अपने मस्तक का उपहार देकर उस देवी की आराधना करनी चाही ॥१०३॥

तब ज्योंही नरवाहनदत्त ने (आत्मबलि के लिए) खड्ग उठाया, त्योंही देवी ने उन्हें कहा कि ऐसा साहस नहीं करते। मैं तुम्हें सिद्ध हो चुकी हूँ। तुम्हारा यह सैन्य-मण्डल पूर्ववत् होश में आ जाय। तुम विजय प्राप्त करो। (उस देवी के इतना कहते ही) नरवाहनदत्त का वह सैन्य-मण्डल मानों निद्रा से जाग उठा ॥१०४-१०५॥

तब पत्नियाँ, मित्र तथा विद्याधर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त के प्रभाव की प्रशंसा करने लगे ॥१०६॥

अनन्तर, नरवाहनदत्त ने भोजन-पान आदि आवश्यक कार्य सम्पन्न करके वहीं वह तीन रातें बिताईं, जो उन्हें बहुत ही लम्बी प्रतीत हो रही थी ॥१०७॥

प्रातःकाल कालरात्रि की पूजा करके वहाँ से मन्दरदेव के सेनापति धूमशिख की ओर चले, जो विद्याधरों (की सेना) से इनका आगे का मार्ग रोके हुए था ॥१०८॥

धूमशिख के साथ चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त का युद्ध होने लगा। आकाश खड्गमय हो गया। धरती वीर-मुण्डमय हो गई। प्रबल वीरों की (एक मात्र) 'मारो-मारो' ध्वनिमय वाणी हो गई ॥१०९-११०॥

उस युद्ध में धूमशिख बलपूर्वक बाँधकर लाया गया और चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने सम्मानपूर्वक उससे अपना शासन मनवाया ॥१११॥

और, उस दिन उसी धूमशिख के नगर में अपने सैन्यों को अटकाया। (धूमशिख का सैन्य) आग में जले हुए ईन्धन की भाँति 'धूमशिखोद्रेक' से रहित हो गया। (ईन्धन के पक्ष में 'धूमशिखा' हुई धुएँ की लपट और उद्रेक का अर्थ हुआ उद्गम, तथा सैन्य के पक्ष में 'धूमशिख' नाम के सेनापति का उद्रेक, अर्थात् अभिमान) ॥११२॥

दूसरे दिन गुप्तचरों से यह पता पाकर कि मन्दरदेव युद्ध का समाचार पहले जानकर लड़ाई करने के लिए सामने आ रहा है, उसे जीतने का दृढ निश्चय कर नरवाहनदत्त ने अपने पक्ष के विद्याधर-राजाओं के साथ उसकी ओर प्रयाण किया ॥११३-११४॥

कुछ आगे बढ़कर (नरवाहनदत्त ने) देखा कि बहुत-से राजाओं के झुण्ड से युक्त, व्यूहों की रचना किये हुई मन्दरदेव की सेना आ गई है ॥११५॥

इसके बाद नरवाहनदत्त ने उसके मोर्चों के लिए जवाबी मोर्चों की रचना कर अपने पक्ष के राजाओं के साथ मन्दरदेव की सेना पर आक्रमण कर दिया ॥११६॥

अथाहवः प्रववृते तयोरुभयसैन्ययोः।
प्रलयोद्वेलजलधिक्षुभितौघानुकारिणोः ॥११७॥

ततस्ते चण्डसिंहाद्या युध्यन्ते स्म महारथाः।
शूराः काञ्चनद्रंष्टाख्यराजप्रभृतयोऽन्यतः ॥११८॥

प्रकम्पितत्रिभुवनो विक्षोभितकुलाचलः।
विजजृम्भे स सङ्ग्रामः कल्पान्तपवनागमः ॥११९॥

शोणैकपार्श्वः कैलासः शूरशोणितकुङ्कुमैः।
भूतिश्वेतान्यपार्श्वश्च तदा गौरीशमन्वगात् ॥१२०॥

खड्गपट्टोदितानेकसूर्यविम्बोग्रभास्वरः।
सत्यं प्रलयकालोऽभूद्वीराणां स महाहवः ॥१२१॥

इयत्तद्युद्धमासीद्यद्विस्मयं प्रेक्षणागताः।
नारदाद्या अपि ययुर्दृष्टदेवासुराहवाः ॥१२२॥

इत्थं घोरे रणे तस्मिंश्चण्डसिंहोऽभिधावतः।
जघ्ने काञ्चनदंष्ट्रेन गदया मूर्ध्नि भीमया ॥१२३॥

तं गदाघातपतितं दृष्ट्वा धनवती सुतम्।
शप्त्वा विद्यावलेनोभे सैन्ये निश्चेतने व्यधात् ॥१२४॥

नरवाहनदत्तश्च चक्रवर्त्ती वलादितः।
ततो मन्दरदेवश्च द्वावेवास्तां सचेतनौ ॥१२५॥

तदा धनवतीं क्रुद्धां जगत्संहरणक्षमाम्।
वीक्ष्याम्बरगता देवा अपि दिक्षु प्रदुद्रवुः ॥१२६॥

दृष्ट्वा मन्दरदेवोऽथ चक्रवर्त्तिनमेककम्।
नरवाहनदत्तं तमभ्यधावदुदायुधः ॥१२७॥

नरवाहनदत्तोऽपि विमानादवतीर्य सः।
उत्खातखड्गरत्नः सन्प्रतिजग्राह तं जवात् ॥१२८॥

ततो मन्दरदेवेन मायया जयमिच्छता।
समदोद्दामनातङ्गरूपं चक्रे स्वविद्यया ॥१२९॥

तद्दृष्ट्वाकारि सुमहत्सिंहरूपं स्वमायया।
नरवाहनदत्तेन विद्यातिशयशालिना ॥१३०॥

तदनन्तर, उन दोनों सेनाओं के बीच युद्ध होने लगा। दोनों सेनाएँ प्रलयकाल में अपने तटों को तोड़कर बह निकलनेवाले समुद्र की विक्षुब्ध बाढ़ का अनुसरण कर रही थीं ॥११७॥

तब वे चण्डसिंह आदि महारथी (एक ओर) और कांचनदंष्ट्र आदि शूर राजा लोग दूसरी ओर से लड़ने लगे ॥११८॥

महाप्रलयकालीन तूफान की भाँति वह युद्ध तीनों भुवनों को प्रकम्पित करता, कुलाचलों—हिमालय आदि बड़े-बड़े पर्वतों को झकझोरता हुआ घोर रूप धारण करने लगा ॥११९॥

उस (युद्ध के) समय कैलास पर्वत का एक भाग वीरों के रक्त-रूपी कुंकुम से लाल हो गया और दूसरा भाग भस्म-सा श्वेत रह गया, इस प्रकार उस पर्वत ने अर्द्धनारीश्वर शिव का अनुकरण किया ॥१२०॥

सचमुच, वह महायुद्ध वीरों का प्रलयकाल था, (क्योंकि उस समय) तलवारों के (चमकते हुए) फलों में अनेकानेक सूर्य-मण्डल उदित हो गये थे और उनका तीव्र तेज चमक रहा था ॥१२१॥

यह ऐसा युद्ध हुआ कि इसे देखने के लिए आये हुए नारद आदि ऋषियों के लिए भी एक विस्मय था, जिन्होंने कभी देवासुर-संग्राम भी देखा था ॥१२२॥

ऐसे भयंकर युद्ध में कांचनदंष्ट्र ने चण्डसिंह पर धावा किया और भयानक गदा से उसके सिर पर प्रहार किया ॥१२३॥

धनवती ने (अपने) पुत्र चण्डसिंह को गदा के प्रहार से गिरा हुआ देख कर (अपनी) विद्या के प्रभाव से शाप दे कर दोनों सेनाओं को अचेत कर दिया ॥१२४॥

तब इधर (अपने) बल से चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त और उधर मन्दरदेव ये दो ही वीर होश में रहे ॥१२५॥

उस समय संसार का संहार कर डालने में समर्थ धनवती को क्रोधाकुल देखकर (युद्ध देखने) आकाश में आये हुए देवगण भी (दसों) दिशाओं में भागे ॥१२६॥

तदनन्तर, मन्दरदेव चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त को अकेला देखकर अस्त्र उठाये हुए उनपर टूट पड़ा ॥१२७॥

नरवाहनदत्त ने भी विमान से उतरकर और (अपना सिद्ध) खड्ग-रत्न खींचकर वेग से उस मन्दरदेव का सामना किया ॥१२८॥

तब मन्दरदेव ने माया (के बल) जीतने की इच्छा करते हुए (अपनी) विद्या के प्रभाव से मत्त और उद्दाम हाथी का रूप धारण कर लिया ॥१२९॥

उत्कृष्ट विद्या से युक्त नरवाहनदत्त ने भी यह देखकर अपनी माया से विशाल सिंह का रूप धारण कर लिया ॥१३०॥

ततो भग्नेभवपुषा मुक्तसिंहाकृतिः स्फुटम्।
युद्धं मन्दरदेवेन चक्रवर्त्ती ततान सः॥१३१॥
नानाविचित्रकरणावङ्गहारक्रियासु तौ।
मण्डलाग्रधरौ नाट्यप्रवृत्ताविव रेजतुः॥१३२॥
नरवाहनदत्तोऽथ साक्षाज्जयमिवाहरत्।
खड्गं मन्दरदेवस्य करात्करणयुक्तितः॥१३३॥
हृतखड्गस्य चाकृष्टक्षुरिकस्यात्र तामपि।
तथैव तस्य सहसा चक्रवर्त्ती जहार सः॥१३४॥
ततोऽपशस्त्रं बाहुभ्यां युध्यमानं स गुल्फयोः।
प्राप्य मन्दरदेवं तं राजा भूमावपातयत्॥१३५॥
प्रारेभे च शिरश्छेत्तुं केशेष्वाकृष्य तस्य सः।
वक्षसि न्यस्तचरणः सम्राट् खड्गेन विद्विषः॥१३६॥
तावन्मन्दरदेवीति नाम्ना कन्याभ्युपेत्य तम्।
स्वसा मन्दरदेवस्य वारयन्त्येवमब्रवीत्॥१३७॥
तपोवनस्थो दृष्टवा त्वं भर्त्ता प्राक्कल्पितो मया।
तच्छ्वशुर्यमिमं राजन्मा वधीर्भ्रातरं मम॥१३८॥
एवं तयोक्तः सुदृशा विमुच्य जितलज्जितम्।
धीरो मन्दरदेवं तं महाराजो जगाद सः॥१३९॥
मुक्तो मया त्वं मा भूत्तल्लज्जा विद्याधरेश ते।
चपलौ किल शूराणां रणे जयपराजयौ॥१४०॥
इति मन्दरदेवोऽसावुक्तो राज्ञा जगाद तम्।
किं जीवितमिदानीं मे रक्षितस्याहवे स्त्रिया॥१४१॥
तदहं यामि तपसे वनस्थस्यान्तिकं पितुः।
त्वमेवोभयवेद्यर्धचक्रवर्त्तीह निर्मितः॥१४२॥
अयमर्थश्च मे भावी पित्रा पूर्वमसूच्यत।
इत्युक्त्वा स ययौ मानी पितुः पार्श्वं तपोवनम्॥१४३॥
साधु सम्यङ्महाचक्रवर्त्तिञ्जित्वा रिपूंस्त्वया।
प्राप्तं साम्राज्यमित्यूचुर्गगनस्थाः सुरास्तदा॥१४४॥
गते मन्दरदेवेऽथ निजं धनवती सुतम्।
उभे च सेने विदधे स्वशक्त्या लब्धचेतने॥१४५॥

गोलाकार अग्रभागवाले खड्ग को धारण किये हुए, अंगों को (विविध) रूप से संचालित करने की क्रियाओं में नाना प्रकार के करण (दाँव) लगानेवाले वे दोनों वीर ऐसे लगते थे, जैसे नृत्य कर रहे हों ।।१३१-१३२।।

अनन्तर, नरवाहनदत्त ने हस्तलाघव दिखलाकर मन्दरदेव का खड्ग छीन लिया, मानों साक्षात् विजय को छीन लिया हो ।।१३३।।

खड्ग के छिन जाने पर उसने छुरा खींचा और उस छुरे को भी नरवहनदत्त ने उसी तरह (हस्त-कौशल से) अचानक छीन लिया ।।१३४।।

इसके बाद अस्त्ररहित होकर वह बाहुयुद्ध करने लगा, तब राजा नरवाहनदत्त ने उसकी दोनों जाँघें पकड़कर उसे धरती पर गिरा दिया ।।१३५।।

और, छाती पर पाँव रखे हुए सम्राट् नरवाहनदत्त बाल पकड़कर तलवार से उस शत्रु का सिर काटने को उद्यत हुए ।।१३६।।

इतने में ही मन्दरदेव की बहन मन्दरदेवी नाम की कन्या वहाँ आई और नरवाहनदत्त को रोकते हुए बोली कि—।।१३७।।

मैं आपको तपोवन में देखकर अपना पति पहले ही बना चुकी हूँ; मेरा भाई आपका साला है, इसे मत मारिए ।।१३८।।

सुन्दर नेत्रवाली उस मानस देवी के ऐसा कहने पर धीर महाराज नरवाहनदत्त पराजित होने के कारण लज्जित हुए उस मन्दरदेव को छोड़कर बोले कि—।।१३९।।

'हे विद्याधरराज मन्दरदेव ! मैंने तुम्हें छोड़ दिया। इसके लिए तुम लज्जा मत करो। क्योंकि, संग्राम में वीरों की जीत या हार अनिश्चित रहती है' ।।१४०।।

नरवाहनदत्त के ऐसा कहने पर मन्दरदेव ने कहा कि (यह कैसी ग्लानि की बात है कि) युद्ध में स्त्री (मन्दरदेवी) के द्वारा मेरी रक्षा हुई ? मेरा (ऐसा निकृष्ट) जीवन अब किस काम का (होगा) ।।१४१।।

इसलिए, मैं वन में रहनेवाले अपने पिता के पास (ही) तपस्या करने चला जाता हूँ। (हिमालय के) इन दोनों भागों का चक्रवर्त्ती (अब) आप ही बनाये गये हैं ।।१४२।।

मेरे पिता (मुझे) पहले ही सूचित कर चुके हैं कि मेरा ऐसा हाल होनेवाला है। ऐसा कहकर वह मनस्वी मन्दरदेव अपने पिता के पास तपोवन चला गया ।।१४३।।

इसी समय (युद्ध देखने के लिए) आकाश में जुटे देवताओं ने कहा कि हे महाचक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ! वाह-वाह ! तुमने शत्रुओं को भली भाँति जीतकर साम्राज्य प्राप्त कर लिया ।।१४४।।

तब मन्दरदेव के चले जाने के बाद धनवती ने अपने पुत्र चण्डसिंह को तथा दोनों (पक्षों की सारी) सेनाओं को भी अपनी शक्ति से पुनः चेतना-युक्त कर दिया ।।१४५।।

इति सुप्तप्रतिबुद्धा इब सर्वे वैरिणं जितं बुद्ध्वा।
सचिवादयो विजयिनं नरवाहनदत्तमभिननन्दुस्तम् ॥१४६॥

येऽपि च काञ्चनदंष्ट्राशोककरक्ताक्षकालजिह्वाद्याः।
मन्दरदेवीयास्ते राजानस्तस्य शासनं जगृहुः ॥१४७॥

काञ्चनदंष्ट्रालोकनसंस्मृतसमराप्ततद्गदाघातः।
प्रचुकोप चण्डसिंहः प्रविधुतदृढमुष्टिपीडितासिवरः ॥१४८॥

कृतमिह समरेण वत्स कस्त्वां समरमुखे विजयेत किं तु युक्त्या।
क्षणमिव विहिता मयैव साभूदुभयबलक्षयरक्षणाय माया ॥१४९॥

इति च धनवती तदा ब्रुवाणा निजतनयं प्रशमय्य तं प्रकोपात्।
बलमखिलमनन्दयत्स्वसिद्ध्या सह नरवाहनदत्तचक्रवर्त्ती ॥१५०॥

प्राप्ते जितप्रणतविद्रुतवैरिवीरवीताहवव्यतिकरोत्तरपार्श्वराज्ये।
शर्वाचलस्य नरवाहनदत्तदेवः प्रीतिं परामभजताक्षतमित्रवर्गः ॥१५१॥

ततोऽरिविजयोत्सवप्रहततारतूर्यं कृती।
स तद्द्युचरसुन्दरीरुचिरनृत्तगीताञ्चितम्।
प्रियासचिवसङ्गतः प्रवरराजवृन्दान्वितः।
प्रतापमिव वैरिणां मधु पिबन्ननैषीद्दिनम् ॥१५२॥

महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे महाभिषेकलम्बके
प्रथमस्तरङ्गः।

इस प्रकार, निद्रा से जगे हुए के समान सचिव आदि ने शत्रु को पराजित समझकर विजयी नरवाहनदत्त का अभिनन्दन किया॥१४६॥

और जो कांचनदंष्ट्र, अशोकक, रक्ताक्ष, कालजिह्व आदि मन्दरदेव के पक्ष के राजा थे, उन्होंने भी राजा नरवाहनदत्त का शासन स्वीकार कर लिया॥१४७॥

कांचनदंष्ट्र को देखते ही चण्डसिंह को स्मरण हो आया कि इसी ने मुझपर युद्ध में गदा का प्रहार किया था, और (यह स्मरण कर) वे अपनी दृढ मुट्ठी से तलवार को कसकर पकड़ चमकाते हुए क्रुद्ध हो उठे॥१४८॥

(इतने में धनवती ने कहा कि) हे पुत्र चण्डसिंह! (इस प्रकार) लड़ना व्यर्थ है। लड़ाई में सामना करके तुमसे कौन जीत सकता है? वह तो क्षण-भर के लिए मैंने ही चालाकी से माया चलाई थी, ताकि दोनों पक्षों की सेनाएँ संहार होने से बच जायें (यदि मैं सबको अचेत नहीं करती, तो बहुत-से सैनिक मारे जाते)॥१४९॥

यह कहती हुई धनवती ने अपने पुत्र चण्डसिंह का क्रोध शान्त कराया और अपनी विद्या से चक्रवर्ती नरवाहनदत्त-सहित सकल सेना को आनन्दित किया॥१५०॥

इस प्रकार, शत्रुपक्ष के वीरों ने पराजित होकर या तो घुटने टेक दिये या वे भाग गये, युद्ध के उत्पात से रहित हिमालय के उत्तर भाग का राज्य प्राप्त हो गया, अपने मित्र-वर्ग सकुशल रहे, (इससे) नरवाहनदत्त परम हर्षित हुए॥१५१॥

तब शत्रुओं पर विजय-प्राप्ति के उत्सव में जोर-जोर से बाजे बजने लगे, विद्याधर-सुन्दरियाँ सुन्दर नाच-गान करने लगीं। इस प्रकार, उत्सव से भरे उस दिन को पत्नियों और मित्रों सहित तथा बड़े-बड़े राजाओं की मण्डली से युक्त राजा नरवाहनदत्त ने इस भाँति मद्य पीते हुए बिताया, मानों शत्रुओं का प्रताप पी रहे हों॥१५२॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के महाभिषेक लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त हुआ।

द्वितीयस्तरङ्गः

अथापरेद्युरुत्थाय ततः कैलाससानुतः।
नरवाहनदत्तोऽसौ चक्रवर्त्ती बलान्वितः॥१॥
राज्ञः काञ्चनदंष्ट्रस्य वचनादग्रगामिनः।
प्रायान्मन्दरदेवीयं पुरं विमलसंज्ञकम्॥२॥
सम्प्राप तच्च सौवर्णप्रांशुप्राकारसुन्दरम्।
सुमेरुमिव कैलासं सभाजयितुमागतम्॥३॥
विवेश चातिगम्भीरमच्युतश्रीविराजितम्।
अनन्तरत्ननिलयं निस्तोयमिव सागरम्॥४॥
तत्रास्थानोपविष्टं तं राजभिर्द्युचरैर्वृतम्।
सम्राजमेत्य राजान्तःपुरवृद्धा व्यजिज्ञपन्॥५॥
गते मन्दरदेवेऽत्र वनं युष्मत्पराजिते।
तद्देव्योऽग्निं विविक्षन्ति श्रुत्वा वेत्त्यधुना प्रभुः॥६॥
इत्युक्तस्तैः स मरणाच्चक्रवर्त्ती निवार्य ताः।
संविभेजे निवासादिदानेन भगिनीरिव॥७॥
तेन विद्याधराधीशवर्गं निखिलमेव तम्।
दत्तानुरागनिगडं स सम्राट् समपादयत्॥८॥
तं च तत्रामितगतिं राजानं पूर्वकल्पितम्।
राज्ये मन्दरदेवस्य कृतज्ञः सोऽभिषिक्तवान्॥९॥
अर्पयामास तस्मै च तदीयांस्तान्महीक्षितः।
राज्ञे काञ्चनदंष्ट्रादीन्भक्तायाव्यभिचारिणे॥१०॥
रेमे च तत्र सप्ताहमुद्यानेषु महर्द्धिषु।
कैलासोत्तरदिक्पार्श्वलक्ष्म्याश्लिष्टो नवोढया॥११॥
ततश्चोभयवेद्यर्धविद्याधरमहीक्षिताम्।
चक्रवर्त्तित्वमासाद्याप्यधिकेच्छुर्बभूव सः॥१२॥
गन्तुं प्रववृते जेतुं वारितोऽपि स मन्त्रिभिः।
तद्दिग्व्यवस्थितालङ्घ्यमेरुभूमीः सुराश्रयाः॥१३॥
अत्यर्थोपचिताः कामं विशेषासादनं विना।
तेजस्विनो न तिष्ठन्ति दीप्रा दावानला इव॥१४॥

द्वितीय तरंग

अगले दिन जागने पर सेना-समेत चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त उस कैलास-भूमि से (विदा हुए और) आगे बढ़ते हुए राजा कांचनदंष्ट्र के वचन के अनुसार मन्दरदेव के नगर विमलपुर की ओर चले ॥१-२॥

और, उस नगर में पहुँचे, जो स्वर्णमय ऊँचे प्राकारों (चहारदीवारी) से ऐसा सुन्दर लगता था, मानों कैलास को सुशोभित करने के लिए आया हुआ सुमेरु पर्वत हो ॥३॥

और (तब) नरवाहनदत्त ने उस नगर के भीतर प्रवेश किया, जो परम गम्भीर, 'अच्युत-लक्ष्मी'[1] से विराजित और अनन्त रत्नों की निधि होने के कारण जलहीन समुद्र-जैसा लगता था ॥४॥

उस नगर में विद्याधर-राजाओं से परिवेष्टित तथा सभा-भवन में बैठे सम्राट् नरवाहनदत्त से राजा मन्दरदेव के अन्तःपुर के बूढ़े लोगों ने कहा कि—॥५॥

(हे सम्राट् !) आप से पराजित हो मन्दरदेव के वन चले जाने पर उनकी रानियाँ अग्नि-प्रवेश करना चाहती हैं। यह सुनकर अब (क्या उचित है यह) श्रीमान् ही समझते हैं ॥६॥

उन बूढ़ों के ऐसा कहने पर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने उन रानियों को मरने से रोककर अपनी बहन की भाँति वास-भवन आदि बाँटकर दे दिया ॥७॥

इस (उदारतापूर्ण) कार्य से सम्राट् ने समस्त विद्याधर-राजाओं को (मानों) अनुराग की बेड़ी में बाँध लिया ॥८॥

वहाँ मन्दरदेव के राज्यासन पर सम्राट् नरवाहनदत्त ने अमितगति को, जिसे पहले ही राजा बनाने के निश्चय कर लिया था, कृतज्ञतावश अभिषिक्त कर दिया ॥९॥

और, उन्हीं अटल भक्त राजा अमितगति के हाथों मन्दरदेव के पक्ष के कांचनदंष्ट्र आदि राजाओं को सौंप दिया ॥१०॥

और, कैलास के उत्तर दिशावाले भाग की नव-परिणीता साम्राज्य-लक्ष्मी से आलिंगित नरवाहनदत्त ने एक सप्ताह-पर्यन्त (कैलास के) परम समृद्ध उद्यानों में रमण किया ॥११॥

तदनन्तर, दोनों वेद्यर्धों (भागों) के विद्याधर राजाओं का चक्रवर्त्तित्व प्राप्त करके भी नरवाहनदत्त और अधिक की इच्छा करने लगे ॥१२॥

और, मन्त्रियों के रोकने पर भी उसी दिशा में अवस्थित देवताओं के वासस्थान अगम्य मेरुप्रदेशों को भी जीतने के लिए जाने को उद्यत हुए ॥१३॥

क्योंकि, प्रज्वलित दावानल की भाँति तेजस्वी पुरुष, भले ही वे अति समृद्ध क्यों न हों, फिर भी वे और अधिक समृद्धि प्राप्त किये विना नहीं रहते हैं ॥१४॥

---

[1] यहाँ 'अच्युत-लक्ष्मी' शब्द के दो अर्थ हैं : नगर के विषय में इसका अर्थ है न समाप्त होनेवाली सम्पत्ति, तथा समुद्र के विषय में अर्थ है भगवान् विष्णु और भगवती लक्ष्मी ।

ततस्तं नारदोऽभ्येत्य मुनिरेवमभाषत।
नीतिज्ञस्यापि ते कोऽयं राजन्नविषयोद्यमः॥१५॥
प्रवर्त्तमानो ह्युत्सेकादसाध्ये परिभूयते।
दशास्य इव दर्पेण कैलासोन्मूलनोद्यतः॥१६॥
दुर्लङ्घ्यो ह्यर्कचन्द्राभ्यामपि मेरुस्तवेह च।
विद्याधरेन्द्रतादिष्टा शर्वेण न सुरेन्द्रता॥१७॥
विद्याधराणां भूमिर्हि हिमवान्विजितस्त्वया।
तन्मेरौ देवभूमौ ते किं कार्यं मुञ्च दुर्ग्रहम्॥१८॥
पिता मन्दरदेवस्य यस्त्वकम्पनसंज्ञकः।
स द्रष्टव्यस्त्वया गत्वा वनस्थः शिवमिच्छता॥१९॥
इत्युक्त्वा नारदमुनिः प्रतिपन्नं तथेति तम्।
चक्रवर्त्तिनमामन्त्र्य जगाम स यथागतम्॥२०॥
चक्रवर्त्त्यपि कार्यज्ञो नारदेन च वारितः।
ऋषभस्य तथा नाशं देवमायाच्छ्रुतं स्मरन्॥२१॥
स विमृश्य स्वयं बुद्ध्या विनिवृत्य ततो ययौ।
तपोवनस्थितं द्रष्टुं राजर्षिं तमकम्पनम्॥२२॥
प्रापत्तपोवनं चास्य योगनिष्ठैर्महर्षिभिः।
पद्मासनोपविष्टैश्च ब्रह्मलोकमिवावृतम्॥२३॥
तत्र वृद्धं ददर्शैतं जटावल्कलधारिणम्।
अकम्पनं मुनिजनैर्महाद्रुममिवाश्रितम्॥२४॥
ववन्दे चोपसृत्यात्र पादावस्य तपस्विनः।
असावपि कृतातिथ्यो राजर्षिर्निजगाद तम्॥२५॥
युक्तं कृतं त्वया राजन्निममागच्छताश्रमम्।
उल्लङ्घ्य गच्छतस्ते हि दद्युः शापं महर्षयः॥२६॥
इति ब्रुवति राजर्षौ तस्मिंस्तं चक्रवर्त्तिनम्।
तिष्ठंस्तपोवने तत्र स गृहीतमुनिव्रतः॥२७॥
आगान्मन्दरदेवोऽपि पितुस्तस्य तदान्तिकम्।
स्वस्रा मन्दरदेव्यात्र कुमार्या सहितस्तया॥२८॥
नरवाहनदत्तश्च दृष्ट्वा कण्ठे तमग्रहीत्।
जितशान्तेषु धीराणां स्नेह एवोचितोऽरिषु॥२९॥

इसके बाद (एक दिन) नारद मुनि ने आकर कहा कि हे राजन्, नीति को जाननेवाले होकर भी आप इस अनुचित विषय मेरु के लिए यह क्या प्रयास कर रहे हैं? ॥१५॥

क्योंकि, अभिमान-वश जो असाध्य कार्य में लगता है, वह पराभव पाता है। जैसे, घमण्डवश कैलास-पर्वत को उखाड़ने का प्रयास करते हुए रावण का हुआ ॥१६॥

मेरु, सूर्य और चन्द्र के लिए भी दुर्लंघ्य है। और, शिवजी ने आपको यहाँ विद्याधरों का चक्रवर्त्ती बनाया है, न कि देवताओं का ॥१७॥

विद्याधरों की भूमि हिमालय पर तो आपने विजय पा ही ली है। फिर, देवताओं की भूमि मेरु से आपका क्या काम है? आप (मेरु-विजय का) यह दुराग्रह छोड़ दीजिए ॥१८॥

और, वह जो अकम्पन नाम का मन्दरदेव का पिता वन में रहता है, आप अपना कल्याण चाहें, तो उससे मिलिए ॥१९॥

नारद मुनि ऐसा कहकर, चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त को समझा-बुझाकर और उनसे ऐसा ही करना स्वीकार कराकर जैसे आये थे, (वैसे ही) चले गये ॥२०॥

क्या करना चाहिए, इसका ज्ञान रखनेवाले चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त भी नारद के रोकने पर तथा देवमाय के मुँह से सुनी हुई ऋषभ के नाश (की कथा) को स्मरण करते हुए अपनी बुद्धि से स्वयं विचार करके (मेरु-विजय से) निवृत्त हो गये, और तपोवन में रहनेवाले उस राजर्षि अकम्पन से मिलने के लिए चल पड़े ॥२१-२२॥

और, अकम्पन ऋषि के तपोवन में पहुँचे। वह तपोवन योगक्रिया में मग्न पद्मासन[1] लगाकर बैठे योगियों से भरा ब्रह्मलोक-सा (लगता) था ॥२३॥

वहाँ (पहुँचने पर) नरवाहनदत्त ने उस वृद्ध अकम्पन ऋषि को देखा। वह जटाएँ और वल्कल (पेड़ की छाल) धारण किये हुए थे और मुनिजनों से आश्रित थे, अतः ऐसे लगते थे, जैसे कोई महावृक्ष हो ॥२४॥

नरवाहनदत्त ने निकट जाकर उन तपस्वी के चरणों की वन्दना की, और उन राजर्षि तपस्वी ने भी (यथोचित) आतिथ्य करके राजा नरवाहनदत्त से कहा कि—॥२५॥

आप जो इस आश्रम में आये, सो अच्छा किया। यदि इस आश्रम का उल्लंघन करके आगे बढ़ते, तो महर्षि गण आपको शाप दे देते ॥२६॥

चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त से राजर्षि अकम्पन ऐसा कह ही रहे थे कि मुनि का व्रत धारण किये उस तपोवन में रहनेवाला मन्दरदेव भी अपनी बहन कुमारी मन्दरदेवी के साथ वहाँ (अपने) पिता (अकम्पन) के निकट आया ॥२७-२८॥

नरवाहनदत्त ने मन्दरदेव को गले से लगा लिया; क्योंकि जो शत्रु पराजित होने के बाद शान्त हो गये हों, उनके साथ स्नेह (का व्यवहार) करना ही धीर व्यक्तियों का कर्त्तव्य है ॥२९॥

---

[1] यहाँ पद्मासन के दो अर्थ हैं: ब्रह्मा के पक्ष में कमल के फूलों का आसन, जिस पर ब्रह्मा बैठते हैं, और योगियों के पक्ष में योगकर्म में बैठने का एक ढंग।

अथ मन्दरदेवीं तां भ्रात्रा सममुपागताम्।
दृष्ट्वाकम्पनराजर्षिः स सम्राजमुवाच तम्॥३०॥
इयं मन्दरदेवीति नाम्ना राजन्सुता मम।
उक्ता च दिव्यवाचैषा महिषी चक्रवर्त्तिनः॥३१॥
तदेतामुपयच्छस्व चक्रवर्त्तिन्मयार्पिताम्।
इत्युक्तवति राजर्षौ सा जगाद तदात्मजा॥३२॥
इह सन्ति चतस्रों मे वयस्या वरकन्यकाः।
एका कनकवत्याख्या कन्या काञ्चनदंष्ट्रजा॥३३॥
द्वितीया कालजिह्वस्य नाम्ना कालवती सुता।
तृतीया दीर्घदष्ट्रस्य श्रुता नाम तनूद्भवा॥३४॥
चतुर्थी पोत्रराजस्य पुत्री नाम्नाम्वरप्रभा।
विद्याधरेन्द्रकन्यानामहं तासां च पञ्चमी॥३५॥
भ्रमन्त्यस्ता वयं पञ्च दृष्ट्वा पूर्वं तपोंवने।
आर्यपुत्रमिमं सोत्का व्यदध्म समयं मिथः॥३६॥
सममस्माभिराहार्यो भर्त्तायं या पृथक्त्वमुम्।
भजेदुद्दिश्य तामात्मा हन्तव्योऽन्याभिराश्विति॥३७॥
तत्सखीभिर्विना ताभिर्युक्तः परिणयो न मे।
मादृश्यो हि कथं कुर्युः सत्त्वोल्लङ्घनसाहसम्॥३८॥
एवं तया प्रौढयोक्ते तत्पिताकम्पनः स तान्।
विद्याधरेन्द्रांश्चतुरोऽप्याह्वयत्कन्यकापितॄन्॥३९॥
शशंस च यथातत्त्वं स तेभ्यस्तेऽपि तत्क्षणम्।
कृतार्थमानिनः कन्यास्तनयास्ताः समानयन्॥४०॥
ततो मन्दरदेवीतः प्रभृत्येताः क्रमेण सः।
नरवाहनदत्तोऽन्याः पञ्चात्र परिणीतवान्॥४१॥
ताभिः सह च तत्रासीद्वासराणि वहूनि सः।
ऋषींस्त्रिसन्ध्यं प्रणमन्कृतोत्सवपरिच्छदः॥४२॥
राजन्महाभिषेकार्थमृषभाद्रिं व्रजाधुना।
इत्युक्तेऽकम्पनेनाथ देवमायोऽप्युवाच तम्॥४३॥
देवैवमेव कार्यं ते यस्मादृषभकादयः।
अभ्यषिच्यन्त तत्राद्रौ प्राक्तनाश्चक्रवर्त्तिनः॥४४॥

तदनन्तर, भाई के साथ पास आई हुई उस मन्दरदेवी को देखकर राजर्षि अकम्पन ने सम्राट् नरवाहनदत्त से कहा कि—॥३०॥

"यह मन्दरदेवी नाम की मेरी लड़की है और इसके विषय में यह आकाशवाणी हुई है कि यह चक्रवर्त्ती की पटरानी होगी ॥३१॥

हे चक्रवर्त्ती ! अतः, यह कन्या आपको मैं अर्पित करता हूँ, आप इससे विवाह कर लीजिए।" राजर्षि के यह कहने पर उसकी पुत्री मन्दरदेवी बोली कि—॥३२॥

यहाँ चार श्रेष्ठ कुमारियाँ मेरी सखियाँ हैं। एक है कांचनदंष्ट्र की पुत्री कनकवती नाम की ॥३३॥

दूसरी है कालजिह्व की लड़की कलावती नाम की। तीसरी है दीर्घदंष्ट्र की पुत्री श्रुता नाम की ॥३४॥

चौथी है पोत्रराज की पुत्री अम्बरप्रभा नाम की। और, उन विद्याधर-राजाओं की कन्याओं में पाँचवीं मैं हूँ ॥३५॥

हम ये पाँचों बहनें पहले (किसी समय) तपोवन में घूमती हुई इन आर्यपुत्र (नरवाहनदत्त) को देख कर मोहित हो गई और हम सबने आपस में प्रतिज्ञा की कि—॥३६॥

हम पाँचों बहनें इन्हें एक साथ स्वामी बनायें; और (हम में से) जो कोई इन्हें अकेली स्वामी बनायेगी, उसके नामपर अन्य सभी सखियाँ, तुरत आत्मघात कर लेंगी ॥३७॥

इसलिए, उन सखियों को छोड़ मेरा अकेले विवाह करना उचित न होगा। मुझ जैसी महिलाएँ प्रतिज्ञा का उल्लंघन करने का साहस कैसे करेंगी ॥३८॥

(अपनी) उस प्रौढा कन्या के ऐसा कहने पर उसके पिता अकम्पन ने उन चारों कन्याओं के पिता विद्याधर-राजाओं को बुला लिया ॥३९॥

और उन सबको यथावत् (सारी बात) कह सुनाई। उन विद्याधर-राजाओं ने भी अपने को कृतार्थ मानकर तुरत अपनी-अपनी कुमारी कन्याओं को मँगवा लिया ॥४०॥

तब मन्दरदेवी से आरम्भ करके क्रमशः और भी पाँचों कन्याओं के साथ नरवाहनदत्त ने विवाह किया ॥४१॥

विवाह के उत्सव मनाने के बाद वे तीनों शाम ऋषि को प्रणाम करते हुए उन (नव-विवाहिता पत्नियों) के साथ बहुत दिनों तक रहे ॥४२॥

अनन्तर, एक दिन अकम्पन ने कहा कि 'अब आप महाभिषेक के लिए ऋषभ नाम के पर्वत पर जाइए।' अकम्पन के ऐसा कहने पर देवमाय ने भी नरवाहनदत्त से कहा कि—॥४३॥

'हे देव ! आप ऐसा ही करें; क्योंकि ऋषभ आदि भूतपूर्व सभी चक्रवर्त्तियों ने (अपना-अपना) अभिषेक इसी पर्वत पर किया है' ॥४४॥

तच्छ्रुत्वा निकटे श्लाघ्ये मन्दराद्रौ प्रशंसति।
अभिषेकं हरिशिखे वागेवमुदभूद्दिवः ॥४५॥

महाभिषेकं सर्वे हि राजन्नृषभपर्वते।
पूर्वे प्राप्तास्त्वमप्यद्य गच्छ सिद्धपदं ह्यदः ॥४६॥

इत्युक्तो दिव्यया वाचा नत्वा साकम्पनानृषीन्।
नरवाहनदत्तोऽतः स प्रतस्थे शुभेऽह्नि ॥४७॥

प्राप तच्च त्रिशीर्षाख्यगुहाया द्वारमुत्तरम्।
सहामितगतिप्रष्ठैः सर्वविद्याधरेश्वरैः ॥४८॥

तत्र सम्पूजितां कालरात्रिं द्वारेण तेन सः।
प्रविश्य तां गुहां सम्राड् दक्षिणेन विनिर्ययौ ॥४९॥

निर्यातश्च समं सेन्यैर्देवमायस्य मन्दिरे।
तदर्थितो विशश्राम दिनेऽस्मिन्सपरिग्रहः ॥५०॥

तत्रस्थश्च स कैलासे तस्मिन्सन्निहितं हरम्।
विचिन्त्य गोमुखसखः स्वैरं द्रष्टुं जगाम तम् ॥५१॥

आसाद्य चाश्रमं तस्य सुरभिं वृषभं तथा।
दृष्ट्वा प्रणम्य च द्वाःस्थं स नन्दिनमुपेयिवान् ॥५२॥

प्रदक्षिणप्रतीतेन मुक्तद्वारश्च तेन सः।
प्रविश्य देवीसहितं ददर्श वृषभध्वजम् ॥५३॥

दूरादेव कृताह्लादं चूडाचन्द्रकरोत्करैः।
इतस्ततो गतैर्गौर्या मुखद्युतिजितैरिव ॥५४॥

क्रीडन्तं प्रियया साकमक्षैरक्षैरिवेच्छया।
स्वकार्यदत्तस्वातन्त्र्यैर्लोलैर्वशगतैरपि ॥५५॥

दृष्ट्वा च पादयोस्तस्य पपात वरदस्य सः।
देव्याः शैलसुतायाश्च चक्रे च द्विः प्रदक्षिणम् ॥५६॥

युक्तं यदागतोऽसीह दोषः स्याद्धि तवान्यथा।
भविष्यन्त्यधुना ते तु विद्याः शश्वदभङ्गुराः ॥५७॥

तद्वत्स सिद्धक्षेत्रं तद्गच्छ त्वमृषभाचलम्।
महाभिषेकं तत्राशु प्राप्तकालमवाप्नुहि ॥५८॥

यह सुनकर हरिशिख भी बताने लगे कि निकटवर्त्ती और प्रशस्त मन्दर पर्वत पर (ही) अभिषेक करना अच्छा है। इतने में आकाशवाणी हुई कि——॥४५॥

'सभी पूर्ववर्त्ती (सम्राटों) ने ऋषभ पर्वत पर ही (अपना-अपना) अभिषेक किया है। इसलिए तुम भी आज (अभिषेक के लिए) उसी सिद्ध स्थान में जाओ'॥४६॥

आकाशवाणी द्वारा ऐसा कहे जाने पर नरवाहनदत्त ने शुभ दिन में अकम्पन-सहित (सभी) ऋषियों को प्रणाम कर वहाँ से प्रस्थान किया॥४७॥

और, अमितगति आदि सभी विद्याधर-राजाओं के साथ त्रिशीर्ष नाम की गुफा के उस उत्तर द्वार पर पहुँचे॥४८॥

वहाँ (उत्तर द्वार पर) देवी कालरात्रि का पूजन करके सम्राट् नरवाहनदत्त ने उत्तर द्वार से गुफा में प्रवेश किया और दक्षिण द्वार से बाहर निकल आये॥४९॥

बाहर निकलकर नरवाहनदत्त ने देवमाय के आग्रह करने पर उस दिन सेनाओं के साथ तथा सपरिवार उस (देवमाय) के ही भवन में रहे॥५०॥

वहाँ देवमाय के भवन में रहते हुए नरवाहनदत्त यह सोचकर कि उस कैलास पर शिवजी निकट में ही हैं, गोमुख को साथ लिये स्वेच्छावश शिवजी के दर्शन करने गये॥५१॥

और, शिवजी के आश्रम पहुँचकर (पहले) सुरभि (गाय) और वृषभ (बसहा) का दर्शन करके (उन्हें) प्रणाम किया, और फिर द्वार पर अवस्थित नन्दी के पास पहुँचे॥५२॥

(नन्दी की) परिक्रमा की, जिससे उसे विश्वास हुआ (कि यह शिवभक्त है), तब नन्दी ने उन्हें द्वार से जाने दिया, और नरवाहनदत्त ने (भीतर) प्रवेश करके देवी पार्वती-सहित भगवान् शंकर के दर्शन किये॥५३॥

भगवान् शंकर गौरी के मुख की चमक से मानों पराजित होकर इधर-उधर भागती हुई (अपनी) चोटी पर के चन्द्र की किरणों की धाराओं से दूर से ही (देखनेवाले को) प्रसन्न कर रहे थे॥५४॥

और (अपनी) प्रिया पार्वती के साथ अक्ष (पाँसे) खेल रहे थे, जो अक्षों (आँखों) की भाँति अधीन रहते हुए भी चंचल थे, और जिन्हें अपने कार्य (इधर-उधर घूमने) में जान-बूझकर (मानों) स्वतन्त्रता दी गई थी॥५५॥

(तब नरवाहनदत्त ने) उन वरदाता शिवजी के तथा हिमाचल की पुत्री पार्वती के दर्शन करके चरणों पर गिरकर प्रणाम किया तथा दो बार प्रदक्षिण किया॥५६॥

(तब भगवान् शिवजी ने कहा कि हे नरवाहनदत्त!) तुम जो यहाँ आये, वह उचित ही किया; क्योंकि ऐसा न करने पर तुम्हें दोष होता। अब तुम्हारी विद्याएँ सदा अक्षय रहेंगी॥५७॥

इसलिए, हे वत्स! तुम ऋषभ पर्वत पर जाओ, जो सिद्धक्षेत्र—सिद्धि प्राप्ति का प्रशंसा स्थान या विद्याधरों का स्थान—है। और, वहाँ अच्छा समय (लग्न) आने पर शीघ्र महाभिषेक प्राप्त करो॥५८॥

इत्यादिष्टश्च देवेन चक्रवर्त्ती तथेति तम्।
नत्वा सभार्यमागात्तद्देवमायस्य मन्दिरम् ॥५९॥

क्वार्यपुत्र गतोऽभूस्त्वं प्रहृष्टः किल दृश्यसे।
इहापि किंस्विन्मिलितास्तवान्याः पञ्च कन्यकाः ॥६०॥

इत्यादिनर्मणा तत्र देवीं मदनमञ्चुकाम्।
ब्रुवतीमुक्ततत्त्वार्थो नन्दयन्सुखमास्त सः ॥६१॥

अन्येद्युः सर्वगन्धर्वविद्याधरबलान्वितः।
द्विभास्करमिव व्योम कुर्वंस्तेजस्विनात्मना ॥६२॥

विमानवरमारूढः सावरोधः समन्त्रिकः।
नरवाहनदत्तोऽतः प्रययावृषभाचलम् ॥६३॥

प्रापच्च तं गिरिं दिव्यं वातधूतजटालतैः।
विकीर्णपुष्पैर्दत्तार्घैस्तापसैरिव पादपैः ॥६४॥

तत्र तस्य समाजह्रुस्ते ते विद्याधराधिपाः।
महाभिषेकसम्भारान्प्रभावसदृशान्प्रभोः ॥६५॥

आययुश्चाभिषेकेऽत्र तस्य प्राभृतपाणयः।
दिग्भ्यो विद्याधराः सर्वे भक्तभीतजितादृताः ॥६६॥

अर्धासनेऽभिषेक्तव्या महादेवीपदेऽत्र का।
देव देवीति पप्रच्छुस्तं च विद्याधरास्ततः ॥६७॥

समं मयाभिषेक्तव्या देवी मदनमञ्चुका।
इति राज्ञोदिते क्षिप्रं ध्यानं ते द्युचरा ययुः ॥६८॥

अथोच्चचार गगनादशरीरा सरस्वती।
हंहो विद्याधरा नेयं मर्त्या मदनमञ्चुका ॥६९॥

रतिरेषावतीर्णा हि कामस्यास्य भवत्प्रभोः।
नासौ कलिङ्गसेनायां जाता मदनवेगतः ॥७०॥

आयोनिजेयं देवैर्हि मायया परिवर्त्य तम्।
गर्भं तस्याः प्रसूताया निक्षिप्ता तत्र तत्क्षणम् ॥७१॥

जातो भर्गस्तु यस्तस्याः सोऽयमित्यकसंज्ञकः।
स्थितो मदनवेगस्य पार्श्वे धात्रा समर्पितः ॥७२॥

भगवान् शंकर का ऐसा आदेश पाकर चक्रवर्ती नरवाहनदत्त 'जो आज्ञा हुई है, वैसा ही करूँगा' यह कहकर गौरी-सहित उन्हें प्रणाम करके पुनः उस देवमाय के भवन में चले आये।।५९।।

(उनके आते ही मदनमंचुका बोली कि) हे आर्यपुत्र नरवाहनदत्त ! आप कहाँ चले गये थे ? आप बड़े प्रसन्न दीख रहे हैं। वहाँ भी क्या और पाँच कन्याएँ हाथ लगीं।।६०।।

इत्यादि बातें विनोद से बोलती हुई देवी मदनमंचुका को सभी घटनाएँ यथावत् सुना करके नरवाहनदत्त ने आनन्दित किया और (स्वयं भी) सुखपूर्वक रहने लगे।।६१।।

(तब) अगले दिन सभी गन्धर्वों और विद्याधरों की सेना से युक्त, मन्त्रियों-सहित और सपरिवार नरवाहनदत्त श्रेष्ठ पद्म-विमान पर चढ़कर, अपने तेज से आकाश को मानों दो सूर्यों से युक्त करते हुए, वहाँ से ऋषभ पर्वत की ओर चले।।६२-६३।।

और उस दिव्य (ऋषभ) पर्वत पर पहुँचे। वहाँ, तापसरूपी वृक्षों ने, जिनकी जटा रूपी लताएँ पवन से फहरा रही थीं, पुष्पों को बिखेर कर उनका आतिथ्य किया।।६४।।

उस ऋषभ पर्वत पर उन विद्याधर-राजाओं ने नरवाहनदत्त के महाभिषेक की वे सारी सामग्रियाँ जुटाईं, जो उन राजा (नरवाहनदत्त) की प्रतिष्ठा के अनुरूप थीं।।६५।।

नरवाहनदत्त के इस अभिषेक में (नाना) दिशाओं से हाथ में उपहार लिये सभी विद्याधर आये, जो चाहे वे उनके भक्त हों, उनसे डरते हों, उनसे हारे हुए हों, या उनके आदर के पात्र हों।।६६।।

इसके बाद विद्याधरों ने उन नरवाहनदत्त से पूछा कि हे देव ! (आपके साथ) आधे आसन पर पटरानी के पद पर किनका अभिषेक होगा ? ।।६७।।

(राजा नरवाहनदत्त ने कहा कि) मैं अपने साथ देवी मदनमंचुका का अभिषेक करूँगा। राजा नरवाहनदत्त के ऐसा कहने पर विद्याधर लोग तुरत सोचने लगे (कि राजा ने कैसे मानव को ऐसा उच्च स्थान दिया)।।६८।।

अनन्तर आकाशवाणी हुई कि 'हे विद्याधरो। यह मदनमंचुका मानवी नहीं है।।६९।।

आप लोगों के प्रभु नरवाहनदत्त (साक्षात्) कामदेव हैं और यह मदनमंचुका के रूप में उत्पन्न हुई उनकी (पत्नी) (साक्षात्) रति है। (वस्तुतः) यह कलिंगसेना के गर्भ से उत्पन्न मदनवेग की पुत्री नहीं है।।७०।।

यह अयोनिजा उत्पन्न होनेवाली है। जब कलिंगसेना ने अपने गर्भ का प्रसव किया, तब उसी क्षण देवताओं ने उसके गर्भ से उत्पन्न शिशु को बदलकर (उसके स्थान में) इस मदनमंचुका को रख दिया।।७१।।

उसके गर्भ से जो (शिशु) उत्पन्न हुआ था, उसका नाम इत्यक पड़ा और ब्रह्मा ने वह (शिशु) मदनवेग को सौंप दिया, अतः वह वही है।।७२।।

तदेषार्धासनार्हास्य पत्युर्मदनमञ्चुका।
अस्या ह्येतद्वरं प्रादात्तपस्तुष्ये हरः पुरा॥७३॥
इत्युक्त्वा व्यरमत्सा च वाणी विद्याधराश्च ते।
तुतुषुः प्रशशंसुश्च देवीं मदनमञ्चुकाम्॥७४॥
ततः शुभेऽहनि व्यग्रे शान्तिसोमे पुरोहिते।
मङ्गल्यतूर्यनादेषु सुगीतेषु द्युयोषिताम्॥७५॥
ब्राह्मणब्रह्मघोषेषु व्याप्तवत्सु दिशो दश।
सिहासनस्थं वामार्धंतिष्ठन्मदनमञ्चुकम्॥७६॥
नरवाहनदत्तं तं नानातीर्थसमुद्भवैः।
हेमकुम्भाहृतैस्तोयैरभ्यषिञ्चन्महर्षयः। ॥७७॥
चित्रं तस्य जलैर्मूर्ध्नि पतितैर्मन्त्रपावनैः।
निरगान्मनसो धौतं गूढं वैरमलं द्विषाम्॥७८॥
लक्ष्मीस्तदभिषेकाम्बु सामुद्रं बन्धुबुद्धितः।
अन्वागतेव तस्याङ्गं साक्षात्तेनसहावृणोत्॥७९॥
पुष्पमालाततिस्तस्य नाकनारीकरोज्झिता।
स्वयं पतन्ती गङ्गेव बहुस्रोता वपुष्यभात्॥८०॥
सोऽरुणेनाङ्गरागेण प्रतापेनेव भूषितः।
उदयस्थोऽम्बुधिजलस्नातो भास्वान्बभौ ततः॥८१॥
बद्धमन्दारमाल्यश्च सद्वस्त्राभरणोज्ज्वलः।
आमुक्तदिव्यमुकुटः श्रियं शाक्रीमुवाह सः॥८२॥
प्राप्ताभिषेका देवी च पार्श्वे मदनमञ्चुका।
तस्य दिव्यैरलङ्कारैः शचीवेन्द्रस्य निर्बभौ॥८३॥
नदद्दुन्दुभिमेघं द्युपतत्कुसुमवृष्टि च।
स्वः स्त्रीविद्युद्धृतं चित्रं दुर्दिनं तदभूद्दिनम्॥८४॥
ततो नगेन्द्रनगरे विद्याधरवराङ्गनाः।
नानृत्यन्केवलं यावद्वातोद्धूता लता अपि॥८५॥
चारणैरत्र मुरजेष्वाहतेषु महोत्सवे।
नगोऽप्यवादयदिव प्रतिशब्दवतीर्गुहाः॥८६॥

इसलिए, यह मदनमंचुका अपने पति नरवाहनदत्त के आधे आसन (पर बैठने) की अधिकारिणी है। क्योंकि, प्राचीन समय में इसके तबसे सन्तुष्ट हुए शिवजी ने इसे (ऐसा ही) वर दिया है'॥७३॥

इतना कहकर आकाशवाणी बन्द हो गई और (तब) विद्याधर लोग सन्तुष्ट हो गये और देवी मदनमंचुका की प्रशंसा करने लगे॥७४॥

तब (राज्याभिषेक का) शुभ दिन आया। पुरोहित शान्तिसोम (तैयारी में) व्यस्त हो गये। मङ्गल-वाद्यों की ध्वनियाँ, विद्याधरियों के सुन्दर गीत और ब्राह्मणों के वेद-घोष दसों दिशाओं में व्याप्त हो गये। (नरवाहनदत्त) सिंहासन पर बैठे और मदनमंचुका उनके वाम भाग में आधे (आसन) पर बैठी॥७५-७६॥

(इस प्रकार बैठे हुए) नरवाहनदत्त को विविध तीर्थों से सोने के घड़ों में (भरकर) लाये गये जल से महर्षियों ने अभिषिक्त किया—स्नान कराया॥७७॥

आश्चर्य (की बात) है कि मन्त्र से पवित्र किये हुए (अभिषेक का) यह जल गिरा तो नरवाहनदत्त के सिर पर, किन्तु इस जल से धुले उनके शत्रुओं के चित्त में छुपे वैर-रूपी मल॥७८॥

उस अभिषेक के समुद्री जल को अपना बन्धु (भाई) समझकर मानों लक्ष्मी पीछे-पीछे आ गई और उस जल के साथ ही नरवाहनदत्त के शरीर में प्रत्यक्ष रूप से व्याप्त हो गई॥७९॥

स्वर्ग की सुन्दरियों के हाथ से (लगातार) फेंकी जाती हुई पुष्पमालाओं की पाँत ऐसी लगती थी, मानों नरवाहनदत्त के शरीर पर अनेक धाराओं में गंगा स्वयं गिर रही हो॥८०॥

अपने प्रताप-जैसे लाल रंग के अंगराग (उबटन) से विभूषित, समुद्र के जल से स्नान करके चमकीले हुए, तथा उदय को प्राप्त किये हुए नरवाहनदत्त (उदयकालीन सूर्य की) शोभा पाने लगे॥८१॥

मन्दारपुष्प की माला पहने, अच्छे वस्त्रों और भूषणों से जगमगाते तथा स्वर्गीय मुकुट धारण किये नरवाहनदत्त इन्द्र की शोभा पाने लगे॥८२॥

और, अभिषिक्त होकर नरवाहनदत्त के निकट (बैठी) स्वर्गीय अलंकारों से युक्त मदनमंचुका शची जैसी शोभा पाने लगी॥८३॥

नगाड़े मेघ की भाँति गरज रहे थे, आकाश से फूल बरस रहे थे, स्वर्ग की सुन्दरियाँ आकाश में बिजली जैसी (चमकती हुई) फैली थीं, (इन सबसे) वह (उत्सव का) दिन दुर्दिन (बरसाती दिन) जैसा लगता था, यह आश्चर्य है॥८४॥

तब हिमालय के नगर-भर में न केवल विद्याधर-सुन्दरियाँ नाचने लगीं, बल्कि पवन से संचालित लताएँ भी नाचने लगीं॥८५॥

इस महोत्सव में जब चारणों (बन्दियों) ने मृदंग बजाये, तब मानों हिमाचल पर्वत ने भी (उस मृदंग के शब्द की) प्रतिध्वनि से भरी (अपनी) गुफाओं को बजाया॥८६॥

दिव्यासवरसक्षीबवल्गद्विद्याधरावृतः
स पर्वतोऽपि पानेन घूर्णमान इवाबभौ ॥८७॥
वर्णितास्याभिषेकस्य शोभानेनैव वीक्ष्य यत्।
इन्द्रोऽपि स्वाभिषेकेऽभूद्भग्नमानो विमानगः ॥८८॥
एवं प्राप्तयथाभीष्टचक्रवर्त्यभिषेचनः।
नरवाहनदत्तोऽथ स सस्मारोत्सुकः पितुः ॥८९॥
सम्मन्त्र्य च समं सद्यः सचिवैर्गोमुखादिभिः।
सम्राड्राजानमाहूय स वायुपथमादिशत् ॥९०॥
नरवाहनदत्तस्त्वां स्मरत्युत्कण्ठितो भृशम्।
इत्युक्त्वाख्यातवृत्तान्तो गच्छ तातमिहानय ॥९१॥
देवीश्च मन्त्रिणश्चास्य तथैवोक्त्वा त्वमानयेः।
तच्छ्रुत्वैव तथेत्युक्त्वा व्योम्ना वायुपथो ययौ ॥९२॥
क्षणाच्च प्राप कौशाम्बीं दृष्टः सभयविस्मयैः।
पौरैर्विद्याधराणां स सप्तभिः कोटिभिर्वृतः ॥९३॥
ददर्शोदयनं तं च वत्सराजं समन्त्रिकम्।
देवीभिश्चात्र सहितं यथार्हविहितादरम् ॥९४॥
उपविश्याथ पृष्ट्वा च कुशलं तं जगाद सः।
नृपं विद्याधरपतिर्दृष्टः सर्वैः सकौतुकम् ॥९५॥
नरवाहनदत्तस्ते सूनुराराध्य शङ्करम्।
साक्षात्कृत्य च तं विद्याः सर्वाः प्राप्यारिदुर्जयाः ॥९६॥
हत्वा मानसवेगं च गौरिमुण्डं च दक्षिणे।
जित्वा मन्दरदेवं च वेद्यर्धपतिमुत्तरे ॥९७॥
आसाद्योभयवेद्यर्धविद्याधरमहीभुजाम् ।
सर्वेषां शासनभृतां चक्रवर्त्तिपदं महत् ॥९८॥
महाभिषेकमृषभे सम्प्राप्तः पर्वतेऽधुना।
राजन्स्मरति सोत्कस्त्वां सदेवीसचिवादिकम् ॥९९॥
अहं च तेन प्रहितो द्रुतमागम्यतामितः।
पुण्यवन्तो हि सन्तानं पश्यन्त्युच्चैः कृतान्वयम् ॥१००॥
इति वायुपथाच्छ्रुत्वा भृशोत्कण्ठो बभार सः।
वत्सराजोऽम्बुदारावहृष्यद्बर्हिणविभ्रमम् ॥१०१॥

स्वर्गीय मदिरा (के पीने) से मत्त होकर लड़खड़ाते हुए विद्याधरों से व्याप्त वह पर्वत भी मद्यपान (के नशे) से झूमने-सा लगा ॥८७॥

इस अभिषेक की शोभा का वर्णन इतने से ही हो जाता है कि (देखने को आये) विमान पर चढ़े इन्द्र भी इसे देखकर अपने अभिषेक (की शोभा) का अभिमान खो बैठे ॥८८॥

इस प्रकार, जब नरवाहनदत्त (अपनी) कामना के अनुसार चक्रवर्ती के रूप में अपना अभिषेक सम्पन्न करा चुके, तब उन्हें उत्सुकता के साथ अपने पिता का स्मरण आने लगा ॥८९॥

तुरत गोमुख आदि मन्त्रियों से विचार-विमर्श करके सम्राट् नरवाहनदत्त ने राजा वायुपथ को बुलाकर आदेश किया कि— ॥९०॥

"(हे वायुपथ!) आप जाइए और (सारा) वृत्तान्त सुनाकर (यह कहिएगा कि) नरवाहनदत्त अत्यन्त उत्कण्ठित (होकर) आपका स्मरण कर रहे हैं, और यह कहकर हमारे पिता (वत्सराज उदयन) को यहाँ लेते आइए ॥९१॥

रानियों तथा मन्त्रियों को भी वैसा ही कहकर उन्हें भी लेते आइए।" यह सुनकर तथा 'वैसा ही करूँगा' यह कहकर वायुपथ आकाश-मार्ग से चले ॥९२॥

सात करोड़ विद्याधरों को साथ लिये वायुपथ कौशाम्बी पहुँचे (और वहाँ के) नागरिकों ने उन्हें भय और विस्मय के साथ देखा ॥९३॥

और, (कौशाम्बी पहुँचकर) उन्होंने मन्त्रियों और रानियों-सहित वत्सराज उदयन से भेंट की; और (वत्सराज ने) उनका यथोचित आदर किया ॥९४॥

तब वे विद्याधरों के राजा वायुपथ वहाँ बैठ गये और सबने उन्हें कुतूहलपूर्वक देखा; फिर उन्होंने वत्सराज उदयन से कुशल पूछकर कहा कि— ॥९५॥

(हे वत्सराज!) आपके पुत्र नरवाहनदत्त ने शंकर का आराधन करके और उनके दर्शन पाकर, शत्रुओं द्वारा न जीते जा सकने योग्य सभी विद्याएँ प्राप्त कर— ॥९६॥

(हिमालय के) दक्षिण में मानसवेग और गौरिमुण्ड को मारकर, उत्तरवाले आधे भाग में मन्दरदेव को जीतकर— ॥९७॥

और (इस प्रकार हिमालय के) दोनों भागों के सभी विद्याधरों पर शासन करनेवाले राजाओं के चक्रवर्त्ती सम्राट् का उच्च पद प्राप्त कर— ॥९८॥

ऋषभ पर्वत पर महाभिषेक पाया है और अब उत्कण्ठापूर्वक रानियों और मन्त्रियों-सहित आपका स्मरण कर रहे हैं ॥९९॥

और (इसीलिए उन्होंने आपके पास) मुझे भेजा है। यहाँ से शीघ्र चला जाय; क्योंकि वंश को ऊँचा करनेवाली सन्तानों को पुण्यवान् व्यक्ति ही देखते हैं ॥१००॥

वायुपथ से यह सुनकर अत्यन्त उत्कण्ठित वत्सराज उदयन मेघ की ध्वनि सुनकर मोर की भाँति हर्षित हो उठे ॥१०१॥

प्रतिपद्य च तद्वाक्यं समं तेनैव तत्क्षणम् ।
आरुह्य शिबिकां व्योम्ना तद्विद्यानां प्रभावतः ॥१०२॥
कलिङ्गसेनानुगतः स भार्यासचिवान्वितः ।
गत्वा सम्प्राप तं दिव्यमृषभाख्यं महागिरिम् ॥१०३॥
तत्रापश्यच्च तं पुत्रं दिव्यसिंहासनस्थितम् ।
विद्याधरेन्द्रमध्यस्थं बहुभार्यासमन्वितम् ॥१०४॥
पूर्वाद्रिमस्तकासीनं ग्रहग्रामपरिष्कृतम् ।
शशाङ्कमनुकुर्वन्तं भूरितारावलीवृतम् ॥१०५॥
तद्दर्शनसुधासारसिक्तः प्रोल्लासिताशयः ।
काञ्चिच्चन्द्रोदयाम्भोधिभङ्गीं भेजे स भूपतिः ॥१०६॥
नरवाहनदत्तोऽपि दृष्ट्वा तं जनकं चिरात् ।
उत्थाय सम्भ्रमात्सोत्कः सोऽभ्यगात्सपरिच्छदः ॥१०७॥
आलिङ्गितश्च तेनाथ पित्राङ्कमधिरोप्य सः ।
भूयोऽप्यानन्दबाष्पाम्बुपूरेणेवाभ्यषिच्यत ॥१०८॥
देवी वासवदत्ता च चिरमाश्लिष्य तं सुतम् ।
तदालोकस्नुतस्तन्यैरसिचत्स्मृतशैशवम् ॥१०९॥
पद्मावती च यौगन्धरायणाद्याश्च मन्त्रिणः ।
पैतृका मातुलश्चैव दृष्ट्वा गोपालकश्चिरात् ॥११०॥
पपुः सतृष्णया दृष्ट्या तस्यामृतमयं वपुः ।
चकोरा इव सम्राजो यथार्हकृतसत्कृतेः ॥१११॥
कलिङ्गसेना तं दृष्ट्वा जामातरमथात्मजाम् ।
त्रैलोक्येऽपि न माति स्म स्वेष्वङ्गेषु तु का कथा ॥११२॥
यौगन्धरायणाद्याश्च मरुभूतिमुखान्सुतान् ।
दृष्ट्वा प्रभुप्रसादाप्तदिव्यत्वानभ्यनन्दिषुः ॥११३॥
आमुक्तदिव्याभरणा देवी मदनमञ्चुका ।
रत्नप्रभाप्यलङ्कारवती ललितलोचना ॥११४॥
कर्पूरिका शक्तियशा भगीरथयशा अपि ।
तथा रुचिरदेवस्य भगिनी दिव्यरूपधृत् ॥११५॥
वेगवत्यजिनावत्यौ तथा गन्धर्वदत्तया ।
प्रभावती चात्मनिका वायुवेगयशास्तथा ॥११६॥

वत्सराज उदयन उन (वायुपथ) की बात मानकर उसी के साथ अविलम्ब शिबिका (डोली) पर चढ़कर, कलिङ्गसेना को साथ लिये तथा पत्नियों और मन्त्रियों-सहित, वायुपथ की विद्याओं के प्रभाव से आकाश-मार्ग से चले और ऋषभ नाम के उस दिव्य महापर्वत पर पहुँचे ॥१०२-१०३॥

वहाँ (पहुँचकर) वत्सराज उदयन ने विद्याधर-राजाओं के बीच अनेक पत्नियों के साथ स्वर्गीय सिंहासन पर बैठे (अपने) पुत्र नरवाहनदत्त को देखा ॥१०४॥

जो (नरवाहनदत्त) ऐसे लगते थे, मानों उदयपर्वत के मस्तक पर बैठे ग्रहगण से शोभित और अनेकानेक ताराओं के मण्डल से परिवेष्टित चन्द्र हों ॥१०५॥

उन (नरवाहनदत्त) के दर्शन-रूपी अमृत की वृष्टि से सींचे गये और उछलते हृदयवाले वत्सराज ने चन्द्रोदयकालीन समुद्र की-सी (असाधारण) शोभा धारण की ॥१०६॥

नरवाहनदत्त भी बहुत दिनों के बाद अपने पिता उदयन को देखकर उत्सुकतापूर्वक झटपट उठकर सपरिवार उनके पास पहुँचे ॥१०७॥

तब पिता उदयन ने उन (नरवाहनदत्त) को गले से लगाया और (अपनी) गोद पर बैठा करके आनन्द से निकले हुए आँसुओं के प्रवाह से उन्हें मानों पुनः अभिषिक्त कर दिया ॥१०८॥

और, रानी वासवदत्ता भी अपने पुत्र नरवाहनदत्त को देर तक गले से लगाये रही। उनको देखते ही (वात्सल्यभाव से) रानी की छाती से जो दूध की धारा बहने लगी उससे (उन नरवाहनदत्त को) सिक्त कर दिया, (जिससे) नरवाहनदत्त को (अपने) बचपन (के दिन) याद आ गये ॥१०९॥

पद्मावती, मन्त्री यौगन्धरायण और मामा गोपालक ने (नरवाहनदत्त को) बहुत दिनों पर देखकर चकोर की भाँति तृषित नयनों से सम्राट् नरवाहनदत्त के शरीर-रूपी अमृत का पान करने लगे, और सम्राट् ने भी सबका यथोचित आदर किया ॥११०-१११॥

कलिंगसेना (अपने) जमाई नरवाहनदत्त तथा (अपनी) पुत्री मदनमंचुका को देखकर (आनन्द से इतनी फूल गई कि) स्वर्ग, मर्त्य पाताल, तीनों लोकों में भी समा न सकी, फिर अपने अंगों में (समाने की) बात ही क्या? ॥११२॥

यौगन्धरायण आदि (मन्त्रियों) ने यह देखकर कि उनके पुत्र मरुभूति आदि (अपने) प्रभु (सम्राट् नरवाहनदत्त) की कृपा से विद्याधर हो गये हैं, उनका अभिनन्दन किया ॥११३॥

तब अलौकिक आभूषणों को धारण किये पटरानी मदनमंचुका, रत्नप्रभा, अलंकारवती, ललितलोचना, कर्पूरिका शक्तियशा, भगीरथयशा; दिव्य सौन्दर्यवाली रुचिरदेव की बहन वेगवती, अजिनावती, गन्धर्वदत्ता, प्रभावती, आत्मनिका, वायुवेगयशा—॥११४—११६॥

तत्सख्यः कालिकाद्याश्च चतस्रोऽथ सुलोचना।
किं च मन्दरदेव्याद्याः पञ्चान्याश्च वराङ्गनाः ॥११७॥
नरवाहनदत्तस्य महिष्यश्चक्रवर्त्तिनः।
प्रणेमुः श्वशुरस्यात्र पादौ वत्सेश्वरस्य ताः ॥११८॥
तद्वद्वासवदत्तायाः पद्मावत्यास्तथैव च।
ते च हर्षाद्यथौचित्यमाशीर्भिस्ता अवर्धयन् ॥११९॥
यथोचितासनासीने वत्सेशेऽन्तःपुरान्विते।
नरवाहनदत्तः स्वमारुरोह महासनम् ॥१२०॥
देवी वासवदत्ता च नवास्तास्तास्तदा स्नुषाः।
पश्यन्ती मुमुदे तासां पृच्छन्ती कुलनामनी ॥१२१॥
नरवाहनदत्तस्य तां ते वत्सेश्वरादयः।
दिव्यां विभूतिं पश्यन्तः कृतार्थं जन्म मेनिरे ॥१२२॥
अथ प्रवृत्ते तत्रैव बन्धुसङ्गमहोत्सवे।
प्रतीहारोऽब्रवीद्धीरो रुचिदेवः प्रविश्य सः ॥१२३॥
आपानभूमिः सज्जेयं तदत्रागम्यतामिति।
तच्छ्रुत्वा ते ययुः सर्वे तामापानभुवं शुभाम् ॥१२४॥
विचित्ररत्नचषकप्रफुल्लविविधाम्बुजाम् ।
विकीर्णानेककुसुमामुद्याननलिनीमिव ॥१२५॥
व्याप्तां मत्तासवापूर्णकलशीभिः पुरन्ध्रिभिः।
तन्वतीभिः सुधाहर्त्तृबाहूत्पन्नामृतभ्रमम् ॥१२६॥
पपुस्तत्रावरोधस्त्रीलज्जानिगडभेदि ते।
स्मरजीवितसर्वस्वं विलाससचिवं मधु ॥१२७॥
मुखानि मधुना तेषामुत्फुल्लान्यरुणानि च।
बालातपेन सरसां सरोजानीव रेजिरे ॥१२८॥
देवीवृन्दाधरजितैर्भीतैस्तत्सङ्गमादिव ।
चक्रेऽब्जरागचषकैः स्वरुचा शीधुनिह्नवः ॥१२९॥
आसन्नकोपकालेऽपि सभ्रूभङ्गारुणेक्षणाः।
नरवाहनदत्तस्य तदा देव्यो मदस्पृशः ॥१३०॥
ततो भोजनभूमिं ते क्रमेणात्र समासदन्।
विद्याविभवसम्भूतविविधाहारहारिणीम् ॥१३१॥

और, वायुवेगयशा की कालिका आदि (कालिका, विद्युत्पुंजा, मतंगिनी, पद्मप्रभा) सुन्दर नयनोंवाली चार सखियाँ तथा मन्दरदेवी आदि (मन्दरदेवी, कनकवती, कालवती, श्रुता, अम्बरप्रभा) अन्य पाँच श्रेष्ठ रमणियाँ—चक्रवर्ती नरवाहनदत्त की इन सभी रानियों ने अपने ससुर वत्सराज उदयन को प्रणाम किया॥११७-११८॥

इसी प्रकार (अपनी सास) वासवदत्ता और पद्मावती को भी प्रणाम किया और दोनों सासों ने भी उन सारी पतोहुओं को आनन्द के साथ यथोचित आशीर्वादों से बधाई दी॥११९॥

(तब) रानियों-समेत वत्सराज उदयन यथोचित आसन पर बैठे और स्वयं नरवाहनदत्त (चक्रवर्ती के) ऊँचे आसन पर चढ़े॥१२०॥

और, देवी वासवदत्ता उन नई-नई बहुओं को देखती हुई तथा उनके वंश और नाम पूछती हुई (परम) प्रमुदित हुई॥१२१॥

वत्सराज उदयन आदि नरवाहनदत्त की उस अलौकिक महिमा को देख-देखकर अपने जन्म को सफल समझने लगे॥१२२॥

तदनन्तर, बन्धुओं से मिलन होने का उत्सव चल ही रहा था कि वहीं रुचिदेव नाम का एक धीर प्रतीहार (दरबान) प्रवेश करके बोला कि—॥१२३॥

'महाराज! मधुपान-स्थल तैयार है, हम वहीं चलें।' यह सुनकर वे सभी उस सुन्दर मधुपान-स्थल में पहुँचे॥१२४॥

वहाँ रंग-विरंगे रत्नों की प्यालियाँ खिले हुए कमल के विविध फूलों-जैसी फैली हुई थीं, इससे वह स्थल फूलों से युक्त कमल के उद्यान जैसा लगता था॥१२५॥

वह स्थल मादक आसवों से भरे कलशोंवाली (मधुबालाओं) से व्याप्त था, जो अमृत-हरण करनेवाले कक्ष से उत्पन्न अमृत को छलकानेवाली अप्सराओं-जैसी दीख रही थीं॥१२६॥

उस पानस्थल में उन सबने मद्य का पान किया, जो अन्तःपुर की ललनाओं की लज्जा के बन्धन को काटनेवाला है; कामदेव का जीवन-सर्वस्व है और विलास का साथी है॥१२७॥

मद्य (पीने) से उन लोगों के मुख लाल और प्रफुल्लित हो उस प्रकार चमकने लगे, जिस प्रकार उदयकालीन सूर्य की किरणों से सरोवरों के कमल चमकने लगते हैं॥१२८॥

पद्मराग (लालमणि) के प्यालों ने रानियों के अधरों से पराजित होकर और मानों उन (अधरों) से मिलने से डरकर अपनी चमक से उस मद्य को छिपा लिया (अर्थात्, मद्यपात्र और मद्य दोनों इस प्रकार लाल थे कि दोनों का भेद लक्षित नहीं होता था)॥१२९॥

उस समय नरवाहनदत्त की मदमाती रानियाँ, क्रोध का अवसर न रहने पर भी (मद्य के प्रभाव से) टेढ़ी भौंहों तथा लाल-लाल आँखोंवाली हो गईं॥१३०॥

इसके बाद वहाँ से वे सभी क्रमशः भोजन-भूमि में पहुँचे, जो (उनकी अलौकिक) विद्याओं के प्रभाव से जुटे विविध खाद्य पदार्थों से (हृदय को) हरण करनेवाली थी॥१३१॥

आस्तीर्णवस्त्रां पात्राढ्यां सतिरस्करिणीपटाम्।
नानाविधास्वाद्यरसां नाट्यवेदीमिव श्रियाम्॥१३२॥

तत्र ते विहिताहारा भास्करे सह सन्ध्यया।
विश्रान्तेऽस्तगिरौ शय्यागृहेष्वथ विशश्रमुः॥१३३॥

नरवाहनदत्तश्च विद्यया बहुधा वपुः।
विभज्य सर्वदेवीनां सन्निधत्ते स्म वेश्मसु॥१३४॥

सत्यतस्त्विन्दुवदनां समदां लोलतारकाम्।
रेमे निशामिवादाय कान्तां मदनमञ्चुकाम्॥१३५॥

वत्सेश्वरोऽपि तां रात्रिं सानुगो दिव्यभोगवान्।
तयैव तन्वा सम्प्राप्तजन्मान्तर इवानयत्॥१३६॥

प्रातः प्रबुध्य सर्वे च तैस्तैर्भोगैस्तथैव ते।
विद्यासिद्धवरोद्यानमन्दिरादिषु रेमिरे॥१३७॥

इति विविधविहारैरत्र तेषां प्रयातेष्वथ बहुदिवसेषु प्रीतिमान्वत्सराजः।
निजसुतमुपगम्य स्वां पुरीं गन्तुकामो निखिलखचरराजं प्रह्वमेवं जगाद॥१३८॥

पुत्रैतेषु सचेतनो न रमते दिव्येषु भोगेषु कः
किन्त्वाकर्षति जन्मभूमिवसतिस्नेहः स्वको मानुषान्।
तद्यामः स्वपुरीं वयं श्रियमिमां वैद्याधरीं त्वं पुन-
र्भुङ्क्ष्वैतास्तव दिव्यमानुषतया योग्या यतो भूमयः॥१३९॥

आह्वातव्याः पुनरवसरे पुत्र भूयो वयं ते
जन्मन्येतत्फलमिह हि नस्त्वन्मुखेन्दुं यदेतम्।
चक्षुः पेयामृतरसमयं कान्तमालोकयामो
दिव्यां लक्ष्मीं यदपि भवतो वीक्ष्य मोदामहे च॥१४०॥

एतद्वचोऽकृतकमेव पितुर्निशम्य वत्सेश्वरस्य नरवाहनदत्तदेवः।
विद्याधराधिपतिमाशु स देवमायमाहूय बाष्पभरगद्गदमादिदेश॥१४१॥

तातः प्रयाति खलु तां निजराजधानीमम्वान्वितः स्वसचिवादियुतस्तदस्य।
सम्पूर्णहेममणिभारसहस्रमग्रे प्रस्थापय द्युचरविष्टिसहस्रहार्यम्॥१४२॥

इत्यादिष्टः स्वामिना प्रीतिपूर्वं तेन प्रह्वो देवमायो जगाद।
आकौशाम्बि स्वात्मनैव प्रयास्याम्येतत्सिद्ध्यै सानुगो मानदेति॥१४३॥

उस भोजन-भूमि में कपड़े फैलाये हुए थे, पात्रों के ढेर लगे थे, कपड़े के परदे (लटके) थे, और नाना प्रकार के चखनें योग्य रस थे, (इन सबसे) वह (भोजन-भूमि) नाटक के मंच की शोभा पा रही थी ॥१३२॥

वहाँ पर उन लोगों ने भोजन किया और जब भगवान् सूर्य ने सन्ध्या के साथ अस्ताचल पर विश्राम किया, तब सबने (अपने-अपने) शयन-गृहों में विश्राम किया ॥१३३॥

नरवाहनदत्त विद्या (के प्रभाव) से (अपने) शरीर को अनेक रूपों में बाँटकर सभी रानियों के शयन-गृहों में उपस्थित रहे ॥१३४॥

किन्तु, (नरवाहनदत्त ने) मदनमंचुका के साथ ही रमण किया, जो वस्तुतः चन्द्रमुखी[1] मतवाली तथा चंचल तारोंवाली (होने के कारण) रात्रि-जैसी लगती थी ॥१३५॥

और, वत्सराज उदयन ने भी अनुचर-समेत अलौकिक भोग प्राप्त करते हुए उस रात को बिताया, मानों उसी शरीर से दूसरा जन्म प्राप्त कर (बिताया हो) ॥१३६॥

तदनन्तर, प्रातःकाल जागकर उन सबने विद्याओं के प्रभाव से बनाये हुए श्रेष्ठ उद्यान, भवन आदि स्थानों में उसी भाँति नाना प्रकार के भोगों से आनन्द प्राप्त किया ॥१३७॥

इस प्रकार, नाना भाँति के विहारों में उन लोगों के बहुत-से दिन बीत गये, तब (एक दिन) वत्सराज उदयन ने अपना नगर (कौशाम्बी) जाने की इच्छा करते हुए सकल गन्धर्वों और विद्याधरों के सम्राट् अपने पुत्र नरवाहनदत्त के पास जाकर स्नेहपूर्वक कहा कि— ॥१३८॥

"ऐसे अलौकिक भोग किस प्राणी को न रुचेंगे ? किन्तु, अपनी जन्मभूमि के निवास का स्नेह मनुष्यों को खींचता रहता है। इसलिए (अब) हमलोग अपना नगर (कौशाम्बी) जा रहे हैं, और आप विद्याधरों की इस साम्राज्य-लक्ष्मी का भोग करते रहिए; क्योंकि अब आप दिव्य मनुष्य (विद्याधर) हो गये हैं, अतः हिमालय के ये प्रदेश आपके योग्य हैं ॥१३९॥

हे पुत्र ! आप अवसर आने पर हम लोगों को पुनः-पुनः यहाँ बुलाते रहें; क्योंकि हम लोगों के जन्म में यही सुफल है कि आँखों से पीने योग्य अमृत-रस से भरे आपका कमनीय मुख-चन्द्र देखते रहें और आपकी अलौकिक सम्पदा देख-देख आनन्दित होते रहें" ॥१४०॥

अपने पिता वत्सराज की यह (घर जाने की) बात, जो स्वाभाविक ही थी, सुनकर राजा नरवाहनदत्त ने आँसू के वेग से गद्गद स्वर में विद्याधरों के राजा देवमाय को बुलाकर तुरत आदेश दिया कि— ॥१४१॥

'माता-समेत हमारे पिता अपने मन्त्रियों आदि के साथ अपनी राजधानी लौट रहे हैं, इसलिए उनके आगे-आगे कुल एक हजार भार सोना और मणि एक हजार विद्याधर बेगारों पर लदवाकर भेजिए' ॥१४२॥

स्वामी नरवाहनदत्त से स्नेहपूर्वक ऐसा आदेश पाकर देवमाय ने विनयपूर्वक कहा कि हे सम्मान देनेवाले सम्राट् ! मैं इस कार्य को पूरा करने के लिए अनुचर-समेत स्वयं कौशाम्बी-पर्यन्त जाता हूँ ॥१४३॥

---

[1] यहाँ 'चन्द्रमुखी' और 'तारा' शब्द के दो अर्थ हैं : मदनमंचुका के पक्ष में चन्द्र-समान मुँहवाली और आँखों के तारे, तथा रात्रि के पक्ष में चन्द्ररूपी मुँहवाली और आकाश के तारे।

अथ तस्य चक्रवर्त्ती वस्त्रालङ्कारपूजितस्य पितुः।
वायुपथदेवमायौ सानुचरस्यानुयात्रिकौ स ददौ॥१४४॥

सोऽप्यारूढो दिव्यं वहनं वत्सेश्वरः सपरिवारः।
दूरानुगतं पुत्रं निवर्त्त्य तं निजपुरीं प्रययौ॥१४५॥

देवी वासवदत्ता तत्कालोद्भूतशतगुणोत्कण्ठा।
प्रणतं निवर्त्त्य रुदती पश्यन्ती तं सुतं कथञ्चिदगात्॥१४६॥

स च नरवाहनदत्तः सचिवानुगतो गुरूननुव्रज्य।
वाष्पान्धकारितमुखः प्रत्यागादृषभकं तमेव गिरिम्॥१४७॥

तत्रास्त बालसचिवैः सह गोमुखाद्यैर्विद्याधरेन्द्रनिवहैश्च स चक्रवर्त्ती।
सान्तःपुरो मदनमञ्चुकया समेतो दिव्येषु शश्वदुपभोगसुखेष्वतृप्तः॥१४८॥

महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
महाभिषेकलम्बके द्वितीयस्तरङ्गः।

समाप्तश्चायं महाभिषेको नाम पञ्चदशो लम्बकः।

इसके बाद चक्रवर्ती नरवाहनदत्त ने वस्त्रों और अलंकारों से अपने पिता का पूजन किया और देवमाय तथा वायुपथ को अनुचर-समेत अपने पिता के आनुयात्रिक (मार्ग में पीछे-पीछे चलनेवाले) बनाकर भेजा ॥१४४॥

और, सपरिवार वत्सराज भी विमान पर चढ़कर दूर तक पीछे आये पुत्र नरवाहनदत्त को लौटाकर अपने नगर चले॥१४५॥

रोती हुई देवी वासवदत्ता भी, जिन्हें उस क्षण सौगुनी बिछोह की व्याकुलता हो आई थी, प्रणाम करते हुए, अपने पुत्र को लौटाकर, उन्हीं को देखती हुई किसी-किसी तरह विदा हुई॥१४६॥

मन्त्रियों—समेत नरवाहनदत्त उन गुरुजनों को पीछे-पीछे कुछ दूर जाकर विदा करके आँसुओं से मुँह तिमिराच्छन्न किये उसी ऋषभ पर्वत पर लौट आये॥१४७॥

वहाँ गोमुख आदि बाल्यकाल के मित्रों, विद्याधर-राजाओं के दलों और अन्तःपुर के लोगों के साथ मदनमंचुका-समेत चक्रवर्ती नरवाहनदत्त स्वर्गीय उपभोग के सुखों में निरन्तर अतृप्त भाव से (रत) रहने लगे॥१४८॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के महाभिषेक
लम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त।

महाभिषेक नाम पंचदश लम्बक भी समाप्त हुआ।

सुरतमञ्जरी नाम षोडशो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुराकिल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति बैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

सुरतमञ्जरी नाम का षोडश लम्बक

बहुत दिन हुए, यह कथारूपी अमृत शंकर के मुख-रूपी समुद्र से पार्वती के प्रणय-रूपी मन्दराचल से आन्दोलित होकर प्रकट हुआ था। अब जो भी कोई इसका आस्वादन करते हैं, उनके और विघ्न तो दूर हो ही जाते हैं, उन्हें ऋद्धि-सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं और भगवान् शंकर की कृपा से वे अमर पद भी सहज ही पा लेते हैं।

प्रथमस्तरङ्गः

पातु वस्ताण्डवोड्डीनगण्डसिन्दूरमण्डनः।
वान्ताभिपीतप्रत्यूहप्रताप इव विघ्नजित्॥१॥
एवं तस्मिन्नृषभके पर्वते तस्य तिष्ठतः।
नरवाहनदत्तस्य सभार्यस्य समन्त्रिणः॥२॥
प्राप्य विद्याधराधीशचक्रवर्त्तिश्रियं पराम्।
भुञ्जानस्याययौ पुष्णन्सुखानि मधुरेकदा॥३॥
प्रससाद चिराच्चारु चन्द्रिका मृगलक्ष्मणः।
नवीनशाद्वलाश्लिष्टा सस्वेदाभूद्वसुन्धरा॥४॥
आसन्नालिङ्ग्यमानाश्च मुहुर्मलयमारुतैः।
कम्पाकुलाः कण्टकिताः सरसा वानराजयः॥५॥
पुष्पचापप्रतीहारश्चूतयष्टिं विलोकयन्।
क्वणन्मानवतीमानं निषिषेधेव कोकिलः॥६॥
निष्पेतुः पुष्पवल्लीभ्यः सशब्दा भृङ्गराजयः।
मारवीग्धनुर्मुक्ता इव नाराचपङ्क्तयः॥७॥
एवं मधुप्रवृत्तिं तां तदा वीक्ष्य व्यजिज्ञपन्।
नरवाहनदत्तं तं सचिवा गोमुखादयः॥८॥
देव पश्याम्य एवायं जातः पुष्पमयोऽधुना।
ऋषभाद्रिर्मधूत्फुल्लकाननालीनिरन्तरः ॥९॥
अन्योन्यघट्टितैः पुष्पैः कांस्यतालवतीरिव।
सङ्गीता इव भृङ्गीनां विरुतैर्वातवेपिताः॥१०॥
वसन्तसज्जितोद्यानमन्मथास्थानगामिनीः ।
विलोकय लता राजन्परागपटमालिनीः॥११॥
अलिमालाश्लथज्येयं दृश्यतां चूतमञ्जरी।
विश्रान्तस्य जगज्जित्वा कामस्येव धनुर्लता॥१२॥
तदत्र रुचिरोद्याने देव मन्दाकिनीतटे।
मधूत्सवमिमं तावदेहि गत्वोपभुञ्ज्महे॥१३॥
इत्युक्तः सचिवैः सोऽथ सावरोधवधूजनः।
नरवाहनदत्तस्तद्ययौ मन्दाकिनीतटम्॥१४॥

प्रथम तरंग

विघ्न को जीतनेवाले गणेशजी आप लोगों की रक्षा करें, जिनके ताण्डव नृत्य के समय गाल (कनपटी) पर किये गये श्रृंगार का सिन्दूर ऐसा लगता है, जैसे पिये हुए विघ्नों के प्रताप को उगल रहे हों ॥१॥

इस प्रकार, विद्याधर-राजाओं की महती साम्राज्य-लक्ष्मी प्राप्त करके उस ऋषभ पर्वत पर रानियों और मन्त्रियों के साथ जब नरवाहनदत्त भोग-विलास करते हुए (कुछ दिन) रहे, तब एक दिन उनके सुखों को बढ़ाता हुआ वसन्त-समय आ गया। ॥२-३॥

चन्द्रमा की चाँदनी बहुत दिनों पर फिर भली भाँति प्रसन्न हुई। नई-नई दूब से आलिंगित धरती को मानों पसीना आने लगा ॥४॥

मलय-पवनों से बार-बार आलिंगित होती हुई वनस्थली कम्पन से आकुल, कण्टकित (काँटों या रोमांचों से युक्त) और रसवती हो गई। ॥५॥

पुष्पधन्वा कामदेव का सिपाही कोकिल कूक-कूककर आम्रवृक्ष-रूपी लाठी दिखलाते हुए मानों यह कहने लगा कि मानिनियों का मान करना मना है ॥६॥

फूलों की लताओं से भौंरों की पाँत गुनगुनाती हुई उड़ी, मानों वीर कामदेव के धनुष से छोड़े गये तीरों की पाँतें हों ॥७॥

इस प्रकार, वसन्त ऋतु का आगमन देखकर गोमुख आदि मन्त्रियों ने नरवाहनदत्त से निवेदन किया कि— ॥८॥

देखिए तो सही ! मधु ऋतु के आगमन से पूर्ण प्रफुल्लित वन-समूहों से निरन्तर भरा हुआ यह ऋषभ पर्वत पुष्पमय होकर मानों दूसरा ही हो गया है। ॥९॥

ये लताएँ एक फूल से दूसरे फूल को टकराकर मानो मँजीर बजा रही हैं, भौंरों के गुंजन से संगीत सुना रही हैं, वायु के चलने से नाच रही हैं। ॥१०॥

और (उड़ते हुए) पराग-रूपी वस्त्र ओढ़े (नर्त्तकियों के वेश में) कामदेव के वसन्त-सज्जित उद्यानरूपी सभा-भवन में जा रही हैं। ॥११॥

यह आम की मंजरी ! लगता है, जैसे सारे संसार को जीतकर विश्राम करते हुए कामदेव ने धनुष रख दिया है, और भौंरों की माला जिसकी उतारी हुई प्रत्यंचा है ॥१२॥

इसलिए, अब हमलोग गंगा के किनारे इस सुन्दर उद्यान में जाकर वसन्तोत्सव का आनन्द लें ॥१३॥

मन्त्रियों के ऐसा कहने पर अन्तःपुर की ललनाओं-सहित नरवाहनदत्त गंगा के उस तट पर गये ॥१४॥

तत्र चिक्रीड चोद्याने नानाविहगनादिते।
एलालवङ्गबकुलाशोकमन्दारमण्डिते ॥१५॥
उपविष्टश्च विपुले चन्द्रकान्तशिलातले।
पार्श्वे कृत्वा महादेवीं वामे मदनमञ्चुकाम् ॥१६॥
अन्यावरोधसहितस्तैस्तैर्विद्याधरेश्वरैः।
चण्डसिंहामितगतिप्रमुखैः परिवारितः ॥१७॥
आपानं सेवमानोऽत्र तास्ताः कुर्वन्कथास्तथा।
विचार्य तमृतुं सम्राट् सचिवान्स्वानुवाच सः ॥१८॥
सुखस्पर्शो मृदुर्वातो दक्षिणो विमला दिशः।
पुष्पितानि सुगन्धीनि काननानि पदे पदे ॥१९॥
मधुराः कोकिलालापाः पानलीलासुखानि च।
सुखं किं न मधौ प्रेयोवियोगस्त्वत्र दुःसहः ॥२०॥
अन्यस्यास्तां तिरश्चामप्यत्र कष्टा वियोगिता।
तथा च विरहक्लान्तामेतां पश्यत कोकिलाम् ॥२१॥
एषा हि नष्टमन्विष्य कूजन्ती सुचिरं प्रियम्।
अप्राप्य तं स्थिता चूते मृतेवालीय निःस्वना ॥२२॥
इत्युक्तवन्तं सम्राजं मन्त्री तं गोमुखोऽब्रवीत्।
सत्यं कालेऽत्र विरहो दुःसहः सर्वदेहिनाम् ॥२३॥
तथाहि देव श्रावस्त्यां यद्वृत्तं वच्मि तच्छृणु।
तत्रैको राजपुत्रोऽभूद्ग्रामभुग्राजसेवकः ॥२४॥
शूरसेनाभिधानस्य तस्य मालवदेशजा।
अनुरूपा सुषेणेति भार्याभूज्जीविताधिका ॥२५॥
स जातु भूपेनाहूतः कटकं गन्तुमुद्यतः।
शूरसेनोऽनुरागिण्या जगदे भार्यया तया ॥२६॥
आर्यपुत्र न मुक्त्वा मामेककां गन्तुमर्हसि।
नहि शक्ष्याम्यहं स्थातुं क्षणमत्र त्वया विना ॥२७॥
एवं तयोक्तः प्रियया शूरसेनो जगाद ताम्।
राजाहूतो न गच्छामि कथं तन्वि न वेत्सि किम् ॥२८॥
राजपुत्रः परायत्तवृत्तिरस्मि हि सेवकः।
तच्छ्रुत्वा साश्रुनयना सा भार्या तमभाषत ॥२९॥

और, वहाँ इलायची, लवंग, मौलसिरी, अशोक और मन्दार के फूलों से सुशोभित उस उद्यान में केलि करने लगे, जहाँ नाना प्रकार के पक्षी कलरव कर रहे थे। ।।।१५।।

चन्द्रकान्त मणि की विशाल शिला के फर्श पर नरवाहनदत्त बैठे और बायें भाग में पटरानी मदनमंचुका को बैठाया। अन्तःपुर की अन्य रानियाँ भी बैठीं और चण्डसिंह, अमितगति आदि वे सभी विद्याधरराज भी चारों ओर बैठे। ।।१६-१७।।

फिर, मद्यपान करते हुए और नाना प्रकार की बातचीत करते हुए सम्राट् नरवाहनदत्त ने उस ऋतु का पर्यवेक्षण करके अपने मन्त्रियों से कहा कि— ।।१८।।

दक्षिण से आनेवाला कोमल मलय-पवन स्पर्श से आनन्द देनेवाला है, (दसों) दिशाएँ निर्मल हैं, पग-पग पर वन फूलों से भरे महमह कर रहे हैं, कोयलों की तानें मधुर लग रही हैं, और मद्यपान की लीला में बड़ा आनन्द आ रहा है। इस वसन्त ऋतु में कौन वस्तु सुखकर नहीं है? हाँ, केवल प्रियजन का विरह इस ऋतु में असह्य (कष्टदायक) होता है ।।१९-२०।।

औरों की बात दूर रहे, इस ऋतु में पक्षियों को भी विरह कष्टदायी होता है। सो देखिए, यह कोयल विरह से (कितनी) खिन्न हो गई है ।।२१।।

यह अपने खोये हुए प्रियतम को कूक-कूक कर देर से खोजती रही और (अब) उसे न पाकर मरी हुई-सी निःशब्द होकर उस आम के पेड़ पर जा बैठी है ।।२२।।

सम्राट् के ऐसा कहने पर मन्त्री गोमुख ने उनसे कहा—सचमुच ही, वसन्त ऋतु में विरह सभी प्राणियों के लिए दुःसह हो जाता है ।।२३।।

महाराज! श्रावस्ती नगरी में जो घटना घटी थी, उसे मैं सुनाता हूँ, (कृपाकर) सुनिए। वहाँ एक राजपूत रहता था, वह एक गाँव का मालिक था और राजा का सेवक था ।।२४।।

उसका नाम था शूरसेन। उसकी सुषेणा नाम की अपने अनुरूप पत्नी थी, जो मालव देश में उत्पन्न हुई थी और (पति की) प्राणों से बढ़कर (प्यारी) थी ।।२५।।

वह शूरसेन एक दिन राजा के बुलाने पर सेना में जाने को उद्यत हुआ, तो प्रेम करनेवाली उस पत्नी ने कहा कि— ।।२६।।

हे आर्यपुत्र! आप मुझे अकेली छोड़ कर चले जायँ, यह उचित नहीं है। क्योंकि, मैं यहाँ आपके विना क्षण-भर भी न जी सकूँगी ।।२७।।

प्रियतमा के ऐसा कहने पर शूरसेन ने उससे कहा कि हे कोमलांगी! क्या तुम समझती नहीं हो कि राजा के बुलाने पर मैं कैसे न जाऊँ? ।।२८।।

क्योंकि मैं राजपूत हूँ और पराधीन हो काम करनेवाला राजा का सेवक हूँ। यह सुनकर आँसू-भरी आँखोंवाली उसकी पत्नी ने उससे कहा कि— ।।२९।।

गन्तव्यं यद्यवश्यं ते तत्सहिष्ये कथञ्चन।
दिनमप्यनतिक्रामन्नुपैष्यसि मधौ यदि॥३०॥
श्रुत्वैतत्सोऽप्यवादीत्तामन्ततो निश्चितं प्रिये।
त्यक्त्वापि कार्यमेष्यामि चैत्रस्य प्रथमेऽह्नि॥३१॥
इत्युक्तवान्कथमपि प्रिययानुमतस्तया।
राज्ञः समीपं कटकं शूरसेनो जगाम सः॥३२॥
तद्भार्याप्याशया तस्थौ गणयन्ती दिनानि सा।
तदागमावधिमधुप्रारम्भदिवसेक्षिणी॥३३॥
गतेष्वथ दिनेष्वागात्स मधूत्सववासरः।
मन्मथाह्वानमन्त्राभविलसत्कोकिलध्वनिः॥३४॥
शुश्रुवे कुसुमामोदमाद्यन्मधुकरारवः।
कामेनारोप्यमाणस्य कार्मुकस्येव निःस्वनः॥३५॥
सोऽयं मधूत्सवः प्राप्तो ध्रुवमद्यैष्यति प्रियः।
इति तस्मिन्दिने तस्य शूरसेनस्य सा वधूः॥३६॥
विचिन्त्य विहितस्नाना सुषेणाभ्यर्चितस्मरा।
उद्वीक्षमाणा तन्मार्गं तस्थौ रचितमण्डना॥३७॥
दिनात्ययेऽपि न यदा स तस्याः पतिराययौ।
तदा सा निशि नैराश्यविधुरा समचिन्तयत्॥३८॥
मृत्योः कालोऽयमायातो न त्वायातः पतिः स मे।
परसेवैकसक्तानां को हि स्नेहो निजे जने॥३९॥
इत्येवं चिन्तयन्त्याश्च तस्यास्तद्गतचेतसः।
निर्ययुः स्मरदावाग्निदह्यमाना इवासवः॥४०॥
यावच्च भूपात्कथमप्यात्मानं प्रतिमोच्य सः।
शूरसेनोऽनतिक्रामन्दिनं तद्दयितोत्सुकः॥४१॥
आरुह्य करभश्रेष्ठमुल्लङ्घ्याध्वानमायतम्।
आगतः पश्चिमे यामे रात्रेः प्राप निजं गृहम्॥४२॥
तत्रापश्यद्गतप्राणां प्रियां तां कृतमण्डनाम्।
लतामुत्फुल्लकुसुमां वातेनोन्मूलितामिव॥४३॥
दृष्ट्वैव विह्वलस्यैतां कुर्वतोऽङ्केविनिर्ययुः।
प्रलापैः सह तस्यापि प्राणा विरहिणः क्षणात्॥४४॥

यदि आपको जाना अनिवार्य (ही) हो, तो मैं किसी प्रकार सह लूँगी, बशर्त्ते कि आप वसन्त ऋतु का एक दिन भी वहाँ बिताये बिना यहाँ आ जायें ॥३०॥

यह सुनकर अन्त में शूरसेन ने उससे कहा कि हे प्रिये! यह में निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि (यदि छोड़ना ही पड़ेगा तो) नौकरी छोड़कर भी (मैं) चैत्र की पहली तिथि को आ जाऊँगा ॥३१॥

यह कहकर वह शूरसेन किसी भाँति (अपनी) प्रियतमा की अनुमति प्राप्त करके राजा के समीप सेना में चला गया ॥३२॥

और उसकी, पत्नी सुषेणा भी अपने पति के आगमन की अवधि वसन्त के प्रथम दि प्रतीक्षा करती हुई (मिलन की) आशा से दिन गिनती रही ॥३३॥

तदनन्तर, (कतिपय) दिनों के बीतने पर वह वसन्तोत्सव का दिन आ गया, जब केलि करते हुए कोकिल कामदेव के आह्वान-मन्त्र की भाँति कुहू-कुहू करने लगे ॥३४॥

फूलों की गन्ध से मत्त भ्रमरों की गुंजार सुनाई देने लगी, मानों कामदेव के धनुष चढ़ाने का शब्द हो ॥३५॥

उस दिन शूरसेन की पत्नी सुषेणा ने, यह सोचकर कि वसन्तोत्सव का वह दिन (जिसे अवधि करके शूरसेन गये थे) आ गया, अतः मेरे प्रियतम निश्चय आयेंगे, स्नान करके कामदेव की पूजा की और शृंगार करके उस शूरसेन की बाट जोहती रही ॥३६-३७॥

दिन के बीत जानेपर भी जब उसका पति न लौटा, तब रात में निराशा से विकल होकर वह सोचने लगी कि—॥३८॥

(हाय!) यह मेरी मृत्यु का समय (वसन्त) तो आ गया, (किन्तु) वे नहीं आये। जो दूसरे की सेवा में लगा है, वह अपने लोगों से क्या स्नेह करेगा ॥३९॥

सुषेणा पति पर चित्त लगाये हुए इस प्रकार सोच ही रही थी कि कामदेव-रूपी दावानल में जलते हुए-से उसके प्राण निकल गये ॥४०॥

तबतक (उधर) वह शूरसेन राजा से, छुट्टी लेकर अपनी प्रेयसी के लिए उत्सुक हो, श्रेष्ठ ऊँट पर चढ़कर लम्बे मार्ग को पार करके दिन को आया और रात के पिछले पहर में अपने घर पहुँचा ॥४१-४२॥

वहाँ (पहुँचते ही उसने) देखा कि शृंगार किये हुए उसकी प्रियतमा मरी पड़ी है, जैसे खिले फूलों से भरी लता को तूफान ने उखाड़ फेंका हो ॥४३॥

वह देखते ही व्याकुल हो गया और उसे गोद में उठाकर प्रलाप करने लगा कि उसके (भी) प्राण क्षण-भर में निकल गये ॥४४॥

तथा विपन्नौ दृष्ट्वा तौ दम्पती कुलदेवता।
कृपया जीवयामास देवी चण्डी वरप्रदा ॥४५॥
ततः प्रत्यागतप्राणौ ततः प्रभृति तावुभौ।
दृष्टानुरागावन्योन्यमवियुक्तौ बभूवतुः ॥४६॥
इत्थं वसन्तसमये मलयानिलवीजितः।
केषां न देहिनां देव दुःसहो विरहानलः ॥४७॥
इत्येवं गोमुखेनोक्ते तदेव किल भावयन्।
नरवाहनदत्तोऽभूत्सोऽकस्माद्विमना इव ॥४८॥
महात्मनां विना हेतोर्दुःस्थितः सुस्थितोऽपि वा।
सूचयत्यन्तरात्मा हि पुरो भावि शुभाशुभम् ॥४९॥
ततो दिने ह्यवसिते सम्राट् सन्ध्यामुपास्य सः।
वासवेश्मनि विश्रान्तः प्रविश्य शयनीयके ॥५०॥
स्वप्ने निशावसाने स्वं पितरं कृष्णया स्त्रिया।
आकृष्य दक्षिणामाशां नीयमानमवैक्षत ॥५१॥
तद्दृष्ट्वैव प्रबुद्धः संस्तातस्यानिष्टशङ्कया।
ध्यातामुपस्थितां विद्यां प्रज्ञप्ति नाम पृष्टवान् ॥५२॥
ब्रूहि तातस्य वृत्तान्तो वत्सराजस्य को मम।
तन्निमित्तं हि दुःस्वप्नदर्शनादस्मि शङ्कितः ॥५३॥
इत्युक्ता तेन विद्या सा रूपिणी तमभाषत।
शृणु यद्वत्सराजस्य वृत्तं देव पितुस्तव ॥५४॥
स कौशाम्बीस्थितोऽकस्मादुज्जयिन्याः समागतात्।
दूताच्चण्डमहासेनं विपन्नमशृणोन्नृपम् ॥५५॥
तस्याङ्गारवतीं देवीं कृतानुगमनां तथा।
तस्मादेव स शुश्राव मोहाद्भूमौ पपात च ॥५६॥
लब्धसंज्ञश्चिरं चैतौ समं वासवदत्तया।
देव्या शुशोच श्वशुरौ स्वर्गतौ सपरिच्छदः ॥५७॥
भङ्गुरेऽस्मिन्भवे कस्य स्थिरता स च भूपतिः।
अशोच्यो यस्य जामाता भवान्गोपालकः सुतः ॥५८॥
नरवाहनदत्तश्च दौहित्र इति मन्त्रिभिः।
प्रबोध्योत्थापितः सोऽथ ददौ श्वशुरयोर्जलम् ॥५९॥

उसकी कुलदेवी भगवती चण्डी ने उन दोनों (पति और पत्नी) को मृत देखकर कृपा करके जिला दिया।।४५।।

तब दोनों के प्राण पलट आये और तबसे वे दोनों कभी वियुक्त नहीं हुए; क्योंकि दोनों आजमा कर देख चुके कि एक के बिना दूसरे का जीना असम्भव है।।४६।।

हे देव, इस प्रकार वसन्त ऋतु में मलय-पवन से धधकाई हुई विरह की आग किन प्राणियों के लिए दुःसह नहीं होती?।।४७।।

गोमुख के ऐसा कहने पर नरवाहनदत्त उसी घटना को सोचते हुए अचानक उद्विग्न-से हो उठे।।४८।।

महापुरुषों की अन्तरात्मा यदि बिना किसी कारण के दुःखी या सुखी होती है, तो वह आगे आनेवाले शुभ या अशुभ की सूचना देती है।।४९।।

तदनन्तर, दिन के बीत जाने पर सम्राट् नरवाहनदत्त सन्ध्या-वन्दन करके अपने वास-भवन में सोने के कमरे में जा विश्राम करने लगे।।५०।।

रात के अन्त में उन्होंने सपने में देखा कि कोई काली स्त्री उनके पिता वत्सराज उदयन को खींचकर दक्षिण की ओर लिये जा रही है।।५१।।

स्वप्न से जागकर पिता के अमंगल की आशंका से उन्होंने प्रज्ञप्ति नाम की अपनी विद्या का ध्यान किया और उपस्थित होने पर उससे पूछा कि—।।५२।।

कहिए, मेरे पिता वत्सराज का क्या समाचार है? क्योंकि, उनके विषय में दुःस्वप्न से मैं शंकित हो गया हूँ।।५३।।

ऐसा पूछने पर उस विद्या ने प्रत्यक्ष होकर उनसे कहा कि हे राजन्, आप अपने पिता का समाचार सुनिए।।५४।।

कौशाम्बी में वर्त्तमान आपके पिता वत्सराज अचानक उज्जयिनी से आये हुए एक दूत से सुना कि चण्ड महासेन चल बसे, और उसी दूत से यह भी सुना कि उन (चण्डमहासेन) की रानी अंगारवती भी उनके पीछे चल बसी, और (यह सुनते ही) वे मूच्छित होकर भूमि पर गिर पड़े।।५५-५६।।

होश होने पर रानी वासवदत्ता के साथ तथा परिजन-सहित बहुत देर तक स्वर्ग सिधारे हुए अपने ससुर और सास के लिए शोक करते रहे।।५७।।

(तब मन्त्रियों ने कहा कि) इस विनाशी संसार में कौन सदा वर्त्तमान रह सकता है? और फिर, चण्डमहासेन शोक करने के पात्र भी नहीं हैं, जिनके आप जैसा जमाई हैं, गोपालक जैसा पुत्र है, और नरवाहनदत्त जैसा दौहित्र (नाती) है। इस प्रकार समझाकर मन्त्रियों ने उन्हें उठाया, तब उन्होंने सास-ससुर को जलांजलि दी।।५८-५९।।

ततः श्वशुयं शोकात्तं स्नेहात्पार्श्वस्थितं तदा।
गोपालकं स वत्सेशो बाष्पकण्ठोऽभ्यभाषत ॥६०॥
उत्तिष्ठोज्जयिनीं गच्छ. राज्यं पालय पैतृकम्।
प्रतीक्षन्ते प्रजा हि त्वामिति दूतमुखाच्छ्रुतम् ॥६१॥
तच्छ्रुत्वा स रुदन्वत्सराजं गोपालकोऽब्रवीत्।
न देव गन्तुं शक्नोमि त्यक्त्वा त्वां भगिनीं तथा ॥६२॥
न चोत्सहे तातशून्यां स्वपुरीं द्रष्टुमप्यहम्।
तत्पालकोऽनुजो मेऽत्र राजास्तु मदनुज्ञया ॥६३॥
एवं वदन्यदा नैच्छद्राज्यं गोपालकस्तदा।
सेनापतिं रुमण्वन्तं विसृज्योज्जयिनीं पुरीम् ॥६४॥
वत्सेश्वरः कनिष्ठं तं श्वशुर्यं पालकाभिधम्।
दत्ताभ्यनुज्ञं ज्येष्ठेन तस्यां राज्येऽभ्यषेचयत् ॥६५॥
आलोक्य चास्थिरं सर्वं विरक्ते विषयेषु सः।
यौगन्धरायणादिभ्यः सचिवेभ्योऽब्रवीदिदम् ॥६६॥
असारेऽस्मिन्भवे तावः ।वाः पर्यन्तनीरसाः।
कृतं च राज्यमस्माभिर्भुक्ता भोगा जिता द्विषः ॥६७॥
विद्याधराधिराजत्वं प्राप्तो दृष्टः सुतस्तथा।
इदानीं च वयोऽतीतमस्माकं बान्धवैः सह ॥६८॥
मृत्यवे दातुमात्ताश्च केशेषु जरसा वयम्।
क्लीवराज्यमिवाक्रान्तं शरीरं वलिभिश्च नः ॥६९॥
तस्मात्कालञ्जरगिरौ गत्वा देहमशाश्वतम्।
त्यक्त्वेमं साधयाम्यत्र यथोक्तं शाश्वतं पदम् ॥७०॥
इत्युक्तास्तेन सचिवा राज्ञा सर्वे विचार्य तत्।
देवी वासवदत्ता च समचित्तास्तमब्रुवन् ॥७१॥
यथाभिरुचितं देव भवतस्त्वत्प्रसादतः।
वयमप्युपयास्यामः परत्राप्युत्तमां गतिम् ॥७२॥
इत्यात्मतुल्यैरुक्तस्तैः स राजा कृतनिश्चयः।
गोपालकं तं तत्रस्थं श्वशुर्यं धुर्यमभ्यधात् ॥७३॥
नरवाहनदत्तश्च त्वं च तुल्यौ सुतौ मम।
तदेतां रक्ष कौशाम्बीं राज्यं तुभ्यं मयार्पितम् ॥७४॥

इसके बाद वत्सराज उदयन अपने शोकाकुल साले गोपालक को स्नेह से अपने पास बैठाकर आँसू-भरे कण्ठ से बोले—॥६०॥

'गोपालक! उठिए, उज्जयिनी जाइए और पिता के राज्य का पालन कीजिए; क्योंकि दूत के मुँह से सुना है कि प्रजा आपकी प्रतीक्षा कर रही है'॥६१॥

यह सुनकर रोते हुए गोपालक ने वत्सराज से कहा कि हे देव! मैं आपको तथा आपकी बहन (वासवदत्ता) को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता हूँ॥६२॥

और न पिता से रहित अपनी पुरी उज्जयिनी को देख ही सकता हूँ। अतः, मेरी अनुमति से मेरा छोटा भाई पालक ही वहाँ राज्य करे॥६३॥

इस प्रकार कहते हुए गोपालक ने जब राज्य करना नहीं चाहा, तब वत्सराज उदयन ने सेनापति रुमण्वान् को उज्जयिनी पुरी भेजकर अपने छोटे साले पालक को उज्जयिनी में राज्याभिषिक्त कराया; क्योंकि बड़े भाई गोपालक ने इसके लिए अनुमति दे दी थी॥६४-६५॥

तब वे (वत्सराज) सभी वस्तुओं को अनित्य देखकर तथा (सांसारिक) विषयों से विरक्त होकर यौगन्धरायण आदि मन्त्रियों से बोले कि—॥६६॥

इस असार संसार में सभी विषय परिणामतः नीरस हैं। और, हमने राज्य किया, भोग किये, और शत्रुओं को जीता॥६७॥

और, (अपने) पुत्र नरवाहनदत्त को विद्याधरों का सम्राट् बना देखा। अब बन्धुवर्ग-सहित हमारा जीवन बीत चुका है॥६८॥

यमराज को अर्पित कर देने के लिए बुढ़ापा हमारे केश पकड़े हुए है। निर्बल राजा के राज्य की भाँति हमारे शरीर पर झुर्रियों ने आक्रमण कर दिया है॥६९॥

इसलिए, (अब) मैं कालंजर नाम के पर्वत पर इस अनित्य शरीर को छोड़ नित्य ईश्वर की साधना करने जा रहा हूँ॥७०॥

वत्सराज के ऐसा कहने पर मन्त्रियों ने और रानी वासवदत्ता ने (आपस में) विचार करके और एकमत होकर कहा कि—॥७१॥

राजन्! आपकी जैसी इच्छा हो (वैसा ही हो)। आपकी कृपा से हमलोग परलोक में भी अच्छी गति पायेंगे॥७२॥

अपने (ही) समान उन (मन्त्रियों और वासवदत्ता) के कहने पर राजा उदयन ने (वैसा करने का) निश्चय किया और वहाँ वर्त्तमान कार्यसमर्थ अपने साले गोपालक से कहा कि—॥७३॥

नरवाहनदत्त और आप (गोपालक) दोनों समान रूप से मेरे पुत्र हैं, इसलिए आप इस कौशाम्बी की रक्षा कीजिए। यह राज्य मैंने आपको समर्पित कर दिया॥७४॥

एवं वत्सेश्वरेणोक्तस्तं स गोपालकोऽब्रवीत्।
युष्माकं या गतिः सा मे नाहं वस्त्यक्तुमुत्सहे॥७५॥
एतदेवानुबन्धेन स जल्पन्स्वसृवत्सलः।
वत्सराजेन जगदे कोपं कृत्वैव कृत्रिमम्॥७६॥
अद्यैव त्वमनायत्तो जातो मिथ्यानुवृत्त मे।
खपदाच्च्यवमानस्य कस्याज्ञां को हि मन्यते॥७७॥
इत्युक्तोऽवाङमुखो राज्ञा रूक्षं गोपालको रुदन्।
वनाय कृतबुद्धिः सन्संप्रत्यत्र न्यवर्त्तत॥७८॥
ततो राजा गजारूढो देव्या वासवदत्तया।
पद्मावत्या च सहितः स प्रतस्थे समन्त्रिकः॥७९॥
कौशाम्ब्या निर्गतं तस्याः साक्रन्दाः साश्रुदुर्दिनाः।
सयोषिद्बालवृद्धाश्च पौरास्तमनु निर्ययुः॥८०॥
गोपालको वः पातेति तानाश्वास्य कथञ्चन।
निवर्त्त्यं च स वत्सेशः प्रायात्कालञ्जरं गिरिम्॥८१॥
प्राप्य तं च समारुह्य प्रणम्य च वृषध्वजम्।
सर्वंकालप्रियां वीणां कृत्वा घोषवतीं करे॥८२॥
पार्श्वंगाभ्यां स देवीभ्यामन्वितो मन्त्रिभिः सह।
यौगन्धरायणाद्यैस्तैः पतितोऽभूत्प्रपाततः॥८३॥
पतन्नेव विमानेन भास्वरेण स भूपतिः।
आगतेनानुगैः सार्धं द्योतमानो दिवं गतः॥८४॥
एतद्विद्यामुखाच्छ्रुत्वा हा तातेत्यभिधाय सः।
नरवाहनदत्तोऽत्र पपात भुवि मूर्च्छितः॥८५॥
लब्धसंज्ञश्च पितरं मातरं पितृमन्त्रिणः।
अन्वशोचन्निजामात्यैः प्रमीतपितृकैः सह॥८६॥
स्वरूपज्ञोऽपि संसारस्यैतस्य क्षणभङ्गिनः।
इन्द्रजालोपमानस्य कथं देव विमुह्यसि॥८७॥
अनुशोचसि चाशोच्यान्कृतकृत्यान्पितृन्कथम्।
येषां विद्याधरेन्द्रैकचक्रवर्त्ती भवान्सुतः॥८८॥
इति विद्याधराधीशैर्धनवत्या च बोधितः।
स पितृभ्यो जलं दत्त्वा विद्यां पप्रच्छ तां पुनः॥८९॥

वत्सराज उदयन के ऐसा कहने पर गोपालक ने उनसे कहा कि आप लोगों की जो गति होगी, वही मेरी भी होगी; क्योंकि आप लोगों को छोड़ने का साहस मुझमें नहीं है॥७५॥

अपनी बहन के प्यारे गोपालक ने जब आग्रहपूर्वक यही कहा, तब वत्सराज उदयन ने कृत्रिम क्रोध करके कहा कि—॥७६॥

मेरे अनुवर्त्तन का ढोंग रचनेवाले गोपालक आज ही आप मेरे वश के बाहर हो गये। अपने पद से गिरे हुए व्यक्ति की आज्ञा कौन मानता है? ॥७७॥

जब राजा उदयन ने ऐसा रूखा (वचन) कहा, तब अधोमुख हो रोते हुए गोपालक वन जाने के निश्चय से निवृत्त हो गये॥७८॥

इसके बाद रानी पद्मावती और वासवदत्ता के साथ राजा उदयन हाथी पर सवार हुए और मन्त्री-समेत विदा हो गये॥७९॥

जब वत्सराज कौशाम्बी नगरी से निकले, तब उनके पीछे-पीछे स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों-समेत नगर के लोग रोते और बरसात की भाँति आँसू बहाते हुए निकले॥८०॥

वत्सराज ने उन नागरिकों को यह आश्वासन देकर कि गोपालक आप लोगों का पालन करेंगे, किसी भाँति लौटाया और (स्वयं) कालंजर नाम के पर्वत की ओर चले गये॥८१॥

उस पर्वत पर पहुँच और चढ़कर तथा वृषध्वज शिवजी को प्रणाम करके सभी समयों में प्यारी अपनी वीणा घोषवती को हाथ में लिये, दोनों रानियों को दोनों बाजू में लिये हुए वत्सराज यौगन्धरायण आदि मन्त्रियों के साथ प्रपात (पहाड़ के ढालुवें स्थान से) गिर गये ॥८२-८३॥

उनके गिरते ही एक चमकीला विमान आया, जिससे वे अपने परिवार के लोगों के साथ चमकते हुए स्वर्ग चले गये॥८४॥

विद्या के मुँह से यह (समाचार) सुनकर नरवाहनदत्त 'हा पिता!' कहकर मूर्च्छित हो वहीं भूमि पर गिर गये॥८५॥

फिर, होश में आने पर अपने मन्त्रियों के साथ, जिनके भी पिता मर चुके थे, वह अपने पिता के लिए, माता के लिए और पिता के मन्त्रियों के लिए शोक करने लगे॥८६॥

(तब विद्याधरराज और धनवती नरवाहनदत्त को समझाने लगी कि) हे देव, आप तो यह तथ्य जानते हैं कि यह संसार इन्द्रजाल के समान क्षण-भर में नाश हो जानेवाला है, फिर मोह क्यों करते हैं? ॥८७॥

आपके माता-पिता अपने कर्त्तव्यों को पूरा कर चुके और (इसीलिए) शोक करने योग्य नहीं हैं। (फिर भी) आपने ऐसे माता-पिताओं के लिए आप क्यों शोक कर रहे हैं, जिनके विद्याधर-राजाओं के चक्रवर्त्ती आप (जैसे) पुत्र हैं॥८८॥

इस प्रकार, विद्याधर-राजाओं और धनवती द्वारा समझाये जाने पर नरवाहनदत्त ने पितरों को जलांजलि देकर फिर उस विद्या से पूछा कि—॥८९॥

मातुलो मे स गोपालः क्वास्ते किमकरोदिति।
ततो विद्यापि सा भूयः सम्राजं तमभाषत॥९०॥

गते महापथगिरिं वत्सराजेऽनुशोच्य तम्।
भगिनीं चाध्रुवं मत्वा सर्वं स्थित्वा बहिः पुरः॥९१॥

उज्जयिन्यास्तमानाय्य भ्रातरं पालकं च सः।
प्रादाद्गोपालकस्तस्मै कौशाम्बीराज्यमप्यदः॥९२॥

राज्यद्वयस्थे तस्मिश्च सोऽनुजेऽथ तपोवनम्।
वैराग्येणासितगिरिं प्रयातः कश्यपाश्रमम्॥९३॥

तत्र वल्कलमादाय तपस्यन्मुनिमध्यगः।
मातुलस्तिष्ठति स ते देव गोपालकोऽधुना॥९४॥

श्रुत्वैतद्द्रष्टुमुत्कस्तं मातुलं सपरिच्छदः।
नरवाहनदत्तोऽगाद्विमानेनासिताचलम् ॥९५॥

तत्रावतीर्य गगनाद्वृतो विद्याधरेश्वरैः।
अपश्यदाश्रमपदं स मुनेः कश्यपस्य तत्॥९६॥

सप्रेक्षितमिवानेककृष्णसारमृगभ्रमैः ।
सस्वागताचारमिव क्वणितेन पतत्त्रिणाम्॥९७॥

जुह्वतामग्निहोत्राणि धूमराजिसमुद्गमैः।
प्रदर्शयदिवारोहमार्गं दिवि तपस्विनाम्॥९८॥

बहु भूधरनागेन्द्रमाश्रितं कपिलोत्करैः।
अपूर्वमिव पातालमूर्ध्ववर्त्ति वितामसम्॥९९॥

तत्र मध्ये जटालं तं तरुवल्कलवाससम्।
मूर्त्तं शममिवाद्राक्षीन्मातुलं मुनिभिर्वृतम्॥१००॥

सोऽपि गोपालको दृष्ट्वा भागिनेयमुपागतम्।
उत्थायाश्लिष्य चाङ्के तं चकारोदश्रुलोचनः॥१०१॥

अथोभौ तौ नवीभूतशोकौ बन्धूनशोचताम्।
स्वजनालोकवातेद्धो दुःखाग्निः कं न तापयेत्॥१०२॥

अब यह बताइए कि हमारे मामा गोपालक कहाँ हैं और (उन्होंने) क्या किया? विद्या पुनः कहने लगी कि—॥९०॥

जब वत्सराज उदयन महापथ कालंजर पर्वत पर चले गये, तब गोपालक उनके लिए तथा अपनी बहन वासवदत्ता के लिए शोक करके तथा (संसार की) सभी (वस्तुओं) को नाशवान् समझकर नगर के बाहर (ही) रह गये॥९१॥

और उज्जयिनी से (अपने छोटे) भाई पालक को बुलाकर उन्हें कौशाम्बी का भी राज्य दे दिया॥९२॥

और जब उनके छोटे भाई पालक दोनों राज्यों (उज्जयिनी और कौशाम्बी) के राजपद पर आसीन हो गये, तब गोपालक विरक्त होकर असित पर्वत पर तपस्वी कश्यप के आश्रम में चले गये॥९३॥

हे देव, उस पर्वत पर वल्कल धारण करके आपके मामा गोपालक अभी मुनियों के बीच तपस्या कर रहे हैं॥९४॥

(विद्या से) यह सुनकर अपने मामा को देखने के लिए उत्सुक (होकर) नरवाहनदत्त सपरिवार पद्मविमान से असित पर्वत की ओर चल पड़े॥९५॥

विद्याधर-राजाओं से परिवेष्टित नरवाहनदत्त ने वहाँ (उस पर्वत पर) उतरकर कश्यप मुनि का वह आश्रम-स्थान देखा॥९६॥

वह तपोवन अनेकानेक कृष्णसार मृगों की छलाँगों से नरवाहनदत्त को देखकर पक्षियों की चहक से मानों उनका स्वागत कर रहा हो॥९७॥

ऋषियों के अग्निहोत्र के हवन करते रहने से ऊपर को उठी धूमराशि के द्वारा मानों (वह तपोवन) तपस्वियों को स्वर्गारोहण करने का मार्ग दिखा रहा हो॥९८॥

अनेक भूधर नागेन्द्रों से युक्त, कपिलों के समूह से आश्रित, (धरती से) ऊँचे स्थान में वर्त्तमान और अन्धकार-रहित वह पर्वत पाताल से भी अद्‌भुत लगता था; क्योंकि पाताल में भूधर नागेन्द्र (धरती को धारण करनेवाले नागराज वासुकि) एक हैं, किन्तु यहाँ भूधर नागेन्द्र (पर्वत और हाथी) अनेक हैं, वहाँ कपिल (ऋषि) एक हैं, किन्तु यहाँ कपिल (बन्दर) अनेक हैं। पाताल नीचे है, किन्तु यह ऊपर है। पाताल अँधेरा है, किन्तु यह अन्धकार-रहित है॥९९॥

नरवाहनदत्त इस तपोवन के मध्य में अपने मामा गोपालक को देखा, जो जटा धारण किये हुए, पेड़ की छाल पहने और मुनियों से घिरे हुए थे। वे, ऐसे लगते थे, मानों मूर्त्तिमान् तप हों॥१००॥

गोपालक ने भी अपने भाँजे नरवाहनदत्त को आया देख उठकर गले से लगा लिया और आँसू-भरी आँखों से देखते हुए गोद में बैठा लिया॥१०१॥

तब (एक दूसरे को देखने से) दोनों का शोक नया हो उठा और दोनों अपने सम्बन्धियों के लिए शोक करने लगे। आप्त व्यक्ति के दर्शन-रूपी अग्नि से उद्दीपित शोकाग्नि किसे सन्तापित नहीं करती है? ॥१०२॥

तद्दुःखदर्शनार्त्तेषु तिर्यक्ष्वप्यत्र तं ततः।
उपेत्याश्वासयामासुर्मुनयः कश्यपादयः ॥१०३॥
अथ तस्मिन्नहनि गते प्रातर्गोपालकं स तं सम्राट्।
एहि मदैश्वर्यं त्वं निवसेत्यभ्यर्थयामास ॥१०४॥
गोपालकोऽपि तमुवाच स किं न वत्स पर्याप्तमेवममुना तव दर्शनेन।
स्नेहस्तवास्ति मयि चेत्तदिहैव वर्षाकालं समागतमिमं निवसाश्रमे त्वम् ॥१०५॥
इति नरवाहनदत्तस्तेनोक्तो मातुलेन तत्कालम्।
सपरिच्छदः स तस्मिन्नसितगिरौ कश्यपाश्रमे तस्थौ ॥१०६॥

महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
सुरतमञ्जरीलम्बके प्रथमस्तरङ्गः।

द्वितीयस्तरङ्गः

अथासितगिरौ तस्मिन्नास्थानस्थं व्यजिज्ञपत्।
नरवाहनदत्तं तं स्वसेनापतिरेकदा ॥१॥
अद्याहं देव हर्म्यस्थो रक्षन्सैन्यानि दृष्ट्वान्।
दिव्येन पुंसा नभसि ह्रियमाणां निशि स्त्रियम् ॥२॥
क्रन्दन्तीं हार्यपुत्रेति कान्तिसर्वस्वहारिणीम्।
लब्ध्वैवानायितां बुद्ध्वा तत्कालबलिनेन्दुना ॥३॥
आः पाप परदारांस्त्वमपहृत्य क्व यास्यसि।
नरवाहनदत्तस्य राज्ये देवस्य रक्षितुः ॥४॥
योजनानां सहस्रेषु षष्टौ वैद्याधरे पदे।
तिर्यञ्चोऽपि हि नाधर्मं कुर्वन्त्यन्येषु का कथा ॥५॥
इत्युक्त्वैव प्रधाव्याशु सानुगेन मया स्वयम्।
संयम्य स पुमान्व्योम्नः सनारीकोऽवतारितः ॥६॥
अवतार्य च पश्यामो यावत्स्यालः स ते प्रभो।
भ्राता युष्मन्महादेव्या इत्यकाख्यो नभश्चरः ॥७॥
देव्यां कलिङ्गसेनायां जातो मदनवेगतः।
केयं किमेतां हरसीत्युक्तोऽस्माभिश्च सोऽभ्यधात् ॥८॥

वहाँ उन दोनों के शोक को देखकर पक्षी भी दुखी हो उठे। तब कश्यप आदि मुनियों ने आकर उन्हें आश्वासन दिया॥१०३॥

तदनन्तर, उस दिन के बीत जाने पर प्रातःकाल सम्राट् नरवाहनदत्त ने गोपालक से प्रार्थना की कि आइए, आप हमारे साम्राज्य में (चलकर) निवास कीजिए॥१०४॥

गोपालक ने भी नरवाहनदत्त से कहा कि हे वत्स! आपके इस दर्शन से ही (सब) पर्याप्त नहीं हो गया क्या? यदि आपको मुझसे स्नेह है, तो इस आये हुए बरसात के समय तक यहीं इस आश्रम में निवास कीजिए॥१०५॥

इस प्रकार मामा के कहने पर उस समय नरवाहनदत्त सपरिवार उस पर्वत पर कश्यप के आश्रम में रह गये॥१०६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के सुरतमंजरी लम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त हुआ।

द्वितीय तरंग

तदनन्तर, उस असित पर्वत पर एक दिन सभा-भवन में बैठे नरवाहनदत्त से उनके सेनापति हरिशिख ने निवेदन किया कि—॥१॥

हे देव, आज मैं जब छत पर खड़ा हो अपनी सेनाओं की देखभाल कर रहा था, तब देखा कि एक दिव्य पुरुष रात में एक स्त्री को हरण करके आकाशमार्ग से लिये जा रहा है॥२॥

(वह ऐसा लग रहा है) मानों उस स्त्री ने चन्द्रमा की सारी कान्ति चुरा ली है, यह जानकर उस समय बलवान् चन्द्रदेव 'हा आर्यपुत्र' ऐसा कहकर रोती हुई उस स्त्री को पकड़कर (उस दिव्य पुरुष के द्वारा अपने पास) मँगवा रहे हों॥३॥

(देखकर मैंने कहा कि) अरे पापी! दूसरे की स्त्री का हरण करके तुम कहाँ जाओगे? रक्षा करनेवाले सम्राट् नरवाहनदत्त के साठ हजार योजन विस्तृत राज्य से युक्त इन विद्याधरों की भूमि में पशु-पक्षी भी अधर्म नहीं करते, फिर औरों की तो बात ही क्या॥४-५॥

यह कहते ही मैं (सेनापति) स्वयं अनुचरों के साथ तेजी से दौड़ा और स्त्री-समेत उस पुरुष को पकड़कर आकाश से उतारा॥६॥

हे प्रभु, आकाश से उतारकर हमलोगों ने देखा कि वह आपका साला, आपकी महारानी मदन-मंचुका का भाई 'इत्यक' नाम का विद्याधर है॥७॥

और, कलिंगसेना के गर्भ से उत्पन्न मदनवेग का पुत्र है। जब हम लोगों ने पूछा कि यह (स्त्री) कौन है और आप क्यों इसका हरण किये जा रहे हैं, तब उसने कहा कि—॥८॥

इयं मतङ्गदेवस्य विद्याधरपतेः सुता ।
उत्पन्नाशोकमञ्जर्यां नाम्ना सुरतमञ्जरी ॥९॥
सैषा प्रागेव वाचा मे मात्रा दत्ता सती किल ।
अन्यस्मै मानुषायात्र स्वपित्रा प्रतिपादिता ॥१०॥
अतोऽद्यासौ निजा भार्या यदि प्राप्य हृता मया ।
तन्मे को दोष इत्युक्त्वा सोऽत्र व्यरमदित्यकः ॥११॥
केनार्ये परिणीता त्वं कथं प्राप्तासि चामुना ।
इति साथ मया पृष्टावोचत्सुरतमञ्जरी ॥१२॥
अस्त्युज्जयिन्यां नृपतिः श्रीमान्पालकसंज्ञकः ।
कुमारस्तस्य पुत्रोऽस्ति सुनामावन्तिवर्धनः ॥१३॥
तेनेह परिणीताहं सुप्ता हर्म्यतलेऽद्य च ।
आर्यपुत्रस्य सुप्तस्य हृतास्म्येतेन पाप्मना ॥१४॥
एवमुक्तवती सा च संयतस्थः स चेत्यकः ।
मयेह स्थापितौ तौ द्वौ प्रमाणमधुना प्रभुः ॥१५॥
एवं हरिशिखात्सेनापतेः श्रुत्वा ससंशयम् ।
गत्वा गोपालकायैतच्चक्रवर्त्ती शशंस सः ॥१६॥
गोपालकोऽपि सोऽवादीद्वत्सैतद्विदितं न मे ।
साम्प्रतं परिणीतैषा जाने पालकसूनुना ॥१७॥
आनीयतां कुमारस्तदुज्जयिन्याः स मन्त्रिणा ।
समं भरतरोहेण ज्ञास्यामो निश्चयं ततः ॥१८॥
तच्छ्रुत्वा मातुलवचश्चक्रवर्त्ती विसृज्य सः ।
विद्याधरं धूमशिखं मातुलस्य कनीयसः ॥१९॥
पालकस्यान्तिकं राज्ञस्तावानायितवानुभौ ।
उज्जयिन्याः कुमारं तं तत्सुतं तं च मन्त्रिणम् ॥२०॥
प्राप्तौ कृतप्रणामौ च स तौ गोपालकान्वितः ।
स्नेहादराभ्यां सम्मान्य प्रकृतं पृच्छति स्म तम् ॥२१॥
तत्र स्थिते निशाहीनचन्द्राभेऽवन्तिवर्धने ।
तथा सुरतमञ्जर्यां पितर्यद्याश्च सेत्यके ॥२२॥
सत्सु वायुपथाद्येषु मुनौ तिष्ठति कश्यपे ।
सोऽन्येषु च जगादैवं मन्त्री भरतरोहकः ॥२३॥

यह अशोकमंजरी के गर्भ से उत्पन्न विद्याधरराज मतंगदेव की पुत्री है। इसका नाम सुरतमंजरी है॥९॥

इस सती कन्या का वाग्दान इसकी माता ने पहले ही मुझे कर दिया था; किन्तु अब इसके पिता ने दूसरे पुरुष को प्रदान कर दिया है॥१०॥

अतः, आज अपनी उस पत्नी को पाकर यदि मैंने हरण किया, तो मेरा क्या अपराध है? इतना कहकर वह इत्यक चुप हो गया॥११॥

(तब मैंने सुरतमंजरी से पूछा कि) 'हे आर्ये! तुम्हारा विवाह किसके साथ हुआ है और तुम इस (इत्यक) के पास कैसे आईं?' सुरतमञ्जरी ने कहा कि—॥१२॥

'उज्जयिनी में पालक नाम का एक राजा है। अवन्तिवर्धन नाम का एक कुमार उसका पुत्र है॥१३॥

उसी कुमार अवन्तिवर्धन के साथ मेरा विवाह हुआ और मैं आज उसके साथ छत पर सोई थी कि मेरे पति की निद्रावस्था में इस पापी ने मेरा हरण कर लिया है'॥१४॥

'ऐसा कहनेवाली उस स्त्री और बन्दी बनाये गये उस इत्यक को मैंने यहाँ (आपके सामने) उपस्थापित किया है। अब आप जो उचित समझें, सो करें'॥१५॥

अपने सेनापति हरिशिख (के मुँह) से ऐसा सुनकर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त संशय में पड़कर गोपालक के पास गये और उनसे सारा हाल कह सुनाया॥१६॥

गोपालक बोले—हे वत्स, यह (बात) मुझे ज्ञात नहीं है। यह स्त्री पालक के पुत्र अवन्तिवर्धन के साथ ब्याही गई है, अभी मैं इतना (ही) जानता हूँ॥१७॥

इसलिए, मन्त्री भरतरोह-सहित कुमार अवन्तिवर्धन को उज्जयिनी से मँगा लिया जाय; उन्हीं से निश्चयपूर्वक ज्ञात होगा कि क्या बात है॥१८॥

अपने मामा गोपालक का यह वचन सुनकर चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त विद्याधर धूमशिख को अपने छोटे मामा राजा पालक के पास भेजकर उज्जयिनी से कुमार अवन्तिवर्धन तथा मन्त्री भरतरोह दोनों को मँगवाया॥१९-२०॥

पहुँचकर उन दोनों ने (नरवाहनदत्त और गोपालक को) प्रणाम किया, तब गोपालक-सहित नरवाहनदत्त ने स्नेह और आदर के साथ उन दोनों का सम्मान करके पूर्वोक्त प्रश्न किया॥२१॥

(तब) वहाँ दिन के चाँद की भाँति (क्षीण) प्रभावाले अवन्तिवर्धन, सुरतमंजरी, उसके पिता मतंगदेव, इत्यक, वायुपथ आदि विद्याधरराज, कश्यप मुनि तथा अन्यान्य लोग—इन सबके सामने मन्त्री भरतरोहक इस प्रकार कहने लगे—॥२२-२३॥

आ मूलाच्छृणु देवैतदुज्जयिन्याः किलैकदा।
एवं समेत्य विज्ञप्तः सर्वैः पालकभूपतिः॥२४॥
अस्यामुदकदानाख्यो भवत्यद्योत्सवः पुरि।
हेतुश्चात्र न चेत्सम्यक्छतस्तच्छ्रूयतां प्रभो॥२५॥
पूर्वं चण्डमहासेनः पिता ते खड्गमुत्तमम्।
प्राप्तुं च भार्यां तपसा देवीं चण्डीमतोषयत्॥२६॥
सा स्वं खड्गं ददौ तस्मै भार्यार्थे चैवमभ्यधात्।
अङ्गारकाख्यमसुरं हत्वा तस्याचिरात्सुताम्॥२७।
पुत्राङ्गारवती नाम भव्यां भार्यामवाप्स्यसि।
इत्यादिष्टस्तया देव्या तस्थौ राजा स तन्मनाः॥२८॥
अत्रान्तरे चोज्जयिन्यां यो योऽभून्नगराधिपः।
स स केनापि सत्त्वेन रात्रौ रात्रावभक्ष्यत॥२९॥
ततश्चण्डमहासेनस्तदन्वेष्टुं स्वयं निशि।
स्वैरं भ्रमन्पुरि प्राप पुरुषं पारदारिकम्॥३०॥
तस्याच्छिनत्स खड्गेन शिरो रचितमण्डनम्।
छिन्नकण्ठं च तं सद्यः कोऽप्येत्यादत्त राक्षसः॥३१॥
सोऽयं पुराधिपानत्ति नूनमत्रेत्युदीर्य सः।
आदाय केशेष्वारेभे हन्तुं तं राक्षसं नृपः॥३२॥
तावत्स राक्षसोऽवादीन्मा राजन्मां वधीर्मृषा।
अन्य एवं स कोऽपीह यः खादति पुराधिपान्॥३३॥
कोऽसौ ब्रूहीति राज्ञा तत्पृष्टं रक्षोऽब्रवीत्पुनः।
अस्तीहाङ्गारको नाम पातालनिलयोऽसुरः॥३४॥
स ते पुराधिपानत्ति निशीथेषु परन्तप।
सर्वतो राजकन्याश्च हठेन हरति प्रभो॥३५॥
करोत्यङ्गारवत्याश्च ताः सुतायाः परिच्छदम्।
तमटव्यां भ्रमन्तं त्वं दृष्ट्वा हत्वा कृती भव॥३६॥
इत्युक्तवन्तं मुक्त्वा तं राक्षसं स स्वमन्दिरम्।
राजा ययावेकदा च जगामाखेटकं ततः॥३७॥
तत्रापश्यन्महाकायं कोपज्वलितलोचनम्।
सूकरं सदरीखण्डमञ्जनाद्रिमिवोद्यतम्॥३८॥

हे देव, यह कथा आरम्भ से सुनिए। एक समय उज्जयिनी के सभी लोगों ने एक साथ आकर राजा पालक से निवेदन किया कि— ॥२४॥

हे प्रभु, इस उज्जयिनी नगरी में आज के दिन जलांजलि-दान नाम का एक उत्सव होता है। यदि आपने इसका कारण ठीक-ठीक कहीं सुना हो, तो कृपया आज सुन लें॥२५॥

पहले (किसी समय में) आपके पिता चण्ड महासेन ने उत्तम तलवार और (अच्छी) पत्नी प्राप्त करने के लिए तपस्या करके देवी चण्डी को प्रसन्न किया था॥२६॥

उस देवी चण्डी ने उन्हें अपनी तलवार दे दी और पत्नी के बारे में यह कहा कि हे पुत्र! तुम अंगारक नाम के राक्षस को मारकर उस राक्षस की पुत्री अंगारवती नाम की अच्छी पत्नी शीघ्र ही प्राप्त करोगे। देवी चण्डी से ऐसा वर सुनकर राजा चण्डमहासेन (उस वर की सिद्धि के लिए) उत्सुक रहने लगे॥२७-२८॥

इसी बीच उज्जयिनी में (यह विचित्र घटना होने लगी कि) जो भी उस नगर का मुख्य अधिकारी नियुक्त होता था, उसे उसी रात कोई (अज्ञात) प्राणी खा जाया करता था॥२९॥

तब उस (बात) के अन्वेषण के लिए रात में स्वयं अकेले उज्जयिनी नगर में घूमते हुए चण्डमहासेन ने एक पारदारिक (परस्त्रीलम्पट) पुरुष को पाया॥३०॥

चण्डमहासेन ने अपनी तलवार से उस पुरुष का सँवारा हुआ सर काट दिया, और इतने में ही उस कटे हुए सिरवाले पुरुष को किसी राक्षस ने उठा लिया॥३१॥

निःसन्देह वही राक्षस नगर के अधिपों को खाता है—यह कहकर राजा चण्डमहासेन बाल पकड़कर उस राक्षस को मारने लगे॥३२॥

त्योंही वह राक्षस बोल उठा कि हे राजन्! मुझको वृथा मत मारिए। वह कोई दूसरा ही राक्षस है, जो यहाँ इस नगर के अधिपों को खाता है॥३३॥

राजा ने पूछा कि कहो, वह कौन है? तब वह राक्षस पुनः कहने लगा कि पाताल में अंगारक नाम का एक राक्षस रहता है।।३४।।

हे परम पुण्यवान् राजा चण्डमहासेन! वही आपके नगर के अधिपों को रात में खा जाता है, और सभी स्थानों से राजकन्याओं का बलपूर्वक हरण करता है॥३५॥

और (उन राजकन्याओं को) अपनी पुत्री अंगारवती की सहेली बनाता है। वन में घूमते हुए उस राक्षस को खोजकर आप मारिए और उसका श्रेय लीजिए॥३६॥

ऐसा कहनेवाले उस राक्षस को छोड़कर राजा चण्डमहासेन अपने महल में गये, और फिर एक दिन शिकार करने (वन) गये॥३७॥

उस वन में विशाल शरीरवाले और क्रोध से जलती-सी आँखोंवाले (एक) सुअर को देखा, जो कन्दरा से युक्त ऊपर उठा हुआ अंजन का पर्वत-सा लगता था॥३८॥

न वराहो भवेदीदृङ्मायी सोऽङ्गारको नु किम्।
इति ध्यायन्स राजा तं क्रोडं बाणैरताडयत् ॥३९॥
स तानगणयन्नेव बाणान्व्याधूय तद्रथम्।
गत्वा वराहः सुमहद्विवेश विवरं भुवः ॥४०॥
राजापि वीरस्तत्रैव तस्य पश्चात्प्रविश्य सः।
दिव्यं पुरं ददर्शात्र न ददर्श च सूकरम् ॥४१॥
वापीतटोपविष्टश्च तत्रापश्यत्स कन्यकाम्।
कन्याशतपरीवारां रतिं रूपवतीमिव ॥४२॥
सा कन्याभ्येत्य पृष्ट्वा च तत्रागमनकारणम्।
पश्यन्ती साश्रुनयना जातप्रेमा जगाद तम् ॥४३॥
कष्टं कुत्र प्रविष्टोऽसि वराहो यस्त्वयेक्षितः।
स दैत्योऽङ्गारको नाम वज्रकायो महाबलः ॥४४॥
सम्प्रति त्यक्तवाराहरूपश्चान्तः स्वपित्यसौ।
प्रबुध्याहारकाले तु कुर्यादत्यहितं तव ॥४५॥
अहं च सुभगैतस्य नाम्नाङ्गारवती सुता।
तव चानिष्टमाशङ्क्य प्राणाः कण्ठागता मम ॥४६॥
इत्युक्तः स तया राजा देव्या दत्तं वरं स्मरन्।
कार्यसिद्धिर्ममास्तीति जातास्थः प्रत्युवाच ताम् ॥४७॥
यदि मय्यस्ति ते स्नेहस्तदिदं कुरु मद्वचः।
गत्वा रुदिहि पार्श्वेऽस्य प्रबुद्धस्य सतः पितुः ॥४८॥
प्रमत्तं यदि कश्चित्त्वां हन्यत्तान्मम का गतिः।
इति वाच्यश्च मुग्धाक्षि स पृच्छन्कारणं त्वया ॥४९॥
एवं कृते ममाप्यस्ति ध्रुवं श्रेयस्तवापि च।
इत्युक्ता तेन राज्ञा सा गत्वा मदनमोहिता ॥५०॥
उपविश्य प्रबुद्धस्य पार्श्वे तस्यारुदत्पितुः।
पृष्टा शशंस तस्मै च हेतुं तद्भवजं भयम् ॥५१॥
ततः स दैत्योऽवादीत्तां वज्राङ्गं को हि हन्ति माम्।
यद्धि वामकरे मेऽस्ति मर्म रक्षति तद्धनुः ॥५२॥
इत्येतत्तद्वचो राजा प्रच्छन्नः स तदाश्रृणोत्।
सोऽथ दैत्यः प्रववृते स्नात्वा पूजयितुं हरम् ॥५३॥

(देखकर राजा मन में विचार करने लगे कि) ऐसा सुअर तो हो नहीं सकता। हो-न-हो, यह वही मायावी अंगारक होगा। यह सोचते हुए राजा चण्डमहासेन ने उस सुअर के ऊपर बाण चलाये॥३९॥

वह सुअर उन बाणों की परवाह न करता-सा उनके रथ को धक्का देकर निकला और धरती की एक बहुत बड़ी सुरंग में घुस गया॥४०॥

वीर राजा चण्डमहासेन भी उस सुअर के पीछे-पीछे उसी सुरंग में घुस गये और उसमें एक रमणीय नगर देखा, किन्तु फिर उस सुअर को न देखा॥४१॥

वहाँ उन्होंने देखा कि एक पोखरे के किनारे सौ कन्याओं (सहेलियों) से घिरी हुई एक कन्या बैठी है, (वह लगती है) जैसे साक्षात् रति हो॥४२॥

वह कन्या पास आई और (राजा चण्डमहासेन से) वहाँ आने का कारण पूछा। उनको देखते ही उसे प्रेम हो गया, और आँखों में आँसू भरकर उनसे कहा कि—॥४३॥

हाय-हाय! आप (यहाँ) कहाँ घुस आये? आपने जो यह सुअर देखा, वह (वस्तुतः) वज्र के समान (दृढ) शरीरवाला परम बलवान् अंगारक नाम का राक्षस है॥४४॥

अभी वह उस सुअर का रूप त्यागकर भीतर सो रहा है। वह अपने भोजन के समय में जागकर कहीं आपका अमंगल कर बैठेगा॥४५॥

हे सौम्य! मैं उस अंगारक की पुत्री हूँ। मेरा नाम अंगारवती है। और, आपके अमंगल की आशंका करके मेरे प्राण कण्ठ में आ गये हैं—निकल-से रहे हैं॥४६॥

उस कन्या के ऐसा कहने पर राजा चण्डमहासेन ने देवी चण्डी द्वारा दिये गये वर का स्मरण करते हुए यह विश्वास करके कि कार्यसिद्धि होगी ही, उस कन्या को उत्तर दिया कि—॥४७॥

हे भोली आँखोंवाली! यदि तुम्हें मुझसे प्रेम है, तो यह मेरी बात करो। अपने पिता के जागने पर उसके पास जाकर रोने लगो और वह जब (रोने का) कारण पूछें, तब यह कहो कि (हे पिता, मैं इसलिए रो रही हूँ कि) यदि कोई आपको असावधान पाकर मार डाले, तो मेरी क्या गति होगी॥४८-४९॥

ऐसा करने से मेरा भी निश्चित कल्याण है और तुम्हारा भी। राजा चण्डमहासेन के ऐसा कहने पर काम से मोहित हुई वह कन्या जागे हुए अपने पिता के पास बैठकर रोने लगी और पूछने पर बतलाया कि मेरे रोने का कारण आपकी ही मृत्यु की आशंका है॥५०-५१॥

तब उस राक्षस (अंगारक) ने (अपनी पुत्री) अंगारवती से कहा कि (हे पुत्री!) वज्र जैसे (दृढ) अंगवाले मुझको कौन मारनेवाला है। और, मेरे बाँये हाथ में जो मर्मस्थल-जैसा कोमल स्थान है, जहाँ चोट लगने पर प्राण निकल सकते हैं, उसकी रक्षा यह धनुष कर रहा है॥५२॥

उस समय छिपे हुए राजा चण्डमहासेन ने उस राक्षस की उक्त बात सुन ली। और, तब वह राक्षस भी स्नान करके शिवजी की पूजा करने लगा॥५३॥

तत्कालं प्रकटीभूय युद्धायाह्वयते स्म सः।
दैत्यं गृहीतमौनं तं राजा रोपितकार्मुकः॥५४॥
सोऽपि दैत्यः करं वाममुत्क्षिप्य व्यापृततरः।
संज्ञां तस्याकरोद्राज्ञः प्रतीक्षस्व मनागिति॥५५॥
तत्क्षणं तेन राज्ञा च करे तत्र स मर्मणि।
सिद्धलक्ष्येण बाणेन हतो दैत्योऽपद्भुवि॥५६॥
तृषार्त्तोऽहं हतो येन सोऽब्देऽब्दे चेन्न मां जलैः।
तर्पयिष्यति तत्तस्य पञ्च नङ्क्ष्यन्ति मन्त्रिणः॥५७॥
इत्युक्त्वैव विपन्नेऽस्मिन्दैत्ये तां तत्सुतां नृपः।
आदाय सोऽङ्गारवतीमागादुज्जयिनीमिमाम्॥५८॥
परिणीय च तां देवीं स देवो देव वः पिता।
अङ्गारकस्याम्बुदानं प्रतिवर्षमकारयत्॥५९॥
सर्वे चोदकदानाख्यं कुर्वन्तीह महोत्सवम्।
प्राप्तः स चाद्य तत्पित्रा यत्कृतं ते कुरुष्व तत्॥६०॥
एतत्प्रजावचः श्रुत्वा स तं पालकभूपतिः।
पुरि प्रावर्तयत्तत्र जलदानोत्सवं तदा॥६१॥
तस्मिन्प्रवृत्ते तद्व्यग्रे जने कोलाहलाकुले।
अकस्मात्त्रोटितालानो गजोऽत्राधावदुन्मदः॥६२॥
स वारणोऽङ्कुशं जित्वा व्याधूताधोरणो भ्रमन्।
अन्तर्नगर्यां सुवहून्क्षणाद्व्यापादयज्जनान्॥६३॥
प्रधावितेषु मेण्ठेषु महामात्रान्वितेष्वपि।
पौरेषु च न तं कश्चिन्नियन्तुमशकद्गजम्॥६४॥
क्रमाद्भ्रमति तस्मिंश्च गजे चण्डालवाटकम्।
सम्प्राप्ते निरगात्तस्मादेका चण्डालकन्यका॥६५॥
जितोऽनया मुखेनेन्दुर्मद्वैरीतीव तुष्टया।
भासयन्ती भुवं पादलग्नया कमलश्रिया॥६६॥
व्यावृत्तचेतसोऽन्येभ्यो भावेभ्यस्तिमितस्थितेः।
निद्रेव सर्वलोकस्य दृशोर्विश्रान्तिदायिनी॥६७॥
सा कन्या वारणेन्द्रं तं सम्मुखोपागतं करे।
करेणाहत्य कुटिलैस्तैः कटाक्षैरताडयत्॥६८॥

उसी समय राजा चण्डमहासेन प्रकट हो धनुष चढ़ाकर (युद्ध के लिए) उस राक्षस को ललकारने लगे, जो (पूजा करते रहने के कारण) मौन धारण किये हुए था॥५४॥

वह राक्षस भी दाहिना हाथ (पूजा में) लगे रहने के कारण बायाँ हाथ उठाकर राजा चण्डमहासेन को इशारा करने लगा कि जरा ठहरो॥५५॥

उसी क्षण राजा ने उसके मर्मस्थल में ठीक निशानावाला बाण चलाया और वह राक्षस आहत होकर धरती पर गिर पड़ा॥५६॥

(और यह कहने लगा कि)प्यास से व्याकुल (अवस्था में) मुझको (अभी) जिसने मारा है, वह यदि प्रतिवर्ष जलांजलियों से मेरा तर्पण नहीं करेगा, तो उसके पाँच मन्त्री मर जायेंगे॥५७॥

यह कहते ही वह दैत्य मर गया और राजा चण्डमहासेन उसकी पुत्री अगारवती को लेकर उज्जयिनी चले आये॥५८॥

और, उस देवी अंगारवती से विवाह कर लिया। हे देव! आपके पिता चण्डमहासेन (तब से) प्रति वर्ष अंगारक को जलांजलि दान कराते हैं ॥५९॥

और, उस नगर में सभी लोग यह जलांजलि-दानमहोत्सव करते हैं। वह महोत्सव आज (ही) पड़ता है। अतः, आपके पिता चण्डमहासेन जो करते थे, वह आप भी करें॥६०॥

प्रजाओं का यह वचन सुनकर राजा पालक ने भी नगर में वह जलांजलि-दानोत्सव कराया॥६१॥

उत्सव प्रारम्भ हुआ। लोग कल-मल करते हुए उस उत्सव में मग्न हो गये। (इसी समय) एक मत्त हाथी खूँटे को तोड़कर वहाँ आ गया॥६२॥

उस हाथी ने अंकुश की परवाह न कर (अपने) महावत को फेंक, उस नगर के बीच में घूमता हुआ क्षण-भर में बहुत-से लोगों को मार डाला॥६३॥

(यह स्थिति देखकर) मेण्ठ (हाथी के पालक) लोग तथा (सैनिक अधिकारियों) के साथ अन्यान्य नागरिक भी दौड़े; किन्तु (उनमें से) कोई भी उस हाथी को दबा न सका॥६४॥

क्रमशः घूमता-घामता वह हाथी चण्डालों की एक बस्ती में जा पहुँचा, और उस बस्ती से एक चण्डालकन्या निकली॥६५॥

इस चण्डालकन्या ने (अपने) मुख (की शोभा) से मेरे शत्रु चन्द्रमा को जीत लिया है, मानों इसी भावना से सन्तुष्ट होकर पाँव में लगी कमल-श्री से वह चण्डालकन्या धरती को सुशोभित कर रही थी॥६६॥

वह चण्डालकन्या निद्रा की भाँति सभी लोगों के चित्त को अन्य सभी भावों से दूर करके उन्हें निश्चल बनाती हुई उनकी आँखों को विश्राम देनेवाली थी॥६७॥

वह चण्डालकन्या सामने आये हुए उस गजराज को सूँड़ में एक थप्पड़ लगाकर अपने कुटिल कटाक्षों से आहत करने लगी॥६८॥

स हस्ती तत्करस्पर्शमोहितो विनताननः।
तद्दृष्टिविद्धस्तां पश्यन्पदमप्यत्र नाचलत्।।६९।।
ततः सा स्वोत्तरीयेण कृतायां तस्य दन्तयोः।
उत्पत्यारुह्य दोलायां प्राक्रीडद्वरकन्यका।।७०।।
दृष्ट्वा तां च स घर्मार्त्तो तरुच्छायामगाद्द्विपः।
एतद्दृष्ट्वा महच्चित्रं पौरास्तत्रैवमब्रुवन्।।७१।।
अहो दिव्येव काप्येषा कन्या सर्वातिशायिना।
रूपेणेव प्रभावेण तिर्यञ्चोऽप्याहृता यया।।७२।।
अत्रान्तरे च तद्बुद्ध्वा कुमारोऽवन्तिवर्धनः।
निर्गतः कौतुकं द्रष्टुमपश्यत्तां स कन्यकाम्।।७३।।
पश्यतस्तस्य मदनव्याधवागुरया तया।
धावितश्चित्तहरिणो राजसूनोरबध्यत।।७४।।
सापि तं वीक्ष्य तद्रूपहृतचित्ता तदग्रहीत्।
गजेन्द्रदन्तदोलाया अवरुह्योत्तरीयकम्।।७५।।
ततो मेण्ठाधिरूढेऽस्मिन्गजे साथ नृपात्मजम्।
सलज्जं सानुरागं च पश्यन्ती स्वगृहानगात्।।७६।।
अवन्तिवर्धनः सोऽपि प्रशान्ते गजसम्भ्रमे।
तथा हृतेन चित्तेन शून्योऽयासीत्स्वमन्दिरम्।।७७।।
तत्र सन्तप्यमानश्च तां विना वरकन्यकाम्।
अपृच्छद्विस्मृतारब्धजलदानोत्सवः सखीन्।।७८।।
जानीथ कस्य तनया किंनामा सा च कन्यका।
तच्छ्रुत्वा ते वयस्यास्तं राजपुत्रं बभाषिरे।।७९।।
अस्तीहोत्पलहस्ताख्यः कोऽपि चण्डालवाटके।
मातङ्गस्तत्तनूजासा नाम्ना सुरतमञ्जरी।।८०।।
सतां दर्शनमात्रैकफलं तस्या मनोरमम्।
चित्रस्थिताया इव तन्नोपभोगक्षमं वपुः।।८१।।
तच्छ्रुत्वा स वयस्येभ्यः कुमारस्तानभाषत।
मन्ये न मातङ्गसुता सा दिव्या कापि निश्चितम्।।८२।।
नहि चण्डालकन्यायाः सा तादृश्याकृतिर्भवेत्।
तद्रूपा सा च भार्या मे न चेत्स्याज्जीवितेन किम्।।८३।।

उस हाथी ने चण्डालकन्या के हाथ के स्पर्श से मोहित हो अपना मस्तक झुका लिया और उसके कटाक्षों से घायल हो उसकी ओर देखते हुए वहाँ से एक पग भी आगे न बढ़ा ॥६९॥

तब वह श्रेष्ठ कन्या अपनी ओढ़नी को उस हाथी के दोनों दाँतों में (बाँध) झूला-सा बना लिया और कूदकर उसपर चढ़ गई और खेलने लगी ॥७०॥

और वह हाथी उस कन्या को धूप से पीडित देखकर पेड़ की छाया में चला गया। यह महान् आश्चर्य देखकर वहाँ नगर के लोग कहने लगे कि— ॥७१॥

यह तो कोई दिव्य कन्या (प्रतीत) होती है, जिसने सबको पराजित करनेवाले अपने सौन्दर्य के समान (ही अपने) प्रभाव से पशु-पक्षियों को भी वश में कर लिया है ॥७२॥

इसी बीच इस घटना का समाचार पाकर कुमार अवन्तिवर्द्धन यह कौतुक देखने निकले और उस चण्डालकन्या को देखा ॥७३॥

देखते ही राजकुमार अवन्तिवर्द्धन का चित्त-रूपी मृग (उस कन्या की ओर) दौड़ा और कामदेव-रूपी व्याध के जाल में फँस गया ॥७४॥

उस चण्डालकन्या ने भी ज्योंही राजकुमार को देखा कि उसका चित्त भी कुमार के रूप से आकृष्ट हो गया और उसने गजराज के दाँतों पर बनी डोली से उतरकर अपनी ओढ़नी ले ली ॥७५॥

तब उस हाथी पर महावत सवार हो गया, उसके बाद वह चण्डालकन्या राजकुमार को लज्जा और प्रेम के साथ देखती हुई अपने घर चली गई ॥७६॥

अवन्तिवर्द्धन भी हाथीवाली हलचल के शान्त होने पर सूना हृदय लेकर अपने महल गये; (क्योंकि) उनका चित्त उस कन्या ने चुरा लिया था ॥७७॥

वहाँ (अपने महल में) उस श्रेष्ठ कन्या के विरह से सन्तप्त होते हुए राजकुमार ने जलांजलि-दानोत्सव को भूलकर (अपने) मित्रों से पूछा कि— ॥७८॥

(मित्रो!) तुम लोग जानते हो कि वह कन्या किसकी लड़की है और उसका क्या नाम है? यह सुनकर उन मित्रों ने राजकुमार से कहा कि— ॥७९॥

चण्डालों की इस बस्ती में कोई उत्पलहस्त नाम का मातंग है, वह कन्या उसी की लड़की है और उसका नाम सुरतमंजरी है ॥८०॥

लिखे हुए चित्र की भाँति, उस कन्या का रमणीय शरीर भले लोगों के केवल दर्शन-मात्र फल के लिए है, वह (नीच जाति के होने के कारण अच्छे लोगों के) उपभोग के योग्य नहीं है ॥८१॥

मित्रों से यह सुनकर कुमार आनन्दवर्द्धन ने कहा, जान पड़ता है कि वह कन्या मातंग की लड़की नहीं है, बल्कि निःसन्देह कोई दिव्य कन्या है ॥८२॥

क्योंकि, चण्डाल की लड़की का वैसा (अलौकिक) रूप नहीं हो सकता। यदि वैसी रूपवती कन्या मेरी स्त्री नहीं होती, तो मेरा जीवन ही व्यर्थ है ॥८३॥

इति ब्रुवन्स सचिवैरशक्यविनिवारणः।
अत्यर्थं तद्वियोगाग्निसन्तप्तोऽभून्नृपात्मजः॥८४॥
ततोऽवन्तिवती देवी नृपतिः पालकस्तथा।
पितरौ तस्य बुद्ध्वा तदभूतां चिरमाकुलौ॥८५॥
कथं वाञ्छति पुत्रो नावन्त्यजां राजवंशजः।
इति चोक्ते तया देव्या स राजा पालकोऽब्रवीत्॥८६॥
एवं धावति यच्चेतस्तस्यामस्मत्सुतस्य तत्।
ध्रुवं कारणमातङ्गी कापि सान्यैव कन्यका॥८७॥
वक्ति रज्यदरज्यद्वा कार्याकार्ये सतां मनः।
अत्र चैषा कथा देवि न श्रुता चेन्निशम्यताम्॥८८॥
प्राक्प्रसेनजितो राज्ञः सुप्रतिष्ठितसंज्ञके।
पुरे कुरङ्गी नाम्नाभूदतिरूपवती सुता॥८९॥
सा जातूद्याननिर्याता बन्धभ्रष्टेन हस्तिना।
उच्चिक्षिपे सवहना धावित्वोपरि दन्तयोः॥९०॥
विद्द्रुते परिवारेऽस्याः साक्रन्दे तं गजं प्रति।
तत्रात्तखड्गश्चण्डालकुमारः कोऽप्यधावतः॥९१॥
स तं लूनकरं खड्गप्रहारेण महागजम्।
हत्वा तां मोचयामास प्रवीरो राजकन्यकाम्॥९२॥
ततो मिलत्परिजना सा जगाम स्वमन्दिरम्।
आकृष्टहृदया तस्य वीर्यसौन्दर्यसम्पदा॥९३॥
स मे वारणतस्त्राता भर्त्ता वा मृत्युरेव वा।
इति सञ्चिन्तयन्ती च तस्थौ तद्विरहातुरा॥९४॥
स चण्डालकुमारोऽपि शनैर्गत्वा निजं गृहम्।
तद्रूपहृतचित्तः सन्ध्यायंस्तां पर्यतप्यत॥९५॥
कुत्राहमन्त्यजन्मायं कुत्र सा राजकन्यका।
काकस्य राजहंस्याश्च कीदृशः क्व समागमः॥९६॥
हास्यमेतच्च शक्नोमि न वक्तुं नाप्युपेक्षितुम्।
तस्मान्मरणमेवात्र सङ्कटे शरणं मम॥९७॥
इत्यालोच्य स गत्वा च निशायां पितृकाननम्।
स्नात्वा कृत्वा चितामग्निं प्रज्वाल्यैव व्यजिज्ञपत्॥९८॥

यह कहते हुए मित्र लोग उस राजकुमार का निवारण न कर सके और वे उस कन्या के विरह-रूपी अग्नि से अत्यन्त सन्तप्त हो गये॥८४॥

तदनन्तर, यह (समाचार) जानकर उनकी माता देवी अवन्तिवती तथा पिता राजा पालक दोनों बहुत दुःखी हुए॥८५॥

(रानी अवन्तिवती ने पूछा कि) क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न होकर हमारा पुत्र चण्डाल के वंश में उत्पन्न कन्या की कामना क्यों करता है? रानी के यह पूछने पर राजा पालक ने कहा कि—॥८६॥

(हे देवी!) हमारे इस पुत्र का चित्त जो इस प्रकार उस चण्डालकन्या पर दौड़ रहा है, इससे प्रतीत होता है कि वह कोई अन्य (जाति की) ही लड़की है, जो कारणवश मातंगी हो गई है॥८७॥

क्योंकि, सज्जनों का चित्त अनुरक्त या विरक्त होकर (स्वयं) बता देता है कि क्या कर्त्तव्य या क्या अकर्त्तव्य है। हे देवी! इस विषय में एक कथा है, यदि वह न सुनी हो तो, सुनो॥८८॥

सुप्रतिष्ठित नाम के एक नगर में प्राचीन समय में प्रसेनजित् नाम का एक राजा था। उसके कुरंगी नाम की एक परम सुन्दरी लड़की थी॥८९॥

वह कुरंगी एक दिन (डोली पर) उद्यान गई। वहाँ बन्धन तोड़कर (एक मत्त) हाथी दौड़ा हुआ आया और डोली-सहित उस कन्या को उछालकर (अपने) दाँतों पर फेंक दिया॥९०॥

उसके साथ के लोग चिल्लाते हुए भाग गये। (तभी) वहाँ एक चण्डाल युवक तलवार लिये उस हाथी के सम्मुख दौड़ा आया॥९१॥

उस वीर युवक ने तलवार से सूँड़ काटकर उस हाथी को मार डाला और उस राजकुमारी को बचा लिया॥९२॥

तदनन्तर, वह राजकुमारी अपने परिजनों से मिलकर अपने महल चली गई, किन्तु उसका हृदय उस युवक की वीरता और सुन्दरता पर आकृष्ट हो गया।॥९३॥

हाथी से बचानेवाला वही युवक मेरा पति हो, नहीं तो मेरी मृत्यु हो जाय—ऐसा सोचती हुई वह राजकुमारी उस युवक के विरह से व्याकुल रहने लगी॥९४॥

वह चण्डालकुमार भी उस राजकुमारी के रूप पर आकृष्ट होकर उसी की चिन्ता करते हुए धीरे-धीरे अपने घर जाकर सन्ताप करने लगा कि—॥९५॥

कहाँ यह मैं चाण्डाल (जाति का) लड़का और कहाँ वह राजकुमारी? कौए का राजहंसी के साथ कहाँ और कैसे मिलन हो सकता है।॥९६॥

उपहास-योग्य यह (राजकुमारी के साथ प्रेम की) बात न तो मैं बोल ही सकता हूँ और न टाल ही सकता हूँ। इसलिए, इस संकट में मरण ही मेरी (एकमात्र) शरण है॥॥९७॥

यह विचार कर वह चण्डाल राजकुमार रात में श्मशान गया और वहाँ स्नान करके, चिता बनाकर और उसमें आग जलाकर बोला—॥९८॥

देव पावक विश्वात्मंस्त्वय्यात्माहुतिदानतः ।
जन्मान्तरेऽपि सा भूयाद्भार्या राजसुता मम ॥९९॥
इत्युक्तवन्तं हुतभुज्यात्मानं क्षेप्तुमुद्यतम् ।
प्रकटीभूय साक्षात्तं प्रसन्नोऽग्निरभाषत ॥१००॥
मा कृथाः साहसं भार्या भविष्यति तवैव सा ।
नहि त्वं पूर्वचण्डालो यश्च त्वां वच्मि तच्छृणु ॥१०१॥
आस्ते कपिलशर्माख्यो नगरेऽस्मिन्द्विजोत्तमः ।
तस्याग्न्यगारे प्रत्यक्षः साकारः सन्वसाम्यहम् ॥१०२॥
तत्र जात्वन्तिकप्राप्तां तत्सुतां रूपलोभतः ।
कन्यामकरवं भार्यां वरोत्सारितदूषणाम् ॥१०३॥
तस्यां तदैव जातस्त्वं मम वीर्येण पुत्रक ।
तया च लज्जया रथ्यामुखे क्षिप्तोऽसि तत्क्षणम् ॥१०४॥
ततस्त्वं प्राप्य चण्डालैरजाक्षीरेण वर्धितः ।
तदेवं ब्राह्मणीगर्भसम्भूतस्त्वं ममात्मजः ॥१०५॥
अतो नास्त्यपवित्रत्वं मत्तेजःसम्भवस्य ते ।
प्राप्स्यस्येव च भार्यां तां कुरङ्गीं राजकन्यकाम् ॥१०६॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे वह्निः सोऽपि सम्प्राप्तसम्मदः ।
मातङ्गकृत्रिमसुतो जातास्थः स्वगृहं ययौ ॥१०७॥
ततः प्रसेनजिद्राजा स्वप्नेऽग्निप्रेरितो ददौ ।
अन्विष्टतत्त्वस्तस्मै तां सुतां पावकसूनवे ॥१०८॥
एवं भवन्ति प्रच्छन्ना दिव्या देवि सदा भुवि ।
तदेषा कापि दिव्यैव नान्या सुरतमञ्जरी ॥१०९॥
अन्यदेव हि तद्रत्नं मत्सूनोः सा च निश्चितम् ।
जन्मान्तरप्रियतमा चक्षूरागोपवर्णिता ॥११०॥
एवमस्मासु तिष्ठत्सु राज्ञि ब्रुवति पालके ।
अवर्णयमहं तत्र कैवर्त्तीयामिमां कथाम् ॥१११॥
अभून्मलयसिंहाख्यो राजा राजगृहे पुरा ।
तस्य मायावतीत्यासीद्रूपेणाप्रतिमा सुता ॥११२॥
सा क्रीडन्ती मधूद्याने रूपयौवनशालिना ।
कैवर्त्तककुमारेण दृष्टा केनापि जातुचित् ॥११३॥

हे सर्वव्यापी अग्नि भगवान्! मैं अपने को इसलिए आप में आहुत करता हूँ कि यह राजकन्या कुरंगी दूसरे जन्म में भी मेरी स्त्री हो॥९९॥

यह कहकर ज्यों ही वह चण्डालकुमार अपने को अग्नि में डालने के लिए उद्यत हुआ, त्योंही भगवान् अग्नि ने प्रसन्न हो साक्षात् प्रकट होकर उससे कहा कि—॥१००॥

तुम यह (मरने का) साहस मत करो। वह राजकुमारी तुम्हारी ही स्त्री होगी। क्योंकि तुम शुरू से चण्डाल नहीं हो। (वस्तुतः) तुम जो हो, मैं कहता हूँ, सुनो॥१०१॥

इस नगर में कपिलशर्मा नाम का एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहता है। मैं उसीके अग्निहोत्र-गृह में प्रत्यक्ष शरीर धारण कर रहता हूँ।॥१०२॥

वहाँ किसी समय वह ब्राह्मण की पुत्री मेरे पास आई। उसके रूप पर मैं लुभा गया और वरदान के द्वारा उसके दोषों को दूर करके मैंने उस कन्या को (अपनी) स्त्री बना लिया॥१०३॥

हे पुत्र! तुम उसी समय मेरे वीर्य से उस कन्या में उत्पन्न हुए। और, उस कन्या ने तुम्हें उसी क्षण गली के सामने फेंक दिया॥१०४॥

तब चण्डालों ने तुमको पाया और बकरी के दूध से (पाल-पोसकर) बढ़ाया है। इस भाँति तुम ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न मेरे पुत्र हो॥१०५॥

मेरे वीर्य से उत्पन्न होने के कारण तुममें कोई अपवित्रता नहीं है, और तुम कुरंगी नाम की उस राजकन्या को पत्नी के रूप में प्राप्त करोगे ही॥१०६॥

यह कहकर अग्निदेव अन्तर्हित हो गये, और वह मातंग का गोद लिया हुआ लड़का आशा उत्पन्न होने के कारण आनन्द प्राप्त करके अपने घर चला गया॥१०७॥

तदनन्तर, राजा प्रसेनजित् ने स्वप्न में अग्निदेव का आदेश पाकर और सत्य का पता लगाकर उस अग्निपुत्र को अपनी पुत्री दे दी॥१०८॥

हे देवी! इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से दिव्य पुरुष सदा पृथ्वी पर जन्म लेते रहते हैं। अतः, यह सुरतमंजरी भी कोई दिव्य कन्या ही होगी, न कि चण्डालकन्या॥१०९॥

वह रत्नस्वरूपा कोई दूसरी ही कन्या है और निश्चय मेरे पुत्र की पूर्वजन्म की प्रेमिका होगी; क्योंकि दृष्टि पड़ते ही प्रेम हो जाने से ऐसा ही प्रकट होता है॥११०॥

इस प्रकार, हम लोगों की उपस्थिति में राजा पालक ने जब यह कहानी कही, तब मैंने (भी) इस विषय में मछुए की यह कहानी कह सुनाई॥१११॥

प्राचीन समय में राजगृह में मलयसिंह नाम का एक राजा था। उसके मायावती नाम की एक अनुपम रूपवाली पुत्री थी॥११२॥

मायावती किसी समय वसन्त के उद्यान में खेल रही थी कि उसे रूप और यौवन से युक्त केवट जाति के किसी युवक ने देख लिया॥११३॥

स च तां सुप्रहाराख्यो दृष्ट्वा स्मरवशोऽभवत् ।
साध्यासाध्यविचारं हि नेक्षते भवितव्यता ॥११४॥
गत्वा च स्वगृहं त्यक्त्वा पाठीनाहरणादि सः ।
तस्थौ तदेकचित्तः स शय्यायामुज्झिताशनः ॥११५॥
अनुबन्धेन पृष्टश्च स्वाभिप्रायं शशंस सः ।
मात्रे रक्षितिकानाम्न्यै सापि पुत्रं तमभ्यधात् ॥११६॥
विषादं मुञ्च पुत्र त्वमाहारं भज निश्चितम् ।
एतत्ते साधयाम्येव स्वयुक्त्याहमभीप्सितम् ॥११७॥
इत्युक्त्वाश्वासिते तस्मिञ्जातास्थे भुक्तभोजने ।
मत्स्यानादाय हृद्यान्सा ययौ राजसुतागृहम् ॥११८॥
तत्र चेटीभिराख्याता सेवोद्देश्यात्प्रविश्य सा ।
दाशी रक्षितिका तस्यै तन्मत्स्यप्राभृतं ददौ ॥११९॥
तेनैव च क्रमेणैतद्ददती सा दिने दिने ।
वचनाकाङ्क्षिणीं चक्रे तामाराध्य नृपात्मजाम् ॥१२०॥
ब्रूहि वाञ्छसि यन्मत्तस्तत्कुर्यामपि दुष्करम् ।
इति प्रीताथ सावोचत्तां दाशीं राजकन्यका ॥१२१॥
ततः सा धीवरी प्राह रहस्तां याचिताभया ।
उद्यानदृष्टां त्वां देवि विना क्लाम्यति मे सुतः ॥१२२॥
आशां प्रदर्श्य च मया प्राणत्यागात्स रक्ष्यते ।
तत्कृपा मयि चेत्तन्मे सुतं स्पर्शेन जीवय ॥१२३॥
एवं तयोक्ता कैवर्त्तयोषिता सा नृपात्मजा ।
सलज्जा सानुरोधा च विमृश्यैदमुवाच ताम् ॥१२४॥
गुप्तमानय तं तावन्नक्तं मन्मन्दिरं सुतम् ।
तच्छ्रुत्वैव प्रहृष्टा सा ययौ दाशी सुतान्तिकम् ॥१२५॥
नक्तं च सा यथाशक्ति स्वैरं रचितमण्डनम् ।
तमानिनाय तद्राजकन्यान्तःपुरमात्मजम् ॥१२६॥
तत्र तं राजपुत्री सा सुप्रहारं चिरोत्सुकम् ।
हस्ते गृहीत्वा शयने कृतप्रीतिर्न्यवेशयत् ॥१२७॥
आश्वासयामास च तं क्लान्ताङ्गं विरहाग्निना ।
श्रीखण्डशिशिरस्पर्शकरसंवाहनेन सा ॥१२८॥

किवट युवक, जिसका नाम सुप्रहार था, उस कुमारी को देखकर कामदेव के वश हो गया। क्योंकि भवितव्यता (होनी) साध्य या असाध्य का विचार नहीं करती है॥११४॥

सुप्रहार अपने घर जाकर पाठीन (पोठिया) मछली बटोरना छोड़, उस एकमात्र राजकुमारी की ओर ध्यान लगाये भोजन त्यागकर बिछावन पर पड़ा रहा॥११५॥

आग्रहपूर्वक पूछने पर उसने रक्षितिका नाम की अपनी माता से अपना अभिप्राय कहा, और (तब) माता ने अपने पुत्र से कहा कि—॥११६॥

हे पुत्र! तुम इस विषाद को छोड़ो और भोजन करो। तुम्हारी यह कामना मैं अपनी तरकीब से अवश्य सिद्ध कर दूँगी॥११७॥

यह कहकर (उसकी माता ने) पुत्र को आश्वासन दिया, और पुत्र ने भी आश्वस्त होकर भोजन किया, तब वह (माता) अच्छी-अच्छी मछलियाँ लेकर उस राजकुमारी के घर गई॥११८॥

दासियों ने उसके आने की खबर की, तब वह मछुवाइन रक्षितिका सेवा करना अपना उद्देश्य बताकर भीतर गई और राजकुमारी को मछली का उपहार दिया॥११९॥

इसी क्रम से प्रतिदिन वह उक्त उपहार देती गई और (अन्त में) उस राजकुमारी को प्रसन्न कर अपनी बात मनवा ली॥१२०॥

राजकन्या ने मछुवाइन पर प्रसन्न होकर कहा कि कहो, तुम क्या चाहती हो, वह भले ही दुष्कर हो, मैं (अवश्य) करूँगी॥१२१॥

तब वह मछुवाइन एकान्त में अभय की याचना करके बोली, हे राजकुमारी! मेरे पुत्र सुप्रहार ने जिस दिन आपको उद्यान में देखा, उसी दिन से आपके विरह में तप रहा है॥१२२॥

मैं आशा दे-देकर उसे प्राण-त्याग करने से बचाती आ रही हूँ। इसलिए, यदि आपकी मुझपर कृपा हो, तो मेरे पुत्र को अपने स्पर्श से जिलाइए॥१२३॥

इस प्रकार, उस मछुवाइन के कहने पर राजकुमारी ने (एक ओर) लज्जा और (दूसरी ओर उसके) अनुरोध का विचार कर कहा—॥१२४॥

अपने उस लड़के को तुम रात में गुप्त रूप से मेरे घर लेती आओ। यह सुनते ही वह मछुवाइन प्रसन्न होकर अपने पुत्र के पास गई॥१२५॥

और, रात में उसे यथाशक्ति सजा-धजाकर राजकुमारी के अन्तःपुर में ले आई॥१२६॥

राजकुमारी ने चिरकाल से उत्कण्ठित सुप्रहार को प्रेमपूर्वक हाथ पकड़कर अपनी सेज पर सुलाया॥१२७॥

और, विरह की अग्नि से खिन्न शरीरवाले उस युवक को श्रीखण्ड चन्दन के समान शीतल स्पर्शवाले अपने हाथ से दबा-दबाकर आश्वस्त किया॥१२८॥

सोऽपि तेन सुधासिक्त इव दाशीसुतश्चिरम् ।
कृतार्थमानी विश्रान्तो जह्ले सपदि निद्रया ।।१२९।।
सुप्ते चास्मिन्नृपसुता गत्वा सुष्वाप सान्यतः ।
युक्तिरञ्जितकैवर्त्तसुता रक्षितविप्लवा ।।१३०।।
ततोऽस्य तत्करस्पर्शविगमप्रतिबोधिनः ।
हस्तोपनतविभ्रष्टां दुर्लभां तामपश्यतः ।।१३१।
निधिकुम्भीमिवातीव दरिद्रस्य विषादिनः ।
दाशसूनोर्निराशस्य सद्यः प्राणा विनिर्ययुः ।।१३२।।
तद्बुद्ध्वागत्य निन्दन्ती सात्मानं राजकन्यका ।
प्रातस्तेन सहारोढुं चितां व्यवसिताभवत् ।।१३३।
ततो मलयसिंहोऽस्याः पिता बुद्ध्वा नृपोऽत्र तत् ।
एत्यानिवार्यां दृष्ट्वैतामाचम्यैवं वचोऽब्रवीत् ।।१३४
यदि सत्यमहं भक्तो देवदेवे त्रिलोचने .
तन्मे वदत कर्त्तव्यं लोकपाला यथोचितम् ।।१३५।।
इत्युक्तवन्तं राजानं दिव्या वागेवमब्रवीत्
पूर्वभार्येयमेतस्य दाशयूनो भवत्सुता ।।१३६
ग्रामे नागस्थलाख्ये हि महीधरसुतः पुरा ।
अभूद्बलधरो नाम ब्राह्मणो गुणवत्तरः ।।१३७।।
स गते पितरि स्वर्गं हृतवित्तः स्वगोत्रजैः
विरक्तो भार्यया साकं जगाम द्युनदीतटम् ।।१३८।।
देहं त्यक्ष्यन्निराहारः स्थितस्तत्र विलोक्य सः
दाशान्भक्षयतो मत्स्यान्मनसा श्रद्दधे क्षुधा ।।१३९।।
ततोऽत्र पञ्चतां यातं तत्सङ्कल्पकलङ्कितम्
स्वभार्या शुद्धसङ्कल्पा तपःस्थैव तमन्वगात् ।।१४
स एष जातः सङ्कल्पदोषाद्दाशकुले द्विज
भार्यास्य सा च सुतपा जातैषा ते सुता नृप ।।१४१।।
तदेतं पूर्वभर्त्तारं राजन्नेषा त्वदात्मजा
जीवयत्वायुषोऽर्धेन गतायुषमनिन्दिता ।।१४२
एतत्तपः प्रभावाद्धि तत्तीर्थप्रमयात्तथा ।
पूतोऽयं तव जामाता भूत्वा राजा भविष्यति ।।१४३।।

उस प्रकार दबाने से अमृत-सिंचित-सा वह मछुवाइन का लड़का अपने को सफल समझकर कुछ देर विश्राम करता रहा और शीघ्र ही निद्रा के वशीभूत हो गया ॥१२९॥

उसके सो जाने पर वह राजकुमारी अन्यत्र जाकर सो गई। (इस प्रकार) इस उपाय से (राजकुमारी ने) उस मछुए के लड़के को आश्वस्त भी किया, और अपना धर्म भी बचाया ॥१३०॥

तदनन्तर, उस (राजकुमारी) के हाथ का स्पर्श हटते ही (वह युवक) जाग उठा और वहाँ अपनी प्रियतमा को न देखकर (इस भाँति) विषाद करने लगा, जैसे रत्नादि से भरा घड़ा किसी परम दरिद्र के हाथ में आकर फिर खो गया हो, और इस निराशा (के आघात) से तुरत उसके प्राण निकल गये ॥१३१-१३२॥

प्रातःकाल यह (समाचार) जानकर वह राजकुमारी (वहाँ) आई और अपनी निन्दा आप करती हुई उसने उसी युवक के साथ चिता पर चढ़ने का निश्चय किया ॥१३३॥

तदनन्तर, यह जानकर कि उसकी पुत्री चिता में जलने जा रही है, उसका पिता राजा मलयसिंह वहाँ आया और यह देखकर कि उसकी पुत्री किसी के मनाये माननेवाली नहीं है, आचमन कर यह वचन बोला— ॥१३४॥

यदि मैं देवों के देव त्रिलोचन शंकर का सच्चा भक्त हूँ, तो हे लोकपालो! आपलोग कहिए, मेरा उचित कर्त्तव्य क्या है ॥१३५॥

राजा के ऐसा कहने पर आकाशवाणी हुई—राजन्! आपकी यह पुत्री इस युवक मछुए की पूर्वजन्म की पत्नी है ॥१३६॥

प्राचीन काल में नागस्थल नाम के (एक) गाँव में महीधर नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसको बलधर नाम का एक परम गुणवान् पुत्र था ॥१३७॥

पिता के स्वर्गवासी होने पर उसके गोत्रवालों ने उससे सारा धन छीन लिया। (अतः) वह (संसार से) विरक्त होकर पत्नी के साथ गंगा नदी के किनारे चला गया ॥१३८॥

और शरीर-त्याग करने की इच्छा करते हुए निराहार रहने लगा। वहाँ रहते हुए (एक दिन) वह ब्राह्मण मछुवों को मछलियाँ खाते देख भूख के मारे मन में (मछली खाने की) इच्छा करने लगा ॥१३९॥

तब वहाँ ऐसी इच्छा के कारण पतित हुए उस ब्राह्मण के मरने पर उसकी पत्नी, जिसका मन पवित्र था और तप न टूटा था, उस पति के साथ सती हो गई ॥१४०॥

वही ब्राह्मण (बुरी) इच्छा करने के दोष से मछुवे के वंश में उत्पन्न हुआ है और अखण्ड तपवाली उसकी वही पत्नी हे राजन्! आपकी पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई है ॥१४१॥

हे राजन्! इसलिए, आपकी यह निष्कलंक पुत्री पूर्वजन्म के अपने पति इस युवक को अपनी आधी आयु देकर जिलाये ॥१४२॥

इस (राजकन्या) के तप के प्रभाव से तथा उस तीर्थ (गंगातट) में मृत्यु होने से पवित्र हुआ यह युवक आपका जमाई हो करके राजा होगा ॥१४३॥

इत्युक्तो दिव्यया वाचा सुप्रहाराय तां सुताम् ।
दत्तायुरर्घां च ददौ तस्मै लब्धासवे नृपः ॥१४४॥
तद्दत्तैर्भूमिहस्त्यश्वरत्नैर्भूत्वा स भूपतिः ।
सुप्रहारः कृती तस्थौ प्राप्य भार्यां तदात्मजाम् ॥१४५॥
एवं प्राग्जन्मसम्बन्धः प्रायः प्रीत्यै शरीरिणाम् ।
किं चैवं चौरसम्बद्धाप्यत्रेयं श्रूयतां कथा ॥१४६॥
अयोध्यायामभूद्राजा वीरबाहुरिति श्रुतः ।
यो ररक्ष स्वसन्तानर्निर्विशेषं सदा प्रजाः ॥१४७॥
कदाचित्तं च राजानमेत्य पौरा व्यजिज्ञपन् ।
चौरा मुष्णन्ति नगरीमिमां प्रतिनिशं प्रभो ॥१४८॥
जाग्रद्भिरपि चास्माभिः शक्या लक्षयितुं न ते ।
तच्छ्रुत्वा स्थापयामास सोऽत्र चारान्नृपो निशि ॥१४९॥
तेऽपि प्रापुर्न यच्चौरान्न चाशाम्यदुपद्रवः ।
तेन राजा स्वयं रात्रौ तदन्वेष्टुं विनिर्ययौ ॥१५०॥
एकाकी खड्गहस्तश्च परिभ्राम्यन्स सर्वतः ।
संञ्चरन्तं ददर्शैकं प्राकारोपरि पूरुषम् ॥१५१॥
भयाल्लघुपदन्यासं काकचञ्चललोचनम् ।
मृगारिमिव पश्यन्तं मुहुर्वलितकन्धरम् ॥१५२॥
विकोषासिविनिर्यातैर्लक्षितं खड्गरश्मिभिः ।
तारारत्नापहारार्थमिव सेरण(?)रज्जुभिः ॥१५३॥
दृष्ट्वा चाचिन्तयद्राजा चौरोऽयं वेद्मि निश्चितम् ।
ध्रुवमेकचरेणेयं मुष्यतेऽनेन मे पुरी ॥१५४॥
इत्यालोच्य नृपश्चौरं चतुरस्तमुपागमत् ।
चौरोऽपि स तमप्राक्षीत्सशङ्कं को भवानिति ॥१५५॥
ततो राजाब्रवीदेतं बहुव्यसनदुर्भरः ।
अहं साहसिकश्चौरस्त्वं च मे ब्रूहि को भवान् ॥१५६॥
चौरोऽप्युवाचैकचरस्तस्करोऽहं महाधनः ।
तदेहि मद्गृहं यावद्धनेच्छां पूरयामि ते ॥१५७॥
तच्छ्रुत्वा दस्युना तेन समं राजा तथेति सः ।
ययौ वनान्तस्तद्वेश्म क्ष्मातले खातनिर्मितम् ॥१५८॥

ऐसी आकाशवाणी होनेपर राजकुमारी ने अपनी आधी आयु दे दी और वह मछुवा जी उठा, (तब) राजा ने (उसे) अपनी पुत्री दे दी॥१४४॥

उस राजा द्वारा दी गई भूमि, हाथियों, घोड़ों और रत्नों से वह सुप्रहार राजा होकर और राजकुमारी को पत्नी के रूप में पाकर कृतकृत्य हो रहने लगा॥१४५॥

(पुनः भरतरोहक कह रहे हैं कि) इस प्रकार पूर्वजन्म का नाता प्राणियों में परस्पर प्रेम हो जाने का अक्सर कारण होता है। और इस प्रसंग में एक चोर की कहानी भी सुनी जाय॥१४६॥

अयोध्या नगरी में वीरबाहु नाम का एक राजा हुआ था, जो अपनी सन्ततियों के समान अपनी प्रजाओं का पालन करता था॥१४७॥

किसी समय नगर के लोगों ने आकर उस राजा से निवेदन किया कि हे प्रभु! इस नगरी में चोर प्रत्येक रात चोरी करते हैं॥१४८॥

हम लोग जागते रहने पर भी उन्हें न पकड़ पाते हैं। यह सुनकर उस राजा ने वहाँ रात में गुप्तचरों को तैनात कर दिया॥१४९॥

वे गुप्तचर भी चोरों का पता न पा सके और न (चोरी का) उपद्रव ही शान्त हुआ। इसलिए, राजा स्वयं (उन चोरों का) पता लगाने के लिए रात में निकला॥१५०॥

वह राजा हाथ में तलवार लिये अकेला सर्वत्र घूम रहा था कि घेरे की दीवार के ऊपर चलते हुए एक पुरुष को देखा॥१५१॥

(वह पुरुष) डर से धीरे-धीरे पाँव रोप रहा था, उसकी आँखें कौए की भाँति चंचल थीं, और वह सिंह की भाँति गरदन मोड़-मोड़कर बार-बार (पीछे की ओर) देख रहा था॥१५२॥

(वह) म्यान से निकाली हुई तलवार से निकली चमक से ही दिखाई दे रहा था, जो चमक ऐसी लगती थी, मानों तारा-रूपी रत्नों को चुराने के लिए फेंकी गई फाँस हो॥१५३॥

देखकर राजा ने सोचा कि मैं जानता हूँ, निश्चय ही यह चोर है। निःसन्देह अकेले यही हमारी नगरी अयोध्या में चोरी करता है॥१५४॥

यह विचार कर वह चतुर राजा उस चोर के पास गया। उस चोर ने भी शंका से युक्त होकर उस (राजा) से पूछा कि आप कौन हैं?॥१५५॥

तब राजा ने उस चोर से कहा कि मैं बहुत कष्टों को सहने वाला एक साहसी चोर हूँ। अब तुम बताओ कि कौन हो?॥१५६॥

चोर ने कहा कि मैं अकेला चलनेवाला बहुत धनी चोर हूँ। इसलिए, तुम मेरे घर आओ, मैं अभी तुम्हारी धन-प्राप्ति की इच्छा पूरी किये देता हूँ॥१५७॥

यह सुनकर और सहमत होकर वह राजा उस चोर के साथ जंगल के भीतर उसके घर गया, जो धरती खोदकर (नीचे) बनाया गया था॥१५८॥

अधिष्ठितं वरस्त्रीभिर्भूरिरत्नप्रकाशितम् ।
सदा नवोपभोगं च भुजङ्गनगरोपमम् ॥१५९॥
ततो गर्भगृहं तस्मिन्प्रविष्टे तस्करे नृपम् ।
वाह्यस्थानस्थितं दासी तमेका सकृपाभ्यधात् ॥१६०॥
क्वासि प्रविष्टो निर्याहि शीघ्रविश्वस्तघातकः ।
हन्यादेकचरो हि त्वां प्रतिभेदभयादयम् ॥१६१॥
तच्छ्रुत्वा निर्गतो राजा द्रुतं गत्वा स्वमन्दिरम् ।
सेनापतिं समाहूय ससैन्यः पुनराययौ ॥१६२॥
आगत्य रुद्ध्वा तद्वेश्म शूरानन्तः प्रवेश्य च ।
हृतार्थसञ्चयं चौरमवष्टभ्यानिनाय तम् ॥१६३॥
गतायां निशि तेनाथ स राज्ञादिष्टनिग्रहः ।
चौरो विपणिमध्येन वध्यभूमिमनीयत ॥१६४॥
नीयमानं च तं तत्र दृष्ट्वा दृष्ट्यनुरागिणी ।
वणिक्सुतैका पितरं तत्क्षणं स्वमभाषत ॥१६५॥
योऽयं वध्यभुवं तात नीयते दत्तडिण्डिमः ।
असौ चेत्स्यान्न मे भर्ता तन्मृतां विद्धि मामिति ॥१६६॥
वीक्ष्याथ दुर्निवारां तां गत्वा भूपं स तत्पिता ।
द्रव्यकोट्यापि चौरस्य तस्य मुक्तिमयाचत ॥१६७॥
भूपोऽपि तस्मै वणिजे चुक्रोध न तु तस्करम् ।
तं मुमोचाविलम्ब्यैव शूलायां तं न्यवेशयत् ॥१६८॥
ततः सा वामदत्ताख्या वणिक्कन्या कलेवरम् ।
चौरस्यादाय तस्याग्निं प्रविवेशानुरागतः ॥१६९॥
एवं प्राग्जन्मसम्बन्धपरायत्तेषु जन्तुषु ।
भावि को वस्त्वतिक्रामेत्को वा किं कस्य वारयेत् ॥१७०॥
तस्मात्पुत्रस्य ते कापि पूर्वसम्बन्धनिर्मिता ।
अवन्तिवर्धनस्यैषा राजन्सुरतमञ्जरी ॥१७१॥
अन्यथा कथमेतस्य राजसूनोः सुजन्मनः ।
मातङ्ग्यामिह तस्यां स्यादभिष्वङ्गोऽयमीदृशः ॥१७२॥
तस्मादुत्पलहस्तः स मातङ्गस्तत्पिता प्रभो ।
तां सुतां याच्यतां तावत्पश्यामः किं ब्रवीत्यसौ ॥१७३॥

उसमें कई श्रेष्ठ सुन्दरियाँ थीं, बहुत-से रत्न प्रकाश फैला रहे थे, और सदा नया-नया उपभोग होता रहता था, अतः वह नागलोक जैसा लगता था॥१५९॥

तदनन्तर, जब वह चोर गर्भगृह चला गया, तब बाहर खड़े राजा से एक दयालु दासी ने कहा कि—॥१६०॥

तुमने यहाँ कहाँ प्रवेश किया है? यहाँ से शीघ्र निकल जाओ। क्योंकि, अकेला चलनेवाला और विश्वस्त व्यक्ति का भी वध करनेवाला यह चोर कहीं भेद खुल न जाय, इस डर से तुमको मार देगा॥१६१॥

यह सुनकर वह राजा (वहाँ से) निकल भागा, दौड़कर अपने महल गया, और सेनापति को बुलाकर सेना के साथ फिर वहाँ आया॥१६२॥

आकर उस (चोर के) घर को घेर लिया और वीर सैनिकों को भीतर भेजकर राजा ने उस चोर का (सारा) संचित धन ले लिया और उसे भी पकड़कर ले आया॥१६३॥

रात बीतने पर राजा ने उस चोर को दण्ड का आदेश दिया और वह चोर बाजार के बीच से वध-स्थान की ओर ले जाया जा रहा था॥१६४॥

ले जाते हुए उस चोर को देखकर एक बनिया की लड़की दृष्टि (पड़ते ही) अनुरागवती हो गई और उसने उसी क्षण अपने पिता से कहा कि—॥१६५॥

यह जो पुरुष ढिंढोरे के साथ वध-स्थान ले जाया जा रहा है, वह यदि मेरा पति नहीं होगा, तो मुझे मरी (ही) समझो॥१६६॥

तब उस लड़की का पिता यह देखकर कि वह लड़की माननेवाली नहीं है, राजा के पास गया और कई करोड़ रुपये देकर भी उस चोर की रिहाई की याचना की॥१६७॥

राजा ने भी उस बनिये पर क्रोध किया, किन्तु उस चोर को नहीं छोड़ा, बल्कि विना विलम्ब किये शूली पर चढ़ा दिया॥१६८॥

तब वह वामदत्ता नाम की बनिया की लड़की उस चोर के शव को लेकर प्रेमवश चिता में प्रवेश कर गई॥१६९॥

इस प्रकार, प्राणी पूर्वजन्म के नाते वशीभूत हो जाता है। (इससे) भावी वस्तु (भवितव्यता) को कौन टाल सकता है? अथवा कौन किसका क्या रोक सकता है? ॥१७०॥

हे राजन्! इसलिए यह सुरतमंजरी आपके पुत्र अवन्तिवर्धन की पूर्वजन्म के नाते कोई होगी॥१७१॥

नहीं तो अच्छे वंश में उत्पन्न इस राजकुमार को इस मातंगकुमारी के साथ ऐसा प्रेम कैसे हो जाता? ॥१७२॥

हे प्रभो, इसलिए पहले उसके पिता मातंग उत्पलहस्त से उसकी कन्या की याचना की जाय, देखें वह क्या कहता है॥१७३॥

एवमुक्तो मया राजा पालकः प्राहिणोत्तदा ।
दूतानुत्पलहस्ताय तां कन्यां तत्र याचितुम् ॥१७४॥
स च तैर्याचितो दूतैर्मातङ्गो निजगाद तान् ।
एतन्मेऽभिमतं किं तु यो भोजयति मद्गृहे ॥१७५॥
अष्टादशसहस्राणि विप्राणां पुरवासिनाम् ।
तस्मै मयासौ दातव्या सुता सुरतमञ्जरी ॥१७६॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य सप्रतिज्ञं तथैव ते ।
आगत्य दूता राज्ञे तत्पालकाय न्यवेदयन् ॥१७७॥
एतत्सकारणं मत्वा संघाट्य ब्राह्मणान्पुरि ।
उज्जयिन्यां समाख्यातवृत्तान्तः क्षितिपोऽब्रवीत् ॥१७८॥
भुङ्ग्ध्वमुत्पलहस्तस्य मातङ्गस्येह वेश्मनि ।
अष्टादशसहस्राणि यूयं नेच्छेयमन्यथा ॥१७९॥
इत्युक्ता भूभृता भीताश्चण्डालान्नाच्च ते द्विजाः ।
कर्त्तव्यमूढाः संश्रित्य महाकालं व्यधुस्तपः ॥१८०॥
अन्नमुत्पलहस्तस्य गृहे भुङ्ग्ध्वमशङ्किताः ।
विद्याधरो ह्ययं नायं चण्डालः सकुटुम्बकः ॥१८१॥
इति स्वप्ने समादिष्टा विप्रास्ते तेन शम्भुना ।
उत्थाय गत्वा राज्ञे तदाख्याय पुनरब्रुवन् ॥१८२॥
चण्डालवाटादन्यत्र शुद्धमन्नं पचत्वसौ ।
राजन्नुत्पलहस्तोऽत्र ततस्तद्भुञ्ज्महे वयम् ॥१८३॥
तच्छ्रुत्वोत्पलहस्तस्य राजा सोऽन्यं गृहं व्यधात् ।
प्रीतश्च कारुभिः शुद्धैस्तत्रास्यान्नमपाचयत् ॥१८४॥
स्नाते चोत्पलहस्तेऽस्मिञ्शुद्धवस्त्रे पुरःस्थिते ।
तत्राष्टादशभिर्भुक्तं सहस्रैरग्रजन्मनाम् ॥१८५॥
भुक्तेषु तेषु चोपेत्य राजानं राष्ट्रसन्निधौ ।
प्रणम्योत्पलहस्तोऽसौ पालकं तमभाषत ॥१८६॥
अभवद्गौरिमुण्डाख्यो धुर्यो विद्याधरेश्वरः ।
मतङ्गदेवनामाहं तस्याभूवं समाश्रितः ॥१८७॥
अस्यां सुरतमञ्जर्यां सुतायां मम भूपते ।
उत्पन्नायां स मां गुप्तं गौरिमुण्डोऽब्रवीदिदम् ॥१८८॥

मेरे ऐसा कहने पर राजा पालक ने उस कन्या की याचना करने के लिए उत्पलहस्त के पास दूत भेजे॥१७४॥

और, उन दूतों द्वारा याचना करने पर उस मातंग ने उन दूतों से कहा कि यह (राजकुमार के साथ अपनी पुत्री का विवाह) मेरा अभिमत है, किन्तु (शर्त्त यह है कि) जो कोई इस नगर के निवासी अट्ठारह हजार ब्राह्मणों को मेरे घर में भोजन करायगा, उसी को मैं यह अपनी पुत्री सुरतमंजरी देनेवाला हूँ॥१७५-१७६॥

उन दूतों ने मातंग की शर्त्त से युक्त वह वचन सुनकर लौटने पर राजा से वैसा ही कह सुनाया॥१७७॥

राजा ने यह समझ करके कि इसमें (अवश्य) कुछ कारण होगा, उज्जयिनी नगर में ब्राह्मणों को एकत्र कराया और (उन्हें अपने पुत्र के प्रेम का) वृत्तान्त सुनाकर कहा कि—॥१७८॥

आप अट्ठारह हजार ब्राह्मणों से मेरा निवेदन है कि आप लोग यहाँ उत्पलहस्त नाम के मातङ्ग के घर में भोजन कीजिए। मैं नहीं चाहता कि इसमें कुछ अन्यथा हो॥१७९॥

राजा के ऐसा कहने पर चण्डाल का अन्न खाने से डरे हुए ब्राह्मण किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये और सब मिलकर महाकाल शिव की आराधना करने लगे॥१८०॥

(तब शिव ने स्वप्न दिया कि) आप लोग उत्पलहस्त के घर का अन्न शङ्कारहित होकर खाते जाइए; क्योंकि यह उत्पलहस्त चण्डाल नहीं है, बल्कि सपरिवार विद्याधर है॥१८१॥

स्वप्न में शिव से ऐसा आदेश पाकर वे ब्राह्मण उठकर राजा पालक के पास गये और उनसे (स्वप्न की बात) सुनाकर पुनः बोले कि—॥१८२॥

यह उत्पलहस्त चण्डाल की बस्ती से बाहर जाकर वहाँ शुद्ध अन्न पकाये, तब हम लोग वह (अन्न) खायेंगे॥१८३॥

यह सुनकर प्रसन्न हो राजा पालक ने उत्पलहस्त के लिए दूसरा घर बनवाया और पवित्र रसोइयों से भोजन बनवाया॥१८४॥

तब उत्पलहस्त स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहन कर उपस्थित हुआ और उसके घर में अट्ठारह हजार ब्राह्मणों ने भोजन किया॥१८५॥

जब ब्राह्मण भोजन कर चुके, तब उत्पलहस्त राजा बालक के निकट आया और उन्हें प्रणाम करके प्रजाओं के समक्ष कहने लगा कि—॥१८६॥

गौरिमुण्ड नाम का एक विद्याधरों का पराक्रमी राजा था। मैं मतङ्गदेव उसी का आश्रित था॥१८७॥

हे राजन् पालक! जब मेरी पुत्री सुरतमंजरी ने जन्म लिया, तब गौरिमुण्ड ने एकान्त मुझसे कहा कि—॥१८८॥

नरवाहनदत्ताख्यो योऽयं वत्सेश्वरात्मजः ।
भविष्यच्चक्रवर्त्तीह सोऽस्माकं कथ्यते सुरैः ॥१८९॥
तद्यावच्चक्रवर्त्तित्वं न प्राप्तः कण्टकः स नः ।
तावत्स्वमायया गत्वा तं निपातय मा चिरम् ॥१९०॥
इत्यहं गौरिमुण्डेन पापेन प्रेरितस्तदा ।
तदर्थं नभसा गच्छन्पुरोऽपश्यं महेश्वरम् ॥१९१॥
स मां सद्योऽशपत्क्रुद्धः कृत्वा हुङ्कारमीश्वरः ।
महात्मनि जने पाप कथं पापं चिकीर्षसि ॥१९२॥
तदनेनैव देहेन भार्यादुहितृसंयुतः ।
गच्छोज्जयिन्यां चण्डालमध्ये निपत दुर्मते ॥१९३॥
अष्टादशसहस्राणि विप्राणां पुरवासिनाम् ।
तनयादानशुल्केन यदा ते भोजयिष्यति ॥१९४॥
गृहेषु कश्चिच्छापस्य तदान्तस्ते भविष्यति ।
दातव्या च त्वया तस्मै सुता तच्छुल्कदायिने ॥१९५॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते शम्भावेषोऽस्मि पतितस्तदा ।
अन्येषूत्पलहस्ताख्यो न च तैः सङ्करो मम ॥१९६॥
अद्य शान्तः स शापो मे त्वत्पुत्रस्य प्रसादतः ।
तन्मयेयं सुता दत्ता तस्मै सुरतमञ्जरी ॥१९७॥
इदानीं चैष गच्छामि निजं वैद्याधरं पदम् ।
नरवाहनदत्तस्य सेवार्थं चक्रवर्त्तिनः ॥१९८॥
इत्युक्त्वैवार्पितसुतः खमुत्पत्याङ्गनायुतः ।
आगान्मतङ्गदेवोऽसौ देव त्वच्चरणान्तिकम् ॥१९९॥
राजापि पालको ज्ञाततत्त्वो हृष्टस्ततो व्यधात् ।
तस्याः सुरतमञ्जर्या विवाहं स्वसुतस्य च ॥२००॥
तत्पुत्रोऽपि च तां भार्यां प्राप्य विद्याधरीमभूत् ।
मनोरथाधिकावाप्तिकृतार्थोऽवन्तिवर्धनः ॥२०१॥
एकदा च कुमारोऽसौ सुप्तो हर्म्ये समं तया ।
निशाक्षये प्रबुद्धस्तामकस्मान्नेक्षत प्रियाम् ॥२०२॥
विचित्य चै तामप्राप्य तथा क्रन्दन्नतप्यत ।
यथोपेत्य पिताप्यस्य राजाभूद्भृशविह्वलः ॥२०३॥

वत्सराज उदयन का जो यह नरवाहनदत्त नाम का पुत्र है, देवता लोग कहते हैं कि वह यहाँ हम विद्याधरों का चक्रवर्ती होनेवाला है॥१८९॥

अतः, जबतक हमलोगों के कण्टकस्वरूप वह नरवाहनदत्त चक्रवर्ती का पद नहीं पा लेता, तबतक हे मतंगदेव! तुम अविलम्ब जाकर अपनी माता (के बल) से उसे गिराओ॥१९०॥

इस प्रकार, पापी गौरिमुण्ड के द्वारा भेजा गया मैं उस कार्य के लिए आकाशमार्ग से जा रहा था कि उसी सपय (अपने) सामने शिवजी को देखा॥१९१॥

(मुझपर) क्रुद्ध हुए उन शिवजी ने हुंकार करके मुझे (मतंगदेव को) शाप दिया कि अरे पापी! (तुम नरवाहनदत्त जैसे) महापुरुष का बुरा करना क्यों चाह रहे हो?॥१९२॥

इसलिए हे दुर्मति! इसी शरीर से तुम पत्नी और पुत्री के सहित (इस विद्याधर भूमि से) चले जाओ और उज्जयिनी नगर में चण्डालों के बीच में जा गिरो॥१९३॥

इस कन्या के दान के मूल्य के रूप में जब कोई व्यक्ति तुम्हारे घर में उज्जयिनी नगर के वासी अट्ठारह हजार ब्राह्मणों को भोजन करायगा, तब तुम्हारे इस शाप का अन्त होगा। और, तुम उक्त मूल्य चुकानेवाले व्यक्ति को अपनी कन्या दे देना॥१९४-१९५॥

यह कहकर जब शिवजी अन्तर्हित हो गये, तब मैं अन्य चण्डालों के बीच गिर गया, किन्तु मुझे उन चण्डालों से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं हुआ है॥१९६॥

मेरा शाप आज आपके पुत्र अवन्तिवर्धन की कृपा से समाप्त हुआ, इसलिए मैंने उनको अपनी पुत्री सुरतमंजरी दे दी॥१९७॥

अब मैं चक्रवर्ती नरवाहनदत्त की सेना के लिए अपनी विद्याधर-भूमि जा रहा हूँ॥१९८॥

हे नरवाहनदत्त! यह कहते ही मतंगदेव अपनी कन्या देकर पत्नी-सहित आकाश में उड़कर आपके निकट चला आया॥१९९॥

तब राजा पालक भी यह बात जानकर हर्षित हुए और अपने पुत्र अवन्तिवर्धन तथा सुरतमंजरी का विवाह कराया॥२००॥

अवन्तिवर्धन भी विद्याधरी पत्नी पाकर अपनी कामना से भी अधिक (फल) की प्राप्ति से कृतकृत्य हो गये (क्योंकि, उन्हें चण्डाल-कन्या की इच्छा थी, किन्तु मिल गई विद्याधर-कन्या।) ॥२०१॥

कुमार अवन्तिवर्धन एक दिन उस सुरतमंजरी के साथ महल के ऊपर सोये थे। रात बीतने पर जागकर देखा कि उनकी प्रिया सुरतमंजरी अचानक लापता है॥२०२॥

खोज करने पर भी जब वह नहीं मिली, तब अवन्तिवर्धन रो-रोकर इस प्रकार सन्ताप करने लगा कि उसके पिता पालक भी पास आकर अत्यन्त विह्वल हो गये॥२०३॥

रक्षितेयं पुरी नास्यां निशायां प्रविशेत्परः ।
ध्रुवं हृता सा केनापि पापेनाकाशचारिणा ॥२०४॥
इत्याद्यस्मासु मिलितेष्वत्र तत्क्षणम् ।
विद्याधरो धूमशिखो यौष्माकोऽवातरद्दिवः ॥२०५॥
तेनेह सोऽयमानीतः कुमारोऽवन्तिवर्धनः ।
अहं चाख्याय वृत्तान्तं मार्गितः पालकान्नृपात् ॥२०६॥
सैषा चात्र स्थिता पित्रा समं सुरतमञ्जरी ।
वृत्तान्त ईदृशश्चास्या देवो जानात्यतः पुरम् ॥२०७॥
इत्थं पालकमन्त्रिणि कथयित्वा भरतरोहके विरते ।
नरवाहनदत्ताग्रे मतङ्गदेवं सभासदोऽपृच्छन् ॥२०८॥
कस्मै भवता दत्ता ब्रूहि त्वं सुरतमञ्जरीयमिति ।
सोऽप्याह स्म मयैषा दत्तैवावन्तिवर्धनायेति ॥२०९॥
त्वं ब्रूहि हरसि कस्मादेतामिति चैत्यकोऽथ तैः पृष्टः ।
आदौ मह्यं मात्रा वाचा । दत्तेयमित्यवादीत्सः ॥२१०॥
सति जनके का माता तद्दानेऽप्यस्ति कोऽत्र तव साक्षी ।
तदियं परदारास्ते पापेति तमूचुरित्यकं सभ्याः ॥२११॥
इति तैश्च निरुत्तरीकृतस्य प्रसभं निग्रहमित्यकस्य तस्य ।
नरवाहनदत्तचक्रवर्ती कुपितो दुर्विनयात्समादिदेश ॥२१२॥
अस्यैकमेतमपराधमिह क्षमस्व स्यालो हि ते मदनवेगसुतः किलासौ ।
इत्यर्थितो मुनिवरैरथ कश्यपाद्यै राजा कथंञ्चिदपभर्त्स्य स तं मुमोच ।२१३।
तमपि च मातुलपुत्रं निजपत्न्यावन्तिवर्धनं युक्तम् ।
वायुपथहस्तनिहितं सचिवयुतं प्राहिणोत्स्वपुरीम् ॥२१४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
सुरतमञ्जरीलम्बके द्वितीयतरङ्गः

तृतीयस्तरङ्गः

एवं तत्रासितगिरौ साध्वीं सुरतमञ्जरीम् ।
इत्यकापहृतां तस्मात्स्यालादप्यपभर्त्सितात् ॥१॥
हृत्वा समर्प्य भर्त्रे च मुनिमध्ये व्यवस्थितम् ।
नरवाहनदत्तं तं कश्यपर्षिरभाषत ॥२॥

यह नगरी तो (भली भाँति) सुरक्षित है। इसमें रात में कोई बाहरी व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता। निश्चय ही किसी दुष्ट विद्याधर ने उसे हर लिया है॥२०४॥

हम लोग भरतरोहक आदि मिलकर इस प्रकार (आपस में) बातचीत कर ही रहे थे कि वहाँ उसी क्षण आपका विद्याधर धूमशिख आकाश से उतरा॥२०५॥

धूमशिख कुमार अवन्तिवर्धन को यहाँ ले आया है और राजा पालक ने (सारा) वृत्तान्त कहकर मुझे भी (उस कुमार के साथ) भेज दिया है॥२०६॥

वही यह सुरतमंजरी यहाँ अपने पिता के पास है। यही इसका वृत्तान्त है। इसके बाद क्या उचित है, यह जानना आपका काम है॥२०७॥

(चक्रवर्त्ती) नरवाहनदत्त के समक्ष राजा पालक का मन्त्री भरतरोहक जब इतना कहकर चुप हो गया, तब सभासदों ने मतंगदेव से पूछा कि—॥२०८॥

कहो, तुमने अपनी पुत्री सुरतमजरी किसको दी? तब उसने कहा कि मैंने तो कुमार अवन्तिवर्धन को ही दी है॥२०९॥

तब उन सभासदों ने इत्यक से पूछा कि कहो, तुमने इस सुरतमजरी का क्यों हरण किया है? (इसके उत्तर में) वह इत्यक बोला कि पहले ही इसकी माता ने वह कन्या वचन से मुझे दे दी थी॥२१०॥

(इस पर) सभासदों ने इत्यक से कहा कि पिता के रहने पर माता (का अधिकार) क्या है? और माता के द्वारा (जो) दान (तुम कहते हो उस) में भी तुम्हारा साक्षी कौन है? इसलिए, हे कुकर्म करनेवाले इत्यक! यह सुरतमंजरी तुम्हारे लिए पराई स्त्री है। ॥२११॥

इस प्रकार उन सभासदों ने इत्यक को निरुत्तर कर दिया, तब उसके इस दुर्विनय से क्रुद्ध हो चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने उसे कठोर दण्ड देने का आदेश दिया॥२१२॥

तदनन्तर कश्यप आदि श्रेष्ठ मुनियों ने (नरवाहनदत्त से) अनुरोध किया कि (हे देव!) इसका यह पहला अपराध क्षमा कर दिया जाय। क्योंकि, यह मतंगदेव मदनवेग का पुत्र है अतः आप का साला लगता है। (उनके इस अनुरोध पर) नरवाहनदत्त ने डाँट-फटकार—कर उसे छोड़ दिया॥२१३॥

और, सुरतमंजरी एवं अवन्तिवर्धन को मन्त्री भरतरोहक-समेत वायुपथ के हाथों सौंपकर अपने नगर भेज दिया॥२१४॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के सुरतमञ्जरीलम्बक का द्वितीय तरंगसमाप्त हुआ॥

तृतीय तरंग

इस प्रकार. इत्यक द्वारा अपहृत साध्वी (पाप-रहित) सुरतमंजरी को, डाँट-फटकार खाये हुए अपने साले इत्यक से भी छीन कर जब नरवाहनदत्त उसके पति के हाथों सौंप दिया और मुनियों के बीच में स्थिर होकर बैठे, तब कश्यप ऋषि बोले कि—॥१-२॥

नाभून्न भविता राजंश्चक्रवर्त्ती समस्तव ।
यस्य धर्मासनस्थस्य न रागादिवशा मतिः ॥३॥
धन्यास्तेऽपि च पश्यन्ति ये त्वां सुकृतिनं सदा ।
ईदृशेऽपि हि साम्राज्ये नावद्यं किञ्चिदस्ति ते ॥४॥
आसन्नृषभकाद्या हि पुरान्ये चक्रवर्त्तिनः ।
नानाविधैश्च दोषैस्ते ग्रस्ता नष्टाः श्रियश्च्युताः ॥५॥
ऋषभः सर्वदमनस्तृतीयो बन्धुजीवकः ।
अतिदर्पेण ते सर्वे शक्रान्तिग्रहमागताः ॥६॥
जीमूतवाहनोऽप्येत्य पृष्टो विद्याधरेश्वरः ।
चक्रवर्त्तिपदप्राप्तिकारणं नारदर्षिणा ॥७॥
आचख्यौ कल्पवृक्षस्य दानं निजतनोस्तथा ।
तेनाभ्रश्यत्पदात्स्वस्मात्सुकृतोदीरणेन सः ॥८॥
विश्वान्तराख्यो यश्चासीच्चक्रवर्त्तीह सोऽपि च ।
इन्दीवराक्षे तनये हृते चेदिमहीभृता ॥९॥
वसन्ततिलकाख्येन तद्दारध्वंसकारिणी ।
कुपुत्रशोकमोहेन धैर्यहीनो व्यपद्यत ॥१०॥
एकस्तारावलोकस्तु भूत्वा राजेन्द्र मानुषः ।
विद्याधराणां सम्प्राप्य सुकृतैश्चक्रवर्त्तिताम् ॥११॥
अनासादितदोषः संश्चिरं साम्राज्यसम्पदम् ।
भुक्त्वावसाने वैराग्यात्स्वयं त्यक्त्वा वनं गतः ॥१२॥
इत्थं विद्याधराः प्रायः स्वपदप्राप्तिमोहिताः ।
नोचिते पथि तिष्ठन्ति रागाद्यन्धाः पतन्ति च ॥१३॥
तत्त्वं न्याय्यात्पथः शश्वद्रक्षेः स्खलितमात्मनः ।
विद्याधरप्रजा चेयं रक्ष्या धर्मव्यतिक्रमात् ॥१४॥
कश्यपेनैवमुक्तस्तु सम्राट् श्रद्धिततद्वचः ।
नरवाहनदत्तस्तमिदं पप्रच्छ सादरम् ॥१५॥
कथं तारावलोकेन मानुषेण सता पुरा ।
प्राप्तं विद्याधरैश्वर्यं भगवन्वर्णयस्व नः ॥१६॥
तच्छ्रुत्वा कश्यपोऽवादीच्छ्रूयतां कथयामि वः ।
चन्द्रावलोक इत्यासीन्नाम्ना शिविषु भूपतिः ॥१७॥

हे राजन्! आपके समान राजा न (कभी) हुआ और न होगा, जिनकी बुद्धि धर्मासन पर बैठने पर भी (अपने लोगों के प्रति) स्नेह आदि के वश में नहीं आती है॥३॥

और, जो लोग आप-जैसे पुण्यवानों को देखते हैं, वे भी धन्य हैं; क्योंकि ऐसा (बड़ा) साम्राज्य प्राप्त होने पर भी आपमें कोई दोष नहीं है॥४॥

(आप से) पहले जो ऋषभ आदि अन्य चक्रवर्त्ती हुए थे, उनमें भाँति-भाँति के दोष आ गये और (उन्हीं दोषों के कारण) वे साम्राज्य-लक्ष्मी खो-खोकर नष्ट हो गये॥५॥

(प्रथम) ऋषभ, (द्वितीय) सर्वदमन और तृतीय बन्धुजीवक—ये सभी (भूतपूर्व चक्रवर्त्ती) अतिशय अभिमान हो जाने के कारण इन्द्र के द्वारा दण्डित हुए॥६॥

विद्याधरों के (एक भूतपूर्व चक्रवर्त्ती) जीमूतवाहन से (एक दिन) नारद ऋषि ने आकर पूछा कि आपको किस कारण से चक्रवर्त्ती का पद मिला? तो जीमूतवाहन ने कहा कि मैंने कल्पवृक्ष का और अपने शरीर का (भी) दान किया है। वे इस प्रकार अपने किये हुए पुण्य का बखान करने के कारण अपने पद से नीचे गिर गये॥७॥

और विश्वान्तर नाम के जो यहाँ चक्रवर्त्ती हुए उनको इन्दीवराक्ष नाम का एक पुत्र था, वह चेदिदेश के राजा वसन्ततिलक के द्वारा, उनकी पत्नी का सतीत्व नष्ट करने के अपराध से मारा गया। इसी कुपुत्र के मरने के शोक से मूर्च्छित होकर धीरता से रहित चक्रर्त्ती विश्वान्तर भी मर गये॥८-१०॥

हे सम्राट्! तारावलोक नामक एक ही ऐसा चक्रवर्त्ती हुआ, जो मनुष्य होकर भी (अपने) पुण्यों से विद्याधरों के चक्रवर्त्ती का पद प्राप्त कर, सभी दोषों से मुक्त रहते हुए चिरकाल तक साम्राज्य के पद का भोग किया और अन्त में वैराग्य से उस पद का त्याग कर वन चला गया॥११-१२॥

इस प्रकार, सामान्यतः (सभी) विद्याधर अपना (उच्च) पद पाने के मोह से ग्रस्त होकर सत्पथ में नहीं रह पाते हैं, और प्रेम आदि (मनोविकारों) से अन्धे होकर पतित हो जाते हैं॥१३॥

इसलिए, आप अपने को सदा सँभाले रहिए कि कहीं न्यायोचित मार्ग से विचलन न हो, और अपनी प्रजा—विद्याधरों को अधर्म से बचाते रहिए॥१४॥

इस प्रकार, कश्यप मुनि के कहने पर नरवाहनदत्त ने उनके उपदेश को श्रद्धा के साथ ग्रहण किया और उनसे आदरपूर्वक पूछा कि—॥१५॥

हे भगवान्! पूर्व समय में मनुष्य होकर तारावलोक ने किस प्रकार विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त किया, यह (कथा) हमें सुनाने की कृपा करें॥१६॥

यह सुनकर कश्यप बोले—सुनिए, वह (कथा मैं) आप लोगों को सुनाता हूँ। शिबि-वंश में चन्द्रावलोक नाम का एक राजा हुआ था॥१७॥

तस्येश्वरस्य मूर्धन्या चन्द्रलेखेत्यभूत्प्रिया ।
दुग्धाब्धिनिर्मलकुला शुद्धा गङ्गासमस्थितिः ॥१८॥
अभूच्च वारणस्तस्य परसेनाविमर्दनः ।
महान्कुवलयापीड इति ख्यातो महीतले ॥१९॥
तत्प्रभावेण भूपालो बलिनापि न शत्रुणा ।
स पौरस्वामिके राज्ये पर्यभूयत केनचित् ॥२०॥
यौवनापगमे चास्य पुत्र एको महीपतेः ।
उत्पेदे चन्द्रलेखायां देव्यां कल्याणलक्षणः ॥२१॥
तारावलोकनामा च क्रमाद्वृद्धिं जगाम सः ।
दानधर्मविवेकाद्यैः सहजातैर्गुणैः सह ॥२२॥
अशिक्षत च निःशेषं वाङ्मयार्थं महामतिः ।
नाशिक्षत न शब्दार्थमेकं कामप्रदोऽर्थिषु ॥२३॥
क्रमाद्युवापि वयसा स्थविरः स विचेष्टितैः ।
तेजसा सूर्यसङ्काशोऽप्यत्यर्थं सौम्यदर्शनः ॥२४॥
राकाचन्द्र इवाशेषकलासन्दोहसुन्दरः ।
कन्दर्प इव विश्वस्य लोकस्योत्सुक्यदायकः ॥२५॥
संजज्ञे पितृशुश्रूषाजितजीमूतवाहनः ।
अभिव्यक्तमहाचक्रवर्त्तिलक्षणलाञ्छितः ॥२६॥
ततस्तस्य कृते सूनोः कन्या मद्रेश्वरात्मजा ।
चन्द्रावलोकेनाजह्रे माद्रीनाम । महीभृता ॥२७॥
कृतोद्वाहं पिता तं च तद्गुणोत्कर्षतोषितः ।
यौबराज्ये महाराजस्तदैवाभिषिषेच सः ॥२८॥
अभिषिक्तश्च पित्रात्र युवराजस्तदाज्ञया ।
तारावलोकः सोऽन्नादिदानसत्राण्यकारयत् ॥२९॥
शय्योत्थायं च पात्राणि तानि स्वयमवेक्षितुम् ।
सदा कुवलयापीडमारुह्य गजमभ्रमीत् ॥३०॥
यो यदर्थितवांस्तस्मै तद्दादावपि जीवितम् ।
तेन तस्य यशो दिक्षु युवराजस्य पप्रथे ॥३१॥
अथ तस्य सुतौ माद्र्यां जायेते स्म यमावुभौ ।
तौ च नाम्ना करोति स्म स पिता रामलक्ष्मणौ ॥३२॥

उसके चन्द्रलेखा नाम की पटरानी थी, जिसका कुल दूध के समुद्र-सा निर्मल था और जो स्वयं पवित्र और गंगा के समान (निर्मल) चरित्रवाली थी॥१८॥

उसके कुवलयापीड नाम का एक विशाल हाथी था। वह शत्रु की सेना को चूर-चूर करनेवाला और संसार-भर में विख्यात था॥१९॥

उस (हाथी) के प्रभाव से उस प्रजातान्त्रिक राज्य में कोई बलवान् शत्रु भी उस राजा चन्द्रावलोक को न दबा सकता था॥२०॥

यौवन बीत जाने पर उस राजा को रानी चन्द्रलेखा के गर्भ से एक पुत्र हुआ। वह शुभ लक्षणों से युक्त था॥२१॥

उसका नाम (पड़ा) तारावलोक और वह जन्म से ही उत्पन्न दान, धर्म, विवेक आदि गुणों के साथ क्रमशः बढ़ने लगा॥२२॥

परम बुद्धिमान् उस तारावलोक ने सभी शास्त्रों का अर्थ सीखा; किन्तु माँगनेवालों को इच्छा-भर दान देनेवाले उसने एकमात्र 'न' शब्द का अर्थ नहीं सीखा॥२३॥

वह वय से क्रमशः युवा हुआ, पर आचरण से वृद्ध—परिपक्व बुद्धिवाला-सा लगता था, तेज से सूर्य के समान (चमकता) था, फिर भी देखने में परम सौम्य (आकर्षक) लगता था (सौम्य का दूसरा अर्थ 'चन्द्र-सम्बन्धी' होता है) ॥२४॥

वह पूनम के चाँद की भाँति सभी कलाओं से सुशोभित था; कामदेव की भाँति सारे संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर लेनेवाला था॥२५॥

वह पिता की सेवा करने में जीमूतवाहन को भी जीतनेवाला और महान् चक्रवर्त्ती होने के सभी स्पष्ट लक्षणों से युक्त होने लगा॥२६॥

तब उस पुत्र के लिए राजा चन्द्रावलोक ने मद्रदेश के राजा की माद्री नाम की पुत्री को ला दिया॥२७॥

उसके उत्कृष्ट गुणों से सन्तुष्ट हो उसके पिता महाराज चन्द्रालोक ने उसे विवाह करते ही युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया॥२८॥

पिता द्वारा अभिषिक्त हुए युवराज तारावलोक ने अपने पिता की आज्ञा से अन्न-दान आदि (बहुत-से) यज्ञ कराये॥२९॥

शय्या से उठते ही (नित्य प्रातःकाल) वह कुवलयापीड नाम के हाथी पर सवार होकर दान देने योग्य व्यक्तियों का स्वयम् अन्वेषण करने के लिए घूमा करता था॥३०॥

जो कोई जो कुछ माँगता था, वह दे देता था, चाहे वह प्राण ही क्यों न माँगे। इससे उस युवराज का यश दसों दिशाओं में फैल गया॥३१॥

तदनन्तर, युवराज तारावलोक को रानी माद्री के गर्भ से दो जुड़वे लड़वें उत्पन्न हुए। युवराज के पिता चन्द्रावलोक ने उन दोनों (पौत्रों) के नाम राम और लक्ष्मण रखे॥३२॥

अवर्धेतां च तौ पित्रोः स्नेहानन्दाविवार्भकौ ।
स्वपितामह्योश्चैव प्राणेभ्योऽप्यधिकप्रियौ ॥३३॥
आरोपितगुणावेतौ तत्कोदण्डाविवानतौ ।
तारावलोको माद्री च न पश्यन्तावतृप्यताम् ॥३४॥
ततः कुवलयापीडं गजं दातृयशः सुतौ ।
दृष्ट्वा तारावलोकस्य विप्रान्स्वान्रिपवोऽब्रुवन् ॥३५॥
गत्वा कुवलयापीडं गजं तारावलोकतः ।
याचध्वं यदि तावत्तं युष्मभ्यं स प्रदास्यति ॥३६॥
हरिष्यामस्ततो राज्यं तद्विहीनस्य तस्य तत् ।
न दास्यत्यथ दातृत्वयशस्तस्य विनङ्क्ष्यति ॥३७।
इत्युक्तास्तैस्तथेत्युक्त्वा गत्वा ते ब्राह्मणास्ततः ।
राज्ञस्तारावलोकात्तं दानवीराद्ययाचिरे ॥३८॥
को नामार्थो गजेन्द्रेण याचितेन द्विजन्मनाम् ।
तज्जाने निश्चितमिमे प्रयुक्ता मम केनचित् ॥३९॥
तद्यदस्तु मया तावद्दातव्योऽयं गजोत्तमः ।
अप्राप्तकामो ह्यर्थी मे कथं यास्यति जीवतः ॥४०॥
इति सञ्चिन्त्य तेभ्यस्तं द्विजेभ्यो वारणोत्तमम् ।
तारावलोकः स ददौ निष्कम्पेनैव चेतसा ॥४१॥
ततस्तैर्नीयमानं तं दृष्ट्वा करिवरं द्विजैः ।
पौराश्चन्द्रावलोकस्य क्रुद्धा राज्ञोऽन्तिकं ययुः ॥४२।
ऊचुश्च ते सुतेनेदं राज्यं त्यक्तं तवाधुना ।
मुनिधर्मो गृहीतश्च सर्वसंन्यासकारिणा ॥४३।
यदेतेन श्रियो मूलं गन्धभग्नान्यवारणः ।
दत्तः कुवलयापीडः पश्यार्थिभ्यो महागजः ॥४४॥
तदेतं तपसे पुत्रं वनं प्रस्थापयाथवा ।
गजं प्रत्याहरान्यं वा राजानं कुर्महे वयम् ॥४५॥
इति चन्द्रावलोकस्तैः पौरैरुक्तस्तथैव तत् ।
स पुत्रं श्रावयामास प्रतीहारमुखेन तम् ॥४६॥
सोऽपि तारावलोकस्तच्छ्रुत्वा तत्तनयोऽब्रवीत् ।
हस्ती तावन्मया दत्तो नास्त्यदेयं च मेऽर्थिषु ॥४७॥

अपने पितामह और पितामही के प्राणों से भी बढ़कर प्यारे वे दोनों लड़के माँ-बाप के स्नेह और आनन्द की भाँति बढ़ने लगे ॥३३॥

धनुष की भाँति आरोपित गुणवाले—चढ़ाई हुई डोरीवाले (धनुष) और अर्जित योग्यतावाले (पुत्र), तथा आनत—लचकदार (धनुष) और विनम्र (पुत्र)—उन दोनों लड़कों को देखते हुए, तारावलोक और माद्री, दोनों अघाते न थे ॥३४॥

तदनन्तर, तारावलोक के शत्रुओं ने उसके कुवलयापीड हाथी को, दाता होने के यश को और उन दोनों (होनहार) पुत्रों को देखकर अपने (पक्ष के) ब्राह्मणों से कहा कि—॥३५॥

आप लोग जाकर राजा तारावलोक से कुवलयापीड़ हाथी की याचना कीजिये। यदि वह आपको दे देगा, तो हम लोग उस हाथी से रहित (होने पर) उसका राज्य छीन लेंगे, और यदि न देगा, तो उसका दाता होने का यश चला जायगा ॥३६-३७॥

उन (शत्रुओं) के ऐसा कहने पर वे ब्राह्मण 'ऐसा ही करेंगे' यह कहकर वहाँ से चले और दानवीर राजा तारावलोक से कुवलयापीड हाथी की याचना की ॥३८॥

तारावलोक सोचने लगा कि इस हाथी की याचना से ब्राह्मणों का क्या प्रयोजन हो सकता है? अतः, मैं समझता हूँ कि निश्चय ही ये ब्राह्मण मेरे किसी शत्रु से प्रेरित होकर आये हैं ॥३९॥

जो हो, मुझे तो यह उत्तम हाथी देना ही होगा। क्योंकि, मेरे जीते जी याचक मुझसे निराश होकर कैसे (लौट) जायगा? ॥४०॥

यह सोचकर तारावलोक ने उन ब्राह्मणों को वह श्रेष्ठ हाथी काँपते हुए हृदय से दे दिया ॥४१॥

तब राजा चन्द्रावलोक के नागरिक, यह देखकर कि उस श्रेष्ठ हाथी को ये ब्राह्मण लिये जा रहे हैं, क्रुद्ध हो राजा चन्द्रावलोक के निकट गये ॥४२॥

नागरिकों ने कहा कि आपके पुत्र तारावलोक ने अभी अपने राज्य को त्याग दिया है और संन्यास लेकर मुनियों का धर्म ग्रहण कर लिया है ॥४३॥

क्योंकि, देखिए इस राजकुमार ने याचकों को वह कुवलयापीड गजराज दे दिया है, जो (अपने मद की) गन्ध से ही (शत्रु के) अन्य हाथियों को भगानेवाला है, यह कोई मामूली हाथी नहीं। राज्यलक्ष्मी का मूल ही है ॥४४॥

अतः, आप या तो इस पुत्र को तपस्या करने के लिए वन भेज दीजिए या उस हाथी को वापस कर लीजिए। अन्यथा हम नागरिक अपना दूसरा राजा चुन लेंगे ॥४५॥

उन नागरिकों के ऐसा कहने पर राजा चन्द्रावलोक ने जैसा ही नागरिकों ने कहा, वैसा ही अपने पुत्र को द्वारपाल के मुँह से सुना दिया ॥४६॥

सुनकर उसका पुत्र तारावलोक बोला कि हाँ, मैंने ही वह हाथी (ब्राह्मणों को) दान दिया है; क्योंकि मेरे लिए याचक को न देने योग्य कोई भी वस्तु नहीं है ॥४७॥

ईदृशेन तु राज्येन पौरायत्तेन किं मम ।
किं चान्यानुपयोगिन्या लक्ष्म्या विद्युद्विलोलया ॥४८॥
तन्मे श्रेयो वने वासः सर्वभोज्यफलश्रियाम् ।
मध्ये तरूणां न पुनर्नृपशूनामिहेदृशाम् ॥४९॥
इत्युक्त्वा तुल्यसङ्कल्पधीरया भार्ययान्वितः ।
पित्रोः पादावनुध्याय दत्त्वार्थिभ्योऽर्थसञ्चयम् ॥५०॥
गृहीतवल्कलः साकं स पुत्राभ्यां निजात्पुरात् ।
तारावलोको निरगाद्रुदतः सान्त्वयन्द्विजान् ॥५१॥
तं तथाप्रस्थितं दृष्ट्वा ,पशूनां पक्षिणामपि ।
करुणं क्रन्दतामश्रुधाराभिर्भूरसिच्यत ॥५२॥
सून्वोर्वाह्नमात्रैकरथशेषः पथि व्रजन् ।
सोऽथ तारावलोकोऽन्यै रथाश्वान्याचितो द्विजैः ॥५३॥
स तानथ ददौ तेभ्यश्चकर्ष च रथं स्वयम् ।
सभार्यः सुकुमारौ तौ नेतुं बालौ तपोवनम् ॥५४॥
ततोऽटवीमध्यगतं परिश्रान्तमुपेत्य तम् ।
निरश्वं रथमप्यत्र ययाचे ब्राह्मणोऽपरः ॥५५॥
तस्मै तमपि निःशङ्को दत्त्वा पद्भ्यां सपुत्रकः ।
सभार्यश्च कथञ्चित्स धीरः प्राप तपोवनम् ॥५६॥
तत्र माद्र्या कृतोदारपरिचर्यः स्वभार्यया ।
तरुमूले कृतावासस्तस्थौ मृगपरिच्छदः ॥५७॥
वाताहतिचलत्पुष्पमञ्जरीचारुचामरैः ।
पृथुच्छायातरुच्छत्रैः पत्रशय्याशिलासनैः ॥५८॥
गीतैर्भृङ्गाङ्गनानां च नानाफलरसासवैः ।
वीरं वैराग्यराज्यस्थं वनान्तास्तं सिषेविरे ॥५९॥
एकदा चात्र तत्पत्न्यां माद्र्यां तस्य कृते स्वयम् ।
आहर्त्तुं फलपुष्पादि गतायामाश्रमाद्बहिः ॥६०॥
उपेत्य ब्राह्मणो वृद्धः कश्चित्तमुटजस्थितम् ।
तारावलोकं तनयौ ययाचे रामलक्ष्मणौ ॥६१॥
वरं पुत्राविमौ नीतौ पारयिष्ये शिशू अपि ।
न पुनर्भग्नकामोऽयं प्रेषितोऽर्थी कथञ्चन ॥६२॥

(ऐसा सुनकर तारावलोक ने कहा कि) राज्य लेकर मैं क्या करूँगा, जो नागरिकों के वश में है। और बिजली की भाँति चंचल वह लक्ष्मी किस काम की, जो दूसरे के उपकार में न लगाई जा सके? ॥४८॥

अतः, मैं वन में ऐसे वृक्षों के बीच बसना अच्छा समझता हूँ, जिनके फलों की समृद्धियाँ सभी लोगों के उपयोग के योग्य होती हैं, किन्तु यहाँ ऐसे नर-पशुओं के बीच (रहना अच्छा नहीं समझता) ॥४९॥

यह कहकर, अपने ही समान दृढ विचारवाली अपनी पत्नी माद्री तथा दोनों पुत्र-समेत तारावलोक माता-पिता के चरणों का स्मरण कर इकट्ठा किया हुआ धन याचकों को देकर बल्कल धारण कर के रो रहे ब्राह्मणों को सान्त्वना देते हुए नगर से निकल पड़ा ॥५०-५१॥

युवराज को इस प्रकार जाते देख पशु-पक्षी भी करुण क्रन्दन करने लगे और उनके आँसू की धाराओं से धरती भींग गई ॥५२॥

दोनों पुत्रों के चढ़ने के लिए एकमात्र रथ लेकर (वन को) जाते हुए तारावलोक से (कुछ) अन्य ब्राह्मणों ने रथ में जुते घोड़े माँगे ॥५३॥

तब उसने उन्हें घोड़े भी दे दिये और अपने दोनों सुकुमार बालकों को तपोवन ले जाने के लिए उस रथ को पत्नी-सहित स्वयं खींचने लगा ॥५४॥

तदनन्तर, जब तारावलोक परिश्रान्त हो मध्य वन में पहुँचा, तब वहाँ एक और ब्राह्मण आया और विना घोड़े का वह रथ भी माँगने लगा ॥५५॥

विना किसी शंका के उस ब्राह्मण को वह रथ भी देकर धीर तारावलोक दोनों बालकों और स्त्री के साथ किसी भाँति तपोवन पहुँचा ॥५६॥

उस तपोवन में पेड़ के नीचे डेरा करके और मृगचर्म धारण करके रहने लगा और पत्नी माद्री पूरी तरह उसकी परिचर्या करने लगी ॥५७॥

वायु के झोंके से हिलते-डुलते फूलों की मंजरी-रूपी सुन्दर चामरों से, खूब छायावाले वृक्ष-रूपी छत्रों से, पत्तों की बनी चटाई से युक्त शिला-रूपी आसनों से भ्रमर-स्त्रियों के गीतों से तथा विविध प्रकार के फलों के रस-रूपी मदिराओं से उस वन के प्रदेशों ने वैराग्य-रूपी राज्य पर आसीन उस वीर तारावलोक की भरपूर सेवा की। ५८-५९॥

एक समय उस तपोवन में माद्री पति के निमित्त स्वयं फल-फूल बटोरने आश्रम से बाहर गई हुई थी ॥६०॥

कि कोई वृद्ध ब्राह्मण कुटी में वर्त्तमान तारावलोक के पास आया और उससे राम और लक्ष्मण नाम के दोनों लड़कों की याचना करने लगा ॥६१॥

(यह याचना सुनकर राजा तारावलोक सोचने लगे कि) इन नन्हें-से दोनों पुत्रों को वृद्ध ब्राह्मण ले जाय, यह मैं भले ही किसी भाँति सह लूं। किन्तु, यह याचक निराश होकर लौटा दिया जाय, यह मैं किसी भाँति भी नहीं सह सकूंगा ॥६२॥

विधिर्वीक्षितुकामो हि धैर्यध्वंसं शठो मम ।
इति सञ्चिन्त्य स ददौ तस्मै विप्राय तौ सुतौ ॥६३॥
नीयमानौ च तौ तेन विप्रेण ययतुर्न यत् ।
तत्स विप्रो लताभिस्तौ वद्धहस्तावताडयत् ॥६४॥
निनाय चैतौ क्रन्दतौ नृशंसो जननीं मुहुः ।
विवृत्य पितरं तं च पश्यन्तौ साश्रुलोचनौ ॥६५॥
वत्स तारावलोकोऽत्र पश्यन्नपि न चुक्षुभे ।
चुक्षुभे त्वस्य धैर्येण भूतग्रामश्चराचरः ॥६६॥
अथाहृत्य शनैः पुष्पफलमूलादि सा सती ।
वनान्तादाययौ माद्री श्रान्ता तं पत्युराश्रमम् ॥६७॥
ददर्शाधोमुखं तं च भर्त्तारं न तु तौ सुतौ ।
विप्रकीर्णस्थितक्रीडामृण्मयाश्वरथद्विपौ ॥६८॥
अनिष्टाशङ्किहृदया हा हृतास्मि क्व तौ मम ।
पुत्रकाविति पप्रच्छ सम्भ्रान्ता तं पतिं च सा ॥६९॥
सोऽप्यवादीच्छनैरेतामनघे तनयौ मया ।
याचमानाय तौ दत्तौ दरिद्राय द्विजन्मने ॥७०॥
तच्छ्रुत्वा त्यक्तमोहा सा साध्वी तमवदत्पतिम् ।
तर्हि युक्तं कृतं यातु कथमर्थी पराङमुखः ॥७१॥
एवं दयोक्ते दंपत्योस्तुल्यसत्त्वतया तया ।
तयोश्चकम्पे भुवनं चचालेन्द्रस्य चासनम् ॥७२॥
अथेन्द्रः प्रणिधानेन माद्रीतारावलोकयोः ।
दानसत्त्वप्रभावेण कम्पितं जगदैक्षत ॥७३॥
ततः स ब्राह्मणो भूत्वा गत्वा जिज्ञासुराश्रमम् ।
तारावलोकं माद्रीं तामेकपत्नीमयाचत ॥७४॥
तारावलोकोऽप्येतस्मै दातुं हस्तोदकेन ताम् ।
निर्विकल्पः प्रववृते वनान्तसहचारिणीम् ॥७५॥
किं साधयसि राजर्षे दत्त्वा दारानपीदृशान् ।
इत्युक्ते द्विजरूपेण तेन शक्रेण सोऽब्रवीत् ॥७६॥
न मे साध्यं किमप्यस्ति वाञ्छा त्वेतावती मम ।
प्राणानपि सदा दद्यां ब्राह्मणेभ्य इति द्विज ॥७७॥

निश्चय ही, दुष्ट विधाता मेरे धैर्य की सीमा के अन्त की परीक्षा करना चाहता है। यह सोचकर राजा तारावलोक ने उस ब्राह्मण को वे दोनों लड़के दे दिये ॥६३॥

उस ब्राह्मण द्वारा लिये जाते हुए वे दोनों लड़के जब रुक-रुक कर चलने लगे, तब वह ब्राह्मण लताओं से हाथ बाँध कर उन दोनों लड़कों को पीटने लगा ॥६४॥

रोते हुए और मुड़-मुड़कर माता और पिता को आँसू-भरी आँखों से देखते हुए उन दोनों लड़कों को वह निर्दय ब्राह्मण ले कर चला गया ॥६५॥

(कश्यप ऋषि कह रहे हैं कि) हे वत्स, वहाँ तारावलोक यह देखते हुए भी अधीर न हुआ; प्रत्यत उसके धैर्य से चर-अचर सभी जीव विस्मित हो गये ॥६६॥

तदनन्तर पुष्प, फल, मूल आदि बटोरकर वह सती माद्री थकी-माँदी धीरे-धीरे वन से अपने पति के आश्रम में आई ॥६७॥

देखा कि उसका पति सर झुकाये हुए है, किन्तु वे दोनों लड़के नहीं हैं, जिनके खिलौने—मिट्टी के घोड़े, रथ और हाथी अब भी है, वहाँ बिखरे हुए हैं ॥६८॥

यह देख हृदय में अमंगल की आशंका करती हुई माद्री ने घबराकर उस पति से पूछा कि हाय-हाय ! मैं मरी। मेरे वे दोनों बच्चे कहाँ गये ? ॥६९॥

तब तारावलोक धीरे से बोला कि हे सती ! एक दरिद्र ब्राह्मण ने उन दोनों बच्चों की याचना की; मैंने उसे दे दिया ॥७०॥

यह सुनकर सती माद्री ने (पुत्रों के प्रति अपने) मोह को त्याग अपने पति से कहा कि तब तो आपने उचित ही किया। क्योंकि, याचक को विमुख होकर कैसे जाने देते ? ॥७१॥

माद्री के इस प्रकार कहने पर उन दोनों पति और पत्नी की एक-सी धीरता (के प्रभाव) से संसार काँपने लगा और इन्द्र का आसन डोलने लगा ॥७२॥

तब इन्द्र ने ध्यान लगाकर देखा कि माद्री और तारावलोक की दानवीरता के प्रभाव से संसार काँप रहा है ॥७३॥

तदनन्तर, वह इन्द्र परीक्षा लेने के लिए ब्राह्मण का रूप धारण करके उस आश्रम में गया और तारावलोक से उसकी एकमात्र पत्नी माद्री की याचना करने लगा ॥७४॥

तारावलोक भी किसी हिचकिचाहट के बिना ही उस ब्राह्मण को वन में (एकमात्र) सहचरी (अपनी) पत्नी देने के लिए हाथ मे जल लेकर तैयार हो गया ॥७५॥

तब ब्राह्मणधारी इन्द्र ने कहा कि हे राजर्षि ! ऐसी पत्नी का भी दान करके तुम क्या फल पाओगे ? (इसपर) वह तारावलोक बोला कि—॥७६॥

हे ब्राह्मण ! मुझे कोई फल सिद्ध करना नहीं है। मेरी तो यही कामना है कि मैं हो सके, तो अपने प्राण भी ब्राह्मणों को दान कर दूँ ॥ ७७॥

तच्छ्रुत्वा निजरूपस्थो भूत्वा शक्रो जगाद तम् ।
तुष्टोऽस्मि कृतजिज्ञासस्तव तेन वदामि ते ॥७८॥
न ते देया पुनः पत्नी चक्रवर्त्ती च भाव्यसि ।
विद्याधराणामचिरादित्युक्त्वान्तर्दधे च सः ॥७९॥
अत्रान्तरे स वृद्धोऽपि ब्राह्मणो दक्षिणार्जितौ ।
तारावलोकतनयौ गृहीत्वा मार्गमोहतः ॥८०॥
भ्रमंश्चन्द्रावलोकस्य दैवात्तस्य पुरं प्रभोः ।
प्राप्यापणे तौ विक्रेतुं राजपुत्रौ प्रचक्रमे ॥८१॥
तत्र तौ प्रत्यभिज्ञाय गत्वैवावेद्य भूपतेः ।
पौराश्चन्द्रावलोकस्य सद्विजौ निन्यु रन्तिकम् ॥८२॥
स तौ दृष्ट्वा निजौ पौत्रौ साश्रुः पृष्ट्वा च तं द्विजम् ।
अभूत्तदुक्तवृत्तान्तः सुखदुःखमयश्चिरम् ॥८३॥
ततः स निजपुत्रस्य सत्त्वोत्कर्षं विभाव्य तम् ।
त्यक्तराज्यस्पृहः पौरैरर्थ्यमानोऽपि तौ द्विजात् ॥८४॥
क्रीत्वा तस्माद्धनैः पौत्रौ गृहीत्वा सपरिग्रहः ।
सूनोस्तारावलोकस्य तस्याश्रमपदं ययौ ॥८५॥
तत्रापश्यच्च तं बद्धजटं वल्कलधारिणम् ।
आशागतैर्महावृक्षमिव भुक्ताश्रयं द्विजैः ॥८६॥
दूरादाधाव्य पतितं पुत्रं तं पादयोश्च सः ।
यदारोपयदुत्सङ्गमभिषिच्याश्रुवारिणा ॥८७॥
विद्याधराधिराज्यार्थमभिषेकपुरःसरे ।
तस्य सिंहासनारोहे तदेवारम्भतां ययौ ॥८८॥
अथैतत्तनयौ राजा तौ ददौ रामलक्ष्मणौ ।
सोऽस्मै तारावलोकाय क्रीतावेताविति ब्रुवन् ॥८९॥
कुर्वन्त्यन्योन्यवृत्तान्तकथा यावच्च तत्र ते ।
तावद्गजश्चतुर्दन्तो लक्ष्मीश्चावातरद्दिवः ॥९०॥
अवतीर्णेषु चान्येषु विद्याधरपतिष्वपि ।
लक्ष्मीस्तारावलोकं सा पद्महस्ता जगाद तम् ॥९१॥
आरुह्य वारणेऽमुष्मिन्नेहि विद्याधरास्पदम् ।
तत्साम्राज्यश्रियं भुङ्क्ष्व जितां दानप्रभावतः ॥९२॥

यह सुनकर इन्द्र ने अपना रूप धारण करके (प्रत्यक्ष दर्शन देकर) तारावलोक से कहा कि (तुम्हारी) परीक्षा करके मैं तुम पर प्रसन्न हो गया हूँ, इसलिए तुमसे कहता हूँ कि—॥७८॥

अब तुम्हें पत्नी का दान नहीं करना है और तुम अविलम्ब विद्याधरों के चक्रवर्त्ती होओगे; और ऐसा कहकर वह इन्द्र अन्तर्हित हो गया ॥७९॥

इस बीच में (उधर) वह वृद्ध ब्राह्मण दान में प्राप्त तारावलोक के दोनों लड़कों को लेकर (जाते हुए) मार्ग भूल जाने के कारण घूमते-घामते संयोगवश उसी राजा चन्द्रावलोक के नगर में पहुँचा और बाजार में उन दोनों राजकुमारों को बेचने लगा ॥८०-८१॥

वहाँ राजा चन्द्रावलोक के नागरिक उन दोनों लड़कों को पहचान कर और तुरत राजा को (यह समाचार) सुनाकर ब्राह्मण-सहित उन कुमारों को राजा के पास ले आये ॥८२॥

अपने उन दोनों पोतों को देखकर आँसू बहाते हुए राजा चन्द्रावलोक ने उस ब्राह्मण से पूछा और उसके मुँह से यह वृत्तान्त सुनकर परम सुख और दुःख दोनों से व्याप्त हो गया ॥८३॥

राजा चन्द्रावलोक ने अपने पुत्र की असाधारण दृढता देखकर, प्रजाओं द्वारा अनुरोध किये जाने पर भी (आगे) राज्य करने की इच्छा से विरक्त हो, धन देकर उस ब्राह्मण से उन दोनों पौत्रों को खरीद लिया और पत्नी के साथ अपने पुत्र तारावलोक के आश्रम गया ॥८५॥

और, वहाँ नरवाहनदत्त ने उस तारावलोक को जटा लपेटे तथा वल्कल धारण किये एक महावृक्ष के समान देखा, जिसकी लक्ष्मी को आशागत द्विजों ने निःशेष कर दिया है[1] ॥८६॥

दूर से (ही) दौड़कर चरणों पर गिरे हुए उस पुत्र को चन्द्रावलोक ने आँसू के जल से अभिषिक्त कर अपनी गोद में बैठा लिया—॥८७॥

मानों वही विद्याधरों के साम्राज्य के लिए तारावलोक के होनेवाले अभिषेक-सहित सिंहासनारोहण का आरम्भ कर दिया गया हो ॥८८॥

तदनन्तर, राजा चन्द्रावलोक ने तारावलोक को उसके राम और लक्ष्मण नाम के वे दोनों लड़के दे दिये, और कहा कि लो, इन्हें मैंने खरीदा है ॥८९॥

और, वहाँ वे लोग आपस में एक दूसरे के वृत्तान्त की बातचीत कर ही रहे थे कि इतने में ही चार दाँतोंवाला एक हाथी और भगवती लक्ष्मी आकाश से उतरी ॥९०॥

और (उसके साथ) अन्य विद्याधरराज भी (वहाँ) उतर आये, तब कमल का फूल हाथ में लिये लक्ष्मी ने उससे कहा—॥९१॥

(हे तारावलोक ! अब) इस हाथी पर सवार होकर विद्याधरों के देश में चले आओ और अपने दान के प्रभाव से अर्जित उन (विद्याधरों के) साम्राज्य की लक्ष्मी का भोग करो ॥९२॥

---

१. [यहाँ आशागत द्विज के दो अर्थ हैं; वृक्ष के पक्ष में दिशाओं से आये हुए पक्षी, किन्तु तारावलोक के पक्ष में आशा लगाकर आये हुए ब्राह्मण।]

इत्युक्तवत्या लक्ष्म्या स साकं भार्यासुतान्वितः ।
पितुः प्रणम्य चरणौ पश्यत्स्वाश्रमवासिषु ॥९३॥
आरुह्य तं गजं दिव्यं वृतो विद्याधरेश्वरैः ।
तारावलोको नभसा ययौ वैद्याधरं पदम् ॥९४॥
तत्रोपभुक्तसाम्राज्यश्चिरं बिद्याभिराश्रितः ।
कालेनोत्पन्नवैराग्यस्तपोवनमशिश्रियत् ॥९५॥
एवं तारावलोकेन मानुषेण सता पुरा ।
निर्मलैः सुकृतैः प्रापि सर्वविद्याधरेन्द्रता ॥९६॥
अन्ये तु तामवाप्यापि विभ्रष्टाः स्खलितैस्ततः ।
तद्रक्षेरपचारं त्वं स्वतो वा परतोऽपि वा ॥९७॥
इति नरवाहनदत्तः कश्यपमुनिना कथां समाख्याय ।
अनुशिष्टः स तथेति प्रतिपेदे चक्रवर्ती तत् ॥९८॥
विद्याधराः शृणुत यः कुरुते ममात्र धर्मव्यतिक्रममितः प्रभृति प्रजासु ।
वध्यः स मे नियतमित्यभितो हराद्रिमुद्घोषणां च स ततो भ्रमयाञ्चकार ॥९९॥
अथावनतमस्तकैर्विधृतशासनः खेचरै-
रुवास बिलसद्यशाः सुरतमञ्जरीमोचनात् ।
स्वमातुलसमीपगोऽसितगिरौ नयन्प्रावृषं
स तत्र सपरिच्छदो मुनिवरस्य तस्याश्रमे ॥१००॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे सुरतमञ्जरीलम्बके तृतीयस्तरङ्गः ।

समाप्तश्चायं सुरतमञ्जरीलम्बकः षोडशः ।

लक्ष्मी के इस प्रकार कहने पर, पिता के चरणों में प्रणाम करके वह तारावलोक पत्नी और पुत्रों-सहित उस हाथी पर चढ़कर, विद्याधर-राजाओं से घिरे हुए, आकाशमार्ग से लक्ष्मी के साथ विद्याधरों के देश चला गया और आश्रमवासी लोग यह देखते रहे ॥९३-९४॥

वहाँ विद्याधर देश में विद्याएँ प्राप्त करके बहुत दिनों तक विद्याधरों के साम्राज्य का उपयोग किया और अन्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर तपोवन में रहने लगा ॥९५॥

इस प्रकार, मनुष्य होते हुए भी प्राचीन समय में तारावलोक ने अपने निष्कलंक पुण्य-कर्मों से विद्याधरों के चक्रवर्त्ती का पद प्राप्त किया ॥९६॥

जब कि दूसरे चक्रवर्त्ती लोग उक्त पद पाकर भी अपने दोषों से (स्वयं) उस पद से गिर गये। इसलिए, तुम अपनी ओर से या दूसरों की (प्रजाओं की) ओर से (किसी प्रकार का) अधर्माचरण न होने दो ॥९७॥

इस प्रकार, कश्यप मुनि ने कहानी सुनाकर जो उपदेश दिया, उसको चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने 'वैसा ही करूँगा' कहकर स्वीकार कर लिया ॥९८॥

और, तब नरवाहनदत्त ने सारे हिमालय-प्रदेश में यह घोषणा करा दी कि हे विद्याधरो! सुनते जाओ, आज से मेरी प्रजाओं में जो कोई धर्म के विरुद्ध आचरण करेगा, वह मुझसे मृत्युदण्ड पायगा ॥९९॥

तदनन्तर, विद्याधरों ने नरवाहनदत्त का वह आदेश सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया; (क्योंकि) सुरतमंजरी को अपने साले से मुक्त कराने का उनका यश (सर्वत्र) फैल गया था। (तब) वे असित पर्वत पर ऋषि कश्यप के आश्रम में सपरिवार मामा गोपालक के निकट वर्षा ऋतु बिताने लगे ॥१००॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के सुरतमंजरी लम्बक का तृतीय तरंग समाप्त हुआ।

सुरतमंजरी नाम का सोलहवाँ लम्बक भी समाप्त हुआ।

पद्मावती नाम सप्तदशो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ॥

पद्मावती नाम का सप्तदश लम्बक

बहुत दिन हुए, यह कथा-रूपी अमृत शंकर के मुख-रूपी समुद्र से पार्वती के प्रणय-रूपी मन्दराचल से आन्दोलित होकर प्रकट हुआ था। अब जो भी कोई इसका आस्वादन करते हैं, उनके और विघ्न तो दूर हो ही जाते हैं, उन्हें ऋद्धि-सिद्धि भी प्राप्त होती हैं और भगवान् शंकर की कृपा से वे इसी पृथ्वी पर अमरत्व भी पा लेते हैं।

प्रथमस्तरङ्गः

देहार्धधृतकान्तोऽपि तपस्वी नर्गुणोऽपि यः ।
जगत्स्तुत्यो नमस्तस्मै चित्ररूपाय शम्भवे ॥१॥
चलत्कर्णाग्रविक्षिप्तगण्डोड्डीनालिमण्डलम् ।
धुन्वानं विघ्नसङ्घातमिव विघ्नान्तकं नुमः ॥२॥
एवं तत्रासितगिरौ कश्यपस्याश्रमे मुनेः
गोपालकस्य निकटे मातुलस्य तपस्यतः ॥३॥
वर्षाकालातिवाहाय न्निवसन्सचिवैर्युतः ।
सर्वविद्याधरेन्द्रैकचक्रवर्त्तिपदे स्थितः ॥४॥
नरवाहनदत्तोऽसौ तैस्तैर्विद्याधराधिपैः ।
अन्वासितः स्वाभार्याभिः पञ्चविशतिभिर्वृतः ॥५॥
ब्रुवन्कथाः स मुनिभिः सपत्नीकैरपृच्छ्यत ।
यदा मानसवेगेन देवी मदनमञ्चुका ॥६॥
माययापहृतैषाभूत्तदा विरहनिःसहम् ।
व्यनोदयत्कथं कस्त्वामिति नः कथ्यतां त्वया ॥७॥
इति तैर्मुनिभिः पृष्टस्तद्भार्याभिश्च तत्र सः ।
नरवाहनदत्तोऽथ वक्तुमेवं प्रचक्रमे ॥८॥
तदा हृतायां मे तस्यां देव्यां पापेन वैरिणा ।
मयानुभूतं दुःखं यत्तत्कियत्कथ्यतेऽधुना ॥९॥
न तत्पुरं न चोद्यानं गृहं वा यत्र नाभ्रमम्
चिन्वन्नहमिमामार्त्तः सर्वे च सचिवा मम ॥१०॥
उपविष्टं च सोन्मादमिवोद्याने तरोस्तले
आह स्म लब्धावसरः सान्त्वयन्गोमुखोऽथ माम् ॥११॥
मा गा विक्लवतां देवीमचिरात्प्राप्स्यसि प्रभो ।
देवा हि द्युचरैश्वर्यमादिशंस्तेऽनया सह ॥१२॥
तदवश्यं तथा भावि नहि तद्वचनं मृषा
धीराश्च सोढविरहाः प्राप्नुवन्तीष्टसङ्गमम् ॥१३॥
रामभद्रो नलो राजा तवैव च पितामहः ।
विषह्य विरहं किं न प्रेयसीभिः समागताः ॥१४॥

प्रथम तरङ्गः

जो आधे शरीर में प्रियतमा गौरी को धारण किये हुए भी तपस्वी और निर्गुण रहते हुए भी संसार (के सभी लोगों) द्वारा स्तुत्य (गुण-वर्णन-योग्य) हैं, ऐसे आश्चर्यजनक (परस्पर-विरोधी) रूपवाले शंकर को नमस्कार है ॥१॥

विघ्नों का अन्त करनेवाले गणेशजी को (हम) प्रणाम करते हैं, जिनके गालों पर कानों के झटके से उड़ाये हुए भौंरों का दल यों मड़रा रहा है, मानों साकार विघ्नों का ही दल हो ॥२॥

इस प्रकार, असित पर्वत पर कश्यप मुनि के आश्रम में तपस्या करते हुए मामा गोपालक के पास वर्षा ऋतु बिताने के लिए सभी विद्याधर-राजाओं के एकमात्र चक्रवर्त्ती के पद पर आसीन नरवाहनदत्त मन्त्रियों तथा अपनी पच्चीस पत्नियों-सहित निवास करने लगे, और उनके पीछे विद्याधरराज भी रहने लगे ॥३-५॥

(एक समय) भाँति-भाँति की बातें करते नरवाहनदत्त से पत्नी-सहित मुनियों ने पूछा कि जिस समय मानसवेग ने रानी मदनमंचुका का—॥६॥

माया (के बल) से हरण कर लिया, उस समय विरह से अधीर आपका मन किसने किस प्रकार बहलाया, यह कहानी आप हमें सुनायें ॥७॥

उस आश्रम में मुनियों और उनकी पत्नियों ने जब इस प्रकार पूछा, तब नरवाहनदत्त यों कहने लगे ॥८॥

उस समय जब दुष्ट शत्रु मानसवेग ने मेरी रानी मदनमंचुका को हर लिया, तब उसके विरह से मुझे जो दुःख हुआ, उसी का कुछ वर्णन अभी करता हूँ ॥९॥

ऐसा कोई नगर नहीं, ऐसा कोई उद्यान नहीं और ऐसा कोई घर नहीं रहा, जहाँ आर्त्त होकर उस मदनमंचुका को खोजते-खोजते मैं तथा मेरे सभी मन्त्री नहीं गये ॥१०॥

अनन्तर (एक समय) उद्यान में एक पेड़ के नीचे पागल की भाँति मुझे बैठा देख अवसर पाकर सान्त्वना देते हुए गोमुख ने कहा कि—॥११॥

हे प्रभो, आप इस भाँति अधीर न हों। शीघ्र ही देवी मदनमंचुका मिल जायेंगी; क्योंकि देवताओं ने बताया है कि आप देवी मदनमंचुका के साथ ही विद्याधरों के चक्रवर्ती होंगे ॥१२॥

इसलिए, वह अवश्य होनेवाला है; क्योंकि देवताओं का वचन तो मिथ्या नहीं हो सकता। धीर पुरुष विरह सहकर पुनः वांछित प्रिय-मिलन प्राप्त करते हैं ॥१३॥

राजा रामचन्द्र, राजा नल तथा आपके पूर्वपुरुष भी विरह सह-सहकर क्या अपनी प्रियाओं से नहीं मिले? ॥१४॥

स मुक्ताफलकेतुश्च चक्रवर्ती द्युचारिणाम् ।
पद्मावत्या न किं प्राप वियुक्तः सङ्गमं पुनः ॥१५॥
तथा च शृणु देवाहं तत्कथां कथयामि ते ।
इत्युक्त्वा गोमुखो मह्यमिमामकथयत्कथाम् ॥१६॥
अस्तीह प्रथिता पृथ्व्यां नाम्ना वाराणसी पुरी ।
द्युसरिद्भूषिता मूर्त्तिः शाम्भवीवापवर्गदा ॥१७॥
सुरसद्मध्वजपटैर्मरुता नमितोद्धतैः ।
इहैत मोक्षं यातेति ब्रुवाणेवानिशं जनान् ॥१८॥
सितप्रासादशिखरा चन्द्रचूडनिवासभूः ।
भाति शैवगणाकीर्णा कैलासाद्रिस्थलीव या ॥१९॥
तस्यामभूद्ब्रह्मदत्तो नाम राजा पुरा पुरि ।
शिवैकभक्तो ब्रह्मण्यः शूरो दाता क्षमापरः ॥२०॥
न दुर्गेष्वपि चस्खाल न ममज्जाम्बुधिष्वपि ।
भुवि भ्रमन्ती यस्याज्ञा न द्वीपान्यपि नातरत् ॥२१॥
अह्लाददायिनी तस्य चकोरस्येव वल्लभा ।
आसीत्सोमप्रभा देवी नेत्रपेयास्य साप्यभूत् ॥२२॥
शिवभूत्यभिधानश्च मन्त्री तस्याभवद्द्विजः ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या सर्वशास्त्रार्थपारगः ॥२३॥
स कदाचिन्नृपश्चन्द्रप्रासादे शयने स्थितः ।
ददर्श हंसयुगलं गगनेनागतं निशि ॥२४॥
दीप्तजाम्बूनदमयं राजहंसावलीवृतम् ।
अभ्रगङ्गाजलोत्क्षिप्तमिव हेमाम्बुजद्वयम् ॥२५॥
गते दृष्टिपथात्तस्मिन्नत्याश्चर्ये स भूपतिः ।
पर्यतप्यत सोत्कण्ठः पुनस्तद्दर्शनं विना ॥२६॥
अनिद्र एव नीत्वा तां निशां प्रातः स मन्त्रिणम् ।
यथा दृष्टं तथाख्याय शिवभूतिमुवाच तम् ॥२७॥
तद्यथेष्टं न तौ हेमहंसौ पश्याम्यहं यदि ।
तत्किमेतेन राज्येन जीवितेनापि वा मम ॥२८॥
इति राज्ञोदिते मन्त्री शिवभूतिर्जगाद तम् ।
अस्त्युपायोऽत्र कश्चित्तं शृणु देव वदामि ते ॥२९॥

और क्या विद्याधरों के चक्रवर्त्ती मुक्ताफलकेतु नाम के राजा ने पद्मावती का विरह पाकर पुनः मिलन नहीं पाया ? ॥१५॥

हे देव! मैं वह कथा आपको सुनाता हूँ। यह कहकर गोमुख ने मुझे यह कथा सुनाई ॥१६॥

वाराणसी नाम की एक नगरी है, जो संसार-भर में प्रसिद्ध है। जो शिव की मूर्त्ति की भाँति गंगा नदी से सुशोभित है और मोक्ष देनेवाली है ॥१७॥

जो देवताओं के मन्दिरों के ऊपर टँगी और हवा से ऊपर-नीचे फहराती हुई पताकाओं से लोगों से दिन-रात मानों यह कहती रहती है कि यहाँ आओ और मोक्ष पाते जाओ ॥१८॥

जो सफेद महलों की चोटियों से युक्त, विश्वनाथ की निवास-भूमि तथा शैवगणों से (शिव के भक्तों या अनुचरों से) व्याप्त (रहने के कारण) कैलास भूमि-सी लगती है ॥१९॥

उसी वाराणसी नगरी में प्राचीन काल में ब्रह्मदत्त नाम का एक राजा था। वह शिव का अनन्य भक्त, ब्राह्मणों की रक्षा करनेवाला, वीर, दानी और क्षमावान् था ॥२०॥

उसकी आज्ञा दुर्गम स्थानों में भी उपेक्षित नहीं होती थी, समुद्रों में भी डूबती नहीं थी (अर्थात्, समुद्र के पार भी पहुँचती थी) और धरती-भर घूमती हुई द्वीपों को भी पार कर जाती थी ॥२१॥

उसके सोमप्रभा नाम की आनन्ददायिनी प्रेयसी रानी थी। चकोर की भाँति वह राजा उस सोमप्रभा चन्द्रमा की किरण को आँखों से पीता रहता था (अर्थात्, देख-देखकर मुग्ध होता रहता था) ॥२२॥

शिवभूति नाम का एक ब्राह्मण उसका मन्त्री था। वह बुद्धि में बृहस्पति के समान सभी शास्त्रों में पारंगत था ॥२३॥

एक समय चन्द्र-प्रासाद के ऊपर पलंग पर बैठे हुए उस राजा ने देखा कि रात में चमकीले सोने के (शरीरवाले) हंसों का एक जोड़ा आकाश से वहाँ उतर आया, मानों आकाश-गंगा से दो स्वर्ण-कमल फेंक दिये गये हों। उनको (चारों ओर से) राजहंसों का समुदाय घेरे हुए है ॥२४-२५॥

जब वह परम आश्चर्यजनक हंसों का जोड़ा उस राजा ब्रह्मदत्त की आँखों से ओझल हो गया, तब वह उसको पुनः न देखकर (देखने के लिए) उत्सुक हो सन्ताप करने लगा ॥२६॥

उस राजा ने विना सोये ही वह रात बिताकर प्रातःकाल अपने मन्त्री शिवभूति को जैसा देखा था, वैसा सुनाकर कहा कि—॥२७॥

(हे मन्त्री !) यदि मैं उन सोने के दोनों हंसों को इच्छा-भर न देख सकूँ, तो मेरे इस राज्य से क्या अथवा इस जीवन से ही क्या (फल) ? ॥२८॥

राजा ब्रह्मदत्त के ऐसा कहने पर मन्त्री शिवभूति ने कहा कि इसका एक उपाय है। सुनिए, मैं आपसे कहता हूँ ॥२९॥

विचित्रकर्मयोगेन संसारेऽस्मिन्प्रजापतेः ।
विचित्र भूतसर्गोऽयमपरिच्छेद्य एव यः ॥३०॥
तत्र दुःखमये मोहादुद्भवत्सुखबुद्धयः ।
निवासाहारपानादिरसाद्रज्यन्ति जन्तवः ॥३१॥
तेषां चाहारपानादि निवासं च पृथग्विधम् ।
स्वस्वजात्यनुरूपेण प्रीतिदं विदधे विधिः ॥३२॥
तद्देव कारय महद्धंसानामाश्रयं सरः ।
कमलोत्पलसंछन्नं निर्बाधं रक्षिरक्षितम् ॥३३॥
पक्षिप्रियं च तत्रान्नं प्रक्षेपय सदा तटे ।
यावदायान्ति तत्राशु नानादिग्भ्योऽम्बुपक्षिणः ॥३४॥
तन्मध्ये नचिरादत्र तौ हंसावप्युपैष्यतः ।
ततो द्रक्ष्यस्यजस्रं तौ मा कृथा दुर्मनस्कताम् ॥३५॥
इत्युक्ते मन्त्रिणा तेन स राजा तदकारयत् ।
यथोक्तं क्षणसम्पन्नं ब्रह्मदत्तो महासरः ॥३६॥
हंससारसचक्राह्वसंश्रिते तत्र कालतः ।
आगत्य पद्मखण्डे तद्धंसयुग्ममुपाविशत् ॥३७॥
तदुपेत्य स विज्ञप्तस्तत्सरोरक्षिभिर्नृपः ।
आगादेतत्सरो हृष्टः सिद्धं मत्वा मनोरमम् ॥३८॥
ददर्श हेमहंसौ च तत्र तौ दूरतोऽर्चयन् ।
आश्वासयच्च निक्षिप्य सक्षीरा शालितण्डुलान् ॥३९॥
विशुद्धकलधौताङ्गौ मुक्तामणिमयेक्षणौ ।
प्रवालचञ्चुचरणौ तार्क्ष्यरत्नाग्रपक्षती ॥४०॥
विस्रम्भोपगतौ तौ स हंसौ राजा विभावयन् ।
मुदा सदावसत्प्रीत्या तत्रैव सरसस्तटे ॥४१॥
एकदा चैकदेशेऽत्र सरोरोधसि पर्यटन् ।
अम्लायिपुष्परचितां पूजां राजा ददर्श सः ॥४२॥
केन पूजा कृतैषेति पप्रच्छात्र स रक्षिणः ।
ततस्ते तं सरःपाला नृपमेवं व्यजिज्ञपन् ॥४३॥
त्रिसन्ध्यं सरसि स्नात्वा हंसावेतौ हिरण्मयौ ।
इह नित्यमिमां पूजां कृत्वा ध्यानेन तिष्ठतः ॥४४॥

ब्रह्मा के (बनाये) इस संसार में विचित्र-विचित्र कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए जीव गण विचित्र-विचित्र और अनन्त हैं ॥३०॥

इस दुःखमय संसार में उन जीवों को अज्ञानवश सुख का मान होता है और ये जीव निवास, भोजन, पान आदि के रस से आनन्द प्राप्त करते रहते हैं ॥३१॥

और, ब्रह्मा ने उनके निवास, भोजन, पान आदि भी उनकी अपनी-अपनी (अलग-अलग) जातियों के अनुसार आनन्द देनेवाले अलग-अलग भाँति के बनाये हैं ॥३२॥

इसलिए, हे राजा ! हंसों के निवासयोग्य एक विशाल सरोवर बनवाइए, जो कमल के फूलों से भलीभाँति व्याप्त हो और रक्षकों से सुरक्षित हो, (ताकि वह आनेवाले हंसों के लिए) बाधा से रहित हो ॥३३॥

और, उस सरोवर के तट पर पक्षियों का प्रिय आहार सदा छिटवाते रहिए, ताकि वहाँ नाना दिशाओं से जलचर पक्षी आ जायँ ॥३४॥

उन पक्षियों के बीच में वहाँ वे दोनों हंस भी अविलम्ब आ जायेंगे। तब उन दोनों हंसों को आप जितना चाहेंगे, उतना देख लेंगे। अतः, आप मन में दुःख मत करें ॥३५॥

मन्त्री शिवभूति के इतना कहने पर राजा ब्रह्मदत्त ने उस विशाल सरोवर का जैसा (मन्त्री ने) कहा था, वैसा ही बनवाकर क्षणभर में तैयार करा दिया ॥३६॥

उसमें (बहुत-से) हंस, सारस और चकवे रहने लगे; तब कालक्रम से (एक दिन) वे दोनों सोने के हंस भी आकर के कमल के झुरमुट में बैठ गये ॥३७॥

सरोवर के रक्षकों ने जब इसकी सूचना राजा को दी, तब वह (राजा) अपने मनोरथ को सफल समझकर प्रसन्न हो उस सरोवर के पास आया ॥३८॥

और (राजा ब्रह्मदत्त ने) दूर से ही अर्चना करते हुए वहाँ उन सोने के हंसों को देखा और खीर छींट कर उन्हें सुविधा प्राप्त कराई ॥३९॥

विशुद्ध स्वर्ण के समान शरीर, मोती के समान आँखों, मूंगे के समान चोंच और चंगुल और वैदूर्यमणि के समान डैनों वाले—॥४०॥

वे दोनों हंस निर्भय हो (राजा के) समीप आने लगे और राजा उनकी भावना में लीन रहते हुए सदा उसी सरोवर के तट पर स्नेहपूर्वक आनन्द के साथ रहने लगा ॥४१॥

एक दिन उस सरोवर के किनारे घूमते हुए राजा ने देखा कि वहाँ एक जगह कभी न मुरझानेवाले फूलों से पूजा की हुई है ॥४२॥

तब उसने वहाँ के रक्षकों से पूछा कि यह पूजा किसने की है? इसपर उस सरोवर के रक्षकों ने उस राजा से इस प्रकार कहा कि—॥४३॥

हे राजा ! ये दोनों स्वर्ण-हंस नित्य तीनों शाम इस सरोवर में स्नान करके यह पूजा करते हैं और ध्यान लगाकर बैठते हैं ॥४४॥

तन्न विद्मो महाराज किमेतन्महदद्भुतम् ।
एतच्छ्रुत्वा स रक्षिभ्यश्चिन्तयामास भूपतिः ॥४५॥

क्व हंसौ क्वेदृशी चर्या ध्रुवमस्त्यत्र कारणम् ।
तत्करिष्ये तपस्तावद्यावद्वेत्स्यामि काविमौ ॥४६॥

इति सञ्चिन्त्य नृपतिस्त्यक्ताहारः स भार्यया ।
मन्त्रिणा च समं चक्रे हरध्यानपरस्तपः ॥४७॥

अथ तौ दिव्यहंसौ तं द्वादशाहमुपोषितम् ।
उपेत्य व्यक्तया वाचा स्वप्ने राजानमूचतुः ॥४८॥

राजन्नुत्तिष्ठ वक्ष्यावः सभार्यासचिवस्य ते ।
प्रातः सर्वं यथातत्त्वं विजने पारणे कृते ॥४९॥

इत्युक्त्वा तौ तिरोभूतौ हंसौ राजा प्रबुध्य च ।
भार्यामन्त्रियुतः प्रातश्चकारोत्थाय पारणम् ॥५०॥

भुक्तोत्तरं च तत्राम्बुलीलागेहान्तरे स्थितम् ।
नृपं सभार्यामात्यं तं हंसौ तावभ्युपेयतुः ॥५१॥

कौ युवां ब्रूतमित्युक्तौ तेनाभ्यर्च्यैव भूभुजा ।
क्रमात्तस्मै स्ववृत्तान्तमेवमाचख्यतुश्च तौ ॥५२॥

अस्ति मन्दर इत्यद्रिराजो जगति विश्रुतः ।
विहरत्सुरसङ्घातविराजद्रत्नकाननः ॥५३॥
यस्यामृतेन सिक्तेषु मथितक्षीरवारिधेः ।
जरामृत्युहरं पुष्पफलमूलाम्बुसानुषु ॥५४॥
कैलासाधिककान्तस्य यस्य शृङ्गाग्रभूमयः ।
नानासद्रत्नरचिता लीलोद्यानानि धूर्जटेः ॥५५॥

तत्र जातु कृतक्रीडो देवोऽवस्थाप्य पार्वतीम् ।
देवकार्यानुरोधेन केनाप्यन्तर्दधे हरः ॥५६॥

ततस्तद्विरहाक्रान्ता तत्क्रीडाकेतनेषु सा ।
बभ्रामाश्वास्यमानात्र पार्वती देवतान्तरैः ॥५७॥

एकदा च मधुप्राप्तिसोद्वेगा सा गणैर्वृता ।
देवी तरुतले यावत्प्रियचिन्ताकुला स्थिता ॥५८॥

हे महाराज ! हम लोग नहीं जानते हैं कि यह बड़ी अद्‌भुत बात क्या है। रक्षकों से यह सुनकर वह राजा सोचने लगा कि—॥४५॥

कहाँ ये दोनो हंस और कहाँ यह आचरण। निश्चय ही, इसमें कोई-न-कोई कारण है। अतः, मैं तबतक तपस्या करता रहूँगा, जबतक यह नहीं समझ पाऊँ कि ये दोनों कौन हैं ॥४६॥

यह सोचकर वह राजा, पत्नी और मन्त्री के साथ, निराहार रहकर भगवान् शंकर का ध्यान करते हुए तपस्या करने लगा ॥४७॥

तदनन्तर, वे दोनों असाधारण हंस सपने में, बारह दिनों से उपवास करते हुए उस राजा के पास आकर (मनुष्य की भाँति) स्पष्ट भाषा में बोले कि—॥४८॥

हे राजा ! उठो। जब प्रातःकाल तुम पारण करोगे, तब हम एकान्त में पत्नी और मन्त्री-सहित तुमको यथावत् सब कुछ कह देंगे ॥४९॥

यह कहकर वे दोनों हंस अन्तर्हित हो गये और राजा ने जागकर और उठकर प्रातःकाल पत्नी और मन्त्री के साथ पारण किया ॥५०॥

और, भोजन के बाद जब राजा जलकेलि-गृह के भीतर पत्नी और मन्त्री-सहित बैठा, तब वे दोनों हंस उनके निकट आये ॥५१॥

राजा ब्रह्मदत्त ने अर्चना करके उन हंसों से पूछा कि तुम दोनों कौन हो, यह बताओ। तब उन दोनों ने क्रमशः अपना वृत्तान्त इस प्रकार बताया कि—॥५२॥

मन्दर नाम का एक पर्वतराज है, जो संसार-भर में विख्यात है, जिसका रत्नमय वनस्थल विहार करते हुए देवताओं के समुदाय से सुशोभित रहता है ॥५३॥

जिसके मथे हुए और क्षीरसमुद्र के अमृत से सींचे हुए शिखरों के पुष्प, फल, मूल और जल बुढ़ापे और मृत्यु का हरण करनेवाले होते हैं ॥५४॥

जिसके नाना प्रकार के अच्छे-अच्छे रत्नों से रचित चोटियों के ऊपरी प्रदेश शिवजी के विलास के उद्यान हैं और उन्हें कैलास से भी बढ़कर प्रिय हैं ॥५५॥

वहाँ एक समय भगवान् शंकर (भगवती पार्वती के साथ) केलि समाप्त करके पार्वती को वहाँ रखकर देवताओं के किसी कार्यवश अलक्षित हो चले गये ॥५६॥

तब वह पार्वती अन्य देवताओं से आश्वासन पाती हुई भी शंकर के विरह से आकुल हो वहाँ शिवजी के विलास के (विभिन्न) स्थलों में घूमने लगीं ॥५७॥

एक समय जब वसन्त ऋतु के आने से व्याकुल हुई देवी पार्वती (अपने) प्रियतम शंकर के चिन्तन में डूबी (अपने) गणों के साथ (एक) पेड़ के नीचे बैठी थीं—॥५८॥

तावज्जयासुतां तत्र देव्याश्चामरधारिणीम् ।
कुमारीं चन्द्रलेखाख्यां साभिलाषावलोकिनीम् ॥५९॥
समानरूपतारुण्यो निकटस्थो गुणोत्तमः ।
मणिपुष्पेश्वरो नाम साभिलाषो व्यलोकयत् ॥६०॥
तद्दृष्ट्वान्यौ गणौ नाम्ना पिङ्गेश्वरगुहेश्वरौ ।
बभूवतुः स्मितमुखावन्योन्याननदर्शिनौ ॥६१॥
तौ चालोक्य तथाभूतौ कस्यैतौ हसतोऽपदे ।
इत्यन्तः कुपिता देवी ददौ दृष्टिमितस्ततः ॥६२॥
तावत्तावत्र चान्योन्यमुखे स्मेरार्पितेक्षणौ ।
ददर्श चन्द्रलेखां तां मणिपुष्पेश्वरं च तम् ॥६३॥
ततो विरहसोद्वेगा क्रुद्धा देवी जगाद सा ।
देवस्यासन्निधौ सुष्ठु स्मरप्रेक्षणकं कृतम् ॥६४॥
एताभ्यां हासशीलाभ्यां हसितं प्रेक्ष्य सुष्ठु च ।
तन्मर्त्ययोनौ कामान्धौ स्त्रीपुंसौ पततामिमौ ॥६५॥
तत्रैव दम्पती चैतावविनीतौ भविष्यतः ।
हासशीलाविमौ क्लेशान्प्राप्स्यतस्तु बहून्भुवि ॥६६॥
ब्राह्मणौ दुःखिनौ पूर्वं तदनु ब्रह्मराक्षसौ ।
ततः पिशाचकौ पश्चाच्चण्डालौ तस्करौ ततः ॥६७॥
छिन्नपुच्छौ ततः श्वानौ विविधौ च ततः खगौ ।
भविष्यतो गणावेतौ परिहासापराधिनौ ॥६८॥
आभ्यां हि स्वस्थचित्ताभ्यामेष दुर्विनयः कृतः ।
इत्यादिष्टवतीं देवीं धूर्जटाख्योऽवदद्गणः ॥६९॥
अत्ययुक्तमिदं देवि न खल्वेते गुणोत्तमाः ।
इयन्तं शापमर्हन्ति स्वल्पादेवापराधतः ॥७०॥
तच्छ्रुत्वैवाब्रवीत्कोपाद्देवी तमपि धूर्जटम् ।
मर्त्ययोनावनात्मज्ञ भवानपि पतत्विति ॥७१॥
दत्तशापप्रतापां तां प्रतीहारी जयाम्बिकाम् ।
जननी चन्द्रलेखायाः पादलग्ना व्यजिज्ञपत् ॥७२॥
प्रसीद देवि शापान्तं कुर्वस्या दुहितुर्मम ।
एतेषां च स्वभृत्यानामज्ञानविहितागसाम् ॥७३॥

तब पार्वती की चँवर डुलानेवाली जया की बेटी कुमारी चन्द्रकला को अपनी ओर कामवासनापूर्वक निहारती देख निकट में खड़े उसी के समान रूप और यौवनवाले मणिपुष्पेश्वर नाम के एक श्रेष्ठ गण ने भी उसकी ओर (उसी प्रकार) कामवासनापूर्वक निहारा ॥५९-६०॥

(उन दोनों का) यह (परस्पर अवलोकन) देखकर पिंगेश्वर और गुहेश्वर नाम के दो अन्य गण एक दूसरे का मुँह देखते हुए मुस्कराने लगे ॥६१॥

उन दोनों को इस प्रकार मुस्कराते देखकर देवी पार्वती ने यह सोचकर कि ये दोनों किसके ऊपर विना कारण हँस रहे हैं, क्रुद्ध हो इधर-उधर नजर दौड़ाई ॥६२॥

और देखा कि वहाँ चन्द्रलेखा और मणिपुष्पेश्वर एक दूसरे के मुँह पर प्रेमपूर्ण दृष्टि डाले हुए हैं ॥६३॥

तब विरह से दुःखी देवी पार्वती क्रुद्ध होकर बोली कि वाह! भगवान् शंकर की अनुपस्थिति में इन दोनों ने खूब काम-लीला की ॥६४॥

और ये दोनों हँसोड़ भी यह देखकर खूब हँसे। इसलिए, उद्धत और कामान्ध ये दोनों—चन्द्रलेखा और मणिपुष्पेश्वर—मानवी और मानव होकर मर्त्यों की योनि में जा गिरेंगे और वहीं दोनों पति-पत्नी होंगे। परन्तु, ये दोनों हँसोड़—पिंगेश्वर और गुहेश्वर—पृथ्वी पर (जन्म लेकर) बहुत-से कष्ट पायेंगे ॥६५-६६॥

पहले दुःखी ब्राह्मण होंगे, तब ब्रह्मराक्षस होंगे, तब पिशाच होंगे, तब चण्डाल होंगे, तब चोर होंगे ॥६७॥

तब कटी हुई दुमवाले कुत्ते होंगे, तब अन्त में नाना प्रकार के पक्षी होंगे। क्योंकि, इन दोनों ने उपहास करने का अपराध किया है ॥६८॥

और, इन दोनों ने जो अशिष्टता की है वह प्रकृतिस्थ होते हुए (जान-बूझकर की है, न कि किसी प्रेमादि भावना के वशीभूत होकर)। इस प्रकार शाप देती हुई देवी पार्वती से धूर्जट नाम के एक गण ने कहा कि—॥६९॥

हे देवी पार्वती! (आपका) यह (शाप) अत्यन्त असमुचित हुआ है। (ऐसे) छोटे अपराध के कारण ही (अपने) इन श्रेष्ठ गणों को वैसा (कड़ा) दण्ड नहीं देना चाहिए ॥७०॥

यह सुनते ही देवी पार्वती ने उस धूर्जट को भी क्रोध से शाप दिया कि हे अपने को न पहचाननेवाले धूर्जट! तुम भी (शाप देने में मेरा विरोध करने के कारण) मर्त्यों की योनि में जा गिरो ॥७१॥

जब देवी अम्बिका ने उसे भी उग्र शाप दे दिया, तब चन्द्रलेखा की माता प्रतीहारी (दासी) जया ने पाँव पकड़ कर उनसे प्रार्थना की कि—॥७२॥

हे देवी पार्वती! प्रसन्न होइए! मेरी बेटी चन्द्रलेखा के तथा अपने इन (अन्य) सेवकों के भी शाप को समाप्त कर दीजिए; क्योंकि इन्होंने अज्ञानवश अपराध किया है ॥७३॥

विज्ञप्तेति प्रतीहार्या जयया गिरिजाब्रवीत् ।
यदा सर्वे मिलिष्यन्ति ज्ञानप्राप्तिवशात्क्रमात् ॥७४॥
ब्रह्मादीनां तपः क्षेत्रे दृष्ट्वा सिद्धीश्वरं तदा ।
एष्यन्ति पदमस्माकं मुक्तशापा इमे पुनः ॥७५॥
मानुष्ये चन्द्रलेखेयमेतत्कान्तः स धूर्जटः ।
सुखिनोऽमी भविष्यन्ति त्रयो द्वौ दुःखिनाविमौ ॥७६॥
इत्युक्त्वा विरता यावत्सा देवी तावदाययौ ।
तत्रासुरः किल ज्ञातहरासन्निधिरन्धकः ॥७७॥
स देवीं प्रेप्सुरुत्सिक्तस्तत्परिच्छदभर्त्सितः ।
गतो विज्ञाय देवेन ज्ञात्वा तत्कारणं हतः ॥७८॥
कृतकार्योऽन्तिकायातस्तुष्टामुक्तान्धकागमाम् ।
सोऽथ देवो जगादैवं गिरिजां गिरिजापतिः ॥७९॥
मानसः पूर्वपुत्रस्ते सोऽन्धकोद्य हतो मया ।
त्वगस्थिशेषो भृङ्गी च भविष्यत्यधुनेह सः ॥८०॥
इत्युक्त्वा स समं देव्या तत्रासीद्विहरन्हरः ।
मणिपुष्पेश्वराद्याश्च पञ्च तेऽवातरन्भुवि ॥८१॥
तत्र तावद्द्वयो राजंस्तस्य पिङ्गेश्वरस्य च ।
गुहेश्वरस्य चोदन्तं चित्रायितमिमं शृणु ॥८२॥
अस्ति यज्ञस्थलाख्योऽस्मिनग्रहारो महीतले ।
तत्राभूद्यज्ञसोमाख्यो ब्राह्मणो धनवान्गुणी ॥८३॥
तस्य द्वावुदपद्येतां पुत्रौ वयसि मध्यमे ।
हरिसोमस्तयोर्ज्येष्ठः कनिष्ठो देवसोमकः ॥८४॥
तयोस्तस्य समुत्तीर्णबाल्ययोरुपनीतयोः ।
विप्रस्यादौ धनं क्षीणं सभार्यस्यायुषा ततः ॥८५॥
ततस्तौ तत्सुतौ दीनौ पितृहीनाववृत्तिकौ ।
हृताग्रहारौ दायादैर्मन्त्रयामासतुर्मिथः ॥८६॥
भिक्षैकवृत्ती जातौ स्वो न च भिक्षामवाप्नुवः ।
तद्दूरमपि गच्छावो वरं मातामहं गृहम् ॥८७॥

(अपनी) प्रतीहारी जया के ऐसा कहने पर भगवती पार्वती ने कहा कि जब ये सभी धीरे-धीरे (पूर्वजन्म का) ज्ञान प्राप्त करके सिद्धीश्वर नाम के क्षेत्र में एकत्र होंगे, जहाँ ब्रह्मा आदि ने तपस्या की है, तब (वहाँ) भगवान् शंकर का दर्शन करके शाप से मुक्त हो पुनः हम-लोगों के लोक में चले आयेंगे। ॥७४-७५॥

मनुष्य-जन्म में वह चन्द्रलेखा, उसका प्रेमी मणिपुष्पेश्वर और वह धूर्जट ये तीनों सुखी होंगे, किन्तु (शेष) दोनों दुःखी रहेंगे ॥७६॥

यह कहकर ज्योंही वे देवी पार्वती चुप हुईं, त्योंही शंकर भगवान् को अनुपस्थित जान कर अन्धक नाम का एक राक्षस वहाँ आ पहुँचा ॥७७॥

उस राक्षस ने देवी पार्वती को प्राप्त करना चाहा, (किन्तु) उनके परिजनों से डाँट-फटकार खाकर भाग गया। (उधर) भगवान् शंकर ने यह (घटना) जानकर इस (अपराध के) कारण उसे जाकर मार डाला ॥७८॥

(फिर, जिस कार्य से गये थे) उस कार्य में सफल हो (पार्वती के) निकट आये। पार्वती (उनके आने से) प्रसन्न होकर उनसे अन्धक नाम के उस राक्षस के आने की कथा सुनाई। तब शंकर ने पार्वती से कहा कि—॥७९॥

(हे देवी!) तुम्हारे पूर्व समय के मानसपुत्र उस अन्धक को आज मैंने मार दिया और उसकी केवल खाल और हड्डियाँ बची हुई हैं, अतः अब वह भृंगी हो जायगा ॥८०॥

यह कहकर भगवान् शंकर वहाँ देवी पार्वती के साथ विहार करते हुए रहने लगे। और, (इधर) मणिपुष्पेश्वर आदि पाँचों गणों ने पृथ्वी पर जन्म लिया ॥८१॥

(वे दोनों स्वर्ण-हंस कह रहे हैं कि) हे राजा ब्रह्मदत्त! उन सबमें पहले उस पिंगेश्वर और गुहेश्वर की कथा सुनिए, जो आश्चर्यमय है ॥८२॥

इस पृथ्वी पर (कहीं) यज्ञस्थल नाम का एक अग्रहार है। वहाँ यज्ञसोम नाम का एक धनवान् और गुणवान् ब्राह्मण रहता था ॥८३॥

उसके अधेड़ होने पर दो लड़के उत्पन्न हुए। बड़े का नाम था हरिसोम और छोटे का देवसोम ॥८४॥

जब इन दोनों का बचपन बीता और उपनयन-संस्कार हुआ, तब पहले तो उस ब्राह्मण का धन समाप्त हो गया और (बाद में) पत्नी-सहित उसकी आयु भी समाप्त हो गई ॥८५॥

तब माँ-बाप से रहित तथा आजीविका से हीन वे दोनों लड़के दीन हो गये और उनका अग्रहार (जागीर) भी उनके गोतियों ने हड़प लिया। (ऐसी स्थिति देख) दोनों ने आपस में विचार किया कि—॥८६॥

हम दोनों की अब एकमात्र जीविका भिक्षा रह गई है, और यहाँ हमें वह भीख भी नहीं मिल रही है। इसलिए अच्छा है कि (यहाँ से) दूर होने पर भी हम अपने नाना के घर चले चलें ॥८७॥

भ्रष्टौ यद्यपि नौ कोऽत्र श्रद्दध्यात्स्वयमागतौ ।
तथापि यावः किं कुर्वो नह्यन्यास्त्यावयोर्गतिः ॥८८॥
इति सम्मन्त्र्य ययतुर्भिक्षमाणौ क्रमेण तौ ।
तमग्रहारं तद्यत्र मातामहगृहं तयोः ॥८९॥
तत्र तं सोमदेवाख्यं मृतं मातामहं जनात् ।
पृच्छन्तौ तावबुध्येतां मन्दभाग्यौ सभार्यकम् ॥९०॥
ततश्च तौ यज्ञदेवक्रतुदेवाभिधानयोः ।
रजोरूक्षौ विविशतुर्विग्नौ मातुलयोर्गृहम् ॥९१॥
तत्रादृत्य समाश्वास्य ताभ्यां क्लृप्ताशनाम्बरौ ।
सद्विप्राभ्यामधीयानौ यावत्तौ तत्र तिष्ठतः ॥९२॥
तावत्तावप्युपक्षीणधनीभूतावभृत्यकौ ।
मातुलौ भागिनेयौ तौ प्रीतिपूर्वमवोचताम् ॥९३॥
पुत्रौ दरिद्रीभूतानामस्माकं पशुपालकम् ।
कर्त्तुं नास्त्यद्य सामर्थ्यं तद्युवां रक्षकं पशून् ॥९४॥
इत्युक्तौ मातुलाभ्यां तौ बाष्पकण्ठौ तथेति तत् ।
हरिसोमदेवसोमौ तद्वचोऽभ्युपजग्मतुः ॥९५॥
ततोऽटव्यां पशून्नीत्वा सततं तौ ररक्षतुः ।
परिश्रान्तौ च सायं तावादायाजग्मतुर्गृहम् ॥९६॥
तथा तयोः पाशुपाल्यं कुर्वतो दैवशप्तयोः ।
अहार्यंत पशुः कश्चित्कश्चिद्व्याघ्रैरभक्ष्यत ॥९७॥
ततस्तौ मातुलौ यावदुद्विग्नौ तावदेकदा ।
धेनुश्छागश्च यज्ञार्थौ द्वौ तयोः क्वापि नेशतुः ॥९८॥
तद्भयात्तान्गृहं नीत्वैवान्यानसमये पशून् ।
पलायितौ तौ चिन्वन्तौ दूरं विविशतुर्वनम् ॥९९॥
तत्र व्याघ्रार्धजग्धं तं छागं ददृशतुर्निजम् ।
शोचित्वोपहतात्मानावेवं जगदतुश्च तौ ॥१००॥
छागोऽयं मातुलाभ्यां नौ यज्ञार्थं पर्यकल्प्यत ।
तस्मिन्नष्टे च दुर्वारस्तयोः कोपो भविष्यति ॥१०१॥
तदस्य मांसं संस्कृत्य वह्नौ भुक्त्वा हतक्षुधौ ।
शेषमादाय गच्छावः क्वाप्यावां भैक्ष्यजीविनौ ॥१०२॥

यद्यपि हम इस संसार में नीचे गिर गये हैं, अतः स्वयं (विना बुलाये) जाने पर कौन हम पर श्रद्धा करनेवाला होगा ? तथापि हमलोग जायँ, ; क्योंकि (न जायेंगे तो) करेंगे क्या ? और कोई चारा तो है नहीं ॥८८॥

यह विचार कर वे दोनों भीख माँगते हुए धीरे-धीरे उस अग्रहार में पहुँचे, जहाँ उनके नाना का घर था ॥८९॥

वहाँ लोगों से पूछने पर उन दोनों अभागे लड़कों को पता लगा कि उनका नाना सोमदेव अपनी पत्नी-समेत मर चुका है ॥९०॥

तब धूल से रूखे वे दोनों लड़के उद्विग्न हुए यज्ञदेव और ऋतुदेव नाम के अपने दोनों मामाओं के घर पहुँचे ॥९१॥

उन दोनों अच्छे ब्राह्मणों (यज्ञदेव और ऋतुदेव) ने दोनों (भानजों) का आदर किया और उन्हें आश्वासन देकर अन्न-वस्त्र देने लगे, (इस प्रकार) दोनों लड़के पढ़ते हुए जब वहाँ रहने लगे—॥९२॥

तब उन मामाओं का भी धन घटने लगा (और एक दिन) नौकर भी न रहा। (ऐसी स्थिति में) मामाओं ने दोनों भानजों से प्यार के साथ कहा कि—॥९३॥

हे पुत्रो ! हम गरीब हो गये, (अतः) आज हमें चरवाहा रखने का सामर्थ्य न रहा। इसलिए, तुम्हीं दोनों पशुओं के रक्षक बनो ॥९४॥

मामाओं के ऐसा कहने पर हरिसोम और देवसोम ने आँसू-भरे कण्ठ से मामाओं की वह बात मान ली ॥९५॥

तबसे वे दोनों पशुओं को ले जाकर वन में सतत चराते और सन्ध्या समय उन्हें लेकर थके-माँदे घर लौटते ॥९६॥

देवता से अभिशापित होकर वे जब इस प्रकार चरवाहे का काम कर रहे थे, तब उनके कुछ पशुओं को (किसी ने) चुरा लिया और कुछ को बाघों ने खा लिया ॥९७॥

(इस घटना से) उनके दोनों मामा उद्विग्न थे ही कि एक समय यज्ञकर्म के लिए रखी गई एक गाय और एक बकरा भी खो गये ॥९८॥

मामा के डर से वे दोनों अन्य पशुओं को घर न ले जाकर असमय में उन दोनों भागे हुए पशुओं को खोजते-खोजते वन में घुस गये ॥९९॥

उस वन में देखा कि बाघ ने उस बकरे को आधा खाकर छोड़ दिया है और (यह देख) वे दोनों अभागे अफसोस करके बोले कि—॥१००॥

इस बकरे को हमारे मामाओं ने यज्ञ के लिए रखा था। अतः, उसको खो देने से उनका क्रोध दुर्निवार हो उठेगा ॥१०१॥

इसलिए, हमलोग इस बकरे का मांस पकायें और खाकर भूख मिटा लें और शेष (मांस) लेकर भिक्षा से निर्वाह करते हुए कहीं चले जायँ ॥१०२॥

इति सञ्चिन्त्य यावत्तं छागं संस्कुरुतोऽनले।
तावदाजग्मतुः पश्चाद्धावन्तौ मातुलौ तयोः॥१०३॥
ताभ्यां छागं पचन्तौ तौ दृष्टावुत्थाय सम्भ्रमात् ।
दूरात्तद्दर्शनत्रस्तौ पलाय्य ययतुस्ततः॥१०४॥
युवाभ्यां मांसगृघ्नुभ्यां राक्षसं कर्म यत्कृतम् ।
भविष्यथस्ततो ब्रह्मराक्षसौ पिशिताशनौ॥१०५॥
इति तौ मातुलौ क्रुद्धौ तयोः शापं वितेरतुः ।
अभूतां द्विजपुत्रौ च सद्यस्तौ ब्रह्मराक्षसौ॥१०६॥
दंष्ट्राविशङ्कटमुखौ दीप्तकेशौ बुभुक्षितौ।
प्राणिनः प्राप्य खादन्तावटव्यां भ्रेमतुश्च तौ॥१०७।
एकदा तापसं हन्तुं योगिनं तावधावताम् ।
तत्प्रापतुः पिशाचत्वं शप्तौ तेन प्रतिघ्नता॥१०८॥
पिशाचत्वेऽपि तौ हन्तुं हरन्तौ ब्राह्मणस्य गाम् ।
तन्मन्त्रभग्नौ तच्छापाच्चण्डालत्वमवापतुः॥१०९॥
चण्डालत्वे धनुष्पाणी भ्रमन्तौ क्षुन्निपीडितौ ।
कदाचिच्चौरपल्लीं तां प्रापतुर्भोजनार्थिनौ॥११०॥
तत्र दृष्ट्वैव तद्द्वाररक्षकाश्चौरशङ्कया।
चौरावष्टम्य (?) तौ चक्रुश्छिन्नश्रवणनासिकौ॥१११॥
तथाविधौ च तौ बद्धौ निन्युस्ते तस्करास्ततः ।
पार्श्वं प्रधानचौराणां लगुडाहतिताडितौ॥११२॥
तत्र पृष्टौ प्रधानैस्तौ चौरैस्तैर्भयविक्लवौ ।
क्षुद्दुःखावाप्तसंक्लेशं स्ववृत्तान्तमशंसताम्॥११३॥
ततस्ते कृपया मुख्यचौरा बन्धाद्विमुच्य तौ ।
ऊचुस्तिष्ठतमश्नीतमिह मा भूद्भयं च वाम्॥११४॥
अष्टम्यामद्य सेनानीपूजनावसरे युवाम् ।
अस्माकमतिथी प्राप्तौ संविभागमिहार्हथः॥११५॥
इत्युक्त्वार्चितदेवीकाश्चौरास्ते स्वाग्रभोजितौ ।
तत्यजुर्नैव तौ दैवादुत्पन्नप्रीतयोऽन्तिकात्॥११६॥
ततः क्रमेण कुर्वाणौ चौर्यं तैर्दस्युभिः सह ।
महासेनापती तेषां संवृत्तौ तौ स्वशौर्यतः॥११७॥

यह सोचकर वे दोनों बकरे का मांस आग में पका ही रहे थे कि तबतक उनका पीछा करते हुए उनके दोनों मामा आ गये ॥१०३॥

ज्योंही उन्हें मामाओं ने बकरे का मांस पकाते देखा, त्योंही वे दोनों घबराकर उठ खड़े हुए और दूर से ही उनकी नजर से त्रस्त हो वहाँ से भाग निकले ॥१०४॥

दोनों मामाओं ने क्रुद्ध हो उन दोनों को शाप दिया कि मांस के लालची तुम दोनों ने जो यह राक्षस-जैसा काम किया है, इसलिए तुम दोनों मांसभक्षी ब्रह्मराक्षस होओगे। और तब, ब्राह्मण के वे दोनों लड़के तुरत ब्रह्मराक्षस हो गये ॥१०५–१०६॥

दाँतों से विकराल मुँहवाले और धधकते बालोंवाले वे भूखे नरराक्षस प्राणियों को पकड़-पकड़कर खाते हुए वन में घूमने लगे ॥१०७॥

एक समय वे दोनों एक योगी तापस को मारने दौड़े कि उस योगी ने प्रतिहिंसावश शाप दे दिया, जिससे वे पिशाच हो गये ॥१०८॥

पिशाच के जीवन में भी वे एक ब्राह्मण की गाय छीनने लगे कि उसके मन्त्र से भग्न हो उसके शाप से चण्डाल हो गये ॥१०९॥

चण्डाल होने पर वे भूख के मारे हाथ में धनुष लिये घूमते-घामते कभी भोजन प्राप्त करने की इच्छा से चोरों की एक बस्ती में गये ॥११०॥

वहाँ उस बस्ती के द्वाररक्षकों ने देखते ही चोर समझकर उन्हें बाँधकर उनके नाक-कान काट लिये। ॥१११॥

इस प्रकार बाँधे हुए उन दोनों चण्डालों को वे चोर डण्डे मार-मारकर पीटते हुए सरदार के पास ले गये ॥११२॥

सरदार के पूछने पर भय से विह्वल उन चण्डालों ने भूख और दुःखों से क्लेशमय (अपने जीवन का) वृत्तान्त कह सुनाया ॥११३॥

तब सरदार ने दया से उन्हें बन्धन-मुक्त कर दिया और कहा कि तुम दोनों यहाँ रहो और खाओ-पियो, कोई डर मत करो ॥११४॥

(क्योंकि) तुम दोनों आज कार्त्तिकेय की पूजा के अवसर पर अष्टमी तिथि को हमारे अतिथि होकर पहुँचे हो; अतः यहाँ (इस भोज में) भाग पाने के पात्र हो ॥११५॥

यह कहकर उन चोरों ने देवी की पूजा की और स्वयं भोजन करने से पहले उन दोनों को भोजन कराया, और अकस्मात् स्नेह उत्पन्न हो जाने के कारण अपने पास से जाने नहीं दिया ॥११६॥

तब उन चोरों के साथ चोरी करते-करते वे दोनों धीरे-धीरे अपनी शूरता से चोरों के महान् सेनापति हो गये ॥११७॥

एकदा चौरचारोक्तं शैवक्षेत्रं महत्पुरम्।
सेनापती तौ मुषितुं ससैन्यौ जग्मतुर्निशि॥११८॥
अनिमित्तेऽपि दृष्टे तावनिवृत्ताववाप्य तत्।
लुण्ठयामासतुः कृत्स्नं सदेवभुवनं पुरम्॥११९॥
ततस्तद्वासिभिर्देवः क्रन्दितः शरणार्थिभिः।
चौरांस्तान्विकलानन्धांश्चकार कुपितो हरः॥१२०॥
तदकस्माद्विलोक्यैव मत्वा शार्वमनुग्रहम्।
पौराः सम्भूय दस्यूंस्तान्निजघ्नुर्लगुडाश्मभिः॥१२१॥
अदृश्यमानाश्च गणाश्चौरा श्वभ्रेष्ववाक्षिपन्।
कांश्चित्कांश्चिदमृद्नंश्च निहत्य भुवि तस्करान्॥१२२॥
तौ च सेनापती यावज्जनो दृष्ट्वा जिघांसति।
तावत्तौ समपद्येतां श्वानौ पुच्छविनाकृतौ॥१२३॥
तथाभूतौ च तौ स्मृत्वा पूर्वजातिमशङ्कितम्।
नृत्यन्तौ शङ्करस्याग्रे तमेव शरणं श्रितौ॥१२४॥
तद्दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे सविप्रवणिजो जनाः।
गतंचौरभया हृष्टा हसन्तः स्वगृहान्ययुः॥१२५॥
शान्तमोहौ प्रबुद्धौ च श्वानौ तौ शापशान्तये।
त्यक्ताहारावथोद्दिश्य शिवं शिश्रियतुस्तपः॥१२६॥
प्रातः कृतोत्सवास्तत्र पौरास्ते पूजितेश्वराः।
ध्यानस्थौ ददृशुः श्वानौ दत्तेऽप्यन्ने पराङमुखौ॥१२७॥
तथैव दृश्यमानौ तैर्यावत्तौ दिवसान्बहून्।
श्वानौ स्थितौ गणास्तावदेवं शम्भुं व्यजिज्ञपन्॥१२८॥
देव शप्ताविमौ देव्या पिङ्गेश्वरगुहेश्वरौ।
वहुकालं गणौ क्लिष्टौ तत्कृपामेतयोः कुरु॥१२९॥
तच्छ्रुत्वोवाच भगवानिदानीं सारमेयताम्।
परित्यज्य गणावेतौ वायसौ भवतामिति॥१३०॥
ततस्तौ वायसीभूतौ बल्यन्नकृतपारणौ।
गणौ जातिस्मरौ सुष्ठु शिवैकाग्रौ वभूवतुः॥१३१॥
कालेन भक्तितुष्टस्य निदेशाच्छङ्करस्य तौ।
भासावभूतां प्रथमं ततोऽपि च शिखण्डिनौ॥१३२॥

एक समय चोरों के गुप्तचर द्वारा बताये हुए एक बड़े नगर के शिवालय को लूटने के लिए वे दोनों सेनापति रात में सेना-सहित चले ॥११८॥

अपशकुनों के दिखाई देने पर भी न लौटकर वे दोनों वहाँ पहुँचे और देवालय-सहित उस सारे नगर को लूट लिया ॥११९॥

तब शरण के लिए उस नगर के निवासियों ने भगवान् शंकर को पुकारा। भगवान् शंकर ने क्रुद्ध होकर उन चोरों को अन्धा अपंग बना दिया ॥१२०॥

अचानक यह (हाल) देखते ही नगर के लोग इसे भगवान् शंकर का अनुग्रह समझकर एकत्र हो उन चोरों को डण्डों और ढेलों से पीटने लगे ॥१२१॥

और (शिव के) गणों ने अलक्षित रूप से कितने ही चोरों को आकाश में फेंक दिया और कितनों को मार-मारकर धरती पर मसल दिया ॥१२२॥

और, उन दोनों सेनापतियों को जनता ने ज्योंही मारना चाहा, त्योंही वे दोनों कटी पूँछ-वाले कुत्ते हो गये ॥१२३॥

इस प्रकार कुत्ते बने उन दोनों को (अचानक) पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और वे शंका-रहित हो भगवान् शंकर के आगे नाचते हुए उन्हीं की शरण में रहने लगे ॥१२४॥

यह देखकर ब्राह्मणों और बनियों-सहित सभी लोग विस्मित हो, चोरों का डर समाप्त हो जाने से प्रसन्न होकर हँसते-हँसते अपने-अपने घर गये ॥१२५॥

तब वे दोनों कुत्ते, जिनका मोह (अज्ञान) दूर हो गया था और सद्बुद्धि प्राप्त हो गई थी, (अपने) शाप की शान्ति के लिए आहार छोड़कर शिवजी की आराधना में तपस्या करने लगे ॥१२६॥

प्रातःकाल नगर के लोगों ने जब शिव की पूजा की और उत्सव मनाया, तब देखा कि ये दोनों कुत्ते (अपने आगे) दिए हुये अन्न से भी विमुख होकर ध्यान लगाये बैठे हैं ॥१२७॥

जब शिव के गणों ने उन दोनों कुत्तों को उसी प्रकार बहुत दिनों तक टिका देखा, तब (एक दिन) भगवान् शंकर से यह निवेदन किया कि—॥१२८॥

हे देव ! (आपके) गण पिंगेश्वर और गुहेश्वर ने देवी पार्वती का शाप पाकर बहुत दिन कष्ट पाया। अतः (अब) इन दोनों पर कृपा कीजिए ॥१२९॥

यह सुनकर भगवान् शंकर बोले कि अब ये दोनों गण कुत्ते का जीवन छोड़ काग हो जायँ ॥१३०॥

तब वे गण काग हो गये और काक-बलि में दिये हुए अन्न से (व्रत की) पारणा की। उन्हें (अपने पूर्व) जन्मों की कहानी भली भाँति याद रही और वे एकमात्र शिव में ध्यान लगाये रहे ॥१३१॥

कुछ समय के बाद उनकी भक्ति से सन्तुष्ट भगवान् शंकर के आदेश से वे पहले बाज हुए और तब मयूर बने ॥१३२॥

ततोऽपि हंसतां प्राप्तौ तौ कालेन गणेश्वरौ।
तत्रापि परया भक्त्या तावाराधयतां हरम्॥१३३॥
तीर्थस्नानैर्रतैर्ध्यानैः पूजनैस्तोषितेश्वरौ।
हेमरत्नमयौ तौ च सञ्जातौ ज्ञानिनौ तथा॥१३४॥
तावावां पार्वतीशापप्राप्तक्लेशपरम्परौ।
विद्ध्येतौ हंसतां प्राप्तौ पिङ्गेश्वरगुहेश्वरौ॥१३५॥
जयात्मजाभिलाषी यो मणिपुष्पेश्वरो गणः।
देव्या शप्तः स जातस्त्वं ब्रह्मदत्तो नृपो भुवि॥१३६॥
जयासुता सा जातेयं भार्या सोमप्रभा तव।
धूर्जटः स च जातोऽयं मन्त्री ते शिवभूतिकः॥१३७॥
अत एव च सम्प्राप्तज्ञानाभ्याममम्बिकाकृतम्।
स्मृत्वा शापान्तमावाभ्यां दत्तं ते निशि दर्शनम्॥१३८॥
तदुपायक्रमात्सर्वे मिलिताः स्म इमेऽधुना।
आवां चैव प्रदास्यावो युष्मभ्यं ज्ञानमुत्तमम्॥१३९॥
आयात तत्त्रिदशशैलगतं व्रजामः क्षेत्रं यथार्थमचलेन्द्रसुतापतेस्तत्।
सिद्धीश्वरं विदधिरे किल यत्र देवा विद्युद्ध्वजासुरविनाशकृते तपांसि॥१४०॥
जघ्नुस्ते च तमसुरं समरे शर्वप्रसादलब्धेन।
विद्याधरेन्द्रपतिना मुक्ताफलकेतुना सहायेन॥१४१॥
स च मुक्ताफलकेतुः शापकृतं मर्त्यभावमुत्तीर्य।
तदनुग्रहादवापत्पद्मावत्या समागमं भूयः॥१४२॥
तादृशि तत्र क्षेत्रे गत्वा नत्वा हरं प्रयास्यामः।
स्वांग तिमीदृग्विहितो देव्यास्माकं समो हि शापान्तः॥१४३॥
इत्युक्तो दिव्याभ्यां हंसाभ्यां ब्रह्मदत्तभूमिपतिः।
सद्योऽभून्मुक्ताफलकेतुकथाश्रवणकौतुकाक्षिप्तः ॥१४४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे पद्मावतीलम्बके प्रथमस्तरङ्गः।

द्वितीयस्तरङ्गः

ततः स ब्रह्मदत्तस्तौ दिव्यहंसौ नृपोऽब्रवीत्।
कथं विद्युद्ध्वजं मुक्ताफलकेतुर्जघान तम्॥१॥

और तब फिर कालक्रमेण वे दोनों श्रेष्ठगण हंस हो गये और उस जीवन में भी वे परम भक्तिपूर्वक भगवान् शंकर की आराधना करते रहे॥१३३॥

तीर्थस्थानों में स्नान, व्रत, ध्यान और पूजन करते हुए उन हंसों ने शिवजी को प्रसन्न किया और (उनके प्रभाव से) वे स्वर्णरत्नमय और ज्ञानी हो गये॥१३४॥

(हे राजन्!) हमें हंस का रूप धारण किये हुए पिंगेश्वर और गुहेश्वर समझिए, जो पार्वती के शाप से कष्ट-पर-कष्ट प्राप्त करते आ रहे हैं॥१३५॥

जया की पुत्री चन्द्रलेखा से प्रेम करनेवाले मणिपुष्पेश्वर नाम के जिस गण को देवी ने शाप दिया, वही उस पृथ्वी पर आप (राजा ब्रह्मदत्त) के रूप में उत्पन्न हुआ है॥१३६॥

और, जया की बेटी वह चन्द्रलेखा आपकी पत्नी सोमप्रभा के रूप में उत्पन्न हुई है, और वह धूर्जट आपके मन्त्री शिवभूति के रूप में उत्पन्न हुआ है॥१३७॥

और इसीलिए (पूर्वजन्म-सम्बन्धी) ज्ञान प्राप्त किये हुए हम दोनों ने देवी पार्वती के दिये हुए शाप के अन्त को स्मरण करके रात में आपको (अपना) दर्शन दिया॥१३८॥

इस उपाय के जरिये हम लोग अब मिल गये हैं। और, अब हम दोनों (हंस) आप लोगों को श्रेष्ठ ज्ञान (का उपदेश) देंगे॥१३९॥

इसलिए आइए, हम सभी लोग पार्वतीपति भगवान् शंकर के उस क्षेत्र में चलें, जिसका सार्थक नाम 'सिद्धीश्वर' (सिद्धियों का मालिक) है और जहाँ विद्युद्ध्वज नाम के राक्षस के विनाश के लिए देवताओं ने तपस्या की थी॥१४०॥

और, भगवान् शंकर की कृपा से विद्याधरों के चक्रवर्त्ती मुक्ताफलकेतु को सहायक के रूप में प्राप्त करके उस विद्युद्ध्वज राक्षस को मारा॥१४१॥

और, वह मुक्ताफलकेतु भी भगवान् शंकर के अनुग्रह से शापवश प्राप्त मर्त्य-जीवन को पार करके पुनः (अपनी प्रेयसी) पद्मावती के साथ मिलन का सुख प्राप्त किया॥१४२॥

इस प्रकार, उस क्षेत्र में जाकर वहाँ भगवान् शंकर को प्रणाम करके (हम लोग) अपनी गति (वास्तविक स्थिति) प्राप्त करेंगे। देवी पार्वती ने समान रूप से हम सबके शाप का अन्त इसी प्रकार तय किया है॥१४३॥

उन दिव्य हंसों के ऐसा कहने पर राजा ब्रह्मदत्त मुक्ताफल केतु की कहानी सुनने के कुतूहल से तुरन्त आकृष्ट हो गये॥१४४॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के पद्मावतीलम्बक का प्रथम तरंग समाप्त हुआ।

द्वितीय तरंग

तदनन्तर, राजा ब्रह्मदत्त ने उन दिव्य हंसों से कहा कि मुक्ताफलकेतु ने विद्युद्ध्वज को कैसे मारा? ॥१॥

शापमर्त्यत्वमुत्तीर्य प्राप पद्मावतीं कथम् ।
एतत्कथयतां तावत्कर्त्तास्मि प्रकृतं ततः ॥२॥
तच्छ्रुत्वा तत्कथामेवं ताववर्णयतां खगौ ।
आसीद्विद्युत्प्रभो नाम दैत्येन्द्रो देवदुर्जयः ॥३॥
स गत्वा जाह्नवीतीरे सभार्यः पुत्रकाम्यया ।
ब्रह्माणमाराधयितुं चक्रे वर्णशतं तपः ॥४॥
तपस्तुष्टस्य स ततः सुरारिर्ब्रह्मणो वरात् ।
प्राप विद्युद्ध्वजं नाम त्रिदशावध्यमात्मजम् ॥५॥
स बालोऽपि महावीर्यो दैत्यराजसुतो बलैः ।
रक्षमाणं चतुर्दिक्कं दृष्ट्वा स्वपुरमेकदा ॥६॥
वयस्यमेकमप्राक्षीद् भयमत्र कुतः सखे ।
येनेदं रक्ष्यते नित्यं नगरं सैनिकैरिति ॥७॥
ततो वयस्यः सोऽवादीदस्ति नस्त्रिदशेश्वरः ।
प्रतिपक्षस्तदर्थोऽयं पुररक्षणसंविधिः ॥८॥
दन्तिनां दशलक्षाणि रथानां च चतुर्दश ।
त्रिंशल्लक्षाणि चाश्वानां पत्तीनां दशकोटयः ॥९॥
यामे यामेऽभिरक्षन्ति पुरं वारक्रमादिदम् ।
स च प्रहरवारोऽब्दैस्तेषामायाति सप्तभिः ॥१०॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्विद्युद्ध्वजो धिग्राज्यमीदृशम् ।
रक्ष्यते यत्किलान्येषां बाहुभिर्न स्वबाहुना ॥११॥
तत्कृत्वाहं तपस्तीव्रं करिष्यामि तथा यथा ।
भुजनिर्जितशत्रोर्मे न स्यादेषा विडम्बना ॥१२॥
इत्युक्त्वैव वयस्यं तं वारयन्तं निषिध्य सः ।
विद्युद्ध्वजो ययौ पित्रोरनुक्त्वा तपसे वनम् ॥१३॥
बुद्ध्वाथ पितरो स्नेहादन्वागत्य तमूचतुः ।
क्व बालस्त्वं क्व च तपः कष्टं मा पुत्र साहसम् ॥१४॥
जितशत्रुं च राज्यं नस्त्रैलोक्ये नु ततोऽधिकम् ।
किं वाञ्छसि वृथात्मानं शोषयन्किं दुनोषि नौ ॥१५॥
एवं वदन्तौ पितरौ विद्युद्ध्वज उवाच सः ।
बाल्य एवार्जयिष्यामि दिव्यास्त्राणि तपोबलात् ॥१६॥

और, शापजन्य मर्त्य-जीवन को पारकर (पुनः) पद्मावती को कैसे प्राप्त किया? पहले यह कहानी सुनाओ, उसके बाद तुमने जो अभी कहा है, वैसा करूँगा ॥२॥

यह सुनकर वे दोनों पक्षी वह कहानी इस प्रकार सुनाने लगे। विद्युत्प्रभ नाम का एक दैत्यों का राजा था, जो देवताओं से न हारनेवाला था॥३॥

उसने पुत्र की कामना से पत्नी-समेत गंगा के किनारे जाकर ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए सौ वर्षों तक तपस्या की॥४॥

उसकी तपस्या से सन्तुष्ट हुए ब्रह्मा के वर से विद्युद्ध्वज नाम का एक ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ, जिसे देवता नहीं मार सकते थे॥५॥

बालक होते हुए भी परम बलवान् दैत्यराज विद्युत्प्रभ के पुत्र विद्युद्ध्वज ने एक समय चारों ओर से सैनिकों को अपने नगर की रक्षा करते देखकर एक मित्र से पूछा कि यहाँ किसका डर है, जो इस नगर की रक्षा सैनिक निरन्तर करते रहते हैं? ॥६-७॥

तब उस मित्र ने कहा कि देवताओं का राजा इन्द्र हम लोगों का शत्रु है। इसीलिए नगर की रक्षा की यह व्यवस्था है॥८॥

दस लाख हाथी, चौदह लाख रथ और दस करोड़ पैदल सिपाही बारी-बारी से एक-एक पहर इस नगर की रक्षा करते हैं, और उनकी पहरा देने की बारी सात-सात सालों पर आती है॥९-१०॥

यह सुनकर विद्युद्ध्वज बोला कि ऐसे राज्य को धिक्कार है, जिसकी रक्षा अपनी बाहु से न करके दूसरों की बाहु से कराई जाती है॥११॥

अतः, मैं घोर तपस्या करके ऐसा करूँगा कि अपनी बाहु (के बल) से (सभी) शत्रुओं को जीत लूँ और फिर (रक्षा की) ऐसी बिडम्बना न रहे॥१२॥

इतना कहते ही वह विद्युद्ध्वज मना करते हुए अपने मित्र की बात न मानकर और माँ-बाप को (भी) न कहकर तपस्या करने वन चला गया॥१३॥

तदनन्तर, यह समाचार जानकर स्नेहवश उसके माँ-बाप ने पीछे से आकर उससे कहा कि हे पुत्र! कहाँ तुम यह (कोमल) बालक और कहाँ यह कठोर तपस्या! बेटा! ऐसा साहस मत करो॥१४॥

हमारा यह ऐसा राज्य है, जिसके (सभी) शत्रु पराजित हैं। इससे बढ़कर तीनों भवनों में तुम क्या चाहते हो? (इस तपस्या से) अपने को व्यर्थ ही शोषित करते हुए हम दोनों को कष्ट दे रहे हो॥१५॥

इस प्रकार कहते हुए माता-पिता से उस विद्युद्ध्वज ने कहा कि मैं बचपन में ही तपस्या के बल से दिव्य अस्त्रों को प्राप्त करूँगा॥१६॥

निःशत्रु च जगद्राज्यमेतेनैव न वेद्मि किम्।
रक्ष्यते नित्यसन्नद्धैः सैन्यैः स्वपुरमेव यत् ॥१७॥
इत्यादि निश्चयेनोक्त्वा पितरौ च विसृज्य सः।
विद्युद्ध्वजोऽसुरश्चक्रे विरिञ्चाराधनं तपः ॥१८॥
फलाहारोऽम्बुभक्षश्च वायुभुग्वर्जिताशनः।
त्रीणि त्रीणि क्रमात्तस्थौ दैत्यो वर्षशतानि सः ॥१९॥
ततो ब्रह्मा जगत्क्षोभक्षममालोक्य तत्तपः।
एत्यास्त्राणि ददौ तस्मै ब्राह्मादीनि तदर्थिने ॥२०॥
ब्रह्मास्त्रमेतदन्येन नास्त्रेण प्रतिहन्यते।
विना पाशुपतं रौद्रमस्त्रमस्मदगोचरम् ॥२१॥
तदकाले त्वया नैतत्प्रयोक्तव्यं जयैषिणा।
इत्युक्त्वा प्रययौ ब्रह्मा स दैत्यश्चागमद्गृहम् ॥२२॥
ततस्तदुत्सवायातैः सर्वैः स स्वबलैः सह।
विद्युद्ध्वजः समं पित्रा प्रायाच्छक्रजिगीषया ॥२३॥
शक्रस्तदागमं बुद्ध्वा कृतरक्षस्त्रिविष्टपे।
सख्या विद्याधरेन्द्रेण सहितश्चन्द्रकेतुना ॥२४॥
पद्मशेखरसंज्ञेन गन्धर्वाधीश्वरेण च।
सदेवलोकपालोऽग्रे युयुत्सुस्तस्य निर्ययौ ॥२५॥
प्राप विद्युद्ध्वजश्चात्र बलैराच्छादिताम्बरः।
ब्रह्मरुद्रादयश्चैतमाहवं द्रष्टुमाययुः ॥२६॥
ततः प्रववृते युद्धं तयोरुभयसैन्ययोः।
परस्परास्त्रसम्पातनिरुद्धार्कान्धकारितम् ॥२७॥
अमर्षवातक्षुभितो वाहिनीशतनिर्भरः।
लुठद्वाजिगजग्राहो ववृधे समरार्णवः ॥२८॥
द्वन्द्वयुद्धेषु देवानां सम्प्रवृत्तेष्वथासुरैः।
शक्रं विद्युत्प्रभोऽप्यागाद्विद्युद्ध्वजपिता क्रुधा ॥२९॥
अस्त्रप्रत्यस्त्रयुद्धेन शनैस्तेनामरद्विषा।
शक्रोऽभिभूयमानोऽथ तस्मै वज्रमवाक्षिपत् ॥३०॥
वज्राहतः स दैत्योऽत्र पपात गतजीवितः।
विद्युद्ध्वजोऽथ तत्क्रोधादभ्यधावच्छतक्रतुम् ॥३१॥

(यह आपका) संसार-भर का राज्य शत्रु-रहित है, (इसकी सत्यता) इसी से नहीं मान पाता हूँ कि सतत तैयार सैनिक अपनें नगर की रक्षा करते ही रहते हैं? ॥१७॥

ऐसी बहुत सारी बातें दृढतापूर्वक अपने माँ-बाप से कहकर उन्हें विदा कर दिया और स्वयं (इन्द्र की आराधना में) तपस्या करने लगा॥१८॥

वह राक्षस क्रमशः तीन-तीन सौ वर्ष केवल फल खाकर, केवल जल और हवा पीकर और फिर कुछ भी न खाकर रहा॥१९॥

जब ब्रह्मा ने देखा कि उसका तप (सारे) जगत् को डगमगा देने में समर्थ है, तब उन्होंने उस राक्षस के पास आकर उसकी माँग के अनुसार ब्रह्मास्त्र आदि अस्त्र-शस्त्र दे दिये॥२०॥

और कहा कि यह ब्रह्मास्त्र है, केवल भगवान् रुद्र के पाशुपत अस्त्र को छोड़कर यह किसी भी अस्त्र से नहीं रोका जा सकता और वह पाशुपत अस्त्र हमें ज्ञात नहीं॥२१॥

इसलिए, तुम इस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग विजय पाने के लिए असमय में न करना (अर्थात्, जब अन्य उपाय नहीं रहे, तभी करना)। यह कहकर ब्रह्मा चले गये और वह दैत्य भी अपने घर लौट आया॥२२॥

तब उस (अस्त्र-प्राप्ति) के उत्सव में आये हुए अपने सैनिकों के साथ और पिता-सहित वह विद्युद्ध्वज इन्द्र को जीतने के लिए विदा हुआ॥२३॥

(उधर) इन्द्र इस विद्युद्ध्वज के आने (का समाचार) जानकर स्वर्ग में रक्षा (का प्रबन्ध) करके, अपने मित्र विद्याधरराज चन्द्रकेतु और गन्धर्वराज पद्मशेखर के साथ, (सभी) देवताओं और लोकपालों-सहित उस राक्षस से लड़ने की इच्छा से आगे बढ़े॥२४-२५॥

विद्युद्ध्वज भी अपनी सेनाओं से आकाश को आच्छादित किये वहाँ पहुँचा, और ब्रह्मा, रुद्र आदि (देवता) भी उस युद्ध को देखने आये॥२६॥

तब उन दोनों सैन्यों में घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। दोनों ओर से (निरन्तर) अस्त्रों के चलते रहने से सूरज ढक गया और उससे अँधेरा छा गया॥२७॥

क्रोध-रूपी वायु से आन्दोलित-सा युद्ध-रूपी समुद्र उमड़ पड़ा, जिसमें (भरकर) लोटते हुए घोड़े और हाथी ही मीन-मगर जैसे और सौ-सौ सेनाएँ ही बाढ़ की धाराएँ थीं॥२८॥

जब राक्षसों के साथ देवताओं का द्वन्द्वयुद्ध होने लगा, तब विद्युद्ध्वज का पिता विद्युत्प्रभ भी क्रोध के साथ इन्द्र से लड़ने आया॥२९॥

देवताओं के शत्रु उस विद्युत्प्रभ के साथ अस्त्र के बदले अस्त्र की लड़ाई में जब धीरे-धीरे इन्द्र हारने लगे, तब (उन्होंने) उसके ऊपर वज्र फेंका॥३०॥

वज्र से घायल हो वह राक्षस वहाँ निष्प्राण होकर गिर पड़ा। तदनन्तर, विद्युद्ध्वज ने उस (पिता के वध) के क्रोध से (व्याकुल हो) इन्द्र के ऊपर धावा बोल दिया॥३१॥

अप्राणसंशये चादौ तस्मै ब्रह्मास्त्रमक्षिपत् ।
अन्ये च प्राहरन्नन्यैस्तस्मिन्नस्त्रैर्महासुराः ॥३२॥
सोऽथ ध्यात्वेश्वरादिष्टमस्त्रं पाशुपतं क्षणात् ।
अग्रोपस्थितमभ्यर्च्य शक्रश्चिक्षेप शत्रुषु ॥३३॥
तेन कालाग्निनास्त्रेण दग्धं तत्सैन्यमासुरम् ।
विद्युद्ध्वजस्तु बालत्वादहतो मूर्च्छितोऽपतत् ॥३४॥
न हिनस्ति तदस्त्रं हि बालं वृद्धे पराङ्मुखम् ।
ततो लब्धजया देवाः स्वस्थानान्यखिला ययुः ॥३५॥
सोऽपि विद्युद्ध्वजो ध्वस्तः सुचिराल्लब्धचेतनः ।
शोचन्पलाय्य मिलितानवोचच्छेषसैनिकान् ॥३६॥
जयिनोऽपि जिताः स्मोऽद्य ब्रह्मास्त्रे प्रत्युतार्जिते ।
तत्त्यक्ष्याम्याहवे गत्वा शक्रमासाद्य जीवितम् ॥३७॥
हते पितरि शक्ष्यामि न गन्तुं स्वपुरं पुनः ।
इत्युक्तवन्तं तं मन्त्री वृद्धो वक्ति स्म पैतृकः ॥३८॥
अकालयुक्तं ब्रह्मास्त्रमन्यमुक्तास्त्रमन्थरम् ।
अन्यास्त्रासहनैशानमहास्त्रव्याहतं हि तत् ॥३९॥
तल्लब्धजयमाक्षेप्तुं नाकाले शत्रुमर्हसि ।
एवं हि तस्योपचयः स्वनाशश्च कृतो भवेत् ॥४०॥
धीरो हि रक्षन्नात्मानं काले प्राप्य बलं रिपोः ।
मन्युप्रतिक्रियां कृत्वा विश्वश्लाघ्यं यशोऽश्नुते ॥४१॥
इति वृद्धेन तेनोक्तो विद्युद्ध्वज उवाच सः ।
तर्ह्यस्मद्राज्यरक्षार्थं यात यूयमहं पुनः ॥४२॥
तमेवाराधयिष्यामि गत्वा सर्वेश्वरं शिवम् ।
इत्युक्त्वानिच्छतोऽप्येतान्विससर्जैव सोऽनुगान् ॥४३॥
गत्वा च पञ्चभिः सार्धं वयस्यैर्दैत्यपुत्रकैः ।
कैलासमूले गङ्गायास्तीरे सोऽशिश्रियत्तपः ॥४४॥
घर्मे पञ्चाग्निमध्ये च शीते तस्थौ स वारिणि ।
एकं सहस्रं वर्षाणां शिवध्यायी फलाशनः ॥४५॥
मूलाशनो द्वितीयं च तृतीयं वारिभोजनः ।
वायुभक्षश्चतुर्थं च निराहारश्च पञ्चमम् ॥४६॥

और, आदि में ही, जब प्राण पर खतरा नहीं था, इन्द्र के ऊपर ब्रह्मास्त्र फेंक दिया और अन्य बड़े-बड़े राक्षस भी इन्द्र के ऊपर अन्यान्य अस्त्रों से प्रहार करने लगे ॥३२॥

तदनन्तर, इन्द्र ने भी भगवान् शंकर के दिये हुए पाशुपत अस्त्र का ध्यान किया। वह अस्त्र छण-भर में उनके सामने उपस्थित हो गया, और (तब) इन्द्र ने उस (पाशुपत अस्त्र) को पूजकर शत्रुओं के ऊपर फेंक दिया ॥३३॥

प्रलयकालीन अग्नि के समान उस (पाशुपत) अस्त्र ने राक्षस की उस सेना को जला डाला, किन्तु वह विद्युद्ध्वज बालक होने के कारण मारा नहीं गया, (केवल) मूर्च्छित हो गिर पड़ा ॥३४॥

क्योंकि, वह अस्त्र बालक, वृद्ध और (युद्ध से) विमुख को नहीं मारता है। तब सभी देवता विजय प्राप्त करके अपने-अपने स्थान को चले गये ॥३५॥

बेहोश पड़ा वह विद्युद्ध्वज भी बहुत देर पर होश में आकर सोचता रहा और जब बचे हुए सैनिक भागकर उससे मिले, तब उनसे कहा कि— ॥३६॥

(सदा से) विजयी होते हुए भी आज हम ब्रह्मास्त्र प्राप्त करके भी पराजित हो गये। अतः (अब मैं) इन्द्र के पास जाकर (उसके साथ) लड़ाई में प्राण त्याग कर दूँगा ॥३७॥

पिता के मरने पर पुनः अपना नगर न जा सकूँगा। ऐसा कहते हुए उस विद्युद्ध्वज से उसके पिता के एक वृद्ध मन्त्री ने कहा कि— ॥३८॥

इस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग असमय में किया गया। (उसी समय) अन्य (सैनिकों द्वारा) छोड़े गये अस्त्रों से यह मन्द हो गया था, तथा अन्य अस्त्रों का सहन न करनेवाले पाशुपत महास्त्र इसको विफल कर दिया ॥३९॥

इसलिए, विजय प्राप्त किये हुए शत्रु पर तुम्हारा असमय में आक्रमण करना उचित नहीं होगा। ऐसा करने से उस शत्रु की उन्नति होगी और तुम्हारा नाश ही होगा ॥४०॥

धीर व्यक्ति आत्मरक्षा करते हुए समय आने पर शक्ति प्राप्त करके शत्रु से क्रोध का बदला लेते हैं और विश्व-भर में सराहना करने योग्य यश पाते हैं ॥४१॥

उस वृद्ध मन्त्री के ऐसा कहने पर विद्युद्ध्वज ने कहा—तो, हमारे राज्य की रक्षा के लिए आपलोग जाइए! मैं तो पुनः जाकर उन्हीं सर्वेश्वर शिव की आराधना करूँगा। यह कहकर उस विद्युद्ध्वज ने (लौटना) न चाहते हुए भी उन (अपने) अनुगामियों को लौटा ही दिया ॥४२-४३॥

और दैत्यों के पाँच लड़कों के साथ, जो उसके मित्र थे, कैलास के नीचे गंगा के तटपर जाकर तपस्या करने लगा ॥४४॥

ग्रीष्म ऋतु में पाँच अग्नियों के बीच रहते हुए (अर्थात्, चारों दिशाओं में आग जलाकर ऊपर से सूर्य की किरण से तपते हुए) और शीत ऋतु में जल में रहते हुए, शिवजी का ध्यान करते हुए प्रथम एक हजार वर्ष तक फलाहार करके, फिर द्वितीय एक हजार वर्ष केवल मूल खाकर, तृतीय एक हजार वर्ष केवल जल खाकर, चतुर्थ एक हजार वर्ष केवल हवा पीकर और पंचम एक हजार वर्ष कुछ भी न खाकर रहा ॥४५-४६॥

वरदानागतं भूयो बहु मेने न पद्मजम् ।
दृष्टो वरप्रभावस्ते गम्यतामित्युवाच च ॥४७॥
कालं तावन्तमेवान्यन्निराहारस्थितं च तम् ।
मूर्धोद्गतमहाधूमं साक्षाच्छम्भुरुपाययौ ॥४८॥
वृणीष्व वरमित्युक्तस्तेन दैत्यो जगाद सः ।
वध्यामहं रणे शक्रं त्वत्प्रसादाद्विभो इति ॥४९॥
उत्तिष्ठ न विशेषोऽस्ति जितस्य निहतस्य वा ।
तदिन्द्रं जेष्यसि रणे तत्पदे च निवत्स्यसि ॥५०॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे देवः सोऽपि सिद्धं मनोरथम् ।
मत्वा विद्युद्ध्वजः कृत्वा पारणं स्वपुरं ययौ ॥५१॥
तत्राभिनन्दितः पौरैस्तेन पित्र्येण मन्त्रिणा ।
मिलित्वा तत्कृते तप्ततपसा व्यधितोत्सवम् ॥५२॥
आहूयासुरसैन्यानि विहिताहवसंविधिः ।
इन्द्राय प्राहिणोद्दूतं युधि सज्जो भवेति सः ॥५३॥
चचाल च नभः सेनानादनिर्घातदारितम् ।
केतुभिश्छादयंस्तन्वन्निरष्टं स्ववासिनामिव ॥५४॥
इन्द्रोऽपि तं लब्धवरं विज्ञायागतमाकुलः ।
सम्मन्त्र्य देवगुरुणा सुरसैन्यान्युपाह्वयत् ॥५५॥
ततो विद्युद्ध्वजे प्राप्ते तयोरुभयसैन्ययोः ।
स्वेषां परेषां चाज्ञातविभागोऽभून्महाहवः ॥५६॥
सुबाहुप्रमुखा दैत्याः सहायुध्यन्त वायुभिः ।
पिङ्गाक्षाद्याः कुबेरैश्च महामायादयोऽग्निभिः ॥५७।
अयःकायादयः सूर्यैः सिद्धैराकम्पनादयः ।
अन्ये विद्याधरैर्दैत्या गन्धर्वाद्यैस्ततोऽपरे ॥५८॥
एवमासीन्महायुद्धं तेषां वासरविंशतिम् ।
एकविंशे दिने दैत्यैरभज्यन्त रणे सुराः ॥५९॥
ते च भग्नाः प्रविविशुः पलाय्यान्तस्त्रिविष्टपम् ।
ततश्चैरावणारूढो निरगाद्वासवः स्वयम् ॥६०॥
परिवार्य च तं देवसैन्यानि निरगुः पुनः ।
चन्द्रकेतुप्रभृतिभिः सहैव द्युचरेश्वरैः ॥६१॥

ब्रह्मा वर देने के लिए आये, तो उनका कुछ भी खयाल न किया; उल्टे यह कहा कि आपके वर का प्रभाव तो देख लिया। (अतः) आप चले जाइए ॥४७॥

(फिर) वह उतने ही समय (पाँच हजार वर्ष) तक निराहार रहा (और) उसके मस्तक से बहुत अधिक धुआँ निकलने लगा। तब (भगवान्) शंकर प्रत्यक्ष रूप में आये ॥४८॥

(और कहा कि) वर माँगो। शंकर के ऐसा कहने पर वह राक्षस बोला कि हे विश्वव्यापी शंकर! (यह वर दीजिए कि) मैं आपकी कृपा से युद्ध में इन्द्र को मारूँ ॥४९॥

(शंकर ने कहा कि) उठो! मरने और हारने में कोई भेद नहीं है। अतः (मैं यह वर देता हूँ कि) तुम युद्ध में इन्द्र को जीतोगे—और उनके पद पर आसीन होगे ॥५०॥

यह कहकर भगवान् शंकर अन्तर्हित हो गये और वह विद्युद्ध्वज भी अपनी कामना को पूर्ण समझकर पारणा (उपवास का अन्त) करके अपना नगर चला गया ॥५१॥

वहाँ नागरिकों ने उसका अभिनन्दन किया और वह अपने पिता के उस मन्त्री से मिला, जो उस (विद्युद्ध्वज) के (कल्याण के) निमित्त तपस्या कर रहा था, और उसने (इस वर-प्राप्ति के आनन्द में) उत्सव मनाया ॥५२॥

(तब) राक्षसों की सेनाओं को बुलाकर और लड़ाई की व्यवस्था करके उसने इन्द्र के पास दूत भेजा कि लड़ाई के लिए तैयार हो जाओ ॥५३॥

सेनाओं के निनाद के आघात से विदीर्ण आकाश को केतुओं[1] से आच्छादित करके मानों देवताओं के लिए अमंगलजनक बनाते हुए उस राक्षस ने प्रयाण किया ॥५४॥

वर प्राप्त कर वह राक्षस विद्युद्ध्वज (लड़ने) आया है, यह जानकर भगवान् इन्द्र ने भी घबराकर देवताओं के गुरु बृहस्पति से विचार-विमर्श करके (लड़ने के लिए) सेनाओं को बुलाया ॥५५॥

तब विद्युद्ध्वज के पहुँचने पर उन दोनों सेनाओं के बीच ऐसा (घमासान) महायुद्ध होने लगा कि कौन (सैनिक) अपने हैं और कौन पराये, यह भेद भी अलक्षित हो गया ॥५६॥

सुबाहु आदि राक्षस पवनदेवों के साथ, पिंगाक्ष आदि कुबेरों के साथ, महामाय आदि अग्नियों के साथ, अयःकाय आदि सूर्यों के साथ, अकम्पन आदि सिद्धों के साथ, कुछ राक्षस विद्याधरों के साथ तथा कुछ अन्य राक्षस गन्धर्व आदि के साथ लड़ने लगे ॥५७-५८॥

इस प्रकार, इन सबका महायुद्ध बीस दिनों तक चलता रहा। इक्कीसवें दिन राक्षसों के सामने युद्ध में देवता हिम्मत हार बैठे ॥५९॥

और, वे भागकर स्वर्ग में घुस गये। तब इन्द्र ऐरावत हाथी पर सवार हो स्वयं (लड़ने के लिए) निकले ॥६०॥

और, इन्द्र को चारों ओर से घेरे चन्द्रकेतु आदि विद्याधर-राजाओं-सहित उनके सैन्य फिर निकले ॥६१॥

---

[1] यहाँ 'केतु' का अर्थ पताका और केतुग्रह दोनों है।

ततः प्रवृत्ते सङ्ग्रामे हन्यमानासुरामरे।
इन्द्रमभ्यद्रवद्विद्युद्ध्वजः पितृवधक्रुधा ॥६२॥
सोऽस्त्राणि तस्य प्रत्यस्त्रैर्दैत्येन्द्रस्य प्रतिघ्नतः।
चिच्छेद वाणैः कोदण्डं देवराजो मुहुर्मुहुः ॥६३॥
ततो मुद्गरमादाय महेश्वरवरोद्धुरः।
विद्युद्ध्वजस्तं स जवादधावद्वासवं प्रति ॥६४॥
उत्प्लुत्य दन्तयोर्दत्त्वा पादमैरावणस्य च।
आरुरोहास्य कुम्भाग्रं यन्तारं विममाथ च ॥६५॥
ददौ च देवराजाय प्रहारं मुद्गरेण सः।
देवराजश्च मुशलेनाशु प्रतिजघान तम् ॥६६॥
विद्युद्ध्वजोऽपि भूयस्तं मुद्गरेण जघान यत्।
तदिन्द्रः सोऽपतद्वायुरथस्योपरि मूर्च्छितः ॥६७॥
वायुर्मनोजवेनेन्द्रं तं रथेनान्यतोऽहरत्।
विद्युद्ध्वजोऽस्य पश्चाच्च दत्तझम्पोऽपतद्भुवि ॥६८॥
अकालोऽयं रणादिन्द्रमपसारयत द्रुतम्।
इति तत्क्षणमाकाशादुच्चचार सरस्वती ॥६९॥
ततोऽपसारिते शक्रे वायुना रथवेगतः।
विद्युद्ध्वजो रथारूढो यावत्तमनुधावति ॥७०॥
तावदैरावणः क्रुद्धो धावित्वैव निरङ्कुशः।
मथ्नन्विद्राव्य सैन्यानि यतः शक्रस्ततो ययौ ॥७१॥
ततो मुक्त्वा रणं देवसैन्येऽपीन्द्रमनुद्रुते।
निनाय ब्रह्मभवनं भीतां सुरगुरुः शचीम् ॥७२॥
अथ विद्युद्ध्वजः प्राप्य जयं शून्यामवाप्य च।
नदद्भिः सहितः सैन्यैः प्रविवेशामरावतीम् ॥७३॥
इन्द्रोऽपि लब्धसंज्ञः सन्नकालें वीक्ष्य सम्प्रति।
तदैव ब्रह्मभवनं सह सर्वामरैरगात् ॥७४॥
सम्प्रत्यसौ हरवरप्रभावो मा शुचं कृथाः।
प्राप्तासि स्वपदं भूय इत्याश्वास्य पितामहः ॥७५॥
स्वं समाधिस्थलं नाम तस्य सर्वसुखावहम्।
ब्रह्मलोकैकदेशस्थं स्थानं वसतये ददौ ॥७६॥

तदनन्तर, (पुनः) लड़ाई होने लगी। राक्षस और देवता मारे जाने लगे। तब विद्युद्ध्वज पिता के वधजन्य क्रोध से इन्द्र के ऊपर टूट पड़ा ॥६२॥

वह राक्षस इन्द्र के अस्त्रों को अपने प्रत्यस्त्रों (जवाबी अस्त्रों) से काटने लगा और देवराज इन्द्र भी अपने तीरों से उसके धनुष (की डोरी) को बार-बार काटने लगे ॥६३॥

तब शिवजी के वर से उद्धत विद्युद्ध्वज गदा उठाकर इन्द्र की ओर वेग से दौड़ा ॥६४॥

कूदकर ऐरावत हाथी के दाँतों पर पाँव रखकर उसके मस्तक के ऊपर चढ़ गया और महावत को मार डाला ॥६५॥

और देवराज इन्द्र के ऊपर गदा-प्रहार किया, तथा देवराज ने भी (अपने) मूसल से प्रहार कर उसका उत्तर दिया ॥६६॥

फिर, विद्युद्ध्वज ने उनपर गदा से प्रहार किया; उस (प्रहार) से इन्द्र मूर्च्छित हो वायु-देव के रथपर जा गिरे ॥६७॥

इसी क्षण आकाशवाणी हुई कि अभी बुरा समय है, (अतः) इन्द्र को झटपट युद्धभूमि से हटा लीजिए ॥६८॥

वायुदेव (यह आकाशवाणी सुनकर के) इन्द्र को अपने रथ पर मन की भाँति तेज गति से अन्यत्र ले चले। विद्युद्ध्वज उनके ऊपर झपटा और धरती पर गिर पड़ा ॥६९॥

तदनन्तर, वायुदेव द्वारा रथ के (अधिक-से-अधिक) वेग से हटा लिये जानेपर, रथ पर चढ़ विद्युद्ध्वज इन्द्र के पीछे दौड़ा—॥७०॥

तबतक ऐरावत (अपने महावत के मारे जाने के कारण) निरंकुश और क्रुद्ध होकर दौड़ा और सेनाओं को कुचलते हुए वहाँ चला गया, जहाँ इन्द्र गये थे ॥७१॥

जब देवताओं की सेनाएँ भी रणभूमि को छोड़कर इन्द्र के पीछे भाग चलीं, तब देवताओं के गुरु बृहस्पति डरी हुई शची (इन्द्र की पत्नी) को ब्रह्मलोक ले गये ॥७२॥

तदनन्तर, विजयी विद्युद्ध्वज सुनसान देखकर, किलकारती हुई सेनाओं-सहित अमरावती में घुस गया ॥७३॥

इन्द्र भी होश में आकर और वर्त्तमान समय को बुरा समझकर सभी देवताओं के साथ ब्रह्मलोक चले गये ॥७४॥

(ब्रह्मा ने उन्हें आश्वासन दिया कि) अभी (उसने जो कुछ किया है), वह शिवजी के वरदान का प्रभाव है। आप शोक मत कीजिए; (क्योंकि आप) पुनः अपना पद (इन्द्रासन) प्राप्त करेंगे। ऐसा आश्वासन देकर ब्रह्मा ने उन (इन्द्र) के निवास के लिए समाधि-स्थल नाम का अपना स्थान दिया, जो ब्रह्मलोक के एक भाग में स्थित था और सभी सुख-सुविधाएँ देनेवाला था ॥७५-७६॥

तत्रोवास स देवेन्द्रः शच्यैरावणसङ्गतः ।
तद्वाक्याद्वायुलोकं च जग्मुर्विद्याधरेश्वराः ॥७७॥
अधृष्यं सोमलोकं च गन्धर्वपतयो ययुः ।
अन्यलोकान्ययुश्चान्ये त्यक्तस्वस्वनिकेतनाः ॥७८॥
विद्युद्ध्वजश्च देवानां भूमिं भ्रमितडिण्डिमः ।
आक्रम्य बुभुजे राज्यं निर्मर्यादस्त्रिविष्टपे ॥७९॥
अत्रान्तरे कथासन्धौ वायुलोके चिरस्थितः ।
विद्याधरेश्वरश्चन्द्रकेतुरेवं व्यचिन्तयत् ॥८०॥
स्वपदप्रच्युतेनेह मया स्थेयं कियच्चिरम् ।
नास्ति विद्युद्ध्वजस्याद्याप्यस्मच्छत्रोस्तपः क्षयः ॥८१॥
श्रुतं मया यत्स गतः सुहृन्मे पद्मशेखरः ।
गन्धर्वेन्द्रः शिवपुरं तपसे सोमलोकतः ॥८२॥
तस्य प्रसादो देवेन कृतः किमु न वेत्यहम् ।
नाद्यापि जाने तद्बुद्ध्वा ज्ञास्ये कर्त्तव्यमात्मनः ॥८३॥
इति ध्यायति यावच्च तावदभ्याययौ स तम् ।
विद्याधरेन्द्रं गन्धर्वराजः प्राप्तवरः सखा ॥८४॥
स तेनाश्लिष्य विहितस्वागतश्चन्द्रकेतुना ।
पृष्टश्च निजवृत्तान्तं गन्धर्वपतिरभ्यधात् ॥८५॥
गत्वा शिवपुरे शम्भुं तपसाहमतोषयम् ।
स च मामादिशद्गच्छ पुत्रस्ते भवितोत्तमः ॥८६॥
पुनः प्राप्स्यसि राज्यं च कन्यां सर्वोत्तमामपि ।
विद्युद्ध्वजान्तको यस्या वीरो भर्त्ता भविष्यति ॥८७॥
इत्यादिष्टो हरेणाहं तवैतद्वक्तुमागतः ।
गन्धर्वेन्द्रादिति श्रुत्वा चन्द्रकेतुरुवाच सः ॥८८॥
मयाप्येतस्य दुःखस्य शान्त्यै गत्वा महेश्वरः ।
आराध्यस्तमनाराध्य न सन्तीप्सितसिद्धयः ॥८९॥
इति निश्चित्य तपसे दिव्यं क्षेत्रं त्रिशूलिनः ।
मुक्तावल्या समं पत्न्या चन्द्रकेतुर्जगाम सः ॥९०॥
सोऽपि स्ववरवृत्तान्तमिन्द्रायोक्त्वा रिपुक्षये ।
उत्पन्नास्थो ययौ सोमभुवनं पद्मशेखरः ॥९१॥

इन्द्र शची और ऐरावत-सहित वहीं रहन लगे और विद्याधरराज उन (इन्द्र) के कहने से वायुलोक चले गए॥७७॥

और, ये गन्धर्वराज आक्रमण की आशंका से रहित हो चन्द्रलोक चले गये। अन्यान्य लोग भी अपने-अपने निवास-स्थलों को छोड़ और-और लोकों में चले गये॥७८॥

और (उधर) विद्युद्ध्वज ने ढिंढोरा पिटवाकर स्वर्ग को हड़प लिया और निरंकुश हो स्वर्ग के राज्य का भोग करने लगा॥७९॥

कथा-प्रसंग के बीच वायुलोक में चिरकाल से टिका विद्याधरराज चन्द्रकेतु इस प्रकार चिन्ता करने लगा कि—॥८०॥

अपने स्थान से खदेड़ा हुआ मैं यहाँ कितने दिनों तक पड़ा रहूँ? (इतने दिन बीत गये, पर) आज भी हम लोगों के शत्रु विद्युद्ध्वज का तप प्रभावहीन नहीं हुआ है॥८१॥

मैंने सुना है कि मेरा मित्र पद्मशेखर नाम का गन्धर्वराज तपस्या करने के लिए चन्द्रलोक से शिवपुर गया है॥८२॥

भगवान् शंकर उसपर (अभीतक) प्रसन्न हुए या नहीं, यह मैं आज भी नहीं जानता हूँ। इसकी सूचना पाकर ही यह जान सकूँगा कि (अभी) मेरा कर्त्तव्य क्या है॥८३॥

वह विद्याधरराज इस प्रकार सोच ही रहा था कि उसका वह मित्र गन्धर्वराज (भगवान् शंकर से) वर प्राप्त करके उसके पास आ पहुँचा॥८४॥

चन्द्रकेतु ने उसे गले से लगाकर स्वागत किया और (समाचार) पूछा, तब गन्धर्वराज पद्मशेखर अपना वृत्तान्त कहने लगा—॥८५॥

मैंने शिवपुर जाकर (अपनी) तपस्या से शिवजी को प्रसन्न कर लिया है और उन्होंने मुझे आदेश दिया है कि जाओ, तुम्हें एक श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त होगा॥८६॥

तुम पुनः राज्य पाओगे और एक सर्वश्रेष्ठ कन्या भी पाओगे, जिसका वीर पति विद्युद्ध्वज को मारनेवाला होगा॥८७॥

शिवजी का यह आदेश पाकर मैं तुम्हें यह कहने (यहाँ) आया हूँ। गन्धर्वराज पद्मशेखर से यह सुनकर चन्द्रकेतु बोला कि—॥८८॥

मुझे भी इस दुःख की शान्ति के लिए (वहाँ जाकर) शिवजी की आराधना करनी चाहिए; क्योंकि उनकी आराधना किये विना (मन की) कामना पूरी नहीं होती है॥८९॥

ऐसा निश्चय करके मुक्तावली नाम की पत्नी-सहित वह चन्द्रकेतु तपस्या करने के लिए शिवजी के दिव्य क्षेत्र (शिवपुर) चला गया॥९०॥

वह पद्मशेखर भी अपने वर का समाचार इन्द्र को सुनाकर (निश्चिन्त हो) चन्द्रलोक चला गया; (क्योंकि) उसे शत्रु के नाश के विषय में विश्वास उत्पन्न हो गया था॥९१॥

ततः सुरपतिस्तत्र स समाधिस्थले स्थितः।
जातास्थः संक्षये शत्रोरमर्त्यगुरुमस्मरत् ॥९२॥
संस्मृतोपस्थितं तत्र प्रह्वः सत्कृत्य सोऽब्रवीत्।
तपस्तुष्टः शिवः पद्मशेखरस्य समादिशत् ॥९३॥
विद्युद्ध्वजस्य हन्तारं भाविजामातरं किल।
तदस्य दुष्कृतस्यान्तस्तावन्नः किं त्वहं चिरम् ॥९४॥
निवसन्निह निर्विण्णः स्वपदभ्रंशदुःस्थितः।
तच्चिन्तयात्र भगवन्नुपायं शीघ्रकारिणाम् ॥९५॥
इति देवगुरुः शक्राद्वचः श्रुत्वा जगाद तम्।
कामं तस्य रिपोः प्राप्तो दुष्कृतैस्तपसः क्षयः ॥९६॥
तस्मादवसरोऽस्माकं स्वप्रयत्नविधेरयम्।
तदेहि ब्रह्मणे ब्रूमः स उपायं वदिष्यति ॥९७॥
इत्युक्तो गुरुणा शक्रस्तद्युक्तो ब्रह्मणोऽन्तिकम्।
ययौ प्रणम्य तस्मै च शशंस स्वमनोगतम् ॥९८॥
ततः स्वयम्भूरवदच्चिन्तैषा न ममापि किम्।
किं तु शर्वकृतं शर्वेणैव शक्यं व्यपोहितुम् ॥९९॥
स च देवश्चिरं प्राप्यस्तदेव निकटं हरेः।
तदभिन्नात्मनो यामः सोऽभ्युपायं वदिष्यति ॥१००॥
इति सम्मन्त्र्य स ब्रह्मा शक्रः सुरगुरुश्च सः।
हंसयानमुपारुह्य श्वेतद्वीपमुपागमन् ॥१०१॥
यत्र सर्वो जनः शङ्खचक्रपद्मगदाधरः।
चतुर्भुजश्च मूर्त्तौ च चित्ते च भगवन्मयः ॥१०२॥
तत्र ते ददृशुर्देवं महारत्नगृहान्तरे।
सेविताङ्घ्रि कमलया शेषशय्यागतं हरिम् ॥१०३॥
कृतप्रणामास्तस्मै ते यथार्हं तेन सत्कृताः।
देवर्षिवन्दिताश्चात्र यथोचितमुपाविशन् ॥१०४॥
भगवत्पृष्टकुशला देवास्ते तं व्यजिज्ञपन्।
कुशलं किमिवास्माकं देव विद्युद्ध्वजे सति ॥१०५॥
जानात्येव हि तत्सर्वं देवो यत्तेन नः कृतम्।
तदर्थश्चागमोऽयं नस्तद्देवो वेत्त्यतः परम् ॥१०६॥

तब समाधिस्थल (नाम के स्थान) में वर्त्तमान देवराज इन्द्र को भी यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि (अब) शत्रु का नाश (होगा ही), और उन्होंने देवगुरु बृहस्पति का स्मरण किया ॥९२॥

स्मरण करते ही वहाँ उपस्थित देवगुरु बृहस्पति का सत्कार करके इन्द्र ने (उनसे) नम्रतापूर्वक कहा कि तपस्या से प्रसन्न हुए शिवजी ने पद्मशेखर को यह वर दिया है कि—॥९३॥

विद्युद्ध्वज को मारनेवाला तुम्हारा जमाई होगा। अतः, हमलोगों के कष्ट का अन्त तो होगा ही; किन्तु मैं अपने पद से च्युत होने से दुःखी हो चिरकाल तक यहाँ रहते-रहते उद्विग्न हो गया हूँ। इसलिए, आप शीघ्र सफल होनेवाला कोई उपाय सोचिए ॥९४-९५॥

इन्द्र का यह वचन सुनकर देवगुरु बृहस्पति ने उनसे कहा कि विद्युद्ध्वज का तप उसके कुकर्मों से स्वयं ही क्षीण हो गया है ॥९६॥

अतः, हम लोगों के प्रयत्न करने का यही अवसर है। इसलिए, चलिए, हमलोग ब्रह्मा से कहें, वे (हमें कोई-न-कोई) उपाय अवश्य बतायेंगे ॥९७॥

बृहस्पति के ऐसा कहने पर इन्द्र उनके साथ ब्रह्मा के पास गये और उन्हें प्रणाम करके अपने मन की बात कह सुनाई ॥९८॥

तब ब्रह्मा ने कहा कि मुझे भी यह चिन्ता नहीं है क्या? किन्तु, (भगवान्) शिवजी ने जो किया है, उसको शिवजी ही दूर कर सकते हैं ॥९९॥

और, उन भगवान् शंकर (की प्रसन्नता) को बहुत दिन (तपस्या करने) के बाद प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए, हम भगवान् विष्णु के निकट जायँ, (क्योंकि वस्तुतः) हर और हरि में भेद नहीं है, वे ही (कोई) उपाय बतायेंगे ॥१००॥

ब्रह्मा, इन्द्र और बृहस्पति इस प्रकार विचार करके, हंस की सवारी पर चढ़कर श्वेत-द्वीप गये ॥१०१॥

जहाँ सभी लोग शंख, चक्र, गदा और कमल के फूल धारण किये चार हाथोंवाले होते हैं तथा आकार से और चित्त से भी विष्णुमय रहते हैं ॥१०२॥

उस श्वेत द्वीप में उन्होंने भगवान् विष्णु को देखा, जो रत्नमय विशाल भवन में शेष-शय्या पर आसीन थे और लक्ष्मी पाँव पलोट रही थीं ॥१०३॥

उन्होंने विष्णु को प्रणाम किया। विष्णु ने उनका यथोचित सत्कार किया। देवताओं और ऋषियों ने उनकी वन्दना की। वे यथोचित स्थानों पर बैठे ॥१०४॥

भगवान् विष्णु ने कुशल-समाचार पूछा। तब उन्होंने विष्णु से कहा कि हे भगवन्! विद्युद्ध्वज के रहते हम लोगों की कुशलता कैसी? ॥१०५॥

उसने हमलोगों का जो (हाल) किया है, वह सब आप जानते ही हैं। इसीलिए, हम लोगों का यहाँ आना हुआ है। इसके बाद क्या होगा, वह आप ही जानते हैं ॥१०६॥

एवमुक्तवतो देवांस्तानुवाच जनार्दनः ।
किं न जानामि यद्ब्रह्मणा स्थितिस्तेनासुरेण मे ॥१०७॥
किं तु स्वयं यदीशेन कृतं त्रिपुरघातिना ।
तत्तेनैवान्यथा कर्त्तुं शक्यते न पुनर्मया ॥१०८॥
तत एव च तस्य स्यात्क्षयो दैत्यस्य पाप्मनः ।
त्वरध्वं यदि तावद्वो वच्म्युपायं निशम्यताम् ॥१०९॥
अस्ति माहेश्वरं क्षेत्रं दिव्यं सिद्धीश्वराभिधम् ।
तत्र सम्प्राप्यते देवो नित्यसन्निहितो हरः ॥११०॥
एतच्च दर्शितज्वालालिङ्गरूपः स एव मे ।
पूर्वं प्रजापतेश्च प्राग्रहस्यमवदद्विभुः ॥१११॥
तदेत तत्र गत्वा तं तपसा प्रार्थयामहे ।
स एवोपद्रवमिमं जगतां शमयिष्यति ॥११२॥
इत्यादिष्टवता तेन देवेन सह विष्णुना ।
ते तार्क्ष्यहंसयानाभ्यां सर्वे सिद्धीश्वरं ययुः ॥११३॥
असंस्पृष्टे जरामृत्युरोगैः सौख्यैकधामनि ।
हेमरत्नमया यत्र मृगपक्षिद्रुमा अपि ॥११४॥
तत्रान्तर्दर्शितान्योन्यमूर्त्तिभेदं क्षणे क्षणे ।
अन्यान्यरत्नरूपं च लिङ्गमभ्यर्च्य शूलिनः ॥११५॥
तत्परास्ते हरिर्ब्रह्मा देवेन्द्रो दिविषद्गुरुः ।
तेपिरे हरमुद्दिश्य चत्वारो दुश्चरं तपः ॥११६॥
अत्रान्तरे च तीव्रेण तपसा तोषितः शिवः ।
चन्द्रकेतोर्वरं तस्य विद्याधरपतेरदात् ॥११७॥
उत्तिष्ठोत्पत्स्यते राजन्महावीरः स ते सुतः ।
विद्युद्ध्वजं यः समरे युष्मच्छत्रुं हनिष्यति ॥११८॥
शापावतीर्णो मानुष्ये कृतामरहितश्च यः ।
गन्धर्वराजदुहितुः पद्मावत्यास्तपोबलात् ॥११९॥
पुनः स्वपदमासाद्य तयैव सह भार्यया ।
सर्वं विद्याधरैश्वर्यं दश कल्पान्करिष्यति ॥१२०॥
इति दत्तवरे देवे तिरोभूते सभार्यकः ।
चन्द्रकेतुस्तदैवागात्स वायुभुवनं पुनः ॥१२१॥

ऐसा कहने पर विष्णु ने उन देवों से कहा कि हमारी स्थिति को जो उस राक्षस विद्युद्ध्वज ने बिगाड़ दिया है, वह क्या मैं नहीं जानता हूँ ? ॥१०७॥

परन्तु, त्रिपुर नामक राक्षस को मारनेवाले भगवान् शिव ने जो स्वयं किया है, उसको वे ही बदल सकते हैं, न कि मैं॥१०८॥

उन्हीं शिवजी से उस पापी राक्षस का विनाश होगा। यदि आप लोग जल्दी करें, तो (एक) उपाय बताऊँ, सुनिए॥१०९॥

सिद्धीश्वर नाम का शिवजी का एक दिव्य क्षेत्र है। वहाँ सदा शिवजी वर्त्तमान रहते हैं, अतः वह प्राप्त होते हैं ॥११०॥

प्राचीन काल में भगवान् शंकर ने अपने ज्योतिर्लिंग-स्वरूप का दर्शन देकर यह रहस्य पहले मुझको और ब्रह्मा को बताया था॥१११॥

इसलिए आइए, हमलोग वहाँ जाकर तपस्या के द्वारा शंकर की प्रार्थना करें। वे ही (तीनों) लोकों के इस उपद्रव को शान्त करेंगे॥११२॥

भगवान् विष्णु के ऐसा कहने पर वे सभी लोग विष्णु के साथ गरुड और हंस की सवारी से (उस) सिद्धीश्वर (नाम के क्षेत्र) में गये॥११३॥

जो बुढ़ापा, मृत्यु तथा रोग से अछूता है और एकमात्र सुख-भोग का स्थान है, और जहाँ पशु, पक्षी और वृक्ष भी स्वर्णमय और रत्नमय हैं॥११४॥

वहाँ उन देवताओं ने शिव के उस ज्योतिर्लिंग का पूजन किया, जिसके भीतर क्षण-क्षण में शिव की भिन्न-भिन्न मूर्त्तियाँ झलकती थीं तथा जो (क्षण-क्षण में) भिन्न-भिन्न रत्नों का होता रहता था॥११५॥

(और तब) विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र और बृहस्पति ये चारों देवता तत्पर हो शिवजी (को प्रसन्न करने) के उद्देश्य से कठोर तपस्या करने लगे॥११६॥

इसी बीच घोर तपस्या से सन्तुष्ट हो भगवान् शंकर ने उस विद्याधरराज चन्द्रकेतु को वर दिया कि—॥११७॥

उठो; तुम्हारे घर एक ऐसा महान् वीर पुत्र जन्म लेगा, जो तुम लोगों के शत्रु विद्युद्ध्वज को युद्ध में मारेगा॥११८॥

जो शाप के कारण (पहले) मनुष्य-योनि में जन्म लेगा और देवताओं की भलाई करेगा, और तब गन्धर्वराज की पुत्री पद्मावती की तपस्या के बल से पुनः अपना पद प्राप्त कर पद्मावती के साथ चालीस युगों तक विद्याधरों का राज्य भोगेगा॥११९-१२०॥

जब भगवान् शंकर इस प्रकार वर देकर अन्तर्हित हो गये, तभी पत्नी-सहित वह चन्द्रकेतु फिर वायुलोक चला आया॥१२१॥

तावत्तीव्र तपस्तुष्टस्तत्र सिद्धीश्वरेऽपि तान्।
नारायणादींल्लिङ्गान्तर्दृष्टो हृष्टान्हरोऽब्रवीत् ॥१२२॥
उत्तिष्ठतालं क्लेशेन युष्मत्पक्ष्येण तोषितः।
विद्याधरेश्वरेणाहं तपसा चन्द्रकेतुना ॥१२३॥
मदंशसम्भवस्तस्य वीरः पुत्रो जनिष्यते।
यस्तं विद्युद्ध्वजं दैत्यं हनिष्यत्यचिराद्रणे ॥१२४॥
ततोऽन्यदेवकार्यार्थं मानुष्ये शापतश्च्युतम्।
पद्मशेखरगन्धर्वसुता तं प्रोद्धरिष्यति ॥१२५॥
पद्मावत्याख्यया सार्धं तया गौर्यंशजातया।
पत्न्या द्युचरसाम्राज्यं कृत्वा मामेव चैष्यति ॥१२६॥
तत्सहध्वं मनागेषः कामः सम्पन्न एव वः।
इत्यच्युतादीनुक्त्वा ताञ्जगामादर्शनं शिवाः ॥१२७॥
ततो हृष्टो हरिर्ब्रह्मा शक्रामरगुरू च तौ।
जग्मुः स्थानानि तान्येव ते भूयो येभ्य आगताः ॥१२८॥
अथ विद्याधरेन्द्रस्य तस्य मुक्तावली प्रिया।
चन्द्रकेतोः सगर्भाभूत्काले च सुषुवे सुतम् ॥१२९॥
प्रकाशयन्तं ककुभो दुराधर्षेण तेजसा।
तामसोपद्रवं हर्तुं बालमर्कमिवोदितम् ॥१३०॥
जाते च तस्मिन्नित्यत्र भारती शुश्रुवे दिवः।
चन्द्रकेतो सुतोऽयं ते हन्ता विद्युद्ध्वजासुरम् ॥१३१।
नाम्ना च विद्ध्यमुं मुक्ताफलकेतुं द्विषन्तपम्।
इत्युक्त्वा चन्द्रकेतुं सा सोत्सवं विरराम वाक् ॥१३२।
पपात पुष्पवृष्टिश्च ज्ञातार्थः पद्मशेखरः।
शक्रश्चाययतुस्तत्र ये च च्छन्नाः स्थिताः सुराः ॥१३३।
हरप्रसादवृत्तान्तमाचक्षाणाः परस्परम्।
अनुभूय प्रमोदं ते स्वस्थानान्येव शिश्रियुः ॥१३४।
स मुक्ताफलकेतुश्च सर्वसंस्कारसंस्कृतः।
सहानन्देन देवानां क्रमाद्वृद्धिमुपागमत् ॥१३५।
अथ तस्य दिनैः कन्या पुत्रोत्पत्तेरनन्तरम्।
गन्धर्वाधिपतेः पद्मशेखरस्याप्यजायत ॥१३६।

तबतक (इधर) सिद्धीश्वर-क्षेत्र में भी घोर तपस्या से सन्तुष्ट हो भगवान् शंकर ने उन विष्णु आदि देवताओं को उस ज्योतिर्लिंग के भीतर से दर्शन देकर (अपने दर्शन से) आनन्दित हुए उन देवताओं से कहा कि—॥१२२॥

उठिए, (अब) कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है; (क्योंकि) आप लोगों के पक्ष के विद्याधरराज चन्द्रकेतु ने (अपनी) तपस्या से मुझे प्रसन्न कर लिया है॥१२३॥

मेरे अंश से उसे एक वीर पुत्र उत्पन्न होगा, जो उस विद्युद्ध्वज राक्षस को युद्ध में अविलम्ब मारेगा॥१२४॥

तब वह शापवश देवता के किसी अन्य कार्य के निमित्त मनुष्य-योनि में जा गिरेगा और गन्धर्वराज पद्मशेखर की पुत्री (मर्त्यलोक से) उसका उद्धार करेगी॥१२५॥

और, पद्मावती नाम की उस स्त्री के साथ, जो गौरी के अंश से उत्पन्न है, विद्याधरों का सम्राट् रहकर (फिर) मेरे पास ही लौट आयगा॥१२६॥

अतः, आप लोग थोड़ा (और) सहन कीजिए। आप लोगों की यह कामना मानों पूरी ही हो चुकी। विष्णु आदि देवताओं से ऐसा कहकर शिवजी अन्तर्हित हो गये॥१२७॥

तदनन्तर विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र और बृहस्पति पुनः उन्हीं स्थानों में चले गये, जहाँ से आये थे॥१२८॥

इसके बाद विद्याधरराज चन्द्रकेतु की पत्नी मुक्तावली गर्भवती हुई और यथासमय उसने एक पुत्र को जना॥१२९॥

(अपने) दुर्धर्ष तेज से (दसों) दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ वह (लगता था), मानों अन्धकार-रूपी उपद्रव को दूर करने के लिए बाल-रवि उदित हुआ हो॥१३०॥

उसके जन्म लेते ही यह आकाशवाणी सुनाई पड़ी कि 'हे राजन्! यही तुम्हारा पुत्र विद्युद्ध्वज राक्षस को मारेगा॥१३१॥

शत्रु को सतानेवाले इस (लड़के) का नाम मुक्ताफलकेतु जानो।' उल्लासपूर्ण चन्द्रकेतु को इतना कहकर वह आकाशवाणी विरत हो गई॥१३२॥

और, फूलों की वर्षा होने लगी। यह समाचार जानकर पद्मशेखर और इन्द्र वहाँ आये और जो-जो देवता छिपे थे, वे भी आये॥१३३॥

और आपस में शिवजी के प्रसन्न होने की बातें करते हुए प्रमुदित हो अपने-अपने स्थान चले गये॥१३४॥

तब धीरे-धीरे उस मुक्ताफलकेतु के उपनयनादि सभी संस्कार कराये गये और वह बढ़ने लगा, तथा उसके (बढ़ने के) साथ ही देवताओं का आनन्द भी बढ़ने लगा॥१३५॥

चन्द्रकेतु के पुत्र होने के अनन्तर, कुछ समय में गन्धर्वराज पद्मशेखर के भी एक कन्या हुई॥१३६॥

गन्धर्वेन्द्र सुतयं ते भार्या विद्युद्ध्वजद्विषः।
विद्याधरपतेः पद्मावती नाम भविष्यति ॥१३७॥
इति तस्यां च जातायां गगनादुदगाद्वचः।
ततः पद्मावती सात्र क्रमात्कन्या व्यवर्धत ॥१३८॥
सुधांशुलोकसम्भूतिसङ्क्रान्तेन तरङ्गिणा।
अमृतेनेव लावण्यविसरेण विराजिता ॥१३९॥
सोऽपि बालोऽभवन्मुक्ताफलकेतुर्महामतिः।
व्रतोपवासादि तपश्चक्रे शिवमयः सदा ॥१४०॥
एकदा ध्याननिष्ठं तं द्वादशाहमुपोषितम्।
प्रत्यक्षीभूय भगवाञ्जगाद गिरिजापतिः ॥१४१॥
तुष्टोऽस्मि तेऽनया भक्त्या मत्प्रसादेन तत्तव।
आविर्भविष्यन्त्यस्त्राणि विद्याः सर्वकलास्तथा ॥१४२॥
अपराजितसंज्ञं च खङ्गमेतं गृहाण मे।
कर्त्तासि येन साम्राज्यं विपक्षैरपराजितः ॥१४३॥
इत्युक्त्वा स विभुस्तस्मै खङ्गं दत्त्वा तिरोदधे।
स चाशु राजपुत्रोऽभून्महास्त्रबलविक्रमः ॥१४४॥
अत्रान्तरे कदाचित्स विद्युद्ध्वजमहासुरः।
त्रिदिवस्थो जलक्रीडां चक्रे द्युसरिदम्भसि ॥१४५॥
ददर्श स जलं तस्याः कपिशं पुण्यरेणुभिः।
मदगन्धानुविद्धं च वीचिविक्षोभितं महत् ॥१४६॥
ततो भुजमदाध्मातः स जगाद निजानुगान्।
ममाप्युपरिकः क्रीडत्यम्भोभिर्यात पश्यत ॥१४७॥
तच्छ्रुत्वोपरि यातास्ते पश्यन्ति स्मासुरा जले।
क्रीडन्तं वृषभं शार्वं सह शाक्रेण दन्तिना ॥१४८॥
आगत्य च तमूचुस्ते दैत्येन्द्रं देव शाम्भवः।
उपर्येत्य वृषः क्रीडत्यैरावणयुतोऽम्भसि ॥१४९॥
तन्माल्यैरावणमदव्यामिश्रितमिदं पयः।
श्रुत्वेत्यगणयञ्शार्वं मदाच्चुक्रोध सोऽसुरः ॥१५०॥
स्वदुष्कृतपरीपाकमूढो भृत्यानुवाच च।
यातानयत तौ बद्ध्वा वृषभैरावणाविति ॥१५१॥

और, उस कन्या के उत्पन्न होने पर भी आकाशवाणी हुई कि हे गन्धर्वराज पद्मशेखर! यह पद्मावती नाम की तुम्हारी पुत्री विद्युद्ध्वज के शत्रु विद्याधरराज की पत्नी होगी? इसके बाद वह कन्या पद्मावती धीरे-धीरे बढ़ने लगी॥१३७-१३८॥

(क्रमशः) शरीर-सौन्दर्य के बढ़ने से वह इस तरह शोभित हुई, मानों चन्द्रलोक में उत्पन्न होने के कारण देह में लगा हुआ अमृत ही तरंगित हो रहा हो॥१३९॥

(क्रमशः) वह बालक मुक्ताफलकेतु भी परम बुद्धिमान् होता गया और सतत शिव में तन्मय रहते हुए व्रत, उपवास आदि तपस्या करने लगा॥१४०॥

एक समय, जब वह बारह दिनों से उपवास में रहकर (शिव का) ध्यान लगाकर बैठा हुआ था तब गौरीपति भगवान् शंकर ने उसे साक्षात् दर्शन देकर कहा कि—॥१४१॥

(हे मुक्ताफलकेतु!) तुम्हारी इस भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ। अतः, मेरी कृपा से तुम्हें सभी अस्त्र अपने-आप ज्ञात हो जायेंगे, सकल विद्याएँ भी प्रकट हो जायेंगी॥१४२॥

यह अपराजित नाम का मेरा खड्ग लो, (केवल) इसीसे तुम शत्रुओं से अपराजित रहते हुए साम्राज्य करोगे॥१४३॥

यह कहकर शिवजी उसे अपना खड्ग देकर अन्तर्हित हो गये, और तुरत विद्याधरराज का पुत्र वह मुक्ताफलकेतु (उन) अस्त्रों के बल से महान् पराक्रमी हो गया॥१४४॥

इसी बीच किसी समय स्वर्ग में रहते हुए वह महाराक्षस विद्युद्ध्वज स्वर्गंगा के जल में जलकेलि कर रहा था॥१४५॥

और (जलकेलि करते हुए) देखा कि (नदी का) पानी फूलों के पराग से पीला-सा हो गया, हाथी के मद की गन्ध से संयुक्त और प्रबल तरंगों से आन्दोलित है॥१४६॥

तब बाहुबल के अभिमान से फूला हुआ वह विद्युद्ध्वज अपने अनुचरों से बोला कि जाकर देखो, मुझसे भी ऊपर (नदी के) जल में यह कौन केलि कर रहा है॥१४७॥

यह सुनकर वे अनुचर (नदी के) ऊपर की ओर गये और वहाँ देखा कि शिवजी का साँड़ ऐरावत के साथ खेल रहा है॥१४८॥

और, लौटकर उन अनुचरों ने दैत्यराज विद्युद्ध्वज से कहा कि हे महाराज! शिवजी का साँड़ (नन्दी) ऐरावत के साथ ऊपर जाकर जल में खेल रहा है॥१४९॥

इसीलिए, उसी फूल-मालाओं तथा ऐरावत के मद से मिला हुआ यह जल (ऐसा) हो गया है। यह सुनकर अभिमान-वश शिवजी को (भी) कुछ न समझता हुआ वह राक्षस विद्युद्ध्वज क्रुद्ध हो उठा॥१५०॥

और अपने पाप-कर्मों के परिणाम-वश ज्ञानहीन हो अपने अनुचरों से कहा कि जाओ नन्दी तथा ऐरावत को बाँधकर ले आओ॥१५१॥

ततो गत्वा जिघृक्षन्ति यावत्तौ ते किलासुराः ।
तावत्ताञ्जघ्नतुः क्रुद्धौ तौ प्रधाव्य वृषद्विषौ ॥१५२॥
हतशेषाश्च जगदुर्गत्वा विद्युद्ध्वजाय तत् ।
स क्रुद्धः प्राहिणोत्तौ प्रत्यासुरं सुमहद्बलम् ॥१५३॥
मथित्वा तच्च तत्सैन्यं पापपाकागतक्षयम् ।
वृषो हरान्तिकं प्रायादिन्द्रमैरावणोऽभ्यगात् ॥१५४॥

इन्द्रोऽथ तस्य दितिजस्य विचेष्टितं तदैरावणानुचररक्षिगणान्निशम्य ।
सम्प्राप्तनाशसमयं तममन्यतारिं गौरीपतेर्भगवतोऽपि कृतावमानम् ॥१५५॥

आवेद्य तत्कमलजाय ततः समेत्य विद्याधरादिसहितः सह देवसैन्यैः ।
हन्तुं रिपुं तमधिरूढसुरेभमुख्यः शक्रः शचीरचितमाङ्गलिकः प्रतस्थे ॥१५६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे पद्मावतीलम्बके द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

ततस्त्रिविष्टपं प्राप्य स शक्रः पर्यवेष्टयत् ।
हरानुग्रहसोत्साहैर्लब्धकालबलैर्बलैः ॥१॥
तद्दृष्ट्वा निर्ययौ विद्युद्ध्वजः सन्नद्धसैनिकः ।
प्रावर्त्तंस्तानिमित्तानि तस्य निर्गच्छतस्तदा ॥२॥

ध्वजेषु विद्युतः पेतुर्भ्रेमुर्गृध्रास्तथोपरि ।
अभज्यन्त महाच्छत्राण्यशिवं चारुवञ्शिवाः ॥३॥
तान्यरिष्टान्यगणयन्निरगादेव सोऽसुरः ।
देवासुराणां च ततः प्रावर्त्तत महाहवः ॥४॥

स मुक्ताफलकेतुः किं नाद्याप्येतीति वज्रिणा ।
पृष्टोऽथ चन्द्रकेतुस्तं खेचरेन्द्रो व्यजिज्ञपत् ॥५॥
विस्मृत्य त्वरया तस्य नोक्तमागच्छता मया ।
स तु बुद्ध्वा ध्रुवं पश्चादागच्छत्येव सत्वरम् ॥६॥
एतच्छ्रुत्वा स देवेन्द्रश्चतुरं वायुसारथिम् ।
श्रीमुक्ताफलकेतुं तमानेतुं प्राहिणोद्रथम् ॥७॥
पिता च तत्समं तस्य चन्द्रकेतुः ससैनिकम् ।
आह्वानाय प्रतीहारं विससर्ज रथानुगम् ॥८॥

तब उन अनुचर राक्षसों ने ज्योंही उन्हें पकड़ना चाहा, त्योंही उन्होंने क्रुद्ध होकर उन राक्षसों को मार डाला ॥१५२॥

मरने से बचे हुए (कुछ) राक्षसों ने जाकर विद्युद्ध्वज से यह (हाल) सुनाया। क्रुद्ध हो उस विद्युद्ध्वज ने राक्षसों की बहुत बड़ी सेना को उन दोनों की ओर भेजा ॥१५३॥

उस सेना को, जिसका विनाश पाप के फलस्वरूप (निकट) आ गया था, तितर-बितर करके नान्दी शिव के पास चला गया और ऐरावत इन्द्र के निकट ॥१५४॥

तदनन्तर, ऐरावत के पीछे चलनेवाले रक्षकों से उस राक्षस विद्युद्ध्वज की करनी सुनकर इन्द्र समझने लगे कि उस शत्रु के नाश का समय अब आ गया; क्योंकि उसने गौरीपति भगवान् शिव का भी अपमान किया ॥१५५॥

यह समाचार ब्रह्मा को सुनाकर इन्द्र विद्याधर आदि के साथ एकत्र होकर, देवताओं की सेना को साथ ले, ऐरावत पर सवार हुए; और शची ने (प्रस्थानकालिक) मंगल-विधि की; तब इन्द्र ने उस शत्रु को मारने के लिए प्रस्थान किया ॥१५६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के पद्मावती लम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त हुआ।

तृतीय तरंग

इसके बाद इन्द्र स्वर्ग पहुँचे और उसे अपनी सेनाओं से घिरवा लिया; क्योंकि देवसेनाएँ शिवजी की कृपा से उत्साहपूर्ण हो चुकी थीं, और (समुचित) अवसर और बल भी प्राप्त कर चुकी थीं ॥१॥

यह देखकर विद्युद्ध्वज सेनाएँ सजाकर निकला और उसके निकलते समय (बहुत-से) अपशकुन होने लगे ॥२॥

पताकाओं के ऊपर बिजलियाँ गिरने लगीं; ऊपर गीध मँडराने लगे; महाछत्र टूटने लगे; और स्यार अमंगलजनक शब्द करने लगे ॥३॥

इन अपशकुनों की परवाह न करके वह राक्षस विद्युद्ध्वज (युद्ध के लिए) निकल ही पड़ा; और तब देवताओं और राक्षसों के बीच महायुद्ध होने लगा ॥४॥

तब इन्द्र ने चन्द्रकेतु से पूछा कि वह मुक्ताफलकेतु अब भी क्यों नहीं आ रहा है? (ऐसा पूछने पर) विद्याधरराज चन्द्रकेतु ने उनसे कहा कि—॥५॥

हड़बड़ी में आते समय मैं उससे कहना भूल गया। वह तो यह (युद्ध का समाचार) जानकर पीछे अविलम्ब निश्चय आयगा ही ॥६॥

यह सुनकर देवराज इन्द्र ने उस चतुर मुक्ताफलकेतु को लाने के लिए एक रथ भेजा, जिसके सारथी वायुदेव हुए ॥७॥

और उसके पिता चन्द्रकेतु ने भी उसी भाँति बुलाने के लिए उस रथ के पीछे-पीछे सेना-सहित (अपने) प्रतीहार को भेजा ॥८॥

स मुक्ताफलकेतुश्च बुद्ध्वा दैत्याहवे गतम्।
पितरं सानुगो गन्तुं तत्रैवाभ्युद्यतोऽभवत्॥९॥
ततो जयगजारूढो जननीकृतमङ्गलः।
वायुलोकादुदचलत्स बिभ्रत्खड्गमैश्वरम्॥१०॥
प्रस्थितस्यापतत्तस्य पुष्पवृष्टिर्नभस्तलात्।
देवाश्च दुन्दुभीञ्जघ्नुर्वायवश्च ववुः शिवाः॥११॥
मिलित्वा परिवव्रुश्च ते तं देवगणास्ततः।
आसन्पलाय्य प्रच्छन्ना ये विद्युद्ध्वजभीतितः॥१२॥
तेन सैन्येन महता सह गच्छन्ददर्श सः।
मार्गे मेघवनं नाम पार्वत्यायतनं महत्॥१३॥
तदनुल्लङ्घयन्भक्त्या गजादत्रावतीर्य सः।
आहृत्य दिव्यपुष्पाणि देवी प्रावर्त्ततार्चितुम्॥१४॥
अत्रान्तरे च गन्धर्वपतेः सा प्राप्तयौवना।
पद्मावती सुता पद्मशेखरस्य सखीवृता॥१५॥
भर्त्तुः सङ्ग्रामयातस्य श्रेयोर्थं तपसि स्थिताम्।
मातरं स्वामनुज्ञाप्य विमानेनेन्दुलोकतः॥१६॥
शिवार्थिनी पितुः संख्ये वरस्याभीप्सितस्य च।
तदेव तपसे दिव्यं गौर्यायतनमाययौ॥१७॥
वरो नाद्यापि ते कश्चिन्निश्चितो यो युधि स्थितः।
पितुः श्रेयोनिमित्तं च माता ते संश्रिता तपः॥१८॥
त्वं तु कन्या तपः कस्य कृते सखि चिकीर्षसि।
इत्युक्त्वा पथि सख्या सा पद्मावत्यब्रवीदिदम्॥१९॥
पितैव सखि कन्यानां दैवतं सर्वसिद्धिकृत्।
वरोऽप्यनन्यसामान्यगुणो निश्चित एव मे॥२०॥
विद्युद्ध्वजं निहन्तुं यो जातो विद्याधरेन्द्रतः।
स मुक्ताफलकेतुर्मे व्यादिष्टः शम्भुना पतिः॥२१॥
एतन्मयाम्बापृष्टस्य तातस्यैव मुखाच्छ्रुतम्।
स च यास्यति यातो वा सङ्ग्रामे मे वरो ध्रुवम्॥२२॥
अतो भगवतीं गौरीं तपसाराधयाम्यहम्।
विजयाकाङ्क्षिणी तस्य पत्युस्तातस्य चोभयोः॥२३॥

और वह मुक्ताफलकेतु यह जानकर कि उसका पिता राक्षसों के साथ लड़ाई में गया है, अनुचर-समेत वहीं जाने के लिए तैयार हो गया ॥९॥

तब वह मुक्ताफलकेतु जय नाम के हाथी पर सवार हुआ, माता ने (युद्धयात्रा-काल के) मंगल-कर्म किये, फिर वह शिव का दिया हुआ खड्ग ले वायुलोक से निकल पड़ा ॥१०॥

प्रस्थान करते समय उसके ऊपर आकाशतल से पुष्पवृष्टि होने लगी, देवता नगाड़े बजाने लगे तथा मंगलसूचक शीतल पवन बहने लगा ॥११॥

और (इस प्रकार जाते हुए) उस मुक्ताफलकेतु को देवगणों ने मिलकर परिवेष्टित कर लिया, जो विद्युद्ध्वज के डर से भागकर छिपे हुए थे ॥१२॥

विशाल सेनाओं के साथ जाते हुए मुक्ताफलकेतु ने मार्ग में (देवी) पार्वती का मेघवन नाम का एक विशाल आयतन-मन्दिर देखा ॥१३॥

(पार्वती के) उस आयतन का उल्लंघन न करते हुए वह भक्तिवश वहाँ हाथी से उतर गया और स्वर्गीय फूल चुन-चुनकर देवी पार्वती का पूजन करने लगा ॥१४॥

इस बीच गन्धर्वराज पद्मशेखर की बेटी पद्मावती, जो यौवनावस्था प्राप्त कर चुकी थी, युद्ध में गये पति के मंगल के लिए तपस्या करती हुई अपनी माता से आज्ञा लेकर युद्ध में अपने पिता पद्मशेखर के तथा वांछित वर के मंगल की कामना करती हुई तपस्या करने विमान पर चढ़कर चन्द्रलोक से गौरी के उसी दिव्य मन्दिर में आ पहुँची ॥१५—१७॥

(रास्ते में एक सखी ने पूछा कि हे सखी!) 'अभी तक तो तुम्हारा कोई दूल्हा निश्चित नहीं हुआ है, जो युद्ध में है; (माना कि तुम्हारे पिता युद्ध में गये हुए हैं, किन्तु) पिता के कल्याण के लिए तो तुम्हारी माता तपस्या कर ही रही है ॥१८॥

तुम लड़की हो, किसके लिए तपस्या करना चाहती हो?' रास्ते में सखी के ऐसा कहने पर पद्मावती ने कहा कि—॥१९॥

"हे सखी, कन्याओं के लिए पिता ही सकल सिद्धियाँ देनेवाले देवता हैं और मेरा वर, (दूल्हा) भी निश्चित हो ही गया है, जो और सबसे अधिक गुणवान् है ॥२०॥

विद्युद्ध्वज को मारने के लिए जो विद्याधरराज का पुत्र होकर उत्पन्न हुआ है, वही मुक्ताफलकेतु मेरा पति होगा, ऐसा ही भगवान् शंकर ने कहा है ॥२१॥

यह बात मैंने अपनी माता के पूछने पर पिता के ही मुँह से सुनी है। और वह मेरा वर (भावी पति)—निश्चय ही लड़ाई में जायगा या चला गया होगा ॥२२॥

इसलिए, मैं अपने उस पति के तथा पिता दोनों की विजय की कामना करती हुई तपस्या द्वारा भगवती गौरी की आराधना करती हूँ" ॥२३॥

एवं वदन्तीं तां राजपुत्रीमाह स्म सा सखी ।
भाविन्यर्थेऽपि तद्ध्यर्षे व्यवसायस्तवोचितः ॥२४॥
तत्तेऽभिलषितं सिध्यत्विति सख्या तयोदिता ।
सा गौर्यायतनाभ्यर्णं भव्यं प्राप महत्सरः ॥२५॥
उत्फुल्लैः स्वर्णकमलैः प्रतिच्छन्नं प्रभास्वरैः ।
तन्मुखाम्भोरुहोत्सर्पत्कान्तिविच्छुरितैरिव ॥२६॥
तत्रावतीर्य कमलान्यम्बिकाभ्यर्चनाय सा ।
उच्चित्य गन्धर्वसुता स्नानं यावद्विधित्सति ॥२७॥
तावद्देवासुररणं रक्षःस्वामिषगर्धिषु ।
अभिधावत्सु तेन द्वे राक्षस्यावागते पथा ॥२८॥
दंष्ट्राघोरमुखोद्वान्तज्वालपिङ्गोर्ध्वमूर्धजे ।
धूमश्याममहाकाये लम्बोदरपयोधरे ॥२९॥
ताभ्यां दृष्ट्वैव गन्धर्वराजपुत्री निपत्य सा ।
नक्तंचरीभ्यां जगृहे निन्ये च गगनोन्मुखम् ॥३०॥
तद्विमानाधिदेवश्च राक्षस्यौ यावदेव ते ।
रुणद्धि यावादार्त्तश्च क्रन्दत्यस्याः परिच्छदः ॥३१॥
तावद्देवीगृहान्मुक्ताफलकेतुः कृतार्चनः ।
स निर्गतः श्रुताक्रन्दस्तमेवोद्देशमागमत् ॥३२॥
स दृष्ट्वा राक्षसीयुग्मगृहीतां तां लसद्द्युतिम् ।
कालमेघावलीमध्यगतां सौदामनीमिव ॥३३॥
पद्मावतीं प्रधाव्यैव महावीरो व्यमोचयत् ।
क्षिप्त्वा विचेतने भूमौ राक्षस्यौ ते तलाहते ॥३४॥
ददर्श तां च लावण्यरसनिर्झरवाहिनीम् ।
त्रिवलीलहरीहारिमध्यभागोपशोभिनीम् ॥३५॥
स्वर्वधूसर्गसम्प्राप्तकौशलोत्कर्षशालिना ।
धात्रा समग्रसौन्दर्यसारसम्पादितामिव ॥३६॥
दृष्ट्वा च तं स कन्दर्पमोहमन्थरितेन्द्रियः ।
धीरोऽप्यत्र क्षणं तस्थौ चित्रस्थ इव निश्चलः ॥३७॥
राक्षसीसम्भ्रमे शान्ते समाश्वस्य क्षणादिव ।
पद्मावत्यपि तं मुक्ताफलकेतुं ददर्श सा ॥३८॥

इस प्रकार बोलती हुई राजपुत्री पद्मावती से सखी ने कहा कि आगे होनेवाली बात के लिए भी जो तुम यह प्रयास कर रही हो, वह उचित ही है ॥२४॥

अतः, तुम्हारी कामना पूरी हो। सखी के ऐसा कहने के बाद पद्मावती गौरी-मन्दिर के निकट एक सुन्दर और विशाल सरोवर के पास पहुँची ॥२५॥

(वह सरोवर) खिले हुए चमकीले स्वर्ण-कमलों से व्याप्त था। लगता था, मानों उस पद्मावती के मुख-कमल की उद्‌गत शोभाओं से प्रतिबिम्बित हो ॥२६॥

सरोवर में उतरकर उस गन्धर्व-कन्या ने भगवती गौरी की पूजा के लिए कमल के फूल चुनकर ज्योंही स्नान करना चाहा——॥२७॥

त्यों ही मांस के लोभी राक्षस देवासुर-संग्राम की ओर दौड़-दौड़कर आने लगे (और इसी क्रम में) उस मार्ग से दो राक्षसियाँ भी आईं ॥२८॥

(बड़े-बड़े) दाँतों के कारण भयंकर मुँह से निकली हुई ज्वाला से उसके (सर पर) ऊपर को उठे बाल पीले लगते थे। उन दोनों के शरीर विशाल और धुएँ-जैसे काले थे। उनके पेट और स्तन लम्बे-लम्बे थे ॥२९॥

देखते ही उन दोनों राक्षसियों ने गन्धर्व-राजपुत्री उस पद्मावती को नीचे उतरकर पकड़ लिया और आकाश की ओर ले गई ॥३०॥

जबतक उस पद्मावती के विमान के रक्षक देवता उन दोनों राक्षसियों को रोके और जबतक उसके परिजन-लोक आर्त्त हो चिल्लाये——॥३१॥

तबतक वह मुक्ताफलकेतु पूजा सम्पन्न करके उस गौरी देवी के मन्दिर से निकला और चिल्लाहट सुनकर उसी ओर चला ॥३२॥

मुक्ताफलकेतु ने उन दोनों (काली) राक्षसियों द्वारा पकड़ी गई उस झलकती कान्तिवाली पद्मावती को देखा, जो काली मेघावली के बीच स्थित बिजली-सी लगती थी ॥३३॥

उन दोनों राक्षसियों को उसने मारकर बेहोश कर दिया और नीचे गिरा दिया तथा पद्मावती को छुड़ा लिया ॥३४॥

तब (छुड़ा करके) उसे भर आँख देखा, जो त्रिवली-रूपी लहरों से मनोहर मध्यभाग से शोभित होने के कारण ऐसी लगती थी, मानों सौन्दर्य-रूपी रस के झरने को धारण किये हुए हो ॥३५॥

स्वर्ग की सुन्दरियों के निर्माण से प्राप्त उत्कृष्ट कौशलवाले ब्रह्मा ने मानों समस्त सुन्दरताओं का सार लेकर उसे बनाया हो ॥३६॥

मुक्ताफलकेतु धीर होते हुए भी उस पद्मावती को देख काम से मोहित हो गया। उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई और वह चित्रलिखित-सा वहाँ क्षण-भर निश्चल रहा ॥३७॥

इसी बीच राक्षसियों की घबराहट दूर होने पर पद्मावती ने भी प्रकृतिस्थ हो मुक्ताफलकेतु को देखा ॥३८॥

जगन्नेत्रोत्सवाकारं स्त्रीजनोन्माददायिनम्।
एकीकृत्येन्दुकन्दर्पौ विधिनेव विनिर्मितम्॥३९॥
ततो लज्जानतमुखी सखीं स्वैरमभाषत।
भद्रमस्यास्तु यामीतः परपूरुषपार्श्वतः॥४०॥
एवं वदन्त्यां तस्यां च सा मुक्ताफलकेतुना।
बाला किमियमाहेति तेनापृच्छ्यत तत्सखी॥४१॥
साप्युवाच सुकन्येयं दत्ताशीः प्राणदस्य ते।
एह्यन्यपुरुषोपान्ताद्व्रजाव इति वक्ति माम्॥४२॥
तच्छ्रुत्वा सम्भ्रमान्मुक्ताफलकेतुरुवाच ताम्।
केयं कस्य सुता दत्ता कस्मै वा शुभकर्मणे॥४३॥
इति पृष्टा च सा तेन तद्वयस्या तमब्रवीत्।
इयं पद्मावती नाम कन्या सुभग नः सखी॥४४॥
गन्धर्वाधिपतेः पद्मशेखरस्यात्मसम्भवा।
आदिष्टोऽस्याः पतिर्मुक्ताफलकेतुश्च शम्भुना॥४५॥
पुत्रो विद्याधरेन्द्रस्य चन्द्रकेतोर्जगत्प्रियः।
सहायो देवराजस्य विद्युद्ध्वजविनाशकृत्॥४६॥
आकाङ्क्षन्ती जयं तस्य भर्त्तुः संख्ये पितुस्तथा।
गौर्यायतनमद्यैतत्तपोर्थमियमागता॥४७॥
श्रुत्वैतद्राजपुत्रीं तां चन्द्रकेतुसुतानुगाः।
दिष्ट्या देवि स एवायं तव भर्त्तेत्यनन्दयन्॥४८॥
ततोऽन्योन्यपरिज्ञानहर्षपूर्णे निजात्मनि।
युक्तं तद्यन्न मातः स्म तौ कुमारीवरावुभौ॥४९॥
यावच्चान्योन्यसप्रेमतिर्यगर्धावलोकितैः।
तिष्ठतस्तत्र तौ तावच्छुश्रुवे तूर्यनिःस्वनः॥५०॥
ततश्च ददृशे सैन्यं वायुयुक्तो रथस्ततः।
चन्द्रकेतुप्रतीहारस्तथा च त्वरितागतौ॥५१॥
तौ च वायुप्रतीहारौ विनयोज्झितवाहनौ।
उपगम्यैव तं मुक्ताफलकेतुमवोचताम्॥५२॥
त्वामाह्वयति देवेन्द्रः पिता चाहवभूमितः।
तदिमं रथमारुह्य शीघ्रमागम्यतामिति॥५३॥

मुक्ताफलकेतु सबकी आँखों के लिए उत्सव-स्वरूप था, महिलाओं को पागल कर देनेवाला था, और (लगता था) मानों ब्रह्मा ने चाँद और कामदेव को एक में मिलाकर उसे बनाया हो ॥३९॥

तब लज्जा से मुँह झुकाए हुए पद्मावती ने (अपनी) सखी से धीरे-से कहा कि (हे सखी ! राक्षसियों से बचानेवाले) इन (महाशय) का कल्याण हो। (चलो) यहाँ पराये पुरुष के पास से और कहीं चली चलें ॥४०॥

पद्मावती के ऐसा कहने पर मुक्ताफलकेतु ने उसकी सखी से पूछा कि इस बाला ने क्या कहा है ? ॥४१॥

सखी ने कहा कि इस सुन्दर कन्या ने प्राणरक्षा करनेवाले आपको आशीर्वाद दिया है और मुझसे कहा है कि चलो, पराये पुरुष के पास से चली जायँ ॥४२॥

यह सुनकर सम्भ्रम के साथ मुक्ताफलकेतु ने उससे कहा कि यह (सुन्दरी) कौन है ? किसकी पुत्री है ? और, किस पुण्यात्मा पुरुष को दी गई है ? ॥४३॥

मुक्ताफलकेतु के इस प्रकार पूछने पर सखी ने कहा कि मेरी सखी यह पद्मावती गन्धर्वराज पद्मशेखर की बेटी है और (भगवान्) शंकर ने कहा है कि मुक्ताफलकेतु इसका पति होगा ॥४४-४५॥

वही मुक्ताफलकेतु, जो विद्याधरराज चन्द्रकेतु का पुत्र है, संसार का प्यारा है, देवराज इन्द्र का सहायक है और विद्युद्ध्वज को नाश करनेवाला है ॥४६॥

युद्ध में उस (भावी) पति और पिता की जय की कामना करती हुई यह आज यहाँ तप करने के लिए गौरी-मन्दिर में आई है ॥४७॥

चन्द्रकेतु के पुत्र (मुक्ताफलकेतु) के अनुचर लोगों ने यह सुनकर उस राजपुत्री पद्मावती का (यह कहते हुए) अभिनन्दन किया कि अहोभाग्य। हे देवी ! आपके वे (भावी) पति ये ही हैं ॥४८॥

तब पारस्परिक परिचय से कुमारी और वर दोनों को (इतना) हर्ष हुआ कि उनके हृदय भर आये। अतः, यह उचित ही था कि वे हृदय में न समा सके (क्योंकि हर्ष के भर जाने से उसमें जगह रही ही नहीं ॥४९॥

और, जबतक ये दोनों प्रेम-भरी, तिरछी और आधी नजरों से एक-दूसरे को निहारते रहे, तबतक वाद्यों की ध्वनि सुनाई पड़ी ॥५०॥

फिर, सेनाएँ दीख पड़ीं, वासुदेव द्वारा जुता हुआ रथ दीख पड़ा और फिर चन्द्रकेतु का प्रतीहार दीख पड़ा। वायुदेव और वह प्रतीहार नम्रतावश सवारी से उतर कर झटपट आये और मुक्ताफलकेतु के पास आकर कहा कि—॥५१-५२॥

युद्धभूमि से भगवान् इन्द्र और आपके पिता चन्द्रकेतु आपको बुला रहे हैं। इसलिए, इस रथ पर चढ़कर शीघ्र चले चलिए ॥५३॥

ततः पद्मावतीप्रेमबद्धोऽपि गुरुकार्यतः।
स तं ताभ्यां सहाध्यास्त खेचरेन्द्रसुतो रथम्॥५४॥
बद्ध्वा च शक्रप्रहितं दिव्यं कवचमाशु सः।
प्रतस्थे वलितग्रीवं पश्यन्पद्मावतीं मुहुः॥५५॥
पद्मावती च निर्वर्ण्य सा तमादृष्टिगोचरम्।
एकपाणितलाघातहतनक्तञ्चरीद्वयम् ॥५६॥
तमेव चिन्तयन्ती च स्नात्वाभ्यर्च्याम्बिकाहरौ।
तदाप्रभृति तत्रैव तेपे तच्छ्रेयसे तपः॥५७॥
सोऽपि तद्दर्शनं मुक्ताफलकेतुर्विचिन्तयन्।
मङ्गल्यं विजयाशंसि प्राप देवासुराहवम्॥५८॥
दृष्ट्वा च तं सुसम्बद्धं ससैन्यं वीरमागतम्।
तमेव प्रति सर्वेऽपि तेऽभ्यधावन्महासुराः॥५९॥
तेषां स शरवर्षेण शिरोभिः शकलीकृतैः।
शूरो रणोत्सवारम्भे चक्रे दिग्देवताबलिम्॥६०॥
हन्यमानं बलं तेन तन्मुक्ताफलकेतुना।
दृष्ट्वा विद्युद्ध्वजः क्रोधादधावत्तं प्रति स्वयम्॥६१॥
स चापतन्नेव शरैर्दैत्यो यत्तेन ताडितः।
तत्तमेवाभ्यधावत्तत्सर्वतः सैन्यमासुरम्॥६२॥
तद्दृष्ट्वा सिद्धगन्धर्वविद्याधरसुरान्वितः।
अभिदुद्राव तद्दैत्यसैन्यं सपदि वासवः॥६३॥
ततः पतदिषुप्रासशक्तितोमरपट्टिशम्।
उदभूत्तुमुलं युद्धं निहतासङ्ख्यसैनिकम्॥६४॥
गजाश्वकायमकरा दन्तिमौक्तिकवालुकाः।
प्रवीरमुण्डपाषाणाः प्रावहन्रुधिरापगाः॥६५॥
शोणितासवमत्तानां भूतानामामिषार्थिनाम्।
सोऽभूद्रणोत्सवः प्रीत्यै कबन्धैः सह नृत्यताम्॥६६॥
तस्मिञ्जयश्रीर्दैत्यानां देवानां चाहवार्णवे।
महोर्मिचपला प्रायादितः क्षणमितः क्षणम्॥६७॥
चतुर्विंशतिमेवं तु युद्धमासीद्दिनानि तत्।
प्रेक्ष्यमाणं विमानस्थैः शर्वशौरिपितामहैः॥६८॥

तब पद्मावती के प्रेम से बद्ध रहते हुए भी उस गुरुतर कार्य के लिए वह विद्याधरराज का पुत्र मुक्ताफलकेतु उन दोनों के साथ उस रथ पर सवार हो गया ॥५४॥

और, इन्द्र द्वारा भेजा गया एक असाधारण कवच पहनकर गरदन मोड़कर बार-बार पद्मावती की ओर देखता हुआ झटपट चल पड़ा ॥५५॥

और, पद्मावती भी, जहाँतक उसकी दृष्टि गई, मुक्ताफलकेतु को देखती रही, जिसने एक ही थप्पड़ में उन दोनों राक्षसियों को मार दिया था ॥५६॥

और तबसे उसी का ध्यान करती हुई, पद्मावती स्नान करके तथा गौरी और शंकर की पूजा करके मुक्ताफलकेतु के कल्याण के लिए वहीं तपस्या करने लगी ॥५७॥

वह मुक्ताफलकेतु भी पद्मावती के मंगलमय और विजयसूचक रूप का स्मरण करते हुए देवासुर-संग्राम (की भूमि) पहुँचा ॥५८॥

भली भाँति सज-धजकर सेनाओं-सहित उस वीर मुक्ताफलकेतु को आया देखकर वे सभी महासुर उसी पर धावा करने लगे ॥५९॥

मुक्ताफलकेतु ने उस युद्ध-रूपी उत्सव के आरम्भ में (मंगल-कर्मस्वरूप) तीरों की वर्षा से (राक्षसों के) मस्तक काट-काटकर दिशा-रूपी देवताओं को बलि चढ़ाई ॥६०॥

जब विद्युद्ध्वज ने देखा कि मुक्ताफलकेतु सेनाओं का संहार करता जा रहा है, तब उसने स्वयं क्रुद्ध हो उसपर धावा किया ॥६१॥

मुक्ताफलकेतु पर, जिसने आते ही राक्षस विद्युद्ध्वज को अपने शरों से घायल कर दिया था, असुर-सेनाएँ चारों ओर से टूट पड़ीं ॥६२॥

यह देखकर भगवान् इन्द्र तुरत सिद्धों, गन्धर्वों, विद्याधरों और देवताओं-समेत उस असुर-सैन्य की ओर दौड़ पड़े ॥६३॥

घमासान युद्ध होने लगा। तीर, भाले, शक्तियाँ, तोमर और पट्टिश चलने लगे। अनगिनत सैनिक मरने लगे ॥६४॥

रक्त की नदियाँ बह चलीं, जिनमें मरे हुए गजों और घोड़ों के शरीर मगर की भाँति (तैरते थे), हाथियों के (मस्तकों से निकले) मोतियों के, बालू की भाँति, ढेर लगे थे और श्रेष्ठ वीरों के मुण्ड पत्थर (के टुकड़ों) की भाँति (फैले हुए) थे ॥६५॥

रक्त-रूपी मदिरा पीकर मत्त हुए, कबन्धों के साथ नाच करते हुए और मांस के भूखे प्रेतों के लिए वह युद्धोत्सव आनन्ददायक हुआ ॥६६॥

राक्षसों और देवताओं के उस युद्धरूपी समुद्र में विजयलक्ष्मी तेज ज्वार-भाटों से चलायमान हो कभी इस पार जाती थी, तो कभी उस पार ॥६७॥

इस प्रकार, चौबीस दिनों तक युद्ध चलता रहा और विमान पर आरूढ शिव, विष्णु और ब्रह्मा देखते रहे ॥६८॥

पंचविंशे दिने क्षीणप्राययोः सैन्ययोर्द्वयोः ।
प्रधानद्वन्द्वयुद्धेषु, प्रवृत्तेष्वत्र सङ्गरे ॥६९॥
श्रीमुक्ताफलकेतोश्च तस्य विद्युद्ध्वजस्य च ।
द्वन्द्वयुद्धं, प्रववृते रथस्थद्विरदस्थयोः ॥७०॥
तमोस्त्रं भास्करास्त्रेण ग्रैष्मास्त्रेण च शैशिरम् ।
कुलिशास्त्रेण शैलास्त्रं नागास्त्रं गारुडेन च ॥७१॥
निवार्य तस्य यन्तारं वारणं चासुरस्य सः ।
एकैकेनेषुणा मुक्ताफलकेतुरपातयत् ॥७२॥
आरूढस्य रथं तस्य सारथिं तुरगांश्च यत् ।
सोऽवधीत्तदसौ विद्युद्ध्वजो मायामशिश्रियत् ॥७३॥
अदृश्यः सर्वसैन्येन द्यामारुह्य ववर्ष सः ।
शिलाश्चास्त्राणि विविधान्यभितः सुरवाहिनीम् ॥७४॥
अभेद्यं शरजालं च यन्मुक्ताफलकेतुना ।
अरुध्यत स तद्दैत्यो ददाहानलवृष्टिभिः ॥७५॥
अथाभिमन्त्र्य ब्रह्मास्त्रं सानुगं तमरिं प्रति ।
विश्वक्षयक्षमं मुक्ताफलकेतुर्मुमोच सः ॥७६॥
तेनास्त्रेण ससैन्योऽपि निहतो गतजीवितः ।
निपपात नभोमध्याद्विद्युद्ध्वजमहासुरः ॥७७॥
शेषाः पलाय्य जग्मुश्च विद्युद्ध्वजसुतादयः ।
वज्रदंष्ट्रादिसहिता रसातलतलं भयात् ॥७८॥
देवाश्च नादानुपदं जगदुः साधु साध्विति ।
श्रीमुक्ताफलकेतुं च पुष्पवर्षैरपूजयन् ॥७९॥
ततः शत्रौ हते शक्रः प्राप्तराज्यस्त्रिविष्टपम् ।
प्राविशत्त्रिषु लोकेषु, बभूव च महोत्सवः ॥८०॥
आगाच्छचीं पुरस्कृत्य स्वयं चात्र प्रजापतिः ।
चूडारत्नोत्तमं मुक्ताफलकेतोर्बबन्ध च ॥८१॥
इन्द्रोऽपि राजपुत्रस्य तस्य राज्यप्रदायिनः ।
हारं स्वकण्ठतः कण्ठे न्यधाद्विजयशोभिनः ॥८२॥
समुपावेशयत्तं च निजासनसमासने ।
आनन्दपूर्णगीर्वाणवितीर्णविविधाशिषम् ॥८३॥

पच्चीसवें दिन जब दोनों पक्षों की सेनाएँ क्षीण-सी हो गईं और उस संग्राम में प्रधान-प्रधान (योद्धाओं के) द्वन्द्वयुद्ध होने लगे, तब—॥६९॥

रथ पर चढ़े श्रीमुक्ताफलकेतु और हाथी पर चढ़े विद्युद्ध्वज के बीच द्वन्द्वयुद्ध होने लगा॥७०॥

मुक्ताफलकेतु ने उस (विद्युद्ध्वज) के अन्धकारास्त्र को सूर्यास्त्र से, तापास्त्र को हिमास्त्र से, प्रस्तरास्त्र को वज्रास्त्र से और नागास्त्र को गरुडास्त्र से रोककर एक-एक तीर से उसके महावत और हाथी को मार गिराया॥७१-७२॥

तदनन्तर, विद्युद्ध्वज रथ पर सवार हुआ। फिर, मुक्ताफलकेतु ने ज्योंही उसके सारथि और घोड़ों को मार गिराया, त्योंही विद्युद्ध्वज माया का अवलम्बन करने लगा॥७३॥

अदृश्य होकर वह आकाश से समस्त देवसेनाओं के ऊपर पत्थर और विविध अस्त्र बरसाने लगा॥७४॥

(अस्त्रों की वृष्टि को रोकने के लिए) मुक्ताफलकेतु ने, जो अभेद्य बाणों का जाल बनाकर अवरोध बनाया, उसे उस राक्षस ने अग्निवृष्टि करके जला दिया॥७५॥

तब मुक्ताफलकेतु ने विश्व-भर को नाश कर देने में समर्थ ब्रह्मास्त्र को अभिमन्त्रित करके अनुगामी-समेत उस शत्रु के ऊपर छोड़ दिया॥७६॥

वज्रास्त्र के लगने से सेनाओं-सहित निष्प्राण होकर वह महासुर विद्युद्ध्वज आकाश से गिर पड़ा॥७७॥

वज्रदंष्ट्र आदि सेनापतियों-समेत विद्युद्ध्वज के पुत्र आदि जो राक्षस बचे, वे भी डर से भागकर पाताल-लोक चले गये॥७८॥

देवता साधु-साधु कहने लगे और पुष्पवृष्टियों से श्रीमुक्ताफलकेतु की पूजा करने लगे॥७९॥

(इस प्रकार) शत्रु के मारे जाने पर इन्द्र ने (पुनः अपना) राज्य प्राप्त करके स्वर्ग में प्रवेश किया और तीनों लोकों में महोत्सव होने लगा॥८०॥

और, शची को आगे किये हुए स्वयं प्रजापति भी वहाँ आये तथा (वीरता के पुरस्कार स्वरूप) उत्तम चूडामणि मुक्ताफलकेतु को पहनाई॥८१॥

इन्द्र ने भी राज्य देनेवाले उस राजपुत्र के गले में अपने गले का हार पहनाकर उसे अधिक शोभित किया, जो (स्वयं अपनी) विजय से शोभित था॥८२॥

और, आनन्दपूर्ण भाषा में विविध आशीर्वाद देकर अपने आसन के समान आसन पर बैठाया॥८३॥

विद्युद्ध्वजासुरपुरं प्रतीहारं विसृज्य च।
तस्मै दास्यन्नवसरे स्वीचक्रे स्वपुराधिकम् ॥८४॥

ततोऽस्मै राजपुत्राय गन्धर्वः पद्मशेखरः।
दित्सुः पद्मावतीं धातुः साकूतं मुखमैक्षत ॥८५॥

स च ज्ञाताशयो धाता गन्धर्वेन्द्रमुवाच तम्।
कार्यशेषोऽस्ति कश्चित्तद्विषहस्व मनागिति ॥८६॥

ततो हाहाहुहूगीतैः स्वनिनादानुनादितैः।
रम्भादिनृत्यैस्तत्राभूदिन्द्रस्य विजयोत्सवः ॥८७॥

दृष्टोत्सवप्रमोदे च याते धातरि वृत्रहा।
सम्मान्य लोकपालादीन्स्वं स्वं स्थानं विसृष्टवान् ॥८८॥

विससर्ज च गन्धर्वराजं तं पद्मशेखरम्।
निजं गन्धर्वनगरं सम्मान्य सपरिच्छदम् ॥८९॥

श्रीमुक्ताफलकेतुं च चन्द्रकेतुं च सत्कृतौ।
प्राहिणोदुत्सवाय स्वं विद्याधरपुरं हरिः ॥९०॥

स च संहृतविश्वकण्टकस्तां बहुविद्याधरराजकानुयातः।
जनकानुगतः स राजधानीमथ मुक्ताफलकेतुराजगाम ॥९१॥

बररत्नचिता च सा तदानीं ध्वजपट्टांशुकमालिनी प्रविष्टे।
विबभौ नगरी चिरागतेऽस्मिन्पितृयुक्ते जयभाजि राजपुत्रे ॥९२॥

स च सपदि पितास्य चन्द्रकेतुः पुरि परितोषितबन्धुभृत्यवर्गः।
जलमिव जलदो वसु प्रवर्षन्सुतविजयोत्सवमूर्जितं ततान ॥९३॥

स च मुक्ताफलकेतुर्विद्युद्ध्वजदमनकीर्त्तिमपि लब्ध्वा।
पद्मावतीं विना तां न रतिं लेभे निजेषु भोगेषु ॥९४॥

संयतकाख्येन पुनः शर्वादेशादि शंसिना सख्या।
आश्वास्यमानचित्तः कृच्छ्रेण स तान्यहान्यनयत् ॥९५॥

महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे पद्मावतीलम्बके

तृतीयस्तरङ्गः।

राक्षस विद्युद्ध्वज के राष्य में अपने प्रतीहार को भेजकर (इन्द्र ने) उस राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। सोचा कि अवसर आने पर उसे विद्युद्ध्वज को लौटा दूंगा ॥८४॥

मुक्ताफलकेतु को पद्मावती देने की इच्छा करते हुए गन्धर्वराज पद्मशेखर ने अभिप्राय-पूर्वक ब्रह्मा के मुँह की ओर देखा ॥८५॥

ब्रह्मा ने अभिप्राय समझ कर गन्धर्वराज पद्मशेखर से कहा कि एक कार्य बाकी रह गया है अतः कुछ देर और प्रतीक्षा करें ॥८६॥

तब इन्द्र ने विजयोत्सव मनाया, जिसमें हाहा-हूहू नाम के गन्धर्व ने गीत गाया और रम्भा आदि अप्सराओं ने नाच किया तथा उस नृत्य-गीत-ध्वनि के बीच इन्द्र भी हर्षध्वनि करते रहे ॥८७॥

आनन्दोत्सव देखकर जब ब्रह्मा चले गये, तब इन्द्र ने अग्नि आदि लोकपालों को (यथोचित) सम्मान करके अपने-अपने स्थान को विदा किया ॥८८॥

और, अनुचर-सहित उस गन्धर्वराज पद्मशेखर को भी सम्मानित कर गन्धर्वनगर विदा कर दिया ॥८९॥

विष्णु ने श्रीमुक्ताफलकेतु तथा चन्द्रकेतु को सत्कृत करके उत्सव मनाने के लिए विद्याधर-नगर विदा किया ॥९०॥

विश्व-भर के लिए कण्टक स्वरूप उस विद्युद्ध्वज का संहार करनेवाला वह मुक्ताफलकेतु अपनी राजधानी आया और उसके पीछे-पीछे उसका पिता चन्द्रकेतु तथा बहुत-से विद्याधरराज भी आये ॥९१॥

विजय प्राप्त करके पिता-सहित राजपु मुक्ताफलकेतु ने जब बहुत दिनों के बाद नगरी में प्रवेश किया, तब श्रेष्ठ रत्नों से बनी नगरी ने मानों ध्वजपट्ट में फहराते रंग-विरंगे वस्त्रों की माला पहन ली ॥९२॥

चन्द्रकेतु ने भी अपने नगर में बन्धु-बान्धवों और अनुचरों को अविलम्ब परितोषित किया और जिस भाँति बादल पानी बरसाता है, उसी भाँति धन की वर्षा करते हुए बड़ी ही धूमधाम से अपने पुत्र का विजयोत्सव मनाया ॥९३॥

विद्युद्ध्वज को हराने की कीर्त्ति पाकर भी मुक्ताफलकेतु को पद्मावती के बिना अपनी भोग्य वस्तुओं में रुचि नहीं मिली ॥९४॥

किन्तु, संयतक नामक एक मित्र भगवान् शंकर के आदेश का उल्लेख करते हुए उसके मन को आश्वस्त करता रहा। इस प्रकार, कष्ट सहते हुए मुक्ताफलकेतु ने कुछ दिन बिताये ॥९५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के पद्मावती-लम्बक का तृतीय तरंग समाप्त हुआ।

चतुर्थस्तरङ्गः

अत्रान्तरे स गन्धर्वराजः स्वनगरं पुनः ।
प्रविष्टो विततस्फूर्जदुत्सवः पद्मशेखरः ॥१॥
तज्जयाशंसया तप्ततपसं गिरिजाश्रमे ।
बुद्ध्वा भार्यामुखात्पद्मावतीमानाययत्सुताम् ॥२॥
उपागतां च तपसा विरहेण च तां कृशाम् ।
तनयां पादपतितां स जगादाशिषं ददत् ॥३॥
वत्से मदर्थं विहितस्तपःक्लेशो महांस्त्वया ।
तद्विद्याधरराजेन्द्रसुतं विद्युद्ध्वजान्तकम् ॥४॥
जगच्छरण्यं जयिनं व्यादिष्टं शम्भुना स्वयम् ।
श्रीमुक्ताफलकेतुं तं शीघ्रं पतिमवाप्नुहि ॥५॥
इति पित्रोदिते यावदास्ते सा विनतानना ।
राजानमाह तन्माता तावत्कुवलयावली ॥६॥
कथं स तादृगसुरस्त्रिलोकाभयदायिना ।
तेनार्यपुत्र निहतो राजपुत्रेण संयुगे ॥७॥
तच्छ्रुत्वा वर्णयामास स राजा तस्य विक्रमम् ।
राजपुत्रस्य तं तस्यै सदेवासुरसङ्गरम् ॥८॥
ततः पद्मावतीसख्या सा मनोहारिकाख्यया ।
तदीया राक्षसीयुग्मवधलीलाप्यकथ्यत ॥९॥
ततस्तस्य सुतायाश्च वृत्तमन्योन्यदर्शनम् ।
प्रीतिं च बुद्ध्वा तौ तोषं राजा राज्ञी च जग्मतुः ॥१०॥
ऊचतुश्च निगीर्णश्च येनासुरचमूचयः ।
अगस्त्येनेव जलधी राक्षस्यौ तस्य के इति ॥११॥
तया तत्पौरुषोत्कर्षवर्णनावात्यया च सः ।
पद्मावत्याः प्रजज्वाल सुतरां मदनानलः ॥१२॥
ततः पित्रोः सकाशात्सा निर्गता राजकन्यका ।
शुद्धान्तरत्नप्रासादमारोहत्सोत्सुका क्षणात् ॥१३॥
तत्र रत्नोम्भितस्तम्भबद्धमौक्तिकजालके ।
मणिकुट्टिमविन्यस्तमुखशय्यावरासने ॥१४॥
चिन्तितोपनमद्दिव्यनानाभोगमनोरमे ।
स्थिता साभ्यधिकं तेपे प्रेयोविरहवह्निना ॥१५॥

चतुर्थ तरंग

इस बीच गन्धर्वराज पद्मशेखर ने भी फिर अपने नगर में प्रवेश किया और ठाट-बाट के साथ भारी उत्सव किया ॥१॥

तब अपनी पत्नी के मुँह से यह सुनकर कि उसकी पुत्री पद्मावती उसकी विजय की कामना से गिरिजा-मन्दिर में तपस्या कर रही है (उस पद्मशेखर ने) उस (पद्मावती) को बुलवा लिया ॥२॥

तपस्या तथा विरह से कृशकाय हुई पद्मावती ने आते ही (पिता के) पाँव छुए और उसने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा कि—॥३॥

तुमने मेरे लिए बहुत कठिन तपस्या की है, अतः विद्याधरराज के पुत्र, विद्युद्ध्वज का संहार करनेवाले, संसार को शरण देनेवाले विजयी श्रीमुक्ताफलकेतु को तुम अविलम्ब पति के रूप में प्राप्त करो, जैसा कि भगवान् शंकर का कहा हुआ है ॥४-५॥

पिता के ऐसा कहने पर पद्मावती (लज्जा से) सिर झुकाये रही और उधर उसकी माता कुवलयावली ने राजा पद्मशेखर से पूछा कि—॥६॥

हे आर्यपुत्र ! वैसे (प्रबल) राक्षस को तीनों लोकों को अभय देनेवाले राजकुमार मुक्ताफलकेतु ने युद्ध में कैसे मारा ? ॥७॥

यह सुनकर राजा पद्मशेखर ने उसको राजकुमार मुक्ताफलकेतु के पराक्रम तथा साथ ही देवासुर-संग्राम का भी वर्णन कह सुनाया ॥८॥

तब पद्मावती की सहेली मनोहारिका ने उन दोनों राक्षसियों के वध की कहानी भी कह सुनाई ॥९॥

तदनन्तर, यह जानकर कि मुक्ताफलकेतु तथा उसकी पुत्री पद्मावती दोनों का परस्पर दर्शन और प्रेम हुआ है, राजा पद्मशेखर और रानी कुवलयावती (परम) प्रसन्न हुए ॥१०॥

और (उन दोनों ने) कहा कि जैसे अगस्त्य मुनि समुद्र को पी गये, उसी भाँति जो राक्षसों की सेनाओं को निगल गया, उस (मुक्ताफलकेतु) के लिए वे दो राक्षसियाँ क्या हैं ॥११॥

मुक्ताफलकेतु की वीरता की बड़ाई की आँधी से पद्मावती की कामाग्नि और भी प्रज्वलित हो उठी ॥१२॥

माँ-बाप के पास से निकलकर वह विरहातुर राजकुमारी अन्तःपुर के रत्नमय महल के ऊपर चढ़ गई ॥१३॥

उस महल में रत्नों से खचित स्तम्भों पर मोती के जाल टँगे थे, मणिमय फर्श पर आराम-देह शय्या और उत्कृष्ट आसन लगे थे, और ध्यान करते ही वहाँ नाना प्रकार की अलौकिक भोग-वस्तुएँ उपस्थित हो जाती थीं। ऐसे महल में (रहती हुई भी) वह राजकुमारी पद्मावती प्रिय-विरह-वह्नि से और अधिक सन्तप्त होने लगी ॥१४-१५॥

ददर्श च ततः पृष्ठाद्धेमद्रुमलताचितम्।
रत्नवापीशताकीर्णं दिव्यमुद्यानमृद्धिमत् ॥१६॥
दृष्ट्वा चाचिन्तयच्चित्रमिदमस्मत्पुरोत्तमम्।
मज्जन्मभूमेर्भुवनादैन्दवादपि सुन्दरम् ॥१७॥
हिमाद्रिमौलिमाणिक्यं न च दृष्टमिदं मया।
नन्दनाभ्यधिकं यत्र पुरोपवनमीदृशम् ॥१८॥
तदत्र गत्वा सच्छायशीतले विजने वरम्।
विरहानलसन्तापं शमयामि मनागिमम् ॥१९॥
इति सञ्चिन्त्य सा बाला शनैरेकाकिनी ततः।
युक्त्यावरुह्य गन्तुं तत्पुरोद्यानं प्रचक्रमे ॥२०॥
पद्भ्यां गन्तुमशक्ता सा स्वविभूतेरुपस्थितैः।
पक्षिभिर्वाहनीभूय तदुद्यानमनीयत ॥२१॥
तत्रान्तः कदलीखण्डगृहे पुष्पास्तरोपरि।
उपाविशच्छ्रूयमाणे दिव्यगेयादिनिःस्वने ॥२२॥
न च सात्र रतिं लेभे न तस्याः शाम्यति स्मरः।
विना प्रियेण कामाग्निः प्रत्युतावर्धताधिकम् ॥२३॥
ततो दिदृक्षुश्चित्रस्थमपि तं प्रियमुत्सुका।
साग्रहीच्चित्रफलकं वर्णवर्त्तीश्च सिद्धितः ॥२४॥
स्रष्टुं द्वितीयं धातापि नेष्टे यत्सदृशं पुनः।
तमालिखेयं सोत्कण्ठा सन्नपाणिरहं कथम् ॥२५॥
तथाप्यात्मविनोदार्थमालिखामि यथा तथा।
इति सञ्चिन्त्य फलके सा तु यावत्तमालिखत् ॥२६॥
तावत्तस्यास्तमुद्देशमाययौ चिन्वती सखी।
सा मनोहारिका नाम तद्दर्शनविह्वला ॥२७॥
सा तामेकाकिनीं तत्र राजपुत्रीं लतागृहे।
सचित्रफलकामुत्कामपश्यत्पृष्ठतः स्थिता ॥२८॥
पश्यामि तावत्किमियं करोत्येवमिहैकिका।
इति सञ्चिन्त्य तस्थौ च छन्ना सा तत्र तत्सखी ॥२९॥
तावत्सापि तमुद्दिश्य चित्राभिलिखितं प्रियम्।
पद्मावती जगादैवमुदश्रुनयनोत्पला ॥३०॥

(उस राजकुमारी ने) उस महल की छत पर से एक हरा-भरा अलौकिक उद्यान देखा, जो सोने की लताओं और वृक्षों से व्याप्त था और जहाँ रत्नों से बनी सौ वापियाँ थीं ॥१६॥

देखकर सोचा कि वाह! यह मेरा श्रेष्ठ नगर तो मेरी जन्मभूमि चन्द्रलोक से भी बढ़कर सुन्दर है ॥१७॥

हिमालयकी चूडामणि-स्वरूप इस नगर को मैंने (कभी) नहीं देखा है, जहाँ का उपवन नन्दन से भी बढ़कर है ॥१८॥

अतः, वहाँ जाकर सुन्दर छाया से शीतल निर्जन स्थान में कुछ देर (रहकर) अपनी इस विरहाग्नि के सन्ताप को शान्त कर लूं, तो अच्छा होगा ॥१९॥

यह सोचकर वह कन्या कौशल के साथ वहाँ से अकेली धीरे-धीरे उतरकर उस नगर-उद्यान को विदा हुई ॥२०॥

वह (दुर्बलता के कारण) अपने चरणों से जाने में असमर्थ थी, अतः उसकी अपनी सिद्धि के प्रभाव से उपस्थित पक्षियों ने वाहन बनकर उसे उस उद्यान में पहुँचाया ॥२१॥

उद्यान के भीतर केले के कुंज में वह फूलों की सेज पर बैठ गई, जहाँ अलौकिक गीत-वाद्य आदि का शब्द सुनाई पड़ रहा था ॥२२॥

वहाँ न उसका मनोरंजन ही हुआ और न उसकी काम-वेदना ही शान्त हुई; प्रत्युत प्रियतम के बिना (उसकी) कामाग्नि और बढ़ गई ॥२३॥

तब विरह से उत्कण्ठिता उस पद्मावती ने चित्र में भी अपने प्रियतम को देखने के लिए अपनी सिद्धि के बल से (मँगाकर) चित्रफलक और रंगों की कूचियाँ हाथ में लीं ॥२४॥

(और सोचने लगी कि) विधाता भी जिनके समान दूसरे (पुरुष) का पुनः निर्माण करने में असमर्थ है, उन्हें मैं हाथ में सरकण्डा लेकर कैसे चित्रित कर सकूंगी? ॥२५॥

तथापि अपने मन-बहलाव के लिए जैसे-तैसे चित्रित करती हूँ। ऐसा सोचकर उसने जब उस फलक पर (उस मुक्ताफलकेतु का) चित्र आँका ॥२६॥

तभी उसको न देखने से व्याकुल हुई उसकी मनोहारिका नाम की सहेली उस स्थान में आ पहुँची ॥२७॥

मनोहारिका ने पीछे खड़ी होकर राजकुमारी पद्मावती को देखा, जो (विरह से) आतुर होकर उस लता-गृह के बीच चित्रफलक लिए अकेली खड़ी थी ॥२८॥

कुछ देर (ठहरकर) देखूं कि यह यहाँ अकेली क्या करती है—यह सोचकर उसकी सहेली छिपकर खड़ी हो गई ॥२९॥

तबतक छलकते आँसुओं से भरे नयन-कमलवाली उस पद्मावती ने चित्र में अंकित प्रियतम के प्रति कहा कि—॥३०॥

दुर्जयानसुरान्हत्वा येनेन्द्रो रक्षितस्त्वया।
आलापमात्रेण स मां कथं मारान्न रक्षसि॥३१॥
कल्पद्रुमोऽप्यदातृत्वं सुगतोऽप्यदयालुताम्।
आयाति मन्दपुण्यस्य सुवर्णमपि चाश्मताम्॥३२॥
स्मरज्वरानभिज्ञश्च नूनं वेत्सि न मद्व्यथाम्।
दैत्याजितस्य पुष्पेषुः किं तपस्वी करोति ते॥३३॥
किं वा वच्मि विधिर्वामो मम येनाश्रुणा दृशौ।
पिदधन्नेच्छति प्रायश्चित्रेऽपि तव दर्शनम्॥३४॥
इत्युक्त्वा राजतनया सा प्रावर्त्तत रोदितुम्।
छिन्नहारगलत्स्थूल मुक्ताभैरश्रुबिन्दुभिः॥३५॥
तत्क्षणं तामुपासर्पत्सा मनोहारिका सखी।
साप्याच्छाद्यैव तच्चित्रं राजपुत्री जगाद ताम्॥३६॥
इयच्चिरं न दृष्टा त्वं सखि कुत्र स्थितास्यहो।
तच्छ्रुत्वा विहसन्ती तां सा मनोहारिकाब्रवीत्॥३७॥
त्वामेव सखि चिन्वाना चिरं भ्रान्तास्मि तत्त्वया।
चित्रं किं छाद्यते दृष्टं मया चित्रमथ श्रुतम्॥३८॥
एवं तयोक्ता सख्या सा पद्मावत्यश्रुगद्गदम्।
लज्जानतमुखी हस्ते गृहीत्वा तामभाषत॥३९॥
सखि प्रागेव विदितं सर्वं ते किं निगूह्यते।
राजपुत्रेण तेनाहं तस्मिन्गौर्याश्रमे तदा॥४०॥
उद्धृतापि महाघोरराक्षसीवह्निमध्यतः।
दुर्वारविरहज्वाले निक्षिप्ता मदनानले॥४१॥
तन्न जाने क्व गच्छामि कस्मै वच्मि करोमि किम्।
आश्रये कमुपायं वा दुर्लभासक्तमानसा॥४२॥
इति ब्रुवाणां तां राजपुत्रीमाह स्म सा सखी।
अभिष्वङ्गोऽनुरूपोऽयं स्थाने ते मनसः सखि॥४३॥
इतरेतरशोभायै संयोगो युवयोः किल।
नवचन्द्रकलाशार्वजटामुकुटयोरिव॥४४॥
अधृतिश्चात्र मा भूत्ते ध्रुवं स भवतीं विना।
न स्थास्यति त्वया किं स तथाभूतो न लक्षितः॥४५॥

'तुमने दुर्जेय राक्षसों को मारकर इन्द्र की रक्षा की' पर मुझसे केवल बोलकर ही कामदेव से मेरी रक्षा क्यों नहीं करते हो ॥३१॥

(ठीक ही है), अल्प पुण्यवाले व्यक्ति के लिए कल्पवृक्ष भी कृपण हो जाता है, बुद्धदेव भी दयाहीन हो जाते हैं, और सोना भी पत्थर हो जाता है ॥३२॥

निश्चय तुमको काम-ज्वर का अनुभव नहीं है (इसलिए) मेरी व्यथा नहीं समझते हो। जब वह राक्षस भी तुम्हें जीत न सका, तब बेचारा तपस्वी कामदेव तुम्हारा क्या कर सकता है? ॥३३॥

अथवा (और) क्या कहूँ, मेरा तो विधाता ही वाम है, जो आँसू से मेरी आँखें बन्द करते हुए चाहता है कि चित्र में भी मैं तुम्हें न देख सकूँ' ॥३४॥

इतना कहकर वह राजकुमारी रोने लगी और इस प्रकार आँसू की बूँदें गिरने लगीं, जैसे टूटे हुए हार से बड़े-बड़े मोती के दाने गिर रहे हों ॥३५॥

इसी समय मनोहारिका उसके पास आ गई, और राजकुमारी ने चित्र को छिपाकर कहा कि—॥३६॥

'सखी! इतनी देर से तुम नहीं दीख पड़ी, (कहो) कहाँ थी?' यह सुनकर हँसती हुई मनोहारिका ने कहा कि—॥३७॥

'मैं तो तुम्हें ही खोजती हुई देर से भटक रही हूँ, इसलिए तुम (मुझसे) इस चित्र को क्या छिपाती हो? मैंने तो सब कुछ देखा भी और सुना भी है' ॥३८॥

सखी के इस प्रकार कहने पर पद्मावती ने लज्जा से मुँह झुकाये, उसके हाथ पकड़कर, आँसुओं से भारी आवाज से कहा कि—॥३९॥

'सखी! तुम्हें तो सब कुछ पहले से ही ज्ञात है; तुमसे क्या छिपाया जाय? राजकुमार मुक्ताफलकेतु ने उस दिन गौरी-मन्दिर में परम भयंकर राक्षसी-रूपी अग्नि के बीच से मुझे बचाकर भी दुर्विनार विरहज्वाला से युक्त कामाग्नि में फेंक दिया है ॥४०-४१॥

इसलिए, जान नहीं पड़ता कि कहाँ जाऊँ, किसे कहूँ, क्या करूँ, अथवा किस उपाय का अवलम्बन करूँ? हाय, मेरा मन दुर्लभ पुरुष पर आसक्त हो गया है' ॥४२॥

राजकुमारी पद्मावती के इस प्रकार कहने पर सहेली ने कहा कि 'हे सखी!' तुम्हारे मन में (जो) यह प्रेम उत्पन्न हुआ है (वह) अनुरूप (और) उचित ही है ॥४३॥

तुम दोनों का यह संयोग एक-दूसरे की शोभा बढ़ानेवाला है, जैसे बालचन्द्र की कला और शिवजी की जटा का मुकुट (एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं) ॥४४॥

तुम अधीर मत होओ। निश्चय, वह तुम्हारे विना न रह सकेगा। क्या तुमको वह ऐसा नलक्षित हुआ? ॥४५॥

स्त्रियोऽपीच्छन्ति पुंभावं यां दृष्ट्वा रूपलोलुभाः ।
तस्यास्ते को भवेन्नार्थी तुल्यरूपः स किं पुनः ॥४६॥
शर्वोऽप्यलीकवादी किं येनोक्तौ दम्पती युवाम् ।
अदूरगेऽप्यभीष्टेऽर्थे को वार्त्तो भजते धृतिम् ॥४७॥
तदाश्वसिहि भावी ते स एव नचिरात्पतिः ।
न त्वया दुर्लभः कश्चित्त्वं तु सर्वेण दुर्लभा ॥४८॥
इत्युक्ता सा तया सख्या राजपुत्री जगाद ताम् ।
सखि यद्यपि जानामि तथापि करवाणि किम् ॥४९॥
इदं तु मे तदासक्तं चेतो नोत्सहते क्षणम् ।
स्थातुं विना तं प्राणेशं क्षमते न च मन्मथः ॥५०॥
तमेव हि स्मरन्त्या मे मनो निर्वाति न क्षणम् ।
दह्यन्तेऽङ्गानि सन्तापेनोत्क्रामन्तीव चासवः ॥५१॥
एवं वदन्ती मोहेन मोहिता पुष्पपेलवा ।
अङ्के तस्या वयस्याया राजपुत्री पपात सा ॥५२॥
अथाम्बुसेककदलीपल्लवानिलवीजनैः ।
साश्रुराश्वासयामास सा वयस्या क्रमेण ताम् ॥५३॥
मृणालहारवलयं श्रीखण्डार्द्रविलेपनम् ।
नलिनीदलशय्यां च यानि सा विदधे सखी ॥५४॥
तस्यास्तान्यपि सन्तापसमासक्तानि सङ्गतः ।
सन्तप्य समदुःखत्वमिव शुष्यन्ति भेजिरे ॥५५॥
ततः सा विह्वला पद्मावती तामवदत्सखीम् ।
क्लिश्नासि किं वृथात्मानं नैव शाम्यति मे व्यथा ॥५६॥
येन शाम्यति तच्चेत्त्वं कुरुषे तच्छिवं भवेत् ।
एवमुक्तवतीमार्त्तां वयस्या तामभाषत ॥५७॥
कुर्यां किं यन्न नामाहं तवार्थे ब्रूहि तत्सखि ।
तच्छ्रुत्वा सा ह्रिया किञ्चिदिव राजसुताब्रवीत् ॥५८॥
तमिहानय मे कान्तं गत्वा प्रियसखि द्रुतम् ।
नान्यथोपशमो मे स्यात्तातश्चैव न कुप्यति ॥५९॥
प्रत्युतेहागतायैव मामेषोऽस्मै प्रदास्यति ।
एवं तयोक्ता सोत्साहं वयस्या साप्युवाच ताम् ॥६०॥

जिसे देखकर रूप के लोभ से स्त्रियाँ भी पुरुष हो जाने की कामना करने लगती हैं, ऐसी तुमको कौन नहीं प्राप्त करना चाहेगा? फिर वह तो तुम्हारे समान ही रूपवान् है। वह क्यों नहीं अपने अनुरूप पत्नी की कामना करेगा? ॥४६॥

क्या शिवजी मिथ्यावादी हैं, जिन्होंने तुम दोनों का पति-पत्नी होना कहा है? निकट में ही सिद्ध होनेवाली कामना के लिए कौन आर्त्त व्यक्ति (इस भाँति) अधीर होता है? ॥४७॥

इसलिए, तुम आश्वस्त होओ। मुक्ताफलकेतु ही अविलम्ब तुम्हारा पति होनेवाला है। तुम्हारे लिए कोई (पुरुष) दुर्लभ नहीं है, प्रत्युत तुम्हीं सबके लिए दुर्लभ हो' ॥४८॥

सखी के ऐसा कहने पर राजकुमारी ने कहा कि 'हे सखी! यद्यपि मैं यह सब जानती हूँ, तथापि क्या करूँ? ॥४९॥

मुक्ताफलकेतु में आसक्त मेरा मन तो क्षण-भर भी उसके बिना रहने को तैयार नहीं है। और कामदेव भी क्षमा नहीं करता है ॥५०॥

उसी का ध्यान करते मेरा मन क्षण-भर भी शान्त नहीं होता। (विरह के) सन्ताप से (सारे) अंग जल रहे हैं और प्राण निकल-से रहे हैं' ॥५१॥

इस प्रकार कहती हुई फूल-सी कोमल वह राजकुमारी मूर्च्छित हो गई और सखी की गोद में गिर पड़ी ॥५२॥

सखी रोती-रोती पानी के छींटे देकर और केले के पत्ते से हवा करके राजकुमारी को होश में लाई ॥५३॥

सखी ने जो (उपचार के लिए) मृणाल (कमल के डण्ठल) के हार और कंगन रचे, श्रीखण्ड-चन्दन के द्रव का लेप किया और पुरइन के पत्तों की सेज बनाई, ये वस्तुएँ भी (उसके शरीर का) स्पर्श पाकर सन्ताप से युक्त हो सूखती हुई उसके दुःख की सहभागिनी हो गई ॥५४-५५॥

तब व्याकुल पद्मावती ने सखी से कहा कि 'तुम (इस प्रकार) अपने को व्यर्थ कष्ट क्यों दे रही हो? इन उपचारों से मेरी व्यथा शान्त नहीं होती है ॥५६॥

जिससे (मेरी व्यथा) शान्त हो सकती है, वह यदि तुम करो, तो (मेरा) कल्याण हो।' आर्त्त पद्मावती के ऐसा कहने पर सखी ने कहा कि—॥५७॥

'हे सखी! मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ, यह बतलाओ।' यह सुनकर राजकुमारी कुछ लजाई-सी बोली कि—॥५८॥

'तुम जाकर (मेरे) उस प्रियतम को शीघ्र यहाँ ले आओ; क्योंकि अन्य किसी उपचार से मेरी (व्यथा) शान्त न होगी और (इस बात से) मेरे पिताजी भी नाराज न होंगे ॥५९॥

प्रत्युत यहाँ आने पर उसके हाथों मुझे सौंप देंगे।' उसके ऐसा कहने पर सखी ने राजकुमारी से कहा कि—॥६०॥

यद्येवं तद्गृहाण त्वं धैर्यं कार्यमिदं कियत्।
एषाहं सखि याम्येव त्वत्प्रियानयनाय यत्॥६१॥
तत्पितुः खेचरेन्द्रस्य चन्द्रकेतोः पुरोत्तमम्।
ख्यातं चन्द्रपुरं नाम निर्वृता भव किं शुचा॥६२॥
इति साश्वासिता सख्या तया राजसुताभ्यधात्।
तदुत्तिष्ठ शिवः पन्था अस्तु ते व्रज सत्वरम्॥६३॥
त्राता त्रयाणां लोकानां स च सप्रणयं त्वया।
मद्गिरा सखि वक्तव्यो वीरः प्राणेश्वरो मम॥६४॥
"तस्मिन्गौर्यायतने तथा परित्राय राक्षसीभयतः।
स्त्रीघ्नेन हन्यमानां रक्षसि मां मकरकेतुना न कथम्॥६५॥
भुवनोद्धरणसहानां भवादृशामेष नाथ को धर्मः।
आपद्युपेक्ष्यते यत्पूर्वत्रातो जनोऽनुवृत्तोऽपि"॥६६॥
एवं वदेस्तं कल्याणि यथा जानासि वा स्वयम्।
इति व्याहृत्य सा पद्मावती तां व्यसृजत्सखीम्॥६७॥
सा च स्वसिध्द्युपनतं पक्षिवाहनमास्थिता।
तन्मनोहारिका प्रायाद्विद्याधरपुरं प्रति॥६८॥
सा च पद्मावती किञ्चिदाशालब्धधृतिस्ततः।
गृहीतचित्रफलका मन्दिरं प्राविशत्पितुः॥६९॥
तत्र दासीपरिवृता प्रविश्य निजवासकम्।
स्नात्वा गौरीपतिं भक्त्या पूजयित्वा व्यजिज्ञपत्॥७०॥
भगवंस्त्रिषु लोकेषु त्वदिच्छानुग्रहं विना।
न सिद्ध्यतीह कस्यापि बह्वल्पं वापि वाञ्छितम्॥७१॥
तद्विद्याधरसच्चक्रवर्त्तिपुत्रं तमीप्सितम्।
न दास्यसि पतिं चेन्मे देहं त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः॥७२॥
एवं विहितविज्ञप्तिं शशाङ्कमुकुटस्य ताम्।
श्रुत्वा सखेदः साश्चर्यः परिवारजनोऽवदत्॥७३॥
स्वदेहनिरपेक्षैव किमेवं देवि भाषसे।
तवापि किमसुप्राप्यं नामास्त्यत्र जगत्त्रये॥७४॥
त्वदर्थ्यमानो मुञ्चेद्धि सुगतोऽपि स संयमम्।
तदेकः सोऽत्र सुकृती यस्त्वयाप्येवमर्थ्यते॥७५॥

'(हे सखी !) यदि ऐसी बात है, तो तुम धैर्य धारण करो। यह कौन-सा बड़ा काम है ? यह लो, मैं तुम्हारे प्रियतम मुक्ताफलकेतु को लाने के लिए उसके पिता विद्याधरराज चन्द्रकेतु के श्रेष्ठ नगर चन्द्रपुर जा रही हूँ; इसलिए तुम निश्चिन्त होओ और शोक मत करो' ॥६१-६२॥

इस प्रकार, सखी द्वारा आश्वासिता राजकुमारी ने कहा कि—"तो उठो, तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो। शीघ्र विदा होओ ॥६३॥

तुम तीनों लोकों का त्राण करनेवाले प्राणनाथ से प्रेमपूर्वक मेरा यह संवाद कहना कि—॥६४॥

"गौरी-मन्दिर में तो तुमने राक्षसियों के भय से मुझे उस भाँति बचा लिया, किन्तु अब जो स्त्रीघाती कामदेव मुझे मार रहा है, तो क्यों नहीं बचाते हो ? ॥६५॥

हे नाथ ! (संकट से) संसार-भर का उद्धार करने में समर्थ तुम-जैसे (महाशयों) का क्या यही धर्म है कि जिस व्यक्ति का पहले त्राण कर चुके, उसी व्यक्ति को (अपने) अनुगामी रहने पर भी आपत्ति के समय उपेक्षा करें ?" ॥६६॥

हे कल्याणी सखी ! उससे ऐसा कहना या तुम जैसा (उचित) समझो (वैसा कहना)।" ऐसा कहकर पद्मावती ने अपनी सखी को विदा किया ॥६७॥

मनोहारिका अपनी सिद्धि के प्रभाव से सम्प्राप्त पक्षी-रूपी वाहन पर सवार हो विद्याधर-नगर की ओर चली ॥६८॥

पद्मावती भी कुछ-कुछ आशावश धैर्य प्राप्त कर (उस) चित्रफलक को लिये हुए पिता के भवन चली गई ॥६९॥

वहाँ दासियों से घिरी हुई राजकुमारी अपने निवास-कक्ष में जाकर स्नान करके शंकर की पूजा कर (उनकी) प्रार्थना करने लगी कि—॥७०॥

'हे भगवन् ! तुम्हारी कृपा के बिना तीनों लोकों में किसी का भी छोटा या बड़ा कोई भी मनोरथ पूरा नहीं होता है ॥७१॥

इसलिए, यदि तुम विद्याधर-चक्रवर्त्ती के पुत्र मुक्ताफलकेतु को मेरे मनोभिलषित पति के रूप में नहीं दोगे, तो मैं तुम्हारे आगे अपना शरीर त्याग दूँगी, ॥७२॥

इस प्रकार, जब पद्मावती ने शिवजी की प्रार्थना की, तब (वह प्रार्थना) सुनकर उसके परिजनों ने खेद और आश्चर्य के साथ उससे कहा कि— ॥७३॥

'अपने शरीर की एकदम परवाह न करती हुई यह तुम क्या बोल रही हो ? क्या इन तीनों लोकों में कोई भी ऐसी वस्तु है, जो बिना कष्ट के तुम्हारे लिए सुलभ न हो ? ॥७४॥

तुम यदि बुद्धदेव की भी कामना करती, तो वह अपना व्रत तोड़ देता। इसलिए, (प्रतीत होता है कि) इस संसार में वह (पुरुष) अद्वितीय पुण्यवान् है, जिसे तुम इस प्रकार चाह रही हो। ॥७५॥

एतच्छ्रुत्वा गुणाकृष्टा राजपुत्री जगाद सा ।
समाश्रयः सशक्राणां देवानामेक एव यः ॥७६॥
अर्केणेव तमो ध्वस्तं येनैकेनासुरं बलम् ।
प्राणदाता च योऽस्माकं प्रार्थनीयः कथं न सः ॥७७॥
इत्यादि ब्रुवती सोत्का तयैव कथया ततः ।
अतिष्ठत्सममाप्तेन तत्र दासीजनेन सा ॥७८॥
अत्रान्तरे चन्द्रपुरं सा मनोहारिकापि तत् ।
विद्याधरेन्द्रनगरं सत्वरं प्राप तत्सखी ॥७९॥
गीर्वाणनगरं कृत्वाप्यसन्तोषादिवाद्भुतम् ।
निर्ममे विश्वकर्मा यदसामान्यविभूतिकम् ॥८०॥
तत्रासम्प्राप्य तं मुक्ताफलकेतुं विचिन्वती ।
खगस्था तत्पुरोद्यानं सा मनोहारिकागमत् ॥८१॥
अतर्क्यसिद्धिविभवं भास्वन्मणिमयद्रुमम् ।
एकवृक्षोद्गतानेकजातीयकुसुमोत्करम् ॥८२॥
दिव्यगीतरवोन्मिश्रशकुन्तरुतसुन्दरम् ।
पश्यन्ती तच्च सा रेमे नानारत्नशिलातलम् ॥८३॥
उद्यानपालैर्दृष्ट्वा च विचित्रैः पक्षिरूपिभिः ।
उपेत्याभ्यर्थ्य सुव्यक्तवचनैः प्रियवादिभिः ॥८४॥
पारिजाततरोर्मूले तार्क्ष्यरत्नशिलासने ।
उपवेश्योचितैर्भोगैस्तस्याः पूजा व्यधीयत ॥८५॥
अभिनन्द्य च तां पूजां चिन्तयामास तत्र सा ।
अहो विद्याधरेन्द्राणां चित्राः सिद्धिविभूतयः ॥८६॥
अचिन्त्योपनमद्भोगं येषामुद्यानमीदृशम् ।
सुरस्त्रीबद्धसङ्गीतं पतत्त्रिपरिचारकम् ॥८७॥
इति सञ्चिन्त्य पृष्ट्वा च तानेवोद्यानपालकान् ।
चिन्वती पारिजातादितरुखण्डमवाप सा ॥८८॥
तत्रान्तश्चन्दनासिक्तकुसुमास्तरशायिनम् ।
सा मुक्ताफलकेतुं तं सा कल्पकमिवैक्षत ॥८९॥
गौर्याश्रमे दृष्टचरं प्रत्यभिज्ञाय सा च तम् ।
पश्याम्यस्य किमस्वास्थ्यं छन्नस्थैवेत्यचिन्तयत् ॥९०॥

यह सुनकर (उस मुक्ताफलकेतु के) गुणों पर आकृष्ट हुई राजपुत्री पद्मावती बोली कि 'जो इन्द्र-सहित (सभी) देवताओं का एकमात्र अवलम्बन है, जिसने राक्षसी सेना को ऐसे नाश कर दिया, जैसे सूर्य अन्धकार का नाश करते हैं,और जिसने हमलोगों को प्राणदान दिया है, उसकी कामना मैं क्यों न करूँ ?' ॥७६-७७॥

इत्यादि बोलती हुई पद्मावती विरहोत्कण्ठित हो अपनी अन्तरंग दासियों के साथ उसी प्रियतम के प्रसंग में बतराती हुई वहाँ रही ॥७८॥

इसी बीच उसकी सखी मनोहारिका विद्याधरराज के नगर चन्द्रपुर झटपट पहुँची॥७९॥

देवताओं का नगर बनाकर भी सन्तुष्ट न होने के कारण जिस नगर को विश्वकर्मा ने अद्भुत और असाधारण ऐश्वर्य से युक्त करके बनाया था ॥८०॥

वहाँ पहुँचकर उस मुक्ताफलकेतु को खोजती हुई पक्षी पर चढ़ी मनोहारिका नगर-उद्यान में गई॥८१॥

उद्यान की सिद्धिजन्य समृद्धि कल्पनातीत थी, वहाँ मणिमय वृक्ष चमक रहे थे, एक ही वृक्ष में नाना प्रकार के ढेरों फूल निकले हुए थे॥८२॥

विद्याधरों के गीतों की ध्वनि में पक्षियों का कलरव मिश्रित हो (उस उद्यान को) रमणीय बना रहा था, और वहाँ विभिन्न प्रकार के रत्नों के शिलाखण्ड (फैले हुए) थे। इस उद्यान को देखती हुई वह प्रसन्न हो गई॥८३॥

विचित्र पक्षी-जैसे रूपवाले तथा प्रियभाषी उद्यानपालों (बाग के रखवालों) ने मनोहारिका को देख सुन्दर और स्पष्ट वचनों से उसका सत्कार किया और पारिजात वृक्ष के नीचे वैदूर्यमणि की शिलारूपी आसनपर बैठाकर समुचित भोग्य वस्तुओं से उसका आतिथ्य किया॥८४-८५॥

मनोहारिका उस आतिथ्य की प्रशंसा करते हुए सोचने लगी कि अहा! विद्याधर-राजों की सिद्धि के प्रभाव कितने आश्चर्यजनक हैं॥८६॥

जिनका उद्यान ऐसा है कि वहाँ भोग की वस्तुएँ अचिन्तनीय रूप से प्राप्त हो जाती हैं, स्वर्ग की सुन्दरियाँ संगीत अलापती रहती हैं और पक्षी परिचारक (के काम करते) हैं॥८७॥

यह सोच और उन्हीं उद्यानपालों को पूछ वह मनोहारिका (उस मुक्ताफलकेतु को) खोजती हुई पारिजात-वृक्षों के झुरमुट में पहुँची। ॥८८॥

उसके भीतर उसने मुक्ताफलकेतु को चन्दन से सिंचित फूलों की सेज पर रोगी की भाँति सोया देखा॥८९॥

उसने गौरी-मन्दिर में पहले देखा था (इसलिए) उस मुक्ताफलकेतु को पहचान लिया और सोचा कि छिपी रहकर ही देखूं कि इसका रोग क्या है॥९०॥

तावदाश्वासयन्तं तं हिमचन्दनमारुतैः।
मित्रं संयतकं मुक्ताफलकेतुरुवाच सः॥९१॥
अङ्गारास्तुहिने न्यस्ताः कुकूलाग्निश्च चन्दने।
मारुते दाववह्निश्च स्मरेण मम निश्चितम्॥९२॥
विरहार्त्तस्य सन्तापं समन्तात्सृजतामुना।
तत्किमायासयस्येवमात्मानं निष्फलं सखे॥९३॥
सुरस्त्रीनृत्तगीतादिविनोदैरपि दूयते।
नन्दनाभ्यधिकेऽमुष्मिन्नुद्याने हि मनो मम॥९४॥
विना पद्मावतीं तां तु पद्मशेखरसम्भवाम्।
पद्माननां न मे शाम्यत्ययं स्मरशरज्वरः॥९५॥
न चैतदुत्सहे वक्तुं कस्यचिन्न लभे धृतिम्।
एक एव तु तत्प्राप्तावुपायो विद्यते मम॥९६॥
गच्छामि गौर्यायतनं दृष्टया यत्र मे तया।
कटाक्षेषुभिरुत्खाय हृदयं प्रियया हृतम्॥९७॥
तत्राद्रिराजतनयासङ्गतस्तत्समागमे।
तपसाराधितः शम्भुरुपायं मे विधास्यति॥९८॥
इत्युक्त्वा यावदुत्थातुं राजपुत्रः स इच्छति।
सा मनोहारिका तावत्तुष्टात्मानमदर्शयत्॥९९॥
वयस्य वर्धसे दिष्ट्या सिद्धं तव समीहितम्।
पश्येयमागता तस्याः प्रियायास्तेऽन्तिकं सखी॥१००॥
त्वत्पार्श्वस्थेन दृष्टा हि मयासावम्बिकाश्रमे।
इति हर्षाच्च तं राजपुत्रं संयतकोऽब्रवीत्॥१०१॥
ततः स स्फूर्जदानन्दविस्मयौत्सुक्यसङ्कुलाम्।
काञ्चिद्राजसुतोऽवस्थां दधे दृष्ट्वा प्रियासखीम्॥१०२॥
नेत्रपीयूषवृष्टिं तां पप्रच्छोपागतां च सः।
उपवेश्यान्तिके कान्ताशरीरकुशलं तदा॥१०३॥
अथ सा निजगादैवं मत्सख्याः कुशलं प्रभो।
त्वयि नाथे ध्रुवं भावि साम्प्रतं दुःखिता तु सा॥१०४॥
यदाप्रभृति दृष्टेन हृतं तस्यास्त्वया मनः।
तत आरभ्य विमना न शृणोति न पश्यति॥१०५॥

इतने में मुक्ताफलकेतु ने बर्फ, चन्दन और पंखे से उपचार करते हुए संयतक नाम के अपने मित्र से कहा कि—॥९१॥

निश्चय, विरह से व्याकुल मेरे लिए चारों ओर सन्ताप की सृष्टि करते हुए, इस कामदेव ने इस बर्फ में अंगार डाल दिये हैं, चन्दन में भूसे की आग भर दी है, और (पंखे की) हवा में दावानल भर दिया है। अतः, हे मित्र! इस प्रकार अपने को व्यर्थ कष्ट क्यों देते हो? ।९२-९३॥

नन्दन वन से भी श्रेष्ठ इस उद्यान में स्वर्गीय सुन्दरियों के नाच, गान आदि मनोरंजनों से भी मेरा मन दुःखी ही होता है॥९४॥

पद्मशेखर की पुत्री पद्मसदृश मुँहवाली पद्मावती के बिना मेरा यह कामदेव के शरों का सन्ताप शान्त होनेवाला नहीं है॥९५॥

यह बात किसी से कह भी नहीं सकता हूँ और धैर्य भी धारण नहीं कर सकता। उसे प्राप्त करने का एक ही उपाय मेरे पास है॥९६॥

मैं गौरी-मन्दिर जाता हूँ, जहाँ मेरी प्रियतमा ने दृष्टि में आते ही (अपने) कटाक्ष-रूपी तीरों से उखाड़कर मेरे हृदय का हरण कर लिया था॥९७॥

वहाँ मैं हिमालय की पुत्री गौरी से मिले हुए भगवान् शंकर की आराधना करूँगा, वे ही उसके साथ मेरे मिलन का (कोई) उपाय करेंगे॥९८॥

यह कहकर ज्योंही वह राजकुमार मुक्ताफलकेतु उठने लगे, त्योंही मनोहारिका ने प्रसन्न हो अपने को प्रकट कर दिया॥९९॥

(मनोहारिका को देख) हर्षित हो, (मुक्ताफलकेतु के मित्र) संयतक ने राजकुमार से कहा कि हे मित्र! अहोभाग्य! तुम्हें शुभ समाचार सुनाता हूँ। तुम्हारी कामना पूरी हो गई। देखो, तुम्हारी प्रियतमा की सहेली तुम्हारे पास आई है, जिसे मैंने तुम्हारे साथ रहते हुए गौरी-मन्दिर में देखा था॥१००-१०१॥

तब अपनी प्रेमिका की सहेली को देख राजकुमार मुक्ताफलकेतु ने बढ़ते हुए आनन्द, विस्मय और उत्सुकता (इन तीनों भावों) से भरी एक अपूर्व अवस्था को प्राप्त किया॥१०२॥

आँख के लिए अमृतवृष्टि के समान (अपने) पास आई हुई (मनोहारिका) को राजकुमार ने निकट बैठाकर प्रेमिका की शारीरिक कुशलता पूछी॥१०३॥

सखी ने कहा कि आप जैसे पति के होने पर निश्चय ही मेरी सखी (पद्मावती की) कुशलता होनेवाली है, किन्तु अभी तो वह दुःखी है॥१०४॥

जब से दृष्टिगत हो आपने उसका मन हर लिया है, तब से वह खिन्न हो गई है, न (कुछ) सुनती है और न (कुछ) देखती है॥१०५॥

मृणालहारं दधती बालाहारं विमुच्य सा ।
लुठत्यम्बुजिनीपत्रशयने शयनोज्झिता ॥१०६॥
असहिष्ट न या पूर्वं ह्रिया वरकथामपि ।
इमामवस्थां सैषाद्य प्राप्ता प्रियतमं विना ॥१०७॥
इति तस्या हसन्तीव स्वान्येवाङ्गानि सम्प्रति ।
सन्तापशुष्यच्छ्रीखण्डसितानि कृतिनां वर ॥१०८॥
एवं च सा ब्रवीति त्वामित्युदीर्य पपाठ ते ।
सा मनोहारिका पद्मावतीसन्देशगीतिके ॥१०९॥
स तच्छ्रुत्वाखिलं मुक्ताफलकेतुर्गतव्यथः ।
तां मनोहारिकां हर्षादभिनन्द्याभ्यभाषत ॥११०॥
अमृतेनेव वचसा तव सिक्तमिदं मम ।
चैतन्यमासीच्छ्वसितं धृतिर्जाता गतः क्लमः ॥१११॥
फलितं चाद्य मे पूर्वसुकृतैर्यदहो मयि ।
गन्धर्वराजतनया साप्येवं पक्षपातिनी ॥११२॥
किन्त्वहं शक्नुयां सोढुं कथञ्चिद्विरहव्यथाम् ।
शिरीषसुकुमाराङ्गी विषहेत कथं तु सा ॥११३॥
तस्मादहमुपैम्येष तमेव गिरिजाश्रमम् ।
तत्र त्वमानय सखी येन स्यात्सङ्गमोऽद्य नौ ॥११४॥
आश्वासय च तां गत्वा कल्याणि त्वरितं सखीम् ।
इमं च परितुष्टेन वितीर्णं मे स्वयम्भुवा ॥११५॥
देहि चूडामणिं तस्यै सर्वदुःखनिबर्हणम् ।
शक्रात्प्राप्तो मया चायं हारस्ते पारितोषिकः ॥११६॥
इत्युक्त्वा शिरसश्चूडामणिं तस्यै समर्पयत् ।
हारं च कण्ठात्तत्कण्ठे तं स राजसुतो व्यधात् ॥११७॥
अथ प्रणम्य तं प्रीता सा मनोहारिका ततः ।
प्रतस्थे विहगारूढा सखीं पद्मावतीं प्रति ॥११८॥
स मुक्ताफलकेतुश्च प्रहर्षापहतक्लमः ।
सह संयतकेन स्वं त्वरितं प्राविशत्पुरम् ॥११९॥
सापि पद्मावतीपार्श्वं प्राप्य तस्यै यथेप्सितम् ।
तं मनोहारिकाचख्यौ तत्प्रियस्मरसंज्वरम् ॥१२०॥

वह कन्या (अपने) हार को उतार कमल के डण्ठल का हार पहनती है और (अपनी) शय्या को छोड़ कमल-पत्र की शय्या पर लेटी रहती है॥१०६॥

जो पहले लज्जावश वर-सम्बन्धी बातचीत भी न सहती थी, वही (मेरी सखी) आज अपने प्रियतम के विरह में ऐसी अवस्था पर पहुँच गई है॥१०७॥

हे यशस्वियों में श्रेष्ठ राजकुमार! (लगता है जैसे) इसीलिए उसके अपने अंग ही (विरह)-सन्ताप से सूखकर श्रीखण्ड चन्दन-जैसे सफेद हो अभी उसका उपहास कर रहे हों॥१०८॥

उसने आपको यह संवाद भेजा है? यह कहकर मनोहारिका ने पद्मावती के संवाद के वे दोनों श्लोक पढ़े (देखिए श्लोक-संख्या ६५ और ६६) ॥१९९॥

यह सारा (संवाद) सुनकर मुक्ताफलकेतु ने व्यथा से रहित हो हर्षपूर्वक मनोहारिका का अभिनन्दन करके (उससे) कहा कि—॥११०॥

इस वचन से मेरा यह चैतन्य अमृत-सिंचित-सा हो उठा है; साँस लौट आई है, धैर्य उत्पन्न हुआ है, और विषाद दूर हो गया है॥१११॥

गन्धर्वराजपुत्री पद्मावती भी जो मुझपर इस प्रकार अनुरागवती हुई है, इससे (मैं समझता हूँ कि) मेरे सभी पूर्वाजित पुण्य सफल हो गये॥११२॥

मैं तो किसी भाँति विरह-वेदना सह भी सकूंगा, किन्तु (उस वेदना को) शिरीष के फूल जैसे कोमल अंगोंवाली वह पद्मावती कैसे सहेगी।॥११३॥

इसलिए, मैं तुरत गौरी-मन्दिर जाता हूँ। आप (अपनी) सखी पद्मावती को वहाँ लेते आइए। जिससे हम दोनों का आज मिलन हो (सके)॥११४॥

और हे कल्याणि! शीघ्र जाकर अपनी सखी को आश्वासन दो। और, उसे सभी दुःखों को नाश करनेवाली यह चूडामणि देना, जो (भगवान्) शंकर ने प्रसन्न हो मुझे दी है। और, यह हार मैं आपको पुरस्कार-स्वरूप देता हूँ, जो मुझे इन्द्र से प्राप्त हुआ है॥११५-११६॥

यह कहकर, राजकुमार ने (अपने) सिर से चूडामणि उतारकर उसे सौंप दिया तथा (अपने) गले से हार निकालकर उसके गले में पहना दिया॥११७॥

तदनन्तर, मुक्ताफलकेतु को प्रणाम कर प्रसन्न हो मनोहारिका पक्षी पर सवार हुई और वहाँ से सखी पद्मावती के निकट चली॥११८॥

मुक्ताफलकेतु भी, जिसका विषाद (इस) हर्ष से दूर हो गया था, (अपने मित्र) संयतक के साथ तुरत अपने नगर के भीतर चला गया॥११९॥

मनोहारिका भी पद्मावती के पास पहुँचकर उसके प्रियतम (मुक्ताफलकेतु) के काम-सन्ताप (का वर्णन) उसे कह सुनाया॥१२०॥

प्रणयस्निग्धमधुरं तद्वचश्च यथाश्रुतम् ।
तं च सङ्गमसंकेतं तदुक्तं गिरिजाश्रमे ॥१२१॥

ददौ तत्प्रहितं तं च तस्यै चूडामणिं ततः ।
पारितोषिकहारं च तद्दत्तं तमदर्शयत् ॥१२२॥

ततः पद्मावती सा तामाश्लिष्य कृतिनीं सखीम् ।
अपूजयद्विसस्मार स्मरानलरुजं च ताम् ॥१२३॥

बद्ध्वा शिखायामानन्दमिव चूडामणिं च तम् ।
चक्रे परिकरं गौरीकाननागमनाय सा ॥१२४॥

अत्रान्तरे मुनिर्दैवात्तद्गौरीवनमागमत् ।
दृढव्रतेन शिष्येण सह नाम्ना तपोधनः ॥१२५॥

स चात्र तमुवाचैवं मुनिः शिष्यं दृढव्रतम् ।
दिव्योद्यानेऽहमेतस्मिन्समाधिं विदधे क्षणम् ॥१२६॥

द्वारि स्थित्वा प्रवेशोऽत्र न देयः कस्यचित्त्वया ।
समापितसमाधिश्च पूजयिष्यामि पार्वतीम् ॥१२७॥

इत्युक्त्वा मुनिरुद्यानद्वारे शिष्यं निवेश्य तम् ।
अधस्तात्पारिजातस्य स समाधिमसेवत ॥१२८॥

समाधेरुत्थितश्चान्तर्विवेशार्चितुमम्बिकाम् ।
न च तत्तस्य शिष्यस्य जगाद द्वारवर्त्तिनः ॥१२९॥

तावच्चात्राययौ मुक्ताफलकेतुः प्रसाधितः ।
आरुह्य दिव्यकरभं सह संयतकेन सः ॥१३०॥

प्रविशंश्च तदुद्यानं मुनिशिष्येण तेन सः ।
मा मा गुरुः समाधौ मे स्थितोऽत्रेति न्यषिध्यत ॥१३१॥

विस्तीर्णाभ्यन्तरे जातु प्रिया सा स्यादिहागता ।
मुनिश्चात्रैंकदेशस्थ इत्यालोच्य स सोत्सुकः ॥१३२॥

राजपुत्रो व्यतीत्यास्य मुनिपुत्रस्य दृक्पथम् ।
विवेश व्योममार्गेण तदुद्यानं सुहृद्युतः ॥१३३॥

यावच्च वीक्षते तत्स तावत्तत्र विवेश सः ।
गुरोः समाधिनिष्पत्तिं मुनिशिष्यो निरीक्षितुम् ॥१३४॥

उस (मुक्ताफलकेतु) का वह प्रेम से सना मधुर वचन तथा गौरी-मन्दिर में मिलन का संकेत, जो उसने कहा था, मनोहारिका ने (उसी भाँति कह सुनाया), जैसा उसने (मुक्ताफलकेतु के मुँह से सुना था॥१२१॥

और, उस (पद्मावती) को वह चूडामणि दी, जो मुक्ताफलकेतु ने भेजी थी, और उसका दिया हुआ वह पुरस्कार का हार भी दिखलाया॥१२२।।

पद्मावती ने सफल प्रयासवाली सखी मनोहारिका को गले से लगाकर सत्कार किया और वह कामाग्नि-सन्ताप भूल गई॥१२३॥

और, साकार आनन्द की भाँति उस चूडामणि को (सिर से) बाँधकर गौरी-मन्दिर जाने की तैयारी करने लगी॥१२४॥

इस बीच तपोधन नाम के एक मुनि दृढव्रत नाम के (अपने) शिष्य के साथ संयोगवश गौरी-वन में आये॥१२५॥

मुनि ने वहाँ (अपने) शिष्य दृढव्रत से कहा कि इस स्वर्गीय उद्यान मैं क्षण-भर समाधि लगाता हूँ॥१२६॥

अतः, द्वार पर खड़ा हो तुम किसी को भीतर घुसने न देना। और मैं समाधि समाप्त करने पर पार्वती की पूजा करूँगा॥१२७॥

यह कहकर वे मुनि द्वार पर उस शिष्य को तैनात करके पारिजात वृक्ष के नीचे समाधि में लीन हो गये॥१२८॥

और (फिर कुछ देर में) समाधि से उठकर गौरी की पूजा करने के लिए (मन्दिर के) भीतर घुसे; किन्तु उन्होंने यह बात द्वार पर खड़े उस शिष्य से नहीं कही॥१२९॥

इसी समय शृंगार किये वह मुक्ताफलकेतु स्वर्गीय ऊँट पर चढ़कर (अपने मित्र) संयतक के साथ वहाँ आया॥१३०॥

और, उस उद्यान में प्रवेश करने लगा कि मुनि के शिष्य ने उसे (यह कहते हुए) रोका कि हाँ, हाँ! (भीतर मत जाइए)। वहाँ मेरे गुरु समाधि लगाये हुए हैं॥१३१॥

(मुक्ताफलकेतु ने सोचा कि) इस उद्यान का भीतरी भाग (बहुत) विस्तृत है, उसमें कहीं मेरी प्रिया आ गई होगी और मुनि भी किसी एक भाग में समाधि लगाये होंगे। यह सोचकर उत्सुकतावश—॥१३२॥

उस राजकुमार ने मुनि के शिष्य की दृष्टि से बचकर उस मित्र के साथ आकाश-मार्ग से उस उद्यान में प्रवेश किया॥१३३॥

(उस उद्यान में) जबतक वह (राजकुमार), (इधर-उधर) देखे, तबतक मुनि के शिष्य ने भी यह देखने (भीतर) प्रवेश किया कि मुनि की समाधि समाप्त हुई या नहीं॥१३४॥

स ददर्श गुरुं नात्र ददर्श सवयस्यकम्।
श्रीमुक्ताफलकेतुं तु प्रविष्टमपथेन तम्॥१३५॥

ततः स राजपुत्रं तं मुनिशिष्योऽशपत्क्रुधा।
सवयस्योऽपि मानुष्यमस्मादविनयाद्व्रज॥१३६॥

इतः समाधिं भङ्क्त्वा यद्गुरुर्मेऽपासितस्त्वया।
एवं स दत्तशापस्तं स्वमेवान्वसरद्गुरुम्॥१३७॥

स मुक्ताफलकेतुश्च सिद्धप्राये मनोरथे।
शापाशनिनिपातेन विषादमगमत्परम्॥१३८॥

तावत्पद्मावतीं सात्र प्रियसङ्गमसोत्सुका।
आगाद्विहङ्गमारूढा समनोहारिकादिका॥१३९॥

स्वयंवरागतां दृष्ट्वा तां शापान्तरितां च सः।
सुखदुःखमयीं कष्टां दशां राजसुतो दधौ॥१४०॥

पद्मावत्याश्च तत्कालमदाक्षिण्यं प्रदर्शयत्।
पस्पन्दे दक्षिणं चक्षुरकम्पत च मानसम्॥१४१॥

ततोऽत्र सा राजसुता कान्तं विग्नं विलोक्य तम्।
किं पूर्वानागतत्वान्मे खिन्नः स्यादित्यचिन्तयत्॥१४२॥

प्रश्रयोपागतां तां च राजपुत्रो जगाद सः।
प्रिये मनोरथो भग्नः सिद्धोऽपि विधिनावयोः॥१४३॥

तच्छ्रुत्वा हा कथं भग्न इति तस्यै ससम्भ्रमम्।
पृच्छन्त्यै स स्वंशापं तं राजसूनुरवर्णयत्॥१४४॥

ततो विविग्ना जग्मुस्ते शापदातुर्गुरुं मुनिम्।
देवीगृहस्थितं सर्वे शापान्तायानुनाथितुम्॥१४५॥

उपागतांस्तान्प्रणतान्दृष्ट्वा ज्ञानी महामुनिः।
स मुक्ताफलकेतुं तं प्रीतिपूर्वमभाषत॥१४६॥

मूर्खेणानेन शप्तस्त्वमप्रेक्षापूर्वकारिणा।
न त्वया मे कृतं किञ्चिदुत्थितोऽहं स्वतस्ततः॥१४७॥

हेतुमात्रमयं चात्र भवितव्यमिदं तव।
मानुष्येऽवश्यकार्यं ते देवकार्यं हि विद्यते॥१४८॥

वहाँ उस (दृढव्रत) ने अपने गुरु (तपोधन) को नहीं देखा, बल्कि देखा कि (अपने) मित्र संयतक-सहित मुक्ताफलकेतु (नाजायज तरीके से) घुस आया है॥१३५॥

तब मुनि के शिष्य ने क्रोध से उस राजपुत्र को शाप दिया कि इस अनुशासन-विरुद्ध आचरण के कारण मित्र-सहित तुम मनुष्य-योनि में चले जाओ॥१३६॥

क्योंकि, तुमने समाधि भंग करके (मेरे) गुरु को यहाँ से हटा दिया है। इस प्रकार शाप देकर वह शिष्य अपने गुरु की ओर चला गया॥१३७॥

मुक्ताफलकेतु ने लगभग पूरे हो चुके अपने मनोरथ पर इस शाप-रूपी वज्रपात परम विषाद पाया॥१३८॥

इस समय प्रिय-मिलन के लिए उत्सुक पद्मावती, मनोहारिका आदि (परिजन)-सहित पक्षी पर चढ़कर वहाँ आई॥१३९॥

(एक ओर) स्वयं वरण करने के लिए आई और (दूसरी ओर) शापवश विरहित (होनेवाली) उस पद्मावती को देख राजकुमार मुक्ताफलकेतु ने सुख और दुःख दोनों से मिश्रित कठिन अवस्था को प्राप्त किया॥१४०॥

उस समय अमंगल सूचित करते हुए पद्मावती की दाहिनी आँख फड़कने लगी और (उसका) हृदय काँपने लगा॥१४१॥

तब वहाँ राजकुमारी पद्मावती ने उस मुक्ताफलकेतु को खिन्न देखकर सोचा कि हो सकता है कि मैं जो पहले नहीं पहुँची, इसीलिए वह नाराज है॥१४२॥

और, जब वह निकट आई, तब राजकुमार मुक्ताफलकेतु ने (उससे) कहा कि हे प्रिये! विधाता ने हम दोनों के सिद्ध हो चुके-से मनोरथ को भी समाप्त कर दिया॥१४३॥

यह सुनकर उस (राजकुमारी) ने पूछा कि हाय! वह कैसे समाप्त हो गया? तब राजकुमार ने उसे अपने शाप का (वृत्तान्त) कह सुनाया॥१४४॥

तब विषाद से युक्त वे लोग, उस शाप से उद्धार के लिए प्रार्थना करने, शाप देनेवाले शिष्य के गुरु उस मुनि के पास गौरी-मन्दिर में गये॥१४५॥

और, समीप जाकर उनको प्रणाम किया। यह देख उन ज्ञानी महामुनि ने स्नेहपूर्वक उस मुक्ताफलकेतु से कहा कि—॥१४६॥

पहले विचार किये विना ही काम करनेवाले इस (शिष्य) ने तुमको मूर्खतावश शाप दिया। तुमने तो मुझे कुछ भी नहीं किया है। मैं वहाँ से अपने मन से ही उठा था॥१४७॥

इस (शाप) में यह (मेरा शिष्य) निमित्त-मात्र है; यह (मनुष्य-योनि में) जन्म तो तुम्हारा भवितव्य ही था; क्योंकि मनुष्य के रूप में तुम्हें देवताओं का (कुछ) आवश्यक काम करना है॥१४८॥

एतां पद्मावतीमेव दैवाद् दृष्ट्वा स्मरातुरः ।
त्यक्त्वा मर्त्यशरीरं त्वं शीघ्रं शापाद्विमोक्ष्यसे ॥१४९॥
अनेनैव च देहेन पुनः प्राणेश्वरीमिमाम् ।
त्रातासि विश्वत्राता त्वं चिरं शापं हि नार्हसि ॥१५०॥
ब्रह्मास्त्रेण हता दैत्या बालवृद्धादयोऽपि यत् ।
त्वत्प्रयुक्तेन सोऽधर्मलेशो हेतुस्तवात्र च ॥१५१॥
तच्छ्रुत्वा तमृषिं पद्मावती सास्रा व्यजिज्ञपत् ।
भगवन्यार्यपुत्रस्य गतिः सैवास्तु मेऽधुना ॥१५२॥
नैतद्विरहिता स्थातुमपि शक्ष्याम्यहं क्षणम् ।
इत्यर्थितवतीं पद्मावतीं स मुनिरभ्यधात् ॥१५३॥
नैतदस्ति तपस्यन्ति त्वं तिष्ठेहैव सम्प्रति ।
येनाचिरान्मुक्तशापस्त्वामयं परिणेष्यति ॥१५४॥
ततश्चानेन सहिता त्वं मुक्ताफलकेतुना ।
खेचरासुरसाम्राज्यं दशकल्पान्करिष्यसि ॥१५५॥
एतद्दत्तं शिखारत्नं तपःस्थां त्वां च पास्यति ।
महाप्रभावमुत्पन्नं धातुरेतत्कमण्डलोः ॥१५६॥
इति पद्मावतीमुक्तवन्तं दिव्यदृशं मुनिम् ।
स मुक्ताफलकेतुस्तमेवं प्रार्थयतानतः ॥१५७॥
मानुष्ये भगवन्मेऽस्तु भवे भक्तिरभङ्गुरा ।
पद्मावतीं विनान्यस्यां स्त्रियां मा गाच्च मे मनः ॥१५८॥
एवमस्त्विति तेनोक्ते मुनिना सातिदुःखिता ।
पद्मावती तं तच्छिष्यं शपति स्मापराधिनम् ॥१५९॥
आर्यपुत्रस्त्वया मौर्ख्याच्छप्तो यत्तद्भविष्यसि ।
कामरूपं कामचरं मानुष्येऽस्यैव वाहनम् ॥१६०॥
एवं तयाभिशप्तेन विषण्णेनाथ तेन सः ।
तपोधनः स्वशिष्येण साकमन्तर्दधे मुनिः ॥१६१॥
ततः पद्मावतीं मुक्ताफलकेतुरभाषत ।
स्वपुरं यामि पश्यामि तावत्किं तत्र मे भवेत् ॥१६२॥
तच्छ्रुत्वा विरहत्रस्ता वातरुग्णा लतेव सा ।
पद्मावती पपाताशु सपुष्पाभरणा भुवि ॥१६३॥

कामातुर हुए तुम पुनः दैवयोग से इस पद्मावती को ही देखकर मर्त्य शरीर त्याग शीघ्र ही (इस) शाप से विमुक्त होओगे॥१४९॥

पुनः तुम इसी शरीर से उस प्राणेश्वरी पद्मावती का त्राण करोगे। तुम संसार का त्राण करनेवाले हो, इसलिए अधिक दिनों तक शाप (में रहने) के पात्र नहीं हो॥१५०॥

तुमने जो ब्रह्मास्त्र चलाया, उससे बच्चे-बूढ़े आदि राक्षस (भी) मारे गये, वही लेशमात्र पाप तुम्हारे इस (शाप) का कारण है॥१५१॥

यह सुनकर रोती हुई पद्मावती ने ऋषि से प्रार्थना की कि हे प्रभो! जो गति मेरे प्राणनाथ की होनेवाली है, वही गति अब मेरी भी हो॥१५२॥

(क्योंकि) मैं उस (प्रियतम) के बिना क्षण-भर भी नहीं रह सकती हूँ। इस प्रकार प्रार्थना करती हुई पद्मावती से मुनि ने कहा कि—॥१५३॥

ऐसा न होगा। अभी तुम यहीं तपस्या करती रहो, ताकि यह मुक्ताफलकेतु शीघ्र ही शाप से मुक्त हो तुमसे विवाह करे॥१५४॥

और तब तुम इस मुक्ताफलकेतु के साथ दस कल्प पर्यन्त विद्याधरों और राक्षसों पर साम्राज्य करोगी॥१५५॥

ब्रह्मा के कमण्डलु से उत्पन्न प्रबल प्रभावशाली यह चूडामणि, जो (तुम्हें) इस मुक्ताफलकेतु ने दी है, तपस्या करते समय तुम्हारी रक्षा करती रहेगी॥१५६॥

जब दिव्य दृष्टिवाले मुनि ने पद्मावती को इस प्रकार कहा, तब मुक्ताफलकेतु ने प्रणत होकर मुनि से इस प्रकार प्रार्थना की कि—॥१५७॥

हे प्रभो! मुझे मनुष्य-जन्म में भगवान् शिव में दृढ भक्ति हो, और मेरा मन पद्मावती को छोड़ किसी और स्त्री पर आसक्त न हो॥१५८॥

(जब) मुनि ने तथास्तु कहा (तब) पद्मावती ने अति दुःखित हो उस अपराधी शिष्य को शाप दिया कि—॥१५९॥

तुमने जो मूर्खतावश (बिना किसी अपराध के) मेरे प्राणनाथ को शाप दिया, इसलिए तुम मनुष्य-जन्म में उसी का कामरूप और कामचर वाहन होओगे, (अर्थात्, वह जैसी सवारी चाहेगा, वैसा ही तुम्हारा रूप होगा और जैसी गति चाहेगा, वैसी ही तुम्हारी गति होगी)॥१६०॥

इस प्रकार शाप पाकर दुःखी अपने शिष्य तपोधन के साथ वे मुनि अन्तर्हित हो गये॥१६१॥

तदनन्तर, मुक्ताफलकेतु ने पद्मावती से कहा कि (हे प्रिये!) मैं अपने नगर जाता हूँ और देखता हूँ कि वहाँ मेरा क्या होगा॥१६२॥

यह सुनकर वात-पीडित लता की भाँति पुष्पाभरणवाली[1] वह पद्मावती विरह के त्रास से तुरत धरती पर गिर पड़ी॥१६३॥

---

[1] यहाँ 'पुष्पाभरणवाली' शब्द के दो अर्थ हैं—लता के पक्ष में फूलरूपी भूषणोंवाली, और पद्मावती के पक्ष में फूलों और गहनों से युक्त।

आश्वास्य च कथञ्चित्तां क्रन्दन्तीं स सुहृद्युतः।
मुहुर्वलितदृङ्मुक्ताफलकेतुरगात्ततः ॥१६४॥
पद्मावती च यातेऽस्मिन्विलपन्ती सुदुःखिता।
आश्वासयन्तीमवदत्तां मनोहारिकां सखीम् ॥१६५॥
सखि जाने मया स्वप्ने देवी दृष्टाद्य पार्वती।
सा चोद्यतापि मे कण्ठे क्षेप्तुमुत्पलदामकम् ॥१६६॥
आस्तां दास्यामि ते भूय इत्युक्त्वा विरताभवत्।
तदयं स प्रियावाप्तिविघ्नो मे सूचितस्तया ॥१६७॥
इति तामनुशोचन्तीं सखी वक्ति स्म सा तदा।
आश्वासनाय देव्या ते स्वप्नस्तर्ह्येष दर्शितः ॥१६८॥
मुनिना च तथैवोक्तं देवादेशस्तथैव च।
तदाश्वसिहि भावी ते नचिरात्प्रियसङ्गमः ॥१६९॥
इत्यादिभिः सखीवाक्यैश्चूडामणिवशेन च।
पद्मावती धृतिं वद्ध्वा तस्थौ गौर्याश्रमे तदा ॥१७०॥
विदधे च तपस्त्रिसन्ध्यमीशं गिरिजासङ्गतमत्र पूजयन्ती।
प्रियचित्रपटं च सा तथैव स्वपुरानायितमात्तदेवबुद्धिः ॥१७१॥
अयि निश्चितभाविनीप्सितेऽर्थे वितथं मा स्म कृथास्तपःश्रमं त्वम्।
इति सास्रमुपेत्य वारयन्तौ विदितार्थौ पितरौ च सैवमाह ॥१७२॥
नवभर्तरि देवनिर्मिते मे सहसा सम्प्रति शापदुःखमाप्ते।
अहमत्र सुखं कथं वसेयं परमात्मा हि पतिः कुलाङ्गनानाम् ॥१७३॥
तपसा च परिक्षयं गतेऽस्मिन्वृजिने तोषमुपागते च शम्भौ।
अचिरात्प्रियसङ्गमो भवेन्मे न हि किञ्चित्तपसामसाध्यमस्ति ॥१७४॥
इत्थं दृढनिश्चयया पद्मावत्या तया तदा गदिते।
तन्माता तत्पितरं राजानं कुवलयावली स्माह ॥१७५॥
देव तपः कष्टमिदं कुरुतां किं खेद्यतेऽधिकं मिथ्या।
भवितव्यमेतदस्याः कारणमत्रास्ति वच्मि तच्च शृणु ॥१७६॥
देवप्रभाभिधाना सिद्धाधिपकन्यका तपोऽतिमहत्।
अभिमतभर्तृप्राप्त्यै कुर्वाणा शिवपुरे पुरातिष्ठत् ॥१७७॥
तत्र मया सहितैषा द्रष्टुं पद्मावती गता देवम्।
न त्रपसे पतिहेतोस्तपसा कथमित्युपेत्य तामहसत् ॥१७८॥

मित्र-सहित मुक्ताफलकेतु रोती हुई पद्मावती को किसी भाँति ढाढ़स देकर वहाँ से चला गया (और जाते समय) बार-बार नजर घुमाकर (देखता रहा) ॥१६४॥

मुक्ताफलकेतु के चले जाने पर परम दुःखी और विलाप करती हुई पद्मावती ने आश्वासन देती हुई अपनी सखी मनोहारिका से कहा कि— ॥१६५॥

हे सखी! मैं जानती हूँ कि (ऐसा होगा; क्योंकि) आज मैंने स्वप्न में देवी पार्वती को देखा। और, वह कमल के फूलों की एक माला मेरे गले में पहनाने को उद्यत होकर भी (अचानक) यह कहकर रुक गई कि अभी रहे, बाद में तुम्हें दूँगी। इससे देवी पार्वती ने प्रिय-मिलन में होनेवाला यह विघ्न ही मुझे सूचित किया था ॥१६६-१६७॥

इस प्रकार अनुताप करती हुई पद्मावती से सखी ने कहा कि तब तो देवी पार्वती ने तुम्हें आश्वासन देने के लिए ही ऐसा स्वप्न दिखलाया ॥१६८॥

मुनि तपोधन ने भी वैसा ही कहा है और शिवजी ने भी वैसा ही कहा था (देखिए द्वितीय तरंग, श्लोक ११९-१२०)। इसलिए, तुम धैर्य धरो। शीघ्र ही तुम्हें प्रियमिलन प्राप्त होगा ॥१६९॥

इत्यादि वचन जो सखी ने कहे, उनसे तथा चूडामणि के प्रभाव से पद्मावती तब धीरज बाँधकर गौरी-मन्दिर में रहने लगी ॥१७०॥

और वहाँ वह तीनों शाम गौरी-सहित शिव की पूजा तथा उसी प्रकार अपने नगर से मँगाये हुए प्रियतम के उस चित्रपट की पूजा भी उसे देवता समझकर, करती हुई तपस्या करने लगी ॥१७१॥

यह बात जानकर उसके माता-पिता रोते हुए आये और उसे (यह कहते हुए तपस्या से रोकने लगे कि) हे (पुत्री!) जो कामना निश्चित रूप से (स्वतः) पूरी होनेवाली है, उसके लिए तुम व्यर्थ तपस्या करने का कष्ट मत करो। पद्मावती ने इस प्रकार वारण करते हुए माता-पिता से कहा कि— ॥१७२॥

जब ईश्वर का बनाया हुआ मेरा (वह) नया दूल्हा अकस्मात् शाप के कष्ट में पड़ा हुआ है, तब मैं यहाँ सुख से कैसे रहूँ? कुल-ललनाओं के लिए तो पति ही परमात्मा है ॥१७३॥

तपस्या से इस पाप के नष्ट होने पर तथा भगवान् शिव के प्रसन्न होने पर शीघ्र ही मुझे प्रियतम से मिलन होगा; क्योंकि तपस्या से कोई वस्तु असाध्य नहीं है ॥१७४॥

(अपने) निश्चय पर अटल उस पद्मावती ने जब इस प्रकार कहा, तब उसकी माता कुवलयावली ने उसके पिता राजा चन्द्रकेतु से कहा कि— ॥१७५॥

हे आर्यपुत्र! यह कठिन तप इसे करने दीजिए। इसके लिए (आप) व्यर्थ खेद क्यों करते हैं? इसका ऐसा ही भवितव्य है। इसमें कुछ कारण है, सो मैं कहती हूँ; सुनिए ॥१७६॥

प्राचीन काल में शिवपुर (नाम के नगर) में देवप्रभा नाम की एक सिद्धकन्या मनोनुकूल पति प्राप्त करने की (कामना से) बहुत बड़ी तपस्या कर रही थी ॥१७७॥

वहाँ (एक दिन) वह पद्मावती मेरे साथ शंकर का दर्शन करने गई, और देवप्रभा से परिहास किया कि तुम्हें पति के लिए तपस्या करते, लाज नहीं लगती? ॥१७८॥

मूढे हससि शिशुत्वात्त्वमपि तपः क्लेशदायि पतिहेतोः ।
कर्त्तास्यिलमित्येतां साथ रुषा सिद्धकन्यकाभ्यशपत् ॥१७९॥
तदवश्यं भोक्तव्यं सिद्धसुताशापकृच्छ्रमनया यत् ।
तत्कोऽन्यथा विधातुं क्षमते तदियं करोतु यत्कुरुते ॥१८०॥
इति राज्ञ्या स तयोक्तस्तद्युक्तस्तां कथञ्चिदामन्त्र्य ।
तनयां चरणावनतां गन्धर्वपतिर्ययौ निजां नगरीम् ॥१८१॥
साप्यर्चयन्त्यनुदिनं गगनेन गत्वा सिद्धीश्वरं कमलजादिनिषेवितं तम् ।
स्वप्ने हरेण गदितं गिरिजाश्रमेऽत्र पद्मावती नियमजप्यपरावतस्थे ॥१८२॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरिचिते कथासरित्सागरे
पद्मावतीलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः।

पञ्चमस्तरङ्गः

एवं पद्मावती यावत्तत्प्राप्त्यै संश्रिता तपः ।
तावत्स्वनगरं मुक्ताफलकेतुरवाप्य सः ॥१॥
ब्रह्मशापवशासन्नमानुष्यावतरो भयात् ।
विद्याधरेन्द्रतनयः शरणं शिश्रिये शिवम् ॥२॥
तमर्चयंश्च तद्गर्भगृहाच्छुश्राव भारतीम्।
मा भैषीर्न हि ते गर्भवासक्लेशो भविष्यति ॥३॥
मानुष्ये नापि ते दुःखं भावि नापि चिरं स्थितिः ।
जनिष्यसे राजसुतो महाबलपराक्रमः ॥४॥
तपोधनान्मुनेः कृत्स्नमस्त्रग्राममवाप्स्यसि ।
मदीयः किङ्कराख्यश्च गणस्ते भवितानुजः ॥५॥
तत्सहायो रिपूञ्जित्वा कृत्वा कार्यं दिवौकसाम् ।
कर्त्तासि खेचरैश्वर्यं पद्मावत्या युतः पुनः ॥६॥
एवं श्रुत्वा गिरं बद्धधृतिः शापफलागमम् ।
प्रतीक्षमाण इव तं तस्थौ राजसुतोऽथ सः ॥७॥
अत्रान्तरे कथासन्धौ पूर्वस्यां नगरं दिशि ।
आसीद्देवसभं नाम जितदेवसभं श्रिया ॥८॥
तत्र मेरुध्वजो नाम सार्वभौमोऽभवन्नृपः ।
सहायो देवराजस्य देवासुररणागमे ॥९॥

(इसपर) उस सिद्धकन्या देवप्रभा ने क्रोध से इस पद्मावती को शाप दिया कि अरी मूर्ख! लड़कपन के कारण तुम मेरा उपहास कर रही हो, अतः तुम भी पति को प्राप्त करने के लिए कष्टप्रद तपस्या करोगी।।१७९।।

अतः, अब उसे उस सिद्धकन्या के शाप का कष्ट अवश्य भोगना पड़ेगा, तब उसे कौन बदल सकता है। इसलिए यह जो करती है, उसे करने दीजिए ।।१८०।।

रानी कुवलयावली के ऐसा कहने पर गन्धर्वराज चन्द्रकेतु चरण पर झुकी अपनी पुत्री से किसी भाँति विदा लेकर अपने नगर को चला।।१८१।।

और, वह पद्मावती व्रत तथा जप में लीन हो उसी गौरी-मन्दिर में रहने लगी और नित्य आकाशमार्ग से जा-जाकर ब्रह्मा आदि देवताओं से पूजित उन सिद्धीश्वर की अर्चना करती रही, जिन्हें शंकर ने सपने में बताया था।।१८२।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के पद्मावतीलम्बक का चतुर्थ तरंग समाप्त हुआ।

पंचम तरंग

जब पद्मावती (मुक्ताफलकेतु) की प्राप्ति के लिए इस प्रकार तपस्या में संलग्न थी, तब विद्याधर राजकुमार मुक्ताफलकेतु ने अपने नगर पहुँचकर ब्राह्मण के शाप से मनुष्य-योनि में अपना जन्म निकट समझकर डर से (भगवान्) शिव की शरण में गया।।१-२।।

एक दिन शिवजी की पूजा करते हुए मुक्ताफलकेतु ने मन्दिर की भीतरी कोठरी से यह वचन सुना कि डर मत करो; तुम्हें गर्भ में वास करने का क्लेश नहीं होगा।।३।।

मनुष्य-जन्म में भी तुम्हें (कोई) कष्ट नहीं होगा, और न अधिक दिनों तक रहना ही होगा। तुम राजकुमार होकर जन्म लोगे और परम बलवान् तथा पराक्रमी होओगे।।४।।

तपोधन नाम के मुनि से सभी अस्त्र प्राप्त करोगे और किंकर नाम का मेरा गण तुम्हारा अनुज होगा।।५।।

उसकी सहायता से तुम शत्रुओं को जीतकर तथा देवताओं का कार्य पूरा करके पुनः पद्मावती के साथ विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त करोगे।।६।।

यह वचन सुनकर धैर्य धारण करके मानों उस शाप के फल प्राप्त होने की प्रतीक्षा करते हुए राजकुमार मुक्ताफलकेतु वहाँ रहने लगा।।७।।

इसी घटना-क्रम के बीच पूर्व दिशा में देवसभ नाम का एक नगर था, जो (अपनी) शोभा से देवसभा (सुधर्मा) को भी जीत चुका था।।८।।

उस नगर में मेरुध्वज नाम का एक चक्रवर्त्ती राजा था, वह देवासुर-संग्राम होने पर देवराज इन्द्र की सहायता करनेवाला था।।९।।

यस्य लोभो यशस्यासीन्न परस्वे महात्मनः।
तैक्ष्ण्यं खड्गे न दण्डे तु भयं पापान्न शत्रुतः॥१०॥

कुटिलत्वं भ्रुवोः कोपे नाशये यस्य चाभवत्।
मौर्वीकिणाङ्के पारुष्यं भुजे न वचने पुनः॥११॥

व्यधाद्युधि न कोषे तु यो दीनारातिरक्षणम्।
रतिं च धर्मचर्यासु श्रद्धेनाङ्गनासु यः॥१२॥

तस्याभूतामुभे चिन्ते भूपतेः सततं हृदि।
एका पुत्रो न यत्तस्य तावदेकोऽप्यजायत॥१३॥

द्वितीया चापि यत्पूर्वं देवासुरमहाहवात्।
जग्मुः पातालमसुरा हतशेषाः पलाय्य ये॥१४॥

ते निर्गत्य ततो दूरात्सतीर्थायतनाश्रमान्।
विनाश्यैव च्छलात्तस्य पातालमसकृद्ययुः॥१५॥

न च तान्प्राप स नृपः पातालव्योमचारिणः।
तेजस्वी तेन सन्तेपे निःसपत्नेऽपि भूतले॥१६॥

एतच्चिन्ताकुलो जातु शक्रप्रहितसद्रथः।
देवास्थानं ययौ सोऽत्र चैत्रशुक्लदिनागमे॥१७॥

शक्रस्य वत्सरारम्भे सर्वास्थानं तथाहि तत्।
तद्रथेन स याति स्म राजा मेरुध्वजः सदा॥१८॥

तदा तु तत्र दिव्यस्त्रीनृत्तगीताकुलेऽपि सः।
सम्मानितोऽपि शक्रेण निःश्वसन्नास्त भूपतिः॥१९॥

तद्दृष्ट्वा ज्ञातहृदयो देवराजो जगाद तम्।
राजञ्जानाम्यहं यत्ते दुःखं तन्मा च भूत्तव॥२०॥

मुक्ताफलध्वजाख्यस्ते शिवांशो जनिता सुतः।
एको गणावतारश्च द्वितीयो मलयध्वजः॥२१॥

तपोधनान्मुनेर्विद्याः कामरूपं च वाहनम्।
मुक्ताफलध्वजः प्राप्स्यत्यस्त्राणि च सहानुजः॥२२॥

महापाशुपतास्त्रं च पुनः प्राप्य स दुर्जयः।
करिष्यति वशे पृथ्वीं पातालं च हतासुरः॥२३॥

उस महापुरुष को (केवल) यश का लोभ था, न कि पराये धन का; तलवार में तीक्ष्णता थी, न कि दण्ड में; पाप से भय था, न कि शत्रु से॥१०॥

क्रोध होनेपर उसकी भौंहों में वक्रता आती थी, न कि आशय (नीयत) में; धनुष की डोरी के घर्षण के दाग से युक्त भुजा में रुखड़ापन था, न कि वचन में॥११॥

वह युद्ध में दीनारातिरक्षण[1] करता था, न कि खजाने में तथा धर्माचरणों में रति को अच्छी समझते थे, न कि महिलाओं में॥१२॥

उस राजा के हृदय में सतत दो (बातों की) चिन्ताएँ रहती थीं; पहली चिन्ता यह थी कि उसे तबतक एक भी पुत्र नहीं हुआ था॥१३॥

और दूसरी चिन्ता इस बात की थी कि पहले देवासुर-महायुद्ध से बचकर जो राक्षस भागकर पाताल चले गये थे, वे बार-बार वहाँ से निकलकर छलपूर्वक उस राजा के दूरवर्त्ती तीर्थों, मन्दिरों और आश्रमों को उजाड़-उजाड़कर पाताल चले जाते थे॥१४-१५॥

और, वह राजा आकाश और पाताल में विचरण करनेवाले उन राक्षसों को न (पकड़) पाता था। इसलिए, वह तेजस्वी राजा पृथ्वी पर शत्रुहीन रहते हुए भी उस (राक्षसों के उपद्रव) से दुःखी रहता था॥१६॥

एक समय जब वह राजा इसी चिन्ता से व्याकुल था, चैत्र मास के शुक्लपक्ष के दिन आने पर इन्द्र ने (उसे लाने के लिए) एक अच्छा रथ भेजा। (उस रथ पर चढ़कर) वह राजा देवों की सभा में गया॥१७॥

वह राजा मेरुध्वज इसी प्रकार इन्द्र के वर्षारम्भ (जन्मदिवस) के अवसर पर सदा (हर साल) इन्द्र के रथ से (स्वर्ग) जाता था॥१८॥

उस दिन दिव्य स्त्रियों के नाच और गान से भरे उस स्थान में (रहते हुए) भी और इन्द्र के द्वारा सम्मानित होते हुए भी वह राजा साँसें लेता रहा॥१९॥

यह देखकर उस मेरुध्वज के हृदय-भाव को जानकर देवराज (इन्द्र) ने उससे कहा—हे राजा, आपको जो दुःख है, सो मैं जानता हूँ। यह दुःख आप मत करें॥२०॥

(भगवान्) शंकर के अंशावतार-स्वरूप मुक्ताफलध्वज नाम का आपको एक पुत्र होगा, और (उन्हीं शंकर के) गण के अवतार-स्वरूप मलयध्वज नाम का आपको दूसरा पुत्र होगा॥२१॥

अपने छोटे भाई मलयध्वज-सहित मुक्ताफलध्वज तपोधन नाम के मुनि से विद्याएँ, कामरूप वाहन और (बहुत-से) अस्त्र प्राप्त करेगा॥२२॥

फिर, महापाशुपत अस्त्र प्राप्त करके दुर्जय हो, (सभी) राक्षसों को मारकर (सम्पूर्ण) पृथ्वी और पाताल को अपने वश में करेगा॥२३॥

---

[1] (यहाँ 'दीनारातिरक्षण' के दो अर्थ हैं—युद्ध के पक्ष में दीन शत्रुओं की रक्षा करना, और खजाने के पक्ष में दीनारों (सोने के सिक्कों) को बहुत जमा करना)।

त्वं च व्योमचरावेतौ समहास्त्रौ गृहाण मे ।
वारणं काञ्चनगिरिं तथा काञ्चनशेखरम् ॥२४॥
इत्युक्त्वास्त्रगजान्दत्त्वा प्रेषितः सोऽथ वज्रिणा ।
आगान्मेरुध्वजो हृष्टो भूतले नगरं निजम् ॥२५॥
ते तु च्छलकृतावध्यास्तस्य पातालसंश्रयात् ।
खेचरत्वं गतस्यापि प्राप्या नासन्किलासुराः ॥२६॥
ततः शक्राच्छ्रुतस्यासौ राजा पुत्रेच्छुराश्रमम् ।
तपोधनस्य तस्यर्षेर्ययौ दिव्येभवाहनः ॥२७॥
तत्राभिगम्य तमृषिं शक्रादेशं निवेद्य तम् ।
भगवन्नादिशोपायं शीघ्रं मेऽत्रेति सोऽब्रवीत् ॥२८॥
स च तस्याचिरेणेष्टसिद्धये मुनिरादिशत् ।
व्रतमाराधनं शम्भोः सभार्यस्य महीभुजः ॥२९॥
स तेनाराधयामास व्रतेनोर्वीपतिः शिवम् ।
तुष्टः स च विभुः स्वप्ने तमेवमवदन्नृपम् ॥३०॥
उत्तिष्ठ राजन्प्राप्तासि क्रमेणैवाविलम्बितम् ।
शेषासुरविनाशाय द्वौ पुत्रावपराजितौ ॥३१॥
एतच्छ्रुत्वा प्रबुध्यैव प्रातरुक्त्वा मुनेश्च सः ।
सभार्यः पारणं कृत्वा राजा स्वपुरमाययौ ॥३२॥
तत्र तस्य महादेवी राज्ञी मेरुध्वजस्य सा ।
ऋतुं दिनैः कतिपयैः प्रतिपेदे सुलक्षणा ॥३३॥
तस्याः स गर्भे समभून्मुक्त्वा शापवशेन ताम् ।
वैद्याधरीं तनुं मुक्ताफलकेतुरतर्कितम् ॥३४॥
सा च तस्य तनुस्तत्र निजे चन्द्रपुरे पुरे ।
विद्याप्रभावादम्लाना तस्थौ बान्धवरक्षिता ॥३५॥
सापि मेरुध्वजस्यात्र राज्ञो देवसभे पुरे ।
राज्ञी सगर्भा सम्पद्य नन्दयामास तं पतिम् ॥३६॥
यथा यथा च सा राज्ञी जज्ञे गर्भभरालसा ।
तथा तथा स सोत्साहस्तस्याः पतिरभून्नृपः ॥३७॥
प्राप्ते च समये पुत्रं सासूत स्मार्कसन्निभम् ।
वालमेवोग्रमहसं कुमारमिव पार्वती ॥३८॥

और, आप भी महास्त्रों से युक्त तथा आकाशगामी मेरे ये दोनों हाथी लीजिए, जिनका नाम कांचनगिरि और कांचनशेखर है॥२४॥

यह कहकर इन्द्र ने अस्त्र और हाथी देकर उसे विदा किया, तब वह (मेरुध्वज) प्रसन्न हो पृथ्वी पर अपने नगर आया॥२५॥

आकाशगामी हो जाने पर भी राजा मेरुध्वज छल से (छिपकर) उपद्रव करनेवाले उन राक्षसों को पकड़ न सकता था; क्योंकि वे पाताल में (जाकर) छिप जाते थे॥२६॥

तदनन्तर, वह राजा पुत्र की इच्छा करते हुए उस दिव्य हाथी पर सवार हो उस तपोधन ऋषि के आश्रम में गया, जिसके विषय में उसने इन्द्र के मुँह से सुना था॥२७॥

उस ऋषि के पास जाकर उसे उस राजा ने इन्द्र की (वह) बात कह सुनाई कि हे प्रभो, पुत्र-प्रांप्ति का आप शीघ्र उपाय बतायें॥२८॥

मुनि ने राजा से कहा कि शीघ्र कामना की पूर्त्ति के लिए आप पत्नी-सहित (भगवान्) शिव की आराधना का व्रत कीजिए॥२९॥

राजा ने उक्त व्रत के द्वारा विभु (सर्वत्रव्यापी) भगवान् शंकर का आराधन किया तथा (उस व्रत से) सन्तुष्ट हो शंकर ने उस राजा से कहा—॥३०॥

राजा, उठो। तुम शीघ्र ही शेष राक्षसों के नाश के लिए क्रमशः दो अजेय पुत्र प्राप्त करोगे॥३१॥

(स्वप्न में) यह सुनकर प्रातःकाल जगते ही उस राजा ने (यह घटना) मुनि से कह सुनाई और पत्नी-सहित (उस व्रत की) पारणा करके अपने नगर आया॥३२॥

वहाँ कुछ (ही) दिनों में उस मेरुध्वज की सुन्दर लक्षणोंवाली महादेवी (पटरानी) गर्भवती हुई॥३३॥

मुक्ताफलकेतु शाप के कारण विद्याधर-सम्बन्धी अपने उस शरीर को त्यागकर अतर्कित रूप से उस महादेवी के गर्भ में चला आया॥३४॥

अपने नगर चन्द्रपुर में मुक्ताफलकेतु का वह अपना शरीर बान्धवों द्वारा सुरक्षित रखा गया और विद्या के प्रभाव से म्लान (फीका) न हुआ॥३५॥

वहाँ देवसभ नाम के नगर में राजा मेरुध्वज की रानी गर्भवती हो अपने पति को आनन्द देने लगी॥३६॥

ज्यों-ज्यों वह रानी गर्भ के भार से अलसाई जाती थी, त्यों-त्यों उसका पति राजा मेरुध्वज उल्लासपूर्ण होता जाता था॥३७॥

समय आने पर उस रानी ने बालक होते हुए भी सूर्य के समान उग्र तेजवाले पुत्र को उत्पन्न किया, जैसे पार्वती ने कार्त्तिकेय को (उत्पन्न किया था)॥३८॥

बभूव चोत्सवः कृत्स्ने न परं वसुधातले।
यावन्नभस्तलेऽप्यासीद्देवप्रहतदुन्दुभौ ॥३९॥
स्वयमागान्मुनिश्चात्र दिव्यदृक्स तपोधनः।
दिष्ट्या वर्धयितुं मेरुध्वजं तं पृथिवीपतिम् ॥४०॥
तेन साकं स मुनिना नाम्ना शक्रोदितेन तम्।
मुक्ताफलध्वजं चक्रे पुत्रं राजा कृतोत्सवः ॥४१॥
ततो गते मुनौ तस्मिंस्तस्य संवत्सरान्तरे।
राज्ञो द्वितीयस्तनयो राज्ञ्यां तस्यामजायत ॥४२॥
तं च नाम्ना स नृपतिश्चकार मलयध्वजम्।
तथैव हर्षायातेन तेनैव मुनिना सह ॥४३॥
ततः संयतकः सोऽपि शापात्तन्मन्त्रिणः सुतः।
जज्ञे नाम पिता चास्य महाबुद्धिरिति व्यधात् ॥४४॥
ततस्तौ सिंहशावाभाववर्धेतां नृपात्मजौ।
क्रमेण तेजसा सार्धं मन्त्रिपुत्रेण तेन च ॥४५॥
गतेष्वथाष्टमात्रेषु वर्षेषु स तपोधनः।
एत्योपनयनं चक्रे राजसून्वोस्तयोर्मुनिः ॥४६॥
अष्टौ चान्यानि वर्षाणि विद्यासु च कलासु च।
महास्त्रेषु च सर्वेषु विनीयेते स्म तेन तौ ॥४७॥
ततो युवानौ दृष्ट्वा तौ सर्वशस्त्रास्त्रयोधिनौ।
पुत्रौ कृतिनमात्मानं मेने मेरुध्वजो नृपः ॥४८॥
अथ तं स्वाश्रमं गन्तुमिच्छन्तं सोऽब्रवीन्मुनिम्।
अभीष्टा दक्षिणेदानीं भगवन्गृह्यतामिति ॥४९॥
एषैव दक्षिणाभीष्टा मम त्वत्तो महीपते।
असुरान्यज्ञहन्तृन्यत्सपुत्रो मे हनिष्यसि ॥५०॥
इत्यूचिवांसमवदत्तं महर्षिं स भूपतिः।
अत एवाधुना ग्राह्या भगवन्दक्षिणा त्वया ॥५१॥
तदारभस्व यज्ञं त्वं तद्विघ्नायासुराश्च ते।
एष्यन्त्यहं च तत्कालं तत्रैष्यामि सपुत्रकः ॥५२॥
पूर्वकालं हि दैत्यास्ते कृत्वा दोषं छलेन वः।
खमुत्पत्य निपत्याब्धौ पातालमगमन्मुने ॥५३॥

(इस पुत्रजन्म का) उत्सव न केवल सारी धरती पर ही मनाया गया, बल्कि आकाश में भी, देवताओं ने ढोल बजाये ॥३९॥

दिव्यदर्शी मुनि तपोधन भी राजा मेरुध्वज को बधाई देने स्वयं पधारे ॥४०॥

उत्सव मनाने के बाद तपोवन मुनि के साथ राजा ने पुत्र का नाम मुक्ताफलध्वज रखा जैसा कि इन्द्र ने कहा था ॥४१॥

तब तपोधन मुनि चले गये। (उसके) एक वर्ष के बाद रानी के गर्भ से उस राजा के दूसरा पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४२॥

उसी भाँति हर्षपूर्वक आये हुए उसी मुनि के साथ राजा ने उस (द्वितीय) पुत्र का नाम मलयध्वज रखा ॥४३॥

तदनन्तर, (मुक्ताफलकेतु का मित्र) वह संयतक भी शापवश (देखिए पूर्व तरंग का १३६वाँ श्लोक) उस राजा के मन्त्री का पुत्र हो उत्पन्न हुआ और पिता ने उसका नाम 'महाबुद्धि' रखा ॥४४॥

तब शेर के बच्चों के समान राजा के वे दोनों लड़के उस मन्त्री के लड़के के साथ क्रमशः ज्यों-ज्यों बढ़ते गये, त्यों-त्यों उनका तेज भी बढ़ता गया ॥४५॥

जब वे आठ वर्ष के हुए, मुनि तपोवन ने आकर दोनों राजकुमारों का उपनयन किया ॥४६॥

आठ वर्ष बीतने के बाद मुनि ने दोनों राजकुमारों को सभी विद्याओं, कलाओं तथा महास्त्रों की शिक्षा दी ॥४७॥

तब राजा मेरुध्वज ने अपने दोनों जवान पुत्रों को सभी शस्त्रास्त्रों के युद्ध में कुशल देखकर अपने को कृतकृत्य माना ॥४८॥

अनन्तर (उन दोनों को शिक्षित करके) जब मुनि ने अपने आश्रम में लौटना चाहा, तब राजा ने कहा कि हे प्रभो, अब आप जो चाहें, दक्षिणा ग्रहण करें ॥४९॥

(मुनि ने कहा—) राजन्, आपसे मैं यही दक्षिणा लेना चाहता हूँ कि आप इन पुत्रों के साथ हमारे यज्ञ में विघ्न करनेवाले राक्षसों को मार डालें ॥५०॥

महर्षि तपोधन के ऐसा कहने पर राजा ने उनसे कहा—हे प्रभो, तब आप अभी अपनी दक्षिणा ग्रहण करें ॥५१॥

अतः, आप यज्ञ आरम्भ कीजिए; उसमें विघ्न करने के लिए वे राक्षस आयेंगे (ही) और मैं पुत्रों-सहित तुरत वहाँ आ जाऊँगा ॥५२॥

मुनिवर ! पहले तो वे राक्षस आपलोगों का छलपूर्वक अपकार कर आकाश में उड़कर और समुद्र में गिरकर पाताल चले जाते थे ॥५३॥

इदानीं त्विन्द्रदत्तौ मे विद्येते खचरौ गजौ।
ताभ्यां सह सपुत्रस्तान्प्राप्स्यामि व्योमगानपि ।।५४।।
तच्छ्रुत्वा स मुनिस्तुष्टस्तमुवाच नराधिपम्।
तर्हि त्वं यज्ञसम्भारं यथायोग्यं कुरुष्व मे ।।५५।।
यावद्दिग्विश्रुतं गत्वा तत्र यागं समारभे।
प्रेषयामि च वो दूतं शिष्यमेतं दृढव्रतम् ।।५६।।
सञ्जातकामगोद्दाममहाबलखगाकृतिम् ।
मुक्ताफलध्वजस्यास्य भविता सैष वाहनम् ।।५७।।
इत्युक्त्वा स मुनिः प्रायात्स्वाश्रमं स च भूपतिः।
प्राहिणोत्सर्वसम्भारांस्तस्यानुपदमेव तान् ।।५८।।
प्रारब्धे तेन यज्ञे च मिलद्देवर्षिसंसदि ।
बुद्ध्वा पातालनिलया दानवाः क्षोभमाययुः ।।५९।।
तज्ज्ञात्वा स मुनिः शिष्यं प्राहिणोत्तं दृढव्रतम्।
शापकल्पितपक्षीन्द्ररूपं देवसभं पुरम् ।।६०।।
तत्र प्राप्तं च तं दृष्ट्वा स्मृत्वा मुनिवचश्च सः।
सज्जीचकार तौ दिव्यौ राजा मेरुध्वजो गजौ ।।६१।।
आरुरोह तयोर्मुख्यं स काञ्चनगिरिं स्वयम्।
कनीयसे च पुत्राय ददौ काञ्चनशेखरम् ।।६२।।
दृढव्रतखगेन्द्रं च तं स मुक्ताफलध्वजः।
आरुरोहात्तदिव्यास्त्रो बन्दिवृन्दाभिवन्दितः ।।६३।।
ततस्ते प्रययुर्वीरास्त्रयः खेचरवाहनाः।
दत्ताशिषो द्विजवरैः पुरः प्रहितसैनिकाः ।।६४।।
प्राप्तानां चाश्रमं तेषां स मुनिः प्रीतमानसः।
अभेद्याः सर्वशस्त्राणां भूयास्तेति वरं ददौ ।।६५।।
तावच्च दानवबलं निहन्तुं यज्ञमाययौ।
अभ्यधावच्च तद्दृष्टवा मेरुध्वजबलं नदत् ।।६६।।
प्रावर्त्तत ततो युद्धं दैत्यानां मानुषैः सह।
दैत्यास्तु मानुषान्स्वस्था भूतलस्थान्बबाधिरे ।।६७।।
ततः स पक्षिवहनो दैत्यान्मुक्ताफलध्वजः।
प्रधाव्य शरवर्षेण चकर्त्त च ममाथ च ।।६८।।

किन्तु, अब तो मेरे पास इन्द्र द्वारा दिये हुए दो आकाशगामी हाथी हैं, अतः उन दोनों हाथियों के सहारे उन राक्षसों को आकाश में उड़ने पर भी मैं पा लूँगा ॥५४॥

यह सुनकर सन्तुष्ट हो मुनि ने राजा से कहा—तब आप यज्ञ की यथोचित सामग्री जुटवा दीजिए ॥५५॥

मैं वहाँ जाकर अभी दिग्दिगन्त में विख्यात यज्ञ आरम्भ कर देता हूँ और दृढव्रत नाम के अपने इस शिष्य को आपके पास दूत के रूप में (संवाद देकर) भेजता हूँ ॥५६॥

वह इच्छानुसार (अधिक-से-अधिक तेज) गतिवाले, निर्बाध और महाबलवान् पक्षी का रूप धारण करके मुक्ताफलध्वज का वाहन बनेगा ॥५७॥

यह कहकर वे मुनि अपने आश्रम चले गये, और उस राजा ने मुनि के पास तुरन्त वह सारी सामग्री भेज दी ॥५८॥

मुनि ने यज्ञ आरम्भ कर दिया और वहाँ देवताओं और ऋषियों की गोष्ठी जमी। यह जानकर पातालवासी राक्षस उत्तेजित हो उठे ॥५९॥

यह देखकर उस मुनि ने अपने शिष्य दृढव्रत को, जिसने शापवश गरुड का रूप प्राप्त किया था, देवसम नगर को भेजा ॥६०॥

राजा मेरुध्वज ने उस (गरुडरूपधारी शिष्य) को वहाँ आया देख और मुनि के वचन को स्मरण करके उन दोनों दिव्य हाथियों को सज्जित कराया ॥६१॥

उन दोनों गजों में प्रधान कांचनगिरि (नाम के) गज पर वह राजा (मेरुध्वज) स्वयं सवार हुआ और छोटे लड़के को (दूसरा हाथी) कांचनशेखर (चढ़ने को) दिया ॥६२॥

और, मुक्ताफलध्वज (अपने) दिव्य अस्त्र लेकर दृढव्रत-रूपी उस गरुड़ पर सवार हुआ, और बन्दियों (भाटों) का समूह उसका अभिनन्दन करने लगा ॥६३॥

तब आकाशगामी वाहनों पर सवार ये तीनों वीर विदा हुए। उनके आगे-आगे सेनाएँ चलीं और श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने उन्हें आशीर्वाद दिया ॥६४॥

जब वे तीनों मुनि के आश्रम में पहुँचे, तब उन्होंने मन से प्रसन्न हो उन्हें वर दिया कि आप लोग सभी शस्त्रों के लिए अभेद्य हों (अर्थात्, कोई भी शस्त्र आपलोगों को घायल न करे) ॥६५॥

तबतक राक्षसों की सेना यज्ञ-ध्वंस करने के लिए आ गई। और यह देखकर (मेरुध्वज की सेना गर्जन करती हुई, उस ओर बढ़ी ॥६६॥

तब राक्षसों का मनुष्यों के साथ युद्ध होने लगा। आकाशस्थित राक्षस धरती पर स्थित मनुष्यों को सताने लगे ॥६७॥

तदनन्तर, पक्षी पर सवार मुक्ताफलध्वज उन राक्षसों के ऊपर दौड़ा और तीरों की वर्षा से उन्हें काट और मसल डाला ॥६८॥

तं च दृष्ट्वा विहङ्गस्थं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
तच्छेषाः प्राद्रवन्दैत्यास्ते नारायणशङ्किताः ॥६९॥
गत्वा भयाच्च पातालं सर्वं त्रैलोक्यमालिने ।
तत्कालं दैत्यराजाय शशंसुस्ते तथैव तत् ॥७०॥
स तद्बुद्ध्वा द्रुतं चारैरन्विष्य तमवेत्य च ।
मुक्ताफलध्वजं मर्त्यं मानुषाभिभवाक्षमी ॥७१॥
सङ्घट्य सर्वपातालदानवानसुरेश्वरः ।
वार्यमाणोऽपि शकुनैर्योद्धुमागात्तमाश्रमम् ॥७२॥
मुक्ताफलध्वजाद्याश्च तत्रैवावहिताः स्थिताः ।
तमभ्यधावन्दृष्ट्वैव सबलं दानवाधिपम् ॥७३॥
ततः प्रवृत्ते भूयोऽत्र मर्त्यासुरमहाहवे ।
विमानैराययुर्द्रष्टुं रुद्रेन्द्रप्रमुखाः सुराः ।७४॥
मुक्ताफलध्वजश्चात्र तत्क्षणोपस्थितं पुरः ।
ददर्शालङ्घ्यतेजस्कमस्त्रं पाशुपतं महत् ॥७५॥
अतिप्रमाणमुद्वह्निज्वालं त्र्यक्षं चतुर्मुखम् ।
एकाङ्घ्रिमष्टबाहुं च कल्पान्तानलसन्निभम् ॥७६॥
विद्धि मां शङ्करादेशादायातं विजयाय ते ।
इति ब्रुवाणं सोऽभ्यर्च्य राजपुत्रस्तदग्रहीत् ॥७७॥
तावच्च गगने तैस्तैरसुरैरस्त्रवृष्टिभिः ।
मेरुध्वजबलं ताम्यदधःस्थितमबाध्यत ॥७८॥
ततस्तद्रक्षितुं चित्रयोधी मुक्ताफलध्वजः ।
शरजालं ददौ मध्ये युयुधे चासुरैः सह ॥७९॥
पितृभ्रातृयुतं दृष्ट्वा तं नभश्चरवाहनम् ।
त्रैलोक्यमाली दैत्येन्द्रः पन्नगास्त्रं मुमोच सः ॥८०॥
तस्मान्निर्गच्छतोऽसङ्ख्यान्घोरानाशीविषानहीन् ।
गरुडैर्गारुडास्त्रोत्थैरर्दयन्मलयध्वजः ॥८१॥
ततो यद्यत्स दैत्येन्द्रः सपुत्रोऽस्त्रमवासृजत् ।
मुक्ताफलध्वजस्तत्तन्निरास्यत्तस्य हेलया ॥८२॥
अथ क्रुद्धः स देवारिस्तत्पुत्रोऽन्ये च दानवाः ।
आग्नेयादीनि युगपत्तस्मिनस्त्राणि चिक्षिपुः ॥८३॥

गरुड पर सवार और तेज से जलते-से मुक्ताफलध्वज को देख बचे हुए राक्षस, यह सन्देह करते हुए कि यह नारायण भगवान् तो नहीं है, (वहाँ से) भाग गये ॥६९॥

और भय से पाताल जाकर (जैसा जो हुआ था), वैसे ही सब (हाल) त्रैलोक्यमाली को सुना दिया, जो उन दिनों राक्षसों का राजा था ॥७०॥

यह जानकर त्रैलोक्यमाली तुरत गुप्तचरों के द्वारा (इस बात का) पता लगा यह समझ गया कि वह मुक्ताफलध्वज मनुष्य है, फिर मनुष्य के द्वारा किये गये अभिभव (आक्रमण) का सहन न करनेवाला वह दैत्यराज पाताल के सभी राक्षसों को संघटित करके (विदा हुआ और) अपशकुनों द्वारा रोके जाने पर भी उक्त आश्रम में जा पहुँचा ॥७१-७२॥

मुक्ताफलध्वज आदि वीर, जो वहीं सावधान खड़े थे, देखते ही सेना-सहित उस दैत्यराज पर धावा करने लगे ॥७३॥

तब पुनः मनुष्यों और राक्षसों के बीच महायुद्ध होने लगा और उसे देखने के लिए शिव, इन्द्र आदि देवता विमान से आ जुटे ॥७४॥

मुक्ताफलध्वज ने वहाँ अलंघ्य तेजवाला पाशुपत (शिवजी का दिया हुआ) महास्त्र तुरत अपने सामने उपस्थित देखा ॥७५॥

(वह) बहुत ही विशालकाय था, उसके अंग-प्रत्यंग से अग्निज्वाला निकल रही थी, (उसके) तीन आँखें, चार मुँह, एक पाँव और आठ बाँहें थी। वह प्रलयकाल की अग्नि-जैसा लगता था ॥७६॥

पाशुपत अस्त्र ने कहा—तुम मुझे शिवजी के आदेश से तुम्हें विजय दिलाने के लिए आया हुआ (पाशपतास्त्र) समझो। ऐसा कहते हुए उस (अस्त्र) को पूजकर राजपुत्र ने ग्रहण कर लिया ॥७७॥

तबतक नीचे (धरती पर) अवस्थित मुक्ताफलध्वज की उस दबती हुई सेना को (ऊपर) आकाश में वर्त्तमान राक्षस अस्त्र की वर्षा से घायल करने लगे ॥७८॥

तब चित्रयोधी (लीला दिखा-दिखाकर युद्ध करने में कुशल) मुक्ताफलध्वज ने अपनी सेना की रक्षा के लिए (आकाश और धरती के) बीच में तीरों का जाल फैला दिया; फिर राक्षसों से लड़ने लगा ॥७९॥

मुक्ताफलध्वज को पिता और छोटे भाई-समेत आकाशगामी वाहन पर चढ़े देखकर उस दैत्यराज त्रैलोक्यमाली ने सर्पास्त्र छोड़ा ॥८०॥

उस (सर्पास्त्र) से अनगिनत संख्या में भयंकर विषधर सर्प निकलने लगे और उनको मलयध्वज ने अपने गरुडास्त्र से निकले गरुडों के द्वारा कुचल डाला ॥८१॥

तब पुत्र-सहित उस दैत्यराज ने जो-जो अस्त्र छोड़ा, मुक्ताफलध्वज ने उस-उसको अनायास ही परास्त कर दिया ॥८२॥

तदनन्तर, देवताओं के शत्रु त्रैलोक्यमाली उसके पुत्र तथा अन्य राक्षसों ने भी एक साथ ही आग्नेय आदि अस्त्र छोड़े ॥८३॥

तानि तस्याग्रतो दृष्ट्वा स्थितं पाशुपतं ज्वलत् ।
भीतान्यस्त्राणि सर्वाणि विमुखानि क्षणाद्ययुः ॥८४॥
ततस्ते यावदिच्छन्ति भीता दैत्याः पलायितुम् ।
तावत्तदाशयं बुद्ध्वा वीरो मुक्ताफलध्वजः ॥८५॥
बबन्ध तेषामूर्ध्वं च चतुर्दिक्कं च तत्क्षणम् ।
शरजालं स दुर्भेदं वज्रपञ्जरसन्निभम् ॥८६॥
तत्रान्तर्भ्रमतस्तांश्च शकुन्तानिव दानवान् ।
पित्रा भ्रात्रा च सहितः स जघान शितैः शरैः ॥८७॥
निपेतुश्च कराः पादाः शरीराणि शिरांसि च ।
छिन्नानि तेषां दैत्यानामवाहंश्चास्रनिम्नगाः ॥८८॥
साधुवादे ततो दत्ते पुष्पवर्षानुगे सुरैः ।
मोहनास्त्रं ददौ तेषां द्विषां मुक्ताफलध्वजः ॥८९॥
तेन सम्मोहितान्भूमौ पतितांस्तान्सराजकान् ।
असुरान्वारुणास्त्रेण पाशबद्धांश्चकार सः ॥९०॥
तपोधनोऽथ सोऽवादीन्मेरुध्वजनृपं मुनिः ।
न वध्यमासुरं सैन्यं हतशेषमिदं खलु ॥९१॥
स्वीकृतेन ह्यनेनैव प्रवेक्ष्यध्वं रसातलम् ।
दैत्येन्द्रस्तु सपुत्रोऽयं बद्ध्वा नीत्वा समन्त्रिकः ॥९२॥
महासुरैर्दुष्टनागैर्युक्तो मुख्यैश्च राक्षसैः ।
स्थाप्यो देवसभासन्ने श्वेतशैलगुहान्तरे ॥९३॥
इत्युक्तो मुनिना दैत्ययोधान्मेरुध्वजोऽब्रवीत् ।
मा भैष्ट यूयं नास्माभिर्वध्या सभ्रातृकस्य तु ॥९४॥
मुक्ताफलध्वजस्यास्य वर्त्तध्वं शासनेऽधुना ।
इत्युक्ता दानवा राज्ञा हृष्टास्तत्प्रतिपेदिरे ॥९५॥
ततः स राजा तं दैत्यराजं त्रैलोक्यमालिनम् ।
पुत्रादिभिस्तैः सहितं श्वेतशैलमनाययत् ॥९६॥
तद्गुहाभ्यन्तरे तं च स्थापयामास संयतम् ।
भूरिशूरबलोपेतप्रधानामात्यरक्षितम् ॥९७॥
ततो निवृत्ते सङ्ग्रामे मुक्तमन्दरवृष्टिषु ।
वैमानिकेषु यातेषु प्रवृत्ते जगदुत्सवे ॥९८॥

वे सभी अस्त्र मुक्ताफलध्वज के सामने धधकते हुए **पाशुपत अस्त्र** को देखकर क्षण-भर में भयभीत होकर विमुख हो लौट आये ॥८४॥

इसके बाद ज्योंही वे भयभीत राक्षस भागने की इच्छा करने लगे, त्योंही उनकी यह इच्छा जानकर वीर मुक्ताफलध्वज ने उन (राक्षसों) के ऊपर और चारों ओर भी वज्र के पिंजरे की भाँति अभेद्य बाणों का घेरा डाल दिया ॥८५-८६॥

ज़ाल के भीतर छटपटाते हुए राक्षसों को पिता और भाई के साथ मुक्ताफलध्वज ने (अपने) तेज बाणों से पक्षियों की भाँति मार डाला ॥८७॥

(बाणों के प्रहार से कट-कट करके) उन राक्षसों के हाथ, पाँव, धड़ और सिर गिरने और रक्त की नदियाँ बहने लगीं ॥८८॥

तब देवताओं ने पुष्पवृष्टि करके धन्यवाद के नारे लगाये और मुक्ताफलध्वज ने उन शत्रुओं के ऊपर मोहनास्त्र (मूच्छित कर देनेवाला अस्त्र) छोड़ा ॥८९॥

उस (मोहनास्त्र) से मूच्छित हो धरती पर गिरे उन राजा-सहित राक्षसों को मुक्ताफलध्वज ने वारुणास्त्र (के प्रयोग) से पाश में बाँध लिया ॥९०॥

तदनन्तर, तपोधन मुनि ने राजा मेरुध्वज से कहा—(हे राजन्) मरने से बची हुई असुर-सेना को (अब) मत मारिए ॥९१॥

हार मान चुकी हुई इसी सेना के सहारे आप रसातल में प्रवेश पायेंगे (अथवा इसी सेना की स्वीकृति से आप रसातल (पाताललोक) में प्रवेश पायेंगे)। और पुत्रों, मन्त्रियों, महासुरों, बदमाश हाथियों और प्रमुख राक्षसों-सहित उस दैत्यराज त्रैलोक्यमाली को बाँध करके ले जाइए और देवसभा (इन्द्र के दरबार-भवन) के निकट श्वेत शैल की गुफा के भीतर (कैद कर) रखिए ॥९२-९३॥

मुनि के ऐसा कहने पर मेरुध्वज ने राक्षस-सैनिकों से कहा—(अब) तुम डरो नहीं। हम तुम्हें नहीं मारेंगे। किन्तु, तुम अब से भाई-सहित मुक्ताफलध्वज के शासन में रहा करो। राजा मेरुध्वज के ऐसा कहने पर राक्षसों ने प्रसन्न हो उसकी बात मान ली ॥९४-९५॥

तब राजा मेरुध्वज पुत्रादि-सहित राक्षसराज त्रैलोक्यमाली को श्वेत शैल (नामक पर्वत पर) ले गये ॥९६॥

और, उस पर्वत की गुफा के भीतर उसे कैद करके रख दिया, जिसकी रक्षा बहुत-से शूर सैनिकों से युक्त मुख्य मन्त्री करने लगे ॥९७॥

(इस प्रकार) जब लड़ाई समाप्त हुई, विमान पर चढ़े देवता मन्दार-पुष्प की वृष्टि करके चले गये और संसार-भर में उत्सव होने लगा —॥९८॥

स तत्र पुत्रौ वक्ति स्म राजा मेरुध्वजो जयी।
इहैव यज्ञरक्षार्थमहं तिष्ठामि सम्प्रति॥९९॥
युवां प्रयातं पातालमेतैः स्वैः सैनिकैः सह।
प्राप्तदैत्यविमानौघैः शेषासुरबलेन च॥१००॥
आश्वास्य स्थापयित्वा च वशे पातालवासिनः।
प्रधानाधिष्ठितान्कृत्वा स्वीकृत्येहागमिष्यथः॥१०१॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्याशु दिव्यकामगवाहनः।
मुक्ताफलध्वजो वीरः स चापि मलयध्वजः॥१०२॥
रसातलं विविशतुः ससैन्यौ भ्रातरावुभौ।
सह दानवसैन्येन प्रणतेनाग्रयायिना॥१०३॥
हत्वा च रक्षिणः स्थानस्थानेषु परिपन्थिनः।
अदातामत्र तौ शेषजनस्याभयडिण्डिमम्॥१०४॥
विश्वस्तप्रणते चैतौ जने सप्त रसातलान्।
स्वीचक्रतुः पुरशतैर्नानारत्नमयैर्युतान्॥१०५॥
बुभुजाते च तान् रम्यानुद्यानैः सर्वकामदैः।
दिव्यासवभृतानेकरत्नसोपानवापिकैः॥१०६॥
तत्राद्भुताकृती तौ च ददृशुर्दानवाङ्गनाः।
तत्कन्याश्च तरुष्वन्तर्मायाच्छादितविग्रहाः॥१०७॥
आरेभे च तदा तत्र भर्त्तुर्बद्धस्य शर्मणे।
तपः स्वयम्प्रभा नाम भार्या त्रैलोक्यमालिनः॥१०८॥
तस्याः सुते च त्रैलोक्यप्रभात्रिभुवनप्रभे।
आरेभाते तपस्तद्वत्कुमार्यौ श्रेयसे पितुः॥१०९॥
तौ च राजसुतौ तत्र पाताले सकलं जनम्।
लब्धप्रशमनस्वस्थं सम्मान्य विविधैः प्रियैः॥११०॥
स्थापयित्वा च सङ्ग्रामसिंहादीनधिकारिणः।
तपोवनाश्रमपदं पितुः पार्श्वमुपेयतुः॥१११॥
तावत्तत्र मुनेर्यज्ञः स समाप्तिमुपाययौ।
गन्तुं प्रारेभिरे देवाः स्वधिष्ण्यान्यृषयस्तथा॥११२॥
ततो मेरुध्वजः शक्रं परितुष्टं व्यजिज्ञपत्।
आगम्यतां मन्नगरं देव तुष्टोऽसि चेन्मयि॥११३॥

तब विजयी राजा मेरुध्वज ने अपने दोनों पुत्रों से कहा—मैं यज्ञ की रक्षा के लिए अभी यहीं ठहरता हूँ ॥९९॥

और तुम दोनों अपने सैनिकों के साथ, दैत्यों से (युद्ध में) प्राप्त श्रेष्ठ विमानों-सहित और बचे हुए राक्षस-सैन्य के साथ पाताल जाओ ॥१००॥

(वहाँ) पातालवासियों को (सुरक्षा का) आश्वासन देकर अपने वश में कर लेना और उनके ऊपर एक प्रधान शासक रख करके अपनी प्रजा बना यहाँ लौट आना ॥१०१॥

यह सुनकर 'वैसा ही करूँगा' यह (कहकर) वीर मुक्ताफलध्वज और मलयध्वज दोनों भाई अविलम्ब इच्छानुसार चलनेवाले उस आकाशगामी सवारी पर आरूढ हुए और अधीनता स्वीकार कर आगे-आगे चलती राक्षस-सेना के साथ पाताललोक में प्रवेश किया ॥१०२-१०३॥

जगह-जगह शत्रुपक्ष के रक्षकों को मार-मारकर वहाँ शेष जनता को ढिंढोरा पिटवाकर अभय-दान दिया ॥१०४॥

जब (वहाँ की) जनता विश्वस्त हो विनीत हो गई, तब उन दोनों भाइयों ने विविध रत्नमय सौ-सौ नगरों से युक्त सातों रसातलों को अपना लिया (अर्थात्, उनपर शासन करने लगे) ॥१०५॥

और वे दोनों उन सातों रसातलों का भोग करने लगे, जो स्वर्गीय मदिरा से भरी और रत्नमय सीढ़ियोंवाली वापियों से युक्त, सभी कामनाओं को पूरा करनेवाले उद्यानों से मनोहर लगते थे ॥१०६॥

वहाँ उन दोनों भाइयों ने अद्भुत आकृतिवाली असुर-ललनाओं को तथा उनकी कन्याओं को देखा, जो विद्या (जादू) के प्रभाव से अपने शरीर को वृक्ष के भीतर छिपाए हुए थीं ॥१०७॥

त्रैलोक्यमाली की पत्नी स्वयम्प्रभा वहाँ उस समय कैद हुए अपने पति के कल्याण के लिए तपस्या करने लगी ॥१०८॥

उसी भाँति त्रैलोक्यप्रभा और त्रिभुवनप्रभा नाम की उसकी दो कुमारी लड़कियाँ भी (अपने) पिता के कल्याण के लिए तपस्या करने लगीं ॥१०९॥

और उधर उन दोनों राजकुमारों (मुक्ताफलध्वज और मलयध्वज) ने वहाँ पाताल में सभी लोगों को, जो शान्ति के लाभ से स्वस्थ-निश्चिन्त हो गये थे, विविध प्रिय (कार्यों) के द्वारा सम्मानित किया ॥११०॥

और वहाँ संग्रामसिंह आदि अधिकारियों को तैनात करके (स्वयं दोनों भाई) उस तपोवन के आश्रमस्थान में अपने पिता के पास पहुँचे ॥१११॥

तबतक वहाँ उस तपोधन ऋषि का यज्ञ समाप्त हो गया, और देवता एवं ऋषि-गण अपने-अपने घर जाने लगे ॥११२॥

तब मेरुध्वज ने प्रसन्न हुए भगवान् इन्द्र से विनती की कि यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो, कृपया मेरे नगर चलिए ॥११३॥

तच्छ्रुत्वा तत्प्रियायागान्मुनिमामन्त्र्य वासवः ।
राज्ञा तेन सपुत्रेण सह देवसभं पुरम् ॥११४॥

तत्र चोपाचरत्तं स राजा लोकद्वयेश्वरः ।
तथा शक्रं यथा दिव्यं सुखं विस्मरति स्म सः ॥११५॥

ततः प्रीतः स शक्रोऽपि तं सपुत्रं महीपतिम् ।
दिव्यात्मवाहनारूढं निनाय स्वं त्रिविष्टपम् ॥११६॥

तत्र नारदरम्भादिसङ्गीतसुखसुन्दरे ।
स विश्रमय्य तं मेरुध्वजं समलयध्वजम् ॥११७॥

मुक्ताफलध्वजं चेन्द्रः पारिजातमयीः स्रजः ।
दत्त्वा सदिव्यमुकुटाः सम्मान्य प्राहिणोद्गृहम् ॥११८॥

ते चागत्यात्र भूलोके पाताले च गतागतम् ।
कुर्वाणाश्चक्रिरे राज्यं नृदेवा लोकयोर्द्वयोः ॥११९॥

ततो मेरुध्वजो मुक्ताफलध्वजमुवाच सः ।
विजिताः शत्रवः पुत्र युवानौ भ्रातरौ युवाम् ॥१२०॥

स्वाधीना राजकन्याश्च मया ताश्च गवेषिताः ।
वर्त्तन्ते प्राप्तकालस्तत्क्रियतां दारसंग्रहः ॥१२१॥

इति पित्रोदितेऽवादीत्सोऽथ मुक्ताफलध्वजः ।
न मे परिणये तात मनस्तावत्प्रवर्त्तते ॥१२२॥

अहं तपश्चरिष्यामि सम्प्रत्याराधितुं हरम् ।
एष वत्सस्तु कुरुतां विवाहं मलयध्वजः ॥१२३॥

एतच्छ्रुत्वैव मलयध्वजस्तं सोऽनुजोऽब्रवीत् ।
विवाहो मम युक्तः किमार्य त्वय्यपरिग्रहे ॥१२४॥

राज्यं वा त्वय्यराज्यस्थे तव मार्गानुगो ह्यहम् ।
इत्युक्ते तेन मलयध्वजेनोवाच भूपतिः ॥१२५॥

मेरुध्वजस्तं तनयं ज्येष्ठं मुक्ताफलध्वजम् ।
युक्तमेवामुना तावदनुजेन तवोदितम् ॥१२६॥

त्वं त्वयुक्तं वदस्येतन्नव एवात्र यौवने ।
को नाम कालस्तपसो भोगकालो ह्ययं तव ॥१२७॥

यह सुनकर इन्द्र तपोधन मुनि से विदा लेकर उसे प्रसन्न करने के लिए दोनों पुत्रों-सहित राजा मेरुध्वज के साथ देवसम नगर गये॥११४॥

(पृथ्वी और पाताल) दोनों लोकों के मालिक राजा मेरुध्वज ने इन्द्र का ऐसा आतिथ्य किया, जिसके आगे वे (अपना) स्वर्गीय सुख (भी) भूल गये॥११५॥

तब (आतिथ्य से) प्रसन्न हो इन्द्र भी दोनों पुत्रों-सहित राजा मेरुध्वज को अपने स्वर्गीय विमान पर चढ़ाकर स्वर्गपुरी ले आये॥११६॥

वहाँ नारद, रम्भा आदि (अप्सराओं) के संगीत के आनन्द से रमणीय स्थान में ठहराकर मलयध्वज-समेत मेरुध्वज तथा मुक्ताफलध्वज को इन्द्र ने स्वर्गीय मुकुट तथा पारिजात फूलों की मालाएँ देकर सत्कृत करके घर भेजा॥११७-११८॥

और वे (मेरुध्वज, मुक्ताफलध्वज और मलयध्वज) वहाँ आकर भूलोक और पाताललोक में यातायात करते हुए दोनों लोकों का राज्य करने लगे॥११९॥

तदनन्तर, (एक समय) मेरुध्वज ने मुक्ताफलध्वज से कहा कि हे पुत्र, (अब हमने) शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली, तुम दोनों भाई जवान हो चले॥१२०॥

और (तुम दोनों के लिए) मैंने जो राजकन्याएँ खोजी हैं, वे मेरे अधीन मौजूद हैं। अब तुम दोनों विवाह करो, (क्योंकि विवाह का समुचित) काल प्राप्त हो चुका है॥१२१॥

पिता के ऐसा कहने पर मुक्ताफलध्वज ने कहा—पिताजी, विवाह करने का मेरा जी नहीं करता है॥१२२॥

मैं अभी शंकर की आराधना करने के लिए तपस्या करूँगा, यह वत्स मलयध्वज विवाह करे॥१२३॥

यह सुनते ही उसके छोटे भाई मलयध्वज ने (बड़े भाई से) कहा—हे आर्य! जबतक आप अविवाहित हैं, तबतक क्या मेरा विवाह करना उचित होगा? ॥१२४॥

या आप राज्यासन पर न रहेंगे, तो मेरे लिए राज्य ही उचित होगा? क्योंकि मैं तो आपका अनुगामी हूँ (अतः, जब आप विवाह या राज्य करेंगे, तभी मैं भी करूँगा)। मलयध्वज के ऐसा कहने पर राजा मेरुध्वज ने अपने बड़े लड़के मुक्ताफलध्वज से कहा—तुम्हारे छोटे भाई ने जो कहा है, वह ठीक है॥१२५-१२६॥

तुम यह असंगत बात बोलते हो। यह नई जवानी तपस्या करने का समय नहीं है, यह तो तुम्हारे लिए भोग का समय है॥१२७॥

तदकालोचितः पुत्र मुच्यतामेष दुर्ग्रहः ।
इति तेनोच्यमानेऽपि राज्ञा ज्येष्ठः सुतोऽत्र च ॥१२८॥
नाङ्गीचक्रे यदा सम्प्रत्युद्वाहं निश्चयेन सः ।
तदा स नृपतिस्तूष्णीं तस्थौ कालं प्रतीक्षितुम् ॥१२९॥
अत्रान्तरे च पाताले भार्यां त्रैलोक्यमालिनः ।
स्वयम्प्रभामूचतुस्तां तपःस्थे ते स्वकन्यके ॥१३०॥
आवयोरम्ब सप्ताष्टवर्षयोः संयतः पिता ।
राज्यभ्रंशश्च संवृत्तः कस्मादकृतपुण्ययोः ॥१३१॥
अष्टमं वर्षमेतच्च तपस्यन्त्योर्न नौ हरः ।
प्रसीदति न तातोऽयं मुच्यतेऽद्यापि बन्धनात् ॥१३२॥
तद्यावदावयोर्न स्याद्रिपोः परिभवोऽथवा ।
निर्लक्षणामिमां तावदनले जुहुवुस्तनुम् ॥१३३॥
इत्युक्ता दुहितृभ्यां सा जगादैवं स्वयम्प्रभा ।
पुत्र्यौ प्रतीक्ष्यतां तावदुदयो ह्यस्ति नः पुनः ॥१३४॥
तपःस्थितां हि मां स्वप्ने जाने देवोऽब्रवीच्छिवः ।
वत्से कुर्या धृतिं राज्यं पुनः प्राप्स्यति ते पतिः ॥१३५॥
मुक्ताफलध्वजश्चैष तथैव मलयध्वजः ।
दुहित्रोस्तव भर्त्तारौ राजपुत्रौ भविष्यतः ॥१३६॥
मानुषाविति मा चैतौ विज्ञासीरेतयोर्यतः ।
एको विद्याधरवरो द्वितीयो मामको गणः ॥१३७॥
इत्यादिष्टेश्वरेणाहं प्रबुद्ध रजनीक्षये ।
इत्याशयैतया चैष सोढः क्लेशो महान्मया ॥१३८॥
तस्मादावेदयाम्येतदर्थं युष्मत्पितुः प्रभोः ।
तदिच्छया यतिष्ये च युष्मदुद्वाहसिद्धये ॥१३९॥
एवमाश्वास्य सा राज्ञी कन्यके स्वे स्वयम्प्रभा ।
उवाचेन्दुमतीं नाम वृद्धामन्तःपुरस्त्रियम् ॥१४०॥
आर्यपुत्रस्य निकटं श्वेतशैलगुहां व्रज ।
निपत्य पादयोस्तं च विज्ञापय गिरा मम ॥१४१॥
निर्मितास्मि महाराज धात्रान्येनैव दारुणा ।
त्वद्वियोगाग्निनाद्यापि न दह्ये ज्वलतापि या ॥१४२॥

इसलिए, हे पुत्र, तुम यह असामयिक दुराग्रह छोड़ो। राजा मेरुध्वज के ऐसा कहने पर भी जब उसके ज्येष्ठ पुत्र मुक्ताफलध्वज ने तत्काल विवाह करना एकदम अस्वीकार कर दिया, तब राजा मेरुध्वज समय की प्रतीक्षा करते हुए (कुछ दिनों तक) मौन रहने लगा ॥१२९॥

इस बीच में, पाताललोक में राक्षस त्रैलोक्यमाली की पत्नी स्वयम्प्रभा से, तपस्या करती हुई उसकी उन दोनों लड़कियों ने, कहा—॥१३०॥

हे माता, हम दोनों कैसी पुण्यहीन (अभागिन) हैं ! क्यों हमारे पिताजी सात-आठ वर्ष से बन्दी हैं, और क्यों हम लोगों का राज्य चला गया ? ॥१३१॥

हम लोगों के तपस्या करते यह आठवाँ वर्ष चल रहा है, फिर भी भगवान् शंकर प्रसन्न नहीं हो रहे हैं और पिताजी भी बन्धन (कैद) से मुक्त नहीं हो रहे हैं ॥१३२॥

इसलिए, यदि अब हमारे शत्रु की हार नहीं होगी, तो हम अपने इस अशुभ शरीर को आग में जला देंगी ॥१३३॥

दोनों लड़कियों के ऐसा कहने पर स्वयम्प्रभा ने कहा—हे पुत्रियो, अभी (कुछ देर और) प्रतीक्षा करो; क्योंकि हम लोगों का अभ्युदय पुनः होनेवाला है ॥१३४॥

तपस्या करती हुई मुझसे भगवान् शंकर ने स्वप्न में कहा —हे वत्से, धीरज रखो, तुम्हारा पति पुनः राज्य प्राप्त करेगा ॥१३५॥

राजकुमार मुक्ताफलध्वज और मलयध्वज तुम्हारी दोनों कन्याओं के पति होंगे ॥१३६॥

इन दोनों राजकुमारों को तुम मनुष्य मत समझो; क्योंकि (इनमें) एक श्रेष्ठ विद्याधर है और दूसरा मेरा गण है ॥१३७॥

भगवान् शंकर के ऐसा कहने पर रात के अन्त में मैं जागी और (तब से) मैंने इसी आशा से यह महान् क्लेश सहा है ॥१३८॥

अतः, भगवान् शंकर की (कही हुई) यह बात मैं तुम्हारे पिता से कहती हूँ और उनकी राय से तुम दोनों के विवाह सम्पन्न कराने का प्रयास करूँगी ॥१३९॥

रानी स्वयम्प्रभा ने इस प्रकार अपनी दोनों कन्याओं को अश्वासन देकर अन्तःपुर (हवेली) की वृद्धा स्त्री इन्दुमती से कहा—॥१४०॥

(हे इन्दुमती), तुम मेरे पति मेरुध्वज के पास श्वेत शैल की गुफा में जाओ, और वहाँ उनके पाँव पर गिरकर मेरा यह संवाद कहना—॥१४१॥

हे महाराज, मेरी रचना किसी दूसरे ही कठोर विधाता ने की है; इसीलिए मैं आपके विरह की धधकती हुई आग में आज भी नहीं जलती हूँ ॥१४२॥

आत्मा तु न मया त्यक्तः पुनस्त्वद्दर्शनाशया।
इत्युक्त्वा मामकं शार्वं स्वप्नादेशं निवेदयेः ॥१४३॥
ततः कन्याविवाहार्थं पृच्छेस्तं यच्च वक्ष्यति।
तत्त्वयागत्य मे वाच्यं विधास्येऽहं तथाविधम् ॥१४४॥
इत्युक्त्वेन्दुमतीं तां सा प्रैषयत्सापि निर्गता।
पातालात्प्राप तच्छैलगुहाद्वारं सुरक्षितम् ॥१४५॥
रक्षिणोऽभ्यर्थ्य तत्रान्तः प्रविश्यालोक्य संयतम्।
त्रैलोक्यमालिनं तं सा साश्रुर्जग्राह पादयोः ॥१४६॥
तत्पृष्टकुशला तच्च शनैस्तस्मै शशंस सा।
कृत्स्नं स्वभार्यासन्देशं ततो राजा जगाद सः ॥१४७॥
यः प्रोक्तो राज्यलाभो नः शर्वेणास्तु तथैव सः।
मेरुध्वजस्यात्मजयोः कन्यादाने तु का कथा ॥१४८॥
इहैवाहं विपद्येय न तु दद्यां निजात्मजे।
शत्रुभ्यां मानुषाभ्यां च संयतः सन्नुपायनम् ॥१४९॥
इत्युक्त्वेन्दुमती राज्ञा प्रेषिता तेन सा ततः।
एत्य स्वयम्प्रभायै तत्तत्पत्न्यै तद्वचोऽभ्यधात् ॥१५०॥
श्रुत्वा ततस्ते त्रैलोक्यप्रभात्रिभुवनप्रभे।
दैत्येन्द्रकन्ये जननीमूचतुस्तां स्वयम्प्रभाम् ॥१५१॥
आवयोर्यौवनभयादग्निरेवाधुना गतिः।
तदम्बास्यां चतुर्दश्यां तत्प्रदेशं विदध्वहे ॥१५२॥
कृतनिश्चययोरेवं तयोः साप्यकरोत्तदा।
निश्चयं मरणायैव तन्माता सपरिच्छदा ॥१५३॥
प्राप्तायां च चतुर्दश्यां ताः पापरिपुनामनि।
तीर्थे सर्वाश्चिताश्चक्रुरर्चित्वा हाटकेश्वरम् ॥१५४॥
तावन्मेरुध्वजो राजा तिथौ तस्यां सपुत्रकः।
सभार्यश्चाययौ तावद्धाटकेश्वरमर्चितुम् ॥१५५॥
स पापरिपुतीर्थं तत्स्नानार्थं सानुगो व्रजन्।
दूराद्ददर्श तत्तीरे वनान्तर्धूममुद्गतम् ॥१५६॥
धूमोद्गमः कुतोऽत्रेति पृच्छन्तं तं च भूपतिम्।
ऊचुः सङ्ग्रामसिंहाद्याः पातालाधिकृता निजाः ॥१५७॥

आपके पुनः दर्शन होंगे, इसी आशा से मैंने (अभी तक) प्राणत्याग नहीं किया है। इतना कहकर, भगवान् शिव ने मुझे जो स्वप्न दिया है, वह समाचार सुनाना ॥१४३॥

तब दोनों लड़कियों के विवाह की बात उनसे पूछना, और वह जो कहें, सो यहाँ आकर मुझसे कहो, वैसा ही मैं करूँगी ॥१४४॥

इतना कहकर उस रानी ने इन्दुमती को विदा किया और इन्दुमती पाताल से निकलकर श्वेत शैल की गुफा के सुरक्षित द्वार पर पहुँची ॥१४५॥

रक्षकों की प्रार्थना कर के वह उस गुफा के भीतर पहुँची और वहाँ कैद हुए उस त्रैलोक्यमाली को देखकर रोती हुई उसके पाँव पकड़ लिये ॥१४६॥

कुशल-समाचार पूछने पर (इन्दुमती) ने उसे धीरे-धीरे अपनी पत्नी का संवाद सुना दिया। तब राजा ने कहा—॥१४७॥

शिवजी ने जो राज्य के पुनः प्राप्त होने की बात कही है, सो वैसा ही हो। किन्तु, मेरुध्वज के दोनों लड़कों को कन्या देने की बात क्या कहती हो? (ऐसा हो नहीं सकता) ॥१४८॥

यहीं पर मैं मर जाऊँ (तो मर जाऊँ), किन्तु (उन्हीं की) कैद में पड़ा मैं उन दोनों को, जो (एक तो) मनुष्य जाति के और (उसपर भी) दुश्मन हैं, अपनी लड़कियाँ भेंट न करूँगा ॥१४९॥

यह कहकर राजा ने इन्दुमती को विदा कर दिया, और उसने वहाँ से आकर उसकी पत्नी से राजा की कही हुई बातें कह सुनाईं ॥१५०॥

तब दैत्यराज की पुत्री त्रैलोक्यप्रभा और त्रिभुवनप्रभा ने यह सुनकर (अपनी) माता स्वयम्प्रभा से कहा—॥१५१॥

हे माता, इस जवानी के डर से (त्राण पाने का) अब हम दोनों के लिए एकमात्र अग्नि ही उपाय है। इसलिए, इस चतुर्दशी तिथि को हम दोनों अग्नि-प्रवेश करेंगी ॥१५२॥

जब उन दोनों लड़कियों ने इस प्रकार (प्राणत्याग करने का) निश्चय किया, तब उनकी माता ने भी सपरिवार मरने का ही निश्चय किया ॥१५३॥

जब चतुर्दशी तिथि आई, तब उन सबने पापरिपु नाम के तीर्थस्थान में हाटकेश्वर भगवान् की पूजा करके चिताएँ बनाईं ॥१५४॥

तबतक उधर उसी चतुर्दशी तिथि को हाटकेश्वर की पूजा करने अपने पुत्रों और पत्नी-सहित राजा मेरुध्वज (भी) वहाँ पहुँच गये ॥१५५॥

पापरिपु तीर्थ में स्नान के लिए सपरिवार जाते हुए मेरुध्वज ने देखा कि (कुछ) दूर पर उस (तीर्थ) के तटवर्ती वन के भीतर धुआँ निकल रहा है ॥१५६॥

(यह देख राजा ने पूछा—) यहाँ (यह) धुआँ कहाँ से निकला? ऐसा पूछते हुए उस राजा मेरुध्वज से उसके पाताल के अधिकारी संग्रामसिंह आदि ने कहा—॥१५७॥

त्रैलोक्यमालिनो भार्या महाराज स्वयम्प्रभा।
दुहितृभ्यां कुमारीभ्यां सहात्र तपसि स्थिता॥१५८॥
नूनं ता अग्निकार्यादि किञ्चिदत्राद्य कुर्वंति।
यदि वातितपःखिन्नाः कुर्वन्त्यग्निप्रवेशनम्॥१५९॥
तच्छ्रुत्वा सह पुत्राभ्यां पत्न्या तैश्चाधिकारिभिः।
द्रष्टुं स राजा तत्रागान्निषिद्धान्यपरिच्छदः॥१६०॥
ददर्श चात्र प्रच्छन्नः स्थितस्ते दैत्यकन्यके।
समातृके पूजयन्त्यौ सुसमिद्धं चितानलम्॥१६१॥
मुखलावण्यसन्दोहनिःस्यन्दैर्दिक्षु सर्वतः।
चन्द्रबिम्बशतानीव रचयन्त्यौ रसातले॥१६२॥
लोलहाराम्बुपूराभ्यां कामस्येवाभिषेचनम्।
कुचकाञ्चनकुम्भाभ्यां कुर्वंत्यौ त्रिजगज्जये॥१६३॥
बिभ्राणे जघनाभोगं विपुलं बद्धमेखलम्।
नक्षत्रमालाकमिव स्मरद्विपशिरःस्थलम्॥१६४॥
वहन्त्यौ केशपाशौ च पन्नगाविव निर्मितौ।
धात्रा लावण्यसर्वंस्वनिधानं रक्षितुं तयोः॥१६५॥
दृष्ट्वा ते चिन्तयामास स राजा जातविस्मयः।
अहो विश्वसृजः सृष्टिर्लंसन्नवनवाद्भुता॥१६६॥
तदेतयोर्न रम्भापि नोर्वशी न तिलोत्तमा।
रूपे भजति तुल्यत्वमसुराधिपकन्ययोः॥१६७॥
इति चिन्तयतस्तस्य राज्ञः सा दैत्यकन्यका।
ज्येष्ठार्चयित्वा त्रैलोक्यप्रभा वह्निं व्यजिज्ञपत्॥१६८॥
उक्तः स्वप्नहरादेशो यतः प्रभृति मेऽम्बया।
ततः प्रभृति बद्धैव भर्तृबुद्धिर्यतो मया॥१६९॥
तस्मिन्गुणनिधौ राजपुत्रे मुक्ताफलध्वजे।
तत्स एव पतिर्भूयाद्भगवन्मेऽन्यजन्मनि॥१७०॥
इह जन्मनि तातेन संयतस्थेन मानिना।
दित्सिताप्यम्बया तस्मै दातुं नाङ्गीकृतास्मि यत्॥१७१॥
तच्छ्रुत्वा तद्वदेवात्र सापि त्रिभुवनप्रभा।
वव्रे हुताशान्मलयध्वजं जन्मान्तरे पतिम्॥१७२॥

हे महाराज, यहाँ त्रैलोक्यमाली की स्त्री स्वयम्प्रभा अपनी दोनों कुमारी लड़कियों के साथ तपस्या कर रही है॥१५८॥

निश्चय, वे ही या तो अग्निकार्य (रसोई) आदि कोई काम कर रही होंगी, या अति तपस्या करते-करते खिन्न होकर अग्नि-प्रवेश करती होंगी॥१५९॥

यह सुनकर वह राजा दोनों पुत्रों, स्त्री और उन अधिकारियों को साथ ले और अन्य परिजनों को (वहीं) छोड़कर (क्या बात है) यह देखने के लिए उस (धुआँ निकलने के) स्थान में गया॥१६०॥

और, वहाँ छिपकर देखा कि माता-सहित वे दोनों असुर-कुमारियाँ भली भाँति धधकती हुई चिता की अग्नि को पूज रही हैं॥१६१॥

वे दोनों कुमारियाँ लगती थीं, मानों अपने मुख के सौन्दर्य की लहरी से (सारे) पाताल-लोक में सभी दिशाओं में सौ-सौ चन्द्र-मण्डल बना रही हों॥१६२॥

तीनों लोक में विजय पाने के उपलक्ष्य में चंचल हार-रूपी जलधाराओं से युक्त अपने स्तन-रूपी सोने के घड़ों से मानों कामदेव का अभिषेक कर रही हों॥१६३॥

मेखला (कमरबन्द) से कसा हुआ उनका पुष्ट और विस्तृत जघनस्थल (लगता था) मानों नक्षत्र-माला से युक्त कामदेव के हाथी का गण्डस्थल हो॥१६४॥

उनकी जो दो-दो चोटियाँ लटक रही थीं, वे ऐसी लगती थीं, मानो सौन्दर्य के खजाने की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने दो नाग छोड़ दिये हों॥१६५॥

उन्हें देख राजा मेरुध्वज विस्मित हो सोचने लगा—अहा! विधाता की सृष्टि क्या अपूर्व है, जहाँ नई-नई अद्भुत वस्तुएँ (सदा) दिखाई पड़ती रहती हैं॥१६६॥

सो, इन दोनों असुर-राजकुमारियों के रूप की तुलना न रम्भा से हो सकती है, न उर्वशी से और न तिलोत्तमा से ही॥१६७॥

राजा मेरुध्वज जब इस प्रकार सोच रहे थे, तब वह बड़ी असुर-कुमारी त्रैलोक्यप्रभा अग्नि की पूजा करके बोली—॥१६८॥

हे भगवान् अग्नि, जब से मेरी माता ने स्वप्न में मिले शिवजी का (वह) आदेश मुझे सुनाया, तब से मैंने (सभी) गुणों की खान राजपुत्र मुक्ताफलध्वज को पतिभाव से मन में ग्रहण कर लिया है, इसलिए (मैं प्रार्थना करती हूँ कि) दूसरे जन्म में भी मेरा वही पति हो॥१६९-१७०॥

क्योंकि, इस जन्म में (यद्यपि) माता मुझे उनके हाथ देना चाहती थी, तो भी कैद हुए मेरे स्वाभिमानी पिता ने मेरा विवाह स्वीकार नहीं किया॥१७१॥

यह सुनकर वहाँ उसी भाँति वह (छोटी बहन) त्रिभुवनप्रभा ने भी अग्नि से वर माँगा कि अगले जन्म में (भी) मलयध्वज मेरे पति हों॥

ततो मेरुध्वजो राजा स तच्छ्रवणहर्षुलः ।
तद्भार्या च महादेवी परस्परमवोचताम् ॥१७३॥
प्राप्नुयातामिमे भार्ये यद्यस्मत्तनयाविमौ ।
तदेताभ्यामवाप्तं स्याल्लोकद्वयजयात्फलम् ॥१७४॥
तद्यावदस्मिन्ननले नात्मानं क्षिपतः क्षणम् ।
तावत्किं नोपसृत्यैते वारयामः समातृके ॥१७५॥
एवं देव्या सहालोच्य राजावोचदुपेत्य ताः ।
मा कार्ष्ट साहसं दुःखं शमयिष्याम्यहं हि वः ॥१७६॥
श्रुत्वैतच्छ्रोत्रपीयूषवर्षाभं भूपतेर्वचः ।
दृष्ट्वा च तं ताः सकलाः प्रणेमुरसुराङ्गनाः ॥१७७॥
पश्यन्त्योऽपि वयं पूर्वं मायाच्छन्ना न लक्षिताः ।
लोकद्वयेश्वरेणेह दृष्टाः स्मोऽद्य पुनस्त्वया ॥१७८॥
त्वद्दृष्टानां च दुःखान्तो भवत्येवाचिरेण नः ।
किं पुनः स्वगिरा दत्ते देवेनाभ्यर्थिते वरे ॥१७९॥
तद्गृह्णीतार्घ्यपाद्यादि कृतासनपरिग्रहाः ।
भवन्तो हि जगत्पूज्या अयं चास्माकमाश्रमः ॥१८०॥
इति स्वयम्प्रभामुक्तवतीमाह हसन्नृपः ।
जामातृभ्यां त्वयैताभ्यां पाद्यार्घ्यं दीयतामिति ॥१८१॥
ततः स्वयम्प्रभावादीत्तदेताभ्यां वृषध्वजः ।
देवो दापयितार्घादि युष्माभिस्त्वद्य गृह्यताम् ॥१८२॥
मेरुध्वजो जगादाथ सर्वमात्तमिदं मया ।
यूयं च मरणोद्योगान्निवर्त्तध्वमितोऽधुना ॥१८३॥
प्रविश्य तिष्ठतैकस्मिन्स्वपुरे सर्वकामदे ।
ततोऽहमेव ज्ञास्यामि यथा वः कुशलं भवेत् ॥१८४॥
इत्युक्तवन्तं राजानं सा जगाद स्वयम्प्रभा ।
देवादेशान्निवृत्ताः स्मः शरीरत्यागनिश्चयात् ॥१८५॥
कारास्थे तु प्रभौ युक्ता कथं नः स्वगृहस्थितिः ।
तदिहैव वयं तावत्तिष्ठामो देव सम्प्रति ॥१८६॥
यावद्देवः स्वयं दत्तं वरं नः पालयिष्यति ।
ससुतामात्यमस्माकं मोचयिष्यति च प्रभुम् ॥१८७॥

तब यह सुनकर हर्षित राजा मेरुध्वज और उसकी स्त्री महादेवी ने आपस में वार्त्तालाप किया कि—॥१७३॥

यदि हमारे ये दोनों लड़के इन दोनों लड़कियों को पत्नी के रूप में प्राप्त करें, तभी उन दोनों का (धरती और पाताल) दोनों लोक जीतना सफल होगा॥१७४॥

अतः, जबतक माता-सहित ये दोनों कुमारियाँ अपने को चिता में डाल नहीं देतीं, तबतक हम तुरत पास जाकर उन्हें क्यों न रोक लें॥१७५॥

इस प्रकार, रानी के साथ विचार करके राजा मेरुध्वज ने पास जाकर उनसे कहा—आप लोग यह (अग्निप्रवेश का) साहस मत करें। मैं आपलोगों का दुःख दूर करूँगा॥१७६॥

कान के लिए अमृत-वर्षा के समान राजा का यह वचन सुनकर और उसे देख करके उन सभी असुर-ललनाओं ने राजा को प्रणाम किया॥१७७॥

(तब रानी स्वयम्प्रभा ने कहा कि) हम लोग तो (पहले भी) आपको देख रही थीं, फिर भी पहले माया (के प्रभाव) से छिपी अलक्षित रहने के कारण हमें दीख नहीं पड़ीं। दोनों लोक के मालिक आप यहाँ आज हमें देख रहे हैं॥१७८॥

आपकी दृष्टि में पड़े, तो अब हम लोगों का दुःख अविलम्ब दूर हो ही गया। फिर भी जब आपने प्रार्थित वर (स्वयं) अपने वचन से दे दिया है, तब क्या कहना है॥१७९॥

अतः, आपलोग आसन ग्रहण करके अर्घ्य और पाद्य लीजिए। क्योंकि, आप संसार-भर के लिए पूजनीय हैं, और यह हम लोगों का आश्रम है॥१८०॥

स्वयम्प्रभा के ऐसा कहने पर राजा मेरुध्वज ने हँसते हुए कहा—यह पाद्य (पाँव धोने का पानी) और अर्घ्य आप अपने उन दोनों जामाताओं को दीजिए॥१८१॥

तब स्वयम्प्रभा ने कहा कि उन दोनों को पाद्य, अर्घ्य आदि भगवान् शंकर दिलायेंगे (ही), आज (पहले) आप तो ग्रहण कीजिए॥१८२॥

तदनन्तर, मेरुध्वज ने कहा—मैंने यह सब ग्रहण किया। और आपलोग अब इस प्राण-त्याग के प्रयास को छोड़िए॥१८३॥

सभी कामनाओं (सुख-सुविधाओं) को पूर्ण करनेवाले अपने किसी नगर में जाकर वहीं रहिए; तब मैं भी वैसा ही करूँगा, जैसा करने से आप लोगों का कल्याण हो॥१८४॥

ऐसा कहनेवाले उस राजा से स्वयम्प्रभा ने कहा—हे प्रभो, आपके आदेश से हमलोगों ने प्राण-त्याग के निश्चय को तो छोड़ दिया—॥१८५॥

किन्तु, जब हम लोगों के प्रभु त्रैलोक्यमाली काराबद्ध हैं, तब हम लोगों के लिए अपने भवन में रहना कैसे उचित होगा? इसलिए, हे महाराज, हम लोग तबतक यहीं रहते हैं—॥१८६॥

जबतक आप स्वयं दिये हुए (उक्त) वर को पूरा नहीं कर देते हैं और पुत्र तथा मन्त्री-समेत हमारे प्रभु (त्रैलोक्यमाली) को कारा से मुक्त नहीं कर देते हैं॥१८७॥

मुक्तस्त्वदधिकारी सन्स च राज्यं करिष्यति ।
अर्पयिष्यति राज्यं च तुभ्यमेव त्वदिच्छया ॥१८८॥
समयप्रतिबन्धं च स करिष्यति तादृशम् ।
अन्तरस्था वयं चात्र सह पातालवासिभिः ॥१८९॥
पातालेभ्योऽस्मदीयानि रत्नानि स्वीकुरुष्व च ।
एवमुक्तवतीं तां सा राजा मेरुध्वजोऽब्रवीत् ॥१९०॥
विज्ञास्याम्यहमेवैतत्स्मर्त्तव्यं स्ववचस्तु वः ।
इत्युक्त्वा स नृपः स्नात्वा हाटकेशमपूजयत् ॥१९१॥
दैत्यराजसुते ते च तयोरेवं स्वदृष्टयोः ।
तत्पुत्रयोस्तदेकाग्रगतचित्ते बभूवतुः ॥१९२॥
अथ स रसातलनिलयैर्निखिलैस्त्रैलोक्यमालिनो मुक्तिम् ।
प्रणिपत्य याच्यमानो राजा मेरुध्वजः सुकृती ॥१९३॥
छत्रैः स्वयशःशुभ्रैः स्थगयन्नाशाः सदारसुतभृत्यः
निर्गत्यासुरलोकात्तस्मादागान्निजं नगरम् ॥१९४॥
तत्रास्य पुत्रो मलयध्वजस्तां कनीयसीं दानवराजपुत्रीम् ।
ध्यायन्ननिद्रोऽपि निमीलिताक्षः स्मरज्वरार्त्तो रजनीं निनाय ॥१९५॥
स धैर्यंजलधिस्तु तामपि विचिन्त्य मुक्ताफल-
ध्वजोऽसुरपतेः सुतां दृढनिबद्धभावां युवा ।
मुनीन्द्रमनसामपि स्मरविकारदां ज्यायसीं
पुरार्थितवरो मुनेर्न खलु चुक्षुभे चेतसा ॥१९६॥
मेरुध्वजस्तु तमवेत्य सुतं निषिद्धदारक्रियं स्मरवशं मलयध्वजं च ।
कन्याप्रदानविमुखं च महासुरं तमासीदुपायघटनाकुलचित्तवृत्तिः ॥१९७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
पद्मावतीलम्बके पञ्चमस्तरङ्गः।

षष्ठस्तरङ्गः

ततो मेरुध्वजो राजा तं तथा मलयध्वजम् ।
पश्यन्स्मरज्वराक्रान्तं देवीं स्वामेवमब्रवीत् ॥१॥
पातालदृष्टे त्रैलोक्यमालिनस्ते सुते न चेत् ।
भार्ये मत्पुत्रयोः स्यातां तन्मया किं कृतं भवेत् ॥२॥

मुक्त होने पर वे (त्रैलोक्यमाली) आपके अधिकारी होकर (पाताल में) राज्य करेंगे और आप चाहेंगे, तो आपको ही राज्य समर्पित कर देंगे ॥१८८॥

वे इस तरह की शर्त्त (स्वीकार) करेंगे और इस करार में (अन्य) पातालवासियों के साथ हम लोग मध्यस्थ होंगे ॥१८९॥

और, आप पाताल के विभिन्न प्रदेशों से हम लोगों के रत्न स्वीकार करें। स्वयम्प्रभा के ऐसा कहने पर राजा मेरुध्वज ने कहा—॥१९०॥

यह कार्य तो मैं ही कर लूँगा, किन्तु आप लोग अपना वह वचन याद रखिएगा। इतना कहकर राजा मेरुध्वज ने स्नान कर के हाटकेश्वर की पूजा की ॥१९१॥

और दैत्यराज की वे दोनों लड़कियाँ उस (राजा मेरुध्वज) के दोनों पुत्रों के ऊपर उसी रूप में एकाग्र भाव से ध्यान लगाये रहीं, जिस रूप में (अभी) देखा था ॥१९२॥

तदनन्तर, वह यशस्वी राजा मेरुध्वज अपने यश (के प्रभाव) के श्वेत छत्रों से सभी दिशाओं को आच्छादित करते हुए रानी, पुत्रों और परिजनों के साथ पाताललोक से निकलकर अपने नगर आये, और (रास्ते में) सभी पातालवासी प्रणाम करते हुए त्रैलोक्यमाली को छोड़ देने की प्रार्थना करते रहे ॥१९३-१९४॥

वहाँ उसके पुत्र मलयध्वज ने असुरराज की उस छोटी कन्या उस त्रिभुवनप्रभा का ध्यान करते हुए नींद न आने पर भी आँखों को मूँदे और काम-ज्वर से पीडित रहते हुए रात बिताई ॥१९५॥

परन्तु, धैर्य में समुद्र के समान युवा मुक्ताफलध्वज उस असुरराज की बड़ी लड़की त्रैलोक्यप्रभा का, जो दृढ अनुराग से युक्त थी और मुनिराजों के मन में भी काम-विकार उत्पन्न करनेवाली थी, ध्यान करके भी चित्त से उद्विग्न नहीं हुआ; क्योंकि उसने पहले मुनि से वह वर प्राप्त कर लिया था ॥१९६॥

मेरुध्वज यह जानकर कि उसका (एक) पुत्र (मुक्ताफलध्वज) तो विवाह करना अस्वीकार कर रहा है, किन्तु दूसरा लड़का मलयध्वज कामदेव के वशीभूत है, और उधर असुरराज त्रैलोक्यमाली अपनी कन्या देने को तैयार नहीं है, व्याकुल चित्त से यह सोचने लगा कि अब कौन-सा उपाय रचा जाय ॥१९७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के पद्मावतीलम्बक का पंचम तरंग समाप्त हुआ।

षष्ठ तरंग

तदनन्तर, राजा मेरुध्वज ने (अपने छोटे पुत्र) मलयध्वज को काम-ज्वर से उस भाँति पीडित देखकर रानी से कहा—॥१॥

(हे प्रिये) पाताल में त्रैलोक्यमाली की जिन लड़कियों को (हमने) देखा था, वे यदि मेरे दोनों पुत्रों की स्त्रियाँ नहीं होती हैं, तो मैंने क्या किया (अर्थात्, कुछ नहीं किया) ॥२॥

तयोः कनिष्ठां च विना पुत्रों मे मलयध्वजः।
लज्जानिगूढकामाग्निः पुटपाकेन पच्यते ॥३॥
तदर्थं च मयाद्यपि मोक्षस्त्रैलोक्यमालिनः।
प्रतिश्रुतोऽपि तत्पत्न्यै सत्वरं न विधीयते ॥४॥
बन्धमुक्तो दुहितरावसुरत्वाभिमानतः।
पुत्राभ्यां मानुषाभ्यां मे स दद्यान्नहि जातुचित् ॥५॥
तदेतमर्थं सान्त्वेन ब्रूमस्तस्याधुना वरम्।
इत्यालोच्य समं देव्या स प्रतीहारमादिशत् ॥६॥
श्वेतशैलगुहां गत्वा प्रीत्या मद्वचनेन तम्।
त्रैलोक्यमालिनं ब्रूहि दैत्येन्द्रं संयतस्थितम् ॥७॥
दैवयोगादिह क्लिष्टा यूयं दैत्यपते चिरम्।
तदिदानीं मम वचः कृत्वा क्लेशं शमं नय ॥८॥
देहि दृष्ट्यानुरागिण्यौ मत्सुताभ्यां सकन्यके।
इतो मुक्तः स्वराज्यं च विहितप्रत्ययः कुरु ॥९॥
इत्युक्त्वा प्रेषितो राज्ञा गत्वा तत्र गुहान्तरे।
दैत्येन्द्रायाब्रवीत्तस्मै क्षत्ता राजवचः स तत् ॥१०॥
मानुषाभ्यामहं कन्ये न दास्यामीति तेन च।
प्रत्युक्तः स तथैवेत्य क्षत्ता राजानमभ्यधात् ॥११॥
अथोपायं विचिन्वाने तस्मिन्मेरुध्वजे नृपे।
दिवसेषु च यातेषु विज्ञाततदुदन्तया ॥१२॥
पातालात्प्रेषिता भूयः सा स्वयम्प्रभया तया।
आगादिन्दुमती तत्र दूती सन्देशहारिणी ॥१३॥
सा चागत्य प्रतीहार्या मुखेनावेदितात्मका।
प्रविवेश महादेव्या निकटं तत्कृतादरा ॥१४॥
प्रणिपत्याब्रवीत्तां च देवि देवी स्वयम्प्रभा।
विज्ञापयति किं वस्तद्विस्मृतं वचनं निजम् ॥१५॥
अधयः कुलशैलाश्च भवन्ति प्रलयेऽन्यथा।
भवादृशां तु वचनं न तदाप्यन्यथा भवेत् ॥१६॥
यद्यप्युपगतं नास्मत्स्वामिना कन्यकार्पणम्।
तत्स बद्धो दुहितरौ कथं दद्यादुपायनम् ॥१७॥

उन दोनों में जो छोटी लड़की है, उसके विना मेरा पुत्र मलयध्वज कामाग्नि को लज्जा के कारण भीतर में छिपाये पुटपाक (चारों ओर से बन्द आबा) की भाँति पक रहा है ॥३॥

इसीलिए, त्रैलोक्यमाली की स्त्री को वचन देकर भी, मैं उसे झटपट मुक्त नहीं कर रहा हूँ ॥४॥

(कौन जाने), बन्धन से मुक्त होने पर वह (त्रैलोक्यमाली) असुरत्व के अभिमान से अपनी दोनों लड़कियाँ मनुष्य (समझकर) मेरे पुत्रों को क़दाचित् नहीं प्रदान करे ॥५॥

इसलिए, यह अच्छा है कि अभी यह बात उसे साम (मैत्रीपूर्ण मार्ग) से कहूँ। रानी के साथ ऐसा विचार-विमर्श करके मेरुध्वज ने (अपने) प्रतीहार को आदेश दिया कि—॥६॥

श्वेत शैल की गुफा में जाओ और वहाँ कैद करके रखे गये दैत्यराज त्रैलोक्यमाली से प्रेमपूर्वक मेरा यह संवाद कहना कि—॥७॥

आपने यहाँ बहुत दिनों तक कष्ट भोगा। अतः, अब मेरी बात मानकर इस कष्ट का अन्त कीजिए ॥८॥

आप प्रेमासक्त अपनी दोनों लड़कियाँ मेरे दोनों लड़कों को दे दीजिए और यहाँ से मुक्त हो निःशंक होकर अपना राज्य कीजिए ॥९॥

यह कहकर राजा के द्वारा प्रेषित वह प्रतीहार उस गुफा के भीतर गया और राजा का वह संवाद दैत्यराज से कह सुनाया ॥१०॥

(उत्तर में उसने कहा कि) मैं अपनी कन्याएँ मनुष्य को कैसे दूँ? यह उत्तर सुनकर वह प्रतीहार वैसे ही लौट आया और राजा मेरुध्वज से कह सुनाया ॥११॥

तदनन्तर, राजा मेरुध्वज उपाय सोचने लगा और (इसी प्रकार) जब बहुत दिन बीत गये, तब यह समाचार जानकर स्वयम्प्रभा ने पुनः उस इन्दुमती को पाताल से वहाँ भेजा और वह सन्देश लेकर वहाँ पहुँची ॥१२-१३॥

प्रतीहारी ने उसके आने की सूचना दी। वह दूती महारानी के निकट पहुँची, और महारानी ने उसका (यथोचित) आदर किया ॥१४॥

तब उस दूती ने प्रणाम करके (रानी से कहा) हे महारानी, (हमारी) महारानी स्वयम्प्रभा ने (आपसे) निवेदन किया है कि आपने जो हम लोगों को वचन दिया था, वह भूल गया क्या ॥१५॥

समुद्र और कुलपर्वत (हिमालय आदि बड़े पहाड़) भी प्रलय के समय अन्यथा हो सकते हैं, परन्तु आप-जैसे लोगों का वचन अन्यथा नहीं होता ॥१६॥

यद्यपि मेरे स्वामी (त्रैलोक्यमाली) ने कन्याएँ देना स्वीकार नहीं किया है, किन्तु (जबतक) वे कैद (हैं, तबतक) अपनी कन्याएँ कैसे भेंट करेंगे? ॥१७॥

औचित्येनोपकाराय युष्माभिश्चेत्स मुच्यते ।
तन्निश्चितं सुतादानात्कुर्याद्भिः प्रत्युप्रक्रियाम् ॥१८॥
सकन्यापि त्यजेत्प्राणानन्यथा सा स्वयम्प्रभा ।
तेन न स्यात्सुताप्राप्तिर्न च वः सत्यपालनम्॥१९॥
तत्कुरुष्व तथा देवि समयप्रत्ययादिना ।
यथा राजा विमुञ्चेत्तं प्रभुं नः सर्वसिद्धये ॥२०॥
स्वयम्प्रभाविसृष्टं च गृहाणेदं विभूषणम् ।
दिव्यैस्तैस्तैश्चितं रत्नैः खेचरत्वादिदायिभिः ॥२१॥

एवमुक्तवतीमिन्दुमतीं राज्ञी जगाद सा ।
दुःखितायाः कथं तस्या मयैतद्गृह्यतामिति ॥२२॥
अगृहीते त्वयैतस्मिन्नस्माकमधृतिर्भवेत् ।
गृहीते तु निजं दुःखं शान्तं मन्यामहे वयम् ॥२३॥
इतीन्दुमत्या राज्ञी सा तया यत्नेन बोधिता ।
आश्वासहेतोस्तस्यास्तद्रत्नाभरणमग्रहीत् ॥२४॥
इहैव तावत्तिष्ठार्ये राजा यावदुपैष्यति ।
इत्युक्त्वा तां च तत्रैव राज्ञी स्थापयति स्म सा ॥२५॥

तावत्स राजा तत्रागादुत्थायेन्दुमती च सा ।
राज्ञीनिवेदिता भूपं प्रणनाम तदादृता ॥२६॥
स्वयम्प्रभावितीर्णं च चूडारत्नं समर्पयत् ।
विषरक्षोजरारोगहरं तस्मै नृपाय सा ॥२७॥
स्वसत्यमनुपाल्यैतद्ग्रहीष्यामीति वादिनम् ।
नृपमिन्दुमती सा तमेवं प्रौढा व्यजिज्ञपत् ॥२८॥
देवेन प्रतिपन्नं चेत्सत्यं पालितमेव तत् ।
अस्मिन्गृहीते त्वस्माकमाश्वासः सुतरां भवेत् ॥२९॥
एवं तयोक्ते साधूक्तमित्युक्त्वैवास्य भूपतेः ।
चूडारत्नं तदादाय राज्ञी मूर्ध्नि ववन्ध सा ॥३०॥
ततः स्वयम्प्रभावाक्यं यथा राज्यै निवेदितम् ।
तथा शशंस सा राज्ञे तस्मायिन्दुमती पुनः ॥३१॥

यदि आप उन्हें औचित्य के आधार पर और उपकार की भावना से बन्धन-मुक्त कर दें, तो निःसन्देह वे भी अपनी पुत्रियाँ देकर आप सबका प्रत्युपकार करेंगे ॥१८॥

यदि इसमें अन्यथा होगा, अर्थात् यदि आप उन्हें बन्धन-मुक्त नहीं करेंगे, तो कन्या-समेत वह स्वयंप्रभा प्राण-त्याग कर देगी, और ऐसा होने से न तो आप उन कुमारियों को ही पा सकेंगे और न अपने सत्य का पालन ही कर सकेंगे ॥१९॥

हे महारानी, इसलिए आप ऐसा (उपाय) कीजिए, जिससे शर्त्त या विश्वास आदि के आधार पर वे राजा मेरुध्वज, सभी कामों को बनाने के लिए, उन (त्रैलोक्यमाली) को छोड़ दें ॥२०॥

और स्वयम्प्रभा द्वारा भेंट किया हुआ यह भूषण लीजिए, जो विद्याधरत्व (विद्याधरों जैसी सिद्धि) प्रदान करनेवाले विविध दिव्य रत्नों से खचित है ॥२१॥

इस प्रकार कहती हुई इन्दुमती से रानी महादेवी ने कहा कि जबतक उनका दुःख दूर नहीं होता, तबतक मैं उनका यह उपहार कैसे स्वीकार करूँ? ॥२२॥

(तब इन्दुमती ने कहा—) यदि आप इसे ग्रहण नहीं करेंगी, तो हम लोग कैसे धैर्य धारण करेंगे; किन्तु यदि (आप) ग्रहण कर लेती हैं, तो हम लोग यह समझेंगे कि हमारा दुःख दूर हो गया ॥२३॥

इस प्रकार, जब इन्दुमती ने यत्नपूर्वक समझाया, तब महादेवी ने (उसके) आश्वासन के लिए उस रत्नमय भूषण को ग्रहण कर लिया ॥२४॥

(और कहा कि) हे आर्ये, जबतक राजा आते हैं, तबतक यहीं ठहरो। यह कहकर रानी महादेवी ने इन्दुमती को वहीं रख लिया ॥२५॥

तबतक राजा मेरुध्वज वहाँ पहुँच गया और रानी के परिचय कराने पर इन्दुमती ने राजा को प्रणाम किया, और राजा ने उसका (समुचित) सत्कार किया ॥२६॥

उस (इन्दुमती) ने स्वयम्प्रभा द्वारा भेजी गई, वह चूडामणि उस राजा को समर्पित की, जो विष, राक्षस, बुढ़ापे और रोग को नाश करनेवाली थी ॥२७॥

(राजा ने कहा—) अपने दिये हुए वचन का पालन पहले कर लूँगा, तभी यह भूषण ग्रहण करूँगा। ऐसा कहनेवाले उस राजा से उस प्रौढ इन्दुमती ने कहा कि—॥२८॥

हे प्रभो, जब आपने वचन दे दिया, तब (मानों) उसका पालन भी हो ही गया (क्योंकि, आप मिथ्या नहीं बोल सकते हैं); फिर भी आप यह ग्रहण कर लें, तो हमें और भी अधिक आश्वासन मिल जायगा ॥२९॥

इन्दुमती के ऐसा कहने पर रानी ने 'तुमने ठीक कहा है।' ऐसा कहकर झटपट वह चूडामणि उठाकर राजा के मस्तक में पहना दी ॥३०॥

तदनन्तर, इन्दुमती ने स्वयम्प्रभा का संवाद जैसे रानी से कहा था, वैसे ही पुनः राजा से कह सुनाया ॥३१॥

ततो राज्ञ्या तथैवोक्तोऽवादीदिन्दुमतीं नृपः ।
इहैवाद्य प्रतीक्षस्व प्रातर्वक्ष्याम्यहं तव ॥३२॥
इत्युक्त्वा तां निशां नीत्वा प्रातराहूय मन्त्रिणः ।
स तामिन्दुमतीमेवं राजा मेरुध्वजोऽब्रवीत् ॥३३॥
एभिर्मन्मन्त्रिभिः साकं राज्ञे त्रैलोक्यमालिने ।
आवेद्य गत्वा पातालादानयासुरयोषितः ॥३४॥
स्वयम्प्रभाद्याः सर्वांश्च मुख्यान्पातालवासिनः ।
हाटकेश्वरसम्वन्धि मुद्रितं कोषवारि च ॥३५॥
अस्मद्वशे वर्त्तितव्यं नित्यं त्रैलोक्यमालिना ।
सभृत्यवन्धुना भाव्यं नागैश्चासस्यघातिभिः ॥३६॥
अत्रार्थे भर्त्तृचरणान्स्पृष्ट्वा मन्मन्त्रिसन्निधौ ।
स्वयम्प्रभाद्याः शपथैरन्तरस्था भवन्तु नः ॥३७॥
पातालवासिनः सन्तु तद्वत्प्रतिभुवोऽखिलाः ।
अपत्यानि च सर्वेऽपि स्थापयन्तु सराजकाः ॥३८॥
सराजकाश्च लिखितं कुर्वन्तु निखिला अपि ।
हाटकेश्वरसर्वाङ्गवारिकोषं पिवन्तु च ॥३९॥
ततो मोक्ष्याम्यहं कारागृहात्त्रैलोक्यमालिनम् ।
इत्युक्त्वेन्दुमतीं राजा सामात्यां विससर्ज सः ॥४०॥
स गत्वा मन्त्रिसहितां प्रोच्य त्रैलोक्यमालिने ।
तच्छ्रद्धिता तथैवेन्दुमती पातालमाविशत् ॥४१॥
स्वयम्प्रभादीनानीय कोषवारि च सा ततः ।
राजोक्तं तदमात्याग्रे सर्वान्सर्वमकारयत् ॥४२॥
विहितप्रत्ययं तं च मुमोच सपरिच्छदम् ।
त्रैलोक्यमालिनं मेरुध्वजः कारागृहान्नृपः ॥४३॥
आनीय च गृहं सम्यक्सम्मान्य सपरिग्रहम् ।
स्वीकृतासुररत्नौघः स्वराज्ये विससर्ज तम् ॥४४॥
सोऽपि त्रैलोक्यमाली स्वं पुनरेत्य रसातलम् ।
प्राप्तराज्यो ननन्द स्वैः सहितो भृत्यवान्धवैः ॥४५॥
मेरुध्वजश्च पातालप्रभवैदर्थसञ्चयैः ।
पृथिवीं पूरयामास प्रावृङ्घन इवाम्बभिः ॥४६॥

रानी ने भी वही बात कही। तब राजा ने इन्दुमती से कहा—आज यहीं ठहरो, कल मैं तुमको (इसका) उत्तर दूंगा॥३२॥

यह कहकर राजा मेरुध्वज ने वह रात बिताई और सुबह (होते ही) मन्त्रियों को बुलाकर (उनके सामने) इन्दुमती से कहा—॥३३॥

मेरे इन मन्त्रियों के साथ जाओ और त्रैलोक्यमाली से कह करके पाताल से स्वयम्प्रभा आदि असुरललनाओं को तथा पाताल के मुख्य-मुख्य निवासियों को लेते आओ तथा हाटकेश्वर (शिवजी) को चढ़ाया हुआ पात्र में बन्द जल (चरणोदक) भी लेते आओ॥३४-३५॥

और, मेरे मन्त्रियों के सामने स्वयम्प्रभा आदि अपने पति के चरण छूकर हमारे प्रति इस बात के लिए शपथपूर्वक जामिन बनें कि अनुचरों और परिवारों-सहित त्रैलोक्यमाली मेरे वश में रहे तथा नागगण फसल को बरबाद न करें॥३६-३७॥

इसी भाँति सभी (प्रमुख) पातालवासी प्रतिभू (जामिन) हों, तथा राजा-सहित सभी लोग अपनी-अपनी सन्तानों को (विश्वासार्थ जमानत के रूप में) न्यस्त करें॥३८॥

और राजा-सहित सभी लोग (पूर्वोक्त) आशय का लेख (दस्तावेज) बना दें, और (शपथ के रूप में) हाटकेश्वर के सारे अंगों का जल पीयें॥३९॥

तब मैं त्रैलोक्यमाली को कारागार से छोड़ूंगा। इतना कहकर राजा ने मन्त्री-सहित इन्दुमती को (पाताल) भेजा॥४०॥

मन्त्री-सहित वह इन्दुमती (उस गुफा में) गई और त्रैलोक्यमाली से (सब कुछ) कह सुनाया, (फिर) उसकी अनुमति लेकर उसी भाँति पाताल चली गई॥४१॥

और पाताल से स्वयम्प्रभा आदि सबको तथा कोषजल (हाटकेश्वर के स्नान का जल) भी ले आई, और मन्त्रियों के सामने राजा ने जो-जो कहा था, सो सब कराया॥४२॥

(इस प्रकार) विश्वास हो जाने पर राजा मेरुध्वज ने परिजन-सहित त्रैलोक्यमाली को कारागृह से छोड़ दिया॥४३॥

और अपने महल लाकर पत्नी-सहित भली भाँति उसका सम्मान किया और (उससे) असुरों के सारे रत्न लेकर उसे अपने राज्य में भेज दिया॥४४॥

त्रैलोक्यमाली भी पुनः अपने पाताललोक आकर और (अपना) राज्य प्राप्त करके अपने परिजनों और बन्धु-बान्धवों के साथ आनन्दित हो (रहने लगा)॥४५॥

मेरुध्वज ने पाताल से आई राशि-राशि सम्पत्ति से पृथिवी को भर दिया, जैसे बरसात का बादल जल से (भर देता है)॥४६॥

अथ त्रैलोक्यमाली स सम्मन्त्र्य निजभार्यया ।
कन्यारत्नद्वयं दित्सुस्तत्सुताभ्यां स्ववेश्मनि ॥४७॥
नृपं मेरुध्वजं नेतुं तं निमन्त्र्य सबान्धवम् ।
स्मृतोपकारो दैत्येन्द्रः पातालात्स्वयमाययौ ॥४८॥
आगत्य तं च राजानं कृतातिथ्यमुवाच सः ।
युष्माभिर्नातिनिर्वृत्या तदा दृष्टं रसातलम् ॥४९॥
परिचर्यापरेष्वस्मास्विदानीमेत्य दृश्यताम् ।
कन्यारत्ने मदीये च गृह्येतां सुतयोः कृते ॥५०॥
इत्युक्तेऽसुरराजेन तेन मेरुध्वजोऽथ सः ।
तत्रैवानाययामास भार्यां पुत्रौ च तावुभौ ॥५१॥
तेभ्योऽसुरेन्द्रवाक्यं तत्कन्यादानान्तमब्रवीत् ।
ततो जगाद तं ज्येष्ठः पुत्रो मुक्ताफलध्वजः ॥५२॥
विवाहं न करिष्येऽहमनाराधितशङ्करः ।
उक्तं मया प्राक्क्षन्तव्यमेतस्मान्मेऽपराधतः ॥५३॥
मयि प्रयाते भवनं करोतु मलयध्वजः ।
विना पातालकन्यां तां नास्त्येवास्य हि निर्वृतिः ॥५४॥
तच्छ्रुत्वा स कनीयांस्तमवादीन्न त्वयि स्थिते ।
अयशस्यमधर्म्यं च करोम्यार्याहमीदृशम् ॥५५॥
ततो मेरुध्वजे राज्ञि प्रयत्नाद्बोधयत्यपि ।
मुक्ताफलध्वजो नैच्छत्स्वविवाहक्रियां यदा ॥५६॥
तदा त्रैलोक्यमाली तं खिन्नमामन्त्र्य भूपतिम् ।
ययौ स्वमेव पातालं सानुगः स यथागतम् ॥५७॥
तत्र वृत्तान्तमावेद्य भार्यां पुत्रं च सोऽभ्यधात् ।
न्यक्कारैकपरोऽस्माकं कीदृशः पश्यतं विधिः ॥५८॥
मानुषौ नाद्य गृह्णीतः कन्ये मे प्रार्थितावपि ।
पूर्वं ये प्रार्थिते ताभ्यां दातु नाङ्गीकृते मया ॥५९॥
तच्छ्रुत्वा तौ जगदतुः को जानाति कथं विधेः ।
चेतस्येतत्स्थितं किं हि शाम्भवं स्याद्वचोऽन्यथा ॥६०॥
इत्यादि तेषां वदतां बुद्ध्वा ते तत्र चक्रतुः ।
कन्ये प्रतिज्ञां त्रैलोक्यप्रभात्रिभुवनप्रभे ॥६१॥

तदनन्तर, (कारामुक्ति के) उपकार को स्मरण कर वह दैत्यराज त्रैलोक्यमाली अपनी स्त्री से विचार-विमर्श करके, मेरुध्वज के दोनों पुत्रों को अपने घर में (लाकर) अपनी दोनों श्रेष्ठ पुत्रियाँ देने की इच्छा से सबन्धु-बान्धव मेरुध्वज को न्यौता देकर (अपने यहाँ) लाने के लिए पाताल से स्वयं (वहाँ) आया।।४७-४८।।

आनेपर राजा मेरुध्वज ने उसका आतिथ्य किया, (तब उसने) राज मेरुध्वज से कहा—उस समय आपने पाताल को खूब चैन से नहीं देखा।।४९।।

अब जाकर देखिए, जब कि हम लोग आपकी सेवा में तत्पर रहेंगे और अपने दोनों लड़कों के लिए मेरी दोनों श्रेष्ठ कन्याएँ ग्रहण कीजिए।।५०।।

असुरराज के ऐसा कहने पर मेरुध्वज ने (अपनी) स्त्री और दोनों पुत्रों को वहीं बुलाया।।५१।।

सबको कन्यादान की बात सुना दी, जो असुरराज ने कही थी। तब ज्येष्ठ पुत्र मुक्ताफलध्वज ने पिता से कहा—।।५२।।

मैं जबतक शंकर को (तपस्या से) प्रसन्न न कर लूँगा, तबतक विवाह न करूँगा। यह बात मैं पहले भी कह चुका हूँ, इसलिए मेरा यह अपराध क्षमा करें।।५३।।

मेरे चले जाने पर मलयध्वज विवाह कर ले; क्योंकि उस पाताल-कन्या के विना उसे पल-भर भी चैन नहीं।।५४।।

यह सुनकर छोटे भाई ने उससे कहा—हे आर्य, आपके (अविवाहित) रहते हुए मैं ऐसा विवाह न करूँगा; क्योंकि वह धर्मविरुद्ध होगा और अपयश देनेवाला होगा।।५५।।

तब राजा मेरुध्वज ने प्रयत्न के साथ उसे समझाया-बुझाया, फिर भी जब मुक्ताफलध्वज ने विवाह करना नहीं चाहा—।।५६।।

तब त्रैलोक्यमाली उदास हो राजा से विदा लेकर अपने साथ के लोगों-सहित जैसे आया था, वैसे पाताललोक चला गया।।५७।।

वहाँ त्रैलोक्यमाली ने स्त्री और पुत्र को यह समाचार सुनाकर कहा कि देखो, विधाता हमलोगों की अवहेलना करने पर ही तुला हुआ है।।५८।।

माँगने पर भी जिन मनुष्यों को मैंने पहले अपनी दोनों कन्याएँ देना स्वीकार नहीं किया, वे ही मनुष्य आज प्रार्थना करने पर भी उन कन्याओं को ग्रहण करने से इनकार कर रहे हैं।।५९।।

यह सुनकर पत्नी और पुत्र ने कहा कि कौन जानता है कि विधाता के मन में ऐसी बात क्यों है? क्या (भगवान्) शंकर का वह वचन अन्यथा (मिथ्या) हो सकता है?।।६०।।

कुछ इसी प्रकार की बातचीत करते हुए उन लोगों से (सारा हाल) जानकर कुमारी त्रैलोक्यप्रभा और त्रिभुवनप्रभा ने प्रतिज्ञा की कि—।।६१।।

द्वादशाहं निराहारस्थितयोरावयोर्यदि ।
देवो विवाहसम्पत्तिप्रसादं न करिष्यति ॥६२॥
ततश्च कार्यमावाभ्यां सहैवाग्निप्रवेशनम् ।
न तु धार्यं निकारार्थं वृत्त्यर्थं वा शरीरकम् ॥६३॥
एवं नियम्य देवस्य पुरतस्तस्थतुश्च ते ।
निराहारे जपध्यानपरे दैत्येन्द्रकन्यके ॥६४॥
तद्बुद्ध्वा च तयोर्माता पिता च दितिजेश्वरः ।
तथैवात्र निराहारावास्तां दुहितृवत्सलौ ॥६५॥
ततः स्वयम्प्रभा सा तां तन्मातेन्दुमतीं पुनः ।
मेरुध्वजमहादेव्यै वक्तुं तत्प्राहिणोद्रुतम् ॥६६॥
तया गत्वा तदाख्यातं स्वस्वामिगृहसङ्कटम् ।
राज्ञ्यै तस्यै विवेदाथ राजा मेरुध्वजोऽपि तत् ॥६७॥
ततस्तदनुरोधात्तौ जहतुस्तत्र दम्पती ।
आहारं तौ च तत्पुत्रौ पितृभक्त्यनुरोधिनौ ॥६८॥
एवं लोकद्वये राजगृहयोः सङ्कटस्थयोः ।
मुक्ताफलध्वजोऽनश्नन्ध्यातवाञ्शरणं शिवम् ॥६९॥
षड्रात्रे च गते राजपुत्रः प्रातः प्रबुध्य सः ।
पूर्वं संयतकं मित्रं महाबुद्धिमभाषत ॥७०॥
सखे स्वप्नेऽद्य जानेऽहमारूढो वाहने निजे ।
तपोधनमुनिप्रत्ते कामरूपे मनोगतौ ॥७१॥
विमानतामुपगते निर्वेदान्मेरुपार्श्वगम् ।
गौरीशायतनं दिव्यमतिदूरमितो गतः ॥७२॥
तत्रापश्यमहं काञ्चिद्दिव्यकन्यां तपःकृशाम् ।
तामुद्दिश्याब्रवीन्मां च जटाभृत्पुरुषो हसन् ॥७३॥
एकस्याः कन्यकायास्त्वं पलाय्यैवमिहागतः ।
इहैषा च द्वितीया ते सम्प्राप्ता पश्य तिष्ठति ॥७४॥
तदाकर्ण्य वचस्तस्य तत्कन्यारूपदर्शने ।
अतृप्त एव सहसा प्रबुद्धोऽस्मि निशाक्षये ॥७५॥
तस्मात्तत्रैव गच्छामि प्राप्तुं तां दिव्यकन्यकाम् ।
प्राप्स्यामि चेन्न तां तत्र प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥७६॥

हम दोनों बारह दिनों तक निराहार (व्रत करतीं) रहेंगीं (और यदि इस बीच में) भगवान् शंकर प्रसन्न हो विवाह सम्पन्न नहीं करा देते —॥६२॥

तो हम दोनों बहनें साथ ही अग्निप्रवेश करेंगी (चिता में जलकर प्राण दे देंगीं) किन्तु, अपमान (सहने) अथवा पेट पालने के लिए यह शरीर धारण नहीं करेंगीं॥६३॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे दोनों असुर-राजकुमारियाँ निराहार और जप-ध्यान में तत्पर हो शंकर के सम्मुख रहने लगीं॥६४॥

यह जानकर कन्याओं के स्नेह के वशीभूत पिता असुरराज और माता स्वयम्प्रभा भी उसी भाँति वहाँ निराहार रहने लगे॥६५॥

तब उनकी माता स्वयम्प्रभा ने मेरुध्वज की महादेवी को शीघ्र यह समाचार कहने के लिए इन्दुमती (दूती) को पुनः भेजा॥६६॥

उस दूती ने (वहाँ) जाकर अपने स्वामी त्रैलोक्यमाली के परिवार का वह संकट महादेवी से कह सुनाया, फिर वह बात राजा मेरुध्वज को भी ज्ञात हुई॥६७॥

तदनन्तर, त्रैलोक्यमाली के परिवार की सहानुभूति में ये दम्पति (मेरुध्वज और उसकी रानी) भी निराहार रहने लगे और पिता के प्रति भक्ति के वश उसके दोनों पुत्र भी निराहार रहने लगे)॥६८॥

इस प्रकार, जब दोनों लोकों के दोनों राज-परिवार संकट में पड़े थे, तब मुक्ताफलध्वज ने निराहार रहते हुए भगवान् शंकर का ध्यान किया॥६९॥

छह रात बीतने पर प्रातःकाल जाकर राजकुमार (मुक्ताफलध्वज) ने अपने मित्र पूर्वजन्म के संयतक और इस जन्म के महाबुद्धि से कहा कि—॥७०॥

हे मित्र, आज मैंने सपने में यह देखा है कि तपोधन मुनि द्वारा प्रदत्त, मन की भाँति (तेज) चलनेवाला और कामरूप (इच्छानुसार रूप बदल सकनेवाला) मेरा वाहन विमान बन गया, उसपर सवार हो मैं चिन्ता के कारण (यहाँ से) बहुत दूर मेरु पर्वत के निकट स्थित एक दिव्य शिवालय में पहुँचा॥७१-७२॥

वहाँ मैंने एक दिव्य कन्या को देखा, जो तपस्या करते-करते कृशकाय हो गई थी। (वहाँ) एक जटाधारी पुरुष ने उस कन्या के बारे में मुझसे हँसते हुए कहा—॥७३॥

एक कन्या से भागकर तुम यहाँ आये हो; किन्तु यहाँ (भी), देखो, यह दूसरी कन्या तुम्हारे पीछे आ पड़ी है॥७४॥

उस पुरुष का वह वचन सुनकर उस कन्या का रूप देखने लगा, किन्तु जी-भर देख भी न सका कि इतने में भोर हो गया और मैं जाग गया॥७५॥

इसलिए, उस सपने में देखी दिव्य कन्या को प्राप्त करने के लिए वहीं (शिवालय) जाता हूँ। यदि वहाँ उसे न पाऊँगा, तो अग्नि-प्रवेश (के द्वारा प्राणत्याग) करूँगा॥७६॥

तां तथोपनतां हित्वा दैत्यकन्यां मनो मम ।
रज्यते स्वप्नदृष्टायामस्यां किं क्रियते विधेः ॥७७॥

जाने च तत्र यातस्य निश्चितं शुभमस्ति मे ।
इत्युक्त्वा तत्स सस्मार मुनिदत्तं स्ववाहनम् ॥७८॥

तदारुह्य विमानत्वं प्राप्तं सख्या समं च सः ।
मनः संकल्पितस्थानप्रापकं कामरूपकृत् ॥७९॥

मुक्ताफलध्वजः प्रायाद्दिव्यं गौरीशधाम तत् ।
प्राप्य तच्च यथा स्वप्ने दृष्टं पश्यञ्जहर्ष सः ॥८०॥

ततः प्रववृते तत्र स सिद्धोदकनामनि ।
तीर्थे स्नानादिकं कर्त्तुं सख्येकपरिचारकः ॥८१॥

तावत्तं क्वाप्यविज्ञातगतं बुद्ध्वा स तत्पिता ।
राजा मेरुध्वजो भार्यासुतादिसहितस्तदा ॥८२॥

उपवासकृशो दुःखक्षोभं स्वपुरगो दधौ ।
तथा तदैव पातालेऽप्येतत्सर्वमबुध्यत ॥८३॥

ततस्त्रैलोक्यमाली स गृहीत्वा ते स्वकन्यके ।
सोपवासः सभार्यादिस्तत्रैवागान्नृपान्तिकम् ॥८४॥

चतुर्दश्यां गतः सोऽद्य नूनं क्वाप्यर्चितुं हरम् ।
तत्प्रतीक्षामहे तावदिहैवैतद्दिनं वयम् ॥८५॥

प्रातर्यत्र स तत्रैव यास्यामो नागतो यदि ।
ततो यद्भवतीत्येव सर्वे ते निश्चयं व्यधुः ॥८६॥

अत्रान्तरे मेघवने तस्मिन्गौर्याश्रमे स्थिता ।
सापि पद्मावती तस्मिन्दिनेऽवादीन्निजाः सखीः ॥८७॥

सख्यः स्वप्नेऽद्य जाने मां सिद्धीश्वरगतां पुमान् ।
जटाधरोऽब्रवीत्कोऽपि देवागाराद्विनिर्गतः ॥८८॥

दुःखं समाप्तमासन्नो भर्त्रा ते पुत्रि सङ्गमः ।
इत्येवोक्त्वा गतेऽस्मिन्मे गते निद्रानिशे अपि ॥८९॥

तदेत तत्र गच्छाम इत्युक्त्वा सा जगाम तत् ।
मेरुपार्श्वस्थितं पद्मावती गौरीशकेतनम् ॥९०॥

उस भाँति (स्वयं) समर्पित की गई असुरकुमारी त्रैलोक्यप्रभा को छोड़ मेरा मन स्वप्न में दिखाई देनेवाली इस कन्या में अनुरक्त हो गया है। विधि को क्या किया जाय, अर्थात् भवितव्यता को कौन टाल सकता है? ॥७७॥

जान पड़ता है कि वहाँ जाने पर मेरी भलाई अवश्य होगी। यह कहकर मुक्ताफलध्वज ने तपोधन मुनि द्वारा प्रदत्त अपने उस वाहन का स्मरण किया ॥७८॥

और विमान का रूप धारण किये उस वाहन पर, जो मन में सोचे हुए स्थान पर पहुँचा देनेवाला और इच्छानुसार रूप बदलने वाला था, चढ़कर, मुक्ताफलध्वज मित्र के साथ उस दिव्य शिवालय की ओर विदा हुआ, और वहाँ पहुँचकर जैसा स्वप्न में देखा था, वैसा ही देख हर्षित हो गया ॥७९-८०॥

परिचारक के रूप में एकमात्र मित्र को साथ लिये मुक्ताफलध्वज सिद्धोदक नाम के उस तीर्थ में स्नान आदि करने लगा ॥८१॥

तब उपवास करते-करते कृशकाय उसके पिता राजा मेरुध्वज को, जो स्त्री, पुत्र आदि के साथ अपने नगर में था, (यह ज्ञात हुआ कि) उसका पुत्र अज्ञात रूप से कहीं चला गया है, तो यह जानकर वह दुःख से व्याकुल हो गया। उसी समय पाताल में भी यह समाचार पहुँच गया ॥८२-८३॥

तदनन्तर, त्रैलोक्यमाली अपनी उन दोनों कन्याओं को साथ लेकर उपवास करते हुए पत्नी आदि के सहित राजा मेरुध्वज के पास आया ॥८४॥

उन सबने यही निश्चय किया कि निःसन्देह मुक्ताफलध्वज चतुर्दशी को शिव की पूजा करने गया होगा; अतः आज दिन-भर यहीं हम लोग उसकी प्रतीक्षा करते रहें। यदि वह आज नहीं आया तो प्रातःकाल सब वहीं चलेंगे, जहाँ वह है। तब जो होना होगा, सो होगा ॥८५-८६॥

इस बीच (उधर) मेघवन-स्थित गौरी-मन्दिर में वर्तमान पद्मावती ने भी उस दिन अपनी सहेलियों से कहा—॥८७॥

हे सखियो, आज मैंने यह सपना देखा है कि मैं सिद्धीश्वर-क्षेत्र गई और वहाँ देव-मन्दिर से निकल कर एक जटाधारी पुरुष ने मुझसे कहा कि—॥८८॥

हे पुत्री, (अब) तुम्हारा दुःख समाप्त हो गया; पति के साथ तुम्हारा मिलन निकट है। इतना कहकर उसके जाते ही रात के साथ-साथ मेरी नींद भी चली गई ॥८९॥

इसलिए, आओ, हम वहाँ चलें। इतना कहकर पद्मावती मेरु पर्वत के पास सिद्धीश्वर-क्षेत्र पहुँच गई ॥९०॥

तत्र सिद्धोदके स्नान्तं दूरान्मुक्ताफलध्वजम् ।
दृष्ट्वा सविस्मया सा तं स्वसखीरेवमब्रवीत् ॥९१॥
सदृशो मे प्रियस्यायं पुमान्पश्यत कीदृशः ।
आश्चर्यं किं स एव स्यान्नास्त्येतन्मानुषो ह्यम् ॥९२॥
तच्छ्रुत्वा तं च दृष्ट्वा ताः सख्यस्तामेवमब्रुवन् ।
न केवलं सुसदृशो देव्ययं प्रेयसस्तव ॥९३॥
यावदेतद्वयस्योऽयं त्वत्कान्तसुहृदः किल ।
तस्य संयतकस्यापि पश्य सादृश्यमश्नुते ॥९४॥
यत्त्वया वर्णितं देवि यथाद्य स्वप्नदर्शनम् ।
तथा जानीमहे व्यक्तं शापान्मानुषतां गतौ ॥९५॥
तावेवैताविहानीतावीश्वरेण स्वयुक्तितः ।
मानुषागमनं देवभूमावस्यां कुतोऽन्यथा ॥९६॥
एवं सखीभिरुक्ता सा पद्मावत्यर्चितेश्वरा ।
तस्थौ देवान्तिके छन्ना तं जिज्ञासितुमुत्सुका ॥९७॥
तावत्स्नात्वार्चितुं देवं तत्र मुक्तफलध्वजः ।
आगतः सर्वतो वीक्ष्य महाबुद्धिमुवाच तम् ॥९८॥
तदेवायतनं चित्रमिदं स्वप्ने यदीक्षितम् ।
लिङ्गान्तर्दृश्यगौरीशमूर्त्ति रत्नमयं मया ॥९९॥
तानेव चैतान्पश्यामि स्वप्नदृष्टानिहाधुना ।
प्रदेशान्दिव्यविहगस्फुरद्रत्नप्रभद्रुमान् ॥१००॥
तत्कालदृष्टां दिव्यां तु कन्यां पश्यामि नेह ताम् ।
अप्राप्तया तया चेह देहं त्यक्ष्यामि निश्चितम् ॥१०१॥
इत्युक्ते तेन सख्यस्तामूचुः पद्मावतीं रहः ।
श्रृणु नूनमिह स्वप्ने दृष्ट्वा त्वामयमागतः ॥१०२॥
त्वद्दर्शनेनैव विना त्यक्तुं प्राणान्समीहते ।
तन्निगूढस्थिता एव पश्यामो देवि निश्चयम् ॥१०३॥
इतिच्छन्नासु तास्वत्र स्थितास्वन्तःप्रविश्य सः ।
मुक्ताफलध्वजो देवमर्चयित्वा विनिर्ययौ ॥१०४॥
निर्गत्य यावत्कुरुते भक्तितस्त्रिः प्रदक्षिणम् ।
तावत्स च सखा चास्य जातिं सस्मरतुर्निजाम् ॥१०५॥

वहाँ सिद्धोदक तीर्थ में स्नान करते हुए मुक्ताफलध्वज को दूर से ही देखकर पद्मावती ने विस्मय के साथ अपनी सहेलियों से कहा—॥९१॥

देखो तो, यह पुरुष मेरे प्रियतम मुक्ताफलकेतु से कितना मिलता-जुलता है? आश्चर्य क्या; हो सकता है कि यह वही हो। किन्तु, ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि यह तो मनुष्य है॥९२॥

यह सुनकर और उस पुरुष को देखकर पद्मावती की सहेलियों ने कहा—हे रानी, न केवल, यह पुरुष ही तुम्हारे प्रियतम के समान लगता है, बल्कि इस पुरुष का यह मित्र भी तुम्हारे प्रियतम के मित्र संयतक के समान लगता है; देखो न॥९३-९४॥

हे देवी, आज तुमने अपने सपने का जैसा हाल सुनाया है, इससे मालूम होता है कि शापवश मनुष्य रूप को प्राप्त किये उन दोनों पुरुषों (मुक्ताफलकेतु और संयतक) को ही शिवजी ने अपनी युक्ति से यहाँ ला दिया है; नहीं तो इस दिव्य स्थान में मनुष्य का आना कैसे (सम्भव) होता? ॥९५-९६॥

सखियों के ऐसा कहने पर पद्मावती शिवजी की पूजा करके उस पुरुष को जानने के लिए उत्सुक हो शिवजी (की मूर्त्ति) के निकट कहीं छिप गई॥९७॥

तबतक स्नान करके शिवजी की पूजा करने मुक्ताफलध्वज भी वहाँ आ गया और चारों ओर निहारकर (अपने मित्र) महाबुद्धि से कहने लगा—॥९८॥

मित्र, स्वप्न में जैसा देखा था (ठीक) वैसा ही यह विचित्र रत्नमय शिव-मन्दिर देख रहा हूँ, जहाँ शिवलिंग के भीतर से गौरीपति शंकर का स्वरूप दिखाई दे रहा है॥९९॥

और जो स्वप्न में दिखाई पड़े थे, उन्हीं (आसपास के) स्थलों को अब यहाँ देख रहा हूँ, यहाँ के रत्नमय वृक्षों पर स्वर्गीय पक्षी पंख फड़फड़ा रहे हैं॥१००॥

किन्तु, उस समय (सपने में) जिस दिव्य कन्या को देखा था, उसे तो नहीं देख रहा हूँ। और यदि वह न मिली, तो मैं निश्चय ही प्राणत्याग कर दूँगा॥१०१॥

मुक्ताफलध्वज के ऐसा कहने पर एकान्त में सहेलियों ने पद्मावती से कहा—सुनो, सखी! निश्चय ही यह स्वप्न में तुम्हें देखकर यहाँ आया है॥१०२॥

तुमको न देखने के कारण ही यह प्राणत्याग करना चाहता है। इसलिए, हे देवी, हम लोग छिपे-छिपे ही देखें कि इसका निश्चय क्या है॥१०३॥

जब वे छिप गईं, तब मुक्ताफलध्वज भीतर प्रवेश कर शिवजी की पूजा करके निकल गया॥१०४॥

और (बाहर) आकर ज्योंही (उस मन्दिर की) तीन बार परिक्रमा करता है, त्योंही उसे तथा उसके मित्र संयतक को भी (अपने) पूर्वजन्म का स्मरण हो आया॥१०५॥

हर्षाच्च पूर्ववृत्तान्तं यावदन्योन्यमाहतुः ।
तावत्पद्मावती दृष्टिगोचरं सा ययौ तयोः ॥१०६॥
मुक्ताफलध्वजः पूर्वजन्मवृत्तं स्मरंश्च सः ।
तां दृष्ट्वैव तमाह स्म वयस्यं हर्षनिर्भरः ॥१०७॥
दृष्टा सेयमिह स्वप्ने देवी पद्मावती मया ।
दिष्ट्या प्राप्ता च तदिमामाशु सम्भावयाम्यहम् ॥१०८॥
इत्युक्त्वोपेत्य साश्रुस्तामवोचद्देवि माधुना ।
क्वापि यासीरहं मुक्ताफलकेतुः स ते प्रियः ॥१०९॥
दृढव्रतस्य शापेन मानुषीभूय संस्मृता ।
जातिर्मयाद्येत्युक्त्वा तामैच्छदाश्लेष्टुमुत्सुकः ॥११०॥
सा तूद्भ्रान्ता तिरोभूय तत्रासीत्साश्रुलोचना ।
सोऽपि राजसुतोऽपश्यंस्तां मोहादपतद्भुवि ॥१११॥
ततः सदुःखमाकाशे तद्वयस्यो जगाद सः ।
यदर्थं स तपःक्लेशो देवि पद्मावति त्वया ॥११२॥
अनुभूतः कथं प्राप्तं तमेवं नाभिभाषसे ।
अहं संयतकः सोऽपि वयस्यो दयितस्य ते ॥११३॥
तद्युष्मदर्थं शप्तस्य किं मे नालपसि प्रियम् ।
इत्युक्त्वा स समाश्वास्य तमुवाच नृपात्मजम् ॥११४॥
तथानुरागोपगता दैत्यराजसुता त्वया ।
यत्त्यक्ता तस्य पापस्य तवागतमिदं फलम् ॥११५॥
तच्छ्रुत्वा सा सखीराह च्छन्ना पद्मावती तदा ।
श्रृणुतासुरकन्यासु न किलायं प्रवर्तते ॥११६॥
ततः सख्योऽपि तामूचुः सर्वं संवादि दृश्यते ।
किं न स्मरसि यत्तेन शापकाले प्रियेण ते ॥११७॥
मानुष्ये मे मनोऽन्यत्र मा गात्पद्मावतीं विना ।
इत्यर्थितो वरस्तस्मान्मुनेः पूर्वं तपोधनात् ॥११८॥
तत्प्रभावादयं नूनमन्यस्त्रीषु न रज्यते ।
श्रुत्वैतद्राजपुत्री सा संजज्ञे संशयाकुला ॥११९॥
मुक्ताफलध्वजः सोऽपि दृष्टनष्टप्रियस्ततः ।
चक्रन्द हा प्रिये पद्मावति किं नैतदीक्षसे ॥१२०॥

और एक-दूसरे को वे दोनों अपने-अपने पूर्वजन्म की कथा सुनाने लगे कि (इतने में) पद्मावती पर दोनों की दृष्टि पड़ी ॥१०६॥

पूर्वजन्म की घटनाओं को स्मरण करते हुए मुक्ताफलध्वज ने पद्मावती को देखते ही हर्ष से गद्गद हो अपने मित्र से कहा ॥१०७॥

यही वह रानी पद्मावती है, जिसे मैंने स्वप्न में देखा था और भाग्यवश वह मिल भी गई, अतः मैं शीघ्र उसका स्वागत करता हूँ ॥१०८॥

यह कहकर अश्रुपूर्ण (आँखों से युक्त) मुक्ताफलध्वज पद्मावती के पास गया और बोला—हे देवी, अब मुझे छोड़ कहीं मत जाना। मैं तुम्हारा प्रेमी मुक्ताफलकेतु हूँ ॥१०९॥

(तपोधन मुनि के शिष्य) दृढव्रत के शाप से जो मैं मनुष्य हो गया था, सो आज मुझे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हुआ है। यह कह कर उसने पद्मावती को आतुरतापूर्वक गले से लगाना चाहा ॥११०॥

किन्तु, आँसू-भरी आँखोंवाली वह पद्मावती उद्भ्रान्त (व्याकुल) हो वहाँ अन्तर्हित हो खड़ी हो गई। राजकुमार मुक्ताफलध्वज उसको न देख मूर्च्छित हो धरती पर गिर पड़ा ॥१११॥

तब मुक्ताफलध्वज के मित्र (महाबुद्धि) ने दुःख के साथ आकाश की ओर (देखते हुए) कहा—हे देवी पद्मावती, जिसके लिए तुमने तपस्या में इतना क्लेश उठाया है, वह (जब) तुम्हारे पास प्राप्त (हो गया है, तब) उससे क्यों नहीं बोल रही हो? और मैं तुम्हारे प्रियतम का मित्र संयतक हूँ ॥११२-११३॥

मैंने तुम्हारी खातिर शाप पाया है; (फिर भी) तुम मुझसे प्रिय आलाप क्यों नहीं कर रही हो? इतना कहकर उस (संयतक) ने राजकुमार मुक्ताफलध्वज को आश्वासन देकर कहा—॥११४॥

(मित्र), तुमने उस प्रकार प्रेम के साथ पास आई हुई उस दैत्यराज की कन्या त्रैलोक्यप्रभा को जो त्याग दिया, उसी पाप का यह फल प्राप्त हुआ है ॥११५॥

यह सुनकर उस समय छिपी हुई उस पद्मावती ने (अपनी) सखियों से कहा—सुनो, यह मुक्ताफलध्वज असुर-कन्या के प्रति आकृष्ट नहीं हो रहा है ॥११६॥

तब सखियों ने भी उससे कहा—हाँ सखी, सब कुछ मिलता-सा दिखाई पड़ता है। क्या तुम्हें याद नहीं आता कि पहले तुम्हारे प्रियतम ने तपोधन मुनि से यह वर माँगा था कि मनष्य-जन्म में मेरा मन पद्मावती को छोड़ किसी और पर आकृष्ट न हो ॥११७-११८॥

निश्चय, उसी वर के प्रभाव से यह मुक्ताफलध्वज अन्य स्त्रियों में अनुरक्त नहीं हो रहा है। यह सुनकर राजकुमारी पद्मावती संशय से आकुल हो उठी ॥११९॥

मुक्ताफलध्वज भी, जिसकी प्रियतमा दिखाई देकर भी अन्तर्हित हो गई (चिल्ला-चिल्ला कर) रोने लगा—हा प्रिये पद्मावती, क्या तुम्हें याद नहीं कि—॥१२०॥

विद्याधरत्वे यत्प्राप्तः शापो मेघवने मया ।
त्वदर्थमिह चाद्याह मृत्युं प्राप्स्याम्यसंशयम् ॥१२१॥
इत्यादि क्रन्दितं तस्य श्रुत्वा पद्मावती सखीः ।
प्राह सर्वाणि संवादीन्यभिज्ञानानि यद्यपि ॥१२२॥
तथापि पारम्पर्येण श्रुतान्येतानि जातुचित् ।
आभ्यां भवेयुरिति मे न चेतोऽभ्येति निश्चयम् ॥ १२३॥
तन्नार्तमस्य शक्नोमि वचः श्रोतुं व्रजाम्यहम् ।
तद्गौर्यायतनं तावत्पूजाकालश्च तत्र मे ॥१२४॥
इत्युक्त्वा ससखीका सा पद्मावत्यम्बिकाश्रमम् ।
तज्जगामार्चयित्वा च देवीमेवं व्यजिज्ञपत् ॥१२५॥
स सिद्धीश्वरदृष्टश्चेत्सत्यं पूर्वप्रियो मम ।
तत्तथा कुरु येन स्याच्छीघ्रमेतेन सङ्गमः ॥१२६॥
इति पद्मावती यावत्साकाङ्क्षा तत्र तिष्ठति ।
मुक्ताफलध्वजस्तावत्सोऽपि सिद्धीश्वरे स्थितः ॥१२७॥
पूर्वं संयतकं मित्रं महाबुद्धिमुवाच तम् ।
जाने सा स्वास्पदं याता तद्गौर्यायतनं सखे ॥१२८॥
तदेहि यावस्तत्रैवेत्युक्त्वारुह्य मनोगतौ ।
तस्मिन्विमाने सोऽप्यागादम्बिकाश्रममेव तत् ॥१२९॥
दूराद्दृष्ट्वावतीर्णं तं विमानेन नभस्तलात् ।
सख्यः पद्मावतीमूचुर्देवि पश्येदमद्भुतम् ॥१३०॥
स इहाप्येषु दिव्येन विमानेनागतः किल ।
मानुषस्यापि दिव्योऽस्य प्रभावः कथमीदृशः ॥१३१॥
ततः पद्मावती स्माह सख्यः स्मरथ किं न तत् ।
यत्स शापप्रदातास्य मया शप्तो दृढव्रतः ॥१३२॥
मानुषत्वेऽवतीर्णस्य वाहनं कामरूपभृत् ।
इच्छानुगतमस्यैव भविष्यति भवानिति ॥१३३॥
तत्तेन मुनिशिष्येण वाहनेनैष निश्चितम् ।
विमानरूपां दधता स्वेच्छं भ्रमति सर्वतः ॥१३४॥
एवं तयोक्ते सख्यस्तामूचुरेवमवैषि चेत् ।
तन्न सम्भावयस्येतं कस्माद्देवि किमीक्षसे ॥१३५॥

तुम्हारी ही खातिर (अपने) विद्याधर-जीवन में मैंने मेघवन में शाप पाया था और यहाँ भी तुम्हारी ही खातिर निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त कर जाऊँगा॥१२१॥

(उसका) क्रन्दन सुनकर पद्मावती ने सखियों से कहा—(हे सखियो), यद्यपि पहचान की सभी बातें मिल रही हैं॥१२२॥

तथापि ये बातें परम्परया (अप्रत्यक्ष रूप से) सुनी हैं, अतः मेरे चित्त में यह निश्चय नहीं हो रहा है कि कदाचित् ये दोनों पुरुष वे ही (मुक्ताफलकेतु और संयतक) हों (या नहीं)॥१२३॥

इसलिए, मैं इसका यह आतुर वचन नहीं सुन सकती हूँ, और पूजा का समय हो गया है, अतः मैं गौरी-मन्दिर जा रही हूँ॥१२४॥

यह कहकर सखी-समेत पद्मावती गौरी-मन्दिर गई और देवी गौरी की पूजा करके उससे इस प्रकार निवेदन किया—॥१२५॥

(हे देवी), सिद्धीश्वर क्षेत्र में जिस पुरुष को मैंने देखा है, वह यदि सचमुच मेरा पूर्व प्रेमी (मुक्ताफलकेतु ही) हो, तो ऐसा कीजिए कि उससे शीघ्र मिलन हो जाय॥१२६॥

(इधर) पद्मावती जबतक वहाँ प्रतीक्षा में खड़ी रही, तबतक (उधर) सिद्धीश्वर क्षेत्र में वर्त्तमान मुक्ताफलध्वज ने भी अपने मित्र पूर्वजन्म के संयतक (और इस जन्म के) महाबुद्धि से कहा—मित्र, जान पड़ता है वह अपने घर उस गौरी-मंदिर चली गई॥१२७-१२८॥

इसलिए, आओ, हम लोग (भी), वहीं चलें। यह कहकर मुक्ताफलध्वज भी मन की भाँति (तेज) चलनेवाले उस विमान पर चढ़कर गौरी-मन्दिर ही चला गया॥१२९॥

विमान द्वारा आकाश से उतरे मुक्ताफलध्वज को दूर से ही देखकर सखियों ने पद्मावती से कहा—हे देवी, यह आश्चर्य देखो॥१३०॥

वह पुरुष तो दिव्य विमान से यहाँ भी आ गया। मनुष्य होने पर भी इसका यह ऐसा अलौकिक प्रभाव कैसे है?॥१३१॥

तब पद्मावती ने कहा—सखियो, तुम्हें स्मरण नहीं है क्या कि मैंने शाप देनेवाले उस दृढव्रत को शाप दिया था कि—॥१३२॥

तुम मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए मुक्ताफलकेतु का कामरूपी वाहन बनोगे, और उसी के इच्छानुसार चलोगे॥१३३॥

इसलिए, निश्चय ही यह पुरुष विमान-रूपधारी उस मुनिशिष्य को अपना वाहन बनाकर इच्छानुसार सर्वत्र घूम रहा है॥१३४॥

पद्मावती के ऐसा कहने पर सखियों ने कहा—यदि तुम ऐसा समझ रही हो, तब हे देवि, उससे सादर मिलती क्यों न हो? किस बात की प्रतीक्षा कर रही हो?॥१३५॥

एतत्सखीवचः श्रुत्वा पद्मावत्यवदत्पुनः
एवं सम्भाव्यते सख्यो निश्चयोऽद्यापि नास्ति मे ॥१३६॥
सत्यं स एव यदि वा भवत्येष तथापि मे ।
अभिगम्योऽन्यदेहस्थः स्वदेहानाश्रितः कथम् ॥१३७॥
तच्छन्ना एव पश्यामस्तावदस्येह चेष्टितम् ।
इत्युक्त्वा राजपुत्रीं सा छन्नेवासीत्सखीवृता ॥१३८॥
तावत्तत्रावतीर्यैव विमानादम्बिकाश्रमे ।
मुक्ताफलध्वजः सोत्को वयस्यं तमुवाच सः ॥१३९॥
अमुत्र राक्षसीत्रस्ता पूर्वं सम्भाविता मया ।
स्वयंवरागता चेह दृष्टोद्यानान्तरे पुनः ॥१४०॥
इह चावाप्तशापं मामनुसर्त्तुमनास्तदा ।
प्रिया पद्मावती कृच्छ्रान्मुनीन्द्रेण निवर्त्तिता ॥१४१॥
सैवाद्य पश्य मे मित्र दृष्टिमार्गात्पलायते ।
एतत्तस्य वचः श्रुत्वा पद्मावत्यब्रवीत्सखीः ॥१४२॥
सत्यं सख्यः स एवायं पूर्वदेहमनाश्रितम्
कथं तूपैम्यमुं तन्मे सोऽत्र सिद्धीश्वरो गतिः ॥१४३॥
तेनैव दत्तः स्वप्नो मे स एव च करिष्यति
उपायमिति निश्चित्य सागात्सिद्धीश्वरं पुनः ॥१४४॥
पूर्वदेहस्थितेनैव प्रियेण मम सङ्गमम् ।
कुरु वादेहि मृत्युं तृतीया न गतिर्मम ॥१४५॥
इति विज्ञापयामास सा तमभ्यर्च्य धूर्जटिम् ।
ससखीका च तत्रैव तस्थौ देवकुलाङ्गने ॥१४६॥
तावद्गौर्याश्रमे तत्र तां स मुक्ताफलध्वजः ।
अन्विष्याप्राप्य चोद्विग्नस्तमवादीद्वयस्यकम् ॥१४७॥
इतः प्राप्ता न सा यावो धाम तच्छाम्भवं पुनः ।
ततोऽपि चेन्न लप्स्ये तां प्रवेक्ष्याम्यग्निमेव तत् ॥१४८॥
तच्छ्रुत्वा स सखावोचद्भावि कल्याणमेव ते
न मृषा स्यान्मुनिवचः स्वप्नादेशश्च शाम्भवः ॥१४९॥
इत्याश्वासयता तेन सख्या मुक्ताफलध्वजः ।
सह सिद्धीश्वरं प्रायाद्विमानमधिरुह्य सः ॥१५०॥

सखियों की यह बात सुनकर पद्मावती ने पुनः कहा—हे सखियो, ऐसी मैं सम्भावना (मात्र) करती हूँ। अब भी मैं निश्चय नहीं कर पाई हूँ ॥१३६॥

अथवा यदि सचमुच यह वही हो, तथापि जबतक यह अपने शरीर को नहीं प्राप्त करता है, तबतक अन्य शरीरवर्त्ती इस पुरुष के निकट मैं कैसे जाऊँ ? ॥१३७॥

इसलिए, छिपी रह करही हम देखें कि यह क्या करता है। यह कह कर राजपुत्री पद्मावती सखियों-समेत छिपी ही रही ॥१३८॥

तबतक उस गौरी-मन्दिर में विमान से उतरते ही मुक्ताफलध्वज ने आतुर हो अपने मित्र महाबुद्धि से कहा—॥१३९॥

पूर्व समय में यहाँ मैं उससे मिला था, जब वह राक्षसी से डरी हुई थी। फिर, मैंने उसे इसी उद्यान के बीच देखा था, जब वह (पतिरूप में) मुझे स्वयं वरण करने के लिए आई थी ॥१४०॥

और जब मुझे शाप हुआ ती यहीं वह प्रिया पद्मावती भी मेरे पीछे जाने को तैयार हो गई थी, और मुनिराज तपोघन ने बड़े कष्ट से उसे (ऐसा करने से) रोका था ॥१४१॥

हे मित्र, देखो न; वही पद्मावती आज मेरी आँखों के सामने आने से भाग रही है। मुक्ताफलध्वज का यह वचन सुनकर पद्मावती ने अपनी सखियों से कहा—॥१४२॥

हे सखियो, सचमुच यह पुरुष मुक्ताफलध्वज ही है, किन्तु जबतक यह (अपने) पिछले शरीर को नहीं प्राप्त करेगा, तबतक मैं कैसे उसके पास जाऊँ ? अतः, इस विषय में मेरी गति भगवान् सिद्धीश्वर (ही हो सकते) हैं ॥१४३॥

उन्होंने ही स्वप्न दिया है, और वे ही (मिलन के लिए) कोई-न-कोई उपाय करेगा। यह निश्चय कर पद्मावती पुनः सिद्धीश्वर-क्षेत्र चली गई ॥१४४॥

और उनकी पूजा कर प्रार्थना की कि—(हे शिवजी), या तो पिछले शरीर से ही युक्त प्रियतम से मुझे मिला दीजिए, या मुझे मरण दीजिए। (इन दोनों के सिवा) तीसरी कोई गति मेरे लिए नहीं है। (यह प्रार्थना करके) सखियों-समेत पद्मावती उसी देवालय (सिद्धीश्वर क्षेत्र) के आँगन में खड़ी रही ॥१४५-१४६॥

तबतक (उधर) मुक्ताफलध्वज गौरी-मन्दिर में पद्मावती को खोज और उसे न पाकर उदास हो अपने मित्र से बोला—॥१४७॥

यहाँ तो वह नहीं मिली। अतः, फिर सिद्धीश्वर-क्षेत्र चलें। यदि वहाँ भी उसे न पाऊँगा, तो आग में जल मरूँगा ॥१४८॥

यह सुनकर मित्र ने कहा—तुम्हारा कल्याण होने ही वाला है; क्योंकि मुनि तपोघन तथा शिवजी का सपने में कहा वचन मिथ्या हो नहीं सकता ॥१४९॥

इस प्रकार आश्वासन देते हुए अपने मित्र के साथ मुक्ताफलध्वज विमान पर चढ़कर (पुनः) सिद्धीश्वर-क्षेत्र गया ॥१५०॥

प्राप्तं दृष्ट्वात्र तं पद्मावती तस्थावलक्षिता
पश्यतेहैव सम्प्राप्त इति चोवाच सा सखीः ॥१५१॥
सोऽपि प्रविश्य देवाग्रं दृष्ट्वा प्रत्यग्रपूजितम् ।
मुक्ताफलध्वजो देवं वयस्यं तमभाषत ॥१५२॥
सखे केनापि पश्यायमधुनैवार्चितो विभुः ।
नूनं सैव प्रिया मेऽत्र स्थिता क्वाप्यर्चितस्तया ॥१५३॥
इत्युक्त्वा सोऽत्र चिन्वानो यदा न प्राप तां तदा ।
चक्रन्द हा प्रिये पद्मावतीति विरही मुहुः ॥१५४॥
पिकीरुते तदालापबुद्ध्या तत्कबरीधिया ।
बर्हिबर्हे सरसिजे तन्मुखभ्रान्तितस्तथा ॥१५५॥
धावन्स्मरज्वरावेशविवशस्तेन कृच्छ्रतः ।
आश्वास्य जगदे सख्या राजपुत्रोऽनुनीय सः ॥१५६॥
वहूपवासक्लान्तेन किमारब्धमिदं त्वया ।
जितभूलोकपातालं किमात्मानमुपेक्षसे ॥१५७॥
त्वय्यन्तिकमनायाते पिता मरुध्वजस्तव ।
राजा त्रैलोक्यमाली च श्वशुरो दानवेश्वरः ॥१५८॥
त्वदर्थिनी च त्रैलोक्यप्रभा सापि तदात्मजा ।
माता च ते विनयवत्यनुजो मलयध्वजः ॥१५९॥
अनिष्टाशङ्किनः सर्वे सोपवासा जहत्यसून् ।
तदेहि तावद्गत्वा तान्रक्षावोऽवसितं ह्यहः ॥१६०॥
इति तं वादिनं प्राह मित्रं मुक्ताफलध्वजः ।
त्वमेव मद्विमानेन गत्वाश्वासय तानिति ॥१६१॥
ततस्तं स सखावोचत्स ममोपनमेत्कथम् ।
शापेन मुनिशिष्यो यस्तव वाहनतां गतः ॥१६२॥
इत्युक्तवन्तं सुहृदं राजपुत्रोऽब्रवीत्स तम् ।
तर्हि तिष्ठ सखे तावत्पश्यावः किं भवेदिह ॥१६३॥
एवं श्रुत्वा तदालापं पद्मावत्यवदत्सखीः ।
जानेऽभिज्ञानसंवादैः स पूर्वप्रिय एष मे ॥१६४॥
कामं मानुषदेहस्थः शापेनैवं कदर्थ्यते ।
सिद्धकन्योपहासाच्च शापदोषो ममाप्ययम् ॥१६५॥

मुक्ताफलध्वज को वहाँ पहुँचा देख पद्मावती अलक्षित हो गई और सखियों से कहा—देखो न ! वह यहीं आ पहुँचा।१५१॥

उधर मुक्ताफलध्वज (मन्दिर के) भीतर गया और यह देखकर कि (किसी ने) शिवजी की तुरत पूजा की है, अपने मित्र से कहा—॥१५२॥

हे मित्र, देखो, शिवजी की किसी ने अभी-अभी पूजा की है। निश्चय, मेरी प्रियतमा पद्मावती यहीं कहीं है; उसने ही शिवजी की पूजा की है॥१५३॥

यह कहकर मुक्ताफलध्वज उसे (इधर-उधर) खोजने लगा और जब वह न मिली, तब विरह से व्याकुल हो' हा प्रिये पद्मावती !' यह बार-बार कह-कहकर रोने लगा॥१५४॥

काम-ज्वर की तीव्रता से विवश हुआ वह राजकुमार मुक्ताफलध्वज कोयल की कूक को पद्मावती का आलाप समझकर, मोर के पंख को उसकी केश-राशि समझकर; और कमल के फूल में उसके मुख के भ्रम से भटकने लगा; और तब उसके मित्र ने (बड़े) कष्ट से आश्वासन देकर और समझा-बुझाकर कहा—॥१५५-१५६॥

(इतने) अधिक उपवास से क्षीण हो चुकने के बाद तुम यह क्या करने जा रहे हो ? पृथ्वी और पाताल को जीतनेवाले अपने को (इस प्रकार) उपेक्षित क्यों करते हो ? ॥१५७॥

तुम पास नहीं आ रहे हो, इसलिए तुम्हारे पिता राजा मेरुध्वज (तुम्हारे) श्वसुर असुरराज त्रैलोक्यमाली, तुमसे प्यार करनेवाली उनकी पुत्री त्रैलोक्यप्रभा, तुम्हारी माता विनयवती और छोटा भाई मलयध्वज ये सभी तुम्हारे अनिष्ट (अमङ्गल) की आशंका करते हुए आहार छोड़ प्राणत्याग कर रहे हैं। इसलिए आओ, अभी जाकर उन सब की प्राण-रक्षा करें; दिन बीत गये (अतः शीघ्रता करो) ॥१५८-१६०॥

ऐसा कहनेवाले उस मित्र से मुक्ताफलध्वज ने कहा—तुम्हीं मेरे विमान से जाकर उन लोगों को आश्वासन दिलाओ॥१६१॥

तदनन्तर, उसके मित्र ने मुक्ताफलध्वज से कहा—जो मुनि-शिष्य शापवश तुम्हारा वाहन बना है, वह मुझे कैसे सवार होने देगा ? ॥१६२॥

उस मित्र के ऐसा कहने पर राजकुमार ने उससे कहा—हे मित्र, तो कुछ देर ठहरो; देखें कि यहाँ क्या होता है॥१६३॥

उन दोनों (मित्रों) की यह बात-चीत सुनकर पद्मावती ने सखियों से कहा—सखियो, मैं जानती हूँ कि यह मेरा पिछला प्रेमी ही है; क्योंकि (सभी) पहचानें मिल रही हैं॥१६४॥

निश्चय, यह शापवश मनुष्य-शरीर प्राप्त करके इस भाँति कष्ट झेल रहा है और उस सिद्ध-कन्या का जो मैंने (एक समय) उपहास किया था, मुझे भी उसी के शाप का यह फल मिला है॥१६५॥

इति यावच्च सा वक्ति तावदालोहितच्छविः ।
वियोगिवनदावाग्निरुदगान्मृगलाञ्छनः ॥१६६॥
पूरयामास च शनैर्जगज्ज्योत्स्ना समन्ततः ।
कन्दर्पदहनज्वाला तं च मुक्ताफलध्वजम् ॥१६७॥
ततस्तत्कालचक्राह्व इव क्रन्दन्नृपात्मजः ।
छन्नस्थयैव जगदे पद्मावत्या स विग्नया ॥१६८॥
राजपुत्र स एवत्वं यदि मे पूर्ववल्लभः ।
तथाप्यन्यशरीरस्थो ममासि परपूरुषः ॥१६९॥
अहं ते परदाराश्च तदाक्रन्दसि किं मुहुः ।
उपायो भवितावश्यं सत्यं चेत्तन्मुनेर्वचः ॥१७०॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्यास्तामपश्यंश्च सोऽभ्यगात् ।
मुक्ताफलध्वजो हर्षविषादविषमां दशाम् ॥१७१॥
जगाद च मया देवि स्मृतप्राक्तनजन्मना ।
दृष्ट्वा त्वं प्रत्यभिज्ञाता स्वामेव दधती तनुम् ॥१७२॥
त्वं तु वैद्याधरे देहे वर्त्तमानं विलोक्य माम् ।
अधुना परिजानीषे मर्त्यदेहगतं कथम् ॥१७३॥
तदवश्यं मया त्याज्यमिदं हतशरीरकम् ।
इत्युक्त्वा सोऽभवत्तूष्णीं छन्नासीत्सापि तत्प्रिया ॥१७४॥
ततो भूयिष्ठयातायां रात्रौ निद्रागते श्रमात् ।
पूर्वसंयतके तस्मिन्महाबुद्धौ वयस्यके ॥१७५॥
अप्राप्यां तेन देहेन जानन्पद्मावतीं स ताम् ।
मुक्ताफलध्वजो दारूण्याहृत्याग्निमदीपयत् ॥१७६॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन प्राक्तनीं तां तनुं श्रितः ।
प्राप्यासमचिरेणैव प्रियां पद्मावतीमहम् ॥१७७॥
इति ब्रुवन्प्रणम्यैव लिङ्गमूर्त्तिं स शङ्करम् ।
जुहाव ज्वलिते तस्मिन्नग्नौ राजसुतस्तनुम् ॥१७८॥
तावत्प्रबुद्धः स महाबुद्धिर्मुक्ताफलध्वजम् ।
तमपश्यन्विचित्यापि पश्यन्नग्निमुदर्चिषम् ॥१७९॥
विचिन्त्य तं हुतात्मानं वयस्यं विरहाकुलम् ।
अग्नौ तत्रैव तच्छोकात्सोऽप्यात्मानमपातयत् ॥१८०॥

जबतक पद्मावती ने इतना कहा, तबतक वियोग-रूपी वन के लिए दावानल-स्वरूप लाल वर्ण का चाँद उदित हुआ ॥१६६॥

और, चाँदनी ने धीरे-धीरे समस्त संसार को आच्छन्न कर लिया और (उधर) कामाग्नि की ज्वाला ने मुक्ताफलध्वज को आच्छन्न कर लिया ॥१६७॥

तदनन्तर, उस समय चकवा पक्षी की भाँति रोते हुए राजकुमार से विरहोद्विग्ना पद्मावती ने अन्तर्हित रहते हुए ही कहा—॥१६८॥

हे राजकुमार, यद्यपि तुम मेरे वही पिछले प्रियतम हो, फिर भी अन्य शरीर में वर्त्तमान (होने के कारण) तुम मेरे लिए पराये पुरुष (ही) हो ॥१६९॥

और मैं भी तुम्हारे लिए परायी स्त्री हूँ। अतः (ऐसी स्थिति में), तुम बार-बार (रो-रो कर मुझे) पुकारते क्यों हो? यदि उस मुनि का वह वचन सत्य हो, तो कोई (-न-कोई) उपाय अवश्य होगा ॥१७०॥

(पद्मावती) को न देखते हुए उसका यह वचन सुनकर मुक्ताफलध्वज हर्ष और विषाद से विषम स्थिति में पड़ गया ॥१७१॥

और बोला कि हे देवी, तुम तो अपना ही शरीर धारण किये हुए थी, इसलिए मैंने पूर्वजन्म का स्मरण होते ही तुम्हें देखकर पहचान लिया ॥१७२॥

किन्तु, तुमने मुझे विद्याधर के शरीर में वर्त्तमान देखा. अतः अब मर्त्य शरीर में वर्त्तमान मुझको कैसे पहचान सकोगी? ॥१७३॥

अतः, इस अभागे शरीर को मैं अवश्य ही त्याग दूंगा। यह कहकर मुक्ताफलध्वज चुप हो गया और उसकी प्रियतमा पद्मावती भी अन्तर्हित (ही) रही ॥१७४॥

फिर, जब बहुत रात बीत गई और उस मुक्ताफलध्वज का मित्र पूर्वजन्म का संयतक (और इस जन्म का) महाबुद्धि थकावट से निद्रित हो गया ॥१७५॥

तब इस शरीर से पद्मावती नहीं मिल सकती है, ऐसा सोचकर उस मुक्ताफलध्वज ने लकड़ियाँ बटोरकर चिता जलाई ॥१७६॥

और, अग्नि की प्रार्थना करने लगा—हे अग्निदेव, मैं शीघ्र ही आपकी कृपा से प्राचीन शरीर को पाकर के पुनः अपनी प्रिया पद्मावती को प्राप्त करूँ ॥१७७॥

यह कहते हुए शिव-लिंग को प्रणाम करके राजकुमार ने अपने शरीर को उस प्रज्वलित अग्नि में आहुत कर दिया ॥१७८॥

तबतक (उधर) महाबुद्धि जगा और खोजने पर भी मुक्ताफलध्वज को नहीं देखा, (किन्तु) आग को जलते हुए देखा ॥१७९॥

और, यह सोचकर कि मेरा मित्र विरह से व्याकुल हो अपने को (आग में) आहुत कर दिया है, मित्र के शोक से उसी आग में महाबुद्धि ने भी अपने को आहुत कर दिया ॥१८०॥

तदृष्दृष्ट्वा सापि दुःखार्त्ता पद्मावत्यब्रवीत्सखीः ।
धिगहो हृदयं स्त्रीणां कठिनं कुलिशादपि ॥१८१॥
पश्यान्त्या वैशसमिदं नोत्क्रान्तं यन्ममासुभिः ।
तत्कियच्चिरमात्मानमधन्यो धार्यते मया ॥१८२॥
नास्ति मेऽद्यापि दुःखान्तो मदपुण्यैर्मुनेरपि ।
वचस्तस्यान्यथा जातं तच्छ्रेयो मरणं मम ॥१८३॥
परपूरुषमध्ये तु प्रवेष्टुमनलेऽत्र मे ।
न युक्तं तदनायासः पाश एव हि मे गतिः ॥१८४॥
इत्युक्त्वा साग्रतः शम्भोरुपेत्याशोकपादपे ।
पाशं बिधातुं लतया राजपुत्री प्रचक्रमे ॥१८५॥
आशाप्रदर्शिभिर्वाक्यैर्यावत्तां स सखीजनः ।
वारयत्याययौ तावन्मुनिः सोऽत्र तपोधनः ॥१८६॥
मा पुत्रि साहसं न स्यादसत्यं तद्वचो मम ।
धीरा भवाधुनैवेह प्राप्तं पश्यसि तं प्रियम् ॥१८७॥
त्वदीयेनैव तपसा तस्य शापक्षयोऽचिरात् ।
संवृत्तस्तदनास्थेयं स्वतपस्येव ते कथम् ॥१८८॥
प्रत्यासन्ने विवाहे च का तवेयं बिषादिता ।
प्रणिधानादवेत्याहमिदं सर्वमिहागतः ॥१८९॥
इति तं व्याहरन्तं च दृष्ट्वा मुनिमुपागतम् ।
प्रणम्य दोलारूढेव साभूत्पद्मावती क्षणम् ॥१९०॥
अथ मर्त्यदेहदाहाद्वैद्याधरमात्मदेहमाश्रित्य ।
सवयस्यो मुक्ताफलकेतुः सोऽत्राययौ प्रियस्तस्याः ॥१९१॥
तं वीक्ष्य चातकवधूरिव नूतनाभ्रं राकाशशाङ्कमुदितं च कुमुद्वतीव ।
विद्याधरेन्द्रतनयं गगनागतं सा पद्मावती हृदि दधौ कमपि प्रमोदम् ॥१९
स च मुक्ताफलकेतुर्मुमुदे दृष्ट्यैव तामवेक्ष्य पिबन् ।
चिरमरुभूमिभ्रमणश्रान्तः पान्थो यथा सरितम् ॥१९३॥
तौ च शापरजनीक्षयादुभौ चक्रवाकवदवाप्तसङ्गमौ ।
जग्मतुस्तपनतेजसो मुनेस्तस्य पादपतनेन तृप्तताम् ॥१९४॥
यद्युवामिह पुनः समागतौ तीर्णशापमुदितौ स एव मे ।
चेतसोऽद्य परितोष इत्यसावभ्यनन्ददथ तौ महामुनिः ॥१९५॥

यह देखकर पद्मावती ने भी दुःख से विक्षुब्ध हो (अपनी) सखियों से कहा—अहो ! वज्र से भी कठिन स्त्रियों के हृदय को धिक्कार है ॥१८१॥

मेरे प्राण यह भीषण दृश्य देख कर भी नहीं निकले, अतः मैं अभागी कितने दिनों तक इस जीवन को ढोती रहूँ ॥१८२॥

मेरे दुःख का आज भी अन्त नहीं हो रहा है, और मेरे पापों के कारण उन मुनि का भी वह वचन मिथ्या हो गया। ऐसी स्थिति में मेरे लिए मरण ही अच्छा है ॥१८३॥

इस चिता में पराये पुरुष के बीच प्रवेश करना मेरे लिए उचित न होगा। इसलिए विना प्रयास के (मिलनेवाला) यह पाश ही मेरी गति है ॥१८४॥

यह कहकर राजकुमारी पद्मावती शिवलिंग के आगे अशोक के पेड़ के पास आई और एक लता लेकर फन्दा बनाने लगी ॥१८५॥

जबतक आशा दिखानेवाली बातें कह-कहकर उसकी सखियाँ उसे रोकती रहीं, तबतक तपोधन नाम के ऋषि वहाँ आ पहुँचे ॥१८६॥

(और समझाने लगे कि) हे पुत्री, (ऐसा) साहस मत करो। मेरा वह वचन असत्य हो नहीं सकता। धीरज धरो। देखो, अभी तुम्हारा प्रियतम यहाँ पहुँच रहा है ॥१८७॥

तुम्हारी ही तपस्या से अभी-अभी उसके शाप का अन्त हुआ है। इसलिए, तुम्हें अपनी तपस्या पर इतनी अनास्था क्यों हो रही है ? ॥१८८॥

जब विवाह का समय निकट आ गया है, तब तुम इस तरह विषाद क्यों कर रही हो ? मैं ध्यान के बल से सारी बातें जानकर यहाँ आया हूँ ॥१८९॥

ऐसा कहते हुए मुनि को पास में आया देख उन्हें प्रणाम करके पद्मावती क्षण-भर (ऐसी दुविधा में पड़ गई) मानों दोला पर चढ़ गई हो ॥१९०॥

तदनन्तर, मर्त्य शरीर के जल जाने पर विद्याधरवाला अपना (पिछला) शरीर धारण कर उसका वह प्रियतम मुक्ताफलकेतु अपने मित्र संयतक-समेत वहाँ आ पहुँचा ॥१९१॥

चातकी जैसे नये बादल को देखकर, और कुमुदिनी जैसे पूर्णिमा के चाँद को उदित देखकर (प्रसन्न होती है, उसी भाँति) उस पद्मावती ने विद्याधर राजकुमार मुक्ताफलकेतु को आकाश-मार्ग से आया देखकर हृदय में अवर्णनीय उल्लास को प्राप्त किया ॥१९२॥

और, मुक्ताफलकेतु भी पद्मावती को देख नेत्रों से ही उसका रूप-पान करते हुए तृप्त हो गया, जैसे देर तक मरुभूमि में भ्रमण करते-करते थका हुआ यात्री नदी को (देखकर ही तृप्त हो जाता है) ॥१९३॥

तदनन्तर, शाप-रूपी रात के बीतने से चकवे की जोड़ी की भाँति उन दोनों का मिलन हुआ और सूर्य के समान तेजस्वी तपोधन ऋषि के चरण पर गिरकर वे दोनों (अत्यन्त) प्रसन्न हो गये ॥१९४॥

इसके बाद उन महामुनि ने उन दोनों का यह कहते हुए अभिनन्दन किया कि शाप को पार करके मुदित हुए आप दोनों ने जो यहाँ पुनः (परस्पर) मिलन पाया है, इसी से आज मेरा चित्त परितुष्ट हो गया है (अतः, प्रणाम करके परितुष्ट करने की आवश्यकता नहीं थी) ॥१९५॥

यातायां निशि चेन्द्रवारणगतस्तत्रैव सोऽप्याययौ
चिन्वन्दारकनिष्ठपुत्रसहितो मेरुध्वजो भूपतिः ।
त्रैलोक्यप्रभया समं तनयया त्रैलोक्यमाली तथा
दैत्यानामधिपो विमानवहनः सान्तः पुरः सानुगः ॥१९६॥

ततः स मुक्ताफलकेतुमेतयोः प्रदर्श्य वृत्तान्तमवर्णयन्मुनिः ।
यथा स कार्यार्थमवाप शापतो मनुष्यतां मुक्तिमुपागतस्ततः ॥१९७॥

बुद्ध्वा तदग्नौ पतनोन्मुखास्ते मेरुध्वजाद्या मुनिनोपदिष्टम् ।
सिद्धोदकस्नानहरार्चनादि कृत्वा विशोकाः सहसा वभूवुः ॥१९८॥

त्रैलोक्यप्रभया पुनरत्र तथा जातिमाशु संस्मृत्य ।
समचिन्त्यत सिद्धाधिपकन्या देवप्रभास्मि सा हन्त ॥१९९॥

विद्याधराधिनाथः पतिरस्तु ममेति या तपस्यन्ती ।
पद्मावत्युपहसिता प्राविशमनलं स्वकामनासिद्ध्यै ॥२००॥

जातास्म्यस्मिंश्च ततो दितिजकुले यत्र चानुरक्तास्मि ।
सोऽप्येष राजपुत्रः प्राप्तो वैद्याधरीं पुनः स्वतनुम् ॥२०१॥

न च युज्यतेऽन्यरूपो देहेनानेन समभिगन्तुमयम् ।
तदिमामेतत्प्राप्त्यै तनुं जुहोम्यासुरीं पुनर्ज्वलने ॥२०२॥

एवं विमृश्य हृदि तच्च निवेद्य पित्रोर्मुक्ताफलध्वजहुताशमनुप्रविष्टाम् ।
आदाय तां करुणयार्पितपूर्वदेहामाविर्बभूव हुतभुक्स्वयमब्रवीच्च ॥२०३॥

भो मुक्ताफलकेतो त्वामियमुद्दिश्य मयि विमुक्ततनुः ।
तदिमां सिद्धेशसुतां गृहाण देवप्रभां भार्याम् ॥२०४॥

इत्येतदुक्त्वैव तिरोहितेऽनले ब्रह्मात्र सेन्द्रैरमरैः सहाययौ ।
गन्धर्वराजः सह चन्द्रकेतुना विद्याधरेन्द्रेण च पद्मशेखरः ॥२०५॥

प्रह्वाय सर्वैरभिनन्दिताय तैर्गन्धर्वराड्व्यग्रपरिग्रहस्ततः ।
प्रादात्स मुक्ताफलकेतवे सुतां पद्मावतीं तां विधिवद्विभूतिमान् ॥२०६॥

रात बीतने पर (सुबह उस मुक्ताफलध्वज को) खोजते-खोजते स्त्री और छोटे पुत्र के साथ राजा मेरुध्वज भी इन्द्र द्वारा प्रदत्त हाथी पर सवार हो वहीं पहुँचा। तथा विमान पर चढ़कर परिजन-समेत और सपरिवार दैत्यराज त्रैलोक्यमाली भी (अपनी) पुत्री त्रैलोक्यप्रभा के साथ (वहाँ आ पहुँचा) ॥१९६॥

तब तपोधन मुनि ने त्रैलोक्यमाली और मेरुध्वज को मुक्ताफलकेतु से मिला कर वह वृत्तान्त कह सुनाया कि कैसे मुक्ताफलध्वज को कार्य-विशेष के लिए शापवश मनुष्य हो जाना पड़ा और कैसे फिर उसे मनुष्य-जन्म से छुटकारा मिला ॥१९७॥

(शोकवश) आग में कूदने को उद्यत मेरुध्वज आदि लोगों ने यह (समाचार) जानकर मुनि के आदेश के अनुसार सिद्धोदक तीर्थ में स्नान, शंकर की पूजा आदि कर्म किये और तुरत ही शोक-रहित हो गये ॥१९८॥

फिर, त्रैलोक्यप्रभा को भी सहसा वहाँ अपना (पूर्व) जन्म स्मरण हो गया और वह सोचने लगी कि वाह! मैं ही तो वह सिद्धराजकुमारी देवप्रभा हूँ ॥१९९॥

विद्याधरों के चक्रवर्त्ती मेरे पति हों, इस कामना से मैं तपस्या कर रही थी और (उस समय) पद्मावती ने मेरा उपहास किया, और मैंने अपनी कामना की सिद्धि के लिए अग्नि में प्रवेश किया ॥२००॥

और, तब मैंने असुर-वंश में जन्म लिया, और वहाँ जिस पुरुष से प्रेम किया, वही यह राजकुमार है (अब) इसने अपना विद्याधर-रूप पुनः प्राप्त कर लिया है ॥२०१॥

अतः (अब) विद्याधर-रूप धारण करनेवाले इस (पुरुष) के पास (इस असुर-सम्बन्धी वर्त्तमान) शरीर से जाना उचित नहीं होगा। इसलिए मैं अपने असुर-सम्बन्धी इस शरीर को आग में पुनः जला डालती हूँ, ताकि (दूसरा शरीर प्राप्त करके) इस मुक्ताफलकेतु को पा सकूँ ॥२०२॥

इस प्रकार हृदय में विचार करके और (अपना विचार) माता-पिता से कहकर त्रैलोक्यप्रभा ने (भी) पीछे से (उसी) मुक्ताफलध्वज की चिता में प्रवेश किया। (तब भगवान्) अग्नि ने दया से उसका पिछला शरीर दे दिया और साथ लेकर स्वयं प्रकट हो बोले—॥२०३॥

हे मुक्ताफलकेतु, इस (देवप्रभा) ने तुम्हारे उद्देश्य से मुझ (अग्नि) में अपना शरीर त्यागा है, इसलिए तुम सिद्धराज की पुत्री इस देवप्रभा को (अपनी) पत्नी के रूप में ग्रहण करो ॥२०४॥

इतना कहते ही अग्निदेव अन्तर्हित हो गये और तब इन्द्र आदि देवताओं-सहित ब्रह्मा तथा विद्याधरराज चन्द्रकेतु के साथ गन्धर्वराज पद्मशेखर वहाँ पधारे ॥२०५॥

तदनन्तर, उन सबने मुक्ताफलकेतु का अभिनन्दन किया और उसने नम्र हो (सबका अभिनन्दन स्वीकार किया, फिर) पारिवारिक चहल-पहल के साथ ऐश्वर्यशाली गन्धर्वराज पद्मशेखर ने मुक्ताफलकेतु को (अपनी) कन्या पद्मावती विधिवत् प्रदान कर दी ॥२०६॥

स चात्र विद्याधरराजपुत्रश्चिरोत्सुकस्तां दयितामवाप्य ।
मेने फलं जन्मतरोरवाप्तमुवाह तामप्यथ सिद्धकन्याम् ॥२०७॥
स च तया दितिजेश्वरकन्यया विधिवदत्र पितृप्रवितीर्णया ।
नृपसुतः समयुज्यत कान्तया त्रिभुवनप्रभया मलयध्वजः ॥२०८॥
ततः कृतित्वादभिषिच्य पुत्रं सद्वीपपृथ्वीवलयैकराज्ये ।
मेरुध्वजः स्वे मलयध्वजं तं वनं सदारस्तपसे जगाम ॥२०९॥
त्रैलोक्यमाली सपरिग्रहश्च प्रायात्पदं स्वं दितिजाधिराजः ।
शक्रोऽथ मुक्ताफलकेतवे तां ददौ स विद्युद्ध्वजराज्यलक्ष्मीम् ॥२१०॥
मुक्ताफलकेतुरयं भुङ्क्तां विद्याधरासुरैश्वर्यम् ।
स्वपदानि यान्तु च सुरा इत्थं वागुच्चचार दिवः ॥२११॥
तामाकर्ण्य ययुस्ततः प्रमुदितास्ते ब्रह्मशक्रादयः ।
शापान्मुक्तवता तपोधनमुनिः शिष्येण साकं ययौ ।
श्रीमुक्ताफलकेतुना च सहितो भार्याद्वय भ्राजिना
पुत्रेणाथ स चन्द्रकेतुरगमद्वैद्याधरं स्वं पदम् ॥२१२
भुक्त्वा च तत्र गगनेचरचक्रवर्त्तिलक्ष्मीं सुतेन सह तेन चिरं स राजा ।
तस्मिन्निवेश्य निजराज्यधुरं विरक्तो देव्या समं मुनितपोवनमाश्रितोऽभूत् ॥२१३॥
स च मुक्ताफलकेतुः प्रागिन्द्रादसुरराज्यमासाद्य ।
प्राप्य पुनश्च पितुस्तद्विद्याधरचक्रवर्त्तित्वम् ॥२१४॥
पद्मावत्या सहितो दशकल्पान्मूर्त्तयेव निर्वृत्या ।
भेजे सुसमृद्धोभयसाम्राज्यसुखश्रियं सुकृती ॥२१५॥
आलोच्य भावानवसाननीरसान्संश्रित्य चान्ते स मुनीन्द्रकाननम् ।
ज्योतिः परं प्राप्य तपः प्रकर्षतः सायुज्यमीशस्य जगाम धूर्जटेः ॥२१६॥
एवं हंसयुगान्निशम्य सरसामेतां कथां तन्मुखा-
ज्ज्ञानं प्राप्य च लब्धदिव्यगतिकः स ब्रह्मदत्तो नृपः ।
तद्भार्यासचिवौ च तौ च विहगौ गत्वैव सिद्धीश्वरं
त्यक्त्वाशापतनूः शिवानुचरतां प्रापुर्निजां तेऽखिलाः ॥२१७॥
इत्यहमाकर्ण्य कथां गोमुखतो मदनमञ्चुकाविरहे ।
हे मुनयः क्षणमात्रं धृत्या चेतो विनोदितवान् ॥२१८॥
एवं कथितकथे किल नरवाहनदत्तचक्रवर्त्तिनि ते ।
गोपालकेन सहिताः परितुतुषुः कश्यपाश्रमे मुनयः ॥२१९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे पद्मावतीलम्बके षष्ठस्तरङ्गः ।

समाप्तोऽयं पद्मावतीलम्बकः सप्तदशः ।

और चिरकाल से विरहाकुल गन्धर्वराज मुक्ताफलकेतु ने प्रेयसी पद्मावती को प्राप्त कर (अपने) जन्मरूपी वृक्ष को सफल माना, और फिर उस सिद्धकन्या देवप्रभा से भी विवाह कर लिया ॥२०७॥

उधर राजकुमार मलयध्वज भी पिता द्वारा विधिवत् प्रदत्त असुरराजकन्या प्रिया त्रिभुवनप्रभा से मिला ॥२०८॥

तदनन्तर, कृतकृत्य हो राजा मेरुध्वज ने द्वीपों-सहित भूमण्डलव्यापी अपने साम्राज्य पर अपने पुत्र मलयध्वज को अभिषिक्त कर दिया और स्वयं पत्नी-समेत तपस्या करने के लिए वन चला गया ॥२०९॥

और, वह असुरराज त्रैलोक्यमाली परिवार-समेत अपने स्थान (पाताललोक) को चला गया तदनन्तर इन्द्र ने विद्युद्ध्वज की राज्यलक्ष्मी मुक्ताफलकेतु को दे दी ॥२१०॥

और (तब) आकाशवाणी हुई कि यह मुक्ताफलकेतु विद्याधरों और असुरों का साम्राज्य प्राप्त करे और देवतागण अपना-अपना पद पुनः प्राप्त कर लें ॥२११॥

आकाशवाणी सुनकर ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता प्रसन्न हो वहाँ से चले गये, शाप से मुक्त हुए अपने शिष्य के साथ तपोधन मुनि भी चले गये तथा दोनों पत्नियों से सुशोभित अपने पुत्र श्रीमुक्ताफल के साथ राजा चन्द्रकेतु भी अपने विद्याधरलोक चला गया ॥२१२॥

और, वहाँ राजा चन्द्रकेतु पुत्र के साथ चिरकालपर्यन्त विद्याधर साम्राज्य-लक्ष्मी का भोग करके (अन्त में) विरक्त हो अपने साम्राज्य का भार उस पुत्र को सौंप फिर रानी-सहित तपोधन मुनिके तपोवन में जाकर रहने लगा ॥२१३॥

और, मुक्ताफलकेतु पहले इन्द्र से असुर विद्युद्ध्वज का राज्य पाकर और फिर अपने पिता से विद्याधर-साम्राज्य प्राप्त करके मूर्तिमान् सुख-शान्ति जैसी उस पद्मावती के साथ भली-भाँति फूले-फले दोनों साम्राज्यों का सुख-भोग करने लगा और यशोभागी हुआ ॥२१५॥

और अन्त में, सांसारिक सुख को परिणामतः रसहीन समझकर मुनिराज तपोधन के तपोवन में निवास करने लगा और तपस्या के प्रभाव से परम ज्योति को पाकर शंकर का सायुज्य मोक्ष लाभ किया ॥२१६॥

इस प्रकार, उन दोनों हंसों के मुँह से यह सरल कथा सुन करके राजा ब्रह्मदत्त ने (अपने पूर्वजन्म का) ज्ञान प्राप्त किया और उसे दिव्य गति प्राप्त हुई। फिर, वह (राजा ब्रह्मदत्त), उसकी पत्नी और मन्त्री तथा वे दोनों पक्षी सिद्धीश्वर-क्षेत्र चले गये (और वहाँ) अपने-अपने शापवाले शरीर को त्याग कर पुनः शिवजी के गणोंवाला अपना-अपना रूप धारण कर लिया ॥२१७॥

(असितगिरि पर मुनियों के आश्रम में वर्त्तमान नरवाहनदत्त मुनियों से कहते हैं कि) हे मुनियो, मदनमंचुका के विरह की अवस्था में मन्त्री गोमुख से यह कहानी सुनकर मैंने क्षण-भर धैर्य धारण करके मन को बहलाया ॥२१८॥

चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त ने जब इस प्रकार कहानी सुनाई, तब कश्यप के आश्रम में गोपालक-सहित वे सभी मुनि अत्यधिक प्रसन्न हुए ॥२१९॥

श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के पद्मावतीलम्बक का षष्ठ तरंग समाप्त हुआ

पद्मावतीलम्बक भी समाप्त हुआ।

विषमशीलो नामाष्टादशो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ॥

विषमशील नाम का अष्टादश लम्बक

बहुत दिन हुए, यह कथारूपी अमृत शंकर के मुख-रूपी समुद्र से पार्वती के प्रणय-रूपी मन्दराचल से आन्दोलित होकर प्रकट हुआ था। अब जो भी कोई इसका आस्वादन करते हैं, उनके और विघ्न तो दूर हो ही जाते है, उन्हें ऋद्धि-सिद्धि भी प्राप्त होती है और भगवान् शंकर की कृपा से वे अमर पद भी सहज ही पा लेते हैं।

प्रथमस्तरङ्गः

चन्द्राननार्धदेहाय चन्द्रांशुसितभूतये ।
चन्द्रार्कानलनेत्राय चन्द्रार्धशिरसे नमः ॥१॥

करेण कुञ्चिताग्रेण लीलयोन्नमितेन यः ।
भाति सिद्धीरिव ददत्स पायाद्वो गजाननः ॥२॥

ततोऽसितगिरौ तत्र कश्यपस्याश्रमे मुनेः ।
नरवाहनदत्तस्तान्मुनीनेवमभाषत ॥३॥

अन्यच्च देवीविरहे नीत्वाहं सानुरागया ।
वेगवत्या यदा न्यस्तो विद्याहस्तेऽभिरक्षितुम् ॥४॥
तदा शरीरत्यागैषी विरही परदेशगः ।
वनान्ते दृष्टवानस्मि भ्रमन्कण्वं महामुनिम् ॥५॥
स मां पादानतं दृष्ट्वा प्रणिधानादवेत्य च ।
दुःखितं स्वाश्रमं नीत्वा सदयो मुनिरभ्यधात् ॥६॥
सोमवंशोद्भवो वीरो भूत्वा किं नाम मुह्यसि ।
देवादेशे ध्रुवेऽनास्था का भार्यासङ्गमे तव ॥७॥
असम्भाव्या अपि नृणां भवन्तीह समागमाः ।
तथा हि विक्रमादित्यकथामाख्यामि ते शृणु ॥८॥
अस्त्यवन्तिषु विख्याता युगादौ विश्वकर्मणा ।
निर्मितोज्जयिनी नाम पुरारिवसतिः पुरी ॥९॥
सतीव या पराधृष्या पद्मिनीवाश्रिता श्रिया ।
सतां धीरिव धर्माढ्या पृथ्वीव वहुकौतुका ॥१०॥
महेन्द्रादित्य इत्यासीद्राजा तस्यां जगज्जयी ।
मघवेवामरावत्यां विपक्षबलसूदनः ॥११॥
नानाशस्त्रायुधः शौर्ये रूपे तु कुसुमायुधः ।
योऽभून्मुक्तकरस्त्यागे वद्धमुष्टिकरस्त्वसौ ॥१२॥
तस्य पृथ्वीपतेर्भार्या नाम्नाभूत्सौम्यदर्शना ।
शचीवेन्द्रस्य गौरीव शम्भोः श्रीरिव शार्ङ्गिणः ॥१३॥
महामन्त्री च सुमतिर्नाम तस्याभवत्प्रभोः ।
वज्रायुधाभिधानश्च प्रतीहारः क्रमागतः ॥१४॥

प्रथम तरंग

सिरपर चन्द्रकला धारण करनेवाले उन (शिवजी) को प्रणाम करता हूँ जिनका आधा शरीर चन्द्रानना (पार्वती) है, जो चन्द्रकिरण-सी श्वेत भस्म से लिप्त है, तथा जिनकी आँखें चन्द्र और सूर्य हैं॥१॥

वह गजानन आप लोगों का पालन करें, जो खेल के समय ऊपर उठाये तथा मुड़े हुए अग्रभागवाले अपने हाथ (सूँड़) से ऐसे लगते हैं, मानों (सभी) सिद्धियाँ वितरण कर रहे हों॥२॥

तदनन्तर, असितगिरि पर कश्यप मुनि के आश्रम में (राजा) नरवाहनदत्त ने उन मुनियों से कहा—॥३॥

और भी सुनिए। जब देवी मदनमंचुका के विरह में मुझे अनुराग से युक्त वेगवती ने रक्षा के निमित्त अपनी विद्या के हाथ में ले जाकर सौंप दिया—॥४॥

तब परदेश में वर्त्तमान, विरही और प्राणत्याग के लिए इच्छुक मैंने वन-प्रदेश में घूमते हुए महामुनि कण्व को देखा॥५॥

मैंने उनके पाँवों पर झुककर प्रणाम किया। वे मुझे देख और ध्यान के बल से दुःखी जानकर दया से अपने आश्रम ले आये और बोले कि—॥६॥

तुम सोमवंश में उत्पन्न वीर होकर (भी) मोह में क्यों पड़ रहे हो? जब देवता का कथन ध्रुव है, तब प्रेयसी से मिलन होने में यह अनास्था (अविश्वास) क्यों कर रहे हो?॥७॥

इस संसार में मनुष्यों के असम्भव मिलन भी सम्भव हो जाते हैं। विक्रमादित्य की एक ऐसी ही कथा मैं तुमको सुनाता हूँ, सुनो॥८॥

अवन्तिदेश में उज्जयिनी नाम की एक प्रख्यात नगरी है, जिसे विश्वकर्मा ने युग के आरम्भ में ही बनाया था और जहाँ भगवान् शंकर निवास करते हैं॥९॥

जो (उज्जयिनी नगरी) सती स्त्री की भाँति पराये (शत्रु या पतिभिन्न) पुरुष के लिए अधृष्य (न दबाने योग्य) है, पद्मिनी की भाँति लक्ष्मी का निवास है, सज्जनों की बुद्धि की भाँति धर्म से पूर्ण है और पृथिवी की भाँति नाना कुतुहलों से युक्त है॥१०॥

उस नगरी में महेन्द्रादित्य नाम का एक राजा था, जैसे अमरावती में इन्द्र हैं। वह राजा संसार-भर को जीतनेवाला और शत्रु की सेना का नाश करनेवाला था॥११॥

जो शूरता में तो नाना शस्त्रायुध (अनेक शस्त्ररूपी आयुध रखनेवाला) था, किन्तु रूप में कुसुमायुध[1] (कामदेव) था, और जो दान में तो मुक्तहस्त रहता था किन्तु तलवार (पकड़ने में) बद्धमुष्टि (मजबूत मुट्ठीवाला) था॥१२॥

उस राजा की सौम्यदर्शना नाम की पत्नी थी, जो इन्द्र की शची के समान, शम्भू की गौरी के समान, और विष्णु की लक्ष्मी के समान थी॥१३॥

उस राजा के सुमति नाम का महामन्त्री था, और वज्रायुध नाम का कुलक्रमागत प्रतीहार था॥१४॥

---

१. यहाँ कुसुमायुध शब्द का दूसरा अर्थ है—फूलों के आयुधवाला; इसी प्रकार बद्धमुष्टि का दूसरा अर्थ होता है—कंजूस; तदनुसार यहाँ विरोधाभास दिखलाया गया है। —अनु०

तैः समं स नृपः शासद्राज्यमाराधयन्हरम् ।
नानाव्रतधरः शश्वदभवत्पुत्रकाम्यया ॥१५॥
अत्रान्तरे च गीर्वाणगणसंश्रितकन्दरे ।
अन्यदिग्जयसानन्दकौबेरीहाससुन्दरे ॥१६॥
स्थितं कैलासशैलेन्द्रे पुरारिं पार्वतीयुतम् ।
उपाजग्मुः सुराः सेन्द्रा म्लेच्छोपद्रवदुःस्थिताः ॥१७॥
प्रणामानन्तरासीनास्ते कृतस्तुतयोऽमराः ।
पृष्टागमनकार्यास्ते देवमेवं व्यजिज्ञपन् ॥१८॥
ये त्वया देव निहता असुरा ये च विष्णुना ।
ते जाता म्लेच्छरूपेण पुनरद्य महीतले ॥१९॥
व्यापादयन्ति ते विघ्नान्घ्नन्ति यज्ञादिकाः क्रियाः ।
हरन्ति मुनिकन्याश्च पापाः किं किं न कुर्वते ॥२०॥
भूलोकाद्देवलोकश्च शश्वदाप्यायते प्रभो ।
ब्राह्मणैर्हुतमग्नौ हि हविस्तृप्त्यै दिवौकसाम् ॥२१॥
म्लेच्छाक्रान्ते च भूलोके निर्वषट्कारमङ्गले ।
यज्ञभागादिविच्छेदाद्देवलोकोऽवसीदति ॥२२॥
तदुपायं कुरुष्वात्र तं कञ्चिदवतारय ।
प्रवीरं भूतले यस्तान्म्लेच्छानुत्सादयिष्यति ॥२३॥
इति देवैः स विज्ञप्तः पुरारातिरुवाच तान् ।
यातयूयं न चिन्तात्र कार्या भवत निर्वृताः ॥२४॥
अचिरेण करिष्येऽहमत्रोपायमसंशयम् ।
इत्युक्त्वा व्यसृजद्देवान्स्वधिष्ण्यान्यम्बिकापतिः ॥२५॥
गतेषु तेषु चाहूय माल्यवत्संज्ञकं गणम् ।
सपार्वतीको भगवानेवमादिशति स्म सः ॥२६॥
पुत्रावतर मानुष्ये जायस्व च महापुरि ।
उज्जयिन्यां सुतः शूरो महेन्द्रादित्यभूपतेः ॥२७॥
स च राजा ममैवांशस्तद्भार्या चाम्बिकांशजा ।
तयोर्गृहे समुत्पद्य कुरु कार्यं दिवौकसाम् ॥२८॥
म्लेच्छान्व्यापादयाशेषांस्त्रयीधर्मविघातिनः ।
सप्तद्वीपेश्वरो राजा मत्प्रसादाच्च भाव्यसि ॥२९॥

उन सबके साथ राज्य का शासन करते हुए वह राजा पुत्र की कामना से अनेक व्रतों में लगे हुए निरन्तर भगवान् शंकर की आराधना करता रहता था॥१५॥

इसी बीच, म्लेच्छों के उपद्रव से पीडित इन्द्र-सहित (सारे) देवगण गौरी-सहित शंकर के पास कैलास पर्वत पर पहुँचे, जिसकी कन्दराओं में देवगण रहते थे और जो अन्य दिशाओं को (अपने उत्कर्ष से) जीतने के कारण प्रसन्न हुई उत्तर-दिशा के हास से रमणीय है॥१६॥

देवगण प्रणाम करके बैठे और (उनकी) स्तुति की। शिवजी ने पूछा कि तुम सब यहाँ किस प्रयोजन से आये हो? तब उन देवताओं ने निवेदन किया कि—॥१७॥

हे देव, आप और भगवान् विष्णु ने जिन राक्षसों को मारा था, वे सभी म्लेच्छों के रूप में पुनः इस पृथ्वी पर उत्पन्न हो गये हैं॥१९॥

वे पापी असुर ब्राह्मणों को मारते हैं, यज्ञादि कर्मों में विघ्न डालते हैं, मुनि-कन्याओं का हरण करते हैं, और क्या-क्या नहीं करते हैं? ॥२०॥

देवलोक सदा भूलोक से ही तृप्त होता आया है; क्योंकि हे प्रभो, ब्राह्मण लोग जो अग्नि में हवि देते हैं, उसी से देवताओं को तृप्ति मिलती है॥२१॥

भूलोक म्लेच्छों से आक्रान्त हो गया है और वषट्कार रूप मङ्गल से (मङ्गलजनक यज्ञकर्मों में वेदमन्त्रों के उच्चारण से) रहित हो गया है। अतः, यज्ञ में मिलने वाले अपने भाग आदि (लाभों) के बन्द हो जाने से देवगण कष्ट में पड़े हुए हैं॥२२॥

(हे प्रभो,) इसलिए कोई उपाय कीजिए। इस भूलोक पर किसी ऐसे वीर पुरुष का अवतार कराइए जो उन म्लेच्छों को भगा दे॥२३॥

जब देवताओं ने यह निवेदन किया तब शंकर ने कहा—अब तुम जाओ, चिन्ता न करो, आश्वस्त होओ॥२४॥

शीघ्र ही मैं इसका कोई-न-कोई उपाय करूँगा। यह कहकर गौरीपति (भगवान् शंकर) ने देवताओं को अपने-अपने स्थान पर लौटा दिया॥२५॥

देवताओं के चले जानेपर पार्वती-सहित भगवान् शंकर ने माल्यवान् नाम के अपने गण को बुलाकर आदेश दिया कि—॥२६॥

तुम मनुष्यों के रूप में अवतार लो और उज्जयिनी नाम की महानगरी में राजा महेन्द्रादित्य का वीर पुत्र होकर जन्म लो॥२७॥

राजा महेन्द्रादित्य मेरा ही अंशस्वरूप है और उसकी पत्नी (भी) गौरी के अंश से उत्पन्न है। उनके घर में जन्म लेकर तुम देवताओं का (एक) कार्य करो॥२८॥

(वह कार्य यह है कि) तुम वैदिक धर्म का नाश करनेवाले उन सारे म्लेच्छों को मार डालो। तुम मेरी कृपा से सातों द्वीपों (समस्त भूमण्डल) पर शासन करनेवाले राजा होओगे॥२९॥

यक्षराक्षसवेताला अपि स्थास्यन्ति ते वशे ।
भुक्त्वा मानुषभोगांश्च पुनरस्मानुपैष्यसि ॥३०॥
इत्यादिष्टः पुरजिता माल्यवान्सोऽब्रवीद्गणः ।
अलङ्घ्या युष्मदाज्ञा मे भोगा मानुष्यके तु के ॥३१॥
यत्र बन्धुसुहृद्भृत्यविप्रयोगाः सुदुःसहाः ।
धननाशजरारोगाद्युद्भवा यत्र च व्यथा ॥३२॥
इति तेन गणेनोक्ते धूर्जटिः प्रत्युवाच तम् ।
गच्छ नैतानि दुःखानि भविष्यन्ति तवानघ ॥३३॥
मत्प्रसादेन सुखितः सर्वकालं भविष्यसि ।
इत्युक्तः शम्भुना सोऽभूददृश्यो माल्यवांस्ततः ॥३४॥
गत्वा चोज्जयिनीं तस्य महेन्द्रादित्यभूभुजः ।
देव्या ऋतुजुषो गर्भे समभूत्स गणोत्तमः ॥३५॥
तत्कालं च निशाकान्तकलाकलितशेखरः ।
देवो महेन्द्रादित्यं तं नृपं स्वप्ने समादिशत् ॥३६॥
तुष्टोऽस्मि तव तद्राजन्स ते पुत्रो भविष्यति ।
आक्रमिष्यति सद्वीपां पृथिवीं विक्रमेण यः ॥३७॥
यक्षरक्षःपिशाचादीन्पातालाकाशगानपि ।
वीरः करिष्यति वशे म्लेच्छसंघान्हनिष्यति ॥३८॥
भविष्यत्यत एवैष विक्रमादित्यसंज्ञकः ।
तथा विषमशीलश्च नाम्ना वैषम्यतोऽरिषु ॥३९॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते देवे प्रबुध्य स महीपतिः ।
प्रातः स्वसचिवेभ्यस्तं हृष्टः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥४०॥
तेऽपि स्वप्ने हरादेशं पुत्रप्राप्तिफलं क्रमात् ।
तस्मै शशंसुः सचिवा राज्ञे प्रमुदितास्तदा ॥४१॥
तावदेत्य फलं साक्षाद्राज्ञेऽन्तःपुरचेटिकाः ।
अदर्शयदिदं देव्यै स्वप्ने शम्भुरदादिति ॥४२॥
ततः स राजा मुमुदे सचिवैरभिनन्दितः ।
सत्यं मम सुतो दत्तः शर्वेणेति मुहुर्वदन् ॥४३॥
अथ राज्ञी सगर्भा सा जज्ञे तस्योर्जितद्युतिः ।
प्राची प्रातरिवोदेष्यत्सहस्रकरमण्डला ॥४४॥

यक्ष, राक्षस और वेताल ये भी तुम्हारे वश में रहेंगे। मनुष्य-जन्म का भोग करके तुम पुनः हमलोगों के पास आ जाओगे ॥३०॥

शंकर का ऐसा आदेश पाकर उस गण माल्यवान् ने कहा—आप की आज्ञा तो शिरोधार्य है; किन्तु मनुष्य-जन्म के भोग क्या हैं ? ॥३१॥

जिस (मनुष्यजन्म) में सम्बन्धियों, मित्रों और अनुचरों के परम असह्य वियोग होते रहते हैं और जिसमें धन के नाश, बुढ़ापे, रोग आदि कारणों से व्यथा होती ही रहती है ? ॥३२॥

उस गण के ऐसा कहने पर शंकर ने उत्तर दिया कि हे पुण्यवान्, तुम्हें ये दुःख नहीं होंगे ॥३३॥

मेरी कृपा से तुम सदा सुखी रहोगे। शंकर के ऐसा कहने पर माल्यवान् वहाँ से अदृश्य हो गया ॥३४॥

और, उज्जयिनी जाकर वह राजा महेन्द्रादित्य की ऋतुमती रानी के गर्भ में उत्पन्न हुआ ॥३५॥

उसी समय भगवान् शिव ने राजा महेन्द्रादित्य को स्वप्न में यह आदेश दिया कि— ॥३६॥

मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, अतः तुम्हें ऐसा पुत्र होगा, जो अपने पराक्रम से द्वीपों-समेत (समस्त) पृथ्वी पर प्रभुत्व करेगा ॥३७॥

वह वीर पुत्र पाताल और आकाश में चलनेवाले यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि को भी वश में करेगा, और म्लेच्छों के समूहों का संहार करेगा ॥३८॥

इसीलिए, उसका नाम विक्रमादित्य होगा, तथा वह शत्रुओं के लिए विषम (कठिन) होगा इसलिए उसका (एक) नाम 'विषमशील' भी होगा ॥३९॥

इतना कहकर भगवान् शंकर अन्तर्हित हो गये। तब वह राजा जागा और सुबह होने पर प्रसन्न हो (अपने) मन्त्रियों से स्वप्न का वृत्तान्त कह सुनाया ॥४०॥

तब आनन्दित हुए उन मन्त्रियों ने भी एक-एक कर अपना-अपना सपना सुनाया कि स्वप्न में शिव ने कहा है कि उन्हें भी पुत्रलाभ होगा ॥४१॥

इतने में अन्तःपुर की चेरियों ने आकर राजा को एक प्रत्यक्ष फल दिखलाया (और कहा कि) यह फल भगवान् शंकर ने सपने में रानी को दिया है ॥४२॥

मन्त्रियों ने (इस शुभोदय के अवसर पर) राजा का अभिनन्दन किया, और राजा प्रमुदित हो बार-बार कहने लगा कि सचमुच ही भगवान् शंकर ने मुझे पुत्र दिया है ॥४३॥

तदनन्तर, उसकी रानी गर्भवती हुई और एक तेजोमय शोभा पाने लगी तथा ऐसी लगने लगी जैसे उदीयमान सूर्य के रश्मि-जाल से युक्त प्रभातकालिक पूर्व दिशा हो ॥४४॥

चकाशे सा च कुचयोः श्यामया चूचुकत्विषा ।
गर्भस्थस्येव सम्राजः स्तन्यरक्षणमुद्रया ॥४५॥

स्वप्ने सप्तापि जलधीनुत्ततार च सा तदा ।
प्रणम्यमाना निखिलैर्यक्षवेतालराक्षसैः ॥४६॥

प्राप्ते च समये पुत्रं सा सूते स्म महस्विनम् ।
नभोऽर्केणेव बालेन येनाभास्यत वासकम् ॥४७॥

जाते च तस्मिन्निपतत्पुष्पवृष्टिप्रहासिनी ।
द्यौरराजत गीर्वाणदुन्दुभिध्वनिनादिनी ॥४८॥

क्षीबेव भूताविष्टेव वातक्षोभावृतेव च ।
तत्कालमुत्सवानन्दव्याकुला साभवत्पुरी ॥४९॥

तदा च तत्राविरतं वसु राजनि वर्षति ।
सौगतव्यतिरेकेण नासीत्कश्चिदनीश्वरः ॥५०॥

नाम्ना तं विक्रमादित्यं हरोक्तेनाकरोत्पिता ।
तथा विषमशीलं च महेन्द्रादित्यभूपतिः ॥५१॥

गतेष्वन्येषु दिवसेष्वत्र तस्य महीभुजः ।
सुमतेर्मन्त्रिणः पुत्रो जज्ञे नाम्ना महामतिः ॥५२॥

क्षत्तुर्वज्रायुधस्यापि पुत्रो भद्रायुधोऽजनि ।
श्रीधरोऽजायत सुतो महीधरपुरोधसः ॥५३॥

तैस्त्रिभिर्मन्त्रितनयैः सह राजसुतोऽत्र सः ।
ववृधे विक्रमादित्यस्तेजोवीर्यबलैरिव ॥५४॥

उपनीतस्य विद्यासु गुरवो हेतुमात्रताम् ।
ययुस्तस्याप्रयासेन प्रादुरासन्स्वयं तु ताः ॥५५॥

ददृशे स प्रयुञ्जानो यां यां विद्यां कलां तथा ।
सैव सैवासमोत्कर्षा तस्य तज्ज्ञैरबुध्यत ॥५६॥

दिव्यास्त्रयोधिनं तं च पश्यन्राजसुतं जनाः ।
मन्दादरोऽभूद्रामादिधनुर्धरकथास्वपि ॥५७॥

आक्रान्तोपनतैर्दत्ताः कन्या रूपवतीर्नृपैः ।
आजहार पिता तस्य तास्तः श्रिय इवापराः ॥५८॥

उसके स्तनों के अग्रभाग श्याम वर्ण के हो गये, इससे वह रानी ऐसी शोभा पाने लगी, मानों गर्भ में वर्त्तमान सम्राट् के दूध की रक्षा के लिए (रानी के स्तनों पर) मुहर लगा दी गई हो। ॥४५॥

और, रानी ने सपने में देखा कि मैंने सातों समुद्र पार किये और सभी यक्ष, वेताल और राक्षस मुझे प्रणाम कर रहे हैं॥४६॥

(प्रसव का) समय आने पर रानी ने एक अत्यन्त तेजस्वी पुत्र जना, जिससे वह आँगन वैसे चमक उठा, जैसे बाल-रवि से आकाश (चमक उठता है) ॥४७॥

उस पुत्र के उत्पन्न होते ही झड़ते हुए फूलों की वृष्टि से आकाश खिलखिला कर हँसने लगा तथा देवताओं द्वारा बजाये गये ढोलों की ध्वनि से निनादित हो उठा॥४८॥

उस समय उज्जयिनी नगरी (पुत्र-जन्म के) उत्सव के आनन्द में इस भाँति बावरी हो गई, मानो (मद पीकर) मत्त हो गई हो, भूत लग गया हो, अथवा बवण्डर में फँस गई हो॥४९॥

उस समय राजा महेन्द्रादित्य वहाँ जो धन की अविरत वृष्टि (दान) करने लगे (उसके फलस्वरूप) सौगतों (बौद्ध नास्तिकों) को छोड़ कोई अनीश्वर[1] नहीं रहा (अर्थात्, सभी लोग मालिक बन गये) ॥५०॥

उसके पिता राजा महेन्द्रादित्य ने भगवान् शंकर के आदेशानुसार उसका नाम विक्रमादित्य और विषमशील रखा॥५१॥

कुछ और दिन बीतने पर वहाँ उस राजा के मन्त्री सुमति को भी एक पुत्र हुआ, जिसका नाम महामति रखा गया॥५२॥

उसके प्रतिहार वज्रायुध को भी भद्रायुध नाम का पुत्र हुआ तथा उसके पुरोहित महीधर को श्रीधर नाम का पुत्र हुआ॥५३॥

उन तीनों मन्त्रियों के लड़कों के साथ राजकुमार विक्रमादित्य, मानों अपने तेज, वीरता और शक्ति के साथ ही, धीरे-धीरे बढ़ने लगा॥५४॥

(विद्याध्ययन के लिए जब) वह राजकुमार उपनीत (उपनयन-संस्कार से युक्त होकर) हुआ (गुरु के यहाँ लाया गया) तब विद्याओं (की प्राप्ति) में गुरु निमित्तमात्र ही हुए; क्योंकि सारी विद्याएँ अनायास स्वयं प्रकट हो गईं॥५५॥

राजकुमार ने प्रयोग (अभ्यास) करते हुए जो-जो विद्या तथा कला दिखलाई; उसी को उसके विशेषज्ञों ने अद्वितीय कोटि का माना॥५६॥

जब लोगों ने उसे दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करते देखा, तब राम आदि धनुर्विद्या-विशारदों की कहानी के प्रति उनकी आस्था कम हो गई॥५७॥

पराजित राजाओं के द्वारा समर्पित की गई नाना रूपवती कन्याएँ उसके पिता ने उसके लिए इकट्ठी ला दी, मानों दूसरी लक्ष्मियाँ (ला दी हों) ॥५८॥

---

[1] यहाँ अनीश्वर शब्द का बौद्धों के विषय में दूसरा अर्थ है—ईश्वर को न माननेवाला, नास्तिक।—अनु०

ततश्च यौवनस्थं तं विलोक्य प्राज्यविक्रमम्।
अभिषिच्य सुतं राज्ये यथाविधि जनप्रियम् ॥५९॥
महेन्द्रादित्यनृपतिः सभार्यासचिवोऽपि सः।
वृद्धो वाराणसीं गत्वा शरणं शिश्रिये शिवम् ॥६०॥
सोऽपि तद्विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य पैतृकम्।
नभो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितुं क्रमात् ॥६१॥
दृष्ट्वैव तेन कोदण्डे नमत्यारोपितं गुणम्।
तच्छिक्षयेवोच्छिरसोऽप्यानमन्सर्वतो नृपाः ॥६२॥
दिव्यानुभावो वेतालराक्षसप्रभृतीनपि।
साधयित्वानुशास्ति स्म सम्यगुन्मार्गवर्त्तिनः ॥६३॥
प्रसाधयन्त्यः ककुभः सेनास्तस्य महीतले।
निश्चेरुर्विक्रमादित्यस्यादित्यस्येव रश्मयः ॥६४॥
महावीरोऽप्यभूद्राजा स भीरुः परलोकतः।
शूरोऽपि चाचण्डकरः कुभर्त्ताप्यङ्गनाप्रियः ॥६५॥
स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः स प्रजानां कः स नाभवत् ॥६६॥
श्वेतद्वीपस्य दुग्धाब्धेः कैलासहिमशैलयोः।
निर्माणे तद्यशो नूनमुपमानमभूद्विधेः ॥६७॥
एकदा च तमास्थानगतं भद्रायुधो नृपम्।
प्रविश्य विक्रमादित्यं प्रतीहारो व्यजिज्ञपत् ॥६८॥
प्रेषितस्य ससैन्यस्य दक्षिणाशाविनिर्जये।
पार्श्वं विक्रमशक्तेर्यो देवेन प्रेषितोऽभवत् ॥६९॥
स दूतोऽनङ्गदेवोऽयमागतो द्वारि तिष्ठति।
सद्वितीयो मुखं चास्य हृष्टं वक्ति शुभं प्रभो ॥७०॥
प्रविशत्विति राज्ञोक्ते सद्वितीयं स तत्र तम्।
प्रावेशयत्प्रतीहारोऽनङ्गदेवं सगौरवम् ॥७१॥
प्रविष्टः सप्रणामं च जयशब्दमुदीर्य सः।
उपविष्टोऽग्रतो दूतस्तेनापृच्छ्यत भूभुजा ॥७२॥
कच्चिद्विक्रमशक्तिः स सेनानी कुशली नृपः।
कच्चिद्द्याप्रबलाव्यश्च नृपाः कुशलिनोऽपरे ॥७३॥

तब (अपने) उस जनप्रिय पुत्र को परम पराक्रमी युवा देखकर वृद्ध राजा महेन्द्रादित्य ने उसे राज्यपर विधिवत् अभिषिक्त करके स्वयं स्त्री और मन्त्री के साथ वाराणसी जाकर विश्वनाथ की शरण में रहने लगा ॥५९-६०॥

विक्रमादित्य भी पिता का राज्य प्राप्त कर (राज्य में अपना) प्रताप क्रमशः फैलाने लगा जैसे सूर्य (अपना प्रताप) आकाश में (फैलाता है) ॥६१॥

राजा विक्रमादित्य को नत किये हुए धनुष पर गुण (डोरी) चढ़ाते देख, चारों ओर के राजे मानों उसी से शिक्षा लेकर उन्नत-मंस्तक होते हुए भी स्वयं नत हो गये ॥६२॥

अलौकिक प्रभाववाले राजा विक्रमादित्य ने अनुचित मार्ग पर चलनेवाले वेताल, राक्षस आदि को भी दबाकर के अनुशासित किया ॥६३॥

विक्रमादित्य की सेनाएँ सूर्य की किरणों की तरह सभी दिशाओं को भूषित करती हुई पृथ्वीतल पर विचरण करती थीं ॥६४॥

वह राजा महाबीर होते हुए भी परलोक से डरता था, शूर होते हुए भी कड़े कर[1] वाला नहीं था कुभर्ता[2] होते हुए भी पत्नी को प्यार करनेवाला था ॥६५॥

वह पितृहीनों का पिता था, बन्धु-हीनों का बन्धु था और अनाथों का नाथ था। इस प्रकार वह प्रजाओं के लिए क्या-क्या न था ॥६६॥

श्वेतद्वीप, क्षीरसागर, कैलास और हिमालय बनाने में विधाता के सम्मुख निश्चय ही विक्रमादित्य का यश उपमान रहा होगा। ॥६७॥

एक समय जब राजा विक्रमादित्य सभा-भवन में बैठा था, तब प्रतीहार भद्रायुध ने आकर निवेदन किया कि— ॥६८॥

(हे महाराज,) दक्षिण दिशा को जीतने के लिए सेना-सहित भेजे गये श्रीविक्रमशक्ति के पास जो (दूत) आपने भेजा था वह अनङ्गदेव नाम का दूत साथी-सहित आकर यहाँ द्वार पर खड़ा है। हे प्रभो, उसका प्रसन्न मुख कोई शुभ (संवाद) प्रकट कर रहा है ॥६९-७०॥

राजा ने कहा—उसे आने दो। तब वह प्रतीहार एक साथी-सहित अनंगदेव को आदर के साथ भीतर ले आया ॥७१॥

भीतर आकर उस दूत ने प्रणाम किया, जयघोष किया और सामने बैठ गया। तब राजा ने पूछा— ॥७२॥

सेनापति राजा विक्रमशक्ति सकुशल तो हैं? व्याघ्रबल आदि अन्य राजे भी सकुशल तो हैं? ॥७३॥

---

[1] 'कर' का अर्थ हाथ और 'टैक्स' दोनों है।

[2] 'कुभर्त्ता' के दो अर्थ हैं—खराब पति और पृथ्वी का पालक।

अन्येषां राजपुत्राणां प्रधानानां च तद्बले ।
कच्चिच्छिवं गजाश्वस्य रथपादातकस्य च ॥७४॥

इति भूमिभृता पृष्टोऽनङ्गदेवो जगाद सः ।
शिवं विक्रमशक्तेश्च सैन्यस्य सकलस्य च ॥७५॥

सापरान्तश्च देवेन निर्जितो दक्षिणापथः ।
मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सवङ्गाङ्गा च पूर्वदिक् ॥७६॥

सकश्मीरा च कौबेरी काष्ठा च करदीकृता ।
तानि तान्यपि दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च ॥७७॥

म्लेच्छसङ्घाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे ।
ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः ॥७८॥

स च विक्रमशक्तिस्तै राजाभिः सममागतः ।
इतः प्रयाणकेष्वास्ते द्वित्रेष्वेव खलु प्रभो ॥७९॥

एवमाख्यातवन्तं तं तुष्टो वस्त्रैर्विभूषणैः ।
ग्रामैश्च विक्रमादित्यो दूतं राजाभ्यपूरयत् ॥८०॥

अथ पप्रच्छ नृपतिः स तं दूतवरं पुनः ।
अनङ्गदेव के देशा गतेनात्र विलोकिताः ॥८१॥

त्वया कुत्र च किं दृष्टं कौतुकं भद्र कथ्यताम् ।
इत्युक्तो भूभृतानङ्गदेवो वक्तुं प्रचक्रमे ॥८२॥

इतो देवाज्ञया देव गत्वाहं प्राप्तवान्क्रमात् ।
पार्श्वे विक्रमशक्तिस्तं सेनासमुदयं तव ॥८३॥

मिलितानन्तनागेन्द्रसश्रीकहरिशोभितम्
समुद्रमिव विस्तीर्णं सपक्षक्ष्माभृदाश्रितम् ॥८४॥

उपागतश्च तत्राहं तेन विक्रमशक्तिना ।
प्रभुणा प्रेषित इति प्रणतेनातिसत्कृतः ॥८५॥

तावत्तिष्ठामि विजयस्वरूपं प्रविलोकयन् ।
सिंहलेश्वरसम्बन्धी दूतस्तावदुपागमत् ॥८६॥

उसकी सेना के प्रधान और-और राजपुत्रों की कुशल तो है? तथा, हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सैनिकों का मंगल तो है? ॥७४॥

राजा के ऐसा पूछने पर अनंगदेव ने कहा—विक्रमशक्ति तथा सारी सेनाएँ सकुशल हैं ॥७५॥

श्रीमान् ने पश्चिम सीमाप्रदेश सहित-दक्षिणपथ को जीत लिया, सौराष्ट्र-सहित मध्य-देश को और अंग-बंग-सहित पूरब को भी जीत लिया ॥७६॥

कश्मीर-सहित उत्तर दिशा को भी श्रीमान् ने करद (टैक्स चुकानेवाला) बना लिया। वे सारे दुर्ग और द्वीप भी जीते ॥७७॥

म्लेच्छों के दल मारे गये तथा जो बचे, वे वश में कर लिये गये और वे सारे राजे विक्रम-शक्ति के कटक (फौज) के भीतर आ गये ॥७८॥

विक्रमशक्ति उन राजाओं के साथ आ रहा है और हे प्रभो, वह (यहाँ से) दो-ही-तीन प्रयाणकों[1] पर है ॥७९॥

ऐसा कहने पर उस दूत को राजा विक्रमादित्य ने सन्तुष्ट हो नाना वस्त्र, भूषण और गाँव (इनाम) देकर भरा-पूरा कर दिया ॥८०॥

इसके बाद राजा विक्रमादित्य ने उस श्रेष्ठ दूत से पुनः कहा—हे अनंगदेव, कहाँ जानेपर तुमने कौन-कौन से देश देखे? ॥८१॥

हे भद्र, और तुमने कहाँ कौन-कौन-सी कुतूहलजनक वस्तुएँ देखीं—यह सुनाओ तो। राजा के ऐसा कहने पर अनंगदेव कहने लगा— ॥८२॥

हे देव, मैं आपकी आज्ञा से जाते-जाते क्रमशः आपके विक्रमशक्ति के उस सेना-समूह के पास पहुँचा ॥८३॥

जो अनन्त नागेन्द्र से युक्त, श्रीसहित हरि से सुशोभित, सपक्ष क्ष्माभृत से सेवित विस्तीर्ण समुद्र-सा लगता था [यहाँ कई विशेषण दो अर्थ रखते हैं, एक अर्थ समुद्र के विषय में लागू होता है और दूसरा अर्थ सेना-समूह के विषय में; जैसे सेना-समूह के विषय में अनन्त नागेन्द्र का अर्थ है—अनेकानेक हाथी, श्रीसहित हरि का अर्थ है—शोभा से युक्त घोड़े, सपक्ष क्ष्माभृत् का अर्थ है—मित्रपक्ष के राजा; किन्तु समुद्र के विषय में अनन्त नागेन्द्र हुआ अनन्त नाम का नागराज (शेषनाग), श्रीसहित हरि का अर्थ हुआ लक्ष्मी-नारायण, और सपक्ष-क्ष्माभृत् का अर्थ हुआ पाँखोंवाला पर्वत—मैनाक] ॥८४॥

जब मैं वहाँ पहुँचा, तब यह जानकर कि श्रीमान् ने मुझे भेजा है, विक्रमशक्ति ने विनीत भाव से मेरा खूब आदर किया ॥८५॥

(फिर) जबतक मैं विजय का रंग देखता रहा, तबतक सिंहलेश्वर (लङ्का के राजा) का दूत वहाँ आ पहुँचा ॥८६॥

---

[1] प्रयाणक उतनी दूरी को कहते हैं, जितनी दूरी तक (दिनकी) यात्रा में तय की जाती है।

राज्ञो हृदयभूतस्तेऽनङ्गदेवः स्थितोऽन्तिके।
इति मे कथितं दूतैस्त्वत्पार्श्वप्रहितागतैः ॥८७॥
तदेतं त्वरयानङ्गदेवं प्रहिणु मेऽन्तिकम्।
कल्याणमस्य वक्ष्यामि राजकार्यं हि किञ्चन ॥८८॥
इति स्वप्रभुवाक्यं च स दूतः सिंहलागतः।
मत्सन्निधाने वक्तिस्म तस्मै विक्रमशक्तये ॥८९॥
ततो विक्रमशक्तिर्मामवदद्गच्छ सत्वरम्।
सिंहलेशान्तिकं पश्य त्वन्मुखे किं ब्रवीति सः ॥९०॥
अथाहं सिंहलाधीशदूतेन सह तेन तत्।
अगच्छं सिंहलद्वीपं वहनेनाब्धिवर्त्मना ॥९१॥
राजधानीं च तत्राहमपश्यं हेमनिर्मिताम्।
विचित्ररत्नप्रासादां गीर्वाणनगरीमिव ॥९२॥
तस्यां च वीरसेनं तमद्राक्षं सिंहलेश्वरम्।
वृतं विनीतैः सचिवैः सुरैरिव शतक्रतुम् ॥९३॥
स मामुपेतमादृत्य पृष्ट्वा च कुशलं प्रभोः।
राजा विश्रमयामास सत्कारेणात्र भूयसा ॥९४॥
अन्येद्युरास्थानगतो मामाहूय स भूपतिः।
युष्मासु दर्शयन्भक्तिमवोचन्मन्त्रिसंनिधौ ॥९५॥
अस्ति मे दुहिता कन्या मर्त्यलोकैकसुन्दरी।
नाम्ना मदनलेखेति तां च राज्ञे ददामि वः ॥९६॥
तस्यानुरूपा भार्या सा स तस्याश्चोचितः पतिः।
एतदर्थं त्वमाहूतस्त्वत्स्वाम्यर्थं प्रतीप्सता ॥९७॥
गच्छ च स्वामिने वक्तुं मद्दूतेन सहाग्रतः।
अहं तवैवानुपदं प्रहेष्याम्यत्र चात्मजाम् ॥९८॥
उक्त्वेत्यानाययामास स राजा तत्र तां सुताम्।
भूषिताभरणाभोगां रूपलावण्ययौवनैः ॥९९॥
उपवेश्य च तामङ्के दर्शयित्वा जगाद माम्।
त्वत्स्वामिने मया दत्ता कन्येयं गृह्यतामिति ॥१००॥
अहं च राजपुत्रीं तां दृष्ट्वा तद्रूपविस्मितः।
प्रतीप्सितैषा राजार्थं मयेति मुदितोऽभवं ॥१०१॥

सिंहल से आये हुए उस दूत ने मेरे सामने अपने मालिक (सिंहलेश्वर) का संवाद विक्रमशक्ति को सुनाया—"आपके यहाँ से भेजे गयें जो दूत (यहाँ सिंहल) आये हैं, उन्होंने मुझसे कहा है कि राजा (विक्रमादित्य) का हार्दिक मित्र अननंगदेव आप (विक्रमशक्ति) के पास आया हुआ है। इसलिए, आप (से अनुरोध है कि) उस अननंगदेव को मेरे पास शीघ्र भेजें; क्योंकि उसे राजा (विक्रमादित्य) के बारे में कुछ शुभ संवाद कहना है॥८७—८९॥

तब विक्रमशक्ति ने मुझसे कहा—तुम झटपट सिंहलेश्वर के पास जाओ, और देखो कि वह तुम्हारे मुँह से क्या संवाद कहता है॥९०॥

तदनन्तर, मैं सिंहलेश्वर के उस दूत के साथ समुद्रगामी जहाज से सिंहलद्वीप चला गया॥९१॥

वहाँ मैंने सोने की बनी राजधानी देखी। जहाँ अद्‌भुत रत्नमय भवन थे और जो स्वर्ग पुरी-सी लगती थी॥९२॥

उस राजधानी में विनीत मन्त्रियों से घिरे सिंहलेश्वर वीरसेन को देखा, जो लगता था, मानों देवताओं से घिरे देवराज इन्द्र हों॥९३॥

जब मैं राजा वीरसेन के पास पहुँचा, तब उसने मेरा सत्कार किया, श्रीमान् (विक्रमादित्य) का कुशल-क्षेम पूछा और परम आदर के साथ वहाँ विश्राम कराया॥९४॥

दूसरे दिन सभा-भवन में बैठे हुए राजा वीरसेन ने मन्त्रियों के सामने मुझे बुलाकर आपलोगों के प्रति भक्ति-भाव प्रकट करते हुए मुझसे कहा—॥९५॥

मेरी एक कुमारी लड़की है, जो सारे मर्त्यलोक में सब से अधिक सुन्दरी है। उसका नाम मदनलेखा है। वह कन्या मैं आप लोगों के राजा (विक्रमादित्य) को देता हूँ[1]॥९६॥

उन राजा के योग्य वही होगी और उस कन्या के योग्य वही पति होंगे। इसीलिए, तुम्हारे प्रभु (विक्रमादित्य) के कल्याण की कामना करते हुए मैंने तुम्हें बुलाया है। ॥९७॥

अपने स्वामी को (यह बात) कहने के लिए तुम मेरे दूत के साथ आगे जाओ, और मैं तुम्हारे पीछे ही वहाँ अपनी लड़की को भेजूँगा॥९८॥

इतना कहकर राजा वीरसेन ने वहाँ अपनी कन्या को बुलवाया। जिसका शरीर ही अपने रूप से, कान्ति से और यौवन से भूषणों को भूषित कर रहा था (अर्थात्, उसके भूषण उसके शरीर की शोभा क्या बढ़ायेंगे, प्रत्युत वे स्वयं ही उस शरीर के सम्पर्क से शोभित हो रहे थे) ॥९९॥

फिर, उस कन्या को अपनी गोद में बैठाकर मुझे दिखाया और कहा कि यह कन्या मैं तुम्हारे प्रभु (विक्रमादित्य) को देता हूँ। इसे स्वीकार करो॥१००॥

मैं उस कन्या को देख उसके सौन्दर्य से चकित हो गया, और प्रसन्न होकर कहा—राजा के निमित्त यह कन्या मैं स्वीकार करता हूँ॥१०१॥

---

[1] कहीं-कहीं 'प्रतीष्यताम्' ऐसा भी पाठ है, तदनुसार यह अर्थ होगा—इसीलिए मैंने तुम्हें बुलाया है कि तुम अपने स्वामी के निमित्त इस कन्या को स्वीकार करो।

अचिन्तयं च नाश्चर्यविधौ तृप्यत्यहो विधिः ।
तदुत्तमामिमां चक्रे यत्कृत्वापि तिलोत्तमाम् ॥१०२॥
ततोऽहं सत्कृतस्तेन राज्ञा प्रस्थितवांस्ततः ।
द्वीपाद्धवलसेनेन तद्दूतेन सहामुना ॥१०३॥
आरुह्य वहनं चावां व्रजावो यावदम्बुधौ ।
तावद्राग्दृष्टवन्तौ स्वस्तन्मध्ये पुलिनं महत् ॥१०४॥
तन्मध्येऽद्भुतरूपे द्वे अपश्याव च कन्यके ।
एकां प्रियङ्गुश्यामाङ्गीमन्यां चन्द्रामलद्युतिम् ॥१०५॥
स्वस्ववर्णोचितोपात्तवस्त्राभरणशोभिते ।
सरत्नकङ्कणक्वाणवितीर्णकरतालिके ॥१०६॥
प्रनर्त्तयन्त्यौ पुरतः क्रीडाहरिणपोतकम् ।
अपि जाम्बूनदमयं सजीवं रत्नचित्रितम् ॥१०७॥
तद्दृष्ट्वान्योन्यमावाभ्यां विस्मिताभ्यामभण्यत ।
अहो किमिदमाश्चर्यं स्वप्नो माया भ्रमो नु किम् ॥१०८॥
क्वाब्धावकाण्डे पुलिनं क्वेदृश्यौ तत्र कन्यके ।
क्व चेदृग्रत्नचित्राङ्गो जीवन्हेममृगोऽनयोः ॥१०९॥
इत्यादि वदतोरेव देव साश्चर्यमावयोः ।
वायुः प्रावर्त्तताकस्माद्वातुमुद्वेल्लिताम्बुधिः ॥११०॥
तेनास्मद्वहनं वेल्लद्वीचिन्यस्तमभज्यत ।
मकरैर्भक्ष्यमाणाश्च ममज्जुस्तद्गता जनाः ॥१११॥
आवां च ताभ्यां कन्याभ्यामेत्यैवालम्ब्य बाहुषु ।
उत्क्षिप्य पुलिनं नीतावप्राप्तमकराननौ ॥११२॥
ऊर्मिभिः पूर्यमाणे च तस्मिन्रोधसि विह्वलौ ।
आश्वास्यावां गुहागर्भमिव ताभ्यां प्रवेशितौ ॥११३॥
ततो वीक्षावहे तावद्दिव्यं नानाद्रुमं वनम् ।
नाम्भोधिर्न तटं नापि मृगशावो न कन्यके ॥११४॥
चित्रं किमेतन्मायेयं नूनं कापीति वादिनौ ।
क्षणं भ्रमन्तौ तत्रावामपश्याव महत्सरः ॥११५॥
स्वच्छगम्भीरविस्तीर्णमाशयं महतामिव ।
तृष्णासन्तापशमनं निर्वाणमिव मूर्त्तिमत् ॥११६॥

और मैंने सोचा—अहो, आश्चर्यों की रचना करने में विधाता अघाता नहीं है। इसीलिए तो तिलोत्तमा की रचना करने के बाद भी उससे भी उत्तम इस कन्या की रचना की है ॥१०२॥

तब मैं राजा वीरसेन से सत्कृत हो उसके दूत इस धवलसेन के साथ सिंहलद्वीप से विदा हुआ ॥१०३॥

जहाज पर चढ़ हम दोनों जब समद्र में जा रहे थे, तब उसी क्षण समद्र के बीच में उभरता-सा एक विशाल पुलिन (दियारा) देखा ॥१०४॥

उस दियारे के बीच में अद्‌भुत रूपवती दो कन्याओं को देखा, जिनमें एक प्रियंगुश्यामा (की लता) के सदृश श्याम वर्ण की थी और दूसरी चाँद-सी निर्मल कान्तिवाली ॥१०५॥

(दोनों कन्याएँ) अपने-अपने वर्ण के अनुरूप वस्त्र और भूषण पहनकर शोभित हो रही थीं और रत्नमय कंगन की खनखनाहट के साथ तालियाँ बजा रही थीं ॥१०६॥

और, अपने सामने में खिलौने के हरिण का बच्चा नचा रही थी। वह हरिण का बच्चा रत्नों से चित्रित स्वर्णमय होते हुए भी सजीव (वास्तविक) था ॥१०७॥

देखकर हम दोनों विस्मित हो एक-दूरे से कहने लगे कि अहो, यह क्या आश्चर्य है? (कहा नहीं जा सकता है कि) यह स्वप्न है? या माया है? या भ्रम है ॥१०८॥

कहाँ यह समुद्र के बीच में असंगत स्थान में दियरा, कहाँ उस जगह वैसी दो कन्याएँ और कहाँ उन दोनों का रत्न-चित्रित शरीरवाला वह स्वर्णमय जीवित हरिण ॥१०९॥

हम लोग इस प्रकार आश्चर्यपूर्वक बातें कर ही रहे थे कि अकस्मात् समुद्र को उछालती हुई आँधी आ गई ॥११०॥

आँधी से हमारा जहाज उछलती तरंगों में पड़कर टूट गया और उसपर जो आदमी, थे वे मगर के भक्ष्य होते हुए डूब मरे ॥१११॥

और उन कन्याओं ने आकर बाँहें पकड़कर हम दोनों को (उस) दियारे पर खींच लिया (तबतक) हम दोनों मगर के मुँह में न पड़े थे ॥११२॥

(समुद्र के) ज्वारों से भरते हुए उस दियारे पर हम दोनों घबरा गये। वे दोनों कन्याएँ ढाढ़स दे कर हमें गुफा-जैसी एक खाई के भीतर ले गईं ॥११३॥

तब हम लोगों ने देखा, भाँति-भाँति के वृक्षों से युक्त एक सुन्दर वन है, न वह समुद्र है, न वह दियारा है, न वह हरिण का बच्चा है और न वे दोनों कन्याएँ हैं ॥११४॥

(हम दोनों आपस में कहने लगे) यह क्या आश्चर्य है! निश्चय, यह कोई माया है—इस प्रकार बातें करते हुए हम क्षण-भर घूमने लगे, कि वहाँ एक विशाल सरोवर दिखा ॥११५॥

वह सरोवर सज्जनों के चित्त की भाँति, निर्मल, गहरा और फैला हुआ था, तथा प्यास और सन्ताप को दूर करनेवाला मानों मूर्त्तिमान् मोक्ष के समान था ॥११६॥

तत्र च स्नातुमायातां साक्षादिव वनश्रियम् ।
परिवारावृतां काञ्चिदपश्याव वराङ्गनाम् ॥११७॥
कर्णीरथावतीर्णा च तत्रोचितसरोरुहा ।
स्नात्वा सरस्यनुध्यानमकरोत्सा पुरद्विषः ॥११८॥
तावदुद्गम्य सरसो विस्मयेन सहावयोः ।
साक्षादुपागान्निकटं तस्या लिङ्गाकृतिः शिवः ॥११९॥
दिव्यरत्नमयं तं सा तैस्तैः स्वविभवोचितैः ।
अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैर्वीणामादत्त सुन्दरी ॥१२०॥
आलम्ब्य दक्षिणं मार्गं स्वरतालपदैस्तथा ।
अवधानेन सा सम्यग्गायन्ती तामवादयत् ॥१२१॥
यथा तच्छ्रवणाकृष्टहृदयो गगनागताः ।
तत्र सिद्धादयोऽप्यासन्निःस्पन्दा लिखिता इव ॥१२२॥
उपसंहृतगान्धर्वा ततः शम्भोर्विसर्जनम् ।
साकरोत्स च तत्रैव देवः सरसि मग्नवान् ॥१२३॥
अथोत्थाय समारुह्य वहनं सपरिच्छदा ।
शनैर्गन्तुं प्रवृत्ताभूत्सा ततो हरिणेक्षणा ॥१२४॥
केयमित्यसकृद्यत्नादावयोः पृच्छतोरपि ।
नोत्तरं तत्परिजनः कोऽप्यदादनुगच्छतोः ॥१२५॥
ततोऽस्य सिंहलद्वीपपतिदूतस्य तावकम् ।
प्रभावं दर्शयिष्यंस्तामित्युच्चैरहमब्रवम् ॥१२६॥
भोः शुभे विक्रमादित्यदेवाङ्घ्रिस्पर्शशापिता ।
त्वं मया यद्यनाख्याय समात्मानं गमिष्यसि ॥१२७॥
तच्छ्रुत्वा परिवारं सा निवार्यैवावरुह्य च ।
वहनान्मामुपागम्य गिरा मधुरयाभ्यधात् ॥१२८॥
कच्चिच्छ्रीविक्रमादित्यदेवः कुशलवान्प्रभुः ।
किं वा पृच्छामि विदितं सर्वं मेऽनङ्गदेव यत् ॥१२९॥
प्रदर्श्य मायामानीतो मयैव हि भवानिह ।
राज्ञोऽर्थे तस्य स हि मे मान्यस्त्राता महाभयात् ॥१३०॥
तदेहि मद्गृहं तत्र सर्वं वक्ष्याम्यहं तव ।
याहं यथा च राजा मे मान्यः कार्यं च तस्य यत् ॥१३१॥

उस सरोवर में स्नान करने आई एक सुन्दरी को देखा, जो परिजनों से घिरी हुई थी और लगती थी, मानों साक्षात् वन-लक्ष्मी हो ॥११७॥

कर्णीरथ (परदेदार घोड़ागाड़ी) से उतरकर उस सुन्दरी ने कमल के फूल चुने, फिर सरोवर में स्नान करके शिवजी का ध्यान किया ॥११८॥

इतने में हम दोनों के विस्मय के साथ ही उस सरोवर से रत्नमय लिंग-स्वरूप शिवजी प्रकट होकर उस (सुन्दरी) के निकट आये ॥११९॥

उस सुन्दरी ने उस दिव्य रत्नमय शिवलिंग को अपने विभव के अनुरूप भाँति-भाँति के भोगों (नैवेद्यों) से पूजकर एक वीणा उठाई ॥१२०॥

और दक्षिणमार्ग का (अर्थात्, दाक्षिणात्य कर्णाटक संगीत की शैली का) अवलम्बन करके मनोयोगपूर्वक स्वर, ताल और चरण-विन्यास के साथ भली भाँति गाती हुई उस वीणा को बजाने लगी ॥१२१॥

जिससे वहाँ आकाश में आये हुए सिद्ध, विद्याधर आदि भी उस गीत को सुनकर आकृष्ट हो इस प्रकार स्तब्ध हो गये मानों चित्रलिखित हों ॥१२२॥

तदनन्तर, गीत समाप्त करके उसने शिवजी का विसर्जन किया और वे (लिंग-स्वरूप शिवजी पुनः) उसी सरोवर में मग्न हो गये ॥१२३॥

उसके बाद हरिण-जैसी आँखोंवाली वह सुन्दरी उठकर परिजन-समेत उस रथ पर चढ़कर धीरे-धीरे जाने लगी ॥१२४॥

उस रथ का पीछा करते हुए हम दोनों ने आयास के साथ बार-बार पूछा कि ये कौन हैं? किन्तु, उसके किसी परिजन ने हमें उत्तर नहीं दिया ॥१२५॥

तब मैंने सिंहलद्वीप के राजा के दूत (धवलसेन) को आप (विक्रमादित्य) का प्रभाव दिखलाने के अभिप्राय से जोर से उस सुन्दरी से कहा—॥१२६॥

हे कल्याणी, मैं राजा विक्रमादित्य के चरणस्पर्श की शपथ से कहता हूँ कि तुम अपना परिचय दिये विना न जा सकोगी ॥१२७॥

यह सुनकर वह अपने परिजनों को रोक, रथ से उतरकर मेरे पास आई और मुझसे मधुर वचन में कहा—॥१२८॥

क्या (हमारे) प्रभु राजा विक्रमादित्य सकुशल हैं? अथवा हे अनंगदेव, पूछूं क्यों? मुझे तो सब ज्ञात ही है ॥१२९॥

उन राजा (विक्रमादित्य) के एक कार्य के लिए मैं ही तो माया दिखलाकर आपको यहाँ ले आई हूँ। क्योंकि, उन्होंने बहुत बड़े संकट से मुझे बचाया है, अतः वे (हमारे लिए) माननीय हैं ॥१३०॥

इसलिए, तुम मेरे घर चलो, वहाँ मैं तुमको सब (हाल) कहूँगी कि मैं कौन हूँ, कैसे वे राजा मेरे लिए मान्य हैं और उनका कार्य क्या है ॥१३१॥

इत्युक्त्वा विनयेन मुक्तवहना पद्भ्यां व्रजन्ती पथि
प्रह्वा सा नयति स्म तौ सुवदना स्वर्गोपमं स्वं पुरम् ।
नानारत्नविचित्रहेमरचितं द्वारेषु नानायुधै-
र्नानारूपधरैश्च वीरपुरुषैरध्यासितं सर्वतः ॥१३२॥
तत्रावृते वरवधूभिरशेषदिव्यभोगौघसिद्धिभिरिवाकृतिशालिनीभिः ।
स्नानानुलेपनसदम्बरभूषणैर्नौ सम्मान्य विश्रमयति स्म च साम्प्रतं सा ॥१३३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
विषमशीललम्बके प्रथमस्तरङ्गः ।

द्वितीयस्तरङ्गः

इत्युक्त्वा विक्रमादित्यदेवाय स्थानवर्त्तिने ।
अनङ्गदेवः पुनरप्येवं कथयति स्म सः ॥१॥
ततो भुक्तोत्तरं सा मां सखीमध्यस्थिताब्रवीत् ।
अनङ्गदेव सर्वं ते कथयाम्यधुना शृणु ॥२॥
एषाहं धनदभ्रातुर्मणिभद्रस्य गेहिनी ।
दुन्दुभेर्यक्षराजस्य सुता मदनमञ्जरी ॥३॥
साहं तीरेषु सरितां शैशेषूपवनेषु च ।
मनोहरेषु व्यहरं भर्त्रा सह सुखं सदा ॥४॥
एकदा च गताभूवमुज्जयिन्यामहं किल ।
उद्यानं मकरन्दाख्यं विहर्त्तुं वल्लभान्विता ॥५॥
तत्र दैवादुषस्येकः खण्डकापालिकाधमः ।
विहारश्रमसंसुप्तप्रबुद्धां पश्यति स्म माम् ॥६॥
स कामवशगः पापो भार्यत्वे होमकर्मणा ।
मन्त्रेण मां साधयितुं प्रावर्त्तिष्ट श्मशानगः ॥७॥
तदहं स्वप्रभावेण बुद्ध्वा भर्त्रे न्यवेदयम् ।
तेनाप्यावेदितं भ्रातुर्ज्यायसो धनदस्य तत् ॥८॥
धनाध्यक्षेण गत्वा च विज्ञप्तः कमलोद्भवः ।
स चापि भगवानेवं ब्रह्मा ध्यात्वा तमभ्यधात् ॥९॥
सत्यं स भ्रातृजायां ते कपाली हर्त्तुमुद्यतः ।
यक्षसाधनमन्त्राणां शक्तिस्तेषां हि तादृशी ॥१०॥

इतना कहकर नम्रतावश रथ को छोड़कर पैदल ही रास्ता चलती हुई वह विनीत सुन्दरी हम दोनों को स्वर्ग के समान अपने नगर में ले गई, जो (नगर) भाँति-भाँति के रत्नों से चित्रित स्वर्ण से बना था और जहाँ नाना प्रकार के अस्त्रों से युक्त नाना रूपवाले वीर सिपाही द्वारों पर सर्वत्र तैनात थे ॥१३२॥

वहाँ स्नान, चन्दन, अच्छे वस्त्रों और भूषणों से सम्मानित करके उस सुन्दरी ने हमें तत्काल विश्राम कराया, जहाँ रूपवती वरंगनाएँ (सेवा के लिए) तैनात थीं, मानों वे समस्त स्वर्गीय भोगों की (साक्षात्) सिद्धियाँ हों ॥१३३॥

महाकवि श्रीसोमदेव भट्ट विरचित कथासरित्सागर के विषमशीललम्बक का प्रथम तरंग समाप्त हुआ।

द्वितीय तरंग

सभा-भवन में बैठे राजा विक्रमादित्य को इतनी दूर तक की कहानी सुनाकर अनंगदेव पुनः इस प्रकार कहने लगा—॥१॥

तदनन्तर, भोजन के बाद सखियों के बीच में बैठी हुई उस सुन्दरी ने मुझसे कहा—अनंगदेव, सुनो अब मैं तुम्हें सारा हाल सुनाती हूँ ॥२॥

मैं कुबेर के भाई मणिभद्र की पत्नी हूँ और यक्षराज दुन्दुभि की लड़की हूँ। मेरा नाम मदनमंजरी है ॥३॥

मैं नदी के तटों में, मनोहर पर्वतों पर और उपवनों में पति के साथ सदा सानन्द विहार करती रहती हूँ ॥४॥

एक समय मैं उज्जयिनी नगरी में पति के साथ विहार करने के लिए मकरन्द नामक उद्यान गई थी ॥५॥

वहाँ विहार (घूमने) के श्रम से थककर मैं सो गई और जब भोर में जगी तब दैव-योग से एक दुष्ट खण्डकापालिक (एक प्रकार के योगी) ने मुझे देख लिया ॥६॥

(मुझे देखते ही) काम के वशीभूत होकर वह पापी श्मशान जा मन्त्र और हवन के द्वारा मुझे पत्नी बनाने की साधना करने लगा ॥७॥

मैं अपने प्रभाव से यह बात जान गई और (अपने) स्वामी से सारा हाल कह सुनाया, और उन्होंने भी यह बात अपने बड़े भाई कुबेर से कह सुनाई ॥८॥

और कुबेर ने ब्रह्मा से जाकर कहा, और तब भगवान् ब्रह्मा ने ध्यान करके कुबेर से कहा—॥९॥

सचमुच ही वह कापालिक आपके भाई की स्त्री (मदनमंजरी) को हरण करने की चेष्टा कर रहा है; क्योंकि यक्ष को सिद्ध करने के उन मन्त्रों में वैसी शक्ति है ही ॥१०॥

तया तु विक्रमादित्यो मन्त्रेणाकृष्यमाणया ।
आक्रन्दनीयो नृपतिः स रक्षिष्यति तां ततः ॥११॥
एतद्ब्रह्मवचोऽभ्येत्य मद्भर्त्रे धनदोऽब्रवीत् ।
मद्भर्ता मह्यमाह स्म कुमन्त्रचकितात्मने ॥१२॥
तावच्च क्रमसिद्धेन मन्त्रेणाकृष्टवान्स ताम् ।
होमं कुर्वञ्श्मशानस्थः खण्डकापालिकः स्वतः ॥१३॥
अहं च मन्त्राकृष्टा तद्वित्रस्ता पितृकाननम् ।
प्रापमस्थिकपालाढ्यं भैरवं भूतसेवितम् ॥१४॥
तत्रापश्यं च तं दुष्टकापालिकमहं तदा ।
हुताग्निमर्चितोत्तानशवाधिष्ठितमण्डलम् ॥१५॥
स च कापालिकः प्राप्तां दृष्ट्वा मां दर्पमोहितः ।
अगात्कथंचिदाचान्तुं नदीं दैवाददूरगाम् ॥१६॥
तत्क्षणं संस्मृतब्रह्मवचनाहमचिन्तयम् ।
किं नाक्रन्दामि राजानं स रात्रौ जात्विह भ्रमेत् ॥१७॥
इत्येतच्चिन्तयित्वोच्चैस्तत्राक्रन्दितवत्यहम् ।
परित्रायस्व मां देव विक्रमादित्य भूपते ॥१८॥
जगद्रक्षामणे पश्य बलात्कुलवधूं सतीम् ।
गृहिणीं मणिभद्रस्य धनाध्यक्षानुजन्मनः ॥१९॥
दुन्दुभेस्तनयां यक्षीं नाम्ना मदनमञ्जरीम् ।
कापालिकोऽयं त्वद्राज्ये मां ध्वंसयितुमुद्यतः ॥२०॥
इत्याक्रन्दितवत्येव ज्वलन्तमिव तेजसा ।
कृपाणपाणिमायान्तं तमद्राक्षमहं नृपम् ॥२१॥
स च मामवदद्भद्रे मा भैषीर्निर्वृता भव ।
अहं कापालिकादस्माद्रक्षामि भवतीं शुभे ॥२२॥
को हि राज्ये ममाधर्ममीदृशं कर्तुमीश्वरः ।
इत्युक्त्वाग्निशिखं नाम वेतालं स समाह्वयत् ॥२३॥
स चाहूतो ज्वलन्नेत्रः पांशुरूर्ध्वशिरोरुहः ।
उपेत्यैवाब्रवीद्भूपं किं करोम्यादिशेति तम् ॥२४॥
अथ राजाब्रवीदेष परदारापहारकृत् ।
पापः कापालिको हत्वा भवता भक्ष्यतामिति ॥२५॥

किन्तु, जब मन्त्र उसे आकृष्ट करने लगेगा, तब वह चिल्लाकर राजा विक्रमादित्य को पुकारेगी, वे ही उसे उस कापालिक से बचायेंगे॥११॥

ब्रह्मा का यह वचन कुबेर ने मेरे पति से आकर कहा। मेरे पति ने मुझसे कहा, जब मेरी आत्मा उस बुरे मन्त्र से चकित आतंकित—थी॥१२॥

तब वह खण्ड कापालिक श्मशान में बैठा होम करता हुआ क्रमशः सिद्ध हुए मन्त्र से मुझे स्वतः खींचने लगा॥१३॥

और मैं उस मन्त्र से खिचती हुई सन्त्रस्त हो गई और उस श्मशान में पहुँची, जो हड्डियों और खोपड़ियों से व्याप्त था, भूतों से युक्त था और भयंकर लगता था॥१४॥

तब वहाँ मैंने उस दुष्ट कापालिक को देखा। उसने अग्नि में हवन किया और उत्तान शवपर चढ़कर घूम- घूमकर पूजा की॥१५॥

और, वह कापालिक मुझे आया देख घमण्ड से चूर हो दैवप्रेरित-सा किसी तरह निकटवर्त्ती नदी में आचमन करने गया॥१६॥

उसी समय ब्रह्मा का वचन मुझे स्मरण हुआ और मैंने सोचा राजा विक्रमादित्य को ही क्यों न पुकारूँ? हो सकता है कि वह रात में यहीं कहीं घूम रहे हों॥१७॥

यह सोचकर मैं जोर जोर से पुकारने लगी—संसार की रक्षा करनेवालों के सिरमौर विक्रमादित्य! देखो तो मैं, कुबेर के छोटे भाई मणिभद्र की पत्नी, दुन्दुभि की बेटी मदनमंजरी हूँ, और यह कापालिक तुम्हारे राज्य में बलात् मेरा सतीत्व नष्ट करना चाहता है॥१८-२०॥

इस प्रकार पुकारते हुए मैंने देखा कि मानों तेज से जलते हुये हाथ में तलवार लिए राजा विक्रमादित्य आ रहे हैं॥२१॥

आते ही बोले—'कल्याणी, डरो मत, निश्चिन्त हो जाओ। शुभे, मैं इस कापालिक से तुम्हारी रक्षा करूँगा॥२२॥

मेरे राज्य में कौन ऐसा अधर्म कर सकता है?' यह कहकर उन्होंने अग्निशिख नाम के बेताल को बुलाया॥२३॥

बुलाते ही वह बेताल आ पहुँचा। उसकी आँखें जलती-सी लगती थीं, वह बहुत लम्बा था, और उसके बाल ऊपर की ओर खड़े थे। उसने राजा विक्रमादित्य से कहा—आज्ञा कीजिए, मैं क्या करूँ? ॥२४॥

राजा ने कहा—पराई स्त्री को हरण करनेवाले इस पापी कापालिक को मारकर खा जाओ॥२५॥

ततः सोऽग्नि शिखस्तस्मिञ्शवेऽर्घामण्डलस्थिते ।
प्रविश्याधावदुत्थाय प्रसारितभुजाननः ॥२६॥
अग्रहीज्जङ्घयोः पश्चात्तं चाचान्तपरागतम् ।
कापालिकं स वेतालः पलायनपरायणम् ॥२७॥
नभसि भ्रामयित्वा च क्षिप्रमास्फोट्य च क्षितौ ।
देहं मनोरथं चैव सममस्य व्यचूर्णयत् ॥२८॥
हतं कापालिनं दृष्ट्वा भूतेष्वामिषगर्धिषु ।
आगाद्यमशिखो नाम वेतालस्तत्र दुर्मदः ॥२९॥
एत्यैव तदगृह्णात्स कापालिककलेवरम् ।
ततः सोऽग्निशिखः पूर्वो वेतालस्तमभाषत ॥३०॥
अरे श्रीविक्रमादित्यदेवस्यादेशतो मया ।
कापालिकोऽयं निहतो दुराचार त्वमस्य कः ॥३१॥
एतच्छ्रुत्वा यमशिखः प्राह त्वं ब्रूहि तर्हि मे ।
किं प्रभावः स राजेति ततः सोऽग्निशिखोऽब्रवीत् ॥३२॥
तत्प्रभावं न चेद्वेत्सि तदहं शृणु वच्मि ते ।
इहाभूड्डाकिनेयाख्यः सुधीरः कितवः पुरि ॥३३॥
स जातु हृतसर्वस्वः कितवैर्द्यूतमायया ।
अधिकार्वार्जितान्यार्थनिमित्तं तैरबध्यत ॥३४॥
अस्वत्वाददत्तं च तैरेव लगुडादिभिः ।
ताड्यमानोऽवतस्थे च ग्रावभूतो मृतो यथा ॥३५॥
ततः स सभ्यैः सर्वैस्तैर्नीत्वा पापैः स चिक्षिपे ।
महान्धकूपे सम्भाव्य जीवतोऽस्मात्प्रतिक्रियाम् ॥३६॥
स च तत्रातिगाम्भीरे कितवो डाकिनेयकः ।
कूपे भ्रष्टो ददर्शोऽग्रौ महान्तौ पुरुषावुभौ ॥३७॥
तौ च तं पतितं साम्ना दृष्ट्वा भीतमपृच्छताम् ।
कस्त्वं कुतश्च कूपेऽस्मिन्पतितोऽस्युच्यतामिति ॥३८॥
अथाश्वस्य स्ववृत्तान्तं द्यूतकारो निवेद्य सः ।
तावप्यपृच्छद्ब्रूतं मे कौ कुतश्च युवामिह ॥३९॥
तच्छ्रुत्वा तौ जगदतुः पुरुषाववटस्थितौ ।
आवामस्याः पुरो भद्र श्मशाने ब्रह्मराक्षसौ ॥४०॥

तदनन्तर, वह बेताल अग्निशिख पूजा के चक्र पर वर्त्तमान एक शव में प्रवेश करके उठा और हाथ-मुँह फैलाकर दौड़ा ॥२६॥

जब कापालिक आचमन कर लौटा, तब उसे देख भागने लगा, और बेताल ने लपककर पीछे से उसकी टाँगें पकड़ लीं ॥२७॥

और उसे आकाश में घुमाकर धरती पर पटक दिया। इस प्रकार शरीर के साथ-साथ उसके मनोरथ को भी चूर-चूर कर दिया ॥२८॥

कापालिक को मरा देख मांस-लोभी भूतों के बीच से यमशिख नाम का एक दूसरा उद्धत बेताल (भी) आ पहुँचा ॥२९॥

आते ही उसने कापालिक का शव ले लिया। तब अग्निशिख नामक प्रथम बेताल ने कहा— ॥३०॥

अरे! राजा विक्रमादित्य की आज्ञा से मैंने इस दुराचारी कापालिक को मारा है। तुम इसके कौन होते हो? ॥३१॥

यह सुनकर यमशिख ने कहा—तो तुम मुझे सुनाओ कि उस राजा का क्या प्रभाव है? तब अग्निशिख ने कहा— ॥३२॥

यदि तुम उनका प्रभाव नहीं जानते हो, तो सुनो, मैं तुम्हें सुनाता हूँ। इस नगर में डाकिनेय नाम का एक भारी जुआड़ी रहता था ॥३३॥

एक दिन जुआड़ियों ने जूए में चालाकी करके उसका सारा धन जीत लिया और जूए पर हारे और अतिरिक्त धन के लिए उसे बाँध दिया ॥३४॥

वह तो सारा धन गँवा चुका था, इसलिए न दे सका। अतः, वे जुआड़ी उसे डण्डे से पीटने लगे। वह (डर से) सहम कर मरा-जैसा लेट गया ॥३५॥

तब उन सभी जुआड़ियों ने सोचा कि यदि यह जी जायगा, तो बदला ले सकता है। (यह सोचकर) उन पापियों ने उसे ले जाकर एक बहुत-ही अँधेरे कुँए में गिरा दिया ॥३६॥

उस गहरे कुएँ में गिरे हुए जुआड़ी डाकिनेय ने वहाँ दो विशाल उग्र पुरुषों को देखा ॥३७॥

उन दोनों ने उसे कुएँ में गिरा और भयभीत देखकर स्नेहपूर्वक पूछा—कहो, तुम कौन हो? और इस कुएँ में कैसे गिरे? ॥३८॥

तब आश्वस्त हो उस जुआरी ने अपना वृत्तान्त कह सुनाया और उन दोनों से भी पूछा कि कहो, तुम दोनों कौन हो और कैसे आये हो? ॥३९॥

यह सुनकर कुएँ के उन दोनों पुरुषों ने कहा—हम दोनों इस नगर के श्मशान के ब्रह्मराक्षस हैं ॥४०॥

अगृह्णीव च तावावामिहैव पुरि कन्यके ।
मुख्यमन्त्रिसुतामेकामन्यां मुख्यवणिक्सुताम् ॥४१॥
न च मोचयितुं कश्चित्ते शक्नोति स्म कन्यके ।
मान्त्रिको दीप्तमन्त्रोऽपि पृथ्व्यामस्मत्सकाशतः ॥४२॥
बुद्ध्वाथ विक्रमादित्यदेवस्तत्पितृवत्सलः ।
तत्रागाद्यत्र कन्ये ते पित्रोः सख्यात्सह स्थिते ॥४३॥
तं दृष्ट्वैव नृपं मुक्त्वा कन्यके ते पलायितुम् ।
इच्छन्तावपि नैवावां ततो गन्तुमशक्नुवः ॥४४॥
आपश्याव दिशः सर्वा ज्वलन्तीस्तस्य तेजसा ।
ततोऽबध्नात्स नृपतिर्दृष्ट्वा नौ स्वप्रभावतः ॥४५॥
जातमृत्युभयौ दीनौ वीक्ष्य चैवं समादिशत् ।
भोः पापावन्धकूपान्तर्वसतं वत्सरावधि ॥४६॥
मुक्ताभ्यां च ततः कार्यं भवद्भ्यां नेदृशं पुनः ।
करिष्यतश्चेत्तदहं निग्रहीष्यामि वां ततः ॥४७॥
इत्यादिश्यान्धकूपेऽत्र तेनावां क्षपिताविमौ ।
राज्ञा विषमशीलेन कृपया न विपादितौ ॥४८॥
अष्टभिर्दिवसैः कूपनिवासस्यास्य चावयोः ।
अवधिः पूर्यते वर्षादितो मुच्यावहे ततः ॥४९॥
तद्भक्ष्यं किञ्चिदेतानि यद्यहानि ददासि नौ ।
तदुद्धृत्यामुतः कूपात्त्वां क्षिपावो वहिः सखे ॥५०॥
अङ्गीकृत्य न चेद्दास्यस्यावाभ्यां भक्ष्यमुद्धृतः ।
ततस्त्वां भक्षयिष्यावो निश्चितं निर्गताविति ॥५१॥
इत्युक्त्वा ब्रह्मरक्षोभ्यां ताभ्यां स कितवस्ततः ।
तथेति प्रतिपन्नार्थः कूपाद्बहिरुदस्यत ॥५२॥
स कूपादुद्गतोपश्यंस्तदर्थप्राप्तिमन्यथा ।
पणायितुं महामांसं श्मशानं प्राविशन्निशि ॥५३॥
तत्कालं तिष्ठता तत्र स दृष्टः कितवो मया ।
गृह्णातु कश्चिद्विक्रीणे महामांसमिति ब्रुवन् ॥५४॥
अहं गृह्णामि किं मूल्यं मार्गसीत्युदिते मया ।
रूपप्रभावौ स्वौ देहि मह्यमित्यब्रवीच्च सः ॥५५॥

हम दोनों इसी नगर की दो कन्याओं को पकड़े हुए थे—एक मुख्य मन्त्री की कन्या और दूसरी मुख्य वणिक् की कन्या ॥४१॥

उन दोनों कन्याओं को इस पृथ्वी पर तेज-से-तेज मन्त्रवाला भी कोई ओझा हम दोनों से न छुड़ा सका ॥४२॥

यह जानकर राजा विक्रमादित्य जो उन कन्याओं के पिताओं से स्नेह करते थे, वहाँ आये, जहाँ वे दोनों कन्याएँ पिता के मित्रभाव से एक साथ रहती थीं ॥४३॥

राजा विक्रमादित्य को देखते ही हम दोनों उन कन्याओं को छोड़ भागने की इच्छा करते हुए भी वहाँ से न जा सके ॥४४॥

क्योंकि सारी दिशाएँ उनके तेज से जलती-सी दीख पड़ीं। तब राजा विक्रमादित्य ने हमें अपने प्रभाव से बाँध लिया ॥४५॥

और हमें मृत्यु से डरे और दीन देखकर यह आदेश दिया—अरे पापी, तुम दोनों एक वर्ष पर्यन्त अँधेरे कुएँ के भीतर रहो ॥४६॥

और वहाँ से निकलने पर तुम दोनों फिर कभी ऐसा काम न करना। अगर करोगे तो तुम दोनों को मैं फिर सजा दूँगा ॥४७॥

ऐसा आदेश देकर राजा विषमशील ने हमें इस अन्धकूप में रख दिया है, उन्होंने दयावश हमें मारा नहीं ॥४८॥

आठ दिनों में हम दोनों के इस अन्धकूप में निवास की अवधि समाप्त होगी, तब हम इससे मुक्त होंगे ॥४९॥

इसलिए हे मित्र, यदि तुम इन दिनों हमें कुछ भोजन देते रहो, तो हम तुम्हें इस कुएँ से उठाकर बाहर कर देंगे ॥५०॥

यदि (अभी) स्वीकार करके (बाहर हो जाओगे और बीच में) हम दोनों को भोजन न दोगे, तो यहाँ से निकलने पर निश्चय हम दोनों तुम्हें खा जायेंगे ॥५१॥

यह कहकर उन दोनों ब्रह्मराक्षसों ने उस जुआरी को उस कूप से बाहर निकाल दिया; (क्योंकि) जुआड़ी ने उसकी बात स्वीकार कर ली थी ॥५२॥

वह कूप से निकला और उनके लिए भोजन के जुगाड़ का कोई दूसरा उपाय न देखकर महामांस बेचने के लिए रात में श्मशान में प्रवेश किया ॥५३॥

उस समय मैं वहाँ खड़ा था, (अतः) मैंने उस जुआड़ी को देखा। वह बोल रहा था—मैं महामांस बेच रहा हूँ; कोई खरीदो ॥५४॥

मैंने कहा—मैं खरीदूंगा, क्या मूल्य माँगते हो? उसने कहा—मुझे अपना रूप और प्रभाव दे दो ॥५५॥

वीर किं कुरुषे ताभ्यामित्युक्तश्च मया पुनः ।
उक्त्वा कृत्स्नं स्ववृत्तान्तमेवं स कितवोऽभ्यधात् ॥५६॥
तत्त्वद्रूपप्रभावाभ्यां तानाकृष्य ददाम्यहम् ।
कितवान्ब्रह्मरक्षोभ्यां भक्ष्यं सभ्ययुतानरीन् ॥५७॥
तच्छ्रुत्वा धैर्यतुष्टेन तस्मै द्यूतकृते मया ।
दत्तौ रूपप्रभावौ स्वावाभाष्य दिनसप्तकम् ॥५८॥
ताभ्यामाकृष्य कूपे तान्क्रमात्क्षिप्त्वापकारिणः ।
नयतिस्म स सप्ताहाद्ब्रह्मराक्षसभक्ष्यताम् ॥५९॥
ततो मया स्वीकृतयोः स्वयो रूपप्रभावयोः ।
सोऽब्रवीड्डाकिनेयो मां द्यूतकारो भयाकुलः ॥६०॥
नाद्य दत्तं मया भक्ष्यमष्टमं तदहस्तयोः ।
तन्मां निर्गत्य तौ ब्रह्मराक्षसौ भक्षयिष्यतः ॥६१॥
तदत्र किं मया कार्यं ब्रूहि मित्रं हि मे भवान् ।
इत्युक्तवन्तं तमहं संस्तवप्रीतितोऽब्रवम् ॥६२॥
यद्येवं तत्त्वया ताभ्यां राक्षसाभ्यां हि खादिताः ।
कितवास्ते तवार्थे तौ राक्षसावदम्यहं पुनः ॥६३॥
तत्तौ दर्शय मे मित्रेत्युक्तवांस्तेन तत्क्षणम् ।
नीतस्तत्कूपनिकटं कितवेन तथेत्यहम् ॥६४॥
अवाङ्मुखश्च यावत्तं कूपं पश्याम्यशङ्कितः ।
तावत्तेनास्मि दत्त्वार्धचन्द्रं क्षिप्तस्तदन्तरे ॥६५॥
कूपान्तः पतितस्याथ रक्षोभ्यां भक्ष्यबुद्धितः ।
गृहीतस्य समं ताभ्यां वाहुयुद्धमभून्मम ॥६६॥
यदातिवर्त्तितुं वाहुबलं नाशक्नुतां मम ।
युद्धं त्यक्त्वा तदा कस्त्वमिति तौ मामपृच्छताम् ॥६७॥
ततो मया डाकिनेयवृत्तान्तात्प्रभृति स्वके ।
वृत्तान्ते कथिते मैत्रीं कृत्वा मां वदतः स्म तौ ॥६८॥
अहो तवावयोस्तेषां कितवानां च कीदृशी ।
अवस्था विहिता तेन कितवेन दुरात्मना ॥६९॥
येषां न मैत्री न घृणा नोपकारः स्पृशेन्मनः ।
तेषु च्छलैकविद्येषु विश्वासः कितवेषु कः ॥७०॥

फिर मैंने पूछा —हे वीर, तुम मेरे रूप और प्रभाव से क्या करोगे? तब उस जआड़ी ने (अपना) सारा वृत्तान्त सुनाकर कहा— ॥५६॥

मैं तुम्हारे रूप और प्रभाव से साथियों सहित उन (बेईमान) जुआड़ियों को खींचकर उन दोनों ब्रह्मराक्षसों को भोजन दूंगा ॥५७॥

यह सुनकर मैंने उस जुआड़ी के साहस से सन्तुष्ट हो उसे सात दिनों की अवधि निर्धारित करके अपना रूप और प्रभाव दे दिया ॥५८॥

उस रूप और प्रभाव से वह जुआड़ी उन दुश्मनों को क्रमशः पकड़-पकड़ कर कुएँ में सात दिनों तक उन ब्रह्मराक्षसों का भक्ष्य बनाता गया ॥५९॥

तब (आठवें दिन) मैंने अपना रूप और प्रभाव वापस ले लिया। तब वह डाकिनेय नाम का जुआड़ी डरकर मेरे प्रति बोला— ॥६०॥

आज आठवें दिन मैंने उन दोनों ब्रह्म पिशाचों को आहार नहीं दिया है, अतः वे दोनों ब्रह्मराक्षस निकलकर मुझे खा जायेंगे ॥६१॥

अतः, कहो कि मैं इसका क्या उपाय करूँ? क्योंकि तुम मेरे मित्र हो। उसके ऐसा कहने पर मैंने परिचयजन्य स्नेह से उससे कहा— ॥६२॥

यदि ऐसी बात है, तो (जैसे) तुमने उन दोनों राक्षसों से उन जुआड़ियों को खिलवाया, (वैसे) मैं (भी) तुम्हारे लिए इन दोनों राक्षसों को खा लेता हूँ ॥६३॥

इसलिए हे मित्र, वे दोनों राक्षस मुझे दिखाओ। ऐसा कहने पर उस जुआड़ी ने (मेरी बात) स्वीकार करके मुझे अविलम्ब उस कूप के पास पहुँचाया ॥६४॥

और ज्यों ही मैंने मुँह नीचे करके उस कूप में निःशङ्क भाव से देखा, त्यों ही उस जुआड़ी ने अर्द्धचन्द्र (देकर) गले पर हाथ देकर—मुझे उस कूप के भीतर फेंक दिया ॥६५॥

जब मैं उस कूप में गिरा, तब उन दोनों राक्षसों ने मुझे (अपना) आहार समझकर पकड़ लिया। फिर, उन दोनों के साथ मैं बाहुयुद्ध करने लगा ॥६६॥

जब वे दोनों राक्षस मेरे बाहुबल को दबा न सके, तब लड़ाई छोड़कर उन दोनों ने मुझसे पूछा कि तुम कौन हो? ॥६७॥

तब मैंने उस डाकिनेय की कथा से आरम्भ करके अपना (सारा) वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया। तदनन्तर, उन दोनों ने मैत्री करके मुझसे कहा— ॥६८॥

अहो, उस दुष्ट जुआरी ने तुम्हारी, हम दोनों की तथा उन जुआड़ियों की कैसी दुर्दशा की है? ॥६९॥

जिनके हृदय को न मित्रता, न घृणा और न परोपकार ही छूता है, ऐसे छलमात्र विद्यावाले जुआड़ियों पर क्या विश्वास, किया जाय? ॥७०॥

साहसं नैरपेक्ष्यं च कितवानां निसर्गजम् ।
ठिण्ठाकरालस्य कथा तथा च श्रूयतां त्वया ॥७१॥
अस्यामेवोज्जयिन्यां स द्यूतकारोऽभवत्पुरि ।
पूर्वं ठिण्ठाकरालाख्यो विषमोऽन्वर्थनामकः ॥७२॥
तस्य हारयतो नित्यं द्यूते ये जयिनोऽपरे ।
ते प्रत्यहं द्यूतकाराः कपर्दकशतं ददुः ॥७३॥
तेनापणात्स गोधूमचूर्णं क्रीत्वा दिनात्यये ।
चकारापूपिकाः क्वापि मृदित्वा कर्परेऽम्भसा ॥७४॥
गत्वा श्मशाने पक्त्वा ताश्चिताग्नावेत्य चाग्रतः ।
महाकालस्य तद्दीपघृताभ्यक्ता अभक्षयत् ॥७५॥
तत्रैव च महाकालदेवागाराङ्गणे सदा ।
उपधानीकृतभुजः स सुष्वाप क्षितौ निशि ॥७६॥
एकदा रजनौ तत्र महाकालनिकेतने ।
मातृमण्डलयक्षादिप्रतिमास्तस्य पश्यतः ॥७७॥
स्फुरन्तीर्मन्त्रसान्निध्यान्मतिरेवमजायत ।
न करोमि किमर्थार्थमुपायमिह युक्तितः ॥७८॥
सिद्धश्चेद्भद्रमथवा न सिद्धः का क्षतिर्मम ।
इत्यालोच्याब्रवीद्द्यूतायाक्षिपन्देवताः स ताः ॥७९॥
एत भोः सह युष्माभिर्दीव्यामीहाहमेव च ।
सभ्यस्तथा पातयिता जितं सद्यश्च दीयते ॥८०॥
इत्युक्तास्तेन तास्तूष्णीं यत्तस्थुस्तदपातयत् ।
ठिण्ठाकरालः स पणं कृत्वा चित्रा वराटिकाः ॥८१॥
अङ्गीकृतं पातनं स्यात्कितवेनानिषेधता ।
इति द्यूते हि सर्वत्र स्थितिर्द्यूतकृतां सदा ॥८२॥
ततो जित्वा बहु स्वर्णं देवतास्ता जगाद सः ।
जितं प्रयच्छत धनं मह्यमाभाषितं यथा ॥८३॥
इत्युच्यमानाः कितवेनासकृत्तेन ता यदा ।
देवता नालपन्किंचित्तदा वक्ति स्म स क्रुधा ॥८४॥
यदि स्थिताः स्थ तूष्णीं तत्क्रियते कितवस्य यत् ।
अदत्तहारितार्थस्य शिलाभूतस्य तिष्ठतः ॥८५॥

बलजोरी करना और किसी की परवाह न करना ये दोनों गुण जुआड़ियों में रहते ही हैं। इस विषय में ठिण्ठाकराल की कहानी (सुनाता हूँ), सुनो ॥७१॥

प्राचीन समय में इसी उज्जयिनी नगरी में ठिण्ठाकराल नाम का एक जुआड़ी हुआ था। वह नाम के अनुरूप ही कुटिल आदमी था ॥७२॥

वह सदा जुएँ में हारा करता था और जो अन्य जुआड़ी जीतते थे वे, उसे प्रतिदिन एक-एक सौ कौड़ियाँ देते थे ॥७३॥

वह दिन बीतने पर (उन कौड़ियों का) बाजार से आटा खरीदता और कहीं खप्पर में उसे गूँधकर रोटियाँ बनाता ॥७४॥

श्मशान जाकर चिता की आग में उन्हें सेंकता और (भगवान्) महाकाल के आगे उन्हीं के दीप का घी लगाकर खाता ॥७५॥

और रात में भगवान् महाकाल के मन्दिर के आँगन में बाँह को तकिया बनाये मिट्टी पर ही सो जाता ॥७६॥

एक रात महाकाल के मन्दिर में मन्त्र के प्रभाव से उसने देखा कि माताओं (गौरी आदि देवियों) और यक्षादियों की प्रतिमाएँ हिल रही हैं। यह देखते ही उसके मन में विचार आया कि क्यों न धन (प्राप्त करने) के लिए कोई युक्ति सोचूँ? ॥७७-७८॥

सफल हुआ तो अच्छा, नहीं तो मुझे हानि (ही) क्या होगी? यह सोचकर उसने देवताओं को जुआ खेलने की चुनौती देते हुए कहा— ॥७९॥

ओ देवताओ! आते जाइए। यहाँ मैं आपलोगों के साथ जुआँ खेलूंगा। मैं ही सभ्य (अध्यक्ष) होऊँगा और (मैं ही) (कौड़ी) डालूंगा; और जीती हुई वस्तु तुरत दे देना होगा ॥८०॥

ऐसा कहने पर देवता चुप हो गए, तब ठिण्ठाकराल ने दाँव रखकर चित्ती कौड़ियाँ डालीं ॥८१॥

जुए में सदा सब जगह जुआड़ियों में यही परिपाटी चली आ रही है कि यदि जूआ खेलने वाला निषेध न करे, तो जूआ खेलना मंजूर ही समझा जाय। (इसीलिए) मूर्त्तियों के चुप रहने पर ठिण्ठाकराल ने कौड़ियाँ डाल दीं ॥८२॥

तब बहुत-सा सोना जीतकर ठिण्ठाकराल ने देवताओं से कहा—(हे देवताओ,) जो धन मैंने जीता है, वह प्रतिज्ञानुसार मुझे दे दीजिए ॥८३॥

उस जुआड़ी के बार-बार ऐसा कहने पर भी जब देवता कुछ न बोले, तब वह क्रुद्ध होकर बोला— ॥८४॥

यदि तुम इस तरह गुमसुम खड़े रहोगे, तो मैं वही करूँगा, जो हारा हुआ धन न देनेवाले पत्थर की भाँति स्तब्ध हुए जुआड़ी के प्रति किया जाता है ॥८५॥

यमदंष्ट्राग्रतीक्ष्णेन क्रकचेनाङ्गपाटनम् ।
तदहं वः करिष्यामि नह्यपेक्षास्ति कापि मे ॥८६॥
इत्युक्त्वा यावदादाय क्रकचं सोऽभिधावति ।
तावत्तस्मै ददुः स्वर्णं देवतास्ता यथाजितम् ॥८७॥
हारयित्वा च तत्प्रातर्नक्तमेत्य तथैव सः ।
आचकर्ष हठद्यूतेनार्थं मातृगणात्पुनः ॥८८॥
एवं स कुरुते यावत्प्रत्यहं तावदेकदा ।
जगाद देवी चामुण्डा मातृस्ताः खिन्नमानसाः ॥८९॥
इतोऽहं निर्गतो द्यूतादित्याहूतो ब्रवीति यः ।
स नाक्षेप्यं इति द्यूते शैलीयं मातृदेवताः ॥९०॥
तस्मादाह्वयमानं तं तदेवोक्त्वा निरस्यत ।
इति चामुण्डयोक्तास्ता देव्यश्चेतसि तद्व्यधुः ॥९१॥
निशि प्राप्तं कृताह्वानं कितवं तं च देवने ।
निर्गताः स्म इतो द्यूतादित्यूचुः सर्वदेवताः ॥९२॥
एवं निराकृतष्ठिण्ठाकरालस्ताभिरेव सः ।
तत्प्रभुं तं महाकालमेवाह्वयत देवितुम् ॥९३॥
सोऽपि लब्धावकाशं तं मत्वा हठदुरोदरे ।
निर्गतोऽहमितो द्यूतादिति देवः किलाब्रवीत् ॥९४॥
अक्षीणदोषाद्विषमादिष्टानिष्टभयोज्झितात् ।
दुर्जनाद्बत देवा अप्यशक्ता इव बिभ्यति ॥९५॥
तथा दुरोदराचारभग्नकैतवयुक्तिना ।
तेन ठिण्ठाकरालेन खिन्नेनैवमचिन्त्यत ॥९६॥
अहो द्यूतस्थितिं देवैः शिक्षित्वास्मि निराकृतः ।
तदेतमेव देवेशमिदानीं शरणं श्रये ॥९७॥
इत्याकलय्य हृदये परिगृह्यैव पादयोः ।
स्तुवंण्ठिाकरालस्तं महाकालं व्यजिज्ञपत् ॥९८॥
देव्या द्यूतजिते ष्विन्दुवृषकुञ्जरचर्मसु ।
जानुन्यस्तकपोलं ते नौमि नग्नाङ्गमासितम् ॥९९॥
यदिच्छामात्रतस्तास्ता विभूतीर्ददते सुराः ।
यो निरीहो जटाभस्मकपालैकपरिग्रहः ॥१००॥

यम के दाँत के समान तेज धारवाले आरे से मैं तुम्हारा शरीर चीर दूँगा। मुझे किसी की परवाह नहीं है ॥८६॥

यह कहकर जब वह जुआड़ी आरा लेकर दौड़ा, तभी देवताओं ने उसे उतना सोना दे दिया, जितना उसने जीता था ॥८७॥

प्रातःकाल वह सोना हार करके वह जुआड़ी उसी भाँति रात को आया और पुनः हठ-द्यूत (इच्छा न रहते हुए भी आग्रहवश खेले गए जूए) में उन मातृदेवताओं से वह धन जीत लिया ॥८८॥

ठिण्ठाकराल नित्य ऐसा ही करने लगा, तब एक दिन चामुण्डा देवी ने उन दुःखी माताओं से कहा— ॥८९॥

हे मातृदेवताओ ! जूए में यह परिपाटी है कि बुलाये जाने पर जो कहे कि मैं इस जूए से बाहर हूँ, वह आक्षेप का पात्र नहीं होता ॥९०॥

इसलिए, जब ठिण्ठाकराल पुकारे, तब वैसा ही कहकर उससे छुटकारा पाते जाइए। चामुण्डा के ऐसा कहने पर उन देवियों ने वैसा ही करना मन में ठान लिया ॥९१॥

और जब रात में वह जुआड़ी आया और जूआ खेलने के लिए आह्वान किया, तब सभी देवताओं ने कहा—हम इस जूए से बाहर हैं ॥९२॥

जब उन देवियों ने ठिण्ठाकराल को इस प्रकार ठुकरा दिया, तब उन लोगों के स्वामी भगवान् महाकाल को ही उसने जूआ खेलने के लिए चुनौती दी ॥९३॥

भगवान् ने सोचा कि इसने हठ-द्यूत का अवसर पाया है; अतः उन्होंने भी कहा—इस जूए से बाहर हूँ ॥९४॥

जिसका दोष क्षीण (शान्त) नहीं हो गया है, जो कुटिल है, जिसे इष्ट और अनिष्ट होने का भय नहीं है, ऐसे दुर्जन से देवता भी डरते हैं, मानों वे शक्तिहीन हों ॥९५॥

इस प्रकार जूए की परिपाटी के अनुसार उसका जूआ खेलने का उपाय विफल हो गया। तब ठिण्ठाकराल ने दुःखी होकर सोचा कि— ॥९६॥

हाय, देवताओं ने द्यूत की परिपाटी सिखाकर मुझे ठुकरा दिया। अतः, अब इन्हीं महाकाल की शरण गहता हूँ ॥९७॥

मन में यह संकल्प करके (और) अविलम्ब दोनों पाँव पकड़कर स्तुति करते हुए वह महाकाल की प्रार्थना करने लगा— ॥९८॥

पार्वती के साथ जूए में चन्द्र, बसहा और गजचर्म हारकर घुटनों पर कपोल रखे नंगे शरीर बैठे हुए तुमको मैं प्रणाम करता हूँ ॥९९॥

तुम तो निष्काम होकर जटा, भस्म और कपाल-मात्र को ग्रहण करके देवताओं को अपनी इच्छा मात्र से (विना माँगे ही सारी) विभूतियाँ देते रहे हो ॥१००॥

स सलोभोऽद्य जातस्त्वं मन्दपुण्ये कथं मयि ।
यदल्पहेतोर्मामेवं हा वञ्चयितुमीहसे ॥१०१॥
कल्पवृक्षोऽप्यधन्यानां नाशां पूरयति ध्रुवम् ।
यद्विभर्षि न मां नाथ भूतविश्वोऽपि भैरव ॥१०२॥
तत्प्रपन्नस्य मे कष्टव्यसनाविष्टचेतसः ।
व्यतिक्रममपि स्थाणो भगवन्क्षन्तुमर्हसि ॥१०३॥
त्र्यक्षस्त्वं तादृगेवाहं भस्माङ्गे ते ममापि तत् ।
त्वं कपोले यथा भुङ्क्षे तथैवाहं दयस्व मे ॥१०४॥
युष्माभिः सममालप्य कथं नु कितवैरहम् ।
सहालपिष्यामि पुनस्तन्मामापन्नमुद्धर ॥१०५॥
इत्यादि तावदस्तौषीत्कितवस्त स भैरवम् ।
तावत्स परितुष्यैवं देवः साक्षादुवाच तम् ॥१०६॥
ठिण्ठाकराल तुष्टोऽस्मि तव मा स्माधृतिं कृथाः ।
अहं दास्यामि ते भोगानिहैवास्स्व ममान्तिके ॥१०७॥
इति देवाज्ञया तत्र तस्थौ स कितवस्तदा ।
तत्प्रसादादुपनतां भुञ्जानो भोगसम्पदम् ॥१०८॥
एकदा च महाकालतीर्थेऽत्र स्नातुमागताः ।
रात्रावप्सरसो दृष्ट्वा स देवो व्यादिदेश तम् ॥१०९॥
आसां स्नातुं प्रवृत्तानां सर्वासां सुरयोषिताम् ।
तटन्यस्तानि वासांसि लघु हृत्वा त्वमानय ॥११०॥
यावदेता न दास्यन्ति तुभ्यमेतां कलावतीम् ।
अप्सरः कन्यकां तावदासां वस्त्राणि मा मुचः ॥१११॥
एवं स भैरवेणोक्तो गत्वामरमृगीदृशम् ।
ठिण्ठाकरालः स्नान्तीनां तासां वस्त्राण्यपाहरत् ॥११२॥
मुञ्च मुञ्चाम्बराण्यस्मान्मा स्म कार्षीर्दिगम्बराः ।
इति ब्रुवाणाश्च स ता व्याजहार हरौजसा ॥११३॥
कन्यां कलावतीमेतां यदि मह्यं प्रयच्छथ ।
तदहं वो विमोक्ष्यामि वासांस्येतानि नान्यथा ॥११४॥
तच्छ्रुत्वा तं दुराधर्षं दृष्ट्वा स्मृत्वा च तादृशम् ।
शक्रशापं कलावत्यास्ताश्चैतत्प्रतिपेदिरे ॥११५॥

वही आज मुझ जैसे अभागे के प्रति कैसे इतने लोभी हो गये कि थोड़ी-सी (वस्तु) के लिए मुझे इस प्रकार वंचित करना चाहते हो? ॥१०१॥

नि:सन्देह कल्पवृक्ष भी अभागों की आशा पूरी नहीं कर सकते हैं। क्योंकि, हे नाथ भैरव, विश्व-भर का भरण करनेवाले तुम भी मेरा भरण नहीं करते हो॥१०२॥

मेरा चित्त कष्ट और दुर्व्यसन में फँसा हुआ है; हे भगवान् शंकर, इसलिए मैं (अब) तुम्हारी शरण में आया हूँ, सो तुम मेरा व्यतिक्रम—अनुचित आचरण—भी क्षमा कर सकते हो॥१०३॥

तुम त्र्यक्ष (तीन आँखोंवाले) हो, और मैं भी त्र्यक्ष (तीन पाँसे रखनेवाला) हूँ। तुम्हारे अंग में भस्म लगा हुआ है; मेरी भी वही स्थिति है। जैसे तुम खोपड़ी में खाते हो, वैसे मैं भी। इसलिए (हे भगवान् शंकर) तुम मुझपर दया करो॥१०४॥

तुमलोगों के साथ आलाप करके फिर मैं जुआड़ियों के साथ कैसे आलाप करूँगा? इसलिए (हे शंकर) शरण में आये हुए मुझ पापी का उद्धार करो॥१०५॥

जब उस जुआड़ी ने (भगवान्) भैरव की इस प्रकार स्तुति की, तब भगवान् शंकर ने प्रसन्न हो साक्षात् (दर्शन देकर) उनसे कहा—॥१०६॥

हे ठिण्ठाकराल, मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। तुम अधीर मत होना। मैं तुम्हें भोग (सुख-सम्पत्तियाँ) दूँगा। तुम यहीं मेरे पास रहा करो॥१०७॥

इस भाँति भगवान् शंकर की आज्ञा पाकर वह जुआड़ी वहाँ (महाकाल-मन्दिर में) रहने लगा और उनकी कृपा से प्राप्त सभी सुख सम्पत्तियाँ भोगने लगा॥१०८॥

एक समय रात को महाकाल-तीर्थ में स्नान करने (बहुत-सी) अप्सराएँ आईं; यह देखकर भगवान् महाकाल ने उस जुआड़ी को आदेश दिया कि—॥१०९॥

स्नान करती हुई उन सारी सुर-सुन्दरियों के जो वस्त्र तट पर रखे हुए हैं, उन्हें तुम जल्दी से हरण करके ले आओ॥११०॥

और, जबतक वे अप्सराएँ तुम्हें कलावती नाम की वह अप्सरा-कुमारी न दे दें, तबतक उन्हें वस्त्र न वापस करना॥१११॥

भगवान् शंकर के ऐसा कहने पर ठिण्ठाकराल स्नान करती हुई उन सुर-ललनाओं (अप्सराओं) के वस्त्र हरण कर ले आया॥११२॥

(वे अप्सराएँ कहने लगीं—) छोड़ो-छोड़ो। हमारे वस्त्र छोड़ दो। हमें नग्न मत करो। इस प्रकार कहती हुई उन अप्सराओं से उस जुआड़ी ने भगवान् शंकर के बल पर कहा—॥११३॥

यदि तुम लोग यह कलावती कन्या मुझे दे दोगी, तभी मैं तुमलोगों के ये वस्त्र वापस करूँगा, अन्यथा नहीं॥११४॥

यह सुनकर और उस (जुआड़ी) को दुराधर्ष (न दबाये जाने योग्य) देखकर तथा यह स्मरण करके कि कलावती को इन्द्र का वैसा ही शाप है, उन अप्सराओं ने यह बात मान ली॥११५॥

ददुः कलावतीं तां च तस्मायुज्झितवाससे ।
ठिण्ठाकरालाय ततो विधिनालम्बुषासुताम् ॥११६॥
अथाप्सरःसु यातासु कलावत्या तया सह ।
तस्थौ ठिण्ठाकरालोऽसौ देवेच्छानिर्मितास्पदः ॥११७॥
कलावती च देवेन्द्रमुपस्थातुमगाद्दिवा ।
त्रिदिवं रजनौ तं च सदा पतिमुपाययौ ॥११८॥
त्वत्प्राप्तिहेतुना शक्रशापेन मम वल्लभः ।
वरायितमिति प्रीत्या कदाचिद्ब्रुवती च सा ॥११९॥
तेन ठिण्ठाकरालेन पत्या तच्छापकारणम् ।
पृष्टा सती सुरवधूः कलावत्यब्रवीदिदम् ॥१२०॥
दृष्ट्वोद्याने सुराञ्जातु मर्त्यभोगाः स्तुता मया ।
निन्दन्त्या दिविषद्भोगान्दृष्टिमात्रोपभोगदान् ॥१२१॥
तद्बुद्ध्वा देवराजो मामशपद्गच्छ भोक्ष्यसे ।
मर्त्येन परिणीता त्वं भोगांस्तान्मानुषानिति ॥१२२॥
तेनायमावयोर्जातः संयोगोऽन्योन्यसम्मतः ।
श्वश्च नाकाच्चिरेणैष्याम्यहं मा भूच्च तेऽधृतिः ॥१२३॥
रम्भा नवप्रयोगं हि नर्तिष्यति हरेः पुरः ।
आ तत्समाप्तेरस्माभिः स्थातव्यं तत्र च प्रिय ॥१२४॥
ततष्ठिण्ठाकरालस्तं प्रेमदुर्ललितोऽभ्यधात् ।
अहं द्रक्ष्यामि तन्नृत्यं गुप्तं तत्रैव मां नय ॥१२५॥
एतच्छ्रुत्वा कलावत्या तया स जगदे पतिः ।
युज्यते कथमेतन्मे कुप्येद्बुद्ध्वा हि देवराट् ॥१२६॥
एवमुक्तोऽपि निर्बन्धं यदा तस्याश्चकार सः ।
तदा कलावती स्नेहान्नेतुं तं प्रत्यपद्यत ॥१२७॥
प्रातः प्रभावगूढं तं कृत्वा कर्णोत्पलान्तरे ।
ठिण्ठाकरालमनयत्सा महेन्द्रस्य मन्दिरम् ॥१२८॥
सुरेभशोभितद्वारं नन्दनोद्यानसुन्दरम् ।
दृष्ट्वा ठिण्ठाकरालस्तद्देवमानी तुतोष सः ॥१२९॥
ददर्श चात्र वृत्रारेरास्थाने त्रिदशाश्रिते ।
प्रगीतस्वर्वधूसार्थं रम्भानृत्तोत्सवाद्भुतम् ॥१३०॥

तब ठिण्ठाकराल ने उनके वस्त्र दे दिये और उन (अप्सराओं ने) उसे अलम्बुषा की कन्या कलावती विधिवत् दे दी ॥११६॥

अप्सराएँ चली गईं और ठिण्ठाकराल कलावती के साथ उस भवन में रहने लगा, जो शिवजी की इच्छा से बन गया था ॥११७॥

और, कलावती इन्द्र के पास उपस्थित होने दिन में सदा स्वर्ग चली जाती थी और रात में पति के पास आ जाती थी ॥११८॥

किसी समय कलावती ने प्रेमवश (अपने पति से) कहा कि हे प्रियतम, इन्द्र का शाप मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ; क्योंकि उसी के कारण मैं तुमको प्राप्त कर सकी ॥११९॥

(यह सुनकर) उसके पति ठिण्ठाकराल ने शाप का कारण पूछा। तब सती अप्सरा कलावती ने कहा— ॥१२०॥

किसी समय मैंने नन्दनवन में देवताओं को देख मर्त्यलोक के भोगों की प्रशंसा की और देवताओं के भोगों की निन्दा की कि देवताओं के भोग तो केवल दृष्टिमात्र से ही भोगे जाते हैं (तब उनमें क्या आनन्द मिलेगा?) ॥१२१॥

यह जानकर देवराज इन्द्र ने मुझे शाप दे दिया कि जाओ, तुम मनुष्य के साथ विवाह करके मर्त्यलोक के भोग भोगोगी (जिनकी तुम अभी प्रशंसा कर रही हो) ॥१२२॥

उसी शाप से यह मेरा और तुम्हारा मनोवांछित संयोग घटा। और, मैं कल स्वर्ग से देर करके लौटूंगी, इसलिए तुम अधीर मत होना ॥१२३॥

हे प्रियतम, (कल वहाँ) रम्भा भगवान् विष्णु के सामने एक नवीन नृत्य प्रस्तुत करेगी और जबतक वह समाप्त न होगा, तबतक हमें वहाँ रहना होगा ॥१२४॥

तब प्रेम के दुलारे ठिण्ठाकराल ने कलावती से कहा—वह नृत्य मैं (भी) देखूंगा, अतः मुझे चुपके से वहीं ले चलो ॥१२५॥

यह सुनकर कलावती ने अपने पति से कहा—यह कैसे हो सकता है? क्योंकि देवराज इन्द्र यदि जान लेंगे, तो मुझपर क्रोध करेंगे ॥१२६॥

ऐसा कहने पर भी जब ठिण्ठाकराल ने आग्रह किया, तब स्नेहवश कलावती ने उसे ले जाना स्वीकार कर लिया ॥१२७॥

सबेरे कलावती अपने प्रभाव (जादू के बल) से ठिण्ठाकराल को कान के फूल के भीतर छुपाकर इन्द्रलोक ले गई ॥१२८॥

जिसका द्वार ऐरावत हाथी से शोभित था और जो नन्दनवन से रमणीय लगता था, उस इन्द्रलोक को देख ठिण्ठाकराल अपने को देवता समझता हुआ आनन्दित हो उठा ॥१२९॥

और वहाँ देवताओं से भरे इन्द्र के सभाभवन में रम्भा-नृत्य का वह अद्भुत समारोह देखा, जिसमें अप्सराओं की मण्डली गीत गा रही थी ॥१३०॥

नारदादिप्रणीतानि सर्वातोद्यानि चाश्रृणोत्।
प्रसन्ने हि किमप्राप्यमस्तीह परमेश्वरे ॥१३१॥
ततः प्रेक्षणकस्यान्ते तत्रोत्थाय प्रवृत्तवान्।
दिव्यश्छागाकृतिर्भण्डो नर्त्तितुं दिव्यभङ्गिभिः ॥१३२॥
ठिण्ठाकरालो दृष्ट्वा तं परिज्ञाय व्यचिन्तयत्।
अहो एतमहं पश्याम्युज्जयिन्यामजं पशुम् ॥१३३॥
इहेन्द्रस्य पुरश्चायमीदृशो भण्डनर्त्तकः।
अतर्क्या दिव्यमायेयं विचित्रा बत काचन ॥१३४॥
एवं ठिण्ठाकरालस्य तस्य चिन्तयतो हृदि।
नृत्तान्ते छागभण्डस्य शक्रास्थानं न्यवर्त्तत ॥१३५॥
ततः कलावती हृष्टा सा कर्णोत्पलसंश्रितम्।
ठिण्ठाकरालं स्वस्थानमानिनाय तथैव तम् ॥१३६॥
ठिण्ठाकरालश्चान्येद्युरुज्जयिन्यां तमागतम्।
दृष्ट्वा छागाकृतिं दर्पाद्देवभण्डमभाषत ॥१३७॥
अरे ममाग्रतो नृत्य नृत्यसीन्द्राग्रतो यथा।
अन्यथा न क्षमिष्ये ते तन्नृत्तं भण्ड दर्शय ॥१३८॥
तच्छ्रुत्वा विस्मितश्छागस्तूष्णीमेव वभूव सः।
कुतोऽयं मानुषोऽप्येवं मां जानातीति चिन्तयन् ॥१३९॥
निर्बन्धेनोच्यमानो यन्नैव च्छागो ननर्त्त सः।
तत्स ठिण्ठाकरालस्तं लगुडैर्मूर्ध्न्यताडयत् ॥१४०॥
ततः स गत्वा शक्राय तथैव च्छागलोऽखिलम्।
स्रवद्रक्तेन शिरसा यथावृत्तं न्यवेदयत् ॥१४१॥
इन्द्रोऽपि प्रणिधानेन बुबुधे तद्यथा दिवम्।
ठिण्ठाकरालमानैषीद्रम्भानृत्ते कलावती ॥१४२॥
यथा च च्छागनृत्तं तद्दृष्टं तेनापराधिना।
ततः कलावतीमेवमाहूयेन्द्रः शशाप सः ॥१४३॥
नृत्तार्थमस्य च्छागस्य येनावस्था कृतेदृशी।
रागात्तं मानुषं गुप्तं यदिहानीतवत्यसि ॥१४४॥
तद्गच्छ नरसिंहेन राज्ञा नागपुरे पुरे।
देवागरे कृते स्तम्भे भव त्वं सालभञ्जिका ॥१४५॥

और वे सभी बाजे भी सुने, जो नारद आदि ले आये थे। इस विश्व में यदि ईश्वर प्रसन्न हों, तो कौन-सी वस्तु दुर्लभ है? ॥१३१॥

तदनन्तर, जब प्रेक्षणक (नृत्य-प्रदर्शन) समाप्त हुआ, तब वहाँ बकरे की आकृतिवाला एक स्वर्गवासी भाँड़ उठकर स्वर्गीय ढंग से नाचने लगा॥१३२॥

ठिण्ठाकराल उसे देखकर पहचान गया और (मन में) सोचने लगा—अहो! इस बकरे को तो मैं उज्जयिनी में देखता हूँ॥१३३॥

यहाँ वह बकरा इन्द्र के सामने ऐसा (सुन्दर) भाँड़ का नाच करता है? यह स्वर्ग की माया तो विचित्र और तर्क के बाहर है॥१३४॥

ठिण्ठाकराल मन में ऐसा सोच ही रहा था कि बकरा-रूपी भाँड़ का नाच समाप्त हो गया और इन्द्र की सभा उठ गई॥१३५॥

तदनन्तर, कलावती प्रसन्न हो अपने कान के फूल में बैठे हुए ठिण्ठाकराल को (जैसे ले गई थी) वैसे ही अपने घर ले आई॥१३६॥

उसके बाद एक दिन ठिण्ठाकराल ने उज्जयिनी में बकरा-रूपधारी देवताओं के उस भाँड़ को देख घमण्ड के साथ उससे कहा—॥१३७॥

अजी, जैसे तुम इन्द्र के सामने नाचते हो, वैसे मेरे सामने नाचो; नहीं तो तुम्हें छोड़ूँगा नहीं। हे भाँड़, वही नाच मुझे दिखाओ॥१३८॥

यह सुनकर वह बकरा विस्मित हो गुम हो गया और सोचने लगा कि मनुष्य होते हुए भी यह मुझे इस प्रकार कैसे जानता है? ॥१३९॥

आग्रहपूर्वक प्रार्थना करने पर भी जब वह बकरा नहीं नाचा, तब ठिण्ठाकराल ने उसके मस्तक पर डण्डा लगाया॥१४०॥

तब वह बकरा वैसे ही इन्द्र के पास गया। उसके सिर से रक्त बह रहा था। उसने इन्द्र से वह सारा वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया॥१४१॥

इन्द्र भी समाधि के द्वारा समझ गये कि कैसे कलावती रम्भा-नृत्य के अवसर पर ठिण्ठाकराल को स्वर्ग ले आई थी॥१४२॥

और, कैसे उस अपराधी (ठिण्ठाकराल) ने बकरे का नाच देखा। तब इन्द्र ने कलावती को बुलाकर शाप दिया कि—॥१४३॥

जिस पुरुष ने नाच के लिए इस बकरे की ऐसी दशा की है, उस पुरुष को तुम जो प्रेमवश चुपके से यहाँ लाई हो—॥१४४॥

इसलिए तुम जाओ, नागपुर नाम के नगर में राजा नरसिंह ने जो देवालय बनवाया है, उस स्तम्भ में तुम सालभंजिका (स्तम्भमूर्त्ति) हो जाओ॥१४५॥

इत्युक्तवान्कलावत्या मात्रालम्बुषया तया ।
शक्रोऽनुनाथितः कृच्छ्रादेवं शापान्तमादिशत् ॥१४६
यदा बह्वब्दनिष्पन्नं देववेश्म विनश्य तत् ।
भविष्यति समं भूमेरस्याः शापक्षयस्तदा ॥१४७॥
इतीन्द्रशापशापान्तावेवं साश्रुः शशंस सा ।
तस्मै कलावती ठिण्ठाकरालाय सवाच्य तम् ॥१४८॥
दत्त्वा स्वाभरणं तस्मै तिरोभूय विवेश च ।
गत्वा नागपुरे देवगृहस्तम्भाग्रपुत्रिकाम् ॥१४९॥
ठिण्ठाकरालोऽपि ततस्तद्वियोगविषाहतः ।
न ददर्श न शुश्राव लुलोठ भुवि मूर्च्छितः ॥१५०॥
अहो रहस्यं मत्वापि मूढेनाविष्कृतं मया ।
निसर्गचपलानां हि मादृशां संयमः कुतः ॥१५१॥
तदिदानीमयं प्राप्तो वियोगो विषमो मया ।
इत्यादिलब्धसंज्ञश्च कितवो विललाप सः ॥१५२॥
क्षणाच्चाचिन्तयत्कालो वैक्लव्यस्यैष नैव मे ।
गृहीतधैर्यः शापान्तहेतोस्तस्या न किं यते ॥१५३॥
इत्यालोच्य विचार्याथ प्रवाड्वेषं विधाय सः ।
साक्षसूत्राजिनजटं धूर्त्तो नागपुरं ययौ ॥१५४॥
तत्राटव्यां चतसृषु न्यधाद्दिक्षु पुराद्बहिः ।
कान्तालङ्कारकलशान्निखाय चतुरो भुवि ॥१५५॥
पञ्चमं च महारत्नसम्पूर्णं निचखान सः ।
नगरान्तर्निशि स्वैरं देवाग्रापणभूतले ॥१५६॥
एवं कृत्वा स तत्रासीन्नद्यास्तीरे कृतोटजः ।
आश्रित्य कैतवतपः कृतकध्यानजप्यवान् ॥१५७॥
कुर्वन्दिनस्य त्रिःस्नानं भुञ्जानो भैक्ष्यमम्बुभिः ।
प्रक्षाल्य दृषदि प्राप स महातापसप्रथाम् ॥१५८॥
क्रमाच्छ्रुतिपथायातो राज्ञा सोऽभ्यर्थितोऽपि यत् ।
नागात्तदन्तिकं तत्स राजा तत्पार्श्वमाययौ ॥१५९॥
स्थित्वा कथाभिश्च चिरं सायं तस्मिन्प्रियासति ।
राज्यकस्माच्छिवा चक्रे शब्दं तत्र विदूरतः ॥१६०॥

इन्द्र के ऐसा कहते ही कलावती की माता अलम्बुषा इन्द्र से प्रार्थना करने लगी; तब इन्द्र ने बहुत कष्ट से शाप का अन्त होने का ऐसा आदेश दिया—॥१४६॥

जब कई वर्षों में बना हुआ वह देवालय ढहते-टूटते मिट्टी के बराबर (भूमिसात्) हो जायगा, तब इस शाप का अन्त होगा॥१४७॥

इस प्रकार इन्द्र के शाप और उस शाप के अन्त (का समाचार) रोती हुई कलावती ने ठिण्ठाकराल से कह सुनाया॥१४८॥

और उस (ठिण्ठाकराल) को अपने सारे गहने देकर (वह कलावती) अन्तर्हित हो, नागपुर जाकर (उस) देवालय के स्तम्भ के अग्रभाग की मूर्त्ति में प्रविष्ट हो गई॥१४९॥

ठिण्ठाकराल भी कलावती के विरह-रूपी विष से आहत हो न कुछ देखता, न कुछ सुनता, मूर्च्छित हो धरती पर लोटने लगा॥१५०॥

हाय! (उस बात को) गोपनीय समझकर भी मूरख मैंने उसे प्रकट कर दिया। स्वभावतः चंचल मझ जैसे (जुआड़ी) लोगों को संयम कहाँ से आये? ॥१५१॥

इसीलिए, आज मुझे यह असह्य विरह प्राप्त हुआ है, इत्यादि रूप से वह जुआड़ी होश होने पर विलाप करने लगा॥१५२॥

और थोड़ी देर में उसने सोचा—यह मेरे लिए विषाद करने का समय नहीं है। धैर्य धारण करके शाप-विमुक्ति का प्रयास क्यों न करूँ? ॥१५३॥

यह सोच-विचार कर वह धूर्त्त रुद्राक्ष की माला, मृगचर्म और जटा धारण करके परिव्राजक (संन्यासी) का वेष बना नागपुर चला गया॥१५४॥

वहाँ उस चतुर (जुआड़ी) ने नगर के बाहर चारों दिशाओं में पत्नी के गहनों मे भरे घड़े मिट्टी खोदकर गाड़ दिये॥१५५॥

और महारत्नों से भरा पाँचवाँ घड़ा नगर के भीतर देवालय के आगे के बाजार की जमीन में चुपके से रात में (जाकर) गाड़ दिया॥१५६॥

ऐसा करके उसने नदी के किनारे एक कुटिया बनाई और दिखावटी तपस्या, ध्यान और जप करने लगा॥१५७॥

वह दिन में तीन बार स्नान करता, भिक्षा में प्राप्त अन्न को पानी से धोकर पत्थर पर भोजन करता (और इस प्रकार) उसने बहुत बड़े तपस्वी की ख्याति प्राप्त कर ली॥१५८॥

धीरे-धीरे उस तपस्वी के (विषय में) राजा को खबर हुई (और उन्होंने उस तपस्वी से अपने यहाँ आने की प्रार्थना की), और प्रार्थना करने पर भी जब वह उसके यहाँ नहीं गया, तब राजा स्वयं उसके पास आया॥१५९॥

राजा बातचीत करता हुआ बहुत देर तक वहाँ रहा और शाम को जाने के लिए तैयार हुआ, तब (कहीं) एक सियार बोल उठा॥१६०॥

तच्छ्रुत्वा तापसच्छद्मा कितवो हसति स्म सः ।
किमेतदिति पृष्टश्च किमनेनेत्यभाषत ॥१६१॥
निर्बन्धाच्च नृपे पृच्छत्युवाचैवं स मायिकः ।
अटव्यां नगरस्यास्य पूर्वतो वेतसीतले ॥१६२॥
रत्नाभरणपूर्णोऽस्ति कलशस्तद्गृहाण तम् ।
इत्युक्तं मे रुतज्ञस्य नृपते शिवयैतया ॥१६३॥
उक्त्वैवं कौतुकाविष्टं नीत्वा तं तत्र भूपतिम् ।
खात्वा स भूमिमुद्धृत्य तस्मै तं कलशं ददौ ॥१६४॥
ततः स लब्धाभरणः सञ्जातप्रत्ययो नृपः ।
ज्ञानिनं सत्यवाचं तं मेने निःस्पृहतापसम् ॥१६५॥
आनीय स्वाश्रमं तं च मुहुर्नत्वा च पादयोः ।
स ययौ मन्दिरं नक्तं सामात्यस्तद्गुणान्स्तुवन् ॥१६६॥
एवं क्रमात्तमायान्तं धूर्तो रुतमिषान्नृपम् ।
सोऽन्यांस्त्रीन्रत्नकलशान्दिग्भ्योऽन्याभ्यो व्यलम्भयत् ॥१६७
ततः स राजा पौराश्च मन्त्रिणोऽन्तःपुराणि च ।
तत्तापसैकभक्तानि तन्मयान्येव जज्ञिरे ॥१६८॥
एकदा नीयमानश्च देवागारेक्षणाय सः ।
राज्ञा कुतापसोऽश्रोषीदापणे काकवाशितम् ॥१६९॥
ततोऽब्रवीत्तं राजानं श्रुता काकस्य वाक्त्वया ।
आपणेऽत्रैव देवाग्रे निखातो भुवि तिष्ठति ॥१७०॥
सद्रत्नपूर्णः कलशः कस्मात्सोऽपि न गृह्यते ।
इत्येतदुक्तं काकेन तदेहि स्वीकुरुष्व तत् ॥१७१॥
इत्युक्त्वा तत्र नीत्वा तं भूमेरुद्धृत्य भूभृते ।
सद्रत्नकलशं प्रादात्स तस्मै कूटतापसः ॥१७२॥
ततोऽतिपरितोषात्स स्वयं हस्तेऽवलम्ब्य तम् ।
कपटज्ञानिनं राजा देवागारं प्रविष्टवान् ॥१७३॥
तत्र स्तम्भे समाधूय परिव्राट् सालभञ्जिकाम् ।
अनुप्रविष्टां प्रियया कलावत्या ददर्श ताम् ॥१७४॥
कलावती च तत्सालभञ्जिकारूपधारिणी ।
दुःखिता तं पतिं दृष्ट्वा प्रारेभे तत्र रोदितुम् ॥१७५॥

वह सुनकर नकली तपस्वी हँस पड़ा। (राजा ने) पूछा—यह (हँसने की बात) क्या है? (उस तपस्वी ने) कहा—आपको इससे क्या (मतलब)? ॥१६१॥

फिर, जब राजा ने आग्रह के साथ पूछा, तब उस वंचक ने कहा कि—इस नगर से पूरब, जंगल में बेंत की लता के तले रत्नमय भूषणों से भरा एक घड़ा (गाड़ा हुआ) है, वह ले आओ। यही बात इस सियार ने मुझसे कही है। हे राजा, मैं (पशु की) बोली जानता हूँ॥१६२-१६३॥

यह कहकर वह (जुआड़ी) कुतूहल से भरे राजा को वहाँ ले गया और मिट्टी खोदकर वह घड़ा निकाल कर उसको दे दिया॥१६४॥

तदनन्तर, आभूषण मिल जाने के कारण राजा को उस पर विश्वास उत्पन्न हो गया और वह उसे ज्ञानी, सत्यवादी और निष्काम तपस्वी मानने लगा॥१६५॥

और उसे अपने आश्रम (कुटिया) में लाकर तथा बार-बार चरणों में प्रणाम करके रात होने पर मन्त्रियों के साथ उसका गुण-गान करते हुए अपने महल गया॥१६६॥

इसी प्रकार राजा पुनः-पुनः आता गया और धूर्त्त जुआड़ी (सियार की) बोली के बहाने और तीनों रत्नकलश भी अन्य-अन्य दिशाओं से प्राप्त कराया गया॥१६७॥

तब से वह राजा, नगर के निवासी, मन्त्री लोग और अन्तःपुर की स्त्रियाँ सभी उस तपस्वी के अनन्य भक्त हो गये और सदा उसी में रमे रहने लगे॥१६८॥

एक समय जब उसे वह राजा देवालय देखने के लिए ले जा रहा था, उस नकली तपस्वी ने बाजार में कौवे का बोलना सुना॥१६९॥

तब उस तपस्वी ने राजा से कहा—आपने कौए की बोली सुनी? देवालय के आगे इसी बाजार में अच्छे रत्नों से भरा घड़ा मिट्टी में गड़ा हुआ है। वह भी तुम क्यों न ले लेते हो? इस कौए ने यही बात कही है। इसलिए आइए, उसे ले लीजिए॥१७०-१७१॥

यह कहकर वह नकली तपस्वी राजा को उस स्थान में ले गया और मिट्टी से उखाड़कर अच्छे रत्नों से भरा वह कलश दे दिया॥१७२॥

तदनन्तर, अति प्रसन्न हो वह राजा उस नकली ज्ञानी को स्वयं अपने हाथ का अवलम्बन देकर देवालय पहुँचा॥१७३॥

वहाँ (उस) स्तम्भ में धक्का देकर उस संन्यासी ने उस सालभञ्जिका (स्तम्भमूर्ति) को देखा, जिसमें (उसकी) प्रियतमा कलावती लीन थी॥१७४॥

और स्तम्भमूर्त्ति के रूप में परिणत वह कलावती अपने पति (उस जुआड़ी) को देख दुःखी हो रोने लगी॥१७५॥

तद्दृष्ट्वा सानुगो राजा सविस्मयविषादव, ।
ज्ञान्याभासमपृच्छत्तं किमिदं भगवन्निति ॥१७६॥
ततो विषण्णविभ्रान्त इव धूर्तो जगाद सः ।
एहि स्वभवनं तत्र वच्म्यवक्तव्यमप्यदः ॥१७७॥
इत्युक्त्वा स नृपं नीत्वा राजधानीमुवाच तम् ।
अस्थाने कुमुहूर्ते च देवागारमिदं त्वया ॥१७८॥
यत्कृते तत्तृतीयेऽह्नि भविष्यत्यहितं तव ।
अतस्त्वद्दर्शनात्सैषा प्रारोदीत्स्तम्भपुत्रिका ॥१७९॥
तच्छरीरेण चेत्कृत्यं तव निर्लोठ्य तन्नृप ।
अद्यैवैतद्द्रुतं देवकुलं भूमिसमं कुरु ॥१८०॥
सुस्थाने सुमुहूर्ते च कुर्वन्यत्र सुरालयम् ।
अनिमित्तं शमं यातु सराष्ट्रस्यास्तु ते शिवम् ॥१८१॥
इत्युक्तस्तेन स नृपः समाज्ञाप्य भयात्प्रजाः ।
एकाहेनैव तद्देवगृहं भूमिसमं व्यधात् ॥१८२॥
स्थानान्तरे च प्रारेभे कर्तुं देवकुलं पुनः ।
अहो विश्वास्य वञ्च्यन्ते धूर्तैश्छद्मभिरीश्वराः ॥१८३॥
सिद्धकार्यस्ततस्त्यक्त्वा प्रवाडवेषं पलाय्य सः ।
ठिण्ठाकरालः कितवः प्रायादुज्जयिनीं ततः ॥१८४॥
कलावती च तद्बुद्ध्वा शापमुक्ताभ्युपेत्य तम् ।
मार्गे दृष्टा समाश्वास्य द्रष्टुमिन्द्रमगाद्दिवम् ॥१८५॥
इन्द्रोऽपि विस्मितो बुद्ध्वा तन्मुखात्तस्य तत्पतेः ।
मायां तौ द्यूतकारस्य जहास च तुतोष च ॥१८६॥
ततः पार्श्वस्थितः शक्रं तमुवाच बृहस्पतिः ।
विचित्रमायाः कितवा ईदृशा एव सर्वदा ॥१८७॥
पुराकल्पे तथा चाभून्नगरे कितवः क्वचित् ।
कुट्टिनीकपटो नाम कपटद्यूतकोविदः ॥१८८॥
परलोकगतं तं च धर्मराजः किलाब्रवीत् ।
कल्पं नरकवासस्ते कितवास्ति स्वपातकैः ॥१८९॥
एवं तु दिनमिन्द्रत्वमस्ति दानवशात्तव ।
दत्तं ब्रह्मविदे ह्येकं सुवर्णं जातुचित्त्वया ॥१९०॥

यह देखकर (पत्थर को रोते देखकर) उस राजा ने चकित और दुःखी हो उस नकली ज्ञानी से पूछा कि हे प्रभो, यह क्या बात है? ॥१७६॥

तब अतिशयखिन्न और घबराये-जैसे उस धूर्त्त ने कहा—(पहले) अपने घर चलिए। यद्यपि यह बात बोलने योग्य नहीं है, फिर भी वहाँ मैं कहूँगा ॥१७७॥'

यह कहकर ठिण्ठाकराल ने राजा को राजधानी में ले जाकर कहा—आप यह देवालय अशुभ स्थान और अशभ समय में बनवाया है, अतः (आज से) तीसरे दिन, आपका अहित (मरण) होगा। इसीलिए आपको देखते ही यह स्तम्भमूर्त्ति रो उठी है ॥१७८-१७९॥

अतः, यदि आपको अपने शरीर से प्रेम हो, तो आज ही इस देवालय को गिरा कर तुरत मिट्टी में मिला दीजिए ॥१८०॥

और, शुभ स्थान तथा शुभ मुहूर्त में पुनः अन्यत्र देवालय बनाइएं, (ताकि) राष्ट्र-सहित आपका अमङ्गल दूर होवे और मंगल होवे ॥१८१॥

उसके ऐसा कहने पर राजा ने डर से (अपनी) प्रजाओं को आदेश देकर एक ही दिन में उस देवालय को (तुड़वाकर) मिट्टी में मिला दिया ॥१८२॥

और, पुनः दूसरे स्थान में देवालय बनाना शुरू कर दिया। अहा, धनवानों को (ऐसे ही) विश्वास उत्पन्न कराकर वंचक लोग ठगते रहते हैं ॥१८३॥

(इस प्रकार) जब कार्य सिद्ध हो गया, तब वह जुआड़ी ठिण्ठाकराल संन्यासी का वेश छोड़ वहाँ से भागकर उज्जयिनी चला गया ॥१८४॥

शाप से मुक्त हुई वह कलावती यह बात जानकर रास्ते में पति के पास गई और प्रसन्न हो उसे आश्वासन देकर इन्द्र का दर्शन करने स्वर्ग चली गई ॥१८५॥

इन्द्र भी विस्मित हो उस कलावती के मुँह से उसके पति जुआड़ी ठिण्ठाकराल की वह वंचना सुनकर हँसे भी और प्रसन्न भी हुए ॥१८६॥

तब बगल में बैठे बृहस्पति ने इन्द्र से कहा कि (हे इन्द्र,) जुआड़ी लोग सदा इसी भाँति विचित्र-विचित्र माया (वंचना) करनेवाले होते हैं ॥१८७॥

उदाहरण-स्वरूप यह कथा है कि प्राचीन समय में किसी नगर में एक जुआड़ी रहता था। उसका नाम कुट्टिनी कपट था और वह जुए की चालाकी में पारंगत था ॥१८८॥

जब वह (मरने के बाद) यमलोक पहुँचा तब धर्मराज ने उससे कहा—अरे जुआड़ी, तुमने जो पाप किये हैं, उनसे तुम एक कल्प-पर्यन्त नरक में वास करोगे ॥१८९॥

किन्तु दान के पुण्य से तुम्हें (केवल) एक दिन इन्द्र का पद (लिखा) है; क्योंकि तुमने किसी समय किसी वेदज्ञाता (ब्राह्मण) को एक सोने का सिक्का दिया था ॥१९०॥

तद्ब्रूहि पूर्वं किं भुङ्क्षे नरकं किमुतेन्द्रताम् ।
तच्छ्रुत्वा कितवोऽवोचद्भुञ्जे प्रागिन्द्रतामिति ॥१९१॥
ततः स धर्मराजेन प्रेषितः कितवो दिवि ।
एकाहमिन्द्रमुत्थाप्य देवै राज्येऽभ्यषिच्यत ॥१९२॥
सम्प्राप्तदेवराज्यः सन्नानाय्य कितवान्सखीन् ।
सवेश्याश्च दिवं देवानादिदेशाधिपत्यतः ॥१९३॥
नीत्वास्मान्सर्वतीर्थेषु सर्वान्स्नपयत क्षणात् ।
दिव्येष्वपि च भौमेषु सप्तद्वीपगतेष्वपि ॥१९४॥
अनुप्रविश्य चाद्यैव भूपतीन्निखिलान्भुवि ।
प्रयच्छत महादानान्यस्मदर्थमनारतम् ॥१९५॥
इत्यादिष्टाः सुरास्तेन सर्वं चक्रुस्तदैव तत् ।
धूतपापः स तैः पुण्यैर्धूर्त्तः प्रापेन्द्रतां स्थिराम् ॥१९६॥
तद्वयस्याश्च वेश्याश्च ये तेनानायिता दिवम् ।
अमरत्वं ययुस्तेऽपि तत्प्रसादाद्धतांहसः ॥१९७॥
द्वितीयेऽह्नि स्थिरप्राप्तदेवराज्यं स्वबुद्धितः ।
कितवं धर्मराजाय चित्रगुप्तः शशंस तम् ॥१९८॥
ततः सुचरितं बुद्ध्वा धर्मराजो विसिस्मिये ।
अहो बत द्यूतकृता वञ्चिताः स्म इति ब्रुवन् ॥१९९॥
ईदृशाः कितवा वज्रिन्नित्युक्त्वा विरते गुरौ ।
ठिण्ठाकरालं द्यामिन्द्रोऽनैषीत्प्रेष्य कलावतीम् ॥२००॥
तत्र तद्बुद्धिधैर्याभ्यां तुष्टः सम्मान्य देवराट् ।
दत्त्वा कलावतीं चक्रे तं स पार्श्वस्थमात्मनः ॥२०१॥
ततः स देववद्धीरः कलावत्या समं सुखी ।
ठिण्ठाकरालो न्यवसच्छङ्करानुग्रहाद्दिव ॥२०२॥
तदीदृग्द्यूतकाराणां मायासाहसयोर्गतिः ।
तदग्निशिख वेताल किं चित्रं कितवे यत् ॥२०३॥
डाकिनेयेन निक्षिप्तः कूपेऽस्मिन्मायया भवान् ।
तत्त्वं निर्याहि मित्रावां निरेष्यावोऽवटादितः ॥२०४॥
इत्युक्तो ब्रह्मरक्षोभ्यां निर्गत्याहं ततोऽवटात् ।
रात्रावस्यां पुरि प्रापं क्षुधार्त्तः पथिकं द्विजम् ॥२०५॥

इसलिए कहो, पहले तुम क्या भोगोगे?—नरक या इन्द्र का पद? यह सुनकर उस जुआड़ी ने कहा—मैं पहले इन्द्र का पद भोगूँगा॥१९१॥

तब धर्मराज ने उसे स्वर्ग भेज दिया और देवताओं ने एक दिन इन्द्र को उठाकर उसे देवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया॥१९२॥

देवराज का पद प्राप्त करके उस जुआड़ी ने अपने साथी जुआड़ियों और वेश्याओं को भी स्वर्ग में ले आकर अपने प्रभुत्व से देवताओं को आदेश दिया कि—॥१९३॥

(हे देवताओ,) स्वर्ग में, पृथ्वी पर और सातों द्वीपों में जितने तीर्थ हैं, उन सब में हम सब को ले जाकर तुरत स्नान कराओ॥१९४॥

और आज ही पृथ्वी-भर के सभी राजाओं (के शरीर) में प्रवेश करके (उन लोगों के द्वारा) मेरे निमित्त निरन्तर महादान कराते रहो॥१९५॥

उसकी आज्ञा पाकर देवताओं ने तुरत सब वैसा ही किया। और, उन पुण्यों से पाप-मुक्त हो उस धूर्त जुआड़ी ने इन्द्र का पद स्थायी रूप से प्राप्त कर लिया॥१९६॥

और उसके जो मित्र लोग और वेश्याएँ स्वर्ग लाई गई थीं, उन सब ने भी उसकी कृपा से पापमुक्त हो देवत्व को प्राप्त किया॥१९७॥

अगले दिन चित्रगुप्त ने धर्मराज से कह सुनाया कि उस जुआड़ी ने अपनी चालाकी से देवराज का पद स्थायी रूप से प्राप्त कर लिया है॥१९८॥

तब धर्मराज यह सुन्दर वृत्तान्त सुनकर विस्मित हुए और बोले—अरे, इस जुआड़ी ने तो मुझे ठग लिया॥१९९॥

सो, हे इन्द्र, जुआड़ी लोग ऐसे ही (चालाक) होते हैं। इतना कहकर जब बृहस्पति चुप हुए, तब इन्द्र ने कलावती को भेजकर ठिण्ठाकराल को स्वर्ग बुलवा लिया॥२००॥

वहाँ (स्वर्ग में) देवराज इन्द्र ठिण्ठाकराल की बुद्धि और धीरता से प्रसन्न हो उसका सम्मान करके उसे कलावती देकर अपना अनुचर बना लिया॥२०१॥

तब से वह ठिण्ठाकराल देवता के समान धीर हो, (भगवान्) शंकर के अनुग्रह से कलावती के साथ स्वर्ग में सुखपूर्वक रहने लगा॥२०२॥

सो, जुआड़ियों की माया और साहस की स्थिति ऐसी (ही) है। इसलिए, हे वेताल अग्निशिख, उस डकिनेय नामक जुआड़ी ने जो माया (वंचना) करके तुम्हें इस कूप में गिराया वह क्या आश्चर्य की बात है? हे मित्र, इसलिए तुम निकल जाओ। हम दोनों भी इस कूप से निकल जायेंगे॥२०३-२०४॥

उन दोनों ब्रह्मराक्षसों के ऐसा कहने पर मैं उस कूप से निकला और भूख से व्याकुल मैंने रात में, उस नगर में एक ब्राह्मण बटोही को देखा॥२०५॥

तं च गृह्णामि धावित्वा विप्रं यावज्जिघृत्सया ।
तावच्छ्रीविक्रमादित्यदेवमाक्रन्दति स्म सः ॥२०६॥
श्रुत्वैव च स निर्गत्य राजा ज्वलनसन्निभः ।
आः पाप मावधीर्विप्रमित्यारात्प्रतिहत्य माम् ॥२०७॥
प्रावर्तत शिरश्छेत्तुमालेख्यपुरुषस्य यत् ।
तेन मे छेदमागच्छन्कण्ठोऽभूत्स्रुतशोणितः ॥२०८॥
ततोऽङ्घ्रिलग्नस्तेनैव रक्षितोऽस्म्युज्झितद्विजः ।
एवं प्रभावो देवोऽसौ विक्रमादित्यभूपतिः ॥२०९॥
तदाज्ञया हतश्चायं खण्डकापालिको मया ।
तदेतं मम वेताल भक्ष्यं यमशिख त्यज ॥२१०॥
एवमग्निशिखेनोक्तेऽप्याक्षिपत्तत्स पाणिना ।
दर्पाद्यमशिखः खण्डकापालिककलेवरम् ॥२११॥
ततः श्रीविक्रमादित्यः प्रकाश्यात्मानमत्र सः ।
आलिख्य पुरुषं भूमौ पाणिं तस्यासिनाच्छिनत् ॥२१२॥
तेन च्छिन्नो यमशिखस्यापतत्तस्य यत्करः ।
तत्स तं कुणपं त्यक्त्वा पलाय्यैवागमद्भयात् ॥२१३॥
अभक्षयच्चाग्निशिखः कुणपं तं कपालिनः ।
अहं च निर्भयोऽद्राक्षं सर्वं राजौजसा तु तत् ॥२१४॥
एवमाख्याय सा यक्षवधूर्मदनमञ्जरी ।
त्वत्प्रभावं महाराज तत्र मामवदत्पुनः ॥२१५॥
ततो वक्ति स्म मधुरं स राजानङ्गदेव माम् ।
यक्षि कापालिकान्मुक्ता गच्छ भर्तृगृहानिति ॥२१६॥
ततः प्रणम्य तमहं गृहं स्वमिदमागता ।
चिन्तयन्त्युपकारस्य निष्कृतिं तस्य भूपतेः ॥२१७॥
एवं प्राणाः कुलं भर्त्ता दत्ता मे प्रभुणा तव ।
त्वदाख्याता च तस्यैषा संवदिष्यति मत्कथा ॥२१८॥
अद्य ज्ञातं च यत्तस्य राज्ञस्त्रैलोक्यसुन्दरी ।
प्रेषिता सिंहलेन्द्रेण तनया सा स्वयंवरा ॥२१९॥
तां च हर्तुं कृता बुद्धिः सर्वैः सम्भूय राजभिः ।
हत्वा विक्रमशक्तिं तं तत्सामन्तं समत्सरैः ॥२२०॥

ज्योंही मैं मारने की इच्छा से दौड़कर उसे पकड़ूँ, त्यों ही वह ब्राह्मण राजा श्रीविक्रमादित्य को पुकारने लगा ॥२०६॥

यह सुनते ही आग के समान (तेजवाले) राजा विक्रमादित्य निकले और यह कहते हुए मुझे दूर से ही रोका—अरे पापी, ब्राह्मण को मत मारो ॥२०७॥

और (यह कहकर) वे राजा (विक्रमादित्य) जो चित्र में लिखित पुरुष का सर काटने लगे, उससे मेरा (गला) कटने लगा और मेरे कण्ठ से रक्त की धारा बहने लगी ॥२०८॥

तब मैंने ब्राह्मण को छोड़ उनके पाँव पकड़ लिये और उन्होंने भी मेरी रक्षा की। राजा विक्रमादित्य का ऐसा ही प्रभाव है ॥२०९॥

उन्हीं की आज्ञा से मैं (बेताल अग्निशिख) ने इस खण्डकापालिक का (भ्रष्ट संन्यासी) को मारा है। हे यमशिख, इसलिए यह मेरा वेताल भक्ष्य तुम छोड़ दो ॥२१०॥

अग्निशिख के ऐसा कहने पर भी यमशिख अभिमानवश खण्डकापालिक का शरीर हाथ से खींचने लगा ॥२११॥

तदनन्तर, श्रीविक्रमादित्य ने अपने को प्रकट करके मिट्टी पर एक पुरुष का चित्र बनाया और उस (पुरुष) का हाथ तलवार से काट डाला ॥२१२॥

उससे ज्योंही उस यमशिख का हाथ कट गया, त्यों ही वह (यमशिख) उस शव को छोड़- कर भाग गया ॥२१३॥

और अग्निशिख ने उस संन्यासी का शव खा लिया। और, मैंने राजा के प्रभाव से वह सब (तमाशा) देखा ॥२१४॥

(अनंगदेव राजा विक्रमदित्य से कह रहा है) हे महाराज (विक्रमादित्य), उस यक्षकन्या मदनमंजरी ने इस प्रकार आपके प्रभाव का वर्णन करके वहाँ पुनः मुझसे कहा— ॥२१५॥

हे अनंगदेव, तब राजा विक्रमादित्य ने मीठे स्वर में मुझसे कहा—हे यक्षिणी, तुम्हें उस संन्यासी से छुटकारा मिला, (अब तुम अपने) पति के घर जाओ ॥२१६॥

तदनन्तर, मैं उन (राजा विक्रमादित्य) को प्रणाम करके उनके इस उपकार के प्रत्युपकार (का उपाय) सोचती हुई अपने घर आई ॥२१७॥

इस प्रकार तुम्हारे प्रभु (विक्रमादित्य) ने मेरे प्राण, कुल और पति तीनों की रक्षा की है। और तुम जब यह मेरी कथा सुनाओगे तो उन्हें मिलान मालूम होगा ॥२१८॥

आज ज्ञात हुआ है कि जलन के वश सभी राजाओं ने यह विचार किया है कि विक्रमादित्य को मारकर सिंहलेश्वर की पुत्री त्रैलोक्यसुन्दरी स्वयंवरा को हरण कर लें, जिसे सिंहलेश्वर ने राजा विक्रमादित्य के लिए भेजा है॥ २१९-२२०॥

तस्माद्विक्रमशक्तेस्त्वं गत्वा तद्विवदितं कुरु ।
येन तेषामवहितः प्रतीकारे स तिष्ठति ॥२२१॥
अहं च तत्करिष्यामि प्रयत्नं येन तानरीन् ।
हत्वा स विक्रमादित्यदेवो विजयमाप्स्यति ॥२२२॥
एतदर्थमिहानीतो मया त्वं निजमायया ।
येन गजः समामन्तस्यैतत्सर्वं वदिष्यमि ॥२२३॥
प्राभृतं च प्रहेष्यामि त्वत्प्रभोस्तस्य तादृशम् ।
दद्यां तदुपकारस्य लेशतो येन निष्कृतिम् ॥२२४॥
एवं वदति यावन्मां तावत्ते तत्र कन्यके ।
आगते समृगे ये द्वे दृष्टे अस्माभिरम्बुधौ ॥२२५॥
एका चन्द्रावदाताङ्गी प्रियङ्गुश्यामलापरा ।
सरित्पतेः कृतोपासे जाह्नवीयमुने इव ॥२२६॥
निषण्णयोस्तयोस्तां च यक्षीं देवास्मि पृष्टवान् ।
देवि के कन्यके एते सौवर्णोऽयं मृगश्च कः ॥२२७॥
तच्छ्रुत्वा सा महाराज यक्षिणी मामभाषत ।
अनङ्गदेव यदि ते कौतुकं वच्मि तच्छृणु ॥२२८॥
विघ्नायाजग्मतुः पूर्वं प्रजासर्गे प्रजापतेः ।
घोरौ घण्टनिघण्टाख्यौ दानवौ देवदुर्जयौ ॥२२९॥
तयोर्विनाशकामश्च विधाता कन्यके इमे ।
जगदुन्मादनोद्दामरूपशोभे विनिर्ममे ॥२३०॥
दृष्ट्वैवात्यद्भुते चैते हरन्तौ तौ महासुरौ ।
परस्परं युध्यमानौ जग्मतुर्द्वावपि क्षयम् ॥२३१॥
ततो ब्रह्मा धनाध्यक्षायैते कन्ये समर्पयत् ।
त्वया योग्याय कस्मैचिद्भर्त्रे देये इमे इति ॥२३२॥
धनदोऽप्यर्पयदिमे मद्भर्त्रे स्वानुजन्मने ।
मद्भर्ता चार्पयन्मह्यं तथैव वरकारणम् ॥२३३॥
मया श्रीविक्रमादित्यश्चानयोश्चिन्तितो वरः ।
देवावतारो ह्युचितः स एव पतिरेतयोः ॥२३४॥
एवंरूपे इमे कन्ये मृगस्याख्यायिकां शृणु ।
जयन्तो नाम तनयो दयितोऽस्ति शचीपतेः ॥२३५॥

इसलिए, तुम जाकर विक्रमशक्ति को इस बातकी खबर कर दो,-ताकि वह उन (राजाओं) का सामना करने के लिए तैयार रहें ॥२२१॥

और मैं (मदनमंजरी) वैसा उपाय करूँगी, जिससे राजा विक्रमादित्य शत्रुओं को मारकर विजय प्राप्त करेंगे ॥२२२॥

इसी काम के लिए मैं तुम्हें अपनी माया (जादू) के द्वारा यहाँ ले आई हूँ, ताकि तुम (जाकर) सामन्तों-सहित, विक्रमशक्ति राजा को यह सारा हाल बतला सको ॥२२३॥

और तुम्हारे प्रभु (विक्रमादित्य) को ऐसा उपहार भेजूंगी, जिससे उनके उपकार का ऋण अंशतः चुका सकूँ ॥२२४॥

उसके इतना कहते ही वहाँ हरिण-सहित वे दोनों कन्याएँ आ गईं, जिन्हें हमने समद्र (के दियारे) पर देखा था ॥२२५॥

उन दोनों में एक कन्या चाँद के समान गोरे अंगवाली थी और दूसरी प्रियंगुलता के समान श्याम वर्ण की थी, सो लगती थी, मानों समुद्र के पास आई हुई गंगा और यमना हों ॥२२६॥

उन दोनों के बैठने पर, हे राजा विक्रमादित्य, मैंने उस यक्षकन्या से पूछा कि हे देवी, ये दोनों कन्याएँ कौन हैं, तथा यह सोने का हरण कौन है ? ॥२२७॥

हे महाराज, यह सुनकर उस यक्षकन्या ने मुझसे कहा—हे अनंगदेव, यदि तुम्हें कुतूहल है, तो सुनो, बताती हूँ ॥२२८॥

प्राचीन समय में जब प्रजापति प्रजाओं की सृष्टि कर रहे थे, तब उसमें विघ्न डालने के लिए घण्ट और निघण्ट नाम के दो दारुण राक्षस आये, जो देवताओं के लिए (भी) दुर्जेय थे ॥२२९॥

उन दोनों राक्षसों के विनाश की कामना से विधाता ने इन दोनों कन्याओं की सृष्टि की, जिनके रूप की शोभा संसार को उन्मत्त कर देने में उद्दाम थी ॥२३०॥

अति अद्भत (रूपवाली) इन दोनों कन्याओं को देखते ही वे दोनों महासुर इन्हें हरण करने के लिए आपस में यद्ध करते हुए नष्ट हो गये ॥२३१॥

तब ब्रह्मा ने ये दोनों कन्याएँ कुबेर को दे दीं (और कहा) कि आप किसी योग्य वर को इन्हें दे दें ॥२३२॥

कुबेर ने ये दोनों कन्याएँ अपने छोटे भाई मेरे पति (मणिभद्र) को वर खोजने के लिए समर्पित कर दीं और मेरे पति ने वैसे ही मुझे सौंप दीं ॥२३३॥

मैंने श्रीविक्रमादित्य को इन दोनों का वर सोच रखा है; क्योंकि देवता के अवतार होने के कारण वे ही इन दोनों के अनुरूप पति होंगे ॥२३४॥

ऐसी ये दोनों कन्याएँ हैं। (अब इस) हरिण की कहानी सुनो। इन्द्र के जयन्त नाम का एक प्यारा लड़का है ॥२३५॥

संभ्राम्यमाणः स्वःस्त्रीभिर्व्योम्ना जातु शिशुर्भुवि ।
राजपुत्रानधोऽद्राक्षीत्क्रीडतो मृगपोतकः ॥२३६॥
ततः स वालभावेन क्रीडामृगशिशुं विना ।
हेवाकी त्रिदिवं गत्वा प्रारोदीत्पितुरग्रतः ॥२३७॥
तेन तस्य कृते शक्रोऽकारयद्विश्वकर्मणा ।
सुधासेकार्पितप्राणं हेमरत्नमयं मृगम् ॥२३८॥
अथ तेन स चिक्रीड जयन्तः सन्तुतोष च ।
सोऽप्यत्र तस्थौ विहरन्नाके हरिणपोतकः ॥२३९॥
कालेनेन्द्रजितान्वर्थनाम्ना रावणसूनुना ।
सोऽपहृत्य मृगो निन्ये लङ्कां स्वनगरीं दिवः ॥२४०॥
गते च काले हतयोः सीताहरणमन्युना ।
रामलक्ष्मणवीराभ्यां रावणेन्द्रजितोस्तयोः ॥२४१॥
लङ्काराज्येऽभिषिक्तस्य राक्षसेन्द्रस्य मन्दिरे ।
विभीषणस्य सोऽतिष्ठद्रत्नहेममृगोऽद्भुतः ॥२४२॥
विभीषणश्च तं मह्यमुत्सवे जातुचिद्गृहान् ।
नीतायै भर्त्तृबान्धव्यान्मृगं सम्मानयन्नदात् ॥२४३॥
सोऽयं मृगशिशुर्दिव्यो वर्त्ततेऽद्य गृहे मम ।
मया च त्वत्प्रभोरेष कर्त्तव्योऽयमुपायनम् ॥२४४॥
इति सा यावदाख्याति यक्षिणी मे कथाक्रमम् ।
तावत्कमलिनीकान्तो रविरस्तमुपाययौ ॥२४५॥
ततस्तया समादिष्टे धाम्नि सन्ध्याविधेः परम् ।
सिंहलेश्वरदूतोऽयमहं च शयितावुभौ ॥२४६॥
प्रातः प्रबुद्धौ पश्यावो यावदावामनीकिनीम् ।
प्राप्तौ विक्रमशक्तेस्तां सामन्तस्य तव प्रभो ॥२४७॥
ततो विचिन्त्य यक्षिण्यास्तत्प्रभावविजृम्भितम् ।
पार्श्वं विक्रमशक्तेर्द्रागगतावावां सविस्मयौ ॥२४८॥
स च दृष्ट्वैव सम्मान्य कुशलं परिपृच्छ्य च ।
सिंहलेश्वरसन्देशं यावन्नौ प्रष्टुमिच्छति ॥२४९॥
तावत्ते यक्षिणीप्रोक्तस्वरूपे दिव्यकन्यके ।
मृगपोतश्च सम्प्राप्तास्तत्र यक्षचमूवृताः ॥२५०॥

किसी समय जब अप्सराएँ उस शिशु को आकाश में घुमा रही थीं, तब उसने देखा कि पृथ्वी पर कई राजा के लड़के हरिण के बच्चों के साथ खेल रहे हैं॥२३६॥

तदनन्तर, वह उत्सुक शिशु स्वर्ग पहुँचकर खिलौने के रूप में एक हरिण-शिशु के लिए पिता इन्द्र के आगे रोने लगा॥२३७॥

इसलिए, इन्द्र ने उस लड़के के निमित्त स्वर्ण और रत्न का एक हरिण विश्वकर्मा से बनवाया और अमृत सींचकर उसमें प्राण डाल दिये॥२३८॥

तब कहीं जयन्त प्रसन्न हुआ और उस (कृत्रिम हरिण) से खेलने लगा। वह हरिण-शिशु भी स्वर्ग में विहार करते हुए वहाँ रहने लगा॥२३९॥

कुछ समय के बाद अपने नाम को सार्थक करनेवाला रावण का पुत्र मेघनाद स्वर्ग से उस हरिण को हरण करके अपनी नगरी लंका में आया॥२४०॥

बहुत दिन बीतने पर जब सीता-हरण से उत्पन्न क्रोध से वीर राम और लक्ष्मण ने रावण और इन्द्रजित् को मार दिया—॥२४१॥

तब वह रत्नमय अद्‌भुत मृग लंका की राजगद्दी पर बैठे राक्षसराज विभीषण के भवन में रहने लगा॥२४२॥

और किसी समय मेरे पिता के मित्र होने के नाते राजा विभीषण उत्सव के अवसर पर मुझे (अपने यहाँ) ले गये और सम्मानपूर्वक मुझे वह मृग-शिशु दिया॥२४३॥

वही यह स्वर्गीय मृग-शिशु मेरे घर में है और मैं भी इसे तुम्हारे प्रभु (विक्रमादित्य) को उपहार-स्वरूप समर्पित करनेवाली हूँ॥२४४॥

उस यक्षिणी ने जबतक इतना कथा-सूत्र कहा, तबतक कमलिनी के प्रियतम (भगवान्) सूर्य अस्त हो गये॥२४५॥

तब सन्ध्योपासना के बाद उस यक्षिणी द्वारा बताये गये भवन में सिंहलेश्वर का दूत और मैं दोनों सो गये॥२४६॥

हे प्रभो, सुबह उठते ही देखते हैं कि हम दोनों आपके सामन्त विक्रमशक्ति की सेना में पहुँच गये हैं॥२४७॥

तब इस घटना को उस यक्षिणी के प्रभाव का खेल समझकर विस्मित हुए हम दोनों तुरत विक्रमशक्ति के पास गये॥२४८॥

और, उस विक्रमशक्ति ने देखते ही हमारा सम्मान करके कुशल पूछा और फिर ज्योंही हमसे सिंहलेश्वर का सन्देश पूछना चाहा—॥२४९॥

त्यों ही यक्षों की सेनाओं से घिरी वे दोनों स्वर्गीय कन्याएँ, जिनके स्वरूप का वर्णन यक्षिणी ने किया था, और वह मृग-शिशु भी वहाँ आ गये॥२५०॥

तान्दृष्ट्वा दुष्टभूतादिमायाशङ्की स संशयात् ।
देव विक्रमशक्तिर्मां किमेतदिति पृष्टवान् ॥२५१॥
ततः ससिंहलाधीशकार्यं तस्मायहं क्रमात् ।
यक्षिणीकन्यकायुग्ममृगोदन्तमवर्णयम् ॥२५२॥
यक्षीमुखाच्छ्रुतं तं च सर्वेषामैकमत्यतः ।
राजद्विष्टोद्यमं राज्ञां तस्यावोचमहं ततः ॥२५३॥
ततः स सम्मान्यावां च दिव्यकन्ये च ते उभे ।
प्रहृष्टः सैन्यमकरोत्सामन्तः सज्जमाहवे ॥२५४॥
क्षणाच्चाश्रावि देवात्र सैन्यतूर्यमहारवः ।
क्षणाच्चादर्शि सम्लेच्छं प्रतिराजबलं महत् ॥२५५॥
अन्योन्यदर्शनक्रोधादभिधावितयोस्तयोः ।
प्रावर्त्तत द्वयोर्युद्धमस्मत्सैन्यारिसैन्ययोः ॥२५६॥
ततो यक्षीविसृष्टैस्तैर्यक्षैरस्मद्द्विषद्बलम् ।
अन्यैरस्मद्भटाविष्टैरन्यैः सख्यादहन्यत ॥२५७॥
सैन्यरेणुगणाकीर्णं खड्गधारानिरन्तरम् ।
सशूरगर्जितं घोरमुदभूद्रणदुर्दिनम् ॥२५८॥
छेदोच्छलभिद्द्विषतां निपतद्भिश्च मूर्धभिः ।
अशोभत जयश्रीर्नः क्रीडन्ती कन्दुकैरिव ॥२५९॥
क्षणाच्च हतशेषास्ते राजानो भग्नसैनिकाः ।
त्वत्सामन्तस्य कटकं प्रणताः शरणं श्रिताः ॥२६०॥
ततो चितासु सद्वीपास्वाशासु चतसृष्वपि ।
उत्सादितेषु म्लेच्छेषु सर्वभूमीश्वर त्वया ॥२६१॥
निजेन भर्त्रा सहिता प्रकटीभूय यक्षिणी ।
देव विक्रमशक्तिं तं मां चैवं वदति स्म सा ॥२६२॥
मया यदेतद्विहितं सेवामात्रं भवत्प्रभोः ।
तदावेद्यं पुनश्चैवं स विज्ञाप्यो गिरा मम ॥२६३॥
त्वयैते परिणेतव्ये कन्यके देवनिर्मिते ।
द्रष्टव्ये च प्रसादेन लालनीयोऽप्ययं मृगः ॥२६४॥
मदीयं प्राभृतं ह्येतदित्युक्त्वा रत्नसञ्चयम् ।
दत्त्वा यक्षी तिरोऽभूत्सा भर्त्रा सह सहानुगा ॥२६५॥

हे राजन्, उन्हें देख विक्रमशक्ति ने दुष्ट प्रेत आदि की माया की आशंका करते हुए सन्देह में पड़कर मुझसे पूछा कि यह क्या है? ॥२५१॥

तब मैंने धीरे-धीरे सिंहलेश्वर के कार्य के साथ-साथ उन दोनों यक्षकन्याओं और उस मृग-शिशु का वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया॥२५२॥

उसके बाद मैंने सभी राजाओं के मेल से होनेवाले राजद्रोह के प्रयास का समाचार उसे कह सुनाया, जो (मैंने) यक्षिणी के मुंह से सुना था॥२५३॥

तब सामन्त विक्रमशक्ति ने प्रसन्न हो हम दोनों का तथा उन दोनों कन्याओं का भी सम्मान करके लड़ाई के लिए सेना को तैयार किया॥२५४॥

हे राजन्, (तब) क्षण-भर में ही (अपनी) सेनाओं के बाजे की घोर ध्वनि सुनाई और उसी क्षण शत्रुपक्षीय राजाओं की म्लेच्छ-सहित विशाल सेनाएँ भी दिखाई दीं॥२५५॥

दोनों पक्षों की सेनाएँ एक दूसरे को देख क्रोध के साथ भिड़ गईं और हमारे सैन्य तथा शत्रु के सैन्य दोनों के बीच लड़ाई होने लगी॥२५६॥

तदनन्तर, (उस) यक्षिणी के द्वारा भेजे गये कुछ यक्ष हमारी सेनाओं में पैठकर और कुछ आमने-सामने ही हमारे शत्रु सैनिकों को मारने लगे॥२५७॥

सैनिकों के चलने से उठी धूल का बादल छा गया, खड्गों की धारा बरसने लगी, शूर-वीर गरजने लगे, (इस प्रकार) रण-रूपी घोर दुर्दिन (बरसाती दिन) आ गया॥२५८॥

कटने पर उछलते हुए और (फिर) गिरते हुए शत्रुओं के मुण्ड ऐसे दीख पड़ते थे, मानों हमारी जयलक्ष्मी गेंदों से खेल रही हो॥२५९॥

क्षण-भर में ही मरने से बचे (शत्रुपक्षीय) राजा लोग, जिनका सैन्य नष्ट हो चुका था, विनम्र हो आप (विक्रमादित्य के सामन्त विक्रमशक्ति) के शिबिरों में (जाकर शरणापन्न हुए॥२६०॥

तदनन्तर, हे सम्राट, जब आपने द्वीपों-समेत चारों दिशाओं को जीत लिया और म्लेच्छों को उच्छिन्न कर दिया—॥२६१॥

तब अपने पति (मणिभद्र) के साथ प्रकट हो उस यक्षिणी ने विक्रमशक्ति से तथा मुझसे भी कहा कि—॥२६२॥

मैंने तुम्हारे प्रभु (विक्रमादित्य) की जो यह थोड़ी-सी सेवा की है, वह उन्हें निवेदित कर दोगे ओर मेरा यह संवाद उनसे कहोगे कि—॥२६३॥

आप देवताओं द्वारा रचित इन दोनों कन्याओं से विवाह करें और इनकी देखभाल करते रहें तथा प्रसन्नतापूर्वक इस मृग का भी लालन-पालन करते रहें॥१६४॥

यह मेरा उपहार है—इतना कहकर यक्षिणी रत्नों की राशि देकर अनुचर और पतिसहित अन्तर्हित हो गई॥२६५॥

अन्येद्युः परिवारेण. विभवेन च भूयसा ।
आगान्मदनलेखा सा सिंहलेश्वरकन्यका ॥२६६॥

कृत्वा प्रत्युद्गमं साथ तेन विक्रमशक्तिना ।
प्रावेश्यत स्वकटकं प्रणतेन प्रहर्षतः ॥२६७॥

द्वितीयेऽह्नि गृहीत्वा तां ते चोभे दिव्यकन्यके ।
हेमरत्नमृगं तं च त्रिजगन्नेत्रकौतुकम् ॥२६८॥

सिद्धकार्यं इहागन्तुं देवपाददिदृक्षया ।
ततो विक्रमशक्तिः स चलितो राजभिः सह ॥२६९॥

स चेह निकटप्राप्तः सामन्तो देव वर्त्तते ।
आवेदनाय देवस्य तेनावां प्रेषितौ पुरः ॥२७०॥

तद्देव सिंहलेन्द्रस्य यक्षिण्याश्चानुरोधतः ।
तत्कन्याहरिणान्देवः प्रत्युद्यातु नृपानपि ॥२७१॥

इत्युक्तोऽनङ्गदेवेन विक्रमादित्यभूपतिः ।
कृतं दुःसाध्यमपि तद्यक्षिणीरक्षणं स्मरन् ॥२७२॥

नामन्यत तृणायापि श्रुत्वा तत्प्रत्युपक्रियाम् ।
बहु कृत्वापि मन्यन्ते स्वल्पमेव महाशयाः ॥२७३॥

हृष्टश्च सिंहलाधीशदूतयुक्तं पुनः स तम् ।
अनङ्गदेवं हस्त्यश्वग्रामरत्नैरपूरयत् ॥२७४॥

नीत्वा दिनं तदथ सिंहलराजपुत्र्यास्तस्यास्तयोः कमलजोद्भवकन्ययोश्च ।
प्रत्युद्गमाय स महीपतिरुज्जयिन्याः सैन्यैर्गजाश्ववहनैः सममुच्चचाल ॥२७५॥

सत्कुञ्जरोऽञ्जनगिरिर्जयवर्धनस्य मत्तद्विपो रणभटस्य च कालमेघः ।
सङ्ग्रामसिद्धिरपि सिंहपराक्रमस्य वीरस्य विक्रमनिधे रिपुराक्षसश्च ॥२७६॥

पवनजवो जयकेतोर्वल्लभशक्तेः समुद्रकल्लोलः ।
अश्वौ बाहुसुबाह्वोः शरवेगो गरुडवेगश्च ॥२७७॥

श्यामा कुवलयमाला कोक्काणी कीर्तिवर्मणस्तुरगी ।
कर्का गङ्गालहरी सुसैन्धवी समरसिंहस्य ॥२७८॥

इति हस्त्यश्वं राजसुतेष्वपि चलितेषु विभजतामभितः ।
शुश्रुविरेऽत्र च राजनि चलिते दण्डाधिकारिणां वाचः ॥२७९॥

दूसरे दिन बहुत-से परिजनों और धन-सम्पत्ति के साथ सिंहलेश्वरकी पुत्री मदनलेखा आई ॥२६६॥

विक्रमशक्ति ने विनम्रतापूर्वक और आनन्द के साथ उसकी अगवानी करके उसे अपने शिविर में प्रवेश कराया ॥२६७॥

दूसरे दिन मदनलेखा को, उन दोनों स्वर्गीय कन्याओं को तथा स्वर्णरत्नमय उस मृग को, जो तीनों लोकों की आँखों का कुतूहल है, लेकर वह विक्रमशक्ति कृतकार्य हो श्रीमान् के चरणों के दर्शनार्थ यहाँ आने के लिए वहाँ से राजाओं के साथ चल पड़ा है ॥२६८-२६९॥

महाराज, सामन्त विक्रमशक्ति यहाँ निकट पहुँच गया है, और श्रीमान् को सूचित करने के लिए उसने हम दोनों को आगे भेजा है ॥२७०॥

इसलिए, सिंहलेश्वर और यक्षिणी के अनरोध से उन कन्याओं, हरिण और राजाओं की अगवानी करने के लिए श्रीमान् जायँ ॥२७१॥

अनंगदेव के ऐसा कहने पर राजा विक्रमादित्य ने यक्षिणी द्वारा किये गये इस प्रत्युपकार को सुनकर अपने द्वारा किये गये उस यक्षिणी के प्राणरक्षण-रूप दुःसाध्य कार्य का स्मरण करते हुए भी उस उपकार को (इस प्रत्युपकार की तुलना में) तिनके के बराबर भी नहीं माना। क्योंकि, उदार हृदयवाले व्यक्ति बहुत (उपकार) करके भी उसे थोड़ा ही मानते हैं ॥२७२-२७३॥

और, हर्षित हो (राजा विक्रमादित्य ने) सिंहलेश्वर के दूत-समेत उस अनंगदेव को हाथियों, घोड़ों, गाँवों और रत्नों से भर दिया ॥२७४॥

अगले दिन राजा विक्रमादित्य सिंहलेश्वर की पुत्री तथा ब्राह्मण द्वारा रचित उन दोनों कन्याओं की अगवानी करने के लिए हाथियों, घोड़ों और रथों से युक्त सेना-समेत उज्जयिनी से चल पड़े ॥२७५॥

अंजनगिरि नाम का श्रेष्ठ हाथी जयवर्धन को और कालमेघ नाम का मत्त हाथी रणभट को दिया जाय, शत्रुओं के लिए राक्षस के तुल्य संग्रामसिद्ध नाम का हाथी सिंह के समान पराक्रमवाले वीर विक्रम को दिया जाय ॥२७६॥

पवनजव नाम का घोड़ा जयकेतु को, समुद्र कल्लोल नाम का घोड़ा वल्लभशक्ति को, शरवेग नाम का घोड़ा बाहु को तथा गरुडवेग नाम का घोड़ा सुबाहु को (दिया जाय) ॥२७७॥

श्याम वर्ण की कोंकण-प्रदेश की घोड़ी कुवलयमाला कीर्तिवर्मा को दी जाय और सिन्ध देश की गंगालहरी नाम की अच्छी घोड़ी अमरसिंह को दी जाय ॥२७८॥

ऐसा शब्द, महाराज विक्रमादित्य के प्रस्थान के समय उन-उन राजाओं के भी प्रस्थान करने पर उनके बीच हाथी, घोड़े बाँटते हुए दण्डाधिकारी के मुँह से सुनाई पड़ने लगा ॥२७९॥

भूमिः सैन्यमयी तदुत्थितमहाशब्दैकमय्यो दिशः ।
संसर्पद्ध्वजिनीविमर्दविलसद्धूलीमयी द्यौरपि ।
सर्वस्याद्भुततत्प्रभावमहिमव्याहारमय्यो गिर-
स्तस्मिन्राज्ञि पथि प्रयाति सकलद्वीपाधिनाथेऽभवन् ॥२८०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
विषमशीललम्बके द्वितीयस्तरङ्गः।

तृतीयस्तरङ्गः

ततः स विक्रमादित्यो जयसैन्यमवाप तत् ।
अधिष्ठितं स्वसेनान्या तेन विक्रमशक्तिना ॥१॥
अग्रागतेन तेनैव सोत्केन प्रणतात्मना ।
सराजकेन सहितः स्वबलं स विवेश च ॥२॥
गौडः शक्तिकुमारोऽयं कर्णाटोऽयं जयध्वजः ।
लाटो विजयवर्मायं काश्मीरोऽयं सुनन्दनः ॥३॥
गोपालः सिन्धुराजोऽयं भिल्लो विन्ध्यबलोऽप्ययम् ।
निर्मूकः पारसीकोऽयं नृपः प्रणमति प्रभो ॥४॥
इत्यास्थाने नृपान्सोऽत्र प्रतीहारन्निवेदितान् ।
सम्राट् सम्मानयामास सामन्तान्सैनिकानपि ॥५॥
सिंहलेन्द्रसुतादिव्यकन्याहेममृगाश्च तान् ।
यथार्हं सत्करोति स्म स सविक्रमशक्तिकान् ॥६॥
तैः समं सबलोऽन्येद्युः प्रतस्थे च ततः कृती ।
स राजा विक्रमादित्यः प्राप चोज्जयिनीं पुरीम् ॥७॥
सम्मानितविसृष्टेषु स्वदेशानथ राजसु ।
जगदानन्दिनि प्राप्ते वसन्तसमयोत्सवे ॥८॥
लतासु पुष्पाभरणैर्मण्डनं कुर्वतीष्विव ।
तन्वतीष्विव सङ्गीतं भृङ्गयोषित्सु गुञ्जितैः ॥९॥
नृत्यन्तीष्विव चाश्लिष्टमरुत्सु वनराजिषु ।
पिकेषु कलशब्देषु मङ्गलानि पठत्स्विव ॥१०॥
सोऽत्र ता विक्रमादित्यः परिणिन्ये शुभेऽह्नि ।
सिंहलेश्वरकन्यां तां ते च द्वे दिव्यकन्यके ॥११॥

जब सकल द्वीपों के प्रभु राजा विक्रमादित्य ने मार्ग में प्रस्थान किया, तब पृथ्वी सैन्यमय हो गई, दिशाएँ उन सेनाओं की किलकारी से महाध्वनिमय हो गई, तथा आकाश सेनाओं के चाप से उठी धूलि से धूलिमय हो गई, और सभी लोग जो उन (राजा विक्रमादित्य) के प्रभाव की महिमा बखानने लगे, उससे वाणी महिमामय हो गई॥२८०॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
विषमशीललम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त।

तृतीय तरंग

तदनन्तर, राजा विक्रमादित्य उन विजयी सेना के पास पहुँचे, जो उनके सेनापति विक्रमशक्ति के कमान में थी॥१॥

विक्रमशक्ति राजाओं के साथ उत्कण्ठापूर्वक विनीत भाव से अगवानी करने आया और उसी के साथ विक्रमादित्य अपने सैन्य में प्रविष्ट हुए॥२॥

(जब राजा विक्रमादित्य सभा-भवन में बैठे, तब प्रतीहार निवेदन करता गया कि) ये गौडदेश के राजा शक्तिकुमार, ये कर्णाटदेश के राजा जयध्वज, ये लाटदेश के राजा विजयवर्मा, ये कश्मीरदेश के राजा सुनन्दन, ये सिन्धुराज गोपाल, ये विन्ध्यदेश के राजा भिल्ल, और ये फारस देश के राजा निर्मूक श्रीमान् को प्रणाम करते हैं॥३-४॥

सभा-भवन में (इस भाँति) प्रतीहार द्वारा निवेदित राजाओं, सामन्तों और सैनिकों का सम्राट् विक्रमादित्य ने सम्मान किया॥५॥

और, उन्होंने विक्रमशक्ति-सहित सिंहलेश्वर की कन्या (मदनलेखा) दोनों स्वर्गीय कन्याओं और उस मृग का भी यथोचित सत्कार किया॥६॥

उन सबके साथ सेना-समेत राजा विक्रमादित्य कृतकार्य हो दूसरे दिन वहाँ से विदा हुए और उज्जयिनी नगरी पहुँचे॥७॥

जब (आये हुए) राजाओं को सम्मान करके अपने-अपने देश वापस लौटाया गया, और संसार-भर को आनन्दित करनेवाला वसन्तोत्सव का दिन आया॥८॥

लताएँ फूलों के आभरणों से मानों शृंगार करने लगीं, भ्रमरियाँ गुनगुन गाने लगीं॥९॥

बन-राजियाँ पवन का आलिंगन करके नाचने-सी लगीं और कोयलें (अपनी) कूकों से मानों मंगलपाठ करने लगीं॥१०॥

तब विक्रमादित्य ने शुभ दिन में सिंहलेश्वरकन्या से तथा उन दोनों स्वर्गीय कन्याओं से विवाह किया॥११॥

सिहलेश्वरकन्याया ज्येष्ठो भ्राता सहागतः ।
सिंहवर्मा ददौ वेद्यां महान्तं रत्नसञ्चयम् ॥१२॥
तत्कालमेत्य च तयोर्यक्षिणी दिव्यकन्ययोः ।
असङ्ख्यान्रत्नराशीन्सा ददौ मदनमञ्जरी ॥१३॥
शक्ताहं गन्तुमानृण्यं देव त्वत्सुकृतस्य किम् ।
किं तु दर्शयितुं भक्तिं नेतत्किञ्चित्कृतं मया ॥१४॥
तत्प्रसादोऽनयोः कार्यः कन्ययोर्हरिणस्य च ।
इत्युक्त्वा च तिरोऽभूत्सा यक्षी राज्ञाभिपूजिता ॥१५॥
ततः सम्प्राप्य भार्यास्ताः सद्वीपां च महीं कृती ।
शशास विक्रमादित्यो राजा राज्यमकण्टकम् ॥१६॥
सुखितश्चास्त विहरंस्तदा चोद्यानभूमिषु ।
ग्रीष्मे जलेषु सरसां धारायन्त्रगृहेषु च ॥१७॥
वर्षास्वन्तः पुरेषूद्यन्मृदङ्गरवहारिषु ।
शरदीन्दूदयापानहृद्यहर्म्यतलेष्वपि ॥१८॥
आस्तीर्णसुखशय्येषु कालागुरुसुगन्धिषु ।
वासवेश्मसु हेमन्ते स नृपोऽन्तःपुरैर्वृतः ॥१९॥
तस्येदृशस्य राज्ञश्च नगरस्वामिसंज्ञकः ।
बभूव ग्रामशतभुक्चित्रकृज्जितविश्वकृत् ॥२०॥
स द्व्यहेन द्व्यहेनास्मै राज्ञे प्राभृतपुत्रिकाम् ।
लिखित्वान्यान्यया रूपभङ्ग्या चित्रकरो ददौ ॥२१॥
एकदा चोत्सववशाद्विस्मृत्य लिखिता न सा ।
तेन चित्रकृता दैवात्पुत्रिका नृपतेः कृते ॥२२॥
प्राप्ते च प्राभृतदिने स्मृत्वा यावत्समाकुलः ।
आस्ते चित्रकरो हा किं ढौकयेयं प्रभोरिति ॥२३॥
तावद्दूरागतः कोऽपि पान्थोऽकस्मात्तमभ्यधात् ।
स चास्य पुस्तिकां हस्ते न्यस्यैव क्वाप्यगाल्लघु ॥२४॥
कौतुकाच्च स यावत्तामुद्घाटयति चित्रकृत् ।
तावद्ददर्श तत्रान्तश्चित्रस्थां पुत्रिकां पटे ॥२५॥
दृष्ट्वैवाद्भुतरूपां तां नीत्वा नृपतये ददौ ।
प्राभृतं प्रत्युतेदृङभे सिद्धमद्येति हर्षुलः ॥२६॥

सिंहलेश्वर की पुत्री (मदनलेखा) के बड़े भाई सिंहवर्मा ने, जो साथ आये हुए थे, (विवाह की) वेदी पर बहुत बड़ी रत्न-राशि प्रदान की ॥१२॥

उसी समय वह यक्षिणी मदनमंजरी भी आई और उन दोनों स्वर्गीय कन्याओं को असंख्य रत्न-राशियाँ भेंट कीं ॥१३॥

राजा विक्रमादित्य ने उस यक्षिणी का सत्कार किया और वह (यक्षिणी) यह कहकर अन्तर्हित हो गई कि हे राजा (विक्रमादित्य), आपने जो मेरी भलाई की है, उस ऋण से मैं मुक्त न हो सकूँगी, तो भी केवल अपनी भक्ति दिखाने के लिए ही मैंने यह सब थोड़ा-बहुत किया है। इसलिए (प्रार्थना है कि) आप इन दोनों कन्याओं पर तथा इस हरिण पर कृपा बनाये रखें ॥१४-१५॥

तब उन पत्नियों को तथा द्वीपों-सहित पृथ्वी को प्राप्त करके राजा विक्रमादित्य शत्रु-रहित (एकच्छत्र) राज्य का शासन करने लगे ॥१६॥

और, वे राजा विक्रमादित्य (वसन्त-भर) उद्यानस्थलों में, ग्रीष्म ऋतु-भर सरोवर के जलों में तथा यन्त्रचालित फुहारेवाले घरों में, वर्षा ऋतु-भर उठती हुई मृदंग-ध्वनि से मनोहर अन्तःपुरों में; शरद् ऋतु-भर चाँदनी और मद्यपान गोष्ठी से रमणीय प्रासाद-पृष्ठों (छतों) पर तथा हेमन्त ऋतु-भर सुखद शय्या से युक्त और अगुरु के धूप से सुरभित शयन-कक्षों में अन्तःपुर की ललनाओं के साथ सुखपूर्वक विहार करते रहे ॥१७—१९॥

ऐसे महाराज विक्रमादित्य के यहाँ नगरस्वामी नाम का एक चित्रकार रहता था। वह (अपनी कला में) विश्वकर्मा को भी जीतनेवाला था और सौ गाँवों का भोग करता था (अर्थात्, निर्वाह के लिए उसे सौ गाँव जागीरदार के तौरपर दिये गये थे) ॥२०॥

वह चित्रकार दो-दो दिनों पर नई-नई रूप-रेखाओंवाला एक-एक (सुन्दरी का) चित्र विक्रमादित्य को उपहारस्वरूप देता था ॥२१॥

एक समय उत्सवों में फँसे रहने के कारण वह चित्रकार राजा के लिए सुन्दरी का चित्र बनाना दैवयोग से भूल गया ॥२२॥

जब उपहार का दिन आया, तब उस चित्रकार को याद आई। वह व्याकुल हो सोचने लगा—हाय! आज राजा को क्या उपहार दूँ? ॥२३॥

इतने में अचानक एक बटोही दूर से उसके पास आया और वह बटोही अपनी एक पोथी उस चित्रकार के हाथ में सौंपकर तुरत कहीं चला गया ॥२४॥

उस चित्रकार ने जब कुतूहलवश उस पोथी को खोला, तब देखा कि उसके भीतर पट पर एक सुन्दरी का चित्र अंकित है ॥२५॥

और, उस अद्‌भुत रूपवाली सुन्दरी का चित्र देखते ही चित्रकार ने, ऐसा (अच्छा) चित्र आज अचानक मुझे मिल गया, इस भावना से हर्षित हो, राजा को उपहार दे दिया ॥२६॥

नृपतिस्तां तु दृष्ट्वैव साश्चर्यः स जगाद तम् ।
न भद्र तव रेखेयं रेखेयं विश्वकर्मणः ॥२७॥
मानुषो हि कुतो वेत्ति लिखितुं रूपमीदृशम् ।
तच्छ्रुत्वा चित्रकृद्राज्ञे यथावृत्तं शशंस सः ॥२८॥
ततः सोऽनन्यदृग्राजा तां पश्यन्पुत्रिकां सदा ।
स्वप्ने द्वीपान्तरेऽद्राक्षीत्तद्रूपामेव कन्यकाम् ॥२९॥
सङ्गमं भजते यावत्सोत्कः सोत्सुकया तया ।
तावत्प्रबोधितः सोऽभूद्यामिकेन निशाक्षये ॥३०॥
प्रबुद्धो भग्नतत्स्वप्नसमागमसुखश्च सः ।
यामिकं तं क्रुधा राजा नगर्या निरकालयत् ॥३१॥
क्व पान्थः पुस्तिका क्वास्य क्व तस्यां चित्रपुस्तिका ।
तस्या एवं सजीवायाः स्वप्ने संदर्शनं क्व च ॥३२॥
तदेषा दैवघटना कन्या सास्तीति वक्ति मे ।
न च जानामि तद्द्वीपं प्राप्नुयां तत्कथं नु ताम् ॥३३॥
इत्यादि चिन्तयन्सोऽथ सर्वत्रारतिमान्नृपः ।
स्मरज्वरेण जज्वाल पर्याकुलपरिच्छदः ॥३४॥
ससन्तापश्च विजये क्षत्रा भद्रायुधेन सः ।
शनैस्तत्कारणं पृष्टो जगादैवं महीपतिः ॥३५॥
शृणु तद्वच्मि ते मित्र ज्ञातं तावददस्त्वया ।
यच्चित्रपुत्रिका तेन दत्ता चित्रकरेण मे ॥३६॥
तां चिन्तयंश्च सुप्तोऽहं स्वप्ने जानामि वारिधिम् ।
उत्तीर्य प्राप्य नगरं प्रविष्टोऽस्म्यतिसुन्दरम् ॥३७॥
तत्रापश्यमहं बह्वीः सायुधाः कन्यकाः पुरः ।
ता मां दृष्ट्वा जहि जहीत्युच्चैः कलकलं व्यधुः ॥३८॥
ततः ससम्भ्रमा कापि जाने मामेत्य तापसी ।
प्रवेश्यैव निजं गेहं सङ्क्षेपादिदमब्रवीत् ॥३९॥
पुरुषद्वेषिणी पुत्र राजपुत्रीयमागता ।
इतो मलयवत्याख्या विहरन्ती यदृच्छया ॥४०॥
दृष्टमात्रं च पुरुषं कन्याभिर्घातियत्यसौ ।
एताभिस्तेन रक्षार्थं मयेह त्वं प्रवेशितः ॥४१॥

राजा ने देखते ही विस्मित हो उससे कहा—हे भद्र, यह तुम्हारी उरेही रेखाएँ नहीं हैं यह तो विश्वकर्मा का लेख है॥२७॥

मनुष्य ऐसा रूप लिखना कहाँ जानता है ? यह सुनकर चित्रकार ने जैसा जो हुआ था, राजा को सुना दिया॥२८॥

तब विक्रमादित्य उसी चित्र को सदा एकटक दृष्टि से देखते-देखते (एक दिन) सपने में किसी अन्य द्वीप में ठीक उसी रूप की एक सुन्दरी को देखा॥२९॥

(देखते ही) राजा भी उत्कण्ठित हो गये और वह सुन्दरी भी; किन्तु ज्यों ही राजा उससे मिलने लगे, त्योंही पहरेदार ने रात बीतने पर उन्हें जगा दिया॥३०॥

राजा जग गये और सपने में उस सुन्दरी के साथ संगम का सुख भंग हो गया, इसलिए क्रुद्ध हो राजा ने उस पहरेदार को (अपने) नगर से निकाल दिया॥३१॥

कहाँ वह बटोही, कहाँ उसकी वह पोथी, कहाँ उसमें सुन्दरी का वह चित्र और कहाँ उसी सजीव सुन्दरी का सपने में दिखाई देना॥३२॥

यह सारी दैवयोगिक घटना मुझे कह रही है कि वह कन्या (अवश्य कहीं) है। किन्तु, उस स्वप्नदृष्ट द्वीप को जानता नहीं हूँ, अतः उस (कन्या) को कैसे प्राप्त करूँ ?॥३३॥

इत्यादि चिन्ता करते हुए राजा विक्रमादित्य कामज्वर से जलने लगे। किसी भी वस्तु में मन नहीं लगता था। (यह देख उनके) परिजन घबराने लगें॥३४॥

प्रतीहार भद्रायुध ने एकान्त में (उस सन्ताप) का कारण पूछा। तब सन्ताप से युक्त राजा विक्रमादित्य ने धीरे-धीरे कहा—॥३५॥

हे मित्र, सुनो, मैं तुमसे कहता हूँ। उस चित्रकार ने जो मुझे कन्या का चित्र दिया था वह तो तुम्हें ज्ञात ही है॥३६॥

उस कन्या का ध्यान करते हुए मैं सो गया। फिर, सपने में देखा कि मैं समुद्र को पार करके एक परम सुन्दर नगर पहुँचकर उसके भीतर गया हूँ॥३७॥

वहाँ मैंने देखा कि बहुत-सी कन्याएँ अस्त्र लिये मेरे सामने आईं और मुझे देखकर 'मारो-मारो!' कहती हुई जोर-जोर से कोलाहल करने लगीं॥३८॥

इतने में मालूम हुआ कि कोई तापसी हड़बड़ाई हुई मेरे पास आई और मुझे अपने घर के भीतर ले जाकर उसने संक्षेप में मुझसे कहा—॥३९॥

हे पुत्र, स्वच्छन्द विहार करती हुई मलयवती नाम की राजकुमारी इधर आई है, जिसे पुरुष से द्वेष है॥४०॥

वह पुरुष को देखते ही इन कन्याओं से उसे मरवा डालती है। अतः, (उससे) बचाने के लिए मैं तुमको यहाँ (अपने घर के) भीतर ले आई हूँ॥४१॥

इत्युक्त्वा तापसी सद्यः स्त्रीवेषं सा व्यधान्मम ।
अवध्याः कन्यकास्तास्तु मत्वा सोढं मयापि तत् ॥४२॥
यावत्प्रविष्टामत्रैव सकन्यां तां नृपात्मजाम् ।
पश्यामि तावच्चित्रस्था या मयादर्शि सैव सा ॥४३॥
अचिन्तयं च धन्योऽहं यच्चित्रलिखितामिमाम् ।
दृष्ट्वा पुनश्च पश्यामि साक्षात्प्राणसमामिति ॥४४॥
राजपुत्री च सा तावत्तापसीं तां सकन्यका ।
दृष्टोऽस्माभिः प्रविष्टोऽत्र पुमान्कोऽपीत्यभाषत ॥४५॥
पुमान्कुतः प्राघुणिका स्थितैषा मे स्वसुः सुता ।
इति तां तापसी सापि प्रत्यवोचत्प्रदर्श्य माम् ॥४६॥
ततः सा राजतनया स्त्रीरूपमपि वीक्ष्य माम् ।
विस्मृत्य पुरुषद्वेषं सद्यः स्मरवशाभवत् ॥४७॥
आसीत्कण्टकिता किञ्चिच्चिन्तयन्तीव निश्चला ।
लब्धच्छिद्रेण कामेन कीलितेव समं शरैः ॥४८॥
क्षणाच्च तापसीं तां सा व्याहरद्राजकन्यका ।
तह्यार्ये त्वत्स्वसृसुता ममापि प्राघुणी न किम् ॥४९॥
आयातु मद्गृहमियं प्रहेष्याम्यर्चितामिमाम् ।
इत्युक्त्वादाय पाणौ मामनैषीत्सा स्वमन्दिरम् ॥५०॥
अहं च लब्धचित्तोऽस्या जाने तत्र तथेत्यगाम् ।
अन्वमन्यत मां सापि विदग्धा वृद्धतापसी ॥५१॥
ततोऽहं स्थितवांस्तत्र राजपुत्र्या तया सह ।
क्रीडन्त्या कन्यकान्योन्यविवाहादिविनोदनैः ॥५२॥
न च माममुचत्पार्श्वात्क्षणंसा मद्गतेक्षणा ।
यत्र नाहं न सा तस्यै काचनारोचत क्रिया ॥५३॥
अथ ताः कन्यकाः कृत्वा वधूं तां राजकन्यकाम् ।
मां वरं चावयोर्जाने विवाहं क्रीडया व्यधुः ॥५४॥
कृतोद्वाहौ ततश्चावां प्रविष्टौ वासकं निशि ।
निःशङ्का तत्र मां सा च कण्ठे राजसुताग्रहीत् ॥५५॥
तत्कालं च मयात्मानं प्रकाश्यालिङ्गितैव सा ।
सिद्धेष्टहृष्टा दृष्ट्वा मामासील्लज्जानता क्षणम् ॥५६॥

यह कहकर उस तापसी ने मेरा तुरत स्त्री का वेश बना दिया और कन्याएँ अवध्य होती हैं, यह सोचकर मैंने भी वह सह लिया ॥४२॥

तब देखता हूँ कि कन्याओं-सहित वह राजकुमारी वहीं भीतर आ गई है और (देखते ही) मैंने पहचान लिया कि यह वही कन्या है, जिसे मैंने उस चित्र में देखा था ॥४३॥

और मैंने सोचा कि धन्य हूँ, जो प्राण के समान (प्यारी) उस चित्रलिखित कन्या को देखकर (यहाँ) पुनः उसे प्रत्यक्ष रूप से देख रहा हूँ ॥४४॥

तब कन्याओं-सहित उस राजकुमारी ने उस तापसी से कहा—हमने देखा है कि कोई पुरुष यहाँ घुस आया है ॥४५॥

उस तापसी ने मेरी ओर इशारा करके उसे उत्तर दिया—पुरुष कहाँ है? यह मेरी बहन की लड़की (मेरे यहाँ) अतिथि है ॥४६॥

तब वह राजकुमारी मुझे स्त्री के वेष में देखकर भी पुरुष के प्रति द्वेष को भूलकर तुरत कामदेव के वशीभूत हो गई ॥४७॥

वह कुछ सोचती हुई-सी निश्चल हो गई। उसके रोंगटे खड़े हो गये, मानों छिद्र पाकर कामदेव ने सर्वत्र शर विद्ध कर दिये हों ॥४८॥

तुरत उस राजकुमारी ने उस तापसी से कहा—हे आर्ये, क्या तुम्हारी बहन की लड़की मेरी भी अतिथि नहीं हुई? ॥४९॥

यह मेरे घर चले, इसे आदर-सत्कार करके मैं लौटा दूंगी। यह कहकर वह राजकुमारी हाथ पकड़कर मुझे अपने घर ले गई ॥५०॥

और, मुझे याद है कि मैंने उसका आशय समझ लिया और सहमत होकर ही उसके यहाँ गया। और, उस चतुर वृद्ध तापसी ने भी (जो यह समझ गई थी कि हम दोनों के बीच प्रेम का उदय हो गया है) मुझे जाने की अनुमति दे दी ॥५१॥

उसके बाद मैं उस राजकुमारी के साथ वहाँ रहने लगा और लड़कियों का आपस में विवाह कराना इत्यादि (विविध) विनोदों का खेल करता रहा ॥५२॥

उस राजकुमारी की आँख (सदा) मुझपर ही रहती थी, और वह मुझे अपने पास से छोड़ती नहीं थी। ऐसा कोई काम उसे पसन्द न आता था, जिसमें मैं नहीं रहता था ॥५३॥

अनन्तर (एक दिन) उन लड़कियों ने उस राजकुमारी को दुलहन और मुझे दूल्हा बनाकर खेल-खेल में हम दोनों का विवाह करा दिया ॥५४॥

विवाह सम्पन्न होने के बाद हम दोनों रात में शयनगृह पहुँचे और वहाँ राजकुमारी ने निःशंक भाव से मुझे गले लगा लिया ॥५५॥

उसी क्षण मैंने अपने को प्रकाशित करके (अर्थात्, अपना परिचय देकर) उस राजकुमारी को आलिंगित किया। (अपना) इष्ट सिद्ध होने से, अर्थात् मुझे पति के रूप में प्राप्त करने से हर्षित हो उस राजकुमारी ने मेरी ओर देखा, फिर लज्जा से झुक गई ॥५६॥

प्रवर्त्तयामि सुरते यावच्चैतां हृतत्रपाम् ।
तावत्प्रबोधितोऽस्मीह यामिकेन दुरात्मना ॥५७॥
तद्भद्रायुध नेदानीं चित्रे स्वप्ने च दृष्टया ।
तया मलयवत्याहं विना जीवितुमुत्सहे ॥५८॥
इत्युक्तवन्तं राजानं सत्यस्वप्नमवेत्य सः ।
भद्रायुधः प्रतीहारस्तमाश्वास्यैवमुक्तवान् ॥५९॥
कृत्स्नं चेत्स्मर्यते सम्यक्तत्तदालिख्यतां पटे ।
देवेन नगरं यावदुपायोऽत्र निरूप्यते ॥६०॥
इति भद्रायुधेनोक्तः स राजा लिखति स्म तत् ।
पटे पुरवरं सर्वं तद्वृत्तान्तं च तत्क्षणम् ॥६१॥
तं चित्रपटमादाय प्रतीहारस्तदैव सः ।
मठं नवं कारयित्वा तत्र भित्तावलम्बयत् ॥६२॥
मठे चात्राकरोद्दूरदेशादागतवन्दिनाम् ।
सत्त्रे षड्रसमाहारं सवस्त्रयुगकाञ्चनम् ॥६३॥
यश्चित्रस्थमिदं वेत्ति पुरं कोऽपि स एति चेत् ।
ममावेद्य इति प्रादादाज्ञां च मठवर्त्तिनाम् ॥६४॥
अत्रान्तरे ग्रीष्मवनं मल्लिकामोदिमारुतम् ।
छायानिषण्णपथिकं दृष्ट्वा पुष्पितपाटलम् ॥६५॥
आजगामाम्बुदश्यामो गुरुगम्भीरगर्जितः ।
केतकोद्दामदशनः प्रावृट्कालमदद्विपः ॥६६॥
तत्कालं तस्य पौरस्त्यपवनेद्ध इवाययौ ।
वृद्धिं विरहदावाग्निर्विक्रमादित्यभूपतेः ॥६७॥
हिमं हारलते देहि सिञ्च चित्राङ्गि चन्दनैः ।
पत्रलेखेऽब्जिनीपत्रशयनं शिशिरं कुरु ॥६८॥
कन्दर्पसेने कदलीदलैर्वितर मारुतम् ।
इति तद्वारनारीणां तदा शुश्रुविरे गिरः ॥६९॥
क्रमाच्च विद्युद्विषमः शशामास्य घनागमः ।
राज्ञः सविरहज्वालो न पुनर्मदनज्वरः ॥७०॥

फिर, जबतक मैं उसे लज्जा दूर करके रमण में लगाऊँ, तबतक उस दुष्ट पहरेदार ने यहाँ मुझे जगा दिया॥५७॥

हे भद्रायुध, इसलिए जिसे मैंने चित्र में और स्वप्न में देखा है, उस मलयवती के विना मैं अब जी नहीं सकता हूँ॥५८॥

राजा विक्रमादित्य के ऐसा कहने पर (उनके) प्रतीहार भद्रायुध ने समझा कि यह सपना सच्चा है (फिर उसने) उन्हें आश्वासन देकर कहा कि— ॥५९॥

महाराज, यदि पूरा-पूरा स्मरण हो, तो उस नगर का ठीक-ठीक चित्रपट तैयार कराइए। फिर (कोई) उपाय देखा जायगा॥६०॥

(प्रतीहार) भद्रायुध के ऐसा कहने पर विक्रमादित्य ने तुरत एक पट पर उस श्रेष्ठ नगर का चित्र अंकित किया और (वहाँ का) सारा वृत्तान्त भी लिख दिया॥६१॥

उस चित्रपट को लेकर भद्रायुध ने उसी समय एक नया मठ (भवन) बनवाकर उसे उसकी दीवार में लटका दिया॥६२॥

और, उस मठ में दूर देश से आये हुए बन्दियों (मागधों) का सत्र (मण्डारा) कर दिया, जिसमें एक जोड़े कपड़ों के साथ सोने का भूषण देकर षड्रस भोजन कराने (की व्यवस्था की गई)॥६३॥

और, मठ में रहनेवाले (कर्मचारियों) को यह आज्ञा दे दी गई कि चित्र में लिखित इस नगर को जो जानता हो, ऐसा यदि कोई व्यक्ति आये, तो उसकी सूचना मझे (भद्रायुध को) दी जाय।६४॥

इसी समय ग्रीष्म ऋतु के वन में बेला के फूलों से पवन सुरभित हो गया, गुलाब के फूल खिल गये तथा पथिक लोग (वृक्ष की) छाया में बैठने लगे। यह देखकर— ॥६५॥

पावस-रूपी मत्त हाथी आ पहुँचा, जो बादल-से श्यामवर्ण का था, भारी गम्भीर (ध्वनि में) गर्जन करता था, और जिसके केतकी (केवडे) के फूलों के दाँत निकले थे॥६६॥

(वर्षा ऋतु के आते ही) विक्रमादित्य का विरह-रूपी दावानल सहसा इस प्रकार बढ़ गया, मानों पुरवैया हवा से उद्दीपित हो उठा हो॥६७॥

उस समय (राजा की परिचर्या में तत्पर) वारांगनाओं के मुँह से ये शब्द सुनाई दे रहे थे—हे हारलता, बरफ डालो; हे चित्राङ्गी, तुम चन्दन छिड़को; हे पत्रलेखा, तुम शीतल कमलपत्र की सेज बनाओ; हे कन्दर्पसेने, तुम केले के पत्ते से हवा दो॥६८-६९॥

बिजली (की चमक) के कारण दुःसह पावस ऋतु तो धीरे-धीरे चली गई, किन्तु विक्रमादित्य का विरह-ज्वालायुक्त कामज्वर न गया॥७०॥

पान्थाः पथि प्रवर्त्तन्तां दूरस्थानां प्रवृत्तयः ।
प्रियाः प्रियाणां ग्रथ्यन्तां जायन्तां तत्समागमाः ॥७१॥
इत्यादिशन्तीव ततः कलहंसरवैः शरत् ।
आगात्फुल्लाम्बुजमुखी सकाशकुसुमस्मिता ॥७२॥
तस्यां दूरागतो वन्दी तत्र क्षत्तृकृते मठे ।
भोजनार्थी विवेशैको निशम्य ख्यातिमेकदा ॥७३॥
नाम्ना शम्बरसिद्धिः स मठेऽत्र कृतभोजनः ।
आत्तवस्त्रयुगश्चित्रपटं भित्तौ ददर्श तम् ॥७४॥
विभाव्य तत्र चित्रस्थं नगरं तत्स विस्मितः ।
जगाद बन्दी केनेदमहो आलिखितं पुरम् ॥७५॥
यदेकेन मया दृष्टं लिखितं येन तेन च ।
द्वितीयेनेति जानेऽहं नापरेणेति केनचित् ॥७६॥
एतच्छ्रुत्वा मठजनेनोक्तं भद्रायुधस्य तत् ।
तत्तेन स्वयमेत्यासौ बन्दी निन्ये नृपान्तिकम् ॥७७॥
किं त्वया नगरं सत्यं तद्दृष्टमिति भूभृता ।
तत्र शम्बरसिद्धिः स परिपृष्टोऽब्रवीदिदम् ॥७८॥
दृष्टं मया तन्मलयपुरं नाम महापुरम् ।
भ्रमता भुवमुत्तीर्य वारिधिं द्वीपमध्यगम् ॥७९॥
तस्मिन्मलयसिंहाख्यो नगरेऽस्ति महीपतिः ।
तस्यास्ति नाम्ना मलयवतीत्यनुपमा सुता ॥८०॥
पुरुषद्वेषिणी सा च स्वप्ने जातु कथञ्चन ।
विहारनिर्गता कञ्चिचमहापुरुषमैक्षत ॥८१॥
तेनालोकितमात्रेण स भीत इव तत्क्षणम् ।
निर्ययौ मनसस्तस्याः पुरुषद्वेषदुर्ग्रहः ॥८२॥
नीत्वाथ तं स्वभवनं स्वप्न एव विधाय च ।
विवाहं तेन सहिता वासवेश्म विवेश सा ॥८३॥
तत्र तेन समं यावत्सेवते सुरतोत्सवम् ।
तावद्वासस्थया दास्या सा निशान्ते प्रबोधिता ॥८४॥
ततो निर्वास्य कोपात्तां दासीं स्वप्नावलोकितम् ।
तं स्मरन्ती प्रियतमं प्राज्वलद्विरहाग्निना ॥८५॥
अपश्यन्ती गतिं काञ्चित्स्मरेण विवशीकृता ।
उत्थायोत्थाय शयने स्रस्ताङ्गी न्यपतत्परम् ॥८६॥

तदनन्तर, प्रफुल्लकमलमुखी और काँस के फूलों से हँसती हुई शरद् आ पहुँची और कलहंसों के कूजन से मानों यह आदेश देने लगी—

'प्रवासीलोग (अपने-अपने घर का) रास्ता पकड़ें। दूरवर्त्ती प्रियतमों के लिए प्रेम-सन्देश रचे जायँ और उन सबका मिलन होवे'।।७१-७२।।

उसी शरद् ऋतु में एक समय प्रतीहार द्वारा निर्मित उस मठ में, उसकी ख्याति सुनकर, भोजन की इच्छा से दूर देश से एक भाट पहुँचा।।७३।।

उसका नाम शम्बरसिद्धि था। उसने उस मठ में भोजन किया, एक जोड़ा कपड़ा लिया और (तब) दीवार पर उस चित्रपट को देखा।।७४।।

वहाँ चित्र में अंकित उस नगर को देख वह शम्बरसिद्धि विस्मित हो बोल उठा—अरे! यह नगर किसने चित्रित किया है? ।।७५।।

क्योंकि, इस नगर को एक मैंने देखा है और (दूसरे) उसने देखा है, जिसने यह चित्र बनाया है। मैं जानता हूँ कि हम दोनों के सिवा किसी भी अन्य व्यक्ति ने इसे नहीं देखा है।।७६।।

यह सुनकर मठ के कर्मचारी ने यह (हाल) भद्रायुध से कहा और वह भद्रायुध स्वयं आकर उस भाट को विक्रमादित्य के पास ले गया।।७७।।

विक्रमादित्य ने पूछा—क्या तुमने सचमुच ही उस नगर को देखा है? तब शम्बरसिद्धि बोला—।।७८।।

महाराज, संसार का भ्रमण करते हुए मैंने समुद्र पार करके उस महानगर को देखा है। उसका नाम है मलयपुर और वह एक द्वीप के बीच में अवस्थित है।।७९।।

उस मलयपुर में मलयसिंह नाम का एक राजा है। उसे मलयवती नाम की एक अनुपम कन्या है।।८०।।

वह पुरुषमात्र से द्वेष (घृणा) करती थी। एक समय जब वह विहार में गई थी, तब (वहाँ) उसने सपने में किसी महापुरुष को देखा।।८१।।

उस महापुरुष को देखते ही मलयवती के मन से पुरुषजाति से द्वेषभाव का दुर्ग्रह (जिद) अचानक इस भाँति निकल भागा, मानों उस महापुरुष से डर गया हो।।८२।।

तब मलयवती सपने में ही उसे अपने घर ले गई और उससे विवाह करके अपने शयन-कक्ष के भीतर गई।।८३।।

वहाँ जबतक वह उस महापुरुष के साथ रमण करे, इतने में ही रात बीत गई और शयन-कक्ष में तैनात दासी ने उसे जगा दिया।।८४।।

तदनन्तर, क्रोधवश उस दासी को देश से निकलवाकर मलयवती स्वप्न में देखे हुए उस प्रियतम का स्मरण करती हुई विरहाग्नि में जलने लगी।।८५।।

कामदेव के पंजे में पड़ी मलयवती (प्रियमिलन का) कोई उपाय न देख बार-बार शय्या पर से उठती और बाद में शरीर शिथिल होने से (धड़ाम से) गिर पड़ती।।८६।।

मूकेव भूताक्रान्तेव तमःसंमोहितेव च ।
नोत्तरं पृच्छतः किञ्चिद्ददौ परिजनस्य सा ॥८७॥
विज्ञाय पित्रा मात्रा च ततः पृष्टातिकृच्छ्रतः ।
शशंस स्वप्नवृत्तान्तं सा तमाप्तसखीमुखैः ॥८८॥
ततः पित्रा कृताश्वासा प्रतिज्ञामकरोच्च सा ।
विशाम्यग्निं तमाप्नोमि षड्भिर्मासैर्न चेदिति ॥८९॥
पञ्च मासा गताश्चाद्य तस्याः को वेत्ति भावि किम् ।
इतीदृक्तत्र वृत्तान्तः पुरे परिगतो मया ॥९०॥
एवं तेन ससंवादमुक्ते शम्बरसिद्धिना ।
जातार्थनिश्चये दृष्टे राज्ञि भद्रायुधोऽभ्यधात् ॥९१॥
सिद्धं कार्यं सन्देशो हि त्वद्वशः सनृपः प्रभो ।
तत्तत्र गम्यतां यावन्मासः षष्ठो न यात्यतः ॥९२॥
इति तेनोदिते क्षत्त्रां तदाख्यातार्थंस्वितरम् ।
कृत्वा शम्बरसिद्धिं तमग्रे भूरिधनार्चितम् ॥९३॥
रविरश्मिषु सम्पातं पाण्डिमानं घनेषु च ।
सरित्तोयेषु कार्श्यं च निरस्येव निजं नृपः ॥९४॥
निरातङ्कः स सम्पद्य तदैव दयितां प्रति ।
प्रतस्थे विक्रमादित्यः सैन्येन लघुना वृतः ॥९५॥
गत्वा क्रमेण तीर्णाब्धिर्यावत्प्राप्तः पुरं स तत् ।
तावद्ददर्श तत्राग्रे जनं कोलाहलाकुलम् ॥९६॥
एषा मलयवत्यद्य पूर्णे षाण्मासिकेऽवधौ ।
अप्राप्तदयिता वह्निं राजपुत्री विविक्षति ॥९७॥
इत्यत्र शुश्राव जनात्पृष्टादथ स भूपतिः ।
उपागाच्च स तं देशं रचिता यत्र तच्चिता ॥९८॥
तद्दर्शनादपसृते जने तत्र ददर्श तम् ।
दृशोरकाण्डपीयूषवर्षं सा राजकन्यका ॥९९॥
सोऽयं प्राणेश्वरः स्वप्नपरिणेता ममागतः ।
तत्तातस्योच्यतां शीघ्रमिति स्माह च सा सखीः ॥१००॥
ताभिर्गत्वा तथैवोक्तस्तत्पिता सोऽथ भूपतिः ।
निर्दुःखो जातहर्षस्तं प्रह्वो राजानमभ्यगात् ॥१०१॥

परिजन के पूछने पर (भी) वह कुछ उत्तर न देती, जैसे गूँगी हो, या पिशाच से ग्रस्त हुई हो, या वात-संमोहित पागल हो ॥८७॥

जब यह बात उसके माता-पिता को ज्ञात हुई, तब उनके पूछने पर मलयवती ने बड़े कष्ट से मुँहबोली सखी के मुँह से सपने का वह हाल कह सुनाया ॥८८॥

तब पिता ने आश्वासन दिया और उसने (पिता के आश्वासन पर) यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं छह मासों में उन्हें न प्राप्त करूँगी, तो आग में जलकर मर जाऊँगी ॥८९॥

आज (उसके) पाँच मास बीत गये। कौन जानता है कि उस कन्या का क्या होगा। उस नगर का ऐसा ही हाल मुझे मालूम हुआ ॥९०॥

जब उस शम्बरसिद्धि ने यह मिलानवाली बात कही, राजा को सच्ची स्थिति का ज्ञान हुआ और वे हर्षित हो उठे, तब भद्रायुध बोला— ॥९१॥

(महाराज, अब) आपका कार्य सिद्ध हो गया। राजा-सहित वह देश आपके अधीन है। अतः, जबतक यह छठा मास बीत नहीं जाता, (झटपट) वहाँ चला जाय ॥९२॥

प्रतीहार ने जब ऐसा कहा, तब शम्बरसिद्धि से सारी बात विस्तारपूर्वक सुनकर विक्रमादित्य ने उसे बहुत धन देकर सत्कृत किया और उसे आगे करके— ॥९३॥

अपना (विरहजन्य) सन्ताप सूर्य की किरणों में देकर, पीलापन बनों को सौंपकर तथा कृशता नदी के जलों को देकर —॥९४॥

निःशंक हो छोटी-सी सेना साथ लेकर उसी समय अपनी प्रियतमा की ओर निःशंक भाव से चल पड़े ॥९५॥

जाते-जाते समुद्र पार कर जब वे उस नगर में पहुँचे, तब देखा कि वहाँ सामने ही लोग कोलाहल कर रहे हैं ॥९६॥

तब राजा ने एक व्यक्ति से पूछा, तो उसने कहा कि छह मास की अवधि पूरी होने पर भी अपने प्रियतम को न पाकर यह राजकुमारी मलयवती आज (पूर्वप्रतिज्ञानुसार) चिता में प्रवेश करने को उद्यत है। यह सुनकर विक्रमादित्य उस स्थान में पहुँचे, जहाँ चिता रची गई थी ॥९७-९८॥

उनको देख लोग हटते गये, तब उन्होंने उस राजकुमारी को देखा, मानों उनकी आँखों में अचानक अमृतवृष्टि होने लगी ॥९९॥

और राजकुमारी ने (भी उन्हें देखकर) अपनी सखियों से कहा—(देखो,) जिनसे मैंने स्वप्न में विवाह किया, मेरे वे प्राणेश्वर यह आ गये। यह बात शीघ्र पिताजी को कह सुनाओ ॥१००॥

सखियाँ वैसे ही उस राजकुमारी के पिता (मलयसिंह) से कह आईं। तब राजा मलयसिंह का दुःख दूर हुआ और वह हर्षित हो नम्रतापूर्वक विक्रमादित्य के पास आया ॥१०१॥

तत्कालमुत्क्षिप्य भुजं तेन शम्बरसिद्धिना ।
उच्चैरवसरज्ञेन बन्दिनेदमपठ्यत ॥१०२॥
जय निजतेजः साधितभूतगण म्लेच्छविपिनदावाग्ने ।
जय देव सप्तसागरसीममहीमानिनीनाथ ॥१०३॥
जय विजितसकलपार्थिवविनतशिरोधारितातिगुर्वाज्ञ ।
जय विषमशील विक्रमवारिनिधे विक्रमादित्य ॥१०४॥
इत्युक्ते बन्दिना तं स विक्रमादित्यमागतम् ।
बुद्ध्वा मलयसिंहोऽत्र राजा जग्राह पादयोः ॥१०५॥
विवेश च कृतातिथ्यस्तेन साकं स्वमन्दिरम् ।
तया मलयवत्या च दुहित्रा मृत्युमुक्तया ॥१०६॥
ददौ च तां सुतां तस्मै विक्रमादित्यभूभृते ।
स राजा तेन जामात्रा मन्वानः कृतकृत्यताम् ॥१०७॥
यथा चित्रे तथा स्वप्ने यथा स्वप्ने तथैव ताम् ।
विलोक्य साक्षान्मलयवतीमङ्कगतां प्रियाम् ॥१०८॥
स चापि विक्रमादित्यस्तदद्भुतममन्यत ।
फलं शैलसुताकान्तप्रसादसुरशाखिनः ॥१०९॥
अथ तामादाय वधूं निर्वृतिमिव रूपिणीं स मलयवतीम् ।
उत्तीर्य वारिराशिं सोत्कलिकं सुचिरविरहमिव ॥११०॥
तत्तत्प्राभृतहस्तैः प्रणम्यमानः पदे पदे भूपैः ।
निजनगरीमुज्जयिनीं प्रत्यागाद्विक्रमादित्यः ॥१११॥
प्रभावमालोक्य च तत्र तस्य तं यथेच्छसत्यीकृतचित्रकौतुकम् ।
विसिस्मिये को न जहर्ष को न वा चकार को वा न महोत्सवं जनः ॥११२॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
विषमशीललम्बके तृतीयस्तरङ्गः ।

चतुर्थस्तरङ्गः

ततोऽस्य विक्रमादित्यस्यैकदात्र कथान्तरे ।
राज्ञी कलिङ्गसेनाख्या सपत्नीरेवमब्रवीत् ॥१॥
राज्ञा मलयवत्यर्थे यत्कृतं न तदद्भुतम् ।
सदा विषमशीलो हि देवोऽयं प्रथितो भुवि ॥२॥

उसी समय अवसर को जाननेवाला वह भाट शम्बरसिद्धि हाथ ऊपर उठाकर जोर से यह (विरुद) पाठ करने लगा—॥१०२॥

अपने तेज से पिशाचों को सिद्ध करनेवाले की जय हो। म्लेच्छ-रूपी दावाग्नि की जय हो। सातों सागर-रूपी सीमावाली पृथ्वी-रूपी मानिनी नायिका के पति की जय हो॥१०३॥

जिनकी गौरवपूर्ण आज्ञा सभी पराजित राजा लोग अपने झुके हुए सिर पर धारण करते हैं, उनकी जय हो। पराक्रम में समुद्र के समान राजा विषमशील विक्रमादित्य की जय हो॥१०४॥

बन्दी के इतना कहने पर यह समझकर कि महाराज विक्रमादित्य आये हुए हैं, राजा मल्यसिंह ने उनके चरण पकड़ लिये॥१०५॥

उनका आतिथ्य किया, फिर उनको तथा मृत्यु से बची अपनी पुत्री मलयवती को साथ लिये अपने महल में प्रवेश किया॥१०६॥

और, विक्रमादित्य को अपनी कन्या दे दी तथा ऐसे जमाई को पाकर वह अपने को कृतकृत्य समझने लगा॥१०७॥

राजा विक्रमादित्य भी उस प्रियतमा राजकुमारी को जैसा चित्र में देखा, वैसा ही स्वप्न में देखकर और जैसा स्वप्न में देखा था, वैसा ही अपनी गोद में भी प्रत्यक्ष रूप से देखकर इस घटना को भगवान् शंकर के अनुग्रहरूपी कल्पवृक्ष का अद्भुत फल समझे॥१०८-१०९॥

तदनन्तर, साक्षात् आनन्द की मूर्त्ति-स्वरूप उस दुलहन मलयवती को लेकर उत्सुकतापूर्वक दीर्घकालीन विरह के समान समुद्र को पार करके विक्रमादित्य अपने नगर उज्जयिनी लौट आये, जिन्हें (रास्ते में) कदम-कदम पर उपहार हाथों में लिये राजा लोग प्रणाम करते गये॥१११॥

वहाँ (उज्जयिनी नगर में) चित्र के (देखने से उत्पन्न) कुतूहल को इच्छानुसार सत्य कर देनेवाले विक्रमादित्य का यह प्रभाव देखकर कौन विस्मित नहीं हुआ? कौन हर्षित न हुआ, या किसने महोत्सव न मनाया?॥११२॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
विषमशील लम्बक का तृतीय तरंग समाप्त

चतुर्थ तरंग

तदनन्तर, एक समय इसी कथा के क्रम में राजा विक्रमादित्य की कलिंगसेना नाम की रानी ने अपनी सौतों से कहा—॥१॥

रानी मलयवती (को प्राप्त करने) के लिए राजा विक्रमादित्य ने जो कुछ किया है, वह (कोई) आश्चर्य नहीं है; क्योंकि संसार (भर में ये राजा विषमशील-अद्भुत आचरण करनेवाले) के रूप में प्रख्यात हैं॥२॥

अहं न परिणीता किमवस्कन्द्यामुना बलात् ।
मद्रूपां पुत्रिकां दृष्ट्वा गतेनानङ्गनिघ्नताम् ॥३॥
एतन्निमित्तमाख्याता कथा कार्पटिकेन या ।
देवसेनेन मे तां वः कथयामि निशम्यताम् ॥४॥
परिणीतास्म्यविधिना कथं राज्ञेति दुःखिताम् ।
मामेत्याश्वासयन्नेवं स हि कार्पटिकोऽब्रवीत् ॥५॥
मा स्म मन्युं कृथा देवि श्रद्धया परया ह्यसि ।
परिणीतातिसंरम्भादत्रामूलात्कथां शृणु ॥६॥
अहं कार्पटिको भूत्वा सेवां कुर्वन्भवत्प्रभोः ।
अटव्यां दूरतोऽद्राक्षं महान्तं क्रोडमेकदा ॥७॥
दंष्ट्राविशङ्कटमुखं तमालश्यामलच्छविम् ।
कृष्णपक्षं शशिकलाः खादन्तमिव रूपिणम् ॥८॥
एत्य चावेदितो देवि मया राज्ञे तथैव सः ।
राजापि तद्रसाकृष्टो निरगान्मृगयाकृते ॥९॥
मृगाटवीं च सम्प्राप्य कुर्वन्व्याघ्रमृगक्षयम् ।
आवेदितं मया दूराद्वराहं पश्यति स्म तम् ॥१०॥
दृष्ट्वाद्भुतं च तं मत्वा कञ्चित्कारणसूकरम् ।
रत्नाकराख्यमारोहदश्वमुच्चैःश्रवःसुतम् ॥११॥
मध्याह्ने हि सदा भानुर्मुहूर्त्तं व्योम्नि तिष्ठति ।
तत्कालं चारुणेनाश्वा मुच्यन्ते स्नानपानयोः ॥१२॥
एकदोच्चैःश्रवा मुक्तस्तदा रविरथाद्वने ।
दृष्टामुपेत्य राज्ञोऽश्वां तं तुरङ्गमजीजनत् ॥१३॥
तस्मिन्नारुह्य वाताश्वे जवादन्वपतच्च तम् ।
वराहं विद्रुतं राजा भूमिं दूराद्दवीयसीम् ॥१४॥
तत्र दृष्टिपथात्सोऽस्य नष्टोऽभूत्क्वापि सूकरः ।
उच्चैःश्रवःसुतादश्वात्तस्मादपि जवाधिकः ॥१५॥
ततो राजा तमप्राप्य दूरोज्झितपरिच्छदः ।
एकमन्वागतं दृष्ट्वा मामेवं परिपृष्टवान् ॥१६॥
अपि जानासि कियतीं वयं भूमिमुपागताः ।
तच्छ्रुत्वा देवि राजानं प्रत्यवोचमहं तदा ॥१७॥

क्या इन्होंने मेरी आकृति की एक प्रतिमा देखकर काम से पीडित हो बलपूर्वक आक्रमण करके मुझसे विवाह न किया था ? ॥३॥

इस विषय में कार्पटिक (एक राजसेवक) देवसेन ने जो कहानी कही थी, वह मैं आप लोगों को सुनाती हूँ, सुनती जाइए ॥४॥

मैं जब इस बात के लिए खेद (प्रकट) कर रही थी कि राजा ने मेरा पाणिग्रहण इस अनुचित विधि से क्यों किया, तब मेरे पास आकर कार्पटिक देवसेन ने कहा— ॥५॥

हे रानी, आप क्रोध मत कीजिए। (राजा ने) आपका पाणिग्रहण परम श्रद्धा के साथ अतिवेग से किया है। इस बात की कथा शुरू से सुनिए ॥६॥

मैंने कार्पटिक हो आपके स्वामी (विक्रमादित्य) की सेवा करते हुए एक दिन वन में एक विशाल सूअर को दूर से ही देखा ॥७॥

उसका मुँह दाँतों से विकराल लगता था और उसका रंग तमाल-जैसा काला था, जिस से वह लगता था, मानों शशिकलाओं को खाते हुए साक्षात् कृष्णपक्ष हो ॥८॥

हे रानी, मैंने (जैसा देखा) वैसा ही राजा से कह सुनाया और राजा भी उसके प्रति आकृष्ट हो उसका शिकार करने निकल गये ॥९॥

शिकार के लिए वन में पहुँचकर बाघ और हरिण का शिकार करते हुए राजा विक्रमादित्य ने उस सूअर को दूर से ही देखा, जिसे मैंने बताया था ॥१०॥

उस अद्‌भुत सूअर को देख और उसे किसी कारणवश सूअर बना हुआ (कोई अन्य प्राणी) समझकर राजा विक्रमादित्य उच्चैःश्रवा के पुत्र रत्नाकर नाम के घोड़े पर सवार हुए ॥११॥

मध्याह्न के समय सूर्य प्रतिदिन क्षण-भर आकाश में रुक जाते हैं, और उसी समय में (सूर्य का सारथी) अरुण घोड़ों को नहाने और पानी पीने के लिए खोल देते हैं ॥१२॥

एक दिन उसी मध्याह्न के समय जब उच्चैःश्रवा सूर्य के रथ से खुला तब इस वन में राजा विक्रमादित्य की घोड़ी को देख उससे संगम करके (रत्नाकर नाम के) इस घोड़े को उत्पन्न किया ॥१३॥

उस वायुगामी घोड़े पर चढ़कर राजा विक्रमादित्य ने उस भागते हुए सूअर का वेग से पीछा किया और दूर से दूरतर चलते गये ॥१४॥

वहाँ उच्चैःश्रवा के पुत्र, उस रत्नाकर नाम के घोड़े से भी अधिक तेज चलनेवाला वह सूअर राजा विक्रमादित्य की आँख से ओझल हो कहीं चला गया ॥१५॥

तब राजा विक्रमादित्य ने, जो (अपने) परिजन को दूर ही छोड़ आए थे, अकेले मुझे—कार्पटिक देवसेन को—पीछे-पीछे आया हुआ देख मुझसे पूछा— ॥१६॥

क्या तुम जानते हो कि हम कितनी दूर आ गए हैं ? यह सुनकर हे रानी, मैंने राजा को उत्तर दिया— ॥१७॥

योजनानां शतानि त्रीण्यागताः स्मः प्रभो इति ।
ततो राजाब्रवीत्तर्हि त्वं पद्म्यां कथमागतः ॥१८॥
एवं सविस्मयेनाहं राज्ञा पृष्टस्तमब्रवम् ।
देवास्ति पादलेपो मे वृत्तान्तं चात्र तं शृणु ॥१९॥
पूर्वं भार्यावियोगेन तीर्थयात्राविनिर्गतः ।
पथि देवकुलं सायं सोद्यानं प्राप्तवानहम् ॥२०॥
तत्र चाहं निशां नेतुं प्रविष्टोऽपश्यमन्तरे ।
स्त्रियमेकामतिष्ठं च तत्रातिथ्यादृतस्तया ॥२१॥
रात्रौ च सा नभस्येकमोष्ठं कृत्वापरं भुवि ।
व्यात्तास्या प्राह मामीदृग्दृष्टं क्वापि मुखं त्वया ॥२२॥
ततोऽसिधेनुमाकृष्य सभ्रूभङ्गमबिभ्यता ।
त्वया चेदृक्पुमान्दृष्टः क्वापीत्युक्ता मयापि सा ॥२३॥
अथ सौम्यवपुर्भूत्वा साब्रवीन्मामवैकृता ।
यक्षी चण्ड्यभिधानाहं तुष्टा धैर्येण चास्मि ते ॥२४॥
तदिदानीं मम ब्रूहि किं प्रियं करवाणि ते ।
एवमुक्तवतीं तां च यक्षिणीमहमभ्यधाम् ॥२५॥
परितुष्टासि चेत्सत्यं तत्कुरुष्व तथा मम ।
अक्लेशेन यथा तीर्थान्यटेयं निखिलान्यपि ॥२६॥
एवं मयोक्ता यक्षी सा पादलेपमदान्मम ।
तेन तीर्थान्यहं भ्रान्तस्त्वं चेहाद्यानुधावितः ॥२७॥
तेनैव प्रत्यहं चाहमिहागत्याटवीभुवि ।
भुक्त्वा फलान्युज्जयिनीमेत्य सेवां करोमि ते ॥२८॥
इति देवि मया राजा विज्ञप्तोऽन्तरमन्यत ।
प्रसन्नदृष्टिकथितं योग्यं मामनुयायिनम् ॥२९॥
भूयो मयैवं विज्ञप्तो राजा देवानयाम्यहम् ।
सुस्वादूनि फलानीह भुज्यन्ते प्रभुणा यदि ॥३०॥
नाहं भोक्ष्ये न मे किञ्चिदुपयुक्तं भवान्पुनः ।
भुङ्क्तां किञ्चित्परिश्रान्त इति राजादिशच्च माम् ॥३१॥
ततः कर्कटिकां तत्र सम्प्राप्याहमभक्षयम् ।
तया चाजगरोऽभूवमहं भक्षितमात्रया ॥३२॥

हे प्रभो, हम तीन सौ योजन दूर आ गये हैं। तब राजा ने कहा—तो तुम पैदल (इतनी दूर) कैसे आये? ॥१८॥

राजा के विस्मयपूर्वक ऐसा पूछने पर मैंने उनसे कहा—महाराज, मैंने पाँवों में एक लेप लगाया है, उस लेप का वृत्तान्त यहाँ सुनिए॥१९॥

पहले (किसी समय) मैं पत्नी के विरह में तीर्थयात्रा को निकला। रास्ते में शाम को एक उद्यान-सहित देवालय मिला॥२०॥

वहाँ रात बिताने के लिए मैं उसके अन्दर गया। भीतर एक स्त्री को देखा। उसने मेरा आतिथ्य किया। मैं वहाँ रह गया॥२१॥

रात उस स्त्री ने एक होंठ को आकाश में और दूसरे को धरती पर तान मुँह बनाकर मुझसे कहा—क्या तुमने कहीं ऐसा मुँह देखा है? ॥२२॥

तब मैंने भी तलवार खींच भौहें तानकर निर्भीक भाव से कहा—क्या तुमने भी कहीं ऐसा पुरुष देखा है? ॥२३॥

तदनन्तर, वह सरल सौम्य रूपवाली होकर मुझसे बोली—मैं चण्डी नाम की यक्षिणी हूँ। तुम्हारी (इस) धीरता (निर्भीकता) से मैं प्रसन्न हूँ॥२४॥

इसलिए अब कहो, मैं तुम्हारी कौन-सी भलाई करूँ? उस यक्षिणी के ऐसा कहने पर मैंने उससे कहा—॥२५॥

यदि तुम मुझपर सचमुच ही प्रसन्न हो, तो मेरे लिए ऐसा (उपाय) कर दो, जिससे मैं विना परिश्रम सकल तीर्थों का भ्रमण कर लूँ॥२६॥

मेरे ऐसा कहने पर उस यक्षिणी ने मुझे पाँव में लगाने का एक लेप दिया। उस (लेप) के प्रभाव से मैंने सभी तीर्थों का भ्रमण किया और यहाँ आप के पीछे आया हूँ॥२७॥

उसी (लेप के प्रभाव) से मैं प्रति दिन यहाँ जंगल में आकर फल खाता हूँ और फिर उज्जयिनी जाकर आपकी सेवा करता हूँ॥२८॥

हे रानी, इतना कहने पर राजा विक्रमादित्य मुझे (अपने) मन में योग्य अनुचर समझने लगे—यह भाव उनके प्रसन्न नेत्रों से प्रकट होता था॥२९॥

पुनः मैंने राजा विक्रमादित्य से निवेदन किया कि हे राजन्, यदि आप खायें, तो मैं सुस्वादु फल यहाँ ला दूँ॥३०॥

तब राजा ने मुझसे कहा—मैं नहीं खाऊँगा, कोई भी (फल) मेरे उपयुक्त नहीं है। फिर भी तुम थके हुए हो, कुछ खा लो॥३१॥

तदनन्तर, वहाँ एक ककड़ी मिली और उसे मैं खा गया। उसको खाते ही मैं एक अजगर साँप हो गया॥३२॥

दृष्ट्वा चाजगरीभूतमकस्माद्देवि मां तदा।
देवो विषमशीलोऽभूत्सविषादः सविस्मयः ॥३३॥
एकाकी चात्र वेतालं भूतकेतुं समस्मरत्।
प्राङ्नेत्ररोगाद्दृष्ट्यैव मोचयित्वा वशीकृतम् ॥३४॥
स वेतालः स्मृतायातः प्रह्वो राजानमब्रवीत्।
किं स्मृतोऽस्मि महाराज निदेशो दीयतामिति ॥३५॥
अथ राजाब्रवीदेतं भद्र कार्पटिकं मम।
सहसाजगरीभूतं प्रापय प्रकृतिं निजाम् ॥३६॥
वेतालोऽप्यवददेव नास्ति शक्तिर्ममेदृशी।
शक्तयो नियता वारि वैद्युताग्निं न हन्ति किम् ॥३७॥
ततो राजाब्रवीत्तर्हि यामः पल्लीमिमां सखे।
अतो बुध्येत भिल्लेभ्यः कोऽप्युपायः कदाचन ॥३८॥
इत्यालोच्य सवेतालो राजा पल्लीं जगाम ताम्।
तत्र साभरणं दृष्ट्वा तं चौराः पर्यवारयन् ॥३९॥
किरतां शरवर्षाणि तेषां पञ्चशतानि च।
भूतकेतुः स वेतालो राजादेशादभक्षयत् ॥४०॥
शेषाः पलाय्य गत्वा तत्स्वसेनापतयेऽब्रुवन्।
एकाकिकेसरी नाम स चागात्सबलः क्रुधाः ॥४१॥
भृत्यस्यैकस्य च मुखाद्बुद्ध्वा प्रत्यभिजानतः।
सेनापतिः स राजानमेत्य जग्राह पादयोः ॥४२॥
ततो निवेदितात्मानं प्रह्वं प्रत्यभिनन्द्य तम्।
पृष्ट्वा च कुशलं राजा सेनापतिमभाषत ॥४३॥
मम कार्पटिको भुक्त्वा फलं कर्कटिकां वने।
गतोऽजगरतां तस्य युक्तिं तन्मुक्तये कुरु ॥४४॥
एतद्राजवचः श्रुत्वा सेनापतिरुवाच सः।
देवानुगोऽयं मत्पुत्रायास्मै तं दर्शयत्विति ॥४५॥
ततः स तेन तत्पुत्रो वेतालेन सहैत्य माम्।
ओषधीरसनस्येन पूर्ववन्मानुषं व्यधात् ॥४६॥
उपागच्छाम च ततो दृष्टा राजान्तिकं वयम्।
राजा च तमुदन्तं मां पादानतमबोधयत् ॥४७॥

हे रानी, तब मुझे अकस्मात् अजगर हुआ देख राजा विषमशील को विषाद भी हुआ और विस्मय भी ॥३३॥

वहाँ अकेले राजा विक्रमादित्य ने भूतकेतु नामक उस वेताल का स्मरण किया, जिसे पूर्व समय में उन्होंने देखते ही नेत्ररोग से मुक्त करके वश में किया था ॥३४॥

स्मरण करते ही वह वेताल आ पहुँचा और नम्रतापूर्वक राजा से बोला—हे महाराज, किसलिए मेरा स्मरण किया है, आदेश दिया जाय ॥३५॥

तब राजा ने कहा—हे भद्र, यह मेरा कार्पटिक जो अचानक अजगर हो गया है, उसे पुनः अपने रूप में कर दो ॥३६॥

वेताल ने कहा—हे राजन् मुझमें ऐसी शक्ति नहीं है। (सभी) शक्तियाँ सीमित होती हैं क्या पानी बिजली की आग को बुझा सकता है? ॥३७॥

तब राजा ने कहा—हे मित्र, तब मैं (इस) बस्ती में जाता हूँ, ताकि भीलों से इसका कोई उपाय कदाचित् ज्ञात हो ॥३८॥

यह सोचकर वेताल-सहित राजा विक्रमादित्य उस बस्ती में गये। वहाँ राजा को भूषणों से युक्त देख चोरों ने चारों ओर से घेर लिया ॥३९॥

तीरों की वर्षा करते हुए पाँच सौ चोरों को राजा के आदेश से उस वेताल भूतकेतु ने खा लिया ॥४०॥

जो चोर बचे, वे भागे और जाकर अपने सेनापति एकाकिकेसरी से कहा। वह सेनापति क्रुद्ध हो सेना-सहित (वहाँ) आ पहुँचा ॥४१॥

उस सेनापति ने पहचाननेवाले एक नौकर के मुँह से राजा विक्रमादित्य को जानकर पास आकर उनके पाँव पकड़ लिये ॥४२॥

तदनन्तर, उस सेनापति ने अपना परिचय देकर राजा विक्रमादित्य का अभिवादन किया। राजा ने प्रत्यभिवादन करके उससे कुशल पूछा और कहा— ॥४३॥

मेरा कार्पटिक वन में ककड़ी खाकर अजगर हो गया है, इसलिए उसके उद्धार का कोई उपाय करो ॥४४॥

राजा का यह वचन सुनकर सेनापति ने कहा—हे राजन्, आपका यह अनुचर मेरे इस पुत्र को (वहाँ ले जाकर) उसे दिखलावे ॥४५॥

तब उस सेनापति का पुत्र उस वेताल के साथ आया और बूटियों का रस नाक में डाल कर पुनः मुझे पूर्ववत् मनुष्य बना दिया ॥४६॥

और, हमलोग प्रसन्न हो वहाँ से राजा के पास आये और राजा ने चरण में झुके मुझको वह वृतान्त सुनाया (कि कैसे मैं अजगर से मनुष्य हुआ) ॥४७॥

एकाकिकेसरी सोऽथ भिल्लसेनापतिर्निजम् ।
गृहमभ्यर्थ्य राजानमनैषीदस्मदन्वितम् ॥४८॥
अपश्याम च तत्तस्य सदनं शबरीवृतम् ।
दन्तिदन्तचितोत्तुङ्गभित्ति व्याघ्रच्छदच्छवि ॥४९॥
वासांसि बर्हिपिच्छानि हारा गुञ्जाफलस्रजः ।
मातङ्गमदनिष्यन्दो यत्र स्त्रीणां च मण्डनम् ॥५०॥
तत्र सेनापतेर्भार्या परिचर्यां व्यधात्स्वयम् ।
राज्ञो मृगमदामोदिवासा मुक्ताद्यलङ्कृता ॥५१॥
स्नातभुक्तस्ततो राजा तत्र वृद्धांस्तदात्मजान् ।
सेनापतिं च तरुणं दृष्ट्वा तं परिपृष्टवान् ॥५२॥
सेनापते ममाश्चर्यमिदं तावत्त्वयोच्यताम् ।
तरुणस्त्वं त्वदीयास्तु पुत्रा वृद्धा अमी कथम् ॥५३॥
एवं स राज्ञा गदितः शबरेन्द्रोऽब्रवीदिदम् ।
महत्येषा कथा देव श्रूयतां यदि कौतुकम् ॥५४॥
चन्द्रस्वामीति विप्रोऽहं मायापुर्यां पुरावसम् ।
सोऽहं वनमगां जातु दार्वर्थं पितुराज्ञया ॥५५॥
तत्र मे मर्कटो मार्गं रुद्ध्वातिष्ठदबाधकृत् ।
आर्त्तेन चक्षुषा पश्यन्मार्गमन्यं प्रदर्शयन् ॥५६॥
न खादत्येष मां तावत्तद्गच्छामि वरं पथा ।
एतत्प्रदर्श्यमानेन पश्याम्यस्याशयं कपेः ॥५७॥
इत्यालोच्याथ तेनाहं मार्गेण प्रस्थितोऽभवम् ।
स च मे मर्कटोऽग्रेऽग्रे प्रायात्पश्यन्विवृत्य माम् ॥५८॥
गत्वा च दूरमारोहज्जम्बूवृक्षं स मर्कटः ।
तत्पृष्ठे च लताजालघने दृष्टिमदामहम् ॥५९॥
लतावलयवद्धाङ्गीमपश्यं चात्र वानरीम् ।
एतदर्थमनेनाहमानीत इति चाविदम् ॥६०॥
ततोऽह वृक्षमारुह्य वल्लीवलयपाशकम् ।
छित्त्वा परशुना तं च वानरींताममोचयम् ॥६१॥
अथावतीर्य वृक्षात्तौ वानरो वानरी च सा ।
अवतीर्णस्य मे पादावगृह्णीतामुभावपि ॥६२॥

तब भीलों का सेनापति वह एकाकिकेसरी सत्कार करके मेरे साथ राजा विक्रमादित्य को अपने घर ले गया।।४८।।

और, हमलोगों ने उसका घर देखा। वह घर शबरियों से भरा था। हाथी के दाँतों को ढेर करके ऊँची दीवारें बनीं थीं और व्याघ्रचर्मों से सुशोभित थीं।।४९।।

जहाँ मोर की पाँखें ही वस्त्र थीं, गुंजाफल की मालाएँ ही हार थीं और हाथी का मद-जल ही स्त्रियों का शृंगार-साधन था।।५०।।

वहाँ सेनापति की पत्नी ने स्वयं राजा की परिचर्या की। उसके वस्त्र कस्तूरी से महमह कर रहे थे, और वह मोतियों से अलंकृत थी।।५१।।

तब राजा विक्रमादित्य ने वहाँ स्नान-भोजन किया (और उसके बाद) सेनापति को युवा देख और उसके पुत्रों को वृद्ध देखकर सेनापति से पूछा—।।५२।।

हे सेनापति, मुझे यह आश्चर्य हो रहा है, सो तुम बताओ; तुम तो युवा हो, फिर ये तुम्हारे पुत्र वृद्ध कैसे हो गये?।।५३।।

राजा के ऐसा कहने पर शबरराज ने कहा—महाराज, यह कहानी बहुत बड़ी है। यदि कुतूहल हो, तो सुनिए।।५४।।

प्राचीन समय में मैं चन्द्रस्वामी नाम का ब्राह्मण था और मायापुरी में मेरा निवास था। मैं पिता की आज्ञा से किसी समय लकड़ी लाने वन गया।।५५।।

वहाँ एक बन्दर मुझे किसी प्रकार की बाधा न देते हुए मार्ग रोककर खड़ा हो गया और मेरी ओर देखते हुए (मुझे) दूसरा रास्ता दिखाने लगा।।५६।।

(मैंने अपने मन में सोचा,) यह बन्दर मुझे काट नहीं रहा है, इसलिए अच्छा हो कि यह बन्दर जो रास्ता बता रहा है, उससे जाऊँ और इसका आशय जानूँ।।५७।।

यह सोचकर मैं उस रास्ते से विदा हुआ और वह बन्दर मुड़-मुड़कर मुझे देखते हुए मेरे आगे-आगे चला।।५८।।

(कुछ) दूर जाकर वह बन्दर एक जामुन के पेड़ पर चढ़ गया। उस वृक्ष के ऊपर घने लता-जाल पर मेरी दृष्टि पड़ी।।५९।।

और मैंने वहाँ देखा कि लता के फन्दे में एक बन्दरी फँसी हुई है। मैं समझ गया कि इसीलिए यह बन्दर मुझे यहाँ ले आया है।।६०।।

तब मैंने पेड़ पर चढ़ कुल्हाड़ी से लता के फन्दे को काट उस बन्दरी को छुड़ाया।।६१।।

जब मैं (पेड़ से) उतरा, तब उस बन्दर और बन्दरी दोनों ने पेड़ से उतर कर मेरे पाँव पकड़ लिये।।६२।।

स्थापयित्वा च मे पादलग्नां तां वानरीं क्षणम् ।
गत्वा स कपिरानीय मह्यं दिव्यमदात्फलम् ॥६३॥
तदादाय गृहीत्वाहमिन्धनान्यागमं गृहम् ।
तत्र चाभक्षयं भार्यासहितस्तत्फलोत्तमम् ॥६४॥
तस्मिन्भुक्ते जरारोगौ सभार्यस्य गतौ मम ।
ततस्तत्रोदभूदस्मद्देशे दुर्भिक्षविप्लवः ॥६५॥
तदाक्रान्तश्च तत्रत्यो जनो यातो यतस्ततः ।
अहं दैवादिमं देशं सभार्यः प्राप्तवान्क्रमात् ॥६६॥
इह । काञ्चनदंष्ट्राख्यस्तदाभूच्छबराधिपः ।
तस्य शस्त्रमुपादाय भृत्यतामहमाश्रयम् ॥६७॥
आयोधनेषु दृष्ट्वा च तेषु तेष्वग्रयायिनम् ।
सोऽथ काञ्चनदंष्ट्रो मां सेनापत्येऽभिषिक्तवान् ॥६८॥
एकभक्त्या च स मया ततोऽप्याराधितः प्रभुः ।
मह्यमेवान्तकालेऽत्र राज्यं प्रादादपुत्रकः ॥६९॥
इहस्थस्य च मे यातान्यब्दानां सप्तविंशतिः ।
शतानि न जरा चास्ति मम तत्फलभक्षणात् ॥७०॥
एवं स्वोदन्तमाख्याय स राजानं सविस्मयम् ।
एकाकिकेसरी भूयो भिल्लराजो व्यजिज्ञपत् ॥७१॥
तन्मया वानरफलाद्यत्कृतं चिरजीवितम् ।
पूर्णं ततोऽद्य सम्प्राप्तं फलं त्वत्पाददर्शनम् ॥७२॥
अतोऽहमर्थये देव यो गृहागमनान्मयि ।
दर्शितोऽनुग्रहोऽद्यायं परितोषं स नीयताम् ॥७३॥
भार्यायां क्षत्रियायां मे देवोत्पन्नास्ति कन्यका ।
अनन्यतुल्या रूपेण नाम्ना मदनसुन्दरी ॥७४॥
कन्यारत्नं च तद्देवादृते नान्यत्र शोभते ।
तत्प्रयच्छामि तां तुभ्यमुद्वहस्व यथाविधि ॥७५॥
दासोऽहं च धनुर्लक्षद्वयेनानुगतः प्रभो ।
इति तेनार्थितो राजा स तथेत्यन्वमन्यत ॥७६॥
शुभे लग्ने च तां तस्य तनयां परिणीतवान् ।
मुक्ताकस्तूरिकाभारभृतोष्ट्रशतदायिनः ॥७७॥

फिर, उस बन्दरी को मेरे पाँव में लगी छोड़ वह बन्दर क्षण-भर में जाकर एक अलौकिक फल ले आया और मुझको दिया ॥६३॥

वह फल लेकर और ईन्धन बटोरकर मैं घर आया और वहाँ (आकर) पत्नी-सहित वह श्रेष्ठ फल खाया ॥६४॥

उसके खाने से मेरा और मेरी पत्नी का बुढ़ापा और (सारे) रोग दूर हो गये। उसके बाद मेरे देश में दुर्भिक्ष पड़ा ॥६५॥

उस (दुर्भिक्ष) से पीडित जन-समुदाय जहाँ-तहाँ चला गया और पत्नी-सहित मैं दैवयोग से आते-आते इस देश में पहुँच गया ॥६६॥

यहाँ उस समय काञ्चनदंष्ट्र नाम का शबरों का स्वामी रहता था। उसका शस्त्र लेकर मैं उसकी नौकरी करने लगा ॥६७॥

मुझे नाना शस्त्रों में सर्वोत्कृष्ट कुशल देखकर काञ्चनदंष्ट्र ने मुझे सेनापति के पद पर नियुक्त कर दिया ॥६८॥

मैंने अनन्य भक्ति से उसकी सेवा की, अतः उस शबरस्वामी ने, जो पुत्र-हीन था, अन्तकाल में मुझे ही अपना राज्य दे दिया ॥६९॥

यहाँ रहते-रहते मुझे सत्ताईस सौ वर्ष बीत गये हैं; फिर भी उस फल के खाने (के प्रभाव) से मुझे बुढ़ापा नहीं आया है ॥७०॥

भीलों के राजा उस एकाकिकेसरी ने विस्मित हुए राजा विक्रमादित्य से इस भाँति अपना वृत्तान्त सुनाकर पुनः यह निवेदन किया— ॥७१॥

इसीलिए, उस बन्दर के फल से जो मुझे चिरजीवित्व मिला, उसका फल आज आपके चरणों के दर्शन से पूरा हुआ है ॥७२॥

महाराज, अतः मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरे घर पधारकर आपने जो मुझपर कृपा दिखलाई है, उसे आज सफल बनावें ॥७३॥

हे राजन्, मुझे क्षत्रिय जाति की स्त्री से उत्पन्न एक पुत्री है। वह अनुपम रूपवती है। उसका नाम है मदनसुन्दरी ॥७४॥

हे राजा, वह कन्या श्रीमान् को छोड़ और कहीं शोभा नहीं पायगी। इसीलिए, मैं उसे आपको प्रदान करता हूँ। आप उसके साथ विधिवत् विवाह करें ॥७५॥

हे प्रभो, मैं दो लाख धनुर्धर वीरों के साथ आपका अनुगामी होता हूँ। उस (भील-राज) की प्रार्थना पर राजा ने वह स्वीकार कर लिया ॥७६॥

और, शुभ लग्न में उसकी (उक्त) पुत्री से विवाह किया। (भीलराज ने) मोती और कस्तूरी के भार से लदे एक सौ ऊँट दहेज में दिये ॥७७॥

सप्तरात्रमुषित्वा च राजा प्रस्थितवांस्ततः।
तया मदनसुन्दर्या सभिल्लानीकया सह ॥७८॥
अत्रान्तरेऽश्वापहृते राज्ञि तन्मृगयावने।
स्थितमस्मद्बलं विग्नं क्षत्ता भद्रायुधोऽभ्यधात् ॥७९॥
अलं विषादेनायाति नचिरादेव वः प्रभुः।
नास्य दिव्यप्रभावस्य किञ्चिदत्यहितं भवेत् ॥८०॥
किं न स्मरथ यद्गत्वा पातालात्परिणीय च।
नागकन्यां सुरूपाख्यामेककः स इहागतः ॥८१॥
गन्धर्वलोकं गत्वा च वीरः प्रत्यागतस्ततः।
तारावलीमुपादाय गन्धर्वाधिपकन्यकाम् ॥८२॥
इत्युक्त्वाश्वासिताः सर्वे तेन भद्रायुधेन ते।
अतिष्ठन्नटवीद्वारे राज्ञो मार्गविलोकिनः ॥८३॥
राजापि स्पष्टमार्गेण समं शबरसैनिकैः।
तस्यां मदनसुन्दर्यां प्रक्रामन्त्यां यथेच्छया ॥८४॥
प्राविशत्तुरगारूढः सवेतालो मया सह।
वनं तत्पूर्वदृष्टस्य वराहस्य दिदृक्षया ॥८५॥
प्रविष्टस्य च तत्रागाद्वराहस्तस्य सोऽग्रतः।
दृष्ट्वैव च स राजा तमवधीत्पञ्चभिः शरैः ॥८६॥
हतस्य तस्य धावित्वा वेतालेन विदारितात्।
उदराद्देवि निरगादकस्मात्सुभगः पुमान् ॥८७॥
को भवानिति यावत्तं राजा पृच्छति विस्मयात्।
जङ्गमाद्रिनिभस्तावदागात्तत्र वनद्विपः ॥८८॥
आपतन्तं तमारण्यं राजा दृष्ट्वैव कुञ्जरम्।
एकेनैव पृषत्केन मर्माहतमपातयत् ॥८९॥
तस्यापि पाटितात्तेन वेतालेनोदरान्तरात्।
पुरुषो निरगाद्दिव्यः स्त्री च सर्वाङ्गसुन्दरी ॥९०॥
प्रष्टुकामं च राजानं वराहोदरनिर्गतः।
स पुमानवदद्राजन्स्वोदन्तं शृणु वच्मि ते ॥९१॥
आवां देवकुमारौ द्वौ भद्राख्योऽयमहं शुभः।
तौ भ्रमन्तावपश्याव कण्वं ध्यानस्थितं मुनिम् ॥९२॥

सात रात (वहाँ) रहकर राजा विक्रमादित्य भीलसेना-सहित मदनसुन्दरी के साथ वहाँ से विदा हुए।।७८।।

उधर जब वह रत्नाकर घोड़ा राजा विक्रमादित्य को लेकर चला गया, तब उस बीच में उस शिकार के वन में वर्त्तमान घबराये हुए सैनिकों से प्रतीहार भद्रायुध ने कहा—।।७९।।

चिन्ता मत करो। हमारे राजा विक्रमादित्य शीघ्र ही आ जायेंगे। अलौकिक प्रभाव-वाले उनका कुछ भी अमंगल नहीं हो सकता है।।८०।।

क्या तुमलोगों को स्मरण नहीं है कि महाराज विक्रमादित्य अकेले ही जाकर सुरूपा नाम की नागकन्या को ब्याह लाये थे? ।।८१।।

और फिर, गन्धर्वलोक जाकर गन्धर्वराज की पुत्री तारावली को ले आये थे।।८२।।

इस प्रकार, भद्रायुध द्वारा आश्वासन दिये जाने पर (राजा के) वे सभी (परिजन लोग) राजा की राह देखते हुए उस वन के द्वार पर रहने लगे।।८३।।

(उधर) जब शबर-सैनिकों के साथ मदनसुन्दरी साफ रास्ते से स्वयं आगे बढ़ने लगी, तब राजा भी—।।८४।।

घोड़े पर सवार हो वेताल-सहित मुझको साथ ले उस सुअर को खोजने वन में घुसे, जिसे पहले देखा था।।८५।।

और, वहाँ प्रवेश करते ही वह सुअर उनके सामने आया और राजा विक्रमादित्य ने देखते ही उसे पाँच शरों से मार डाला।।८६।।

उसके मरने पर वेताल दौड़कर गया और उसका पेट चीर दिया। हे रानी कलिंग-सेना, तब उसके पेट से अकस्मात् एक सुन्दर पुरुष निकल आया।।८७।।

ज्योंही राजा विस्मित हो पूछते हैं कि तुम कौन हो, त्यों ही चलता पहाड़ जैसा एक जंगली हाथी वहाँ आ गया।।८८।।

विक्रमादित्य ने उस जंगली हाथी को आते देख मर्मस्थल में एक ही बाण मारकर उसे गिरा दिया।।८९।।

वेताल ने हाथी का भी पेट चीर दिया और उससे भी एक दिव्य पुरुष और एक सर्वांग-सुन्दरी स्त्री निकल पड़ी।।९०।।

ज्योंही राजा पूछना चाहें, त्योंही सुअर के पेट से निकले हुए उस पुरुष ने राजा से कहा—महाराज, मैं अपना वृत्तान्त आपसे सुनाता हूँ, आप सुनें।।९१।।

हम दोनों देवकुमार (देवता के लड़के) हैं। मेरा नाम है भद्र और इसका नाम है शुभ। हम दोनों ने घूमते-फिरते (एक समय) कण्व ऋषि को ध्यान लगाये देखा ।।९२।।

गजसूकरयो रूपमावाभ्यां क्रीडया कृतम् ।
कृत्वा च त्रासितो मोहन्महर्षिः शपति स्म नौ ॥९३॥
अटव्यामीदृशावेव भवतं गजसूकरौ ।
विक्रमादित्यभूपेन हतौ मुक्तिमवाप्स्यथः ॥९४॥
इत्यावां मुनिशापेन गजसूकरतां गतौ ।
त्वयाद्य मोचितौ स्त्री तु स्वोदन्तं वक्त्वयं स्वयम् ॥९५॥
एतं च सूकरं कण्ठे पृष्ठे च स्पृश वारणम् ।
कृपाणचर्मणी दिव्ये तवैतौ हि भविष्यतः ॥९६॥
इत्युक्त्वा सद्वितीयः स तिरोऽभूत्तौ च भूपतेः ।
क्रोडद्विपौ करस्पृष्टौ सम्पन्नौ खड्गचर्मणी ॥९७॥
ततः सा स्त्री स्ववृत्तान्तं पृष्टा सत्येवमब्रवीत् ।
भार्याहं धनदत्ताख्यस्योज्जयिन्यां वणिक्पतेः ॥९८॥
सा हर्म्यतलसुप्ताहमागत्यानेन दन्तिना ।
निगीर्यैवमिहानीता न चास्यान्तः पुमानभूत् ॥९९॥
भिन्नोदरात्तु निर्यातः पुमानस्मान्मया सह ।
एवमुक्तवतीं राजा दीनां तामवदत्स्त्रियम् ॥१००॥
धीरा भव गृहान्भर्त्तुर्भवतीं प्रापयाम्यहम् ।
समं मदवरोधेन गच्छ प्रक्रमनिर्भया ॥१०१॥
इत्युक्त्वानाययित्वा तां वेतालेन समर्पयत् ।
राज्ञ्यै मदनसुन्दर्यैः प्रक्रामन्त्यै पृथक्पथा ॥१०२॥
प्रत्यागतेऽथ वेताले तत्रापश्याव कानने ।
अकस्माद्राजकन्ये द्वे भूरिभव्यपरिच्छदे ॥१०३॥
आनाययच्च मां प्रेष्य तयो राजा महत्तरान् ।
कुतः के कन्यके चैते इति पृष्टाश्च तेऽब्रुवन् ॥१०४॥
अस्ति द्वीपं कटाहाख्यं केतनं सर्वसम्पदाम् ।
अन्वर्थनामा तत्रास्ति नृपतिर्गुणसागरः ॥१०५॥
तस्याजनि महादेव्यां नाम्ना गुणवती सुता ।
निर्मातुरेव धातुर्या रूपेणाश्चर्यदायिनी ॥१०६॥
तस्याश्च सिद्धैरादिष्टः सप्तद्वीपेश्वरः पतिः ।
ततश्च तत्पिता राजा सोऽमन्त्रयत मन्त्रिभिः ॥१०७॥

तुम्हारी ही खातिर (अपने) विद्याधर-जीवन में मैंने मेघवन में शाप पाया था और यहाँ भी तुम्हारी ही खातिर निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त कर जाऊँगा ॥१२१॥

(उसका) क्रन्दन सुनकर पद्मावती ने सखियों से कहा—(हे सखियो), यद्यपि पहचान की सभी बातें मिल रही हैं॥१२२॥

तथापि ये बातें परम्परया (अप्रत्यक्ष रूप से) सुनी हैं, अतः मेरे चित्त में यह निश्चय नहीं हो रहा है कि कदाचित् ये दोनों पुरुष वे ही (मुक्ताफलकेतु और संयतक) हों (या नहीं) ॥१२३॥

इसलिए, मैं इसका यह आतुर वचन नहीं सुन सकती हूँ, और पूजा का समय हो गया है, अतः मैं गौरी-मन्दिर जा रही हूँ ॥१२४॥

यह कहकर सखी-समेत पद्मावती गौरी-मन्दिर गई और देवी गौरी की पूजा करके उससे इस प्रकार निवेदन किया—॥१२५॥

(हे देवी), सिद्धीश्वर क्षेत्र में जिस पुरुष को मैंने देखा है, वह यदि सचमुच मेरा पूर्व प्रेमी (मुक्ताफलकेतु ही) हो, तो ऐसा कीजिए कि उससे शीघ्र मिलन हो जाय ॥१२६॥

(इधर) पद्मावती जबतक वहाँ प्रतीक्षा में खड़ी रही, तबतक (उधर) सिद्धीश्वर क्षेत्र में वर्त्तमान मुक्ताफलध्वज ने भी अपने मित्र पूर्वजन्म के संयतक (और इस जन्म के) महाबुद्धि से कहा—मित्र, जान पड़ता है वह अपने घर उस गौरी-मंदिर चली गई ॥१२७-१२८॥

इसलिए, आओ, हम लोग (भी) वहीं चलें। यह कहकर मुक्ताफलध्वज भी मन की भाँति (तेज) चलनेवाले उस विमान पर चढ़कर गौरी-मन्दिर ही चला गया ॥१२९॥

विमान द्वारा आकाश से उतरे मुक्ताफलध्वज को दूर से ही देखकर सखियों ने पद्मावती से कहा—हे देवी, यह आश्चर्य देखो ॥१३०॥

वह पुरुष तो दिव्य विमान से यहाँ भी आ गया। मनुष्य होने पर भी इसका यह ऐसा अलौकिक प्रभाव कैसे है ? ॥१३१॥

तब पद्मावती ने कहा—सखियो, तुम्हें स्मरण नहीं है क्या कि मैंने शाप देनेवाले उस दृढव्रत को शाप दिया था कि—॥१३२॥

तुम मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए मुक्ताफलकेतु का कामरूपी वाहन बनोगे, और उसी के इच्छानुसार चलोगे ॥१३३॥

इसलिए, निश्चय ही यह पुरुष विमान-रूपधारी उस मनिशिष्य को अपना वाहन बनाकर इच्छानुसार सर्वत्र घूम रहा है ॥१३४॥

पद्मावती के ऐसा कहने पर सखियों ने कहा—यदि तुम ऐसा समझ रही हो, तब हे देवि, उससे सादर मिलती क्यों न हो ? किस बात की प्रतीक्षा कर रही हो ? ॥१३५॥

विक्रमादित्यदेवोऽस्या योग्यो मे दुहितुर्वरः ।
तत्पाणिग्रहणायैतां तस्यैव प्रेषयाम्यहम् ॥१०८॥
इति सम्मन्त्र्य वहने जलधौ सपरिच्छदाम्।
आरोप्य सधनां तां च स राजा व्यसृजत्सुताम् ॥१०९॥
सुवर्णद्वीपनिकटं प्राप्तं दैवान्न्यगीर्यत।
सराजकन्यं सजनं वहनं शफरेण तत् ॥११०॥
स चाब्धिवेलया नीत्वा विधिगत्येव रोधसि।
क्षिप्तस्तद्द्वीपसंलग्नो महामत्स्योऽवसन्नवान् ॥१११॥
दृष्ट्वैव तत्र धावित्वा नानाप्रहरणो जनः।
व्यापाद्याश्चर्यमत्स्यस्य तस्योदरमपाटयत् ॥११२॥
निरगाच्च ततः पूर्णं जनैस्तद्वहनं महत्।
बुद्ध्वैतद्विस्मयादागात्तत्र तद्द्वीपभूपतिः ॥११३॥
स चन्द्रशेखरो राजा गुणसागरभूभृतः।
स्यालो जनाद्वहनगाद्यथातत्त्वमबुध्यत ॥११४॥
ततो बुद्ध्वा गुणवतीं भागिनेयीं स तां नृपः।
प्रवेश्य राजधानीं स्वामानन्दादुत्सवं व्यधात् ॥११५॥
अन्येद्युश्च सुतां चन्द्रवतीं नाम स भूपतिः।
विक्रमादित्यदेवाय दातुं प्राक्परिकल्पिताम् ॥११६॥
गुणवत्या तया साकं तत्कृते विभवोत्तराम्।
प्रास्थापयत्प्रवहणे सुमुहूर्त्तेऽधिरोपिताम् ॥११७॥
ते इमे तीर्णजलधी प्रक्रामन्त्यौ क्रमादिह।
राजकन्ये उभे प्राप्ते वयं परिकरोऽनयोः ॥११८॥
इह प्राप्तांश्च नः क्रोडवारणावभ्यधावताम्।
सुमहान्तौ ततोऽस्माभिरेवमाक्रन्दितं प्रभो ॥११९॥
आगते विक्रमादित्यदेवस्यैते स्वयंवरे।
कन्यके लोकपालास्तत्तस्य धर्मेण रक्षत ॥१२०॥
तच्छ्रुत्वावोचतां तौ नः क्रोडेभौ व्यक्तया गिरा।
धीरा भवत भीर्नास्ति राजनामग्रहेण वः ॥१२१॥
इहैव तं च राजानमागतं द्रक्ष्यथाधुना।
इत्युक्त्वा तौ गजक्रोडौ दिव्यौ कौचिदितो गतौ ॥१२२॥

इस (कन्या) के योग्य वर राजा विक्रमादित्य (ही) हैं, इसलिए इसको पाणिग्रहण के लिए विक्रमादित्य के यहाँ भेज दें ॥१०८॥

ऐसा विचार करके राजा गुणसागर ने बहुत-से धन और परिजनों के साथ अपनी कन्या को समुद्र में जहाज पर चढ़ाकर भेज दिया ॥१०९॥

जब वह जहाज सुवर्णद्वीप के पास पहुँचा, तब दैवयोग से एक 'ह्वेल' मछली परिजन और राजकन्या-समेत उस जहाज को निगल गई ॥११०॥

विधि की प्रेरणा से समुद्र की तरंगों ने उस महामत्स्य को किनारे में फेंक करके उस द्वीप से लगा दिया और वहाँ वह महामत्स्य स्थिर हो गया ॥१११॥

देखते ही जनसमुदाय नाना अस्त्र लेकर वहाँ दौड़े और उस आश्चर्यजनक मछली को मारकर उसका पेट फाड़ दिया ॥११२॥

और उस (के पेट) से लोगों से भरा वह विशाल जहाज निकला। यह खबर पाकर उस द्वीप का राजा विस्मय से वहाँ आ पहुँचा ॥११३॥

उस राजा का नाम चन्द्रशेखर था। वह राजा गुणसागर का साला लगता था। उसे जहाज पर के लोगों से सारा हाल मालूम हुआ ॥११४॥

तब राजा चन्द्रशेखर ने उस गुणवती को अपनी बहन की लड़की समझकर अपनी राजधानी में ले जाकर आनन्दोत्सव मनाया ॥११५॥

दूसरे दिन राजा चन्द्रशेखर ने चन्द्रावती नाम की अपनी लड़की को, पूर्व निश्चय के अनुसार राजा विक्रमादित्य को समर्पित करने के लिए, उस गुणवती के साथ अतिरिक्त धन देकर अच्छे लग्न में जहाज पर चढ़ा कर विदा किया ॥११६-११७॥

वे ही ये दोनों राजकन्याएँ समुद्र पार करके यात्रा करती हुई अब कहीं यहाँ आई हैं। हम लोग उन्हीं के रक्षक हैं ॥११८॥

जब हमलोग यहाँ पहुँचे, तब इस विशाल सुअर और हाथी ने हम पर हमला किया। तब हम लोग इस प्रकार पुकारने लगे—॥११९॥

विक्रमादित्य को स्वयं वरण करनेवाली ये दोनों कन्याएँ जो आई हुई हैं, उन्हें हे लोकपालो! आप लोग राजा विक्रमादित्य के धर्म से बचाइए ॥१२०॥

यह सुनकर उन सुअर और हाथी दोनों ने (मनुष्य की भाँति) स्पष्ट भाषा में हम से कहा—धीरज धरो। जब राजा विक्रमादित्य का नाम लिया, तब तुमलोगों को कोई डर नहीं ॥१२१॥

और, वे राजा विक्रमादित्य यहीं पधार रहे हैं। अतः, अभी तुम लोगों को उनका दर्शन होगा। यह कहकर वे अलौकिक सुअर और हाथी वहाँ से कहीं चले गये ॥१२२॥

एषोऽस्मदीयवृत्तान्त इत्युक्ते तैर्महत्तरैः ।
अयं स एव राजेति देवि तानहमब्रवम् ॥१२३॥
ततस्ते पादपतिता हृष्टास्ते राजकन्यके ।
तस्मै गुणवतीचन्द्रवत्यौ राज्ञे समर्पयन् ॥१२४॥
राजाप्यादिश्य वेतालं सुन्दर्यौ ते अनाययत् ।
सार्धं मदनसुन्दर्या समं तिस्रोऽपि यान्त्विति ॥१२५॥
स्वयं च तेन वेतालेनागतेन ततः क्षणात् ।
मया च सहितः प्रायादुत्पथेनैव देवि सः ॥१२६॥
गच्छतां च वनेऽस्माकं रविरस्तमुपागमत् ।
तत्कालं तत्र चास्माभिरश्रावि मुरजध्वनिः ॥१२७॥
कुतो मुरजशब्दोऽयमिति राजनि पृच्छति ।
वेतालः सोऽब्रवीद्देवकुलं देवात्र विद्यते ॥१२८॥
दिव्यकौतूहलं तच्च निर्मितं विश्वकर्मणा ।
तत्रैष मुरजध्वानः सन्धयाप्रेक्षणके प्रभो ॥१२९॥
इत्युक्तवान्स वेतालो राजा चाहं च कौतुकात् ।
तत्रागच्छाम संयम्य तुरगं प्रविशाम च ॥१३०॥
अपश्यामार्चितं चात्र तार्क्ष्यरत्नमयं महत् ।
लिङ्गं तदग्रे चोदग्रदीपकं प्रेक्षणीयकम् ॥१३१॥
अनृत्यन्सुचिरं तत्र दिव्यरूपा वरस्त्रियः ।
चतुर्विधेन वाद्येन गानगान्धर्वयोगिना ॥१३२॥
प्रेक्ष्यान्ते दृष्टमस्माभिस्तत्राश्चर्यं प्रविश्य यत् ।
स्तम्भस्थपुत्रिकास्वन्तर्नर्त्तक्यो लयमागताः ॥१३३॥
गायना वादकाद्याश्च चित्रस्थपुरुषेष्वपि ।
तद्दृष्ट्वा विस्मिते राज्ञि स वेतालोऽब्रवीदिदम् ॥१३४॥
मायेयमीदृशी दिव्या विश्वकर्मकृताक्षया ।
सततं हि भवत्येतत्सन्ध्ययोरुभयोरपि ॥१३५॥
इत्युक्ते तेन तत्रान्तर्भ्रमन्तौ वयमेकतः ।
सविशेषामपश्याम रूपेण स्तम्भपुत्रिकाम् ॥१३६॥
राजा तु तां विलोक्यैव तल्लावण्यविमोहितः ।
शून्यः स्तब्धः क्षणं सोऽपि स्तम्भोत्कीर्ण इवाभवत् ॥१३७॥

इस प्रकार, जब उन महत्तरों (सैनिक-प्रधानों) ने अपना वृत्तान्त सुनाया, तब हे रानी कलिंगसेना, मैंने कहा कि यही वे राजा विक्रमादित्य हैं ॥१२३॥

तदनन्तर, वे लोग हर्षित हो (राजा के) चरणों पर गिरे और गुणवती तथा चन्द्रवती नाम की दोनों कन्याएँ राजा विक्रमादित्य को समर्पित कीं ॥१२४॥

राजा विक्रमादित्य ने भी बेताल को आदेश देकर उन दोनों सुन्दरियों को मँगवा लिया, ताकि मदनसुन्दरी के साथ ही तीनों स्त्रियाँ जायें ॥१२५॥

हे रानी कलिंगसेना, तब राजा विक्रमादित्य ने क्षण-भर में लौटे हुए बेताल को तथा मुझको साथ लेकर बेरास्ते ही प्रस्थान किया ॥१२६॥

हमलोगों के वन में चलते-चलते सूरज डूब गया। उसी समय हम लोगों ने मृदंग का शब्द सुना ॥१२७॥

राजा ने पूछा—यह मृदंग का शब्द (यहाँ) कहाँ से आया? बेताल ने कहा—महाराज, यहाँ एक देवालय है ॥१२८॥

विश्वकर्मा ने उसे अलौकिक कुतूहलजनक बनाया है। वहीं यह मृदंग का शब्द सन्ध्याकालिक आरती के समय हो रहा है ॥१२९॥

इतना कहने पर वह बेताल, मैं (कार्पटिक) और राजा सभी वहाँ गये और घोड़े को बाँधकर भीतर घुसे ॥१३०॥

और, वहाँ देखा कि वैदूर्यरत्न के एक विशाल शिवलिंग की पूजा की गई है और उस लिंग के आगे जगमगाते द्वीपों से आरती की जा रही है ॥१३१॥

वहाँ गाने के साथ चारों प्रकार के बाजों पर स्वर्गीय रूपवाली श्रेष्ठ रमणियाँ देर क नाचती रहीं ॥१३२॥

आरती के अन्त में हमलोगों ने एक यह आश्चर्य देखा कि वे नर्त्तकियाँ (मन्दिर के) स्तम्भों में बनी हुई मूर्त्तियों के भीतर घुस गईं और वहीं लीन हो गईं ॥१३३॥

और, गाने-बजानेवाले पुरुष भी (भित्तिपर) चित्र में अंकित पुरुषों में लीन हो गये। यह देख राजा विक्रमादित्य विस्मित हो उठे, तब उस वेताल ने कहा— ॥१३४॥

यह विश्वकर्मा द्वारा निर्मित ऐसी ही दिव्य माया है। इसका क्षय कभी न होनेवाला है। यहाँ दोनों शाम सदा ही ऐसा होता रहता है ॥१३५॥

उस बेताल के ऐसा कहने पर हमलोगों ने उस देवालय के भीतर घूमते-घूमते एक ओर स्तम्भ में बनाई हुई एक (सुन्दरी की) मूर्त्ति देखी, जो (सबसे) विशिष्ट रूपवती थी ॥१३६॥

राजा तो उसे देखते ही उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गये और वे भी स्तम्भ में खचित मूर्त्ति की भाँति क्षण-भर शून्य और स्तब्ध से हो गये ॥१३७॥

अब्रवीच्च न पश्यामि रूपेणानेन चेदहम् ।
सजीवामङ्गनां तन्मे किं राज्यं किं च जीवितम् ॥१३८॥
एतच्छ्रुत्वा स वेतालोऽवादीन्नैतद्दुरासदम् ।
कलिङ्गसेना नामास्ति कलिङ्गाधिपतेः सुता ॥१३९॥
तां दृष्ट्वा रूपकारेण तद्रूपघटनेप्सुना ।
वर्धमानपुरीयेण कृतेयं सालभञ्जिका ॥१४०॥
तद्गत्वोज्जयिनीं तस्मात्कालिङ्गान्नृपतेः प्रभो ।
तामर्थयस्व तत्कन्यां विक्रमेण हराथवा ॥१४१॥
इति वेतालवचनं न्यधाद्राजा तथा हृदि ।
ततो नीत्वात्र तां रात्रिं प्रातः सम्प्रस्थिता वयम् ॥१४२॥
यान्तश्चाशोकवृक्षस्य तलेऽपश्याम पूरुषौ ।
भव्यौ द्वौ तौ च राजानमुत्थायानमतां ततः ॥१४३॥
कौ युवां किमरण्यस्थाविति राज्ञोक्तयोस्तयोः ।
एको वक्ति स्म देवतच्छ्रूयतां कथयाम्यहम् ॥१४४॥
धनदत्ताभिधानोऽहमुज्जयिन्यां वणिक्सुतः ।
सोऽहं हर्म्यतले जातु संसुप्तो भार्यया सह ॥१४५॥
प्रातः प्रबुध्य पश्यामि यावत्सा तत्र नास्ति मे ।
भार्या हर्म्ये न चान्येषु प्रासादोपवनादिषु ॥१४६॥
न तस्याश्चित्तमन्यादृक्क्लृप्तोऽत्र प्रत्ययस्तथा ।
यदि साध्व्यस्मि तदियं न म्लायेद्ध्रुवमित्यसौ ॥१४७॥
माला मह्यं तया दत्ता सा चाम्लानैव वर्त्तते ।
तन्न जाने क्व याता सा नीता भूतादिना नु किम् ॥१४८॥
इति सञ्चिन्तयंश्चिन्वन्नाक्रन्दन्विलपन्रुदन् ।
अतिष्ठं तद्वियोगाग्निज्वलितोऽहमभोजनः ॥१४९॥
बान्धवाश्वासितः किञ्चित्कृताहारोऽथ दुःखितः ।
ब्राह्मणान्भोजयन्नासं देवागारे कृतस्थितिः ॥१५०॥
तत्र जातु परिश्रान्तो विप्रो मामयमभ्यगात् ।
मया विश्रमितश्चायं स्नानाहारादिना तदा ॥१५१॥
कुतस्त्वमिति पृष्टश्च भुक्तोत्तरमसौ मया ।
वाराणसीसमीपस्थाद्ग्रामादस्मीत्यभाषत ॥१५२॥

और बोले कि यदि मैं ऐसी रूपवती सजीव सुन्दरी को न देख सकूँ, तो मेरा राज्य किस काम का और जीवन किस काम का? ॥१३८॥

यह सुनकर उस देवता ने कहा—यह कोई दुर्लभ नहीं है। कलिंगदेश के राजा की एक लड़की है कलिंगसेना ॥१३९॥

उसी (कन्या) को देखकर उसके रूप को चित्रित करने की इच्छा से वर्धमानपुर के एक मूर्त्तिकार ने यह स्तम्भमूर्त्ति बनाई है ॥१४०॥

इसलिए, आप उज्जयिनी जाकर, कलिंगदेश के राजा से उनकी वह पुत्री माँग लें या उसे अपने पराक्रम से हर लें ॥१४१॥

बेताल का यह वचन राजा ने मन में रख लिया। फिर, वहाँ वह रात बिताकर सुबह (होते ही) हम लोगों ने (वहाँ से) प्रस्थान किया ॥१४२॥

जाते-जाते हमलोगों ने एक अशोक वृक्ष के नीचे दो सुन्दर पुरुषों को देखा। तब उन दोनों (पुरुषों ने) उठकर राजा विक्रमादित्य को प्रणाम किया ॥१४३॥

राजा ने पूछा—'तुम दोनों कौन हो? वन में क्यों रहते हो?' तब उनमें से एक ने कहा—हे राजा, सुनिए, मैं सुनाता हूँ ॥१४४॥

मैं उज्जयिनी-निवासी एक वणिक् का लड़का हूँ। मेरा नाम धनदत्त है। एक रात मैं कोठे की छत पर अपनी पत्नी के साथ सोया ॥१४५॥

सुबह जागकर देखता हूँ कि मेरी वह पत्नी न तो छत पर है और न कहीं महल, उपवन आदि अन्य स्थानों में ही ॥१४६॥

उसके चित्त में कोई अन्य भाव नहीं था और उसके ऊपर मेरा ऐसा विश्वास है। क्योंकि, उसने मुझे एक माला दी थी और कहा था कि यदि मैं साध्वी हूँ, तो यह माला हरगिज न मुरझायगी। वह माला अम्लान ही है (अभी तक मुरझाई नहीं है)। इसलिए, समझ में नहीं आता कि वह कहाँ चली गई। कहीं प्रेत आदि तो उसे नहीं ले गया? ॥१४७-१४८॥

मैं इस प्रकार सोचते, उसे खोजते, चिल्लाते, विलाप करते और रोते हुए भोजन छोड़ उसकी विरहाग्नि की ज्वाला में जलते हुए रहने लगा ॥१४९॥

बान्धवों ने आश्वासन दिया, तब मैंने कुछ भोजन किया। उसके बाद दुःखी हो (घर छोड़) देवालय में ब्राह्मणों को भोजन कराते हुए रहने लगा ॥१५०॥

वहाँ एक समय यह ब्राह्मण थका हुआ मेरे पास आया। तब मैंने स्नान कराकर और भोजन देकर उसकी थकावट दूर की ॥१५१॥

फिर, भोजन के उपरान्त उससे पूछा कि तुम कहाँ से (आ रहे हो)? ऐसा पूछने पर उसने कहा—मैं वाराणसी के समीप के एक गाँव से आ रहा हूँ ॥१५२॥

मद्भृत्याख्यातमद्दुःखस्तत एषोऽब्रवीत्पुनः।
आत्मावसादितो मित्र किनुद्योगिना त्वया॥१५३॥
व्यवसायी हि दुष्प्रापमपि प्राप्नोति तत्सखे।
उत्तिष्ठ तव भार्यां तामन्विष्यावः सखास्मि ते॥१५४॥
कथं सान्विष्यते यस्या दिङ्मात्रं नैव बुध्यते।
इत्युक्तवन्तमथ मां प्रीत्या भूयोऽब्रवीदयम्॥१५५॥
मैवं किं केसटो न प्रागसम्भाव्यसमागमाम्।
प्राप रूपवतीं भार्यां तथा चैतत्कथां शृणु॥१५६॥
पुरे पाटलिपुत्रेऽभूद्धनाढ्यब्राह्मणात्मजः।
केसटाख्यो द्विजयुवा रूपे काम इवापरः॥१५७॥
स भार्यां सदृशीं प्रेप्सुः पित्रोरविदितो गृहात्।
निर्गत्य देशान्बभ्राम तांस्तांस्तीर्थापदेशतः॥१५८॥
क्रमाच्च नर्मदातीरं प्राप्ते जातु ददर्श सः।
महान्तमागतं तेन जन्ययात्राजनं पथा॥१५९॥
दृष्ट्वा च दूरात्तन्मध्यादेत्यैकस्तं द्विजाग्रणीः।
सम्भाष्य केसटं वृद्धः प्राह सप्रणयं रहः॥१६०॥
त्वत्तोऽहमर्थये किञ्चिल्लीलासाध्यं च तत्तव।
मम तूपकृतिः पूर्णा करोषि यदि वच्मि तत्॥१६१॥
तच्छ्रुत्वा केसटोऽवादीदार्यं शक्यं ब्रवीषि चेत्।
तन्निश्चितं मया कार्यं भवतूपकृतिस्तव॥१६२॥
ततो वृद्धद्विजोऽवादीच्छृणु पुत्रास्ति मे सुतः।
स चाग्रणीर्विरूपाणां सुरूपाणां भवानिव॥१६३॥
दन्तुरश्चिपिटघ्राणः कृष्णः कातरलोचनः।
पृथूदरो वक्रपादः शूर्पकर्णपुटश्च सः॥१६४॥
तादृशस्य कृते स्नेहात्कृत्वा रूपाभिवर्णनम्।
ब्राह्मणाद्रत्नदत्ताख्यात्कन्यका याचिता मया॥१६५॥
सा च रूपवती नाम पित्रा दातुं प्रतिश्रुता।
तेनान्वर्थाभिधा तस्मै सोऽद्य पाणिग्रहस्तयोः॥१६६॥
तदर्थमागता एते वयं दृष्टे च मत्सुते।
न सम्बन्धी सुतां दद्यादारम्भोऽयं वृथा भवेत्॥१६७॥

मेरे नौकरों ने उसे मेरे दुःख का हाल सुनाया। तब उसने पुनः (मुझसे) कहा—हे मित्र, कोई उपाय न करके (यों ही पड़े रहकर) तुमने अपने-आपको क्यों सताया है? ॥१५३॥

क्योंकि, उद्योगी पुरुष दुष्प्राप्य वस्तु को भी प्राप्त कर लेता है। इसीलिए, हे मित्र, (धनदत्त), तुम उठो (और चलो मेरे साथ); हम दोनों तुम्हारी पत्नी की खोज करें; क्योंकि मैं तुम्हारा मित्र हूँ ॥१५४॥

मैंने कहा—वह किस ओर गई, इतना भी जब ज्ञात नहीं है, तब उसकी खोज किस प्रकार होगी?- तब उस ब्राह्मण ने पुनः मुझसे स्नेहपूर्वक कहा— ॥१५५॥

ऐसा मत कहो। क्या प्राचीन समय में केसट ने अपनी रूपवती स्त्री को नहीं प्राप्त किया था जिसका मिलन असम्भव-सा था? सुनो, वह कहानी मैं कहता हूँ ॥१५६॥

(प्राचीन समय में) पाटलिपुत्र नाम के नगर में केसट नाम का एक धनी ब्राह्मण का लड़का था। वह ब्राह्मणकुमार सौन्दर्य में दूसरा कामदेव जैसा लगता था ॥१५७॥

वह अपने अनुरूप स्त्री पाने की इच्छा से माँ-बाप से (इस बात को) छिपाये तीर्थयात्रा के व्याज से घर से निकल देश-देशान्तर में घूमने लगा ॥१५८॥

एक समय जब वह जाते-जाते नर्मदा नदी के किनारे पहुँचा, तब उस मार्ग से एक बड़ी बरात को जाते देखा ॥१५९॥

उस केसट को दूर से ही देख उस बरात से एक श्रेष्ठ वृद्ध ब्राह्मण आया और बातें करके केसट से एकान्त में प्रेमपूर्वक कहा— ॥१६०॥

(हे ब्राह्मण) मैं तुमसे कुछ याचना करता हूँ। यह याचना तुम अनायास पूरी कर सकते हो; किन्तु मेरा (बड़ा) उपकार होगा। यदि तुम पूरी करो तो मैं कहूँ ॥१६१॥

यह सुनकर केसट ने कहा—हे आर्य, यदि तुम कहते हो कि मेरे लिए वह सम्भव है, तो मैं जरूर वह (याचना) पूरी करूँगा (ताकि) तुम्हारा उपकार हो ॥१६२॥

तब उस वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—पुत्र, सुनो,- मेरा एक लड़का है। वह कुरूपों में अग्रणी है, जैसे तुम रूपवानों में अग्रणी हो ॥१६३॥

वह दन्तुर है, उसकी नाक सपाट है, रंग काला है, आँखें छोटी-छोटी हैं, पेट लम्बा है, टाँगें टेढ़ी हैं और कान सर्प जैसे हैं ॥१६४॥

ऐसे (कुरूप) पुत्र के लिए मैंने स्नेहवश (मिथ्या) रूप का वर्णन करके रत्नदत्त नाम के एक ब्राह्मण से उसकी कन्या की याचना की ॥१६५॥

उस कन्या का नाम रूपवती है और नाम के अनुरूप ही वह सुन्दरी भी है। उसके पिता नरदत्त ने वह कन्या मेरे उस पुत्र को देना स्वीकार कर लिया है। सो आज उन दोनों का विवाह (होनेवाला) है ॥१६६॥

इसीलिए ये हमलोग (बारात में) आये हैं। किन्तु, मेरे पुत्र को देखने पर मेरे समधी अपनी लड़की का विवाह न होने देंगे, और (हम लोगों का) यह (सारा) प्रयास व्यर्थ हो जायगा ॥१६७॥

उपायं ध्यायता चात्र मया लब्धो भवानिह
तद्वाचा प्रतिपन्नं द्रागिदं मे वाञ्छितं कुरु॥१६८॥
अस्माभिः सममागत्य कन्यां तां परिणीय च ।
मत्पुत्राय प्रयच्छाद्य वध्वास्त्वं ह्यनुरूपकः॥१६९॥
तच्छ्रुत्वा तं तथेत्युक्तवन्तमादाय केसटम् ।
नौभिः स नर्मदां तीर्त्वा पारं वृद्धद्विजो ययौ॥१७०॥
प्राप्य चैकं पुरं सोऽथ व्यश्रमत्सानुगो बहिः ।
आकाशपथिकोऽस्ताद्रौ तावदर्कोऽप्युपाविशत्॥१७१॥
प्रसर्पति ततो ध्वान्ते जलोपान्ते स केसटः ।
उपस्प्रष्टुं गतोऽद्राक्षीद्राक्षसं घोरमुत्थितम्॥१७२॥
भक्षयाम्यहमेष त्वां क्व मे केसट यास्यसि ।
इत्युक्तवन्तं च स तं राक्षसं केसटोऽभ्यधात्॥१७३॥
मा स्म मां भक्षयेस्तावत्त्वामुपैष्याम्यहं पुनः ।
ब्राह्मणस्य प्रतिज्ञातं कार्यं निर्वाह्य निश्चितम्॥१७४॥
तच्छ्रुत्वा कारयित्वा च शपथं सोऽथ राक्षसः ।
मुमोच केसटं सोऽपि तज्जन्यबलकं ययौ॥१७५॥
ततः स वृद्धविप्रस्तं वरमण्डनमण्डितम् ।
आदाय केसटं जन्यैः समं तत्प्राविशत्पुरम्॥१७६॥
तत्र सज्जितवेदीकं रत्नदत्तगृहं च सः ।
प्रावेशयत्केसटं तं विविधातोद्यनादितम्॥१७७॥
केसटश्च स तां सम्यगुपयेमे वराननाम् ।
कन्यां रूपवतीं तत्र पित्रा प्रत्तमहाधनाम्॥१७८॥
ननन्द स्त्रीजनश्चात्र तुल्यौ वीक्ष्य वधूवरौ ।
सा च रूपवती प्राप्तं दृष्ट्वा तं तादृशं वरम्॥१७९॥
तस्याः सख्योऽपि तं दृष्ट्वा जज्ञिरे जातमन्मथाः ।
विषादविस्मयाक्रान्तः स त्वासीत्केसटस्तदा॥१८०॥
रात्रौ च शयनीये तं चिन्तासक्तं पराङ्मुखम् ।
प्रियं रूपवती दृष्ट्वा व्याजसुप्तं चकार सा॥१८१॥
निशीथे सोऽथ सुप्तां तां मत्वा निर्गत्य केसटः ।
राक्षसस्यान्तिकं तस्य सत्यं पालयितुं ययौ॥१८२॥

इसी का उपाय सोचते-सोचते मुझे यहाँ तुम मिले हो। इसलिए, तुम मेरा वह वांछित कार्य झटपट कर दो, जिसे तुमने (अभी) वचन से स्वीकार किया है ॥१६८॥

आज तुम हमलोगों के साथ आओ और उस कन्या से विवाह करके (वह कन्या) मेरे पुत्र को दे दो; क्योंकि तुम उस कन्या के अनुरूप हो ॥१६९॥

यह सुनकर जब केसट ने 'हाँ' कहा, तब उसे लेकर वह वृद्ध ब्राह्मण नावों पर चढ़ कर नर्मदा नदी तरण करके उस पार पहुँचा ॥१७०॥

फिर, एक नगर में पहुँचकर साथ चलनेवाले लोगों-सहित उस वृद्ध ब्राह्मण ने बाहर में डेरा डाला; और तबतक आकाश के पथिक (भगवान्) सूर्य भी अस्ताचल पर आसीन हुए ॥१७१॥

तदनन्तर, जब अँधेरा छाया, तब वह केसट मुँह-हाथ धोने नदी के किनारे गया। वहाँ उसने एक भयंकर राक्षस को खड़ा देखा ॥१७२॥

उस राक्षस ने कहा—अरे केसट, अभी मैं तुम्हें खाता हूँ; तुम जाओगे कहाँ? तब केसट ने उस राक्षस से कहा—॥१७३॥

'अभी मुझे मत खाओ। ब्राह्मण का एक कार्य मैंने स्वीकार किया है उसे पूरा करके मैं निश्चय ही फिर तुम्हारे पास आऊँगा' ॥१७४॥

यह सुनकर और शपथ कराकर उस राक्षस ने केसट को छोड़ दिया। केसट भी उस बरात के दल में चला गया ॥१७५॥

तदनन्तर, उस वृद्ध ब्राह्मण ने दूल्हे के वस्त्राभूषणों से भूषित केसट को लेकर वरयात्रियों के साथ उस नगर में प्रवेश किया ॥१७६॥

वहाँ उस वृद्ध ब्राह्मण ने उस केसट को रत्नदत्त के घर के भीतर भेजा, जहाँ वेदी सजाई हुई थी और विविध बाजे बज रहे थे ॥१७७॥

वहाँ केसट ने उस श्रेष्ठ कन्या रूपवती से विवाह किया और पिता ने उस कन्या को बहुत-से धन दिये ॥१७८॥

दूल्हा और दुलहन दोनों का रूप समान देखकर वहाँ महिलाएँ आनन्दित हुईं और वह रूपवती भी वैसा दूल्हा देख आनन्दित हुई ॥१७९॥

उस कन्या की सहेलियाँ भी उस दूल्हे को देखकर कामदेव की शिकार हो गईं। किन्तु, केसट उस समय विषाद और विस्मय में पड़ा हुआ था ॥१८०॥

और, रात में वह रूपवती शय्यापर अपने पति को चिन्ताकुल और मुँह घुमाये देख कपट-निद्रा में सो गई ॥१८१॥

मध्यरात्रि में वह केसट उस रूपवती को निद्रित समझकर निकला और अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने उस राक्षस के पास गया ॥१८२॥

सापि रूपवती स्वैरमुत्थायानुपलक्षिता ।
सकौतुका तं भर्त्तारमन्वियाय पतिव्रता ॥१८३॥
प्राप्तं च केसटं तत्र राक्षसः स जगाद तम् ।
साधु भोः पालितं सत्यं महासत्त्वोऽसि केसट ॥१८४॥
पुरं पाटलिपुत्रं तद्देसटश्च पिता त्वया ।
पवित्रितस्तदायाहि यावत्त्वां भक्षयाम्यहम् ॥१८५॥
तच्छ्रुत्वा सहसोपेत्य रूपवत्यभ्यधादिदम् ।
मां खाद भक्षिते ह्यस्मिन्पत्यौ का मे गतिर्भवेत् ॥१८६॥
भिक्षा ते गतिरित्युक्ते रक्षसा साप्युवाच तम् ।
को मे भिक्षां महासत्त्व दास्यतीह स्त्रिया इति ॥१८७॥
यो न दास्यति भिक्षां ते याचितस्तस्य यास्यति ।
शतधा शिर इत्युक्ते राक्षसेन च साब्रवीत् ॥१८८॥
तर्हि त्वमेव मे देहि भर्त्तृभिक्षामिमामिति ।
अददच्च ममाराशु शीर्णमूर्धा स राक्षसः ॥१८९॥
साथ केसटमादाय तच्चारित्रातिविस्मितम् ।
आगाद्रूपवती वेश्म तावच्चाक्षीयत क्षपा ॥१९०॥
श्वोभूते च कृताहारं तज्जन्यबल्लकं ततः ।
प्रस्थाय नर्मदातीरं सम्प्राप सवधूवरम् ॥१९१॥
ततो वधूं रूपवतीं नावमारोप्य सानुगाम् ।
स मुख्यवृद्धविप्रोऽन्यां नावमारोहदात्मना ॥१९२॥
केसटं तु पृथङ्नावि स्वीकृत्याभरणादि सः ।
आरोपयच्छठः कृत्वा नाविकैः सह संविदम् ॥१९३॥
ततः स सवधूजन्यः पारं तीर्त्वा ययौ द्विजः ।
नदीमध्येन दूरं तु दाशैर्निन्ये स केसटः ॥१९४॥
तत्र क्षिप्त्वा महत्योघे नावं तां केसटं च ते ।
वृद्धद्विजादात्तधना बाहुतीर्णापगा ययुः ॥१९५॥
केसटस्तु सनौकोऽपि नद्या हृत्वोत्तरङ्गया ।
क्षिप्तोऽम्बुधौ वातवशान्न्यस्तोऽभूदूर्मिणा तटे ॥१९६॥
तत्रायुषः सशेषत्वात्समाश्वस्य व्यचिन्तयत् ।
अहो प्रत्युपकारोऽयं कृतस्तेन द्विजेन मे ॥१९७॥

वह पतिव्रता रूपवती भी धीरे-से उठी और अलक्षित रूप से कुतूहलवश पति के पीछे-पीछे चली ॥१८३॥

जब केसट वहाँ (राक्षस के पास नदी के किनारे) पहुँचा, तब उस राक्षस ने उससे कहा—'वाह-वाह ! तुमने सत्य का पालन किया। हे केसट, तुम महान् व्यक्ति हो' ॥१८४॥

तुमने (अपने जन्मस्थान) पाटलिपुत्र नगर को तथा (अपने) पिता देसट को पवित्र किया। अतः, आओ, अब मैं तुम्हें खाता हूँ ॥१८५॥

यह सुनकर वह रूपवती सहसा वहाँ आकर बोली—(हे राक्षस,) तुम मुझको खाओ। मेरे पति को खाओगे, तो मेरी क्या गति होगी ? ॥१८६॥

राक्षस ने कहा—'तुम्हारी गति होगी भीख।' इसपर रूपवती ने उस राक्षस से कहा—'महाशय, मुझ स्त्री को यहाँ कौन भीख देगा ?' ॥१८७॥

राक्षस ने कहा—माँगने पर जो तुम्हें भीख न देगा, उसका सिर खण्ड-खण्ड हो जायगा। राक्षस के इतना कहने पर उस रूपवती ने कहा—॥१८८॥

तो (पहले) तुम ही मुझे पति की भीख दो। उस राक्षस ने वह भीख न दी, अतः (तुरत) उसका मस्तक फट गया और वह मर गया ॥१८९॥

तदनन्तर, वह रूपवती अपने चरित्र से विस्मित केसट को लेकर (अपने) घर गई। तबतक वह रात भी बीत गई ॥१९०॥

सुबह होने पर वह बरात भोजनादि करके दूल्हे-दुल्हिन-सहित वहाँ से विदा हो नर्मदा नदी के किनारे पहुँची ॥१९१॥

उसके बाद उस मुख्य वृद्ध ब्राह्मण ने परिजन-समेत दुल्हिन रूपवती को एक नाव पर चढ़ाकर स्वयं दूसरी नाव पर चढ़ा ॥१९२॥

किन्तु, उस दुष्ट (वृद्ध ब्राह्मण) ने (घूस में) आभूषण आदि देना स्वीकार कर नाविकों के साथ मेल करके उस केसट को एक अलग नाव पर चढ़ाया ॥१९३॥

इसके बाद वह वृद्ध ब्राह्मण दुल्हिन और बरात के साथ (नर्मदा) नदी पार कर गया; किन्तु (उस बेचारे) केसट को नाविक लोग बीच धार से होकर दूर ले गये ॥१९४॥

वहाँ जल के भारी वेग में नाव और केसट को फेंककर नाविक लोग, जिन्हें (घूस में) उस वृद्ध ब्राह्मण ने (बहुत-सा) धन दिया था, बाँहों से नदी तैरकर चले गये ॥१९५॥

किन्तु, नौका-सहित केसट को उछलती तरंगोंवाली नदी ने ले जाकर समुद्र में फेंक दिया और वहाँ हवा के कारण तरंगों ने उसे तट पर रख दिया ॥१९६॥

वहाँ आयु शेष रहने के कारण (मृत्यु से बचकर) आश्वस्त हो केसट ने सोचा—अहा ! इस ब्राह्मण ने तो मेरा (बड़ा) प्रत्युपकार किया ॥१९७॥

किं वा तेनैव नाख्याता तस्य निर्धर्ममूर्खता ।
युनक्ति भार्यया पुत्रं परेण परिणाय्य यत् ॥१९८॥
इति सञ्चिन्तयन्यावदास्ते तत्र स विह्वलः ।
विचरत्खेचरीचक्रा तावत्तस्याययौ क्षपा ॥१९९॥
तस्यां विनिद्रस्तुर्ये स यामे कलकलं दिवि ।
श्रुत्वा ददर्श सुभगं खाद्भ्रष्टं पुरुषं पुरः ॥२००॥
त्रस्तश्चिरादविकृतं तं विभाव्य स केसटः ।
को भवानिति पप्रच्छ ततस्तं सोऽब्रवीत्पुमान् ॥२०१॥
त्वं मे ब्रूहि भवान्कोऽत्र ततो वक्ष्याम्यहं तव ।
तच्छ्रुत्वा केसटस्तस्मै स्ववृत्तान्तमवर्णयत् ॥२०२॥
ततः स पुरुषोऽवादीत्तुल्यावस्थोऽसि तर्हि मे ।
तदिदानीं स्ववृत्तान्तं तव वच्मि सखे शृणु ॥२०३॥
अस्ति वेणानदीतीरे पुरं रत्नपुराख्यया ।
तत्र कन्दर्पनामाहमाढ्यपुत्रो गृही द्विजः ॥२०४॥
सोऽहं प्रदोषे तोयार्थी वेणामवतरन्नदीम् ।
तस्यां स्खलित्वा पतितो वार्योघेण हृतोऽभवम् ॥२०५॥
दूरं नीत्वा तया रात्र्या तेनाहं च दिनागमे ।
आयुर्बलात्कच्छगते तरुखण्डे निवेशितः ॥२०६॥
शाखावलम्बेनारुह्य रोधस्याश्वस्य चान्तिके ।
मातृदेवगृहं शून्यं तत्रापश्यमहं महत् ॥२०७॥
तस्मिन्प्रविश्य दृष्ट्वान्तः स्फुरन्तीरिव तेजसा ।
मातृरहं शान्तभयो नत्वा स्तुत्वा व्यजिज्ञपम् ॥२०८॥
भगवत्यः परित्राणं कुरुध्वं कृपणस्य मे ।
अहमेष हि युष्माकं प्राप्तोऽद्य शरणागतः ॥२०९॥
इति विज्ञप्य नद्योघपरिक्लिष्टस्य तत्र मे ।
विश्राम्यतः शनैर्मित्र विश्रान्ति वासरोऽप्यगात् ॥२१०॥
आगात्तारास्थिमालाढ्या ज्योत्स्नाभूतिसिता ततः ।
शशिशुभ्रकपाला च रौद्री रजनितापसी ॥२११॥
तत्कालं चात्र जानामि ततो मातृगणान्तरात् ।
निर्गत्य योगिनीग्रामः परस्परमभाषत ॥२१२॥

अथवा उस ब्राह्मण की अधार्मिकता और मूर्खता क्या इसी से प्रकट न हो गई कि वह दूसरे के साथ विवाह कराके अपने पुत्र को पत्नी दे रहा था? ॥१९८॥

इस प्रकार सोचते हुए वह व्याकुल हो वहाँ (कुछ देर) बैठा रहा कि इतने में रात हो गई और दिव्य महिलाएँ (आकाश में) विचरण करने लगीं ॥१९९॥

उस रात चौथे पहर (भोर) में आकाश में शोर-गुल सुनकर वह जगा और अपने आगे एक सुन्दर पुरुष को आकाश से गिरा देखा ॥२००॥

(देखकर) वह केसट डर गया। फिर, देर तक उसे उसी रूप में देख उससे पूछा—तुम कौन हो? तब उस पुरुष ने केसट से कहा—॥२०१॥

(पहले) तुम (ही) मुझसे कहो कि यहाँ तुम कौन हो; उसके बाद मैं (अपना परिचय) कहूँगा। यह सुनकर केसट ने उसे अपना वृत्तान्त कह सुनाया ॥२०२॥

तब उस पुरुष ने कहा—तब तो तुम्हारी और मेरी अवस्था एक-सी है। अतः, अब मैं तुमसे अपना वृत्तान्त कहता हूँ, हे मित्र, सुनो ॥२०३॥

वेणा नाम की नदी के किनारे रत्नपुर नाम का एक नगर है। वहाँ मैं एक धनवान् का लड़का था। मेरा नाम था कन्दर्प और मैं गृहस्थ ब्राह्मण था ॥२०४॥

मैं पानी (भरने) के लिए सन्ध्या को वेणा नदी में उतरते हुए फिसलकर उस नदी में गिर पड़ा और जल की तरंग में बह गया ॥२०५॥

वह तरंग उस रात मुझे बहुत दूर ले गई और सुबह होने पर आयु के बल से (आयु शेष रहने के सौभाग्य से) उस तरंग ने मुझे तटवर्त्ती वृक्षों से लगा दिया ॥२०६॥

फिर, डाल पकड़कर मैं किनारे चढ़ा और आश्वस्त होने पर वहाँ देखा कि निकट में एक सूना विशाल देवी-स्थान है ॥२०७॥

मैं उसके भीतर गया, और भीतर में तेज से फड़कती-सी माताओं (देवियों की प्रतिमाओं) का दर्शन किया, फिर निर्भय हो प्रणाम और स्तुति करके उनसे प्रार्थना की—॥२०८॥

(हे देवियो), आप मुझ दीन की रक्षा कीजिए। मैं आज आप लोगों की शरण में आ गया हूँ ॥२०९॥

यह प्रार्थना करके नदी के जल-वेग से परिश्रान्त मैं वहाँ विश्राम करने लगा और हे मित्र, धीरे-धीरे वह दिन भी विश्रान्त (समाप्त) हो गया ॥२१०॥

तब तारा-रूपी हड्डियों की मालाएँ पहने, चाँदनी-रूपी भस्म से सफेद वर्णवाली, चाँद-रूपी श्वेत कपाल धारण किये, रुद्र की उपासिका रात्रि-रूपी तापसी आ गई ॥२११॥

तब मालूम हुआ कि उसी समय वहाँ उन माताओं के बीच से योगिनियाँ निकलकर आपस में (इस भाँति) बतियाने लगीं—॥२१२॥

अद्य चक्रपुरेऽस्माभिर्गन्तव्यं चक्रमेलके।
इह च श्वापदाकीर्णे रक्षास्य ब्राह्मणस्य का ॥२१३॥
तदेष स्थाप्यतां नीत्वा यत्रैतस्य शुभं भवेत्।
आनेष्यामः पुनश्चैनमेषोऽस्माञ्शरणं श्रितः ॥२१४॥
इत्युक्त्वा खेन नीत्वा मामलङ्कृत्य निधाय च।
पुरे क्वापि गृहे कस्याप्याढ्यविप्रस्य ता गताः ॥२१५॥
तत्र पश्यामि यावच्च कन्योद्वाहाय सज्जिता।
वेदो लग्नश्च सम्प्राप्तो न जन्यबलकं पुनः ॥२१६॥
ततस्तत्र स्थितं दिव्यवरवेषं विलोक्य माम्।
अयं तावद्वरः प्राप्त इति सर्वोऽब्रवीज्जनः ॥२१७॥
ततो नीत्वैव मां वेदीमानीयालङ्कृतां सुताम्।
गृहस्थोऽत्र स विप्रस्तां मह्यं प्रादाद्यथाविधि ॥२१८॥
दिष्ट्या तुल्यवरप्राप्तेरस्याः सुमनसोऽधुना।
सौन्दर्यं सफलीभूतमित्यन्योन्यं स्त्रियोऽभ्यधुः ॥२१९॥
ततः कृतविवाहोऽत्र तया सुमनसा सह।
महोपचारसुखितः प्रासादे सुप्तवानहम् ॥२२०॥
अथास्मिन्पश्चिमे यामे योगिन्यश्चक्रमेलकात्।
आगत्य ताः स्वयुक्त्या मां हृत्वैवोदपतन्नभः ॥२२१॥
यान्तीनां नभसा तासामन्याभिर्मञ्जिहीर्षुभिः।
साकं प्रवृत्तयुद्धानामहं हस्तादिह च्युतः ॥२२२॥
न च तद्वेद्मि नगरं यत्र सा सुमना मया।
परिणीता न जाने च किमिदानीं भविष्यति ॥२२३॥
इत्येष विधिना दत्ता या मे दुःखपरम्परा।
सा सुखान्तैव सम्पन्ना ममाद्य त्वत्समागमात् ॥२२४॥
इत्युक्तवन्तं कन्दर्पं केसटस्तमुवाच सः।
मा भैषीर्मित्र नेदानीं योगिन्यः प्रभवन्ति ते ॥२२५॥
अस्ति ते तादृशी शक्तिः काप्यप्रतिहता यतः।
सहैव च भ्रमिष्यावो विधिः श्रेयो विधास्यति ॥२२६॥
अन्योन्यं वदतोरेवं व्यतीयाय तयोर्निशा।
प्रातस्ततः प्रयातः स्म तौ च तीर्णाम्बुधी उभौ ॥२२७॥

आज हमें चक्रमेलक में (झूमर नाच में) भाग लेने चक्रपुर जाना है और जानवरों से भरे इस स्थान में इस ब्राह्मण की रक्षा असम्भव है ॥२१३॥

इसलिए, इसे ले जाकर (वहाँ) रख दिया जाय, जहाँ इसका कल्याण हो, फिर इसे ले आयेंगे; क्योंकि यह हम लोगों की शरण में आया हुआ है ॥११४॥

यह कहकर योगिनियाँ मुझे सुसज्जित करके आकाशमार्ग से ले गईं और एक गाँव में किसी धनवान् ब्राह्मण के घर में रखकर (स्वयं कहीं) चली गईं ॥२१५॥

तब वहाँ देखा कि (एक) कन्या विवाह के लिए तैयार है, वेद-पुरोहित (भी उपस्थित) हैं और लग्न (भी) आ गया, किन्तु बरात नहीं आई है ॥२१६॥

तदनन्तर, दूल्हे का सुन्दर वेष बनाये मुझे वहाँ उपस्थित देख सभी लोगों ने कहा—यही तो दूल्हा आ गया ॥२१७॥

तब वह गृहस्थ ब्राह्मण मुझे वेदी पर ले गया और वहाँ अपनी सुसज्जित लड़की को लाकर, विधिपूर्वक मुझे प्रदान कर दिया ॥२१८॥

स्त्रियाँ आपस में बतिया ने लगीं—अहा, अपने अनुरूप दूल्हा पाकर आज इस सुमना का सौन्दर्य सफल हुआ ॥२१९॥

तब विवाह करने के बाद पूर्ण परिचर्या से आनन्दित हो मैं वहाँ सुमना के साथ (एक) महल में सो गया ॥२२०॥

तदनन्तर, आधी रात में वे योगिनियाँ झूमर से (लौटकर) आईं और अपने कौशल से मुझे हरण करके आकाश में उड़ चलीं ॥२२१॥

जब योगिनियाँ मुझे लेकर आकाशमार्ग से जा रही थीं, तब मुझे हरण करना चाहती हुई कुछ अन्य योगिनियाँ आईं और (दोनों में) युद्ध होने लगा। इसी बीच मैं योगिनियों के हाथ से यहाँ गिर पड़ा ॥२२२॥

मैं न तो यह जानता हूँ कि वह नगर कहाँ है, जहाँ सुमना ने मुझसे विवाह किया था, और न यही जानता हूँ कि अब क्या होगा ॥२२३॥

विधि ने जो मुझे यह दुःखों का ताँता दिया है, आज तुमसे मिलकर उसका अन्त मुझे सुखद ही हुआ है ॥२२४॥

कन्दर्प के इतना कहने पर केसट ने कहा—हे मित्र, डरो नहीं। अब योगिनियाँ तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती हैं ॥२२५॥

क्योंकि, मुझमें एक ऐसी असाधारण शक्ति है, जिसका मुकाबला नहीं किया जा सकता। आओ, हम दोनों एक साथ ही घूमेंगे। विधाता हमलोगों का कल्याण करेगा ॥२२६॥

इस भाँति उन दोनों के आपस में बातें करते-करते वह रात बीत गई। सुबह वे दोनों समुद्र पार करके वहाँ से चल पड़े ॥२२७॥

क्रमाद्भीमपुरं नाम नगरं प्रापतुश्च तौ ।
सह केसटकन्दर्पौ रत्ननद्याः समीपगम् ॥२२८॥
तत्र तौ तन्नदीतीरे श्रुत्वा कलकलं तदा ।
गत्वा ददृशतुर्मत्स्यमापूरिततटद्वयम् ॥२२९॥
समुद्रवेलया क्षिप्तं बद्धं कायमहत्तया ।
मांसर्थिभिः पाट्यमानं नानाशस्त्रकरैर्जनैः ॥२३०॥
पाट्यमानस्य निरगादुदरात्तस्य चाङ्गना ।
साश्चर्यजनदृष्टा च सा भीताशिश्रियत्तटम् ॥२३१॥
ततस्तां वीक्ष्य कन्दर्पो हृष्टोऽभाषत केसटम् ।
वयस्य सेयं सुमना यामहं परिणीतवान् ॥२३२॥
न जाने पुनरेतस्या वासो मत्स्योदरे कथम् ।
तत्तूष्णीमिह तिष्ठावो यावद्व्यक्तिर्भविष्यति ॥२३३॥
तथेति केसटेनोक्ते तत्रावस्थितयोस्तयोः ।
का त्वं किमेतदिति सा पृष्टाभूत्सुमना जनैः ॥२३४॥
ततः कृच्छ्रेण सावादीदहं रत्नाकरे पुरे ।
जयदत्ताभिधानस्य विप्रचूडामणेः सुता ॥२३५॥
सुमना इति नाम्नास्मि साहं भव्येन केनचित् ।
परिणीतानुरूपेण निशि ब्राह्मणसूनुना ॥२३६॥
तद्रात्रावेव सुप्ताया गतः क्वापि स मे पतिः ।
यत्नान्विष्टोऽपि मत्पित्रा न च प्राप्तः कुतोऽपि सः ॥२३७॥
ततोऽस्मि पतिता नद्यां तद्वियोगाग्निशान्तये ।
निगीर्णानेन मत्स्येन सम्प्राप्तेह विधेर्वशात् ॥२३८॥
इति तां वादिनीमेवं निर्गत्य जनमध्यतः ।
आश्लिष्य यज्ञस्वामीति विप्र एकोऽब्रवीदिदम् ॥२३९॥
एह्येहि पुत्रि भवती भगिनीदुहिता मम ।
यज्ञस्वामीति हि भ्राता सोदर्यो मातुरस्मि ते ॥२४०॥
तच्छ्रुत्वा मुखमुद्घाट्य सुमनास्तमवेक्ष्य सा ।
मातुलं प्रत्यभिज्ञाय सास्रा जग्राह पादयोः ॥२४१॥
क्षणं त्यक्त्वाश्रु चावादीत्तं तु काष्ठानि देहि मे ।
आर्यपुत्रवियुक्ताया अग्नेरन्या न मे गतिः ॥२४२॥

जाते-जाते केसट और कन्दर्प दोनों रत्ननदी के समीपवर्त्ती भीमपुर नाम के नगर में पहुँचे ॥२२८॥

वहाँ उन दोनों ने उस नदी के किनारे उस समय शोर-गुल होते सुना और वहाँ जाकर देखा कि समुद्र के ज्वार से फेंकी गई एक मछली इस किनारे से उस किनारे तक फैली हुई है और इतनी विशाल है कि (उस नदी के पेट में) फँस गई है, तथा मांस चाहनेवाले लोग हाथ में तरह-तरह के हथियार लिये उसे फाड़ रहे हैं ॥२२९-२३०॥

जब वह फाड़ी गई, तब उसके पेट से एक सुन्दरी निकली। आश्चर्य के साथ लोग उसे देखने लगे। वह डर कर तट पर चली गई ॥२३१॥

तब कन्दर्प ने उसे देख हर्षित होकर केसट से कहा—मित्र, यह तो वही सुमना है, जिससे मैंने ब्याह किया था ॥२३२॥

न जाने, कैसे यह मछली के पेट में आ गई। इसलिए, जबतक भेद खुलता है, तबतक हम दोनों चुप ही (यहाँ) रहें ॥२३३॥

केसट ने कहा—अच्छा। फिर वे दोनों वहाँ (खड़े) रहे। (तब) लोगों ने उस सुन्दरी से पूछा—तुम कौन हो और यह क्या बात है? ॥२३४॥

तब कष्ट के साथ उस सुन्दरी ने कहा—मैं रत्नाकर नाम के नगर में रहनेवाले जयदत्त नाम के श्रेष्ठ ब्राह्मण की लड़की हूँ ॥२३५॥

मेरा नाम सुमना है। आज रात मेरे अनुरूप एक सुन्दर ब्राह्मणकुमार के साथ मेरा विवाह हुआ ॥२३६॥

उसी रात जब मैं निद्रित हो गई, तब मेरे वे पतिदेव कहीं चले गये। मेरे पिता ने बहुत यत्न के साथ उनका अन्वेषण किया, फिर भी वे कहीं नहीं मिले ॥२३७॥

तब मैं उनके विरह की आग बुझाने के लिए इस नदीमें कूद गई और यह मछली मुझे निगल गई, और (अब) विधि की महिमा से यहाँ पहुँची हुई हूँ ॥२३८॥

उसके ऐसा कहने पर लोगों के बीच से निकल यज्ञस्वामी नाम का एक ब्राह्मण उसे गले से लगाकर बोला ॥२३९॥

आओ, बेटी, आओ। तुम मेरी बहन की लड़की हो। मैं तुम्हारी माँ का सगा भाई यज्ञस्वामी हूँ ॥२४०॥

यह सुनकर सुमना ने अपना मुँह उठाकर उसे देखा और मामा को पहचान कर रोती हुई उसके पाँव पकड़ लिये ॥२४१॥

और, क्षण-भर आँसू रोककर उससे कहा—मुझे (जलने के लिए) लकड़ी दो; क्योंकि पतिदेव से बिछुड़ी हुई मेरी आग के सिवा कोई दूसरी गति नहीं है ॥२४२॥

बोध्यमानापि सा तस्मान्निश्चयान्न चचाल यत् ।
तत्परीक्षिततच्चित्तः कन्दर्पस्तामुपाययौ ॥२४३॥
तमुपागतमालोक्य प्रत्यभिज्ञाय धीमती ।
सुमनाः पादयोस्तस्य पतित्वा प्ररुरोद सा ॥२४४॥
जनेन पृच्छ्यमाना च तेन सा मातुलेन च ।
अयं स मम भर्त्तेति निजगाद मनस्विनी ॥२४५॥
ततः सर्वेषु हृष्टेषु यज्ञस्वामी निनाय ताम् ।
स्वगृहं तत्पतिं तं च कन्दर्पं केसटान्वितम् ॥२४६॥
तत्र तान्वर्णितस्वस्ववृत्तान्तान्सकुटुम्बकः ।
उपचारेण महता प्रीत्या परिचचार सः ॥२४७॥
गतेष्वहःसु कन्दर्पं केसटोऽत्र जगाद तम् ।
अभीष्टभार्याप्राप्त्या त्वं प्राप्तस्तावत्कृतार्थताम् ॥२४८॥
तत्सभार्योऽधुना गच्छ निजं रत्नपुरं पुरम् ।
अकृतार्थो गमिष्यामि न स्वदेशमहं पुनः ॥२४९॥
तीर्थान्येव भ्रमन्देहं क्षपयिष्याम्यमुं सखे ।
तच्छ्रुत्वा केसटं यज्ञस्वामी तत्र स्थितोऽवदत् ॥२५०॥
किमुद्वेगाद्वदस्येवं सर्वं जीवद्भिराप्यते ।
कुसुमायुधवृत्तान्तं तथा च श्रृणु वच्मि ते ॥२५१॥
देवस्वामीत्यभूच्चण्डपुराख्ये नगरे द्विजः ।
तस्यातिरूपा कन्याभून्नाम्ना कमललोचना ॥२५२॥
शिष्यश्च विप्रपुत्रोऽभून्नाम्नास्य कुसुमायुधः ।
स शिष्यः सा च तत्कन्या प्रीतावास्तां परस्परम् ॥२५३॥
एकदा निश्चिता दातुं पित्रान्यस्मै वराय सा ।
कन्या समीमुखेनाशु तं स्माह कुसुमायुधम् ॥२५४॥
तातो मां दातुमन्यस्मै प्रतिपन्नो भवांश्च मे ।
पूर्वसङ्कल्पितो भर्त्ता तद्युक्त्या हर मामितः ॥२५५॥
ततोऽस्याः सोऽपहाराय कृतसंविद्बहिर्निशि ।
अस्थापयद्वेगसरीं भृत्यं च कुसुमायुधः ॥२५६॥
स्वैरं निर्गत्य चारूढा तस्यां भृत्येन तेन सा ।
न तस्य निकटं निन्ये निन्ये स्वीकर्त्तुमन्यतः ॥२५७॥

जब वह सुमना समझाने-बझाने पर भी (अपने) उस निश्चय से विचलित न हुई, तब उसके चित्त की परीक्षा पूरी होने पर कन्दर्प उसके पास गया ॥२४३॥

बुद्धिमती सुमना कन्दर्प को अपने पास आया देख और पहचान करके उसके चरणों पर गिरकर रोने लगी ॥२४४॥

लोगों के तथा अपने मामा के पूछने पर सुमना ने कहा कि यही हमारे पति हैं ॥२४५॥

तब सब लोग हर्षित हुए और यज्ञस्वामी सुमना तथा उसके पति कन्दर्प को केसट के साथ अपने घर ले गया ॥२४६॥

वहाँ उन सबने अपना-अपना वृत्तान्त कह सुनाया और परिवार-सहित यज्ञस्वामी ने प्रेमपूर्वक बड़े आतिथ्य से उन लोगों की परिचर्या की ॥२४७॥

कुछ दिन बीतने पर वहाँ केसट ने कन्दर्प से कहा—तुम तो अपनी वांछित स्त्री को पाकर सफल हो गये ॥२४८॥

अतः, अब पत्नी-सहित अपने नगर रत्नपुर चले जाओ। मैं अभी सफल नहीं हुआ हूँ, इसलिए अपने देश न जाऊँगा ॥२४९॥

हे मित्र, इस शरीर को तीर्थाटन करते-करते ही क्षीण कर दूँगा। यह सुनकर यज्ञस्वामी ने, जो वहाँ मौजूद था, केसट से कहा कि—॥२५०॥

दुःखवश ऐसा क्यों बोलते हो ? जीता क्या नहीं पाता ? इस विषय में मैं कुसुमायध की कथा तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥२५१॥

चण्डपुर नाम के नगर में देवस्वामी नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी एक अति रूपवती कन्या थी, जिसका नाम था कमललोचना ॥२५२॥

और, कुसुमायध नाम का एक ब्राह्मण का लड़का उसका शिष्य था। उस शिष्य और उस कन्या के बीच आपस में प्रेम हो गया था ॥२५३॥

एक दिन जब पिता ने उसे किसी अन्य वर के हाथ देना निश्चित किया, तब उस कन्या ने सखी के द्वारा कुसुमायुध को कहलाया ॥२५४॥

"पिता मुझे अन्य वर के हाथ देने को तैयार हैं, किन्तु मैं तो तुमको पहले ही पति मान चुकी हूँ। इसलिए तुम मुझे किसी युक्ति से यहाँ से हरण करके ले जाओ ॥॥२५५ ॥

तब कुसुमयध ने कमललोचना को हरण करने का चक्र रचकर रात में बाहर एक घोड़ी और एक नौकर को रख दिया ॥२५६॥

नौकर के साथ चुपके से निकलकर कमललोचना घोड़ी पर सवार हो गई। किन्तु, नौकर उसे कुसुमयध के पास न लेगया, बल्कि स्वयं ब्याह लेने के लिए कहीं अन्यत्र ही ले चला ॥२५७॥

दूरं नीता च सा तेन रात्रौ कमललोचना ।
प्राप्यैकं नगरं प्रातस्तमाह स्म च सा सती ॥२५८॥

त्वत्स्वामी क्व स मद्भर्त्ता तं प्रापयसि किं न माम् ।
तच्छ्रुत्वा स शठोऽवादीदेकिकां तां विदेशगाम् ॥२५९॥

अहं त्वां परिणेष्यामि किं तेन स कुतोऽधुना ।
श्रुत्वैतत्साब्रवीत्प्राज्ञा त्वं हि मे सुतरां प्रियः ॥२६०॥

त्वमेवात्र न किं सद्यः परिणेयोऽस्यहो मम ।
. . . . - . ॥२६१॥

ततस्तां नगरोद्याने स्थापयित्वैव दुर्मतिः ।
स विवाहोपकरणं जगामानेतुमापणम् ॥२६२॥

तावत्पलाय्य गत्वा सा कन्या वेगसरीयुता ।
मालाकारस्य कस्यापि वृद्धस्य प्राविशद्गृहम् ॥२६३॥

तत्रोक्तनिजवृत्तान्ता तस्थौ सा तेन सत्कृता ।
सोऽप्यप्राप्य कुभृत्यस्तामुद्यानाद्विमुखो ययौ ॥२६४॥

गत्वा चोवाच पृच्छन्तं प्रभुं तं कुसुमायुधम् ।
ऋजुस्त्वं वेत्सि न स्त्रीणां कुटिलानां हि चेष्टितम् ॥२६५॥

नैव सा निरगात्तावद्दृष्टो यावदहं जनैः ।
तत्रान्यैस्तैरवष्टब्धो हृता वेगसरी च सा ॥२६६॥

दैवात्कथञ्चिदधुना पलाय्याहमिहागतः ।
तच्छ्रुत्वा विमृशंस्तूष्णीमासीत्स कुसुमायुधः ॥२६७॥

एकदा प्रेरितः पित्रा विवाहाय व्रजंश्च सः ।
तत्प्राप नगरं यत्र स्थिता कमललोचना ॥२६८॥

तत्रावासितजन्यौघमुद्याने निकटस्थिते ।
एकं भ्रमन्तं कमललोचना सा ददर्श तम् ॥२६९॥

शशंस मालाकाराय तस्मै सा यद्गृहे स्थिता ।
सोऽपि गत्वोक्तवृत्तान्तस्तं तस्याः पतिमानयत् ॥२७०॥

तत्सम्भृतोपकरणस्ततः सुचिरकाङ्क्षितः ।
वरवध्वोस्तयोः सद्यो विवाहो निरवर्त्तत ॥२७१॥

जब नौकर उसे रातों-रात (बहुत) दूर ले आया, तब कमललोचना ने सुबह एक नगर में पहुँचकर नौकर से कहा—॥२५८॥

तुम्हारे मालिक वे मेरे पति कहाँ हैं ? मुझे उनके पास क्यों नहीं पहुँचाते हो ? यह सुनकर उस बदमाश ने परदेश में अकेली पड़ी कमललोचना से कहा—॥२५९॥

'मैं तुमसे विवाह करूँगा। उनसे क्या (काम है ?) वे अब कहाँ मिलनेवाले हैं ?' यह सुनकर बुद्धिमती बोली—'तुम तो मुझे और भी प्यारे लगते हो ॥२६०॥

तो तुम्हीं यहाँ क्यों नहीं झटपट मुझसे विवाह कर लेते हो ? . . . . . .'॥२६१॥

इसके बाद उस दुर्बुद्धि ने तुरत कमललोचना को नगर के एक उद्यान में रख दिया और स्वयं विवाह की सामग्री लाने के लिए बाजार चला गया ॥२६२॥

तबतक (इधर) वह कन्या कमललोचना उस घोड़ी के साथ भागकर किसी बूढ़े माली के घर चली गई ॥२६३॥

वहाँ कमललोचना ने अपना वृत्तान्त कह सुनाया और उस माली से सत्कृत हो (वहाँ) रह गई। उधर वह बदमाश नौकर (बाजार से वापस आने पर) कमललोचना को न पाकर उद्यान से अपना-सा मुँह लेकर वापस लौट आया ॥२६४॥

आने पर जब मालिक कुसुमायुध ने पूछा (कि कन्या क्या हुई ? तब) उसने कहा—'आप सीधे आदमी हैं; स्त्रियों का कुटिल चरित्र नहीं जानते हैं ॥२६५॥

वह तो तबतक न निकली, जबतक लोगों ने मुझे देख न लिया। देखते ही लोगों ने मुझे पकड़ लिया और वे घोड़ी-सहित उस कन्या को हरण कर ले भागे ॥२६६॥

दैवयोग से किसी भाँति भागकर मैं अब यहाँ आया हूँ।' यह सुनकर वह कुसुमायुध (मन में) सोच-विचार करते गुम-सुम ही रह गया ॥२६७॥

(कुछ समय बीतने पर) एक दिन पिता ने उसे विवाह करने के लिए भेजा और वह जाते-जाते उसी नगर में पहुँचा जहाँ (माली के यहाँ) कमललोचना थी ॥२६८॥

वहाँ कमललोचना ने देखा कि पास के उद्यान में बरात टिकी हुई है और कुसुमायुध अकेला घूम रहा है ॥२६९॥

यह हाल उस कमललोचना ने उस माली से कह सुनाया, जिसके घर में वह टिकी थी। माली भी वहाँ जा (सारा) हाल सुनाकर उसके पति कुसुमायुध को ले आया ॥२७०॥

उस माली ने (विवाह की) सामग्री जुटाई, तब उन दोनों का चिर-प्रतीक्षित विवाह, झटपट सम्पन्न हुआ ॥२७१॥

अथ तं पापभृत्यं स निगृह्य कुसुमायुधः ।
परिणीयापि कमललोचनाप्राप्तिकारणम् ॥२७२॥
द्वितीयामपि कन्यां तां यद्विवाहार्थमागतम् ।
ताभ्यां वधूभ्यां सहितो हृष्टः स्वदेशमाययौ ॥२७३॥
इत्थं भवति भव्यानामचिन्त्योऽपि समागमः ।
तत्केसट त्वमप्येवमचिरात्प्राप्स्यसि प्रियाम् ॥२७४॥
एवं तेनोदिते यज्ञस्वामिना तस्थुरस्य ते ।
कान्यप्यहानि कन्दर्पसुमनः केसटा गृहे ॥२७५॥
प्रस्थिताश्च स्वदेशं ते ततः प्राप्य महाटवीम् ।
जज्ञिरेऽन्योन्यविभ्रष्टा वन्येभापातसम्भ्रमात् ॥२७६॥
तेषां स केसटो गच्छन्नेकाकी दुःखितः क्रमात् ।
प्राप्य काशिपुरीं मित्रं कन्दर्पं प्राप्तवांस्ततः ॥२७७॥
तेन साकं ययौ तच्च निजं पाटलिपुत्रकम् ।
पित्राभिनन्दितस्तत्र कञ्चित्कालमुवास सः ॥२७८॥
अवर्णयद्रूपवतीविवाहप्रभृति स्वकम् ।
कन्दर्पोदन्तपर्यन्तं पित्रोर्वृत्तान्तमत्र सः ॥२७९॥
अत्रान्तरे सा सुमना हस्तिभीतिपलायिता ।
वनं विवेश तत्रास्या ययौ चास्तं दिवाकरः ॥२८॥
हा हार्यपुत्र हा तात हाम्बेत्यत्र निशागमे ।
शोचन्ती दावदहने क्षेप्तुं तनुमियेष सा ॥२८१॥
तावत्तद्योगिनीचक्रं कन्दर्पस्य कृपापरम् ।
योगिनीस्ता विजित्यान्यास्तत्प्रापायतनं निजम् ॥२८२॥
तत्र संस्मृत्य कन्दर्पं स्वविज्ञानादवेत्य च ।
भार्यां तस्य वने भ्रष्टां मन्त्रयाञ्चक्रिरे च ताः ॥२८३॥
कन्दर्पः पुरुषो धीरो वाञ्छितं प्राप्नुयात्स्वयम् ।
तद्भार्या तु वने भ्रष्टा ध्रुवं बाला त्यजेदसून् ॥२८४॥
तत्तां रत्नपुरं नीत्वा क्षिपामो येन तत्र सा ।
कन्दर्पस्य पितुर्गेहे सपत्न्या सह तिष्ठति ॥२८५॥
इति सम्मन्त्र्य गत्वा तद्वनमाश्वास्य चात्र ताम् ।
योगिन्यस्ताः सुमनसं नीत्वा रत्नपुरे जहुः ॥२८६॥

तदनन्तर, उस दुष्ट नौकर को दण्ड देकर कुसुमायुध ने, जिस कन्या के साथ विवाह करने आया था उस से भी विवाह कर लिया; क्योंकि वही कन्या कमललोचना को प्राप्त करने में निमित्त हुई; फिर उन दोनों दुल्हिनों के साथ हर्षित हो अपने देश लौट आया ॥२७२-२७३॥

इस प्रकार, सौभाग्यशालियों का अचिन्तित मिलन भी होता रहता है। इसलिए हे केसट, तुम भी इसी भाँति शीघ्र ही अपनी प्रिया को प्राप्त करोगे ॥२७४॥

यज्ञस्वामी के ऐसा कहने पर कन्दर्प, सुमना और केसट कुछ दिन उसके घर में रहे ॥२७५॥

उसके बाद वे अपने देश को विदा हुए। जब वे (रास्ते में एक) बड़े जंगल में पहुँचे, तब जंगली हाथी के हमले से भगदड़ मच जाने पर सभी एक दूसरे से बिछुड़ गये ॥२७६॥

उनमें से केसट दुःखी हो अकेले जाते-जाते काशी पहुँचा और वहाँ उसे (अपना) मित्र कन्दर्प मिला ॥२७७॥

फिर केसट कन्दर्प के साथ अपने नगर पाटलिपुत्र गया और वहाँ पिता की स्नेहपूर्ण अभिभाव्यता में कुछ दिन रहा ॥२७८॥

वहाँ उसने माँ-बाप को रूपवती के साथ अपने विवाह आदि से लेकर कन्दर्प से मिलने तक का वृत्तान्त कह सुनाया ॥२७९॥

(उधर) इसी बीच वह सुमना हाथी के डर से भागकर वन में घुस गई और वहीं सूर्यास्त हो गया ॥२८०॥

रात होने पर वह (विलाप करने लगी)—हा प्रियतम! हा पिता! हा माता! (और) इस प्रकार शोक करती हुई उसने अपने शरीर को दावानल में फेंक (कर जला) देना चाहा ॥२८१॥

उधर कन्दर्प पर कृपा करनेवाली उन योगिनियों का दल अन्य योगिनियों को जीतकर अपने घर पहुँचा ॥२८२॥

वहाँ उन योगिनियों को कन्दर्प याद आया, फिर उन्होंने अपनी विद्या (जादू) से यह जानकर कि उसकी स्त्री कमललोचना जंगल में खो गई है, विचार किया कि—॥२८३॥

कन्दर्प पुरुष है, धीर है; वह स्वयं अपना वांछित अर्थ सिद्ध कर लेगा; किन्तु वन में भटकी हुई उसकी स्त्री, जो (अभी) बाला है, प्राण त्याग कर देगी ॥२८४॥

इसलिए, उसे रत्नपुर ले जाकर छोड़ दें, ताकि वहाँ वह कन्दर्प के पिता के घर में अपनी सपत्नी के साथ रहेगी ॥२८५॥

यह विचार करके उस वन में जाकर और वहाँ सुमना को आश्वासन दे कर योगिनियों ने उसे रत्नपुर में छोड़ दिया ॥२८६॥

गतायां निशि सा तत्र भ्रमन्ती सुमनाः पुरे ।
उच्यमानं जनेनेदं शुश्राव परिधावता ॥२८७॥
एषानङ्गवती भार्या कन्दर्पस्य द्विजन्मनः ।
पत्यौ क्वापि गते कालं कञ्चित्तत्प्राप्तिवाञ्छया ॥२८८॥
स्थिता साध्वी तमप्राप्य निराशा निर्गताधुना ।
अग्निं प्रवेष्टुं दुःखिन्यां श्वशुराभ्यामनुद्रुता ॥२८९॥
एतच्छ्रुत्वैव सुमना तच्चितास्थानमाशु सा ।
गत्वानङ्गवतीमेवं तामुपेत्य न्यवारयत् ॥२९०॥
आर्ये मा साहसं कार्षीः स हि जीवति ते पतिः ।
इत्युक्त्वा मूलतः कृत्स्नं तद्वृत्तान्तं शशंस सा ॥२९१॥
अदर्शयच्च कन्दर्पदत्तं रत्नाङ्गुलीयकम् ।
ततः सर्वेऽभ्यनन्दंस्तां सत्यं विज्ञाय तद्वचः ॥२९२॥
अथानङ्गवतीं तुष्टां वधूं सुमनसं च ताम् ।
सम्पूज्य कन्दर्पपिता गृहे तुष्टो न्यवेशयत् ॥२९३॥
तावत्स सुमनःप्राप्त्यै भ्रान्तु पाटलिपुत्रकात् ।
कन्दर्पोऽनिच्छतोऽनुवत्वा केसटस्य ययौ ततः ॥२९४॥
केसटोऽपि गते तस्मिदुःखी रूपवतीं विना ।
गृहादविदितः पित्रोः प्रायाद्भ्रान्तुमितस्ततः ॥२९५॥
कन्दर्पोऽपि भ्रमन्दैवात्तत्प्राप नगरं किल ।
यत्र रूपवतीं तां स केसटः परिणीतवान् ॥२९६॥
जनकोलाहलं श्रुत्वा किमेतदिति तत्र तम् ।
कन्दर्पं परिपृच्छन्तं पुमानेकोऽब्रवीदिदम् ॥२९७॥
एषा रूपवती भर्त्रा केसटेन विनोद्यता ।
मर्त्तुं कलकलस्तेन शृणु वृत्तान्तमत्र च ॥२९८॥
इत्युक्तया केसटोद्वाहराक्षसोदन्तकौतुकम् ।
रूपवत्याश्रितं प्रोच्य स पुमानब्रवीत्पुनः ॥२९९॥
ततस्तं वञ्चयित्वैव वृद्धविप्रः स केसटकम् ।
आदाय तां रूपवतीं पुत्रार्थं प्रययौ ततः ॥३००॥
केसटस्तु न विज्ञातः क्व यातः परिणीय ताम् ।
रूपवत्यप्यपश्यन्ती केसटं साब्रवीत्पथि ॥३०१॥

रात बीतने पर जब सुमना उस नगर में घूम रही थी, तब उसने चारों ओर दौड़ते हुए एक आदमी के मुँह से यह बात सुनी—॥२८७॥

यह कन्दर्प नामक ब्राह्मण की पत्नी सती अनंगवती (अपने) पति के कहीं चले जाने पर उसके मिलन की आशा से कुछ समय तक (प्रतीक्षा करती) रही; अब निराश हो अग्निप्रवेश करने निकल गई है और दुःखी सास-ससुर उसका पीछा कर रहे हैं॥२८८-२८९॥

यह सुनते ही सुमना तुरत उस चिता-भूमि में पहुँची और अनंगवती के पास जाकर उसे यह कहकर रोका—॥२९०॥

सखी (यह) साहस मत करो। तुम्हारा पति जीवित है। यह कहकर उस सुमना ने उसे शुरू से उसका सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥२९१॥

और, वह रत्नखचित अँगूठी दिखलाई, जो कन्दर्प ने दी थी। तब सुमना की बात को सत्य समझ कर सबने उसका अभिनन्दन किया॥२९२॥

तदनन्तर, कन्दर्प का पिता अंगारवती और सुमना दोनों हर्षित बहुओं का समादर कर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक अपने घर ले गया॥२९३॥

तबतक (उधर) कन्दर्प सुमना को पाने के लिए घूमने के उद्देश्य से उस पाटलिपुत्र से निकल पड़ा और यह बात केसट से नहीं कही, क्योंकि केसट (ऐसा) नहीं चाहता था॥२९४॥

कन्दर्प के चले जाने पर केसट भी रूपवती के विना दुःखी हो माँ-बाप की आँख बचाकर इधर-उधर घूमने के लिए घर से निकल गया॥२९५॥

कन्दर्प भी घूमते-घूमते दैवयोग से उसी नगर में पहुँचा, जहाँ केसट ने रूपवती से विवाह किया था॥२९६॥

लोगों का शोरगुल सुनकर कन्दर्प ने पूछा कि यह क्या (हो रहा) है? तब एक आदमी ने उससे कहा—॥२९७॥

यह रूपवती (नाम की स्त्री) पति केसट के विरह में मरने के लिए उद्यत है। इसीलिए, यह शोरगुल हो रहा है। इस विषय में (पूरा) वृत्तान्त सुनो॥२९८॥

यह कहकर उस आदमी ने रूपवती से सम्बद्ध केसट का विवाह और राक्षस का कुतूहल-जनक वृत्तान्त सुनाकर कहा कि—॥२९९॥

अब वह वृद्ध ब्राह्मण केसट को इस प्रकार ठगकर (अपने) पुत्र के लिए रूपवती को लिये-दिये वहाँ से चला गया॥३००॥

किन्तु, केसट रूपवती से विवाह करके कहाँ चला गया, यह नहीं पता चलता। (उधर) रूपवती रास्ते में केसट को न देखकर बोली—॥३०१॥

आर्यपुत्रं न पश्यामि किं सर्वेषु व्रजत्स्विह।
तच्छ्रुत्वा दर्शयन्पुत्रं तं स वृद्धद्विजोऽभ्यधात्॥३०२॥
सोऽयं मत्तनयः पुत्रि भर्त्ता ते दृश्यतामिति।
ततो रूपवती वृद्धांस्तत्रस्थानब्रवीत्क्रुधा॥३०३॥
कोऽयं कुरूपो भर्ता मे मरिष्याम्येव निश्चितम्।
येन ह्यः परिणीतास्मि तं प्राप्स्यामि न चेत्पतिम्॥३०४॥
एवं वदन्ती त्यक्तान्नपाना राजभयेन सा।
पितुरेव गृहं तेन वृद्धविप्रेण नायिता॥३०५॥
तत्रोक्ततद्द्विजव्याजां शोचंस्तामवदत्पिता।
कोऽसाविति कथं ज्ञेयः परिणेता स पुत्रि ते॥३०६॥
ततो रूपवती स्माह तात पाटलिपुत्रकात्।
देसटाख्यद्विजसुतः केसटाख्यः स मत्पतिः॥३०७॥
रक्षोमुखान्मया ह्येतच्छ्रुतमित्यभिधाय सा।
कृत्स्नं तस्मै समाचख्यौ वृत्तान्तं पतिरक्षसोः॥३०८॥
ततः स तत्पिता गत्वा दृष्ट्वा रक्षो मृतस्थितम्।
सञ्जातप्रत्ययोऽतुष्यद्दम्पत्योस्तत्त्वतस्तयोः ॥३०९॥
पतिप्राप्त्याशयाश्वास्य सुतां तां प्राहिणोच्च सः।
अन्वेषन्केसटपितुः पार्श्वं पाटलिपुत्रकम्॥३१०॥
ते तत्र गत्वा नचिरादागत्यैवमिहाब्रुवन्।
दृष्टः पाटलिपुत्रस्थः सोऽस्माभिर्भर्तृ देसटः॥३११॥
केसटः क्व स ते पुत्र इति पृष्टश्च तत्र सः।
सबाष्पमब्रवीदस्मान्केसटोऽत्र कुतः सुतः॥३१२॥
स ह्यागतोऽपि कन्दर्पनाम्नि मित्रे सहागते।
इतो रूपवतीदुःखात्क्वाप्यनुक्त्वैव मे गतः॥३१३॥
एतत्तस्य वचः श्रुत्वा क्रमाद्वयमिहागताः।
इत्युक्तेऽन्वेषकै रूपवती पितरमभ्यधात्॥३१४॥
नास्त्यार्यपुत्रप्राप्ति र्मे तदग्निं प्रविशाम्यहम्।
भर्त्रा विनाकृता तात तिष्ठेयं हि कियच्चिरम्॥३१५॥
एवं ब्रुवाणा न यदा निषेद्धुं तेन पारिता।
तदा रूपवती साद्य निर्गता मर्त्तुमग्निना॥३१६॥

जानेवालों के बीच मैं यहाँ अपने प्रियतम को नहीं देख रही हूँ। यह सुनकर वह वृद्ध ब्राह्मण उसे अपना लड़का दिखाते हुए बोला—॥३०२॥

हे पुत्री, देखो, यही मेरा लड़का तुम्हारा पति है। तब रूपवती ने वहाँ उपस्थित वृद्धों से क्रोध के साथ कहा—॥३०३॥

यही कुरूप व्यक्ति मेरा पति है? जिनसे मैंने कल विवाह किया है, वे यदि न मिलेंगे, तो मैं निश्चय ही मर जाऊँगी ॥३०४॥

यह कहकर रूपवती ने खाना-पीना छोड़ दिया। तब राजा के डर से उस वृद्ध ब्राह्मण ने उसे अपने पिता के घर ही पहुँचा दिया ॥३०५॥

वहाँ उसने उस ब्राह्मण के छल (की कहानी) (अपने) पिता से सुनाई। पिता ने कहा—हे पुत्री, तुमसे विवाह करनेवाला वह कौन है, यह बात कैसे जानूं? ॥३०६॥

तब रूपवती ने कहा—हे पिता, पाटलिपुत्र के रहनेवाले देसट नाम के ब्राह्मण के पुत्र केसट मेरे पति हैं ॥३०७॥

यह बात मैंने राक्षस के मुँह से सुनी। यह कहकर रूपवती ने अपने पति और उस राक्षस का सारा वृत्तान्त पिता से कह सुनाया ॥३०८॥

तब उसके पिता ने जाकर देखा कि (वह) राक्षस (सचमुच में) मरा पड़ा है। (तब उस कहानी पर) उसे विश्वास हुआ और उस दम्पति के ऊपर वस्तुतः प्रसन्नता हुई ॥३०९॥

और, उसने पति पाने की आशा से अपनी पुत्री रूपवती को आश्वासन देकर खोज करनेवाले दूतों को केसट के पिता के पास पाटलिपुत्र भेजा ॥३१०॥

वे दूत वहाँ गये और जल्द ही यहाँ लौटकर बोले—हमें पाटलिपुत्र में रहनेवाले श्रीमान् देसट से भेंट हुई ॥३११॥

आपके पुत्र केसट कहाँ हैं? यह पूछने पर वहाँ उन्होंने आँखों में आँसू भरकर कहा—(मेरा) लड़का यहाँ कहाँ है? ॥३१२॥

वह कन्दर्प नाम के मित्र के साथ आया तो था, किन्तु मुझे कुछ कहे विना ही रूपवती के (विरह-जन्य) दुःख से यहाँ से कहीं चला गया ॥३१३॥

उनका यह वचन सुनकर चलते-चलते हम यहाँ लौट आये हैं। अन्वेषकों (खोज करनेवाले दूतों) के इतना कहने पर रूपवती ने पिता से कहा—॥३१४॥

मुझे मेरे प्रियतम मिलनेवाले नहीं हैं, अतः मैं अग्नि में प्रवेश करती हूँ। हे पिता, मैं पति के विना कितने दिन (इस प्रकार) रहूँ? ॥३१५॥

इस प्रकार विलाप करती हुई रूपवती को जब रोका न जा सका, तब वह आज चिता में जलकर मरने चली है ॥३१६॥

तस्याः सख्यावुभे कन्ये तद्वन्मर्त्तुं विनिर्गते ।
एका शृङ्गारवत्याख्या ह्यनुरागवती परा ॥३१७॥
तद्विवाहे स ताभ्यां हि दृष्टः प्राक्केसटो युवा ।
तद्रूपहृतचित्ताभ्यां भर्तृत्वे पर्यकल्प्यत ॥३१८॥
इत्थं कोलाहलमिदं जनस्यात्रेति तेन सः ।
कन्दर्पः पुरुषेणोक्तो ययौ तासां चितान्तिकम् ॥३१९॥
ततो दूरात्कलकलं निवार्योपेत्य च द्रुतम् ।
अवोचदग्निमर्चन्तीमेवं रूपवती स ताम् ॥३२०॥
अलं ते साहसेनार्ये जीवत्येव स केसटः ।
स भर्त्ता तव मित्रं मे कन्दर्पं मामवेहि च ॥३२१॥
इत्यूचिवान्वृद्धविप्रच्छन्ननौकाधिरोहणात् ।
आरभ्य केसटोदन्तं कथयामास सोऽखिलम् ॥३२२॥
ततः संवादसञ्जातप्रत्यया सा पितुर्गृहम् ।
हृष्टा रूपवती ताभ्यां सखीभ्यां प्राविशत्सह ॥३२३॥
कन्दर्पोऽपि च तत्पित्रा प्रीत्योपचरितस्तदा ।
सुरक्षितश्च तत्रैव तस्थौ तदनुरोधतः ॥३२४॥
तावत्स केसटो दैवात्प्राप रत्नपुरं भ्रमन् ।
कन्दर्पस्य गृहं तत्र तद्भार्ये यत्र ते स्थिते ॥३२५॥
परिभ्रमन्तं तं तत्र हर्म्यात्कन्दर्पभार्यया ।
दृष्ट्वा सुमनसा हर्षादूचिरे श्वशुरादयः ॥३२६॥
आर्यपुत्रसुहृत्सोऽयं सम्प्राप्तः केसटोऽधुना ।
अत्माप्रवृत्तिर्बुध्येत शीघ्रं सम्भाव्यतामिति ॥३२७॥
ततो गत्वैव तैरुक्त्वा यथावस्तु स केसटः ।
आनीतस्तं सुमनसं दृष्ट्वाहृष्यदुपागताम् ॥३२८॥
विश्रान्तश्च क्षणात्पृष्टस्तस्यै वन्येभसम्भ्रमात् ।
आरभ्य कन्दर्पगतं स्वं च वृत्तान्तमब्रवीत् ॥३२९॥
सत्कृतो दिवसान्कांश्चिदास्ते यावच्च तत्र सः ।
लेखहस्तः पुमांस्तावदागात्कन्दर्पपार्श्वतः ॥३३०॥
यत्र रूपवतीं नाम त्वत्सुहृत्परिणीतवान् ।
केसटस्तत्र कन्दर्पः स्थितो रूपवती च सा ॥३३१॥

उसकी दो सहेलियाँ—शृंगारवती और अनुरागवती भी उसी की भाँति (चिता में जलकर) मरने चली हैं ॥३१७॥

क्योंकि, रूपवती के विवाह में उस समय उन दोनों कन्याओं ने उस युवक केसट को देखा और उसके रूप पर आकृष्ट हो उसे अपना पति मान लिया था ॥३१८॥

इसीलिए, यहाँ शोरगुल हो रहा है। उस आदमी के इतना कहने पर कन्दर्प उनकी चिताओं के पास गया ॥३१९॥

तब दूर से ही कोलाहल शान्त करते हुए, वह झटपट रूपवती के पास पहुँच गया, जो अग्नि की पूजा कर रही थी, और कहा—॥३२०॥

हे आर्ये, यह साहस मत करो। तुम्हारा पति केसट जीता ही है। वह मेरा मित्र है। मैं कन्दर्प हूँ ॥३२१॥

यह कहकर उसने वृद्ध ब्राह्मण के छल तथा नाव पर चढ़ने से आरम्भ करके केसट का सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥३२२॥

तब इस मिलानवाली बात से रूपवती को विश्वास हुआ और वह प्रसन्न हो उन दोनों सहेलियों के साथ पिता के घर आ गईं ॥३२३॥

कन्दर्प भी रूपवती के पिता से प्रेमपूर्ण आदर-सत्कार तथा सुरक्षा पाकर उसके आग्रह से वहीं रहने लगा ॥३२४॥

तबतक (उधर) घूमते-घूमते केसट दैवयोग से कन्दर्प के घर रत्नपुर पहुँच गया, जहाँ उसकी दोनों पत्नियाँ थीं ॥३२५॥

वहाँ कन्दर्प की पत्नी सुमना ने कोठे पर से केसट को घूमते-फिरते देख हर्षित हो ससुर आदि से कहा—॥३२६॥

मेरे पतिदेव का वह मित्र केसट अभी (यहाँ) आया है। उससे समाचार मालूम हो सकता है, (अतः उसे) शीघ्र आदरपूर्वक ले आइए ॥३२७॥

तब ससुर आदि जाकर केसट को यथावत् (सारा) हाल सुनाकर ले आये और वह सुमना को पहुँची देख आनन्दित हो उठा ॥३२८॥

क्षण-भर विश्राम करने के बाद केसट ने, पूछने पर, जंगली हाथी के आतंक से आरम्भ करके कन्दर्प का और अपना सारा वृत्तान्त सुमना से कह सुनाया ॥३२९॥

इस प्रकार केसट सत्कार पाते हुए कुछ दिन वहाँ रहा; तबतक कन्दर्प के पास से एक आदमी चिट्ठी लेकर आया ॥३३०॥

उस आदमी ने कहा—आपके मित्र केसट ने जहाँ रूपवती से विवाह किया था, वहीं कन्दर्प और रूपवती दोनों वर्त्तमान हैं। ॥३३१॥

इति चोवाच स धुमांल्लेखार्थोऽभूत्तथैव च ।
कन्दर्पपित्रे स्वोद्वाहं केसटोऽवर्णयच्च सः ॥३३२॥
ततः कृतोत्सवोऽन्येद्युः कन्दर्पानयनाय सः ।
तत्पिता प्राहिणोद्दूतं प्रियाप्राप्त्यै च केसटम् ॥३३३॥
केसटोऽपि ययौ साकं लेखहारेण तेन सः ।
तं देशं यत्र सा रूपवती पितृगृहे स्थिता ॥३३४॥
तत्र सम्भावयामास स तां रूपवतीं चिरात् ।
सोत्सवां हृतसन्तापस्तोयदश्चातकीमिव ॥३३५॥
कन्दर्पेण समागम्य परिणिन्ये च ते अपि ।
रूपवत्या वयस्ये द्वे पूर्वोक्ते प्रेरितस्तया ॥३३६॥
ते चानुरागशृङ्गारवत्यां रूपवतीं च ताम् ।
आदायापृष्टकंदर्पः स्वदेशं केसटो ययौ ॥३३७॥
कन्दर्पोऽपि सदूतस्तद्गत्वा रत्नपुरं ततः ।
संजग्मे सुमनोदङ्गवतीभ्यां बन्धुभिस्तदा ॥३३८॥
निजनिजदेशगतौ तौ रूपवतीसुमनसौ प्रिये प्राप्य ।
केसटकन्दर्पावथ भुञ्जानौ तस्थतुर्भोगान् ॥३३९॥
इति विधुरविधातृविप्रयुक्ताः पुनरपि यान्ति समागमं प्रियाभिः ।
अकलितगहनावधीनि दुःखान्यपि विषमाण्यवतीर्य धीरसत्त्वाः ॥३४०॥
तच्छीघ्रमुत्तिष्ठ सखे ब्रजावश्चिन्वंस्त्वमप्याप्स्यसि जातु भार्याम् ।
को वेद दैवस्य गतिं मयैव मृतापि भार्याधिगता सजीवा ॥३४१॥
इत्येवमाख्याय कथामनेन प्रोत्साहितश्चानुगतश्च सख्या ।
भ्रमन्भुवं प्रापमिमामथात्र सक्रोडमद्राक्षमहं गजेन्द्रम् ॥३४२॥
उद्गीर्य तेन च गजेन पुनर्निगीर्णां तामेव चित्रमवशां स्ववधूमपश्यम् ।
तं चिन्वतापि करिणं चिरदृष्टनष्टं दृष्टा मयाद्य सुकृतैरिह देवपादाः ॥३४३॥
एवं तस्योक्तवतो वणिक्सुतस्याथ विक्रमादित्यः ।
आनाय्य तां स राजा गजवधलब्धां समर्पद्भार्याम् ॥३४४॥
तौ च विचित्रसमागममुदितावन्योन्यकथितवृत्तान्तौ ।
श्रीविषमशीलसंस्तुतिमुखरमुखौ दम्पती तदाभूताम् ॥३४५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
विषमशीललम्बके चतुर्थस्तरङ्गः ।

और पत्र में भी वही बात थी। (तब) केसट ने कन्दर्प के पिता से अपने विवाह का वृत्तान्त कह सुनाया ॥३३२॥

तदनन्तर, उसके दूसरे दिन कन्दर्प के पिता ने उत्सव मनाया और कन्दर्प को बलाने के लिए एक दूत को तथा पत्नी से मिलने के लिए केसट को (वहाँ) भेजा ॥३३३॥

केसट उस पत्रवाहक के साथ वहाँ गया, जहाँ रूपवती अपने पिता के घर में थी ॥३३४॥

वहाँ चिरकाल के बाद बादल की भाँति सन्ताप हरण करनेवाला वह केसट चातकी की भाँति हर्षित रूपवती से पुनः मिला ॥३३५॥

तब फिर कन्दर्प से मिलकर केसट ने रूपवती के आग्रह से उसकी पूर्वोक्त दोनों सहेलियों से भी विवाह कर लिया ॥३३६॥

तब कन्दर्प से विदा लेकर केसट अनुरागवती और शृंगारवती के साथ रूपवती को भी ले कर अपने देश चला गया ॥३३७॥

कन्दर्प भी वहाँ से उस दूत के साथ रत्नपुर जा कर सुमना और अनंगवती-सहित अपने बन्धुओं से मिला ॥३३८॥

(इस प्रकार) केसट और कन्दर्प अपनी-अपनी प्रियतमा रूपवती और सुमना को पुनः पाकर अपने-अपने देश गये और वहाँ भाँति-भाँति प्रकार के भोग भोगते हुए रहने लगे ॥३३९॥

(वाराणसी के निकट का ब्राह्मण धनदत्त से कहता है कि) धीर हृदयवाले लोग कष्टमय विधाता (के विधान) से विरही हो अनगिनत गहन अवधि तक विषम दुःखों को भी पार करके अपनी प्रियाओं का पुनर्मिलन प्राप्त करते हैं ॥३४०॥

इसलिए, हे मित्र धनदत्त, शीघ्र उठो। हम दोनों चलें। खोजते-खोजते कभी तुम भी अपनी पत्नी को पाओगे। दैवगति कौन जानता है। (देखो), मुझे ही मरी हुई भी पत्नी जीवित मिल गई (देखिए श्लोक १५४) ॥३४१॥

इस प्रकार, यह कहानी कहकर उस मित्र ने मुझे प्रोत्साहित किया और साथ चला। उसके बाद मैं धरती पर घूमते-घूमते यहाँ पहुँचा और जंगली सुअर-सहित इस गजराज को देखा ॥३४२॥

और, आश्चर्य के साथ यह देखा कि वह हाथी मेरी उसी बेचारी पत्नी को उगलकर फिर निगल गया। (एक बार) दिखाई देकर चिरकाल से अलक्षित उस हाथी को खोजते-खोजते आज मैंने पुण्य के प्रभाव से यहाँ श्रीमान् के चरणों का दर्शन पाया ॥३४३॥

उस वणिक्-पुत्र ने जब इस प्रकार कहा, तब राजा विक्रमादित्य ने हाथी के मारने से प्राप्त हुई उसकी स्त्री को बुलाकर उसके हाथों सौंप दिया ॥३४४॥

और वे दोनों पति-पत्नी विचित्र ढंग से हुए अपने पुनर्मिलन से प्रमुदित हो अपना-अपना वृत्तान्त एक-दूसरे से कहते हुए राजा विक्रमादित्य की मुँह-भर प्रशंसा करने लगे ॥३४५॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के विषमशील लम्बक का चतुर्थ तरंग समाप्त हुआ।

पञ्चमस्तरङ्गः

ततः स विक्रमादित्यो राजा तस्य सहागतम् ।
वाणिक्पुत्रस्य सुहृदं तमेवं परिपृष्टवान् ॥१॥
प्राप्ता मृतापि जीवन्ती मया भार्येति यत्त्वया ।
उक्तं कथं तदिति नः कथ्यतां भद्र विस्तरात् ॥२॥
इत्युक्तस्तेन राज्ञा स वणिक्सूनोः सखाब्रवीत् ।
कौतुकं यदि तद्देव श्रूयतां कथयाम्यदः ॥३॥
ब्रह्मस्थलाग्रहाराग्र्यनिवासी द्विजपुत्रकः ।
चन्द्रस्वामीत्यहं भार्या सुरूपा चास्ति मे गृहे ॥४॥
एकदा मयि कार्यार्थं ग्रामं पित्राज्ञया गते ।
तां मे कापालिकोऽद्राक्षीद्भार्यां भिक्षार्थमागतः ॥५॥
तेन दृष्ट्वैव सा जातज्वरा सायं व्यपद्यत ।
ततो मद्वन्धुभिर्नीत्वा नक्तमारोपिता चिताम् ॥६॥
प्रज्वलन्त्यां चितायां च ग्रामात्तत्राहमागमम् ।
अश्रौषं च यथावृत्तं स्वजनात्क्रन्दतः पुरः ॥७॥
गते मयि चितोपान्तमागात्कापालिकश्च सः ।
अंसस्थनृत्यत्खट्वाङ्गः स्फुर्जड्डमरुकारवः ॥८॥
भस्मक्षेपेण शमिते चिताग्नौ देव तेन सा ।
उदतिष्ठच्चितामध्यादक्षताङ्गी मदङ्गना ॥९॥
स चादाय कपाली तां सिद्ध्याकृष्टानुधाविताम् ।
प्राद्रवल्लघु तां चाहमन्वगां सधनुः शरः ॥१०॥
स च गङ्गातटे प्राप्य गुहां भूमौ निधाय तत् ।
खट्वाङ्गमब्रवीद्धर्षादन्तःस्थे कन्यके उभे ॥११॥
युवां प्राप्ते अपि मया नोपभुक्ते यया विना ।
सैषाद्य हस्ते प्राप्ता मे प्रतिज्ञा सिद्धिमागता ॥१२॥
इति ताभ्यां स मद्भार्यां यावद्दर्शयति ब्रुवन् ।
तावत्तत्तस्य खट्वाङ्गं गङ्गायामहमक्षिपम् ॥१३॥
रे कापालिक भार्यां मे निहीर्षुर्न भवस्ययम् ।
इत्याक्षिपं च तमहं भ्रष्टखट्वाङ्गसिद्धिकम् ॥१४॥

पंचम तरंग

तदनन्तर, राजा विक्रमादित्य ने उस बनिया के लड़के के साथ आये हुए उसके मित्र से इस प्रकार पूछा—॥१॥

हे भद्र, तुमने जो कहा कि मरी हुई भी मेरी पत्नी जीवित मिल गई, सो कैसे हुआ? यह हमें विस्तारपूर्वक सुनाओ॥२॥

राजा के इतना कहने पर बनिया के लड़के के मित्र ने कहा—हे राजा, यदि कुतूहल हो, तो सुनें, मैं कह रहा हूँ॥३॥

मैं ब्रह्मस्थल नामक जागीर पर निवास करनेवाला ब्राह्मण का लड़का हूँ। मेरा नाम है चन्द्रस्वामी। मेरे घर में एक सुन्दर रूपवाली स्त्री है॥४॥

एक दिन मैं पिता की आज्ञा से किसी कार्यवश किसी गाँव गया था। उसी समय भीख माँगने एक कापालिक आया और (उसने) मेरी उस स्त्री को देखा॥५॥

उस कापालिक के देखते ही उसे बुखार लग गया और शाम को वह मर गई। तब मेरे बन्धु-बान्धवों ने उसे ले जाकर रात में चिता पर चढ़ाया॥६॥

जब चिता जलने लगी, तब उस गाँव से मैं वहाँ लौट आया और जैसा जो हुआ, सामने रोते हुए अपने लोगों से सुना॥७॥

तब मैं चिता के पास गया (कि इतने में) वह कापालिक कन्धे पर खट्वांग (सोंटा) नचाते हुए और डमरू डिमडिमाते हुए वहाँ पहुँचा॥८॥

हे राजा, उसने (चिता पर) भस्म छिड़क दिया कि चिता की आग बुझ गई और उस चिता के बीच से मेरी स्त्री ज्यों-की-त्यों उठ खड़ी हुई॥९॥

वह मेरी स्त्री सिद्धि के प्रभाव से आकृष्ट हो (उसके) पीछे-पीछे चली और वह कापालिक उसे लेकर तेजी से भागा। मैंने भी तीर-धनुष के साथ उसका पीछा किया॥१०॥

उसने गंगा के किनारे एक गुफा में पहुँचकर उस सोंटे को नीचे रखा और (उस गुहा के) भीतर जो दो कन्याएँ थीं, उनसे हर्ष के साथ कहा॥११॥

तुम दोनों प्राप्त हो गई थीं, तो भी जिसे प्राप्त किये विना मैंने तुम्हारा उपभोग न किया, वह (सुन्दरी) आज़ हाथ में आ गई। मेरी प्रतिज्ञा (अब) पूरी हो गई॥१२॥

यह कहते हुए ज्यों ही वह कापालिक उन दोनों कन्याओं से मेरी पत्नी को दिखलाने लगा, त्यों ही मैंने उसका वह सोंटा गंगा में फेंक दिया॥१३॥

सोंटा खोने से उसकी जादू की शक्ति समाप्त हो गई, तब उसे मैंने, इस प्रकार डाँटा—अरे कापालिक! तुम मेरी पत्नी को हरण करना चाहते हो? (देखो,) अभी तुम्हें खत्म कर देता हूँ॥१४॥

अपश्यन्सोऽथ खट्वाङ्गं पलायनपरः शठः ।
धनुराकृष्य काण्डेन दिग्धेन निहतो मया ॥१५॥
पापसिद्ध्यैकसन्तोषविडम्बितशिवागमाः ।
पाखण्डिनः पतन्त्येवं प्रागेव पतिता अपि ॥१६॥
अथादाय स्वभार्यां तामन्ये द्वे ते च कन्यके ।
गृहमागतवानस्मि दत्ताश्चर्यः स्वबन्धुषु ॥१७॥
तत्र पृष्टे स्ववृत्तान्ते कन्ये ते वदतः स्म मे ।
वाराणस्यां सुते आवां क्षितिभृत्सार्थवाहयोः ॥१८॥
सिद्धियुक्त्या हृते चावामेतयैव कपालिना ।
त्वत्प्रसादाच्च मुक्ते स्वः पापादस्माददूषिते ॥१९॥
इत्युक्तवत्यौ चान्येद्युर्नीत्वा वाराणसीं मया ।
अर्पिते ते स्वबन्धुनां तद्वृत्तान्तमुदीर्य तम् ॥२०॥
आगच्छंश्च ततोऽपश्यमिमं भार्यावियोगिनम् ।
वणिक्पुत्रं ततोऽनेन मिलित्वाहमिहागतः ॥२१॥
कापालिकगुहालब्धेनाङ्गरागेण रञ्जितात् ।
क्षालितादपि देहान्मे दृश्यतां वाति सौरभम् ॥२२॥
इत्थं मृतोत्थिता प्राप्ता मया भार्येति वादिनम् ।
विप्रं तं सवणिक्पुत्रं सत्कृत्य प्राहिणोन्नृपः ॥२३॥
ततो गुणवतीचन्द्रवतीमदनसुन्दरीः ।
आनीयादाय च समं मिलित्वा च स्वसैनिकैः ॥२४॥
आगात्स विक्रमादित्यभूभृदुज्जयिनीं पुरीम् ।
तस्यां गुणवतीचन्द्रवत्यौ च परिणीतवान् ॥२५॥
संस्मरन्नथ तां विश्वकर्मदेवगृहे स्थिताम् ।
स्तम्भस्थपुत्रिकां राजा स प्रतीहारमादिशत् ॥२६॥
कलिङ्गसेनात्कन्यां तां प्राप्तुं दूतो विसृज्यताम् ।
यस्याः प्रतिकृतिर्दृष्टा सा मया स्तम्भपुत्रिका ॥२७॥
इति राज्ञा समादिष्टः क्षत्तानीय तदग्रतः ।
प्राहिणोद्दत्तसन्देशं दूतं नाम्ना सुबिग्रहम् ॥२८॥
गत्वा कलिङ्गविषयं दृष्ट्वा तं च यथोचितम् ।
कलिङ्गसेनं राजानमेवं दूतो जगाद सः ॥२९॥

तदनन्तर, वह दुष्ट अपना सोंटा न देख भागने लगा और मैंने धनुष खींचकर विषैले तीर से उसे मार दिया ॥१५॥

एकमात्र पापकर्म की सिद्धि पाकर शैव आगम को बदनाम करनेवाले ऐसे-ऐसे पाखण्डी लोग पहले से ही पतित रहते हुए भी इसी भाँति पतन पाते हैं ॥१६॥

उसके बाद अपनी पत्नी को तथा उन दोनों कन्याओं को भी लेकर मैं घर आया और अपने बन्धु-बान्धवों को चकित कर दिया ॥१७॥

वहाँ अपना-अपना वृत्तान्त पूछने पर उन दोनों कन्याओं ने मुझसे कहा कि हम दोनों वाराणसी की क्षत्रिय और वैश्य की कन्याएँ हैं। इसी कापालिक ने सिद्धि के प्रभाव से हमें हरण कर लिया था; (अब) आपकी कृपा से इस पापी (के चंगुल) से दूषित होने से पहले ही मुक्त हो गईं ॥१८-१९॥

जब उन दोनों ने ऐसा कहा, तब उसके दूसरे दिन मैं उन्हें वाराणसी ले गया और उनके बन्धुओं को वह वृत्तान्त कहकर उन्हें सौंप दिया ॥२०॥

और, वहाँ से लौटते समय पत्नी से वियुक्त इस बनिया के लड़के को देखा। फिर, वहाँ से इसके साथ मिलकर यहाँ आया हूँ ॥२१॥

कापालिक की गुफा में अंगराग (देह में लगाने का सुगन्धित लेप) प्राप्त हुआ। वह मैंने अपनी देह में लगाया, सो मेरी देह से, धोए जाने पर भी, जो सौरभ निकल रहा है, उसे अनुभव कीजिए ॥२२॥

इस प्रकार, मारकर जी उठी पत्नी मुझे प्राप्त हुई। उसके ऐसा कहने पर राजा विक्रमादित्य ने बनिया के लड़के सहित उस ब्राह्मण को सत्कृत करके विदा किया ॥२३॥

उसके बाद विक्रमादित्य गुणवती, चन्द्रवती और मदनसुन्दरी को ला करके साथ कर लिया तथा अपने सैनिकों से मिलकर उज्जयिनी नगर पधारे और वहाँ गुणवती तथा चन्द्रवती से विवाह किया ॥२४-२५॥

तदनन्तर, विक्रमादित्य को विश्वकर्मा-रचित देवमन्दिर के स्तम्भ में वर्त्तमान वह मूर्त्ति याद आई। उन्होंने प्रतिहार को आदेश दिया ॥२६॥

जिसका प्रतिरूप मैंने उस स्तम्भ की मूर्त्ति में देखा था, कलिंगसेन से वह कन्या प्राप्त करने के लिए दूत भेजा जाय ॥२७॥

राजा विक्रमादित्य का यह आदेश पाकर प्रतीहार ने सुविग्रह नाम के एक दूत को ले आकर उन्हींके सामने उसे संवाद कहकर विदा कर दिया ॥२८॥

वह दूत कलिंगदेश गया और राजा कलिंगसेन से समुचित विधि से भेंट करके उसने इस प्रकार कहा—॥२९॥

देवः श्रीविक्रमादित्यस्त्वामादिशति भूपते।
वेत्थ त्वं भुवि यद्रत्नं तदस्मानुपगच्छति॥३०॥
तत्रास्ति कन्यारत्नं च तदस्मभ्यं समर्पय।
अस्मत्प्रमादाच्च निजं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्॥३१॥
एतच्छ्रुत्वा स कालिङ्गः क्रुद्धो राजाभ्यभाषत।
को नाम विक्रमादित्यः स एवाज्ञां ददाति नः॥३२॥
मार्गत्युपायनं कन्यां दर्पान्धोऽधः पतिष्यति।
एतत्कलिङ्गसेनात्स श्रुत्वा दूतः समभ्यधात्॥३३॥
भृत्योऽप्येवमनात्मज्ञः कथमोजायसे प्रभोः।
किं मूढ तत्प्रतापाग्नौ शलभायितुमिच्छसि॥३४॥
इत्युक्त्वा तत आगत्य स दूतस्तन्न्यवेदयत्।
वचः कलिङ्गसेनोक्तं विक्रमादित्यभूभृते॥३५॥
ततो विषमशीलोऽसौ क्रुद्धः प्रायाद्वलैः सह।
सभूतकेतुवेतालः कालिङ्गं प्रति तं प्रभुः॥३६॥
देह्याशु कन्यामिति तं कालिङ्गं ब्रुवतीष्विव।
सेनारवप्रतिरवैर्दिक्षु तद्देशमाप च॥३७॥
दृष्ट्वाथ युद्धसंनद्धं रुद्ध्वा तं च नृपं वलैः।
राजा स विक्रमादित्यो मनस्येवमचिन्तयत्॥३८॥
एतत्सुतां विना तावन्मम नास्त्येव निर्वृतिः।
तत्कथं श्वशुरं हन्मि युक्तिमत्र करोमि किम्॥३९॥
इत्यालोच्य सवेतालो राजा तत्सिद्ध्यलक्षितः।
सुप्तस्य प्राविशद्रात्रौ कलिङ्गेशस्य वासकम्॥४०॥
अरे विषमशीलेन विगृह्य स्वपिषीति तम्।
प्रबोध्य तत्र वित्रस्तं वेतालः सोऽब्रवीद्धसन्॥४१॥
स चोत्थाय कलिङ्गेन्द्रो दृष्ट्वा दर्शितसाहसम्।
परिज्ञाय च राजानं रौद्रवेतालसङ्गतम्॥४२॥
इदानीं वशगोऽहं ते देवादिश करोमि किम्।
इति विज्ञापयामास भीतस्तच्चरणानतः॥४३॥
मया चेत्प्रभुणा कार्यं तव तद्देहि मे सुताम्।
कलिङ्गसेनामिति तं राजापि प्रत्यभाषत॥४४॥

हे राजा, आपको राजा विक्रमादित्य ने यह सन्देश भेजा है--"आप जानते हैं कि संसार-भर में जो-जो वस्तुएँ रत्न-स्वरूप हैं, वह सब मेरे ही पास आती हैं ॥३०॥

और, आपके एक कन्या-रत्न है, वह आप मुझे समर्पित कर दीजिए और मेरी कृपा से अपना अकण्टक राज्य भोगते रहिए" ॥३१॥

कलिंगदेश का राजा यह सुनकर क्रुद्ध हो बोला—'अरे, विक्रमादित्य कौन है? वही मुझे आदेश दे रहा है? और कन्या उपहार माँगता है? वह घमण्ड से अन्धा हो गया है। उसका अधःपतन होगा।' (राजा) कलिंगसेन से यह (उत्तर) सुनकर उस दूत ने कहा—॥३२-३३॥

'अरे मूढ, तुम अपने को नहीं पहचानते हो? (मेरे) प्रभु विक्रमादित्य के भृत्य होकर भी तुम (इस प्रकार) बल क्या दिखला रहे हो? क्या तुम उनके प्रताप-रूपी आग में पतंग बनना चाहते हो? ॥३४॥

यह कहकर वह दूत वहाँ से लौट आया और कलिंगसेन ने जो वचन कहा था, वह राजा विक्रमादित्य से कह दिया ॥३५॥

उसके बाद वे राजा विषमशील क्रुद्ध हो भूतकेतु और वेताल-सहित सैन्य को साथ ले कलिंगराज की ओर चल पड़े ॥३६॥

राजा कलिंगदेश पहुँचे। उस समय (उनकी) सेना के कोलहाल की प्रतिध्वनि से दिशाएँ मानो कलिंगराज से कहने लगीं—तुम तुरत अपनी कन्या दे दो ॥३७॥

तदनन्तर, कलिंगराज को लड़ाई के लिए तैयार देख राजा विक्रमादित्य उसे अपनी सेनाओं से घेरकर मन में इस प्रकार सोचने लगे—॥३८॥

इसकी लड़की के बिना मुझे शान्ति तो मिलेगी ही नहीं; तब ससुर को कैसे मारूँ? (उसे मारना न पड़े) इसका कौन-सा उपाय करूँ? ॥३९॥

यह सोचकर वेताल-सहित राजा विक्रमादित्य उस (वेताल की सिद्धि के प्रभाव) से अलक्षित (अदृश्य) हो रात में कलिंगराज के शयनगृह में पहुँचे, जहाँ वह सोया था ॥४०॥

'अरे! तुम राजा विक्रमादित्य से वैर करके सो रहे हो?' यह कहकर हँसते हुए उस वेताल ने कलिंगराज को जगाया ॥४१॥

राजा कलिंगसेन ने जाग करके देखा और पहचाना कि (इस प्रकार भीतर आ जाने का) साहस दिखानेवाला यह भयानक वेताल-सहित राजा विक्रमादित्य है ॥४२॥

वह डरकर चरणों में झुक गया और बोला कि हे राजा विक्रमादित्य, अब मैं आपके वश में हूँ। आज्ञा दीजिए, मैं क्या करूँ? ॥४३॥

राजा विक्रमादित्य ने उसे उत्तर दिया—यदि तुम मुझे मालिक मानना चाहते हो, तो तुम अपनी लड़की कलिंगसेना मुझे दे दो ॥४४॥

तथेति प्रतिपेदे च कलिङ्गाधिपतिः स तत्।
राजापि वेतालयुतः स्वमागाच्छिबिरं कृती॥४५॥
अन्येद्युश्च कलिङ्गेन्द्रः स देवि त्वामदात्पिता।
राज्ञे विषमशीलाय विधिवद्विभवोत्तरम्॥४६॥
एवं गाढानुरागेण राज्ञा देहपणेन च।
परिणीतासि विधिवद्देवि नारिजिगीषया॥४७॥
इति कार्पटिकस्याहं देवसेनस्य वक्त्रतः।
श्रुत्वावमानप्रभवं हे सख्यो मन्युमत्यजम्॥४८॥
इत्थं विव्राहिता स्तम्भपुत्रिकादर्शनादहम्।
चित्रावलोकनाच्चैषा राज्ञा मलयवत्यपि॥४९॥
एवं कलिङ्गसेना सा विक्रमादित्यवल्लभा।
भर्त्तृप्रभावमाख्याय स्वसपत्नीरनन्दयत्॥५०॥
स चैवं विक्रमादित्यः सर्वाभिस्ताभिरन्वितः।
तया मलयवत्या च तस्थौ साम्राज्यसुस्थितः॥५१॥
अथैकदा राजपुत्रः कोऽप्यागाद्दक्षिणापथात्।
कृष्णशक्त्यभिधानोऽत्र परिभूतः स्वगोत्रजैः॥५२॥
स सिंहद्वारमागत्य राज्ञः कार्पटिकव्रतम।
शिश्रिये राजपुत्राणामन्वितः पञ्चभिः शतैः॥५३॥
द्वादशाब्दान्मया सेवा विक्रमादित्यभूपतेः।
कार्येति प्रतिजज्ञे च वार्यमाणोऽपि भूभुजा॥५४॥
निश्चयेन च तस्यात्र तिष्ठतः सानुयायिनः।
सिंहद्वारे नृपसुतस्यैकादश समा ययुः॥५५॥
प्राप्ते च द्वादशे वर्षे तस्य देशान्तरस्थिता।
भार्या चिरवियोगार्त्ता प्राहिणोल्लेखपत्रिकाम्॥५६॥
वीरचर्यागते रात्रौ प्रच्छन्ने राज्ञि शृण्वति।
दीपेनावाचयत्तस्यामार्यां स लिखितामिमाम्॥५७॥
सन्तप्तायततरलास्तव विरहे नाथ कठिनहृदयायाः।
निर्यान्त्यविरतमेते निःश्वासा मे न तु प्राणाः॥५८॥
इति वाचयतस्तस्मात्सम्राट् कार्पटिकान्मुहुः।
श्रुत्वा स राजधानीं स्वां गत्वा राजा व्यचिन्तयत्॥५९॥

और, कलिंगराज ने उसे स्वीकार कर लिया (तब) वेताल-सहित राजा विक्रमादित्य सफल हो अपने शिविर लौट आये ॥४५।

(देवसेन नाम का कार्पटिक कलिंगसेना से कह रहा है) हे देवी कलिंगसेना, दूसरे दिन आपके पिता कलिंगराज ने (दहेज में) धन-सम्पत्ति देकर आपको विधिवत् राजा विक्रमादित्य के हाथ सौंप दिया ॥४६॥

हे देवी, इस प्रकार राजा विक्रमादित्य ने आपको गहरे प्रेम से और प्राण की बाजी लगाकर विधिवत् ब्याहा है, न कि शत्रु को जीतने की कामना से ॥४७॥

(कलिंगसेना कहती है कि) देवसेन नामक कार्पटिक के मुँह से यह (कहानी) सुनने के बाद, हे सखियो, मैंने अपना अपमान-जन्य कोप त्याग दिया ॥४८॥

इस प्रकार, राजा विक्रमादित्य ने (मन्दिर के) स्तम्भ की मूर्त्ति देखकर मुझ (कलिंगसेना) से विवाह किया और चित्र देखकर इस मलयवती से ॥४९॥

इस भाँति विक्रमादित्य की प्रियतमा कलिंगसेना ने अपने पति के प्रभाव का वर्णन करके अपनी सपत्नियों को आनन्दित किया ॥५०॥

और वे विक्रमादित्य इस प्रकार उन सभी (स्त्रियों) तथा उस मलयवती के साथ आराम से राज्य करते हुए रहने लगे ॥५१॥

एक दिन अपने गोतियों से तिरस्कृत कृष्णशक्ति नाम का एक राजकुमार दक्षिणापथ आया ॥५२॥

पाँच सौ राजकुमारों के साथ सिंहद्वार पर आकर उसने राजा विक्रमादित्य का कार्पटिक बनने का संकल्प किया ॥५३॥

राजा विक्रमादित्य के मना करने पर भी उसने प्रतिज्ञा की कि मैं बारह बरस तक राजा विक्रमादित्य की सेवा करता रहूँगा ॥५४॥

इस निश्चय के अनुसार साथियों-समेत सिंहद्वार पर रहते-रहते राजकुमार कृष्णशक्ति के ग्यारह साल बीत गये ॥५५॥

जब बारहवाँ साल आया, तब चिरकाल के विरह से कातर उसकी परदेशिनी पत्नी ने एक पत्र भेजा ॥५६॥

राजकुमार ने रात को दीप के प्रकाश में पत्र में लिखित यह आर्या पढ़ी, जो राजा विक्रमादित्य भी छुपकर सुन रहे थे; क्योंकि वे उस समय वीर-चर्या में वीरोचित परिभ्रमण में निकले थे ॥५७॥

हे नाथ, तुम्हारे विरह में कठिन हृदयवाली मुझ (अभागिन) के तपे, लम्बे और चंचल निःश्वास तो निरन्तर निकलते रहते हैं, किन्तु प्राण नहीं निकलते ॥५८॥

बार-बार पढ़ते हुए उस कार्पटिक के मुँह से यह सुनकर राजा विक्रमादित्य अपनी राजधानी जाकर सोचने लगे ॥५९॥

सीदत्कलत्रः क्लिष्टोऽयं बत कार्पटिकश्चिरम्।
असिद्धकार्यः पूर्णेऽस्मिन्द्वादशेऽब्दे त्यजेदसून् ॥६०॥
तद्विलम्बो न कार्योऽस्य मयेत्यालोच्य भूपतिः।
आनाययत्कार्पटिकं दासीं प्रेष्य तदैव सः ॥६१॥
शासनं लेखयित्वा च तमेवं स समादिशत्।
ओङ्कारपीठमार्गेण भद्र गच्छोत्तरां दिशम् ॥६२॥
तत्रामुना शासनेन ग्रामं भुङ्क्ष्व मदर्पितम्।
नाम्ना तं खण्डवटकं पृच्छन्गच्छन्नवाप्स्यसि ॥६३॥
इत्युक्त्वा शासनं तस्मै प्रददौ तत्स भूपतिः।
सोऽप्यनावेद्य भृत्येभ्यो ययौ कार्पटिको निशि ॥६४॥
का जिगीषा ममैकेन ग्रामेण व्रीडदायिना।
तथाप्याज्ञा प्रभोः कार्येत्यसन्तुष्टः क्रमाद्व्रजन् ॥६५॥
ओङ्कारपीठतो गत्वा दूरेऽरण्ये ददर्श सः।
क्रीडन्तीः कन्यका बह्वीः पृच्छति स्म ततश्च ताः ॥६६॥
अपि जानीथ भोः खण्डवटकं क्व भवेदिह।
एतच्छ्रुत्वा तमूचुस्तास्तत्र जानीमहे वयम् ॥६७॥
गच्छाग्रे योजनेष्वत्र दशमात्रेषु नः पिता।
सौम्य तिष्ठति तं पृच्छ विद्याद्ग्रामं स जातु तम् ॥६८॥
एवमुक्तः स कन्याभिस्ताभिर्गत्वा ददर्श तम्।
कार्पटी पितरं तासां राक्षसं भीषणाकृतिम् ॥६९॥
इह क्व खण्डवटकं ब्रूहि भद्रेति तं च सः।
पप्रच्छ सोऽपि तं धैर्यमोहितो राक्षसोऽब्रवीत् ॥७०॥
किं तत्र ते तद्धि पुरं चिरशून्यं तथापि चेत्।
यासि तच्छृणु मार्गोऽयं पुरतस्ते द्विधा गतः ॥७१॥
तत्र वामेन गच्छेस्त्वं पथा यावदवाप्स्यसि।
प्रतोलीं खण्डवटकस्योच्चप्राकारहारिणीम् ॥७२॥
इत्युक्तो रक्षसा गत्वा प्रतोलीं तामवाप्य सः।
विवेश शून्यं भयदं दिव्यं हृद्यं च तत्पुरम् ॥७३॥
सप्तकक्षावृतं तत्र राजवेश्म प्रविश्य च।
आरुरोह स हर्म्याग्रं मणिकाञ्चननिर्मितम् ॥७४॥

इसकी स्त्री (इस प्रकार) विखिन्न है, यह स्वयं भी चिरकाल तक (इतना) कष्ट सहता आया है, फिर यदि इसका कार्य पूरा न होगा, तो बारहवाँ साल पूरा होने पर यह कार्पटिक प्राणत्याग कर देगा ॥६०॥

अतः, (अब) इसके विषय में मुझे विलम्ब न करना चाहिए। यह सोचकर राजा विक्रमादित्य ने उसी समय दासी भेजकर उस कार्पटिक को बुलाया ॥६१॥

और एक शासन (सनद) लिखवाकर उस कार्पटिक को आज्ञा दी—हे राजकुमार, तुम ओंकारपीठ के रास्ते से उत्तर की ओर जाओ ॥६२॥

वहाँ इस सनद के जरिये मैंने जो गाँव दिया है, उसका भोग करो। उस गाँव का नाम है खण्डवटक, जो जाते-जाते पूछने पर तुम्हें मिल जायगा ॥६३॥

यह कहकर राजा विक्रमादित्य ने उसे वह सनद दे दिया। वह कार्पटिक भी अनुचरों को कहे बिना ही रात में चल पड़ा ॥६४॥

लज्जाजनक (इस) एकमात्र गाँव को पाकर मैं क्या जीतने का अभिमान करूँगा? तथापि मालिक की आज्ञा तो माननी ही है। यह सोच वह असन्तुष्ट भाव से धीरे-धीरे चलता गया ॥६५॥

ओंकारपीठ से कुछ दूर जंगल में जाकर उसने बहुत-सी लड़कियों को खेलते देखा, और उनसे पूछा—॥६६॥

ओ जी, तुम लोग जानती हो? यहाँ खण्डवटक कहाँ पर है? यह सुनकर उन्होंने उससे कहा—वह हमें नहीं मालूम है ॥६७॥

यहाँ से दस योजन आगे जाओ, वहाँ हम लोगों के पिताजी रहते हैं, उनसे पूछो, हो सकता है कि वे जानते हों ॥६८॥

उन कन्याओं के ऐसा कहने पर (वहाँ) जाकर उस कार्पटिक ने भयानक आकृतिवाले एक राक्षस को देखा, जो उन लड़कियों का पिता था ॥६९॥

राजकुमार ने उस राक्षस से पूछा—ओ जी, बताइए तो, यहाँ खण्डवटक कहाँ पर है? उस राजकुमार के साहस से प्रसन्न हो उस राक्षस ने उससे कहा —॥७०॥

वहाँ तुम्हें कौन काम है? वह नगर तो बहुत दिनों से सूना पड़ा हुआ है। फिर भी अगर तुम जाओगे, तो सुनो। आगे यह तुम्हारा रास्ता दो दिशाओं को जाता है ॥७१॥

वहाँ तुम बायाँ रास्ता पकड़ना, तब तुम ऊँची चहारदीवारी से मनोहर खण्डवटक नगर के मुख्य द्वार पर पहुँच जाओगे ॥७२॥

राक्षस के ऐसा कहने पर वह राजकुमार चलकर के उस मुख्य द्वार पर जा पहुँचा और फिर उस नगर में प्रवेश किया, जो शून्य, भयानक, अलौकिक और रमणीय था ॥७३॥

सात कक्षाओं (घेरों) से घिरे राजभवन में प्रवेश करके वह राजकुमार मणियों और सुवर्ण से बने प्रासाद के ऊपर चढ़ा ॥७४॥

तत्र रत्नासनं दृष्ट्वा तस्मिन्नुपविवेश च ।
तावच्च राक्षसोऽभ्येत्य वेत्रहस्ततमभ्यधात् ॥७५॥
भो मानुष किमत्र त्वमुपविष्टो नृपासने ।
तच्छ्रुत्वा कृष्णशक्तिः स धीरः कार्पटिकोऽब्रवीत् ॥७६॥
अहमत्र प्रभुर्यूयं करदाश्च कुटुम्बिनः ।
विक्रमादित्यदेवेन विलब्धाः शासनेन मे ॥७७॥
तच्छ्रुत्वा शासनं दृष्ट्वा राक्षसस्तं प्रणम्य सः ।
उवाच राजा त्वमिह प्रतीहारस्तवास्मि च ॥७८॥
सर्वत्र विक्रमादित्यदेवस्याज्ञा ह्यखण्डिता ।
इत्युक्त्वा प्रकृतीः सर्वा आजुहाव स राक्षसः ॥७९॥
आययुर्मन्त्रिणश्चात्र तथा राजपरिच्छदः ।
अपूरि चतुरङ्गेण बलेन नगरं च तत् ॥८०॥
सर्वैः प्रणम्यमानोऽथ हृष्टः कार्पटिकोऽत्र स ।
चक्रे राजोपचारेण कृत्स्नाः स्नानादिकाः क्रियाः ॥८१॥
ततः स राजा भूत्वात्र सविस्मयमचिन्तयत् ।
अहो प्रभावः कोऽप्येष विक्रमादित्यभूपतेः ॥८२॥
गाम्भीर्यगरिमा चित्रमपूर्वस्तस्य च प्रभोः ।
ददाति यद्ग्राममिति ब्रुवन्राज्यमपीदृशम् ॥८३॥
इति चित्रीयमाणोऽत्र राज्यं कुर्वन्नुवास सः ।
तत्सखीन्विक्रमादित्योऽप्युज्जयिन्यां पुपोष तान् ॥८४॥
दिनैश्च विक्रमादित्यं प्रणन्तुं स उपाययौ ।
सोत्कः कार्पटिको राजा सैन्यकम्पितभूतलः ॥८५॥
आगतं विक्रमादित्यः पादानतमुवाच तम् ।
पत्न्याः प्रहितलेखाया निःश्वासान्गच्छ वारय ॥८६॥
इत्युक्त्वा भूमिपतिना प्रेषितस्तेन साद्भुतः ।
स कृष्णशक्तिः सखिभिः साकं देशमगान्निजम् ॥८७॥
उत्सार्य गोत्रजान्भार्यां नन्दयित्वा चिरोत्सुकाम् ।
सिद्धेप्सिताधिकः सोऽथ भेजे राज्यश्रियं पराम् ॥८८॥
एवं सोद्भुतचारित्रो विक्रमादित्यभूमिपः ।
एकदात्र ददर्शैकमूर्ध्वरोमकचं द्विजम् ॥८९॥

वहाँ रत्नमय आसन देख वह राजकुमार उसपर बैठ गया। तबतक हाथ में बेंत लिये वह राक्षस आया और (उसने) उससे कहा—॥७५॥

अरे मनुष्य, तुम इस राजा के आसन पर क्यों बैठे? यह सुनकर वह धीर कार्पटिक कृष्णशक्ति बोला—॥७६॥

मैं यहाँ का मालिक हूँ। राजा विक्रमादित्य ने इस सनद के जरिये आपलोगों को प्रजा के रूप में मुझे प्रदान किया है॥७७॥

यह सुनकर और उस सनद को देखकर वह राक्षस उन्हें प्रणाम करके बोला—(अब से) आप यहाँ के राजा हैं और मैं आपका प्रतीहार हूँ॥७८॥

राजा विक्रमादित्य की आज्ञा कहीं भी काटी नहीं जाती है। यह कहकर उस राक्षस ने सभी प्रजाओं को बुलाया॥७९॥

(तब) वहाँ मन्त्री लोग और राज-परिजन आ गये तथा चतुरंग—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल चारों प्रकार की—सेनाओं से वह नगर भर गया॥८०॥

सबने कार्पटिक को प्रणाम किया। तब हर्षित हो उस कार्पटिक ने राजोचित विधि से स्नानादि सारी क्रियाएँ सम्पन्न कीं॥८१॥

तब वह राजा होकर विस्मयपूर्वक सोचने लगा—अहा, राजा विक्रमादित्य का यह कैसा (विचित्र) प्रभाव है? ॥८२॥

आश्चर्य! उन प्रभु विक्रमादित्य की अपूर्व गम्भीरता कितनी बड़ी है कि जो 'गाँव' कह करके ऐसा राज्य भी दे देते हैं॥८३॥

इस प्रकार चकित हो राज्य करते हुए वह राजकुमार वहाँ रहने लगा, और (उधर) उसके उन मित्रों का भरण-पोषण उज्जयिनी में राजा विक्रमादित्य करते रहे॥८४॥

कुछ दिन बीतने पर राजा विक्रमादित्य को प्रणाम करने के लिए उत्कण्ठित राजा कार्पटिक सेना से धरती को कँपाते हुए (उज्जयिनी) आया॥८५॥

आ करके जब वह राजा विक्रमादित्य के चरणों पर झुका, तब उन्होंने उससे कहा—. जाओ, जिस स्त्री ने तुम्हें पत्र लिखा था, उसके निःश्वासों को रोक आओ॥८६॥

यह कहकर जब राजा विक्रमादित्य ने भेजा, तब वह राजकुमार कृष्णशक्ति चकित हो मित्रों के साथ अपने देश गया ॥८७॥

तब (वहाँ) अपने गोतियों को भगाकर, चिरकाल से उत्कण्ठित स्त्री को आनन्दित करके और कामना से भी अधिक सफलता पाकर वह उत्तम राज्य-लक्ष्मी का भोग करने लगा। ॥८८॥

इस भाँति अद्भुत चरित्रवाले राजा विक्रमादित्य ने एक दिन यहाँ (उज्जयिनी में) एक ब्राह्मण को देखा, जिसके रोएँ और बाल ऊपर की ओर खड़े थे॥८९॥

पप्रच्छ तं च हे ब्रह्मन्नीदृक्कस्माद्भवानिति ।
ततः सोऽस्मै स्ववृत्तान्तमेवं राज्ञे द्विजोऽब्रवीत् ॥९०॥
अग्निस्वामीति विप्रोऽभूद्देव पाटलिपुत्रके ।
महाग्निहोत्रिणस्तस्य देवस्वामीत्यहं सुतः ॥९१॥
मया च दूरतो देशाद्विप्रकन्या विवाहिता ।
बालत्वात्सा च तत्रैव स्थापिताभूत्पितुर्गृहे ॥९२॥
कालेन यौवनस्थां तामानेतुं श्वाशुरं गृहम् ।
आरुह्याश्वं सहैकेन भृत्येन गतवानहम् ॥९३॥
सत्कृतः श्वशुरेणाहं सहायातैकचेटिकाम् ।
आदायाश्वाधिरूढां तां भार्यां प्रायामहं ततः ॥९४॥
अर्धमार्गे च साश्वाया अवरुह्यैव मे वधूः ।
अम्बुपानापदेशेन नदीकच्छमगात्किल ॥९५॥
चिरं नायाति यावत्सा तावच्च तदवेक्षणे ।
सह स्थितं तं तत्रैव भृत्यमस्मि विसृष्टवान् ॥९६॥
सोऽपि नायाति यावच्च तावदस्मि गतः स्वयम् ।
तच्चेटिकां स्थापयित्वा तुरगीरक्षणाय ताम् ॥९७॥
गत्वा पश्यामि यावत्स भृत्यो मद्भार्यया तया ।
भक्षयित्वास्थिशेषो मे कृतो रक्ताक्तवक्त्रया ॥९८॥
वित्रस्तश्च ततो यावद्गच्छामि तुरगीं प्रति ।
तावत्सापि तया तद्वत्तच्चेट्या भक्षिता मम ॥९९॥
ततः पलाय्य यातोऽहं तत्रासेनाधुनापि मे ।
नैवोर्ध्वरोमकेशत्वमन्तःस्थेन निवर्त्तते ॥१००॥
तदत्र मे गतिर्देव इति तं वादिनं द्विजम् ।
आज्ञया विक्रमादित्यो गतत्रासं व्यधत्त सः ॥१०१॥
अहो धिङ्नास्ति विश्वासः स्त्रीषु साहसभूमिषु ।
इति राज्ञि वदत्यस्मिन्नेकोऽमात्योऽब्रवीदिदम् ॥१०२॥
तादृश्य एव दुर्जाताः स्त्रियो देव तथा च किम् ।
न श्रुतं वृत्तमिह यद्ब्राह्मणस्याग्निशर्मणः ॥१०३॥
इहैवास्त्यग्निशर्माख्यः सोमशर्मसुतो द्विजः ।
पित्रोः प्राणसमो मूर्खः सर्वविद्यास्वशिक्षितः ॥१०४॥

और (देखते ही) पूछा कि हे ब्राह्मण, आप ऐसे क्यों हैं (अर्थात्, आपके रोंगटे क्यों खड़े हैं?) तब उस ब्राह्मण ने राजा विक्रमादित्य से अपना वृत्तान्त यों सुनाया—॥९०॥

हे राजन्, पाटलिपुत्र में अग्निस्वामी नाम के एक महान् अग्निहोत्री ब्राह्मण थे। मैं उन्हीं का पुत्र हूँ; मेरा नाम है देवस्वामी॥९१॥

मैंने बहुत दूर पर एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया। वह बच्ची थी, इसलिए वह वहीं पिता के घर में रह गई॥९२॥

कुछ काल के बाद जब वह जवान हुई, तब मैं उसे लाने के लिए घोड़े पर सवार हो एक नौकर के साथ ससुर के घर गया॥९३॥

ससुर ने (समुचित) सत्कार किया और वह मेरी स्त्री एक दासी के साथ आई। मैं उसे लेकर घोड़ी पर सवार करके वहाँ से चला॥९४॥

आधे रास्ते में मेरी वह स्त्री घोड़ी से उतरकर पानी पीने के बहाने नदी के किनारे गई॥९६॥

जब वह देर तक न आई, तब मैंने उसे देखने के लिए अपने साथ के उस नौकर को भी वहीं भेजा ॥९६॥

जब वह भी (लौटकर) न आया, तब घोड़ी की रक्षा के लिए उस दासी को रखकर मैं स्वयं वहाँ गया॥९७॥

जाकर देखता हूँ कि मेरी उस स्त्री ने तबतक मेरे उस नौकर को खा लिया है; उसकी सिर्फ हड्डियाँ पड़ी हुई हैं; और रक्त से उस स्त्री का मुँह लाल हो गया है॥९८॥

वहाँ से त्रस्त हो जबतक मैं उस घोड़ी के पास जाता हूँ, तब तक उसकी दासी ने अब उस घोड़ी को भी भक्षण कर लिया था॥९९॥

तब वहाँ से मैं भाग चला। हृदय में अभी तक उसका भय ऐसा समाया है कि अभी भी मेरे रोएँ और बाल खड़े हैं॥१००॥

अतः, अब मेरी आपही शरण हैं। ऐसा कहते हुए उस ब्राह्मण के त्रास को राजा विक्रमादित्य ने अपनी आज्ञा से दूर कर दिया॥१०१॥

तब राजा ने कहा—हाय! छी! छी! स्वभावतः साहसी स्त्रीजाति का (कोई) विश्वास नहीं है। राजा के ऐसा कहने पर एक मन्त्री बोले—॥१०२॥

हे महाराज, (सचमुच) स्त्रियाँ ऐसी ही बदजात होती हैं। इस विषय में ब्राह्मण अग्निशर्मा की कहानी नहीं सुनी है क्या? ॥१०३॥

यहीं (इसी नगर में) सोमशर्मा का लड़का अग्निशर्मा नाम का एक ब्राह्मण है। वह माँ-बाप के लिए प्राण के समान (प्यारा) है और कोई विद्या न जाननेवाला (निरा) मूर्ख है॥१०४॥

वर्धमानपुरात्तेन परिणीता द्विजात्मजा ।
बालेति सा च न त्यक्ता पित्रा धनवता गृहात् ॥१०५॥
तस्यां च यौवनस्थायामग्निशर्माणमूचतुः ।
पितरौ पुत्र भार्यां तां नानयस्यधुनापि किम् ॥१०६॥
श्रुत्वैवैतदनापृच्छ्य पितरौ स जडाशयः ।
अग्निशर्मा ततः प्रायादेकाकी गृहिणीं प्रति ॥१०७॥
निर्गतस्य गृहात्तस्य दक्षिणोऽभूत्कपिञ्जलः ।
दक्षिणा च विरौति स्म शिवा वामैकशंसिनी ॥१०८॥
सोऽपि मूर्खोऽभ्यनन्दत्तज्जीव जीवेत्युदीरयन् ।
अदृश्या च जहासास्य श्रुत्वा शकुनदेवता ॥१०९॥
सम्प्राप्य श्वाशुरं स्थानं तस्य च प्रविविक्षतः ।
वामः कपिञ्जलो वामा शिवाभूत्कथिताशिवा ॥११०॥
भूयोऽपि चाभ्यनन्दत्स जीवजीवेत्युदीर्य तत् ।
अचिन्तयच्च शकुनाधिष्ठात्री देवतापि सा ॥१११॥
अहो मूर्खोऽयमशुभं शुभमित्यभिनन्दति ।
तत्कार्यं जीवयति यद्रक्ष्यो जीवोऽस्य तन्मया ॥११२॥
इत्यस्यां चिन्तयन्त्यां च देवतायां विवेश सः ।
दत्तप्रहर्षः श्वशुरस्याग्निशर्मा निवेशनम् ॥११३॥
आगतोऽसि किमेकाकीत्युक्तोऽत्र श्वशुरादिभिः ।
आयातोऽस्मि गृहेऽनुक्त्वा सर्वेषामिति सोऽब्रवीत् ॥११४॥
ततः कृतोचितस्नानभोजनस्य निशागमे ।
शय्यागृहेऽन्तिकं भार्या तस्योपागात्प्रसाधिता ॥११५॥
पथिश्रमाच्च सुप्तस्य तस्य निर्गत्य सा बहिः ।
चौरस्योपपतेः शूलविद्धस्याप्यन्तिकं ययौ ॥११६॥
आलिङ्गन्ती च तद्देहं दशनैश्छिन्ननासिका ।
भूतेन तत्प्रविष्टेन पलायत ततो भयात् ॥११७॥
गत्वा च पत्युः सुप्तस्य तस्य न्यस्यासिधेनुकाम् ।
पार्श्वे विकोषामाक्रन्ददेवं श्रावितबान्धवा ॥११८॥
हा हा मृतास्म्येषा निष्कारणमनेन मे ।
किमप्युत्थाय यद्भर्त्रा कृतं नासानिकर्तनम् ॥११९॥

उसने वर्द्धमान नगर में एक ब्राह्मण की लड़की से विवाह किया और वह लड़की बच्ची थी, इसलिए उसे धनवान् पिता ने घर से न जाने दिया ॥१०५॥

जब वह जवान हुई, तब अग्निशर्मा के माँ-बाप ने कहा—बेटा, अब भी तुम अपनी स्त्री को क्यों नहीं ले आते हो। ॥१०६॥

यह सुनते ही वह मूर्ख अग्निशर्मा माँ-बाप से कहे विना ही अकेले वहाँ से स्त्री (के घर) की ओर चल पड़ा ॥१०७॥

उसके घर से निकलते ही दाहिने में कपिंजल पड़ा और केवल अमंगल सूचित करते हुए सियार भी दाहिने में ही बोल उठा ॥१०८॥

वह मूर्ख (यह नहीं समझकर कि ये अपशकुन हुए हैं) 'जियो-जियो' कहते हुए उसकी बधाई की, और शकुन की देवी अलक्षित रूप से ही उसकी यह बात सुनकर हँस पड़ी ॥१०९॥

फिर, ससुराल पहुँचकर ज्यों ही वह प्रवेश करने लगा कि पुनः बायें में कपिंजल पड़ा और अमंगल बतानेवाला सियार भी बायें पड़ा ॥११०॥

फिर, उसने 'जियो-जियो' कहकर उसकी बधाई की। तब शकुन की देवी ने सोचा ॥१११॥

अरे, यह मूर्ख तो अपशकुन को ही शुभ शकुन समझकर प्रसन्न होता है। मुझे वही फल देना चाहिए, जो वह चाहता है; इसलिए मुझे इसकी प्राण-रक्षा करनी चाहिए ॥११२।

जब (शकुन की) देवी इस प्रकार सोच रही थी, तब वह अग्निशर्मा ससुर के घर गया। उसे देख सब आनन्दित हुए ॥११३॥

वहाँ जब ससुर आदि ने पूछा कि अकेले क्यों आए हो? तब उसने सबसे कहा—घर में बिना कहे ही आया हूँ ॥११४॥

तब उसने यथोचित रीति से स्नान और भोजन किया और रात होने पर उसकी स्त्री शृंगार करके सोने के कमरे में उसके पास आई ॥११५॥

वह रास्ते की थकावट से सो गया, तब उसकी स्त्री (वहाँ से) बाहर निकली और उसका जो एक चोर जार था, वह यद्यपि शूली पर लटका पड़ा था फिर भी उसके पास गई ॥११६॥

और उसके शरीर का आलिंगन करने लगी। उस जार की देह में एक प्रेत चला गया था, उस प्रेत ने दाँतों से उसकी नाक काट ली। वह डरकर वहाँ से भागी ॥११७॥

और जा करके उस सोये हुए पति की बगल में म्यान से निकाला हुआ छूरा रख अपने लोगों को सुना-सुनाकर चिल्लाने लगी—॥११८॥

हाय! हाय! यह मैं मरी! मरी! मेरे पति ने विना किसी कारण के उठकर मेरी नाक काट ली ॥११९॥

तच्छ्रुत्वा स्वजनस्तस्या एत्य तां छिन्ननासिकाम् ।
दृष्ट्वा तमग्निशर्माणं लगुडाद्यैरताडयत् ॥१२०॥
प्रातश्च विज्ञप्य नृपं तदादेशाद्वधाय तम् ।
निर्दोषं भार्याद्रोहीति वधकेभ्यः समर्पयत् ॥१२१॥
नीते वध्यभुवं तस्मिन्सा तच्छकुनदेवता ।
तद्भार्यानैशवृत्तान्तदर्शिनी समचिन्तयत् ॥१२२॥
अनिमित्तफलं तावत्प्राप्तमेतेन यत्त्वयम् ।
उक्तवाञ्जीव जीवेति तेन रक्ष्याम्यमुं वधात् ॥१२३॥
इत्यालोच्यान्तरिक्षात्सा निगूढा देवताभ्यधात् ।
निर्दोष एष वधका न वध्यो विप्रपुत्रकः ॥१२४॥
शूलस्थचौरदन्तान्तर्गत्वा पश्यत नासिकाम् ।
इत्युक्त्वा तद्वधूरात्रिवृत्तान्तं तं जगाद सा ॥१२५॥
ततस्तत्प्रत्ययात्क्षत्तृमुखेन वधकैर्नृपः ।
विज्ञप्तो वीक्ष्य नासां तां चौरदन्तान्तरस्थिताम् ॥१२६॥
वधात्तमग्निशर्माणं निर्मोच्य व्यसृजद्गृहम् ।
कुस्त्रीं तां च निजग्राह तद्वधूंश्चाप्यदण्डयत् ॥१२७॥
एवं विधाः स्त्रियो राजन्नित्युक्ते तेन मन्त्रिणा ।
स राजा विक्रमादित्यस्तत्तथेत्यन्वमोदत ॥१२८॥
ततोऽब्रवीन्मूलदेवो धूर्तो राजान्तिकस्थितः ।
देव साध्व्यो न सन्त्येव किमसाध्वीषु कासुचित् ॥१२९॥
किं, न चूतलताः सन्ति, सतीषु विषवल्लिषु ।
तथा च श्रूयतामेतदनुभूतं मयैव यत् ॥१३०॥
अहं पाटलिपुत्रं प्रागगच्छं शशिना सह ।
मत्वा नागरिकक्षेत्रं तद्वैदग्ध्यदिदृक्षया ॥१३१॥
तत्र बाह्ये सरस्येकां दृष्ट्वा स्त्रीं वस्त्रधाविनीम् ।
इह क्वावास्यते पान्थैरित्यहं परिपृष्टवान् ॥१३२॥
इह तीरेषु चक्राह्वैर्मस्त्यैर्वारिणि षट्पदैः ।
अब्जेष्वावास्यते नात्र पान्थावासो मयेक्षितः ॥१३३॥
एतत्तयाहं वक्रोक्त्या प्रत्युक्तो वृद्धयोषिता ।
विलक्षः शशिना साकं प्राविशं नगरान्तरम् ॥१३४॥

यह सुनकर उसके अपने लोग (दौड़े) आये और उसकी नाक कटी देख उस अग्निशर्मा को डण्डे आदि से (खूब) पीटा ॥१२०॥

सुबह राजा को खबर दी गई। राजा के आदेश से उसे मृत्युदण्ड देने के लिए कसाई के हाथों सौंपा गया; क्योंकि उसने विना अपराध के स्त्री को सताया था ॥१२१॥

जब उसे वध-स्थान ले जाया जा रहा था, तब उसकी स्त्री का रात का हाल देखनेवाली उस शकुनदेवी ने सोचा—॥१२२॥

इसे उस अपशकुन का यह फल मिला है। किन्तु, इसने जो 'जियो-जियो' कहा, इसलिए वध से इसे बचा देती हूँ ॥१२३॥

यह सोचकर वह शकुनदेवी अलक्षित रूप से ही आकाश से बोली—हे कसाइयो! यह ब्राह्मण का लड़का निर्दोष है, इसे मत मारो ॥१२४॥

शूली पर जो चोर लटका हुआ है, उसके दाँतों के भीतर इस स्त्री की नाक देखो। यह कहकर उस देवी ने उसकी स्त्री का रात का हाल सुनाया ॥१२५॥

तब उसपर विश्वास करके कसाइयों ने प्रतीहार के जरिये राजा को (यह हाल) जनाया। राजा ने उस चोर के दाँतों के भीतर उस नाक को देखा ॥१२६॥

(फिर) अग्निशर्मा को मृत्यु से मुक्त करके अपने घर विदा किया और उस दुष्ट स्त्री को कैद कर लिया और उसके सम्बन्धियों को दण्ड दिया ॥१२७॥

हे राजा विक्रमादित्य, स्त्रियाँ ऐसी होती हैं। उस मन्त्री के इतना कहने पर राजा विक्रमादित्य ने उसके कथन का समर्थन किया—'हाँ ठीक कहा है' ॥१२८॥

तब राजा विक्रमादित्य के पास बैठा धूर्त्त मूलदेव बोला—महाराज, कुछ स्त्रियाँ बदचलन हैं, तो क्या अच्छी स्त्रियाँ होती ही नहीं हैं? ॥१२९॥

क्या विषैले वृक्षों के साथ-साथ आम के वृक्ष नहीं होते हैं? इस विषय में मैंने स्वयं जो अनुभव किया है, वह सुना जाय ॥१३०॥

यह समझकर कि पाटलिपुत्र नागरिक क्षेत्र है, मैं वहाँ की चतुरता देखने के लिए, पूर्व समय में शशी के साथ पाटलिपुत्र गया ॥१३१॥

वहाँ (नगर के) बाहर के एक तालाब में कपड़ा धोनेवाली एक स्त्री को देख मैंने पूछा कि यहाँ यात्री कहाँ रहते हैं? ॥१३२॥

(उसने तुरत उत्तर दिया—) यहाँ तीरों में चकवे रहते हैं, जल में मछलियाँ रहती हैं और कमल के फूलों में भौंरें रहते हैं। मैंने यहाँ यात्रियों का डेरा तो नहीं देखा है ॥१३३॥

उस बूढ़ी स्त्री के मुँह से यह टेढ़ा उत्तर पाकर विमन हो शशी के साथ मैं नगर के भीतर गया ॥१३४॥

तत्रैकमुष्णे पात्रस्थे परमान्ने पुरः स्थिते ।
बालं दृष्ट्वा गृहद्वारि रुदन्तमवदच्छशी ॥१३५॥
अहो अबुद्धिर्बालोऽयं योऽग्रदत्तं न खादति ।
परमान्नं वृथात्मानं क्लिश्नाति रुदितैः पुनः ॥१३६॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्बालः प्रमृज्य नयने हसन् ।
मूर्खा यूयं न जानीथ रोदने ये गुणा मम ॥१३७॥
परमान्नं शनैरेति स्वादुतां शीतलीभवत् ।
घटतेऽभ्यधिकं चान्यच्छ्लेष्मा गच्छति च क्षयम् ॥१३८॥
एते गुणा मे रुदतो नाहं मौर्ख्येण रोदिमि ।
यूयं ग्राम्याः पुनर्मूर्खा नाभिप्रायं विदन्ति यत् ॥१३९॥
इत्युक्ते तेन बालेन स्वावैदग्ध्यविलज्जितौ ।
शशी चाहं च साश्चर्यावपसृत्यान्यतो गतौ ॥१४०॥
तत्राप्याम्रतरुस्कन्धगतामाम्रावचायिनीम् ।
वरकन्यामपश्याव मूलस्थितपरिच्छदाम् ॥१४१॥
प्रयच्छास्मभ्यमप्याम्रफलानि कतिचिच्छुभे ।
इति चास्माभिरुक्ता सा कन्यकैवमभाषत ॥१४२॥
अश्नीयाम्रफलान्युष्णान्युत किं शिशिराणि वा ।
तच्छ्रुत्वाश्चर्यजिज्ञासुस्तां कन्यामहमब्रवम् ॥१४३॥
अश्नीम तावदुष्णानि ततोऽन्यान्यपि सुन्दरि ।
श्रुत्वैतदक्षिपद्भूमौ पांसुष्वाम्रफलानि सा ॥१४४॥
भुक्तानि नीरजीकृत्य तान्यस्माभिर्मुखानिलैः ।
ततः सपरिवारा सा कन्या प्रहसिताब्रवीत् ॥१४५॥
एतानि पूर्वमुष्णानि दत्तान्याम्रफलानि वः ।
तथा च दत्त्वा फूत्कारान्भवन्तो यान्यभक्षयन् ॥१४६॥
गृह्णीत शीतलान्येतान्यफूत्काराणि वाससि ।
एवमुक्त्वाञ्चलेष्वन्यान्यक्षिपत्सा फलानि नः ॥१४७॥
तान्यादाय ततः स्थानाद्वयं याता विलक्षिताः ।
ततः सहचरानन्यौ शशिनं चाहमब्रवम् ॥१४८॥
अवश्यं परिणेयैषा विदग्धा कन्यका मया ।
अवहासप्रतीकारः कार्यः का धूर्त्ततान्यथा ॥१४९॥

वहाँ एक घर के द्वार पर एक बच्चा रो रहा था और उसके सामने थाली में गरम-गरम खीर (परोसी हुई) थी; यह देखकर शशी ने कहा—॥१३५॥

अहा, यह लड़का कितना मूर्ख है, जो सामने परोसी हुई खीर खाता नहीं, किन्तु रो-रोकर अपने को व्यर्थ सता रहा है। ॥१३६॥

यह सुनकर आँखें मलकर वह लड़का बोला—मूर्ख तो आप लोग हैं, जो यह नहीं जानते कि मेरे रोने में कितने फायदे हैं ॥१३७॥

खीर धीरे-धीरे ठण्डी होने पर सुस्वादु होती है और अधिक भी हो जाती है, और दूसरी बात (रोने से) कफ (गिरकर) दूर हो जाता है ॥१३८॥

मेरे रोने में इतने फायदे हैं; मैं मूर्खता से नहीं रोता हूँ। आपलोग ही गँवार मूर्ख हैं; क्योंकि अभिप्राय नहीं समझते हैं ॥१३९॥

उस लड़के के ऐसा कहने पर अपनी बुद्धिहीनता से लज्जित हो शशी और मैं आश्चर्य के साथ वहाँ से हटकर दूसरी ओर चला ॥१४०॥

वहाँ भी देखा कि एक सुन्दर लड़की आम के पेड़ के कन्धेपर चढ़ी आम चुन रही है और उसके परिजन पेड़ के नीचे हैं ॥१४१॥

हम दोनों ने कहा—ओ जी, कुछ आम हमें भी दो न। उस लड़की ने कहा—॥१४२॥

तुम लोग गरम आम खाओगे या ठण्डा? यह सुनकर यह अचरज जानने की इच्छा से उस लड़की से मैंने कहा— ॥१४३॥

हे सुन्दरी, हम पहले गरम आम खाना चाहते हैं तब ठण्डे भी। यह सुनकर उस लड़की ने कई आम नीचे धूल में गिरा दिये ॥१४४॥

वे आम हम दोनों ने मुँह की फूँक से धूल उड़ाकर खाये। तब परिजन-सहित वह लड़की हँसती हुई बोली— ॥१४५॥

(देखो,) मैंने तुम्हें पहले ये गरम आम दिये; इसीलिए तुम लोगों ने इन्हें फूँक-फूँककर खाया ॥१४६॥

(अब) ये ठण्डे आम (अपने) कपड़े में लो, जो विना फूँके (खाओगे)। यह कहकर उसने हम लोगों के कपड़े के छोर पर कई और आम फेंके ॥१४७॥

तब हम वे आम लेकर लज्जित हो उस स्थान से चले। बाद में अन्य साथियों से तथा शशी से मैंने कहा— ॥१४८॥

इस चतुर लड़की से मुझे अवश्य विवाह करना चाहिए और इस मजाक का बदला लेना चाहिए। नहीं तो मेरा धूर्त होना किस काम का ॥१४९॥

एवं मयोक्तैरन्विष्टं तैस्तस्याः सदनं पितुः ।
वयं वेषान्तरालक्ष्या अगच्छामापरेऽहनि ॥१५०॥
तत्रास्मान्पठतो वेदं यज्ञस्वामीत्युपेत्य सः ।
तत्कन्याजनकोऽपृच्छत्कुतो यूयमिति द्विजः ॥१५१॥
वयं मायापुरीस्थानाद्विद्याहेतोरिहागताः ।
इत्युक्तः स ततोऽस्माभिराढ्योऽवोचद्द्विजोत्तमः ॥१५२॥
तर्हीहैव चतुर्मासीमेतां वसत मद्गृहे ।
कुरुतानुग्रहं यूयं दूरदेशागता यतः ॥१५३॥
श्रुत्वेत्यवोचाम वयं ब्रह्मन्कुर्मो भवद्वचः ।
चतुर्मासावसाने चेदर्थितं नः प्रदास्यसि ॥१५४॥
एवमस्माभिरुक्तः स यज्ञस्वामी द्विजोऽभ्यधात् ।
शक्यं यदर्थं मृग्यध्वे तद्दास्याम्येव निश्चितम् ॥१५५॥
इति प्रतिश्रुते तेन तद्गृहे वयमास्महि ।
अथोक्तः स द्विजोऽस्माभिः पूर्णे मासचतुष्टये ॥१५६॥
यामो वयं तत्पूर्वोक्तं देहि यत्प्रार्थयामहे ।
किं तदित्युक्तवन्तं तं मां प्रदर्श्याब्रवीच्छशी ॥१५७॥
अस्मन्मुख्याय कन्यास्मै भवता दीयतामिति ।
ततः स विप्रो वाग्बद्धो यज्ञस्वामी व्यचिन्तयत् ॥१५८॥
छलितोऽस्म्येभिरस्त्वेतत्को दोषो गुणवानयम् ।
इत्यालोच्य स मे विप्रो यथावत्तामदात्सुताम् ॥१५९॥
नक्तं चाहं हसन्वासगृहे तामवदं वधूम् ।
कच्चित्स्मरसि तान्याम्राण्युष्णानि शिशिराणि च ॥१६०॥
तच्छ्रुत्वा प्रत्यभिज्ञाय सा मां सस्मितमभ्यधात् ।
एवमेव विडम्ब्यन्ते ग्राम्या नागरिकैरिति ॥१६१॥
ततोऽहमप्यवोचं तामास्स्व नागरिके सुखम् ।
ग्राम्यो यास्याम्यहं दूरं त्वां विहाय प्रतिज्ञया ॥१६२॥
एतच्छ्रुत्वाकरोत्सापि प्रतिज्ञां निश्चितं मया ।
वष्टभ्यानायितव्यस्त्वं त्वत्तो जातेन सूनुना ॥१६३॥
इत्यन्योन्यं प्रतिज्ञाते सा शेते स्म पराङ्मुखी ।
स्वाङ्गुलीयमहं चास्या सुप्ताया अङ्गुलौ न्यधाम् ॥१६४॥

मेरे ऐसा कहने पर (मेरे) उन (साथियों) ने उस लड़की के पिता का घर खोज निकाला और हम दूसरे दिन वेष बदलकर अपरिचित हो वहाँ पहुँचे ॥१५०॥

वहाँ हम लोग वेदपाठ करने लगे कि उस लड़की का पिता देवस्वामी नाम का ब्राह्मण आया और पूछा कि आपलोग कहाँ से आये हैं? ॥१५१॥

(मैंने कहा—) हम मायापुरी नाम के स्थान से विद्यार्जन के लिए यहाँ आये हैं। तब हमारे ऐसा कहने पर उस धनवान् सद्ब्राह्मण ने कहा—॥१५२॥

तो इस चतुर्मासी (बरसात के चार महीने) भर यहीं मेरे घर में रहिए। मुझपर कृपा कीजिये; क्योंकि आप दूर देश से आये हुए हैं ॥१५३॥

यह सुनकर हमने कहा—हे ब्राह्मण, मैं आपकी बात स्वीकार करता हूँ, यदि आप चातुर्मास्य के बीतने पर मैं जो माँगूँ, वह देना स्वीकार करें ॥१५४॥

हमारे ऐसा कहने पर वह ब्राह्मण यज्ञस्वामी बोला—यदि असम्भव वस्तु न माँगेंगे, तो मैं निश्चय दूँगा ही ॥१५५॥

उसके ऐसी प्रतिज्ञा करने पर उसके घर में हमलोग रहने लगे। फिर जब चातुर्मास्य पूरा हो गया, तब हमने उस ब्राह्मण से कहा—॥१५६॥

(अब) हम जाते हैं, अतः पूर्वप्रतिज्ञानुसार हम जो माँगते हैं, वह दीजिए। उसने पूछा—कौन वस्तु (आप माँगते हैं)? तब मेरी ओर इशारा करते हुए शशी ने उससे कहा—॥१५७॥

ये हमलोगों के प्रधान हैं, इनको आप अपनी कन्या दें। तब वह ब्राह्मण यज्ञस्वामी, जो वचनबद्ध था, सोचने लगा—॥१५८॥

इन्होंने मुझे छकाया। अस्तु, हर्ज ही क्या है? यह गुणवान् तो हैं ही। यह सोचकर उस ब्राह्मण ने अपनी लड़की विधिवत् मुझे प्रदान कर दी ॥१५९॥

और, रात में सोने के कमरे में मैंने उस दुल्हिन से हँसते हुए कहा—क्या तुम्हें वे गरम और ठण्डे आम याद हैं? ॥१६०॥

यह सुनकर वह मुझे पहचान गई और मुस्कराकर बोली—हाँ, नागरिक लोग ऐसे ही गँवारों को छकाते रहते हैं ॥१६१॥

तब मैंने भी (क्रुद्ध हो) उससे कहा—तो हे नागरिके, तुम सुख से यहाँ रहो; मैं गँवार तुम्हें (यहाँ) छोड़ (फिर न मिलने की) प्रतिज्ञा के साथ दूर चला जाऊँगा ॥१६२॥

यह सुनकर उसने भी प्रतिज्ञा की कि मैं निश्चय ही तुमसे उत्पन्न पुत्र के द्वारा तुम्हें पकड़वाकर मँगाऊँगी ॥१६३॥

हम दोनों के आपस में इस प्रकार प्रतिज्ञा करने पर वह लड़की मुँह फेरकर सो गई और मैंने सोई हुई उसकी उँगली में अपनी अँगूठी पहना दी ॥१६४॥

निर्गत्य च मिलित्वा तैरहं सहचरैस्ततः ।
तस्या दिदृक्षुर्वैदग्ध्यमागामुज्जयिनीं निजाम् ॥१६५॥
सापि विप्रसुता प्रातरपश्यन्ती प्रबुध्य माम् ।
अङ्गुलीयं च पश्यन्ती मन्नावाङ्कमचिन्तयत् ॥१६६॥
गतस्तावत्स मां त्यक्त्वा प्रतिज्ञा तेन पालिता ।
मयापि स्वप्रतिज्ञातं पाल्यं त्यक्तानुतापया ॥१६७॥
मूलदेवेति नामास्मिन्दृश्यते चाङ्गुलीयके ।
तद्ध्रुवं मूलदेवो यः ख्यातो धूर्त्तः स एव सः ॥१६८॥
स चोज्जयिन्यां वसतीत्युच्यते सततं जनैः ।
तत्तत्र युक्तितो गत्वा मया साध्यं समीहितम् ॥१६९॥
इति सङ्कल्प्य पितरं सैवं कृतमृषाब्रवीत् ।
गतस्तात परित्यज्य भर्त्ता मां सहसैव सः ॥१७०॥
तद्वियुक्ता कथं चाहं तिष्ठामीह यथासुखम् ।
तद्यामि तीर्थयात्रायै क्लिश्नाम्येतां हतां तनुम् ॥१७१॥
इत्युक्त्वा तमनिच्छन्तमप्यनुज्ञाप्य यत्नतः ।
पितरं सा ततः प्रायात्सधना सपरिच्छदा ॥१७२॥
क्रमेण गत्वा कृत्वा सा महार्घं गणिकोचितम् ।
वेषं विवेशोज्जयिनीं पुरीं लोकैकसुन्दरी ॥१७३॥
कृत्वा च परिवारेण सह कर्त्तव्यसंविदम् ।
सुमङ्गलेति साकार्षीन्नाम विप्रसुतात्मनः ॥१७४॥
कामरूपान्महात्यागभोग्या नाम्ना सुमङ्गला ।
आगता गणिकैषेति भृत्यैराख्याप्यतात्र सा ॥१७५॥
देवदत्ताभिधानाथ तत्रत्या गणिकोत्तमा ।
ददावभ्येत्य तस्यै स्वं राजार्हं मन्दिरं पृथक् ॥१७६॥
तत्र स्थितां भृत्यमुखेनादौ मित्रं स मे शशी ।
तामब्रवीत्ख्यातिहृतो भाटिर्मे गृह्यतामिति ॥१७७॥
अस्मद्वचोऽनुतिष्ठेद्यः प्रविशेत्सोऽत्र कामुकः ।
न भाट्या कार्यमस्माकं नान्यैः पशुनिभैर्नृभिः ॥१७८॥
इत्युक्तस्तन्मुखेनैव स सुमङ्गलया तया ।
तथेत्युक्त्वा शशी रात्रिमुखे तन्मन्दिरं ययौ ॥१७९॥

और (उस कमरे से) निकलकर मैं उन साथियों से मिलकर उस लड़की की चतुरता देखने की इच्छा से अपनी उज्जयिनी नगरी आ गया ॥१६५॥

वह ब्राह्मण की लड़की भी सुबह जगी, तो मुझे न देख और मेरे नाम-निशानवाली अँगूठी देखकर सोचने लगी— ॥१६६॥

वह तो मुझे छोड़ चला गया। उसने अपनी प्रतिज्ञा को निबाहा। मैं भी सन्ताप छोड़कर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करूँ ॥१६७॥

और इस अँगूठी पर तो मूलदेव नाम (लिखा) दिखाई देता है; इसलिए निश्चय यह मूलदेव वही होगा, जो प्रख्यात धूर्त्त है ॥१६८॥

लोग सतत कहते हैं कि वह (धूर्त्तराज) उज्जयिनी में बसता है। इसलिए किसी युक्ति से वहाँ जाकर मुझे अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए ॥१६९॥

मन में यह स्थिर करके उस लड़की ने झूठी बात बनाकर पिता से कहा—हे पिताजी, मेरे पतिदेव मुझे अचानक ही छोड़कर चले गये ॥१७०॥

उनसे विरहित हो मैं यहाँ सुखपूर्वक कैसे रहूँ? इसलिए, मैं तीर्थ-यात्रा में जाती हूँ और इस अभागे शरीर को क्लेशित करती हूँ ॥१७१॥

यह कहकर पिता के न चाहने पर भी उनसे किसी-न-किसी भाँति आज्ञा लेकर वह लड़की (कुछ) धन और (कुछ) परिजन (नौकर चाकर) के साथ वहाँ से चली ॥१७२॥

संसार-भर में बेजोड़ सुन्दरी वह लड़की धीरे-धीरे जाकर वेश्या के उपयुक्त बहुमूल्य बेष-भूषा बनाकर उज्जयिनी नगर में पहुँची ॥१७३॥

उस ब्राह्मण की लड़की ने (झूठी वेश्या बनने के इस) कार्य में अपने परिजनों से मेल-जोल करके अपना नाम सुमंगला रख लिया ॥१७४॥

और, वहाँ नौकरों के जरिये उसने यह प्रचार करा दिया कि कामरूप (आसाम) से यह सुमंगला नाम की वेश्या आई है, जिससे भारी त्यागी पुरुष ही सम्भोग कर सकते हैं॥१७५॥

देवदत्ता नाम की वहाँ की सबसे बड़ी वेश्या ने आकर उसे अपना एक अलग शाही महल (रहने के लिए) दे दिया ॥१७६॥

जब वह वहाँ रहने लगी, तब पहले मेरे मित्र शशी ने उसकी ख्याति से आकृष्ट हो नौकर के जरिये उसे संवाद दिया कि मेरा उपहार स्वीकार किया जाय ॥१७७॥

सुमंगला ने उसी नौकर के ज़रिये शशी को कहला भेजा कि जो कामुक (आशिक) मेरी बात माने, वही यहाँ प्रवेश कर सकता है, मुझे उपहार से कोई काम नहीं है और न मुझे पशु के समान अन्य पुरुषों से ही कोई काम है। यह उत्तर पाकर शशी ने (वह शर्त्त) स्वीकार कर ली और शाम को सुमंगला के घर गया ॥१७८-१७९॥

तत्र स प्रथमं द्वारं सम्प्रप्यावेदितात्मकः ।
द्वारपालेन जगदे कुर्वंस्मत्स्वामिनीवचः ।।१८०।।
स्नातोऽपीह पुनः स्नाहि प्रवेशो नास्ति तेऽन्यथा ।
तच्छ्रुत्वा स शशी स्नानंतथेत्यङ्गीचकार तत् ।।१८१।।
ततः स यावद्दासीभिरभ्यङ्गोद्वर्त्तनोत्तरम् ।
विस्रब्धं स्नपितस्तावत्प्रथमः प्रहरो गतः ।।१८२।।
स्नात्वा प्राप्तोऽथ स द्वारं द्वितीयं द्वाररक्षिणा ।
ऊचे स्नातोऽसि तत्तावत्प्रसाधनविधिं कुरु ।।१८३।।
तथेत्युक्तवतस्तस्य दास्यस्तावत्प्रसाधनम् ।
चक्रुर्यावद्द्वितीयोऽपि प्रहरः पर्यहीयत ।।१८४।।
तृतीयमथ सम्प्राप्तः कक्ष्याद्वारं स रक्षिभिः ।
जगदे भुङ्क्ष्व तावत्त्वं प्रविशाभ्यन्तरं ततः ।।१८५।।
बाढमित्युक्तवन्तं तं दास्यस्तावद्व्यलम्बयन् ।
आहारैर्विविधैर्यावत्तृतीयः प्रहरो गतः ।।१८६।।
अथ वासगृहद्वारं चतुर्थं स कथञ्चन ।
सम्प्राप्तो द्वारपालेन तत्रैवं निरभर्त्स्यत ।।१८७।।
ग्राम्यकामुक निर्याहि मा खलीकारमाप्स्यसि ।
कालः किं पश्चिमे यामे गणिकानवसङ्गमे ।।१८८।।
एवं तिरस्कृतस्तेन स कालेनेव रूपिणा ।
शशी विगलितच्छायो यथागतमगात्ततः ।।१८९।।
इत्थं सुमङ्गलेत्याख्यां दधत्या वञ्चितास्तया ।
गणिकारूपया विप्रसुतयान्येऽपि कामुकाः ।।१९०।।
तच्छ्रुत्वा कौतुकादेव कृत्वा दूतगतागतम् ।
अहं नक्तं गृहं तस्या अगच्छं सुप्रसाधितः ।।१९१।।
तत्र द्वाःस्नाप्रतिद्वारमनुरञ्ज्यार्थदानतः ।
तस्या वासगृहद्वारं प्राप्तोऽहमविलम्बितः ।।१९२।।
कालप्राप्तो विमुक्तश्च द्वाराद्द्वाःस्थैवः प्रविश्य ताम् ।
वैश्यावेशापरिज्ञातामपश्यं स्वप्रियामहम् ।।१९३।।
सा पुनः प्रत्यभिज्ञाय कृतप्रत्युद्गमादिका ।
वेश्येव धूर्त्ता पर्यङ्कनिषण्णं मामुपाचरत् ।।१९४।।

वहाँ पहले द्वार पर पहुँचकर उसने अपना परिचय दिया, तब द्वारपाल ने कहा— मालकिन ने जैसा कहा है, वैसा करो ॥१८०॥

स्नान कर चुके हो, तो भी यहाँ फिर स्नान करो; अन्यथा तुम्हें भीतर न जाने दिया जायगा। यह सुनकर शशी ने 'अच्छा' कहकर स्नान करना स्वीकार कर लिया ॥१८१॥

तब जबतक उसे दासियों ने चैन से तेल मलकर, उबटन लगाकर स्नान कराया, तबतक पहला पहर भी बीत गया ॥१८२॥

तदनन्तर, स्नान करके वह शशी दूसरे द्वार पर पहुँचा, तो द्वारपाल ने कहा—स्नान तो कर चुके हो, अब प्रसाधन करो ॥१८३॥

'अच्छा' कहने पर उसे दासियाँ तबतक प्रसाधन करती रहीं, जबतक दूसरा पहर भी बीत गया ॥१८४॥

जब वह शशी तीसरे द्वारपर आया, तब द्वारपाल ने कहा—पहले भोजन कर लो, तब भीतर जाओ ॥१८५॥

शशी ने कहा—ठीक है। तब दासियों ने विविध प्रकार के भोजन में उसे बहुत समय लगा लिया, तबतक तीसरा पहर भी बीत गया ॥१८६॥

तदनन्तर, वह शशी किसी भाँति उस वेश्या के वास-भवन के चौथे द्वार पर पहुँचा। वहाँ द्वारपाल ने उसे इस भाँति फटकारा— ॥१८७॥

अरे गँवार आशिक, निकल जाओ; नहीं तो अपना अमंगल आप करोगे। क्या (रात का) तीसरा-चौथा पहर भी वेश्या से नये-नये मिलने का समय है? ॥१८८॥

साक्षात् काल जैसे (भयानक) उस द्वारपाल से इस प्रकार तिरस्कृत वह शशी उदास हो जैसे आया था, वैसे ही वहाँ से लौट गया ॥१८९॥

इस प्रकार सुमंगला नाम की वेश्या का रूप धारण किये वह ब्राह्मण की लड़की अन्यान्य आशिकों को भी ठगती रही ॥१९०॥

यह सुनकर मैं कुतूहलवश ही दूत द्वारा बात करके रात को सज-धजकर उसके घर गया ॥१९१॥

वहाँ प्रत्येक द्वार पर द्वारपालों को घूस दे-देकर मिला लिया और अविलम्ब ही उसके वास-भवन के द्वार पर पहुँच गया ॥१९२॥

मैं उचित समय पर पहुँचा था, इसलिए द्वारपाल ने द्वार से निकलने दिया। फिर मैंने अन्दर जाकर अपनी उस स्त्री को देखा, किन्तु वह वेश्या के रूप में थी, इसलिए पहचान में न आई ॥१९३॥

किन्तु, वह धूर्त्ता मुझे पहचान कर वेश्या की भाँति अगवानी करने दौड़ी और पलंग पर बैठाकर आव-भगत करने लगी ॥१९४॥

ततो लोकैकसुन्दर्या साकं नीतनिशस्तया ।
वद्धानुरागो निर्गन्तुं नाशकं तद्गृहादहम् ॥१९५॥
सापि बद्धरतिः पार्श्वान्नापयाति स्म मे तदा ।
यावद्दिनैः सगर्भाभून्मेचकाग्रपयोधरा ॥१९६॥
कृत्वाथ कूटलेखं सा विदग्धा मह्यमर्पयत् ।
राज्ञा मे प्रभुणा लेखः प्रहितो वाच्यतामिति ॥१९७॥
ततश्चाहं तमुन्मुच्य लेखमेवमवाचयम् ।
श्रीकामरूपतः श्रीमान्मानसिंहो महीपतिः ॥१९८॥
सुमङ्गलामादिशति स्थितास्यत्र चिरं कथम् ।
शीघ्रमागम्यतां हित्वा देशान्तरकुतूहलम् ॥१९९॥
मयैवं वाचिते लेखे साब्रवीद्दुःखितेव माम् ।
याम्यहं मयि मा मन्युं कृथाः परवती ह्यहम् ॥२००॥
एवं कृत्वा मिषं प्रायात्स्वं सा पाटलिपुत्रकम् ।
अहं तु तां परायत्तेत्यनुरक्तोऽपि नान्वगाम् ॥२०१॥
सा च पाटलिपुत्रस्था कालेन सुषुवे सुतम् ।
स वर्धमानश्च कलाः सर्वाः शिशुरशिक्षत ॥२०२॥
द्वादशाब्दश्च वयसा स बालो बालचापलात् ।
दासेरकं सवयसं लत्तया जात्वताडयत् ॥२०३॥
ताडितस्तं च सोऽवादीद्रुदन्दासेरको रुषा ।
त्वं ताडयसि मां यस्य तव न ज्ञायते पिता ॥२०४॥
मातुर्विदेशभ्रान्ताया जातस्त्वं हि यतस्ततः ।
इत्युक्तस्तेन वैलक्ष्याद्गत्वाप्राक्षीत्स मातरम् ॥२०५॥
अम्ब को मे पिता कुत्र स चास्ते कथ्यतामिति ।
साथ माता द्विजसुता वीक्ष्य क्षणमुवाच तम् ॥२०६॥
पिता ते मूलदेवाख्यो मां त्यक्त्वोज्जयिनीं गतः ।
इत्युक्त्वा मूलतस्तस्मै स्ववृत्तान्तं शशंस सा ॥२०७॥
ततः स बालोऽवादीत्तामम्ब तर्ह्यानयाम्यहम् ।
गत्वा तं पितरं बद्ध्वा प्रतिज्ञां पूरयामि ते ॥२०८॥
इत्युक्त्वा जननीमेव स बालः प्रस्थितस्ततः ।
तयोक्तमदभिज्ञानः प्रापदुज्जयिनीमिमाम् ॥२०९॥

तब मैंने संसार-भर में बेजोड़ सुन्दरी उस स्त्री के साथ (सारी) रात बिता दी और उसके प्रेम में फँसकर उसके घर से निकल न सका ॥१९५॥

वह स्त्री भी (मेरे) प्रेम में पड़कर मेरे पास से कभी न हटती। इस प्रकार कई दिनों के बाद वह गर्भवती हो गई और उसके स्तनों के अग्रभाग काले हो गये ॥१९६॥

तदनन्तर, (एक दिन) उस चालाक स्त्री ने एक जाली चिट्ठी लिखकर मुझे दिया और कहा कि हमारे मालिक राजाजी ने यह चिट्ठी भेजी है, पढ़ो ॥१९७॥

तब उस चिट्ठी को खोलकर पढ़ा, (उसमें लिखा था)—श्रीकामरूप (आसाम) से श्रीमान् राजा मानसिंह सुमंगला को आदेश देते हैं कि वहाँ इतने दिनों तक क्यों रही? दूसरे-दूसरे देश देखने के कुतूहल को छोड़ शीघ्र आ जाओ। ॥१९८-१९९॥

इस प्रकार, मेरे द्वारा चिट्ठी पढ़ लेने पर दुःखी-सी हो उसने मुझसे कहा—मैं जा रही हूँ। मुझपर क्रोध मत करना, क्योंकि मैं परवश हूँ ॥२००॥

इस भाँति बहाना करके वह अपने पाटलिपुत्र चली गई। मैंने उसके ऊपर अनुरक्त होकर भी उसका पीछा न किया; क्योंकि वह परवश थी ॥२०१॥

और, उसने पाटलिपुत्र में रहते हुए कालक्रम से एक बेटे को जन्म दिया। वह लड़का बढ़ता गया और सभी कलाएँ सीख लीं ॥२०२॥

जब वह लड़का बारह साल का हुआ, तब एक दिन लड़कपन से उसने अपने साथी दासी के एक लड़के को लता से पीटा ॥२०३॥

पीटने पर वह दासी का लड़का क्रोध से बोला—'अरे तुम मुझको पीटते हो' जिसके बाप का भी ठिकाना नहीं है? ॥२०४॥

जब तुम्हारी माँ विदेशों में घूम रही थी, तब तुम यों ही किसी पुरुष से उत्पन्न हो गये। यह सुनकर वह लज्जित हो माता के पास गया और उससे पूछा—॥२०५॥

'माँ, कहो तो, मेरे पिता कौन है और वे कहाँ रहते हैं?' तब उसकी माता ने क्षणभर सोचकर उससे कहा—॥२०६॥

'तुम्हारे पिता का नाम मूलदेव है। वे मुझे छोड़ उज्जयिनी चले गये।' यह कहकर उस स्त्री ने उसे शुरू से अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥२०७॥

तब उस लड़के ने माँ से कहा—माँ, तब मैं जाता हूँ और पिताजी को पकड़ लाकर तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी करता हूँ ॥२०८॥

माता से कहकर वह लड़का वहाँ से विदा हुआ। माता ने उससे मेरा (पूरा) परिचय कह दिया। वह यहाँ उज्जयिनी पहुँचा ॥२०९॥

दीव्यन्तमक्षैर्मां तत्र दृष्ट्वाभिज्ञाननिश्चितम् ।
ठिण्ठास्थानेत्य सर्वांश्च द्यूतेन जयति स्म सः ॥२१०॥
वालत्वेऽपि महाधूर्त्तः सर्वस्य कृतविस्मयः ।
अर्थिभ्यः स ददाति स्म तद्द्यूतावर्जितं धनम् ॥२११॥
रात्रौ स्वयुक्त्या चागत्य कार्पासनिचयोपरि ।
लघु विन्यस्य सुप्तं मां शय्याखट्वामपाहरत् ॥२१२॥
ततः प्रबुद्धो दृष्ट्वाहमात्मानं तूलपृष्ठगम् ।
अखट्वं सहसाभूवं सलज्जाहासविस्मयः ॥२१३॥
अथाहमापणं देव शनैर्गत्वा परिभ्रमन् ।
तमेव वालं तां खट्वां विक्रीणानं व्यलोकयम् ॥२१४॥
उपगम्याब्रवं तं च कियता दीयते त्वया ।
एषा मूल्येन खट्वेति ततो बालोऽब्रवीत्स माम् ॥२१५॥
न लभ्यतेऽसौ मूल्येन खट्वा धूर्तशिरोमणे ।
अपूर्वाद्भुतवृत्तान्तवर्णनेन तु लभ्यते ॥२१६॥
तच्छ्रुत्वाहमवोचं तं तर्हि वद्म्यद्भुतं तव ।
तत्त्वतः सत्यमिति तद्बुद्ध्वा चेदनुमन्यसे ॥२१७॥
यदि त्वसत्यमिति तद्वक्ष्यस्यप्रत्ययेन मे ।
ततस्त्वं जारजातः स्याः खट्वां च प्राप्नुयामहम् ॥२१८॥
अनेन समयेनाङ्ग विचित्रं शृणु वच्मि ते ।
पूर्वं दुर्भिक्षदोषोऽभूद्राष्ट्रे कस्यापि भूपतेः ॥२१९॥
स वाहनानां नागानां शीकराम्बुमहाभरैः ।
सूकरप्रेयसीपृष्ठे स्वयं चक्रे कृषिं नृपः ॥२२०॥
ततो धान्यैः समुत्पन्नैः समृद्धः स महीपतिः ।
दुर्भिक्षं शमयामास प्रजानां जनपूजितः ॥२२१॥
एवं मयोक्ते विहसन्सोऽवादीद्वालकस्तदा ।
नागानां वाहना मेघाः सूकरप्रेयसी क्षितिः ॥२२२॥
विष्णोः सूकररूपस्य सा हि प्रियतमोच्यते ।
तस्यां मेघाम्बुभिर्धान्यमुत्पन्नं चेतिकमद्भुतम् ॥२२३॥
इत्युक्त्वा वालधूर्तो मां विस्मितं सोऽब्रवीत्पुनः ।
इदानीमहमाख्यामि तवापूर्वं किमप्यदः ॥२२४॥

वहाँ उसने मुझे जूआ खेलते देखा और निश्चयपूर्वक पहचान लिया। फिर आ करके उस जूए के स्थान में जितने लोग थे, सबको जूए में हरा दिया ॥२१०॥

सब चकित हो गये कि लड़का होकर भी वह कितना बड़ा धूर्त्त निकला। फिर, उसने जूए में जीता हुआ (सारा) धन याचकों को दे दिया ॥२११॥

रात में अपनी किसी तरकीब से वह आकर खाटपर से मुझे उठाकर नीचे रूई की ढेर पर रख दिया और मेरी खाट चुरा ले गया ॥२१२॥

उसके बाद जागने पर अपने को विना खाट की रूई के ऊपर पड़ा देख सहसा मुझे लज्जा भी हुई, हँसी भी आई और विस्मय भी हुआ ॥२१३॥

महाराज, उसके बाद जब मैं घूमते-घूमते धीरे-धीरे बाजार गया, तो देखा कि वही लड़का उस खाट को बेच रहा है ॥२१४॥

पास जाकर उससे कहा—तुम यह खाट कितने मूल्य में देते हो? तब उस लड़के ने मुझसे कहा—॥२१५॥

हे धूर्त्तशिरोमणि, यह खाट मूल्य देने से नहीं मिलेगी; यह कोई अपूर्व और अद्‌भुत वृत्तान्त सुनाने से मिल सकती है ॥२१६॥

यह सुनकर मैंने उससे कहा—तो मैं एक अद्‌भुत कहानी तुम्हें सुनाता हूँ, यदि तुम उसे वस्तुतः सत्य समझकर उसका समर्थन करो ॥२१७॥

और, यदि मुझपर अविश्वास करके (उस सत्य कहानी को) असत्य कह दोगे, तो तुम अपने बाप के बेटे नहीं और वह खाट मैं पाऊँगा ॥२१८॥

इस शर्त्त पर तुम्हें एक अद्‌भुत कहानी कहता हूँ, सुनो। प्राचीन समय में किसी राजा के राज में अकाल पड़ा ॥२१९॥

उस राजा ने नागवाहनों की फुहार की जलधारा से सुअर की प्रियतमा की पीठ पर स्वयं खेती की ॥२२०॥

तब (उस पीठ पर) उपजे अन्नों से वह राजा धनी हो गया और प्रजा के अकाल को दूर किया। लोगों ने उनकी पूजा की ॥२२१॥

मेरे इतना कहने पर वह बालक मुस्कराता हुआ बोला—नागवाहन बादल को कहते हैं। सूअर की प्रियतमा है धरती ॥२२२॥

क्योंकि, वराह-रूपधारी विष्णु भगवान् की धरती प्रियतमा कहलाती है। उसी धरती पर बादल के पानी से अन्न उपजा, तो इसमें आश्चर्य क्या है? ॥२२३॥

(यह सुनकर) विस्मित हुए मुझसे उस धूर्त्त लड़के ने फिर कहा—अब मैं तुमको यह एक अपूर्व कहानी सुनाता हूँ ॥२२४॥

प्रत्येषि यदि विज्ञाय तत्सत्यमिति तत्त्वतः ।
तत्ते खट्वां ददाम्येतां स्यास्त्वं दासो ममान्यथा ॥२२५॥
तथेत्युक्ते मया सोऽथ बालधूर्त्तोऽब्रवीदिदम् ।
उपपादि पुरा धूर्त्तपते कोऽपीह बालकः ॥२२६॥
अकम्पयत्पदभरेणोर्वीमुत्पन्न एव यः ।
तदैव वृद्धो भूत्वा च चक्रे लोकान्तरे पदम् ॥२२७॥
इत्युक्तवान्तं बालं तं तदबुद्ध्वाहमब्रवम् ।
अलीकमेतन्नास्त्यत्र सत्यता काप्यहो इति ॥२२८॥
ततः स बालोऽवादीन्मां जातस्यैव न किं हरेः ।
चकम्पे चरणाक्रान्ता वसुधा वामनाकृतेः ॥२२९॥
तदैव वृद्धिं गत्वा च चक्रे तेन न किं पदम् ।
द्युलोके तज्जितोऽस्येव मया दासीकृतोऽसि च ॥२३०॥
अत्रापणगताश्चैते सर्वे नौ साक्षिणः पणे ।
तदहं यत्र गच्छामि तत्रागच्छ समं मया ॥२३१॥
इत्युक्त्वा सोऽग्रहीद्वालो धीरो मां पाणिना भुजे ।
तत्रस्थाश्च तथैवास्य साक्ष्यं सर्वे व्यधुर्जनाः ॥२३२॥
ततश्च मामवष्टभ्य पणबद्धं स सानुगः ।
नयति स्मान्तिकं मातुः पुरं पाटलिपुत्रकम् ॥२३३॥
तन्माता च तदानीं तं दृष्ट्वा सा मामभाषत ।
आर्यपुत्र मयाप्येषा स्वप्रतिज्ञाद्य पूरिता ॥२३४॥
आनायितोऽस्यवष्टभ्य त्वज्जातेनैव सूनुना ।
इत्युक्त्वावर्णयत्साध्वी वृत्तान्तं सर्वसंन्निधौ ॥२३५॥
ततस्तां बान्धवाः सर्वे स्वप्रज्ञासाधितेप्सिताम् ।
पुत्रापमृष्टकौलीनामभ्यनन्दन्कृतोत्सवाः ॥२३६॥
कृतार्थश्च तया पत्न्या साकं तेन सुतेन च ।
उषित्वा चिरमत्राहमागामुज्जयिनीमिमाम् ॥२३७॥
एवं सन्त्येव देवेह भर्त्तृभक्ताः कुलाङ्गनाः ।
न पुनः सर्वथा सर्वा दुर्वृत्ता एव योषितः ॥२३८॥
इत्येतां मूलदेवस्य निशम्य वदनात्कथाम् ।
विक्रमादित्यनृपतिस्तुतोष सह मन्त्रिभिः ॥२३९॥

यदि वस्तुतः सत्य समझकर उसपर विश्वास करोगे, तो मैं यह खाट तुमको दे दूँगा; नहीं तो तुम मेरे दास हो जाओगे ॥२२५॥

मैंने कहा—अच्छा (स्वीकार है)। तब उस धूर्त्त लड़के ने कहा—हे धूर्त्तराज, प्राचीन समय में इस संसार में कोई ऐसा बालक उत्पन्न हुआ ॥२२६॥

जिसने उत्पन्न होते ही अपने पाँव के भार से धरती को कँपा दिया और उसी समय वृद्ध होकर परलोक में पद रखा। (यहाँ वृद्ध होने का अर्थ बढ़ना भी है और परलोक में पद रखना का अर्थ मरना भी है) ॥२२७॥

उस बालक के ऐसा कहने पर उसका अर्थ न समझ मैंने उससे कहा—यह झूठ है! इसमें तो कोई सत्यता नहीं है ॥२२८॥

तब उस बालक ने मुझसे कहा—जब भगवान् विष्णु वामन के रूप में उत्पन्न हुए, तब उसी समय उनके चरण से दबकर धरती डोलने न लगी थी क्या? ॥२२९॥

और, उसी समय वामन ने बढ़ते-बढ़ते स्वर्ग में अपना पाँव न रखा था क्या? इसलिए, तुम मुझसे पराजित हो गये और मैंने तुम्हें दास बना लिया ॥२३०॥

यहाँ बाजार के ये सभी लोग इस बाजी में गवाह हैं। अतः, मैं जहाँ जाता हूँ, तुम मेरे साथ वहाँ चलो ॥२३१॥

यह कहकर उस प्रौढ लड़के ने हाथ से मेरी बाँह पकड़ ली और वहाँ जो-जो थे, सभी लोगों ने उसके पक्ष में वैसी ही गवाही दी ॥२३२॥

मैं उस बाजी का पाबन्द था। मुझे पकड़कर परिजन-सहित वह लड़का माता के पास पाटलिपुत्र नगर ले गया ॥२३३॥

तब उसकी माता ने उसे देख मुझसे कहा—हे स्वामी, आज मैंने भी अपनी वह प्रतिज्ञा पूरी की ॥२३४॥

तुम्हीं से उत्पन्न पुत्र के द्वारा तुमको (आज मैंने) पकड़ मँगवाया है। यह कहकर उस सती स्त्री ने सब के सामने (अपना सारा) वृत्तान्त कह सुनाया ॥२३५॥

तब उसके सभी बन्धुओं ने उत्सव मनाया और उसका अभिनन्दन किया, जिसने अपनी बुद्धि के बल से अपनी कामना पूरी कर ली और पुत्र के द्वारा अपने कुल की अप्रतिष्ठा दूर की ॥२३६॥

और, मैं कृतार्थ हो उस पत्नी और उस पुत्र के साथ वहाँ चिरकाल तक रहकर उज्जयिनी नगर (वापस) आया ॥२३७॥

महाराज, इस तरह इस दुनिया में (ऐसी बहुत-सी) स्वामी-भक्त कुलस्त्रियाँ हैं। सदा सभी स्त्रियाँ बदचलन ही होती हैं, ऐसी बात नहीं है ॥२३८॥

मूलदेव के मुँह से यह कहानी सुनकर मन्त्री-सहित राजा विक्रमादित्य प्रसन्न हुए ॥२३९॥

इत्याश्चर्याणि श्रृण्वन्स पश्यन्कुर्वंश्च भूपतिः।
विजित्य विक्रमादित्यः सद्वीपां बुभुजे महीम् ॥२४०॥
इति संयोगवियोगैर्निचितामाख्याय विषमशीलकथाम् ।
कण्वमुनिः पुनरवदत्तस्मिन्मां मदनमञ्चुकाविरहे ॥२४१॥
एवं भवन्त्यचिन्त्या विरहाश्च समागमाश्च जन्तूनाम् ।
तत्स्यात्तवापि नचिरान्नरवाहनदत्तसङ्गमः प्रियया ॥२४२॥

अवलम्बस्व धृतिं तत्सुचिरं भोक्तासि वत्सराजसुत ।
भार्यासचिवसमेतो विद्याधरचारुचक्रवर्त्तिपदम् ॥२४३॥
एवं कण्वर्षिगिरा लब्धधृतिः क्षपितविरहकालोऽथ ।
भार्या विद्याः खेचरसाम्राज्यं च क्रमादहं प्राप्तः ॥२४४॥

तच्च यथा सम्प्राप्तं वरदस्यानुग्रहान्मया शम्भोः।
आदावेव तदखिलं वर्णितवानेव वो महामुनयः ॥२४५॥

इति नरवाहनदत्तः स्वकथामाख्याय मुनिजनं निखिलम् ।
गोऽपालकं च मातुलमहर्षयत्कश्यपाश्रमे तस्मिन् ॥२४६॥
नीत्वा च तत्र जलदागमवासरांस्तानामन्त्र्य मातुलमृषींश्च तपोवनस्थान्
प्रायत्सदारसचिवः स ततो विमानमारुह्य खेचरचमूपिहितान्तरिक्षः ॥२४७॥
प्राप्य क्षणादृषभकं स्वनिवासमद्रिं साम्राज्यभोगसुखितो द्युचरेन्द्रमध्ये
देव्या समं मदनमञ्चुकया स्थितोऽथ रत्नप्रभाप्रभृतिभिश्च स कल्पजीवी ॥२४८।

इत्येषा शशिशेखरेण तुहिनक्ष्माभृत्सुताभ्यर्थना-
त्सोत्साहेन बृहत्कथा निगदिता कैलासपृष्ठे पुरा।
उत्पन्नैरथ शापतः क्षितितले कात्यायनाद्याकृती-
र्बिभ्रद्भिर्गमिता प्रसिद्धिमतुलां तैः पुष्पदन्तादिभिः ॥२४९॥
एतां मद्वदनोद्गतां पठति यो यो वा शृणोत्यादरा-
द्यश्चैतां सुकथां बिभर्ति नचिरात्स ध्वस्तपापः कृती।
सद्विद्याधरतामवाप्य नियतं लोकं मम प्राप्नुया-
दित्यस्याश्च तदा वरं गिरिसुताकान्तः कथाया ददौ ॥२५०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे विषमशीललम्बके पञ्चमस्तरङ्गः

समाप्तोऽयं विषमशीललम्बकोऽष्टादशः।

समाप्तश्चायं कथासरित्सागरः।

इस प्रकार, आश्चर्य (जनक बातें) सुनते, देखते और करते हुए महाराज विक्रमादित्य द्वीपों-सहित (समस्त) पृथ्वी को जीतकर राज्य करने लगे ॥२४०॥

संयोग और वियोग से भरी (राजा) विषमशील की यह कहानी मदनमंचुका के विरह की अवस्था में मुझे सुनाकर कण्व मुनि पुनः बोले—॥२४१॥

इसी भाँति लोगों को अचिन्तित रूप से विरह और मिलन होते (ही) रहते हैं। अतः, हे नरवाहनदत्त, आपको भी शीघ्र ही प्रिया मदनमंचुका से मिलन होगा ॥२४२॥

हे वत्सराज के पुत्र नरवाहनदत्त, इसलिए आप धैर्य धारण कीजिए। आप स्त्री और मन्त्रियों-समेत चिरकाल तक विद्याधरों के चक्रवर्त्ती का सुन्दर पद भोगते रहिएगा ॥२४३॥

इस प्रकार कण्व ऋषि के वचन से धैर्य धारण कर मैंने (नरवाहनदत्त ने) विरह के दिन काटे। फिर क्रमशः स्त्रियों को, विद्याओं को और विद्याधरों के चक्रवर्त्ती के पद को भी प्राप्त किया ॥२४४॥

हे महामुनियो, वह सब वरद शिवजी के अनुग्रह से जैसे मैंने प्राप्त किया, वह सारा (वृत्तान्त) मैं पहले सुना ही चुका हूँ ॥२४५॥

राजा नरवाहनदत्त ने उस कश्यपाश्रम में इस प्रकार अपनी कहानी सुनाकर के सकल मुनियों और मामा गोपालक को आनन्दित किया ॥२४६॥

और, वहाँ बरसात के वे दिन बिताकर तपोवन में रहनेवाले मुनियों से और मामा गोपालक से विदा लेकर राजा नरवाहनदत्त स्त्री और मन्त्री-सहित विमान पर चढ़कर वहाँ से चल पड़े और (उनके साथ) जो विद्याधरों की सेना चली, उसने आकाश को छा लिया ॥२४७॥

क्षण-भर में राजा नरवाहनदत्त अपने निवासस्थान ऋषभक पर्वत पहुँच गये और वहाँ विद्याधरराजों के बीच रानी मदनमंचुका और रत्नप्रभा आदि के साथ विद्याधर-साम्राज्य के भोग से आनन्दित होते हुए एक कल्प पर्यन्त जीते रहे ॥२४८॥

यह बृहत्कथा प्राचीन समय में कैलास के ऊपर शिवजी ने हिमालय-सुता पार्वती की प्रार्थना से उत्साहित हो सुनाई थी। तदनन्तर, जब (शिवजी के) पुष्पदन्त आदि (गण) शापवश कात्यायन आदिका रूप धारण कर उत्पन्न हुए, तब उन्होंने इस (बृहत्कथा) को पृथ्वी पर परम प्रसिद्ध कर दिया ॥२४९॥

और, उस समय गौरीपति शिवजी ने इस कथा को यह वर दिया कि मेरे मुँह से निकली यह सुन्दर कथा जो पढ़ेगा या जो आदर के साथ सुनेगा और जो स्मरण रखेगा, वह विद्वान् अविलम्ब पापमुक्त हो विद्याधर का अच्छा पद पाकर निश्चय ही मेरे लोक को प्राप्त कर लेगा ॥२५०॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के विषमशील लम्बक का
पंचम तरंग समाप्त हुआ।

कथा सरित्सागर भी समाप्त हुआ

ग्रन्थकर्त्तुः प्रशस्तिः

श्रीसातवाहनकुलाम्बुधिपारिजातः सङ्ग्रामराज इति भूमिपतिर्बभूव ।
येनावतीर्य विविधैर्विबुधैः श्रितेन कश्मीरमण्डलमनीयत नन्दनत्वम् ॥१॥

तस्यात्मजो नमदशेषमहीशमौलिमाणिक्यकायनिकषीकृतपादपीठः ।
श्रीमाननन्त इति तत्कुलकल्पवृक्षः शौर्यैकराशिरुदपद्यत चक्रवर्त्ती ॥२॥

द्वाराग्रसीमनि च यस्य निकृत्ताकण्ठः क्षिप्त्वोदरं नरपतेर्लुठति स्म मूर्धा ।
सेवागतो जितमहाहरिचक्रचारुकीर्त्तिश्रवेण परितोषमिवैत्य राहुः ॥३॥

सोऽथ त्रिगर्त्ताधिपतेस्तनूजां राजेन्दुरिन्दोर्वहति स्म देवीम् ।
तमोपहां सूर्यवतीं प्रजानां विभातसन्ध्यामिव विश्ववन्द्याम् ॥४॥

आम्नायैरिव नानादेशसमुद्भूतविप्रशतसेव्यैः ।
अब्धिभिरिव रत्नभृतैर्भीतिभृतां भूभृतामपि शरण्यैः ॥५॥

कल्पद्रुमैरिवान्वहमाशोपगतार्त्तिहारिभिरुदारैः ।
दैव्या यया विरचितैः कश्मीरा मण्डिता मठप्रवरैः ॥६॥

यन्निर्मितान्यमलतोयवहद्वितस्ताविस्तीर्णतीरभुवि · · · सौधसुधासितानि ।
व्योमापगापरिगतान्तहिमाद्रिशृङ्गभङ्गिं भजन्ति सुतरां सुरमन्दिराणि ॥७॥

दत्तै रसङ्ख्यमणिहेममहाग्रहारकृष्णाजिनद्रविणपर्वतगोसहस्रैः ।
विश्वम्भरा···न च नापि भू····विश्वं सदा भगवती किल या बिभर्त्ति ॥८॥

क्ष्मामण्डलैकतिलकोऽप्यनलीकलग्नो यस्या घनामृतमयो गुणिबान्धवोऽपि ।
विद्वेषिपर्षदशिवोऽपि शिवावतारः श्रीमान्सुतः कलशदेव इति क्षितीशः ॥९॥

ग्रन्थकार की प्रशस्ति

सातवाहन के वंशरूपी समुद्र में पारिजात वृक्ष के समान 'संग्रामराज' नाम के एक राजा हुए, जिन्होंने विविध विबुधों को आश्रय देकर कश्मीर देशको नन्दनवन बना दिया (यहाँ 'विबुध' शब्द के दो अर्थ हैं, कश्मीर के विषय में 'विबुध' का अर्थ है 'विद्वान्' तथा नन्दनवन के विषय में इसका अर्थ है 'देवता') ॥१॥

उनके पुत्र हुए चक्रवर्त्ती श्रीमान् 'अनन्त', जो उस वंश में कल्पवृक्ष-स्वरूप हुए, जिनका पादपीठ (पाँवदान) (झुककर) प्रणाम करते हुए सकल राजाओं की चूडामणियों की कसौटी-सा था, तथा जो शूरता की अद्वितीय खान थे ॥२॥

जिन (की राजधानी) के मुख्य द्वार पर कण्ठ काटकर धड़ से अलग किया हुआ (शत्रु) राजा का मुण्ड लोट रहा था, जो लगता था, मानो भगवान् विष्णु के महान् चक्र को पराजित करनेवाले राजा 'अनन्त' के चक्र (राज्य) की सुन्दर कीर्त्ति सुनकर प्रसन्न हो राहु (स्वतः) सेवा करने आया हो ॥३॥

इन्होंने 'त्रिगर्त्त' देश के राजा श्रीमान् 'इन्दु' की पुत्री 'सूर्यवती' से विवाह किया, जो उषा की भाँति प्रजा के अन्धकार को दूर करनेवाली तथा सबकी वन्दनीया थी ॥४॥

देवी 'सूर्यवती' ने कश्मीर देश को ऐसे-ऐसे अच्छे मठ बनवाकर विभूषित किया, जो (मठ) वेद की भाँति नाना देशों में उत्पन्न सौ-सौ ब्राह्मणों से सेवित थे, समुद्र की भाँति रत्नों से भरे थे तथा भयभीत भूभृतों को शरण देनेवाले थे (यहाँ 'भूभृत्' शब्द के दो अर्थ हैं; समुद्र के विषय में भूभृत् 'पर्वत' है और मठ के विषय में 'राजा'), तथा कल्पवृक्षों की भाँति प्रतिदिन आस लगाये लोगों की पीडाओं को हरनेवाले उदार थे ॥५-६॥

निर्मल जलधारा वाली 'वितस्ता' नाम की नदी के विस्तृत तटप्रदेश में इनके द्वारा निर्मित श्वेत पलस्तरवाले देवमन्दिर ऐसे लगते हैं, जैसे हिमालय पर्वत की चोटियाँ हों कि जिनका अन्त आकाशगंगा में होता है ॥७॥

रानी 'सूर्यवती' भगवती विश्वम्भरा के समान असंख्य रत्न, स्वर्ण, बड़ी-बड़ी जागीर कृष्णमृगचर्म, रुपया, पहाड़ और हजार-हजार गायें दान देकर सदा विश्व का भरण करनेवाली थी ॥८॥[१]

उनके पुत्र हुए राजा 'कलशदेव', जो समस्त भूमण्डल के तिलक-स्वरूप होते हुए भी अलीकलग्न नहीं थे (यहाँ विरोधाभास दिखलाया गया है, अतः 'अलीकलग्न' के दो अर्थ हैं, विरोध-पक्ष में इसका अर्थ हुआ 'ललाट में लगा'। तिलक तो ललाट में लगा रहता है, फिर भी ये राजा वैसे नहीं हैं। परिहार-पक्ष में दूसरा अर्थ हुआ 'अशुभ लग्नवाले', अर्थात् ये राजा शुभ लग्न में उत्पन्न हुए थे), जो गुणियों के बन्धु रहते हुए भी, अर्थात् संसार में आसक्त रहते हुए भी, घन अमृतमय थे, अर्थात् मोक्ष का आनन्द पानेवाले ज्ञानी थे तथा जो शत्रुओं की मण्डली के लिए अशिव (अमंगलकारी) होते हुए भी शिव के अवतार थे ॥९॥

---

[१] यह श्लोक कुछ खण्डित है, अतः किसी तरह भावार्थ निकालकर लिखा गया है।—अनु०

उर्वीभृतो नमयितुं निखिलानुदग्रान्पातुं क्षमश्च जलधीनपि सप्त धीरः।
सृष्टः सुरैरभिनवः कलशोद्भवो यः श्रीहर्षदेव इति भूपवरः स यस्याः॥१०॥

तस्याः सदैव गिरिशार्चनहोमकर्मनानाप्रदानविधिबद्धसमुद्यमायाः।
शास्त्रेषु नित्यविहितश्रवणश्रमाया देव्याः क्षणं किमपि चित्तविनोदहेतोः॥११॥

नानाकथामृतमयस्य बृहत्कथायाः सारस्य सज्जनमनोम्बुधिपूर्णचन्द्रः।
सोमेन विप्रवरभूरिगुणाभिरामरामात्मजेन विहितः खलु सङ्ग्रहोऽयम्॥१२॥

प्रवितततरङ्गभङ्गिः कथासरित्सागरो विरचितोऽयम्।
सोमेनामलमतिना हृदयानन्दाय भवतु सताम्॥१३॥

रानी 'सूर्यवती' के श्रेष्ठ पौत्र हुए (राजा) श्री हर्षदेव, जिन्हें देवताओं ने सभी भूभृतों को झुकानेवाले तथा सातों समुद्रों का 'पान' करनेवाले 'कलशोद्भव' के रूप में बनाया था। (यहाँ व्यतिरेक अलंकार द्वारा श्रीहर्ष को अगस्त्य ऋषि से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। अगस्त्य भी कलश (घट) से उत्पन्न हुए थे और इनके पिता का भी नाम कलश है, किन्तु अगस्त्य ने (पौराणिक कथा के अनुसार) केवल एक भूभृत् (पर्वत) को झुकाया था, किन्तु इन्होंने सभी भूभृतों (राजाओं) को झुकाया; तथा अगस्त्य ने केवल एक समुद्र का पान किया, किन्तु इन्होंने सातों समुद्रों का पान किया, पालन किया। तदनुसार, यहाँ 'भूभृत्' 'कलश' और 'पान' शब्द के दो-दो अर्थ हैं)' ॥१०॥

भगवान् शंकर के पूजन, हवन-कर्म तथा नाना प्रकार के दान में दृढ़तापूर्वक संलग्न रहनेवाली तथा शास्त्रों में क्या-क्या नित्य और विहित (कर्म वर्णित) हैं, यह सुनने में सदा परिश्रान्त रहनेवाली उन्हीं रानी 'सूर्यवती' के क्षणिक मनोरंजन के लिए—॥११॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणों के बहुत-से गुणों से विभूषित श्री 'राम' के पुत्र 'श्री सोमदेव भट्ट' ने नाना कथा-रूपी अमृत से भरे बृहत्कथा के सार का यह संग्रह किया है, जो सज्जनों के हृदयरूपी समुद्र के लिए पूर्ण चन्द्र (के समान हर्षदायक) है ॥१२॥

विस्तृत तरंगों के विलासों से पूर्ण यह कथासरित्सागर, जिसे निर्मलमति 'सोमदेव भट्ट' ने रचा है, सज्जनों के हृदय के लिए आनन्ददायक हो ॥१३॥

* * *